हिंदू-संस्कृति-परिशिष्टाङ्क

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, फरवरी सन् १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें ।१०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

यज्ञ-रक्षा

श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
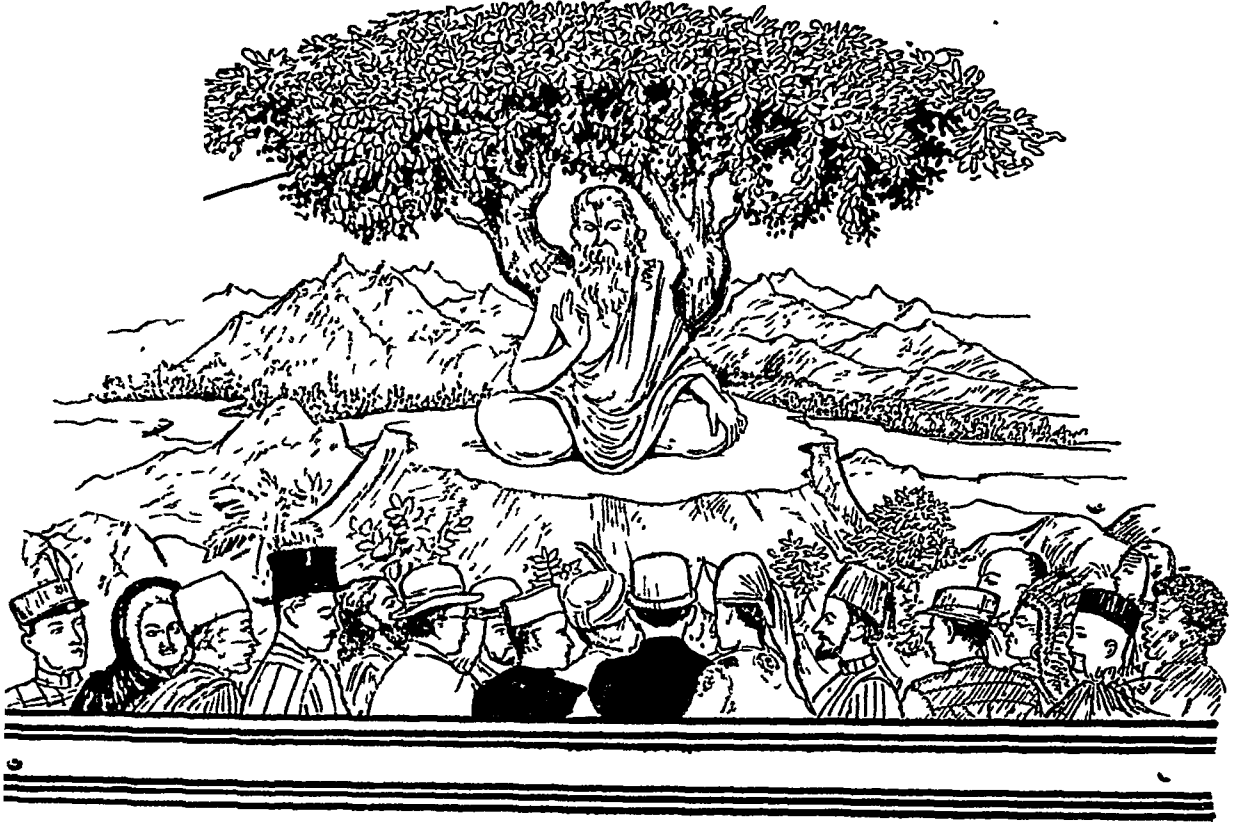
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २००६, फरवरी १९५० | संख्या २ पूर्ण संख्या २७९

विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा

ठाढ़े यज्ञमंडप द्वार ।
राम-लक्ष्मण दोउ कौसिक यज्ञके रखवार ॥
हाथ सर-धनु पीठ तरकस वीर-वेस उदार ।
यज्ञपूरुप, यज्ञपूजित, यज्ञ-राखनहार ॥
होम निर्भय करत मुनिगन वेद-मन्त्र उचार ।
लहत जीवन-लाह रघुपति रम्य रूप निहार ॥
विघ्न असुरनको कहा प्रभु-शक्ति अमित अपार ।
लोक-लीला करत हरि धरि भक्तहित अवतार ॥

—'राम'

श्रीभारत-सावित्री

(लेखक—स्वामी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

'श्रीमहाभारत'के स्वर्गारोहणपर्वका अन्तिम श्लोकचतुष्टय 'भारत-सावित्री' नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार वेदोंका सार श्रीसावित्री है; उसी प्रकार पञ्चम वेदस्वरूप 'महाभारत'का सार श्रीभारत-सावित्री है। जिस प्रकार श्रीसावित्री नित्य ही उपास्या है; उसी प्रकार श्रीभारत-सावित्री नित्य अनुसरणीया है। जिस प्रकार अगम तथा अनन्त शब्दसागरकी सारभूता श्रीसावित्री वेदचतुष्टयरूपमें परिणत हुई है, उसी प्रकार आख्यानों तथा उपाख्यानोंसे पल्लवित एवं सुशोभित होकर श्रीभारत-सावित्री भी महाभारतरूप कल्पवृक्षमें परिणत हुई है। लक्षश्लोकात्मक महाभारतका पारायण करनेका सौभाग्य बहुतोंको नहीं होता; परंतु इस श्लोकचतुष्टयका पाठ करके तथा इसके अर्थानुसन्धानसे अनायास ही श्रीभारतपारायणका फल कोई भी आस्तिक बुद्धिशाली प्राप्त कर सकता है। इस कारण व्याख्या-सहित श्रीभारत-सावित्रीरूप उपहार 'कल्याण'के पाठकोंको भेंट किया जाता है।

प्रथम श्लोक

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

अनादि कर्मफलसे जीव संसारमें गमनागमन करते हैं। संसार-परम्परासे कर्मचक्रके आवर्तनके कारण जीव हजारों पिता-माता तथा सौ-सौ स्त्री-पुत्रोंका साक्षात्कार लाभ करके दुश्छेद्य ममतासम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी रीतिसे बहुतेरे माता तथा पिता, स्त्री तथा पुत्र प्राणीने पाये थे; परंतु अतीत संसार-प्रवाहमें वे सब बह गये, आज भी बहे जाते हैं तथा जबतक ज्ञानदृष्टिके उन्मीलनसे संसारमोह नष्ट न होगा, तबतक इसी तरहसे बहते ही जायँगे।

द्वितीय श्लोक

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

इस संसारमें अगणित आनन्दजनक घटनाएँ तथा अनन्त भीतिप्रद अवस्थाएँ नित्य ही उपस्थित होती हैं। जो लोग संसार-मोहसे विमूढ़ हैं; वे ही ऐसे आनन्दसे उत्फुल्ल तथा आतङ्कसे अभिभूत होते हैं। विचारोज्ज्वल-बुद्धिसम्पन्न पण्डित-लोग इस हर्ष एवं भीतिसे आविष्ट नहीं होते।

तृतीय श्लोक

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

मैं हाथ उठाकर जोरसे पुकारकर कह रहा हूँ; परंतु कैसा आश्चर्य है कि कोई भी मेरी बात नहीं सुनता! मैं कहता हूँ कि एक धर्माचरणसे ही अर्थ तथा काम प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकारके फल देनेवाले धर्मका मनुष्य क्यों नहीं सेवन करता?

चतुर्थ श्लोक

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

काम, भय, लोभ तथा प्राणरक्षाके हेतु भी कदापि धर्म-त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म जीवकी शाश्वत सम्पदा है और सुख तथा दुःख आने-जानेवाले—अनित्य हैं। जीव नित्य पदार्थ है; परंतु इस जीवत्वलाभके उपकरण अथवा काम, भय तथा लोभके कारणसमूह अनित्य हैं। जिन देहोंको धारण करके प्राणी बड़े हुए हैं; जिन उद्दीपनाओं—काम, भय तथा लोभसे कभी भीत तथा कभी लुब्ध होते हैं, कभी हिताहित-विचाररहित हो जाते हैं, वे सब नहीं रहेंगे। सामयिक उद्दीपना-से जीवको धर्मपथसे भ्रष्ट करके वे सब अपना-अपना रास्ता लेंगे। परंतु जीवका अविनश्वर आत्मा रह जायगा तथा सुख-दुःखके नित्य सहचर धर्म तथा अधर्म जीवके साथ रहेंगे। परलोकके मार्गसे जिस समय जीव निःसङ्ग—एकाकी चलेगा, उस समय जो उसकी क्षुधाको अन्नरूपसे तथा पिपासाको जलरूपसे शान्त करेगा और पिता, माता, स्त्री, पुत्र, कन्या, बन्धु-बान्धव, आत्मीयोंके मिलनसे प्राप्त आनन्दभोगमें अभ्यस्त जीव जिस समय इन सबकी वियोगयन्त्रणासे अत्यन्त व्याकुल होगा, उस समय जो उसको शान्ति देगा, अनाथोंके नाथ उस 'धर्म'का सामयिक मोहवश कदापि परित्याग न करना चाहिये—

'न हि धर्मात्परः कश्चित्।'

फलश्रुति

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति॥

जो मनुष्य प्रातः उठकर इस भारत-सावित्रीका पाठ करता

है, वह महाभारत-पारायणका समग्र फल प्राप्त करके परब्रह्मको लाभ कर लेता है।

जन्म-जन्मान्तरकी धारावाहिक संसारमत्तता दूरीभूत करनेके लिये श्रीभारत-सावित्रीने प्रथम तथा द्वितीय श्लोकोंसे वैराग्यका उपदेश किया है। तृतीय श्लोकसे धर्माचरणके अभ्यासका उपदेश दिया है और चतुर्थ श्लोकसे अनित्य संसार, अनित्य सम्बन्ध, अनित्य सुख-दुःख तथा अनित्य भीतिका परित्याग करनेका उपदेश किया है। धर्म नित्य वस्तु है, नित्यप्रति इस नित्यधर्मके किसी भी प्रकार साधनाभ्याससे समय व्यतीत करना चाहिये। निरन्तर साधनसे प्रसन्न होकर यह धर्म अपना छद्मवेश त्यागकर 'तुम और मैं' इस व्यवधानका नाश करके परम धर्मरूपसे प्रकट होगा और जीवका चिरविफल जन्म तथा जीवन सफल हो जायगा—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।'
'अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये॥'

(सिद्धान्त)

हिंदू

(रचयिता—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

शीश जगदीशके जो संमुख झुकाता, जिसे
माताके समान गऊ माता, वह हिंदू है;
माता-बहनोंका अपमान है असह्य जिसे,
प्रान देके आन जो बचाता, वह हिंदू है।
देह चुनवाता है दिवारमें स्वधर्म-हेतु—
पर परधर्ममें न आता, वह हिंदू है,
खंड-खंड भारत विलोक अति आरत जो,
भारत अखंड जिसे भाता, वह हिंदू है॥

(२)

'हम परमात्माके अंश हैं सनातन' यों
बोध जिसमें है, नहीं भ्रान्तिकी भँवर है,
अनय-विरुद्ध भिड़नेको क्रुद्ध कालसे भी
युद्धमें समोद कसे रहता कमर है।
हाथ जोड़ता है नहीं, मुख मोड़ता है नहीं,
प्राण छोड़ता है, नहीं छोड़ता समर है,
बदल शरीर देता वीरके सदृश वीर—
हिंदू मरता है नहीं, हिंदू तो अमर है॥

(३)

कर्म-अनुसार होता जन्म है अनेक बार—
बात यह सत्य जानता जो, वह हिंदू है;
विधिमें, निषेधमें भी, भेद या अभेदमें भी,
वेदको प्रमान मानता जो, वह हिंदू है।
सत्ता परलोककी, महत्ता मान ईश्वरकी
धर्मकी ही हठ ठानता जो, वह हिंदू है;
मायामय जगके असार सपनेको छोड़
अपनेको पहचानता जो, वह हिंदू है॥

(४)

हिंदू वह, जो कि लघु भाईके भलाई हेतु
राज तज वनमें समोद चला जाता है,
हिंदू वह, जो कि प्राप्त राज्यको भी त्याज्य मान
भाईकी ही पादुकाको मस्तक चढ़ाता है।
हिंदू वह, भाँवरी दे काँवरी बिठाके तात-
मातको भी साधभर काँधसे उठाता है;
हिंदू, जो पिताके लिये सकल सुखोंको त्याग
संयमकी आगमें जवानीको जलाता है॥

(५)

भूखे हुए बाघको शरीर सौंप हिंदू वीर
प्राण देके प्राण गऊ माताके बचाता है;
हिंदू मुसकाता मुग्ध उर्वशीको 'माता' कह
शाप सह लेता किंतु पाप न कमाता है।
हिंदू है दयालु इतना कि विश्व-प्राणियोंको
'वैश्वदेव' द्वारा अन्न-जल पहुँचाता है;
हिंदू है उदार इतना कि भयभीत देख
घाती शत्रुओंका भी सँघाती बन जाता है॥

उपनिषदोंकी सूक्तियाँ

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
(ईश० १)

अखिल ब्रह्माण्डमें यह जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है; इसलिये हे शिष्य! तू त्यागपूर्वक इसे उपभोग कर, किसीके भी धनको लेनेकी इच्छा न कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईश० २)

इस लोकमें (ईश्वर-पूजार्थ) कर्म करता हुआ ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे; इस प्रकार त्यागभावसे ईश्वरार्थ किये जानेवाले कर्म तुझ मनुष्यके लिये हैं, अन्यथा (अन्य मार्ग) नहीं। ऐसा करनेसे मनुष्य कर्मसे लिप्त नहीं होता।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
(ईश० ७)

एकत्व देखनेवालेको मोह और शोक कहाँ?

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
(ईश० ५)

वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है और पास भी है; वह इस सबके भीतर है और वही इस सबके बाहर है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(ईश० ६)

जो सब प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और सब प्राणियोंमें आत्माको देखता है, वह इस सम्यग् दृष्टिके कारण किसीसे भी घृणा नहीं करता।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥
(केन० २।४)

बुद्धिकी समस्त वृत्तियोंके साक्षीरूपमें जिसने ब्रह्मको जान लिया है, वह अमृतरूप मोक्षको प्राप्त होता है, समाहित मनसे ज्ञानप्राप्तिका सामर्थ्यलाभ करता है और उस विद्या (ज्ञान) से अमृतत्वको प्राप्त करता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २।५)

इस जीवनको पाकर भी जिसने आत्माका साक्षात्कार नहीं किया, वह आत्मघाती है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। (कठ० १।१।२७)

धनसे मनुष्य कभी तृप्त होनेवाला नहीं है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठ० १।२।५)

अविद्यामें स्थित होकर भी अपनेको धीर एवं पण्डित माननेवाले मूढ़लोग नाना योनियोंमें भ्रमण करते हुए उसी प्रकार भटकते और ठोकरें खाते हैं, जैसे अन्धे मनुष्यके द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धे।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १।२।६)

धनके मोहसे मूढ़ हुए प्रमादी अज्ञानीको परलोक नहीं सूझता। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है, इसके सिवा दूसरा कोई भी लोक सत्य नहीं है—यों माननेवाला अभिमानी मनुष्य बारंबार मेरे (यमराजके) वशमें आता है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठ० १।२।१६)

यह अक्षर ही तो ब्रह्म है, और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इस अक्षरको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसे वही वस्तु प्राप्त हो जाती है।

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठ० १।२।१८)

नित्य चैतन्यरूप आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है; न यह किसीसे हुआ है और न इससे कोई हुआ है—अर्थात् इसका कारण या कार्य नहीं है। यह अजन्मा है, नित्य है,

शाश्वत है और पुराण है; शरीरके मारे जानेपर भी यह मरता नहीं ।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥
(कठ० १ । २ । २१)

बैठा हुआ ही दूर चला जाता है; सोता हुआ सर्वत्र चला जाता है; ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त न होनेवाले उस देवको मेरे सिवा (मुझ-जैसे आत्मज्ञ पुरुषोंके सिवा) दूसरा कौन जान सकता है ? कोई नहीं ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
(कठ० १ । ३ । १२)

यह सबका आत्मरूप परम पुरुष परमात्मा समस्त प्राणियोंमें स्थित होकर भी मायाके पर्देमें छिपा रहनेके कारण प्रकाशमें नहीं आता। केवल सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषों-द्वारा ही वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण बुद्धिसे देखा जाता है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ० २ । २ । ९)

जैसे समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा ब्रह्म एक होकर भी नाना रूपोंमें उन्हीं-के-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥
(कठ० २ । २ । ११)

जैसे सब लोकोंका प्रकाशक सूर्य लोगोंके नेत्रोंके बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब भूतोंका एक अन्तरात्मा परमेश्वर लोकोंके दुःखसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह सबमें रहकर भी सबसे अलग है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(कठ० २ । २ । १५)

उस स्वप्रकाश परब्रह्मके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं प्रकाशित होते; बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं; फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है। उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे) सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित हो रहा है ।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥
(कठ० २ । ३ । ७-८)

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे व्यष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है, व्यष्टि-बुद्धिसे महान् आत्मा अर्थात् समष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है, समष्टि-बुद्धिसे अव्यक्त (मूल प्रकृति) उत्तम है; अव्यक्तसे श्रेष्ठ व्यापक और अलिङ्ग पुरुष है, जिसको जानकर जीव दुःखोंसे मुक्त होता तथा अमृतत्वरूप मोक्षको प्राप्त हो जाता है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठ० २ । ३ । १४)

जब इस विद्वान्के हृदयमें स्थित सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और इसी शरीरमें ब्रह्मका अनुभव करता है ।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥
(कठ० २ । ३ । १५)

जब यहाँ इस जीवनमें ही इस विद्वान्के हृदयकी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमृतस्वरूप हो जाता है। इतना ही वेदका उपदेश है, अधिक नहीं ।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥
(प्रश्न० ४ । ९)

यह जो देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला तथा कर्म करनेवाला विज्ञानस्वरूप पुरुष है; वह भी अविनाशी परमात्मामें भलीभाँति स्थित है ।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।
(मुण्डक० १ । १ । ६)

वह जो नित्य, सर्वत्र व्यापक, सबमें फैला हुआ, बहुत

ही सूक्ष्म और अविनाशी परब्रह्म है, उस समस्त प्राणियोंके परम कारणको ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥
(मुण्डक० १।२।१०)

इष्ट (यज्ञ-याग आदि) और पूर्त (कूप-उद्यानादिके निर्माण) को श्रेष्ठ माननेवाले अत्यन्त मूढ़ मनुष्य उस सकाम कर्मके सिवा अन्य किसी वास्तविक श्रेयको नहीं जानते, वे पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गके उच्चतम स्थानमें जाकर वहाँके भोगोंका अनुभव करके इस मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी हीनतर लोक (पशु आदि योनि) में प्रवेश करते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥
(मुण्डक० २।१।२)

अजन्मा, दिव्य, अमूर्त पुरुष बाहर और भीतर प्राण-रहित, मनरहित, शुद्ध, परम अक्षरसे भी परे है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥
(मुण्डक० २।२।३)

उपनिषद्में वर्णित प्रणवरूप महान् अस्त्र धनुषको लेकर, उसपर उपासनासे तीव्र किया हुआ बाण चढ़ाये और ब्रह्म-भावकी निष्ठावाले चित्तके द्वारा उसे खींचकर हे सौम्य! उसी अक्षररूप लक्ष्यको वेधे।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥
(मुण्डक० २।२।४)

प्रणव—ॐकार धनुष है, बाण आत्मा है और बाणका लक्ष्य ब्रह्म कहा जाता है। जितेन्द्रिय पुरुषको उसे सावधानता-पूर्वक बेधना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
(मुण्डक० ३।१।५)

सत्य, तपस्या, यथार्थ ज्ञान तथा निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे इस शरीरके भीतर ही हृदय-गुहामें परम निर्मल ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जिसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश हो जानेपर यत्नशील यति ही देख पाते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
(मुण्डक० ३।१।६)

सत्यकी ही विजय होती है, असत्यकी नहीं। सत्य-धर्मसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्तिका विस्तृत मार्ग—देवयान प्रकट होता है, जिसके द्वारा आप्तकाम महर्षिगण उस परमधाममें गमन करते हैं जहाँ वह सत्यका परम आश्रय परमात्मा अनावृतरूपसे स्थित है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(मुण्डक० ३।२।३)

वे परमात्मा केवल प्रवचनसे—शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे, धारणावती बुद्धिसे या अधिक शास्त्रोंके अध्ययनसे भी नहीं प्राप्त होते। वे स्वयं ही दया करके जिसे अपना लेते हैं, उसीको इनकी प्राप्ति हो सकती है; उसके समक्ष वे अपने स्वरूपको अनावृत कर देते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डक० ३।२।८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अविद्याकृत नाम-रूपसे विमुक्त होकर विद्वान् परसे पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डक० ३।१।१)

दो पक्षी साथ-साथ रहते हैं, दोनों परस्पर सखा हैं; वे एक ही वृक्षका आश्रय लेकर बैठे हैं। इनमेंसे एक तो पीपलके फलको स्वाद ले-लेकर खाता है और दूसरा खाता नहीं, केवल देखता है।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीय० १।११।१)

वेदका अध्ययन कराकर आचार्य शिष्यको शिक्षा देते हैं। सच बोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे प्रमाद मत कर। आचार्यके लिये प्रिय धन लाकर दे। सन्तान-परम्पराका उच्छेद मत कर। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। आरोग्यादि शरीरकी कुशलतासे प्रमाद नहीं करना चाहिये। विभूतिसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। पढ़ने-पढ़ानेसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देवकर्म और पितृकर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

माताको देवताके समान पूजनेवाला हो। देवके समान पिताका पूजनेवाला हो। देवके समान आचार्यका पूजनेवाला हो। देवके समान अतिथिका पूजनेवाला हो। जो निर्दोष कर्म हैं, वे तुझे करने चाहिये। अन्य दोषयुक्त कर्म नहीं करने चाहिये। जो हमारे आचार्योंके सुन्दर आचरण हैं, वे तुझे नियमसे करने चाहिये, दूसरे (कर्म शाप देना आदि), यदि आचार्य करें, तो भी तुझे नहीं करने चाहिये।

रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (तैत्तिरीय० २।७।१)

वह निश्चय ही रस है, इस रसको पाकर ही मनुष्य आनन्दवाला होता है। जो हृदयाकाशमें यह आनन्द न हो तो कौन श्वास ले, कौन प्रश्वास ले। यही आनन्द देता है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।

(तैत्तिरीय० २।९।१)

ब्रह्मके आनन्दको जो जानता है, उसको किसीसे भय नहीं होता।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। (छान्दोग्य० ३।१४।१)

यह सब निश्चय ब्रह्म ही है; इसीसे जगत् उत्पन्न होता है, इसीमें लय होता है और इसीमें चेष्टा करता है। इसलिये शान्त होकर उपासना करे; क्योंकि पुरुष निश्चयमय है। इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर होता है; इसलिये वह क्रतु यानी पक्का निश्चय करे।

ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म। (छान्दोग्य० ४।१०।५)

ॐ सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

(छान्दोग्य० ५।१०।७)

उनमें जो सुन्दर—विशुद्ध आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं; वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं। तथा जो मलिन आचरणवाले होते हैं, वे भी यथासम्भव शीघ्र ही मलिन (अधम) योनियोंमें जन्म लेते हैं। वे कूकरयोनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि ग्रहण करते हैं।

पाँच प्रकारके महापातक मनुष्यको घोर पतनके गर्तमें गिरानेवाले होते हैं—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति।

स्वर्णकी चोरी करनेवाला, शराबी, गुरुपत्नीगामी, ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते है और जो इनके साथ संसर्ग रखनेवाला है, वह पाँचवाँ भी महापापी है।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य० ७।२३।१)

'जो भूमा है, वह सुख है; अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है, भूमाको ही जानना चाहिये।'

एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।

(छान्दोग्य० ८।५।३)

जिस आत्माको मनुष्य ब्रह्मचर्यसे प्राप्त करता है, वह आत्मा नष्ट नहीं होता।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य० ८।७।१)

जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, भूखरहित, प्यासरहित, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है, उसे खोजना चाहिये, उसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति। (बृहदा० १।३।२८)

असत्‌से मुझे सत्‌की ओर ले चलो, अँधेरेसे प्रकाशकी ओर ले चलो, मृत्युसे मुझे अमृतकी ओर ले चलो।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृहदा० १।४।८)

वह जो यह अन्तरतम आत्मा है, वह पुत्रसे भी अधिक प्रिय है, धनसे भी बढ़कर प्रिय है तथा अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳसर्वं विदितम्।

(बृहदा० २।४।५)

अरी मैत्रेयी! सबकी कामनाके लिये सब प्रिय नहीं होते, आत्माकी कामनाके लिये ही सब प्रिय होते हैं। अरे! आत्माको देखना चाहिये, सुनना चाहिये, मनन करना चाहिये, ध्यान करना चाहिये। अरी मैत्रेयी! आत्माके देखने, सुनने, मनन करने और जाननेसे यह सब जान लिया जाता है।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

(बृहदा० ३।७।१५)

जो सब भूतोंमें स्थित होकर सब भूतोंके भीतर रहता है, जिसको सर्वभूत नहीं जानते, जिसका सम्पूर्ण भूत शरीर है, जो सब भूतोंके भीतर रहकर उन्हें नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। (बृहदा० ४।४।५)

वह यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय है, मनोमय है, प्राणमय है, चक्षुर्मय है और श्रोत्रमय है। मनुष्य जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, उसीके अनुरूप बन जाता है। शुभकर्म करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष होता है और पापाचारी पापात्मा हो जाता है। पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है (पवित्र योनिमें जन्म ग्रहण करता है) और पापकर्मसे पापात्मा हो जाता है।

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥
(बृहदा० ४।४।६)

यह मनुष्य इस लोकमें जो कुछ कर्म करता है, परलोकमें उनका फल समाप्त करके उस लोकसे इस लोकमें फिर कर्म करनेके लिये आता है।

अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा। (बृहदा० ४।५।१४)

अरी मैत्रेयी! यह आत्मा नाशरहित स्वरूपवाला है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥
(श्वेताश्वतर० १।१५)

जैसे तिलोंमें तेल, दधिमें घी, स्रोतमें जल और अरणिमें अग्नि छिपा होता है, इसी प्रकार वह आत्मा अपने हृदयमें छिपा हुआ है। जो कोई साधक इसको सत्यसे और तपसे देखता है—चिन्तन करता रहता है, उसीके द्वारा यह आत्मा गृहीत होता है।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
(श्वेताश्वतर० २।८)

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि सिर, गला और छाती—इन तीनों स्थानोंपर उभरे हुए शरीरको सीधा और स्थिर करके तथा समस्त इन्द्रियोंको मनके द्वारा हृदयमें निरुद्ध करके ॐकाररूपी नौकाद्वारा सम्पूर्ण भयङ्कर स्रोतों (प्रवाहों) को पार कर जाय।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥
(श्वेताश्वतर० २।१०)

समतल; सब प्रकारसे शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल और आश्रय आदिकी दृष्टिसे सर्वथा अनुकूल और नेत्रोंको पीड़ा न देनेवाले गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें मनको ध्यानमें लगानेका अभ्यास करे।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । ८)

मैं इस आदित्य-वर्णवाले, अन्धकारसे पर महान् पुरुषको जानता हूँ; इसको जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है। मोक्षके लिये अन्य मार्ग नहीं है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । १९)

बिना हाथ पकड़नेवाला है, बिना पैर तेज दौड़नेवाला है, बिना आँखके देखता है, बिना कानके सुनता है; वह जाननेयोग्यको जानता है, उसका जाननेवाला नहीं है। उसको आदि, महान् पुरुष कहते हैं।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । ७)

उस ईश्वरोंके भी परम ईश्वर, उस देवताओंके भी परम दैवत, पतियोंके परम पति, भुवनोंके ईश्वर, स्तवनके योग्य देवको हम परात्पररूपसे जानते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । १३)

जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत-से नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफल-भोगोंका विधान करता है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करने योग्य सबके कारणरूप परमदेव परमात्माको जानकर मनुष्य सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम् ॥
(ब्रह्मबिन्दु० २ । ३)

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है; विषयासक्त मन बन्धनके लिये है, और निर्विषय मन मुक्त माना जाता है।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
(कैवल्य० १ । ३)

कर्मसे, संतानसे अथवा धनसे विद्वानोंने अमृतरूप मोक्ष नहीं प्राप्त किया है, किंतु एक त्यागसे ही उसे प्राप्त किया है।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥
(कैवल्य० १ । ५)

एकान्त देशमें पवित्र-मन होकर सुखासनसे बैठकर गर्दन, सिर और शरीरको समान रखकर परमहंस आश्रमवाला संन्यासी सब इन्द्रियोंको रोककर और भक्तिसे अपने गुरुको नमस्कार करके—

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥
(कैवल्य० १ । ६)

अपने भीतर रजोगुणरहित विशुद्ध एवं विकासयुक्त हृदय-कमलका चिन्तन करे; फिर उस कमलके मध्यभागमें निर्मल, शोकरहित, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्त, अमृत, जगत्के कारण शिवका ध्यान करे।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥
(ब्रह्मोपनिषद्)

जिसको न प्राप्त होकर मनसहित वाणी लौट आती है, वह जीवका आनन्द है, जिसको जानकर विद्वान् मुक्त हो जाता है।

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किङ्कराः शिष्यकिङ्कराः ॥
(मैत्रेयी० २ । २४)

जो धनमें बड़े, आयुमें बड़े और विद्यामें बड़े हैं—ये

सभी बड़े लोग ज्ञानमें बढ़े हुए पुरुषके किङ्कर हैं, उसके दास-के भी दास हैं।

सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेत्।
(वज्रसूचिकोपनिषद्)

आत्मा, सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है; यह भावना करे।

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥
(महा० ३ । ३१)

मुने! यह शरीर बाहर और भीतर केवल खून और मांससे भरा है तथा एकमात्र नाशरूप धर्मवाला है। बताइये, इसमें क्या रमणीयता है?

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥
(महा० ४ । ७२)

बन्ध और मोक्षके दो ही आश्रय हैं—ममता और ममताशून्यता। ममतासे प्राणी बन्धनमें पड़ता है, और ममता-रहित होनेपर मुक्त हो जाता है।

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥
(महा० ४ । ८८)

मनरूप व्याधिकी चिकित्साका उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ—जो-जो वस्तु अपनेको प्यारी है, उस-उसका त्याग करने-वाला मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है।

तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते॥
(मुक्तिक० २ । १६)

वासनायुक्त मनको विद्वानोंने बद्ध बतलाया है और जो मन वासनासे सर्वथा शून्य हो चुका है, वह मुक्त कहलाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलमें अध्यात्ममूलक हिंदू-संस्कृति

(तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः)

(लेखक—पं० श्रीचन्द्रबलीजी पाण्डेय, एम्० ए०)

राजा दुष्यन्तने सूतसे कहा था—

सूत यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सारथि! मैं जबतक तपोवनवासियोंसे मिलकर लौटूँ, तबतक घोड़ोंकी पीठ ठण्डी (गीली) करो।

किंतु आश्रमके द्वारपर पहुँचे नहीं कि उनमें यह भावना जगी—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥

यह तपोवन शान्त है और बाँह फड़क रही है। यहाँ इसका फल कहाँसे मिलेगा। अथवा भावीके लिये सब जगह द्वार हैं (सब जगह होनहार फल सकती है)।

भवितव्य होकर रहा और राजा दुष्यन्तको आमन्त्रण मिला 'परिभोग'का—

लतावलय! संतापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।

हे सन्तापको हरनेवाले लताकुञ्ज! फिर परिभोगके लिये मैं तुम्हें आमन्त्रित करती हूँ।

इस परिभोगका परिणाम हुआ विषाद—शकुन्तला-की भर्त्सना और दुष्यन्तका पश्चात्ताप! किंतु इससे भी बढ़कर हुआ दुष्यन्तके चरित्रपर प्रहार। कण्वके आश्रम-में उसका आचरण जैसा रहा, वैसा उससे क्यों हो गया—इसकी मीमांसा अधिक नहीं हुई। हाँ, शंका और समाधानका कार्य अवश्य होता रहा। पर सच पूछिये तो इसका रहस्य सामाजिककी आँखसे आजतक ओझल ही रहा। तुलनाके लिये एक दूसरा प्रसङ्ग भी लीजिये। यह मरीचिका आश्रम है। यहाँ भी राजा और सूतका ही प्रसङ्ग है। हाँ, यह राजाका अपना सूत नहीं, सखा इन्द्रका सूत है। और इसीसे परिस्थिति भी यहाँकी कुछ और है। यहाँ मातलि राजासे कहता है—

अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् याव-त्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि।

इस अशोक-वृक्षके नीचे आप बैठें, जबतक मैं चिसे आपके आगमनका निवेदन करनेके लिये सर देखूँ।

मातलि इतना कहकर तृप्त न हुआ। जाते-जाते ा और कह गया—

आयुष्मन् ! साधयाम्यहम् ।

आयुष्मन् ! मैं जाता हूँ।

मातलि गया और राजाकी चिन्ता जगी—

नोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
वधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥

से मनोरथ पूर्ण होनेकी आशा नहीं। हे भुजा! फड़कती है? मङ्गलका तिरस्कार पहले ही गंवा अब दुःख-ही-दुःख है (अथवा पहले स्कृ कल्याण दुःखमें बदल जाता है)।

दू ला छाँछको फूँककर पीता है, पर भाग्यवश खन मिल गया तो? पहले आश्रममें प्रविष्ट होते ही न पड़ा था—

इत इतः सख्यौ।

इस ओर, सखियो, इस ओर।

और राजाको सूझ पड़ा था—

अहो! मधुरमासां दर्शनम्।

नकी कैसी मधुर आकृति है।

इस आश्रममें खड़े-खड़े सुनायी दिया—

मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम् ॥

चपलता न करो। अरे! अपने स्वभावपर आ ही गया।

'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' की यह झाँकी यहींतक नहीं ही। परिणाम भी दोनोंका सच्चा रहा। पहले राजाने निश्चय किया—

भव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः।
आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥

हे हृदय! साभिलाष हो जाओ। अब सन्देहका निर्णय हो गया। जिसे अग्नि समझते थे, वही यह स्पर्शके योग्य रत्न क्योंकर हो रहा है?

किंतु इस बार सोचा—

किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः ॥

मेरे हृदयमें इस बालकके प्रति औरस पुत्रके समान स्नेह क्यों हो रहा है?

और निर्णय किया—

नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

निश्चय ही सन्तानहीनताके कारण यह वात्सल्य मेरे हृदयमें है।

पहलेका परिणाम हुआ 'रत्न' का तिरस्कार और 'सत्त्व' की अवहेलना, किंतु दूसरेका प्रतिफल मिला—

दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

धर्म-पत्नीके समागम और पुत्रके मुखदर्शनपर आयुष्मान्को बधाई है।

कारण संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि पहलेमें निरा दुष्यन्त और दूसरेमें 'सारथि' साथ है, और 'सारथि' का सङ्केत है बुद्धि। कारण—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

आत्माको रथारोही समझो और शरीरको रथ। बुद्धिको सारथि जानो और मनको लगाम।

बुद्धि तो सारथि सिद्ध हुई और यह स्पष्ट हो गया कि कण्वके आश्रममें जो कुछ हुआ बुद्धिरहित दुष्यन्तके द्वारा हुआ; पर अभीतक 'आर्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः' का रहस्य कहाँ खुला? सो भी तो सामने ही है। देखिये—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

इन्द्रियोंको घोड़ा कहा है। विद्वान् आत्मा, इन्द्रिय और मनसे युक्तको भोक्ता कहते हैं।

अस्तु, बुद्धिरहित भोक्ता दुष्यन्तका रूप आपके सामने आ गया और आपने यह भी देख लिया कि वास्तवमें 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का प्रतिपाद्य है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

मनकी लगाम लिये हुए विज्ञान-सारथिसे युक्त मनुष्य मार्गके अन्तको (पा लेता है और वह) विष्णुके परम पदको पा लेता है।

निदान हमारा कहना है कि यदि वास्तवमें कालिदासका मर्म समझना है तो उनके 'अभिज्ञान' का अध्ययन इस ज्ञानसे करें और उनके अध्यात्मको आँखसे ओझल न होने दें। वाजिको शीतलकर 'सूत' की सुनें. अन्यथा परिभोग और परितापमें पड़े रहें। पार तो लग नहीं सकने, पातमें लगे रहें। वस्तुके अध्यात्मको आँखसे ओझल न होने देना हिंदू-संस्कृतिकी महत्ता है।

जगद्गुरु हिंदू

(लेखक—श्रीआनन्ददेवगिरिजी)

आज ईसाकी इस बीसवीं शताब्दीमें भारतीय नवयुवकोंके अंदर अपनी संस्कृति और धर्मके प्रति एक प्रकारकी घृणा हो चली है। उनकी दृष्टिमें अपना कुछ मूल्य ही नहीं रह गया है। उनकी बुद्धिपर एक ऐसी भयानक छाया आ पड़ी है, जिससे रोम और ग्रीसकी संस्कृति, अरब और ईरानकी संस्कृति ही सब कुछ दीखती और उनकी अपनी संस्कृति—विश्वविजयिनी हिंदू-संस्कृति उन्हें सबसे हेय और सब संस्कृतियोंकी जूँठन ज्ञात होती है। हिंदू-विद्यार्थी और नवयुवकोंके अंदर इस प्रकारका भ्रम उत्पन्न करनेका मुख्य कारण (१) स्वयं उनकी अपनी संस्कृतिके प्रति अज्ञता और (२) भ्रामक पाश्चात्त्य साहित्यका अध्ययन ही है। आजके प्रमुख साहित्यकारोंमें माने जानेवाले श्रीयुत एच्० जी० वेल्सने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड' मे हिंदू-संस्कृतिको विश्वकी अन्य संस्कृतियोंमें अग्रगण्य न मानकर रोमन और ग्रीस संस्कृतियोंको अग्रणी बताया है। पर इससे विद्वान् लेखककी अज्ञता ही प्रकट होती है और ज्ञात होता है कि उन्होंने हिंदू-संस्कृति और धर्मके अध्ययन करनेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया। अतएव उनका उपर्युक्त कथन निश्चय ही निष्पक्ष नहीं माना जा सकता। भारतीय विद्वानोंके विचार तो अपनी संस्कृतिके पक्षमें होंगे ही। पर इस लेखका मुख्य उद्देश्य यूरोपियन और अमेरिकन विद्वानोंके कतिपय विचारोंद्वारा यह सिद्ध करना है कि वास्तवमें ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमें हिंदू विश्वका जगद्गुरु रह चुका है।

आजसे युगों पूर्व स्मृतिकार मनुने विश्वको निमन्त्रण दिया था कि वह भारतके तपःपूत ऋषियोंसे आचार-विचारके सम्बन्धमें कुछ शिक्षा ले। यदि हम ध्यानसे देखें तो यह केवल वाग्जालमात्र नही है। वास्तवमें हिंदुओंमें ऐसी ही शक्ति थी और है भी (यदि वे अपनी यथार्थ शक्तिको जाग्रत्, प्रबुद्ध और प्रकट कर सकें)। जब विश्व असभ्य था, ... अमेरिका, अफ्रिका आदि महाद्वीपोंके प्राणी गुफ... कर अपने नग्न शरीरोंको पत्तोंसे ढकते थे, ... सभ्य, हिंदुओंने विश्वको जो प्रकाशकी किरणें दी थीं, ... हैं कुछ पूर्वी और पश्चिमी विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। हिंदू-सभ्यता और हिंदू-धर्मकी अतिप्राचीनतामें श्रीप्लाइनी (Pliney), श्रीअबुलफजल, श्रीहीरेन, (Prof. Heeren), मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) आदि विद्वान् सभी एकमत हैं। डा० गोकुलचन्द नारङ्गने अपनी पुस्तक 'रियल हिंदूइज्म' (Real Hinduism)-में लिखा है कि प्रो० मैक्समूलर आदि सभी विद्वानोंने इसे स्वीकार किया है कि प्राचीन विश्वके सभी राष्ट्रोंकी सभ्यताका मूल स्रोत भारत ही है। भारतने विश्वके ... भागमें उपनिवेश बसाये थे और यही उपनिवेश बादमें मिस्र, यू... पारस्य, अमेरिका आदि नामोंसे विख्यात हुए। यही नहीं, मुद्राविनिमय, गणित, अर्थशास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र, साहित्य, अङ्कगणित, बीजगणित, अक्षर और अङ्कज्ञानदर्शन और चित्रकलाज्ञानके सभी अङ्गोंमें आजका विश्व हिंदुओंका ऋणी है।

हिंदुओंने ही पहले-पहल मुद्राका निर्माण किया, जैसा श्रीप्रिंसेप (Princep) ने कहा है। ईसाके ८०० वर्ष पूर्व भी हिंदुओंमें विनिमयकी सुव्यवस्थित प्रथा प्रचलित थी। उस समयकी आवश्यकताओंके अनुसार हिंदुओंद्वारा सङ्गठित सरकार सर्वश्रेष्ठ थी और उनके द्वारा निर्धारित न्यायके नियम ही इजिप्शियन, परसियन, रोमन और ग्रीक नियमोंके आधार थे। जब अभी विश्वको अक्षरज्ञान भी न था, तब नालन्दा,

तक्षशिला, श्रीधन्य और कश्मीरके विश्वविद्यालय छात्रोंसे परिपूर्ण रहा करते थे।

जहाँतक भाषाका प्रश्न है इसे डा० बेलेंटाइन (Dr. Ballantyne) और बाप्प (Bopp) जैसे विद्वानोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है कि 'संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी, जो विश्वभरमें प्रचलित थी और यही समस्त भारतीय और यूरोपियन (Indo-European) भाषाओंकी जननी भी है। हिंदुओंको अक्षर और भाषाज्ञान अनादिकालसे है और ईसाके २४०० वर्ष तथा इब्राहीमके ८०० वर्ष पूर्वकी लिखी पुस्तकेंतक पायी गयी हैं।'

अब लीजिये हिंदुओंके साहित्यको। जहाँतक वेदका प्रश्न है, सभी विद्वानोंने उसे सर्वश्रेष्ठ माना है। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) ने कहा है कि 'इसकी समानतामें विश्वसाहित्यने अबतक कुछ भी नहीं दिया।' प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक वाल्टेयर (Voltaire) ने जब ऋग्वेदको देखा तो वह आश्चर्यसे चिल्ला उठा कि 'केवल इसी देनके लिये पश्चिम पूर्वका सदा ऋणी रहेगा।' यदि वेदकी प्रशंसामें पश्चिमी विद्वानोंके विचारोंकी एक-एक पङ्क्ति भी लिखी जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रस्तुत हो सकती है। प्रसिद्ध व्याकरणशास्त्री सर मोनियर विलियम्स (Sir Monier Williams) ने पाणिनिका व्याकरण देखकर कहा—'इससे बढ़कर विश्वने व्याकरणके नियम कभी बनाये ही नहीं। इसका एक-एक सूत्र आश्चर्यचकित कर देता है।' काव्यमें विश्वके किसी राष्ट्रने ऐसा साहित्य नहीं उत्पन्न किया, जो रामायण और महाभारतकी समानता कर सके। वेदोंके अनुवादक ग्रिफिथ (Griffith) ने रामायणके बारेमें लिखा है—'विश्वके किसी भी काव्यमें कवित्व और नैतिकताका ऐसा सम्मिश्रण नहीं पाया जाता। रामायणकी समानता होमर-रचित तीन इलियड और महाभारतकी समानता बारह इलियड भी नहीं कर सकते।' भारतीय-नाट्यशास्त्रपर सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) ने लिखा है कि 'भारतीय नाटकोंकी समानतामें आज विश्वके उन्नततम राष्ट्रोंके नाटक भी नहीं आ सकते।' अभिज्ञानशाकुन्तलको पढ़कर तो जर्मनीका प्रसिद्ध कवि गेटे (Goethe) गद्गद हो उठा और उसने स्वयं भी एक कविता लिख दी। उसके प्रसिद्ध नाटक (Faust) की प्रस्तावना शकुन्तलाकी ही प्रेरणा है। हिंदुओंके गीत-काव्योंपर प्रो० हीरेनका मत है कि 'ग्रीक साहित्यकी तुकान्त और अतुकान्त दोनों प्रकारकी कविताएँ हिंदू गीत-काव्योंके सम्मुख परास्त हैं।' गीतगोविन्दको पढ़कर मन्त्रमुग्ध न होना किसीके लिये असम्भव है। मेघदूतके बारेमें श्रीफाउच (Fauche) ने लिखा है—'यूरोपियन साहित्यमें इसका जोड़ नहीं।' कथा-साहित्यमें श्रीएलफिंस्टनके मतानुसार हिंदू विश्व-शिक्षक है।

अब दर्शनको लीजिये। मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) जैसे विद्वान्ने कहा है—'हिंदू-जाति दार्शनिकोंकी जाति है।' डा० डफ (Dr. Duff) कहते हैं कि 'यूरोपियन दर्शन हिंदू-दर्शनका अत्यन्त ऋणी है।' प्रो० गोल्डस्टकर (Prof. Goldstucker) को तो सब दर्शनोंका तत्त्व हिंदू-दर्शनोंमें मिलता है। सर मोनियर विलियम्सके अनुसार पिथागोरस और प्लेटो—दोनों अपने पुनर्जन्मसम्बन्धी प्रसिद्ध सिद्धान्तोंके लिये भारतीय दर्शनसे अत्यधिक प्रभावित हैं। प्राचीन पश्चिमीय दार्शनिक ही नहीं, बल्कि आधुनिक विश्व भी—और विशेषतः आजका यूरोपियन और अमेरिकन दार्शनिक जगत् भारतीय दर्शनसे बहुत प्रभावित है। स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्दके पर्यटनने तो अमेरिकामें विशुद्ध भारतीय दर्शनके बीज लाकर खड़ा किया है।

यह तो हुई दर्शनकी बात, पर विज्ञानकी कोटिमें भी प्राचीन भारत और हिंदू-संस्कृतिने बहुत कुछ दिया है। पहले चिकित्साशास्त्रपर दृष्टिपात कीजिये। लार्ड ऐम्पथिल (Lord Ampthile) ने जो सन् १९०५में मद्रासके गवर्नर थे, कहा था, 'चिकित्सा-विज्ञानकी जन्मभूमि भारत है। यहींसे पहले अरबवालोंने इसे सीखा और १७वीं शताब्दीके अन्तमें यूरोपियन चिकित्सकोंने इसे अरबवालोंसे सीखा।' शल्य-चिकित्साके बारेमें मि० मैनिङ्ग (Mr. Manning) ने लिखा है, 'हिंदुओंके शल्यसम्बन्धी यन्त्र अत्यन्त तीव्र हुआ करते थे। उनके द्वारा एक बालको भी दो बराबर भागोंमें बाँटना अत्यन्त सरल था।'

गणितमें भी हिंदुओंकी देन बेजोड़ है। वास्तवमें इस विज्ञानको इतना उन्नत करनेका श्रेय इन्हींको है। मि० मैनिङ्ग (Mr. Manning) लिखते हैं कि 'अरबोंने अङ्कगणित हिंदुओंसे सीखा और यूरोपवालोंने इसे अरबोंसे लिया।' सर मोनियर विलियम्सके कथनानुसार बीजगणित भी अरबोंने हिंदुओंसे सीखा। जहाँतक रेखागणितका प्रश्न है, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पीथागोरसका ४७ वाँ थेरम हिंदुओंने कई शताब्दियों पूर्व ही हल कर दिया था।

ज्यौतिषके बारेमें श्रीवेबर (Prof, Weber) कहते हैं: 'अरब हिंदुओंके शिष्य थे।' मि० डेविसके गणनानुसार हिंदू ज्यौतिषविशारद पराशर ईसाके १३९१ वर्ष पूर्व हो चुके हैं। मि० कोलब्रूकने लिखा है कि 'आर्यभट्टको पृथ्वीका अपनी धुरीपर घूमना ज्ञात था। उन्होंने सूर्य और चन्द्रग्रहणके वास्तविक कारणका भी पता लगाया था। १७०२ ई०में जयसिंह द्वितीयने पाँच वेधशालाएँ जयपुर, मथुरा, बनारस, दिल्ली और उज्जैनमें बनवायी थीं। उसने डॉ० ला० हायरद्वारा १७०२ ई० में प्रकाशित ज्यौतिष-सारिणियोंका भी परिशोधन किया था।'

गानविद्याके बारेमें मि० कोलमैनका केवल यह वाक्य उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा कि 'हिंदू-गानविद्याके सिद्धान्त हमारे सिद्धान्तों (यूरोपीय) से कहीं अच्छे हैं। कहाँतक लिखा जाय, मछली पकड़नेसे लेकर खनिज पदार्थोंतक सभी विषयोंपर पुस्तकें लिखी गयी थीं।'

अब लीजिये चित्रकलाको। श्रीहावेल (Mr. Havell) लिखते हैं कि 'भारतीय चित्रकलाका स्थान यूरोप और एशिया—दोनोंमें सर्वश्रेष्ठ है।' वे आगे लिखते हैं कि 'यदि यूरोपियन चित्रकलामें कोई नयी प्रेरणा आती है तो यह निश्चय पुनः पूर्वसे आयेगी।' मूर्तिकलाके लिये तो भारत सदैवसे विश्वका अग्रणी रहा है। श्रीविन्सेन्ट स्मिथ, कर्नल टॉड, प्रो० वेबर आदि भारतकी मूर्तिकलाको देखकर स्तब्ध रह गये हैं। अशोकका स्तम्भ, रामेश्वरम्‌का मन्दिर, इलोराकी गुफाएँ आज भी विश्वको चुनौती दे रही हैं। अजन्ताकी गुफाएँ आज भी भारतकी कीर्तिध्वजाको ऊँचा किये हैं।

हिंदुओंकी शासन-व्यवस्था, उनके राज्यनियम और न्यायविभागके सुगठनकी महत्ता तो निर्विवाद है। श्रीलुइ जेकोलियट (Louis Jacolliot) अपनी पुस्तक (Bible in India) में लिखते हैं, 'मनुस्मृति वह नींव है जिसपर इजिप्शियन, परशियन, ग्रीक और रोमन न्याय और नियमोंका भव्य प्रासाद खड़ा है। और आधुनिक यूरोपपर भी मनुका एक विशेष प्रभाव है।'

यह तो पश्चिमी विद्वानोंकी राय है, जो उन्होंने हिंदुओंके प्राचीन गौरवपर दी है और आज अमेरिका-जैसे उन्नत राष्ट्र भी हिंदुओंकी विद्वत्ताको स्वीकार करते हैं। स्वामी विवेकानन्दके अमेरिका-प्रचार-कालमें उन्होंने जो सफलता प्राप्त की, वह तो महान् थी ही; लेकिन उसी समय अमेरिकाके एक प्रसिद्ध पत्र 'न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा था कि 'यह कितनी मूर्खताकी बात है कि हम (अमेरिकन) भारत-जैसे विद्वान् देशमें अपने प्रचारके निमित्त मिशनरी भेजें।'

स्पष्ट है कि हिंदू जगद्गुरु रह चुके हैं और यह भी निश्चित ही है कि आजकी त्रस्त मानवता यदि कहीं त्राण पायेगी तो वह भारतमें ही और हिंदू-संस्कृति ही [illegible]से त्राण देगी। लेकिन आज आवश्यकता है हिंदुओंके [illegible] होनेकी, अपनी सभ्यता और संस्कृतिके प्रति अधिकाधिक श्रद्धासम्पन्न और संस्कृतिके अनुसार ही सच्चे क्रियाशील होनेकी—साथ ही संगठित भी हो जानेकी। 'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।' हिंदूका अतीत उज्ज्वल रह चुका है और उसके वर्तमानपर छाया हुआ यह अन्धकार भी दूर हो सकता है यदि वह अपनी संस्कृतिसे सच्चा प्रेम करना सीखे और उसके अनुसार जीवन बनाने लगे।

अन्तमें स्वामी विवेकानन्दद्वारा दिये गये भाषणसे मैं निम्नलिखित पङ्क्तियाँ उद्धृतकर लेखनीको विराम देता हूँ—'यह वही भूमि है, जहाँसे [illegible] और आत्म-ज्ञानकी ऊँची लहरोंने बार-बार उठकर समस्त विश्वको प्लावित कर दिया था और यह वही भूमि है, जहाँसे एक बार पुनः उस ज्वार-भाटेके उठनेकी आवश्यकता है, जो पतनोन्मुख मानवताको नव-जीवन और शक्ति दे सके।'

विपत्ति-सम्पत्ति क्या है ?

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

कोई विपत्ति विपत्ति नहीं है और सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान् विष्णुका विस्मरण ही विपत्ति है और भगवान् नारायणकी स्मृति ही सम्पत्ति है।

युगभेदसे मानव-देहका अपकर्ष

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा)

शास्त्रोंके अनुसार अनन्त कालके भीतर क्रमशः सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग बारंबार आते-जाते रहते हैं। और क्रमशः युगभेदसे मनुष्यकी परमायु और आकार आदिमें भी लघुता आती जाती है। सत्ययुगमें मानवशरीर आजकलके हस्तप्रमाणसे इक्कीस हाथका होता था; त्रेतामें चौदह, द्वापरमें सात तथा कलिमें आजकल साढ़े तीन हाथका होता है। पञ्चाङ्गोंसे भी युगोंके वर्णनमें यही देखनेमें आता है।

विष्णुपुराणमें लिखा है कि राजा शर्यातिके वंशधर कुशस्थलीके राजा रैवत ककुद्मी बहुत अन्वेषण करनेपर भी अपनी कन्या रेवतीके योग्य पात्र न पा सके। अन्तमें इस विषयमें ब्रह्मासे जिज्ञासा करनेके लिये वे कन्याको साथ लेकर ब्रह्मलोक गये। वहाँ वेदगान हो रहा था, अतएव उनको प्रतीक्षा करनी पड़ी। तत्पश्चात् ब्रह्मा उनसे बोले कि 'जबतक तुम यहाँ प्रतीक्षा करते रहे, तबतक अनेकों मानवीय युग व्यतीत हो गये। तुम्हारा समकालीन वहाँ कोई भी जीवित नहीं रहा है।' फिर ब्रह्माने उनको पृथ्वीपर लौटने और श्रीकृष्णके अंशभूत माया-मानुष श्रीबलदेवके साथ रेवतीका विवाह करनेकी आज्ञा दी।

उच्चप्रमाणामिति तामवेक्ष्य
स्वलाङ्गलाग्रेण च तालकेतुः।
विनम्रयामास ततश्च सापि
बभूव सद्यो वनिता यथान्या॥

(विष्णुपुराण ४। १। ३८)

'तालकी ध्वजावाले भगवान् बलदेवजीने उस रेवतीको बहुत लंबे शरीरवाली देखकर अपने हलास्त्रके द्वारा उसे नम्राकार कर दिया। तब रेवती तत्कालीन अन्य कन्याओंके समान छोटे आकारकी हो गयी।'

सूर्यवंशी भक्ताग्रगण्य अम्बरीषके भाई तथा सम्राट् मान्धाताके पुत्र राजा मुचुकुन्द सत्ययुगमें देवताओंके लिये असुरोंसे युद्ध करके थक गये। देवताओंने उनको वरदान दिया और उसके प्रभावसे वे एक गुफामें दीर्घ निद्रामें सो रहे थे। श्रीकृष्ण छल करके पीछा करनेवाले कालयवनको उस गुफामें ले गये। कालयवनने राजा मुचुकुन्दको भ्रमसे श्रीकृष्ण मानकर पैरोंसे मारा और उनकी दृष्टिमात्रसे जलकर भस्मकी ढेरी हो गया। मुचुकुन्दने भगवान्‌का स्तवनकर दूसरे जन्ममें जातिस्मरता और मोक्षप्राप्तिका वरदान प्राप्त किया।

इत्युक्तः प्रणिपत्येशं जगतामच्युतं नृपः।
गुहामुखाद्विनिष्क्रान्तः स ददर्शाल्पकान् नरान्॥
ततः कलियुगं मत्वा प्राप्तं तप्तुं नृपस्तपः।
नरनारायणस्थानं प्रययौ गन्धमादनम्॥

(विष्णुपुराण ५। २४। ४-५)

राजा मुचुकुन्दने गुहासे बाहर आकर देखा कि दूसरे मनुष्य उनकी अपेक्षा बहुत छोटे आकारके हैं, और समझा कि कलियुगका आरम्भ हो गया है।

महाभारतके वनपर्वमें भी हनुमान्-भीम-संवादमें युग-भेदसे तेज, शक्ति और आकारके ह्रासकी बात आयी है।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने आर्षशास्त्रोंके दीर्घ युग-परिमाण तथा पूर्वयुगके मानव-देहकी अत्यधिक उच्चताको लेकर कई जगह बड़ी हँसी उड़ायी है। इसका कारण यह है कि वे लोग Old Testament बाइबलके विश्वासी हैं। और बाइबलके मतसे पाँच हजार वर्षसे कुछ पूर्व पृथ्वीकी सृष्टि हुई थी।

आधुनिक क्रम-विकासवाद तथा जड-विज्ञानके प्रमाणके सामने हमें मौन हो जाना पड़ता है, और स्वभावतः हम शास्त्रवाक्योंकी सत्यताके विषयमें सन्देह करने लगते हैं!

परंतु अब अनुसन्धानके फलस्वरूप बाइबलकी सृष्टि-कथा पूर्णतया काल्पनिक प्रमाणित हो गयी है। बल्कि ऐसे और भी बहुतेरे नये तथ्योंका उद्घाटन हो रहा है, जिनसे निश्चयपूर्वक प्रमाणित होता है कि प्राचीन कालमें मानव और अन्य जीवोंके शरीर बहुत बड़े आकारके थे, और वे क्रमशः छोटे होते जा रहे हैं।

भारतमे शवदाहकी प्रथा सदासे चली आती है। इस कारणसे यहाँ प्राचीन कङ्कालोंका प्राप्त होना बहुत कठिन है। तथापि बीच-बीचमें कहीं-कहीं कङ्काल मिल जाते हैं।

ह्वेनसांगका वर्णन

सप्तम शताब्दीमें प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक ह्वेनसांगकी भारत-भ्रमणकी कथासे शास्त्र-पुराणोंकी बातकी ही पुष्टि होती है। उसने 'कुरुक्षेत्र' को धर्मक्षेत्र (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः) के नामसे वर्णन किया है। कुरुक्षेत्रके युद्धके सम्बन्धमें उसने जो विवरण दिया है, उसके प्रामाणिक न होनेपर भी बादमें लिखा है कि—

'मृतदेह लकड़ीके ढेरके समान स्तूपाकार हो गये थे; और तबसे आजतक इस प्रान्तमें सर्वत्र उनकी हड्डियाँ बिखरी हुई पायी जाती हैं। यह बहुत प्राचीन समयकी बात है, क्योंकि हड्डियाँ बहुत बड़ी-बड़ी हैं।'* ह्वेनसांगने निश्चयपूर्वक कुरुक्षेत्र-युद्धमें मरे हुए व्यक्तियोंकी हड्डियाँ देखी थीं और वे तत्कालीन लोगोंके आकारकी अपेक्षा बहुत बड़ी थीं।

भारतमें प्राचीन अतिकाय कङ्काल

१९४१ ई० में कुरुक्षेत्रके समीप एक विलक्षण नर-करोटी पायी गयी थी। संवादपत्रोंमें उसका समाचार छपा था। खुदाई करनेसे सम्भव है कि भविष्यमें और भी चिह्न बाहर निकल सकें। भारतमें अन्यत्र भी बृहद् आकारके नरकङ्काल पाये गये हैं। प्रायः २५-३० वर्षों पहले मैंने समाचारपत्रोंमें पढ़ा था कि युक्त-प्रदेशमें किसी नदीकी धारके बीच एक अतिकाय नरकङ्काल पाया गया था, और वह जिला मजिस्ट्रेटके पास भेज दिया गया था। इस विषयमें मुझे और कुछ अधिक स्मरण नहीं होता।

प्रायः दस वर्ष पूर्व मध्यप्रदेशके होशंगाबाद जिलेमें सोहागपुर नगरके समीप एक बृहद् आकारका कङ्काल पाया गया था। खेदकी बात है कि इस कङ्कालका फोटो या उसका कोई अंश रक्खा नहीं गया।

कोलोराडोका अतिकाय कङ्काल

ता० ९-८-४७ ई० के नागपुरके 'हितवाद' नामक पत्रमें न्यूयार्कके 'ग्लोब' पत्रमें प्रकाशित एक समाचार छपा था। उससे यह ज्ञात हुआ था कि अमेरिकाके कोलोराडो मरुभूमिकी गुफामें अनेकों ९ फुट लंबे कङ्काल पाये गये हैं। अनुमान किया जाता है कि वह स्थान लगभग ८००० वर्ष पहले किसी प्राचीन जातिके राजवंशका समाधिस्थल था।†

अफ्रिकामें अन्वेषण

इंग्लैंडके प्रसिद्ध पत्र Illustrated London News के १९४७ ई० के ५ अक्टूबर और २ नवम्बर (५०४ पृ०) के अङ्कोंमें इस विषयपर एक लेख और चित्र प्रकाशित हुए हैं। उसमें पता चलता है कि दक्षिण अफ्रिकाके प्रसिद्ध नृतत्त्वविद् डाक्टर एल. एस. बी. लीकी (Dr. L. S. B. Leakey) को १९४२ ई० में केनियाकी मैगजी झीलमें, अलरजेसलीमें, तथा उससे पहले टैनगनिकाके Oldway Gorge में प्रस्तरीभूत कङ्काल मिले थे। वहीं बेबून, हस्ती (सीधे दाँतवाले), मेष (भैंसके आकारका जीव) प्रभृति जीवोंके बहुत बड़े हाड़ और दाँत आदि भी पाये गये हैं।

डा० लीकीके मतसे प्रायः एक लाख पच्चीस हजार वर्ष पहले मनुष्यके साथ-साथ ये जीव भी रहते थे। करेन अन्ततः मेषके द्वारा पाला हुआ प्राणी है। तुलनात्मक चित्रोंद्वारा यह दिखलाया गया है कि आधुनिक प्राणीके शरीरकी अपेक्षा ये कितने बड़े थे। इस विषयमें कलकत्तेके स्टेट्समैनने सन् १९४७ फरवरी मासमें जो आलोचना प्रकाशित की थी, उसे नीचे उद्धृत किया जाता है*—

---

* Dead bodies were heaped together as sticks, and from that time till now the plains were everywhere covered by their bones. As this relates to a very remote period of time, the bones are very large ones.

(Beal: *Hieuentsang*, p. 186)

† *Remains of 9 ft. men found*

Newyork, Aug. 7—The remains of men 9 feet tall have been found in the caves of America's Colorado desert, which is thought to be the burial place of people who lived perhaps 8000 years ago. Mummies and implements have been unearthed, along with skeletons of elephants and tigers. *Hieroglyphic inscriptious* in granite in the cave, believed to have been of a temple, may be a key to an ancient story.—'Globe'.

(Hitavada 9-8-47)

* The Darwinian theory that man is descended from the monkey required an intermediate creature showing the characteristics of both; and since this missing link could not be found, a number of later Biologists came to believe that the two species evolved out of a common ancestor at about the same time. Their hypothesis has also lacked verification. In the early thirties Mr. Leaky, the South African anthropologist, announced that he had discovered in Kenya human bones which were a million years old; but the date he wanted to assign to this specimen of homesapiens was disputed by other authorities. Now, however, the Professor of Anatomy at Oxford claims equal antiquity for what he calls Austraipithecus whose fossial remains have been dug out of a cave in South Africa and his conclusion is that more than a million years ago there were men and women in the world walking erect with their shoulders back, tilling the soil, wearing clothes

'डार्विन-सिद्धान्तके अनुगामी बंदरको मनुष्यका पूर्व-पुरुष मानते हैं। इसको प्रमाणित करनेके लिये दोनोंके मध्यवर्ती ऐसे एक जीवकी आवश्यकता है, जिसमें इन दोनों-की विशिष्टता पायी जाय। परंतु यह अदृश्य योगसूत्र पाया नहीं जाता। अतएव परवर्ती कालमें बहुतेरे प्राणि-विज्ञान-वेत्ता विश्वास करने लगे कि मनुष्य और वानर एक साधारण पूर्वपुरुषसे प्रायः एक ही कालमें पैदा हुए थे। परंतु इस युक्तिका समर्थन करनेवाले प्रमाण भी नहीं पाये जाते।

१९३०-३५ ई० के बीच, दक्षिण अफ्रिकाके नृतत्त्व-विद् मि० लीकी घोषणा करते हैं कि उन्होंने केनियामें दस लाख वर्ष पुराने नर-कङ्कालका पता लगाया है। परंतु दूसरे अन्वेषक लोग इस प्राचीनताको स्वीकार नहीं करते।

परंतु सम्प्रति आक्सफोर्डके शरीर-तत्त्वके एक अध्यापक-ने दक्षिण अफ्रिकाकी एक गुफामें कुछ प्राग्-ऐतिहासिक शिलीभूत हड्डियोंको खोदकर निकाला है। उन्होंने इनका नाम दिया है—'ऑस्ट्राइपिथेकस्'। और वे भी इनके प्रायः उतने ही प्राचीनत्वका दावा करते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि लाखों वर्ष पूर्व भी पृथ्वीपर पुरुष-स्त्री थे, वे गलेको पीछे करके सीधे होकर चलते थे, बंदरकी तरह नहीं। वे खेती करते थे, कपड़े पहनते थे और आजकलकी प्राचीन जातियोंके समान व्यवहार करते थे। तथापि उनको ऑस्ट्राइ-पिथेकस् और वानरके बीचमें, खोज करनेपर भी, किसी सम्पर्क-का पता न लगा।'

यवद्वीप (जावा) और चीनदेशमें नवीन खोज

यूनाइटेड स्टेट्स अमेरिकासे प्रकाशित होनेवाले 'लाइफ' (Life) पत्रके १९४६ ई० के २८ अक्टूबरके अङ्कमें जो निबन्ध प्रकाशित हुआ है, उसका भावानुवाद यहाँ दिया जाता है। इससे पूर्णतः प्रमाणित होता है कि पूर्वकालमें मनुष्य-शरीर बड़े आकारका था और क्रमशः छोटा होता जा रहा है।

'फॉन कोनिग्स्वाल्ड एक प्राणितत्त्ववेत्ता हैं। वे विगत द्वितीय महायुद्धके पूर्व स्विस् गवर्नमेंट और कार्नेगी इन्स्टी-च्यूशनकी ओरसे यवद्वीप (जावा टापू) में गवेषणा करते थे।

and behaving more or less as primitive tribes behave today. Moreover he cannot discover any kinship between Austraipithecus and the ape."

—The Statesman, February, 1947.

वहाँ खुदाईके फलस्वरूप उनको प्राचीन कालके नर-कपालका एक टुकड़ा मिला। उसके बृहद् आकार और परिमाणसे जान पड़ता है कि चार लाख वर्षसे प्राचीन 'जावा मैन' (Pithecanthropus Erectus) के कङ्कालकी अपेक्षा भी ये प्राचीन हैं। इसका नामकरण हुआ है—पिथेकन्थ्रोपस् रोबस्टस् (Pithecanthropus Robustas)।

इसके अतिरिक्त उनको एक बड़े जबड़ेका टुकड़ा मिला था। वह अनुमानतः ४॥ लाखसे ५ लाख वर्ष पुराना होगा। इस जातिके मनुष्यका नाम रक्खा गया है—मेगन्थ्रोपस (Meganthropus)। इसके चित्रसे जान पड़ता है कि वह आधुनिक मनुष्यकी करोटीसे ड्योढ़ा या दुगना बड़ा होगा।

कोनिग्स्वाल्डने चीनमें हांगकांग और कैंटन नगरोंकी औषधकी दूकानोंसे इसकी अपेक्षा भी अधिक प्राचीन तीन दाँत प्राप्त किये हैं। चीनमें इस प्रकारके प्राचीन दाँतोंसे वीर्यवर्द्धक औषध तैयार की जाती है। और दाँत क्यांग्सि प्रदेशकी गुहासे पाये गये हैं। फोटोसे जान पड़ता है कि आधुनिक मनुष्यके दाँतसे इनकी लंबाई-चौड़ाई अन्ततः दुगुनी है। अबतक इनकी अपेक्षा प्राचीन नर-अस्थिका कहीं पता नहीं लगा है। इस मनुष्यका नाम रक्खा गया है—जिगेंटोपिथेकस् (Gigantopithecus)। यह सम्भवतः ४½ से ५ लाख वर्ष पुराना होगा।

पिथेकान्थ्रोपस् इरेक्टस्से लेकर जिगेंटोपिथेकस्पर्यन्त जो नर-कङ्कालके अवशेष पाये गये हैं, उनमें परवर्तीकी अपेक्षा पूर्ववर्ती क्रमशः अधिक बड़ा और भारी है।*

डारविनका क्रम-विकासवाद भ्रान्तिमूलक है

अबतक आधुनिक खोजोंके बारेमें जो कुछ कहा गया है, उससे डारविनके क्रमविकासवादकी सत्यताके सम्बन्धमें घोर सन्देह होता है। फलतः यह क्रम-विकासवाद भारतीय शास्त्रोंके सिद्धान्तोंके बिल्कुल विपरीत है। यद्यपि डारविनने भगवान्-को अस्वीकार नहीं किया, फिर भी उनके नवीन सिद्धान्तके

* Each type, from Pithecanthropus Erectus back to Gigantopithecus is larger, more massive and more primitive than the one before it. If Weidenreich is right, man's earliest known ancestor is Gigantopithecus, a huge creature perhaps twice the size of a modern Gorilla. (Life, October 28, 1946, p. 10)

सम्पर्कमें आकर बहुत-से लोग ईश्वरकी सत्तामें सन्देह करने लगे हैं।

परमेश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त विशाल सृष्टिकी रचना, पालन और संहार करते हैं। फिर वे क्या वानरके स्थानमें मनुष्यकी रचना नहीं कर सकते ? दो वृक्षके पत्ते—यही क्यों, घासके दो तिनके कभी एक-से नहीं रचे गये। एक बूँद जलके बीच भी असंख्य जीव रहते हैं, जो केवल अणुवीक्षण-यन्त्रकी सहायतासे देखे जाते हैं।

आर्य-शास्त्रोंमें मनुष्यका एक विशिष्ट स्थान, बल्कि प्राधान्य है; क्योंकि चतुर्दश भुवनोंमें एकमात्र पृथ्वी ही कर्मक्षेत्र है और मानव-शरीर ही एकमात्र कर्म करनेका साधन है। दूसरे सभी लोक भोगभूमियाँ हैं, और दूसरे सारे शरीर (यहाँतक कि देवशरीर भी) भोगशरीर हैं। उनमें तथा उनके द्वारा मुक्तिके उद्देश्यसे कोई कर्म नहीं होते। अतएव मनुष्य भगवान्‌की सृष्टिका श्रेष्ठ जीव है, नर-देह अत्यन्त दुर्लभ है। देवताको भी मुक्तिके लिये धराधाममें आकर मनुष्यदेह ग्रहणकर जन्म लेना पड़ता है।

हमलोगोंके लिये सामान्य ज्ञान लेकर तथा दो अक्षर अंग्रेजीके पढ़कर भारतके प्राचीन इतिहास और शास्त्र-सिद्धान्त-को अवहेलनाकी दृष्टिसे देखना या उसकी हँसी उड़ाना उचित नहीं है। जगत्-पूज्य महर्षिगण केवल थोथी गल्प-रचना, भला किस उद्देश्यसे करते ?

आज जो अनुसन्धान हो रहे हैं, उनसे पाश्चात्य अन्वेषकों-के मतसे भी निःसन्देह सिद्ध हो रहा है कि प्राचीन कालसे मानवदेह क्रमशः छोटा होता आ रहा है, तथा आजसे दस लाख वर्ष पूर्व भी सभ्य मानवका पृथ्वीपर अस्तित्व था। इससे शास्त्रोंमें जो युगभेदसे क्रमशः सब विषयोंमें अवनति-की बात लिखी है, वह सर्वथा सत्य सिद्ध होती है।

प्रशान्त महासागरके देशोंमें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

इस महासागरके एक ओर चीनका विशाल प्राचीन देश है और दूसरी ओर अमेरिकाका महाद्वीप, जो आधुनिक संस्कृतिका द्योतक है। इन दोनोंके बीच, इसकी गोदमें, हजारों छोटे-बड़े द्वीप हैं। इन सबमें तरह-तरहकी संस्कृतियोंके नमूने देखनेमें आते हैं। परंतु इधर जो खोज हुई है, उससे पता लगता है कि इनमें सबसे प्रधान हिंदू-संस्कृति थी, जिसका प्रभाव उन देशोंके इतिहास तथा जीवनपर पूरी तरह पड़ा है। यहाँ कई हिंदू-राज्योंका उत्थान और पतन हुआ, जिनका स्मरण दिलानेके लिये आज भी जहाँ-तहाँ कितने ही चिह्न मिलते हैं। प्रायः लोगोंकी धारणा है कि बौद्धमतके प्रचार तथा विस्तारके साथ भारतसे बाहरके देशोंमें हिंदू-संस्कृतिका सूत्रपात हुआ; परंतु इन देशोंकी संस्कृतिके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि यह मत भ्रान्त है। बौद्धोंके प्रभावसे बहुत पहले यहाँ विशुद्ध हिंदू अर्थात् 'वैदिक संस्कृति' के चिह्न पाये जाते हैं। जैसे-जैसे इतिहासके इस पृष्ठपर खोजका प्रकाश पड़ता जा रहा है, वैसे ही हमारी आँखोंके सामने 'बृहत्तर' अर्थात् 'विशाल' भारतका चित्र स्पष्ट होता जाता है। इन देशोंमें वैदिक संस्कृतिके जो चिह्न प्राप्त हुए हैं, संक्षेपमें हम यहाँ क्रमसे उन्हींको दिखलाने-का प्रयत्न करेंगे।

चीन

अपने यहाँके इतिहास-पुराणोंमें चीनकी चर्चा अति प्राचीन कालसे मिलती है। वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड-में सुग्रीवने जब वानरोंको विभिन्न देशोंमें सीताजीको खोजने-का आदेश दिया, तब उन्होंने उसमें चीनका भी नाम लिया है—

चीनान्परमचीनांश्च निहारांश्च पुनः पुनः।
अन्विष्य दरदांश्चैव हिमवन्तं तथैव च॥

महाभारतमें भी कई स्थानोंपर चीन तथा चीनियोंका उल्लेख मिलता है—

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः।
(शान्ति० ६५। १३)

विष्णुपुराणमें भी कहा गया है—

प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सचीनकाः।
(१। ६। २१)

मनुने यवन, शक, किरात, चीनी आदिकोंको 'आचार-भ्रष्ट क्षत्रिय' बतलाया है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

कौटिल्यने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में चीनके रेशमका उल्लेख किया है—

तया कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः ।

ईसाके ५०० वर्ष पूर्व यहाँ 'ता-ओ' मतका बहुत प्रचार हुआ, जिसके प्रवर्तक लओ-त्से माने जाते हैं। 'ता-ओ' शब्द निर्विकार निरुपाधिक परमतत्त्वका द्योतक है । यह परम्परागत शिक्षा अद्वैत-वेदान्तसे बहुत मिलती है। इसका मार्ग निवृत्ति या वैराग्य है । 'ता-ओ' के मूल-ग्रन्थ 'यो-किङ्ग' की रचना ईसासे ३४६८ वर्ष पूर्व मानी जाती है। इसमें सृष्टिके उत्पादनके लिये दो तत्त्व बतलाये गये हैं—'याङ्ग' (लिङ्ग) और 'यीन' (योनि), जिनसे अभिप्राय पुरुष और प्रकृतिसे है। इसमें चार युगोंकी भी चर्चा आयी है। इसके समकालीन ही कनफ्यूशस (कोङ्ग-त्से या कुङ्ग मुनि)-का सम्प्रदाय है, जिसमें प्रवृत्तिमार्गपर जोर दिया गया है और पितरोंका पूजन तथा उनमें श्रद्धा मुख्य उपासना बतलायी गयी है । इस सम्प्रदायके उपदेशोंपर वैदिक सनातनधर्मका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। मानवसमाजके कल्याणसाधनके लिये भगवान् मनुके सारगर्भित उपदेशोंपर ही इनकी शिक्षा अवलम्बित है । व्यवहारके लिये इसमें मुख्य सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि 'किसीके साथ ऐसा बर्ताव न करो, जो तुम अपने लिये नहीं चाहते।' यह तो—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

—का अनुवादमात्र है । हिंदू-स्त्रीकी तरह प्राचीन शैलीके अनुसार चीनी स्त्रीका भी यही कर्तव्य है कि वह बाल्यकालमें माता-पिता, विवाह हो जानेपर पति और विधवा होनेपर अपने पुत्रोंके अधीन रहे। मनुने भी यही बतलाया है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

'दि बर्थ आफ चाइना' (चीनका जन्म) नामक अपनी पुस्तकमें डा० क्रील लिखते हैं कि प्राचीन चीनियोंके रीति-रिवाज और उपासनाओंमें वैदिक प्रतीकों और यज्ञोंकी झलक दिखलायी पड़ती है । सरदारोंके लिये चीनमें 'मण्डारिन' शब्दका प्रयोग होता है, जो 'मन्त्रिन्' शब्दका विकृत रूप जान पड़ता है । बौद्धमतका प्रवेश तो वहाँ ईसासे दो सौ वर्ष पहले हुआ, जैसा कि अब प्रायः सभी विद्वान् मानने लगे हैं। इस तरह चीनमें प्राचीन वैदिक संस्कृतिका ही पता लगता है ।

हिंदचीन

यह प्रदेश चीनके दक्षिणमें है । इसका आधुनिक 'अनाम' प्रान्तका प्राचीन नाम 'चम्पा' था। बहुत कालतक यह प्रदेश हिंदुओंके अधीन रहा। यहाँके हिंदू-नरेश अपनेको 'श्रीमार' के वंशज कहते थे, जिसका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना जाता है। इन्द्रवर्मन द्वितीयके एक शिलालेखमें, जो ७५७ शक-संवत्का है, बतलाया गया है कि प्रथम राजा ओजको स्वयं शिवने यहाँ भेजा। शिलालेखमें एक 'विचित्रसगर' का नाम आता है, जो द्वापरयुगके ५९११ वें वर्षमें बतलाया गया है। चौथी शताब्दीमें यहाँ मुख्य चार राज्य थे—कौठार, पाण्डुरङ्ग, विजय और अमरावती या इन्द्रपुरी। 'अनाम' की प्राचीन गाथाओंमें बतलाया गया है कि 'चम्पा' के प्राचीन निवासी वानरोंकी सन्तान हैं और इस सम्बन्धमें रामायणकी कथा संक्षेपमें दी हुई है। उन लोगोंका विश्वास था कि रामायणकी घटना चम्पामें ही हुई थी। यहाँके राजालोग शिवके उपासक थे। शिवकी मूर्ति तथा लिङ्ग दोनों रूपमें पूजन प्रचलित था। शिवके साथ शक्ति-उपासना भी चलती थी। इन देवताओंके अब भी यहाँ कितने ही विशाल मन्दिर टूटी-फूटी हालतमें मिलते हैं । यहाँके साहित्यमें रामायण, महाभारत, शिवपुराण, लिङ्गपुराणकी बहुत-सी कथाएँ आयी हैं । सिद्धान्तरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य—ये चारों वर्ण माने जाते थे; परंतु व्यवहारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय—इन दोका ही उल्लेख आता है। यहाँके हिंदू-नरेशोंका इतिहास डा० मजूमदारने सन् १९२७ में प्रकाशित अपने 'चम्पा' नामक ग्रन्थमें दिया है।

कम्बोडिया

इसके दक्षिण-पूर्वमें आधुनिक 'कम्बोडिया' देश है। यह भी पहले हिंदू-राज्य था और इसका नाम 'काम्बोज' था। यहाँके हिंदू राजवंशके सम्बन्धमें कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं । कहा जाता है कि कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मणने, जिसको द्रोणपुत्र अश्वत्थामासे एक भाला प्राप्त हुआ था, यहाँ आकर नागकन्या सोमासे विवाह किया। उसीसे राजवंश चला। दूसरी अनुश्रुतिके अनुसार इन्द्रप्रस्थके राजा आदित्य-वंशने अपने एक पुत्रको क्रुद्ध होकर देशसे निकाल दिया। उस राजकुमारने यहाँ आकर नागपुत्रीसे विवाह किया, जिससे राजवंशकी उत्पत्ति हुई। यह राजा अपनेको चन्द्रवंशी मानता था। इस राजघरानेका सम्बन्ध सूर्यवंशसे भी माना गया है। इस विषयकी ऐसी कहावत है—महर्षि कम्बु, स्वायम्भुव

और अप्सरा मेराने, जिसे उन्होंने शिवके प्रसादसे प्राप्त किया था, यहाँ सूर्यवंशका प्रसार किया। 'बाकसेई चामक्रोम' शिलालेखमें इसका वर्णन इस तरह किया गया है—

स्वायम्भुवं नमत कम्बुमुदीर्णकीर्तिं
यस्यार्कसोमकुलसंगतिमाप्नुवन्ति ।
सत्सन्ततिः सकलशास्त्रतमोऽपहन्त्री
तेजस्विनी मृदुकरा कलयाभिपूर्णा ॥

अर्थात् कम्बु स्वायम्भुवकी प्रतिष्ठा करो, जो उत्कृष्ट महिमासे युक्त हैं और जिनका विश्रुत वंश सूर्यवंश और चन्द्रवंशमें सम्बन्ध पैदा करके सम्पूर्ण शास्त्रोंके अन्धकारको दूर करता है। इन्हीं कम्बुकी प्रजा 'कम्बुज' और उसीसे देश 'काम्बोज' कहलाया। ऊपर उद्धृत श्लोकमें मनुने भी 'कम्बोजों' का उल्लेख किया है। महाभारत 'शान्तिपर्व' में भी बतलाया गया है—

पौण्ड्राः पुलिन्दारभटाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।'

आधुनिक इतिहासकारोंने इन घटनाओंका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना है। तबसे लेकर चौदहवीं शताब्दीतक यहाँ हिंदुओंका शासन बना रहा। यहाँके राजा 'वर्मा' की उपाधि धारण करते थे, ये लोग भी शैव थे। साथ ही वैष्णव मतका भी प्रचार था। दोनोंका सम्मिश्रण 'हरिहर' की उपासनामें किया गया। सातवीं शताब्दीमें यहाँ बौद्धधर्मका प्रवेश हुआ और हिंदू-राजाओंने अपनी विख्यात उदारताके अनुसार इस मतको भी राज्यका संरक्षण प्रदान किया। कई नगरोंमें इन राजाओंने विशाल मन्दिर बनवाये थे। प्रसिद्ध नगर अङ्कोरमें, जिसका प्राचीन नाम 'यशोधारपुर' था, एक बड़ा भारी मन्दिर था, जो टूटी-फूटी हालतमें अब भी मौजूद है। इसके चारों ओर एक परिखा है, जो लगभग ७०० फुट चौड़ी है। इसको पार करनेके लिये सात सिरवाले नागके आकारके खंभोंपर ३६ फुट चौड़ा सेतु है। चार कोनोंपर १८० फुट ऊँची चार बुर्जें हैं। मन्दिरकी दीवारोंपर अप्सराओं और देवी-देवताओंके बड़े सुन्दर चित्र बने हुए हैं। सम्भवतः यह पहले विष्णु-मन्दिर था। अब हीनयान बौद्ध-मन्दिर बन गया है। देशभरमें यत्र-तत्र कितने ही शिलालेख मिले हैं, जो संस्कृतमें हैं और उनकी लेखनशैली साहित्यिक है। छठी शताब्दीके एक लेखमें बतलाया गया है कि ब्राह्मण सोमशर्माने एक स्थानपर रामायण, महाभारत और पुराणोंके प्रतिदिन पाठ चलते रहनेका प्रबन्ध किया। आज भी यहाँके राजमहलमें 'इन्द्रकी तलवार' रक्खी है, जिसकी रक्षा बड़ी सावधानीसे की जाती है। उत्सवोंपर उसका जुलूस बड़ी धूम-धामसे निकाला जाता है।

थाइलैंड

यह देश जो कम्बोडियाके पश्चिममें है, कुछ दिन पहले 'श्याम' के नामसे प्रसिद्ध था। इसका प्राचीन नाम 'द्वारावती' है। यहाँका प्राचीन इतिहास अभीतक पूर्णरूपसे नहीं प्राप्त हुआ है। ईसवी सन्‌की पाँचवीं तथा छठी शताब्दियोंके जो लेख मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म और 'हीनयान बौद्धमत' दोनों ही उन दिनों प्रचलित थे। आजकल यद्यपि राजधर्म बौद्धमत ही है, तथापि रीति-रिवाजोंमें हिंदू-धर्मकी बहुत कुछ छाया दीख पड़ती है। यहाँके राजा रामचन्द्रके अवतार माने जाते हैं और उनका नाम भी प्रायः 'राम' पर होता है। राजा छठे रामने 'अयुथिया' (अयोध्या) नामक नगरको राजधानी बनाया। उत्तरी श्याममें 'लपबुरी' (लवपुरी) प्रसिद्ध नगर है, जिसके एक मन्दिरमें विष्णु, लक्ष्मी और कई ऋषियोंकी मूर्तियाँ हैं। सुखोदय और स्वर्गलोक नामक नगरोंमें भी कुछ मन्दिर हैं। यहाँकी आधुनिक राजधानी 'बैंकाक' में जो प्रधान बौद्धविहार है, उसके चाँदीके फाटकपर रामायणके दृश्य अङ्कित हैं। देशमें विकृतरूपसे रामायणकी कथाका भी प्रचार है। सन् १९२४ में प्रकाशित 'श्याम' नामक पुस्तकमें ग्रैहमने लिखा है कि यहाँ बारह-तेरह वर्षके बालकोंका एक संस्कार होता है, जिसमें शिखा-मुण्डन प्रधान है। उनकी रायमें यह संस्कार हिंदुओंके उपनयनसे बहुत मिलता है। वहाँ मुसल्मानोंतकमें इसकी चाल है। सन् १९४१ में प्रकाशित अपनी 'थाइलैंड' नामक पुस्तकमें स्वामी श्रीसदानन्दजीने भी इसपर प्रकाश डाला है।

मलाया प्रायद्वीप

यह पतला-सा प्रायद्वीप एशियाका सबसे दक्षिणी भाग है, जो महासागरमें घुसा हुआ है। 'मलय' शब्दसे मलाया बना हुआ है। 'वायुपुराण' में छः द्वीपोंके नाम दिये हैं, जिनमें मलयद्वीपका नाम भी आता है। यहाँ ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीसे हिंदुओंका पता लगता है। एक चीनी इतिहाससे ज्ञात होता है कि छठी शताब्दीमें यहाँ एक राज्य था, जिसमें संस्कृत भाषा प्रचलित थी। यहाँ 'कटाह' नामका भी किसी समय एक राज्य था। पुराणोंमें 'कटाहद्वीप'-का वर्णन भी आया है। केडाह (कटाह) नामकी छोटी-सी

पहाड़ी है। उसपर एक टूटा हुआ मन्दिर पाया गया है, जिसमें दुर्गा, गणेश और नन्दीकी मूर्तियाँ मिली हैं। सन् १९२७में केम्ब्रिजसे प्रकाशित अपनी एक रिपोर्टमें श्रीइवान्स-ने लिखा है कि इससे यह सिद्ध होता है कि वहाँके प्राचीन निवासी हिंदू थे। डा० वेल्सकी राय है कि किसी समय इस प्रदेशमें हिंदुओंका पूरा प्रभाव अवश्य रहा होगा। आज भी 'श्रीयमरात' में ब्राह्मणोंकी कुछ बस्तियाँ हैं। रामायणका 'हिकायन सेरी राम'के नामसे यहाँ भी प्रचार है। जावा, सुमात्रा, स्याम आदि हिंदू-राज्योंसे इसका बहुत सम्बन्ध रहा। अभीतक क्रमबद्धरूपमें इसका प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं हुआ है।

मलक्का

यह मलय प्रायद्वीपका दक्षिणी भाग है। इसके भी प्राचीन इतिहासका पता नहीं है; परंतु पुर्तगाली अल्बुकर्कके दिये हुए विवरणोंसे पता लगता है कि उन दिनों वहाँका राजा 'परमीसुरा' (परमेश्वर) था, जिसने जावाकी राजकुमारीके साथ विवाह किया था। वह कुछ कालतक सिंगापुरमें, जिसका प्राचीन नाम 'सुमार्सिक' था, भी रहा था। कहा जाता है कि परमेश्वरने ही इस द्वीपका नाम 'मलक्का' रखा था, जो जावाकी भाषाका शब्द है और जिसका अर्थ है 'मिलनेका स्थान'। पंद्रहवीं शताब्दीमें मुसल्मानोंका इसपर आधिपत्य हुआ, जिनसे पुर्तगालियोंने इसको छीन लिया। सन् १९३४ में प्रकाशित 'मलायाके इतिहास' में श्रीविन्सेंट लिखते हैं कि 'हिंदुओंके समयमें विद्वानोंका सम्मान होता था, धर्मका प्रचार था; परंतु मुसल्मान शासकोंको लड़ाई-झगड़ों और स्त्रियोंसे ही अवकाश न मिलता था।' चीनी लेखक हे-चूका कहना है कि सन् १५३७ तक यहाँके लोग देवनागरी अक्षरोंका प्रयोग करते थे। विन्सेंटके अनुसार जोहोर, तंगक्की रियासतोंके सुल्तान अपने नामके आगे 'श्री' लिखते हैं। 'ब्रिटिश रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल' की संख्या ६१ में श्रीविलकिंसन लिखते हैं कि 'आज भी सरकारी भवनकी सीढ़ियोंपरसे एक पहाड़ीपर मकरकी मूर्ति दिखायी देती है, जो उस समयका स्मरण दिलाती है जब यहाँका राजा हिंदू था।'

सुमात्रा

'सुवर्णभूमि' या 'सुवर्णद्वीप' का उल्लेख अपने यहाँके प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत आता है। वाल्मीकिरामायणके 'किष्किन्धाकाण्ड' में यह नाम भी आया है—

सुवर्णरूप्यकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम्।

'महाभारत, वनपर्व' में भी कहा गया है—

ततो गच्छेत्सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।

कौटिल्यने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि स्वर्ण-भूमिमें उत्पन्न होनेवाला चन्दन चिकना और पीला होता है—

कालेयकः स्वर्णभूमिजः स्निग्धपीतकः।

'कथासरित्सागर' की कई कथाओंमें 'सुवर्णद्वीप' का नाम आया है। बौद्धजातकोंमें भी इसकी चर्चा है। यह कहना बड़ा कठिन है कि यह 'सुवर्णद्वीप' कहाँ है। ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीमें लिखे हुए अपने भूगोलमें सिकन्दरियाके 'तोल्मी' ने 'क्राइसकोरा' द्वीपका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ होता है—'सुवर्णद्वीप'। अरब लेखक अल्बेरूनीने लिखा है कि 'जावज' द्वीपको हिंदूलोग 'सुवर्णद्वीप' कहते हैं। इससे तथा चीनियोंके वर्णनसे आधुनिक विद्वानोंका यह अनुमान है कि जावा, सुमात्रा, मलय आदिमेंसे ही किसीका नाम सुवर्णद्वीप है। डा० मजूमदारने ढाकासे १९३६ में प्रकाशित 'सुवर्णद्वीप' नामक पुस्तकमें इन सब मतोंपर विचार किया है और उनका कहना है कि सुमात्राको ही 'सुवर्णद्वीप' मानना ठीक है। यहाँ सोना भी निकलता है। सम्भव है इस ओरका द्वीपसमूह ही 'सुवर्णद्वीप' के नामसे प्रसिद्ध हो। वर्तमान सुमात्राद्वीप मलय प्रायद्वीपके दक्षिणमें है। कुछ मुसल्मान लेखकोंने इसका 'समुद्र' नामसे भी उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दीके चीनी लेखोंमें पहले-पहल सुमात्राके 'श्रीविजय' राज्यका वर्णन मिलता है। अरबोंने इसका नाम 'सर्बोजा' दिया है। किसी समय 'श्रीविजय' एक विशाल साम्राज्य था, जिसमें सुमात्रा, जावा, मलय और स्याम भी शामिल थे। परंतु इस साम्राज्यका मूल स्थान कहाँ था, इसपर विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। उन्हीं दिनों 'शैलेन्द्र' साम्राज्यका भी पता चलता है। कुछ विद्वान् 'श्रीविजय' और 'शैलेन्द्र' दोनोंको एक ही मानते हैं, कुछ अलग-अलग। ये दोनों विषय अभी विवादग्रस्त हैं; परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि किसी समय इस द्वीपसमूहमें एक विशाल हिंदू-साम्राज्य था, जिसका चौदहवीं शताब्दीमें अन्त हुआ। बतलाया जाता है कि 'श्रीविजय' के शासक 'हीनयान' बौद्धमतके अनुयायी थे। परंतु जान पड़ता है कि बौद्धमत प्रवेश होनेके पहले यहाँ भी हिंदू-धर्मका प्रचार था। श्रीलेयब लिखते हैं कि

"यहाँके प्राचीन निवासी 'वटप' जातिके लोगोंने उच्च धार्मिक विचार भारतसे सीखे थे।" बौद्ध मूर्तियोंके साथ ही यहाँ भी हिंदू-मूर्तियाँ मिलती हैं। आसपासके देशोंमें पहलेसे ही हिंदू-धर्मका प्रचार था। ऐसी दशामें अनुमान यही होता है कि बौद्धमतका प्रवेश यहाँ बादमें ही हुआ और 'श्रीविजय' तथा 'शैलेन्द्र' सम्राटोंका संरक्षण पाकर वह सुमात्राका प्रधान मत बन गया।

फिलिपाइन

बोर्नियोसे फिर उत्तरकी ओर बढ़नेपर फिलिपाइन द्वीपसमूह मिलता है, जिसमें छोटे-बड़े मिलाकर लगभग छः सौ द्वीप हैं। यहाँ अतिप्राचीन कालसे हिंदू-संस्कृतिके चिह्न मिलते हैं। सन् १९२८ के 'फिलिपाइन मैगजिन' में प्रो० बेयर लिखते हैं कि 'यहाँके आभूषणों, रीति-रिवाजोंको देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि यहाँकी संस्कृतिका आदिस्रोत भारत है।' सन् १९११ में प्रकाशित 'पीपल्स आफ दि फिलिपाइन' नामक पुस्तकमें प्रो० क्रोबरका कहना है कि 'यहाँके धार्मिक विचार, रीति-रिवाज, नाम, शब्द, लेखन-शैली, कला-कौशल आदिपर हिंदू-प्रभाव प्रत्यक्ष है। वहाँके लोग ग्रहणका कारण राहुको मानते हैं और दिनके पाँच विभाग महेश्वर, काल, श्री, ब्रह्मा और विष्णुके नामसे करते हैं।' यहाँकी भाषा 'तगलॉग' में संस्कृत-शब्दोंकी भरमार है। तवेरा नामके एक विद्वान्ने ऐसे शब्दोंकी सन् १८८४ में एक तालिका तैयार की थी, जिसमेंके कुछ शब्द इस प्रकार हैं—अन्तल=अन्तर, असा=आशा, बंग्सी=वंशी, मनुसिया=मनुष्य, मुकस=मोक्ष, पलिभाषा=परिभाषा, पाप=पाप, कोस=कोष, वानी=वाणी, सन्दन=चन्दन, सील=शील, सिन्ता=चिन्ता, यम्बू=जम्बू। यहाँ भी कितने ही हिंदू देव-देवियोंकी मूर्तियाँ मिली हैं। कुछ प्राचीन लेख भी प्राप्त हुए हैं। विद्वानोंका मत है कि ईसवी सन्की पहली शताब्दीसे ही यहाँ हिंदू-प्रभावका पता लगता है। कुछ दिनोंतक फिलिपाइन जावा तथा बोर्नियोके हिंदू-राज्योंके अधीन रहा था। जब इसपर स्पेनका अधिकार हुआ, तब वहाँके लोगोंने प्राचीन संस्कृतिके बहुत-से चिह्नोंको नष्ट कर डाला। जो कुछ अभी बचा हुआ है, श्रीहेरीके शब्दोंमें उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'यहाँके निवासी अपनी प्राचीन संस्कृतिके लिये राष्ट्रोंकी माता—भारत—के ऋणी हैं।' सन् १९३० में प्रकाशित 'फिलिपाइन और भारत' नामक पुस्तकमें डा० रायने इस विषयपर अच्छा प्रकाश डाला है। (कहते हैं कि यहाँकी राजसभामें कानूनोंके आदि निर्माताके रूपमें 'मनु'का चित्र लगा है।)

जापान

यह 'सूर्योदयका देश' है। यहाँ बौद्धधर्मका प्रवेश ईसवी सन्की पाँचवीं शताब्दीमें हुआ। परंतु इसके बहुत पहलेसे यहाँ वैदिक धर्मके चिह्न मिल रहे हैं। जापानियोंके सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजोंमें भी हिंदू-धर्मका प्रभाव झलकता है। यहाँ सूर्यकी उपासना मुख्य है, परंतु सूर्यको एक देवी माना जाता है। जापानी सम्राट् अपनेको 'सूर्यपुत्र' बतलाते हैं। यहाँका प्राचीन धर्म 'शिन्तो' है। इसमें पितृपूजन और राजभक्ति प्रधान है, जो वैदिक सनातन धर्मकी देन है। वंश-परम्परा पुरुषसे ही चलती है। गोद लेकर या जिस तरहसे भी हो; पुरुष-वंश चलाते रहना प्रत्येकका कर्तव्य है। जापानियोंकी मुख्य तीन प्राचीन श्रेणियाँ हैं—'सिनबेत्सु' (देवपुत्र अर्थात् ब्राह्मण), 'चक्त्वोबेत्सु' (राजवंश अर्थात् क्षत्रिय) और 'बेनवत्सु' (विदेशी)। सरदारश्रेणीके लिये 'समुराई' शब्दसे भी समरसे सम्बन्ध होनेके कारण क्षत्रियोंका ही अनुमान होता है। 'शिन्तो' धर्ममें 'अश्वमेध' के ढंगका एक यज्ञ भी होता था। यहाँके प्रधान 'ईसी-मन्दिर' में 'अरणी' द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती है और अग्निका बराबर पूजन होता है। इस तरह यहाँकी भी संस्कृतिमें वैदिक संस्कृतिके चिह्नोंकी बहुलता है।

अमेरिका

प्रशान्तसागरकी पूर्वी सीमापर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका है। यहाँके प्राचीन निवासी 'लाल भारतीय' (रेड इण्डियन) के जीवन और उनकी प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनसे अब कई पाश्चात्य विद्वान् भी मानने लग गये हैं कि यहाँ किसी समय हिंदू-संस्कृतिका पूरा जोर था। इन लोगोंका सामाजिक जीवन बहुत कुछ भारतीयोंसे मिलता है। पहले उनके यहाँ भी स्त्रियोंके सती होनेकी चाल थी। मरनेपर प्रायः अग्निसंस्कार किया जाता था। सूर्यकी सर्वत्र उपासना होती थी। दक्षिणी अमेरिकामें कई जगह शिवलिङ्ग भी मिले हैं। गणेश-पूजन और नाग-पूजनकी भी चाल थी। ग्रहण लगनेपर वे भी स्नान, दान करते थे। एक प्रकारकी वर्ण-व्यवस्था अब भी उनमें प्रचलित है। वे भी मुख्य चार युग मानते हैं और समयका विभाग वर्ष, दिन आदिमें करते हैं। गिनती भी हिंदू-ढंगसे लिखी जाती है। इनके प्रमाणोंका श्रीचमनलालने 'हिंदू-अमेरिका' नामक पुस्तकमें अच्छा संग्रह किया है

अमेरिकामें हिंदू-संस्कृति

(लेखक—श्रीव्रजभूषणजी सु० भट्ट)

यदि रहन-सहन, दर्शन-ज्ञान, शिक्षा-प्रणाली, जन्म और मृत्युसंस्कार, सतीप्रथा, आत्माके परलोक-गमनमें विश्वास, अग्नि प्रकट करना आदि मेक्सिकोकी अनेकों प्रथाओंको देखें तो वे भारतीय प्रथासे बहुत कुछ एकता रखती हैं और सिद्ध करती हैं कि निःसन्देह अमेरिका अपनी संस्कृतिके लिये भारतका ऋणी है । अमेरिकामें यूरोपीय जातिद्वारा वहाँकी मूल जातिके संस्कार तथा दूसरे चिह्न निर्दयतापूर्वक मिटा दिये गये हैं; परंतु जो स्पेननिवासी वहाँ प्रथम पहुँचे थे, उनमेंसे अनेकने वहाँकी स्थितिका वर्णन किया है । उन विद्वानोंके वर्णनका संक्षिप्त सार देनेसे यह सिद्ध हो जायगा कि अमेरिकाके मूल निवासी किस प्रकार भारतीय आचार-विचारका अनुसरण करते थे ।

मध्य-अमेरिकाकी माया जाति, दक्षिण-अमेरिकाकी इन्का जाति और मेक्सिकोकी आस्तिक जाति—इन तीनोंकी शिक्षा-प्रणाली पूर्णतः हिंदुओंकी ऋषिकुल-शिक्षा-पद्धतिके समान थी । यह शिक्षा पुरोहितद्वारा दी जाती थी । बालक अपने घरोंसे पुरोहितके यहाँ भेज दिये जाते थे और वे वहीं रहते थे । उनका सबसे बड़ा कर्तव्य पुरोहितकी सेवा माना जाता था । उनका अधिकांश समय धार्मिक कृत्योंमें व्यतीत होता था और उन्हें कठोर नियन्त्रणमें रहना पड़ता था । बालकोंको ब्राह्ममुहूर्तमें उठना पड़ता और स्नानकी स्वच्छताके पश्चात् 'मग्वी विन्दुओं' (मेक्सिकन सोम) को एकत्र करने जाना पड़ता । स्नानके पश्चात् अघमर्षण-क्रियाएँ करते । इस प्रकार पुरोहितके यहाँ बालकोंको उनके वर्ग (जाति) के अनुसार भिन्न-भिन्न शिक्षा प्राप्त होती । बालक वहाँ बौद्धिक विकास, पुराण-पाठ, धार्मिक यज्ञ, अग्नि-रक्षण, युद्धकला आदिकी शिक्षा प्राप्त करते थे । सामरिक शिक्षणके विद्यापीठ पृथक् थे और उनमें सामन्त-पुत्र ही लिये जाते थे । यहाँ अनुशासन अत्यन्त कठोर रहता था । दूसरी शिक्षाओंके साथ यहाँ शारीरिक शिक्षणपर विशेष ध्यान रक्खा जाता था ।

प्राचीन अमेरिकन सदाचार एवं सत्यके दृढ़ भक्त थे । स्पेनवासी वहाँ जाकर वहाँके लोगोंके उच्च आचार-विचार एवं असत्यसे घृणा देखकर स्तम्भित हो गये । फ्रेडरिक टॉमसनका कहना है—'यहाँके लोगोंकी धार्मिक भावना और असत्यसे घृणा देखकर स्पेनके लोग आश्चर्यमें पड़ गये । अभाग्यसे दोनों सभ्यताओं (अमेरिका और स्पेन) के सम्पर्कने स्थानीय विधानको शीघ्र बौद्धिक ह्रासकी सीमापर पहुँचा दिया ।'

सत्य और आचारकी रक्षाके लिये वहाँ बहुत ही कठोर नियम बने थे । मर्यादा-भङ्गपर जो दण्ड दिये जाते थे, उनको देखकर भारतीय स्मृतियोंके कठोर दण्ड-विधान स्मरण आ जाते हैं ।

अमेरिकामें स्थान-स्थानपर देवमन्दिर थे । अनेक बार माता-पिता रोगी बालकको मन्दिरमें चढ़ा देते या पुरोहितको भेंट कर देते । इस प्रकार भेंट किया हुआ बालक देवताका सेवक माना जाता । उसे पूरा जीवन कठोर नियमोंका पालन करते हुए देव-सेवामें बिताना पड़ता था । वहाँ भारतकी भाँति देवदासी प्रथा थी । मन्दिरमें उपहृत कुमारियाँ अनेक कठोर नियमोंका पालन करतीं । उनका मुख्य कर्तव्य अग्नि-रक्षण था । वे दिनमें एक समय भोजन करतीं । छोटे केश रखतीं । विवाहसे पूर्वतक इस प्रकार सभी लड़कियोंको मन्दिरकी सेवा करनी पड़ती । वहाँ उनके आचारका अत्यन्त कठोरतासे रक्षण होता । यदि कोई युवक उनसे बातचीत करनेका प्रयत्न भी करता तो उसे तत्काल प्राणदण्ड दे दिया जाता ।

स्पेनके इतिहासज्ञ कहते हैं कि नित्य भोजनसे पूर्व प्रत्येक मेक्सिकोवासी अन्नका एक भाग लेकर उसे अग्निमें आहुति देता था । अपने सुखमय जीवनके लिये यह अग्निदेवताको कृतज्ञतापूर्वक दिया गया उपहार माना जाता था । इसी प्रकार युद्धसे पूर्व युद्धोद्यत सैनिकोंके एकत्र हो जानेपर पुरोहितद्वारा अग्नि प्रज्वलित की जाती और हवन करनेपर आक्रमण प्रारम्भ हो जाता ।

मेक्सिकोके लोग भारतीयोंकी भाँति ही मृत्युके पश्चात्के जीवनमें विश्वास करते थे । वे भारतीय धारणाके अनुरूप ही युद्धमें मृत व्यक्तिकी श्रेष्ठ गतिमें विश्वास करते थे । ऐसे मृत पुरुषकी शव-यात्रामें हर्ष मनाया जाता था । वे आत्माके अमरत्व और पुनर्जन्मको मानते थे । भारतीय देवयान एवं पितृयान-गतियोंके समान ही जीवकी गति और उसके ले जानेवाले देवतादिकी भी उनकी एक अपनी मान्यता थी । वे इन्द्रदेवता और उनके स्वर्गमें विश्वास करते थे और पापी जीवकी यमलोककी कष्टमय यात्राको भी वे मानते थे । मेक्सिकोके

लोगोंमें शवको जलानेकी साधारण प्रथा थी; किंतु विशेष स्थितिके लोगोंको जलाया नहीं जाता था। वे विशेष प्रकारकी समिधाओंमें रख दिये जाते थे। यह स्मरण कर लेनेकी बात है कि हिंदू-समाजमें भी साधु-संन्यासी तथा महामारी आदिसे मरे व्यक्ति जलाये नहीं जाते। राजाओंका दाह-संस्कार बड़ी धूम-धामसे होता था। उसमें बहुत-सी विधियाँ की जातीं। इन विधियोंसे हिंदुओंकी उस सोमपायी श्रोत्रिय विप्रोंकी दाह-विधिका स्मरण आता है, जो अब भारतमें भी प्रायः लुप्त हो चुकी है। शवदाहके दूसरे दिन हिंदुओंकी भाँति ही मेक्सिको-के लोग भी अस्थि-चयन करते थे। यहीं यह स्मरण रखने-की बात है कि मेक्सिकन जातिमें सती होनेकी प्रथा थी। मृत व्यक्तिकी विधवा स्त्रियोंमें जिनकी इच्छा होती, वे मृत पुरुष-के साथ चितामें जल जातीं। राजाके शवके साथ अवश्य कुछ स्त्रियाँ जलती थीं। लेकिन स्त्रियोंके लिये जलना आवश्यक नहीं था। जो मृत व्यक्तिके साथ नहीं जलती थीं, उन्हें अपना शेष जीवन हिंदू-विधवाओंकी भाँति स्वेच्छापूर्वक अत्यन्त सादगी, संयम तथा कठोर तपस्याके नियमोंको पालन करते हुए व्यतीत करना पड़ता था।

यों तो अमेरिकाके प्रायः सभी भारतीय संस्कार ईसाई धर्मके प्रभावसे अब नष्ट हो चुके हैं, किंतु अब भी वे अपनी पुरानी मृतक-श्राद्ध-प्रथाको किसी-न-किसी रूपमें बनाये हुए हैं। वहाँ वर्षमें एक दिन 'सर्व-आत्मा-दिवस' मनाया जाता है। इस दिन सभी मृतात्माओंके लिये प्रार्थना की जाती है। उनके निमित्त अनेक प्रकारके व्यञ्जन बनाकर सहभोज होता है।

अन्त्येष्टि-संस्कारकी भाँति जन्म एवं विवाह-संस्कार भी अमेरिकामें हिंदुओंके संस्कारोंसे मिलते हुए ही थे। वहाँ सम्मिलित परिवारकी प्रथा थी। वहाँके लोग विशाल परिवार-की कामना करते थे। पुत्रोत्पत्तिके समय देवपूजन, प्रसूतिका-गृहमें अग्नि-स्थापन और एक प्रकारकी बालककी शुद्धिक्रिया प्राचीन अमेरिकन करते थे, जो नान्दीमुख श्राद्धसे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। यह हो जानेपर ज्योतिषी आकर बालकके भावी जीवनके सम्बन्धमें भविष्यवाणी कहते थे। यह जन्म-कुण्डली बनाने-जैसी प्रथा थी। जन्मदिनके पीछे नाम-करण होता था।

प्राचीन मेक्सिकोमें वर्तमान यूरोपीय प्रणयालापका सर्वथा अभाव था। विवाहका पूरा उत्तरदायित्व वर एवं कन्याके माता-पितापर था और वे ही उनका सम्बन्ध निश्चित करते थे। इस प्रकारके विवाहमें सबसे प्रथम एवं आवश्यक कार्य था ज्योतिषीको बुलाकर यह ज्ञात करना कि यह सम्बन्ध मङ्गल-दायक होगा या नहीं। ज्योतिषीकी अनुकूल सम्मति होनेपर ही सम्बन्ध निश्चित होता था। यह प्रथा हिंदुओंको छोड़ विश्वकी और किसी जातिमें नहीं है; वर-कन्याकी कुण्डली देखकर सम्बन्ध निश्चित करना हिंदुओंकी ही विशेषता है। विवाहके कार्यमें मेक्सिकोके लोगोंकी कुछ प्रथाएँ हिंदुओंकी प्रथाओंसे अभिन्न हैं। विवाहके पूर्व चार दिनोंतक वर एवं कन्याको वहाँ ओषधियोंके जलसे स्नान कराया जाता था। विवाहके समय वर-वधूका ग्रन्थि-बन्धन (दोनोंके दुपट्टे-के छोर एकमें बाँध देना) होता था। विवाहके उपरान्त वर जब वधूको लेकर घर आता, तब चार दिनोंतक दोनों संयमसे रहते और इस समय विभिन्न देवताओंकी उनसे पूजा करायी जाती। आज भी मेक्सिकोमें माता-पिताकी अनुमति विवाहसे पूर्व आवश्यक मानी जाती है।

मेक्सिकोके प्राचीन निवासियोंमें पुरुषका एकसे अधिक स्त्रियोंसे विवाह करना बुरा नहीं माना जाता था। राजाओंकी अनेक रानियाँ होना वहाँ साधारण बात थी। हिंदू-समाजकी भाँति वहाँ भी स्त्रियाँ सम्मान्य मानी जाती थीं, किंतु उनका स्वतन्त्र रहना या घरसे कहीं भी अकेले जाना उचित नहीं माना जाता था। स्त्री घरसे पति, पिता, भाईके साथ ही कहीं जा सकती थी। आज भी मेक्सिकोकी स्त्रियाँ अपरिचित पुरुषसे मिलना या बोलना पसंद नहीं करतीं। आज भी बाजारमें जाते समय उन्हें किसी वृद्धा स्त्री या सेवकके साथ-की आवश्यकता होती है। यद्यपि अब ये बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं, फिर भी रात्रिमें मेक्सिकोकी कोई साधारण नारी घरसे बाहर तबतक नहीं निकलेगी, जबतक परिवारका कोई व्यक्ति साथ न हो।

एक स्पैनिश लेखकका कहना है कि 'मेक्सिकोमें पहले युवक शीघ्र विवाहित हो जाते थे।' इस प्रकार वहाँ भारतके समान बाल-विवाहकी प्रथा भी थी। स्त्री गृहस्वामिनी होती थी और घरके सब कार्य वही करती थी। वहाँ स्त्री यदि कोई उग्रतर अपराध न करे तो अवध्य मानी जाती थी और स्त्री तथा बालकका वध एवं उन्हें अकारण दण्ड देना बहुत निन्दनीय माना जाता था।

मेक्सिकोमें राज्याभिषेक हिंदू-समाजकी भाँति ही बड़ी धूम-धामसे और विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न होता था। वहाँ राज्यका अधिकारी मृत नरेशका ज्येष्ठ पुत्र ही माना जाता था। उस समय राज्याभिषेकका पूरा कृत्य पुरोहितपर निर्भर करता

शिव-पार्वती (बर्मा थातोन्में प्राप्त
ईस्वी नवम शताब्दीकी मूर्ति

चीनी तुर्कीस्तानके खण्डहरमें प्राप्त
महेश्वरका चित्र

ईरानका शिव-मन्दिर

यवद्वीपके पूर्व बलिद्वीपके शिव
(षोडश शताब्दीका प्रस्तरमय चित्र)
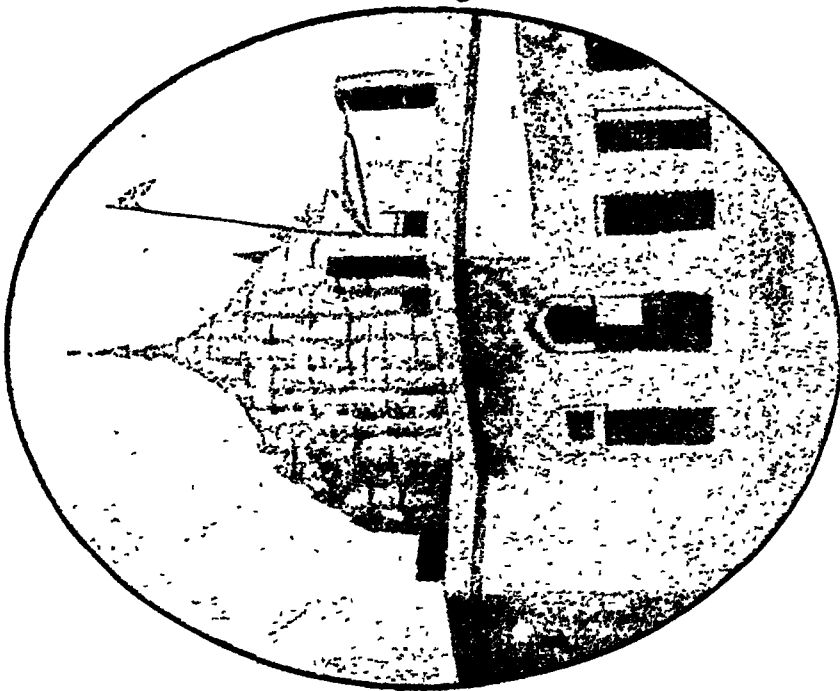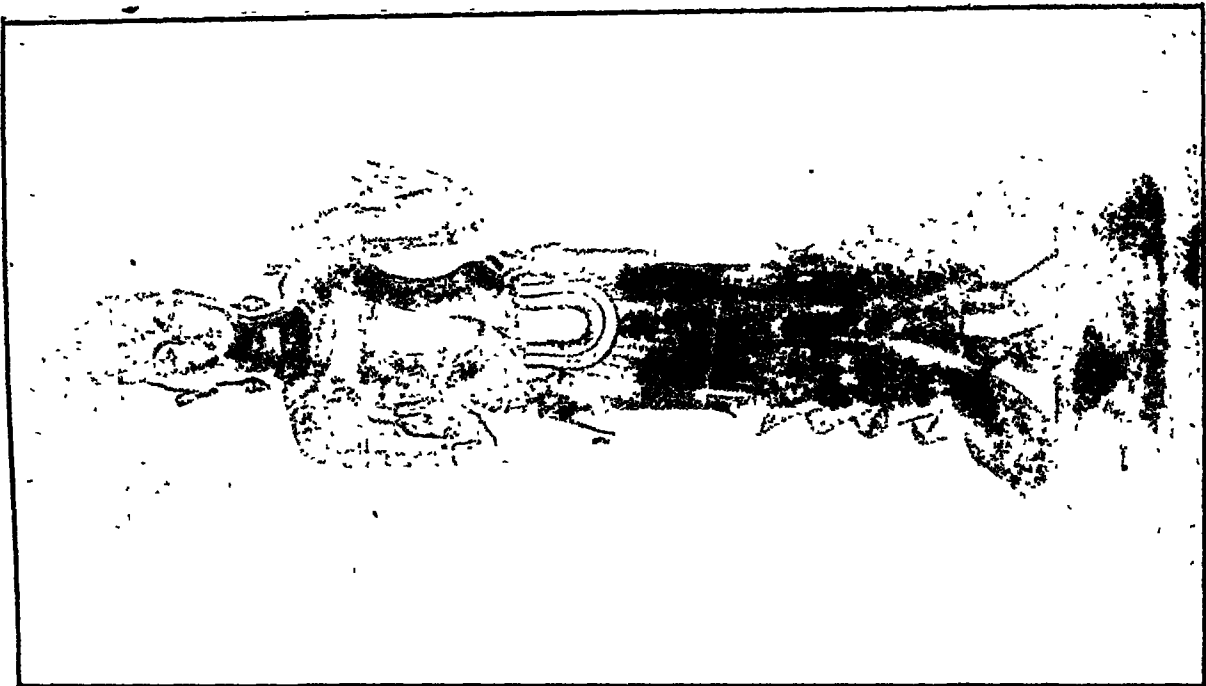
जावाद्वीपकी सरस्वतीमूर्ति

शिव—श्यामदेशकी धातुमूर्ति
(बंकोक राजकीय चित्रशालामें रक्षित द्वादश शताब्दी)

था । पुरोहित ही नवीन नरेशसे प्रतिज्ञाएँ कराता और फिर उनके सिरपर मुकुट रखता । इसके पश्चात् दूसरे सामन्तादि नरेशको स्वीकार करते थे । वे लोग उस समय नवीन नरेशको भेंट देते थे । इसी प्रकार साधारण परिवारोंमें भी भूमि मृत-पुरुषके ज्येष्ठ पुत्रकी मानी जाती और वह अपने भाइयोंके साथ उस भूमिका उपयोग करता था ।

मेक्सिकोके समान ही पेरूमें भी हिंदू-संस्कृतिके अमिट चिह्न पाये जाते हैं । वहाँ ईसाई-धर्मके व्यापक होनेसे पहले-तक लोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते थे । उनके समाजमें वर्ण एवं जातियोंके भेद थे और आश्रम-धर्मके पालनकी भी प्रथा थी । पेरूके लोग अपनी उद्योगशीलता, सदाचार, शिष्टता आदिके लिये विख्यात थे । यह 'वेश्याओंसे रहित देश' कहा जाता था । चोरी-डकैतीका वहाँ नामतक नहीं था । देवताओं-में उन लोगोंकी श्रद्धा थी ।

सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात है अमेरिकामें विजया-दशमीका 'रामसीतव' महोत्सव । इस लेखके मूल लेखक श्री-चमनलालजी कहते हैं कि उन्होंने यह उत्सव स्वयं पेरूके 'चिल्पनसिनको' नामक स्थानमें देखा है । इस दिन मेक्सिको-के लोग रंगमञ्चपर राम-रावण-युद्धका अभिनय करते हैं । कर्नल टॉडने इस सम्बन्धमें आलोचना करते हुए लिखा है—'यदि यह सम्भव हो कि गङ्गासे नील नदीकी भूमितकके किसी भी भागपरसे वह आवरण उठा दिया जाय जो इन प्राचीन आश्चर्योंको ढके हुए है तो रामकी विजय-यात्रा प्रारम्भसे इधर-के आरगोनॉट्सके समान विदित होगी । यदि अलेक्जेंडर (सिकन्दर) सिन्धुके मुहानेसे इन समुद्रोंको पंजाबमें वृक्षोंकी छालसे बने निम्नकोटिके बेड़ेसे पार करनेका साहस कर सका तो क्या हम कोसल-सम्राट् सगर-वंशज समुद्रराजके नामसे प्रख्यात साठ सहस्र पुत्रोंके पितासे; जिनमें सब-के-सब पुत्र कुशल नाविक थे, कुछ आशा नहीं कर सकते ?' टॉडके इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि टॉडके मतानुसार भारतके समुद्रराज नामक किसी अयोध्या-सम्राट्ने मिस्रमें अपना प्रभुत्व स्थापित किया और मिस्रसे वह प्रभाव अमेरिका पहुँचा ।

अमेरिकन इतिहासके प्राचीन मान्य विद्वान् जोन्स कहते हैं कि 'यहाँ (पेरूमें) राम सूर्यवंशी, सीतापति और महारानी कौसल्याके पुत्र माने गये हैं । यह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है कि यहाँकी पेरूवि 'इन्का' जातिके लोग अपनेको गर्वपूर्वक इसी वंशका मानते हैं, और राम-सीता-उत्सव मनाते हैं । इस प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि अमेरिका उस एक ही जातिद्वारा बसा है जो कि एशियाके दूरस्थ स्थानोंके संस्कार और रामकी भव्य गाथाको साथ ले गये थे । ये सब सन्देहहीन प्रमाण यह साधार सम्मत उपस्थित करते हैं कि एथियोपिया (मिस्र) और भारत एक ही असाधारण जातिद्वारा बसाये गये थे । इसकी पुष्टिमें यह और जोड़ा जा सकता है कि बंगाल और विहार (पेल्सा) के पहाड़ी अपनी कुछ आकृतियोंमें, विशेषतः नासिका और ओठकी बनावटमें, एबीसीनियन जिन्हें अरबके लोग 'कुश-सन्तति' कहते हैं, उनके समान हैं ।'

पोकोकने अपनी पुस्तकके उपसंहारमें लिखा है—'मैंने अत्यन्त विश्वसनीय सावधानीके साथ अत्यन्त कठोर परीक्षण किये हैं । केवल सिद्धान्त ही नहीं, शब्दोंकी समानताने भी मुझे चकित किया है । यह कोरी कल्पना नहीं है; ऐसे परिणाम जो एकरूप होनेके साथ असंख्य हैं, इसे प्रमाणित करते हैं । प्राचीन जगत् (अमेरिका) की मनोवैज्ञानिक जाँच ऐसा व्याकरण है, जिसके अध्ययनसे हमारी (यूरोपियन) जातिसे पूर्व (भारतीय) ऋषियोंके भ्रमणके महान् वृत्तान्त अबतक सत्यताके साथ पढ़े जा सकते हैं ।'

'हिंदू अपने साथ मेक्सिकोमें पाण्डवोंका अठारह पर्वों-का वर्ष, वर्गव्यवसाय तथा भारतीय हाट-प्रणाली लाये थे ।'—ह्युएट ।

अमेरिकाके अन्वेषक कोलम्बसने लिखा है—'हिंदू और मंगोलियन आकृतिके सैकड़ों-हजारों मनुष्य हिंदू-रीति-प्रथाएँ, हिंदू-देवता गणेश-इन्द्र आदिका पूजन, हिंदू-शिक्षा-प्रणाली, पुरोहित-प्रथा, विवाह-संस्कार, शव-दाह, सती-प्रथाका यहाँ पालन करते हैं । इन सबकी उपस्थिति पूर्णतः सिद्ध करती है कि हिंदू और मंगोल स्थल या जलमार्गद्वारा बहुत बड़ी संख्यामें अमेरिका पहुँचे थे ।'

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अमेरिका किसी समय हिंदुओंका उपनिवेश था और वहाँके निवासी यूरोपियन लोगोंके पहुँचने तथा ईसाई-धर्मके व्यापक होनेसे पूर्व 'हिंदू-संस्कृति'का ही अनुसरण करते थे ।

(श्रीचमनलालजीकी 'हिंदू-अमेरिका'के आधारपर)

बालिद्वीपकी दैनिक पूजा-विधि

(लेखक—डा० श्रीरघुवीरजी एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०, एट्०फिल्०)

बालीमें पूजाविधिको 'पूजा-परिक्रम' कहा जाता है। कपड़े पहनते हुए 'ॐ तं महादेवाय नमः' मन्त्रके उच्चारणसे वह आरम्भ की जाती है। उसके पश्चात् 'ॐ अं शिव-स्थितिकाय नमः' का उच्चारण करते हुए मेखला धारण करते हैं। तदनन्तर 'ॐ उं विष्णुसदाशिवाय नमः' का उच्चारण करते हुए उत्तरीय वस्त्र पहना जाता है और 'ॐ मं ईश्वरपरमशिवाय नमः' का पाठ करते हुए वक्षःस्थलपर वस्त्र डालते हैं। वस्त्र-धारणके पश्चात् 'ॐ अं कं क ईश्वराय नमः' कहते हुए पादक्षालन, 'ॐ हः उं फट् अस्त्राय नमः' कहते हुए आचमन और 'ॐ हः फट् अस्त्राय नमः' कहते हुए हाथ धोये जाते हैं। वस्त्रधारण और क्षालन समाप्त होनेके उपरान्त 'ॐ ॐ पद्मासनाय नमः' मन्त्रका जाप करते हुए उपासक पद्मासन लगाता है। इसके पश्चात् शरीर-शुद्धिका मन्त्र आता है, जिसे बाली भाषामें 'मन्त्राणि शरीर' कहा जाता है—

ॐ प्रसादस्थितिशरीरशिवशुचिनिर्मलाय नमः।

उपासकके सामने ढकी हुई पूजाकी थाली रक्खी रहती है। उसे अनावृत करनेके लिये ईश्वरको 'ॐ इं ईश्वरप्रतिष्ठां जनलीलाय नमः स्वाहा' से नमस्कार किया जाता है। कुछ बीजोंका भी उच्चारण किया जाता है—

'स ब त इ न म शि व य अं ॐ मं'

पूजाकी थालीमेंसे उपासक 'ॐ उं ब्रह्मा अमृतदीपाय नमः' का उच्चारणकर 'अमृतदीप' उठाता है। इसके पश्चात् 'ॐ उं रः फट् अस्त्राय नमः। आत्मतत्त्वाय नमः········' मन्त्रकेउच्चारणसे हाथमें पुष्पोंको लिया जाता है। जहाँ-कहीं भारतीय सभ्यता पहुँची, वहाँ पूजाविधिमें पुष्पोंके प्रयोगको बहुत महत्त्व दिया गया। पुष्प शुद्धता और प्रसन्नता-के प्रतीक हैं।

बालिद्वीपमें असंख्य हस्तमुद्राएँ प्रचलित हैं। प्रत्येक मुद्राका विशिष्ट अर्थ होता है। इनकी भाषा दार्शनिक और आध्यात्मिक है; परंतु बालिनिवासी उनका तात्पर्य भूल गये हैं।

पूजाका दूसरा क्रम तर्जनीको शुद्ध करनेसे आरम्भ होता है। इसे बाली भाषामें 'करशुद्धिचतुरंगुल' कहते हैं। इसका मन्त्र 'ॐ शोधाय मां······ॐ अग्निरुद्राय नमः' है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग-न्यास विशिष्ट मन्त्रोंके साथ किया जाता है। अर्घ्य-पात्रके ऊपर कमल रखना, त्रिपादको उठाना, हाथ जोड़ना, त्रिपाद नीचे रखना, गन्ध-अक्षत डालना, प्रदीपकी ओर मुख करना, धूपपात्रके साथ अर्घ्यसे सात बार आरती करना, धूपके धूम्रको ग्रहण करना, पूजाके पात्रोंको ढकना, ढक्कन खोलना, पात्रमें जल भरना, अँगुलीसे जलपर लिखना, तीन बार परिविच्छन करना, गन्ध तथा अक्षत प्रदान करना और फिर 'ॐ अं नमः कुम्भक। ॐ उं नमः पूरक। ॐ मं नमः रेचक' मन्त्रोंका उच्चारणकर कुम्भक, पूरक और रेचक किये जाते हैं। प्राणायाम ठीक विधिके अनुसार किया जाता है। इसके पश्चात् श्रीआत्माको शिवद्वारतक लाया जाता है। तदनन्तर—

ॐ शरीरं कुण्डमित्युक्तमन्तःकरणमिन्धनम्। ···"

मन्त्रोच्चारणकर दग्धीकरण किया जाता है। इसके पीछे कुछ श्लोक आते हैं, जिन्हें 'अमृतकरणी' कहते हैं। स्पष्टतया ये तान्त्रिक और शैव क्रियाएँ हैं। नवशक्तियोंकी भी पूजा होती है। उनकी पूजाके अनेक क्रमों और मन्त्रोंका यहाँपर पूर्ण विवरण देना असम्भव है। उपरिलिखित तो उदाहरण मात्र हैं।

बालीका उपासक सप्ततीर्थ भी जानता है—

ॐ अं गङ्गायै नमः। ॐ अं सरस्वत्यै नमः। ॐ अं सिन्धवे नमः। ॐ अं विपाशायै नमः। ॐ अं कौशिक्यै नमः। ॐ अं यमुनायै नमः। ॐ अं शरयवे नमः।

गङ्गा, सिंधु, अन्य नदियों और समुद्रके लिये भी इनके दस-बारह स्तोत्र हैं।

शरीरके प्रत्येक अङ्गपर भस्म लगाया जाता है।

जब भारतीय अपनी और बालीनिवासियोंकी सांस्कृतिक एकात्मताको हृदयङ्गम करेंगे, तब प्रत्येक सुसंस्कृत भारतीयके लिये बालिद्वीप तीर्थस्थान बन जायगा (आजकल तो यह अमेरिकन और यूरोपीय यात्रियोंके लिये केवल रम्य स्थान है)। बालीनिवासी हृदयसे हमारा स्वागत करेंगे; पर हमें उनकी आशाके योग्य बननेके लिये प्रयत्न करना होगा और उनके आध्यात्मिक ज्ञानकी लालसाकी तृप्ति करनी होगी।

उनकी पूजाकी गरिमा अद्वितीय है। रोमन कैथलिक पादरियोंने भी माना है कि पूजामें व्यस्त पेदण्डाको देखनेसे बढ़कर कोई गम्भीर दृश्य नहीं है। बालीमें हम अपनी आत्माका ही प्रतिबिम्ब पाते हैं। बालीनिवासी संस्कृत मन्त्रोंका अर्थ जाने बिना ही उनका प्रतिदिन श्रद्धासे पाठ करते हैं।

गत छः शताब्दियोंसे अपनी उपेक्षा और अधःपतनके कारण बालीसे हमारा सम्बन्ध टूट गया था। हमें पुनः उससे मिलना चाहिये। बाली हमारी आत्माओंको नवबल प्रदान करेगा।

स्याममें भारतीय संस्कृति

(लेखक—पं० श्रीरघुनाथजी शर्मा, बैङ्कोक, स्याम)

यह स्याम अथवा थाई देश भारतीय-संस्कृतिसे सर्वाङ्गेण ओत-प्रोत है और इस देशके लोग इस बातको निर्विवाद स्वीकार भी करते हैं कि हमें भारतसे बहुत कुछ मिला है। उदाहरणके लिये यहाँका राजवंश श्रीरामचन्द्रजीके सूर्यवंशसे अपनी उत्पत्ति मानता है और राजा अपनेको रामाधिपति कहते थे। इस देशकी भाषामें, जिसे थाई-भाषा के नामसे व्यवहारमें लाया जा रहा है, प्रतिशत पचाससे ऊपर ही संस्कृत-शब्दोंका समावेश है और करीब पचीस प्रतिशत पालीशब्दोंका—जो संस्कृतके ही विकृत शब्द हैं—संमिश्रण है।

स्वर-मात्रा-व्यञ्जन 'अ, आ, इ, ई' तथा 'क, ख' आदि नामोंसे ही बोले जाते हैं। इस भाषामें सम्मिलित कुछ शब्द तो ऐसे हैं, जिनका न तो दूसरा कोई पर्यायवाची नाम ही है और न कोई दूसरा विकृत उच्चारण ही। जैसे—

आयु, प्रमाण, वेला, सामान्य, सामाजिक, साधारण, शिल्प, एकजन, शुल्क, रथयन्त्र आदि। कुछ शब्द केवल उच्चारणके कुछ ही उलट-फेरसे व्यवहारमें आ रहे हैं—विशेष, गुण, दोष, राष्ट्र, राष्ट्रपाल, राष्ट्रमन्त्री, सहराष्ट्र, सुराष्ट्र, प्रजाराष्ट्र, समागम, गुरु, आचार्य, शास्त्राचार्य, प्रकृति, शून्य, चक्रयान, चराचर, शान्तिपाल, देशपाल, नगरपाल, धनागार, हरिण्यक, स्थानी, प्रेषणीय पत्र, दूर-लेख, दूर-शब्द, नायक, अधिपति, अधिकारपति, स्थापनिक, स्थापत्यकर्म, विश्वक, विश्वकर्म आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनके पर्यायवाची दूसरे कोई शब्द शायद ही हों। पारिभाषिक शब्द तो इस भाषामें प्रायः संस्कृतके ही हैं, जो व्यवहारमें आ रहे हैं।

यहाँके पुरुषों, स्त्रियों, नगरों तथा सड़कों आदिके नाम भी प्रायः संस्कृतसे ही लिये गये हैं—जैसे क्रमशः भरत, कुमुद, सुमनजाति, श्रृष्टिकर, धर्मनिदेश, अशोक-मन्त्री, रेणु, प्रभा, आभा, वीणा, लक्ष्मी, मालिनी तथा सुराष्ट्रधानी, उत्तरदिश, लवपुरी, सुरेन्द्रपुरी, प्राचीनपुरी, नगरस्वर्ग; राजवंश०, अनुवंश०, सूर्यवंश०, अशोक०, अयोध्या०, जययश० होड़ आदि। दूसरे शब्दोंमें संस्कृत-भाषाका अधिकार तथा प्रभाव इस देशकी भाषापर पूर्णरूपसे है। इस देशके रीति-रिवाज तो प्रायः सब-के-सब भारतीय संस्कृतिके ही द्योतक हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे भेंट-मुलाकातके अवसरपर बड़े नम्रभावसे दोनों ओरसे हाथ जोड़कर 'स्वस्ति' शब्दका उच्चारण करते हैं, और इस प्रथाके लिये इस देशमें 'स्वस्ति' शब्दको छोड़ दूसरा कोई भी शब्द व्यवहारमें आता ही नहीं। छोटे बड़ोंके सामने या तो नत-जानु हो या थोड़ा झुककर इसका अनुसरण करते हैं। उत्तरमें 'स्वस्ति' ही कहा जाता है। भिक्षु होनेकी प्रथा इस देश-वासियोंमें स्थायी अथवा अस्थायी दोनों रूपोंमें है। प्रत्येक भिक्षु प्रतिदिन प्रातःकाल भिक्षाके लिये जाता है और खानेके समय सब बाँटकर खाते हैं। भिक्षा दोनों हाथोंसे ही दी जाती है, और क्रमशः उपस्थितिपर ही भिक्षा ली जाती है। भिक्षा शेष हो जानेपर चाहे प्रतीक्षामें कितना भी समय क्यों न लग जाय, बाकी बचे सब-के-सब भिक्षु चुप-चाप आगे चले जाते हैं। भिक्षु-जीवनमें उन सब सद्गुणोंका अध्ययन तथा पारायण किया जाता है, जो मनुष्यजीवनको सार्थक बनानेमें उपयोगी होते हैं।

विवाहके लिये व्यवहृत शब्द यहाँपर 'स्वयंवर' है और इसकी प्रणाली भी बहुत कुछ भारतीय हिंदू-विवाहकी जैसी ही है। इस अवसरपर भिक्षुओं तथा वयोवृद्धोंद्वारा मन्त्रोचारण तथा आशीर्वादात्मक वचनोंका उच्चारण होता है, और जलाभिषेक आदि क्रियाएँ भी की जाती हैं। यह अवसर नाममात्रके खर्चसे ही सम्पन्न हो जाता है। परदेकी प्रथा इस देशमें नहीं है। व्याख्यानके लिये प्रयुक्त शब्द यहाँपर 'सुन्दर वचन' है तथा कथाके लिये 'कथा' ही है। ऐसे अवसरोंपर एकदम निस्तब्धता रहती है, सिवा वक्ताके किसी दूसरेकी आवाजतक नहीं आती। प्रत्येक मन्दिर-मठकी वार्षिक पूजा भी होती है, जो बड़े-बड़े उत्सवोंके रूपमें की जाती है।

शिष्टाचार इस देशका प्रधान गुण है, अर्थात् किसी भी वस्तुके आदान-प्रदानके अवसरपर बड़ी नम्रतासे 'कृतज्ञता' आदि शब्दोंका (जो इस भाषाके हैं) प्रयोग आवश्यकीय है। छोटा-मोटा अपराध हो जानेपर एक दूसरेसे 'कृपया क्षमा' के अतिरिक्त दूसरा कोई रिवाज है ही नहीं।

'शव' (मुर्दे) को यहाँपर 'शव' ही कहा जाता है और शवको जलाया जाता है। 'मृत्यु'के लिये व्यवहृत शब्द 'दिवंगत' है। दिवंगत प्राणीका दाह-संस्कार मृत्युके कुछ

दिन बाद होता है और इस बीच हर रोज शव-पूजन तथा मन्त्रोच्चारण, दान आदि किये जाते हैं, तथा दाहके दिन सम्मिलित भोजनकी भी प्रथा है।

यहाँपर शिल्पको शिल्प ही कहते हैं और यह इस देशका एक विशेष गुण तथा सौन्दर्य है। यहाँके मन्दिर, मठ, विहार, प्रासाद आदि यहाँकी शिल्पकलाके प्रतीक हैं। यहाँका प्रत्येक स्त्री-पुरुष शिल्पकलाविशारद है और यहाँका प्रत्येक घर तथा इनकी दूकानें इसके द्योतक हैं। नाट्यशालाओंके पट (पर्दे) यहाँके शिल्पके नमूने हैं। नाटक जो यहाँपर खेले जाते हैं, उनमें प्रायः सभी पुरातन भारतके हिंदू ऐतिहासिक नाटक ही होते हैं। कुछ ही महीने हुए यहाँकी शिल्पाकरण नाट्यशालमें 'सावित्री-सत्यवान्'का नाटक खेला गया था।

यहाँका अजायबघर जिसे स्यामीमें 'विविधभण्डारस्थान' कहते हैं और जो दो हजारके ऊपर वर्षोंकी बहुत-सी वस्तुओंके संग्रहसे भरपूर है, उसमें प्रायः भारतीय पुरातन शिल्प-वस्तुएँ ही प्रचुर मात्रामें दृष्टिगोचर होती हैं। उन्हें देखते ही दर्शकके चित्तपर भारतका पुरातन ऐतिहासिक चित्र अङ्कित हो उठता है।

यह देश इस समय बुद्ध-धर्मप्रधान है। राष्ट्र तथा राष्ट्रपाल यानी गवर्नमेन्टका एक ही धर्म है। बुद्ध-धर्मपर पूर्ण विश्वास है; पर साथ ही हिंदू-धर्मका भी शुरूसे ही इसमें इतना मेल-जोल है जो कि पूर्ण विश्वाससे खाली नहीं। जहाँ भगवान् बुद्धकी मूर्तियाँ दिखायी देंगी, वहाँ दूसरे हिंदू-देवताओंकी प्रतिमाएँ भी दिखायी देती हैं। यहाँके शिल्प-विभागका चिह्न गणेशजीकी मूर्ति ही है।

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, नारायण, ईश्वर, लक्ष्मी, उमा, सरस्वती, गणेश, शेषनाग, नन्दीगण, कुबेर, कार्तिकेय आदि देवता इन्हीं नामोंसे यहाँपर सम्बोधित होते हैं।

रामायण-महाभारत—खासकर रामायणसे यहाँकी जनता उतनी ही परिचित है, जितनी भारतीय जनता। रामायणको यहाँपर 'रामकीर्ति' कहा जाता है। उसके पात्र श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, सीता, अङ्गद, हनुमान्, बाली, सुग्रीव, जामवन्त, नल, नील, दशकन्धर, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि नामोंसे ही बोले जाते हैं। रामलीलाका यहाँपर बहुत ही प्रचार है। प्रायः हर अवसरपर रामायणका ही खेल खेला जाता है। यदि 'रामलीला ही इस देशके अभिनय तथा नाट्यकलाका आधार है' कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। साथ ही इसके रामलीला यहाँपर जितनी जनप्रिय है, शायद उतनी भारतमें भी नहीं। एक छोटी-सी उपाख्यानिकासे मालूम हो जायगा कि यहाँका आबाल-वृद्ध इसकी जानकारी कहाँतक रखता है।

मेरे यहाँके प्रारम्भिक वर्ष ही थे, जब एक बार मैं अपने भारतीय कुछ मित्रोंके साथ एक स्थानपर खड़ा था (उन मित्रोंमेंसे अब भी दो-एक यहाँपर विद्यमान हैं) एक स्यामी लड़केसे, जिसकी उस समय आयु तेरह-चौदह सालसे ऊपर न थी, पास खड़े मेरे एक मित्रने पूछा, 'क्या तुम रामायणकी कथा जानते हो?' उसने कहा—हाँ। तो बताओ कि 'जब सीता रावणके घर उसकी राजधानीमें थीं, तब रावणने निस्सहाय तथा अकेली होनेपर भी उनपर बलप्रयोग क्यों नहीं किया?' उत्तरमें उस लड़केने कहा—"सीता क्योंकि नारी-श्रेष्ठ थीं तथा उनमें पातिव्रत-धर्म पूर्ण मात्रामें था, इसलिये रावण जब भी उनकी ओर आगे बढ़ता था, त्यों ही वही उनका 'व्रत' आगका गोला हो उनके शरीरसे निकलने लगता था और रावणतक पहुँच उसको वहीं रोक देता था।" फिर पूछा गया 'तब रामके स्पर्शपर भी ऐसा होता था क्या?' उसने कहा—'नहीं; यह इसलिये कि वह उनकी धर्मपत्नी थीं।' मुझे पूरा स्मरण है इस उत्तरसे हम सब-के-सब अवाक् रह गये थे। अस्तु—

यहाँका सामाजिक जीवन जातीयतासे ओत-प्रोत है और विशेषतया एक धर्म, एक जाति, रहन-सहनकी एकता, खान-पानकी एकता आदि यहाँ प्रोत्साहक हैं। स्त्रीजातिके लिये यहाँपर पूरा सम्मान है। देशके कोने-कोनेपर इस देशकी तथा विदेशियोंकी स्त्रियाँ यहाँपर बिना किसी इज्जत-अपहरणके भयसे बेखटके, बेरोकटोक, जहाँ भी चाहें, स्वच्छन्दतासे दिन अथवा रात घूम-फिर सकती हैं।

इस देशके विधानका आधार भी मनुशास्त्र ही है, जिसे यहाँपर 'रथ्यमनु' कहते हैं। यह एक दिग्दर्शनमात्र है इस देश तथा भारतकी संस्कृति-समन्वयका। हम भारतीय इस प्रकार उस संस्कृतिको, जिसका हमें अभिमान है, अपने इन पड़ोसी देशोंमें सुरक्षित पा रहे हैं।

चम्पामें भारतीय संस्कृति

(लेखक—श्रीशिवकण्ठलालजी शुक्ल 'सरस' एम्० ए०)

प्राचीन कालमें भारतीय लोगोंने एशियाके भिन्न-भिन्न भागोंमें फैलकर उपनिवेश बनाये और वहाँके आदिम निवासियोंको एक नवीन स्थायी सभ्यता और संस्कृति प्रदान की। सुदूरपूर्वके द्वीपोंमें रहनेवालेंके आचार-विचार, भाषा तथा साहित्य और धर्म आदिमें जो भारतीयता मिलती है, वह स्पष्ट प्रमाणित करती है कि इन देशोंमें पूर्वकालमें भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रसार हुआ था। विष्णु, ब्रह्मा, गणेश तथा शिव आदिकी प्रतिमाओंसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है। इन सुदूर पूर्वके द्वीपोंमें चम्पा अथवा अनामका वर्णन भी विशेष उल्लेखनीय है।

ऐतिहासिक खोजके अनुसार यह पता चलता है कि श्रीराम चम्पामें प्रथम हिंदू शासक हुआ है। उसके उपरान्त ३३६ ई० से लेकर ५२९ ई० तक पाँच और शासक हुए। उनके नाम फनवेन, भद्रवर्मन, गंगराज, देववर्मन तथा विजयवर्मन हैं। विजयवर्मनके उपरान्त रुद्रवर्मन तथा शम्भुवर्मन चम्पाके शासक हुए। उसके उपरान्त कन्दर्प धर्म-शान्तिप्रिय शासक हुआ। अन्तमें रुद्रवर्मन द्वितीयके मरनेपर (७५७ ई०में) चम्पाका राज्य दूसरे वंशके अधिकारमें चला गया।

नवीन वंशके शासक सत्यवर्मनने नष्ट मन्दिरोंको फिरसे बनवाया। इसके उपरान्त और भी राजा हुए। वे सब अधिकतर आसपासवालोंसे युद्ध करते रहे। सन् ८६०में अन्तिम राजा विक्रान्तवर्मनकी मृत्युके उपरान्त इस वंशका शासन भी समाप्त हो गया। इसके उपरान्त 'भृगुवंश'के लोग चम्पाके शासक हुए। इनमें इन्द्रवर्मन प्रतापी राजा हुआ। सन् ९७२ ई०में इन्द्रवर्मनकी मृत्युके उपरान्त जय परमेश्वरवर्मन देव ईश्वरमूर्ति नामक राजाने सन् ९८० ई० में एक नवीन वंशकी स्थापना की। इस वंशके रुद्रवर्मन चतुर्थने सन् १०६९ ई० तक राज्य किया।

सन् १०८१ ई० में चम्पाकी दशा डावाँडोल हुई। सारे राज्यमें विपत्तिके बादल छा गये। उसी समय श्रीराजेन्द्र राजाकी मृत्यु हुई और सन् ११३९ ई०में इन्द्रवर्मन राजा हुआ। वह बड़ा धार्मिक तथा उत्साही राजा था। उसने कई स्थानोंमें शिवलिङ्गोंकी स्थापना करायी। इसके उपरान्त चम्पा राज्यका भविष्य अन्धकारमें चला गया। आक्रमणकारियोंने चम्पाके शासकोंको पराजित करके अपने राज्योंमें मिला लिया। ११७० ई० में फिर जागृति हुई और इन्द्रवर्मनने कम्बुज राज्यके शासकको पराजितकर पुनः चम्पाका स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इस प्रकार सदैव चम्पापर आक्रमण होते रहे और उसका भाग्य शासकोंकी शक्तिके अनुसार बनता-बिगड़ता रहा। जयपरमेश्वरदेव (१२२२), इन्द्रवर्मन दशम (१२५७) तथा महेन्द्रवर्मन (१३११) शक्तिशाली तथा प्रतापी राजा हुए। इन राजाओंने अपने समयमें आक्रमणकारियोंका सामना करके राज्यकी रक्षा की। इसके साथ ही राष्ट्रकी जर्जर कायाको भी नवजीवन प्रदानकर सशक्त बनाया। पर कभी भी चम्पाका राज्य युद्धकी विभीषिकाओंसे मुक्त न हो सका। सारा प्राचीन इतिहास रक्तरंजित कहानियोंसे भरा है। सन् १५०५–४३में अन्तिम राजाकी मृत्युके उपरान्त चम्पाकी स्वतन्त्रता सदाके लिये अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि चम्पामें भारतवासियोंने लगभग १५०० वर्षोंतक शासन किया। उसके उपरान्त उनका चिह्न भी नहीं मिलता। उनका सारा राज्य-वैभव गुलाबके फूलकी भाँति खिलकर विस्मृतिके उस पार छिप गया। पर हिंदू-संस्कृति और सभ्यता वहाँ अबतक जीती-जागती दिखायी पड़ती हैं।

चम्पामें भारतकी सबसे विशेष वस्तु है भारतवर्षका धर्म। अन्य द्वीपोंकी भाँति यहाँ भी भारतीय धर्मका प्रचार हुआ। शैव-धर्मकी प्रधानता अबतक मिलती है। जो शिलालेख मिलते हैं, उनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा तथा बुद्धका वर्णन मिलता है। पर उनमें शिवका अधिक वर्णन है। मन्दिर तथा शिलालेखोंमें महेश्वर, महादेव, पशुपति आदि अनेक नाम मिले हैं। शिवलिङ्गोंके नाम भी देवलिङ्गेश्वर, धर्मलिङ्गेश्वर आदि मिले हैं।

शिवके अतिरिक्त 'शक्ति' की भी उपासना होती थी। शक्तिके उमा, गौरी आदि नाम थे। शिव तथा शक्तिके अतिरिक्त गणेशकी भी पूजा होती थी। यहाँ वैष्णवधर्म और बौद्धधर्मका भी प्रचार हुआ था। शिवकी भाँति विष्णुकी

भी पूजा होती थी । शिलालेखोंमें भगवान् विष्णुके कई नाम मिलते हैं । भारतवर्षकी भाँति वहाँ भी राम, कृष्णकी लीलाओंका प्रचार था । शिलालेखोंमें लीलाओंका वर्णन मिलता है । गरुड़ तथा वासुकिका भी वर्णन मिलता है । कई प्रतापी राजा तो अपनेको विष्णुका अवतार मानते थे । विष्णुके साथ ही लक्ष्मीकी भी पूजा होती थी । स्त्रियाँ लक्ष्मीपूजाको अधिक महत्त्व देती थीं । लक्ष्मीकी उत्पत्तिके विषयमें चम्पानिवासियोंकी धारणा भारतीय धारणासे कुछ भिन्न थी ।

इसी प्रकार ब्रह्माका भी वर्णन मिलता है । शिलालेखोंपर उनकी मूर्तियाँ तथा कई एक नाम मिले हैं । चार मुखवाली मूर्तियाँ भी मिली हैं । इन सब मूर्तियोंको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि चम्पाकी मूर्तिकला भारतीय मूर्तिकलाकी भाँति ही थी । इन त्रिदेवोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से देवी-देवताओंकी पूजा होती थी । इनमें सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि, कुबेर तथा यमराज आदि देवता प्रमुख थे । नागों और राक्षसोंकी भी पूजा होती थी । इन सबकी मूर्तियाँ बनती थीं और उन मूर्तियोंकी विधिपूर्वक पूजा होती थी ।

कई स्थानोंपर बुद्धकी मूर्तियाँ मिलती हैं और उनसे विदित होता है कि उन मूर्तियोंकी उपासना की जाती थी । राजालोग बौद्धमठ और मूर्तियाँ बनवाते थे । बुद्धकी प्रतिमाएँ भी बहुत-सी मिलती हैं ।

भारतीय धर्मके अतिरिक्त शासनप्रबन्ध तथा कला-कौशलका भी प्रभाव चम्पापर पड़ा । समाज भी अछूता नहीं बचा । धर्म, समाज, राजनीति तथा कला-कौशल—सभीपर भारतीयताकी गहरी छाप लगी थी । चम्पानिवासियोंके जीवनका कोई कोना भारतवर्षके व्यापक प्रभावसे बच न सका । भारतीय भवन-निर्माणकला तथा शिल्प-कलापर भारतीयताका प्रभाव प्रत्यक्ष मिलता है । वहाँके मन्दिर तथा मूर्तियाँ भारतीय ढंगसे बनी थीं । उनकी बनावट दक्षिण और उत्तरके मन्दिरोंसे मिलती-जुलती है । बुद्धभगवान्की प्रतिमाओंपर गान्धारकलाका प्रभाव है । शङ्कर, विष्णु आदिकी मूर्तियोंपर बंगाल तथा दक्षिण-भारतका प्रभाव था । मन्दिरोंकी छतें उत्तरी भारतके मन्दिरोंकी भाँति थीं । दक्षिण भारतीय भवन-निर्माण-कलाकी प्रधानता चम्पामें मिलती है ।

चम्पाकी शासन-व्यवस्था भी भारतीय ढंगकी-सी थी । राजा साम्राज्यका सर्वेसर्वा होता था । प्रजा राजाको ईश्वरका अवतार मानती थी । सेनामें हाथी अधिक थे । राजालोग राजनीतिके ज्ञाता तथा धर्मधुरीण होते थे । अधिकतर राजालोग मनुकी आज्ञाके अनुसार कार्य करते थे ।

चम्पाकी समाज-व्यवस्था भी भारतीय ढंगकी थी । भारतवर्षकी भाँति वहाँ भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे । वहाँ भी ब्राह्मणोंका स्थान सर्वोच्च था । उनका सर्वत्र विशेष आदर था । ब्रह्महत्या महापाप समझा जाता था । धर्म-कर्मके नेता ब्राह्मण ही थे । विवाहका ढंग भी बहुत कुछ भारतीय था । वंश और गोत्रका ध्यान रक्खा जाता था । विवाह एक धार्मिक बन्धन माना जाता था । सती-प्रथाका भी चलन था । महीने भी भारतीय थे । वहाँकी भाषा भी भारतीय संस्कृत थी । कहीं-कहीं प्राचीन चम्पाकी भाषाका प्रयोग होता था, पर प्रधानता संस्कृतको ही प्राप्त थी । राजालोग शास्त्र-पुराण तथा वेदोंके ज्ञाता होते थे । व्याकरण-ज्यौतिषके भी अच्छे विद्वान् वहाँ थे । रामायण, महाभारत तथा धर्मशास्त्रोंसे चम्पानिवासी भलीभाँति परिचित थे । इसके अतिरिक्त और भी भारतीय बातें वहाँ पायी जाती थीं ।

उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो गया कि चम्पा (अनाम) में भारतवासियोंने जिस सभ्यता तथा संस्कृतिका प्रसार किया था, वह आज भी वर्तमान है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृतिका प्रभाव अधिक व्यापक था । इसीलिये आज भी सारा विश्व उसके सामने नतमस्तक है ।

समर्थका उपदेश

हे मन ! सत्यका त्याग कभी न कर, झूठका अनुमोदन कभी मत कर । वाणीसे जो कुछ सत्य है वही बोल और जो कुछ झूठ है उसको झूठ समझकर त्याग दे ।

—समर्थ रामदास

चीनी यात्रियोंकी भारतसम्बन्धी जिज्ञासा

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

इतिहासविशेषज्ञोंने बतलाया है कि प्राचीन भारतकी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनके लिये जिस प्रकार संस्कृतके भिन्नकालीन मूलग्रन्थोंका पढ़ना आवश्यक है, उसी तरह विदेशी यात्रियोंके उल्लेख भी सम्माननीय हैं। इस दिशामें चीनी यात्रियोंके इतिहाससम्बन्धी ग्रन्थ और भी उपादेय हैं। इन यात्रियोंके नाम और उनकी कृतियाँ भारतीय इतिहासकी पूरक सामग्री हैं।

यह आश्चर्यकी बात है कि इन महान् यात्रियोंकी कृतियाँ यूरोपियन विद्वानोंके अनुवादसे पूर्व विस्मृतिके गर्भमें लीन थीं। श्रीजेम्स लेग, टामस वाटर्स, सेमूल बील और सेंट जूलियाँ आदि विद्वानोंने चीनी यात्रियोंकी कृतियोंके अनुवाद किये, जिससे भारतको अपने देशका प्राचीन इतिहास समझनेमें विशेष सहायता मिली। पुरातत्त्वके विशेषज्ञ प्रो० औरल स्टाइनने अपनी महत्त्वपूर्ण सेंट्रल एशियाकी खोजोंसे इन चीनी विद्वानोंके ग्रन्थोंकी प्रामाणिकताकी हृदयसे पुष्टि की। इन चीनी विद्वानों-के ग्रन्थोंका भारतकी कौन-सी भाषामें अनुवाद हुआ है, यह एक प्रश्न है!

सबसे पहले चीनके समर्थ यात्री श्रीह्वेन्त्साङ्गने अपनी यात्राका वर्णन किया है, जिसमें तत्कालीन भारतकी संस्कृति-शिक्षा, राजनीति, सामाजिक नीति, कृषि तथा औद्योगिक विकासका विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह चीनी यात्री शीलभद्रका प्रतिभाशाली योग्य और कर्मठ शिष्य था। उसके साथी इसकी सर्वतोमुखी प्रतिभासे इतने मुग्ध हो गये थे कि उसे नालन्दा-विश्वविद्यालयमें अध्यापक-पदसे सम्मानित किया। आजकी दुनियामें जो आदर यूनिवर्सिटी प्रोफेसर—डीनका होता है, वही प्रतिष्ठा और मान उस कालमें इस चीनी यात्रीका था। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि आजकलसे शिक्षाका उस समय आदर अधिक होनेसे इसका मान भी विशिष्ट था, और एक विदेशीको ऐसे प्रतिष्ठित पदपर रखना इसकी असाधारण प्रतिभाका द्योतक है। इस प्रकार यह चीनी यात्री भारत और चीनका अप्रतिम प्रेमपात्र बना। राष्ट्रकी संस्कृति और दर्शनशास्त्रकी सम्पत्तिका प्रचार इसने आशातीत रूपमें किया।

फा ही, स्वाङ्ग तथा इत्सिंगसे पूर्व और पीछे भी कई चीनी यात्री आठवीं शताब्दीतक आते रहे। यद्यपि इनके ग्रन्थ उपर्युक्त यात्रियोंके समान विस्तृत और सामग्रीपूर्ण नहीं हैं, तो भी इतिहासके छात्रके लिये उनकी उपयोगिता अमिट है। प्रो० लिंग चि च ओ नामक सुप्रसिद्ध समाजसुधारकने इन यात्रियोंके बारेमें पर्याप्त लिखा है, जिससे मालूम होता है कि इन विद्वानोंने चीन और भारतके पारस्परिक सम्बन्धोंको कितना बौद्धिक सूत्रों-से गूँथा। उसने लिखा है—'मेरा सदा प्रयास रहा है कि मैं उन चीनी यात्रियोंको प्रकाशमें लाऊँ, जो अभीतक भारतमें अज्ञात रहे हैं और जिन्होंने भारतके साथ हमारे सम्बन्ध स्थापित करनेमें समय-समयपर विराट् यत्न किये। मेरी गवेषणाओंके अनुसार ८२ ऐसे यात्री विद्वान् हैं, जिनका ऐतिहासिकोंने अभीतक ऋण नहीं चुकाया।'

भारतीयताका अध्ययन करनेके लिये आजतक १८७ चीनी यात्री यहाँ आये, जिनमेंसे १०५ का ज्ञान हो सका है। शेष ८२ विद्वानोंके बारेमें जानना गवेषणाधीन है। इनमेंसे ३७ यात्रियोंका शरीर भारतमें आते अथवा जाते समय ही शान्त हो गया होगा, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। छः चीनी यात्रियोंके बारेमें निश्चयसे कहा जाता है कि वे भारतमें मरे। मृत्युकी बड़ी संख्याका कारण तत्कालीन जलवायु रही होगी, जिसके कारण वे यात्री अपने कार्यमें असमर्थ रहे। जो यात्री अपने प्रचारमें सफल हुए, उन्होंने प्रसङ्गसे लिखा है "मैं 'मो हो येन' के जंगलमें हूँ, जहाँ प्यासके कारण एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव हो रहा है। मेरी मृत्यु किसी क्षण हो सकती है। इन निर्जन और घोर जंगलोंमें चारों ओर यात्रियोंको मनुष्यों और पशुओंके अस्थिपञ्जर देखनेको मिलते हैं। सामुद्रिक यात्रा अँधेरी और भयानक झंझावातोंसे पूर्ण है।" फा ही जब भारतसे लौटा, तब उसे सामुद्रिक यात्रा करनी पड़ी। रास्तेमें उसे प्रचण्ड अँधेरीका सामना करना पड़ा। नाविकने उन्हें सामान छोड़नेको कहा। इसने सब कुछ सामान छोड़कर बौद्ध साहित्यकी पुस्तकें तथा मूर्तियोंको अपने साथ बाँध लिया। इस प्रकार इस चीनी बौद्धने समुद्र, पर्वत तथा मरुस्थलके अनेक कष्टोंको झेला। उसकी ज्ञानपिपासा, धार्मिक निष्ठा, भारतीय प्रेम, विश्वास, धैर्य और साहसने उसे प्रेरणा प्रदान की और वह अपने पथपर निश्चल रहा।

कई चीनी यात्रियोंने तो अपनी यात्राओंका वर्णन स्वयं नहीं लिखा। कई यात्रियोंने लिखकर भी खो दिया। कुछ विद्वानोंकी कृतियाँ हमतक पहुँच सकी हैं। तो ये की

चरितावली, त्वां चिनका भिन्न देशोंका वर्णन और फाँ युअङ्गकी यात्राओंके उल्लेख ही मिलते हैं। मूलग्रन्थ प्राप्य नहीं हैं। ह्वाई चोङ्गकी भारतके पाँच प्रदेशोंमें यात्राका वर्णन कई शताब्दियोंतक लुप्त रहा। हालमें इस ग्रन्थका उद्धार कंसु प्रदेशमें हुआ। कुछ हिस्सा जो मिला है, उसमें छः हजार शब्द हैं। श्री लो त्सेन युने इसे सम्पादित किया और यह महार्घ्य ग्रन्थ प्रकाशमें लाया गया है। जिन ग्रन्थोंकी आंशिक रक्षा हो सकी है, उनमेंसे वांग हर्सिचेहका दस जिल्दोंमें हर्षवर्धनके साम्राज्यका वर्णन है। यह पूरा ग्रन्थ कहीं भी प्राप्त नहीं हो सका। इसके कुछ खण्ड तो शीद्वारा सम्पादित कथा-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

प्राचीन कालमें बुद्धमतके विचारतत्त्वोंने इन दो देशोंको एक सूत्रमें जोड़ा था। इसलिये विद्वान् चीनी यात्री विद्या-सम्बन्धी बातोंमें ही लगे रहते थे। भारतीय इतिहासकी दूसरी बातोंमें उन्हें कम रुचि रहती थी। अतएव उनके द्वारा लिखी पुस्तकोंमें भारतकी सर्वाङ्गीण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। उदाहरणार्थ हुई चि ओंकी 'प्रमुख बौद्धोंकी जीवनियाँ' नामक कृतिमें ऐतिहासिक सामग्रीके प्रासङ्गिक उल्लेख मिलते हैं, जो अपना महत्त्व अवश्य रखते हैं।

चीनी यात्रियोंके अतिरिक्त वहाँके इतिहासकार सु म चीने भी एक बृहद् इतिहास लिखा है, जिसमें उत्तर, पश्चिम और पड़ोसी राष्ट्रोंका इतिहास लिखा गया है। इसी मार्गपर चलते हुए उत्तरकालीन ऐतिहासिकोंने भी भारतके सम्बन्धमें लिखा है। इनमें पां कु तथा फां येने अपने-अपने इतिहास-ग्रन्थोंमें भारतके बारेमें लिखा है। वां सिउद्वारा लिखित वाईवंश-के इतिहासमें भारतका प्रासंगिक वर्णन है। ल्यु ह्सुद्वारा लिखित तांगवंशके एवं तो केन तोद्वारा लिखित सुङ्ग-वंशके इतिहासमें सामग्री पायी जाती है। सिन तन शु तथा सुङ्गशी नामक लेखकोंमें क्रमशः काश्मीर और भारतके बारेमें ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त प्राचीन चीन राष्ट्रपर लिखी गयी पुस्तकोंमें भी भारतीय रीति-रिवाजपर प्रसङ्गतः प्रकाश डाला गया है। तु युद्वारा लिखित ताङ्ग-वंशके इतिहास तथा वंग चिन योके एक हजार जिल्दोंमें लिखे हुए इतिहासमें भारतीय इतिहासकी कुछ आंशिक सामग्री मिलती है। यदि इन ग्रन्थोंपर अनुसन्धान किया जाय तो अपने प्राचीन इतिहासपर अधिक प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय दर्शन और विशेषतः बौद्ध-साहित्यके ज्ञानके लिये यह खोज महत्त्वपूर्ण होगी।

हिंदू-संस्कृति और प्रतीक

(लेखक—श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

भारतीय हिंदू-धर्मने प्राचीनतामें ऐतिहासिकोंको विभ्रान्त कर रक्खा है। लिखित काष्ठ-लिपि, ताम्र-लिपि और प्रस्तर-लिपिसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातत्त्वके द्वारा संगृहीत तथ्य दिन-प्रतिदिन हिंदू-धर्मके अस्तित्वके विषयमें सुदूर अतीत कालकी ओर निर्देश करते हैं। शास्त्रोंने धर्मको सनातन और शाश्वत कहकर सन्तोष प्राप्त किया है। अनादि सनातन वेदमूलक हिंदू-धर्मके द्वारा, विभिन्न समाजोंके द्वारा, विभिन्न कालोंमें विभिन्न रूपसे परिगृहीत आचार और निष्ठाने इस धर्मके ऊपर विचित्र चिह्न अङ्कित किये हैं। धर्म जीवन-सत्ता-का अत्यन्त निगूढ़ रहस्य है। उसको बाहर अभिव्यक्त करनेकी प्रचेष्टा बहुत प्राचीन कालसे चल रही है। अन्य व्यक्ति या समाजके द्वारा परिचिन्तित धर्मसे अपनी विशेषता-को बनाये रखनेके लिये अनेकों उपाय ग्रहण किये गये हैं। परम तत्त्व, पवित्र ज्ञान, अखण्ड आनन्द, विराट् सत्ताको विचित्र धारामें प्रकाशित करनेकी चेष्टा सभी समाजोंमें निर्बाध-रूपसे चलती आ रही है। उनके ज्ञान, कर्म अथवा उपासना-की क्रम-परम्परामें उसी चिर-अनुसन्धेय, आकाङ्क्षणीय और परम सुन्दरका अनन्त रूपविलास आविष्कृत हुआ है।

प्रतीक या चिह्नोंके द्वारा अनन्तको सीमामें प्रकाशित करनेका प्रयास किया जाता है। असीम, अनिर्वचनीय, अव्यक्तको ससीम, वर्णनीय तथा अभिव्यक्त करनेके लिये कितने ही सङ्केतोंकी सृष्टि हुई है। ये विशिष्ट चिह्न या सङ्केत मानव-मनके अनभिव्यक्त भावकी व्यञ्जना करते हैं। विराट् समाजके सभी स्तरोंके मानव-मनमें सुपवित्र सुनिर्दिष्ट भाव-प्रेरणा लानेके लिये सर्वकालमें चिह्नका व्यवहार होता आया है। भावोंके समाहार तथा गोष्ठीकी प्रीतिके द्वारा विशेष-विशेष चिह्नों या प्रतीकोंने सुपुष्ट भावकी अभिव्यञ्जनामें अजेय गौरव प्राप्त किया है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठ० १।२।१५-१६)

'सारे वेद जिस पदका निर्देश करते हैं, जिसको लक्ष्य करके सारी तपस्या और ब्रह्मचर्य अनुष्ठित होते हैं, उस परम तत्त्वको संक्षेपमें कहता हूँ—वह 'ॐकार' है। यही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है; इस अक्षरको जान लेनेपर जिसकी जो इच्छा होगी, वह उसीको पा जायगा।' अनिर्वचनीय ब्रह्मका वाचक अक्षर ॐकार प्रत्येक वेदमन्त्रके आदि और अन्तमें उच्चारित और अङ्कित होकर वैदिक ऋषियोंके ब्रह्मानुभव और ब्रह्मदर्शनमें सहायक हुआ है। सृष्टिके किसी अज्ञात शुभारम्भके दिन स्रष्टा ब्रह्माके कण्ठसे, अनन्तकी प्रेरणासे यह प्रणवध्वनि उद्गीथ हुई थी। उसी अज्ञात अतीत कालसे वेदमें और धर्ममें नाद-ब्रह्मकी रूपाभिव्यक्ति प्रणव समादृत होता आ रहा है।

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

'ॐकार' और 'अथ' शब्द मङ्गलवाचक हैं। ये दोनों शब्द सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माके कण्ठसे विनिर्गत हुए थे।'

वैदिक साधनाके प्रधान अवलम्बन, विश्वातीतके अत्यन्त प्रचुर प्रकाशक भगवान् सूर्यनारायण हैं। प्रतिदिन सन्ध्योपासनामें—क्या वैदिक, क्या तान्त्रिक—सर्वत्र उस सूर्यमण्डलको ही अवलम्बन करके उपस्थान, ध्यान, तर्पण, अर्घ्यदान आदि अनुष्ठित होते हैं। सूर्यको ही चर-अचर समस्त जगत्की आत्माके रूपमें स्वीकार किया जाता है। और भी देखा जाता है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'आत्मघाती लोग मृत्युके बाद अज्ञान और अन्धकारसे परिपूर्ण, सूर्यके प्रकाशसे हीन, असूर्य नामक लोकको गमन करते हैं।' इससे यह पता लगता है कि वेदानुगामी साधुजन सूर्यमण्डलको किस श्रद्धाके साथ परमात्माके अभिव्यञ्जकरूपमें देखते थे। इस सूर्यको भी प्रणवरूपमें स्वीकार किया गया है।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः।
इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति॥
(छान्दोग्य० १।५।१)

ऋक्, यजु और साम—तीन वेद; भूः, भुवः और स्वः—तीन लोक; गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण—तीन अग्नि; यही क्यों? ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—जो कुछ हिंदू-धर्ममें है, यह ॐकार उन सबका ज्ञान करा देता है।

ओमित्येतत् त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः।
विष्णुर्ब्रह्मा हरश्चैव ऋक्सामानि यजूंषि च॥
(मार्कण्डेयपुराण)

कोई-कोई पण्डित यज्ञवेदी बनाकर उसके यज्ञकुण्डकी सप्तजिह्व यज्ञाग्निको वैदिकधर्मका प्रतीक मानते हैं। इस प्रकारका कोई चिह्न प्राचीन साधुजन व्यवहार करते हों, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव इसका यहाँ विचार नहीं किया जाता।

अन्यान्य समस्त चिह्नों या प्रतीकोंपर विचार करनेके पहले हिंदूमात्रके लिये स्वीकृत नाना प्रकारके शिलाचक्र, शालग्राम तथा शिवलिङ्गके सम्बन्धमें अवहित होना आवश्यक है। छोटी-से-छोटी गण्डशिला (शालग्राम) में भी महत्तम सर्वव्यापक जगदीश्वरकी आराधना करनेकी रीति अतीतकालमें किस प्रकार किसकी प्रेरणासे प्रवर्तित हुई, यह पण्डितोंके लिये गवेषणाका विषय है। शिवलिङ्ग किस प्रकार योनिपीठसे संयुक्त होकर विश्वजनक-जननीके प्रतीकके रूपमें केवल भारतमें ही नहीं, बल्कि इससे बाहर भी चिरकाल पूर्वसे समादृत होता आया है—यह बात विद्वत्-समाजमें आज किसीको भी अविदित नहीं है।

पद्मपुराणमें लिखा है—

सौराश्च शैवगाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः।
मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा॥
एकोऽहं पञ्चधा भिन्नः क्रीडार्थं भुवने किल॥

भक्तवत्सल भगवान् कहते हैं कि 'संसारमें लीलाके लिये एक मैं ही पञ्चधा विभक्त हो रहा हूँ। वर्षाका पानी जिस प्रकार चारों ओरसे बहते-बहते एक समुद्रमें ही जाकर गिरता है, उसी प्रकार सौर, शैव, गाणपत्य, वैष्णव और शाक्त—सभीको आकर मुझमे ही आश्रय लेना पड़ता है।'

वेदानुगामी इन पञ्च उपासकोंमें प्रत्येकका एक विशिष्ट चिह्न या प्रतीक है। एक समवाय-परामर्शपूर्वक किसी चिह्नको विशिष्ट योग्यता दी गयी है, अथवा उसे अर्थयुक्त करके ग्रहण किया गया है—ऐसी भावना करना सत्यका अपलाप करना है।

ईसामसीहके जन्मके पूर्व, मूसाके जन्मके पूर्व फिनलैंडके निवासियोंको क्रॉस-चिह्न परिचित था। ईसाई-धर्मके प्रचारसे ही उसका उद्भव हुआ है, ऐसा समझना इतिहासकी मर्यादाके बाहरकी बात है। एक गोलाकार वृत्तरूप चिह्नको क्या कोई अपनी जातिका निजस्व मानकर दावा कर सकता

है ? वह समस्त जगत्का सुपरिचित चिह्न है। एक बिन्दुरूप चिह्न—वह भी किसी विशिष्ट सम्प्रदायका नहीं है, वह सभी मनुष्योंका है। बहुतेरे लोग समझते हैं कि स्वस्तिक चिह्नको बौद्धोंने ही भारतसे ले जाकर समस्त संसारमें फैलाया है। वस्तुतः प्रमाण मिलता है कि बौद्धधर्मके आविर्भावके पूर्व ही बैबिलन, मिस्र आदि देशोंमें लोग इस प्रकारके चिह्नसे परिचित थे।

सौर-सम्प्रदायका धर्मचिह्न सूर्यमण्डल है। यह प्राचीनतम वैदिक ऋषियोंके सविता देवतासे भिन्न नहीं है। सूर्यमण्डल द्वादश-कलायुक्त है। ऋतु-परिवर्तनके साथ सूर्यका वर्णपरिवर्तन होता है। जैसे—

वसन्ते कपिलः सूर्यो ग्रीष्मे काञ्चनसप्रभः।
श्वेतो वर्षासु वर्णेन पाण्डरः शरदि प्रभुः॥

'सूर्य वसन्तकालमें कपिलवर्ण, ग्रीष्ममें स्वर्णोज्ज्वल, वर्षामें शुभ्र, शरत्कालमें पाण्डुर, हेमन्तमें ताम्रवर्ण तथा शीतकालमें रक्तवर्ण होते हैं।'

जेन्दावस्ताका अनुगमन करनेवाले जरदुस्तके द्वारा प्रवर्तित पारसी लोगोंके धर्मचिह्नमें अग्निकुण्ड, अग्निस्थली, अहुर मज्दा (पक्ष विस्तृतरूप) और सूर्यमण्डलको स्थान मिला है। इससे समझमें आ सकता है कि इन्दो-एरियन (भारतीय आर्य) लोगोंके प्राचीनतम इतिहासके साथ अग्नि और सूर्य-चिह्न पृथ्वीके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तको अतिक्रम कर चुके थे। ऐतिहासिक समालोचनासे पता चलता है कि अनेकों चिह्न या प्रतीक देश या समाजकी सीमाका उल्लङ्घन कर दूर-दूरतक फैल गये हैं।

किसी समय शैवलोग परिख्यात, पाशुपत, कालवदन और कपाली नामसे चार श्रेणियोंमें विभक्त थे। पीछे उनमें अनेकों प्रकारके सम्प्रदाय-भेद हो गये।

आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने।
तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कपालिनम्॥
(विद्वन्मोदतरङ्गिणी)

शिवका आयुध त्रिशूल सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके प्रभावसे निर्मुक्तिका सूचक है। वह धूम्रवर्ण है और शैवोंद्वारा विशेष समादृत चिह्न है। शिवालयके ऊपर इस प्रकारके चिह्न देखनेमें आते हैं। कोई-कोई शैव त्रिशूल-चिह्नाङ्कित शरीरमें शङ्करकी उपासना श्रेष्ठ समझते हैं और यथासमय उस चिह्नको धारण करते हैं। शैव साधु लोहेके बने त्रिशूलको दण्डके समान साथ लेकर चलते हैं। मोहन-जो-दड़ोसे प्राचीनतम युगका जो कुछ पता मिलता है, उसमें पशुपतिका चिह्न और वृषचिह्न भी प्राप्त होते हैं। उस अत्यन्त प्राचीन कालमें भी वृषभको धर्मके प्रतीकरूपमें ग्रहण करते थे, यह सिद्ध होता है। वृषरूपी धर्मके चार पैर हैं—तपस्या, शौच, दया और सत्य।

पृथ्वीकी प्रतीक गाय है। पृथुने गो-दोहनके द्वारा समस्त पार्थिव सम्पत्को प्राप्तकर प्रजाकी दुर्भिक्षसे रक्षा की थी। गणाधिपति गणनाथ या गणेशने वेदानुगामी सभी सम्प्रदायोंके ऊपर अपना प्रभाव डाला था। प्राचीन कालमें एक विशिष्ट समाज प्रधानतः इस प्रसिद्ध वैदिक देवता गणपतिकी ही उपासना करता था। उनका पृथक् अस्तित्व इस समय विशेषरूपसे परिलक्षित न होनेपर भी हिंदूमात्रके द्वारा किसी देव-देवीकी पूजा होनेके पूर्व गण-देवताकी पूजा धर्मतः अनिवार्य है। इसीके द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि गणपतिका प्रभाव कितना है। भारतके महाराष्ट्र प्रदेशमें गणेशोत्सव एक प्रधान पर्व है। तन्त्रसारमें गणपतिके यन्त्रको सिन्दूर-वर्णसे अङ्कित करके उसमें गणेशजीकी पूजा करनेका विधान है। यह यन्त्र गणेशका प्रतीक है। गणेशने अपने गणोंके साथ एक परिवार बनाया है। सबके रूप एक प्रकारके हैं। उनकी शक्तियाँ भी संख्यामें अनुरूप ही हैं। वे रक्तमाला, रक्तवर्ण और रक्त आभूषण धारण करते हैं।

जो चिह्न हिंदू-धर्ममें अधिक परिमाणमें प्रचलित और परिगृहीत हैं, उनमें वैष्णवोंद्वारा समादृत पाञ्चजन्य भी एक है। पाञ्चजन्य शङ्ख भगवान् विष्णुका एक आयुध है। भागवतमें लिखा है कि प्रह्लादके भ्राता संह्लादकी पत्नी कृतिके गर्भसे पाञ्चजन्य नामक दैत्यने जन्म ग्रहण किया था। वह समुद्रकी तिमि मछलीके आकारमें निवास करता था। उसका वध हो जानेके उपरान्त उसीकी अस्थिसे पाञ्चजन्य शङ्खकी उत्पत्ति हुई। इसे वेदमय तथा जलतत्त्वका प्रतीक कहा गया है। यह शङ्ख समस्त भारतमें मङ्गलचिह्नके रूपमें तथा इसकी ध्वनि पवित्र प्रणवध्वनिके समान आदृत होती है।

अस्थिभिः शङ्खचूडस्य शङ्खजातिर्बभूव ह।
नानाप्रकाररूपा च शश्वत्पूता सुरार्चने॥

शङ्खचूड़ दानवकी अस्थिद्वारा नाना जातिके शङ्ख उत्पन्न हुए—ऐसी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणमें मिलती है। शङ्ख वामावर्त और दक्षिणावर्तभेदसे दो प्रकारके होते हैं। पाञ्चजन्य दक्षिणावर्त्त है। इसके गुणोंका विचारकर ब्राह्मणादि श्रेणीभेद

किया गया है। शङ्खके अस्थि होनेपर भी, उसमें जल लेकर भगवान्‌की आरती करने तथा उस जलसे पवित्र होनेका भी विधान किया गया है। दक्षिणावर्त शङ्ख महामूल्यवान् रत्न और सौभाग्यका प्रतीक माना जाता है। इस शङ्खचिह्नका भगवान् विष्णुके चरणतलमें ध्यान किया जाता है।

विष्णुके चक्रसुदर्शनने अन्यान्य चिह्नोंमें विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। प्रखर दीप्तिमन्त मार्तण्डको विश्वकर्मा अपने तेज यन्त्रमें डालकर उसकी प्रखरताको शान्त कर रहे थे। उससे एक तेज निकला। कहा जाता है कि उसीसे विष्णुका चक्र, शिवका त्रिशूल, कुबेरकी शिबिका, यमका दण्ड, कार्तिकेयकी शक्ति तथा अन्यान्य देवताओंके आयुध निर्मित हुए। मार्कण्डेय-पुराणके वाक्य इस विषयमें विचारणीय हैं—

शातितं चास्य यत्तेजस्तेन चक्रं विनिर्मितम्।
विष्णोः शूलं च शर्वस्य शिबिका धनदस्य च॥
दण्डं प्रेतपतेः शक्तिर्देवसेनापतेस्तथा।
अन्येषाञ्चैव देवानामायुधानि स विश्वकृत्॥
चकार तेजसा भानोर्भासुराण्यरिशान्तये॥

सुदर्शन सहस्र अरोंसे युक्त होता है। साधारणतः उसे केशव आदि द्वादशमूर्ति विष्णुके प्रतीकके रूपमें द्वादश अरोंसे युक्त माना जाता है। उसमें मनस्तत्त्वका चिन्तन किया जाता है। भागवतमें इसे तेजस्तत्त्व कहा गया है। इसके मध्यस्थलमें नरसिंहमूर्ति अथवा विश्वरूप भगवान्‌का न्यास करनेका विधान है। भगवान् इस चक्रको दक्षिण हस्तमें धारण करते हैं। और उनके दक्षिण पदतलमें चिह्नरूपमें इसका उल्लेख मिलता है। विष्णुमन्दिरके ऊपर यह चिह्न व्यवहृत होता है। वैष्णवलोग दक्षिण बाहुमूलमें इस चिह्नको बड़े आदरके साथ अङ्कित करते हैं। कोई-कोई तप्तमुद्रा धारण करके देहको चक्राङ्कित करते हैं।

सौवर्णं राजतं ताम्रं कांस्यमायसमेव वा।
चक्रं कृत्वा तु मेधावी धारयेत विचक्षणः॥
(नवप्रश्न पाञ्चरात्र)

विष्णुकी प्रिय गदाका नाम कौमोदकी है। ओज और बलके सूचक मुख्य तत्त्व गदाको 'आयुधेश्वरी' नाम दिया गया है। दानव-वधमें इसका प्रयोग होता है। इस गदा-चिह्नको वैष्णवगण ललाटमें धारण करते हैं।

धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते।

—इस वाक्यसे भगवान्‌के कर-किसलयद्वारा संलालित लीला-कमलका रहस्य जाना जाता है। साधकके जीवनका निगूढ़ रहस्य भी इसी पद्ममें अन्तर्निहित है। योगशास्त्रके अनुसार मानव-देहमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार प्रभृति चतुर्दल, षट्दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल, द्विदल तथा सहस्रदल पद्म हैं। जीवन-की इच्छा, ज्ञान, क्रिया, काम और प्रेम—सभी इस पद्मके कोषमें अवस्थित हैं। साधनाके जीवनमें इस पद्मका सम्बन्ध अविच्छेद है, यह कहें तो अत्युक्ति न होगी। हिंदूके धर्म-कर्मके अनुष्ठानमें, मण्डलादिकी रचनामें, चित्रमें, शिल्पमें तथा अर्चनादिमें सर्वत्र किसी-न-किसी रूपमें पद्मको ग्रहण किया गया है। सूर्यके साथ पद्मका जैसा प्रेम-सम्बन्ध है, सविताके उपासक हिंदूका भी कमलके साथ भी वैसा ही सम्बन्ध होता है। विष्णुके लिये श्वेत पद्म तथा शक्तिके लिये रक्तपद्मका व्यवहार होता है। श्रीरामचन्द्रजीकी देवीपूजामें अष्टोत्तरशत नीलकमलकी ही प्रशंसा की गयी है।

श्रीरामोपासक वैष्णव धनुष और बाणके चिह्नको विशेष प्राधान्य प्रदान करते हैं—

यो वै नित्यं धनुर्बाणाङ्कितो भवति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति स भगवदाश्रितो भवति स भगवद्रूपो भवति।
(श्रीरामचन्द्र परमवैदिक)

श्रीरामचरितमानसमें भी आया है—

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥

गोपीचन्दनके द्वारा धनुष और दो बाणोंका चिह्न शरीरमें अङ्कित करना रामभक्तोंकी नित्यक्रियाका अङ्ग है।

गौड़ीय वैष्णवलोग महाप्रभु श्रीगौराङ्गके कीर्तनमें एक चिह्न धारण करते हैं, उसका नाम 'खुन्ती' है। कुछ लोग इस खुन्तीको हुसेनशाह बादशाहके समयका दिया हुआ-हाथ-पञ्जा या फरमानका प्रतीक समझते हैं; परंतु इस चिह्नको वैष्णवलोग विशेष आदर देते आ रहे हैं। खुन्तीके अनुरूप चिह्न कभी-कभी मुसल्मान फकीर या दरवेश लोगोंके हाथोंमें भी देखा जाता है। यह चिह्न कहींसे भी आया हो, पर अब तो बंगालियोंका अपना चिह्न बन गया है।

स्वस्तिक चिह्न विश्वके एक छोरसे दूसरे छोरतक अनेकों जातियोंके द्वारा अभिनन्दित हुआ है। यह वस्तुतः भारतीय है और इसे भारतीय मानकर ही इसका भगवान्‌के चरणतलमें ध्यान करते हैं। स्वस्तिक मङ्गलचिह्न है, विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न प्रकारोंसे अङ्कित होता है। मूलनीति एक ही है सम्भवतः यह सूर्य-की गतिका निर्धारण करनेवाला हो। इस दृश्यमान जगत्‌में विराट,

ज्योति, सत्य, मङ्गल तथा सुन्दरकी धारणा करनेका अवलम्बन सूर्य और चन्द्रके समान दूसरा कौन होगा ? हिंदुओंने सूर्य-मण्डलको प्रधान माना है और मुसल्मानोंने चन्द्रमाको प्रधानता दी है। स्वस्तिवाचन हुए बिना हिंदू-धर्मका कोई भी कर्म अनुष्ठित नहीं होता। सबके पहले स्वस्तिवाचन आवश्यक है। गृह-द्वार, मङ्गलघट—यहाँतक कि व्यवसायीकी लोहेकी तिजूरीतक भी स्वस्तिक-चिह्नसे चिह्नित होती है। किस प्रकार-से किस कालमें यह चिह्न हिंदू-धर्ममें अङ्गाङ्गिभावसे गृहीत हुआ है, यह बात रहस्यमें छिपी है। बारहवीं शताब्दीमें हेम-चन्द्रने कहा है कि जैनियोंके द्वारा स्वीकृत चौबीस चिह्नोंमें स्वस्तिक एक प्रधान चिह्न है। जैसे—

> वृषो गजोऽश्वः प्लवगः क्रौञ्चाब्जं स्वस्तिकं शशी।
> मकरः श्रीवत्सः खड्गी महिषः शूकरस्तथा॥
> श्येनो वज्रं मृगच्छागौ नन्दावर्तो घटोऽपि च।
> कूर्मो नीलोत्पलं शङ्खं फणी सिंहोऽर्हतां ध्वजाः॥

हिंदू-धर्मके प्रभावसे परिवर्द्धमान जैनोंके सर्वविदित आठ मङ्गल-चिह्नोंका उल्लेख यहाँ अवश्य ही अप्रासङ्गिक नहीं होगा—जैसे (१) मत्स्ययुगलम्, (२) नन्दावर्त्त, (३) भद्रासन, (४) कुम्भ, (५) श्रीवत्स, (६) दर्पण, (७) सम्पुट, (८) स्वस्तिक। पुराणोंमें प्राचीन कालसे ही बुद्धदेव भगवान्‌के एक अवतार माने गये हैं। वेदविरोधी कहकर वारंबार प्रतिहत होनेपर भी इस मतने सारे भारतके धर्मके ऊपर अपना प्रभाव डाला था, यह बात सभीको माननी ही पड़ती है। बौद्ध विहारोंमें स्तूप, बुद्धमन्दिरोंमें धर्मचिह्न, त्रिरत्न तथा स्वस्तिक इनके विशेष चिह्न हैं। बुद्धदेवके पदचिह्न-के नामपर भी बहुतसे चिह्न प्रचलित हैं।

भारतमें उत्पन्न, हिंदू-धर्मके ही एक विशेष रूप कबीरपन्थ-के साधुलोग शुभ्र ध्वजाको अपनी पवित्रताका सूचक मानते हैं। उनकी यह पताका समाधि-स्थान और मठोंके ऊपर फह-राया करती है। उनकी तिलकरेखा शुभ्र होती है। ग्रन्थादिमें श्रीसत्यनाम—यह चिह्न व्यवहृत होता है।

भारतीय जीवनके उच्छ्वलित आवेगने सिख-गुरुओंकी शिक्षाके द्वारा हिंदू-धर्मको पुष्ट बनाया है, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा ? उनकी स्वाधीनताकी आकाङ्क्षा, कर्मप्रवणता, आलस्यहीनता, त्याग तथा अनुगमन (अनुशासन)के आ-दर्श चिह्न चक्र, खाँडा तथा कृपाण—इन तीन अस्त्रोंके समन्वयरूप हैं।

दशनामी संन्यासी, जो आचार्य शङ्करके निर्देशानुसार जीवन-यापन करते हैं, गेरुआ वस्त्र धारण करते, सिर मुड़ाये रखते या जटा बढ़ाये रहते हैं तथा दण्डादि धारण करके त्यागमय जीवन बिताते हैं। इन लोगोंमें कहीं-कहीं गेरुआ रंगकी पताकामें रक्तवर्णका ॐकार लिखा हुआ देखा जाता है। प्रणवको छोड़कर अन्य कोई चिह्न ये व्यवहारमें लाते हों, यह ज्ञात नहीं। उदासी सम्प्रदाय अपने लाल झंडेके ऊपर मोर-पङ्खका व्यवहार करता है, ऐसा देखा जाता है।

भारतीय तत्त्वविद्यासमिति Theosophical Society ने गोलाकार वृत्तसे वेष्टित सर्पके बीच षट्कोणके भीतर स्वस्तिकका चिह्न अपनी विशेषताको प्रकट करनेके लिये स्वीकार किया है।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणतल और करतलमें जिन चिह्नोंका श्रीकृष्ण-भक्तगण स्मरण करते हैं, उनका उल्लेख किये बिना हिंदुओंके अर्थयुक्त चिह्नविशेषका वर्णन अधूरा रह जायगा। पद्मपुराणमें सोलह चिह्न कहे गये हैं, वाराह-पुराणमें उल्लिखित चिह्नोंको मिलाकर यह संख्या उन्नीस होती है। (कहीं-कहीं ३२, ६४ और १०८ चरणचिह्नोंका उल्लेख मिलता है।) स्कन्दपुराणमें विष्णुके छः पद-चिह्नोंका उल्लेख आता है। (१) चक्र-चिह्न—भक्तोंके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सररूप षड्रिपुओंके विनाशके लिये चिन्तनीय हैं, (२) पद्म—ध्यान करनेवालेके मन-भ्रमरको लुब्ध करता है, (३) अङ्कुश—भक्तके मदमत्त हस्तीके समान दुर्दान्त मनको वशमें करता है, (४) यव-चिह्न भोग और सम्पद्‌का प्रतीक है, (५) वज्र, (६) ध्वजा, (७) छत्र, (८) स्वस्तिक, (९) जम्बूफल, (१०) अष्टकोण, (११) ऊर्ध्वरेखा—ये भगवान्‌के दक्षिण चरणके चिह्न हैं। वाम चरणमें क्रमशः—(१) सर्वविद्याप्रकाशक शङ्ख, (२) आकाशमण्डल, (३) धनुष, (४) गोष्पद, (५) त्रिकोण, (६) कलश, (७) अर्द्धचन्द्र तथा (८) मत्स्यके चिह्नका ध्यान करना चाहिये।

श्रीकृष्णके समान श्रीराधारानीके चरणतलमें भी भक्तगण उन्नीस चिह्नोंका चिन्तन करते हैं—जैसे यव, चक्र, छत्र, वलय, ऊर्ध्वरेखा, कमल, ध्वजा, पताका, लता, पुष्प, अङ्कुश, अर्द्धचन्द्र, शङ्ख, गदा, वेदी, शक्ति, पर्वत, रथ और मत्स्य। हिंदू-धर्मके विभिन्न सम्प्रदाय विचित्र पुण्ड्र धारण करते हैं। पुण्ड्ररहित देवपूजा, होम, तर्पण-दान, ध्यानको शास्त्रमें विफल बतलाया है। पुण्ड्र जातीय और धार्मिक चिह्न है। वैदेशिक सभ्यताके प्रभावसे हिंदू इस जातीय चिह्नको

भुलाने लगे हैं। सदाचारसम्पन्न साधुसमाजमें पुण्ड्र चन्द्राकार, वेणुपत्राकार, अश्वत्थ-पत्राकार, हरिपद या मन्दिर-की आकृतिमें, ऊर्ध्वपुण्ड्र या तिलकके रूपमें किया जाता है। पुण्ड्रके द्वारा उपासनाविशेषका परिचय प्राप्त होता है। विचित्र पुण्ड्रयुक्त साधुमण्डलको देखकर हिंदू-धर्मकी अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें जो ममप्राणता है, उसका प्रकृष्ट प्रमाण मिलता है।

देवार्चनके समय आवश्यक तान्त्रिक प्रक्रियाके आधारपर विभिन्न प्रकारके अङ्गन्यास और करन्यासका उपदेश शास्त्रोंमें किया गया है। देवताकी आराधनामें आङ्गिक चेष्टाका अभिनव-समावेश मुद्राप्रदर्शनके द्वारा किया गया है। सभी जानते हैं कि अञ्जलि परम मुद्रा है। अञ्जलि बाँधकर देवताके उद्देश्यसे हृदयकी दीनता और श्रद्धा निवेदित की जाती है। इसके अतिरिक्त पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, धूप, दीप आदि निवेदन करनेके लिये विभिन्न अङ्गसन्निवेशका विधान है। देवताके आयुध चक्र, गदा, पद्म, त्रिशूल, खड्ग आदि भी करतल और अङ्गुलिके संयोग-वियोगके द्वारा (मुद्राके रूपमें) देवताको प्रदर्शित किये जाते हैं। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि संकेतसे मनोभावोंको व्यक्त करनेका पारिभाषिक उपाय अतिप्राचीन कालमें इन मुद्राओंके प्रदर्शनकी रीतिके रूपमें निर्धारित किया गया था।

महाभारतके युद्धक्षेत्रके वर्णनमें देखा जाता है कि वीर-लोग अपनी पताकाओंमें वीर्य, शौर्य, ज्ञान, कर्मकुशलता, क्षिप्र-गति प्रभृतिके सूचक नाना प्रकारके चिह्न धारण करते थे। सिंह, वृष, मकर, वानर आदि जीवोंकी प्रतिकृति भी हिंदू-संस्कृतिके अङ्गमें अङ्गाङ्गिभावसे विजड़ित हैं। वर्ण और वस्तु इद्गत भावोंके प्रकाशनके लिये प्रधान अवलम्बन हैं। विचित्र प्रकारके वर्णों और सामग्रियोंके समवायसे युग-युगमें मानव-मनके रहस्यमय भावोंका द्योतन होता है। सत्त्व, रज और तमोगुण शुभ्र, रक्त और कृष्णवर्णोंके द्वारा व्यञ्जित होते हैं। दूसरे देशोंमें ये ही पवित्रता, उत्सव और विषादके सूचक हैं। पीत भारतके उत्सवका वर्ण है, और गेरुआ त्यागका सूचक है। त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त, विन्दु आदि चिह्नोंका उद्भव पहले-पहल प्राचीन कालकी यज्ञवेदियोंसे हुआ था या नहीं—यह ठीक-ठीक बतलाना सहज नहीं है। ये आजकल समस्त मानव-समाजकी सङ्केत-सम्पदा है।

स्वस्तिक

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी०ए०)

स्वस्तिक चिरन्तन सत्य, शाश्वत शान्ति और अनन्त दिव्य ऐश्वर्य-सम्पन्न सौन्दर्यका माङ्गलिक चिह्न तथा प्रतीक है। इस प्रतीकका उपासक वही राष्ट्र होता आया है, जो दिव्य गुणों और शुभ-संस्कारोंसे युक्त रहा है। इसे धारण करनेमें आसुरी शक्ति सर्वथा असमर्थ है। सत्य और शान्तिका सन्देश तो कोई भाग्यशाली ही दिया करता है और यह सच बात है कि समय-समयपर सत्य और शान्तिका सन्देश देनेमें भारत सब देशोंसे आगे रहा है और यह भारतीय गौरवकी अक्षुण्ण ऐतिहासिकता है कि विश्वके आदिसाहित्य वेदमें 'स्वस्ति' मिलता है। सत्य, शिव और सुन्दरके रंगमञ्चपर अवस्थित होकर सोमका उन्माद नयनोंमें भरकर विवेकी आर्य ही सभ्यताके आदिकालमें कहनेका साहस कर सका था—

> स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु
> स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
> विश्वं सुभूतं सुविदत्रं
> नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥
> (अथर्व० १। ३१। ४)

हमारी माताके लिये कल्याण हो। पिताके लिये कल्याण हो। हमारे गोधनका मङ्गल हो। विश्वके समस्त प्राणियोंका मङ्गल हो। हमारा यह सम्पूर्ण विश्व उत्तम धन और उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो। हमलोग चिरकालतक प्रतिदिन सूर्यका दर्शन करते रहें। हम दीर्घजीवी हों।

आर्योंने ऐसे ही स्वस्ति वचनोंके बलपर समस्त विश्वके लिये सुख और शान्तिके साम्राज्य-स्थापनकी घोषणाकर जन-कल्याणकी सिद्धि की थी। स्वस्तिक आर्योंका आदि माङ्गलिक प्रतीक है। स्वस्तिक आयु, प्रकाश, सूर्य और आकाशका मूर्त वाङ्मय है। जैन, बौद्ध तथा अन्य भारतीय धर्मग्रन्थोंमें भी स्वस्तिकके महत्त्वपर बड़ा प्रकाश डाला गया है। उनमें स्वस्तिकके विभिन्न आकार-प्रकार तथा रूप-रेखाकी जानकारी मिलती है।

'स्वस्तिक' शब्दकी ऐतिहासिकताके अध्ययनसे पता चलता है कि स्वस्तिक हठयोगका एक आसन है। यह एक प्रकारके यन्त्रका नाम है, जो शरीरमें गड़े हुए शल्य आदिको बाहर निकाल लेता है। चतुष्पथ अथवा 'चौराहा'के लिये भी

इसका प्रयोग होता है। सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार यह एक माङ्गलिक चिह्नका नाम है, जो बहुत शुभ माना जाता है और गणेशपूजनसे पहले माङ्गलिक द्रव्योंसे विशेष उत्सवों और शुभ अवसरोंपर अङ्कित किया जाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा भगवान् श्रीकृष्णके चरणमें इस प्रकारका चिह्न था। जैनी लोग जिन देवताके चौबीस लक्षणोंमेंसे इसे भी एक मानते हैं। स्वस्तिक प्राचीन कालकी एक प्रकारकी नावका भी नाम था, जो राजाओंकी सवारीके काममें आती थी। स्वस्तिकका अभिप्राय कुछ भी रहा हो, इस निबन्धमें तो उसकी माङ्गलिक चिह्नके रूपमें व्याख्या करनी है। स्वस्तिक स्वस्ति अथवा कल्याणका वाचक है। हिंदू-संस्कृतिसे सृष्टिके आदिकालसे उसका अविच्छिन्न और अमिट सम्बन्ध रहता चला आया है। विश्वकी समस्त सभ्य जातियोंमें हिंदू-जाति प्रतीक-उपासनाको अधिकाधिक विशेष महत्त्व देती है। जिस विषयको समझनेमें मस्तिष्क और जिह्वाके पंख झड़ जाते हैं, उसके बोधके लिये प्रतीकका हाथ पकड़ा जाता है। सीमित बुद्धि-क्षेत्रोंके काम न देनेपर तत्त्वबोध प्रतीकगत होनेसे सुगम और सरल हो जाता है।

स्वस्तिककी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहकर मौन हो जाना पड़ता है कि यह उतना ही प्राचीन है, जितने प्राचीन वेद हैं। वेदोंमें प्रकाश, कल्याण, दीर्घायुके अर्थमें विशेष स्थलोंपर 'स्वस्ति'का प्रयोग मिलता है। कुछ विचारकोंका मत है कि कहीं-कहीं यह भ्रमणशील चक्रके आकारमें इसलिये दिखलाया गया है कि उससे सूर्यके प्रतीक होनेका बोध होता है। कुछ विद्वानोंका मत है कि स्वस्तिक उन दो अरणियों (काष्ठदण्डों) का प्रतीक है, जिनसे यज्ञके लिये अग्नि पैदा की जाती है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि स्वस्तिक प्रकाशका प्रतीक है। दक्षिण भारतमें प्राचीन कालके बने हुए कुछ मिट्टीके पात्र मिले हैं, जिनपर स्वस्तिक अङ्कित है। 'स्वस्तिक' पुस्तकके लेखक श्रीविलहेजने लिखा है कि यह साधिकार नहीं कहा जा सकता कि पहले-पहल किस देशने स्वस्तिकका प्रयोग किया; पर इतना तो है ही कि यह विश्वजनीन प्रतीक है और गौतम बुद्धसे भी पहले भारतमें इसका प्रचार था। हेजका मत स्तुत्य है; पर इस सम्बन्धमें इतना और जोड़ा जा सकता है कि स्वस्तिकका जन्मस्थान भारत देश है और पुरातत्त्वविदोंके प्रयत्नसे तथा प्राचीन साहित्य-शास्त्रोंसे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हिंदू-जातिने ही विश्वके अनेक भागोंके अपने उपनिवेशोंमें इसका प्रचार किया। श्रीसतीशचन्द्र कालाने अपनी पुस्तक 'मोहन-जो-दड़ो तथा सिन्धु-सभ्यता'में लिखा है कि 'मोहन-जो-दड़ो' की खुदाईमें स्वस्तिकका चित्रण मुद्राओं तथा पट्टियोंमें दीख पड़ता है। स्वस्तिक तथा चक्र सूर्यभगवान्के प्रतीक भी माने जाते हैं। स्वस्तिक और अग्निका सम्बन्ध भी सूर्यके कारण था। पारसियोंके एक प्राचीन मन्दिरके द्वारपर सूर्य, चन्द्र और स्वस्तिकके चिह्न बने हुए मिले हैं। इस कथनसे भी स्वस्तिककी प्राचीनताकी पुष्टि हो जाती है। श्री सी० जे० ब्राउनने अपनी पुस्तक 'क्वाइंस आफ इंडिया' में कुछ ऐसे सिक्कोंका विवरण दिया है, जो ईसवी सन्‌से चार सौ साल पहलेके हैं। उनपर स्वस्तिक, बोधिवृक्ष आदिके चिह्न अङ्कित हैं। सिक्कोंपर स्वस्तिक चिह्नका अङ्कन संकेत करता है कि चौबीस सौ साल पहले अशोककालीन भारतमें स्वस्तिकका सांस्कृतिक महत्त्व मान्य था। वैदिक कालसे ही प्रचलित स्वस्तिक-परम्परा अक्षुण्ण और जीवित थी। जिस सीमातक स्वस्तिकका हिंदू-संस्कृतिसे सम्बन्ध है, उसके आधारपर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि महाकाव्यकालमें स्वस्तिक माङ्गलिक प्रतीकके साथ-साथ वस्तुके नाम तथा अन्य समाजोपयोगी चिह्नोंके रूपमें भी स्वीकार कर लिया गया था। संस्कृति और समाज दोनों क्षेत्रोंमें इसकी ख्याति बढ़ती गयी। श्रीविलहेजके कथनानुसार रामायणमें ऐसे जहाजका वर्णन मिलता है, जिसपर स्वस्तिकका चित्रण रहता था। महाभारतके सभापर्वमें जरासन्ध-वध-प्रकरणमें एक ऐसे नागका उल्लेख मिलता है, जिसका नाम स्वस्तिक था। शूद्रकरचित मृच्छकटिक नाटकका एक पात्र चोर चारुदत्तके घरमें सेंध लगाते समय विचार करता-सा चित्रित किया गया है कि स्वस्तिक सन्धि (सेंध) बनाये या घड़ेके आकारका सेंध लगाये। कुछ समय पहले हस्तलिखित पुस्तकोंकी समाप्ति स्वस्तिक चिह्न अङ्कित कर सूचित की जाती थी। बौद्धों और जैनियोंने भी स्वस्तिक चिह्नको बड़ा महत्त्व दिया है। बौद्ध और जैन-लेखोंसे सम्बन्धित प्राचीन गुफाओंमें भी स्वस्तिकका चित्रण मिलता है। अशोकके शिला-लेखोंमें स्वस्तिकके प्रयोगका बाहुल्य है। जैनियोंके समस्त कर्म-विज्ञानका आधार स्वस्तिक है। जैन-दर्शनके अनुसार एक दूसरेको परस्पर काटनेवाली स्वस्तिक-रेखाएँ (पुरुष और प्रकृति) आत्मा और पुद्गलकी प्रतीक हैं। दोनों रेखाओंके एक दूसरेको परस्पर काटनेपर चार भाग हो जाते हैं, जो प्राकृत जगत्‌के चार क्रम—पूर्ववर्तीसर्ग, वनस्पति-सर्ग, मनुष्य-सर्ग और देवसर्गके द्योतक हैं। मन्दिरोंमें पूजा करते समय जैन स्वस्तिक चिह्नका उपयोग करते हैं। आशीर्वाद अथवा स्वस्ति-दानमें भी वे स्वस्तिक चिह्नसे ही काम लेते हैं।

बौद्धधर्ममें भी यह चिह्न अत्यन्त पूज्य माना जाता है। बुद्ध-भगवान्के चरणके लक्षणोंमें स्वस्तिककी परिगणना होती है। अमरावतीके स्तूपमें जो बुद्धपद चित्रित है, उसमें स्वस्तिक अङ्कित है। जापान, चीन आदि देशोंमें बुद्ध भगवान्के चरणोंकी पूजा होनेसे विदेशोंमें स्वस्तिकका प्रचार सुगमतापूर्वक हो सका। विदेशोंमें स्वस्तिक-प्रचारके अन्य साधनोंमें भगवान् बुद्धका स्वस्तिक-अङ्कित चरण-पूजन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विशेष साधन रहा होगा। बौद्ध स्वस्तिकको बुद्धभगवान्-के वक्षका भी एक शुभ लक्षण मानते हैं। निस्सन्देह भारतने ही अपने उपनिवेशों तथा विदेशोंमें स्वस्तिकका प्रचार किया। भिन्न-भिन्न देशोंमें स्वस्तिकके सम्बन्धमें विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। विदेशमें स्वस्तिक व्यापारका भी शुभ चिह्न कहीं-कहीं स्वीकार किया गया है। अनेक देशोंके सिक्कोंमें भी इसका अङ्कन दीख पड़ता है।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडमें माबरी जातिके लोग स्वस्तिकको अपने जीवनके शुभ प्रतीकोंमेंसे एक मानते हैं। जापानमें स्वस्तिक 'मनजी' कहलाता है। बुद्धकी प्रतिमाओंमें जापानी इसका अङ्कन विशेषरूपसे करते हैं। जापानके परम-पवित्र पहाड़ फ्यूजीयामाके शृङ्गपर जब तीर्थयात्री पहुँचते हैं, तब उन्हें ऐसे घड़ोंका जल पीनेके लिये दिया जाता है, जिनपर स्वस्तिकके चिह्न बने रहते हैं। यह जल दीर्घायु दान करता है। कोरियामें तो स्वस्तिक तामझाम और पालकी आदिमें चित्रित दीख पड़ते हैं। चीनमें स्वस्तिक असंख्यताका बोधक है, अधिकताका प्रतीक है। चीनी भी हिंदुओंकी ही तरह इसे कल्याण, दीर्घायु और प्रकाशका प्रतीक मानते हैं। हजार वर्षोंसे पहले भी चीनी स्वस्तिकका अङ्कन वृत्तिमें करते थे और उसे सूर्यका प्रतीक स्वीकारकर उपासना करते थे। टैंग शासक बूका आदेश था कि सारे चीनमें स्वस्तिककी प्रतीकोपासना हो। टैंग-कालकी जनता यत्न करती थी कि काठके सामानों तथा दैनिक उपयोगकी अन्य वस्तुओंपर मकड़ी अपने वृत्ताकार जालेमें स्वस्तिक बनाये। ऐसा होना परम सौभाग्य समझा जाता था। चीनियोंकी मान्यता है कि आकाशमें विशेष तारोंके परस्पर मिलनेपर स्वस्तिकके आकार-प्रकारका एक चित्र नित्य बनता रहता है। तिब्बतमें तो लोग अपने शरीरमें स्वस्तिकके आकारका गोदना गोदवाते हैं। स्वस्तिकका प्रचलन फारसमें भी है। पुरोहितोंके चोगोंपर स्वस्तिकके चिह्न बनाये जाते हैं। कैकय देशमें स्वस्तिकको परम पवित्रताका प्रतीक मानते हैं। अलजीरिया और मिस्रमें भी इसका बाहुल्य है। मिस्रनिवासियोंका विश्वास है कि स्वस्तिक उनके देशमें यूनानसे आया। यूनानमें मिट्टी, पीतल और सोनेके बर्तनोंपर स्वस्तिकका बाहुल्य था। यह उसके प्राचीन कालके इतिहाससे ऐसा पता चलता है। साइप्रेस द्वीपमें देवताओंकी मूर्तियोंपर स्वस्तिकके चिह्न मिले हैं। क्रटके एक रजत-सिक्केमें स्वस्तिक अङ्कित है। इससे यूरोपमें स्वस्तिककी प्राचीनताका संकेत मिलता है। इटलीमें स्वस्तिकका प्रचलन संकेत करता है कि यहींसे यूरोपके अन्य देशोंमें इसका प्रचार हुआ। हेजका कथन है कि आदिम ईसाइयोंमें स्वस्तिक विशेष और अत्यन्त पवित्र प्रतीककी तरह अवश्यमेव प्रचलित था। स्काटलैंडमें एबरडीन शायरमें चालीस अक्षरोंका एक शिला-लेख मिला है। अक्षरोंके मध्यभागमें स्वस्तिक है, अभीतक लिपिका पता नहीं चल सका है; सम्भव है कि इस शिलालेखमें स्वस्तिक किसी वर्ण या संख्याका सूचक हो। इस शिलालेखके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन समयमे यूरोपने प्रतीकके साथ-साथ स्वस्तिकको वर्ण या संख्याके रूपमें भी स्वीकार कर लिया था। अमेरिकामें यूरोपियोंके प्रवेशके पहलेसे ही स्वस्तिकका प्रयोग था। कुछ टीलोंकी खुदाईमे ऐसे सामान प्राप्त हुए हैं, जिनपर स्वस्तिक अङ्कित है। इससे कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि कोलम्बससे कई सौ साल पहले बौद्धधर्म-प्रचारकोंके साथ अमेरिकामें स्वस्तिकका भी प्रवेश हुआ है। अमेरिकामें भगवान् बुद्धकी एक प्रतिमा मिली है, जो स्वस्तिक आसनमें प्रतिष्ठित है। अभीतक यह निश्चित नही किया जा सका है कि यह प्रतिमा भगवान् बुद्धकी है या किसी अन्य देवताकी है। यह भी सम्भव है कि प्रतिमा किसी हिंदू देवताकी हो। हठयोगमें स्वस्तिक एक विशेष प्रकारका आसन है, अतएव स्वस्तिक आसनमें देव-प्रतिमाकी प्रतिष्ठा आश्चर्यकी बात नहीं है। श्रीचमनलालने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदू अमेरिका'में यह तो सिद्ध ही कर दिया है कि अमेरिका हिंदुओंका एक उपनिवेश था। सामाजिक जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें अमेरिकाके मूल निवासी स्वस्तिकका उपयोग आजतक करते हैं। आर्योंका अन्य महादेशोंसे प्राचीन और मध्यकालमें व्यापार-सम्बन्ध स्थापित ही था, इसलिये साधिकार कहा जा सकता है कि जिन देशोंमें स्वस्तिकका प्रचलन है, उनमें भारतने ही सत्य, शान्ति और कल्याणका सन्देश किसी समय अवश्य पहुँचाया था।

स्वस्तिक सर्वथा स्वस्ति अथवा कल्याणकारी है। हिंदुओं तथा भारतेतर जातियोंके सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवनमें स्वस्तिकका उपयोग

दीख पड़ता है । विश्वने एक स्वरसे इसे माङ्गलिक प्रतीक स्वीकार कर लिया है। ईसाइयोंका क्रॉस स्वस्तिकका ही एक रूपान्तर है। ॐ शब्दकी बनावट और वैज्ञानिक आकारकी समीक्षा करनेपर ऐसा कहनेका साहस होता है कि यह भी एक प्रकारका स्वस्तिक ही है । ॐ अखण्ड चिदानन्दकी सत्ताका प्रतीक है, भगवान्‌का अक्षर-रूप है। निस्सन्देह स्वस्तिक ही ॐ रूपमे परमात्माका प्रतीकगत बोध है। परम सत्य शान्ति और स्वस्तिका आश्रय है। इतिहासकी पुनरावृत्ति तो होती रहती है। इसलिये निस्संकोच कहा जा सकता है कि विश्व एक दिन स्वस्तिकगत आदर्शोंको अपना सकता है। उसकी सबसे बड़ी चाह है सत्यकी प्राप्ति। उसकी सबसे बड़ी भूख है शान्तिकी अनुभूति । उसका लक्ष्य है आत्मराज्य अथवा स्वराज्य। स्वस्तिक विश्व-कल्याणका दूत है । हिंदुओंका आदि माङ्गलिक प्रतीक है। इसलिये यह निश्चित है कि विश्व शाश्वत शान्ति, चिरन्तन सत्य और जन-कल्याणके लिये स्वस्तिकके उपासक भारतके चरणोंपर नत-मस्तक होकर हिंदू-संस्कृतिकी विजयके गीत गायेगा। भगवान् करें—दैवी शक्तिसे सम्पन्न विश्वका शान्तिदूत स्वस्तिक बने !

स्वस्तिक सनातन शास्त्रीय दृष्टिसे प्रणवका स्वरूप है। डा० जीवनजी जमशेदजी मोदीका कहना है कि सूर्यकी गतिसे स्वस्तिकका सम्बन्ध है । सूर्यकी विभिन्न गतियोंको सूचित करनेवाला यह चिह्न है । आदित्य, अग्नि, आरोग्य और आबादीका मूल स्वस्तिक है, यह पारसी धारणा है। श्री मेकेंजीने स्वस्तिकको अनेक भावनाओंका सूचक माना है। उनमें चतुर्वर्ण, अग्निके भाव भी माने गये हैं। चारों वर्ण, चारों आश्रम, चारों वेद, यज्ञ एवं यज्ञके चारों होता, उद्गाता आदि कर्ता तथा चारों अग्नि इससे सूचित होते हैं। पारसी पवित्र अग्निसम्बन्धी 'बुई' कृत्यका इसे प्रतीक मानते हैं; क्योंकि उसमें अध्वर्यु इसी आकारमें अग्निके चारों ओर घूमते हैं । इसे पारसी चारों दिशा एवं चारों समयकी प्रार्थनाका भी प्रतीक मानते हैं।

जैन अक्षत-पूजाके समय स्वस्तिक बनाकर उसके ऊपर तीन विन्दु बनाते हैं। ये स्वस्तिककी रेखाओंको चारों गति (देव, नरक, तिर्यक् एवं मनुष्य) का प्रतीक मानते हैं और विन्दुओंको रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) का । मध्य स्थानको वे मुक्तिका स्थान 'सिद्धिशिला' कहते हैं।

आकारमें सामान्य अन्तरसे स्वस्तिक, श्रीवत्स और नन्दावर्त—ये हिंदू-शास्त्रोंके भेद होते हैं इस चिह्नमें । पारसी इसे जिस रूपमें अङ्कित करते हैं, वह अपस्तिक कहा जाता है । प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें इसका एक और रूप मिलता है। स्वस्तिकके सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंने अनेक ग्रन्थ एवं निबन्ध लिखे हैं। कुछके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१. श्रीमती सिन्क्लेयर स्टिवेन्सन् (Mrs. Sinclair Stevenson) कृत The Heart of Jainism, पृष्ठ ५३, ५६, ९७, २५१ और २७९ ।

२. प्रो० हेल्मुथ ग्लाजेनप (Prof. Helmuth Glassenap) कृत जर्मन ग्रन्थ 'Der Jainismus' पृष्ठ ३६२ ।

३. श्री डब्ल्यू. एम. टीप (Mr. W. M. Teape) कृत The Secret Lore of India and the one perfect life for all.' पृष्ठ ११४ ।

४. श्रीमती ब्लैवेटस्की (Madame Blavatski) कृत 'Secret Doctrines' नामक पुस्तकमें स्वस्तिकका उल्लेख है।

५. श्रीबर्डउड् (Birdwood) कृत 'Swa' नामक पुस्तकमें ।

६. श्रीगेरिनो (Guerinot) कृत फ्रेंच ग्रन्थमें ।

७. श्री एल० डी० मिलो (L. D. Milloue) कृत 'Annales du Musc'e Ginmet' नामक फ्रेंच ग्रन्थमें।

८. श्रीकाउंट गोब्ले अल्वीला (Count Gobletd' Alviella) कृत 'The Migration of Symbols.

इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थ हैं, जिनमें स्वस्तिकपर अनुसन्धानपूर्ण लेख हैं। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओंमें भी बहुतसे महत्त्वपूर्ण लेख निकले हैं।

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात।
मन-मंदिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

शिखा-रहस्य

(लेखक—पं० श्रीसत्यनारायणजी मिश्र)

हिंदूजातिके प्रमुख सोलह संस्कारोंमें 'चूडाकरण' भी एक विशेष संस्कार है। इसी संस्कारमें आर्यजातिके प्रतीक अथवा मुख्य जातीय चिह्न 'शिखाधारण' का विधान है। इसके धारणसे आयु, तेज, बल, ओज और पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। 'चूडा क्रियते अनेन' अथवा 'चूडायाः करणम्' इस व्युत्पत्तिसे 'शिखा चूडा शिखण्डस्तु पिच्छबर्हे नपुंसके' इस अमरकोपके प्रमाणसे 'चूडा' शब्दसे शिखा ही अर्थरूपेण गृहीत है। पारस्कर, आश्वलायन, वैखानस, बौधायन, अग्निवेश्य, आपस्तम्ब और जैमिनीय आदि स्मार्त सूत्रग्रन्थोंमें चूडाकर्मके अन्तर्गत शिखा रखनेका स्पष्ट विधान मिलता है।

अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः स्यात्। यथर्षिः शिखा निदधातीत्येके।

—इत्यादि सूत्रोंमें चूडाकर्ममें शिखा रखनेका ही स्पष्ट उल्लेख है। आपस्तम्बने 'प्रतिदिशं वपति' कहकर शिखाके चारों ओर केशमुण्डनका निर्देश किया है। बौधायनने—

चौलवत्तूष्णीं केशान्नोप्य स्नातं शुचिवाससं बद्धशिखं यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्चन् वाचयति।

—इस सूत्रमें शिखा रखनेकी आज्ञा देते हुए क्षौरका विधान बतलाकर कुमारके लिये 'बद्धशिखम्' यह विशेषण देकर शिखास्थापनकी दृढ़ता सिद्ध की है। यद्यपि पारस्करगृह्यमतानुयायियोंके लिये 'मुण्डाश्च भृगवो मताः' इत्यादि प्रमाण प्राप्त होते हैं, तथापि 'यथा मङ्गलं केशशेषकरणम्' इस सूत्रके अनुसार वे भी मङ्गलसूचक शिखा धारण करते ही हैं। बहुत-से लोग अपने ऋषि, कुल और गोत्रके अनुकूल अनेक शिखाएँ रखते हैं; परंतु उनमें मध्य शिखाकी ही प्रधानता मानी गयी है, जैसा कि धर्मसिन्धुकारने कहा है—

मध्ये मुख्या एका शिखा अन्याश्च पार्श्वादिभागेष्विति यथाकुलाचारप्रवरसंख्यया शिखाश्चूडासमये कार्याः।

सिरके मध्यमें स्थित केश-समूह ही 'चूडा' कहलाता है। यही चूडा प्रधान शिखा मानी जाती है। वसिष्ठ गोत्रवाले मध्य शिखासे दक्षिण भागमें स्थित केश-समुदायको चूडा कहते हैं। अत्रि और कश्यप गोत्रवाले मध्यभागमें स्थित शिखाके उभय पार्श्व (अगल-बगल) में स्थित केशोंको शिखा कहते हैं—

मध्ये शिरसि चूडा स्याद् वासिष्ठानां तु दक्षिणे।
उभयोः पार्श्वयोरत्रिकश्यपानां शिखा मता॥

उपनयनकालमें मध्यशिखाके अतिरिक्त अन्य गौण शिखाओंके वपनका विधान 'निर्णयसिन्धु' में स्पष्टरूपसे पाया जाता है—

तासां मध्यशिखवर्जमुपनयने वपनं कार्यम्।

धर्मसिन्धुकारने भी—

उपनयनकाले मध्यशिखेतरशिखानां वपनं कृत्वा मध्यभाग एवोपनयनोत्तरं शिखा धार्या।

—इस उक्तिसे निर्णयसिन्धुकारके सिद्धान्तका ही समर्थन किया है। सन्ध्या करते समय अङ्गन्यासके अन्तर्गत आगमग्रन्थोंमें 'भुवः शिखायै वषट्' इस मन्त्रद्वारा चोटीमें दक्षिण हाथके अङ्गुष्ठस्पर्शका विधान देखा जाता है। इन प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि चूडाकरण-संस्कारमें शिखा रखकर ही अन्य केशोंका मुण्डन कराना चाहिये। महर्षि हारीत कहते हैं कि जो लोग मोह, द्वेष या अज्ञानसे शिखा काट देते हैं, वे तप्तकृच्छ्र व्रत करनेसे शुद्ध होते हैं—

शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥

'काठक गृह्यसूत्र' और 'कौथुमि शाखा'में तो यहाँतक उल्लेख है कि यदि कोई पुरुष प्रमादवश शिखासहित क्षौर करा ले, तो वह ब्रह्मग्रन्थियुक्त कुशकी शिखा बनाकर दाहिने कानपर तबतक रक्खे, जबतक बाँधनेके लायक शिखा न बढ़ जाय—

अथ चेत् प्रमादाच्छिशिखं वपनं स्यात् तत्र कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपरि आशिखाबन्धादवतिष्ठेत्।

इस उपर्युक्त दण्डविधानसे यह स्पष्ट प्रकट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको शिखा, सूत्र और हिंदूमात्रको शिखा अवश्य धारण करनी चाहिये। बिना यज्ञोपवीत और शिखाके हिंदुओंका किया हुआ सभी सत्कार्य व्यर्थ हो जाता है और वह राक्षस-कर्म कहलाता है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(देवलस्मृति)

विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम् ।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फलाः क्रियाः ॥
(व्यासस्मृति)

शिखाके साथ बल, वीर्य, आयुवृद्धि, तेज और पराक्रम-का गहरा सम्बन्ध है । इसीलिये हिंदुओंका यह सर्वोत्कृष्ट जातीय चिह्न माना गया है । जिस प्रकार फौजी सिपाहियोंका फौजी वेष वीरतासूचक, स्काउटोंका वेष स्फूर्तिसूचक, मुसल्मानोंकी दाढ़ी मुस्लिमपनकी सूचक और ईसाइयोंकी नेकटाई ईसाईमतकी सूचक है, ठीक उसी प्रकार हिंदुओंकी शिखा हिंदुत्वसूचक है । हिंदुत्वका प्रतीक यह शिखा जिसके सिरपर नहीं है, जिस हिंदूने प्रभावोत्पादक इस हिंदू-चिह्नको धारण नहीं किया, वह हिंदू 'शव'के समान है । सिरके मध्य-भागमें सुरक्षित, सुस्थिर शिखा चिरन्तन आर्यगौरव तथा हिंदुत्वकी द्योतक है । इसीलिये आर्यजातिके लिये शिखा रखना नितान्त आवश्यक है । हिंदूजाति ज्ञान-विज्ञानरूपी रससे परिपूर्ण एक घटके समान है । उस घटका वह रस, जिसके एक-एक कणसे विश्वके अनेक नदी और नदरूपी मत प्रादुर्भूत हुए हैं, ब्रह्मरन्ध्रद्वारा कहीं अन्तःस्थित निरन्तर विद्युत्प्रवाहसे प्रवाहित होकर बाहर निकल न जाय, अतः उसकी रक्षाके लिये इस चोटीरूपी ढक्कनका रखना परमावश्यक है ।

सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार पदार्थमात्रमें देव या प्राण-शक्ति मानी गयी है । इस स्थावर-जङ्गमरूप संसारमें देव या प्राणशक्तिसे व्याप्त कोई भी व्यक्ति किसी भी प्राणीके किसी भी योनिमें किये गये कर्मका प्रतिफल है, जो अपने कर्मानुसार उद्भिज-संसारमें लता-वृक्षादिके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं । उद्भिज-संसारके ये लता-वृक्षादि हमारी अतीत भुक्त योनिमें किसी समयके हमारे पूर्वज अवश्य हैं, जो स्वकर्मानुसार लता-गुल्मादिके रूपमें व्यवस्थित हैं । हमारी शिखा उद्भिज-संसार-का चिह्न है । नियमपूर्वक वेदादिके स्वाध्यायसे समुत्पन्न अमृत वायुवेगसे भी प्रबल तेजीसे शिखाके अधस्तलमें स्थित ब्रह्म-रन्ध्रमें कर्णिकाद्वारा प्रविष्ट होता है । वह अमृत अपने केन्द्रस्थान सूर्यमें मिलनेके लिये बाहर निकलना चाहता है, किंतु शिखासङ्घर्षसे टकराकर वापस लौट आता है । अमृतसे सङ्घर्षित होनेके कारण शिखामें अमृतका लेश रह जाना स्वाभाविक है । निम्नकोटिकी स्थावर-चेतन योनियाँ इस अमृततत्त्वको प्राप्तकर उत्तरोत्तर उच्च योनियोंको प्राप्त करती जायँ, इसीलिये हमारे पारदृश्वा महर्षियोंने देवर्षि-पितृतर्पणके साथ चित्ररूप शिखाके अमृतजलसे उद्भिज-संसारमें प्रादुर्भूत लता-गुल्मादिरूपी पितरोंको तर्पण करनेका आदेश दिया है—

लतागुल्मेषु वृक्षेषु पितरो ये व्यवस्थिताः ।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु मयोत्सृष्टैः शिखोदकैः ॥
(संस्कारगणपति)

वेदान्त और योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार शिखाका अधःस्थित भाग ब्रह्मरन्ध्र माना गया है । इस ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदल कमलमें अमृतरूपी ब्रह्मका स्थान है । विधि-पूर्वक किये गये वेदादिके स्वाध्याय और सविधि श्रौत-स्मार्त-कर्मानुष्ठानसे समुत्पन्न अमृततत्त्व अतिक्रान्त वायुवेगसे सहस्र-दल कर्णिकामें प्रविष्ट होता है । वह अमृततत्त्व सिरसे बाहर निकलकर ऊपरकी ओर अपने केन्द्रस्थान ऋग्यजुःसामस्वरूप सहस्ररश्मि सूर्यदेवमें मिलना चाहता है, परंतु शिखा रखनेसे वह अमृत शिखा-ग्रन्थिकी उलझनमें टकराकर सहस्रदलकी कर्णिकामें रह जाता है । यदि वेदाध्ययन या सत्कर्मानुष्ठान करते समय शिखा खुली रहती है तो वह अमृत शिखासे बाहर होकर पृथ्वीमें प्रविष्ट हो जाता है । शिखाके न रहनेपर वह अमृत सिरसे बाहर निकलकर ऊपरको उठता है, किंतु प्रबलशक्तिसम्पन्न न होनेके कारण वायुसे टकराकर वह अन्तरिक्षमें विलीन हो जाता है । फलस्वरूप अनियमित कालमें की गयी सन्ध्याकी तरह वह सत्कार्य विफल हो जाता है । इसीलिये मन्वादि धर्मशास्त्रकारोंने कहा है कि स्नान, दान, जप, होम, सन्ध्या, स्वाध्याय और देवार्चन करते समय शिखा-में ग्रन्थि अवश्य लगानी चाहिये—

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने ।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत् ॥

अस्तु, ऊपर बतलाया जा चुका है कि शिखाके निम्न-तलमें ब्रह्मरन्ध्र और उसके ऊपर सहस्रदल कमलमें परमात्मा-का केन्द्रस्थान है । वर्तमान विज्ञानके अनुसार शिखास्थान-के पीछे भीतर नीचेकी ओर ब्रह्मरन्ध्रके पीछे मस्तिष्कभागमें कामका केन्द्रस्थान है । इन उपर्युक्त दोनों स्थानोंमें गोखुर-प्रमाण शिखा रखनेसे आत्मिक शक्ति सुरक्षित रहती है और चिन्ताशक्ति (कामोद्रेकशक्ति) दबी रहती है । फलस्वरूप मनुष्य अपनी कामशक्तिको यथासाध्य दबाकर आध्यात्मिक जगत्में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ शिखाद्वारा व्यापक ब्रह्मकी यथेष्ट शक्तिका आकर्षण करता है । वैदिक विज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि सर्वव्यापी परेश परमात्माकी अप्रमेय शक्तिको आकृष्ट करनेका सर्वोत्तम साधन शिखा-धारण है । (सिद्धान्त)

शङ्खध्वनि और घण्टानाद

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

शङ्ख

शङ्ख हिंदूधर्मके पावनतम प्रतीकोंमें है । हिंदू-देवमन्दिरमें श्रीविग्रहके सम्मुख शङ्खकी उपस्थिति सर्वत्र समानरूपसे पायी जाती है । सभी मङ्गल-कार्यांमें शङ्खध्वनि परम मङ्गलमय समझी जाती है और युद्धमें तो शङ्खनाद उसके प्रारम्भका सूचक है ही । भारतवर्ष अनादि कालसे शङ्खसे परिचित है । 'यजुर्वेद-संहिता' के अध्याय ३० में 'शङ्खध्म' शब्द आता है । अथर्ववेद-संहिता, बृहदारण्यक उपनिषद् आदि श्रौतग्रन्थोंमें शङ्खके पर्याप्त प्रसङ्ग हैं । शङ्ख बजानेके साथ 'कौशिकसूत्र' में आयुवृद्धिके लिये बालकके शरीरमें अभिमन्त्रित शङ्ख बाँधनेका भी विधान है । 'नक्षत्र-कल्प' (१० । २) में शङ्खकी समुद्रसे उत्पत्ति बताकर वहीं 'शङ्खकृशानः पात्वंहसः' आदि सूत्रोंसे शङ्खको पापहारी, रक्षोघ्न, मुख्यरत्न, महौषध तथा दीर्घायुःप्रद बताया गया है । अथर्ववेदमें शङ्खोंके उत्पत्ति-स्थान, गुण एवं महत्त्वका वर्णन है ।

शं खनति—जनयति, अर्थात् जो कल्याणको उत्पन्न करता और अलक्ष्मीका शमन करता है, उसे शङ्ख कहा जाता है; 'शङ्ख' शब्दका यह अर्थ कोषकारोंने किया है । अमृत-मन्थन-के समय समुद्रसे जो चौदह रत्न निकले, उनमें शङ्ख भी एक है और उसकी महत्ता इसीसे ज्ञात है कि भगवान् विष्णु उसे नित्य धारण करते हैं ।

देव-पूजनमें शङ्खका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । 'वाराहपुराण' का आदेश है कि विना शङ्खध्वनि किये देव-मन्दिरका द्वार नहीं खोलना चाहिये । जो मनुष्य शङ्खादिकी ध्वनि किये विना भगवान्को जगा देता है, वह जन्मान्तरमें बहरा होता है । विना शङ्ख बजाये भगवान्को जगाना, यह विष्णुपूजाके बत्तीस अपराधोंमेंसे एक अपराध है । 'बृहन्नारदीय-पुराण' के अनुसार देवमन्दिरमें शङ्खध्वनि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है ।

> शङ्खमध्यस्थितं तोयं भ्रामितं केशवोपरि ।
> अङ्गलग्नं मनुष्याणां ब्रह्महत्यायुतं दहेत् ॥

'शङ्खमें स्थित जल भगवान् श्रीकेशवके ऊपर घुमाकर छिड़कनेसे उस जलके छींटे जिनके ऊपर पड़ते हैं, उनके सहस्रों ब्रह्महत्याके दोष नष्ट हो जाते हैं ।' आरतीके पश्चात् शङ्खसहित भगवान्के ऊपर घुमाकर छिड़के हुए जलके छींटोंका यह महत्त्व तो पुराणोंमें है ही; साथ ही शङ्खमें जल लेकर भगवान्को अर्घ्य देने तथा शङ्खमें जल या दूध लेकर भगवान्को स्नान कराने, शङ्खमें चन्दन रखकर भगवान्को चढ़ानेका तथा शङ्खमें लेकर भगवान्को चढ़ाये हुए जल (चरणोदक) को पीनेका पुराणोंमें बहुत अधिक माहात्म्य बताया गया है । इसी प्रकार सभी देवताओंके पूजनमें शङ्खके जलसे अर्घ्य देने तथा स्नानादि करानेकी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है । भगवान् शङ्कर और सूर्यके पूजनमें शङ्खका उपयोग वर्जित है; किंतु उनके मन्दिरमें और पूजनके समय शङ्ख बजानेका बहुत अधिक माहात्म्य बतलाया गया है ।

देवपूजाके पूर्व शङ्खकी पूजाका विधान है । भगवान् विष्णु या शालग्रामजीके पूजनमें शङ्खका होना आवश्यक माना गया है । महर्षि शौनकका मत है कि शङ्खको भूमिपर नहीं रखना चाहिये । उसे सदा आठ बार गायत्रीसे अभिमन्त्रित करके त्रिपदी (शङ्ख रखनेकी तिपाई) पर रखना चाहिये; क्योंकि शङ्ख वेदरूप है, वेदमय है । शङ्खके दर्शनसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं । गरुडपुराणने शङ्खको सर्वतीर्थमय बतलाया है । शङ्खको जलसे अस्त्र-मन्त्र (फट्) द्वारा बाहरसे धोना चाहिये । कवच-मन्त्र (हुम्) द्वारा भीतरसे धोना चाहिये और हृदय-मन्त्र (नमः) द्वारा उसमें जल भरकर गन्धादिसे उसका पूजन करके स्तुति करनी चाहिये ।

> **पाञ्चजन्याय विद्महे पावमानाय धीमहि । तन्नः शङ्खः प्रचोदयात् ॥**

यह शङ्ख-गायत्री है । शङ्ख-पूजनमें इसका उपयोग होता है । इस मन्त्रके अतिरिक्त शङ्खमुद्रा*से शङ्खको अभिमन्त्रित करनेका विधान है । यह शङ्खमुद्रा भगवान् विष्णुकी उन्नीस मुद्राओंमें प्रमुख मुद्रा है । 'तत्त्वसार' ने शङ्खको ज्ञानप्रद बतलाया है ।

शङ्ख भगवान् विष्णुका तो नित्यायुध है ही; उनके सभी अवतार-विग्रहोंका तथा सूर्य, महागणपति, कार्तवीर्य आदि

* दाहिने हाथकी मुट्ठीसे बायें हाथके अँगूठेको पकड़कर बायें हाथकी अँगुलियोंको सटाकर सामने फैलाकर उनके द्वारा दाहिने हाथके सामने फैले अँगूठेको स्पर्श करनेसे शङ्खमुद्रा बनती है ।

देवविग्रहों एवं गायत्री, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती प्रभृति सभी शक्ति-विग्रहोंका भी निजायुध है। सभी देवता शङ्खकी कामना करते हैं, इसीसे इसे 'कम्बु' कहा जाता है। भगवान् विष्णुका शङ्ख तो वेदमय ही है। भगवान्ने पाँच वर्षके बालक ध्रुवके कपोलका अपने शङ्खसे स्पर्श कर दिया; फलतः ध्रुवको परमात्मज्ञान तत्काल प्राप्त हो गया। गोपाल-तापनीय उपनिषद्के अनुसार श्रीकृष्णचन्द्रका पाञ्चजन्य शङ्ख पञ्चभूतात्मक रजोगुणरूप है। कृष्णोपनिषद्ने तो शङ्खको साक्षात् महालक्ष्मीका स्वरूप बताया है। महालक्ष्मी और शङ्ख एक साथ एक ही क्षीरसागरसे प्रकट हुए हैं, अतः दोनोंका एकत्व स्वतः सिद्ध है। तारसारोपनिषद्के अनुसार श्रीरामावतारमें श्रीभरतलालजीके रूपमें ही भगवान्के शङ्खका प्रादुर्भाव हुआ है।

शङ्ख-चिह्नाङ्कित शालग्राम-शिलामें श्रीलक्ष्मीजीका निवास शास्त्रोंने बताया है। भगवान् विष्णुके पूजनकी समस्त सामग्रीको शङ्खमें रक्खे जलसे प्रोक्षित करनेका विधान है और विष्णु-पार्षदोंमें विष्णुयन्त्रके आग्नेयकोणमें सर्वप्रथम शङ्ख-पूजनका आदेश है। देवपूजा और देवयात्रामें शङ्खनादका अपार महत्त्व है। सूर्य-मन्दिरमें दीर्घ नादवाले शङ्खको चढ़ानेका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति बताया गया है। सूर्य-मन्दिरमें शङ्खदानका महत्त्व सभी दानोंसे श्रेष्ठ बताया गया है। देवीपुराणमें शङ्खकी सूर्यमूर्ति बनाकर उसकी पूजाका विधान है। इसी प्रकार देवी-पूजन तथा भगवान् ब्रह्माके पूजनमें भी शङ्खका महत्त्व शास्त्रोंमें वर्णित है। इन सभी वर्णनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राचीन कालसे हिंदुओंके धार्मिक आराधनादि कार्योंके साथ शङ्खका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। देवाराधनके अतिरिक्त यज्ञमें भी शङ्खध्वनिका बड़ा महत्त्व है और योगमें 'अनाहतनाद' शङ्खके शब्दकी भाँति ही सुनायी पड़ता है, यह योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर बताया गया है।

भारतीय जीवनमें शङ्खका स्थान केवल आराधनातक ही सीमित नहीं है। वह तो सदासे हिंदू-जीवनका अङ्ग है। राजनैतिक जीवनमें शङ्ख युद्धकी घोषणा तथा विजयकी सूचना दोनोंका प्रतीक है। प्राचीनकालमें प्रत्येक योद्धा अपने साथ सदा शङ्ख रखता था। सबके शङ्खोंके पृथक्-पृथक् नाम होते थे तथा सबके शङ्ख-वादनके विभिन्न प्रकार होते थे। भगवान् श्रीकृष्णके शङ्खका नाम पाञ्चजन्य था। गुरुपुत्रको ढूँढ़ते हुए समुद्रमें प्रवेश करके वहाँ पञ्चजन नामक दैत्यको मारकर उसके शरीरसे यह शङ्ख भगवान्ने ग्रहण किया था। अर्जुनके शङ्खका नाम देवदत्त था। इसी प्रकार अनेक शङ्खोंके नाम महाभारतमें हैं। शङ्ख-धारणके कारण भगवतीका एक नाम ही 'शङ्खिनी' पड़ गया है। देवासुर-संग्राम, दुर्गा-असुर-युद्ध, महाभारत तथा दूसरे सभी युद्धोंमें शङ्ख-नाद या तो युद्धारम्भ, युद्धाह्वानका सूचक है या युद्धमें विजयका। शङ्खचूडनामक दैत्यको मारकर भगवान् शङ्करने उसकी हड्डियाँ समुद्रमें फेंक दीं, उन्हीं अस्थियोंसे नाना प्रकारके शङ्ख उत्पन्न हुए। इसीसे शिवपूजामें शङ्खसे जल चढ़ाना वर्जित है। शेष सभी देवताओंको शङ्खोदक अत्यन्त प्रिय है। शङ्ख भारतका पुरातन राष्ट्रिय वाद्य है और वह सदा मङ्गलका प्रतीक माना गया है।

शङ्खका उपयोग यहींतक सीमित नहीं है। माला बनानेकी अनेक वस्तुओंमें शङ्खका नाम भी है। छोटे शङ्खोंकी माला बनती है। इस मालाके द्वारा जप करनेसे धन और कीर्ति प्राप्त होती है, यह रुद्रयामलका मत है। तन्त्रोंमें और भी कई सकाम अनुष्ठानोंमें शङ्खकी मालापर जप करनेका आदेश है। शङ्खकी माला और शङ्खकी चूड़ियाँ आभूषणोंके काम आती हैं। बंगालमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनी जाती हैं। ज्यौतिषके ग्रन्थोंमें शङ्ख-धारणके मुहूर्त बताये गये हैं। औषधके रूपमें भी शङ्खका उपयोग अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है। औषधमें श्वेत शङ्ख उत्तम माना गया है। गण्डमाला रोगमें शङ्ख घिसकर लगानेसे लाभ होता है, यह बताया गया है। ग्रह तथा अलक्ष्मीकी पीड़ा, क्षय, कृशता, विष तथा नेत्ररोगोंपर शङ्खको लाभदायी कहा गया है। यह शूल, गुल्म, संग्रहणी, दन्तरोग, आँखकी फूली और फोड़ोंको नाश करता है। शोधनादि करके शङ्ख-भस्म बनायी जाती है। सामुद्रिकशास्त्रमें भी शङ्खाकृति, शङ्खरेखादिका बड़ा विशद वर्णन है।

रत्न-शास्त्रोंमें हाथी, सर्प, मछली, बर्र, बाँस, सीप, सूअर तथा मेघकी भाँति शङ्खसे भी मोती निकलनेका वर्णन आता है। इस मोतीका रंग कुछ काला और आकार कबूतरके अंडेके समान बताया गया है। यह अनन्त ऐश्वर्यप्रद है और बहुत बड़ी तपस्याके फलरूपमें प्राप्त होता है। स्वयं शङ्खकी गणना रत्नोंमें है। यह हलके गुलाबी रंगका या सफेद होता है। गोलाई, चिकनापन और निर्मलता—ये शङ्खके तीन गुण हैं। भीतरके आवर्तमें यदि कोई खण्डित हो तो सोना लगा देनेसे वह दोष दूर हो जाता है। खुरदरे, बहुत भारी

तथा बेडौल शङ्ख निकृष्ट माने जाते हैं । नदी और समुद्रमें जो छोटे शङ्ख होते हैं, उन्हें शङ्खनख कहा जाता है । शङ्खके दो भेद मुख्य हैं—वामावर्त और दक्षिणावर्त । सामान्यतः वामावर्त शङ्ख ही पाये जाते हैं । दक्षिणावर्त शङ्ख थोड़े मिलते हैं और बहुत दामोंमें बिकते हैं, अतः लोग अब नकली दक्षिणावर्त शङ्ख भी बनाने लगे हैं । ठीक दक्षिणावर्त शङ्खके उस छिद्रको जिसे मुखपर लगाकर बजाया जाता है, यदि कानपर लगाया जाय तो बड़ी मधुरध्वनि सुनायी पड़ती है । दक्षिणावर्त शङ्ख अत्यन्त पुण्यप्रद माना जाता है । उसमें जल लेकर अर्घ्य देनेका बड़ा माहात्म्य शास्त्रोंने बताया है ।

शङ्खका दर्शन और यात्राके समय शङ्खध्वनि मङ्गलसूचक मानी जाती है । शङ्खध्वनिसे संक्रामक रोगोंके जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, यह कुछ वर्तमान चिकित्सकोंका मत है । शङ्ख भगवान् विष्णुका आश्रय हैं; अतः जहाँ शङ्ख रहता है, वहाँ भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मीजीका निवास रहता है । स्त्री और शूद्रोंके लिये शङ्ख बजानेका निषेध है । वे यदि शङ्ख बजाते हैं तो लक्ष्मी रुष्ट होकर वहाँसे भाग जाती हैं, यह ब्रह्मवैवर्त-पुराणका आदेश है ।

शङ्खका उपयोग केवल भारतमें ही भले होता रहा हो; परंतु इसी प्रकारके वाद्योंका उपयोग अन्य देशोंके भी इतिहास-में पाया जाता है । आस्ट्रेलिया और पोलीनेशिया द्वीपके निवासी शङ्खके बदले 'टिटनटोनिस' नामक एक प्रकारके शम्बूक (घोंघे) को काटकर शङ्खकी भाँति बजाते थे । इसी प्रकार पाश्चात्त्य सभ्य जातियोंमें भी 'बुक्सिनम् व्हेल्क' नामक शम्बूक बजानेकी प्रथा है ।

घण्टा-नाद

प्रातःकाल मन्दिरोंसे उठनेवाली दीर्घ प्रणव-नाद-सी सुमधुर घण्टा-ध्वनि भारतीय हिंदू-कर्णोंके लिये अनादिकालसे परिचित एवं प्रिय है । देवपूजनमें घण्टा या छोटी घण्टीका नाद आवश्यक माना गया है ।

स्नाने धूपे तथा दीपे नैवेद्ये भूषणे तथा ।
घण्टानादं प्रकुर्वीत तथा नीराजनेऽपि च ॥

(कालिकापुराण)

'देवताके श्रीविग्रहके स्नान, धूपदान, दीपदान, नैवेद्य-निवेदन, आभूषणदान तथा आरतीके समय भी घण्टानाद करना चाहिये ।' भगवान्‌के आगे पूजनके समय घण्टा बजाने-से उत्तम फलकी प्राप्ति होती है, यह शास्त्रका आदेश है । घण्टा घनवाद्यमें माना गया है । कांस्यताल (झाल), ताल (मजीरा), घटिका (घड़ियाल), जयघण्टिका (विजयघण्ट), क्षुद्रघण्ट (पूजाकी घण्टी) और क्रम (लटकनेवाला घण्ट) —ये घण्टाके भेद हैं और इनमेंसे प्रायः सभीका मन्दिरोंमें उपयोग होता है । छोटे घण्टे (पूजाकी घण्टी) को पकड़कर बजानेके लिये ऊपरकी ओर धातुमय दण्ड होता है । उसमें ऊपरकी ओर गरुड़, हनुमान्, चक्र या पाँच फणोंके सर्पकी आकृति होती है । इन मूर्तियोंमेंसे किसी एकके घण्टादण्डपर रखनेका विधान है और उसका महत्त्व भी है । लटकनेवाले घण्टेपर देवताओंके नाम-मन्त्रादि अङ्कित करनेकी विधि है । भगवान्‌की मूर्तिके आगे शङ्खके साथ छोटी घण्टीका रखना आवश्यक बताया गया है । इस घण्टीकी पूजाका भी विधान है । गरुड़की मूर्तिसे युक्त घण्टीका बड़ा महत्त्व बताया गया है । जहाँ यह घण्टी रहती है, वहाँ सर्प, अग्नि तथा बिजलीका भय नहीं होता ।

देव-मन्दिरमें घण्टानाद करना अत्यन्त पुण्यप्रद बताया गया है । 'मरते समय जो चक्रयुक्त घण्टानाद सुनता है, उसके समीप यमदूत नहीं आते ।' यह स्कन्दपुराणका वचन है । इस प्रकार पुराणोंमें घण्टानादका व्यापक माहात्म्य वर्णित है । देव-मन्दिरको दुन्दुभिनाद अथवा शङ्खनाद करके ही खोलना चाहिये । बिना दुन्दुभिनाद, शङ्खनाद आदिके मन्दिर-द्वार खोलनेसे अपराध बताया गया है; किंतु यदि ये वाद्य न हों तो केवल घण्टानाद करके या घण्टी बजाकर द्वार खोलना चाहिये । घण्टा सर्ववाद्यमय एवं समस्त देवताओंको प्रिय है । हृदयमन्त्र (नमः) या अस्त्रमन्त्र (फट्) से घण्टा-पूजन करके उसे बजाना चाहिये । केवल देवी-पूजनके समय प्रणवयुक्त 'जयध्वनिमन्त्रमातः स्वाहा' इस मन्त्रसे घण्टा-पूजन-की विधि है । सिद्धि चाहनेवालेको बिना घण्टीके पूजा नहीं करनी चाहिये । 'हलायुध'ने श्रीशालग्रामजीके पादोदकके लिये आठ अङ्ग आवश्यक बतलाये हैं—१–शालग्रामशिला, २–ताम्रपात्र, जिसमें शालग्रामजी विराजें, ३–जल, ४–शङ्ख, जिससे स्नान कराया जाय, ५–पुरुषसूक्त, ६–चन्दन, ७–घण्टी, ८–तुलसी । पूजाके समय घण्टीको वाम-भागमें रखना चाहिये और बायें हाथसे नेत्रोंतक ऊँचा उठाकर बजाना चाहिये ।°

भगवान् विष्णुको तो घण्टा प्रिय है ही, भगवान् शङ्कर तथा भगवती एवं दूसरे सभी देवताओंको वह अत्यन्त प्रिय है । शिवमन्दिर तथा दूसरे मन्दिरोंमें भी बड़े-बड़े घण्टे चढ़ाने, लटकाने तथा उन्हें बजानेका माहात्म्य पुराणोंमें बहुत अधिक है । घण्टेकी ध्वनि देवताओंको प्रसन्न करने-

वाली, असुर-राक्षसादि अपकार-कर्ताओंको भयभीत करके भगा देनेवाली, पापनिवर्तक एवं अरिष्टनाशक बतायी गयी है। भगवतीके दशभुजादि रूपोंमें घण्टा उनके करोंके आयुधोंमें है। अनेक कामनाओंकी पूर्ति तथा अरिष्टोंकी निवृत्तिके लिये विविध मुहूर्तोंमें मन्दिरमे घण्टा चढ़ानेका विधान पाया जाता है। देवपूजा, देवयात्रामें तो घण्टा-नादका वर्णन है ही, पितृ-पूजनमें भी घण्टानादकी विधि है। कुछ तन्त्रग्रन्थोंमें अपने रहनेके घरमें भी घण्टा बाँधने और उसका नाद सुननेका आदेश है। घण्टानाद मङ्गलमय है।

पूजनके अतिरिक्त हाथियोंके गलेमें घण्टा बाँधनेकी प्रथा-का उल्लेख सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। सेनामें या जहाँ भी हाथी चलें, उनके घण्टेकी ध्वनिका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। रथ, छकड़ों आदिमें क्षुद्रघण्टिकाका वर्णन भी मिलता है। गायों, बछड़ों, साँड़ों आदिके गलेमें घण्टा बाँधनेका कौटिल्यने विधान किया है। इससे उनके चरनेका स्थान ज्ञात होगा और वन्यपशु उस ध्वनिसे डरकर भाग जायँगे। श्रीशुक्राचार्यजीने नीतिसारमें पहरेदारका एक काम यह भी बताया है कि वह समयपर घण्टा बजाया करे। यह प्रथा अब भी सर्वत्र प्रचलित है।

हिंदुओंके अतिरिक्त बौद्ध, जैन तो घण्टेका उपयोग करते ही हैं, ईसाई-धर्ममें भी इसका बड़ा महत्त्व है। भारतके अतिरिक्त बर्मा, चीन, जापान, मिस्र, यूनान, रोम, फ्रांस, रूस, इंग्लैंड आदिमें भी घण्टेका व्यवहार प्राचीन कालसे है। जैन-बौद्ध मन्दिरोंमें भी घण्टा लटकाया जाता है, जिसे लोग आते-जाते बजाया करते हैं। बर्मामें घण्टेमें लटकन नहीं होती। वह हरिणके सींग या हथौड़ीसे बजाया जाता है। बर्मा आदिमें बहुत बड़े घण्टोंका प्रचार है। रंगूनके 'श्वेदागुन' मन्दिरमें ११५४ मन १५ सेरका घण्टा है। मेंगूनका घण्टा १८ फुट ऊँचा और लगभग २५०० मनका है। चीनकी प्राचीन राजधानी पेकिंगके एक छोटे मठमें १४४७ मन २२ सेरका घण्टा है। और उसपर चीनी भाषामें बौद्धधर्मके उपदेश खुदे हैं। इसी नगरमें सात घण्टे हैं, जिनमेंसे प्रत्येकका बोझ १३६५ मनके लगभग है।

मिस्र और यूनानमें भी प्राचीन कालमें घण्टेका प्रचार था। मिस्रमें 'ओरिसिसका भोज' नामक उत्सवकी सूचना घण्टा बजाकर दी जाती थी। यहूदियोंके प्रधान याजक 'आरत' अपने कुर्तेमें छोटी-छोटी घण्टियाँ सिलवाते थे। यूनानके सैनिक शिविरोंमें घण्टा बजता था। रोममें घण्टा बजाकर स्नानादिकी सूचना देनेकी प्रथा थी। कैम्पानियामें पहले-पहले बड़ा घण्टा बना और उसे 'कैम्पना' नाम दिया गया। इसीसे गिर्जाघरोंके उन बुर्जोंको, जिनमें बड़े घण्टे टँगे रहते हैं, 'कम्पेनाइल' कहते हैं। गिर्जाघरोंमें प्रार्थनाके समयकी सूचना घण्टा बजाकर दी जाती है। गिर्जाघरोंके कुछ घण्टे विशालताके लिये विश्वमें प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे रूसके मास्को नगरमें १७०६ घण्टे थे। इनमें एक ३६०० मनका था। इसकी लटकन हिलानेके लिये २४ आदमी लगते थे। एक बार गिरकर यह टूट गया और तब सन् १७९१ में ८ लाख ७१ हजार रुपये लगाकर फिर ढाला गया। इस बार यह ६० फुट ९ इंच घेरेका, २ फुट मोटा और ४२८६ मन वजनका बना। तबसे इसका नाम 'घण्टराज' पड़ गया। इसका एक भाग कुछ टूट गया है, जिससे उसमें दरवाजा-सा बन गया है। यह घण्टा आजकल 'छोटा गिर्जा' कहा जाता है। इसका टूटा अंश ही ११ मनका है। ईसाई भी प्राचीन कालसे घण्टेको पवित्र मानते आये हैं। घण्टा बनाते समय वे अनेक धार्मिक क्रियाएँ करते थे। बन जानेपर घण्टेका बपतिस्मा और नामकरण होता था। घण्टेपर वे पवित्र मन्त्र खुदवाते हैं। उनका विश्वास था कि घण्टेकी ध्वनिसे आँधी, बीमारी, अग्निभय आदि दूर होते हैं। संवत् १९०९ विक्रममें जब माल्टामें भयङ्कर आँधी आयी, तब वहाँके बिशपने समस्त गिर्जाघरोंमें घण्टा बजानेका आदेश भेजा। आँधी बंद करनेके लिये सब घण्टे कई घंटे लगातार बजते रहे। पहले किसीकी मृत्युके समय घण्टा बजानेकी प्रथा ईसाइयोंमें थी, पर वह धीरे-धीरे मृत्युसे एक घण्टे पूर्व बजानेकी हो गयी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि घण्टा-नादसे मृतककी देह पवित्र हो जाती है और पिशाचादि भाग जाते हैं। कहीं-कहीं अब भी मृतकके श्मशान पहुँचने तथा अन्त्येष्टि पूरी होनेतक घण्टी बजायी जाती है। गिर्जाघरोंमें प्रार्थना समाप्त होनेपर भी घण्टा बजता है। अन्तमें गिर्जाघरोंके घण्टेसे मृदु सङ्गीत-ध्वनि निकालनेका प्रयत्न हुआ। एक या अनेक घण्टोंकी ध्वनिसे सुस्वर सङ्गीत उत्पन्न किया जाता है। इंग्लैंड-फ्रांसादिमें ऐसे घण्टे हैं। भारतकी भाँति यूरोपमें भी प्राचीन समयसे घोड़ों तथा दूसरे पशुओंके गलेमें घण्टा बाँधनेकी प्रथा मिलती है, इससे भटके पशु सरलतासे खोज लिये जाते हैं। इस प्रकार मुसल्मानोंको छोड़कर प्रायः सभी धर्मों और देशोंमें घण्टा बजानेकी प्रथा है और उसके नये-नये उपयोग बढ़ते जा रहे हैं। इतिहासके विद्वानोंकी धारणा है कि यह प्रथा भारतसे ही संसारमें फैली है।

संस्कृतिके प्रेरक

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'जय एकलिङ्ग !'

'जय एकलिङ्ग !' स्वभाववश प्रतिध्वनिकी भाँति कण्ठसे गम्भीर उत्तर निकलते-न-निकलते महाराणा अस्त-व्यस्त गुफा-द्वारकी ओर दौड़े। यह चिरपरिचित स्वर, नाभिसे उठनेवाली परा वाणीका यह जयघोष राजस्थानके आराध्य चरणोंको छोड़कर दूसरे कण्ठसे निकल नहीं सकता। द्वारपर दण्डकी भाँति महाराणा पृथ्वीपर सवेग प्रणत हुए। उनका स्वर्ण-मुकुट पाषाणपर घर्षित होकर झङ्कृत एवं कान्तिमान् हो गया। जैसे विनतने अपनी शुभ्रता व्यक्त कर दी हो।

'कल्याणमस्तु !' महाराणाके मस्तकपर जो वली-पलित कर आशीर्वाद देने फैल गया था, उसकी दिव्य छाया सुरपतिके लिये भी स्पर्धाकी ही वस्तु रहेगी।

'गुरुदेव !' पतिके चरणोंसे तनिक हटकर जीर्ण मलिन वस्त्रोंमें चित्तौड़की अधिष्ठात्रीने अपने यशोधवल भालसे भूमिका स्पर्श किया।

'सौभाग्यवती हो वीरमातः !' वृद्ध कुलगुरुकी दृष्टि नन्हे अमरकी ओर थी, जो उनके चरणोंपर मस्तक रखकर शीघ्रतासे गुफामें भाग गया था और अब एक नारिकेल-पात्रमें जल लिये आ रहा था।

'तू क्या कर रहा है ?' स्नेहसे गुरुदेवने पूछा।

'अर्घ्य दे रहा हूँ !' बालकने अपनी तोतली वाणीसे बताया। वह जलकी धारा गिराकर पात्र रिक्त कर चला था। वृद्धने स्नेहसे उसे खींच लिया। वे उसके मस्तकको वात्सल्यसे सूँघ रहे थे।

'प्रभु पधारें !' एक शिलापर महारानीने कुछ तृण बिछा दिये थे और बड़ी कठिनाईसे उनके भरे कण्ठसे ये शब्द निकलते थे। आज राजस्थान-सम्राट्के समीप दूसरा पात्र भी नहीं कि उससे कुलगुरुके चरणोदकका सौभाग्य प्राप्त हो। महारानीकी चिन्ता व्यर्थ नहीं थी; परंतु गुरुदेवके पादपद्म तो हिंदूकुलसूर्यने अपने नेत्रोंके जलसे धो दिये थे।

एक युग था। मानवको किसी उपकरणकी आवश्यकता नहीं थी। वह भगवती महाशक्तिकी खुली गोदमें निरन्तर महेश्वरका ध्यान करता था। उसके अन्तरकी श्रद्धा ही आराध्यका पूजोपकरण बनती और अतिथिका सत्कार। कुलगुरुने आसन स्वीकार कर लिया था। बालक अमर अभी उनकी गोदमें ही था। महाराणा उनके चरणोंके समीप मस्तक झुकाये हाथ जोड़े बैठे थे और बिना पीछे देखे भी वे जानते थे कि उनकी सहधर्मिणी उनकी ओटमें अपने अश्रु-प्रवाहको छिपानेका असफल प्रयास कर रही हैं।

'प्रताप !' तुम्हारे त्यागने सत्ययुगकी उस सात्त्विकताको यहाँ साकार कर दिया है !' ब्राह्मणके दीप्त भालकी ज्योति दुगुनी जगमगा उठी। उनके नेत्र अर्धोन्मीलित हुए और निर्वात दीपशिखाकी भाँति उनका निष्कम्प चित्त महेश्वरके ध्यानमें एकाग्र हो गया।

'सृष्टिके आदिमें कुलपुरुष भगवान् भास्करने जिनकी आत्मरूपसे आराधना की, पितामह वैवस्वतसे लेकर रघुवंशके आराध्य भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने राजसूय-अश्वमेधादि महामहायज्ञोंसे जिनकी अर्चा की, वे साक्षात् भगवान् वैश्वानर पधारे हैं, देवि !' महाराणाने पीछे देखा। उन्होंने सङ्केतसे ही पुत्रको गुरुदेवकी गोदसे नीचे बुला लिया था।

'अपने कंगाल कुटीरमें आज समिधाएँ भी कहाँ हैं !' राजमहिषीकी वेदना दूसरा कोई कैसे समझेगा। महीनोंसे महाराणा प्रातःकालीन हवन समिधाओंसे ही सम्पन्न कर रहे हैं। इस वनमें शाकल्य और घृत कहाँ। आज साक्षात् अग्नि-स्वरूप गुरुदेव पधारे हैं; परंतु गुफामें तो सूखी समिधाएँ भी नहीं हैं। केवल जलसे अपने कुलगुरुकी अर्चना पूरी करनी है। और वह भी उसे, जो चित्तौड़का राजमुकुट सिरपर धारण करता है। दैव !·······।

'प्रताप ! धन्य हो तुम !' गुरुदेवके नेत्र कुछ क्षणोंमें ही खुल गये। 'तुम्हें स्मरण है न—प्रत्येक कुम्भपर्वपर तीर्थकी पावनभूमिमें भारतके सम्राट् अपना सर्वस्व दान कर दिया करते थे ! एक ऐसे ही समय, जब महाराज रघुके समीप एक ऋषिकुमार पहुँचे, महाराजके समीप पाद्य एवं अर्घ्यके लिये केवल मृत्तिकाके पात्र थे !'

'गुरुदेव ! महाकवि कालिदासकी वाणी जिस यशोगानसे परिपूत हुई है, उसे कैसे विस्मृत किया जा सकता है; किंतु प्रतापका सर्वस्व क्या ? कंगाल है वह।'

'राणा ! धर्मके सङ्कटकी पुण्यतिथिमें जिसने अपने सर्वस्वकी आहुति दे दी है, उस कंगालकी यशोगाथासे कवियोंकी वाणी पावन होगी ! मैं आज चक्रवर्ती रघुके उस यज्ञान्तका स्मरण कर रहा हूँ।'

'देव ! सन्तोष भी जिनके श्रीचरणोंसे प्रेरणा प्राप्त करता है, उनकी शाश्वत तुष्टिमें बाधा दे सके, ऐसी शक्ति कहाँ है !' महाराणाकी वाणी आगे कुछ कह न सकी; किंतु उनकी दृष्टि उस रिक्त नारिकेल जलपात्रपर थी, जो औंधा पड़ा था और वह दृष्टि अपनी व्यथा सुनानेके लिये वाणीकी अपेक्षा नहीं करती थी।

[२]

'जय एकलिङ्ग !' एक वन्य भीलने भूमिपर लेटकर प्रणाम किया और एक भूर्जपत्र आगे बढ़ा दिया। इस गुफामें इन निष्काम सेवकोंका प्रवेश अबाध है। अन्ततः इन्हींकी सेवा तो महाराणाको यहाँ निरापद रखती है।

'जय एकलिङ्ग !' महाराणाके कण्ठसे बड़ी कठिनतासे यह ध्वनि इधर निकलती है। वे इसके साथ ही चौंक पड़े। पत्रको ध्यानसे देखा, जैसे वह कोई विषैला जन्तु हो। 'पत्रमें पाँच तहें हैं, पाँच ही बार उनपर सूत्र लपेटा गया है। सूत्र भी पीत है, श्वेत नहीं। तब पत्र किसी अपने अनुचरका है।' दाहिने हाथमें पत्र ले लिया उन्होंने।

'एक राजपूतने दिया है ! वह उत्तरकी प्रतीक्षा करेगा घाटीके उस पार ! कहता था, दिल्लीसे आया है !' भीलके स्वरमें घृणा, तिरस्कार, उपेक्षा, उत्कण्ठा—पता नहीं क्या-क्या थी। वह स्थिर दृष्टिसे राणाकी ओर देख रहा था।

'दिल्लीसे आया है !' राणा चौंके। पत्र हाथसे छूट गया।

'दिल्लीसे पत्र !' महारानीने सुना और पास आ गयीं। उनके नेत्रोंमें विस्मय था।

'उस दिन वन-बिलावने तुम्हारी घासकी रोटी कुमारके हाथसे छीन ली और वह क्रन्दन कर उठा !' महाराणा नीचे गिरे पत्रकी ओर मस्तक झुकाये स्थिर देख रहे थे।

'रहने भी दीजिये ! बालकोंकी रोने-गानेकी बातोंपर ध्यान देकर कहाँतक कोई कर्तव्यपर स्थिर रह सकता है !' वाणीमें चाहे जो कह लिया जाय, पर माताका हृदय क्या ऐसे स्मरण शान्तिसे सह पाता है !

'मैं भी अन्ततः मनुष्य ही हूँ—दुर्बल मनुष्य ! मेरे धैर्यकी सीमा समाप्त हो गयी उस दिन। मैंने अकबरको पत्र भेज दिया।' महाराणा-जैसे किसी महापापकी गाथा सुना रहे हों।

'पत्र ! अकबरको ? क्या.........'

'यही कि मैं उसकी राज्य-सत्ताको स्वीकृति दे दूँगा यदि.........।'

'यदि वह आपपर, आपके बच्चेपर, आपकी स्त्रीपर दया करे ! आपको कोई दरबारमें बड़ा पद.......।' जैसे वज्रपातसे सिंहिनी चीत्कार कर उठी हो। वह जंगली भील उस महाशक्तिके चरणोंकी ओर पृथ्वीपर मस्तक रखकर बड़े जोरसे चिल्ला पड़ा—'जय एकलिङ्ग !'

'मैं आज प्रातः गुरुदेवके दर्शनार्थ गया था।' महाराणा अपराधीकी भाँति मस्तक झुकाये कहते जा रहे थे। गुरुदेवके नामने महारानीको तनिक शान्त कर दिया।

'मेरे प्रणिपातका उत्तर नहीं मिला। गुरुदेव हवन-कुण्डके समीप विराजमान थे। समिधाएँ प्रज्वलित नहीं हो रही थीं। धूम्रसे उनके नेत्र अश्रुपूर्ण एवं अरुण हो गये थे, जैसे उन दयामयने मेरे अपराधपर उठे रोषको भीतर ही रोक लिया हो। महारुद्रके समान वे लाल-लाल नेत्र अश्रुसे करुणापूर्ण हो गये थे।' महाराणाने दोनों हाथ मस्तकपर रख लिये। उनके नेत्रोंसे टप-टप बूँदें गिर रही थीं।

'पहली बार प्रतापको गुरुचरणोंसे आशीर्वाद नहीं मिला। उन तपोमयके आशीर्वादका अधिकारी अब मैं रहा ही नहीं। बड़ी ही वेधक करुणदृष्टिसे उन्होंने मेरी ओर देखा।' दो क्षणके लिये वाणी रुक गयी।

'आदियुगमें अग्निदेव ब्राह्मणके हृदयमें निवास करते थे। कल्मष था ही नहीं, तब शासन और पवित्रता किसकी की जाय। त्रेताके अन्ततक ब्राह्मणकी वाणी ही भगवान् वैश्वानरका वाहन थी। नरेशोंकी विशुद्ध श्रद्धासे सम्पन्न हुए यज्ञोंमें विप्रोंके सङ्कल्पसे मूर्तिमान् अग्निदेव प्रकट हो जाते थे। देवता स्वयं अपना भाग आकर स्वीकार करते थे। द्वापरका अन्तिम चरणतक साक्षी था कि जनमेजयके सर्पसत्रमें भी अग्निज्वालाएँ मन्त्रपाठका अनुगमन करती थीं। ब्राह्मणके लिये अरणि-मन्थन केवल उपचारमात्र था। अग्निदेव तो आह्वानकी प्रतीक्षा करते रहते थे। यह कलियुग है। अग्निका धाम ब्राह्मणका मुख हो गया है। प्रताप ! केवल पवित्र शासन ही अग्निके उत्थानसे शुद्ध होता है। मैंने देखा है, तुम्हारी धर्मनिष्ठाने भगवान् हव्यवाहका पथ नित्य प्रशस्त रक्खा है। मैंने देखा है कि मानसिंह अत्यन्त धार्मिक, श्रद्धालु एवं

शुद्धाचारी हैं; पर उनके तपःपूत विप्रोंके आहवनीय-कुण्डोंसे उठी धूम्र-शिखाएँ नेत्रोंको कलुषित, पीड़ित करती हैं, प्रताप !' गुरुदेवका वह सम्बोधन। महाराणाके हृदयमें बाणकी भाँति अबतक चुभ रहा है। चुभता ही जा रहा है।

'भगवान् एकलिङ्गका पवित्र नाम लेनेमें उसी दिनसे जिह्वा काँपती है। आज गुरुदेवने मस्तक झुका लिया और अब यह पत्र आया है दल्लीसे·····।' जैसे कोई अपने प्राणदण्डके आज्ञापत्रको देख रहा हो।

'उसमें धागेके पाँच फेरे हैं। ये धागे पीले हैं !' भीलको स्वयं भी आश्चर्य था कि दिल्लीका पत्र इस प्रकार क्यों है।

'जय एकलिङ्ग !' जैसे महाराणामें पुनः जीवन लौट आया हो। उन्होंने पत्र खोला बड़ी शिथिलतासे था; किंतु शीघ्र ही वह शिथिलता दूर हो गयी। मुखमण्डल हर्ष, उत्साहसे दमक उठा। हाथ मूछोंपर गये और फिर कटिमें बँधे खड्गकी मूठपर।

'सिंहके शिशु बंदी होकर भी शृगाल नहीं हो जाते ! दिल्लीमें भी सिंह तो हैं। भगवान् एकलिङ्ग ! गुरुदेव !' महाराणाने पृथ्वीराजका ऐतिहासिक पत्र चकित राजमहिषीकी ओर बढ़ा दिया। उनकी दृष्टि कृतज्ञतापूर्वक ऊपर उठी और श्रद्धासे मस्तक झुक गया।

× × × ×

'एकलिङ्गेश्वरकी जय !' वल्गा खिंचनेसे अश्वोंके अगले पैर एक क्षण उठे ही रह गये और वीरोंके कण्ठोंने आश्रम-द्वारको जयघोषसे ध्वनित किया।

'जय एकलिङ्ग !' वृद्ध ब्राह्मणकी दृष्टि उठनेसे पूर्व राजस्थानका जाग्रत् शौर्य उनके पदोंमें प्रणिपात कर रहा था।

'महामन्त्री भामासाहका त्याग प्रतापका प्रोत्साहन बन गया है और भीलराजकी वन्यवाहिनी अदम्य है। विजयश्री तो श्रीचरणोंके आशीर्वादकी अनुगामिनी है !' महाराणा कुलगुरुके चरणोंके समीप सरल भावसे बैठ गये थे घुटनोंके बल। जैसे कोई आराधक अपने आराध्यके पदोंमें बैठा हो। महामन्त्री सङ्कुचित पीछे करबद्ध खड़े थे और आश्रमद्वारपर जानु टेके भीलराज अपनी पीछे खड़ी सेनाके आगे ऐसे लगते थे जैसे शूरताकी उत्तुङ्ग जलराशि इस सत्त्वके पुलिनसे पवित्र होने आयी हो और उसे मर्यादाने साकार होकर सीमित कर दिया हो।

'धर्म नित्य विजयी है ! वह आशीर्वादकी अपेक्षा नहीं करता ! भगवान् हव्यवाह् तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करें !' आचार्य अब भी हवनके आसनपर ही खड़े थे। सम्मुख कुण्डमें आहुतितृप्त अग्निदेवकी निर्धूम लाल-लाल सीधी लपटें उठ रही थीं—लाल-लाल लपटें, ब्राह्मणके त्याग, तप, संयम एवं क्षत्रियके शौर्य, ओज, प्रचण्ड प्रतापकी प्रतीक। महाराणाने अतृप्त उल्लसित नेत्रोंसे दो क्षण अग्निदेवके दर्शन किये और फिर भूमिपर मस्तक रक्खा।

'ब्राह्मण—नित्य तुष्ट, प्रभुकी इच्छामें अपनी इच्छा विलीन करनेवाला, सबका शुभैषी होता है, प्रताप!' गुरुदेवकी वाणी स्नेह-स्निग्ध थी। 'उसके लिये न कोई शत्रु है, न मित्र। न दण्डनीय है और न स्नेह-पात्र; किंतु जब शासक शिथिल होता है, तब ब्राह्मणकी वृत्ति विकृत हो जाती है। उसकी शक्ति प्रकृतिके राजस क्षेत्रमें उन्मुक्त नहीं हो पाती !'

'गुरुदेव !' महाराणा इस वाणीका मर्म जानना चाहते हैं।

'ब्राह्मणकी तपस्या और पवित्रताके साथ शासकका अदम्य शौर्य अपेक्षित है, संस्कृतिके इस प्रोज्ज्वल प्रतीकको धूम्रहीन रखनेके लिये !'

'ओह !' महाराणाको विलम्ब नहीं लगा समझनेमें। उस दिन उन्होंने सोचा था कि गुरुदेवके हवनीय-कुण्डसे भी धूम्र क्यों उठना चाहिये और दयामय गुरुदेवने केवल सङ्केत किया था। आज इस यात्राके समय एक आदेश है इसमें उनके लिये। उन्होंने खड्ग खींच लिया और यज्ञाग्निके सम्मुख मस्तक झुका दिया। गुरुदेवका हाथ उनके मस्तकपर छाया करता फैल गया था।

इतिहास साक्षी है हिंदू-कुल-मुकुटमणिकी उस मूक प्रतिज्ञाका। वह शौर्य अन्ततक अग्नि-सा प्रज्वलित, प्रकाशमय, दुर्धर्ष रहा। सम्राट् अकबरका अपार अध्यवसाय उसमें आहुति बनकर रह गया !

वसुधा किय विख्यात समरथ कुळ सीसोदियाँ।
राणा जस री रात प्रगट्यो भलाँ प्रतापसी॥

सीसोदियोंके वंशकी सामर्थ्यको पृथ्वी भरमें प्रकाशित करनेके लिये हे राणा प्रतापसिंह ! तुमने यशोमयी रात्रिमें भले ही जन्म लिया !

हिंदू-धर्मका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—चौधरी श्रीशिवनारायणजी वर्मा)

सन् १७२५ की घटना है। भारतसम्राट् मुहम्मदशाह दिल्लीके सिंहासनपर आसीन थे। बादशाहका मीरमुंशी एक वैश्य था। सनम, शराब, शतरंज और सङ्गीतकी सुहबतसे वह मुसल्मान हो गया। हिंदू नाम था—रामजीदास सेठ। मुसल्मानी नाम मिला—मियाँ अहमदअली।

रामजीदासकी स्त्री मर चुकी थी। घरमें केवल एक कन्या थी। नाम था—किरन। उसने अपनी कन्याको बहुत समझाया; परंतु वह मुसल्मान होनेपर राजी न हुई, न हुई। अन्तमें काज़ीकी कचहरीमें अहमदने अर्जी दी कि 'जिस वक्त मैंने अपना मजहब तब्दील किया था, उस वक्त मेरी लड़की नाबालिग़ थी। इस्लामी कानूनके मुताबिक़, मेरे मुसल्मान होते ही वह भी मुसल्मान हो गयी। अब वह बालिग़ है—इसलिये उसे बाक़ायदा इस्लाम मजहब हासिल कर लेना चाहिये। उसे इनकार करनेका हक नहीं है। मगर वह इनकार करती है। लिहाजा सरकार सरकारी दबावसे उसे मुसल्मान बनाये। यही मेरी दिली तमन्ना है।'

काज़ीने किरनको कचहरीमें बुलाया। उस षोडशवर्षीया बालाने आकर अदालतको जगमगा दिया। लड़की अत्यन्त सुन्दरी थी। वह निर्भय खड़ी थी और उसकी त्यौरी चढ़ी हुई थी।

काजी—तुम अहमदअलीकी लड़की हो?

किरन—जी नहीं।

काजी—फिर किसकी हो?

किरन—सेठ रामजीदासकी।

काजी—दोनों एक ही तो हैं?

किरन—जी नहीं। मेरा बाप तो उसी क्षण मर गया था कि जिस क्षण उसने हिंदू-धर्मका त्याग किया था।

काजी—अहमदअली तुम्हारा बाप नहीं है?

किरन—जी नहीं।

काजी—तुम उसके साथ रहना नहीं चाहती हो?

किरन—जी नहीं।

काजी—कहाँ रहोगी?

किरन—किसी हिंदूके घर रहना चाहती हूँ।

काजी—लड़की! गुस्सेको थूक दो और समझसे काम लो। तुम्हारे हिंदू-धर्मसे हमारा इस्लाम-धर्म बढ़िया है। इस्लाम कहता है कि खुदा एक है—हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वर सैकड़ों हैं!

किरन—सैकड़ों नहीं—करोड़ों! जितने जीव हैं, वे सब वास्तवमें ईश्वर हैं, यही हमारे धर्मकी शिक्षा है। हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वरके सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार सूर्य और किरन! किरन भी तो सूर्य ही है। इसी प्रकार कहनेके लिये जीव और ईश दो हैं—वास्तवमें एक ही चीज है। हमारी गीतामें यही लिखा है।

काजी—अगर तुम मुसल्मान हो जाओ तो तुम्हारा नाम बजाय किरनके शमाँ रख दिया जायगा। वजीर साहबके लड़केके साथ तुम्हारी शादी करा दी जायगी। इस वक्त तुम एक 'अनाथ लड़की' हो। फिर—'वज़ीरज़ादी' कहलाओगी। भिखारिनसे रानी बन जाओगी।

किरन—अपने धर्ममें भिखारिन रहना अच्छा है—पराये धर्ममें जाकर रानी बनना अच्छा नहीं। वह 'धर्मप्रियता' नहीं—वह 'धर्मनिश्चय' नहीं, जो लोभ या भयसे बदल जा सके।

काजी—जिस वक्त तुम्हारा बाप मुसल्मान हुआ था, उस वक्त तुम्हारी क्या उम्र थी?

किरन—तेरह साल।

काजी—रजस्वला हुई थी या नहीं?

किरन—जी नहीं।

काजी—तब तुम उस वक्त नाबालिग़ थी?

किरन—जी हाँ।

काजी—तब तो तुम इस्लामी कानूनकी दफ़ासे उसी वक्त मुसल्मान हो चुकी कि जब तुम्हारा बाप मुसल्मान हुआ था।

किरन—इस्लामी कानून इस्लामके सिरपर सवार हो सकता है, हिंदू-धर्मपर नहीं। मैं इस कानूनको नहीं मानती।

काजी—'इस्लाम-धर्मकी तौहीनमें इस लड़कीको जेलमें भेजो।' बेचारी किरन शाही जेलखानेमें भेज दी गयी।

× × ×

यह सनसनीखेज समाचार सारे शहर दिल्लीमें व्यापक हो गया। वैश्यसमाजने कुपित होकर सारा कारोबार बंद कर

दिया। बाजारोंमें हड़ताल कर दी गयी। वैश्य-समाजके नेताओंने किलेके नीचे जाकर धरना दे दिया। गोलमाल सुनकर बादशाहने खिड़की खोली। पूछा 'क्या मामला है?' सेठोंने सारी कहानी सुनायी। बादशाहने कहा—'इसी वक्त वह लड़की आपलोगोंकी सिपुर्दगीमें दे दी जायगी। कल हमारे दरबारमें यह मुकदमा पेश होगा, इतमीनान रखिये, मैं यह बात जानता हूँ कि जोर-जुल्म करनेवाली बादशाहत बादलकी छाँहकी तरह टिकाऊ नहीं होती।'

लड़कीको लेकर सेठलोग वापस चले गये।

× × ×

दूसरे दिन बादशाहके दरबारमें वह लड़की पेश की गयी। काजीजी भी बुलाये गये। काजीसे बादशाहने पूछा—

बादशाह—इस हिंदू लड़कीको, जो खुशीसे इस्लाम कबूल नहीं करती, क्यों जबरन मुसल्मान बनाया जा रहा है?

काजी—जहाँपनाह! शरहके कानूनसे यह लड़की उसी वक्त मुसल्मान हो गयी कि जिस वक्त उसका बाप मुसल्मान हुआ। यह उस वक्त नाबालिग थी। रजस्वला नहीं हुई थी।

बादशाह—रजस्वला होना ही बालिग होनेका प्रमाण नहीं है। ऐसी भी लड़कियाँ हैं कि जो बालिग हैं, मगर रजस्वला नहीं हुईं।

काजी—गरीबपरवर! जो मुनासिब समझें, हुक्म दें।

बादशाह—शरहमें यह भी लिखा है कि जबरन किसीको मुसल्मान नहीं बनाना चाहिये। इसी दफाके मुताबिक हम इस लड़कीको बरी करते हैं। सेठ घनश्यामदासजीको यह लड़की सौंपी जाती है। वे ईमानदार तथा अच्छी चाल-चलनके आदमी हैं। वे जहाँ चाहें, इस कन्याका विवाह कर सकते हैं। लिहाजा मुकदमा खारिज और मिसिल दाखिल दफ्तर!

कन्या सेठजीके साथ चली गयी।

× × ×

दूसरे दिन थी जुम्मेकी नमाज। जुम्मा मस्जिदमें एक लाख मुसल्मान जमा हुए। बादशाह भी गये थे। मुल्ला लोगोंने बादशाहको आड़े हाथों लिया और उनके फैसलेको तार-तार कर दिया। इस्लामी बादशाही, वास्तवमें मौलवी लोगोंकी बादशाहत थी।

बादशाहने देखा कि मामला बिगड़ा जाता है। कहीं ऐसा न हो कि मुझे तख्त और ताजसे भी हाथ धोना पड़े। नरम पड़ गये और बोले—

बादशाह—आखिर आपलोग इस मामलेमें क्या चाहते हैं?

मौलवीलोग—यह मामला मजहबका है—राजनीतिका नहीं। इस मामलेका आखिरी फैसला 'जुम्मा मस्जिद'की अदालत यानी अंजुमने-मौलाना' ही कर सकती है।

बादशाह—तो अब क्या होना चाहिये?

मौलवीलोग—उस लड़कीको फिर हिरासतमें ले लीजिये। कल उसकी पेशी जुम्मा मस्जिदकी अदालतमें होगी। आयन्दा धर्मके मामलेमें आप दखल न किया करें।

किरनको फिर जेलमें बंद कर दिया गया।

× × ×

एक टाटपर बैठी किरन भविष्यको सोच रही थी। कटार लिये एक जल्लाद आया। किरन खड़ी हो गयी और बोली—

किरन—तुम कौन हो?

जल्लाद—मैं जल्लाद हूँ।

किरन—यहाँ क्यों आये?

ज०—तुमको मारने।

किरन—किसके हुक्मसे?

ज०—मौलानालोगोंके हुक्मसे।

किरन—क्या हुक्म हुआ मेरे लिये?

ज०—न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।

किरन—बादशाहके हुक्मके खिलाफ?

ज०—जुम्मा मस्जिदकी अदालत, बादशाहोंके बनाने और बिगाड़नेवाली अदालत है।

किरन—अच्छी बात है।

ज०—मुसल्मान हो जाओ या मरनेको तैयार हो जाओ!

किरन—मरनेको तैयार हूँ। अपना हिंदू-धर्म नहीं त्यागूँगी। जल्लादने कटार तानी।

किरन—तुम मत मारना। मेरा बदन एक यवन नहीं छू सकता।

ज०—फिर कौन मारेगा?

किरन—मैं खुद मर जाऊँगी। यह कटार मुझे दो।

ज०—खूब! यह कटार मैं तुमको दे दूँ, ताकि यह तुम्हारे सीनेमें न जाकर मेरे सीनेमें घुस जाये? चालाक तो तुम कम नहीं हो।

किरन—मुझे कटार भी नहीं चाहिये।

जल्लाद—तो फिर कैसे मरोगी?

किरन—ऐसे!

—कहकर उस कन्याने अपना सिर इतने जोरसे पत्थरकी दीवालमें दे मारा कि वह खरबूजेकी तरह फट गया । खूनका फव्वारा कोठरी भरमें बरसने लगा ।

इस भयानक मौतको देखकर जल्लाद भी काँप गया । बोला—'शाबाश ! हिंदू लड़की ! शाबाश ! हिंदू-धर्मके सिवा, इस तरहसे मरना और कौन सिखा सकता है ।'

शहरके सेठोंने लाश माँग ली । रथीको खूब सजाया गया । कहते हैं कि उस कन्याके शवपर जनताने इतने फूल, फल, मेवा, बताशे और रुपये-पैसे न्यौछावर किये कि जितने किसी शवपर नहीं हुए थे !

सन् १७२५ ईस्वीकी गरमीकी मौसम थी । किरनने हकीकत रायकी भी धर्मप्रियता जीत ली थी । हिंदू-संस्कृतिका यही आदर्श है कि 'प्राण भले ही चले जायँ, अपना धर्म न जाने पाये ! क्योंकि जो धर्मका हनन करता है, धर्म उसका हनन कर डालता है ।' धर्मपर न्यौछावर होकर किरनदेवी अपना नाम सुनहरे-अक्षरोंमें अमर कर गयी है ।

माताका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—मुखिया विद्यासागर)

इतिहासप्रसिद्ध महारानी मदालसाका विवाह काशी-नरेशसे हुआ था । द्विरागमनमें जब वह पतिगृह आयी, तब एक दिन काशीनरेशने सहवासकी इच्छा प्रकट की । उस समय आधी रातका समय था । पतिकी इच्छापर मदालसाने कहा—

महारानी—मैं ब्रह्मचर्यसे रहूँगी ।

महाराज—तो विवाह क्यों किया था ?

महारानी—विवाह मेरी माताने कर दिया । पिताजी मेरे पक्षमें थे ।

महाराज—विवाहके बाद ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं ।

महारानी—क्यों सम्भव नहीं ? इस संसारमें कितने ही दम्पति आजन्म ब्रह्मचारी रहे हैं ।

महाराज—परंतु मुझे तो राजकुमारकी प्रतीक्षा है । सिंहासन खाली न हो जायगा ?

महारानी—आप अपना द्वितीय विवाह कर सकते हैं ।

महाराज—राजा लोग अनेक विवाह करते अवश्य हैं—किंतु काशी-राजवंशमें, एकपत्नीव्रतको ही संस्कृतिका आदर्श माना गया है ।

महारानी—जबतक मुझे सन्तोष न हो, मैं ब्रह्मचर्यसे रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ ।

महाराज—आखिर तुमने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की ? जबतक हम लोग सन्तान पैदा नहीं करेंगे, तबतक मातृ-पितृ-ऋणसे मुक्त न हो सकेंगे । यह भी एक आदर्श है । हिंदू-संस्कृतिका यह सन्तान-सम्बन्धी आदर्श है ।

महारानी—पुत्र पैदा करनेमें मुझे एक डर है ।

महाराज—वह क्या ?

महारानी—न मालूम पुत्र कैसा पैदा हो !

महाराज—(हँसकर) यह कोई डर नहीं है ।

महारानी—क्यों ?

महाराज—तुम-सरीखी पवित्रहृदया माताका पुत्र, और मुझ-सरीखे पवित्र पिताका पुत्र अपवित्र कैसे होगा ?

महारानी—स्वामिन् ! वास्तवमें मैं अभक्त सन्तानसे घृणा करती हूँ । ईश्वर-विरोधी सन्तानसे मुझे जलन है । मेरा स्वभाव ही ऐसा है । पुलस्त्यके कुलमें रावणकी भाँति यदि किसी कारणवश ईश्वरद्रोही पुत्र हुआ तो मातृ-पितृ-ऋण अदा होगा या और बढ़ जायगा ?

महाराज—अभक्त पुत्र न होगा ।

महारानी—यदि हुआ तो ?

महाराज—तुम विचित्र महिला हो ।

महारानी—जी, मैं विचित्र स्त्री हूँ ।

महाराज—तो तुम ही बताओ कि क्या करना चाहिये ।

महारानी—हम दोनोंको ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये ।

महाराज—सिंहासनपर कौन बैठेगा ?

महारानी—आप ।

महाराज—मेरे बाद ?

महारानी—आप मरेंगे ही नहीं । नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहीं मरता है ? जो मर जाय—वह ब्रह्मचारी ही नहीं ।

महाराज—हूँ ! यह कैसे ?

महारानी—बजरंगबली ब्रह्मचारी थे। आज भी वे मौजूद हैं। नारद, शुकदेव और दत्तात्रेय कब मरे थे ?

महाराज—मुझे तुम्हारी बातोंसे सन्तोष नहीं होता।

महारानी—(मुसकराकर) आखिर आप क्या चाहते हैं ?

महाराज—सन्तान।

महारानी—परंतु एक मेरी भी शर्त है।

महाराज—वह क्या ?

महारानी—सन्तानपर आपका कुछ भी अधिकार न होगा। उसकी शिक्षा-दीक्षा सर्वथा मेरे हाथमें रहेगी।

महाराज—स्वीकार है।

महारानी—मैं चाहे जो करूँ—चाहे उसे मार ही डालूँ—आप बीचमें कोई दखल नहीं देंगे ?

महाराज—स्वीकार है।

महारानी—त्रिवाचक कहिये।

महाराज—मेरी सन्तानपर, उसकी माताका पूर्ण अधिकार मुझे स्वीकार है ! स्वीकार है !! स्वीकार है !!!

महारानी—'परमात्माको व्यापक और द्रष्टा मानकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ'—यह भी कहिये !

महाराज—परमात्माको व्यापक और द्रष्टा मानकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ।

महारानी—तो मुझे भी आपकी बात स्वीकार है।

× × × ×

सालभर बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ। महारानीने अपने कमरेमें देवताओं तथा महात्माओंके चित्र लगा रक्खे थे। राजकुमारके शिक्षक एक विरक्त ब्राह्मण बनाये गये। रानी भी उसे वैराग्यकी शिक्षा देती थीं। राजा भी—'जिसमें तेरी रजा, उसीमें मेरी रजा'के अनुसार ज्ञानोपदेश किया करते थे। फल यह हुआ कि बारह सालका होते-न-होते राजकुमार साधु बनकर महलसे निकल गया। आत्मानन्द नाम हुआ उसका।

तीन साल बाद दूसरा लड़का पैदा हुआ। उसका भी वही हाल हुआ।

तीन साल बाद तीसरा लड़का पैदा हुआ। एक दिन राजा-रानीमें फिर विचित्र बातचीत हुई—

महाराज—इस लड़केको साधु मत बना देना।

महारानी—अवश्य बनाऊँगी।

महाराज—तब तो सिंहासन सूना-का-सूना ही रहेगा। सन्तान पैदा करनेका लक्ष्य क्या था ?

महारानी—मैं आपसे प्रतिज्ञा ले चुकी हूँ।

महाराज—मैं वह प्रतिज्ञा अस्वीकार नहीं करता। परंतु तुमसे पुनः प्रार्थना करता हूँ कि इस पुत्रको राजकीय शिक्षा दी जाय। इसकी शिक्षाका प्रबन्ध मेरे हाथोंमें दे दो।

महारानी—अच्छी बात है।

इस तीसरे कुमारका नाम था—अशोककुमार।

जब अशोककुमार एक सुयोग्य युवक हो गया, तब राजा और रानी उसे राजकाज सौंपकर वनमें तप करने चले गये। वे अपने बड़े कुमार आत्मानन्दके आश्रममें जा पहुँचे और वहीं रहने लगे। दूसरा कुमार न मालूम साधुओंके साथ कहाँ चला गया।

एक दिन आत्मानन्दने माता मदालसासे कहा—

आत्मा०—माताजी ! आप कभी-कभी बहुत चिन्तातुर हो जाती हैं।

मदालसा—हाँ, मुझे तुम्हारे छोटे भाईकी चिन्ता सताती है। वह राजकाजमें पड़ा हुआ ईश्वरको भूल रहा है। यों ही रहा तो वह मरकर अवश्य नरकमें जायगा। क्योंकि—'तपसे राज्य और राज्यसे नरक !'

आत्मा०—आपकी चिन्ता कैसे दूर हो सकती है ?

माता—तुम अपने मामाके पास जाओ। उनकी सेना लेकर अपने छोटे भाईपर चढ़ाई कर दो। उसे पराजित करके खुद राजा बन जाना और उसे वनमें तपके लिये भेज देना। जब तुम राजा हो जाओ, तब अपना विवाह कर लेना। एक पुत्र पैदा करना और उसे गद्दी देकर रानीके साथ यहाँ चले आना। इस प्रकार मेरी कोई सन्तान मूर्ख और पापी न रह सकेगी। मेरे तीनों पुत्र इस प्रकार भगवद्भजन कर सकेंगे और मुक्त हो सकेंगे। माताका आदर्श यही है कि जो जीव उसके गर्भमें आये—उसे मुक्त करा दे ! उसे पुनः-पुनः जननी-जठरमें न आना पड़े। गर्भ भी एक नरक है।

आत्मा०—जो आज्ञा।

आत्मानन्द अपने मामाके पास गया। उसने सेना लेकर काशीपर चढ़ाई कर दी। अशोककुमार हार गया और बंदी हुआ। छः मास बाद आत्मानन्द अपने भाईके पास जेलमें गया और बोला—

आत्मा०—राजन् ! मैं आज आपका राज्य आपको लौटाने आया हूँ।

अशोक०—(आश्चर्यसे) क्यों ? आपने तो मुझे जीत लिया है। हस्तगत राज्य क्यों छोड़ना चाहते हैं ? ऐसा तो कोई नहीं कर सकता।

आत्मा०—मैं संन्यासी था। मैंने सोचा कि शायद राज्यमें अधिक सुख होगा, इसीलिये आपपर चढ़ाई की थी। परंतु इस छमाहीमें अनुभव हुआ कि मैं पहले ईश्वरकी गोदमें बैठा था और अब मायाकी गोदमें बैठ गया हूँ। मुझे तो राजकाजमें कोई सुख प्रतीत नहीं होता। वह पक्का मूर्ख है कि जो तप छोड़ राज्यकी अभिलाषा करे। स्वर्ग छोड़ नरकमें रहनेकी अभिलाषा करना मूढ़ता नहीं तो और क्या है ?

अशोक०—तब तो मुझे भी तप करना चाहिये।

आत्मा०—जी नहीं। मैं तप करूँगा। आप अपना जंजाल सँभालें।

इतना कहकर आत्मानन्दने राजमुकुट उतारकर अशोकके सिरपर रख दिया। अशोकने पुनः उसे उतारकर आत्मानन्दके सिरपर रक्खा और कहा—

अशोक०—आप तप कर चुके हैं। आप राज्य कीजिये। अपने पुत्रको गद्दी देकर फिर तप कर लेना। मुझे तप करने दीजिये।

आत्मानन्द भी यही चाहते थे। भाईके मुखसे यह सब कहलानेके लिये ही उन्होंने नाटक रचा था।

अशोककुमारको माता-पिताके पास भेज दिया गया। वहाँ जाकर उसने जाना कि उसे उसके बड़े भाईने ही पराजित किया था। सो भी माताकी आज्ञासे।

आत्मानन्दने अपना विवाह किया। एक पुत्र भी पैदा हुआ। परंतु वह राज्यकाजमें ऐसा लवलीन हुआ कि माताकी आज्ञा ही भूल गया वह राजकाजसे ही प्रेम करने लगा।

× × × ×

संन्यासिनीका रूप धारणकर एक दिन मदालसा काशीनरेशके महलमें जा पहुँची।

आत्मानन्दने सत्कारकर पूछा—

आत्मा०—मेरे राज्यमें अकाल क्यों पड़ गया है ?

संन्या०—राजाके पापसे अकाल पड़ता है।

आत्मा०—मैंने कौन-सा पाप किया ?

संन्या०—तुमने सबसे बड़ा पाप किया।

आत्मा०—वह कौन-सा ?

संन्या०—तुमने अपनी माताको धोखा दिया है !

आत्मा०—हाँ, हाँ। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा ही भूल गया था।

संन्या०—अपने पुत्रको गद्दी देकर पत्नीके साथ अपनी माताके पास चले जाओ। तब अकाल दूर होगा।

उसी दिन राजाने अपने राजकुमारको राजतिलक दे दिया। वह संन्यासिनीके साथ वनमें चला गया।

आश्रममें पहुँचकर आत्मानन्दने जाना कि वह संन्यासिनी स्वयं उसकी माता ही थी। तबतक दूसरा राजकुमार विनयकुमार भी समस्त तीर्थोंका दर्शन करके वहाँ आ गया।

एक दिन तीनों पुत्रों और पतिके समक्ष महारानी मदालसाने यह वक्तव्य प्रकट किया—

'यदि माता ज्ञानवती हो तो एक विराट् कुलको ज्ञानवान् बना सकती है। माता अज्ञानी हो तो वह एक विराट् कुलको नरकमें भेज सकती है। स्त्रियोंकी बड़ी भूल है कि वे धनवान् पति पसंद करती हैं। उनको चाहिये कि वे ज्ञानवान् पति पसंद किया करें।

हिंदू-संस्कृतिका आदर्श माताके लिये यही है कि वह अपनी किसी सन्तानको ईश्वर तथा धर्मके विरुद्ध न चलने दे। नहीं तो सन्तान स्वयं नरकमें जायगी और माता-पिताको भी नरकमें घसीट ले जायगी।

आज मुझे पूर्ण सन्तोष है कि मेरे तीनों पुत्र तथा मेरे पतिदेव मेरे साथ तप कर रहे हैं ! इससे बढ़कर एक साध्वी नारीका क्या सौभाग्य हो सकता है।

मैं जो अपने मातृ-आदर्शमें उत्तीर्ण हो सकी हूँ, उसमें मेरे पतिदेवने यथेष्ट सहायता पहुँचायी है। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करती हूँ कि—

हे दयालु ! हम पाँचोंको मुक्ति प्रदान करो !'

माताका उपदेश

तू शुद्ध है, तू बुद्ध है, तू है निरंजन सर्वदा। संसार-मायासे रहित तू है स्वरूपस्थित सदा ॥
संसार सारा स्वप्न है अब मोह निद्रा त्याग तू। कह रही निज तनय से मा पुत्र सत्वर जाग तू ॥

भ्राताका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

केवलपुरमें केवल एक घर ठाकुरोंका है । बड़े भाईका नाम श्यामसिंह और छोटे भाईका नाम रामसिंह । दोनोंमें अपार स्नेह । माता-पिता स्वर्ग चले गये थे । विवाह दोनों भाइयोंके हो चुके थे । छोटे भाईकी स्त्री मालती घरमें आयी तो अलग चूल्हा बनानेकी बात सोचने लगी । एक बार रातमें मालतीने अपने पतिसे कहा—

मालती—तुम्हारे बड़े भाई साहब केवल पूजा-पाठ किया करते हैं और खेतीका सारा काम तुम करते हो ।

रामसिंह—पूजा-पाठका काम हिंदू-संस्कृतिमें प्रधान काम है । खेतीका काम दूसरे दरजेका काम है ।

मालती—पूजा-पाठसे क्या होता है ?

राम०—देवतालोग प्रसन्न रहते हैं ।

मालती—देवता क्या करते हैं ?

राम०—खेतीके काममें सहायता देते हैं ।

मालती—हल तुम चलाते हो, खाद तुम डालते हो, बीज तुम बोते हो और सिंचाई तुम करते हो—देवता क्या करते हैं ?

राम०—खेतीके काममें देवतालोग सहायता न करें तो एक दाना भी पैदा न हो ।

मालती—सो कैसे ?

राम०—धरती माता, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, पवनदेव तथा इन्द्रदेवकी सहायतासे खेती होती है । ये लोग विरोधी हो जायँ तो अच्छी खाद, अच्छी जुताई एक तरफ रक्खी रहेगी ।

मालती—इसलिये दिनभर देवताओंकी पूजा करना ही बड़े भाई साहबका काम हो गया है ?

राम०—पूजा-पाठके अलावा वे और भी काम करते हैं ।

मालती—सो क्या ?

राम०—मुकदमोंका काम वही करते हैं ।

मालती—मुकदमे सालमें दो एक आते हैं, सो तुम भी कर सकते हो । मिडिल पास किया है । कायदा-कानून जानते हो ।

राम०—घरका सारा इन्तजाम बतलाते हैं ।

मालती—घरका इन्तजाम मैं बतला दिया करूँगी ।

राम०—उन्नतिके विचार बतलाते हैं ।

मालती—विचार करना भी कोई काम है ?

राम०—विचार ही तो काम है । इस संसारका राजा विचार ही तो है । प्रत्येक बातमें विचार है । विचारमें त्रुटि आयी कि सत्यानाश हुआ ।

मालती—मेरा विचार है कि मैं अलग चूल्हा बनाऊँ । तुम अपनी जमीन बँटा लो । रुपया-पैसा और जेवर बड़ी बहूके पास है, उसे भी आधा-आधा कर लो !

राम०—क्यों ?

मालती—यों कि कल बाल-बच्चे होंगे और परसों उनका ब्याह होगा; हमारी गुजर साथमें नहीं हो सकती ।

राम०—हिंदू-संस्कृतिका यह आदर्श नहीं है ।

मालती—क्या आदर्श है ?

राम०—बड़ा भाई पिता-समान, वही घरका मालिक । बड़ी भावज माता-समान, वही घरकी मालकिन ।

मालती—और तुम ?

राम०—सेवक, अनुचर, नौकर, दास !

मालती—और मैं ?

राम०—सेविका, अनुचरी, नौकरानी और दासी ।

मालती—कहाँ लिखा है ?

राम०—रामायणमें ।

मालती—आग लगे रमाइनमें और धुँआ उठे पराइनमें ।

राम०—हैं, हैं—।

मालती—(क्रोधमें भरकर) कैसी हैं-हैं ? मैं दासी हूँ ? जोरावरसिंहकी लड़कीको दासी लिखा है—रमाइनमें ? मैं घरमें 'रमाइन' रक्खूँगी ही नहीं । कल सुबह उसे उठाकर तालमें फेंक दूँगी ।

राम०—(हँसकर) अगर तुम रामायण नहीं मानोगी तो तुम हिंदू नहीं मानी जाओगी ।

मालती—तो कौन मानी जाऊँगी ?

राम०—कुछ भी नहीं । कोई जाति नहीं ।

मालती—कोई जाति नहीं ? मेरी जाति है ठाकुर ! मैं

ठाकुरकी लड़की हूँ। असल क्षत्री—चौहानवंश ! और तुम कहते हो कि मेरी जाति ही नहीं !

राम०—मालूम होता है कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है।

मालती—और तुम्हारा ?

राम०—मेरा दिमाग खराब होनेका कोई कारण नहीं है।

मालती—मेरे खराब दिमागका कोई कारण है ?

राम०—कारण प्रत्यक्ष है, नहीं तो तुम ऐसे विचार ही क्यों करती ?

मालती—मेरे विचार ठीक नहीं—अच्छी बात है। कल मैं अपना विचार दिखलाऊँगी।

राम०—क्या करोगी ?

मालती—अब क्या ! अब तो मेरा दिमाग खराब ही है! जो जीमें आयेगा, वही करूँगी। क्योंकि मेरा दिमाग खराब है। अगर मेरा दिमाग खराब था तो मैंने दर्जा ४ कैसे पास किया था ?

राम०—दर्जा ४ तो कोई चीज नहीं; यदि कोई संस्कृतमें एम्० ए० भी पास कर ले तो क्या होगा। जिसके ऐसे विचार हैं, उसका दिमाग तो खराब ही माना जायगा।

× × ×

प्रातः हल लेकर रामसिंह खेत जोतने चले गये। मालतीने अपनी जिठानीसे कहा—

मालती—मेरा विचार अलग रहनेका है। इस घरमें चार कमरे हैं। दो तुम ले लो और दो हम।

जिठानीका नाम था—माधवी। वह सकपकाकर बोली—'देवरजीकी राय ले ली है ?'

मालती—उनकी रायसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। वे मेरा दिमाग खराब बतलाते हैं। जोरावरसिंहकी लड़कीका दिमाग खराब है, यह उनकी किताबमें लिखा है।

माधवी—मेरी समझमें तुम्हारी बात आयी नहीं, देवरानी !

मालती—आ जायगी। घबराओ मत। बर्तन कितने हैं ?

माधवी—कभी गिने नहीं।

मालती—लाओ, मैं गिनती हूँ। चार थाली, चार लोटे और चार कटोरे। दो-दो हो गये। यह लो अपने हिस्सेके बर्तन।

माधवी—हिस्सा-बाँट हम-तुम नहीं कर सकतीं।

मालती—और कौन करेगा ?

माधवी—मर्द लोग।

मालती—मर्द जायें भाड़में। मर्दकी नजरमें औरत पागल तो औरतकी नजरमें मर्द पागल। जब पागलपनका प्रस्ताव पास किया गया, तब पागलपन ही सही। मैं भागकर इस घरमें नहीं आयी हूँ। मेरा विवाह होकर आया है। मेरा हिस्सा है।

माधवी—मैं मानती हूँ कि तुम्हारा हिस्सा है।

मालती—तो फिर बहस किस बातकी। उन दो कमरोंमें तुम रहो। इन दो कमरोंमें मैं रहूँगी।

माधवी—अच्छी बात है।

मालती—आधे बर्तन ले जाओ।

माधवी—ले जाऊँगी।

मालती—ले कब जाओगी। अभी उठाओ। अनाज कितने बोरे हैं ?

माधवी—सात बोरा।

मालती—आधा-आधा कर लो। रुपया-पैसा और जेवर भी निकालो।

माधवी—जरा गम खाओ। मैं पूजावाली कोठरीमें जाकर तुम्हारे जेठजीसे राय ले आऊँ।

मालती—यह भी कह देना कि मैं वह देवरानी नहीं हूँ, जो जेठजीके सामने डेढ़ हाथका घूँघट निकालकर कोठरीमें भाग जाती है। अगर जेठजीने इन्साफ न किया तो झाड़ू लेकर बात करूँगी।

× × ×

मकानके बाहर पूजाकी कोठरी थी, जो बैठकके बगलमें बनी थी। माधवीने जाकर देखा कि उसके स्वामी महादेवजीपर बेलपत्री चढ़ाते जाते हैं और 'नमः शिवाय' कहते जाते हैं।

माधवी—आप यहाँ पूजा कर रहे हैं और घरमें देवरानी हिस्सा-बाँट कर रही है।

श्यामसिंह—क्या बात है ?

माधवीने सारा किस्सा कह सुनाया।

श्याम०—बहूसे कह दो कि आजसे वही मालकिन है। सारा रुपया-पैसा और जेवर उसे सौंप दो। वह पढ़ी-लिखी, होशियार है। तुमसे अच्छा प्रबन्ध करेगी।

माधवी भीतर गयी। रुपये-पैसे तथा जेवरवाला बक्स उठाकर मालतीके पास रख दिया।

मालती–जेठने क्या कहा ?

माधवी–यह कहा कि बहू पढ़ी-लिखी है। आजसे वही घरकी मालकिन है। सारा माल-खजाना, घर-बार—सब उसीको सौंप दो। यह लो घरकी चाबियोंका गुच्छा। ये बक्स तुम्हारे सामने हैं। मुझसे जो कहो, सो करूँ।

मालती–धन-दौलतमें आधा हिस्सा तुम ले लो।

माधवी–मैं एक पैसा नहीं लूँगी।

मालती–क्यों ?

माधवी–स्वामीकी आज्ञा नहीं है।

मालती–स्वामीकी आज्ञासे अपना हिस्सा छोड़ दोगी ?

माधवी–अवश्य छोड़ दूँगी।

मालती–इस घरके सब लोग पागल दिखलायी पड़ते हैं। जेठजी भी 'स्वाहा-स्वाहा' करने लगे। जिठानी भी लीकपर लीक चलाने लगीं ! यानी जो बात मैं कहूँगी, उसे कोई नहीं मानेगा—अपनी-अपनी बात मेरे सिरपर थोपनेके लिये सभी तैयार हैं। मैं न तो दूसरेका हिस्सा लूँगी और न अपना हिस्सा दूँगी।

माधवी–ऐसा ही कर लेना। जल्दी क्या है। आज अलग रोटी बना लो। कल हिस्सा-बाँट कर लेना। कल देवर-को भी खेतपर न जाने दूँगी। चारों आदमी मिलकर हिस्सा कर लेना।

यह बात मालतीकी समझमें आ गयी। उसने अलग एक चूल्हा बनाया। उड़दकी दाल बनायी। रोटी बनायी। दोपहरको रामसिंह घरपर आये। श्यामसिंह भोजन करके कमरेमें लेटे हुए 'कल्याण' पढ़ रहे थे। रामसिंह स्नान करके भोजन करने जो घरमें गये तो दो चूल्हे दिखलायी पड़े। मालतीने उनको अपने चौकेमें बुलाया; परंतु वे भावजके चौकेमें चले गये और बोले—'आज क्या बनाया है, भौजी ?'

माधवी–खिचड़ी बनायी है।

राम०–लाओ, परोसो।

माधवी–बहूने सुन्दर उड़दकी धोई हुई दाल बनायी है। हींगसे छौंकी है। रोटी बनायी है—तिरवेनीकी। गेहूँ, जौ और चनेका आटा मिलाकर तिरवेनी रोटी बनायी है। वहीं जाकर खाओ।

राम०–अलग रोटी क्यों बनायी ?

माधवी–कहती है कि अलग रहूँगी।

राम०–रहेगी तो रहे अलग। परोसो मुझे खिचड़ी।

माधवी–उसे बुरा लगेगा।

राम०–मैं उससे बाततक न करूँगा।

माधवीने खिचड़ी परोस दी। रामसिंह खा-पीकर बाहर चले गये। मालतीने गुस्सेमें आकर रोटियाँ कुत्तेको डाल दीं। बेचारीको 'एकादशी' हो गयी।

× × ×

रातको जब दोनों इकट्ठे हुए, तब यों बात-चीत हुई—

मालती–तुमने मेरे चौकेमें रोटी नहीं खायी और भावजके चौकेमे खिचड़ी खायी।

राम०–कहो एक बार कहूँ, कहो लाख बार और कहो तो पत्थरपर लिख दूँ।

मालती–क्या ?

राम०–मैं अपनी स्त्रीको छोड़ सकता हूँ परंतु अपने भाईको नहीं छोड़ सकता।

मालती–क्यों ?

राम०–हिंदू-संस्कृतिका आदर्श ही ऐसा है। श्रीलक्ष्मण-जीने भाईके लिये पत्नीको चौदह वर्ष त्याग दिया था।

मालती–अच्छी बात है। तब मैं ही अपना हठ छोड़े देती हूँ। सुबह होते ही अपना चूल्हा फोड़ डालूँगी। सारे घरसे अलग रहकर मैं कौन-सा सुख पा लूँगी ?

राम०–अब तुम्हारा पागलपन दूर हो गया।

तबसे आजीवन मालतीने हिस्सा-बाँटका नाम न लिया। माधवी कोई काम मालतीकी सलाह बिना न करती थी। चाबियाँ भी बहूके पास ही रहती थीं।

एक हरि ही तेरे हैं

जगमें तेरा कुछ नहीं, मिथ्या ममता मोह।
एक हरी तेरे सदा चिदानंद संदोह॥

भक्तकन्याका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीअवधूतानन्दजी गिरनारी)

बुन्देलखण्डमें बलभद्रपुर नामकी एक रियासत थी। वहाँ एक राजकुमारी पैदा हुई थी, जिसका नाम था विमला-कुमारी। विमलाको एक गुरुजी संस्कृत तथा हिंदी पढ़ाते थे। दोपहरीको जब गुरुजी स्नान करके ठाकुरजीकी पूजा किया करते थे, तब विमला एकटक ठाकुरजीको देखा करती थी। एक दिन विमलाने कहा—

विमला—गुरुजी! ये ठाकुरजी मुझे दे दीजिये।

गुरु—तुम क्या करोगी?

विमला—पूजन किया करूँगी। बातें किया करूँगी।

गुरु—तुम अभी कन्या हो। गुड्डे-गुड्डीका ब्याह खेला करोगी। फिर बड़ी हो जाओगी, तब तुम अपनी ससुराल चली जाओगी; ठाकुरजीकी पूजाका अवसर तुमको कभी न मिलेगा।

विमला—क्या कन्याका यही आदर्श है, गुरुजी?

गुरु—नहीं, कन्याका आदर्श तो दूसरा ही है।

विमला—वह कौन-सा?

गुरु—माता, पिता और भ्रातासे सद्व्यवहार रखना कन्याका प्रथम आदर्श है। गुरु तथा ईश्वरकी भक्ति रखना कन्याका दूसरा आदर्श है। पति तथा पुत्रकी सेवा करना उसका अन्तिम आदर्श है।

विमला—सबसे बड़ा आदर्श कन्याके लिये कौन-सा है?

गुरु—सबसे बड़ा आदर्श तो माता-पिता, भ्राता, गुरु-शिष्य, पति-पुत्र, पत्नी—सबके लिये एक ही है और वह है श्रीठाकुरजीकी भक्ति सीखना।

विमला—क्यों?

गुरु—ठाकुरजी ही संसारके स्वामी हैं। हर-एक जीव उनका नौकर है। जो नौकर अपने स्वामीकी सेवा नहीं करेगा, वह मेवा नहीं पायेगा। उसे कान पकड़कर निकाल दिया जायेगा।

विमला—तो ठाकुरजीकी सेवा करना सबका प्रधान आदर्श है?

गुरु—हाँ, बेटी! यही सबका प्रधान आदर्श है। यदि तुम ईश्वरकी भक्त बनोगी तो तुम्हारे आचरण स्वयं धार्मिक रहेंगे। ईश्वरकी छविकी छटाका नाम धर्म है। धर्म यानी कर्तव्य।

विमला—तब तो, गुरुजी! मैं इसी सबसे बड़े आदर्शको मानूँगी; बस, ये ठाकुरजी मुझे दे दो।

गुरु—नहीं। ये तो मेरे ठाकुरजी हैं।

विमला—और मेरे ठाकुरजी?

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजी कल आ जायेंगे!

विमला—कैसे?

गुरु—कल सुबह मेरे साथ नर्मदाजी स्नान करने चलना। पाताल फोड़कर, नदीके द्वारा तुम्हारे ठाकुरजी आयेंगे।

गुरुजीने सोचा था कि नर्मदामें गोल-मोल पत्थरके टुकड़े पड़े रहते हैं, उन्हींमेंसे एक उठाकर दे दूँगा।

अपने ठाकुरजीकी प्रतीक्षामें विमलाको अपार आनन्द हुआ। प्रातः दोनों हाथीपर चढ़कर नर्मदास्नानके लिये गये। गुरुजीने जो डुबकी मारी तो एक श्वेत पत्थरकी गोल मूर्ति उनके हाथमें थी।

राजकुमारी चिल्लायी! 'हमारे ठाकुरजी आ गये!'

गुरुजीने बाहर निकलकर ठाकुरजी दे दिये।

विमलाने अपने ठाकुरजीके लिये सोनेकी संदूकची बनवायी, रेशमी कपड़े बनवाये और जवाहराती जेवर बनवाये। रोज फूल और धूप-दीपके साथ पूजा करने लगी।

राजा और रानीने विमलाके उत्साहमें और भी योग दे दिया। जो-जो उसने माँगा, राजा-रानी सब प्रसन्नतापूर्वक देने लगे। आज-कलके मूढ़ माता-पिताकी तरह उन्होंने कन्याका भक्तिविलास रोका नहीं। पुत्र हो या पुत्री, हरिभक्तिसे किसीको रोकना नहीं चाहिये। इससे बढ़कर कोई पाप ही नहीं है। रामप्रेम रोकना ही महापाप है। कन्या तो जीव है, पशु-पक्षीतक रामसे प्रेम करते हैं।

× × ×

विमला—गुरुजी! ठाकुरजी तो आपकी कृपासे मिल गये; परंतु इनका नाम क्या है?

गुरुजीने देखा कि कन्या बहुत सीधी है। सीधेको 'सिलबिल्ला' कहते हैं ग्रामीण भाषामें।

गुरु—तुम्हारे ठाकुरजीका नाम है 'सिलबिल्ले ठाकुर !'

विमला—बिसमिल्ले ठाकुर ?

गुरु—यह तो फारसी भाषा हो गयी । सिलबिल्ले कहो ।

विमला—सिलबिल्ले ठाकुरजी !

× × ×

एक दिन विमलाका विवाह हो गया । वह बारातके साथ ससुरालको चली । मार्गमें बारातने दोपहरी देखकर पड़ाव डाल दिया । राजकुमारीका पति पाल्कीके पास आया । राजकुमारीको अत्यन्त रूपवती देखकर बहुत प्रसन्न हुआ ।

राजकुमार—इस सोनेकी संदूकचीमें क्या है ?

राजकुमारी—ठाकुरजी !

राजकुमार—देखूँ ।

राजकुमारीने चाबी लेकर ताला खोला । रेशमी कपड़ोंमें फूलोंकी गद्दीपर पत्थरकी एक गोल बटरिया रक्खी थी । राजकुमार हँसा । उसे नयी दुनियाकी हैवानी हवा लगी थी । ईश्वर कहाँ है और यदि है भी तो वह अजर-अमर सच्चिदानन्द व्यापक होगा । और यह है नर्मदाकी बटिया । राजकुमारने कहा—'तुम बहुत सरल हो, राजकुमारी !'

इतना कहकर उसने ठाकुरजी उठा लिये । वहीं एक कुआँ था । हँसकर राजकुमारने उस ठाकुरजीको कुएँमें डाल दिया और चला गया ।

× × ×

ससुराल पहुँचकर राजकुमारीने भोजन करना छोड़ दिया । केवल जल पीकर रहने लगी । हरदम ठाकुरजीका ध्यान । 'हाय ! हमारे सिलबिल्ले ठाकुरजी कब मिलेंगे ?' यही चिन्ता । ससुरालवालोंने सोचा कि घरकी यादसे बहू भोजन त्याग बैठी है । एक रातको वह खिड़कीके द्वारा महलसे बाहर हो गयी । भागती हुई उसी कुएँके पास जा पहुँची, जिसमें ठाकुरजी पड़े थे ।

राजकुमारी रोने लगी । उसने पुकारा—'सिलबिल्ले !' आवश्यकतासे अधिक सीधे व्यक्तिको 'सिलबिल्ला' कहा जाता है देहाती भाषामें । बहुत सम्भव है कि ईश्वर भी आवश्यकतासे अधिक सीधा व्यक्तित्व रखते हों । लिहाजा कुएँमेंसे जवाब आया—'वाह ! मुझे यहाँ छोड़ तुम कहाँ चली गयी थीं ?'

राजकुमारी—बाहर आ जाओ !

आवाज—तुम्हीं यहाँ आ जाओ ।

राजकुमारी कुएँमें कूद पड़ी ।

× × ×

विमलाने देखा कि कुएँमें पानीकी जगह फूल-ही-फूल भरे पड़े हैं और बजाय पत्थरके साक्षात् ठाकुरजी विराजमान हैं । पीताम्बर, वनमाला, मोहनमुरली, मधुर मुसकान !

विमला—सिलबिल्ले !

ठाकुरजी—कहो, सिलबिल्ली !

विमला—मैं उस ठाकुरजीके विरोधी घरमें अब न जाऊँगी ।

ठाकुरजी—तो ठाकुरजीके माननेवाले घरमें चलोगी ?

विमला—नहीं, मैं तो अब तुम्हारे ही साथ रहूँगी । तुम्हीं मेरे सब कुछ हो ।

श्रीकृष्ण—विमले ! तुम राधारानीकी 'सरलता' से उत्पन्न हो । संसारकी समस्त स्त्रियाँ शक्तिके विविध अङ्गोंसे उत्पन्न हैं । आजकलके भयानक कलियुगमें तुम-सी सरलकी गुजर नहीं हो सकती । सरलको लोग बेवकूफ समझते हैं । मजा यह कि हैं खुद बेवकूफ !

विमला—तुम्हारा घर कहाँ है ?

श्रीकृष्ण—गोलोकमें !

विमला—वह कहाँ है ?

श्रीकृष्ण—पृथ्वीके ऊपर चन्द्र, चन्द्रसे दूर सूर्य, सूर्यसे ज्योति, ज्योतिके बाद गोलोक है !

विमला—बहुत दूर है ।

श्रीकृष्ण—क्षणभरमें पहुँच चलेंगे ।

इतना कहकर भगवान्ने विमलाके सिरपर हाथ फेरा । हाथके साथ ही उसकी आत्मा निकल आयी ।

दोनों आकाशमार्गसे चले । यहाँ अपनी एक कहानी छोड़ गये ।

जिन्ह कें रही भावना जैसी ।
प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥

बहिनका आदर्श

[कहानी]

(लेखक—श्रीजयतिपुरी)

मेरठमें दो भाई रहते थे। बड़े भाईका नाम था रामनारायण और छोटेका नाम था जयनारायण। एक बहिन थी—नाम था प्रेमा। रामनारायण जमींदारीका काम करते थे। माता-पिता मर चुके थे। जयनारायणको उन्होंने पढ़ा-लिखाकर एम्० ए०, एल्-एल्० बी० करा दिया। वे वकालत करने लगे।

सबसे छोटी बहिन प्रेमा जब विवाहयोग्य हुई तो दोनों भाई उसके लिये वरकी खोज करने लगे। रामनारायण थे पुराने विचारोंके सनातनधर्मी, वे प्रेमाके लिये सनातनधर्मी घर-वर खोजने लगे। जयनारायणको नयी दुनियाकी हवा लगी थी। वे तलाश करने लगे सुधारक घर और वर। इसी बातको लेकर दोनों भाइयोंमें अनबन हो गयी। जयनारायणने वह घर छोड़ दिया। अपनी स्त्रीको लेकर दूसरे मुहालमें रहने लगे। रामनारायणने प्रेमाका विवाह एक सनातनधर्मी युवकके साथ कर दिया। जयनारायण न तो विवाहमें शामिल हुए और न एक पैसा उन्होंने खर्च किया। दोनों भाइयोंमें बोल-चाल-तक बंद हो गयी थी।

× × × ×

सावनके दिन थे। प्रेमा अपनी ससुरालसे वापस आ गयी थी। एक दिन शामके समय प्रेमा एक नीमके वृक्षपर झूला झूल रही थी। किसी कार्यवश उधरसे जयनारायण बाबू कहीं जा रहे थे। जयनारायणकी तरफ प्रेमाकी पीठ थी। उन्होंने बहिनको देख लिया; परंतु प्रेमाने उनको नहीं देखा था।

वकील बाबूने सुना—प्रेमा सावन गा रही थी—

चंदनकी पटुली, रेशमकी डोरी,
कदम की शाखा पातली!
श्रीजयनारायण हैं मेरे भैया,
जिनकी बहिन मैं लाड़ली!'

वकील बाबूने सोचा—'हैं! जिस बहिनको मैं भूल गया था, वह मुझे याद किये है। जिसके नामसे मुझे घृणा थी, वह मेरे नामको प्रेमसे स्मरण कर रही है!'

यह जरा-सी बात जयनारायण बाबूको खटकने लगी। उनकी सारी शत्रुता हवा हो गयी। बहिन और भाईके लिये वे तड़पने लगे। हर समय चिन्तामें रहने लगे। खाना-पीना छूट-सा गया। एक दिन जुकाम बिगड़ गया और चारपाईपर पड़ रहे।

एक सप्ताह बाद प्रेमाने सुना कि जयनारायण बहुत बीमार हैं। वह डरते-डरते बड़े भाईके कमरेमें गयी और बोली—

प्रेमा—बड़े भैया! छोटे भैया बहुत बीमार हैं!

राम०—सुना तो मैंने भी है।

प्रेमा—आप देखने नहीं गये?

राम०—न।

प्रेमा—क्यों? जिनको आपने पुत्र-समान मानकर खिलाया-पिलाया और लिखाया-पढ़ाया, उनको देखने भी नहीं गये?

राम०—वह बुलाता तो चला जाता!

प्रेमा—यदि न बुलायें?

राम०—तो नहीं जाऊँगा।

प्रेमा—मैं चली जाऊँ—देख आऊँ?

राम०—जिसने तुम्हारे विवाहमें कदम नहीं मारा, तुम बिना बुलाये उसके घर कदम रखने जाओगी? मान-अपमानका भी विचार नहीं है?

प्रेमा—मान-अपमान बार-बार आया-जाया करता है। भैया बार-बार नहीं मिलता।

प्रेमा रोने लगी।

राम०—तो रोती क्यों हो? मैं मना नहीं करता। परंतु मैं खुद नहीं जाऊँगा। लो, अभी गाड़ी मँगाये देता हूँ।

नौकर गया और एक घोड़ागाड़ी किराये कर लाया। प्रेमा बैठ गयी। नौकर साथ गया। वह वकील साहबका घर जानता था।

कमरेमें पहुँचकर प्रेमाने देखा कि पलँगपर छोटे भाई बेहोश पड़े हैं। एक तरफ उनकी स्त्री खड़ी है और दूसरी तरफ एक डाक्टर खड़ा है।

डाक्टर—केस होपलेस! मगर घबराना नहीं चाहिये।

वकील बाबूकी स्त्रीका नाम था—रमा। वह बोली—

रमा—होपलेस! फिर भी न घबराऊँ? इसके क्या मानी?

डाक्टर—एक उपाय भी है।

रमा—वह क्या ?

डाक्टर—इनके शरीरका रक्त सूख गया है।

रमा—जी हाँ। शरीरका ढाँचामात्र रह गया है।

डाक्टर—नसें खुलकर दिखायी दे रही हैं।

रमा—खाते-पीते कुछ नहीं। कभी-कभी थोड़ी-सी चाय लेते हैं।

डाक्टर—क्या कभी कुछ कहते भी हैं ?

रमा—कुछ नहीं। कभी-कभी कह उठते हैं—

'जिनकी मैं लाड़ली !'

डाक्टर—इसका क्या मतलब ?

रमा—मैं नहीं जानती।

डाक्टर—आई सी ! यही सन्निपातका लक्षण है।

रमा—आप कौन-सा उपाय बतला रहे थे, डाक्टर साहब ? मेरे पास जो कुछ है—सब ले लीजिये; परंतु इनके प्राण बचा दीजिये।

डाक्टर—प्राण बचाना परमात्माका काम है। डाक्टरका काम है कोशिश करना। वकील साहब खुद मेरे दोस्त हैं। मैं आपसे कुछ भी लेना नहीं चाहता।

रमा—उपाय बतलाइये।

डाक्टर—उपाय कठिन है। बहुत कठिन है।

रमा—कठिन-से-कठिन उपाय भी सरल हो जाता है।

डाक्टर—एक छटाँक शुद्ध खून चाहिये।

रमा—क्या कीजियेगा ?

डाक्टर—वकील साहबके शरीरमें प्रवेश करा दूँगा। बस, फिर सब ठीक हो जायगा।

रमा—मेरे शरीरसे रक्त निकाल लीजिये।

डाक्टर—आप पहले तो गर्भवती हैं और दूसरे आप कृश हैं। गर्भवतीका खून लेना ठीक नहीं। कहीं आप भी बीमार पड़ गयीं; तो और भी परेशानी होगी।

'मैं मोटी हूँ—मेरा खून लीजिये !'

प्रेमाने आगे बढ़कर डाक्टरसे कहा।

डाक्टर—तुम कौन हो ?

प्रेमा—वकील साहबकी छोटी बहिन।

डाक्टर—आप मोटी हैं। बहिन हैं; इसलिये खूनमें सजातीयता भी है और खून साफ, शुद्ध तथा लाभप्रद है।

रमा—आप रहने दीजिये।

प्रेमा—क्यों, भावज ?

रमा—आपके विवाहमें हमलोग शामिल नहीं हुए थे।

प्रेमा—तो क्या हुआ ?

रमा—आपको हमलोगोंने एक पैसातक नहीं दिया।

प्रेमा—तो क्या हुआ ?

रमा—आपको हमलोगोंसे घृणा नहीं है ?

प्रेमा—नहीं।

रमा—क्यों ?

प्रेमा—बहिनका आदर्श यह नहीं है कि वह किसी भूलके कारण अपने भाईसे घृणा करे। भाई चाहे कैसा भी हो—वह भाई ही है।

रमा—वास्तवमें हमलोगोंसे भूल हो गयी।

प्रेमा—भूल तो फिर भी दुरुस्त हो सकती है। भाई कहाँ मिलेगा ? वह भाई कि जिसके लिये भगवान् रामतक रोये थे !

'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता !'

भाई साहब बने रहेंगे तो मुझे मान भी दे सकते हैं, धन भी दे सकते हैं। या कुछ भी न दें—फिर भी वे मेरे भाई हैं। देना-लेना दूसरी चीज, प्रेम दूसरी चीज !

डाक्टर—आप खुशीसे अपना खून दे रही हैं ?

प्रेमा—निःस्वार्थ तथा हार्दिक प्रसन्नताके साथ।

डाक्टर—एक छटाँक खून ?

प्रेमा—एक छटाँक—एक पाव—या जितने खूनसे भाईको आराम हो जाये।

डाक्टर—शाबाश ! बहिन हो तो ऐसी !

प्रेमा—किस जगहका खून लीजियेगा ?

डाक्टर—हाथोंका खून अच्छा होता है। लेकिन शायद आपको हाथोंके खूनसे तकलीफ हो। इसलिये पैरोंका खून डाल दिया जायगा।

प्रेमा—पैरका खून ! भाईके शरीरमें !

डाक्टर—तो फिर ?

प्रेमा—मेरे कलेजेका खून लेकर मेरे भाईके कलेजेमें डाल दो; डाक्टर साहब !

डाक्टर—शाबाश ! बलिहारी है इस त्यागकी !

प्रेमा—देर मत कीजिये।

डाक्टर—आपके दोनों बाँहोंकी नससे खून लिया जायगा।

प्रेमा—चाहे जिस अङ्गको काट डालिये।

डाक्टरने दोनों बाँहोंसे एक छटाँक खून निकाला। प्रेमाने 'उफ' तक न किया। वकील साहबके शरीरमें वह खून प्रवेश करा दिया गया।

× × × ×

वहाँ खजूरके एक-दो नहीं, अस्सी वृक्ष थे। सामने एक पुष्करिणी थी और परिष्कृत तटपर जगजननी दुर्गाका एक मन्दिर था छोटा-सा। मन्दिरसे तीन मीलके भीतर कोई गाँव नहीं था, इस कारण यहाँ अत्यन्त श्रद्धालु जन ही आ पाते थे और उनकी संख्या अत्यल्प थी।

प्रमोदने अनिलके साथ माको प्रणाम किया। अनिलने देखा, प्रमोदकी आँखें फिर बरस पड़ीं। वह कुछ निश्चय नहीं कर सका।

आओ, यहाँ बैठें। प्रमोद अनिलको मा-मन्दिरके सामनेवाले छोटे चबूतरेपर ले गया। चबूतरा पक्का था और था पुष्करिणीके समीप।

पूर्णिमा थी उस दिन। नीले आकाशमें पूर्णचन्द्र खिले हुए थे। उनकी शीतल एवं स्निग्ध किरणें पुष्करिणीकी लघु-लहरियोंके साथ खेल रही थीं। तारिकाएँ शान्त एवं मौन थीं। मन्द पवन थिरक रहा था।

अनिल पूजा-गृहकी मूर्तिके सम्बन्धमें एक बार प्रश्न कर चुका था, बैठते हुए उसने फिर पूछा—'वे कौन थे, और तुम उनसे कैसे प्रभावित हुए? यदि कोई विशेष आपत्ति न हो तो मुझे भी बता दो।'

'आपत्तिकी कोई बात नहीं, अनिल!' प्रमोदने तुरंत कहा। 'तुम पहली बार मेरे गाँव आये हो। तुम्हारे-जैसे सहृदय, सदाचारी और स्नेही मित्रसे क्या छिपाया जा सकता है और यह छिपानेकी तो कोई बात भी नहीं है। यह मेरे बड़े भाईकी मूर्ति है, अनिल भैया! ये देवता थे। दैव-दुर्विपाकसे इनकी प्रत्यक्ष छत्रच्छायासे मुझे वञ्चित होना पड़ा, इसीसे मैंने इनकी मूर्ति बनवायी है और उसे पूजता हूँ। इनकी पूजासे मुझे पवित्रतम भाव और माकी भक्ति मिलती है। आज जो मैं विद्या, धन, गौरव और प्रतिष्ठाका पात्र बना हूँ, सो सब इन्हींकी कृपाका प्रसाद है। सबसे बढ़कर महत्त्वकी बात तो यह है कि मैं माको मा इन्हींके सदुपदेशोंसे समझ पाया था।'

प्रमोदने कहा—'वह देखो!' प्रमोदने पुष्करिणीमें उछलती हुई सफरियोंकी ओर संकेत किया। पुष्करिणीके पानीसे हाथ-डेढ़-हाथ ऊपर कूद-कूदकर वे क्रीड़ा कर रही थीं। चन्द्रदेवकी सुधासिक्त किरणोंमें वे सुकोमल चाँदीकी तरह चमक जाती थीं। 'आजसे सात वर्ष पूर्वतक इन्हीं छोटी मछलियोंकी भाँति मेरा जीवन निश्चिन्त एवं आनन्दपूर्ण था। मेरे जीवनमें सुख था, शान्ति थी और थी मस्ती। चिन्ता, शोक और विषादकी छाया भी मुझे स्पर्श नहीं कर पाती थी। पर अब यह निश्चिन्तता और आनन्द मुझसे छिन गया है।

'पिताजीका दर्शन मैं नहीं कर पाया और माता, जब मैं पाँच वर्षका था तभी चल बसी थीं। अब मेरा कहलानेवाले मेरे एक बड़े भाईके अतिरिक्त और कोई नहीं था। भैयाके बादकी दो-तीन सन्तानें जीवित नहीं रह सकी थीं। इस कारण माका अपूर्व प्रेम मुझपर था।

'माकी मृत्युके समय मैं रो पड़ा। भैयाने मुझे अपनी गोदमें उठा लिया और जाने क्या-क्या कहकर चुप करा दिया। माके परलोकगमनसे भैयाका हृदय टूट रहा है, मुझे इसका भान भी नहीं हो सका।

'मैं धीरे-धीरे बड़ा हो रहा था। भाभी तो मुझे चाहती ही थीं; किंतु भैया मुझे प्राणोंसे अधिक प्यार करते थे। उनकी वकालत खूब चल रही थी। पैसेका अभाव नहीं था, फिर भी वे अपने ही हाथों मेरी सेवा करते। मैं बारहका हो गया था, पर वे थपकी देकर मुझे सुलाया करते और जबतक मुझे गहरी नींद नहीं आ जाती, वे स्वयं नहीं सोते थे।

'उनकी इच्छा थी मुझे अद्वितीय विद्वान् बनानेकी। इसके लिये वे पूर्ण प्रयत्न करते। दो घंटे रात रहते ही वे स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त होकर मा दुर्गाके चरणोंमें बैठ जाते। अरुणोदय हो जाता और माके समीप ही रहते। माके समीप रहनेमें उन्हें अपूर्व सुख मिलता। माके बिना वे नहीं रह पाते। माके बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं, वे कहा करते। शयनके पूर्व भी माके समीप वे कुछ समय अवश्य बैठते।

''कम-से-कम आध घंटे मैं भी माके समीप बैठा करूँ, वे बार-बार प्रेमके साथ मुझसे कहते। वे कहते 'पुत्र माका हृदय-खण्ड होता है, प्रमोद। अत्यन्त क्रूरकर्मी पुत्रपर भी मा कभी कुपित नही होती। वह परम करुणामयी एवं स्नेहशीला है।' धीरे-धीरे मैं भी भगवती दुर्गाके समीप बैठने लगा। दिन जाते देर नहीं लगती। मैं सोलह पार कर गया।''

'संसार बड़ा विचित्र है, अनिल!' कुछ रुककर, प्रमोदने कहना शुरू किया। 'जहाँ फूल है, वहीं काँटा भी है। मैं मैट्रिक हो चुका था। भैयाका स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। पर जाने क्यों भाभी मुझपर रुष्ट रहने लगीं।

'बाहर मैं अधिक समय नहीं लगाता, पर कुछ भी देर होती तो वे बिगड़ जातीं। कदाचित् लाखोंकी सम्पत्तिसे उनका

मस्तिष्क फिर गया था। वे मुझे ऐसी जली-कटी सुनातीं, जो सहने लायक नहीं होती; पर मैं चुपचाप सह लेता और भैयासे कुछ न कहता। भाभी एक-न-एक बहाना निकालकर भैयासे मेरी शिकायत किया करतीं। पर वे सुनकर भी टाल जाते।

'भाभीका मन असाधारण रीतिसे बदल गया। उन्होंने मुझे अलग कर देनेके लिये भैयाके सामने प्रस्ताव रख दिया। भैया सन्न रह गये। उनका चेहरा उतर गया। उन्होंने भाभी-को बहुत समझाया, पर भाभीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भैया यह नहीं चाहते थे, इससे कुछ दिन और निकल गये।

'मुझे खूब स्मरण है—तीन दिन निकल गये, भैयाके मुँहमें जलकी एक बूँद भी नहीं गयी।' आँसू पोंछते हुए प्रमोदने कहा 'वे कचहरी तो कैसे जाते। उन्होंने मुझे बुलाया। भाभी वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थीं। भैयाकी सूखी आकृति देखकर मेरी आँखें भर आयीं, पर मैं चुप था। सिर झुकाये खड़ा रहा। भैयाके हाथमें दो दस्तावेज कागज थे।

'तुम्हारी भाभीने तुमसे अलग हो जानेका निर्णय कर लिया है।' उन्होंने धीरे-धीरे कहा 'विवश होकर इनका प्रस्ताव मुझे स्वीकार करना पड़ा है। इसके लिये मेरी दो शर्तें हैं।' कुछ रुककर उन्होंने कहा। 'जिसे जो स्वीकार हो, ले ले; पर तुम्हारी भाभी तुमसे बड़ी हैं, इसलिये पहले माँगनेका अधिकार इन्हींका है।

''मैं अपराधीकी भाँति चुप था। उन्होंने स्पष्ट किया, 'एक ओर मेरी समस्त सम्पत्ति और एक ओर केवल मैं हूँ। कागज लिखे-लिखाये तैयार हैं, सिर्फ हस्ताक्षर करने शेष हैं।'

'मैं सम्पत्ति चाहती हूँ।' भाभीने कुछ देर रुककर कह दिया। मैं भैयाके चरणोंमें गिर गया। उन्होंने मुझे अपने वक्षसे चिपका लिया।

'कागजोंपर हस्ताक्षर हुआ। भैया मुझे लेकर उसी अवस्था-में एक-एक धोती-कुर्ता पहने घरसे निकल गये। हमलोग कलकत्तेके दूसरे मुहल्लेमें पहुँचे। मकान मिलनेमें कठिनाई नहीं हुई। भैयाकी प्रैक्टिस चल ही रही थी। दो-तीन महीनेमें ही सारी व्यवस्था ठीक हो गयी। कोई अभाव खल नहीं पाया।

'उन्हें यदि कोई चिन्ता थी तो मेरी। वे चाहते थे मैं महान् विद्वान्, अनुपम सदाचारी एवं माका नैष्ठिक भक्त बन जाऊँ। अपनी इसी लक्ष्यसिद्धिके लिये वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। और आज उनका ही प्रसाद है कि मैं माके समीप कुछ देर बैठ पाता हूँ, मासे बात कर पाता हूँ। माका अपूर्व प्यार मैं भैयाके सहारे ही जान पाया।'

प्रमोदकी आँखें भर आयी थीं। अनिल प्रमोदकी बात ध्यानसे सुन रहा था। वे कह रहे थे, 'एक वर्ष दस मास निकल गये। एक दिन मैंने देखा, भाभी भैयाके पैरोंपर गिरी हुई फूट-फूटकर रो रही हैं।

'सारी सम्पत्ति नष्ट हो रही है' हिचकियाँ लेती हुई वे कह रही थीं। 'मैंने बहुत बड़ा अपराध किया था। मुझे ज्ञान नहीं था, अब क्षमा कीजिये।' मेरी ओर दृष्टि पड़ते ही लपककर उन्होंने मुझे अपनी गोदमें दबा लिया, 'मुझे आपकी और इस भाईकी आवश्यकता है।' भाभी प्रायश्चित्त कर चुकी थीं।

'भैया तो सरलताकी जीवित प्रतिमा थे। उदारता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। किसीका जी दुखाना उन्होंने सीखा ही नहीं था। मुझे लिये वे भाभीके साथ पुनः अपने घरमें आ गये।

'यह तो उनके सम्बन्धकी एक बात थी। उनका समस्त जीवन त्याग, तप और परोपकारमें ही बीता। वे मनुष्यके रूपमें देवता थे। उनकी मूर्तिसे मुझे आज भी प्रेरणा मिलती है। वे जैसे आज भी मेरा पथ-प्रदर्शन करते हैं। मुझे उनका वाक्य भूल नहीं पाता—'पुत्र माका हृदय-खण्ड होता है, प्रमोद!' वह मासे अलग नहीं हो सकता। वह माके समीप ही रहेगा। इसलिये माके पूजागृहमें ही मैं उनकी मूर्ति रखता हूँ।'

प्रमोद चुप हो गया। सुधांशुकी सुधामयी धवल किरणें पृथ्वीके कण-कणमें प्रविष्ट हो गयी थीं। घर चलनेके लिये खड़े होते हुए अनिलने कहा, 'तुम बड़े भाग्यवान् हो, प्रमोद, जो ऐसे देवोपम भाई तुम्हें मिल गये थे।'

सबसे मिलकर चलिये

तुलसी यहि संसारमें भाँति भाँतिके लोग।
सबसों हिलमिल चालिये नदीनाव संजोग॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ

सदस्य बननेके नियम और प्रार्थना

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके सम्बन्धमें गतवर्ष कल्याणके दूसरे अङ्कमें कुछ चर्चा की गयी थी। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या लगभग ११५०० हो चुकी है। और भी उत्साहसे गीता-रामायण-प्रेमी स्वयं सदस्य बनते हैं और अपने साथी परिचितोंको सदस्य बनानेकी चेष्टा करते हैं।

गीता-विभागमें पाँच और रामायण-विभागमें तीन श्रेणियाँ पाठ करनेवालोंकी रक्खी गयी हैं।

श्रीगीता-विभाग—

(१) जो नित्य १८ अध्याय सम्पूर्ण गीताका पाठ करते हैं।

(२) जो नित्य ९ अध्यायका पाठ करें।

(३) जो नित्य ६ अध्यायका पाठ करें।

(४) जो वर्षभरमें सम्पूर्ण गीताके ४२ पाठ अर्थपर लक्ष्य रखते हुए करें।

(५) जो प्रतिदिन १ घंटा कम-से-कम चार श्लोकोंका मननपूर्वक पाठ करें।

श्रीरामायण-विभाग—

(१) जो नित्य नवाह्न-पारायणविधिसे पाठ करते हैं।

(२) जो नित्य मासपारायणविधिसे पाठ करते हैं।

(३) जो नित्य ७ दोहे अर्थसहित पाठ करते हैं।

जो पहलेसे सदस्य हैं उनकी सेवामें, 'पाठ चालू है या नहीं' यह जाननेके लिये जवाबी कार्ड भेजा गया था, परंतु कुछ सदस्योंने वे कार्ड लौटाये नहीं हैं; अतः जैसी उनकी परिस्थिति हो—कार्ड-पूर्ति करके लौटानेकी कृपा करनी चाहिये। जिससे पुनः पत्रव्यवहार नहीं करना पड़े। साथ ही पुराने सदस्य पत्र-व्यवहार करते समय सदस्य-संख्या और पूरा नाम-पता लिखनेकी कृपा करें।

'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंसे सविनय निवेदन है कि स्वयं सदस्य बनकर अपने साथी परिचितोंको गीता-रामायण-पाठकी ओर प्रवृत्त करना चाहिये।

निवेदक—रामजीदास बाजोरिया

संयोजक—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ, गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रार्थना

आजकल कल्याण-सम्पादकके तथा मेरे व्यक्तिगत नामसे आनेवाले पत्रोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। मेरे कई साथी पत्रोंका उत्तर लिखते रहते हैं एवं कुछका मैं स्वयं लिखता हूँ, इतनेपर भी सब पत्रोंका उत्तर नहीं लिखा जाता। शङ्काओंके लंबे-लंबे पत्र आते हैं, जिनके उत्तरमें बहुत समय लगता है, अतएव समस्त महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे आवश्यक कार्य होनेपर ही मुझे पत्र लिखें एवं किसी पत्रका उत्तर न पहुँचे तो कृपया अप्रसन्न न हों तथा मेरी विवशता देखकर क्षमा करें।

इसी प्रकार हमारे पू० श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके नाम भी बहुत पत्र आते हैं, यद्यपि वे बड़ी सावधानीसे प्रत्येक पत्रका उत्तर लिखना चाहते हैं; परंतु एक आँखमें आपरेशन होनेके कुछ समय बाद उसकी रोशनी चले जानेसे उन्हें पत्रादि पढ़ने-लिखनेमें बड़ी कठिनता होती है अतएव उनको भी अत्यावश्यक होनेपर ही कम-से-कम पत्र लिखें। यह विनीत प्रार्थना है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

रजि० सं० ए० १७५

राम ही सब कुछ हैं

रामु हैं मातु, पिता, गुरु, बंधु, औ संगी, सखा, सुतु, स्वामि, सनेही।
रामकी सौंह, भरोसो है रामको, राम रँग्यो, रुचि राच्यो न केही॥
जीअत रामु, मुएँ पुनि रामु, सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जिए जगमें 'तुलसी' नतु डोलत और मुए धरि देही॥

(कवितावली)

भगवान् श्रीराम ही मेरी माता हैं, वे ही पिता हैं तथा वे ही गुरु, बन्धु, साथी, सखा, पुत्र, प्रभु और प्रेमी हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी शपथ है, मुझे तो रामका ही भरोसा है, मैं रामहीके रंगमें रँगा हुआ हूँ, दूसरेमें रुचिपूर्वक मेरा मन ही नहीं लगता। गोसाईंजी कहते हैं—जिसे जीते हुए भी रामसे ही स्नेह है और जो मरनेपर भी रामहीमें मिल जाता है, इस प्रकार सदैव जिसे रामका ही भरोसा है वही संसारमें जीता है, नहीं और सब तो मरे हुए ही देह धारण किये डोलते हैं।

वर्ष २४
अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन श्रीसीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, मार्च सन् १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ययातिके धर्मप्रचारका दृश्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका आगामी फाल्गुन शु० ११ ता० २८ फरवरीके लगभग ऋषिकेश स्वर्गाश्रम गीताभवनमें पहुँचनेवाले हैं। सदाकी भाँति ही वहाँ ठहरनेका विचार है। स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके किसी घरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले बिलकुल नहीं आना चाहिये। गहना आदि जोखिमकी कुछ भी चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लावें जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों। सब लोगोंको बच्चे साथ नहीं लाने चाहिये; क्योंकि सत्संगमें बच्चोंके आनेसे विघ्न होता है। फिर, इस बार कुम्भके कारण भीड़ अधिक होनेकी सम्भावना है इसलिये भी बच्चोंको साथ लाना अनुचित है। खान-पानकी प्रायः सभी चीजोंका प्रबन्ध है; परंतु दूध मिलना बहुत कठिन है। कुम्भका मेला होनेसे बहुत लोग आ सकते हैं। स्थान कम है, अतः किसी भाईको स्थान न मिले तो अप्रसन्न नहीं होना चाहिये।

ययातिका धर्म-प्रचार

धन्य धन्य नृप धन्य ययाति।
जाके राज विराजत सब जन धर्मनिरत दिन-राति॥
दम्पति गृही सब बहुबिध लै सादर अतिथि जिमावैं।
बाल वृद्ध अरु तरुन नारि-नर नरहरि के गुन गावैं॥
कहुँ होम-मन्त्र होत, पूजि कोउ श्रीहरिको ध्यावै।
सदाचरन प्रभु-चरन-भजन तजि काम न दूजो भावै॥
भई भूमि बैकुण्ठ भुवन सम, मीच नगीच न आवै।
विष्णुदूत यम के दूतन कौं देखत मारि भगावैं॥
सुख-संपति सौं भरे रहैं गृह, बिसरि गये दुख-द्वंद।
नृप ययाति के राज प्रजाजन पूरित परमानंद॥

—'राम'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
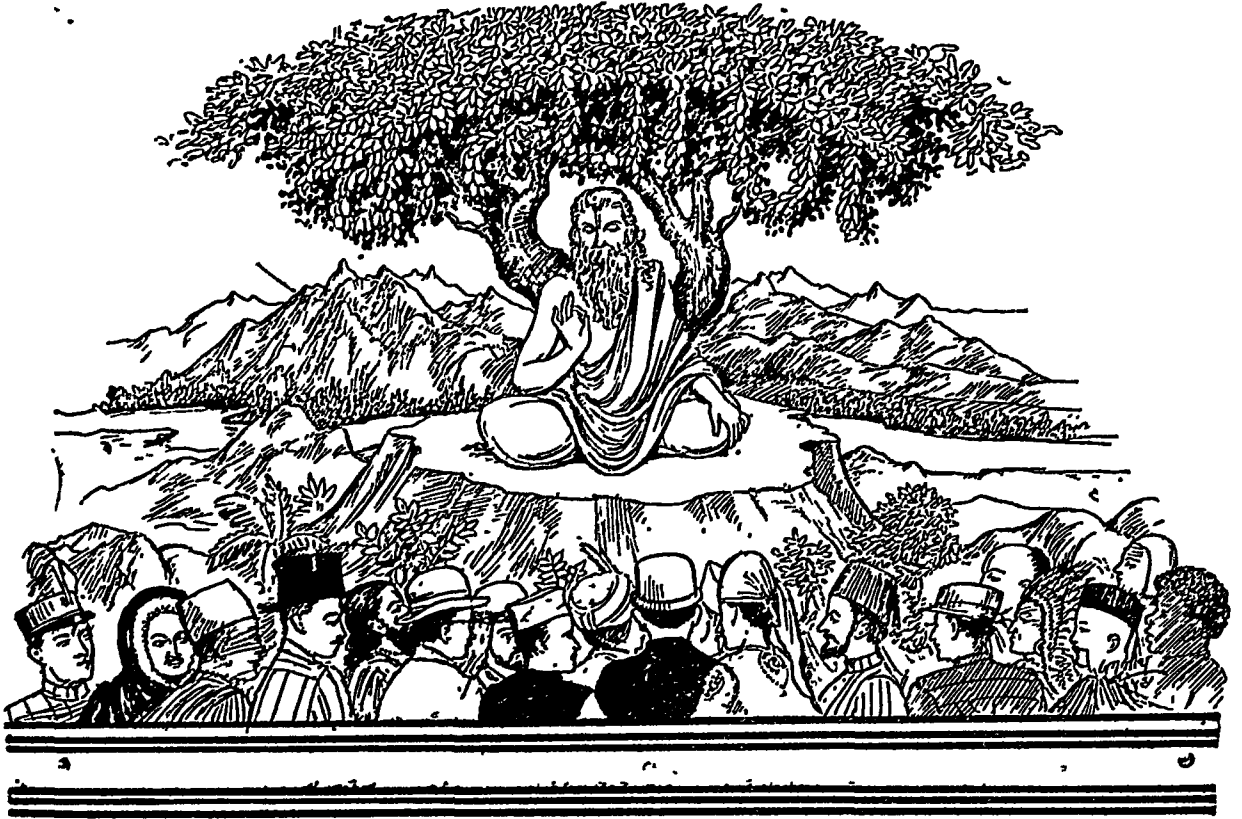
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर चैत्र २००६, मार्च १९५० { संख्या ३
पूर्ण संख्या २८०

ययातिका धर्म-प्रचार

धन्य धन्य नृप धन्य ययाति ।
जाके राज विराजत सब जन धर्मनिरत दिन-राति ॥
दम्पति गृही अन्न बहुविध लै सादर अतिथि जिमावैं ।
बाल वृद्ध अरु तरुन नारि-नर नरहरि के गुन गावैं ॥
कहूँ होम-मख होत, पूजि कोऊ श्रीहरिको ध्यावै ।
सदाचरन प्रभु-चरन-भजन तजि काम न दूजो भावै ॥
भई भूमि वैकुण्ठ भुवन सम, मीच नगीच न आवै ।
विष्णुदूत यम के दूतन कों देखत मारि भगावैं ॥
सुख-संपति सों भरो रहै गृह, विसरि गये दुख-द्वंद ।
नृप ययाति के राज प्रजाजन पूरित परमानंद ॥

—'राम'

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥
(२७ । ४)

(सीता कहती हैं—) आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र तथा पुत्रवधू—ये सभी अपने पुण्यादि कर्मोंका फल भोगते हुए अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं।

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥
(२७ । ५)

नरश्रेष्ठ ! स्वामीके भाग्यका अनुसरण तो केवल स्त्री ही करती है। अतः आपके साथ मुझे भी वनवासकी आज्ञा मिल गयी, यह आपको स्वीकार करना चाहिये।

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥
(२७ । ६)

नारीके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है।

श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम् ।
इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महामते ।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥
(२९ । १८)

यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे एक बड़ी ही पवित्र कहावत सुनी जाती है, वह इस प्रकार है—इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है।

साध्वीनां हि स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥
(३९ । २४)

जो सत्य, सदाचार, शास्त्रोंकी आज्ञा और कुलोचित मर्यादामें स्थित रहती हैं, उन साध्वी स्त्रियोंके लिये एकमात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ आश्रय है।

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥
(३९ । ३०)

पिता, भ्राता और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं; किंतु पति अपरिमित सुखका दाता है—उसकी सेवासे इह लोक और परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। अतः ऐसी कौन स्त्री होगी जो अपने पतिका सत्कार नहीं करेगी।

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नेह विद्यते ॥
(६१ । २४)

स्त्रीका पहला सहारा पति है, दूसरा पुत्र है और तीसरे कुटुम्बीजन हैं; चौथा कोई सहारा उसके लिये नहीं है।

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा ।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥
(६२ । ८)

देवि कौसल्ये ! अपना पति गुणवान् हो या गुणहीन, धर्मका विचार करनेवाली स्त्रियोंके लिये वह प्रत्यक्ष देवता है।

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता ।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या संप्रसाद्यते ॥
(६२ । १३)

(कौसल्या पतिसे कहती हैं—) महाराज ! (मुझे क्षमा करेंगे) लोकमें परम श्लाघनीय बुद्धिमान् पति जिस स्त्रीको मनाता है, विनीत वचनोंसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है, उस स्त्रीका इस लोकमें और परलोकमें भी कल्याण नहीं होता।

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् ।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥
(६२ । १५)

शोक धैर्यका नाश करता है, शोक शास्त्रज्ञानको भी नष्ट कर देता है तथा शोक सब कुछ नष्ट कर डालता है; शोकके समान कोई शत्रु नहीं है।

अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति ।
स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥
(६३ । ९)

जो फलको जाने बिना ही कर्मकी ओर दौड़ता है, वह फल-प्राप्तिके अवसरपर केवल शोकका भागी होता है—ठीक वैसे ही, जैसे पलाशको सींचनेवाला पुरुष उसका फल न पानेसे खिन्न होता है। (पलाशका फूल परम सुन्दर होता है—यह देखकर किसीने सोचा, इसका फल भी अपूर्व होगा; परंतु जब फल लगा, तब उस सारहीन फलको देखकर उस वृक्षके सींचनेवाले मालीको बड़ी निराशा हुई।)

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम् ।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् ॥
(६७ । ८)

(राजा दशरथकी मृत्यु हो जानेपर राजमन्त्रियोंने वसिष्ठजीसे कहा—) इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारोंमेंसे किसीको आज ही राजा बना दिया जाय; अन्यथा बिना राजाका हमारा राष्ट्र विनाशको प्राप्त हो जायगा ।

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥
(६७ । ३१)

बिना राजाके देशमें किसीकी कोई वस्तु अपनी नहीं रहती । मछलियोंकी भाँति सब लोग सदा परस्पर एक-दूसरेको अपना ग्रास बनाते—लूटते-खसोटते रहते हैं ।

ये हि संभिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः ।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः ॥
(६७ । ३२)

धर्म-मर्यादाको भङ्ग करनेवाले नास्तिक भी राजदण्डसे पीडित होकर ईश्वरीय सत्ताके प्रति सन्देहरहित होकर आस्तिक बन जाते हैं ।

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥
(६७ । ३३)

जैसे दृष्टि सदा ही शरीरके हितमें लगी रहती है, उसी प्रकार राजा राष्ट्रको सत्य और धर्ममें लगानेवाला होता है ।

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम् ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥
(६७ । ३४)

राजा सत्य है, राजा धर्म है, राजा कुलीन पुरुषोंका कुल है, राजा ही माता और पिता है तथा राजा समस्त मानवोंका हित-साधन करनेवाला है ।

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥
(१९ । २२)

पिताकी सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन—यह जैसा धर्म है, इससे बढ़कर दूसरा कोई भी धर्म नहीं है ।

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता ॥
(३० । ३५)

सीते ! पिताकी सेवा करना जिस प्रकार कल्याणकारी माना गया है, वैसा प्रबल साधन न सत्य है, न दान-सम्मान हैं और न प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं ।

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम् ॥
(३० । ३६)

गुरुजनोंकी सेवासे स्वर्ग, धन, धान्य, विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं ।

देवगन्धर्वगोलोकान्ब्रह्मलोकांस्तथा परान् ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥
(३० । ३७)

माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं ।

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥
(१०५ । २४)

लोग सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते हैं, किंतु इस बातपर लक्ष्य नहीं करते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है ।

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम् ।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥
(१०५ । २५)

नये-नये-से आये हुए ऋतुकालका प्रारम्भ देखकर मनुष्य हर्षमें भर जाते हैं, किंतु यह नहीं सोचते कि ऋतुओंके इस परिवर्तनके साथ-साथ प्राणियोंके जीवनका क्रमशः क्षय हो रहा है ।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन ॥
(१०५ । २६)

जैसे महासागरमें बहते हुए दो काठ कभी एक दूसरेसे मिल जाते हैं और मिलकर कुछ कालके बाद एक दूसरेसे विलग भी हो जाते हैं—

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ॥
(१०५ । २७)

उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं । इनका वियोग अवश्यम्भावी है ।

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः ।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥
(१०५ । १५)

मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता; क्योंकि यह पराधीन होनेके कारण असमर्थ है। काल इसे इधर-उधर खींचता रहता है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(१०५ । १६)

सभी संग्रहोंका अन्त क्षय है, बहुत ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है। संयोगका अन्त वियोग और जीवनका अन्त मरण है।

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम्॥

(१०५ । १७)

जैसे पके हुए फलोंको गिरनेके अतिरिक्त दूसरा कोई भय नहीं है, उसी प्रकार पैदा हुए मनुष्यको मृत्युके सिवा अन्यत्र भय नहीं है।

यथागारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः॥

(१०५ । १८)

जिस प्रकार मजबूत खम्भेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्युके वशमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं।

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम्॥

(१०५ । १९)

जो रात बीत जाती है, वह फिर लौटकर नहीं आती— जैसे यमुना जलसे भरे हुए महासागरकी ओर ही बढ़ती जाती है, पीछेकी ओर नहीं लौटती।

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः॥

(१०५ । २०)

दिन-रात लगातार बीत रहे हैं, और संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्र गतिसे नाश कर रहे हैं—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यकी किरणें गर्मीमें शीघ्रतापूर्वक जलको सुखाती रहती हैं।

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च॥

(१०५ । २१)

भाई! तू अपनी चिन्ता कर, दूसरेकी चिन्ता क्यों करता है। जो यहाँ मौजूद है और जो (हमारे दृष्टिपथसे दूर) चला गया है, सबकी आयु कम हो रही है।

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥

(१०५ । २२)

मृत्यु साथ ही चलती है, वह साथ ही बैठती है और सुदूरवर्ती पथपर भी साथ-साथ जाकर साथ ही लौट आती है। (हम सदा ही उसके वशमें रहते हैं।)

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्॥

(१०५ । २३)

सब अङ्गोंमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, बाल सफेद हो गये, बुढ़ापेने मनुष्यको जर्जर कर दिया; अब वह कौन-सा पुरुषार्थ करके प्रभुता स्थापित करेगा।

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः॥

(१०६ । ४)

जैसे मरे हुए जीवका अपने शरीर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार जीते-जी भी वह उसके सम्बन्धसे रहित है। जैसे वस्तुके अभावमें उसके प्रति राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही उसके रहनेपर भी मनुष्यको राग-द्वेषसे शून्य होना चाहिये। जिसे ऐसी विवेकयुक्त बुद्धि प्राप्त हो गयी है, उसको किससे संताप होगा।

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात्पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः॥

(१०७ । १२)

क्योंकि बेटा 'पुम्' नामक नरकसे पिताका त्राण (उद्धार) करता है, इसलिये 'पुत्र' कहा गया है। वास्तवमें जो पितरोंका सब ओरसे परित्राण करता है, वही पुत्र है।

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः॥

(१०९ । ३)

जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाको त्याग बैठता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार और विचार दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता।

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम्॥

(१०९ । ४)

मनुष्यका आचरण ही यह बतलाता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर अथवा पवित्र है या अपवित्र।

अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव॥
(१०९।५)

पाखण्डी मनुष्य अनार्य होकर भी आर्यके समान मालूम हो सकता है, शौचाचारसे हीन होकर भी अपनेको परम शुद्ध रूपमें प्रकट कर सकता है; उत्तम लक्षणोंसे शून्य होकर सुलक्षण-सा दिखायी दे सकता है और बुरे स्वभावका होकर भी दिखावेके लिये सुशील-सा आचरण कर सकता है।

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥
(१०९।१०)

सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है, उनका सनातन आचार है; अतः राज्य सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है।

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥
(१०९।११)

ऋषियों और देवताओंने सत्यको ही आदर दिया है। इस लोकमें सत्य-भाषण करनेवाला मनुष्य अक्षय परमधामको प्राप्त होता है।

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यं परो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥
(१०९।१२)

लोग झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे उसी प्रकार डरते हैं, जैसे साँपसे। संसारमें सत्य ही सबसे महान् धर्म है। वही सबका मूल कहा जाता है।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदा श्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
(१०९।१३)

जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है, सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है।

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥
(१०९।१४)

दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये।

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम्।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते॥
(१०९।१५)

कोई लोकका पालन करता है, कोई कुलके पालनमें लगा रहता है, कोई नरककुण्डमें डूबता है और कोई स्वर्गलोकमें पूजित होता है।

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम्॥
(१०९।१८)

हमने सुना है कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करनेके कारण सत्यरूप धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, उस चञ्चल चित्तवाले पुरुषके दिये हुए हव्य और कव्यको देवता और पितर स्वीकार नहीं करते।

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत्।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम्॥
(१०९।२१)

मनुष्य पहले मनमें विचार करके असत्यरूप पापको जिह्वासे कहता है फिर उसे शरीरद्वारा करता है; अतः मानसिक, वाचिक और कायिक—तीन प्रकारके पातक होते हैं।

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत्ततः॥
(१०९।२२)

भूमि, कीर्ति, (बड़ाई), यश (ख्याति और लक्ष्मी—ये सत्यवादी पुरुषको प्राप्त करना चाहते हैं और उसीका अनुसरण करते हैं; अतः सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये।

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥
(१०९।३१)

सत्य, धर्म, पराक्रम, जीवोंपर दया, प्रिय भाषण तथा ब्राह्मण, देवता और अतिथियोंका पूजन—इन सबको साधु पुरुष स्वर्गका मार्ग बतलाते हैं।

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेता-
स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।

अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥
(१०९ । ३६)

धर्माचरणमें तत्पर, सत्पुरुषोंका संग करनेवाले, तेजस्वी, प्रधानतः दानरूप गुणको अपनानेवाले, अहिंसक तथा निष्पाप मुनि लोकमें पूजित होते और श्रेष्ठ माने जाते हैं।

कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥
(१०० । २२)

क्या तुम एक हजार मूर्खोंको छोड़कर एक ही विद्वान् पुरुषको अपने पास रखना पसंद करते हो ? क्योंकि अर्थ-संकटके समय विद्वान् पुरुष बहुत बड़ा हित कर सकता है।

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥
(१०० । ३९)

वेदविरुद्ध दूषित ज्ञान रखनेवाले पण्डितमानी पुरुष प्रमाणभूत मुख्य-मुख्य धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी कोरी तार्किक बुद्धिका आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं।

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥
(११७ । २१)

अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे—जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है।

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥
(११७ । २२)

पति बुरे स्वभावका, मनमाना आचरण करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो—वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवतास्वरूप ही है।

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ॥
(३० । ३३)

माता, पिता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता हैं; इनकी अवहेलना करके अप्रत्यक्ष देवताकी विविध उपचारोंसे आराधना करना कैसे ठीक हो सकता है ?

यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥
(३० । ३४)

जिनकी सेवासे अर्थ, धर्म और काम—तीनोंकी प्राप्ति होती है, जिनकी आराधनासे तीनों लोकोंकी आराधना हो जाती है, उन माता-पिताके समान पवित्र इस संसारमें दूसरा कोई भी नहीं है; सीते ! इसीलिये लोग इन प्रत्यक्ष देवता (माता-पिता) की आराधना करते हैं।

किष्किन्धाकाण्ड

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम् ॥
(१ । १२३)

(लक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—) 'भैया ! उत्साह ही बलवान् होता है, उत्साहसे बढ़कर दूसरा कोई बल नहीं है। उत्साही पुरुषके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु।
उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम् ॥
(१ । १२४)

उत्साही मनुष्य कठिन-से-कठिन काम आ पड़नेपर भी हिम्मत नहीं हारते। केवल उत्साहका सहारा लेकर हमलोग जनकनन्दिनीको पुनः प्राप्त कर लेंगे।

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति ॥
(७ । ९)

शोकमें, आर्थिक संकटमें अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होनेपर जो अपनी बुद्धिसे दुःखनिवारणके उपायका विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, उसे कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याभरणानि च।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः ॥
(८ । ७)

अच्छे स्वभाववाले मित्र अपने घरके सोने-चाँदी अथवा उत्तम आभूषणोंको अपने सन्मित्रोंसे अलग नहीं समझते।

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा।
निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः ॥
(८ । ८)

मित्र धनी हो या गरीब, सुखी हो या दुखी अथवा निर्दोष हो या सदोष; वह मित्रके लिये सबसे बड़ा सहायक होता है।

धनत्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम् ॥
(८ । ९)

साधु पुरुष अपने मित्रका अत्यन्त उत्कृष्ट प्रेम देख आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये धन, सुख और देशका भी परित्याग कर देते हैं ।

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
(१८ । ३३)

मनुष्य पाप या अपराध करनेके पश्चात् यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें आ जाते हैं ।

शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन्पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥
(१८ । ३४)

(चोर आदि अपराधी जब राजाके सामने उपस्थित हों, उस समय) राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे, पापी पुरुष अपने पापसे मुक्त हो जाता है; किंतु यदि राजा पापी-को उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पापका फल भोगना पड़ता है ।

यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते ।
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते ॥
(२९ । १०)

जो राजा कब प्रत्युपकार करना चाहिये, इस बातको जानता हुआ मित्रोंके प्रति सर्वदा साधुताका बर्ताव करता है, उसके राज्य, यश और प्रतापकी वृद्धि होती है ।

यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप ।
समान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते ॥
(२९ । ११)

राजन् ! जिसकी दृष्टिमें खजाना, सेना, मित्र और अपना शरीर—ये सभी समान हैं, वही महान् राज्यका शासन एवं उपभोग करता है (उसके राज्यकी वृद्धि होती है) ।

यो हि कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते ।
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते ॥
(२९ । १४)

कार्य-साधनका उपयुक्त अवसर बीत जानेके बाद जो मित्रके काममें लगता है, वह बड़े-से-बड़े कार्यको सिद्ध करके भी मित्रता निभानेवाला नहीं माना जाता ।

संत्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे यो न वर्तते ।
संभ्रमाद् विकृतोत्साहः सोऽनर्थेनावरुध्यते ॥
(२९ । १३)

जो अपने सब कामोंको छोड़कर मित्रका कार्य सिद्ध करनेके लिये शीघ्रताके साथ प्रयत्न नहीं करता, अपितु हतोत्साह होकर बैठ जाता है, उसे अनर्थका भागी होना पड़ता है ।

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम् ।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ॥
(३० । ७१)

जो बल और पराक्रमसे सम्पन्न तथा पहले उपकार करनेवाले कार्यार्थी पुरुषोंको आशा देकर—उनका कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके पीछे उसे तोड़ देता है, वह संसारके सभी पुरुषोंमें नीच है ।

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम् ।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥
(३० । ७२)

जो अपने मुँहसे प्रतिज्ञाके रूपमें निकले हुए भले या बुरे हर तरहके वचनोंको सत्यरूपमें ग्रहण करता है—उन्हें सत्य कर दिखाता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है ।

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥
(३० । ७३)

जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर अपने मित्रोंके कार्यको पूरा करनेकी परवा नहीं करते, उन कृतघ्न पुरुषोंके मरनेपर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते ।

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः ।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥
(६४ । ९)

मनको विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये, विषादमें बहुत बड़ा दोष है । जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप बालकको काट खाता है, उसी प्रकार विषाद पुरुषका नाश कर डालता है ।

यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिध्यति ॥
(६४ । १०)

जो पराक्रमका अवसर उपस्थित होनेपर विषादग्रस्त हो जाता है, उसके तेजका नाश हो जाता है; फिर उससे पुरुषार्थ नहीं होता ।

सुन्दरकाण्ड

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम्।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः।
करोति सफलं जन्तोः कर्म यच्च करोति सः॥

(१२ । १०-११)

हताश न होना ही सफलताका मूल है और यही परम सुख है। उत्साह ही मनुष्यको सर्वदा सब प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला है और जीव जो कुछ कर्म करता है, उसे उत्साह ही सफल बनाता है।

लङ्काकाण्ड

आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(१८ । २८, ३३)

श्रीरामजी कहते हैं—शत्रु दुखी हो अथवा अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षीकी शरणमें आ जाय तो शुद्ध चित्तवाले सत्पुरुषको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये। मेरा यह नियम है कि जो एक बार शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति॥

(२ । ६)

जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है।

धर्मात्प्रच्युतशीलं हि पुरुषं पापनिश्चयम्।
त्यक्त्वा सुखमवाप्नोति हस्तादाशीविषं यथा॥

(८७ । २२)

जिसका स्वभाव धर्मसे भ्रष्ट हो गया है, जिसने पापाचरणका दृढ़ निश्चय कर लिया है, उसका त्याग करके साधु पुरुष सुखी होता है—जैसे सर्पको हाथसे हटा देनेपर मनुष्य निर्भय हो जाता है।

परस्वहरणे युक्तं परदाराभिमर्शकम्।
त्याज्यमाहुर्दुरात्मानं वेश्म प्रज्वलितं यथा॥

(८७ । २३)

जिस प्रकार जलता हुआ घर त्याग देने योग्य है, उसी प्रकार जो पराया धन हड़पनेमें लगा हो और पर-स्त्रीके साथ बलात्कार करता हो, उस दुष्टात्मा पुरुषको भी त्याग देने योग्य बताया गया है।

परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषाः क्षयावहाः॥

(८७ । २४)

दूसरोंके धनका अपहरण, पर-स्त्रीके साथ बलात्कार और अपने हितैषी सुहृदोंके प्रति घोर अविश्वास—ये तीनों दोष जीवका नाश करनेवाले हैं।

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

(१०१ । १५)

प्रत्येक देशमें स्त्रियाँ मिल सकती हैं, हर देशमें जाति-भाई प्राप्त हो सकते हैं; परंतु ऐसा कोई देश नहीं दिखायी देता, जहाँ सहोदर भाई मिल सकता हो।

नैवार्थेन च कामेन विक्रमेण न चाज्ञया।
शक्या दैवगतिर्लोके निवर्तयितुमुद्यता॥

(११० । २५)

संसारमें फल देनेके लिये उन्मुख हुए दैवके विधानको कोई धन खर्च करके इच्छामात्रसे, पराक्रमके द्वारा अथवा आदेश देकर नहीं पलट सकता।

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥

(१११ । २४)

स्वामिन्! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पापका फल अवश्य मिलता है।

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः॥

(११३ । ४३)

श्रेष्ठ पुरुष दूसरे पापाचारी प्राणियोंके पापको नहीं ग्रहण करता—उन्हें अपराधी मानकर उनसे बदला लेना नहीं चाहता। इस उत्तम सदाचारकी सदा रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि सदाचार ही सत्पुरुषोंका भूषण है।

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥

(११३ । ४४)

समताकी महिमा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

शास्त्रोंमें साधनकालसे लेकर सिद्धिकालपर्यन्त समताकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग—सभीमें समता अवश्य होनी चाहिये। समता ही सिद्धिकी कसौटी है। परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद तो सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें सर्वत्र स्वाभाविक ही पूर्णतया समता आ जाती है और साधनकालमें भी जिस साधकमें जितनी समता अधिक होती है, वह उतना ही परमात्माके समीप पहुँचा होता है। जिसमें जितनी विषमता है, वह उतना ही दूर है। या यों कहिये, जिस साधकमें जितना राग-द्वेष कम है, उतना ही वह परमात्माके समीप है और जितना राग-द्वेष अधिक है, उतना ही वह दूर है। इस विषयका गीतामें विशेषरूपसे प्रतिपादन किया गया है। जबतक राग-द्वेष वर्तमान हैं, तबतक कोई भी न तो योगी है, न भक्त है और न ज्ञानी ही है। राग-द्वेषके अभावसे ही कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोगकी सिद्धिके लिये भगवान्‌ने गीतामें स्थितप्रज्ञके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(२। ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

भक्तियोगमें भी राग-द्वेषसे रहित होनेकी बात कही है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
(७। २७-२८)

'हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा (राग) और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादिद्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं। परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।'

एवं ज्ञानयोगीके लिये भी भगवान्‌ने राग-द्वेषके त्यागकी बात कही है—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
(१८। ५०-५१)

'जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य-सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ। विशुद्ध बुद्धिसे युक्त पुरुष शब्दादि विषयोंका त्याग करके और सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके तथा राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके (ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है)।'

इतना ही नहीं, जबतक राग-द्वेष विद्यमान हैं, तब-

तक कोई भी साधन सिद्ध नहीं होता; इसलिये इन दोनोंको मारनेके लिये भगवान् विशेष जोर देकर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(३।३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

क्योंकि जबतक राग-द्वेष है, तबतक विषमता है और जबतक विषमता है, तबतक मनुष्य परमात्मासे बहुत दूर है। परमात्माकी प्राप्तिमें आरम्भसे लेकर अन्ततक समताकी आवश्यकता है। कोई भी साधन क्यों न हो, बिना समताके उस साधनकी सिद्धि नहीं हो सकती। कर्मयोगका साधन बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२।४८)

'हे धनञ्जय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है।'

भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें भी समताका उल्लेख किया है (१२।१८-१९) और भक्तियोगके साधकोंके लिये इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कहकर उस साधकको भगवान्‌ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२।२०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसी प्रकार ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के साधनमें भी समताकी आवश्यकता सिद्ध की है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(२।१५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(१२।३-४)

'परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य-अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

साधन करते-करते जब साधकमें समस्त पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंके प्रति पूर्ण समता आ जाती है, तभी वह सिद्ध माना जाता है। पूर्णतया समता आये बिना कोई भी सिद्ध योगी, सिद्ध भक्त या सिद्ध ज्ञानी नहीं समझा जा सकता।

जहाँ भगवान्‌ने उच्च कोटिके योगीके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ सर्वत्र उसकी समता दिखलायी है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६ । ७—९)

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसा कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

यहाँ शीत-उष्ण, लोष्ट, अश्म, काञ्चन, 'पदार्थ' हैं; सुख-दुःख 'भाव' हैं; मान-अपमान 'क्रिया' हैं और सुहृद्, मित्र, वैरी आदि 'प्राणी' हैं।

जो भक्तिके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं, उनमें भी इसी प्रकार पूर्णतया समता आ जाती है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
(१२ । १८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है (वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं, मान-अपमान 'क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

इसी प्रकार जो ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं, उन गुणातीत पुरुषोंमें भी पूर्णतया समता आ जाती है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(१४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला; मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला; ज्ञानी; प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यहाँ भी सुख-दुःख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान 'क्रिया' हैं, शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं और प्रिय-अप्रिय—ये पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणी सभीके वाचक हैं।

यहाँ दिखलाना यह है कि कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी—सभी सिद्धोंमें सर्वत्र पूर्ण समता आ जाती है अर्थात् इन सभीकी सभी पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें पूर्णतया समता हो जाती है।

इस संसारमें बहुत-से महापुरुष हुए हैं। उनमें कितने ही तो कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए हैं—जैसे जनकादि (गीता ३ । २०); कितने ही भक्तिके द्वारा—जैसे अम्बरीष आदि; और कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा—जैसे शुकदेव आदि। इनके चरित्र शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। ज्ञानयोगके द्वारा प्राप्त हुए महापुरुषोंमें जडभरत एक बहुत ही उच्चकोटिके महापुरुष हुए हैं, उनकी जीवनी संसारमें प्रसिद्ध है। ज्ञानयोगके द्वारा गुणातीत पुरुषके जो लक्षण गीता अध्याय १४ में २२ से २५ तकके श्लोकोंमें बतलाये गये हैं, वे महात्मा जडभरतमें अक्षरशः पाये जाते थे। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण आदिमें इनकी कथा विस्तारसे आती है। यहाँ संक्षेपमें लिखी जाती है—

आङ्गिरस गोत्रमें उत्पन्न एक सद्गुणसम्पन्न सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण थे। उन्हींके यहाँ जडभरतका जन्म हुआ था। ये 'भरत' नामसे प्रसिद्ध थे; लोकमें जडवत् विचरा करते थे, इसलिये लोग इनको 'जडभरत' कहते थे। कुछ बड़े होनेपर उनके पिताने उनका शास्त्रानुसार उपनयन-संस्कार भी करा दिया। उन्होंने इनको विद्या पढ़ानेकी बहुत चेष्टा की; किंतु ये जान-बूझकर पढ़ना नहीं चाहते थे, इसलिये घरवाले इन्हें पढ़ा नहीं सके। वेद पढ़ानेकी बात तो दूर रही, केवल एक गायत्री-मन्त्र भी नहीं पढ़ा सके। थोड़े दिनों बाद उनके पिता परलोक सिधार गये, तब उनकी माता उनको अपनी सौतको सौंपकर अपने पतिके साथ सती हो गयी। उसके बाद इनकी बड़ी माताके पुत्रोंने इनको पढ़ानेका आग्रह छोड़ दिया और इनकी उपेक्षा-सी कर दी।

तदनन्तर जडभरत उन्मत्तकी-भाँति रहने लगे। उन्हें मानापमानका कुछ भी विचार नहीं था। लोग उन्हें पागल, मूर्ख और बधिर कहते तो वे उसे स्वीकार कर लेते थे। कोई भी उनसे काम कराना चाहते तो उनके इच्छानुसार कर दिया करते और उसके बदलेमें जो कुछ भी अच्छा-बुरा भोजन मिल जाता, वही खा लिया करते। उन्हें अन्य किसी कारणसे उत्पन्न न होनेवाले स्वतःसिद्ध केवल विज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी; इसलिये मानापमान, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे होनेवाले सुख-दुःख आदिमें उन्हें देहाभिमानकी स्फूर्ति नहीं होती थी। वे सरदी, गरमी, वर्षा और आँधीके समय साँडके समान नंगे पड़े रहते। उनके सम्पूर्ण अङ्ग स्थूल और पुष्ट थे। उनका ब्रह्मतेज पृथ्वीपर लोटने, उबटन न मलने और स्नान न करनेके कारण शरीरपर धूलि जम जानेसे धूलिसे ढके हुए महामूल्य मणिके समान छिपा हुआ था। वे अपनी कमरमें मैला-कुचैला कपड़ा बाँधे रहते थे, उनका यज्ञोपवीत भी बहुत मैला हो गया था। इसलिये अज्ञानीलोग इन्हें 'यह कोई द्विज है', 'यह अधम ब्राह्मण है' इस प्रकार कहकर तिरस्कार किया करते थे; किंतु वे इसकी कोई परवा न करके स्वच्छन्द विचरा करते थे।*

इस तरह दूसरोंकी मजदूरी करके पेट पालते देख इनके भाइयोंने इनको खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेमें लगा दिया तो वे उस कार्यको भी करने लगे। परंतु उन्हें इस बातका कुछ भी ध्यान नहीं था कि उन क्यारियोंकी भूमि समतल है या ऊँची-नीची, अथवा वह छोटी है या बड़ी। और उनके भाई उन्हें चावलकी कनी, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनोंमें लगी हुई अनाजकी खुरचन आदि जो कुछ भी दे देते, उसीको वे अमृतके समान समझकर खा लिया करते थे।

एक समय एक डाकुओंके सरदारने पुत्रकी कामनासे भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका निश्चय किया। दैववश उनके नौकरोंने आङ्गिरसगोत्रीय ब्रह्मकुमार जडभरतको इसके लिये पकड़ लिया और रस्सियोंसे बाँधकर उन्हें देवीके मन्दिरपर ले आये। फिर रस्सी खोलकर उन्हें विधिपूर्वक स्नान करा वस्त्राभूषण पहनाये और नाना प्रकारके चन्दन, माला, तिलक आदि लगाकर विभूषित किया। इसके बाद भोजन कराकर धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अङ्कुर, फल और नैवेद्य आदि सामग्रीके सहित बलिदानकी विधिसे पूजा करके गान, स्तुति और मृदङ्ग-ढोल आदिका महान् शब्द करते हुए उनको भद्रकालीके सामने नीचा सिर कराकर बैठा दिया। तदनन्तर दस्युराजके तामसी पुरोहितने उस नर-पशुके रुधिरसे देवीको तृप्त करनेके लिये देवी-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एक तेज तलवार उठायी। उन साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हुए, वैरहीन,

* नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः ॥ ९ ॥ शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार।

समस्त प्राणियोंके सुहृद् ब्रह्मर्षिकुमार जडभरतकी बलि देते देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें जडभरतके दुःसह ब्रह्मतेजसे दाह होने लगा, और वे एकाएक मूर्ति चीरकर प्रकट हो गयीं । उन्होंने क्रोधमें पुरोहितके हाथसे अभिमन्त्रित तलवारको छीन लिया और उसीसे उन सारे मनुष्यघातक पापियोंके सिर उड़ा दिये । सच है, महापुरुषोंके प्रति किया हुआ अत्याचाररूप अपराध इसी प्रकार ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर पड़ता है । उस समय देहाभिमानशून्य, समस्त प्राणियोंके सुहृद् वैरहीन भगवत्-शरणापन्न महात्मा जडभरतको अपने सिर कटनेका अवसर आनेपर भी किसी प्रकारकी व्याकुलता नहीं हुई—वस्तुतः इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।

एक बार सिन्धुसौवीर देशके राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये कपिलदेवजीके आश्रम-पर जा रहे थे। रास्तेमें इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचनेपर एक कहारकी और आवश्यकता पड़ी । तब कहारोंके जमादारने जडभरतको पालकी ढोनेयोग्य हृष्ट-पुष्ट और जवान देखकर बलात्कारसे पालकीमें लगा दिया । महात्मा भरतजी बिना कुछ प्रतिकार किये चुपचाप पालकी ढोने लगे । कोई जीव पैरों तले न दब जाय, इस बातको खयाल करके वे धरतीको देखते हुए पग धर रहे थे । इससे दूसरे कहारोंके साथ उनकी चालका मेल नहीं बैठा । पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी; अंदर बैठे राजाको धक्के-से लगने लगे। तब राजाने कहा—अरे कहारो ! अच्छी तरह चलो; पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची क्यों करते हो ? इसपर कहारोंने कहा कि हम तो ठीक चल रहे हैं; यह जो नया कहार है, यही ठीक नहीं चलता; इसीके कारण पालकी ऊँची-नीची हो रही है ।

इसपर राजाको क्रोध आ गया । उन्होंने जडभरतको ठीक चलनेके लिये कहा; किंतु जडभरतने मानो कुछ सुना ही नहीं। अपनी उसी चालसे चलते रहे । राजाने पुनः क्रोधपूर्वक कहा—अरे, क्या तू जीता ही मर गया ? तू जानता नहीं, मैं तेरा स्वामी हूँ ? तू मेरा निरादर करके इस प्रकार मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है ! अच्छा, मैं तेरा अभी इलाज किये देता हूँ । तब तेरे होश ठिकाने आ जायँगे ।

राजा रहूगण वैसे बुद्धिमान् तथा सत्-हृदयके पुरुष थे; परंतु क्रोध और अभिमानवश उन्होंने बहुत-सी अनाप-शनाप बातें कहीं और जडभरतका बड़ा तिरस्कार किया । किंतु राजाकी ऐसी मन्दमति देखकर भी सभी प्राणियोंके सुहृद् ब्रह्मभूत जडभरतजीके मनमें कुछ भी विकार नहीं हुआ । वे मुसकराते हुए बोले—'राजन् ! तुम जो कुछ कह रहे हो, सो ठीक ही है; किंतु मेरा इस शरीरसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है; इसलिये मुझे न तो भार ढोनेका क्लेश है और न मार्ग चलनेका परिश्रम ही। स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख-प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब देहाभिमानी जीवमें रहते हैं; मुझमें तो इनका लेश भी नहीं है । राजन् ! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही, सो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमित-रूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं; क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं । राजन् ! जहाँ स्वामी-सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञापालनादिका नियम भी लागू हो सकता है । तुम्हारे और मेरे बीचमें तो यह सम्बन्ध है नहीं । परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें और किसे सेवक ? फिर भी यदि तुम्हें स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? राजन् ! मैं तो उन्मत्त और जडके समान अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ; फिर मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा ? यदि मैं वास्तवमें जड और प्रमादी ही हूँ, तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ ही है ।'

इस प्रकार कहकर जडभरत मौन हो गये । उनका अज्ञान सर्वथा नष्ट हो चुका था, इसलिये वे परम

शान्त हो गये थे। उन्होंने भोगद्वारा प्रारब्धका क्षय करनेके लिये फिर पालकी उठा ली; किंतु राजा रहूगण उनका हृदयग्रन्थिका छेदन करनेवाला शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर उत्तम श्रद्धाके कारण तत्काल पालकीसे उतर पड़े और उनके चरणोंपर सिर रखकर अपना अपराध क्षमा कराते हुए बोले—'देव! आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा है; बतलाइये, इस प्रकार गुप्तरूपसे विचरनेवाले आप कौन हैं? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं? आपका जन्म कहाँ हुआ है और यहाँ कैसे पधारे हैं? मैं तो योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछने जा रहा था कि इस लोकमें एकमात्र शरण लेने योग्य कौन है; सो आप वे कपिल-मुनि ही तो नहीं हैं?'

इसपर जडभरतजीने अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं पूर्वजन्ममें 'भरत' नामका राजा था। मैं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्की आराधनामें ही लगा रहता था, तो भी एक मृगमें मेरी आसक्ति हो जानेसे मुझे परमार्थसे भ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें मृग बनना पड़ा। किंतु भगवान्की आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। इसीलिये अब इस ब्राह्मणयोनिमें मैं जन-संसर्गसे डरकर सर्वदा असङ्गभावसे गुप्तरूपमें ही विचरता रहता हूँ। मनुष्यको विरक्त महापुरुषोंके सत्सङ्गसे प्राप्त ज्ञानरूप तलवारके द्वारा इस लोकमें ही अपने मोह-बन्धनको काट डालना चाहिये; फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे ही संसारमार्गको पार करके भगवान्को प्राप्त कर सकता है। रहूगण! तुम भी इस संसारमार्गमें भटक रहे हो; इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ और विषयोंमें अनासक्त होकर भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किये हुए ज्ञानके द्वारा इस मार्गको पार कर लो।'

इस तरह उन परम प्रभावशाली स्वाभाविक दयालु ब्रह्मर्षिपुत्र जडभरतजीने अनेकों युक्तियोंद्वारा शङ्का-समाधान करते हुए सिन्धुनरेश रहूगणको आत्मतत्त्वका उपदेश किया। तब राजा रहूगणने दीनभावसे उनके चरणोंकी वन्दना की। महात्मा भरतजीके सत्सङ्गसे उनको भी परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया। फिर महात्मा जडभरतजी परिपूर्ण समुद्रके समान शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर विचरने लगे।

महात्मा जडभरतके इतिहासमें गुणातीत महापुरुषके लक्षण अक्षरशः घटते हैं। यहाँ केवल गीताके चौदहवें अध्यायमें वर्णित २४ वें, २५ वें श्लोकोंके भावोंका इनके जीवनमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

देवी भद्रकालीके सामने जडभरतजीकी बलि देनेके लिये जब पुरोहित तलवारसे इन्हें मारने लगा, तब तो इन्हें कोई दुःख नहीं हुआ और देवीने प्रकट होकर इनपर अत्याचार करनेवालोंको मार डाला, तब उनको कोई प्रसन्नता नहीं हुई। ये अपने आत्मस्वरूपमें स्थित थे और इनको सुख-दुःख सभी समान थे। जब-जब इन्हें सुख-दुःखका अवसर प्राप्त हुआ, तब-ही-तब ये अपने आत्मामें अटल स्थित रहे और सुख-दुःखादि विकारोंसे विचलित नहीं हुए। क्योंकि वे 'समदुःखसुखः स्वस्थः' थे।

दूसरे लोग इनसे काम करवाकर जो कुछ दे दिया करते, उसीको लेकर ये सन्तुष्ट हो जाया करते थे; इनके लिये पत्थर, मिट्टी और सोना सब समान था। क्योंकि वे 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' थे।

राजा रहूगणने इनके साथ पहले अप्रिय (प्रतिकूल) व्यवहार किया और फिर उनको पहचान लेनेपर प्रिय (अनुकूल) व्यवहार किया। किंतु महात्मा जडभरतजीको न तो प्रतिकूल व्यवहारसे शोक हुआ और न अनुकूलसे हर्ष ही। ये आत्मज्ञानको प्राप्त कर चुके थे, इसलिये सर्वथा निर्विकार, सम और स्थिरचित्त रहे। क्योंकि वे 'तुल्यप्रियाप्रियो धीरः' थे।

राजा रहूगणने पहले उनकी बहुत प्रकार निन्दा की और पहचान लेनेपर उनकी बड़ी स्तुति की; किंतु महात्मा जडभरतके चित्तमें उस निन्दासे तो कोई दुःख नहीं हुआ और स्तुतिसे कोई प्रसन्नता नहीं हुई। क्योंकि वे 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' थे।

दस्युराजके नौकर पहले जडभरतजीको रस्सियोंसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये और बादमें बलि देनेके लिये इनको वस्त्राभूषण पहनाकर धूप, दीप, नैवेद्य आदिसे इनकी पूजा की; किंतु रस्सी आदिसे बाँधनेके अपमानसे तो इनको कोई दुःख नहीं हुआ तथा वस्त्राभूषण और धूप-दीप आदिके द्वारा पूजा-सम्मान करनेपर कोई सुख नहीं हुआ। क्योंकि वे तो 'मानापमानयोस्तुल्यः' थे।

दस्युराजने इनको बलि देनेका निश्चय करके वैरीका काम किया और देवी भद्रकालीने इनके प्राण बचानेके लिये बलि देनेवाले शत्रुओंको मारकर मित्रका काम किया। किंतु जडभरत न तो मारनेवालोंपर रुष्ट हुए और न बचानेवाली देवीपर प्रसन्न ही हुए। क्योंकि वे 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' थे।

इसके अतिरिक्त, जडभरतजीद्वारा जो कोई भी किया होती थी, उसमें अभिमानका लेशमात्र भी नहीं रहता था। इनके भाई इन्हें खेतकी रखवालीके लिये या चावलोंकी क्यारियोंकी भूमि समतल करनेके लिये लगा देते थे तो ये निरभिमानतापूर्वक उनके इच्छानुसार किया करते थे और इसी प्रकार दूसरे लोग भी जो काम कराते, उनके इच्छानुसार कर दिया करते थे। इतना ही क्यों, दस्युराजके नौकर जब इन्हें बाँधकर ले गये तब भी इन्होंने कोई आपत्ति नहीं की और राजाके आदमी पकड़कर ले गये तथा बलात् पालकीमें लगा दिया, तब भी ये निरभिमानतापूर्वक पालकीको ही बड़ी प्रसन्नतासे ढोने लगे। इनकी क्रियामें कहीं भी किञ्चिन्मात्र भी कर्तापनका अभिमान नहीं था; क्योंकि ये 'सर्वारम्भपरित्यागी' थे।

गीताके चौदहवें अध्यायमें भगवान्‌ने 'गुणातीतः स उच्यते' (१४ । २५) कहकर जो गुणातीतके लक्षण बतलाये हैं, वे सभी महात्मा जडभरतजीमें अक्षरशः घटते थे। ऊपर जो चौदहवें अध्यायके २४ वें और २५ वें श्लोकोंके भावोंका इनके जीवनमें दिग्दर्शन कराया गया है, इसी प्रकार २२ वें और २३ वें श्लोकोंमें वर्णित लक्षण भी इनमें घटा लेने चाहिये।

इस उपाख्यानपर निवृत्तिप्रिय ज्ञानमार्गी साधकोंको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। उन्हें गुणातीत अवस्था प्राप्त करनेके लिये महात्मा जडभरतजीको आदर्श मानकर उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि साधन करनेवाले सभी कल्याणकामी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि समस्त पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें पूर्णतया समता प्राप्त करनेके लिये प्रारम्भसे ही समभावको लक्ष्यमें रखते हुए तत्परतापूर्वक साधनकी चेष्टा करनी चाहिये।

नन्दनन्दनका ध्यान

करु मन, नंदनँदनको ध्यान।
यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगौ, मेरौ कह्यौ अब मान॥
घूँघरवारी अलकैं मुखपै, कुंडल झलकत कान।
नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान॥

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३८)

किसीने नहीं जाना—व्रजेशतनयने वंशीवादनकी शिक्षा कब, किससे ली। एक दिन सहसा वह अमृतपूरका प्रवाह बह चला एवं समस्त व्रजवासी उसमें निमग्न हो गये। कुछ क्षणोंके लिये सबकी चेतना विलुप्त हो गयी; जब वे प्रकृतिस्थ हुए, तब भी अपने-आप निर्णय नहीं कर पाये कि यह क्या वस्तु है! कतिपय गोपसुन्दरियोंने अवश्य देखा—प्रस्फुटित पीतझिंटी पुष्पोंकी झुरमुटको परिवेष्टितकर गोपशिशु आनन्द-कोलाहल कर रहे हैं और उसके अन्तरालमें अपनेको छिपाये, अपने बिम्बारुण अधरोंपर हरित बाँसकी वंशी धारण किये श्रीयशोदाके नीलमणि स्वर भर रहे हैं। अपलक नेत्रोंसे जड पुत्तलिकाकी भाँति वे तो खड़ी-खड़ी देखती रह गयीं; पर उनके प्राणोंकी अनुभूतिका स्पर्श पाकर मानो पवन पुनः द्विगुणित चञ्चल हो उठा और उसने ही क्षणभरमें इतने विस्तृत व्रजपुरमें, व्रजपुरके प्रत्येक आवासमें, आवासके कोने-कोनेमें यह सूचना भर दी कि यह तो व्रजरानीके नीलमणिकी—नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र-की बजायी हुई मोहन वंशीध्वनि है!

यह ध्वनि वृन्दावनको झङ्कृत करके ही नहीं रह गयी। अन्तरिक्षको भी आत्मसात् करने ऊपर उठी, पातालको प्रकम्पित करने नीचे चली गयी। उधर तो मेघसमूह सहसा रुद्ध हो गये। स्वर्गायक तुम्बुरुकी दशा विचित्र हो गयी, आश्चर्यमें निमग्न विस्फारित नेत्रोंसे बारंबार वृन्दावनकी ओर झाँककर वह इस उन्मद नादका अनुसन्धान पाना चाहता था। सनक-सनन्दन प्रभृति ऋषिवर्गका चिर-अभ्यस्त ध्यान टूट गया, विक्षिप्तचित्त होकर वे इस मधुर रवमें डूबने-उतराने लगे। विधाताके आश्चर्यका भी पार नहीं। और उधर दानवेन्द्र बलिकी उत्सुकताकी सीमा नहीं; चिरशान्तस्वभाव बलि आज अतिशय चञ्चल हो उठे। भोगीन्द्र अनन्तदेव भी आज घूर्णित होने लगे। समस्त ब्रह्माण्डको भेदन करती हुई यह ध्वनि सर्वत्र परिव्याप्त हो गयी, सब ओर रससिन्धु उमड़ चला—

> **रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं**
> **कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं**
> **ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान्**
> **विस्मापयन्वेधसम्।**
> **औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन्**
> **भोगीन्द्रमाघूर्णयन्**
> **भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो**
> **बभ्राम वंशीध्वनिः॥**
>
> (श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः)

व्रजपुर वृन्दावनका प्रत्येक अधिवासी वहीं आ पहुँचा, जहाँसे यह उन्मद नाद प्रसरित हो रहा था। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र यह भीड़ देखकर सङ्कुचित हो गये, वंशीको अधरोंसे हटाकर सङ्कोच छिपानेके उद्देश्यसे किसी अन्य बाल्यक्रीड़ाका उपक्रम करने चले। इतनेमें व्रजरानी भी आ गयीं। उनके प्राणोंको भी इस मोहनध्वनिने स्पर्श किया था तथा उत्कण्ठाके प्रबल आवेगमें बहकर ही वे यहाँ आयी थीं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको अपने लज्जा-निवारणका समुचित स्थान प्राप्त हो गया। वे दौड़कर जननीके कण्ठसे जा लगे, उनके अञ्चलमें अपना मुख छिपा लिया। व्रजरानीके नेत्र छल-छल करने लगे।

अब आजसे, इस क्षणसे गोपसुन्दरियोंकी दिनचर्यामें एक और नवीन कार्यक्रम बना। श्रीकृष्णचन्द्र जिसे जहाँ मिलते, बस, उसकी ओरसे एक ही प्रार्थना होती—'मेरे लाल! तनिक-सी वंशी तो बजा दे।' विशेषतः जब श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेश्वरके, व्रजरानीके अङ्कको सुशोभित करते होते, उस समय दल-की-दल व्रजसुन्दरियाँ एकत्र हो जातीं और कहने लगती—

हे कृष्ण ! मातृकुचचूचुकचूषणेऽपि
नालं यदेतदधरोष्ठपुटं तवाऽऽसीत् ।
तेनाद्य ते कतिपयेषु दिनेष्वकस्मात्
कस्माद् गुरोरधिगतः कलवेणुपाठः ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कृष्णचन्द्र ! मेरे नीलमणि ! विचित्र बात है । भला देखो, कहाँ तो तुम्हारे ये सुकोमल, नन्हे-से अधर ओष्ठपुट जननीके स्तनपानके लिये भी समर्थ न थे, और कहाँ उसी अधरपर वंशी धारणकर इन ही कुछ दिनोंमें इतनी मधुर वंशी बजाना तुम सीख गये ! अरे बताओ तो सही, इतने अल्प समयमें अकस्मात् इस मधुर वंशीवादनकी शिक्षा तुमने किस गुरुसे प्राप्त कर ली !'

निर्मञ्छनं तव नयामि मुखस्य तात
वेणुं पुनर्ललन ! वादय वादयेति ।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वत्स ! मेरे लाल ! तेरे चन्द्रमुखकी बलैया लेती हूँ । तू फिर वंशी बजा दे; बजा दे, साँवरे, बजा दे !'

श्रीकृष्णचन्द्र भी व्रजपुरन्ध्रियोंका यह प्रोत्साहन पाकर बाबा-मैयाके समक्ष वंशीमें रस भरने लगते तथा वंशी उनके अधरोंका रस पाकर स्वयं रसमयी बनकर वृन्दावनमें रस-सरिता प्रवाहित कर देती—

ऊचुर्यदा स्वजननीजनकोपकण्ठे
तं वादयन्नथ तदा सरसीकरोति ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उस समय ऊपर आकाशका दृश्य भी देखने ही योग्य होता । अन्य सुर-समुदायकी बात दूर, हंसवाहन चतुर्मुख स्रष्टाकी प्रेमविकृति दर्शनीय होती—

अष्टाभिः श्रुतिपुटकैर्नववैणवकाकलीं कलयन् ।
शतधृतिरपि धृतिमुक्तो मरालपृष्ठे मुहुर्लुठति ॥
(विदग्धमाधव)

'अपने आठ कर्णपुटोंके द्वारा उस नवीन मधुरास्फुट ध्वनिका रस-पान करते हुए ब्रह्मा विभोर होने लगते, उनका धैर्य छूट जाता तथा वे वहीं हंसके पृष्ठदेशपर प्रेमविवश बारंबार लोटने लगते ।'

सुरेन्द्रके सहस्र नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु झरने लगते । सरलमति गोप आश्चर्यचकित होकर देखते—गगन मेघशून्य है, फिर भी बूँदें बरस रही हैं; शीतल सुखद वृष्टि हो रही है; वन, प्रान्तर आर्द्र होते जा रहे हैं; वृन्दावनकी भूमि किसी अभिनव वर्षाधारासे सिक्त हो रही है—

चित्रं वारिधरान् विनापि तरसा यैरद्य धारामयै-
र्दूरात् पश्यत देवमातृकमभूद् वृन्दाटवीमण्डलम् ।
(विदग्धमाधव)

नन्हे-से नन्दनन्दनकी वेणुध्वनिसे वृन्दाकाननमें स्थावर-जङ्गमोंका स्वभाव-वैपरीत्य तो अनिवार्य घटना होती—

द्रवति शिखरवृन्देऽचलानां वेणुनादै-
र्दिशि दिशि विसरन्तीर्निर्झरापः समीक्ष्य ।
तृषितखगमृगाली गन्तुमुत्का जडा तैः
स्वयमपि सविधाप्ता नैव पातुं समर्था ॥
(श्रीगोविन्दलीलामृतम्)

'वेणुनादका स्पर्श पाते ही स्थिर पर्वतश्रेणियोंके शिखरसमूह द्रवित हो जाते, पाषाण तरल बनकर चारों ओर बह चलते, अनेक निर्झरोंका सृजन हो जाता । उन्हें देखकर तृषित विहङ्गमकुल, मृगयूथ पीनेके लिये उत्कण्ठित हो जाता, चाहता कि दौड़कर जा पहुँचे; किंतु उसके अङ्ग अवश हो जाते, उनमें एक विचित्र सुखमयी जडता आ जाती तथा स्वयं निकट आयी हुई उस वारिधाराका पान करनेकी सामर्थ्य भी वे खो बैठते ।'

वंशीनादैः सरसि पयसि प्रापिते ग्रावधर्मं
हंसीः सन्दानितपदयुगाः स्तम्भिताङ्गी रिरंसुः ।
आलक्ष्यीशाः स्वयमपि जडा बद्धपादा न गन्तुं
ताभ्यो दातुं न बिसशकलं नापि भोक्तुं मरालाः ॥

'वंशीनादका चमत्कारी प्रभाव सरोवरके जलको जमाकर प्रस्तरका रूप दे देता । सरोवरमें संतरण करते हुए हंसिनीयूथके पैर भी जमे हुए जलके संसर्गमें

आकर बँध जाते, साथ ही ध्वनिका मधुपान कर उनके अन्य समस्त अङ्ग भी निश्चल हो जाते। यही दशा हंसकुलकी होती। घन होकर प्रस्तररूपमें परिणत जलके उज्ज्वल तलमें उनके पादयुगल भी बद्ध हो जाते, वैसी ही जडता उनके अङ्गोंमें भी आ जाती। अन्तस्तलमें हंसिनीको अपना प्यार समर्पित करनेकी वासना लिये, अपनी सङ्गिनीको प्रेमोपहार दान करने एवं स्वयं भोजन करनेके उद्देश्यसे चञ्चुपुटोंमें मृणालखण्ड धारण किये वह मरालकुल भी जहाँका तहाँ रुद्ध हो जाता। न तो मरालीको ही मृणाल प्रदान कर पाता, न स्वयं ही भक्षण कर पाता।'

पहले तो श्रीकृष्णचन्द्र वंशी बजानेमें सङ्कोच करते, व्रजसुन्दरियोंका अतिशय प्रेमिल आग्रह होनेपर ही, जननीकी मनुहार पानेपर ही बजाते; पर क्रमशः उनका सङ्कोच शिथिल हो गया। फिर तो यमुना-पुलिन रह-रहकर मोहन-वंशीनादसे निनादित होने लगा तथा जितने क्षण वह स्वरलहरी काननको गुञ्जित करती रहती, उतने समयमें वहाँ न जाने क्या-से-क्या होता रहता—

> नँदलाल बजाई बाँसुरी श्रीजमुनाके तीर री।
> अधर कर मिल सप्त स्वर सों उपजत राग रसाल री॥
> ब्रजजुवती धुनि सुनि उठ धाईं, रही न अंग सँभार री।
> छूटी लट लपटात बदन पर, टूटी, मुक्ता माल री॥
> बहत न नीर, समीर न डोलत वृंदा बिपिन सँकेत री।
> सुनि थावर अचेत चेतन भए, जंगम भए अचेत री॥
> अफल फले, फल फूल भए री, जरे हरे भए पात री।
> उमग प्रेम जल चल्यो सिखर तें, गरे गिरिन के गात री॥
> तृन न चरत मिरगा मिरिगी दौउ, तान परी जब कान री।
> सुनत गान गिरि परे धरनि पर, मानो लागे बान री॥
> सुरभी लाग दियो केहरि को, रहत श्रवन ही डार री।
> भेक भुजंगम फन चढ़ि बैठे, निरखत श्रीमुख चारु री॥
> खग रसना रस चाख बदत नहिं, नैन मूँदे मुनि धार री।
> चाखत फलहि न परे चोंच ते, बैठे पाँख पसार री॥
> सुर नर असुर देव सब मोहे, छाए व्योम बिमान री।
> चत्रभुजदास कहौ को न बस भए या मुरली की तान री॥

अस्तु, वृन्दावन आनेके कुछ ही दिनों पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रने सर्वप्रथम इसी उन्मद वेणुनादका प्रकाश किया, मानो यहाँकी अग्रिम लीलाओंमें चिरसहचरी वंशीको अपने अधरोंपर धारणकर मङ्गलाचरण करने चले हों। साथ ही उनकी चञ्चलता भी बृहद्वनकी अपेक्षा यहाँ अतिशय बढ़ गयी। अवश्य ही चञ्चलताका क्षेत्र इस बार दूसरा है। यहाँ वे किसीके घर नहीं जाते, दधि-दुग्धका अपहरण नहीं करते, किसीके भी मटके नहीं फोड़ते। यहाँ तो कलेउके अनन्तर सीधे वनमें या गोष्ठमें चले जाते हैं। छायाकी भाँति रोहिणीनन्दन बलराम उनका अनुसरण करते हैं, उनकी प्रत्येक चपल चेष्टाओंका अनुमोदन करते हैं, उनमें योगदानकर उनको प्रोत्साहित करते हैं। तथा वहाँ गोष्ठमें, वनमें, उनकी क्रीडाका माध्यम अब बन गये हैं—गौ, गोवत्स, वृषभ। उनके साथ विविध क्रीडा करनेमें ही मध्याह्न हो जाता है, और फिर सन्ध्या आ जाती है। इसीलिये शङ्कितचित्त व्रजराज अब स्वयं भी प्रतिदिन गो-चारणमें सम्मिलित होने लगे हैं। व्रजरानीका भी अधिकांश समय गोष्ठमें ही व्यतीत होता है। पर ऐसे चञ्चलका नियन्त्रण सम्भव जो नहीं। व्रजदम्पति देखते रह जाते हैं और श्रीकृष्णचन्द्र विश्राम करते हुए किसी विशालकाय साँड़की ग्रीवापर, पीठपर उछलकर चढ़ जाते हैं। पीछे राम उसकी पूँछ पकड़कर उमेठना आरम्भ करते हैं और वहाँ श्रीकृष्णचन्द्र उसके सींगोंको पकड़कर उसे उठकर चलनेका सङ्केत करते हैं। कभी कुछ गोवत्सोंको या गायोंको एकत्र कर लेते हैं, उन्हें अपने इच्छानुसार नचाते हैं और स्वयं नाचते हैं। दोनों भाई राजपथपर जा रहे हैं, इतनेमें शकटमें जुते बलीवर्द दीख पड़े; फिर तो उनके शृङ्गोंको पकड़कर उनसे विविध क्रीड़ा करना अनिवार्य है। भयभीत नन्दरानी कितना भी निवारण करें, व्रजेश कितना

भी समझायें; पर राम-श्याम कहाँ मानते हैं । व्रजदम्पतिकी दृष्टि अन्य ओर गयी, वे किसी अन्य कार्यमें संलग्न हुए कि बस, दोनों ही भागे और फिर निश्चित है कि वे वहीं मिलेंगे जहाँ सुदूर वनमें किञ्चित् वयस्क गोपशिशु वत्सचारण कर रहे हैं या युवक गोप गोचारणमें संलग्न है । अपने प्राणप्रतिम नीलमणिको, रामको इतनी दूर अकेले गये देखकर, सुनकर जननीका हृदय धक्-धक् करने लगता तथा उस दिन सन्ध्याके समय अपने भुजपाशमें बाँधकर—जबतक दोनों निद्रित नहीं हो जाते, तबतक—वे समझाती रहतीं। किंतु नीलमणिका उत्तर तो यह होता—

मैया री ! मैं गाय चरावन जैहौं ।
तूँ कहि महरि नन्दबाबा सौं, बड़ो भयो न डरैहौं ॥
श्रीदामा लै आदि सखा सब, अरु हलधर सँग लैहौं ।
दह्यौ भात काँवरि भरि लैहौं, भूख लगै तब खैहौं ॥
बंसीवट की सीतल छैयाँ खेलत में सुख पैहौं ।
परमानंददास सँग खेलौं, जाय जमुनतट न्हैहौं ॥

उत्तर सुनकर जननीका रोम-रोम आनन्द-परिपूर्ण तो अवश्य हो जाता; पर इतने नन्हे-से नीलमणिको वे अभी वनमें गोचारण करने भेजेंगी, यह तो स्वप्नमें भी कल्पना नहीं होती । यशोदारानी किसी प्रकार प्रसङ्ग बदलकर नीलमणिको सुला पातीं ।

अब श्रीकृष्णचन्द्र अपने वयके तीसरे वर्षमें प्रविष्ट हो चुके हैं । उनके शैशवके अन्तरालमें कौमार भावकी झाँकी स्पष्ट हो गयी है । उनका वस्त्र-परिधान-महोत्सव भी सम्पन्न हो चुका है । जननी अपने स्नेहसिक्त करोंसे नीलमणिको वस्त्र (धोती) धारण कराती हैं । उल्लासमें भरकर यत्नपूर्वक बड़े मनोयोगसे वे पहन भी लेते हैं, पर दूसरे ही क्षण उसमें बन्धनकी अनुभूतिकर स्वयं खोलकर फेंक भी देते हैं । पुनः उस सुन्दर पीताम्बरको देखकर धारण करनेकी इच्छा जाग्रत् होती है, जननीसे माँगकर स्वयं धारण करनेका प्रयास करते हैं, पर अपने हाथ धारण करनेमें कुछ अंश आवृत एवं कुछ अनावृत रह जाता है । उस समय उन्हें लज्जाका अनुभव होता है तथा और भी अधिक प्रयत्नसे वे वस्त्र धारण करने चलते हैं । प्रतिदिन ही उनके वस्त्र-परिधानकी यह मनोहर लीला होती है—

वस्त्रं दधाति जननीनिहितं प्रयत्नात्
क्षिप्रं च वन्धनधिया स्वयमुज्जहाति ।
भूयस्तदर्दति बिभर्ति च यस्य चोर्ध्वं
व्रीडां विकल्प्य लघु नित्ययति स्म कृष्णः ॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु उसी पीताम्बरसे जब वे दो-तीन-चार विशालकाय वृषभोंके शृङ्गोंको एक साथ जोड़कर उन्हें खींचना आरम्भ करते हैं, उस समय भयविह्वल व्रजरानी चीत्कार कर उठती हैं; व्रजेश्वरका हृदय भी दुर-दुर करने लगता है । पर उपाय क्या हो, नीलमणि सुनते जो नहीं । प्रत्युत प्रतिदिन उनकी ऐसी चपलता बढ़ती जा रही है, मानो जननी-जनकके हृदयको कँपा देनेवाली ऐसी क्रीडामें उन्हें अधिकाधिक रस आ रहा हो । जब देखो, तभी वे गायों-से, गोवत्सोंसे, वृषभोंसे खेलते मिलेंगे । और फिर बलरामका सहयोग उन्हें प्राप्त है, अब किसका भय ! जननीको सूचना देनेवाले तो दाऊ भैया ही हैं; वे ही जब सम्मिलित हैं तो चिन्ता किस बातकी । अतः रक्षाका और कोई उपाय न देखकर व्रजेश्वरने व्रजरानीसे परामर्श कर यह निश्चय किया—

यदि गोसङ्गावस्थानं विना न स्थातुं पारयतस्तर्हि व्रजसदेशदेशे वत्सानेव तावत्सञ्चारयतामिति ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'यदि सचमुच राम-श्याम गायोंका सङ्ग छोड़ नहीं सकते, उनके निकट रहना इन्हें इतना प्रिय है, तो फिर अच्छा यह है कि ये दोनों व्रजके निकट रहकर छोटे बछड़ोंको चराया करें ।'

श्रीकृष्णचन्द्रको मनोवाञ्छित प्राप्त हो गया । बस, इतना ही विलम्ब है—ज्योतिषी मुहूर्त निश्चित करेंगे,

एवं उस दिन महर्षि शाण्डिल्य पधारकर वत्सचारण-महोत्सव सम्पन्न करेंगे ।

पुरवासियोंके आनन्दका पार नहीं । राम-श्याम अपनी नित्य नूतन बाल्यभङ्गिमाओंका प्रकाश कर उनका आनन्द-वर्द्धन करते आये हैं, अपने मधुर वचन सुना-सुनाकर प्रत्येकका मनहरण करते रहे हैं । परमानन्दमें विभोर पुरवासियोंको तो यह अनुसन्धान ही नहीं था कि नीलमणि क्रमशः बढ़कर इस योग्य बन गये हैं । व्रजेश्वरका निर्णय सुनकर उनकी स्मृति जागी और उन्होंने अनुभव किया कि राम-श्यामको वत्सपालक बना देना सर्वथा उचित है । गोचारण, वत्सचारण तो गोपजातिका स्वधर्म है । सबके जीवन-सर्वस्व नीलमणिसे यदि व्रजेश्वर स्वधर्मका आचरण करवायें तो इसका समर्थन कौन नहीं करे ! सबने एक स्वरसे इस योजनाका स्वागत किया । राम-श्यामके वत्सपाल बननेकी तैयारी आरम्भ हुई । अस्तु, मुहूर्त कभी निकले, पुरवासी तो अपने कल्पनाके नेत्रोंसे नीलमणिको वत्सचारण करते हुए अभीसे देखने लग गये—

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः ।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३७)

उन्हें इस क्षणसे ही दीख रहा है—वह देखो ! विचित्र भूषणवसन-विभूषित असंख्य गोपशिशु हैं, बलराम हैं, नहीं-नहीं सौन्दर्यसरितामें इतनी लहरें उठकर घनी-भूत हो गयी हैं । और वहाँ देखो, इन सबके नायक नन्दनन्दनको । अहा ! वहाँ तो कोटिचन्द्र एकत्र एक साथ सुधाकी वर्षा कर रहे हैं !

बल समेत सिसु सब अभिराम । कंचन-भूषन कंचन-धाम ॥
तिन मधि अधिनाइक जु नंद को । बरषत अमी जु कोटि चंद को ॥

आध्यात्मिक धनकी श्रेष्ठता

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

सभी प्रकारके धनको प्राप्त करके मनुष्य अपने आपकी पूर्णताकी अनुभूति करता है । धन तीन प्रकारके हैं—भौतिक धन, बौद्धिक धन और आध्यात्मिक धन । बौद्धिक धन भौतिक अथवा आध्यात्मिक धनका साधन होता है । अतः इसे हम 'साधक धन' कह सकते हैं और अन्य दो प्रकारके धनोंको—'साध्य धन' कहा जा सकता है । जबतक हमारी बुद्धि स्थूल रहती है, हम भौतिक धनको ही संसारकी अधिक कीमती वस्तु समझकर उसे एकत्र करते रहते हैं और हमारी दृष्टि आध्यात्मिक धनकी ओर नहीं जाती । सत्संगके द्वारा जब मनुष्यकी बुद्धि परिष्कृत हो जाती है, तब वह आध्यात्मिक धनकी मौलिकताको मानने लगता है और फिर वह इसे एकत्र करनेके लिये चेष्टा करने लगता है । अतएव कुशाग्रबुद्धिका व्यक्ति ही आध्यात्मिक धनकी ओर जाता है । लक्ष्मीका वाहन उल्लू और सरस्वतीका वाहन हंस माना गया है । लक्ष्मी सांसारिक सम्पत्तिकी प्रतीक है और सरस्वती आध्यात्मिकताकी । जबतक मनुष्यमें नीर-क्षीरका न्याय करनेकी शक्ति नहीं आती, तबतक वह आध्यात्मिकताका मूल्य नहीं समझता । अपनी बुद्धिको सूक्ष्मदर्शी बनानेके लिये मनुष्यको इसके सूक्ष्म द्रष्टाओंके विचारोंको मानना पड़ता है और संसारमें संतोंका सत्संग करना पड़ता है । एक बार आध्यात्मिकताका मूल्य समझ जानेमे भी काम नहीं चलता । मनुष्यको बार-बार इसपर मनन करना पड़ता है । मनुष्यको पुराना अभ्यास उसे आध्यात्मिकताकी ओर जानेसे रोकता है । इसके लिये कई दिनोंके प्रति-अभ्यासकी और नित्य नये चिन्तनकी आवश्यकता होती है ।

मनुष्य सभी प्रकारका धन अपने सुखके लिये सञ्चित करता है । भौतिक धनको लोग इसीलिये सञ्चित करते हैं, जिससे वे बुढ़ापेमें उसका उपयोग कर सकें । पर जिस व्यक्तिकी दृष्टि सूक्ष्म है, वह देख पाता है कि जब भौतिकका अभ्यास अधिक बढ़ जाता है, तब मनुष्य न तो वर्तमान सुखका उपभोग कर सकता है और न वह भावी सुखको ही प्राप्त करता है । उसकी भावी सुखकी कल्पना केवल कल्पनामात्र ही रह जाती है, वह वास्तविकतामें कभी नहीं परिणत होती ।

भौतिक धन वर्तमान सुखका अपहरण करता है और वह भविष्यके जीवनको भी बिगाड़ देता है । वह भविष्यमें

मनुष्यके लिये दुःखोंकी सृष्टि करता है । भौतिक धनके अतिसञ्चयसे मनुष्यके शत्रुओंकी संख्या बढ़ती है । उसकी चिन्ताएँ बढ़ती हैं, उसका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और उसकी सन्तान अल्पायु अथवा चरित्रहीन हो जाती है । इसके प्रतिकूल आध्यात्मिक धनकी वृद्धिसे मनुष्यके मित्रोंकी संख्या बढ़ती है । उसकी चिन्ताओंका विनाश होता है, वह आरोग्यवान् होता है और उसकी सन्तान दीर्घायु एवं चरित्रवान् होती है । इन बातोंपर एक-एक करके विचार करनेसे आध्यात्मिक धनकी मौलिकता समझमें आती है और फिर उसके उपार्जनकी लगन मनुष्यमें उत्पन्न हो जाती है ।

ऊपर कहा गया है कि भौतिक धनसे मनुष्यके शत्रुओंकी सख्या बढ़ती है और आध्यात्मिक धनसे उसके मित्रोंकी । इस तथ्यको समझनेके लिये हमे अपने प्रतिदिनके अनुभवपर विचार करना होगा । अभी हालकी बात है । लेखक एक धनी व्यक्तिके घर उसके बुलानेपर गया । इस व्यक्तिको इस समय बहुत-सी चिन्ताएँ सता रही हैं । उसने लेखकका एक लेख एक मासिकपत्रिकामें 'चिन्ताका निराकरण' शीर्षक पढ़ा । उसे इससे बहुत शान्ति मिली । इसपर उसने लेखकको अपने एक मित्रके द्वारा बुलवाया । उसकी उद्विग्नताको जानकर लेखक उसके पास गया और उससे कुछ वार्तालाप हुआ । इसके पश्चात् जब लेखक अपने घरपर नहीं था, यह व्यक्ति भी उससे मिलने आया । इसकी खबर जब लेखकको मिली, तब वह उसके घर भेंट करने गया । लेखकको उसी घरका एक लड़का जानता था । वह दरवाजेपर बैठा था । अतएव उसने लेखकका स्वागत किया और उसे घरके भीतर एक कमरेमें जहाँ वह धनी व्यक्ति पहले मिला था, जानेको कहा । वह धनी व्यक्ति इस समय अर्थात् दिनके दो बजे भोजन कर रहा था । अतएव लेखक व्यग्रचित्त होकर उस कोठरीमें अकेला खड़ा रहा । वह सोचता था कि वह वहाँ ठहरे अथवा चला जाय । इतनेमें घरके एक दूसरे व्यक्तिने उसे देख लिया । उसके मनमें कुछ सन्देह हुआ और फिर उसने एक दृढ़ आवाजसे दूरसे ही पूछ-ताछ की । उसकी कठोर आवाजसे यह स्पष्ट था कि यह लेखककी उपस्थिति वहाँ अवाञ्छनीय समझता था । अतएव लेखक चुपचाप वहाँसे चला गया ।

धनी लोगोंके यहाँ इस प्रकार बहुत-से लोग अपमानित होते ही रहते हैं । अपने धनकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे उनकी सभी लोगोंके प्रति सन्देहकी दृष्टि हो जाती है । इसके कारण उनके पास केवल स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थसाधनके लिये ही जा पाते हैं । उन्हें किसी प्रकारके सत्सङ्गका लाभ होना असम्भव हो जाता है । स्वार्थी मनुष्य अपमानित होनेपर भी धनियोंकी चापलूसी ही करता रहता है । वह धनी लोगोंसे घृणा करता है, फिर भी वह उनकी प्रशंसाके गीत गाता रहता है । धनी व्यक्ति उसके सच्चे हितैषीसे सदा वञ्चित रहता है । धनी मनुष्यके पास कोई भी भला आदमी अनायास नहीं जाता । सभी लोग उसके पास मतलबसे जाते, मतलबकी बात करते और उसे धोखा देनेकी चेष्टा करते रहते हैं । वह भी अनुभवके परिणामस्वरूप चालाक हो जाता है । जिस प्रकार दूसरे लोग उसे धोखा देनेकी चेष्टा करते हैं; वह भी दूसरोंको धोखा देनेकी सदा चेष्टा करता रहता है । इस प्रकार उसका सच्चा मित्र कोई नहीं रह जाता ।

धनसञ्चयके लिये धनी मनुष्यको अपने आश्रितोंपर भी कठोरताका व्यवहार करना पड़ता है । अतएव ये भी उसके शत्रु हो जाते हैं । कितने ही धनी लोगोंको अपनी स्त्रीतकका प्रेम प्राप्त नहीं होता । यदि वे साध्वी रहीं तो सदा पतिसे झगड़ा किया करती हैं, अन्यथा वे उपपतिकी तलाशमें रहती हैं । पतिसे चुराकर वे उसे रुपये देती रहती हैं । पति उनकी चालाकीको कभी-कभी समझ भी जाता है, पर वह करे ही क्या । वह मन मसोसकर रह जाता है । धनी घरकी स्त्रियोंके कुचरित्र होनेकी बात सर्व-साधारणको ज्ञात ही है । यदि स्त्रीको धनके खर्च करनेकी स्वतन्त्रता दे दी जाय तो वह अपने ऐश-आराममें ही धनको उड़ा दे । जब यह स्वतन्त्रता नहीं मिलती तो वह उस समयकी प्रतीक्षामें रहती है जब कि उसका पति मर जाय और उसका कमाया धन उसे मिले ।

जिस मनुष्यको धनकी अधिक चिन्ता रहती है, उसे अपनी स्त्रीके प्रति प्यार नहीं रहता । वह अपनी स्त्रीकी इच्छाको तृप्त करनेमें भी असमर्थ रहता है । प्रेमी मनुष्य धनका लोभी नहीं होता । जिस व्यक्तिको धनका अधिक लोभ होता है, वह प्रेमी नहीं होता । ऐसा व्यक्ति मानसिक नपुंसकताका शिकार रहता है । फिर ऐसे व्यक्तिकी स्त्रीका प्रायः व्यभिचारिणी होना स्वाभाविक है । जब पति स्त्रीको व्यभिचारसे रोकता है, तब वह उससे घृणा करने लगती है । इस प्रकार धनी व्यक्तिको किसी प्रकारका गार्हस्थ्य-सुख प्राप्त नहीं होता । जिसकी स्त्री ही शत्रु है, उसका संसारमें मित्र कौन होगा ।

धनी मनुष्यकी चिन्ताओंकी संख्या अनन्त होती है । बिना चिन्ता किये धनका सञ्चय नहीं होता और न उसकी रक्षा ही होती है । जब मनुष्य लगातार दीर्घकालतक भौतिक

पदार्थोंके लिये चिन्ता करता रहता है तो अभ्यासवश चिन्ता करना उसके स्वभावका एक अंग बन जाता है। ऐसी अवस्थामें यदि चिन्ता करनेका विषय उसके पास न भी हो तो वह कल्पित विषयके लिये ही चिन्ता करता है। इस प्रकार अकारण चिन्ताओंकी उत्पत्ति होती है। एक चिन्ताके निवारण होते ही अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ धनी मनुष्यके मनमें अपने-आप चली आती हैं। चिन्ताओं-की संख्याओंका घटना अथवा बढ़ना मनुष्यकी बाह्य परिस्थितिपर निर्भर नहीं करता। यह मनुष्यके अभ्यास अर्थात् मानसिक परिस्थितिपर निर्भर करता है। मनुष्यका मन अपने स्वभावके अनुकूल बाह्य परिस्थितिका निर्माण भी कर लेता है। इस प्रकार मनकी आन्तरिक परिस्थिति बाहरी घटनाओं-पर आरोपित हो जाती है। जिन बातोंके लिये एक व्यक्ति बिल्कुल चिन्ता नहीं करता, उन्हीं बातोंके लिये दूसरा व्यक्ति चिन्ताके मारे मरा जाता है। यदि वह अपनी चिन्ताओंसे मुक्त होनेकी चेष्टा करे तो भी वह उनसे मुक्त नहीं हो पाता। पहले तो उसकी समझमें भी यह नहीं आता कि उसकी चिन्ताओंका कारण बाह्य परिस्थितियोंमें नहीं, वरं उसके मनमें ही है। फिर यदि उसे यह समझमें भी आ जाय तो बिना कई दिनोंके प्रत्यभ्यासके किये अपनी चिन्ताओंको विनाश कर सकनेकी शक्ति मनुष्यमें नहीं आती। अतएव वह चिन्तामुक्त होनेके प्रयत्न करनेपर भी चिन्ताओंका शिकार बना रहता है।

चिन्ताएँ मनुष्यके मनको निर्बल कर देती हैं, अतएव जितने मानसिक रोग धनीलोगोंको होते हैं, संसारके सामान्य लोगोंको नहीं होते। कहा जाता है कि मानसिक रोगोंकी वृद्धि सभ्यताकी वृद्धिका परिणाम है। वास्तवमें मानसिक रोगोंकी वृद्धि धन या भोगोंके प्रति अत्यधिक लगनकी वृद्धिका परिणाम है। जितना किसी मनुष्यका धन बढ़ता है, उसकी चिन्ताएँ भी उतनी ही अधिक बढ़ती हैं और इनके कारण उसकी मानसिक शक्तिका ह्रास भी उतना ही अधिक होता है। जब मानसिक शक्तिका ह्रास हो जाता है, तब मनुष्यका आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है। उसके विचार निराशावादी बन जाते हैं। यदि कोई अभद्र कल्पना उसके मनमें घुस जाय तो वह उसको मनके बाहर नहीं निकाल सकता। स्वार्थ-परायणताके विचार मनुष्यको निर्बल करते हैं और उदार विचार उसके मनको बलवान् बनाते हैं। निर्बल मनके मनुष्यको मानसिक रोग होते हैं और प्रबल मनके व्यक्तिसे मानसिक रोग दूर भागते हैं।

धनीलोगोंको अनेक प्रकारके शारीरिक रोग भी होते रहते हैं। जब धनकी अधिक वृद्धि होती है, तब मस्तिष्कसे ही मनुष्यको अधिक काम लेना पड़ता है। उसे हाथ, पैरको काममें लानेका अवसर कम मिलता है। शारीरिक व्यायाम पर्याप्त न होनेके कारण धनीलोगोंकी भोजन पचानेकी शक्ति कम हो जाती है। इससे अनेक प्रकारके पेटके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हें फिर अपना जीवन फलाहार, दुग्धपान आदि-पर बिताना पड़ता है। धनीलोगोंमें कोष्ठबद्धताका रोग होना तो स्वाभाविक-सा हो गया है। इसका शारीरिक कारण है और मानसिक भी। जो लोग हाथके मैलका त्याग नहीं करना चाहते, अर्थात् जो पैसेको उदारतापूर्वक खर्च नहीं करते, वे शरीरके मैलको भी अपने शरीरसे बाहर निकालनेमें असमर्थ रहते हैं। कृपणताकी आदत और कोष्ठबद्धता साथ-साथ जाते हैं। विरले ही उदार मनोवृत्तिके व्यक्तिको यह रोग सताता है।

धनीलोगोंको क्रोध या विषादका भाव आनेपर वे उसे पूरी तरहसे प्रकाशित नहीं कर पाते। इसके कारण उनका आवेग उन्हींका विनाश करने लगता है। इससे उन्हें हृदयका रोग हो जाता है। कितने ही कृपण मनोवृत्तिके लोग एकाएक हृदयकी गति रुक जानेसे मर जाते हैं। धनी घरोंकी स्त्रियों-को जितना हिस्टीरियाका रोग होता है, उतना सामान्य घरकी स्त्रियोंको नहीं होता। इसका कारण उनका शारीरिक परिश्रम न करना तथा उनकी कामनाका अतृप्त रहना होता है। माता-पिता मूर्खतावश ही प्रायः धनी घरके युवकको अपनी कन्याओंके लिये वररूपमें खोजते हैं। पर वे इस प्रकार अपनी कन्याओंको जितना दुखी बनाते, उतना दूसरे किसी प्रकार नहीं बना सकते। धनी घरमें पहुँचकर इन कन्याओंको न तो धनका सुख होता है और न पतिकी संगतिका। धनका नियन्त्रण तो घरके बड़े लोग करते हैं, जो प्रायः कंजूस होते हैं और उनके पतिदेव अपना सुख घरके बाहर ही खोजते हैं। इन कन्याओंको रखेलीके समान अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

धनीलोगोंकी संतान दीर्घजीवी नहीं होती। पहले तो बहुत-से धनीलोगोंको संतान ही नहीं होती। यदि उन्हें संतान हो भी जाय तो वह आरोग्यवान् नहीं रहती। इसका एक कारण शारीरिक है, पर प्रधान कारण मानसिक है। धनीलोगोंके शरीरमें उतना बल ही नहीं रहता कि उनकी संतान दीर्घजीवी हो। बहुत-से धनीलोगोंको शारीरिक

अथवा मानसिक नपुंसकता रहती है। जिस व्यक्तिके विचार सदा धन कमानेमें लगे रहते हैं, वह स्त्रीके मनको कैसे प्रसन्न कर सकता है। जबतक पुरुष स्त्रीसे मानसिक सहयोग प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक वह स्त्रीको कैसे सन्तुष्ट कर सकता है। पर स्त्रीका सहयोग प्राप्त करनेके लिये धनपिपासुके पास समय ही कहाँ है। सुयोग्य संतान स्त्री-पुरुषके सच्चे प्रेमका परिणाम होती है। जब स्त्री पुरुषके प्रेममें और पुरुष स्त्रीके प्रेममें संसारकी सभी बातें भूल जाता है, तभी उनके मिलनसे आरोग्यवान् और प्रतिभावान् बालक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारका मिलन धनके लोभी व्यक्तियोंमें संभव नहीं।

मनुष्यके विचारोंका प्रभाव न केवल उसके चरित्र और स्वास्थ्यपर पड़ता है वरं उसके बाल-बच्चोंपर और उसके आस-पास रहनेवाले लोगोंके चरित्र और स्वास्थ्यपर भी पड़ता है। धनी मनुष्य अनेक लोगोंकी शत्रुता प्राप्त कर लेता है। वह धन कमानेकी धुनके कारण यह जाननेकी चेष्टा नहीं करता कि वह कहाँतक दूसरेके हृदयको दुःख पहुँचाता है। इसके कारण उससे बहुत लोगोंको दुःख पहुँचता है। वे उसे कोसते रहते हैं। इस कोसनेका परिणाम यह होता है कि वह सभी प्रकारके आध्यात्मिक सुखोंसे वञ्चित हो जाता है। कभी किसी गरीब मनुष्यका नुकसान कर देता है; पर जब वह कोसता है, तब उसके विचारोंका बुरा परिणाम धनी घरके बालकोंपर पड़ता है। इसके कारण वे जल्दी-जल्दी मर जाते हैं अथवा अस्वस्थ बने रहते हैं।

अपने-आपके विचारोंका भी बुरा प्रभाव अपने बच्चोंपर पड़ता है। मनुष्यके ध्वंसकारी विचार पहले उसके बच्चोंको ही हानि पहुँचाते हैं। पीछे वे दूसरोंकी हानि करते हैं। देखा गया है कि यदि कोई कृपण मनुष्य अपने नजदीकके सम्बन्धीका बालक गोद ले ले तो वह बालक नीरोग नहीं रहता। लेखकने पहले एक करोड़पतीकी चर्चा की थी। इसके बारह बच्चे हुए, पर एक भी दो-तीन वर्षसे अधिक जीवित नहीं रहा। उसने पीछे अपने भाईके लड़केको दत्तक पुत्र बनाया। यह लड़का भी सदा रोगग्रस्त रहता था। लेखकके एक दूसरे मित्रने अपने लड़केको उसके एक बड़े भाईके पास भेज दिया। पहला व्यक्ति निर्धन था और दूसरा धनवान्। धनवान् भाईने अपने ही परिश्रमसे रुपया कमाया था। उसके कोई संतान न थी। जब यह लड़का मित्र भाईके पास भेज रहा था, तब लेखकने उसे सलाह दी थी कि वह अपने लड़केको भाईके पास न भेजे; उसको बच्चे उसके लिये दिये गये हैं न कि भाईके लिये। पर किसी कारणवश भाईके आग्रह करनेपर बच्चा भेज दिया गया। एक ही सालके बाद खबर मिली कि वह लड़का एकाएक ज्वरसे पीड़ित होकर मर गया।

धनके लोभी लोगोंका धन जो लोग खाते हैं, उनकी बुद्धिपर भी अच्छा असर नहीं होता। उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। वे आत्मसम्मानको प्रायः खो देते हैं, इसके कारण उनका चरित्रबल भी नष्ट हो जाता है। धनीलोगोंके अप्रकाशित दोष उनके धनके इन खानेवाले व्यक्तियोंमें आ जाते हैं। धनीलोग पहले तो किसीको कुछ देते ही नहीं और यदि कुछ देते हैं तो किसी स्वार्थबुद्धिसे। इसके कारण साधारण व्यक्ति भी स्वार्थी बन जाता है। मनुष्यके मनपर उसके वातावरणका प्रभाव बहुत ही प्रबल होता है। वातावरणमें फैले हुए विचार निर्देशके रूपमें काम करते हैं और कोई भी व्यक्ति उसी प्रकारका बन जाता है। इस प्रकारके विचार हम उसके बारेमें बार-बार अपने मनमें लाते हैं। किसी मनुष्यको सदा चोर समझते रहनेसे वह चोर बन जाता है और उसे भला समझनेसे वह भला बन जाता है।

जिस व्यक्तिके आध्यात्मिक धन है, उसका सम्पर्कमात्र कल्याणकारी होता है। वह यदि हमें कुछ भी न दे तो भी उसके दर्शनमात्रसे लाभ होता है। जो ऐसे व्यक्तिका दिया हुआ थोड़ा भी प्रसाद पा लेता है, वह दीर्घायु होता है। उसके अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक क्लेश सहजमें नष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तिकी संतान भी निकम्मी नही होती; वह जिसे अपना आशीर्वाद देता है, वह जीवनमें सफल हो जाता है।

सत्संगका सुख

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

तत्त्व-साक्षात्कार

(लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

परमात्मा ज्ञानघनमूर्ति है। जिस चित्तमें आवरण नहीं रहता, उसमें ही ज्ञानका विकास होता है, ज्ञानस्वरूप भगवान् भी उस शुद्ध चित्तमें ही सदा आबद्ध रहते हैं; क्योंकि स्वच्छ चित्त-दर्पणमें विश्वव्यापी प्रभुका स्वरूप बिना प्रतिबिम्बित हुए नहीं रह सकता। इस कारण साधनाका प्रथम सोपान है चित्तशुद्धि। तमोगुण चित्तपर आवरण, मलिनता लाता है; रजोगुण चञ्चलता तथा सत्त्वगुणके उदय होनेसे चित्त निर्मल होता है। जीवनका प्रयोजन तत्त्व-जिज्ञासा है, कर्मानुष्ठानद्वारा विषयभोग उसका प्रयोजन नहीं। अर्थात् धर्म, अर्थ, कामसे जीवन धारण करके तत्त्व-जिज्ञासा ही कर्तव्य है; कर्मलब्ध स्वर्गादि श्रेष्ठ फल नहीं है—

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
(श्रीमद्भा० १।२।१०)

तत्त्व-साक्षात्कार न होनेतक जीव कृतार्थ नहीं हो सकते। स्वर्ग, ब्रह्मलोक, पितृलोक अथवा जहाँ भी गति हो, पुण्यक्षयसे पतन होता है—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (गीता ९।२१)

परंतु तत्त्व-साक्षात्कार होनेपर फिर पतनका भय नहीं। इसी कारण श्रुतियोंने बार-बार तत्त्व-साक्षात्कारका आदेश दिया है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥ (बृहदारण्यक० ४।५।६)

ब्रह्म परमात्मा किंवा भगवान्, किसी भावसे तत्त्व-साक्षात्कार करनेमें प्रथम श्रद्धाका मुख्य प्रयोजन है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
(गीता ४।३९)

श्रद्धावान् व्यक्ति श्रीगुरुपदाश्रय करके—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
(मुण्डक० १।२।१२)

—के आदेशानुसार साधनामें लगे रहकर शनैः-शनैः तत्त्वज्ञान लाभ कर लेता है। ज्ञान, योग किंवा भक्तियोग—किसी मार्गमें भी श्रद्धाकी परमावश्यकता है। इसमें भेद यह है कि ज्ञान, योग और भक्तिके साधनोंमें यथाक्रम ज्ञानी, योगी और भक्त गुरुका चरणाश्रय लेना पड़ता है; अन्यथा उन्नति नहीं होती। गुरुपदाश्रय लेकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेसे तत्त्व-साक्षात्कार होता है।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयमेते दर्शनहेतवः॥

ज्ञान, योग तथा भक्ति—तीनोंमें ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन रहते हैं; किंतु उनमें भेद है। ज्ञानपथमें जीव-ब्रह्मैक्य, योगपथमें जीव और परमात्माकी मिलन-समाधि तथा भक्तिपथमें श्रीभगवान्‌का नाम, रूप, गुण, लीलाकथा-का श्रवण-मनन करना होता है। उसके अनन्तर ज्ञान और योग-पथमें ध्यानरूप निदिध्यासन तथा भक्तिपथमें उपासना करनी पड़ती है। निदिध्यासन सिद्ध होनेपर ज्ञानीको ज्ञानपथमें तत्पदका साक्षात्कार होता है—'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'(छान्दोग्य० ६।८।७); योगीको ध्यान-समाधिमें अन्तर्हृदयमें अन्तर्यामीका साक्षात्कार होता है एवं भक्तको भाव-समाधिमें अन्तर्बहिः श्रीभगवत्साक्षात्कार होता है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

ज्ञानीको ज्ञानसे, योगीको ध्यानसे और भक्तको प्रेमसे तत्त्व-साक्षात्कार होता है; किंतु इसमें भी कुछ रहस्य है। क्या रहस्य है?—भक्तियुक्त ज्ञानयोगसे ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, भक्तियुक्त अष्टाङ्गयोगसे परमात्मसाक्षात्कार होता है और शुद्ध भक्तियोगसे भगवत्साक्षात्कार होता है। अर्थात् भक्ति-युक्त साधना ही सफल होती है, भक्तिहीन किसी साधनासे भी फल नहीं मिलता।

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया॥

भक्ति तीनोंमें है।

जिस प्रकार ज्ञान-शास्त्रमें सर्वपरित्यागपूर्वक निर्गुण-उपासना विहित है, उसी प्रकार भक्ति-शास्त्रमें भी सर्वपरित्याग-पूर्वक निर्गुण गोविन्दके भजनका उपदेश है। ब्रह्मज्ञानपूर्वक सर्वदेवताओंकी आराधना जैसे ज्ञानीके लिये दोषावह नहीं है,

जो केवल देवताओंकी ही खोजमें है, उसे स्वर्गकी बाट देखनी चाहिये और दैत्योंको भी सतर्क रहना चाहिये कि उनकी चलती बराबर नहीं रहेगी। यहाँ तो भाई! आदमीकी आवश्यकता है और आदमीकी ही गुजर है। आदमीके पास जहाँ एक ओर ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और प्रेम-भक्ति है, बस दूसरी ही ओर काम-क्रोध, लोभ-मोह तथा मद-मत्सर भी डेरा डाले हुए हैं। यह साधारण बात नहीं कि इस द्वैत और दुविधाको लेकर मानव जी रहा है। असलमें मानव जीना जानता है। उसकी जहाँतक पहुँच है, नूतन सृष्टिका निर्माण करता है और उस नूतन सृष्टिके साथ प्रत्येक मानवका अपना अलगका अस्तित्व होता है, जिसे दूसरे शब्दमें 'व्यक्तित्व' कहते हैं। स्वतन्त्र व्यक्तिकी व्यष्टि समष्टिरूपमें स्वराज्य-का निर्माण करती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी मिलती-जुलती हुई पुकार उसे यथायोग्य कायम रखनेका अधिकार स्वराज्य है।

स्वाधीन देशका स्वराज्य बहुत भारी चीज है। उसे लेकर कुराज्यकी स्थापना नहीं ही की जा सकती। साथ ही जिन लोगोंने स्वराज्यका अर्थ अराजकता तथा गुंडाशाही लगा लिया है, वे भी भ्रममें हैं। स्वराज्यका अर्थ कदापि यह हो ही नहीं सकता कि मनुष्य मनुष्य-पर अत्याचार करे। जो जहाँ है, वहींपर लूट-खसोट आरम्भ करे तथा अधिकार पाकर अथवा पदलोलुप होकर उस पद अथवा अधिकारसे नाजायज फायदा उठाये। स्वराज्यका मतलब सीधे सुराज्यसे है, जिसे लोग 'राम-राज्य' कहते हैं। लोककी रक्षा 'सत्'का आभास है, लोकका मङ्गल 'परमानन्द'का आभास है। इस व्यावहारिक 'सत्' और 'आनन्द'का प्रतीक है 'राम-राज्य'। स्व० गाँधीजी देशकी स्वाधीनताके साथ स्वराज्य, सुराज्य और 'राम-राज्य'का नारा लगाया करते थे। देशवासियोंने सुना था। पता नहीं, उनके 'राम-राज्य'का क्या अर्थ था? परंतु 'राम-राज्य'का जो अर्थ जनता लगाये बैठी है, वह यह है और बस यही है—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

× × ×

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्म रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

× × ×

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी॥
एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥
लता बिटप मागें मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिधि मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥

बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहिं काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥

प्रश्न हो सकता है कि तब यह 'राम-राज्य' हो कैसे? उत्तरमें निवेदन है कि हिंदू-धर्मसे, 'हिंदू-संस्कृति' से। रस नीरसा हो गयी है। उसे रसकी आवश्यकता है। जल अपवित्र हो गया है। उसे पावन करनेकी जरूरत है। सूर्यकी रश्मि मलिन होती जा रही है। उसे ज्योति चाहिये। हवामें दुर्गन्ध भर गयी है। उसमें सुगन्ध आनी चाहिये। आकाश गैसोंसे आच्छादित हो

गया है, वह खाली होना चाहिये। और उक्त पाँचों तत्त्वोंका संस्कार एकमात्र तभी हो सकता है, जब कि स्थान-स्थानपर यज्ञ हो और गोवध बंद हो। मशीनोंसे जोतनेसे खेत उपजाऊ नहीं हो सकते। होंगे भी तो वह अन्न लाभदायक नहीं हो सकता। गौकी वृद्धि होनेसे खाद सुन्दर होगा। सुन्दर अन्न पैदा होगा। दूध, दही और घीका बाहुल्य होगा। वनस्पतिका घी-दूध कहाँतक काम कर सकता है। भोजनके ऊपर ही तो राम पैदा होंगे। वैभव और ऐश्वर्य तो हमारा बढ़ गया। साथ ही अन्यान्य दुर्गुण भी हमारे बढ़ गये। लेकिन जिसपर हम अवलम्बित हैं, उसका दिनों-दिन नाश ही होता जा रहा है। जो चीज हम खा रहे हैं, उससे हम विनष्ट होते जा रहे हैं। हमारी बुद्धि भ्रष्ट होती जा रही है। अधिकमें हिंदूकोड-बिलका जो दौरा हमारे ऊपर सवार है, वह सर्वनाशका सामान है। हमारी सन्तान जो होगी, भविष्यमें वह क्या होगी—हम नहीं कह सकते। परंतु अपनेको विचलित देखकर ही हम कह सकते हैं कि हम 'राम-राज्य' से कोसों दूर हैं और रहेंगे। जबतक हम राम नहीं पैदा कर लेते हैं और जबतक आरामके साधन नहीं बना लेते, तबतक 'राम-राज्य'के अधिकारी हम नहीं। समस्त वैज्ञानिक आविष्कारोंको लेकर भी हम सुखी नहीं। हमारे भीतर अभावकी भट्ठी जल रही है। तो हमें बस, अपना ही चाहिये—वह अपना, जो सपना हो गया है। दूध-दही खोजे नहीं मिलता। मालूम होता है कुछ दिनोंमें ये वस्तुएँ अमृतकी तरह केवल नामकी रह जायँगी। शरीरकी सफाई और उससे अधिक यदि हृदयकी सफाई नहीं हुई तो फिर स्वराज्यसे कुछ लाभ नहीं। स्वराज्य दूसरे देशोंके लिये भले शोभा दे; भारतमें यदि स्वराज्य है तो एकमात्र 'राम-राज्य' का।

ईश्वर और विज्ञान

(लेखक—श्रीरामजीदास वधवा बी० ए०, प्रभाकर)

ईश्वर और विज्ञानका विषय आजकलके उच्च शिक्षाप्राप्त लोगोंके लिये बहुत आकर्षक हो चला है; क्योंकि वे प्रायः ईश्वरको केवल भ्रान्ति अथवा झूठ-मूठकी कल्पना मानते हैं और ऐसे वैज्ञानिकोंको इस भ्रान्तिसे मुक्ति दिलानेवाले परम ज्ञानी गुरु मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर-वीश्वर कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि उनको जड-वस्तुसे परे न कभी कुछ प्रतीत हुआ है और न हो सकता है। परंतु ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक अपनी खोजमें प्रगति करते जा रहे हैं, त्यों-ही-त्यों उनकी आधारभूमि उन्हें डावाँडोल दिखायी देती है और बुद्धि जवाब दे रही है।

जब हम ईश्वरके सम्बन्धमें विचार करने लगते हैं, तब प्रायः सबसे पहली और सबसे बड़ी गलती यह करते हैं कि हम अपनी सुनी-सुनायीके आधारपर बनायी हुई ईश्वरकी किसी विशेष कल्पनाको अपने मस्तिष्कमें धारण कर लेते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि जबतक किसी विषयके सम्बन्धमें हमारे सत्य अथवा असत्य पूर्वज्ञानके अनुसार हमारे मनमें कोई धारणा न हो, तबतक हम न तो उसपर कुछ विचार ही कर सकते हैं और न कोई मत ही प्रकट कर सकते हैं। संसारके अन्य सब विषयोंके सम्बन्धमें तो कुछ-न-कुछ कल्पना अथवा धारणा बनाकर आगे विचार किया जा सकता है; परंतु जहाँतक ईश्वरका सम्बन्ध है, यह तरीका प्रायः भ्रान्तिकी ओर ही ले जानेवाला है।

जिसको ईश्वरका ज्ञान है, वह तो उसके सम्बन्धमें कुछ कहता नहीं। क्योंकि उसने जान लिया है कि ईश्वर अनिर्वचनीय है। उसका सत्य ज्ञान किसी भी परोक्ष साधनद्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। और उसका चाहे कोई कितना ही वर्णन करता जाय, उसका साक्षात्कार करानेमें वह सर्वथा असमर्थ तथा अपूर्ण ही रहेगा। मन अथवा बुद्धि कोटि प्रयत्न करनेपर भी उसके आस-पास ही भटकते रहते हैं। ईश्वरीय ज्ञानके प्रचण्ड प्रकाशको छू सकनेकी उनमें शक्ति नहीं। संसारके सभी साधन ससीम हैं। और जो स्वयं ससीम है, वह असीमको कैसे पा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि

ईश्वरको जाना ही नहीं जा सकता। परंतु ईश्वरको जाननेके लिये सर्वप्रथम 'जानने'का अर्थ स्पष्ट कर लेना परमावश्यक है।

ईश्वरके सम्बन्धमें विचारपूर्वक इतना कुछ कहा जा सकता है कि जो कुछ है, परमात्मा ही है; वह कुछ भी नहीं है, इसलिये सब कुछ है और वह सब कुछ है, इसलिये वह कुछ भी नहीं हो सकता। क्योंकि कुछ भी होनेका अर्थ ससीम होना है, जो कि वह नहीं है। और असीम होनेका दूसरा अर्थ सब कुछ होना है।

ईश्वरको जाननेका अर्थ हमारे सांसारिक जीवनमें प्रयुक्त साधारण जाननेकी क्रियासे निश्चय ही भिन्न है। भौतिक संसारका सम्पूर्ण ज्ञान, जिसमें विज्ञान (Science) भी सम्मिलित है, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धिका विषय है, जब कि ईश्वर इनसे परे है।

निश्चय ही परमात्माको जाननेके लिये सम्पूर्ण मानसिक कल्पनाओं और स्वीकृतियोंको मिटा देना होगा। असीमको पानेके लिये सम्पूर्ण कल्पित सीमाओंको तोड़ देना होगा। तब न अंदर कुछ सीमित रहेगा और न बाहर कोई सीमा रहेगी। दूसरे शब्दोंमें कुछ भी न रहकर सब कुछ बन जाना होगा। परमात्माको जाननेका अर्थ सीमित अहंभावसे ऊपर उठकर अनन्तके सङ्ग एक हो जाना है। यह एक अनुभवका विषय है, जिसका कथन नहीं किया जा सकता।

जिसने ईश्वरको जान लिया है, उसके लिये तो यह वाद-विवादका विषय ही नहीं; और जो वाद-विवाद करते हैं, वे जानते नहीं हैं। जो लोग ऐसोंकी ईश्वरसम्बन्धी धारणा अथवा सम्मतिको महत्त्व देते हैं, वे स्वयं भी उन वक्ताओंकी भाँति पथभ्रान्त हैं।

ऐसे लोगोंमें प्रायः आजकलके विज्ञानवादी हैं जो कि ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ विचित्र ही विचार लिये फिरते हैं। वे कहा करते हैं कि पहले तो ईश्वर है ही नहीं; और यदि वह कोई वस्तु है तो वह ऐसा जालिम है, जिसने संसारमें मनुष्योंके लिये केवल दुःख-ही-दुःख और अन्याय-ही-अन्याय बनाया है। उनके विचारानुसार ईश्वर किसी ऊँचे अलग-थलग स्थानमें बैठी हुई दिखायी न देनेवाली कोई बला है यही नहीं, संसारमें जितने सुखके साधन हैं, उनको तो मनुष्योंने स्वयं बनाया है; परंतु दुःखोंको सिरपर फेंकनेवाला वही ईश्वर है। वे समझते हैं कि एक समय ऐसा आयेगा जब कि विज्ञान (Science) इतना विकसित हो जायगा कि संसारके सभी क्लेश और अव्यवस्था मिटा दिये जायँगे, और संसारका प्राकृत शासनविधान ईश्वरके हाथोंसे छिन-कर विज्ञानवेत्ताओं तथा नीतिज्ञोंके हाथमें आ जायगा। ऐसों-को विदित होना चाहिये कि संसारको सुख तथा शान्ति देना विज्ञानके वशकी बात नहीं।

संसारकी अशान्ति तथा दुःखके मूल कारण मनुष्यके मनमें ही उपस्थित हैं। विज्ञान मनुष्यके हाथमें एक निर्जीव यन्त्रके समान है। जिस प्रकार एक उस्तरा यदि बंदरके हाथ-में दे दिया जाय तो वह उसका सदुपयोग तो क्या करेगा, अपना या अपने भाइयोंका ही कोई अङ्ग काटेगा, उसी प्रकार जबतक मनुष्य लोभ, स्वार्थ, शत्रुता, द्वैत आदि दुर्वासनाओंके दास बने हुए हैं, विज्ञानके द्वारा संसारको भीषण हानि पहुँचने-का डर है। और यदि संसारका यही हाल रहा तो वह दिन दूर नहीं, जब कि जड़वादियोंके पूज्यदेव विज्ञानके परमाणु-बम-जैसे आविष्कार एक भयङ्कर प्रलय उत्पन्न कर देंगे।

परमात्मा जगत्से भिन्न नहीं है। सभी कार्य उसके नियमोंके अनुसार हो रहे हैं। बल्कि वह स्वयं ही नियम है। प्राकृतिक नियमोंसे विमुख होना अपने लिये दुःखको निमन्त्रण देना है और उनको पहचानकर उनके अनुसार आचरण करना अपने लिये सुख उत्पन्न करना है। इसीका नाम आस्तिकता है और विज्ञानकी सम्पूर्ण सफलताका यही मूल मन्त्र है।

यह भौतिक जगत् ईश्वरका वह विराट् स्वरूप है, जिसे हम अपनी भौतिक ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा अनुभव करते हैं, परंतु अज्ञानके कारण उसे वैसा पहचानते नहीं। काल, देश तथा अवस्था (Time, space and causation) में ही इस मायावी संसारकी सत्ता है। मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंके बिना न तो काल, देश तथा अवस्थाकी कोई सत्ता है और न जगत् ही है।

सम्पूर्ण सांसारिक ज्ञान तथा विज्ञान ज्ञानके अनन्त भण्डार ईश्वरका एक क्षुद्र अंशमात्र ही हैं। भौतिक विज्ञान-का क्षेत्र ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धितक ही सीमित है; और इनसे परे ज्ञानका एक अनन्त एवं अथाह समुद्र है, जिसे न जाननेके कारण जड़वादियोंने विज्ञानको ही सब कुछ मान लिया है—ठीक उस उलूककी भाँति, जिसने सूर्यको कभी नहीं देखा है, अतः जिसके लिये रात्रिका क्षीण क्षुद्र प्रकाश ही परम प्रकाश है, उससे परे कुछ नहीं।

साधना

(लेखक—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

जिस क्रियासे फलसिद्धि हो, उसे साधना कहते हैं। अतः साधनाका कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तीर्ण है। लोगोंकी रुचि भिन्न प्रकारकी होती है, तदनुसार फलसिद्धिके भी अनन्त भेद हैं। अतः साधनाके भी असंख्य भेद हुए।

फिर भी महात्माओंने दो भेद माने हैं, जिनके अन्तर्गत सम्पूर्ण सिद्धियाँ आ जाती हैं—एक अभ्युदय और दूसरा निःश्रेयस। इन दोनोंकी सिद्धि धर्मसे होती है। यदि धर्मसे व्यतिरिक्त किसी अन्य उपायसे भी सिद्धि हो तो धर्मकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अधर्मसे भी वृद्धि होती है, कल्याण भी देखनेमें आता है, शत्रुपर विजयकी प्राप्ति भी होती है; पर अन्तमें समूल नाश होता है। अतः उस वृद्धिको (क्षणिक) उदय कहा जा सकता है, अभ्युदय नहीं।

इस समय विज्ञानका उदय हुआ है, अश्रुतपूर्व उन्नतियाँ देखनेमें आती हैं; परंतु फल इसका यह हो रहा है कि सम्पूर्ण संसारके लिये खतरा पैदा हो गया है और दूरदर्शी लोग सम्पूर्ण संसारका नाश उपस्थित देख रहे हैं। कोई मार्ग दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, जिससे इस खतरेसे पार पा जायँ। सभी शान्तिकी दोहाई देते हैं, प्रयत्न भी करते हैं; परंतु सर्वनाशकारी युद्धके निकट अवश होकर खिंचे चले आ रहे हैं।

कारण यह है कि उनकी साधना सदोष है। उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयसके अनिवार्य साधन धर्मका बहिष्कार कर रक्खा है। केवल अर्थकी दृष्टिसे ही सब कुछ देख रहे हैं, और उसी दृष्टिसे देखनेकी शिक्षाका प्रचार कर रहे हैं। विज्ञान इस प्रकारके दृष्टिकोणके परिवर्तनमें सर्वथा असमर्थ है।

यही विज्ञान यदि धर्मसे नियन्त्रित हो तो संसारका बड़ा भारी कल्याण-साधन कर सकता है। धर्मका नियन्त्रण भङ्ग करके यह संसारके नाशका कारण हो रहा है। यह कहना भी नहीं बनता कि धर्म तो अनेक हैं, पृथक् देशोंमें उनका पृथक्-पृथक् प्रचार है, फिर ऐसा धर्म किसे बतलाया जाय, जिसपर सम्पूर्ण संसार चले। पर वस्तुतः यह बात नहीं है। विशेष मानव-समाजने विशेष धर्म भले ही मान रक्खा हो; पर सामान्य धर्म मनुष्यमात्रका एक है, जिसे 'सनातन धर्म' कहते हैं।

इसका नाम 'सनातन' इसलिये है कि यह सदासे ऐसा ही चला आता है और सदा ऐसा ही रहेगा। इसके नाश करनेका प्रयत्न करनेमें संसार नष्ट हो जायगा और इसीके पालनसे संसारका पालन होगा। इसी तीस लक्षणोंवाले धर्मके किसी अंशविशेषको लेकर अनेक मत—ईसाई-मूसाई आदि स्थापित हुए हैं, उसी अंशके बलसे इनमें चमत्कार दिखायी पड़ता था; जब उनमेंसे उस अंशकी अवहेलना होने लगी, तब केवल आडम्बर अपनी रक्षामें असमर्थ सिद्ध हुआ।

वर्णाश्रम-धर्म और सनातन-धर्म पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। वर्णाश्रम-धर्म एक विशिष्ट समाजका धर्म है, जिसके जन्म और कर्म अवदात हैं और जिसमें संस्कारकी परम्परा अविच्छिन्न चली आ रही है। और सनातन धर्म मनुष्यमात्रका धर्म है, उसके बिना मनुष्य मनुष्यतासे गिर जाता है। ईसाई-मूसाई आदि सभी मतवाले अपने मतोंके कट्टर अनुयायी होते हुए भी, यदि वे संसारकी रक्षा चाहते हैं, सनातन धर्मका पालन करें; क्योंकि वह अविरोधी धर्म है, वह सभी धर्मोंके लिये प्राणद है और उसके बिना कोई मत टिक नहीं सकता।

भारतवर्ष वर्णाश्रम-धर्म मानते हुए भी जो सहस्रों वर्षसे पददलित हो रहा है—इसका कारण यही है कि उसमें सनातन धर्म शिथिल हो गया है। यदि सनातन धर्मपर यह दृढ़ हो जाय तो इसकी चमक संसारको चकाचौंधमें डाल सकती है। महात्मा गान्धीजीने इस तीस लक्षणोंवाले सनातन धर्मके केवल दो लक्षणों (अहिंसा और सत्य) को अपनाया; और उससे जो फलसिद्धि हुई, जो चमत्कार हुआ, उसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

क्या अहिंसा और सत्य किसी मतके विरुद्ध हैं? क्या अहिंसा और सत्य विना कोई मत जीवित रह सकता है? क्या अहिंसा और सत्यके विना मनुष्य मानव-पदसे च्युत नहीं हो जायगा? इसी भाँति सनातन धर्मके तीसों लक्षणोंकी अनिवार्य आवश्यकता मनुष्यमात्रको है। लेखके अन्तमें मैं सप्रमाण सनातन धर्मका उल्लेख करूँगा।

अतः धर्म ही मुख्य साधना है। धर्मसे जो संसारका अकल्याण मानते हैं, उन्हें त्रिंशल्लक्षणवान् धर्मका पता नहीं है; वे इस समयके निष्प्राण वर्णाश्रम-धर्मकी मूर्ति देखते हैं, अथवा अन्य झगड़ालू मतोंकी क्रोधमयी मूर्तिका दर्शन करके धर्मको ही सब अनर्थोंका मूल मान बैठते हैं। उन्होंने कभी त्रिंशल्लक्षणवान् सनातन धर्मकी तेजोमयी मूर्तिका दर्शन नहीं किया; यदि किये होते तो निश्चय उन्हें अवनतमस्तक होकर उसे स्वीकार करना पड़ता। आज भारतमें बड़े-से-बड़ा धर्मविरोधी भी महात्मा गान्धीजीकी कृपासे अहिंसा और सत्यके आगे सिर झुकाता है। क्या कोई इस बातको अस्वीकार कर सकता है कि अहिंसा और सत्यका आदि उपदेष्टा त्रिंशल्लक्षणवान् सनातन धर्मको छोड़कर कोई दूसरा है?

श्रीनारदजी कहते हैं—

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्॥
योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे॥
धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(श्रीमद्भा० ७। ११। ५-१२)

'भगवान् अजको नमस्कार करके लोगोंके धर्मके लिये सनातन धर्म कहता हूँ, जिसे नारायणने बतलाया था—जो दाक्षायणीमें धर्मसे अंशद्वारा अवतीर्ण हुए थे, और लोकोंके कल्याणके लिये जो बदरिकाश्रममें तप करते हैं। सर्ववेदमय हरि और वेदज्ञोंसे कही गयी स्मृति धर्ममें प्रमाण है, जिससे आत्मा प्रसन्न हो जाता है। सत्य, दया, तप, शौच, द्वन्द्वसहन, युक्तायुक्तविवेक, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदृष्टि, महात्माओंकी सेवा, प्रवृत्ति-कर्मोंसे धीरे-धीरे निवृत्ति करना, मनुष्योंकी निष्फल क्रियाका विचार, वृथालापसे निवृत्ति, आत्माका विचार, प्राणियोंमें यथायोग्य भोज्य वस्तुओंका विभाग, प्राणियोंमें आत्मदेवताबुद्धि—विशेष करके मनुष्योंमें। श्रवण, कीर्तन, उसका स्मरण; महान् लोगोंकी जो गति है; उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—ये मनुष्यमात्रके परमधर्म हैं। ये तीस लक्षणवाले हैं। हे राजन्! इनसे सर्वात्मा भगवान् तुष्ट होते हैं।'

अतः कहा जा सकता है कि धर्मानुकूल तथा धर्माविरोधी प्रक्रिया ही साधना कहलाने योग्य है। विज्ञान आदिकी भी सिद्धि बिना जाने धर्मसे ही हुई है। चित्तवृत्तिका निरोध योग है। चित्तको पदार्थ-विशेषपर संयम करके जिस प्रज्ञालोकसे वैज्ञानिक नवाविष्कार करते हैं, वह योगके ही प्रभावसे होता है—वे इस बातको नहीं जानते; पर वस्तुस्थिति ऐसी ही है। अतः विज्ञानोन्नतिपर भी धर्मका नियन्त्रण चाहिये, नहीं तो वह एक ऐटम बमसे निर्दय होकर लाखों प्राणियोंका संहार करेगा।

धर्मके नियन्त्रणसे ही सभी साधनाओंके अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होनेकी सम्भावना है; उसका नियन्त्रण हटनेसे कोई साधना साधना कहलाने योग्य न रह जायगी।

सत्याग्रह

(लेखिका—आयुर्वेदाचार्या श्रीमती शान्तादेवी वैद्या)

सत्याग्रह अमोघ शस्त्र है, यह कभी निष्फल नहीं होता। भारतका तो सर्वप्राचीन अस्त्र है ही; किंतु सृष्टिके आदिसे ही इसका प्रयोग विभिन्न लोकोंमें भी होता रहा है और सदा सफल ही रहा है। भारतीय इतिहासमें ध्रुव, प्रह्लाद, हरिश्चन्द्र, दिलीप, शिबि, भगीरथ, बभ्रुवाहन, सती, सावित्री आदि अनेक स्त्री-पुरुषोंने विभिन्न उद्देश्योंके लिये विभिन्न प्रकारोंसे सत्याग्रह किये हैं, और वे सदा-सर्वदा सर्वतोमुखी फलदायक सिद्ध हुए हैं।

सत्की प्रतिष्ठाके लिये असत्‌के विरुद्ध जो आग्रह है, उसीका नाम सत्याग्रह है। इसमें स्व-सत्पक्ष-संस्थापनका ही उद्देश्य रहता है, विपक्षियोंके उन्मूलनका नहीं। इसलिये यह उभय दिशि मङ्गलकारक है। इसके लिये शस्त्रास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं, बहुसैन्यकी भी अपेक्षा नहीं; थोड़े ही पवित्र संयमशील तपस्वी सत्याग्रहियोंकी आवश्यकता होती है।

क्योंकि उनका संघर्ष बाह्य जड शक्तियोंसे नहीं होता। उनका सीधा संघर्ष अन्तःकरणके उस मनःस्तरसे होता है, जिसमें दूषित और पापिष्ठ वृत्तियाँ छिपी रहती हैं। यह मनःस्तर मानवमात्रका एक होता है। अतः प्रयोक्ताका प्रयोग, सत्याग्रहीका सत्याग्रह प्रयोज्यके वृत्त्यन्तर्बिन्दुको ही लक्ष्य बनाता है। इस मौलिक सम्प्रेरणके आहव सत्याग्रहमें कोई शक्ति अन्तराय उपस्थित नहीं कर सकती न ठहर ही सकती है। यह पवित्र, निर्दोष और अजेय है।

सावधानी

हाँ, इसमें सावधानीकी आवश्यकता है। यह सत्याग्रह कहाँपर किस विधिसे कितने व्यक्तियोंद्वारा किस सीमातक प्रयोग किया जाय, यही सत्याग्रह-कौशल है। अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टाएँ और दैव—ये पाँच कारण भी विशुद्ध और अनुकूल होने चाहिये; तभी इसका प्रयोग अमोघ फलप्रद होता है।

अकेला सत्याग्रही

केवल एक ही सत्याग्रही सरकारपर विजय प्राप्त कर सकता है, कारण कि मौलिक स्तर सम्प्रेरणपरा प्रकृतिके जीवभूत सम्पूर्ण चेतन जगत्‌में कम्पन, क्षोभ अथवा प्रशमन उत्पन्न कर सकता है। इसमें देश और कालकी भी अपेक्षा नहीं, इसका संकल्प कभी नष्ट नहीं होता। एक बार जो उसने तय कर लिया, वह होकर ही रहता है। सत्याग्रहीकी शक्ति और संकल्प हमेशा तुल्य हों, ऐसा नहीं होता। कभी-कभी अल्प तपस्वी भी उच्च संकल्प कर बैठता है; ऐसी स्थितिमें संकल्पपूर्तिके पूर्व ही उसके प्राण चले जाते हैं; किंतु उसका प्रण पूर्ण होकर ही रहता है, उसके अधूरे कामकी—संकल्पकी पूर्ति अन्य शिष्टात्म पुरुषोंद्वारा होती है।

इस प्रकार सत्याग्रहीकी शक्ति निष्फल हो सकती है, किंतु प्रण—संकल्प सर्वथा सफल होता है·········प्रान जाहिं बरु बचनु न जाई।

सत्याग्रहीकी मृत्यु कभी होती ही नहीं; हाँ, प्रणपूर्तिके लिये प्राण जाते हैं। उसकी अर्जित विचारधारा, परिचालित कर्मसूत्र-शृङ्खला, संयमित संलग्न भावनाकी शक्ति-स्फूर्ति लेकर प्राण तादृश प्रणप्रिय व्यक्तियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इससे उनका प्राण प्लावन होकर द्विगुणित स्फूर्ति आ जाती है, और उस अल्पशक्ति सत्याग्रहीका जीव प्रण-पूर्त्यर्थ अपने आराध्य इष्टदेवके चरणोंमें अभिनव प्राण, अत्युग्र शक्ति, अनन्तस्फूर्ति लेने पहुँच जाता है, वहाँसे इन्हें लेकर फिर लौटता है, यदि उस सत्याग्रहीका प्रारब्ध शेष है। प्रणपूर्तिकी त्वरा

नहीं है तो जन्म लेकर यथासमय प्रणपूर्ति करके प्रारब्ध भोगता है। और यदि सत्याग्रहीका प्रारब्ध क्षय हो चुका है, जीवन्मुक्त है, वह तो यह इष्टवरण-प्राप्त सारी शक्ति प्रण-पूर्त्यर्थ किसी अधिकारी व्यक्तिविशेषमें अर्पितकर स्वयं मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थितिमें उस व्यक्तिविशेषद्वारा प्रणपूर्ति तत्क्षण होती है।

यह व्यष्टिकी समष्टिपर विजय है, इसे व्यक्तिगत सत्याग्रह कहा जाता है।

वैयक्तिक और सामूहिक

व्यक्तिगत सत्याग्रह और सामूहिक सत्याग्रहमें लक्ष्यदृष्ट्या सिद्धान्ततः कोई अन्तर नहीं है। कार्य और दायित्वकी दृष्टिसे इनमें अन्तर होता है। साध्यभेद न होते हुए भी साधन-भेद स्वचक्र और परचक्रमें कुछ करना पड़ता है। एकाधिकारी और एक लक्ष्यके प्रति व्यक्तिगत सत्याग्रह एवं अनेकाधिकारी प्रजातन्त्र और एकाधिक लक्ष्यके प्रति सामूहिक सत्याग्रह होता है। यह विधि मानवशक्तिकी दृष्टिसे है, सत्यकी शक्तिसे नहीं। सत्यकी शक्ति महान् है, सत्याग्रहमें सत्याग्रही उसी शक्तिका आश्रय लेकर दुर्धर्ष विपक्षीके प्रति अपना प्रयोग प्रारम्भ करता है—

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

सत्याग्रहीकी पुकारसे देर सबेरमें उस ज्वलन्त अजेय अपरिमेय दिव्य सत्य-शक्तिका आविर्भाव अवश्य होता है। उस समय दोनों वैयक्तिक या सामूहिक सत्याग्रह एक हो जाते हैं। यह सत्याग्रहकी सिद्धावस्था है। साधकावस्थाके साधन जैसे सिद्धावस्थामें सिद्धके स्वतःसिद्ध लक्षण हो जाते हैं, वैसे ही सत्यशक्ति की बात है।

धार्मिक शस्त्र

सत्याग्रह विशुद्ध धार्मिक शस्त्र है। सत्य धर्मका मुख्य लक्षण है, उसकी प्रतिष्ठामें ही इसका प्रयोग है; किंतु सत्य इतना व्यापक है कि उसके आधारपर सभी नीतियाँ चलती हैं। अतः किसी भी नीतिकी गड़बड़ी या उच्छृङ्खलतामें इसका प्रयोग हो सकता है। इसीलिये इसके विभिन्न नामकरण भी हुए हैं।

राजनीतिक सत्याग्रह

शासकोंकी उच्छृङ्खल नीतिके विरुद्ध जो सत्याग्रह किया जाता है, उसीको राजनीतिक सत्याग्रह कहते हैं। राजनीति सीमित है, उसकी एक निश्चित परिधि है—'राज्ञां नीतिर्नृपाणां परस्परव्यवहारनीतिः।' राजाओंकी नीति जो शासकोंके परस्पर व्यवहारमें प्रयुक्त होती है, अन्ताराष्ट्रिय भी इसीमें है। सत्यानृतादि लक्षणयुक्त राजनीति परस्पर राजाओंमें होती है। किंतु प्रजाओंसे व्यवहारमें उसका वैसा रूप नहीं होता। वहाँ तो वह धर्मनीतिके अंदर ही शुद्धरूपसे व्यवहृत होती है; व्यवस्था-पालन उसका रूप, संरक्षण संवर्धन और संचालन उसके कार्य। राजनीति जब अपनी सीमा अतिक्रमण करती है या सीमान्तरीय कार्य ही कुकार्य बनते हैं, तब प्रतिकारकी बात आती है। आजका शासक राजनीतिको व्यापक—असीम बना रहा है। प्रत्येक नीतिको राजनीतिपर कुर्बान करके व्यवस्थापालकके बजाय नव-व्यवस्थास्थापक बन रहा है।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं कथञ्चन।
भोक्ता यज्ञस्य कस्त्वन्यो ह्यहं यज्ञपतिः प्रभुः॥

जैसी कानूनी भेरी-घोषणाप्रवृत्त शासकसे प्रजा 'दारुण्युभयतो दीप्त इव तस्करपालयोः' (ऐसे वेन-शासनमें) उभयतः दग्ध होने लगती है, तब पवित्र व्यवस्था-संरक्षणार्थ जो शामक उपाय विशिष्ट पुरुषोंद्वारा या जनताद्वारा किया जाता है उसीका नाम राजनीतिक सत्याग्रह है।

आस्तिक ही अधिकारी

सत्याग्रह किसी प्रकारका हो—चाहे राजनीतिक हो, सामाजिक हो या आर्थिक हो—वह धार्मिक ही होगा। उसके करनेका अधिकारी केवल आस्तिक ही है, जो धर्मनिष्ठ सदाचार-परायण दृढ़प्रतिज्ञ और निःस्वार्थी हो। प्रयोज्यके प्रति यह अपेक्षा नहीं कि वह नास्तिक है या आस्तिक, अपना है या बिराना। उसकी आस्तिकता या नास्तिकताका प्रभाव प्रयोक्ता (सत्याग्रही) पर नहीं पड़ता। आस्तिक सत्याग्रही निःस्वार्थी होनेके कारण किसीका प्रभाव नहीं ग्रहण करता। यह स्वयं प्रभावक्षेप्ता होता है। एकलक्ष्य होकर कार्यसिद्धिके पूर्व विराम नहीं लेता। ईश्वर उसकी सहायता करता है। निःस्पृह होनेके कारण वह इसे हँसने-खेलने-जैसा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' रूपी युद्ध मानता है, सत्याग्रहमें कभी असफलता होती ही नहीं।

हमारी आध्यात्मिक संस्कृति

(लेखक—डा० बी० भट्टाचार्य, एम्० ए०)

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

हम कानोंसे कल्याण-ही-कल्याणकी बातें सुनें और यज्ञ-यागादि कल्याणकारी कामोंको करते हुए कल्याण-ही-कल्याण आँखोंसे देखें भी। हृष्ट-पुष्ट शरीरसे सपरिवार परमात्माको प्रसन्न रखते हुए उसीके लिये पूर्णायु जीवनका उपभोग करें।

अखिल भारतीय अध्ययनक्षेत्रके अन्यतम आकर्षक अध्ययनोंमेंसे है आध्यात्मिक संस्कृतिका अध्ययन। इसका विशेष कारण है वह यह कि भारतवर्ष ही केवल ऐसा देश है, जिसने अवर्णनीय सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभेदों और विस्तारोंके सहित आध्यात्मिक संस्कृतिका नानाविध साङ्गोपाङ्ग शृङ्खलाबद्ध साहित्य समुपस्थित किया है।

स्थूल रीतिसे संस्कृतिके दो प्रकार हैं—एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। पहलेका सम्बन्ध भौतिक साधनोंकी उन्नति करनेसे है और दूसरेका आध्यात्मिक साधनोंकी उन्नति करनेसे। ठीक जिस प्रकार शरीरके लिये व्यायामोंका विधान है, उसी प्रकार मस्तिष्कके लिये आध्यात्मिक साधनाओंका संविधान है। वर्तमान लेखका सम्बन्ध इसी पिछले विषयसे है।

निस्सन्देह भारतवर्ष ही ऐसा देश है, जो मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिके साधनोंकी साधना करनेके लिये एकान्त उपयुक्त है।

केवल भारतने ही मानवजीवनके आध्यात्मिक अङ्गकी बलि देकर एकाङ्गी भौतिक उन्नतिमें कदापि विश्वास नहीं किया। भारतके इतिहासमें कहीं भी हमें आध्यात्मिक संस्कृतिपर भौतिक संस्कृतिकी विजय देखनेको न मिलेगी। धर्मपर दृढारूढ़ रहनेवाले राजा और मन्त्री प्रशंसाके पात्र हुए हैं। धर्मकी वेदीपर शाश्वत बलि होनेके लिये ही राजाका जीवन माना गया है। सामाजिक और राजनीतिक नियम धर्मपर आधारित हैं और वे धर्मशास्त्रोंके अविच्छिन्न अङ्ग हैं।

विश्वके तीन महान् अर्थात् हिंदू, बौद्ध और जैन धर्ममार्गोंका जन्मदाता भारतवर्ष ही है। यहींपर बौद्ध और जैन-दर्शनोंकी अभिवृद्धिके साथ-ही-साथ हिंदुओंने षड्दर्शनोंका विकास किया।

असंख्य मन्दिर और मठ हमारे पूर्वजोंके इस प्रतापी देशको सुशोभित एवं यहाँके वातावरणको पावन कर रहे हैं। इस देशका प्रत्येक व्यक्ति पाप और पुण्यके महान् सिद्धान्तोंसे अवगत है, और जनता प्रायः साधारणतया परलोकमें विश्वास करती है।

इन तथा अनेकों अन्य अनुकूल वातावरणोंके कारण यह देश आध्यात्मिक संस्कृतिके विकासके लिये चिरकालतक सर्वोत्तम स्थान माना जाता रहा। प्राचीनतम साहित्यमें हमें मुनियों और यतियोंके वर्णन मिलते हैं, जिन्होंने आत्मबलोत्कर्षके लिये अपना सारा जीवन ध्यान, तप और कठोर नियम-व्रतपालनमें लगा दिया। चतुर्थाश्रमके संन्यासी अपना जीवन शाश्वत ब्रह्मप्राप्तिमें खपा देते थे। बौद्ध और जैन भिक्षु अब भी पाये जाते हैं, जो अदृष्टलोककी प्राप्तिके लिये संसारको त्यागकर सभी प्रकारके उग्र कठोर नियमव्रतोंका पालन कर रहे हैं।

प्राचीन ऋषियोंने पहले ही पता लगा लिया था कि इस पदार्थ और ब्रह्ममय जगत्में सर्वदा पिछला अगलेपर अधिकारी रहा करता है। अतएव इसपर अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसका अनुभव वर्तमान युगमें उसी प्रकार नहीं किया जा रहा है। वे सर्वदा यही कहते रहे कि मानवमात्रके अन्यतम लाभके लिये भौतिक साधनोंकी उन्नतिके साथ-ही-साथ आध्यात्मिक साधनोंकी उन्नति करना वाञ्छनीय है।

साधारणतया विश्वास किया जाता था कि भौतिक साधनोंकी उन्नति करके जो कुछ सम्भाव्य है, वही मस्तिष्कके साधनोंकी उन्नति करनेसे प्राप्य है। यदि हम तारसे समाचार भेज सकते हैं तो योगी विचारशक्तिद्वारा उसी कार्यको करनेमें समर्थ है। यदि हम दूरके दृश्य टेलीवीज़नद्वारा देख सकते हैं तो योगी अपनी आध्यात्मिक शक्तिद्वारा उसीको दिखानेमें सक्षम है।

कम-से-कम यह सार्वलौकिक धारणा केवल साधारण जनताकी ही नहीं है अपितु तन्त्रोंके विशाल साहित्यके निर्माताओं और ज्ञाताओंकी भी, जिनमें अलौकिक शक्तिलाभके लिये अगणित अतिसूक्ष्म आध्यात्मिक साधनाएँ बतायी गयी हैं।

गण्य-मान्य विद्वान् तन्त्रसाहित्यका यह कहकर बराबर

तिरस्कार करते चले आ रहे हैं कि उसमें निरर्थक और घृणित अभ्यासोंके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। उनके लिये यह साहित्य कूड़ा-करकट है, जिसमें शिक्षाकी दृष्टिसे कुछ भी उपादेय नहीं। तन्त्र इस कारण बुरे हैं कि वे सदाचरणके मान्य विचारोंके प्रतिकूल अभ्यासोंका विधान और वैज्ञानिक दृष्टिसे महत्त्वहीन बातोंकी चर्चा करते हैं।

भूतकालमें इस महान् साहित्यपर जो बौछारें हुई हैं, उनका एक क्षणके लिये भी समर्थन नहीं किया जा सकता। सत्य है कि यह सम्प्रति हमें कोई सहायता नहीं दे सकता, जब कि हम भौतिक हितके लिये प्रयत्नशील हैं। तन्त्र इसलिये निरर्थक गिने जा सकते हैं कि वे अर्थलाभ करानेमें पङ्गु हैं। वे महत्त्वहीन इसलिये हैं कि अर्थान्वेषणका वर्तमान वातावरण आध्यात्मिक साधनाओंके लिये अत्यन्त अनुपयुक्त है।

किंतु एक अर्थमें तन्त्र अपूर्व हैं। विश्वके किसी साहित्यमें हमें आध्यात्मिक साधनाओंकी वह पद्धति प्राप्त नहीं हो सकती, जो तन्त्रों और तत्सम्बन्धी साहित्यमें भरी पड़ी है। तन्त्र निर्देश करते हैं कि किस प्रकार कोई व्यक्ति, ज्यों-ज्यों वह चिरकालीन एकनिष्ठ ध्यानके अभ्यास तथा अनेकों अवस्थाओंसे होता हुआ ब्रह्मानुभूतिके मार्गमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आध्यात्मिक साधनाओंमें प्रवीण हो सकता है और अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रकारके योगकी विभूतियाँ एवं सर्वप्रकारकी गूढ़ शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है। तन्त्रोंमें मनुष्यके भीतर निहित दैवी शक्तिपर सबसे अधिक बल दिया गया है, जिसको जाग्रत्‌कर कोई साधक अपने स्रष्टासे साक्षात् कर सकता है।

इस तन्त्रसाहित्यका इस प्रकारका ज्ञान आधुनिक युगमें सभी व्यावहारिक उद्देश्योंके लिये एकदम निरर्थक है; क्योंकि हमें इस समय इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। वर्तमान सभ्यताके कुठाराघातसे हमे अपने स्रष्टाके विषयमें सोचनेके लिये समय या अवसर ही कहाँ। रुपये कमानेके उद्देश्यसे हम अपने दफ्तर जाने अथवा वृत्ति या व्यापार करनेमें लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त हमें लोगोंसे मिलना-जुलना तथा भोज, नृत्य, मीटिंगों, सभाओं और क्लबोंमें सम्मिलित होना रहता है, यात्राएँ करनी रहती हैं और विनोदके लिये परिवर्तन करने रहते हैं। तन्त्रोंको निरर्थक कह सकते हैं; क्योंकि आधुनिक कालके इन कामोंसे सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान उनमें नहीं हैं। इसपर किञ्चित् कोई मतभेद नहीं। वास्तवमें दुःख तो इस बातका है कि वर्तमान युगमें हम मानव-मस्तिष्कके उस सुन्दर सूक्ष्मभावसे भी हाथ धो बैठे हैं, जिसको 'गुणोंका आदर करना' कहते हैं। सचमुच हम इतने कुण्ठित हो गये हैं कि विरले ही अपने पूर्वजोंके उन प्रयत्नोंके प्रशंसक हो सकते हैं, जो मस्तिष्ककी और आध्यात्मिक शक्तियोंके पूर्णतया विकसित करनेके लिये ऐसी योजनाके अनुसार विहित हैं कि जिसको विश्वमें अन्यत्र मानव-मस्तिष्क कदाचित् सोच न पाया था।

भौतिक संस्कृति और अभिवृद्धिकी आज तूती बोल रही है। आश्चर्यमें डालनेवाले इसके कार्य हैं और इसकी सफलता महान् है। विश्वके राष्ट्र इससे मदोन्मत्त हैं तथा देश-देश इसकी महान् सफलतासे सन्तुष्ट हैं; किंतु मस्तिष्ककी गति अगम्य है। अब यह किसी अन्य वस्तुके लिये लालायित है। यह वह वस्तु चाहता है, जिससे शान्ति और विश्राम मिले। इसे आत्माका भोजन चाहिये। भौतिक उन्नतिसे इसका जी पक गया है। इसकी रुझान अब आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर है। संसारका ध्यान एक बार जीवनके आध्यात्मिक अङ्गपर गड़ जानेके पश्चात् इसको पता चल जायगा कि हमारे पूर्वजोंने कितनी विस्मयावह पैतृक सम्पत्ति हमारे लिये तन्त्रग्रन्थोंमें छोड़ रक्खा है, जिससे हम जीवनके सभी अवसरोंपर अपनी आध्यात्मिक शक्तियोंकी सेना सजा सकते हैं।

इस छोटे-से लेखको समाप्त करनेके पहले मैं तन्त्रोंके विषयोंकी प्रधान विशेषताओंमेंसे एकको बता देना चाहता हूँ। जैसा पूर्वमें कहा जा चुका है, इस साहित्यके विषयोंका सम्बन्ध अधिकतर अध्यात्म या अपरोक्षसे है। वे असाधारण आध्यात्मिक साधनाओंसे भरे पड़े हैं, जिनसे मस्तिष्ककी शक्तिका विकास हो सके। किसी व्यक्ति या समुदायके लिये उपयुक्त साधनाओंका विधान करनेमें निर्माताओंको सभी सम्भाव्य सम्भूत पदार्थोंका गूढ़ महत्त्वाङ्कन एवं आध्यात्मिक साधनाओंके कार्यक्रममें उनका उचित-स्थान निर्धारण करना पड़ा है।

तन्त्रोंके निर्माता तो स्वयं भगवान् शिव और उनकी चार्वङ्गी अर्धाङ्गिनी भगवती पार्वती मानी गयी हैं जो परस्पर सम्भाषण करनेवाली अङ्कित हुई हैं। वे समस्त पदार्थके गूढ़ मूल्याङ्कन करते हैं। उदाहरणार्थ मन्त्रयोगीके लिये पहले-पहल वर्णमालाके अक्षरोंकी आवश्यकता होती है। अतएव प्रत्येक अक्षरकी अलग-अलग जाँच हुई है, उसका गूढ़ मूल्य निश्चित किया गया है और क्रियाविधिमें उसका उचित स्थान स्थिर हुआ है। यह भी कहा गया है कि अमुक अक्षरसे अमुक प्रकारकी सिद्धि प्राप्य है। प्रत्येक अक्षरके अधिष्ठाता देव अथवा अधिष्ठात्री देवी उसके स्वरूपके साथ बतायी गयी हैं।

वर्णमालाके अक्षरसंयोगोंसे सम्मिश्रित शक्तिशाली

मन्त्रोंका निर्माण होता है और इस प्रकार तन्त्र विभिन्न संयोगोंकी विशेषताएँ बताते और विभिन्न फलोंकी प्राप्तिके लिये उनके जपनेके विस्तारपूर्वक आदेश देते हैं। अधिष्ठाता देव या अधिष्ठात्री देवी केवल मूर्तिमान् मन्त्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। अतएव विभिन्न देवी-देवताओंकी पूजाके सम्बन्धमें एक विशेष भाग ही बन गया है।

मन्त्रोंका जप करनेके लिये दूसरी आवश्यक वस्तु है माला। उन सभी विभिन्न पदार्थोंकी जाँच की गयी है, जिनसे माला बन सकती है और उनके गूढ़ मूल्योंका निर्धारण हुआ है। किसी विशेष आराधनविधिमें कौन-सी विशेष माला इष्टकारी अथवा अनिष्टकारी होगी, यह ब्यौरेवार वर्णित है। माला रुद्राक्ष, काँचके दानों, स्फटिक, कौड़ियों, मूँगों, हीरों, मरकत, मानिक, हड्डियों और अनेक अन्य पदार्थोंकी बन सकती है। इन सबके अपने-अपने भाव, महत्त्व और प्रयोग हैं। तन्त्रोंमें बताया गया है कि अमुक-अमुक मालाएँ, जो शिवाराधनके लिये सर्वोपयुक्त हैं, शक्तिकी आराधनाके लिये हानिकर हैं। कुछ पदार्थ, जिनका प्रयोग ताराके लिये होता है, काली अथवा सुन्दरीके लिये वर्जित हैं। कुछ मालाएँ ऐसी हैं कि वे एक सप्ताहके भीतर सिद्धि प्राप्त करा सकती हैं, जब कि दूसरी मालाओंसे उसीके लिये एक पक्ष, एक मास अथवा एक वर्षतक लग जा सकता है।

मन्त्रोंका जप करनेके लिये उपयुक्त समय होना चाहिये। मङ्गल मुहूर्त निकालनेके लिये तन्त्रोंमें दिनकी विभिन्न घटिकाओं, तिथियों, नक्षत्रों, महीनों, ऋतुओं और वत्सरोंके गूढ़ गुणोंकी जाँच की गयी है। देवी-देवताओं और आराधना-विशेषके सम्बन्धमें इन मुहूर्तोंकी जाँच होकर उनके गूढ़ मूल्योंका निर्धारण हुआ है।

मन्त्रोंका जप करनेमें पदार्थविशेषके बने आसनोंका महत्त्व माना गया है। तन्त्रोंमें सूत, ऊन, लकड़ी, धातु अथवा चमड़े-जैसे विभिन्न पदार्थोंके बने विभिन्न आसनोंके गूढ़ मूल्यकी जाँच की गयी है। विभिन्न पशुओंकी सवारीपर रखनेसे आसनोंका विभिन्न गूढ़ गुण हो जाता है। वे यह भी बताते हैं कि अमुक-अमुक आसनोंके प्रयोगसे कौन-कौन-सी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

आध्यात्मिक साधनाओंके निमित्त प्रयुक्त होनेवाले अनेकों आसनोंमेंसे श्मशानभूमिके शवासनको तन्त्रशास्त्रोंमें विशेष महत्त्व दिया गया है। शवसे सम्बन्धित उग्र नियम-व्रतोंकी एक परिपाटी है, जिसे सामूहिक रूपसे शवसाधना कहते हैं। तन्त्रोंके अनुसार यह आसनविशेष कुण्डलिनी शक्तिको शीघ्र जाग्रत् करनेके हेतु सर्वोपयुक्त है, जब कि साधना जुगुप्सापूर्ण भयङ्कर स्थितियोंमें की जाती है। अतएव तन्त्रोंमें मनुष्यों, स्त्रियों, बच्चों, अछूतों और नाना अवस्थाओं-में मारे गये हुए लोगोंके विभिन्न प्रकारके शवोंके गूढ़ मूल्यकी जाँच की गयी है। हथियारोंसे मारे गये लोगोंके शवका गूढ़ मूल्य कुछ है, विषसे मारे गये लोगोंके शवका कुछ और ही, व्यापक रोगोंसे मरे हुए लोगोंके शवका तीसरे प्रकारका, सम्राट्की आज्ञासे मारे गये हुए लोगोंके शवका चौथे प्रकारका इत्यादि-इत्यादि।

मन्त्रोंका जप करनेके लिये उपयुक्त स्थान चाहिये। सम्मत उपयुक्तताके स्थानका निर्धारण करनेके लिये तन्त्र-शास्त्र भारतवर्षके सभी महत्त्वपूर्ण स्थानोंके गूढ़ गुणोंकी जाँच करते हैं और तब विभिन्न मन्त्रों और उनके अधिष्ठाता देवता अथवा अधिष्ठात्री देवीके सम्बन्धमें उनकी सामर्थ्य स्थिर करते हैं। इस प्रकारके निश्चित स्थान आज भी सिद्धपीठ (अर्थात् वे स्थान, जहाँ मन्त्रोंके जपसे अलौकिक शक्तिकी प्राप्ति होती है) के नामसे प्रसिद्ध हैं।

तन्त्रोंमें अग्निके लिये घृताहुतिका देना महत्त्वपूर्ण क्रिया है। विभिन्न प्रकारकी समिधासे अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अतएव समिधोपयोगी विभिन्न प्रकारके वृक्षोंका, उनके गूढ़ गुणोंकी जाँच होकर, निश्चय हुआ है। सरसरी तौरपर कहा जा सकता है कि घृताहुति मन्त्रभैषज्य अर्थात् टोटका-विज्ञानका अङ्ग है। विभिन्न पत्तियाँ और डालें नाना प्रकारके विशेष रोगोंमें प्रयुक्त होती हैं।

इस प्रकारके उदाहरणोंको बढ़ाते जाना सरल है; किंतु आवश्यकता नहीं। ऊपर तन्त्र-साहित्यके केवल एक आकारका दिग्दर्शन हुआ है। तन्त्रोंद्वारा निश्चित शक्तियोंकी जाँच वैज्ञानिक ढंगसे नहीं की जा सकती। जिस समय विज्ञान तन्त्रोंके निर्णयोंकी सचाईकी जाँच करनेमें समर्थ हुआ, उसी समय भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञानोंका भेद मिट जायगा। तन्त्र बराबर एक बातपर बल देते आ रहे हैं। वह यह कि आन्तरिक आत्मबलको, जो कुण्डलिनी शक्तिके नामसे प्रसिद्ध है, जाग्रत् करना। इसीसे विभिन्न स्थितियों और अवस्थाओंमें ध्यानमग्न होकर ब्रह्म-प्राप्तिकी साधना सम्भव है।

यदि निपुण विद्वानोंका ध्यान मानव-संस्कृतिके इस आकर्षक अङ्गपर आकृष्ट हो जाय तो निश्चय ही मानव-समाजका उपकार हो।

—श्री प्र० गुप्त

सांस्कृतिक झलक

एक सत्य साहित्यिक और ऐतिहासिक घटना

(लेखिका—श्रीमती विद्याकुमारी)

गुरुके ज्ञानपर मुग्ध श्रद्धालु एवं जिज्ञासु श्रीप्राणनाथजी अपने अवगुणोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल रहे थे। अपने शरीरको वे उस ब्रह्मात्माका अधिकारी बनाना चाहते थे, जो गुरुसे पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर उन्हींमें मिल जाय। गृहपत्नीके समस्त आभूषण साधुजनोंके सेवाहेतु अर्पण हो चुके थे। सत्सङ्ग जीवनका मुख्य कार्य था। गौण कार्य धन-उपार्जन था, परंतु अपने शरीरके लिये वह भी नहीं। शरीर तो ढाई तोले भोजन ग्रहण करनेका ही अधिकारी था। देहका बोझ दिनों-दिन घटता जा रहा था। कामवासना और अन्य दोषोंको ऐसे शरीरसे क्या काम। वे तो स्वयं ही कोसों दूर भाग चुके थे। बचपनमें ही विवाह हो जानेपर भी श्रीप्राणनाथजी आजीवन ब्रह्मचारी रहनेका प्रण मन-ही-मन ले चुके थे।

साध्वी फूलवती पतिकी इन भावनाओंपर अत्यन्त प्रसन्न थीं। अन्य कई नारियोंकी भाँति पतिको कुपथपर लानेकी चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की थी। वे अपनी दैनिक आवश्यकताओंके लिये भी पतिको तंग नहीं करतीं वरं इन्हें स्वयं ही पूर्णकर यथाशक्ति अपने पतिकी भी सहायता करती थीं। पतिके प्रयत्नोंकी फलसिद्धिको ही वे जीवनका उद्देश्य मान चुकी थीं।

सद्गुरु श्रीदेवचन्द्रजी श्रीप्राणनाथजीको पहचानते थे। वे उनकी कई बार परीक्षा लेनेके उपरान्त इस निर्णयपर पहुँचे थे कि उनके शिष्योंमें श्रीप्राणनाथजी ही सर्वश्रेष्ठ एवं गुणग्राहक हैं। उनके धाम-गमनके उपरान्त विहारीजी गुरु-पुत्र होनेके नाते गुरुगद्दीपर विराजमान हुए। वे स्वयं नियमबद्ध जीवन व्यतीत करते थे और तनिक कड़े स्वभावके थे। किसी भी व्यक्तिको नियम भङ्ग करते देख क्रोधित हो जाते थे। एक बार किसी व्यक्तिपर क्रुद्ध होकर उन्होंने उसे सदाके लिये सत्सङ्ग-मण्डलसे निकाल दिया। वह व्यक्ति श्रीप्राणनाथजीके घरपर पहुँचा, परंतु उन्हें वहाँ उपस्थित न देखकर निराश हो गया। साध्वी फूलवतीने उन्हें अतिथि समझकर उनका भलीभाँति स्वागत किया और पतिके घर पधारनेतक उनको घरपर ही ठहरनेकी आज्ञा दे दी।

उधर श्रीप्राणनाथजी अपने कार्यसे निपटकर घर जा रहे थे। मार्गमें नियमानुसार गुरुदर्शनको मन्दिरमें पधारे। परंतु गुरुने उन्हें देखते ही मुँह फेर लिया। कारण पूछनेपर गुरुजीने रोषभरे शब्दोंसे कहा, 'जिस व्यक्तिको हम निकाल दें, उसे तुम्हारे घरमें सम्मान मिले—हम इसे कदापि सहन न करेंगे। अब या तो तुम गृह त्याग दो अथवा हम तुम्हें त्याग देंगे।'

श्रीप्राणनाथजीके सम्मुख महती समस्या थी। यह उनकी कड़ी-से-कड़ी परीक्षाका समय था। एक ओर गृह, दूसरी ओर धर्म; एक ओर निर्दोष साध्वी पत्नीका त्याग, दूसरी ओर कर्तव्य; कर्तव्य-विमूढ़-से होकर श्रीप्राणनाथजी कुछ क्षण खड़े रहे। उसी क्षण उनके सामने आदर्श श्रीराम-सीताका चरित्र घूमने लगा—'कर्तव्यपर, धर्मपर, मुझे गृहका मोह छोड़ देना होगा।' उन्हें निश्चय करते देर न लगी। दृढ़तापूर्ण शब्द उनके मुखसे निकले। 'मैं घर नहीं जाऊँगा।' स्वामीजी फिर घर नहीं गये।

सती फूलवती पतिका आशय समझ गयीं। पतिको बुला भेजनेका साहस भी उन्हें नहीं हुआ। हाँ, विरह और वियोग-की अग्निसे अपने शरीरको भस्मीभूत करके वे सती हो गयीं। मरते समय अपने पतिको उन्होंने यही सन्देश भेजा कि 'मेरी चिताके साथ अपने चरण छू देना, इससे मेरी आत्माको शान्ति प्राप्त होगी।' धन्य हिंदू नारी!

उसी दिनसे श्रीप्राणनाथजी सभी सांसारिक कार्योंका त्यागकर अपने सद्गुरुके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेमें ही जीवन व्यतीत करने लगे। विहारीजी वहीं गद्दीपर रहे और श्रीप्राणनाथजी दूर-दूर देशोंमें पैदल भ्रमण करके अपने उद्देश्यको पूर्ण करने लगे। और कई लोग इस पवित्र काममें उनके साथ हो गये।

× × ×

सोलह वर्ष उपरान्त श्रीप्राणनाथजी किसी गाँवमें एक कुएँके निकट ठहरे। शिष्यगण भोजन-सामग्री जुटानेमें व्यस्त थे। सायंकालका समय था। एक कन्या अपने पिताके साथ कुएँपर जल भरने आयी। अपरिचित व्यक्तियोंको पिता-पुत्री कुछ देरतक देखते रहे। सहसा युवतीने मटका सिरसे उतारकर नीचे रख दिया और घूँघट निकालकर खड़ी हो गयी। पिताके क्रोध और आश्चर्यकी सीमा न रही।

'किससे घूँघट निकाला है?'

'वे मेरे पति हैं।'

'वे साधु ?' पिता आश्चर्य-चकित थे। 'हाँ, वे मेरे पिछले जन्मके पति हैं। मरते समय उनके दर्शनोंकी अभिलाषा मेरे मनमें रह गयी थी। इसीसे मेरा आपके गृहमें जन्म हुआ। पिताजी! धृष्टता क्षमा कीजिये। अपनी पुत्रीको आशीर्वाद देकर उनके साथ छोड़ आप सहर्ष घर पधार सकते हैं।'

निरुत्तर होकर पिता अपनी पुत्रीको ले स्वामीजीके पास आये। वे पहलेसे ही पिता-पुत्रीका वार्तालाप सुन रहे थे। कौतूहलवश उन्होंने पूछा—'तुम मेरी पत्नी थीं, इसका प्रमाण ?' 'आपको भी प्रमाणकी आवश्यकता है, स्वामी ?' तेजकुँवरि पतिके चरणोंपर लोट पड़ी। श्रीप्राणनाथजी कोई उत्तर न दे सके। इतना अवश्य कहा—'तो तुम्हें अन्य शिष्योंकी भाँति मेरे साथ नियमोंका पालन करते हुए रहना होगा।'

'अपने चरणोंसे अलग न कीजिये, स्वामी! मेरे मनमें और कोई अभिलाषा नहीं।'

श्रीप्राणनाथजीने अपने जीवनमें महान् कार्य किये। आदरणीय वीर छत्रसालके गुरु बने, हिंदू जनताको सुपथ दिखलाया। परमधाम और अक्षरातीतकी सुन्दर लीलाका दिग्दर्शन कराया। श्रीतेजकुँवरिजी उनकी एक प्रिय शिष्या थीं। जीवनके अन्ततक वे उनके साथ रहीं। स्वामीजीके कार्यमें उनका प्रत्येक कार्य, उनकी भावनामें प्रत्येक भावना उत्साहवर्धक सिद्ध हुई।

धर्मका लक्षण

(लेखक—श्रीयोगनाथजी तर्कशिरोमणि).

'धर्म'शब्दकी अनेक परिभाषाएँ शास्त्रोंमें दी गयी हैं। इनमें धर्मका लक्षण, स्वरूप, उसके पालनकी आवश्यकता, विधि और उसके प्रमाण अवगत होते हैं। इनमेंसे कुछ परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं—

१—धारणाद्धर्मः।

(श्रीकृष्ण)

मानवके लिये नरक—अधोगतिके मुख्य कारणोंमें विलासिता, अनेकता (फूट), अतिमानिता, स्वार्थपरता (सत्कार, कीर्ति, धनादिको प्राप्त करनेकी इच्छा) हैं। इनके चक्करमें पड़कर अधोगतिके गर्तमें गिरते हुए मनुष्योंको जो धारण करता है—पकड़ लेता है, वह 'धर्म' कहा जाता है।

२—सुगतौ धानाद्धर्मः।

(हरिभद्रसूरि)

सुगति—उन्नतिके शास्त्रीय मार्ग हैं।* ब्रह्मचर्य, अध्ययन, तप, दान, सत्कर्म (शारीरिक एवं मानसिक)—इनके द्वारा मनुष्यकी उन्नति होती है। जो इन कर्मोंपर मनुष्यका धान करता है—उसे आरूढ़ करता है, उसे 'धर्म' कहा जाता है। अवनतिसे उन्नतिपर चढ़ानेसे वह 'धर्म' कहा जाता है।

३—धिन्वनाद्धर्मः।

(उतथ्य)

आज सर्वत्र वर्गवाद, काला बाजार, घूसखोरी, पद-लोलुपता, देशहितकी उपेक्षा, स्वार्थ-साधनमें तत्परता आदि अधर्मोंका प्राबल्य है और इसीसे संसार अशान्त एवं दुखी है। इस अशान्त एवं दुखी संसारका धिन्वन—प्रीणन एकमात्र धर्म ही कर सकता है। धर्मसे ही यहाँ शान्ति स्थापित हो सकती है, अशान्त शस्त्रबलसे नहीं। शुद्ध एवं शान्त साध्यके लिये साधन भी शुद्ध एवं शान्त ही आवश्यक होता है। धर्म-बलके बिना केवल शस्त्रबल या नियमबल (कानून) से स्थायी शान्ति कदापि नहीं हो सकती। अशान्तिका उद्गम-स्थल परस्पर कलह तथा बाह्य आक्रमण है। कलहका मूल-कारण है स्वार्थपरता। धर्मका स्वरूप है—'परोपकारः पुण्याय।' अर्थात् परस्पर एक दूसरेका उपकार ही उन्नतिका कारण होता है। यह भावना जबतक मनुष्यमें दृढ़ प्रतिष्ठित नहीं होगी, तबतक कलहकी वृत्ति शान्त नहीं होगी। और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्।' जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँसे होगा। शान्तिकी स्थापना क्षत्रियका कर्तव्य है और धर्म क्षत्रियका भी क्षत्रियत्व है।*

* न पापा सो मनामहे, नारायासो न जल्हवः, न पापा इति मन्यामहे, नावना न ज्वलनेन हीना, अस्ति अस्मासु ब्रह्मचर्यम्, अध्ययनं तपो दानं कर्मेति ऋषिरवोचत्।

* स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत् धर्मस्तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः, तस्माद्धर्मात्परं नास्ति, अथोऽबलीयान् बलीयांस-माशंसते धर्मेण।

समाजकी उन्नति और उसमें शान्तिकी स्थापना धर्मबलसे ही हो सकती है। अतः धिन्वनात्—शान्ति करनेके कारण धर्म धर्म है। उपर्युक्त तीनों परिभाषाओंमें पतन रोकना, उन्नतिकी ओर ले जाना तथा आपसमें शान्तिकी स्थापना—ये धर्मके लक्षण सिद्ध होते हैं। इनके विपरीत पतन, स्वेच्छाचरण एवं अशान्ति अधर्मके लक्षण हैं।

धर्ममें प्रमाण

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने मनको प्रिय लगना—ये चार धर्म-निर्णयमें प्रमाण माने गये हैं। 'स्वस्य च प्रियमात्मनः'का अर्थ 'जो हमारे मनको अच्छा लगे, वह धर्म है—यदि इतना ही लिया जाय तो चोरको चोरी अच्छी लगती है, व्यभिचारीको व्यभिचार प्रिय लगता है; फिर तो उसके लिये वह भी धर्म हो जायगा। अतः इसका अभिप्राय यह है कि हमारे साथ दूसरा यदि वह व्यवहार करे, जो हम दूसरेके साथ करने जा रहे हैं और वह दूसरेद्वारा अपने साथ किये जानेपर हमें प्रिय लगे तो वह धर्म है। दूसरोंद्वारा अपने साथ किया गया जो व्यवहार हमें बुरा लगता है, वही हम दूसरोंके साथ करें तो यह अधर्म होगा। इस अभिप्रायको भगवान् व्यासने महाभारतमें स्पष्ट कर दिया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मका यह सार सुनना चाहिये और सुनकर फिर धारण करना चाहिये। जो कुछ अपनेसे प्रतिकूल हो, उसका दूसरेके प्रति आचरण नहीं करना चाहिये।' अपनेको मान, सेवा, हित, प्रेम अच्छे लगते हैं; अपमान, तिरस्कार, अहित, द्वेष अच्छे नहीं लगते। अतएव हमको दूसरोंके साथ मान, सेवा, हित और प्रेमका ही आचरण करना चाहिये। यही धर्म है।

धर्म तथा मत

इस युगमें जो अनेक महाभ्रम प्रचलित हो गये हैं, उनमेंसे यह भी एक महाभ्रम है कि लोग धर्म और मतको एक ही मान लेते हैं या मतको ही धर्मका स्थान दे देते हैं अथवा धर्मको भी मत मान लिया जाता है। वस्तुतः धर्म और मतमें बहुत बड़ा अन्तर है। धर्म मनुष्यमात्रके हितकी दृष्टिसे प्रवर्तित होता है। अतएव मनुष्यमात्रके लिये धर्म एक ही हो सकता है और वह मानव-धर्म या मानवता है। यही सनातन धर्म है। मतकी प्रवृत्ति किसी एक देश-कालमें किसी एक प्रकारके अधिकारी-वर्गके लिये होती है। अतः मत अनेक हो सकते हैं। संस्कार धर्म है, इसके प्रतिपादक ग्रन्थ धर्मशास्त्र हैं। उपासना अथवा अध्यात्मज्ञान मत हैं, इनके प्रतिपादक ग्रन्थ मत-शास्त्र हैं। इस रहस्यको न समझनेके कारण ही आजकल मत एवं धर्मके सम्बन्धमें भ्रम चल रहा है। इसी भ्रमके कारण अनेकताका स्वभाव रखनेवाले मतोंको एक करनेका और एक सार्वभौम धर्मको अनेक बनानेका प्रयत्न हो रहा है। इसी भ्रमके कारण बुद्धमत, जैनमत, ईसुमत, मोहम्मद-मत प्रभृति धर्म कहे जाते हैं। जो किसी एक देश-कालमें किसी एक ही प्रकारकी उपासनासे सम्बन्ध रखते हैं, वैसे धर्म नामक ये सब वस्तुतः मत ही हैं। धर्म तो इन सब मतावलम्बियोंका भी एक ही हो सकता है और है भी। अनेकता मतोंमें ही हो सकती है। 'सत्यं ब्रूयात्', सच बोलो—इस धर्मके लिये 'हाँ' अथवा 'ना'का भेद नहीं हो सकता।

धर्म-प्रमाणकी परीक्षा

प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणके अधीन है, यह निर्विवाद है। प्रमाण यदि सत्य और शुद्ध है तो प्रमेय भी सत्य एवं शुद्ध होगा। प्रमाण यदि कल्पित एवं अशुद्ध होगा तो प्रमेय भी कल्पित एवं झूठ सिद्ध होगा। यही नियम धर्मके सम्बन्धमें भी है। जिस उद्देश्यसे जो वस्तु बनती है, उस उद्देश्यके किसी भी कारणसे छिप जानेपर मनुष्य अपने दोषोंको छिपाने तथा लोकाराधन (वञ्चना) के लिये झूठे तत्त्वोंकी कल्पना कर बैठता है। इस प्रकार अनेक कल्पित अनृत तत्त्वोंकी समकक्षामें अथवा उनसे भी हीन कक्षामें आ जानेके कारण ऋततत्त्व (सत्य) को पहचानना कठिन हो जाता है। सत्य (ऋततत्त्व) को पहचाननेमें उस समय तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है, जब मताग्रह, राग-द्वेष अथवा स्वार्थवश मनुष्य अनृत (धर्माभास) को सिद्ध करनेके लिये कृत्रिम वेद, स्मृति तथा पुराणादिके वचन गढ़ लेता है अथवा ऐसे ही किसी ग्रन्थविशेषको ईश्वरकृत घोषित कर देता है। जब इस प्रकारके ईश्वरकृत घोषित अनेक ग्रन्थोंमें अनेकता आ जाती है, तब गुरुडम फूलता-फलता है। एक ईश्वरकृत घोषित ग्रन्थ दयाको सर्वोत्तम बतलाता है तो दूसरा वैसा ही ग्रन्थ ठीक उसके विपरीत गुण क्रूरताको ईश्वरकी आज्ञा

बतलाता है। ऐसा समय बड़ा भयङ्कर होता है। ईश्वर तथा धर्मके नामपर मनुष्य मनुष्यका ही हत्यारा बन जाता है। ऐसा मनुष्य अपनी भूलसे अपना तो नाश कर ही लेता है, जगत्की दृष्टिमें अपने ईश्वर एवं धर्मके नामपर किये गये अपने कुकृत्योंसे उनको (ईश्वर तथा धर्मको) भी हीन सिद्ध करता है। शास्त्रकारोंने ऐसी जटिल परिस्थितिमें भी सत्यके जिज्ञासुके लिये कुछ उपाय बतलाये हैं, जिन्हें धर्म-प्रमाण-परीक्षा कहा जाता है।

'बहुत्वात् परीक्षावतारः।'

परस्परविरोधी सत्य एवं अनृतपरक वचनोंके परस्पर मिल जानेपर उनकी परीक्षा स्वर्णकी भाँति करनी चाहिये।

'कषादिप्ररूपणा।'

जैसे स्वर्णके समान दीखनेवाली धातुके विषयमें सन्देह होनेपर उसकी परीक्षा कष, ताडन, छेदन तथा तापसे की जाती है, वैसे ही धर्मके लक्षण-साधक वचनोंमें भी उनके प्रमेय तथा स्वरूपके सम्बन्धमें सन्देह होनेपर उनकी परीक्षा आवश्यक है।

'विधिप्रतिषेधौ कषः।'

प्राणिमात्रके हितमें वह विधान है या नहीं, यह परीक्षण धर्मवचनोंकी कसौटीपर परीक्षा करना है। यह परीक्षाकी प्रथम कोटि है। सबके कल्याणकी दृष्टिसे किये जानेवाला विधि-निषेध कष अर्थात् कसौटी है और इसपर उन वचनोंको खरा उतरना ही चाहिये। जैसे—'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि', किसी प्राणीको मत मारो—यह निषेधाज्ञा सर्वजनीन है। इसमें सर्वहितकी दृष्टि है, इससे यह यथार्थ है।

'तत्संभवपालना चेष्टोक्तिश्छेदः।'

स्वर्ण कसौटीपर 'खरा' उतर जाय, तब भी भीतरसे शुद्ध है या नहीं—यह देखनेके लिये उसे छेदना पड़ता है। इसी प्रकार विशुद्ध बाह्य चेष्टाओंका विधान तथा उन विधि-निषेधोंका पालन होना सम्भव है या नहीं, यह निर्णय धर्म-वचनोंकी छेदन-परीक्षा है। जिसमें प्राणिमात्रके साथ प्रेममय व्यवहारका विधान नहीं, अथवा जिन विधि-निषेध वचनोंका पालन सम्भव नहीं, वे इस परीक्षणमें असफल धर्माभास हैं।

'उभयनिबन्धनभाववादस्तापः।'

कसौटीसे ठीक तथा छेदनेपर भी सच्चा जान पड़नेवाला स्वर्ण यदि ताप देनेपर मैला हो जाय तो वह शुद्ध स्वर्ण नहीं है। इसी प्रकार धर्मवचनोंका भी ताप-परीक्षण है—उनका भाव अथवा रहस्य। प्रत्येक धर्मवचनका भाव—उसका रहस्य मनुष्यको पतनसे बचाने और संयममें लगानेका ही होना चाहिये। जो वचन ऐसे नहीं हैं, वे विशुद्ध धर्मवचन नहीं कहे जा सकते। यह लक्षण सभी देशों, समस्त कालों, सभी अवस्थाओंमें सबके लिये समान है। पूर्वमीमांसामें महर्षि जैमिनिने भी 'स्मृतिप्रामाण्याधिकरण'में प्रयोजनको ही धर्मका सच्चा लक्षण माना है। महाभारतमें भीष्मपितामहने भी श्रुति-स्मृति तथा सदाचारमें सन्देह होनेपर प्रयोजनको ही धर्मका मुख्य निर्णायक स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

न हि निष्कारणो धर्मः सूक्ष्मोऽप्युक्तो युधिष्ठिर।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य धर्मप्रवचनं कृतम्॥

इसी प्रकार मनुने यह घोषणा ही की है—

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

अतः शास्त्रानुकूल तर्कके सहारे धर्मके विज्ञान—प्रयोजन-तक पहुँचना ही धर्मको जानना है; क्योंकि प्रयोजन ही धर्म-का सच्चा लक्षण है। श्रुति-स्मृति एवं सदाचार तो उस प्रयोजन-के परिचायक हैं।

अज्ञान तथा प्रमादसे मनुष्यने जबसे इस प्रयोजनरूप धर्मको विस्मृत कर दिया, तभीसे उसका सहस्रमुखी पतन हुआ और हो रहा है। धर्मविधायक वचनोंका मनमाना अर्थ और इससे भी काम न चलनेपर कृत्रिम धर्मवचनोंका प्रादुर्भाव तथा इन दोनोंके सहारे अनेक मतोंका उद्भव तथा सत्य तथ्योंकी अवहेलना—ये सब बातें धर्म-विज्ञानको भूलने-पर तथा विचारहीन अन्धश्रद्धाके प्राबल्यसे ही बढ़ी हैं। अतः हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाके लिये धर्मके उपर्युक्त लक्षणोंको समझकर उसका पालन करना चाहिये।

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मं प्रवचनं कृतम्।
यस्यात्प्रभवसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
(भगवान् व्यास)

'प्राणियोंकी अभिवृद्धिके लिये धर्मका प्रवचन—वर्णन किया गया है; अतः जो प्राणियोंकी अभिवृद्धिका कारण हो, निश्चय वही धर्म है।'

प्रकाश-धाम

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
(गीता १५ । ६)

'मुझे प्रकाशमें जाना है—अन्धकारसे प्रकाशमें !' उसे अन्धकारसे घृणा हो गयी थी । भय लगता था । यहाँतक कि रात्रिमें वह उन्मत्त-सा हो जाता । निद्रा उसे लगती ही न थी । एक प्रकारका रोगी समझ लीजिये उसे, जो प्रत्येक प्रकारकी छायासे बेचैन हो उठता था ।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय !' उसने सुना हो या न सुना हो; किंतु उसे धुन थी 'मुझे ऐसे प्रकाशमें पहुँचना है, जहाँ कभी अन्धकार प्रवेश न कर सके । भगा दो ! अन्धकारको मुझसे दूर भगा दो !' वह स्वयं भागता जाता था ।

उसका उन्माद—उसकी स्थितिमें उन्मत्त हुए विना कौन रह सकता है ! उसने क्या 'अहुरमज्द' (पारसीक परमात्मा) के लिये कम प्रार्थना की है ? कम आहुतियाँ दी हैं ? उसकी ज्वाला अन्ततः क्यों बुझ गयी ? किसके पापसे उसके देशको अग्निदेवने छोड़ दिया ? क्यों यह श्वेत हिम उसकी अग्निशालापर विजयी हुआ ।

'पूर्वी हिंदू' (भारतीय आर्य-जातिका पारसीक नाम) कहते हैं कि 'ध्रुवदेश तमःप्रान्त है । वहाँ जानेवाला अन्धकारके अगम सागरमें चला जाता है । अज्ञ हैं वे !' अपने पुरोहितके उपदेशपर वह स्वयं भी हँसता था । सचमुच पूर्वी हिंदू अज्ञ न होते तो क्या इतने मनोहर प्रदेशको वर्जित बतलाते । वर्षमें पूरे छः मास जहाँ भगवान् भास्कर अखण्ड प्रकाशित होते हैं, जहाँ छः महीनेकी रात्रि ईश्वरीय प्रकाश (ध्रुवीय विद्युत्) आलोकसे जगमगाती है, जहाँ अग्निकुण्डोंमें अग्निदेव अखण्ड प्रकट रहते हैं; जहाँ उज्ज्वल हिम, हरित वल्लरियाँ, शस्यश्यामला भूमि, चिरस्थायी सुमन, मधुर फल-भारसे झुके हुए वृक्ष-समूह निरन्तर आनन्दका विस्तार करते हैं, वह सुन्दर देश क्या तमःप्रान्त है ? उसे पूर्वी हिंदुओंके प्रति सदा उपहास एवं घृणाका भाव उकसाता रहा है ।

'पश्चिमी हिंदू' (पारसीक) निश्चय महाज्ञानी हैं । उसके पूर्वज पारस्यदेशसे यहाँ आये थे—कितने बुद्धिमान् और शूर होंगे वे ! भला, 'पूर्वी हिंदू', जो अपनी कायरतासे भारतको छोड़नेमें ही भीत होते हैं, क्या जानें कि विश्वमें ऐसे भी स्थल हैं ।

'अपने पूर्वजोंके पापका दण्ड मिला है उसे, उसके पूरे देशको !' आज उसे उस वृद्ध पुरोहितकी बात स्मरण आती है, जो उसके यहाँ वर्षमें एक बार आता था । वह अपना भारी लबादा आते ही उतार देता ! अपने अग्निकुण्डको अग्निशालमें रखकर सात बार अभिवादन करता और तब इस प्रकार आकर बैठ जाया करता था, जैसे यह घर उसीका हो । वह घरके प्रत्येक सदस्यका नाम लेकर उसका स्वास्थ्य पूछता । बच्चोंको गोदमें लेकर पुचकारता और देरतक अनेक प्रकारकी बातें करता । माता उसका बहुत आदर करती थीं । कुलपुरोहित भी उसका सम्मान करते थे ।

'पूर्वी हिंदू ही वस्तुतः हमारे पूर्वज हैं ! भारतमें हमारे पूर्वज वहाँके किन्हीं नियमोंका पालन न कर सके ! फलतः वहाँके लोगोंने उन्हें पृथक् कर दिया । अनेक वार इन दोनों वर्गोंमें युद्ध हुआ । अन्तमें हमारे पूर्वजोंको भारत छोड़ना पड़ा । वे पारस्य देशमें आकर पश्चिमी हिंदू हो गये !' जब वह वृद्ध पुरोहित अपनी लंबी श्वेत दाढ़ी हिलाते हुए यह बात कहता, माता

उत्तेजित हो जाती। ग्रामपुरोहित झगड़नेको तैयार हो जाते; किंतु वह बिना उत्तेजनाके कहता जाता 'पूर्वी हिंदू अनेक विषयोंमें इतने विद्वान् हैं कि हमलोग सोच भी नहीं सकते।' और तब ग्रामपुरोहित चिल्लाकर बोलने लगता। सभीको ये बातें पसंद न थीं। वृद्ध पुरोहित बहुत विद्वान् था; ऐसा न होता तो अवश्य लोग उसे रस्सीसे बाँधकर नगरके बीच किसी चौराहेके खंभेसे बाँध देते और पत्थरोंसे मारते-मारते मार डालते। लेकिन वह राजकुलसे एक बार सम्मान पा चुका है। जिसने राजाके हाथसे पुरस्कार पाया हो, उसे शरीर-दण्ड कैसे दिया जा सकता है।

'पूर्वी हिंदू अनेक विषयोंमें इतने विद्वान् हैं कि हमलोग सोच भी नहीं सकते।' आज उसे बार-बार उस वृद्ध पुरोहितकी बात स्मरण आती है। अवश्य पूर्वी हिंदू कोई ऐसा स्थान जानते हैं, जहाँ कभी अन्धकार नहीं होता। उन्होंने इस देशको ठीक ही अन्धकारका अगम प्रदेश कहा है। पश्चिमी हिंदू उसके पूर्वजोंने उनकी बात नहीं मानी। आज पूरे देशको अपने पूर्वजोंके उसी अपराधका दण्ड मिला है।

पृथ्वीकी केन्द्रच्युतिके समय उत्तरी ध्रुवदेशमें हिमपात हुआ। वह रात्रिका समय था—ध्रुवीय छः महीनेकी रात्रिका। हिमने ध्रुवीय प्रकाशको लुप्त कर दिया। अन्धकार—सूचीभेद्य अन्धकार और उसमें वह प्रलयङ्कर हिमपात। महीनों उस हिमपातके समय अन्धकारमें प्राण-रक्षाके लिये जो भागा हो, उसका क्लेश, उसकी आतुरता, उसका सङ्कट यदि उसे अन्धकारके भयका उन्मादी बना दे तो क्या आश्चर्य! वह वहाँसे बच निकला था, यही क्या कम था?

× × × ×

[२]

'ये बड़े-बड़े वृक्ष!' छायासे उसे घृणा थी। वह शीत प्रदेशका निवासी उष्णतासे व्याकुल हो गया था; किंतु छाया उसे धूपसे अधिक असह्य थी। घना जंगल, सघन छाया—जैसे ये साक्षात् यमदूत हों, जो उसे निगलने दौड़े आ रहे हों। बड़ा कष्ट हुआ उसे। कई मासमें वनभूमिसे उसका पीछा छूटा।

'बहुत थोड़ी देर रहते हैं इस देशमें सूर्य!' ध्रुवीय दिनोंकी अपेक्षा नीचेके बारह घण्टेके दिन उसे कितने तुच्छ जान पड़े, यह कल्पना ही की जा सकती है। 'रात्रि भी छोटी और उसमें वह शीतल चन्द्रमा—वह तो कभी निकलता है और कभी निकलता ही नहीं!' रात्रि इतनी शीघ्र आ जाय, यह उसे पसंद नहीं था।

'कहीं आगे और छोटे दिन तो न होंगे!' उसे भय लगा कि क्रमशः नीचे दिन घटते गये तो पल-पल-पर दिन-रातका क्रम बड़ा कष्टकर होगा; परंतु उपाय कुछ नहीं था। 'बुद्धिमान् पूर्वी हिंदू अवश्य किसी प्रकाशमय देशको जानते होंगे।' उसे यह एक ही विश्वास बढ़ाये लिये जा रहा था।

'तुम कौन हो?' महीनोंके पश्चात् उसे मनुष्यके दर्शन मिले थे। ठिगने, पीले मनुष्य। उनकी नासिका जैसे किसीने उत्पन्न होते ही जोरसे दबा दी हो। कई मनुष्योंने उसे घेर लिया था। वे जो भाषा बोलते थे, उसका एकाध शब्द वह कठिनतासे समझ पाता था।

'पश्चिमी हिंदू—आस्थुस कन्यम।' उसने अपना नाम बतलाया। वे मनुष्य इस प्रकार उसका मुख देख रहे थे, जैसे उन्होंने कुछ समझा ही नहीं। मस्तकपर लंबी-लंबी तीन-तीन चोटियाँ, हाथोंमें चमकते भाले और शरीरपर चमड़े तथा चिड़ियोंके पंखोंसे बने विचित्र वस्त्र पहिने वे अद्भुत लगते थे। उन्होंने परस्पर कुछ कहा और फिर घेर लिया उसे। उसने समझ लिया कि वह बन्दी बनाया गया है। मनुष्योंको देखकर पहले वह प्रसन्न हुआ था। पता नहीं कितने दिनोंपर उसने मानवके दर्शन पाये थे। लेकिन इन मनुष्योंके

व्यवहारने उसकी प्रसन्नताको भयमें परिवर्तित कर दिया। 'कौन हो तुम ?' राजा काँगका दरबार अद्भुत था। ऐसे विचित्र भवन, ऐसे पत्थर तथा लकड़ीके काम उसने नगरमें देखे थे कि मार्गमें ही चकित हो गया था। राजाका स्वर्णसिंहासन, रत्नमुकुट, चीनांशुक, दरबारकी वह शोभा, सत्ता, अनुशासन—उसे लगा कि वह फरिश्तोंके देशमें आ गया है। राजाके प्रश्नके उत्तरमें उसके मुखसे एक शब्द न निकला।

'अतिथि, डरो मत! हम तुम्हारा परिचय जानना चाहते हैं।' पता नहीं क्या हुआ। राजाने उसे ले आनेवालोंसे कुछ पूछा, फिर समीप बैठे दूसरे व्यक्तिसे कुछ बातें कीं। थोड़ी देर सब शान्त रहे। एक वृद्ध पुरुष आया कुछ देरमें! उसे राजाने भी उठकर सम्मानित किया। वृद्धको राजाके समीप ही बैठाया गया। उसे आश्चर्य हुआ और आनन्द भी, जब उसने वृद्धको अपनी भाषामें बोलते सुना।

'मैं पूर्वी हिंदुओंके देशमें पहुँचना चाहता हूँ।' बहुत संक्षिप्त शब्दोंमें अपना परिचय और उद्देश्य बताया उसने। उसे लानेवालोंने एक वस्त्र दिया था, जिसे उसने कमरके चारों ओर लपेट लिया था। उसके वस्त्र तो कबके जंगलोंमें चिथड़े बनकर उलझ चुके थे। बड़े-बड़े बाल, रूखा शरीर, कष्ट-यात्रा और अनाहारसे स्नायु उभड़ आये थे। शरीर कंकाल हो रहा था। लोग इतने लंबे श्वेत रंगके दुर्बल पुरुषको बड़े आश्चर्यसे देख रहे थे।

जैसे कोई जादू हो गया हो, वे वृद्ध पुरुष सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने कुछ कहा; पर क्या कहा—यह वह समझ नहीं सका। राजाने शीघ्रतासे मुकुट उतार दिया। सबके सब उठकर खड़े हो गये। सबने एक साथ कटितकका शरीर नीचे झुकाया। उनके मस्तकके साथ उनकी लंबी चोटियाँ भूमिका स्पर्श करने लगीं। एक, दो, तीन—वे लोग यह अद्भुत व्यायाम करते ही जा रहे थे। उसने बड़ी कठिनाईसे अपना हास्य रोका।

'आपलोग मुझे आज्ञा दें!' उसे राजाके सिंहासनके पास सम्मानपूर्वक बैठाया गया। राजाके सेवकोंने उसे वस्त्र, अलंकार, सुगन्धित तैलसे सजाना प्रारम्भ किया। उसे बड़ा भय लगा। बचपनमें उसने सुना है कि 'दक्षिणकी कुछ पर्वतीय जातियाँ मनुष्यका पहले सत्कार करती हैं और फिर उसे किसी मूर्तिके सम्मुख मार डालती हैं। क्या उसे भी इसी प्रकार मारा जायगा!'

'आप हमारे लिये देवताओंके समान पूज्य हैं' उस वृद्धने बड़ी नम्रतासे कहा। 'आप उस देशके यात्री हैं, जहाँ मनुष्य देवताओंसे भी महान् हैं। उस देशके सम्राट्के चरणोंमें देवेन्द्र भी अपने उपहार निवेदित करके कृतार्थ होते हैं। पूज्य अतिथि! हमारे महाराज तुम्हारे हाथ वहाँके मानववन्द्य-सम्राट्के लिये अपना छोटा-सा उपहार भेजेंगे और मैं अपने गुरुदेवके श्रीचरणोंमें निवेदित करनेके लिये एक उत्तरीय दूँगा। हमारे महाराज तुम्हारी यथाशक्ति सहायता करेंगे। आशा है तुम हमपर कृपा करोगे। हमारे उपहार पहुँचा दोगे।'

'कैसा होगा वह देश? कैसे होंगे वे सम्राट् और गुरु?' वह चकित रह गया। यहाँ उसने जिस वैभवको देखा है, वही उसे स्वर्गीय लगता था। राजाकी इस राजसभामें इतने सिक्थ-प्रदीप (मोमबत्तियाँ) थीं कि वहाँ अन्धकारका प्रवेश शक्य नहीं था। इस प्रकाशने उसे सबसे अधिक प्रभावित किया। जहाँ जानेका विचार उसे इन लोगोंमें इतना सम्मानित कर रहा है, कैसा होगा वह देश?

× × ×

[३]

'भारत—अजनाभवर्ष, यही क्या पूर्वी हिंदुओंका

देश है ?' उसने जिन पूर्वी हिंदुओंकी बातें सुनी हैं, उसके हृदयमें जो तिरस्कारके बीज बचपनमें डाले जाते थे, कहीं तो नहीं है उसका आधार। सरिताओंके तीर भव्य मन्दिरोंसे अत्यधिक मनोहारी हो गये हैं। घर-घर, व्यक्ति-व्यक्ति अपनी अग्नि रखता है। प्रत्येक ग्राममें उसका ऐसा सत्कार होता है, जैसे किसी देवताकी पूजा हो रही हो।

'यह भी क्या मनुष्य ही हैं!' भव्य पाटलकान्ति गोधूम वर्णके सम्मुख उसका श्वेतवर्ण फीका लगता है। उन्नत ललाट, अनुभावपूर्ण भंगिमा, विनयपूर्ण बर्ताव एवं विद्याका तो व्यक्ति-व्यक्तिमें समुद्र उमड़ रहा है। 'इतना वैभव, इतना ऐश्वर्य, इतनी शालीनता भी पृथ्वीपर ही है ?' कोई उससे कुछ चाहता नहीं। सब सेवा करना चाहते हैं।

'इनकी सम्पत्ति कोई चोरी नहीं करता ?' उसे यह देश अद्भुत लगा। लोग चाहे जहाँ बहुमूल्य वस्तुएँ डाल देते थे। खेतोंमें पशुओं और उपवनोंमें पक्षियोंको कोई भगाता ही नहीं। 'आइये, कुछ तो स्वीकार कीजिये!' मनुष्य, पशु-पक्षी, सभी प्राणियोंके लिये इस प्रकार सभी पदार्थोंमें खुला निमन्त्रण देनेवाले ये कैसे मानव हैं।

'आप क्या इसे स्वीकार करनेकी कृपा करेंगे ?' जहाँ किसी वस्तुके प्रति तनिक भी उत्सुकता दिखायी कि उस वस्तुका स्वामी वाणी एवं भावमें इतना आग्रह भर लेगा कि अस्वीकार करना शक्य नहीं रह जायगा। यात्रीको शीघ्र ही अनुभव हो गया कि इस देशके लोगोंने सम्भवतः लेना सीखा ही नहीं है। एक स्थानका उपहार दूसरेको दे दें, यह बहुत सरल बात नहीं। कोई वस्तु किसीको देनी हो तो यहाँके लोग वस्तुके उपयोग, गुण, प्रशंसा, आवश्यकताका बड़ा विस्तृत वर्णन करेंगे; किंतु उन्हें कुछ देने लगिये तो वस्तुमें उन्हें दोष-ही-दोष दीखेंगे। उनके पास उसकी आवश्यकता ढूँढ़े न मिलेगी। कहाँतक यात्री उपहारोंको ढोये।

'महाराज ?' उसने समझा था कि इस स्वर्गीय देशका महाराज सरलतासे प्राप्त न हो सकता होगा। सच तो यह है कि प्रारम्भमें उसे प्रत्येक गृह राजभवन लगा और प्रत्येक व्यक्ति महाराज जान पड़ा। 'यहाँ कोई राजा न होगा। ऐसे महान् लोगोंका कोई राजा हो कैसे सकता है। राजाकी यहाँ आवश्यकता भी क्या है।' लेकिन उसने राजाकी जिज्ञासा की थी और वह बड़े सम्मानसे प्रतिष्ठानपुर पहुँचाया जा रहा था। राजधानीका नाम उसने स्मरण कर लिया, यद्यपि उसे उच्चारण करनेमें वह पूर्णतः सफल न हो सका।

'सम्मान्य अतिथि! अपने देशकी ओरसे मैं आपका स्वागत करता हूँ।' वह जैसे स्वप्नमें सुन रहा हो। भवन-द्वारतक आकर जिस तेजोमय पुरुषने उसे पृथ्वीमें लेटकर प्रणाम किया था, वे ही महाराज हैं। मनुष्य इतना तेजस्वी होता है ? वह तो चौंक पड़ा था। उसे लगा, यह देवदूतोंका कोई महाधिपति है। अर्घ्यके पश्चात् पैर धोये महाराजने उसके। संकोच और अस्वीकार उन दिव्य पुरुषने विनोद बना लिया। चन्दन, माल्य, पुष्पसे पूजा की गयी उसकी और वह भोजन—कैसे भूल सकेगा वह भोजनको। 'आप आज्ञा करें। आपकी सेवासे हम पवित्र होंगे।' महाराजने भोजनोपरान्त उससे प्रार्थना की।

'चीनके राजाने यह उपहार भेजा है!' यात्रीने देखा, चीनका वह महामूल्यवान् माणिक्य यहाँ पादपीठमें लगे रत्नोंसे भी तुच्छ है। उसे जिस आसनपर बैठाया गया था, उसका प्रत्येक रत्न इस उपहारका परिहास करनेके लिये पर्याप्त था। 'महाराज हँसकर उसे एक ओर फेंक देंगे।' राजसभामें आनेसे पूर्व ही वह समझ चुका था। भारतीय गृहोंमें रत्नप्रदीपोंके

अखण्ड आलोकको देशमें प्रविष्ट होते ही उसने देखा और तभी उपहारकी तुच्छता उसे प्रतीत हो गयी। जो भी हो, उसे तो कर्तव्य पूरा करना था।

'चीना नृपतिका सौहार्द!' आदरसे महाराजने रत्नको उठाकर नेत्रोंसे स्पर्श कराया! 'वे प्रसन्न तो हैं?' इतना शील—यात्रीके नेत्र भर आये।

'आपकी मित्रता पाकर तो देवता भी कृतार्थ हो जायँगे।' यात्री जैसे अपने आपसे कह रहा हो।

'आपने जिस उद्देश्यसे इतनी दुर्गम यात्रा की, उसके श्रवणसे मैं कृतार्थ होना चाहता हूँ!' महाराजके प्रश्नमें ही उद्देश्य पूर्ण करनेका भाव था।

'मुझे प्रकाश चाहिये।' यात्रीने अपना परिचय दिया। यात्राविवरण बतलाया। 'यह सूर्य शीघ्र छिप जाता है। चन्द्रमाका तो कोई ठिकाना नहीं। मैंने देखा है कि अग्निदेवपर हिम किस प्रकार विजयी हो जाता है। आपके ये रत्न कुछ ठीक हैं; परंतु इनके समीप ही प्रकाश रहता है। दूर तो अन्धकार दिखलायी ही पड़ता है। आप देवताओंसे भी महान् हैं। आपकी शक्ति अपार है। आप मुझे ऐसा स्थान बतायें, जहाँ कभी अन्धकार प्रवेश न कर सके। मुझपर दया करें।' यात्रीने हाथ जोड़ लिये। उसके नेत्र याचना कर रहे थे। ये ऐश्वर्यस्वरूप महाराज उसकी इच्छा पूर्ण कर देंगे—यह उसे विश्वास था।

'आज आप विश्राम करें।' दो क्षण मौन रहकर महाराजने कहा। 'कल गुरुदेवके आश्रममें आपके साथ चलूँगा। आपकी इच्छा वही पूर्ण कर सकते हैं।'

'मुझे उनके चरणोंमें उनके एक शिष्यका प्रणाम निवेदन करना है।' यात्रीने नाम पूछा और तब उसे चीनके उस वृद्धका स्मरण आया।

× × × ×

[४]

'महाराज! वहाँ अन्धकार होगा।' किसी प्रकार वृक्षोंकी छायामें वह अपनेको सँभाल रहा था। उसकी इच्छा होती थी, भाग जाय दूर। भला वह उस फूसकी कुटियामें कैसे जाय। वहाँ तो किसी सिक्थ-दीप (मोमबत्ती) के भी लक्षण नहीं! रत्नप्रदीप तो होगा ही क्या। अग्निशाला भी बाहर ही है।

'वहाँ प्रकाशके परम पुञ्ज हैं, आप डरें नहीं।' महाराजने उसे आश्वासन दिया। सचमुच पहली बार उसने ऐसा पुरुष देखा, जिसके सम्पूर्ण शरीरसे विचित्र प्रकाश प्रकट हो रहा था। यद्यपि वहाँ पर्याप्त छाया थी, फिर भी उस पुरुषके पास अन्धकारका भय मनमें आया ही नहीं।

'अग्निको जल या हिम शीतल कर देता है!' उन जटाधारी तपस्वीने महाराजके प्रणामके पश्चात् स्वतः कहना प्रारम्भ किया—'इसीलिये कि अग्नि पृथ्वीपर स्थूल आधारसे व्यक्त होता है।'

'चन्द्रमा?' यात्रीने पूछा।

'चन्द्रमाके पास प्रकाश कहाँ? वह तो सूर्यसे प्रकाश लेता है।' यह बात तो यात्रीने भी सुनी है। 'सूर्यका प्रकाश भी एक सीमातक ही रहता है। इसीसे प्रलयकी वृष्टि उसे भी डुबा देगी।'

'तब क्या सदाके लिये अन्धकार हो जायगा?' यात्रीको भय लगा।

'तुम अपने नेत्र बंद करो!' उन्होंने आदेश दिया।

'केवल अन्धकार है।' झटसे यात्रीने दृष्टि खोल दी। 'मैं अभी सोना नहीं चाहता।'

'इसी प्रकार सृष्टिकर्ता जब दृष्टि बंद कर लेता है, सृष्टिमें अन्धकार हो जाता है?

'सृष्टिकर्ताके पास प्रकाश किसका है?' यात्रीने पूछा।

'परम-पुरुषका।' वे बतलाते गये। 'परम पुरुष ही

स्वतः प्रकाश हैं। उनका धाम नित्य प्रकाशस्वरूप है। जब भी हम नेत्र बंद कर लेते हैं, अन्धकार हो जाता है। उनकी ओरसे दृष्टि बंद करना ही अन्धकार है। समष्टिकर्ताकी दृष्टि बंद होनेपर समष्टिमें और व्यक्तिकी दृष्टि बंद होनेपर व्यष्टिमें अन्धकार होता है।'

'मैं वहाँ जा सकूँगा ?' यात्रीने उत्कण्ठासे पूछा।

'निश्चय जा सकोगे।'

'कोई फिर निकाल तो नहीं देगा ?'

'वहाँ पहुँचनेपर फिर कोई निकाल नहीं सकता! कोई वहाँ जाकर फिर नहीं लौटता।' वाणी गम्भीर ही बनी रही

'भला, प्रकाशधाममें जाकर कोई क्यों लौटेगा इस अँधेरेमें।' यात्रीने बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की—'आप मुझे वहाँ भेज दें। वहीं—जहाँ अग्नि, चन्द्र, सूर्यका प्रकाश नहीं। जहाँ इनके प्रकाशके लुप्त होनेका भय नहीं मैं उत्तर ध्रुवदेशसे वहीं जानेके लिये चला हूँ।'

'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय! मृत्योर्मामृतं गमय!'

दूर कोई ब्रह्मचारी श्रुतिका सस्वर पाठ कर रहा था। अतिथिके पधारनेका उसे पता होता तो श्रुतिका अनध्याय हो गया होता। यात्रीने सुना। वह महीनों-के श्रमसे संस्कृत बोलने लगा है। उसने सोचा 'वह ठीक स्थानपर आया है। अन्धकारसे प्रकाशमें ले जाने-की प्रार्थना जहाँ होती है, वहाँ उसका पथ होना ही चाहिये।'

'असत्से सत्में जाना ही अन्धकारसे प्रकाशमें जाना है। अन्धकार-अभाव-मृत्यु—ये एक दूसरेके बड़े पर्याय हैं। इनसे अमृतत्वमें जाना है। उस प्रकाश-स्वरूप सत्में, जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता। जहाँ शाश्वत स्थिति—अमरत्व है।' वे महात्मा कहते जा रहे थे। 'असत्, विनाशशील—यदि तुम नेत्र खोलकर न देखो तो इसकी सत्ता ही तुम्हारे लिये न हो। सत्ता तो कम-से-कम तुम्हारे लिये तुम्हारे भीतरसे इसमें आती है। उसी सत्तामें प्रवेश करो।'

'भीतर—सबके भीतर पृथक्-पृथक् सत्ता ?' यात्रीको भय हुआ कि ऐसी सत्ता क्या शरीरके साथ ही नष्ट न हो जायगी।

'शरीर भी तो मनसे देखनेपर ही है,' उन्होंने बतलाया। 'सत्ता तो व्यापक है। प्रकाशधाम तो सर्वत्र है। तुम उसकी ओर देखो! बाहर देखना बंद करो।'

'बिन्दु, उज्ज्वल प्रकाशमय बिन्दु जो बढ़ रहा है।' यात्रीने नेत्र बंद किये। महापुरुषने झुककर दाहिने हाथकी कनिष्ठिकासे उसके भ्रूमध्यका स्पर्श कर दिया। 'सूर्य है वह बिन्दु, सूर्यके ऊपर चन्द्र और उसके ऊपर भी अग्निके मण्डल। अग्नि-मण्डलके मध्य उस प्रकाशसे परे प्रकाश—अनन्त अपार प्रकाश। सूर्य, चन्द्र, अग्नि सम्भवतः स्फुलिंगांश होंगे उस महाप्रकाशके।' यात्रीका शरीर निश्चल हो गया।

साइबेरियाकी एस्किमो जाति उस यात्रीके वंशज हैं या हिमपातसे बचे हुए मानवोंकी परम्परा, यह मुझे ज्ञात नहीं। प्रतिष्ठानपुरके महाराजको भी पता न लगा कि यात्री आश्रमसे कहाँ गया। उस समय भारतमें विदेशीजनोंके लिये इतना सशङ्क रहनेकी आवश्यकता नहीं थी।

तुम्हारे हाथ लाज है

तन मन धन अर्पन कियो सब तुम पै ब्रजराज।
मन भावै सोई करौ हाथ तुम्हारे लाज॥

सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(संकलनकर्ता—एक सत्संगी)

(१) भगवान्‌के अस्तित्वका वास्तवमें हमें विश्वास हो जाय—हमें यह विश्वास हो जाय कि भगवान् यहाँ हैं, हमें देख रहे हैं—तो सच्ची बात है कि हम निष्पाप हो जायँ, निश्चिन्त हो जायँ और निर्भय हो जायँ ।

(२) अपने किये तो कुछ होता नहीं, सब कर्म विपरीत हैं; पर हमारे नाथ हैं करुणावरुणालय, परम दयालु । वे अपनी दयालुतावश स्वयमेव द्रवित हो जायँगे और हमारा कल्याण होगा—ऐसा विश्वास बड़े महत्त्वका है । इसमें सबसे बड़ी बात है भगवान्‌की कृपापर विश्वास, जो सबसे मुख्य है ।

(३) सच्चे सकाम भक्त वे हैं, जो परम विश्वासके साथ एक बार भगवान्‌के सामने अपनी बात रखकर चुपचाप भगवान्‌का निर्भर-भजन करते रहते हैं । वे कभी किसी दूसरेकी ओर ताकते नहीं । जबतक दूसरेकी ओर ताकना बना है, तबतक निर्भरता नहीं होती । एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाय—उनकी कृपापर, उनके बलपर विश्वास करके निश्चिन्त हो जाय । तभी कार्य सिद्ध होता है । हमारे जितने संदेह हैं— भय-निराशा, शोक आदिके जितने भाव मनमें आते हैं—ये सब विश्वासकी कमीके ही परिणाम हैं । विश्वासमें कमी न हो तो ये चीजें मनमें कभी आ ही नहीं सकतीं । कहीं आती है तो क्षणमात्रमें ही नष्ट हो जाती हैं ।

(४) हमारा भला किस बातमें है तथा हम जो कर रहे है, उसका निश्चित फल क्या होना चाहिये—हम स्वयं इसका निर्णय करते हैं और फिर भगवान्‌को बताते है । उनसे कहते हैं—'हमारा भला इस बातमें है और इसको आप यों कर दीजिये ।' बस, भूल यहीं होती है । भगवान्‌पर विश्वास करनेवाला छोटे बच्चेकी भाँति भगवान्‌पर ही निर्भर होता है । वह स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करता; वास्तवमें वह कोई दूसरा प्रयत्न जानता ही नहीं । अभाव प्रतीत हुआ, उसने उसे भगवान्‌के सामने रख दिया । अब उसकी पूर्ति कैसे, किस वस्तुसे, कब होगी, होगी या नहीं, होनी चाहिये या नहीं—यह वह नहीं सोचता । जैसे छोटा बच्चा जाड़ा लगनेपर रोता है, पर माके सामने रोनेके सिवा और कुछ नहीं जानता, वैसे ही सकामी भक्त भी भगवान्‌पर निर्भर करता है । भगवान् सर्वज्ञ हैं । वे उसकी आवश्यकताको समझकर ऐसी व्यवस्था कर देते हैं, जिसमें उसका यथार्थ परम हित होता है ।

(५) स्नेहसे भरी हुई माता अपने बच्चेका लालन-पालन स्वयं अपने हाथों करती है, उसे किसी दूसरेपर विश्वास ही नहीं होता कि वह ठीक कर देगा । वास्तवमें उसे स्वयं सार-सँभाल किये बिना संतोष ही नहीं होता । इसी प्रकार भगवान् सच्चे भक्तके योगक्षेमको स्वयं वहन करते हैं, दूसरोंसे नहीं करवाते ।

(६) भगवान्‌का अनन्य चिन्तन, भगवान्‌की एकान्त उपासना और नित्य भगवान्‌में चित्तका लगा रहना—ये तीनों बातें होती हैं भगवान्‌की कृपामें विश्वास होनेपर ही ।

(७) विश्वास हो जानेपर ही काम होता है । हमारे हाथमें हीरा रक्खा है; पर हमारी बुद्धिमें समाया है कि यह काँच है । इस प्रकार हमारी श्रद्धा न होनेसे हाथका हीरा काँच बन जाता है, उससे हमें कोई लाभ नहीं हो सकता । परंतु जहाँ श्रद्धा है, वहाँ काँच भी हीरा दीखता है और दृढ़ श्रद्धा होनेसे काँच हीरा बन भी जाता है । प्रह्लादमें दृढ़ विश्वास ही तो था । उसे दृढ़ निश्चय था कि आगमें जो भगवान् हैं, वे ही मुझमें हैं; उसे काटनेके लिये जो साँप भेजे गये हैं, उनमें और उसके अन्तरमें रहनेवाले भगवान् दूसरे

थोड़े ही हैं। बस, इसी विश्वासके प्रतापसे उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। और इसी विश्वासके कारण खम्भेमेंसे भगवान् प्रकट हुए।

(८) आस्तिकता भगवान्‌का हर जगह प्रत्यक्ष कराती है। प्रह्लादकी आस्तिकता ही थी, जो उसे विष, साँप, अग्नि, जल, पहाड़—सभीमें भगवान्‌के दर्शन कराती थी।

(९) प्रेमके मार्गमें क्रियाका विरोध नहीं है, अपितु उसमें क्रिया और भी सुन्दर ढंगसे होती है। हमारी क्रियासे प्रेमास्पदको सुख पहुँचता है, इस भावसे तो क्रियामें और भी सुन्दरता, उत्साह और उमङ्ग आ जाती है।

(१०) भगवान्‌को छोड़कर दूसरेकी आशा करना, विश्वास करना, भरोसा करना पाप है, व्यभिचार है।

(११) केवल एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो किसी व्यक्तिका पिछला इतिहास नहीं देखते, उसके वर्तमान आचरण नहीं देखते; वे देखते हैं केवल उसके विश्वासको और इस विश्वासको देखकर ही वे उस व्यक्तिके अभावकी अनुभूतिका ही अभाव कर देते हैं। मनुष्यको दुःख होता है अभावकी अनुभूतिसे। अभावकी अनुभूति मिट जानेपर उसका दुःख मिट जाता है।

(१२) अपने बलको मनुष्य जहाँ भगवान्‌के बलसे अलग मानता है, वहीं वह बल आसुरी हो जाता है।

(१३) भगवान्‌के जो निर्भर भक्त हैं, वे केवल भगवान्‌की ओर ताकते हैं; उनमें न अपने बलका अभिमान है, न किसी और का भरोसा। वे तो अपनी 'प्रीति, प्रतीति, सगाई'को सब जगहसे हटाकर भगवान्‌में लगा देते हैं।

(१४) प्रेम कभी टूटता या घटता नहीं; वह तो प्रतिक्षण एकतार बढ़ता ही रहता है। प्रेम गुणरहित, अनुभवरूप और कामनारहित है। जो प्रेम गुणोंको देखकर होता है, वह तो गुणोंके न दीखनेपर लुप्त हो जाता है।

(१५) प्रेममें प्रतिकूलता नहीं रहती। प्रेम प्रतिकूलताको खा जाता है। प्रेमास्पद यदि हमारे प्रतिकूल कार्य करके सुखी होता है तो उसीमें प्रेमीको अनुकूलता दीखती है।

(१६) प्रेम खालीपन चाहता है। जब प्रेमी अपने हृदयको खाली कर देता है तब प्रेम वहाँ बैठता है। खाली करनेका अर्थ है—त्याग। अर्थात् जितना-जितना त्याग बढ़ता है, उतना-उतना ही प्रेम होता है। त्यागके आधारपर प्रेम रहता है।

(१७) जब भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है और विषयोंकी ओरसे घटता है, तब समझ लो कि भगवत्कृपा हमपर बरस रही है। इसके विपरीत यदि विषयोंमें प्रेम बढ़ रहा है और भगवान्‌की ओरसे घट रहा है, तब समझ लो कि भगवान्‌की कृपासे हम वञ्चित हो रहे हैं और जहाँ विषयोंमें ही प्रेम हो गया है और भगवान्‌की ओर मन ही नहीं जाता, तो समझ लो कि हम भगवत्कृपासे वञ्चित हो गये हैं।

(१८) संसारकी स्थितिको अनुकूल बनाकर हम सुखी हो जायँ, यह असंभव है। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णने स्वयं अपनी लीलाओंसे इस बातको दिखा दिया है कि जगत्‌का यही स्वरूप है। जगत्‌में तो प्रतिकूलतामें ही अनुकूलताका अनुभव करना होगा, तभी सुख होगा। और यह प्रतिकूलतामें अनुकूलताकी प्राप्ति कब होगी ?—जब हमारा भगवान्‌पर विश्वास होगा। जब हम प्रत्येक स्थितिमें मङ्गलमय भगवान्‌के मङ्गलविधानका प्रत्यक्ष करेंगे। जब जगत्‌में हमें भगवान् और भगवान्‌की लीला ही दिखायी देगी।

(१९) भगवान् पराये नहीं हैं और न वे बहुत दूरपर स्थित हैं कि उन्हें देखना, पाना हमारे लिये दुर्लभ हो। जैसे अपने आत्माको हम चाहे जहाँ प्राप्त कर सकते

है—प्राप्त क्या कर सकते हैं, वह तो नित्य ही हमारे अंदर विराजित है, हमारा स्वरूप ही है—वैसे ही भगवान्को अपना मान लेनेपर भगवान् भी सर्वत्र-सर्वदा हमारे निकट है। जैसे गोदके शिशुके लिये मा अत्यन्त निकट है, वैसे ही निर्भर भक्तके लिये भगवान् अत्यन्त निकट हैं।

(२०) प्रार्थना दो कामोंको सिद्ध करती है—(१) भगवान् हमारे अत्यन्त निकट आ जाते हैं और (२) भगवान् नित्य हमारे पास रहने लगते हैं। इस समय हम भगवान्को नित्य अपने निकट नहीं देखते—इसका सीधा-सादा प्रमाण यह है कि हमें चिन्ता होती है, विषाद होता है, भय होता है, अशान्ति होती है। प्रार्थना हमें भगवान्की सन्निधिमें ले जाती है और नित्य वहीं रखती है।

(२१) प्रार्थनाका अर्थ है-—'विश्वासपूर्वक भगवान्के साथ आत्मीयता स्थापित कर लेना। प्रार्थनाके लिये वाणीकी आवश्यकता नहीं है, चाहे श्लोक न आयें, भाषा ठीक न हो। भगवान्की प्रसन्नताके लिये विशेष भाषा, विशेष शब्दोंकी आवश्यकता नहीं; उसके लिये तो एक ही वस्तुकी आवश्यकता है—वह है विश्वाससे भरा प्रेमस्वरूप हृदय। भारतीय भक्ति-शास्त्रोंमें इसीलिये सम्बन्ध-स्थापनकी बातपर जोर दिया गया है। भगवान्के साथ प्रगाढ़ आत्मीयता हो जानेपर भगवान् अपने हो जाते हैं। वास्तविक प्रार्थना वह है, जिसमें हम जगत्के नहीं रहते, भगवान्के हो जाते हैं। पतिव्रता एकमात्र पतिकी ही हो जाती है। पतिके बिना उसके लिये जगत्में और कोई वस्तु न आवश्यक है और न सुखकर।

(२२) प्रार्थनामें निष्काम और सकामका जो झगड़ा है, वह आत्मीयता न होनेके कारण है। जहाँ आत्मीयताका प्रगाढ़ सम्बन्ध है, वहाँ सकाम और निष्काम दोनों ही भाव नहीं रहते। वहाँ तो रहती है प्रगाढ़ आत्मीयता, नितान्त अपनापना। यदि एक सूईकी भी आवश्यकता है तो प्रगाढ़ प्रेम और आत्मीयताके लिये। पतिव्रता कपड़ा सीकर पहनती है तो पतिके लिये और सीनेके लिये सूई माँगती है तो पतिसे ही। भगवान्से अमुक वस्तु न माँगो—आदि कहना तो भगवान्के साथ प्रगाढ़ आत्मीयताका न होना सूचित करता है। निन्दा उस सकाम भावकी है, जो इन्द्रिय-सुख-भोगके लिये होता है। जहाँ इन्द्रिय-सुख-भोगकी भावना ही नहीं है, सब कुछ भगवत्-प्रीतिके लिये है, वहाँ सकाम-निष्काम कुछ नहीं रहता। भगवान्के साथ हमारा ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाय, इसके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता होती है।

(२३) बिना विश्वासके प्रार्थना नहीं होती और विश्वास होनेपर प्रार्थना न सुनी जाय, यह हो नहीं सकता। प्रार्थनाके न सुने जानेमें कारण है—विश्वासकी कमी। भगवान् भाषा नहीं देखते; भाषा चाहे कुछ भी हो, विश्वासके साथ भगवान्को पुकारनेपर उत्तर न मिले—यह संभव नहीं। उत्तर मिलता अवश्य है; हाँ, वह हमारे मनको अनुकूल लगे या प्रतिकूल—यह बात दूसरी है। एक नरकके कीड़ेका भी भगवान्के दरबारमें वही आदर है, जो एक बड़े-से-बड़े देवताका। उस दरबारमें इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि कौन किस वर्णका, किस जातिका, किस देशका और किस आश्रमका है। वहाँ तो केवल विश्वास और प्रेम चाहिये।

(२४) सकाम भक्ति भी फल देकर मरती नहीं। भगवान् कहते हैं 'मद्भक्ता यान्ति मामपि'—चारों प्रकारके भक्त मुझे प्राप्त हो जाते हैं। भगवद्भक्ति ऐसी चीज है कि उसके बदले हम कुछ माँग भी लेते हैं तो भी वह बनी रहती है। भगवान् भक्तकी माँगी हुई वस्तु देकर भी उसके विश्वासको नष्ट नहीं करते।

(२५) सकामभावसे विश्वासपूर्वक यदि भगवान्को पुकारा जाय तो दो बातोंमेंसे एक अवश्य हो जाती है—(१) या तो वह कामना पूर्ण हो जाती है, (२) या उस काम्य वस्तुके अभावके कारण उत्पन्न खेद मिट जाता है। अधिकतर कामनाकी पूर्ति ही होती है।

(२६) जगत् दुखी क्यों है ? अपने मँगतेपनके कारण, कामनाके कारण। भगवान्को जाचनेपर यह

मँगतापन, यह कामना जल जाती है। इसलिये कुछ माँगना भी हो तो उन्हींसे माँगे—

जग जाचिय कोउ न जाचिय जौं इक जाचिय जानकि जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाय, जो जारत जोर जहानहि रे॥

(२७) किसी भी इच्छासे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना अच्छा है।

(२८) समय बहुत अमूल्य धन है हमारे पास, और उस समयका दुरुपयोग करना या सदुपयोग करना अथवा समयसे हानि उठाना हमारे हाथकी बात है। समयको यदि हम सत्कर्ममें लगाते हैं तो उससे लाभ उठा रहे हैं और यदि व्यर्थके कामोंमें लगाते हैं तो उसे खो रहे हैं और यदि उसे बुरे कामोंमें लगाते हैं तो हानि कर रहे हैं। मनुष्यके जीवनका एक-एक क्षण बड़े कामका है। भगवान्‌पर विश्वास हो और उस विश्वासको लेकर मनुष्यका मन उनपर निर्भर हो जाय तथा सत्कर्ममें लग जाय तो समयका बड़ा सदुपयोग है। जितना समय भगवान्‌में लग गया, उतना सार्थक है सफल है; शेष सब तो व्यर्थ ही जा रहा है।

(२९) व्यर्थताके दो स्वरूप हैं—(१) जिसका कोई सदुपयोग न हुआ और (२) जिसमें नये पाप पैदा हुए। प्रथमसे दूसरा स्वरूप अधिक भयावह है।

(३०) समयको परदोषकथन, दूसरेको हानि पहुँचाना, तन-मन-वचनसे पापकर्मोंका आचरण, निन्दा आदि निषिद्ध कार्योंमें व्यतीत करनेसे मानव-जीवनकी व्यर्थता ही सिद्ध नहीं होती, उल्टे हम अपनेको नाना नरकयोनियोंमें ले जाते हैं। विभिन्न जीव-शरीरोंमें जीवको जो विभिन्न प्रकारके दुःख मिलते हैं, वे सभी मनुष्य-जीवनमें किये गये कुकर्म-बीजोंके ही फल होते हैं।

(३१) जिस किसी क्षण जीवका मन एकान्त-भावसे भगवान्‌में लग जाता है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है।

(३२) जो समय भगवत्स्मरण-शून्य है, वह सबसे बड़ी विपत्तिका समय है; सांसारिक विपत्तिका समय विपत्तिका नहीं। विपत्तिमें भी यदि भगवत्स्मरण हो तो वह विपत्ति भी अभिनन्दनीय है।

(३३) भगवान्‌के लिये हमारे कर्म हों, भगवान्‌के लिये हमारा मन हो, भगवान्‌के लिये ही हमारी वाणी हो—जो समय इस रूपमें बीते, वही सदुपयोगका है।

(३४) भगवान्‌के सामने तो दीन, पर विकारोंके सामने परम बलवान् होना चाहिये। यह बल अपना नहीं, भगवान्‌का—

अब मैं तोहि जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार॥

पाप-ताप आकर हमें घेर लेंगे,—ऐसा माननेवाले भगवच्छक्तिका अपमान करते हैं। हम भगवान्‌के हैं और भगवान्‌की शक्ति हमारी रक्षाके लिये निरन्तर प्रस्तुत है। हमारे भगवान्‌के साथ रहते हमारे पास पाप-ताप आ नहीं सकते।

(३५) जाननेका अर्थ है विश्वास हो जाना।

(३६) भगवान् अमुक काम कर सकते हैं, अमुक काम नहीं कर सकते—जो लोग युक्तियों, तर्कोंसे इस प्रकारकी मीमांसा करने बैठते हैं, वे व्यर्थ ही समय नष्ट करते हैं। किन्तु जो भगवान्‌की अचिन्त्य महाशक्तिपर विश्वास करके उनके चरणोंका आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, वे शान्ति पा जाते है।

(३७) भगवान्‌का निग्रह एवं अनुग्रह दोनों ही बड़े विचित्र हैं। उनके निग्रहमें भी अनुग्रह है, अतएव उनकी लीला कौन जान सकता है।

(३८) भगवान्‌का कोप, भगवान्‌का निग्रह निग्रह एवं कोप नहीं होते; क्योंकि उनके पास किसी-का अहित करनेवाली चीज है ही नहीं। वे जिनपर कोप करते हैं, वे जिनका निग्रह करते हैं, वे भी बड़े सौभाग्यशाली हैं।

(३९) भगवान्‌की लीलाओंका तत्त्व जाननेकी चेष्टा न करके उन लीला-कथाओंका गायन करें, श्रवण करें—हमारा यही कर्तव्य है।

(४०) भगवान् बड़े अद्भुतकर्मा हैं। उनकी सारी लीलाएँ ही परम अद्भुत एवं चमत्कारमय हैं। उन्हें देखकर पहले भ्रान्ति होती है; पर परिणाम देखकर बड़ा सुख मिलता है; बड़ी चमत्कृति होती है।

(४१) असलमें भगवान्की बात भगवान् ही जानते हैं। जो लोग संसारमें किसी दुःखको पाकर भगवान्पर नाराज होते हैं, उनको कोसते हैं, वे यह नहीं जानते कि यह दुःख भी किसी महान् सुखकी पूर्व भूमिका है।

(४२) सेवामें सबसे श्रेष्ठ और आवश्यक वस्तु है प्रेम। बड़े भारी उपकरणोंसे सेवा की जाय; पर प्रेम नहीं तो वह सेवा सेवा नहीं होती, दिखावा होता है। किंतु यदि प्रेम है तो वह अपने-आप उपकरणोंको (चाहे वे अत्यन्त अल्प ही हों) सजा देता है और उनसे विशुद्ध सेवा होती है।

(४३) भगवान्के जितने वस्त्र हैं, अलंकार हैं, अस्त्र-शस्त्रादि हैं, सब-के-सब दिव्य, चेतन एवं सच्चिदानन्दमय हैं और भगवत्स्वरूप हैं। वे वैसे अदृश्य रहते हैं, पर समय-समयपर किसी घरवालेके द्वारा या भक्तके द्वारा प्रकट हो जाते हैं। यशोदा मैया जब उन्हें कोई आभूषण आदि पहनाती हैं तो भगवान्के वे अदृश्य आभूषण आदि किसी-न-किसी रूपमे उनके कोषागारमें प्रकट हो जाते हैं और उन्हीं आभूषणोंसे मैया उनका शृंगार करती है; किंतु भक्तको अथवा घरवालोंको यह ज्ञात नहीं होता कि भगवान्के दिव्य आभूषण प्रकट हुए हैं और वह उनके द्वारा उनका शृंगार कर रहा है।

(४४) एकमात्र श्रीकृष्णकी कृपा ही जीवका परम संबल है। उनकी कृपामें यदि अनास्था है तो जीवके लिये कोई आश्रय नहीं। कृपा-कणिकाको प्राप्त करनेके लिये जीवके पास एक ही उपाय है कि श्रीकृष्ण-के चरणोंका आश्रय ले लिया जाय।

(४५) शब्दका बड़ा महत्त्व है। शब्द ब्रह्म माना गया है। वेद शब्द ही हैं; भगवान्की वाणी हैं। वैदिक, तान्त्रिक आदि जो मन्त्र हैं, वे शब्दात्मक हैं, और उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। अर्थ बिना समझे केवल उन शब्दोंके उच्चारणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है।

(४६) शब्दमें दो बातें हैं—(१) शब्दका उच्चारण होते ही वह समस्त आकाशमें उसी क्षण व्याप्त हो जाता है, और—(२) शब्द नित्य रहता है और अपने रूपमें रहता है। जिस रसका, जिस भावका जो शब्द उच्चरित होता है, वह उसी रस, उसी भाव और उसी ध्वनिको लेकर नित्य रहता है।

(४७) काल, ऋतु आदिको लेकर शब्दके बहुत भेद होते हैं। कालके अनुसार एक ही आदमीके शब्दों-की ध्वनिमें अन्तर होता है; मनुष्यके भावोंके अनुसार शब्दकी ध्वनिमें अन्तर होता है; मनुष्यके शरीरकी स्थितिके अनुसार शब्दोंकी ध्वनिमें अन्तर होता है; जिस व्यक्तिके साथ शब्द बोला जाता है, उसको लेकर भी शब्दकी ध्वनिमें अन्तर होता है; तिथियों, वारों, नक्षत्रों और प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या, रात्रि आदिमें भी शब्दकी ध्वनियोंमें अन्तर होता है।

(४८) जो लोग अनर्गल बोलते हैं, उनकी वाणीमें बहुत दोष आ जाते हैं। थोड़ा बोलनेवाला हो, बकवाद न करे, जो बोले शुभ सत्य बोले तो वह जो बोलेगा, प्रकृतिको उसे पूरा करना ही पड़ेगा। महात्माओंकी वाणी सिद्ध होती है, उसमें यही बात है।

(४९) बुरा शब्द अपने लिये घातक है; जिसके प्रति बोला गया है, उसका बुरा तो प्रारब्धवश होगा।

(५०) वाणीकी शक्ति दो प्रकारसे नष्ट होती है—१—असत्य बोलनेसे और २—व्यर्थके भाषणसे।

(५१) जैसे पानी कपड़ेसे छानकर पीते हैं, वैसे ही शब्दको सत्यसे छानकर बोले।

(५२) शब्दके उच्चारणमें प्रधान बात है—परिमित बोले और शुभ बोले। बिना आवश्यकता कुछ बोला ही न जाय। बाकी समयमें भगवान्के नामका उच्चारण करता रहे।

(५३) मिठास कहाँ है—जहाँ प्रेम है; जलन-विष कहाँ हैं—जहाँ द्वेष है । प्रेममें आनन्द है, माधुर्य है; द्वेषमें विष है, जलन है ।

(५४) भगवान्‌के लिये कोई भी काम ऐसा नहीं, जो वे न कर सकें । अतएव जब हम किसीसे कहते हैं कि 'भगवान्‌पर विश्वास करो, तुम्हारा यह काम हो जायगा' तो इसमें तनिक भी झूठ नहीं है । हम जो इन शब्दोंके कहनेमें कुछ हिचकते हैं, इसमें हमारी नास्तिकता काम करती है । नहीं तो, भगवान्‌पर यदि किसीने सच्चा विश्वास कर लिया तो उसका काम अवश्य हो ही जायगा ।

(५५) किसीमें शक्ति हो तो आशीर्वाद पाप नहीं है । हमारे विश्वाससे तो आशीर्वाद देनेसे शक्ति बढ़ती है; क्योंकि आशीर्वादमें अपने पुण्यका दान किया जाता है । अतः उस पुण्य-दानका महाफल होगा ही । हाँ, आशीर्वाद भी होना चाहिये निष्काम और अहङ्कारशून्य ।

(५६) संदेहको लेकर जो अनुष्ठान होता है, वह सफल नहीं होता । यह वस्तु है, मिलती है और मुझे अवश्य मिलेगी—अर्थात् वस्तुमें, उसकी प्राप्तिमें और अपनेमें—इन तीन बातोंमें जहाँ पूर्ण विश्वास है, वहाँ सफलता-ही-सफलता है । इन तीन बातोंमें जहाँ संदेह है, वहीं असफलता होती है ।

(५७) मनुष्य कठिनाइयोंपर विजय पा सकता है—इसलिये कि वह भगवान्‌का अंश है; आग्रह, अहङ्कार, पुरुषार्थ आदिसे नहीं । सबसे बड़ा बल जो उसके पास है, वह भगवान्‌का है । मनुष्य यदि भौतिक पदार्थोंके बलपर भौतिक कठिनाइयोंको मिटाना चाहे तो वे घटेंगी नहीं, बढ़ेंगी । जहाँ भौतिक बलको मनुष्य त्याग देता है—निर्बल होकर बल-रामको पुकारता है—वहाँ कठिनाइयाँ रह नहीं सकतीं । उनकी कृपासे सारी कठिनाइयाँ अपने-आप हट जाती हैं—

सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

कम्यूनिज्मसे हम क्यों डरें ?

(लेखक—पं० श्रीरमावल्लभजी चतुर्वेदी)

'कल्याण'के मार्गशीर्षके अङ्कमें एक लेख पं०श्रीजानकीनाथजी शर्माका छपा है—कम्यूनिज्मका खतरा । आज सारे संसारमें कम्यूनिज्म खतरा ही माना जा रहा है । भारतमें भी यह आतंक फैला हुआ है । लेकिन हमारे शर्माजीने लिखा है कि सनातनधर्मियोंको इस खतरेसे डरना नहीं चाहिये । मैं उनसे पूरी तरह सहमत हूँ । हमलोग इस खतरेसे क्यों नहीं डरें—यही यहाँ बताना है ।

जर्मनीमें एक बड़ा विचक्षणबुद्धि पण्डित हुआ है—कार्ल मार्क्स । देशी उच्चारणमें मैं उन्हें मारकेश ही कहता हूँ । उन्होंने देखा कि दुनिया विषमतासे पीड़ित है । 'कहीं खूब-खूबी और कहीं हाय-हाय है ।' कोई अजीर्णकी दवा करता है तो दूसरी ओर बहुतोंकी आँतें भूखसे सूख गयी हैं । एक ओर मनमानी करनेवाले प्रभु थोड़े हैं तो दूसरी ओर असंख्य लोग प्रभुओंके पैरों तले कुचले जा रहे हैं । मारकेशने यही विषमता मिटानेके लिये कम्यूनिज्म या साम्यवादका आविष्कार अपने ढंगसे किया । इस वादकी मंशा है कि संसारमें सब लोगोंकी स्थिति बराबर हो, सबको समान सुविधा हो, कोई किसीपर शासन न करे और समाज इतना परिष्कृत, निर्लोभ और निर्वैर हो जाय कि सब लोग भाईचारेके साथ रहें । और सरकार नामकी संस्था अन्ततोगत्वा मिट ही जाय । सिद्धान्ततः कम्यूनिज्म इन्हीं बातोंकी स्थापना चाहता है, जो बुरी नहीं हैं और जो होनी भी चाहिये । इसलिये तात्त्विक दृष्टिसे कम्यूनिज्ममें डरनेकी कोई चीज नहीं और अच्छाईसे डरना नहीं, प्रसन्न होना चाहिये । फिर दुनियाके दूसरे देशोंमें दूसरे पन्थावलम्बियोंको इससे डर हो तो हो; भारतको—सनातनधर्मी भारतको इसका कोई डर नहीं हो सकता, यदि वह धर्मको आचरणमें लाये । क्योंकि कम्यूनिज्म जिस आदर्शकी स्थापना चाहता है, हमारे धर्म और ऋषियोंकी परम्परामें वही कहीं अधिक शुद्ध और अधिक सौम्य रूपमें है ।

हमारे धर्मने सदा ही समताकी उपासना की है । जो परमात्मा सारे जगत्‌को समदृष्टिसे देखता है, उससे हमारे पुरखोंने समताका ही वरदान माँगा है । तुलसीदासजी भी प्रार्थना करते हैं—'दीनबंधु समता विस्तारय ।' सचमुच जब एक-एक व्यक्तिके मनमें ऐसी समताका विस्तार हो जायगा,

तभी हमसे परमात्माकी सम्यक् उपासना हो सकेगी। जब हम इस तरह सुख-दुःख और विचारमें भी समताको भजेंगे, तब कौन दुखी रहेगा, कौन किससे द्वेष करेगा या कौन किसीकी चोरी भी करेगा। कम्यूनिज्म जिस समताके आदर्शको भजता है, पता नहीं वह उसे पा भी सकेगा या नहीं। लेकिन सनातनी भारतके सारे धर्माचरणका साध्य तो वही समताका विस्तार है। वह यदि धर्मके इस रूपको समझ ले तो समताकी सिद्धि उसे सहज है, सरल है। क्योंकि मारकेशी समताका आधार तो अस्तिमतों (haves) और नास्तिमतो (haves not) का वर्गद्वेष है। पर हमारी समताका स्रोत हमारी धर्मबुद्धि और कर्तव्यप्रेरणामें है।

इसी समताकी साधनाके लिये हमारे आचार्योंने धर्मका जो स्वरूप स्थिर किया है, वह ऐसा है कि यदि हम उसका सही-सही आचरण करें तो हम जहाँ पहुँचेंगे, वह समताकी ही स्थिति होगी—दूसरी नहीं। पण्डितजीने अपने लेखमें धर्मका लक्षण बतानेवाला प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

इन दस लक्षणोंमें अस्तेय भी है। स्तेय कहते हैं चोरीको और अस्तेय हुआ चोरी न करना। यदि हम चोरी करना छोड़ दें तो अपने आप समत्वको प्राप्त करते हैं। पर हम तो चोरीको ही अधिकार मान बैठे हैं। ऐसी हालतमें अस्तेयका पालन भी कैसे कर सकते हैं और समता ही कैसे मिल सकती है। किसी धनसम्पन्नके घर सेंध लगाकर धन हरण करना या इसी तरहके और साधनोंद्वारा अस्तिमतों—सम्पन्नोंका माल मूसना चोरी मानी जाती है। दण्ड-विधानमें चोरीकी यही सब परिभाषा है। पर धर्मकी दृष्टिसे विचार करें तो पता चलेगा कि चोरी इतनेको ही नहीं कहते। जिन सम्पन्नोंके घर चोरी की जाती है, वास्तवमें चोर वे भी हैं। यह दूसरी बात है कि आजका कानून उन्हें चोर नहीं कहता। पर धर्म तो उन्हें चोर ही मानता है। ईशावास्योपनिषद्का पहला ही मन्त्र है—

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात्—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥

और यह माया यदि किसीकी है तो उसी मायापतिकी। इसलिये तुम किसीके धनका लालच मत करो। दूसरेकी इन तमाम वस्तुओंको छोड़कर जो बचे, उसे तुम भोगो। ऐसी हालतमें आप ही विचारिये हम तमाम लोग जो तथा-कथित कानूनसम्मत उपायोंसे धन पैदा करते हैं और दूसरोंका न्याय्य भाग न देकर उसे जोड़-जोड़कर धनपति बनते हैं, वह क्या ईश्वरकी दृष्टिमें चोरी नहीं करते? और सो भी ईश्वरकी ही। इसलिये 'अस्तेय' व्रतके निर्वाहके लिये हमारे पुरखोंने 'अपरिग्रह'का भी उपदेश दिया है। परिग्रह कहते हैं संग्रहको। जो धनका संग्रह करता है, वह अस्तेयका नहीं, स्तेयका आचरण करता है और चोर है।

इसपर सवाल उठ सकता है कि तब तो हमें कोई काम-धाम नहीं करना चाहिये और न कुछ खाना-पीना ही चाहिये। अर्थात् चुप-चाप मर जाना चाहिये। पर यह सोचना तो अविद्याकी बात हुई। ऊपरके श्लोकमें धर्मके लक्षणोंमें धी अर्थात् बुद्धि और उसे जगानेवाली विद्या भी है। हमें विद्या-बुद्धिसे धर्मका आचरण करना चाहिये। 'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या उसे कहते हैं, जो हमारा बन्धन काटे; हमें मुक्त करे। वह विद्या हमें बताती है कि तुम किस तरह सोचो, किस तरह करो तो तुम्हारे बन्धन कटें। हमें समताकी प्राप्तिके लिये उसी धी और विद्याकी उपासना करनी चाहिये। भगवान्ने हमें पैदा किया है कि हम अपने-अपने हिस्सेका काम उसीके निमित्त करें; अपने लिये न करें। उसके निमित्तका अर्थ है—

नात्मार्थं न चार्थार्थमथ भूतदयां प्रति।

जो कुछ हम करें, लोककल्याणकी भावनासे करें—यही प्रभुप्रीत्यर्थ हुआ। इस तरह उस अपने बापकी सेवा करते हुए हमारी जो मजूरी हो, हम उसका ही भोग करें। प्रभुके प्रसादस्वरूप जीवननिर्वाहका लेना ही त्यागमें भोग है।

इस त्यागमय भोगको ही गाँधीजीने 'थातीदारी' (ट्रस्टीशिप) कहा है। उनके अनुसार हम तमाम लोग जिसकी जैसी शक्ति और समझ है, दुनियाके सारे व्यापार लोककल्याण अर्थात् यज्ञबुद्धिसे करें। पर वह व्यापार भी न्याय और धर्म-सम्मत हो। हमारे कामके फलस्वरूप हमारे पास हमारी जरूरतसे ज्यादे साधन भी जुट सकते हैं। ऐसे अतिरिक्त साधनके भोक्ता और स्वामी हम न बनें। वह जिसका है, उसे ही लौटा दें। अर्थात् उसे लोककल्याणमें लगा दें। इसीका नाम लोकभाषामें दान है। पर दान किसका? जो अपना

हो। हमारे भोजन-वस्त्रसे अतिरिक्त जो है, वह तो हमारा है ही नहीं। वह तो दूसरेकी थाती है। उसका दान हम कैसे कर सकते हैं। यदि हम अपने भोजन-वस्त्रकी वस्तु आतुरको दे डालते हैं तो वह हमारा दान कहा जा सकता है।

पर सवाल यह हो सकता है कि हमारी जरूरतें क्या हैं और कितनी हैं! कोई साधन-सम्पन्न कह सकते हैं कि इतने सौ बीघा जमीन, इतना बड़ा महल, इतने दास-दासी, इतना भोजन, इतने वस्त्र, इतने वाहन आदि। तब तो जरूरतोंका अन्त कहीं नहीं होगा। इस बारेमें राजा ययातिकी चेतावनी पर्याप्त होगी —

> **यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।**
> **एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्॥**
> **या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।**
> **योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥**

इस बारेमें टाल्सटायकी एक कहानी है, जिसमें उन्होंने दिखाया है कि मनुष्यकी जरूरतें बहुत बड़ी नहीं होनी चाहिये। उस कहानीमें है कि एक आदमी सारे जीवनमें अधिक-से-अधिक भूमि बढ़ाता रहा, जब मरा तो उसके हिस्से केवल तीन हाथ जमीन लगी। अर्थात् तीन हाथमें उसकी कब्र बनी। पर हमारे धर्मने तो उतनी भूमि भी हमें नहीं दी है। यह 'सबै भूमि गोपालकी' है। हम तो मरनेपर जला दिये जाते हैं और जिस मट्टीसे बने हैं, उसीमें मिल जाते हैं। इसलिये हमारे धर्ममें हर एक आदमीकी जरूरत उतनी ही मानी गयी है, जितनेसे उसकी देहका पोषण और रक्षण देशकालके अनुसार हो सके। अर्थात् हरेक नीरोग मनुष्यको उसकी उम्रके हिसाबसे अमुक मात्रामें अन्न, फल, दूध, घी, आदि वस्तुएँ ऋतु-अनुरूप मिलनी चाहिये। इसीको कबीरजीसे सुन लीजिये कि हमारी कितनी जरूरत है—

> गाँईं इतना दीजिये, जामें कुटुम समाय।
> मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

कम्यूनिज्म जो काम आज कानून और तलवारके जोरसे करना चाहता है, हमारे धर्मने वही काम हमें अपनी प्रेरणासे करनेकी सलाह दी है। यदि हम यह सलाह मान लेते हैं और धर्मका आचरण करते हैं तो कम्यूनिज्मको हमारे ऊपर लादनेको कुछ रह नहीं जायगा। उल्टे वही कुछ हमसे सीखेगा। पर यदि हम धर्मकी आज्ञा उल्लङ्घन करते जायँगे तो दुनियाके दस्तूरके अनुसार बातसे नहीं माननेपर लात खानी ही पड़ेगी— वह लात कम्यूनिज्मकी हो या किसी और इज्मकी। इसलिये सनातन-धर्मियोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे धर्मके स्वरूपको समझनेकी और उसे जीवनमें उतारनेकी नयी चेष्टा करें। तभी दुनियामें न राजाका राज होगा न कम्यूनिज्मका। तब होगा राम-राज्य, जिसमें—

> बैर न कर काहू सों कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

अथवा—

> दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
> जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥

इस तरह यदि हम सनातन-धर्मके बारेमें विचार करते हैं तो पाते हैं कि जो अच्छी बातें कम्यूनिज्म बताता है, उनपर हमारा लक्ष्य पहलेसे है। इसलिये कम्यूनिज्मसे डरना क्या। पर कम्यूनिस्ट नामका जो दल है, वह अपने प्रकट उद्देश्यकी अच्छाईके साथ दुनियामें शान्ति ही फैला रहा हो—सो बात नहीं है। यह चिन्ताका विषय है जरूर। वे लोग अच्छे उद्देश्यके लिये बुरे साधन अङ्गीकार करते हैं। और यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कम्यूनिज्मका उद्भव धर्मबुद्धिके बदले द्वेषबुद्धिसे हुआ है। इसलिये उनका अच्छा उद्देश्य रहते भी द्वेषके कारण वह दूषित हो जाता है, और उससे द्वेष्यवर्गकी हिंसा-प्रतिहिंसा होने लगती है। इसलिये वह दुनियाका भला कर सकेगा—यह माननेमें मुझे हिचक है। इसके बदले हमारा साम्ययोग धर्मके साथ हमसे 'अपरिग्रह' और 'अस्तेय' व्रत लेनेको कहता है। इसलिये हम यदि चाहें तो अपने सत्य धर्माचरणसे दुनियामें साम्ययोग अथवा गान्धीजीके शब्दोंमें 'सर्वोदय'का प्रसार कर सकेंगे। इसलिये समय रहते हम कम-से-कम अपने देशमें तो धर्मका ऐसा राज्य स्थापित कर दें, जिसमें 'राम राजा, राम परजा, राम साहूकार' हो। तब कम्यूनिज्मकी आगको हमारे देशमें जलानेके लिये कुछ रह ही नहीं जायगा। बहुत संभव है हमारी यज्ञाग्निमें तपकर कम्यूनिज्म भी पवित्र हो जाय। इसलिये वेदके स्वरमें हम सब कहें—

> **ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।**
> **तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥**
> **ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!**

आदर्श पत्नी
(कहानी)

उस छोटे-से गाँवके पूरव था सोनका प्रवाह और उसके तटके समीप ही छोटा-सा बगीचा था। आम, जामुन, महुआ, नीम और इमलीके वृक्ष लगे थे उसमें। बगीचेमें रानीके पिताने फूँसकी छोटी-सी झोंपड़ी लगा रक्खी थी।

सावन-भादोंके महीनेमें जब मेघ बरसने लगते तो रानीका पिता खेतसे भागकर वहाँ आ जाता। माघ-पूसके दिनोंमें जब शीत समीर तीरकी तरह लगता, तब भी वह उसी झोंपड़ीमें पुआलपर कम्बलसे अपनी काया ढँके पड़ा रहता और गर्मीके दिनोंमें जब आकाश ताँबेकी चद्दरके समान लाल हो जाता, पृथ्वी भाड़की तरह धधकने लगती और हवा आगकी लपटोंकी तरह दौड़ती, तब भी वह उसी झोंपड़ीमें बैठता, सोता और तंबाकू पीता। मिट्टीका कलश और एक लोटा वह उस झोंपड़ीमें सदा रक्खे रहता।

पर जब तीन दिनकी बीमारीमें वह रानी और उसकी माको असहाय छोड़कर चला गया, तब सब कुछ बदल गया। अभी पूरा एक वर्ष तो नहीं हुआ, झोंपड़ी जीर्ण हो गयी। वर्षामें उसकी फूस भी नहीं बदली जा सकी। बदलनेकी बुढ़ियाको अपेक्षा भी नहीं। जलभरा मिट्टीका कलश और लोटा भी वह नहीं रखती थी, वह तो सारे दिन खेतके कामसे इस तरह चिपकी रहती कि प्यास उसके पास फटकने नहीं पाती। और रानीको तो जब भी तृषा लगती, वह सोनकी ओर दौड़ पड़ती और वहाँ अञ्जलि भर-भर भरपेट पानी पी लेती।

उस दिन जब रानीका मन घरपर नहीं लगा, तब वह अपने बगीचे आ गयी। सोनकी ओर पीठकर वह बैठी हुई विचारोंकी उधेड़-बुनमें लगी थी। उसने देखा दिन बीत चला है। प्रतीचीके आँगनमें अंशुमालीने सिन्दूर बिखेर दिया है। उसका सिन्दूरी प्रतिबिम्ब खेतों और वृक्षोंकी चोटियोंपर पड़ रहा है। हवा धीरे-धीरे बह रही है।

अत्यन्त सुहावना दृश्य था उस समयका; किंतु रानीका अशान्त मन तनिक भी नहीं बहल पाया। उसने सोनकी ओर मुँह फेर लिया। देखा, सोन सिमटकर मोटी रेख-सी बन गयी है। उसके विस्तृत पाटमें फैली हुई बालुकाएँ सिन्दूरी किरणोंका संस्पर्श पाकर लाल हो गयी हैं। सोनके पानीमें जैसे गुलाल घोल दी गयी हो। पर जाने क्यों वह उदास होकर धीरे-धीरे बह रही है। उसके तटके वृक्ष मुँह लटकाये शान्त खड़े हैं।

रानीको कुछ अच्छा नहीं लगा। उसने दोनों हाथोंसे अपना सिर थाम लिया। आँसूसे उसकी हथेली भीग गयी, पर वह रोती ही रही। उसने सिर उठाया तो देखा, एक अत्यन्त सुन्दर और स्वस्थ नीलगाय सामनेसे भागी जा रही है।

आँचलके छोरसे उसने आँसू पोंछे। सूजी हुई लाल आँखोंसे उसने देखा, स्वच्छाकाशमें चतुर्दशीका चन्द्र चमक रहा है। वह धीरे-धीरे घरकी ओर चल पड़ी।

'भूख नहीं है, मा!' माके आग्रहका संक्षिप्त उत्तर देकर वह पड़ोसीके घर कथा सुनने चली गयी।

'स्त्रियाँ शक्तिस्वरूपा हैं!' विद्वत्ताके साथ त्याग और तपस्याका संयोग कथावाचककी वाणी एवं तेजस्वी ललाटसे भासित हो रहा था। वे कह रहे थे, 'उमा, रमा और ब्रह्माणी हमारी देवियाँ ही हैं। वे सूर्यका रथ रोक सकती हैं, अल्पायुको दीर्घायु और अत्यन्त दरिद्रको विपुल वैभवसम्पन्न कर सकती हैं। सृष्टि और प्रलयकी क्षमता पालना झुलानेवाले कोमल करोंमें विद्यमान है। सती गृहिणीके लिये कुछ भी असम्भव नहीं।'

कथावाचकका एक-एक शब्द रानीके हृदयमें चुभता जा रहा था। कथा समाप्त होते ही वह उठी और अपनी मौसीके घर चली गयी। उसकी मौसी उसके पड़ोसमें ही ब्याही गयी थी।

'आज रातमें कैसे, रनिया?' मौसीके प्रश्नके उत्तरमें रानीकी आँखोंसे आँसू झरने लगे। उसने सिसकते हुए कहा, 'मेरी बात नहीं मानेगी तो मैं अफीम चाट जाऊँगी, मौसी!'

'क्या हुआ, बेटी?' मौसी, घबरा गयी। उसने तुरंत कह दिया 'तू जो कहेगी, मैं सब करूँगी।'

'रुपयेके लोभमें आकर मा आफत कर रही है, मौसी!' रानीने धीरे-धीरे कहा 'पिताजीको मरे कुछ दिन भी नहीं बीत पाये कि रामपुरके कोयरीने, जिसकी उमर पैंतालीस पार कर गयी है, माको रुपयेके सहारे बहका लिया है। मा कहती है, हमारी जातिमें तो दुबारा सगाई होती ही है, अभी तो इसका गौना भी नहीं हो पाया है। पर मैं यह सब नहीं चाहती, मौसी!'

'पर अभी-अभी तो तेरे ससुरके भी मरनेका समाचार आया है न!' उसकी मौसीने सोचते हुए कहा। 'अब तो वहाँ तेरे पति और सासके सिवा और कोई नहीं रह गया। वह गरीब भी है। सुनती हूँ कि वह बड़ी मुश्किलसे कमा-खा

सकता है। तेरी मा तो तेरे सुखके लिये ही ऐसा करना चाहती है, बेटी !'

'पर मैं कुतियोंकी तरह मनमानी नहीं कर सकती, मौसी !' रानी फफक पड़ी। 'आधा पेट खाकर सो जाना मैं अच्छा समझूँगी, पर दुबारा सिन्दूर-दान नहीं करूँगी। मुझे बचा ले, मौसी ! मैं मरनेतक तेरा अहसान नहीं भूलूँगी।' उसकी हिचकियाँ बँध गयीं।

'कल सवेरे ही अपने लड़केको तेरे ससुराल भेज देती हूँ।' उसकी मौसीकी आँखें भी गीली हो गयीं। रानीको अपनी गोदमें दबाते हुए उसने कहा, 'तेरा विचार बहुत अच्छा है, बेटी !'

रानी सवेरे ससुराल पहुँच गयी।

... ...

रामू अच्छी तरह जानता था कि उसकी पत्नी साक्षात् देवी है। वह यदि नहीं चाहती तो रामू उसे अपने घर नहीं देख पाता और जबसे उसने घरमें पैर रक्खा है, उसका घर जैसे स्वर्ग बन गया है। लगता है जैसे लक्ष्मी उसके घरमें दिन-रात हँसती-खेलती रहती है।

पत्नीके आनेके पूर्व उसकी मा कभी दोपहरको स्नान करती तो कभी तीन पहरको। कभी ऐसा भी आता कि वह वस्त्र भी नहीं बदलती; लेकिन उसकी पत्नीने उसे बिल्कुल बदल दिया। अपने साथ प्रातःकाल ही वह माको स्नान करा देती, उसके कपड़े वह स्वयं धोती। धोकर फैला देती।

उसने आँगनमें तुलसीका बिरवा लगा दिया है। सवेरे ही मा और पत्नी वहाँ जल चढ़ाती हैं, श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करती हैं। पत्नीके आग्रहसे दो बैलोंके साथ अब एक गाय भी रहने लगी है। गो-पूजन प्रतिदिन नियमितरूपसे होता है। परिवारमें श्रद्धा-भक्ति और प्रेमकी सरिता प्रवाहित होती रहती है।

पर वह विवश था। गाँजा पीनेकी ऐसी बुरी लत उसे लग गयी थी कि वह छोड़ नहीं पाता। उसके पास इतने पैसे नहीं थे कि वह प्रतिदिन चिलमपर फूँक दिया करे। इसके लिये कितनी बार रानीने विनयपूर्वक मना किया, पर ······क्या किया जाय, वह मन-ही-मन पश्चात्ताप कर रहा था।

अकस्मात् माकी गालियोंकी बौछार सुनकर रामूकी विचारधारा टूट पड़ी। वह दौड़ पड़ा। उसकी मा पत्नीको बड़े जोरोंसे डाँट रही थी और क्रोधावेशमें उसपर हाथ उठाने जा रही थी। रानी सिर नीचा किये चुप थी।

रामूने माको डाँटना शुरू ही किया था कि उसकी पत्नी बीचमें आ गयी। हाथ जोड़ते हुए उसने कहा—'अपराध तो मेरा ही है। चावलभरी बटुली तो मुझसे ही उलट गयी थी।'

'तो तुमने जानकर तो उलटा नहीं होगा' क्रोधसे काँपता हुआ रामू बोल गया। 'पर मा तो मा हैं न !' रानी रो पड़ी।

रामू बाहर चला गया।

माने पैर खींच लिया। रात्रिमें रानी माको तैल न लगाये, यह उसके लिये सह्य नहीं था। वह रो पड़ी और रोती ही रही।

'ले,' बहू ! तेल लगा' आधी राततक पैरोंके पास बैठे रोने देखकर रामूकी माका कलेजा हिल गया था। वह अपने भाग्यकी सराहना करती हुई मन-ही-मन बहूको आशीष दे रही थी।

... ...

'आज तो मेरे पास पैसे नहीं!' मध्याह्नतक धरती चीरते रामू थक गया था। रानीका उत्तर वह सह नहीं सका, उसे क्रोध आ गया। वह उठा और रानीको उसने तीन-चार लात जमा दी। वह रोने लगी।

'तुझे शर्म नहीं आती ?' रामूकी मा उस समय घरमें नहीं थी। लौटकर बहूको रोते देखा तो रामूपर बिगड़ खड़ी हुई।

'उन्हें कुछ मत कहो, मा !' पुत्रवधूने मुँह थाम लिया। वह कुछ नहीं बोल पायी। और उसी दिन रामूके सिरमें दर्द होने लगा। रानीने देखा उसका शरीर तवेकी तरह जल रहा था। वह काँप उठी।

... ...

दो मास बीत गये। ज्वर नहीं छूटा। रामू सूखकर काँटा हो गया। उसके शरीरमें चर्माच्छादित अस्थियोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया था। रामूकी मा जीवित शवकी भाँति रामूके समीप बैठी रहती। कर्तव्याकर्तव्य कुछ नहीं सूझ रहा था उसे।

—और रानी ? उसका तो प्राण ही छिनने जा रहा था। पर धैर्य और साहससे काम लिया उसने। प्रातःस्नान और गौ तथा तुलसीजीका पूजन वह और मनोयोग एवं श्रद्धासमन्वित हृदयसे करने लगी। तुलसीकी प्रार्थना करते समय उसकी आँखोंसे आँसूकी धाराएँ बह चलतीं।

इसके बाद पतिके कपड़े बदलवाकर उन्हें ओषधि पिलाती। फिर माको आश्वासन देकर खुर्पी-खाँची ले घासके लिये निकल पड़ती।

पूरे दो घंटे नहीं बीत पाते कि उसकी खाँची भर जाती। जल्दी-जल्दी गाय-बैलोंको खिला-पिलाकर वह भागती हुई घर आती। अपने पेटका खड्ढा भरनेके लिये उसे कोई चिन्ता नहीं थी। यदि सासको नहीं खिलाना होता तो कदाचित् वह

दो-तीन दिनोंमें ही एकाध बार रोटी बनाती । रात आधीसे पार हो जाती, पर वह पतिके समीप बैठी हुई समझाती और उसके स्वास्थ्यके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना करती रहती ।

अपनी पत्नीके अनन्य प्रेम और श्रमपूर्ण सेवासे रामू उसका ऋणी हो गया। उसे अपने जीवनकी आशा नहीं रह गयी थी; इस कारण जब भी उसे रानीको मारनेकी याद आती तो उसका कलेजा छिल जाता । वह सोचता 'ऐसा लक्ष्मीपर हाथ उठनेके पहले मेरा हाथ टूट क्यों नहीं गया ?'

'मेरे लिये यह कितना कष्ट उठाती है । मुझे तनिक भी चिन्ता स्पर्श न कर सके, इसके लिये यह कितना प्रयत्न करती है ।' वह मन-ही-मन सोच रहा था । तनिक-सी इच्छा प्रकट करते ही रानी दौड़ गयी और गाँजा चिलमपर रख दिया । आगकी चिनगारी स्पर्श करते ही गाँजेकी गन्ध फैल गयी । रामूने चिलम ले ली ।

पर सहसा उसने चिलम फेंक दी । 'अब मैं गाँजा कभी नहीं पीऊँगा । इसीके कारण तो मैंने तुमपर हाथ उठाया था ।' रामूकी धँसी आँखें गीली हो गयीं । उसने सिसकते हुए कहा, 'यदि अबकी बार भगवान्‌ने मेरी जान बचा दी तो मैं गाँजा कभी नहीं पीऊँगा ।' रानीकी आँखें भी बह रही थीं ।

... ...

पतिकी चिकित्साके लिये रानीने अपने एक-एक करके सब गहने बेच दिये । ओषधिके साथ भगवत्प्रार्थनाके संयोग-से रामूका ज्वर शान्त हो गया और वह धीरे-धीरे सुधरने लगा ।

रामू स्वस्थ हो गया । वह सुखी था । पर जिस समय उसे अपनी पत्नीके आभूषणहीन अङ्गपर दृष्टि जाती, वह व्याकुल हो जाता । 'आभूषणके लिये स्त्रियाँ क्या नहीं करतीं । अभी उस दिन उसके पड़ोसमें भैंस बेचकर तो हँसुली बनी थी ।' विचारके आवेगमें वह छटपटा जाता । मनकी व्यथा वह पत्नीपर प्रकट नहीं करता ।

'तुम्हारे शरीरपर एक भी गहना नहीं !' पड़ोसिनने रानीसे पूछा ।

'ऋण लेकर मैं गहना नहीं पहनना चाहती ।' रानीने तुरंत उत्तर दिया ।

और उसी समय रामू खेतसे आ रहा था । पत्नीकी गर्वोक्ति उसने भी सुन ली । उसका हृदय गद्गद हो गया ।

'तुम स्त्री नहीं, देवी हो, रानी !' हर्षोत्फुल्ल रामूने कहा। 'तुम्हारी-जैसी स्त्रियाँ भगवान् करे घर-घर······'

रामूका वाक्य पूरा होनेके पूर्व ही रानीने उसकी चरण-धूलि ले ली । —शि० दु०

कामके पत्र

(१)

उपयोगितावाद

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद ! आपने गाय-बैलोंकी रक्षाका आधार उनकी उपयोगिताको ही माना है । 'गाय दूध देती है, उसके बछड़े बैल बनकर खेती और बोझ ढोनेके काममें आते हैं; अतएव उनकी रक्षा आवश्यक है । इस उपयोगिताको ध्यानमें रखकर ही उनकी रक्षाको धर्म और हिंसाको पाप माना जाता है । बकरीके बच्चे विशेषत: उसके नर-बच्चे मनुष्यके लिये वैसे उपयोगी नहीं हैं । अत: उनकी रक्षा क्यों की जाय ?' यह आपका प्रश्न है ।

किसी भी जीवका क्या उपयोग है, यह उसके निर्माता ही जान सकते हैं । जिन परमेश्वरने विविध जीवोंकी तथा सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की है, वे ही सबका उपयोग जानते हैं । कौन जीव कब उत्पन्न हो, कबतक रहे और कब उसका उपयोग समाप्त होकर उसका अन्त हो जाय—ये सभी बातें परमेश्वरके ज्ञानमें हैं; अत: वे ही जीवके स्रष्टा, पालक और संहारक हैं । जो जन्म देता है, वही मार भी सकता है । दूसरेको क्या अधिकार है कि वह दूसरोंकी वस्तु नष्ट करे । उपयोगिताकी दृष्टिसे ही यदि रक्षा की जाय तो जीर्ण रोगीका पालन अनावश्यक होगा । बूढ़े माता-पिताकी भी रक्षा आवश्यक नहीं मानी जायगी तथा बूढ़ी गाय और बैलको मार डालनेमें कोई दोष नहीं समझा जायगा । यह उपयोगितावाद भारतीय दृष्टि नहीं है; पाश्चात्त्य पद्धति है । इसलिये वहाँके लोग मांसके लिये गौ आदि पशुओंका वध कर डालते हैं ।

भारतीय दृष्टिकोण दूसरा है । यहाँ यह नहीं सोचा जाता कि दूसरे जीव हमारे लिये कितने उपयोगी हैं । अपितु यह सोचा जाता है कि दूसरे लोगों या जीवोंके लिये हम कितने उपयोगी हो सकते हैं। इसीलिये भारत-सम्राट् दिलीपने एक गायकी प्राणरक्षाके बदले अपने शरीरको निर्जीव मांसपिण्डकी भाँति सिंहको समर्पित कर दिया—

उपानयत् पिण्डमिवामिषस्य ।

स्वार्थमूलक प्रवृत्ति तो प्राणिमात्रमें समान है। मनुष्यकी यही विशेषता है कि वह धर्म कर सकता है। उसके कर्म यज्ञार्थ हो सकते हैं। स्वयं किसीसे सेवा या स्वार्थसाधन न कराकर सदा दूसरोंकी सेवा और सहायता करना परोपकार अथवा यज्ञ है। सबमें भगवद्दृष्टि रखकर सबकी सेवाको भगवान्‌की सेवा मानकर सदा परहित-साधनमें संलग्न रहना ही मानवताका उच्चतम आदर्श है। ऐसे व्यवहारसे मानव देव बनता है। नर नारायणका सखा बन जाता है। नारायणस्वरूप हो जाता है। और इसके विपरीत स्वार्थमूलक आसुरी वृत्तियोंको प्रश्रय देनेवाला मानव दानव हो जाता है, मानवतासे बहुत नीचे गिर जाता है।

जो विश्वनियन्ता परमेश्वरके लिये उपयोगी हो, उसके बनाये हुए विश्वके संरक्षणमें जिसका उपयोग हो सके, वही वस्तुतः उपयोगी है और यही सच्चा उपयोगितावाद है। इसमें स्वार्थ हेय है और परार्थ एवं परमार्थ ध्येय। मनुष्य जब यह सोचता है कि अमुक जीव उपयोगी है या नहीं, तब वह अपनेको ही सामने रखता है। तात्पर्य यह कि जो मेरे अपने लिये उपयोगी है, उन्हींका यहाँ रहना सार्थक है। इसीलिये एक स्वार्थान्ध मनुष्य दूसरे मनुष्यका, अपने ही भाईका भी खून कर डालता है। क्या मनुष्यके लिये उपयोगी होना ही उपयोगिता है? यदि मनुष्यके लिये अनुपयोगी होनेके कारण दूसरे जीव समाप्त किये जा सकते हैं तो दूसरे समस्त जीवोंके लिये अनुपयोगी होनेके कारण मनुष्य-जातिको ही क्यों न समाप्त कर दिया जाय? मनुष्यके पास इसका क्या उत्तर है? वह कभी अपनेको घाटेमें नहीं रखना चाहता और इसीलिये वह दूसरोंके प्रति न्याय नहीं कर सकता।

अतएव हमारे यहाँ व्यक्ति अथवा मनुष्यकी इच्छाको प्रधानता न देकर कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयमें शास्त्रको प्रमाण माना गया है। गीतामें स्वयं भगवान्‌का कथन है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

शास्त्र भगवान्‌की आज्ञा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।

इन आदेशोंका वीतराग महर्षियोंने संकलन किया है, जो धर्मनिष्ठ थे। स्वार्थमयी प्रवृत्तियोंसे ऊँचे उठकर मानवताके उच्चतम आदर्शमें—देवत्वमें सुप्रतिष्ठित थे। अतः शास्त्रीय आज्ञाओंके पालनसे न केवल मानवका ही, अपितु सम्पूर्ण जीव-समुदायका, समस्त जड-चेतनमय जगत्‌का कल्याण हो सकता है। शास्त्रकी यह स्पष्ट आज्ञा है—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' किसी भी जीवकी हिंसा न करो।

जबतक हृदयमें स्वार्थभावना डेरा डाले हुए है, तबतक केवल उपयोगितावादका सहारा लेनेवाला घोर अन्धकारमें ही गिरेगा। अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको ऐसे कुतर्कोंसे बचना और शास्त्रीय आदेशोंके पालनमें दत्तचित्त रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भगवान् दुःख नहीं देते

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान् दुःख नहीं देते, दुःखनिवारणका उपाय करते हैं। परंतु अपनी नासमझीके कारण हम उसको दुःख मानने लगते हैं। भगवान् करुणामयी माताके सदृश स्वभावसे ही दयालु हैं। जैसे माताको अपने बालकपर सहज स्नेह होता है, उसी प्रकार भगवान् हम सबपर स्वभावतः स्नेह रखते हैं। बालक इच्छानुसार घूमता हुआ अपने अङ्गोंमें मल-कीचड़ आदि लगा लेता है और उसे धोना भी नहीं चाहता। दयामयी जननी बालकके हितके लिये ही उसकी इच्छाके विपरीत उसे ठंडे जलसे नहलाती है। बालक रोता है, चिल्लाता है और मन-ही-मन समझता है कि मा उसे दुःख दे रही है। परंतु बात ऐसी नहीं है। माता उसे सुखी और स्वस्थ बने रहनेके लिये ही वह क्षणिक कष्ट उसको स्वीकार कराती है। इस प्रकार जीव भी भगवान्‌का बालक है। वह स्वरूपसे शुद्ध है, फिर भी अज्ञानी शिशुकी भाँति पाप-पङ्कमें लिप्त हो जाता

है। भगवान् माताकी भाँति सहज स्नेहके कारण उसे इस पाप-तापसे मुक्त करनेका यत्न करते हैं, जीव उस प्रयासका रहस्य न समझकर भगवान्‌को निष्ठुर बताता और उन्हें दुःख देनेवाला मानता है । जो घाव सारे शरीरमें जहर फैलाता हो, उसको चीर डालनेमें ही शरीरका हित है, सहलानेमें नहीं । इसी प्रकार पापरूपी मलको धोने या अघरूपी घावका घातक प्रभाव मिटानेके लिये जीवको क्षणिक दुःखरूपी उपचार स्वीकार ही करना चाहिये और इसमें भगवान्‌की परम दया मानकर प्रसन्न ही होना चाहिये ।

(२) यह ठीक है कि सारा जगत् श्रीकृष्णका स्वरूप है । इसके अणु-अणुमें श्रीकृष्ण ही व्याप्त हैं, वे ही इसके उपादान भी हैं; अतः सब कुछ परमानन्द-स्वरूप ही है । क्योंकि श्रीकृष्ण परमानन्दमय हैं । फिर भी तो सबको आनन्दका ही अनुभव नहीं होता अथवा किसीको भी दुःखका अनुभव होता है, इसका कारण भ्रम अथवा अज्ञान ही है । मनुष्य बड़े आनन्दसे घरमें खाटपर सो रहा है, किंतु स्वप्नमें उसे हाथी खदेड़ रहा है, अतः वह रोता है, डरता है, घबराता है और व्यथाका भी अनुभव करता है । जब सहसा नींद खुल जाती है, तब उसके सभी दुःख शान्त हो जाते हैं । वह पूर्ण निर्भय एवं सुखी हो जाता है । वह समझ जाता है कि यह दुःख-शोक भ्रमके कारण था । अब वह भ्रम या अज्ञान नहीं रहा, अतः दुःख भी चला गया । इसी प्रकार संसारके जीव अपनेको श्रीकृष्णसे सर्वथा भिन्न मानकर अहङ्कारवश देहमें आसक्त हो जाते हैं और अनेक प्रकारसे राग-द्वेषमूलक सम्बन्धोंमें उलझकर दुःख-शोकके अधीन होते रहते हैं । जब भगवान्‌की दयासे उनका यह स्वप्न या मोह भङ्ग होता है और वे अपनेको श्रीकृष्णसे अभिन्न अनुभव करने लगते हैं, तब वे सचमुच परमानन्दमें ही निमग्न रहते हैं; फिर उन्हें कभी दुःख-शोकका अनुभव नहीं होता ।

(३) मानसमें जिन १४ व्यक्तियोंको जीवित शवके समान बताया गया है, वे भी यदि आत्मघात करें तो पापके भागी होंगे । उन्हें जीतेजी जो दुःख या कष्ट है, वह उनका प्रारब्ध-भोग या अपने ही कर्मोंका फल है । उसे धैर्यपूर्वक भोग लेनेसे वे पाप-ताप धुल जायँगे, फिर उनका भावी जीवन सुखमय हो सकता है; किंतु यदि उस भोगसे बचनेके लिये वे आत्मघात करते हैं तो भविष्यमें शेष भोग तो उन्हें भोगना ही पड़ेगा आत्मघाती अनन्तकालतक अन्धकारपूर्ण नरकमें यातना भोगते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

जीवित शव-सम कहनेका अभिप्राय उन मनुष्योंको मृत्युकी ओर प्रेरित करना नहीं, उनमें आत्मचेतना जाग्रत् करना है ।

(४) आकाशवाणी पहले भी किसी-किसीके जीवनमें ही व्यक्त होती थी, अब भी व्यक्त हो सकती है । पर यह सब ईश्वरकी इच्छाके अधीन है । मनुष्य इसको स्वेच्छानुसार नहीं सुन सकता । भगवान् जब जिसको आकाशवाणीद्वारा कोई सन्देश देना चाहेंगे, तभी वह उसे सुनायी पड़ेगी । अब भी अधिकारी महापुरुष आकाशवाणी सुनते हैं, सुन सकते हैं ।

(५) भगवान्‌का दर्शन उसीको होता है, जिसके हृदयमें भगवद्दर्शनकी उत्कट अभिलाषा रहती है और जो दर्शनके लिये व्याकुल होकर निरन्तर भगवान्‌को पुकारता रहता है ।

(६) जो प्रभुको चाहनेवाले हैं, प्रभुता उनकी चेरी है । वे प्रभुताको ठुकराकर प्रभुके चरणोंमें आत्म-समर्पण करते हैं । आजके अर्थप्रधान युगमें जो अधिक लोग लक्ष्मी चाहते हैं, वे प्रभुके प्रति अनन्य भक्ति रख ही नहीं सकते । वे तो धनके लिये भक्तिका सौदा करते हैं । सब छोड़कर प्रभुका भजन करनेसे प्रभु मिलते हैं और प्रभुके मिलते ही सब कुछ मिल जाता है । फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता ।

(७) सुख-दुःखका अनुभव मन ही करता है ।

मन जिसे अनुकूल समझता है, उसमें सुख मानता है; जिसे प्रतिकूल समझता है, उसमें दुःख मानता है। मनको अनुकूल-प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति प्रारब्धके अनुसार होती है; अतः उससे होनेवाले सुख-दुःखका अनुभव ही अनिवार्य है। फिर भी हर्ष-शोकसे छुटकारा पाना पुरुषार्थसाध्य है। अज्ञानी पुरुष सुखमें हर्ष और दुःखमें शोक करता है। ये हर्ष और शोक विकार हैं। ज्ञानीमें हर्ष-शोक नहीं होते। मनुष्य साधनाके द्वारा विवेक प्राप्त करके हर्ष-शोकसे पिण्ड छुड़ा सकता है। हर्ष-शोक प्रारब्धके नहीं, अज्ञानके फल हैं। गृहस्थ ज्ञानीके यहाँ किसीकी मृत्यु हो जाय तो उसे लोक-दृष्टिमें दुःख, शोक होना चाहे दिखायी दे; पर वास्तवमें दुःख, शोक नहीं होगा। हाँ, प्रतिकूलता-अनुकूलताका अनुभव मनको होगा।

(८) मनुष्यको जीविकाके लिये कुछ उपार्जनका प्रयत्न करना चाहिये। सफलता दैवके हाथमें है। असफलता होनेपर भी दुःख न मानकर प्रयत्नमें लगा रहे। घरवालोंका कलह भी मौन होकर सह ले। क्षमा-से दूसरोंका हृदय जीता जा सकता है। विवेकसे ही विचारोंपर संयम रखना सम्भव है। विवेक सत्संगसे प्राप्त होता है।

(९) त्रिकालाबाधित तत्त्व ही अक्षय काल कहलाने योग्य है। अक्षय देश और अक्षय काल भगवान् ही हैं। लोकमें काल-शब्दसे व्यवहृत होनेवाले जो मास, वर्ष आदि विभाग हैं; वे नश्वर हैं, जहाँ समस्त प्राकृत प्रपञ्चका विलय हो जाता है, वे सनातन परमेश्वर ही अक्षय या सनातन काल हैं। अतः भगवान्‌ने जो अपनेको अक्षय काल बताया है, वह ठीक ही है।

(१०) जैसे वायुका कोई आकार नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार परमात्माकी आकृति भी सबके प्रत्यक्ष नहीं है; अतः वह निराकार है। फिर भी जैसे वायुमें स्पर्श गुण है, उसी प्रकार परमात्मामें अनन्त कल्याणमय गुण सञ्चित हैं। जैसे आकाश निराकार है, तो भी उसमें शब्द-गुणका सम्बन्ध है। यही नहीं, सबको अवकाश देनेका गुण भी उसमें मौजूद है। ऐसे ही परमात्मा सर्वव्यापक एवं निराकार हैं, फिर भी वे सबके स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। वे सर्वज्ञ एवं सर्व-शक्तिमान् हैं। वे मनके भी मन, बुद्धिकी भी बुद्धि, प्राणके भी प्राण और आत्माके भी आत्मा हैं। उनकी शक्तिके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। ये सब उस परमात्माके गुण हैं। इन सब बातोंका विचार ही सगुण-निराकारका चिन्तन एवं ध्यान है।

(११) श्रीकृष्णका प्रत्यक्ष दर्शन हो और उनका माधुर्य-भाव ठीक समझमें आ जाय—इसका सरल और अमोघ उपाय है सब ओरसे ममता, आसक्ति हटाकर सर्वथा श्रीराधाजीके चरणोंमें आत्मसमर्पण। श्रीराधाकी कृपासे ही श्रीकृष्णके माधुर्य-रसका समास्वादन हो सकता है।

(१२) भगवान् श्रीकृष्ण भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। उनका यह अवतार भक्तोंको सुख देनेके लिये ही हुआ है। भक्तोंको सुख देकर प्रसन्न होना, यह श्रीकृष्ण-का सहज स्वभाव है। यशोदा मैया डराती है, धमकाती हैं, ऊखलमें बाँधती हैं और भगवान् रोते हैं—यह सब यशोदाके वात्सल्य-रसको पुष्ट करनेके लिये है। इस लीलाकी अन्तिम झाँकी यही है कि यशोदाको अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है, उनके हृदयमें वात्सल्यका समुद्र उमड़ आता है, और वे अपने कन्हैयाको छातीसे लगाकर स्नेहाश्रुओंकी वर्षा करती हुई एक अनिर्वचनीय सुखमें डूब जाती हैं। सखाओंको पीठपर चढ़ाना उन्हें सख्यरसका आस्वादन करानेके लिये होता है तथा श्रीराधारानीकी इच्छाके अनुरूप सखी आदिका वेष धारण करके वे उन्हें दिव्यातिदिव्य माधुर्य-रस-सिन्धुमें निमग्न करते रहते हैं। इन लीलाओंमें भगवान्‌को, उनके परिकरोंको तथा प्रेमी भक्तोंको कितना आनन्द होता है—यह वाणीका विषय नहीं है। यह सुख और यह रस केवल स्वानुभवगम्य है। इसका आस्वादन श्रीप्रिया-प्रियतमकी अहैतुकी कृपासे ही सम्भव है।

(३)

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद ! आपका कहना है कि 'संसारमें जो कुछ होता है, सब ईश्वरकी इच्छासे ही होता है । मनुष्य भी जो-जो कार्य करता है, वह सब ईश्वरेच्छासे ही करता है । ऐसी दशामें मनुष्योंको इसका फल क्यों भोगना पड़ता है ?'

उत्तरमें निवेदन है कि संसारमें जो सुख-दुःख, हर्ष-शोक, धन-वित्त आदि प्राप्त होते हैं, वे जीवोंके प्रारब्धके फल हैं । प्रारब्धके निर्माता एवं नियामक ईश्वर हैं तथा बिजलीकी बत्तियोंमें शक्ति प्रदान करके उन्हें जलानेवाले, शक्तिभण्डार (पावरहाउस) की तरह कर्म करनेकी शक्ति प्रदान करनेवाले भी ईश्वर हैं । इसीसे कहा जाता है कि यह सब ईश्वरेच्छासे हुआ है । वस्तुतः हुआ है अपने-अपने कर्मानुसार । समष्टि प्रकृतिमें जो चेष्टा होती है, वह ईश्वरेच्छासे होती है; क्योंकि जड प्रकृतिमें जो गतिशीलता आती है, वह चेतन पुरुषके संनिधानसे ही आती है । अतएव कहा जाता है कि ईश्वरकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता । वास्तवमें— 'स्वभावस्तु प्रवर्तते ।'

मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह ईश्वरकी इच्छासे करता है—यह मानना ठीक नहीं है । ईश्वर धर्ममय हैं । यदि उनकी प्रेरणासे मनुष्य कर्म करें तो सभीके द्वारा धर्मका ही अनुष्ठान हो । कोई पापके निकट जाय ही नहीं । अतः मनुष्यके द्वारा जो कुछ कार्य होता है, उसके मूलमें अहंकार और राग-द्वेष काम करते हैं । हाँ, जो निष्काम कर्मयोगी है अथवा भगवच्छरणागत निर्भर भक्त है, उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेष कारण नहीं होती । वह ईश्वरकी आज्ञासे ही कार्य करता है, ईश्वरके लिये ही करता है । अतः उसके द्वारा अनुचित कार्य कभी नहीं होते ।

भगवान्ने प्रत्येक मनुष्यको कर्म करनेमें स्वत बना रक्खा है । अतएव उसके कार्यकी जिम्मेद उसीपर है । वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र, किंतु फल परतन्त्र है । मनुष्यके अन्तःकरणमें दो प्रधान शत्रु है काम और क्रोध* । ये ही सारे अनर्थोंकी जड़ है इन्हींकी प्रेरणासे मनुष्य पापकर्ममें प्रवृत्त होता है ये दोनों शत्रु अपने मनमें रहते हैं और हम ही इन प्रोत्साहन देते हैं । अतः इनके द्वारा होनेवाले कर्म हमारे ही किये हुए समझे जाते हैं । अतएव कोई मनुष्य, जो राग-द्वेष या कामनाके वशीभूत होकर क प्रवृत्त होता है, अपने किये हुए कर्मोंके उत्तरद भित्व मुक्त नहीं हो सकता । उसे उनका फल अवश्य हो पड़ेगा ।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि सब कुछ ईश्वर करते हैं, तब तो ईश्वरको विषम दृष्टि रखनेवाला औ निष्ठुर मानना पड़ेगा; क्योंकि उन्होंने सबको ए नहीं बनाया । किसीको सुन्दर बनाया तो किसी काना या कुबड़ा कर दिया । कोई सुखी, कोई दुःख कोई धनी, कोई दरिद्र—ऐसी विषमता या निर्दय क्या कभी ईश्वर करते हैं ?—नहीं; अतएव यह पड़ेगा कि जीवोंको अपने किये कर्मोंका ही दण्ड पुरस्कार मिलता है । भगवान् तो शक्तिदाता, निय। और साक्षिमात्र हैं । शेष प्रभुकी कृपा ।

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ (गीता ३ । ३७
भगवान्ने अर्जुनसे कहा—रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है । इस कामका पेट भरता ही नहीं, यह बड़ा पापी है इसीको वैरी जानो ।

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

भक्त बालक—ग्यारहवाँ संस्करण, पृष्ठ ७२, एक सुन्दर चित्र, ६३००० छप चुकी है; इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त नारी—बारहवाँ संस्करण, पृष्ठ ६८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र, ८०००० छप चुकी है; इसमें शबरी, मीराबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रबियाकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त-पञ्चरत्न—दसवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र, ४६२५० छप चुकी है; इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

आदर्श भक्त—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ९६, एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र, ५१२५० छप चुकी है; इसमें शिबि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त-चन्द्रिका—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, ४९२५० छप चुकी है; इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त-सप्तरत्न—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८६, एक तिरंगा चित्र, ५३२५० छप चुकी है; इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालवेगकी कथाएँ हैं। ।-)

भक्त-कुसुम—छठा संस्करण, पृष्ठ ८४, एक तिरंगा चित्र, ३०२५० छप चुकी है; इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, वालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

प्रेमी भक्त—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, ४९२५० छप चुकी है; इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

प्राचीन भक्त—चौथा संस्करण, पृष्ठ १५२, चार बहुरंगे चित्र, ३८२५० छप चुकी है; इसमें मार्कण्डेय, महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख, कण्डु, उत्तङ्क, आरण्यक, पुण्डरीक, चोलराज और विष्णुदास, देवमाली, भद्रतनु, रत्नग्रीव, राजा सुरथ, दो मित्र भक्त, चित्रकेतु, वृत्रासुर एवं तुलाधार शूद्रकी कथाएँ हैं। मूल्य ॥)

भक्त-सौरभ—चौथा संस्करण, पृष्ठ ११०, एक तिरंगा चित्र, १८२५० छप चुकी है; इसमें श्रीव्यासदासजी, मामा श्रीप्रयागदासजी, शङ्कर पण्डित, प्रतापराय और गिरधरकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

भक्त-सरोज—चौथा संस्करण, पृष्ठ १०४, एक तिरंगा चित्र, २३२५० छप चुकी है; इसमें गङ्गाधरदास, श्रीनिवास आचार्य, श्रीधर, गदाधर भट्ट, लोकनाथ, लोचनदास, मुरारिदास, हरिदास, भुवनसिंह चौहान और अङ्गदसिंहकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।=)

भक्त-सुमन—चौथा संस्करण, पृष्ठ ११२, दो तिरंगे तथा दो सादे चित्र, ३८२५० छप चुकी है; इसमें विष्णुचित्त, विसोबा सराफ़, नामदेव, राँका-बाँका, धनुर्दास, पुरन्दरदास, गणेशनाथ, जोग परमानन्द, मनकोजी बोधला और सदन कसाईकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ।=)

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष—सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखनेयोग्य है।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

संकटमें राम ही रक्षक हैं

जहाँ हित स्वामि, न संग सखा, वनिता, सुत, बंधु, न बापु, न मैया ।
काय-गिरा-मनके जनके अपराध सबै छलु छाड़ि छमैया ॥
तुलसी ! तेहि काल कृपाल विना दूजो कौन है दारुन दुःख दमैया ।
जहाँ सब संकट, दुर्घट सोचु, तहाँ मेरो साहेबु राखै रमैया ॥

(कवितावली)

श्रीगोसाईंजी कहते हैं कि जहाँ कोई हितैषी स्वामी नहीं है और न साथमें मित्र, स्त्री, पुत्र, भाई, बाप या मा ही है, वहाँ कृपालु भगवान् श्रीरामके बिना अपने जनके शरीर, मन और वचनद्वारा किये हुए समस्त अपराधोंको छल छोड़कर क्षमा करनेवाला तथा उस दारुण दुःखका नाश करनेवाला दूसरा कौन हो सकता है । जहाँ ऐसे-ऐसे सब प्रकारके संकट और दुर्घट सोच हैं, वहाँ मेरे स्वामी जगत्में रमण करनेवाले श्रीराम ही मेरी रक्षा करते हैं ।

कल्याण
वर्ष २४
अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, अप्रैल सन् १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

मित्र सुग्रीवके लिये रामकी प्रतिज्ञा

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
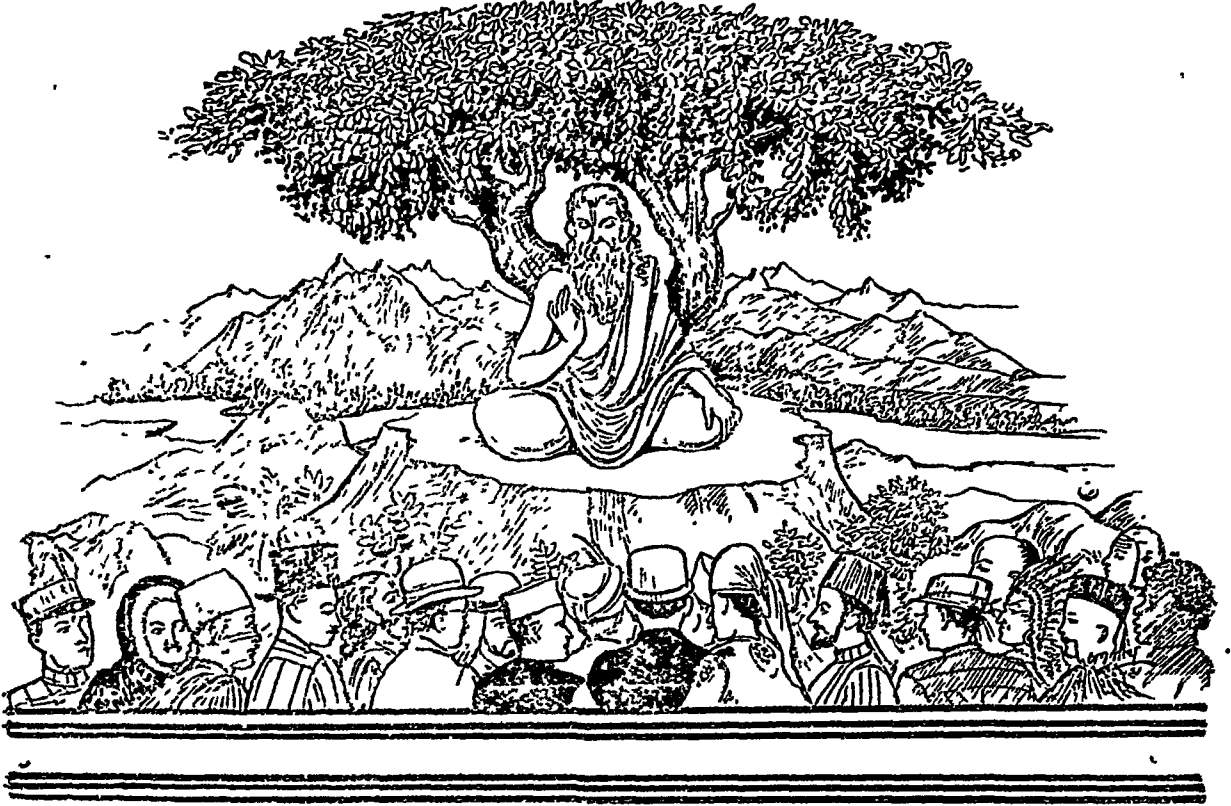
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर वैशाख २००७, अप्रैल १९५० { संख्या ४ पूर्ण संख्या २८१

सुग्रीव-मैत्री

गहिये औंर काकी छाँह ।
रामसो को प्रनतपालक, अभय काकी बाँह ॥
सपथ साँचेहु सुजन सकुचत, नाथ त्रिभुवनराय ।
अनल साखि सम्हारि दीन्हीं कपिहिं हिय हरपाय ॥
बालि ताड़ित स्वजन विरहित सकल साधनहीन ।
कियो अपनो मेटि संसय सखा-गौरव दीन्ह ॥
धन्य प्रीति प्रतीति दृढ़ई, करत पुनि मनुहार ।
दीनबंधु उदार भूषन विरद राखन हार ॥

याद रक्खो—संसारमें तुम्हारे लिये जो कुछ हो रहा है, सब दयामय, प्रेममय और न्यायकारी भगवान्की सुनिश्चित व्यवस्थाके अंदर उन्हींके मङ्गल विधानसे हो रहा है। वे मङ्गलमय हैं, इसलिये उनके मङ्गल विधानके मूल निर्झरसे सदा आनन्दका स्रोत बहता रहता है। प्रत्येक विपत्तिमें, प्रतिकूलतामें, पीड़ामें, पराभवमें, यहाँतक कि मृत्युमें भी उनकी मङ्गलमयता भरी रहती है। इस बातपर विश्वास कर लोगे तो तुम्हें तुरंत शान्ति मिल जायगी।

याद रक्खो—भगवान् तुम्हारे परम सुहृद् हैं, सर्वज्ञ हैं और सर्वशक्तिमान् हैं। उनके समान या उनसे बढ़कर तुम्हारा कल्याण चाहनेवाला, किस बातमें तुम्हारा यथार्थ कल्याण है, इस रहस्यको जाननेवाला और कल्याण करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, इस बातपर विश्वास कर लोगे तो तुम्हें तुरंत शान्ति मिल जायगी।

याद रक्खो—जो कुछ भी दुःख, अशान्ति और पाप हैं, सारा कामनामें है। कामनाका मूल है आसक्ति। आसक्तिका मूल है इस जड शरीर तथा नाममें मेरेपनका भाव। तुम अपनेको भगवान्के हाथका यन्त्र समझकर यदि कामना, आसक्ति, ममत्व और अहङ्कारका त्याग कर दोगे तो तुम्हें तुरंत शान्ति मिल जायगी।

याद रक्खो—जबतक विषयोंमें, कर्मोंमें और कर्मफलमें तुम्हारी ममता और आसक्ति है, तबतक तुम्हारे मनमें कामनाका अभाव नहीं हो सकता, न तबतक तुम कर्मफलका त्याग ही कर सकते हो। अतएव तुम यदि भगवान्के स्वरूपका महत्त्व समझकर ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग कर दोगे तो तुम्हें तुरंत शान्ति मिल जायगी।

याद रक्खो—जबतक तुम्हारा मन विषयोंमें भटकता रहेगा और भगवान्में नहीं लगेगा, तबतक तुम कभी शान्त और सुखी नहीं हो सकोगे। पर भजनका अभ्यास बढ़ाकर यदि तुम मनको अपने वशमें कर लोगे और उसे श्रीभगवान्के स्वरूपचिन्तनमें लगा दोगे तो तुम्हें तुरंत शान्ति मिल जायगी।

याद रक्खो—पापका अभ्यास बहुत बुरा होता है परंतु जबतक मनुष्यकी पापमें पापबुद्धि है, पाप बन जानेपर उसके मनमें पश्चात्ताप होता है, तबतक वह पापोंसे बचनेका प्रयत्न करता है और अन्तमें, एकमात्र भगवान् ही पापोद्धारक और परम शरण्य हैं, ऐसा निश्चय करके अशरणशरण पतितपावन भगवान्को पुकारता है। पश्चात्तापयुक्त पापीके लिये दयामय भगवान्का द्वार सदा खुला रहता है। वे उसे शरण देकर अपना लेते हैं और उनके अपनाते ही वह पापमुक्त होकर धर्मात्मा बन जाता है तथा सनातन शान्तिको पा जाता है। अतएव तुम भी यदि इसी प्रकार भगवान्पर अनन्य विश्वास करके उनका भजन करोगे तो तुम्हें तुरंत शान्ति मिल जायगी।

याद रक्खो—भगवान्के स्वरूप-तत्त्वको जाने बिना मनुष्य दुःखसागरसे नहीं तर सकता। इस ज्ञानकी प्राप्तिमें सबसे पहली आवश्यक वस्तु है श्रद्धा। श्रद्धासे तत्परता आती है और तत्परतासे इन्द्रियोंका संयम होता है। अतः यदि तुम 'भगवान्के स्वरूप'में 'उनका स्वरूपज्ञान साधकको प्राप्त होता है' इस सिद्धान्तमें और 'तुमको अवश्य प्राप्त हो सकता है' इस अपनी योग्यतामें श्रद्धा प्राप्त कर लोगे तो तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त हो जायगा और तुरंत शान्ति मिल जायगी।

याद रक्खो—भगवान्की अनन्य शरणागति ऐसा महान् साधन है जो मनुष्यको सारे पाप-तापोंसे मुक्त करके अनायास ही परम शान्तिका अधिकारी बना देता है। अतएव सारी आशाओं और सारे भरोसोंको छोड़कर एकमात्र प्रभुके शरण हो जाओ। फिर तुम्हें तुरंत ही आत्यन्तिक और शाश्वती शान्ति मिल जायगी। 'शिव'

अवतारतत्व-साधना

(लेखक—श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुज-सम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्य स्वामीजी महाराज)

कर्मठको कर्मयोग, ज्ञानीको ज्ञानयोग तथा भक्तको भक्तियोगका उपदेश देनेके साथ ही गीताचार्य श्रीकृष्णने अवतारतत्त्व-साधनाका भी उपदेश दिया है। साधनाकी यह पद्धति अर्जुनने जाननी नहीं चाही थी; किंतु करुणा-वरुणालयने दयाकी राह इसका उपदेश दे डाला। पार्थने सीधी तरहसे यह पूछा था कि—'श्रीकृष्ण! आप तो वसुदेवके पुत्र हैं। आप बताते हैं कि आपने पहले विवस्वान्‌को उपदेश दिया था। भला आप तब कहाँ थे?' इस प्रश्नके उत्तरमें दयामयने अपने स्वरूपका परिचय दे ही डाला। वे अपने-आपको छिपा न सके। अपना स्वभाव भी उनको बताना ही पड़ा। यह प्रकरण आता है गीताके चतुर्थ अध्यायके आरम्भमें। केवल पाँच श्लोक हैं इस प्रकरणमें। श्लोक ५ से ९ तक। प्रकरण अधूरा नहीं, पूर्ण है। भगवान्‌ने अपना हृदय खोलकर अपने प्रिय सखा और भक्तके सामने रख दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने संसारके लिये परम पुरुषार्थका अत्यन्त सुलभ द्वार भी खोल दिया।

बात कोई नयी नहीं है। पुरानी और बहुत पुरानी। अनन्त अपौरुषेय वेदने 'अजायमानो बहुधा विजायते' कहकर इस साधनाका उपदेश दिया था; किंतु इस उपदेशने एक ऐसी उलझन उपस्थित कर दी थी जिसको सुलझानेमें ही बहुतसे लोग उलझ गये। श्रुतिका सीधा-सा अर्थ है—'अजन्मा बहुत प्रकारसे जन्म लेता है।' अजन्मा जन्म ग्रहण करे। सामान्य बुद्धिमें यह बात समझमें नहीं आ सकती। आनी भी नहीं चाहिये। परंतु बात है सोलहों आने सत्य। यह श्रुतिवाक्य है। साधारण पौरुषेय वाक्य नहीं, जिसमें भ्रम-प्रमाद आदि दोष सम्भव हों। श्रुतिवाक्यमें जो कुछ कहा गया है वह किसी सामान्य व्यक्तिके सम्बन्धमें नहीं, साक्षात् परब्रह्म परमात्माके सम्बन्धमें। श्रुतिवाक्यकी यह घोषणा है कि वह सर्वेश्वर अजन्मा रहते हुए भी अनेकों बार जन्म ग्रहण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने यही बात अपने शब्दोंमें दुहरा दी। भगवान्‌के ये शब्द स्पष्ट हैं। इनमें उलझन नहीं है। उन्होंने कहा—

'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि'

अर्थात् 'मेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं।' और कोई होता तो श्रीकृष्णसे पूछता कि आपने कौन-कौन-से जन्म ग्रहण किये। शायद अर्जुन भी पूछ लेता। किंतु भगवान्‌ने इसके लिये अवसर ही कहाँ दिया? वे तो कहते चले जा रहे थे—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

'अज, अव्यय, समस्त भूतोंका ईश्वर अर्थात् सर्वेश्वर होते हुए ही मैं प्रकट होता हूँ।' वही उलझन पुनः आ पड़ी। और विशेषता भी लिये हुए। श्रुतिवाक्यमें तो केवल अजन्माके जन्मग्रहण करनेकी बात थी। यहाँपर अजन्माको अव्यय और सर्वेश्वर कह दिया गया; परंतु इसे उलझन कैसे कहा जाय। भगवान् श्रीकृष्ण सामने जो खड़े हुए थे। यदि वे सामने न होते और यह न कहते होते कि मैं अज, अव्यय, सर्वेश्वर होते हुए भी प्रकट होता हूँ तो सन्देहके लिये स्थान था; किंतु जब अजन्मा, अव्यय, सर्वेश्वर सामने उपस्थित हो तो फिर अजन्माके प्रकट होनेमें सन्देहके लिये अवकाश ही कहाँ रहा। चाहे अजन्माका जन्म सम्भव न हो; किंतु अज, अव्यय, सर्वेश्वरका श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट होना है सत्य। अर्जुन इसे सत्य समझता था। गीता आज भी पुकार-पुकारकर इस सत्यकी घोषणा कर रही है।

उपनिषदोंमें बताया गया है कि परमात्मा प्रवचनोंसे नहीं मिलते हैं, न बहुत बुद्धि दौड़ानेसे मिलते हैं और न बहुत सुननेसे ही मिलते हैं। जिस योग्य अधिकारीको दया करके प्रभु वरण कर लेते हैं उसीको अपना रूप दिखला देते हैं। इस प्रकार जो स्वयं देख लेता है, उसे सन्देह कैसे हो सकता है। अर्जुनके मनमें भी सन्देहकी सम्भावना नहीं की जा सकती; किंतु यह जाननेकी इच्छा अवश्य रही होगी कि यह असम्भव सम्भव होता किस प्रकार है? भगवान्‌के उपर्युक्त शब्दोंमें इसका समाधान मौजूद था। श्लोकके उत्तरार्धमें भगवान्‌ने कहा कि 'मैं अपने स्वभावका अधिष्ठानकर अपने सङ्कल्पसे प्रकट होता हूँ। तात्पर्य यह निकलता है कि इस प्रकार प्रकट होना भगवान्‌का स्वभाव है। और यह उनका अपना सङ्कल्प है जिसके कारण वह प्रकट होते हैं। जो व्यक्ति अपनी बुद्धिके भरोसे भगवान्‌को नहीं जान पाता वह बुद्धिकी कसौटीपर भगवान्‌के सङ्कल्पको परखना चाहे तो यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। सर्वशक्तिमान् प्रभुके सङ्कल्पकी थाह नहीं मिल सकती।

भगवान् प्रकट होते हैं ! अर्जुनके सामने भगवान् प्रकट-रूपमें थे। उसने समझ लिया कि भगवान् प्रकट होते हैं और वे मेरे सामने उपस्थित हैं। परंतु यह आवश्यक प्रश्न था कि इस प्रकार वे कब किस समय प्रकट होते हैं। इस प्रश्नका उत्तर भगवान्ने यों दिया—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात् 'जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है तब-तब मैं प्रकट होता हूँ।' इसका अर्थ यह निकला कि भगवान्के प्रकट होनेका कोई निश्चित समय नहीं है। जब-जब धर्मके आदर्शसे समाज विचलित होकर अधर्मकी ओर बढ़ने लगता है, भगवान् प्रकट होते हैं। प्रश्न होता है कि उनके प्राकट्यका प्रयोजन क्या है ? भगवान्ने इस प्रश्नका भी उत्तर दे दिया—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

अर्थात् 'साधुओंके परित्राण, दुष्टोंके उद्धार और धर्मकी संस्थापनाके लिये मैं युग युगमें प्रकट होता हूँ।'

भगवान् प्रकट होते हैं साधुओंके परित्राणके लिये। साधु कौन जो धर्मनिष्ठ हों वे साधु। जब धर्मकी संस्थापनाके लिये भगवान् प्रकट होते हैं तो साधु पुरुष धर्मका अनुष्ठान किये बिना साधुपुरुषोंकी कोटिमें गिने जा सकेंगे, ऐसा सम्भव नहीं। धर्मनिष्ठ साधु पुरुषोंके परित्राणके लिये भगवान् प्रकट होते हैं। अनिष्टकी निवृत्ति और इष्टकी प्राप्तिका नाम ही 'परित्राण' है। धर्मनिष्ठ साधुपुरुष भगवत्प्राप्तिको अपना इष्ट और भगवान्की अप्राप्तिको अपना अनिष्ट समझता है। ऐसे भक्त भगवान्के दर्शनके लिये व्यग्र हो उठते हैं। क्षण-क्षणका वियोग भी उनके लिये असह्य हो जाता है। ऐसे भक्तोंको दर्शन देनेके लिये भगवान् प्रकट होते हैं। इस प्रकार अपना साक्षात्कार कराना ही वास्तविक परित्राण है। वैसे सामान्यतया परित्राणका अर्थ होता है रक्षा। भगवान् साधुपुरुषोंकी रक्षाके लिये प्रकट होते हैं। इस कार्यकी पूर्तिके लिये दुष्टोंका विनाश भी आवश्यक हो जाता है। भगवान् इसके लिये भी प्रकट होते हैं; किंतु यह कार्य तो भगवान् अपनी इच्छा-मात्रसे कर सकते हैं। इसके लिये प्रकट होनेकी क्या आवश्यकता ? विचार करनेपर इस आवश्यकतामें भी भगवान्की दयाकी झाँकी मिलती है। भगवान् सबके मित्र हैं। वे शत्रुओंके प्रति भी वात्सल्यका व्यवहार करते हैं। इस प्रकार उनके द्वारा किये जानेवाले विनाशमें वास्तविक उद्धार विद्यमान रहता है। उनके हाथोंसे मारे गये लोग भी विष्णुपुर पहुँचते हैं। तात्पर्य यह निकला कि भगवान् दुष्टोंका उद्धारकर उनकी वास्तविक रक्षा करते हैं।

उपर्युक्त दो प्रयोजनोंके अतिरिक्त भगवान्के प्रकट होनेका तीसरा प्रयोजन है 'धर्मकी संस्थापना।' धर्म है समस्त पदार्थोंका धारक, पोषक एवं संरक्षक और भगवान् हैं धर्मके संस्थापक। कहना न होगा कि यह धर्मका संस्थापनकार्य ही तो है जिसके लिये भगवान्को साधुपुरुषोंका परित्राण और दुष्टपुरुषोंका उद्धार करना पड़ता है। तथापि यह न भूल जाना चाहिये कि जब दर्शन देकर भगवान् साधुपुरुषोंका परित्राण करते हैं और दर्शन देकर दुष्टोंका उद्धार करते हैं, तब दर्शन देकर ही वे धर्मकी संस्थापना भी कर देते हैं। परम धर्म है भगवान्की आराधना। इसके लिये भगवान्का दर्शन अपेक्षित होता है। दर्शन देकर आराधनकार्यकी इस आवश्यकताकी पूर्ति भगवान् करते हैं।

इस प्रकार भगवान्ने अपना स्वरूप, अपना स्वभाव, अपने प्रकट होनेका संकल्प, समय और प्रयोजन बता दिया। उनके स्वरूपमें कर्मका बन्धन या प्रकृतिका संसर्ग सम्भव ही नहीं हो सकता। उनके स्वभावमें सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रतिष्ठित है। फिर भला उनके संकल्पमें सत्यता क्यों न हो। सत्यसंकल्प प्रभुके प्राकट्यका समय और प्रयोजन भी ऐसा है जिसमें और जिसके लिये उनका अवतार अनिवार्य हो जाता है। भगवान्ने यह भी कह दिया—

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'

अर्थात् 'मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं।' सांसारिक पुरुषोंके जन्म और कर्ममें तथा भगवान्के जन्म और कर्ममें अन्तर है। सांसारिक पुरुषोंके जन्म और कर्म सांसारिक होते हैं। उनमें शरीरकी दृष्टिसे अवगति और आत्माकी दृष्टिसे प्रगतिका भाव रहता है। भगवान्के जन्म और कर्ममें दिव्यता रहती है। इसी दिव्यतामें अवतारतत्त्व निहित है।

इस अवतारतत्त्वकी साधनाके लिये आवश्यक है इसका ठीक-ठीक ज्ञान। और जो इस प्रकार भगवान्के अवतार-तत्त्वको समझ लेता है उसके लिये साधनाकी लंबी चढ़ाई नहीं चढ़नी पड़ती। प्रकरणका उपसंहार करते हुए भगवान्ने कह दिया—

………………एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

अर्थात् 'इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जान लेता है वह इस शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता। वह

मुझे ही प्राप्त होता है।' आशय यह कि उसे इसी जन्मके पश्चात् परम निःश्रेयसकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार प्रकृतप्रकरणका अनुशीलन करनेपर यही सिद्ध होता है कि अवतारतत्त्वका चिन्तन भगवत्प्राप्तिका विशिष्ट साधन है। गीताचार्य श्रीकृष्णभगवान्ने कर्मयोगके प्रसङ्गमें 'मत्परः' (२।६१); 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' (३।३०); 'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (५।२९); ध्यानयोगके प्रकरणमें 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजति' (६।३१); 'मद्गतेनान्तरात्मना' (६।४७) तथा भक्तियोगके प्रकरणमें 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते' (१२।२) इत्यादि वचनोंद्वारा अपने आपका समावेशकर इसी अवतारतत्त्वकी ओर संकेत किया है। उत्तम पुरुष (मैं) के रूपमें भगवत्तत्त्वका सम्बोधन इसी तत्त्वके प्रकाशनके लिये ही है। और अन्तमें जब भगवान्ने शरणागतियोग उपस्थित किया है तो वहाँ भी 'मामेकं शरणं व्रज' कहकर इसी अवताररूपमें शरणागति करनेका आदेश दिया है। ऐसी स्थितिमें अवतारतत्त्वकी साधनाकी महनीयताको समझकर इससे लाभ उठाया जा सकता है। इस साधनामें धर्मनिष्ठा अपेक्षित होनेके कारण न अभ्युदयमें बाधा पड़ती है और न भगवत्प्राप्तिमें कठिनता आती है। भगवान्के दृढ़तर आश्रित रहनेके कारण यह साधना सारी बाधाओंका निवारणकर साधकको श्रेयतक पहुँचा देती है।

कलामय

हृदयके बीच वह कौन-सी वार्ता क्षण-क्षणमें गूँज जाती है कि—तुम मेरे परिचित हो। यह बारंबार स्मरण हो जाता है कि—तुमसे मेरा परिचय नहीं होनेका, बारंबार सोचती हूँ सम्भवतः मुझे तुम्हारी प्राप्ति न हो! नहीं-नहीं, मैं तो तुम्हें पहचानती हूँ, तुम तो मेरे चिर-परिचित हो; तुम्हारी बाँसुरीकी स्वर-लहरियोंको मैं रह-रहके सुन जो पाती हूँ। मेरे हृदयके गोपनतम प्रदेशमें तुम्हारा ही तो अवस्थान है।

पर, इतनेसे ही तुम्हारा दर्शन कहाँ मिलता है!

इससे भी तुम नहीं मिलते। जीवनके समस्त शुभ मुहूर्त तुम्हारी खोजमें ही कट जाते हैं। तुम्हें पाना चाहती हूँ—परिपूर्णरूपसे। क्योंकि तुम्हें मैं अन्तरसे जानना चाहती हूँ।

तुम्हारा पता नहीं मिलेगा क्या? युग-युगान्तरसे तुम्हारी प्राप्तिकी साधना करनेपर भी क्या तुम्हें नहीं पा सकूँगी? तुम्हें मैं पाना चाहती हूँ। पर, तुम तो मेरी समस्त आकाङ्क्षाओंसे परे हो, तुम मेरी समस्त कामनाओंके ऊपर जो हो। इसीसे पाकर भी तुम्हें पाना कठिन है।

तुम मेरे निकट हो—अति निकट। तुम मेरे समस्त कार्योंमें बिखरे हुए हो। फिर भी तुम्हारा दर्शन क्यों नहीं कर पाती? तुम पास ही हो। पर, तुम दूर हो बहुत दूर!

प्रिय! क्षणभरके लिये भी तो आओ। अपने हृदय-रक्तसे सींचकर तुम्हारे लिये अपने आँगनमें जो कोमल कलियाँ बिछा रक्खी हैं, क्या उनपर तुम्हारे विश्व-पूज्य चरणोंके चिह्न नहीं पड़ेंगे?

तुम्हारे स्वागतके लिये अनुराग-कुसुमके पिरोये हार मुरझा रहे हैं, प्रतीक्षाके दीप मलिन होते जा रहे हैं। हताशाका प्रचण्ड पवन मेरे भग्न-गृहमें प्रवेशकर उत्पात मचाना चाहता है!

तुम्हारे मनोहर संगीतका गायन न हो सका, तुम्हारी चिन्तामें ही मेरे सम्पूर्ण क्षण समाप्त हो चले। तुम्हारी खोज नहीं मिली, केवल तुम्हारी सत्ताकी उपलब्धि करती हूँ, बस, तुम्हारे विराट्त्वका अनुभव करती हूँ।

प्रभु! तुम नहीं मिलते। यही मेरी पीड़ा है, तुम्हें यथार्थ नहीं जानती, इसीमें मेरी व्यथा है; तुम्हारा बिछोह ही मेरा दुःख है। परंतु तुम्हें पहचानती हूँ यही मेरा आनन्द है, तुम्हें चाहती हूँ इसीमें मेरा गौरव है और तुमपर विश्वास रखती हूँ, इसीमें ही मेरी शान्ति है।

कलामय! तुम्हारी इस आँखमिचौनीसे भी मैं सुखी हूँ, इतनेसे तो कभी वञ्चित न करना! —'ममता'

आत्मा और परमात्माका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रश्न—आत्मा और परमात्मा एक हैं या इनमें कुछ अन्तर है ?

उत्तर—यह बहुत ही तात्त्विक और रहस्यकी बात है। वास्तवमें इस विषयमें कुछ भी कहना नहीं बनता। फिर भी इस सम्बन्धमें सभी आचार्योंने अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार अपने अलग-अलग सिद्धान्त प्रकट किये हैं। भक्तिसिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग हैं; परमात्मा जीव और जीव परमात्मा नहीं बन सकता। जातिसे एक होकर भी स्वरूपसे भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैत-सिद्धान्तसे जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। घटाकाश और महाकाशकी तरह जीवात्मा और परमात्मा शरीरकी उपाधिके कारण पृथक्-पृथक् दीखते हैं, वास्तवमें एक ही हैं। गीतामें भगवान्ने जीवात्माको अपना अंश बतलाया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
(१५ । ७)

'इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

जिस प्रकार जीवात्माके सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंके अपने अलग-अलग मत हैं, उसी प्रकार ईश्वरके सम्बन्धमें भी आचार्योंकी अलग-अलग मान्यताएँ हैं। लेकिन वास्तवमें जो बात है, उसको जबतक साधक परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर लेता, तबतक नहीं समझ सकता। संसारमें जितने भी शास्त्रानुकूल मत-मतान्तर तथा सम्प्रदाय हैं, उन सभीका कथन युक्तिसङ्गत और शास्त्रसम्मत है। वेदों तथा उपनिषदोंमें भी इस सम्बन्धमें अलग-अलग मत प्रकट किये गये हैं। कोई भेदका* प्रतिपादन करते हैं तो कोई अभेदका †। इसी प्रकार गीतामें भी

---

* मुण्डकोपनिषद्में बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(३ । १ । १)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) पर रहते हैं; उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥
(४ । १०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।'

† ईशावास्योपनिषद्में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(६-७)

'परंतु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे !

कहीं जीव और ईश्वरको भिन्न बतलाया है (देखिये गीता, पंद्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक और अठारहवें अध्यायका इकसठवाँ श्लोक) एवं कहीं जीव-ईश्वरकी एकताका प्रतिपादन किया गया है (देखिये गीता, तेरहवें अध्यायका तीसवाँ श्लोक और अठारहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक) । भगवान्‌ने गीतामें जो दो निष्ठाएँ बतलायी हैं, इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत प्रायः सभी मत-मतान्तर आ जाते हैं । भगवान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(३ । ३)

'हे निष्पाप ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है । उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है ।'

अर्थात् एक भेद और दूसरी अभेद-उपासना है ।

भेद-उपासनाको भक्तिमार्ग कहते हैं, इसमें जीवको उपासक और परमात्माको उपास्य समझा जाता है । भेद-उपासनाके भी कई भेद हैं । भिन्न-भिन्न प्रकारके साधक भगवान्‌के श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीविष्णु, आदि विभिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं । ये सभी साधक अपने-अपने उपास्यदेवको पूर्ण ब्रह्म परमात्मा मानते हैं और परमात्माके सब लक्षण उनमें घटाते हैं तथा उनके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका होना भी मानते हैं । जिस प्रकार एक ही जलको लोग नीर, अप्, तोय, अम्बु, पानी, वाटर आदि विभिन्न नामोंसे कहते हैं, उसी प्रकार श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीदुर्गा, श्रीगणेश, श्रीसूर्य, श्रीहरि, परमेश्वर, अल्लाह, खुदा—ये सब एक परमात्माके ही वाचक हैं । वस्तुतत्त्व एक ही है; विभिन्न सम्प्रदायके लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे उसकी उपासना करते हैं । इसी प्रकार विभिन्न उपासक उस परमात्माके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं । कोई साकारकी उपासना करते हैं, कोई निराकारकी । साकारमें भी कोई द्विभुजकी तो कोई चतुर्भुजकी; और कोई अनेकभुज परमेश्वरकी ही उपासना करते हैं । उस एक ही परमात्माको कोई पुँल्लिङ्ग, कोई स्त्रीलिङ्ग और कोई नपुंसकलिङ्ग मानकर उपासना करते हैं । सभी सम्प्रदायके लोग अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार भगवान्‌के भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं;

'इस प्रकारसे जब आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब आत्मा ही हो जाता है, तब फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है । अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है ।'

माण्डूक्योपनिषद्‌के दूसरे मन्त्रमें बतलाया है—

सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है ।'

छान्दोग्योपनिषद्‌में भी कहा है—

तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते । आत्मा ह्येषाꣳ स भवति । (१ । १०)

'उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब हो जाता है । उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है ।' तथा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।
(३ । १४ । १)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है; इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय—उस ब्रह्मसे ही है—इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे ।'

एवं—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । (६ । २ । १)

'हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था ।'

किंतु उपासकों या साधकोंके द्वारा जो कुछ भी वर्णन किया जाता है, वह सब मिलकर भी उस परमात्माके स्वरूपके एक अंशका भी वर्णन नहीं है । वास्तवमें उस परमात्माके पूर्ण स्वरूपका वर्णन कोई कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अनिर्वचनीयस्वरूप है । बिना प्राप्त किये परमात्माके वास्तविक स्वरूपको कोई भी नहीं जान सकता; उसे तो प्राप्त होनेपर ही समझा जा सकता है, वह मन और वाणीका विषय नहीं है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
(तैत्तिरीय० २।९।१)

मान लीजिये, कुछ साधक भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं; पर वे साधक भी भगवान्‌के अलग-अलग स्वरूपोंकी ही उपासना करते हैं । एक मनुष्य भगवान्‌की बाल्यावस्थाका यानी तीन वर्षकी आयुवाले लड्डूगोपालजीके स्वरूपका ध्यान करता है, तो एक दूसरा साधक ग्यारह वर्षकी आयुवाले मुरलीधर श्रीकृष्णका ध्यान करता है; और एक तीसरा मनुष्य प्रौढावस्थाके पार्थ-सारथि श्रीकृष्णका ध्यान करता है । ये तीनों ही एक ही भगवान् श्रीकृष्णके तीन तरहके स्वरूपका ध्यान करते हैं । इनमें भी कई अवान्तर भेद और होते हैं । मान लीजिये, ग्यारह वर्षकी आयुवाले मुरलीधारी स्वरूपका एक हजार साधक ध्यान करते हों । वे सभी साधक चित्रकार हों और उन्हें अपने इष्टदेवके स्वरूपका चित्र बनानेको कहा जाय तो सभीके चित्रोंमें कुछ-न-कुछ भिन्नता होगी यानी वे एक हजार प्रकारके चित्र होंगे; क्योंकि सभी अपने-अपने भावके अनुसार भगवान्‌के स्वरूपको ध्यानमें रखकर उनकी उपासना करते हैं, इसलिये उनके चित्र भी एक-दूसरेसे भिन्न होंगे । वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्णका असली स्वरूप कैसा है, इसको कोई भी साधक नहीं जान सकता, जबतक कि भगवान्‌का साक्षात्कार न कर लिया जाय । इसी तरह भक्तोंके उपासनाके भाव भी अनेक हैं । कोई स्वामी-सेवकभावसे उपासना करते हैं, तो अन्य कोई वात्सल्य, सख्य, माधुर्य आदि अलग-अलग भावोंसे उपासना करते हैं । माता यशोदाका भगवान् श्रीकृष्णमें वात्सल्यभाव है, हनुमान्‌जीका श्रीरामके प्रति दास्यभाव है तथा सुग्रीवका सख्यभाव है; एवं श्रीराममें सीताजीका और श्रीकृष्णमें रुक्मिणीजीका माधुर्यभाव है । इस प्रकार भेद-उपासना अनेक तरहके भावोंसे की जाती है ।

इसी प्रकार निर्गुण-निराकार परमात्माकी अभेद-उपासनाके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये । अभेद-उपासनामें साधनकालमें जीवात्मा और परमात्मामें भेद प्रतीत होता है; किंतु वास्तवमें भेद नहीं है । घटाकाश और महाकाशकी भाँति शरीरकी उपाधिके कारण ही जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् दीखते हैं; किंतु वास्तवमें एक ही हैं । इस प्रकारकी अभिन्नताकी मान्यतापूर्वक की जानेवाली उपासनाको अभेदोपासना कहते हैं । इसमें भी कई प्रकारके भावोंके भेद होते हैं । एक ही 'सच्चिदानन्दघन' के उच्चारणसे विभिन्न साधकोंके मन-बुद्धिमें अलग-अलग भाव और स्वरूपका निश्चय होता है । किसीका भी भाव एक दूसरेके साथ सर्वथा नहीं मिल सकता । लेकिन इस नामके उच्चारण करनेपर साधकोंके मनमें जो भी भाव और स्वरूप पैदा होता है, उसीको लक्ष्य मानकर साधक अपने साधनकी सिद्धिके लिये ध्यान करता है, और उसके फलस्वरूप परमात्माको प्राप्त करता है; किंतु वास्तवमें तर्ककी दृष्टिसे विचारा जाय तो किसी भी साधकका लक्ष्य यथार्थ नहीं कहा जा सकता । परन्तु उपासनाकी दृष्टिसे सभीका लक्ष्य यथार्थ है; क्योंकि उसका परिणाम परमात्माका साक्षात्कार करानेवाला है । वास्तविक स्वरूपका ज्ञान तो साधकको जब साधन करते-करते परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तभी होता है । भेदोपासनामें भी बिना भगवत्साक्षात्कार हुए वास्तविक स्वरूपका पता नहीं लग सकता ।

इसके लिये हम परमेश्वरसे इस प्रकार कह सकते हैं कि 'या तो आपको प्रथम ही साधकको असली स्वरूपका दर्शन देकर इस प्रकारका नियम बतला देना चाहिये कि इतने वर्षोंतक मेरे इस स्वरूपका ध्यान करनेसे मेरी प्राप्ति होगी; अथवा आपको अपना असली छायाचित्र भेज देना उचित है ताकि यह पता लग जाय कि आपका वास्तविक स्वरूप यही है, अथवा अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञान साधकको करा देना चाहिये कि मेरा वास्तविक स्वरूप यह है। ऐसा न करनेपर तो जो साधक आप (भगवान्) का लक्ष्य करके आपके नामपर आपके जिस किसी स्वरूपका ध्यान करता है, उसीके लिये आपको बाध्य होकर यह मानना पड़ेगा कि यह मेरे असली स्वरूपका ही ध्यान कर रहा है।' वस्तुतः भक्तोंकी भावनाके अनुसार परमेश्वर ऐसा ही मानते हैं और इस न्यायसे भगवान्के नामपर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनके किसी भी स्वरूपको लक्ष्य करके साधन करनेवालेको भगवत्प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि आचार्यों एवं शास्त्रोंके बतलाये हुए मार्गोंके अनुसार साधन करनेके सिवा साधकके लिये अन्य कोई उपाय भी नहीं है। अतः शास्त्रोंमें विश्वास रखकर तदनुसार उपासना करनी चाहिये। वास्तवमें परमात्माके भेद-अभेद, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि किसी भी स्वरूपको शास्त्रोंमें पढ़कर, आचार्यों और संत-महात्माओंके द्वारा सुनकर या गीताजीके आधारपर जो लक्ष्य बनाया जाता है, उसकी अपेक्षा वह परमात्माका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। हमलोग परमात्माका साक्षात्कार किये बिना साधनावस्थामें किसी भी उपायके द्वारा किसी तरह भी उसके वास्तविक स्वरूपको समझ ही नहीं सकते। परंतु उपाय क्या किया जाय ? इसके लिये भगवान् कहते हैं कि जो मेरे नामपर व्यक्त-अव्यक्त, भेद-अभेद, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, जिस किसी भी स्वरूपको लक्ष्य बनाकर मेरा ध्यान करेगा, उस साधकको उसके भावके अनुसार मेरे स्वरूपकी प्राप्ति निश्चय होगी; यह बात भगवान्के 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गीता ४ । ११) वचनसे भी ध्वनित होती है।

इस समस्त कथनका सार यह है कि भक्तिके सिद्धान्तसे जीव अंश है और परमात्मा अंशी—इस प्रकार एक जातिके होकर भी वे स्वरूपसे भिन्न माने गये हैं। अद्वैतके सिद्धान्तसे आत्मा और परमात्मा एक ही माने गये हैं; भ्रमसे ही वे अलग-अलग प्रतीत होते हैं; वास्तवमें एक ही हैं। साधकको अपनी मान्यताको सिद्धान्तका ही रूप देना चाहिये; क्योंकि सिद्धान्तका रूप दिये बिना उच्चकोटिकी साधना नहीं हो सकती। वास्तवमें साधकोंके द्वारा साधनके लिये माने जानेवाले सभी सिद्धान्त मान्यता ही हैं; असली सिद्धान्त या असली वस्तु एक ही है, जो मन-वाणीका विषय ही नहीं है और केवल परमात्म-प्राप्ति होनेपर ही अनुभवमें आ सकती है। इसके सिवा, उसको समझनेका कोई उपाय भी नहीं है। साधक भेद या अभेद—जिस किसी भी सिद्धान्तके अनुसार परमात्माके स्वरूपको मनसे लक्ष्य करके उपासना करता है, प्रथम उसीके अनुसार ही साधकको परमात्माकी प्राप्ति होती है। फिर उसके लक्ष्य और सिद्धान्तके अनुसार परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद परमात्माके असली तत्त्व और असली स्वरूपका ज्ञान साधकको हो जाता है, जिसे अमृत कहते हैं। वह वाणीका विषय नहीं है, अचिन्त्य है, उसे बुद्धि भी ग्रहण नहीं कर सकती। परमात्माकी शक्ति पाकर बुद्धि जिस स्वरूपका निर्णय करती है, वह परमात्माका बुद्धिविशिष्ट स्वरूप ही है; क्योंकि इन्द्रिय और अन्तःकरण उस वास्तविक स्वरूपकी थाह नहीं पा सकते। जिस प्रकार शीशेमें आकाशका प्रतिबिम्ब पूर्णतया आ ही नहीं सकता—क्योंकि आकाश अनन्त है और शीशा अल्प है, उसी प्रकार परमात्मा अनन्त हैं और बुद्धि अल्प है, अतः उनका वह वास्तविक स्वरूप बुद्धिगम्य नहीं है।

भक्तिमार्गके आचार्य—श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि सभीके मतोंमें भक्तिमार्गके प्रकारमें एक-दूसरेसे कुछ-न-कुछ भेद मिलता ही है। फिर भी सभी आचार्योंने सिद्धान्ततः जीवात्मा और परमात्माको अलग-अलग ही माना है। एवं अद्वैतके आचार्य—श्रीशङ्कराचार्य आदिके मतमें भी जीवात्मा और परमात्माकी एकताके सम्बन्धमें एक-दूसरेकी अपेक्षासे प्रकार-भेद मिलते हैं, किन्तु अन्तमें सभीने जीवात्मा और परमात्माको एक ही माना है। वास्तवमें जीवात्मा और परमात्मामें भेद है भी और नहीं भी। जिन साधकोंकी श्रद्धा भक्तिमार्गमें है, उनके लिये परमात्मा और जीवात्मामें भेद है और अद्वैतके साधकोंकी दृष्टिमें अभेद है। वास्तवमें ये दो प्रकारके साधनके मार्ग हैं, इन दोनों प्रकारके साधनोंका फल एक ही होता है। परमात्मा भेद और अभेद—दोनोंसे विलक्षण है और दोनों स्वरूपवाला भी है। इसलिये दोनों ही साधन ठीक हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि तो फिर वास्तवमें सत्य क्या है, तो इसका उत्तर यह है कि इसके यथार्थ स्वरूपको साधक परमात्माका साक्षात्कार करनेपर ही समझ सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह भेद-अभेदसे विलक्षण है। वह मन-वाणीसे समझने-समझानेकी चीज नहीं है। अतः जिस साधककी भेद और अभेद—इन दो मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें विशेष श्रद्धा और रुचि हो, उसे उसीके अनुसार साधन करते रहना चाहिये; क्योंकि उसके लिये वही विशेष लाभप्रद है। दोनों ही मार्ग शास्त्रसम्मत, युक्तियुक्त एवं परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। इन साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके बाद वास्तविक चीज क्या है, सो स्वतः समझमें आ जाता है।

वास्तवमें इस अलौकिक विलक्षण अकथनीय तत्त्वका शास्त्रों तथा आचार्योंके द्वारा पूर्णतया तो वर्णन हो ही नहीं सकता। शास्त्रों और आचार्योंने जो कुछ भी कहा है, वह सभी साधन है, एवं निश्चितरूपसे परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। किंतु ये सब साधन जिस लक्ष्यतक साधकको पहुँचाते हैं, वह लक्ष्य मन-वाणीका विषय नहीं है; वह तो अनुभवगम्य है; परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेके बाद ही समझमें आता है। शास्त्रों तथा आचार्योंने भेद और अभेद—दोनों ही उपासनाओंको माना है और दोनोंको ही उच्च कोटिके साधन बतलाया है। हम सभी सम्प्रदायोंका आदर करते हैं और उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह सभी शाखाचन्द्रन्यायकी तरह सत्य है। इन सभी साधनोंके परिणामस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होनेपर जो अनुभव होता है, वह सबसे अलौकिक और विलक्षण है। वही वास्तविक स्वरूप है। आचार्यों और शास्त्रोंने जो कुछ भी बतलाया है, उसको इस न्यायसे ठीक समझ लिया जाता है कि साधक यदि श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार आचरण करे तो उसके फलस्वरूप उसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है।

अब शाखाचन्द्रन्याय क्या है, यह समझाया जाता है। मान लीजिये, द्वितीयाका चन्द्रमा उदय हो रहा है; उसको एक आदमीने तो देख पाया है, और एक दूसरे आदमीको वह नहीं दीख रहा है। तब जिसको चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो रहा है, वह अङ्गुल्यानिर्देशसे दूसरेको बतलाता है कि 'वह देखो, उस वृक्षकी शाखाके एक हाथ ऊपर चन्द्रमा है।' जब वह मनुष्य उसके बतलाये हुए निर्देशके अनुसार दृष्टिपात करता है तो उसे भी चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो जाता है। परंतु वास्तवमें क्या चन्द्रमा उस पेड़से एक हाथ ही ऊपर है? कभी नहीं। इसी प्रकार वह एक दूसरे भाईको बतलाता है कि 'देखो, चन्द्रमा इस मकानके कोनेसे सटा हुआ है।' उसके कथनानुसार चेष्टा करनेसे उसे भी चन्द्रमाका दर्शन हो जाता है; परंतु वास्तवमें क्या चन्द्रमा उस मकानसे सटा हुआ है? कभी नहीं। इसी प्रकार वह एक तीसरे भाईको कहता है कि देखो, उस उड़ते हुए पक्षीके

दोनों पंजोंके बीचमें चन्द्रमाके दर्शन करो तो वह भाई उस पक्षीके पंजोंमेंसे देखता है और उसे चन्द्रमा दीख जाता है। किंतु क्या वास्तवमें चन्द्रमा उस पक्षीके पंजोंके बीचमें है? कभी नहीं। इससे यह समझना चाहिये कि यद्यपि शब्दोंका अर्थ तो गलत है, लेकिन उससे कार्यसिद्धि यथार्थ हो जाती है। इसी प्रकार शास्त्रकथित तथा आचार्योंद्वारा प्रतिपादित सभी साधन तर्ककी कसौटीपर कसनेसे दोषयुक्त सिद्ध होते हुए भी परिणाममें परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे यथार्थ हैं। जिस प्रकार चन्द्रदर्शनके उत्सुक मनुष्यको चन्द्रमाके दर्शन करानेवालेकी बात मानकर तदनुसार चेष्टा करनेसे चन्द्रमाके दर्शन हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌के दर्शनोत्सुक व्यक्तिको भी शास्त्रों या आचार्योंके कथनानुसार श्रद्धापूर्वक साधन करनेपर भगवत्साक्षात्कार हो जाता है। और जिस प्रकार अङ्गुल्यानिर्देशसे बतलानेवाला मनुष्य केवल इतना ही निर्देश करा सकता है कि चन्द्रमा अमुक पेड़से एक हाथ ऊँचा या अमुक मकानके कोनेसे सटा हुआ है, उसी प्रकार आचार्य तथा शास्त्रादि भी भेद-अभेदकी उपासनाद्वारा परमात्माका लक्ष्य करा सकते हैं; किंतु यह बात निश्चित है कि जबतक मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक वह यह नहीं समझ सकता कि वास्तवमें परमात्माका स्वरूप कैसा है।

अब इसको एक और उदाहरणद्वारा स्पष्ट किया जाता है। थोड़ी देरके लिये मान लें कि पृथ्वीलोकका कोई एक मनुष्य पृथ्वीतलके किसी ऐसे लोकमें चला गया, जहाँ चारों ओर केवल अँधेरा-ही-अँधेरा है, जहाँ अग्नि और बिजलीकी रोशनीसे ही सब काम चलता है, जहाँ दिन-रात कभी होते ही नहीं और सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र वगैरह कुछ नहीं हैं। उसने वहाँके रहनेवालोंसे पूछा कि 'यहाँ कभी दिन होता है या नहीं?' इससे वहाँके रहनेवालोंको बड़ा कौतूहल हुआ कि दिन क्या वस्तु है। तब उसने बतलाया कि सूर्यके उगनेपर दिन और उसके छिप जानेपर रात होती है। तब तो और भी विस्मय हो गया कि सूर्य और दिन-रात क्या होते हैं। उन्होंने पूछा—'सूर्य क्या है?' उसने कहा—'एक गोलाकार अत्यधिक प्रकाशका पुञ्ज होता है, जिसके उदय होनेपर अँधेरा बिल्कुल मिट जाता है और चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश दीखने लगता है।' इसपर पातालनिवासियोंने एक हजार पावरकी बिजलीका बल्ब जलाया और पूछा—'क्या तुम्हारा सूर्य ऐसा है?' उसने कहा—'यह तो उसके सामने कुछ भी नहीं।' तब उन लोगोंने दस हजार पावरके बल्बसे रोशनी की और पूछा—'क्या सूर्य ऐसा होता है?' उसने कहा—'यह भी उस सूर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है।' अन्ततोगत्वा उन्होंने बिजलीका सारा पावर लगाकर रोशनी कर दी और पूछा—'तुम्हारा सूर्य ऐसा होता है क्या?' वह पुनः बोला—'यह भी सूर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है।' अन्तमें उन लोगोंने कहा कि तुम झूठ बोलते हो; इससे अधिक और प्रकाश तो हो ही नहीं सकता।' उस भाईने जवाब दिया—'मैं आपलोगोंको किस प्रकार समझाऊँ। वह चीज समझाने और बतलानेमें नहीं आ सकती। जबतक आपलोग उसको देख नहीं लेंगे, तबतक उसे नहीं समझ सकते।' तब उक्त लोकके निवासियोंने अपने एक आदमीको सूर्य देखनेके लिये उसके साथ पृथ्वीलोक भेज दिया। जब दोनों आदमी पृथ्वीलोकमें पहुँचे, उस समय अमावस्याकी घोर अँधेरी अर्द्धरात्रि थी। पातालनिवासी मनुष्यको उस अँधेरी रात्रिमें ही प्रकाशका भान होता था, उसने अपने साथीसे पूछा—'क्या यह दिन है?' वह बोला—'यह तो घोर अँधेरी रात है।' जब धीरे-धीरे अँधेरा और कम हुआ, कुछ प्रकाश बढ़ गया, तब उसने पूछा—'क्या यह दिन है?' उसने जवाब दिया—'अभी तो रात ही है।'

फिर धीरे-धीरे नक्षत्रोंकी ज्योति भी कम हो गयी और सूर्यके उगनेमें आधा घंटा बाकी रह गया, तब पातालनिवासीने पुनः पूछा—'क्या यह दिन है ?' वह फिर बोला—'अभी तो रात ही है। आधे घंटेके बाद सूर्योदय होगा।' तब उसने पूछा—'ये नक्षत्र क्या हैं ?' उसने कहा—'पृथ्वीकी भाँति ये भी सब बड़े-बड़े लोक हैं एवं प्रकाशके पुञ्ज हैं।' इसके बाद जब नक्षत्रोंकी रोशनी एकदम कम हो गयी तथा सूर्योदय होनेमें पाँच-सात मिनट ही बाकी रह गये, तब शुक्र और बृहस्पति नक्षत्रको छोड़कर सभी नक्षत्र अदृश्य हो गये। एवं सूर्योदय होते ही शुक्र और बृहस्पति नक्षत्र भी दीखने बंद हो गये। उस समय सूर्यका प्रकाश इतना तेज लगा कि पाताललोकवासी प्राणी तो सूर्यकी ओर ताक भी न सका; उसने सूर्यकी ओर अपनी पीठ कर ली और उसी हालतमें उसने सूर्यके प्रकाशको देखा। दोपहरमें जब सूर्यका प्रकाश अधिक तेज और उग्रतम हो गया, तब तो बेचारा वह उसे देख ही कैसे सकता था। तब जिस प्रकार सूर्यग्रहणके समय शीशेको दीपककी लौसे काला करके देखा जाता है, उसी प्रकार उसने उस पातालनिवासीको सूर्य दिखलाया और बतलाया कि यह सूर्य है तथा इसीसे हमारे इस लोकमें दिन-रातकी व्यवस्था है। इसपर उसने कहा—'अब, दिन-रात और सूर्य क्या चीज हैं—इस बातको मैं समझ गया।'

इसके बाद वह मनुष्य अपने लोकमें वापस चला गया। वहाँ जानेपर वहाँके लोगोंने उससे पूछा—'तुमने दिन, रात और सूर्यको देखा ? सूर्य कैसा है ? उसका प्रकाश कैसा है ? दिन-रात आदि क्या चीज हैं ?' इस प्रकार उन्होंने इस प्राणीसे वे सभी प्रश्न किये, जो पृथ्वीलोकके आदमीसे किये थे। उसने बतलाया—'सूर्य-एक अत्यन्त प्रकाशका पुञ्ज है; अपनी जो यह बिजलीकी रोशनी है, उससे असंख्यगुनी उसकी रोशनी होती है।' तब उन्होंने पूछा कि 'असंख्यगुना उसका प्रकाश कैसा होता है, यह बात हमको समझाओ; तुम तो हमारी भाषा भी जानते हो।' उसने उत्तर दिया—'उस चीजको बिना देखे किसी प्रकार समझाया ही नहीं जा सकता। उसकी उपमाके योग्य अपने लोकमें दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसका नाम लेकर मैं आपको बतला सकूँ। वह वस्तु तो ऐसी है कि प्रत्यक्ष देखनेपर ही समझी जा सकती है, बिना देखे वह किसी प्रकार समझमें आ ही नहीं सकती।'

इस उदाहरणसे यह सिद्ध हुआ कि जब सूर्य-जैसी एक साधारण वस्तु भी बिना देखे समझमें आनी कठिन है, तब फिर उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्य बिना प्राप्त किये कैसे समझ सकता है और दूसरा कैसे उसे समझा सकता है। फिर भी शास्त्र तथा आचार्यगण वाणीद्वारा जितना समझाया जाना सम्भव है, उतना समझाते ही हैं; परंतु यथार्थतः कोई नहीं समझा सकता। सभी आचार्योंके समझानेके तरीके अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार पृथक्-पृथक् हैं। तर्ककी कसौटीपर कसनेसे तो कोई भी मत अकाट्य, निर्दोष और युक्तिसंगत नहीं ठहरता। जैसे बीस सम्प्रदायोंमेंसे एक सम्प्रदाय किसी एक सिद्धान्तको निश्चित करता है तो शेष उन्नीस सम्प्रदाय उसके विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय अन्य उन्नीस सम्प्रदायोंसे विरुद्ध पड़ जानेके कारण तर्कसे कोई भी युक्तिसङ्गत नहीं कायम होता।

इसी प्रकार गीतापर भी सैकड़ों टीकाएँ हैं; उनमें कौन-सी टीका सही है, किसका अर्थ ठीक माना जाय ? क्योंकि सभीमें मतभेद है, सभीका अर्थ भिन्न-भिन्न है। सौ टीकाओंमें एक टीकाका अन्य निन्यानबे टीकाओंसे स्वाभाविक ही मतभेद एवं विरोध हो जाता है। इसलिये सभीमें परस्पर विरोध सिद्ध होता है। किंतु

जितने भी टीकाकार हैं, गीताके मूल श्लोकोंको वे सभी समानभावसे मानते और आदर करते हैं; मूलमें प्रायः किसी भी सम्प्रदाय अथवा टीकाकारका मतभेद नहीं। इसी प्रकार मूलभूत जो परमात्माका स्वरूप है, वह एक है और परम सत्य है तथा मन-वाणीका अविषय है।

ऐसे उस अत्यन्त विलक्षण परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये साधकको ईश्वरकी और महापुरुषोंकी शरणमें जाना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८।६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरण जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

तथा श्रीविष्णुसहस्रनाममें कहा है—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥
(१३०)

'जो भगवान् श्रीवासुदेवके ही शरण है और श्रीवासुदेवके ही परायण है, वह समस्त पापोंसे रहित विशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य सनातन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है।'

एवं महापुरुषोंकी शरणमें जानेके लिये भी भगवान् गीतामें कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
(४।३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

यही परमात्माकी प्राप्ति है; इसीको परम धाम, परम गति, परम अक्षर, अव्यक्त गति आदि अनेकों नामोंसे कहा है। भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
(गीता ८।२१)

'जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परमधाम है।'

इसकी प्राप्ति उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेपर होती है। अतएव जिस साधकको परमात्माके जिस स्वरूपमें श्रद्धा और रुचि हो, उसी स्वरूपको लक्ष्य बनाकर विवेक और वैराग्ययुक्त चित्तसे कटिबद्ध होकर साधन करना चाहिये।

निर्विशेष सविशेष प्रभु निराकार साकार।
सत्, सत्वमें, सत्वसे परे, निर्विकार सविकार ॥
पुरुष परात्पर प्रेममय, अंशी अमल अनूप।
चिन्मय अचिन्त्य अनन्त अज दिव्य स्वरूप अरूप ॥

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३९)

ब्राह्ममुहूर्त आरम्भ होते ही व्रजपुरका, वृन्दावनका आकाश विविध मङ्गलवाद्योंकी ध्वनिसे, आभीरसुन्दरियोंके मङ्गलगानसे परिपूर्ण होने लग गया। आज यशोदाके नीलमणि वत्सचारण जो प्रारम्भ करेंगे। गोप, गोपसुन्दरियाँ, वयस्क गोपशिशु—सभी प्रायः समस्त रात्रि जागते रहे हैं। व्रजेश्वरने, व्रजरानीने भी विश्राम नहीं किया। प्रत्येक प्रासादको, तोरण, गृहद्वार, वीथीको सजानेमें पुरवासी तन्मय थे, व्रजेश निरीक्षणमें व्यस्त थे और व्रजरानीके लिये तो जागना आवश्यक हो गया था, क्योंकि उनके नीलमणि रह-रहकर नेत्र खोल देते, शय्यापर उठ बैठते। नीलमणिको प्रतीत होता—प्रभात हो गया है, अब शीघ्र गोवत्सोंको लेकर वनकी ओर चल देना है। उत्साहवश कभी-कभी तो शयनागारसे भाग छूटनेका प्रयत्न करते। जननी किसी प्रकार समझा-बुझाकर पुनः सुला पातीं। इस अवस्थामें जननी निद्रित कैसे हों? और अब तो बाजे बजने लगे हैं, फिर श्रीकृष्णचन्द्र धैर्य रख सकें, यह तो असम्भव है। मैयाने द्वार बंद कर लिये थे, कपाटके ऊपरकी साँकल लगा दी थी, अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्र शय्यासे कूदकर ऐसे भागे थे कि अतिशय सावधान रहनेपर भी यशोदा मैया उन्हें एक बार तो नहीं ही पकड़ पातीं। द्वार रुद्ध है, नन्हे-से नीलमणिके लिये उस साँकलको छू लेना सम्भव नहीं है, इसीलिये मैयाने द्वारपर आते ही उन्हें पकड़ लिया है, नहीं तो, कहीं गोष्ठमें जाकर ही मैया नीलमणिके दर्शन पातीं। जो हो, जननी अनेकों भुलावे देकर श्रीकृष्णचन्द्रको जैसे-तैसे कुछ देर और रोक सकीं। जब बलराम आ गये, कुछ वयस्क गोपशिशु भी आ पहुँचे तो उनके संरक्षणमें पुत्रको सौंपकर वत्सचारणमहोत्सवकी व्यवस्थामें योगदान करने मैया स्वयं भी चल पड़ीं।

स्वर्णिम रविरश्मियोंके आलोकमें पुरीकी शोभा देखने ही योग्य है। कदलीस्तम्भ, द्वार-द्वारपर स्वर्ण-मङ्गलघट, ध्वजा, पताका, वन्दनवार, पुष्पवितान आदिसे कलामर्मज्ञ गोपोंने मानो एक नवीन पल्लवपुष्पमय पुरकी रचना कर दी हो। शोभा देखकर व्रजरानीको स्वयं आश्चर्य हो रहा है कि केवल चार प्रहरमें ही गोपोंने पुरीकी आकृति ही बदल दी है। इससे पूर्व बृहद्वनका व्रजपुर न जाने कितनी बार सज्जित हुआ है। मैया प्रसूतिगृहमें थीं, नीलमणिका जन्म हुआ था, उस समय भी पुरी सजी थी। नीलमणिके अन्नप्राशनके दिन भी व्रजेश्वरने एक चमत्कार मूर्त किया था। वर्षगाँठके अवसरपर भी गोपोंने गोकुल सजाया था। पर आज वत्सचारण-महोत्सवके समयकी शोभा तो कुछ और ही है। मैयाका रोम-रोम उल्लाससे भर जाता है। अवश्य ही मैयाको अब पुरशोभानिरीक्षणका अवकाश नहीं रहा है। मङ्गलगान करती हुई, विविध वेषभूषासे सज्जित, हाथमें मङ्गलद्रव्यपूरित थाल लिये दल-की-दल गोपसुन्दरियाँ नन्दभवनकी ओर आ रही हैं, और अभी उन्होंने अपने नीलमणिका शृङ्गार भी नहीं किया है। करतीं कैसे? उमङ्गमें भरे श्रीकृष्णचन्द्र दाऊ एवं गोपशिशुओंके साथ न जाने कहाँ-से-कहाँ फुदकते फिर रहे थे। वत्सचारणके सम्बन्धमें न जाने क्या-क्या मन्त्रणा कर रहे थे। परिचारिकाएँ उन्हें बड़ी कठिनतासे ढूँढकर अब ले आयी हैं। अतः मैयाको सर्वप्रथम नीलमणिका शृङ्गार करना है और इसीलिये वे नीलमणिका हाथ पकड़े शीघ्र ही अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो गयीं।

श्रीरोहिणीजी बलरामको सजाने लगीं और यशोदा मैया नीलमणिको। बलरामने तो देखते-ही-देखते जननीके धराये शृङ्गारको धारण कर लिया। पर

नीलमणि इतने सहजमें वस्त्राभूषण धारण कर लें, यह कैसे हो ? फिर भी अन्य दिनोंकी अपेक्षा आज उन्होंने कम चञ्चलताका प्रकाश किया। उन्हें वन जानेकी त्वरा अवश्य है, पर साथ ही वे जानते हैं कि बिना शृङ्गार धराये मैया जाने नहीं देंगी। इसीलिये जननीको आज मनमाना शृङ्गार धरानेका प्रथम अवसर मिला है। अपने असीम वात्सल्यपूरित करोंसे व्रजरानीने पुत्रके महामरकत श्यामल अङ्गोंमें उबटन लगाया, उष्णवारिसे स्नान कराया, अङ्ग-परिमार्जन किया तथा फिर वस्त्र-आभूषण धारण कराने लगीं। शृङ्गार पूरे होते-न-होते नीलमणिका भुवनमोहन सौन्दर्य निहारकर मैया भ्रान्त होने लगीं। कहाँ क्या धारण कराना है, यह ज्ञान खो बैठीं, और अवशिष्ट शृङ्गारमें प्रमाद करने लगीं। यह देखकर श्रीरोहिणीके नेत्र प्रेमवश छलछल करने लगे। पर अब विलम्ब जो हो रहा है। इसलिये जननीके हाथसे लेकर शेष आभूषणोंको उन्होंने स्वयं धारण करा दिया।

जननी पुत्रके मुखचन्द्रसे झरती हुई सौन्दर्य-सुधाका पानकर तन्मय हो रही थीं, पर सहसा उनके वात्सल्य-सिन्धुमें एक आवर्त उठा और वे ऊपर उठ आयीं। जननीको आशङ्का हुई—'मेरा नीलमणि नित्य नव सुन्दर है, क्षण-क्षणमें इसका लावण्य परिवर्द्धित होता है, और आज इसे मैंने इतने शृङ्गार धराये हैं, कदाचित् किसीकी दृष्टि लग गयी तो ?' जननीने अविलम्ब सुकोमल तूलिकाको काजलसे भर लिया और नीलमणिके विशाल भालपर काजलकी टेढ़ी रेखा खींच दी। फिर भी जननीके हृदयका स्पन्दन शान्त नहीं हुआ। 'काजलका यह दिठौना सभी दृष्टिदोषके लिये पर्याप्त नहीं, असुरोंकी कराल दृष्टिमें इस बिन्दुका मूल्य ही क्या है ?'—जननी आकुल प्राणोंसे मन-ही-मन अपने प्राणसारसर्वस्व नीलमणिकी रक्षाके लिये श्रीनारायणदेवसे प्रार्थना करने लगीं, सर्वभयहारी तो एकमात्र श्रीनारायण ही हैं—

बच्छ चरावन जात कन्हैया।
उबटि अंग अन्हवाय लाल कौं फूली फिरत मगन मन मैया॥
निज कर करि सिंगार बिबिध बिधि, काजल-रेख भालपर दीन्हीं।
दीठि लागिबेके डर जसुमति इष्टदेवसों बिनती कीन्हीं॥

अबतक नन्दभवनका प्राङ्गण गोप-गोपियोंसे पूर्ण हो चुका है। महर्षि शाण्डिल्य एवं अन्यान्य ब्राह्मणगण भी पधार गये हैं। पूजनवेदिकाके समीप व्रजेन्द्र भी श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतीक्षा-सी कर रहे हैं। कुछ क्षण पूर्व व्रजेश पुत्रका शृङ्गार होते देख आये हैं और देख आये हैं व्रजरानीकी विह्वल दशा। श्रीकृष्णचन्द्रकी वह अप्रतिम झाँकी, जननीका वह प्रेमावेश, व्रजेशके नेत्रोंमें, मनमें प्रविष्ट हो गया है। वास्तवमें इनके अतिरिक्त उन्हें इस समय और कुछ भी भान नहीं है। कदाचित् व्यवस्थाका भार उपनन्दजीपर नहीं होता, वे व्रजेशके समीप इस समय नहीं होते तो फिर व्रजेश्वरके द्वारा तो पूजन आदि कर्म होनेसे रहे। रह-रहकर उनके नेत्र भर आते हैं, स्वेद, कम्प आदि प्रेमविकार भी अङ्गोंमें व्यक्त होने लगे हैं; किंतु मैया इसी समय श्रीकृष्णचन्द्रको, बलरामको सजाकर, भोजनसे परितृप्तकर साथ लिये वेदीके समीप आ जाती हैं। तुमुल आनन्द-कोलाहलसे प्रासाद मुखरित होने लगता है। बस, इसीने व्रजेन्द्रकी रक्षा कर ली, अथवा अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने ही समयोचित कर्मके लिये व्रजेश्वरको जगा दिया, भावके प्रखर प्रवाहको शिथिल कर दिया; नहीं तो प्रेमविवश व्रजराज सचमुच मूर्च्छित होकर गिर पड़ते।

पूजन आरम्भ हुआ। कलश-स्थापन आदि हुए। यज्ञके यजमान महाराज नन्दके हाथोंसे ही कर्मसम्पन्न होने लगे। पर हो रहे हैं यन्त्र-परिचालितसे। क्योंकि व्रजेश कलशमें पञ्चरत्न निक्षेप कर रहे हैं, उस समय भी उन हीरक, माणिक्य, वैदूर्य, पुष्पराग, इन्द्रनील रत्नोंमें उन्हें अपने पुत्रकी छवि अङ्कित प्रतीत होती है। वे धान्यपूर्ण पात्र कलशपर स्थापित अवश्य कर

देते हैं, पर उस पात्रमें उन्हें यशोदा रानीके शृङ्गारसे सज्जित श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिच्छायाके ही दर्शन होते हैं। अर्घ्यस्थापन भी उन्होंने किया, पर अर्घ्यपात्रमें भी उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र ही समाये हुए प्रतीत हुए। विशेषतः जब पुण्याहवाचनके लिये ब्राह्मणवरणका अवसर आया, तथा फिर 'भो ब्राह्मणाः! मम गृहे पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्तु'* आदि कहनेकी बारी आयी, उस समय तो व्रजेशके होठोंपर केवल स्पन्दनमात्र हुआ। अवश्य ही महर्षि शाण्डिल्यके कर्णरन्ध्रोंमें मानो किसीने उसी क्षण अमृतसिञ्चन कर दिया। उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ—व्रजेशके ओष्ठस्पन्दनके अन्तरालसे वीणाविनिन्दित स्वरमें श्रीकृष्णचन्द्र ही यजमानकी इस क्रियाको सम्पन्न कर रहे हैं; वही मधुस्यन्दी स्वर है, वैसी ही मधुरातिमधुर आकृति है। फिर तो जो दशा यजमानकी थी, वही याजक महर्षिकी भी हुई। अग्रिम मन्त्रपाठ आदि सब कुछ यथाविधि महर्षिने किये अवश्य, पर किये यन्त्रवत् ही। उनके नेत्र-मन-प्राणोंमें भी व्रजराजमहिषीके शृङ्गारसे विभूषित श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त और कुछ रहा ही नहीं। जिस समय वे बलराम एवं श्रीकृष्णचन्द्रके भाल-पर अपने शुभ हस्तोंसे कुङ्कुमतिलक लगाने चले, उस समय तो यह स्पष्ट ही हो गया—महर्षि किसी दिव्यातिदिव्य आवेशसे अभिभूत हैं। जो हो, पूजन, पुण्याहवाचन आदि कर्म साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हुए तथा व्रजराज आजके इस पुण्यमय शुभ दिन, शुभ मुहूर्तमें राम-श्यामके द्वारा वत्सपालन-कार्यका श्रीगणेश करवाने चले—

पुण्यदिनमवधार्य पुण्याहवाचनादिकमपि लब्धार्यं ताभ्यां गोवालपालनारम्भमाचारयाम्बभूव।
(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु अभी तो महोत्सवका अर्द्धांश ही सम्पन्न हुआ है। अभी तो महर्षिको अगणित गोपशिशुओंके तिलक करने हैं। गण्यमान्य पुरवासी गोपोंने निश्चय कर लिया था, व्रजेशपुत्रके वत्सचारणमहोत्सवके दिन ही समवयस्क अपने पुत्रोंको भी वत्सपाल बना देना है। सबका एक साथ सम्मिलित महामहोत्सव होगा। महर्षि शाण्डिल्यके वरद हस्तसे तिलक करानेका सौभाग्य सहज-में प्राप्त नहीं होता। गोपमण्डलके इस विचारका अनुमोदन व्रजेशने भी आन्तरिक प्रसन्नतासे किया था। अतः ज्यों ही राम-श्यामके तिलककी क्रिया सम्पन्न हुई, वैसे ही गोपशिशुओंकी श्रेणी लग गयी। महर्षि योजना-से अवगत हैं ही। व्रजेश्वर आज केवल अपने महोत्सव-के ही यजमान नहीं, अपितु समस्त व्रजगोपोंका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं यह ध्यानमें रखकर ही उन्होंने समस्त देवपूजादि कर्म करवाये थे। अब शेष कार्य भी सम्पन्न करने चले, क्रमशः गोपशिशुओंको तिलक लगाने लगे। प्रत्येक गोपबालकका स्पर्श महर्षिको परमानन्दमें निमग्न कर दे रहा है। बालकोंके अभिभावकोंके आनन्दका तो कहना ही क्या है! उत्सव मनाकर, परमानन्दमें निमग्न होकर उन्होंने अपने पुत्रोंको भी राम-श्यामके साथ ही वत्सपाल जो बना लिया!—

ताभ्यामेव सह महागोपाला महं विधाय मनसि च सुखं निधाय निजनिजबालान् वत्सपालान् कलयामासुः। (श्रीगोपालचम्पूः)

आज दानदक्षिणाका कार्य व्रजेश्वर नहीं, व्रजरानी कर रही हैं। समागत शत सहस्र ब्राह्मणोंको व्रजेश्वरी मुक्तहस्त होकर स्वर्णदान दे रही हैं और प्रत्येकसे अञ्जलि बाँधकर अपने नीलमणिके मङ्गलका आशीर्वाद ले रही हैं—

बिप्र बुलाय दान करि सुबरन सबकी सुखद असीसें लीन्ही।

इन सब कार्योंमें दिनका प्रथम प्रहर समाप्त हो जाता है। श्रीकृष्णचन्द्र अब आकर प्राङ्गणमें खड़े हो जाते हैं। अगणित गोपशिशु उन्हें चारों ओरसे घेर

* ब्राह्मणदेव! मेरे घर आप पुण्याहवाचन करें।

लेते हैं। व्रजेश्वर अपने पुत्रके समीप पुनः चले आते हैं। आकर एक छोटी-सी अरुणवर्ण छड़ी पुत्रके सुन्दर करकमलोंमें दे देते हैं। ओह! उस समय सखापरिवेष्टित श्रीकृष्णचन्द्रकी यह शोभा कितनी मनोहर है!

सोहत लाल लकुट कर राती।
सूथन कटि चोलना अरुन रँग पीतांबर की गाती॥
ऐसेहि गोप सबै बनि आए, जो सब स्याम सँगाती॥

व्रजेश्वरकी आज्ञासे आज गोवत्सोंका भी अतिशय सुन्दर शृङ्गार हुआ है। उनपर भी मानो किसी दिव्य आवेशकी छाया पड़ी है। सभी सिर उठाये शान्त होकर नन्दभवनकी ओर ही देख रहे हैं, जैसे अपने नये पालककी प्रतीक्षा कर रहे हों। श्रीकृष्णचन्द्र भी आ ही पहुँचे, एक हाथमें पितृप्रदत्त लकुट एवं दूसरेमें वंशी धारण किये गोवत्सोंकी ओर वे दौड़े आ रहे हैं। उनपर दृष्टि पड़ते ही इन गोवत्सोंमें जो आनन्दकी लहर परिलक्षित हुई, उसे देखकर गोपमण्डली अवाक् रह गयी। कूदनेके अतिरिक्त इन गोशावकोंके पास अन्य साधन नहीं जो वे अपने आनन्दको व्यक्त कर सकें। इसीलिये वे केवल कूदनेमात्र लगे। पर आज उनका चौकड़ी भरना अद्भुत ही है, सर्वथा विलक्षण है। कुछ रक्षक गोपोंने उन्हें शान्त करनेका प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। हाँ, जब श्रीकृष्ण उनके मध्यमें आकर खड़े हो गये और अपने नन्हेसे वंशीविभूषित हाथको ऊपर उठा लिया, तो फिर प्रत्येक गोवत्स जहाँका तहाँ रहकर ही शान्त हो गया। इस प्रकार मानो अपने इस नवीन पालककी रक्षकमात्र इच्छाकी भी वह कदापि अवज्ञा नहीं करेगा, इसका प्रमाण दे रहा हो! यह दृश्य निहारकर आनन्दविह्वल गोपमण्डलीके कण्ठसे बरबस निकल पड़ता है—वत्सपाल नन्दलालकी जय हो!

और तो सब कुछ हो गया, केवल दो कार्य अवशिष्ट रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गुरुजनोंके चरणोंमें मस्तक रखकर, प्रत्येकका आशीर्वाद लेकर ही वन जायँगे। और दूसरे, मैयाने निश्चय कर रक्खा है कि 'गोपकुलकी रीति चाहे न हो, पर नीलमणिके, बलरामके सुकोमल चरणोंमें उपानह् धारण कराये बिना वन भेजना कैसे सम्भव है? मणिमय राजपथ सर्वत्र तो है नहीं, वन्य पगडंडियोंपर ही नीलमणिको चलना है, उपानह्के बिना रेंगनेवाले कीट, कण्टक, क्षुरधार-प्रस्तरखण्डोंसे मेरे लालके सुकोमल चरणतलोंकी रक्षा कैसे होगी? व्रजेश्वरसे परामर्श किये बिना ही उन्होंने दोनोंके लिये अतिशय सुन्दर उपानह् मँगवाकर रख भी लिये हैं। वे तो प्रतीक्षा कर रही हैं, गुरुजन-वन्दना हो जानेभरकी देर है, फिर वे स्वयं उपानह् धारण कराने जायँगी! दूसरेको तो कदाचित् वयोवृद्ध गोप रोक दें, पर उन्हें कोई नहीं रोकेगा। अस्तु, व्रजेश्वरका सङ्केत पाकर श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्सोंके बीचसे एक बार पुनः बाहर आ जाते हैं एवं बाहर आकर—भले ही प्राकृत मन इसे हृदयङ्गम न कर सके, पर यह सर्वथा सत्य है—देखते-ही-देखते, आधी घड़ी भी पूर्ण होते-न-होते, वे महर्षि शाण्डिल्यसे आरम्भकर शत-सहस्र ब्राह्मणोंके, असंख्य वयोवृद्ध गोप-गोपियोंके चरणोंमें प्रणिपात कर लेते हैं। सबने स्पष्ट अनुभव किया है, यशोदाके नीलमणि आये हैं, उनके चरणोंमें सिर रख दिया है, एक परमसुखमयी तडित्-लहरी-सी उनके अङ्गोंमें व्याप्त हो गयी है, अन्य समस्त अवयव तो निष्पन्द हो गये हैं, वाणी रुद्ध हो गयी है, केवल निर्निमेष नयनोंके पथसे आशीर्वादरूप कुछ शीतल वारिबिन्दु बाहर निकल आये हैं, और इस प्रकार प्रत्येक गोप-गोपीने नीलमणिकी वन्दनाका अभिनन्दन किया है। जो हो, तीनकी वन्दना और करनी है—व्रजेशकी, श्रीरोहिणीकी और अपनी जननीकी। यह भी सम्पन्न हुआ। पर इस वन्दनाके समय वात्सल्यरसकी जो शतसहस्र मन्दाकिनी प्रवाहित हुई, उसे चित्रित करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं। किसी अचिन्त्य शक्तिने ही व्रजेशको, श्रीरोहिणीको, व्रजरानीको तुरंत प्रकृतिस्थ कर दिया, नहीं तो आज अभी जैसी उनकी दशा हुई थी, उसे देखते तो वत्सचारण स्थगित ही रहता!

अब सहसा गोपशिशु एक साथ ही शृङ्गध्वनि कर उठते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने कल ही कुछ अपनी योजना भी बना ली थी। कैसे क्या-क्या करना है, यह सब कुछ सखामण्डलीने भी स्थिर कर रक्खा था। उसी योजनाके अनुसार यह शृङ्गध्वनि हुई है। वयस्क गोपोंके आनन्दका पार नहीं रहता। उन्हें प्रतीत हुआ—यह तो परम शुभ शकुन है, अपने आप ये सब शिशु वत्सचारणकी प्रणालीका अनुसरण कर रहे हैं, यह कितने सौभाग्यकी बात है। पर यशोदारानीका ध्यान इस ओर नहीं, वे तो शृङ्गध्वनि सुनते ही उपानह लेकर दौड़ीं और उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें धारण कराने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र पहले तो समझ ही नहीं पाये कि मैया क्या करने जा रही हैं, पर जब उपानह्की ओर दृष्टि गयी तब तो वे बड़ी शीघ्रतासे कूदकर अलग खड़े हो गये। जननीने दौड़कर पुनः हाथ पकड़ लिये। पर आज कुछ भी हो, नीलमणि मैयाकी इस मनुहारको तो कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने उपानह् धारण करना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। यशोदारानी कितनी ही युक्तियाँ दे गयीं, पर श्रीकृष्णचन्द्र सबके उत्तरमें 'नहीं-नहीं' ही करते गये, उपानह्को वहाँसे हटाकर ही वे शान्त हुए—

'कृष्णस्त्वानीते उपानहौ नहि नहिकारेण वहिश्चकार',

(श्रीगोपालचम्पूः)

मैयाने अन्तिम नीतिका अवलम्बन किया—'कदाचित् बलराम उपानह् धारण कर ले तो नीलमणि भी सम्भवतः बात मान ले।' पर अग्रज एवं अनुजके हृत्तन्त्रीके स्वर भिन्न नहीं होते, मैया इस बातको भूल गयी हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके हृद्गत भावोंकी छाया ही रामकी इच्छा है। इस समय अपने अनुजके हृदयका स्पन्दन क्या है, कैसा है, इसे राम अनुभव कर रहे हैं। वे भला उपानह् स्वीकार करेंगे? उन्होंने भी अस्वीकार कर दिया—

'ततः कृष्णभावमनुभवता रामेणापि तथानुमतम्'

(श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, अतिकाल न हो जाय, इसलिये व्रजेश्वरने महर्षिकी ओर देखकर सङ्केतमें ही कुछ निवेदन किया तथा महर्षिने भी व्रजराजकी प्रार्थनाका अनुमोदन करते हुए शङ्खध्वनि कर दी। जननीने अपने प्राण-सर्वस्व नीलमणिकी, बलरामकी आरती उतारी, व्रजपुरन्ध्रियोंने पुनः मङ्गलगीत आरम्भ किये तथा सबके नेत्रोंको शीतल करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रने वत्सचारणके लिये प्रस्थान किया—

चले हरि बत्स चरावन आज।
मुदित जसोमति करत आरती साजे सब सुभ साज॥
मंगलगान करत ब्रजबनिता, मोतिन पूरे थाल।
हँसत हँसावत बत्स-बाल सँग चले जात गोपाल॥

प्रत्येक द्वारपर ही राम-श्याम रुक रहे हैं, अतिशय आह्लादसे पूर्ण गोपरामाएँ बहुमूल्य राशि-राशि रत्नोंसे उनका निर्मञ्छन कर रही हैं, अतिशय दीप्तिमान् मणियोंसे आरती उतार रही हैं तथा प्रफुल्ल सुरभित कुसुमोंकी वर्षा तो सब ओरसे निरन्तर हो रही है—

प्रत्यागारद्वारं सर्वाभिरनर्वाचीनाभिर्वरवर्णिनीभिर्महार्घैर्निर्मञ्छ्यमानौ दीपायमानमणिभिर्नीराज्यमानौ प्रफुल्लसुरभिप्रसूनैरभिवृष्यमाणौ××× प्रतस्थाते।

(श्रीगोपालचम्पूः)

क्रमशः पुरकी सीमाका अतिक्रमण कर श्रीकृष्णचन्द्र वनकी सीमापर आ जाते हैं। व्रजेश, व्रजरानी एवं समस्त पुरवासी भी उनके साथ आये हैं। पर यदि ये आगे भी साथ ही गये तब तो श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वच्छन्दता कहाँ रही? अतएव नन्दनन्दन यहाँ हठ कर बैठते हैं कि अब इससे आगे गोप, बाबा, मैया आदि कोई भी साथ न जाय, वे केवल सखा-मण्डलीके साथ वनमें वत्सचारण करने जायँगे। सभी निश्चित करके आये थे कि आज श्रीकृष्णचन्द्रको पुरकी सीमासे ही लौटा लेंगे, पर श्रीकृष्णचन्द्रका निश्चय तो उनसे सर्वथा भिन्न है; वे तो आज वनमें अवश्य जायँगे ही। पुत्रके अतिशय आग्रहके सामने व्रजेशको झुकना ही पड़ा। उन्होंने

सम्मति दे दी; किंतु मैयाका हृदय तो दुर-दुर कर रहा है। वे जब अपने नीलमणिके सुकोमल चरणसरोजकी ओर देखती हैं तो उनका मन अगणित अनिष्ट आशङ्काओंसे पूर्ण हो जाता है। 'कम-से-कम यह उपानह् ही पहन लेता तो कुछ तो रक्षा होती ही।'—मैयाके हृदयमें पुनः बार-बार इस भावनाका उन्मेष होने लगता है; और वे पुनः अपने पुत्रके समीप यह प्रस्ताव रखती हैं। पर नीलमणि टस-से-मस नहीं होते। हारकर मैया बलरामपर ही नीलमणिकी सारी सँभालका भार सौंपती हैं। इतना ही नहीं, अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे बलरामकी ओर देखकर उनके हाथमें वे अपने नीलमणिका हाथ पकड़ा देती हैं। कहाँ, कब, कैसे नीलमणिकी रक्षा करनी चाहिये, इस सम्बन्धमें रोहिणीनन्दनको विविध उपदेश देने लगती हैं—

कर पकराइ नयन भरि अँसुअन सकल सँभार दाउए दीन्हीं।

मैयाकी इस आकुलताकी छाया मानो गोवत्सोंको स्पर्श करती है; वे जननीकी हृदयवेदनाको जैसे जान गये हों। सचमुच उपानह्की समस्याको तो उन्होंने प्रकारान्तरसे हल कर ही दिया। वे पाँच-दस तो हैं नहीं, इतनी अधिक संख्यामें हैं कि उनकी गणना होनी अत्यन्त दुष्कर है। और वे कूदते हुए आगे बढ़ रहे हैं, अपने तीक्ष्ण खुरोंसे पृथ्वीको खोदते हुए, वनपथकी रजःकणिकाओंको पीसते हुए जा रहे हैं। उन असंख्य गोशावक-खुरोंके आघातसे वह मृण्मयी रेणुका पुष्पपराग-जैसी सुकोमल बन गयी है। कंकड़, कण्टक आदि भी चूर्ण-विचूर्ण हो गये हैं। श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय सुखपूर्वक उस भूमिपर अपने चरण-निक्षेप कर सकें, ऐसा उसे उन सबने बना डाला है—

दुष्करगणनानि गोधनानि तु नूनं कृततदवधानानि तदानुकूल्याय प्रखरखरखुरखननखुरलीभिर्मृण्मयरेणूनपि पुष्परेणूनिव विधाय शर्कराकण्टकादिकमपि खण्डशस्तथा सन्धाय तदीयचरणप्रचारभूमिं सुखसञ्चारतया कारयामासुः।

इसके अतिरिक्त—

जे पद-पदुम सदासिवके धन, सिंधु-सुता उर तें नहिं टारे।
जे पद-पदुम तात-रिस-त्रासत, मन-बच-क्रम प्रह्लाद सँभारे॥
जे पद-पदुम-परस-जल-पावन-सुरसरि-दरस कटत अघ भारे।

श्रीकृष्णचन्द्रके इस महामहिम चरणसरोजोंका स्पर्श पाकर वसुधा स्वयं नित्य पुलकित होती रहती है, धराकी अधिष्ठात्रीको आज इस समय भी प्रतीत हो रहा है, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणसञ्चारणसे सुधाकी वर्षा हो रही है, उससे उनका अणु-अणु सिक्त हो रहा है। वृन्दाकाननकी अधिदेवी भी, जिस पथसे श्रीकृष्णचन्द्र आयेंगे, जहाँ-जहाँ उनके लीला-विहारकी मन्दाकिनी प्रसरित होगी, उसे सँवारनेमें स्वयं व्यस्त हैं, अपने कोषकी समस्त सम्पदा देकर वे धराको सहयोग दान कर रही हैं। व्रजेन्द्रनन्दनके सुकोमल चरण स्थापित होने योग्य रूप तो भूमि अपने-आप धारण कर रही है, अवशिष्ट आवश्यक श्रृङ्गारसे स्वयं विभूषित होती जा रही है—

वसुधा च सुधासेकमेव तदीयचरणसञ्चारणेन मन्वाना वृन्दया सह च योगं तन्वाना तदानुकूल्यावशेषं निरवशेषं चकार। (श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, अभी भी अपने बाबाको, जननीको अनुगमन करते देख श्रीकृष्णचन्द्र उनसे लौटनेका आग्रह करते हैं। 'बाबा! अब आगे मत जाओ। मैया! देख, तू कितनी दूर आ गयी, अब लौट जा। सचमुच तू विश्वास कर ले, हम सबको वत्सचारण करना आता है, किसी प्रकारकी आशङ्का तुम सब मत करो।'—इस प्रकार अपने मधुकण्ठसे व्रजदम्पतिको आप्यायित करते हुए उन्हें वहींसे लौटा देनेके लिये वे तुल गये। पुत्रके इस प्रेमिल आग्रहके सामने नन्ददम्पतिकी एक नहीं चलती। वे लौटना स्वीकार कर लेते हैं, पर लौटनेसे पूर्व वात्सल्यकी सरस धारा बहाते हुए दोनों अपने पुत्रको न जाने कितनी शिक्षा दे जाते हैं। शिक्षाका सारांश इतना ही है—'मेरे लाल! दूर मत जाना।

बस, यहीं आगेकी इस हरित तृणसङ्कुल भूमिपर ही आज वत्सचारण करा लेना। विलम्ब मत करना भला! शीघ्र घर लौट आना!' इस प्रकार पुत्रको समझा-बुझाकर व्रजेश्वर-व्रजरानी—दोनों लौटे तो अवश्य, पर अपने मन-प्राण आदि सब कुछ वहीं नीलमणिके पास ही रख आये। वास्तवमें उनका शरीरमात्र ही लौटा; मन-प्राणकी छायामात्र शरीरके साथ लौटी। दोनोंको नेत्रोंसे स्पष्ट दीख रहा है—राम-श्याम सखाओंके साथ खेलते हुए गोवत्सोंका सञ्चालन कर रहे हैं। सचमुच प्रथम दिन ही श्रीकृष्णचन्द्रका वत्सचारण ठीक ऐसा होता है, जैसे वे इसके चिरअभ्यस्त हों—

एवमनुयान्तं पितरमनुयान्तीं च मातरं विलोक्य निवर्तेतां भवन्तौ वयमत्राभियुक्ता नात्र शङ्का करणीयेति वदति तनये मा दूरं गाः—इत एवाद्य चारयस्व वत्सान् मा विलम्बश्च कार्यः शीघ्रमेवागन्तव्यमिति च ब्रुवाणौ पितरावथ निवर्त्य सबलः सबालसहचरः सकौतुकमेव प्रथमेऽहनि कृताभ्यास इव वत्सान् चारयामास।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्रकी साध पूरी हुई। गोवत्सोंके साथ न जाने उन्होंने कितने कौतुक किये, उन्हें अपने योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ स्पर्शसुखके दानसे परम सुखी बनाकर कितनी-कितनी क्रीडाएँ कीं। कभी तो वे गोवत्सोंका मुख-चुम्बन करते और कभी हरित-सुकोमल दूब अपने श्रीहस्तोंसे तोड़-तोड़कर उन्हें खिलाते। किसी गोवत्सको अपनी अञ्जलिसे जल पिलाते। किसीके लिये अपना पीताम्बर आर्द्र कर उसे उसके मुखमें निचोड़ते। इन अगणित मनोहारिणी लीलाओंको देख-देखकर अन्तरिक्षमें अवस्थित देववृन्द विस्मित हो रहे हैं। वे नहीं जानते, सर्वथा प्राकृत शिशुकी भाँति इन मोहिनी लीलाओंके अन्तरालमें अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी कौन-सी गूढ़ अभिसन्धि सन्निहित है। जान सकते भी नहीं। जगत्‌में ऐसा कोई भी नहीं, जो नराकृति परब्रह्मकी इन लीलाओंका मर्म जान ले। वे इनकी ओटमें क्यों कब क्या करना चाहते हैं, इसे कोई नहीं जानता—

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्।

(श्रीमद्भा० १।८।२९)

अस्तु, रह-रहकर आकाशमें देववाद्य बज उठते हैं 'बाल्यलीलाविहारिन्! श्रीकृष्णचन्द्र! जय! जय!' का उन्मादी नाद गूँज उठता है। गोपबालक चकित-चित्त होकर आकाशकी ओर देखते हैं, पर उन्हें कुछ भी दीखता नहीं। पर अब तो उन्हें भोजन करना है, मैयाकी भेजी हुई छाक आ गयी है। श्रीकृष्णचन्द्र फूले नहीं समाते। आज उन्हें यह प्रथम अवसर मिला है कि इतने सखाओंके साथ बैठकर, परम स्वतन्त्र होकर वे वनमें भोजन करें। उनके सुखकी सीमा नहीं रहती। बछड़ोंको हरी दूबपर छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्र सखामण्डलीके साथ भोजन करने बैठते हैं। शिशुओंके तुमुल आनन्द-कोलाहलसे वन प्रतिनादित होने लगता है।

भोजन हुआ, किञ्चित् विश्राम भी हुआ, अनन्तर मोहनवंशीके छिद्रोंसे रसकी वर्षा आरम्भ हुई। स्वरलहरीके तालपर गोपबालक नृत्य करने लगे, साथ ही वे असंख्य गोवत्स भी झूमने लगे और निष्पन्द हो गये समस्त वनविहङ्गम, कपिवृन्द, मृगयूथ। यदि दिन बहुत अधिक ढल नहीं गया होता तो न जाने इस रस-सरिताके प्रवाहमें गोपशिशुओंकी क्या दशा होती! पर अब शीघ्र व्रजमें लौटना है, इसीलिये स्वरलहरीका क्षणिक विराम हो गया।

गोवत्सोंको एकत्र कर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजपुरकी ओर लौट चले। इस प्रकार मानो एक अनन्त पारावारविहीन सौन्दर्य-सिन्धु उमड़ा आ रहा हो, शोभासिन्धुके

अधिदेवता ही श्यामसुन्दरमें समाये स्वयं आ रहे हों, उन परम सुन्दर अधिदेवको अनन्त असंख्य सुन्दर लीला-लहरियाँ घेरे आ रही हों; उनके अधरपुटपर सुन्दर रसमय वाणीकी लहरें हों, सुन्दर कपोलोंपर लावण्यकी लहर हो, सुन्दर वक्षःस्थलपर वनमालाकी उज्ज्वल लहरें नाच रहा हों, सुन्दर चरणके समीप अरुणिम लहरें उठ रही हों, सुन्दर नखावलिपर उज्ज्वल लहरोंकी आभा फैली हो, सुन्दर कर्ण-युगलपर पीतकुण्डलकी लहर हो, सुन्दर नयनोंकी लहरी अतिशय चञ्चल हो, सुन्दर ग्रीवाके समीप लहरें वङ्किम हो गयी हों, सुन्दर विशाल भुजाको सुपुष्ट श्याम लहरें आवृत कर रही हों, सस्मित मुखपर सुन्दर बाँसुरीकी छाया लिये मधुमय स्वरकी लहरें खेल रही हों। सुन्दर गोपवेषमें सज्जित हुए इन अधिदेवके समस्त अङ्गोंमें ही उन्मादी लहरें उठ रही हों, उनके साथ ही इनका धाम भी मूर्त हुआ, अग्रज रोहिणीनन्दनमें समाया हुआ आ रहा हो। यह राम-श्यामकी सुन्दर जोड़ी नहीं। यह तो सौन्दर्यके अधिष्ठातृ देव ही सदलबल, सुन्दर चालसे चलते हुए व्रजको प्लावित करने आ रहे हैं—

सुंदर स्याम, सुंदर बर लीला, सुंदर बोलत बचन रसाल।
सुंदर चारु कपोल बिराजत, सुंदर उर जु बनी बनमाल॥
सुंदर चरन सुंदर हैं नखमनि, सुंदर कुंडल हेम जराल।
सुंदर मोहन नैन चपल किए, सुंदर ग्रीवा बाहु बिसाल॥
सुंदर मुरली मधुर बजावत, सुंदर हैं मोहन गोपाल।
सूरदास जोरी अति राजति ब्रजकौं आवत सुंदर चाल॥

रामो विग्रहवान् धर्मः

(लेखक—पं०श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

ये शब्द किसी भक्त या धार्मिक विद्वान्के नहीं, किंतु श्रीरामके विपक्षी, धर्मद्वेषी, तपस्या और जप-यागादिकोंके बाधक राक्षस मारीचके हैं[1]। इसकी असत्यताकी कल्पना तो किसी बुद्धिमान्के हृदयमें होनी ही न चाहिये; क्योंकि इसपर—

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।

(वा० रा० १।२।३४)

—की मुहर लगी हुई है। जब रावणने मारीचसे कहा कि 'तात! मैं बहुत दुखी होकर तुम्हारे पास आया हूँ। पिताके द्वारा स्त्रीसहित निर्वासित, क्षीण-जीवित, निःशील, कर्कश, तीक्ष्ण, मूर्ख, लुब्ध, अजितेन्द्रिय और त्यक्तधर्मा इस रामने मेरे तीनों बन्धुओं—खर, दूषण और त्रिशिराके साथ-साथ चौदह हजार राक्षसोंका विनाश कर डाला है। इतना ही नहीं, उसने बिना किसी वैर-विरोधके ही मेरी बहिनके नाक-कान काटकर उसका रूप भी बिगाड़ दिया है। इसलिये इस समय तुम मेरी सहायता करो।' (वा०रा० अर० ३६। १०–१४) तब मारीच थर्रा गया। उसका मुँह सूख गया। उसने वहाँ जिन नीतिपूर्ण शब्दोंमें रावणकी भर्त्सना की है, सचमुच वे एक कल्याणेच्छुके लिये ध्यान देनेकी चीजें हैं। भगवान्पर लगाये हुए आरोपोंका निराकरण करते हुए उसीने उपर्युक्त शीर्षकके पदोंको उच्चारण किया था। उसने कहा था—'रावण! तुम्हारे समान दुराचारी तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाला शासक अपना, अपने स्वजनोंका तथा समूचे राष्ट्रका भी विनाश कर डालता है। तात! श्रीरामचन्द्र पिताद्वारा परित्यक्त कदापि नहीं हैं। न वे मर्यादाहीन हैं और न लुब्ध, दुःशील या क्षत्रियपासन ही। कौसल्यानन्द-वर्धन श्रीराम धर्म या गुणोंसे किसी प्रकार हीन नहीं। वे सभी जीवोंके सदा कल्याणमें ही निरत रहते हैं। अपने सत्यवादी पिताको कैकेयीके द्वारा वञ्चित देखकर अपने पिताके सत्यकी रक्षाके लिये ही वे राज्य और भोगोंका परित्याग करके दण्डक वनमें प्रवेश कर गये हैं। तात! राम कर्कश, अविद्वान् या अजितेन्द्रिय नहीं, अपितु साक्षात् धर्मके विग्रह, सत्यस्वरूप, परमपराक्रमी, सज्जन एवं देवराज इन्द्रके सदृश समस्त लोकोंके स्वामी हैं।'

---

१. 'बैरिहु राम बड़ाई करहीं' और 'जासु सुभाव अरिहु अनुकूला' की उक्ति यहाँ चरितार्थ हुई है।

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः पापयन्त्रितः ।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥
न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथञ्चन ।
न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः ॥
न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
न च तीक्ष्णो हि भूतानां सर्वभूतहिते रतः ॥
वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम् ।
करिष्यामीति धर्मात्मा ततः प्रव्रजितो वनम् ॥
कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च ।
हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥
न रामः कर्कशस्तात नाविद्वान्नाजितेन्द्रियः ।
अनृतं न श्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥
रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः ॥
(वाल्मीकि० ३ । ३७ । ७-१३)

भगवान् श्रीरामके धर्ममूर्ति, धर्मविग्रह होनेका दूसरा सबल प्रमाण यह है कि जब लक्ष्मणजी अनेक प्रकारके कौशलोंसे मेघनादका वध न कर सके, तब अन्तमें उन्होंने—

धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि ।
पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदेनं जहि रावणिम्[1] ॥
(वाल्मी० युद्ध० ९१ । ६९; अध्यात्म युद्ध० ९ । ४५)

—इस मन्त्रसे बाणको अभिमन्त्रित किया और मेघनाद-पर छोड़ा जिससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी । उसके समर्थनमें ऋषि-मुनियों तथा इतिहास-पुराणोंके प्रमाण तो अनन्त मिलेंगे, जिनमें एक ही पर्याप्त है; किंतु लेखका कलेवर बढ़ जानेके भयसे उनका संग्रह नहीं प्रस्तुत किया जाता । असलमें तो उनके आविर्भावका 'धर्मसंस्थापन' ही मूल कारण कहा गया है—

स जातो भगवान् रामो राघवेन्द्रः परात्परः ।
हरिष्यति भुवो भारं धर्मं च स्थापयिष्यति ॥
(आदिरामा० पूर्वखण्ड ८ । ४)

'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।'
(गीता ४ । ८)

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपाः·············· ॥
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ।
(श्रीमद्भा० १ । १० । २५)

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
··················आत्मानं सृजते हरिः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । २४ । ५६)

—आदि वचनोंका भी यही तात्पर्य है । इसीलिये भगवान् श्रीरामको सर्वत्र 'धर्मधुरंधर धीर सयाने' 'धर्मधुरीण भानुकुल भानू' आदि शब्दोंसे स्मरण किया गया है । गोस्वामीजी तो राम-नामको ही सब धर्मोंका मूल मानते हैं ।

धर्मका स्वरूप

सचमुच त्यक्तधर्मी, अधर्मी, धर्महीन, पापी—ये गालियाँ ही हैं, तभी रावणने इन शब्दोंका श्रीरामके लिये ही प्रयोग किया है । यह आजके बुद्धिमानोंकी ही बहादुरी (!) है जो अपनेको सर्वदा 'धर्महीन' कहनेमें गौरवका अनुभव करते हैं । रावण भी अपनेको धर्मात्मा ही मानता था, केवल उसकी दृष्टिमें धर्मकी परिभाषामें भेद था । आज भी कुछ ऐसे लोग हैं जो अपने इच्छानुसार धर्मकी व्याख्या कर अपनेको धार्मिक मानकर सन्तोष कर लेते हैं । सचमुच 'धर्म' जिस भाषाका शब्द है, उसीकी दी हुई परिभाषा और व्युत्पत्ति हमें मान्य होनी चाहिये । 'धर्म' संस्कृतभाषाका शब्द है । संस्कारोंसे पूर्णतया युक्त होनेसे ही इसका नाम संस्कृत है । यह ऐसी-वैसी भाषा नहीं । प्रायेण व्युत्पत्ति-द्वारा इसके शब्दोंके मूल अर्थोंका हमें पता लग जाता है । थोड़ी देरके लिये 'काक' शब्दको ही लीजिये । इसकी सिद्धि 'कै शब्दे' धातुमें 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्' इस उणादि सूत्रसे 'कन्' प्रत्यय करनेपर होती है, जिसका भाव हुआ 'काँय-काँय' शब्द करनेवाला । या 'कक् लौल्ये' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय करनेसे यह शब्द निष्पन्न होगा, जिसका अर्थ होगा अत्यन्त लालची प्राणी । ये दोनों ही भाव उस जन्तुमें देखे जाते हैं, जिसके लिये हमारी भाषा इस शब्दको प्रयुक्त करती है ।

धर्मकी व्युत्पत्ति और अर्थ

पाणिनीय व्याकरणके अनुसार 'धृञ् धारणे' धातुसे 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' इस उणादि सूत्रसे 'मन्' प्रत्यय करनेपर यह शब्द निष्पन्न होता है (द्रष्टव्य, माधवीया धातुवृत्ति, प्रथमगण सूत्राङ्क ८८४) सारस्वत व्याकरणके मतसे भी 'धृञ् धारणे' धातुसे 'स्त्वादेर्मः' इस उणादि सूत्रसे 'म' प्रत्यय करनेपर यह शब्द निष्पन्न होता है । (द्रष्टव्य 'सिद्धान्तचन्द्रिका' की सुबोधिनी टीका पूर्वकृदन्त, उणादि, वेङ्क० प्रे० पृ० २७१) । हमारे सभी

१. अर्थात् 'दशरथनन्दन भगवान् राम यदि धर्मात्मा, सत्य-प्रतिज्ञ और अद्वितीय पुरुषार्थी हों तो हे अस्त्र ! तुम इस रावणकुमारको मार डालो ।'

धर्माचार्यों, धर्मप्रवक्ताओंने इस अर्थको स्मरण रखकर ही इसका निर्वचन किया है। 'मत्स्यपुराण'का कहना है कि 'धृ' धातुका अर्थ धारण तथा महत्त्वमें है। धारण करने और महान् होनेके कारण ही इसकी ऐसी निरुक्ति है 'धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते। धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते ॥' (मत्स्यपुराण १३४। १७) महाभारतमें युधिष्ठिरद्वारा धर्मकी परिभाषा पूछे जानेपर पितामह भीष्मने बतलाया था कि 'धर्म'का नाम 'धर्म' इसीलिये पड़ा है कि वह सभीको धारण करता है, पतनसे बचाता है और जीवनकी रक्षा करता है। सारी प्रजा धर्मसे ही जीवन धारण कर रही है, अतः प्राणियोंकी उभयत्र रक्षा करनेवाली वस्तु ही धर्म है—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
(शान्तिपर्व १०९। १०-११)

पण्डितप्रवर नीलकण्ठ उपर्युक्त दसवें श्लोककी टीकामें लिखते हैं कि 'अभ्युदय, अहिंसा और संरक्षण—इन तीनोंका जिस सत्य, अनृत, मृदुता या तीक्ष्णताद्वारा पालन होता हो वही धर्म है—'प्रभवोऽभ्युदयः, अहिंसा अपीडनम्, धारणम् संरक्षणम्, एतत् त्रयं येन सत्येन अनृतेन वा मृदुना तीक्ष्णेन वा यतो भवति स धर्मः' (उपर्युक्त श्लोककी नीलकण्ठी टीका)। जब 'अपना धनुष फेंक दो' इत्यादि कहे जानेपर प्राण ले लेनेवाली प्रतिज्ञाको पूरी करनेके लिये अर्जुन युधिष्ठिरको मारने चले, तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको समझाते हुए ये ही बातें कही थीं। सचमुच उन्हींको ध्यानमें रखकर पं० नीलकण्ठ और भीष्माचार्यने धर्मकी ऐसी व्याख्याएँ की हैं। भगवान्के वचन थे—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
(महा० कर्ण० ६९। ५७-५८)

इस तरह हम देखते हैं कि 'काणाद वैशेषिक दर्शन'का—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

—यह सूत्र भी निर्मूल नहीं है, अपितु इस धातुके अर्थको ही ध्यानमें रखकर रचा गया है, और महर्षि वात्स्यायन आदिने भी इसी तरह परिभाषा की है। कोषकारोंने भी प्रायः इसे सर्वदा ध्यानमें रक्खा है। अमरसिंहने पुण्य, यम, न्याय, आचार, स्वभाव और सोमपान (यज्ञ)—इन छः पदार्थोंकी धर्म संज्ञा कही है—

धर्मः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः।

मेदिनीकारने अहिंसा और ज्ञानको बढ़ा दिया है—

धर्मोऽस्त्री पुण्य आचारे स्वभावोपमयोः क्रतौ।
अहिंसोपनिपन्न्याये ना धनुर्यमसोमपे॥
(२५। १६)

विश्वप्रकाशकोष अमरसिंहको ही दुहराता है—

धर्मः पुण्ये यमे न्याये स्वभावाचारयोः क्रतौ।

अग्निपुराणका नानार्थ वर्ग भी 'धर्माः पुण्ययमादयः' (३६२। ३०) से इन्हींको स्वीकार करता है।

धर्मका लक्षण

इस तरह ऊपर हम देख चुके कि धर्मकी व्युत्पत्ति, उसके अर्थ तथा परिभाषा करनेमें हमारे सभी ऋषियों, मुनियों, धर्माचार्योंकी सम्मति एक ही रही। फिर भी धर्मकी सूक्ष्मता अत्यन्त दुर्ज्ञेय कही जाती है। इसलिये धर्मके निर्णयमें प्रमाण क्या है, यह दूसरा प्रश्न होता है। इसपर भी प्रायेण हमारे सभी धर्माचार्य एकमत रहे हैं। मनुका कहना है कि वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रियता—ये चार साक्षात् धर्मके लक्षण कहे गये हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२। १२)

याज्ञवल्क्य भी यही कहते हैं—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
(१। ७)

विष्णुका भी यही मत है। 'बौधायन' ने भी—

उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्। स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः। (१। १। १—४)

—से यही कहा है। इनमें परस्पर विरोध होनेपर पूर्व-पूर्वके अधिक प्रामाण्य होते हैं। वासिष्ठधर्मसूत्रका कहना है कि—

'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः' 'तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।' 'एवं श्रुतिस्मृत्युदितो धर्मः'।

गौतम लिखते हैं—

'वेदो धर्ममूलम्' 'तद्विदां च स्मृतिशीले।'

(गौतमधर्मसूत्र १ । १)

मनुने भी—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

(२ । ६)

—से इसीका समर्थन किया है। इसकी (२ । ६ की) टीकामें कुल्लूकभट्टने स्पष्ट लिखा है कि—

'स्मृत्यादीनामपि तन्मूलत्वेनैव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थं मनूद्यते।'

जैमिनिने भी मीमांसासूत्र (१ । १।२)में 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' से यही बात कही है। 'याज्ञवल्क्य' (१ । ७) की टीकामें विज्ञानेश्वरने स्पष्ट ही लिखा है—

'एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वस्य बलीयस्त्वम्।'

और तो और—

अलौकिकत्वाददृष्टार्थत्वादप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात् प्रवर्तनम्, लौकिकत्वाद्दृष्टार्थत्वाच्च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्यश्च शास्त्रादेव निवारणं धर्मः।[1]

तथा 'तं श्रुतेर्धर्मज्ञसमवायाच्च प्रतिपद्येत' आदि सूत्रोंद्वारा कामसूत्रके निर्माता महर्षि वात्स्यायनने भी धर्म-निर्णयमें श्रुति-स्मृति तथा सज्जनोंके आचारको ही प्रमाण माना है, आत्माका निर्णय आत्मकल्पित परिभाषा नहीं। विधानपारिजातमें तो यहाँतक कहा गया है कि वेदके साथ विरोध होनेपर जिस तरह स्मृतिका त्याग किया जाता है, ठीक उसी तरह स्मृतिके विपरीत लोकाचार भी त्याज्य है।

स्मृतेर्वेदविरोधे तु परित्यागो यथा भवेत्।
तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिबाधे परित्यजेत् ॥

'या वेदबाह्याः स्मृतयः।'

(मनु० १२ । ९५)

'तत्र श्रौतं प्रमाणं तु।' (व्यास० १ । ४)

'श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्यात्।'

(देवीभा० ११ । १ । २२)

१. अलौकिक फल देनेवाले दृष्टार्थ न होनेपर शास्त्रद्वारा यज्ञादिमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति धर्म है तथा उसी तरह परलोकमें कुत्सित फल देनेवाले, मांस-भक्षणादिकी प्रवृत्तिको शास्त्रोंद्वारा निवारण करना धर्म है।

—इत्यादि वचन भी एक स्वरसे इसी मतका पोषण कर रहे हैं; किंतु शिष्टप्रतिगृहीत स्मृतियोंसे वेदोंका विरोध होता नहीं, यह बात 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इस मीमांसासूत्रमें स्पष्ट की गयी है।

धर्मकी विस्तृत व्याख्या

आइये, पहले हम वेदोंमें ही धर्मकी विस्तृत व्याख्या देखें। छान्दोग्य-श्रुति कहती है—

'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।'

(छान्दो० २ । २३ । १)

धर्मके तीन स्कन्ध हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान—यह प्रथम स्कन्ध है, तप दूसरा स्कन्ध है, आचार्य-कुलमें रहनेवाला ब्रह्मचारी, जो आचार्य कुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर देता है, तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं; किंतु इनमेंसे जो ब्रह्मनिष्ठ है, वह मुक्तिको पाता है। अब देखिये, स्मृतियोंमें इनका कैसा उपबृंहण हुआ है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

(आचाराध्या० १ । ८)

इज्या (यज्ञ), आचार (नित्यकर्म), दम (इन्द्रिय-निग्रह), अहिंसा (अपीडन), दान, स्वाध्याय—ये सभी धर्म हैं; किंतु इनमें परमधर्म यही है कि बाह्य-चित्तवृत्तियोंके निरोधादिद्वारा आत्मदर्शन कर लिया जाय, तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया जाय।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥

—आदि सभी शास्त्रवचन भी प्रायः इसी श्रुतिके व्याख्यानके स्वरूप हैं। एक दूसरा उदाहरण इस 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' का देखिये—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

—यह श्रुतिमन्त्र कितने ही स्थलोंपर उपनिषदोंमें मिलता है। जैसे नारद-परिव्राजकोपनिषद्के तीसरे उपदेशका चौबीसवाँ मन्त्र यही है, अन्यत्र भी यह उपनिषदोंमें उपलब्ध होता

है और इधर मनुके छठे अध्यायके ९२ श्लोकमें यह मन्त्र ज्यों-का-त्यों मिलता है। यह दस लक्षणवाला धर्म इतना प्रसिद्ध है कि ठीक इसी रूपमें कितने ही स्थलोंपर उद्धृत हुआ है। अग्निपुराणके १६७ वें अध्यायके १० वें श्लोकमें यह श्लोक यों ही उपलब्ध होता है। याज्ञवल्क्यने जो प्रायश्चित्ताध्यायके यतिधर्म-प्रकरणमें दस लक्षणवाले धर्म बतलाये हैं, उसमें केवल शब्दोंका हेर-फेर हुआ है, अन्य कोई भेद नहीं। उनका श्लोक है—

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः॥
(६६)

वायुपुराणने भी—

..............................अस्तेयं शौचमेव च।
अप्रमादोऽप्यव्यवायश्च दया भूतेषु च क्षमा॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा सत्यं च दशमं स्मृतम्।
दशलक्षणको ह्येष धर्मः प्रोक्तः स्वयंभुवा॥
(वायु० अनुषङ्गपाद अध्याय ८। १८४–१८६)

—से उपर्युक्त श्रुतिका उपबृंहण किया है और स्मृतिका उद्धरण देकर सत्यवक्तृताका परिचय दिया है। 'विष्णु-पुराण'के तीसरे अंशके ८ वें अध्यायमें और्वने जो धर्मके लक्षणोंका विस्तारसे वर्णन किया है, उनका भी सारांश यही है। अधिक क्या भगवान्ने विभीषणसे जिस धर्ममय रथका उपदेश किया है, वे भी प्रायः ये ही सब हैं। वही शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, दम, विवेक, बल, परहित, क्षमा, कृपा, समता, ईशभजन, विरति, सन्तोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, संयम, नियम और विप्रगुरुपूजा—प्रायः इन बीस धर्मोंका वर्णन किया है। जिनमें पूर्वोक्त दस तो ज्यों-के-त्यों हैं। सावित्रीने भी धर्मराजसे प्रायः इन्हीं धर्मोंका वर्णन किया है। उसने कहा था—

तस्य द्वाराणि यजनं तपो दानं दमः क्षमा।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यं तीर्थानुसरणं शुभम्॥
स्वाध्यायसेवा साधूनां सहवासः सुरार्चनम्।
गुरूणां चैव शुश्रूषा ब्राह्मणानां च पूजनम्॥
इन्द्रियाणां जयश्चैव धृतिः सन्तोषमार्जवम्।
तस्माद्धर्मः सदा कार्यो नित्यमेव विजानता॥
(मत्स्यपु० साविव्युप० २१२। २०—२३)

श्रीमद्भागवतने तीस लक्षणवाले धर्म बतलाये हैं। (७। ११। ८-१२) जिनमें श्रवण-कीर्तन आदि दस अधिक हैं, जिनका भगवान्ने ईशभजनमें ही समन्वय कर लिया है। सावित्री-प्रोक्त लक्षणोंमें सबका समन्वय देखा जाता है। मनुवाले दशलक्षणात्मक धर्ममें इज्या (यज्ञ) और अध्ययनका नाम नहीं आता, इसलिये कुछ लोग कहते हैं कि यह संन्यासियों-का धर्म है। बात भी ऐसी ही है। मनु ही नहीं, याज्ञवल्क्य, अग्नि, वायु तथा नारद-परिव्राजक-उपनिषत्-प्रोक्त सभी मन्त्र संन्यास-प्रकरणमें ही आये हैं। इसलिये यहाँ सबके समन्वयके लिये भगवत्प्रोक्त तथा सावित्रीप्रोक्त धर्मको ही कसौटी माना जाता है, क्योंकि इसमें सभी लक्षण आ गये हैं[1]।

राजा और धर्म

राजा और धर्मका परस्पर बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। भरतजी कहते हैं, 'हे प्रजाओ! मैं सत्य कहता हूँ, तुमलोग सुनकर विश्वास करो, राजा परम धर्मशील ही होना चाहिये—

कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरमसील नरनाहू॥

किंतु मैं जब राजा होऊँगा तो पृथ्वी रसातलको चली जायगी; क्योंकि संसारमें त्रिकालके पापियोंमें मैं ही बड़ा हूँ, जो मेरे ही कारण श्रीरामभद्र और सीताजीको वनवास हुआ।

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥
मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू॥

भरतजीके वन जानेपर जब श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-सी राजनीतियाँ बतलाकर उन्हें राज्य करनेको कहा तो वहाँ भी उन्होंने यही कहा कि मुझ धर्महीन व्यक्तिको राजधर्मका उपदेश ठीक वैसा ही है जैसे अनुपनीतका यज्ञानुष्ठान—

किं मे धर्माद् विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति।
(वाल्मी० २। १०२। १)

स्वत्पृष्टराजधर्मो मे कोपयुक्तः, अनुपनीतयागवत्।
(उपर्युक्त श्लोककी तिलक-टीका)

भीष्मपितामहने तो राजाकी परिभाषा ही यह की है कि जिसमें धर्म विराज रहा हो, वही राजा है। उनके शब्द हैं—

---

१. संन्यासीके गुणोंकी राजामें क्या आवश्यकता? ऐसा कहना नहीं बन सकता; क्योंकि—

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु॥
(वाल्मी० ४। १७। १९)

—आदिसे स्पष्ट ही ये सभी धर्म राजाके लिये आवश्यक बतलाये गये।

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते ।
यस्मिन्विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥
(महा० शान्ति० राजधर्म० ९० । १४)

बृहस्पतिके बड़े भाई उतथ्यने मान्धातासे कहा था कि 'राजन् ! सारे जीवोंकी प्रतिष्ठा धर्ममें है, धर्मकी प्रतिष्ठा राजामें है । जो राजा धर्मपूर्वक शासन करता है, वह सचमुच पृथ्वीका स्वामी है—

धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥
(वही श्लो० ५)

मदालसाने अपने पुत्र अलर्कको राजनीतिकी शिक्षा देते हुए कहा था कि 'दुष्ट बुद्धिवाले लोग धर्मकी मनमानी व्याख्याकर कुतर्क आदिका आश्रय ले धर्ममें विक्रिया उत्पन्न कर देते हैं । बस, उस धर्मको मनुष्योंमें ठीक ढंगसे संस्थापन करना मात्र ही राजाका परम कर्तव्य तथा सिद्धिदायक कृत्य है'—

एतद्राज्ञः परं कृत्यं तथैतत् सिद्धिकारकम् ।
स्वधर्मस्थापनं नृणां चाल्यते यत् कुबुद्धिभिः ॥
(मार्कण्डेय० २५ । ३२ वें प्रे०)

शुक्रका कहना है कि 'धर्मके कारण पवन राजाने सारी पृथ्वीको जीतकर शासन किया और नहुष अधर्मके कारण स्वर्गसे भी च्युत होकर रसातलको चला गया । इधर वेन अधर्मके कारण जहाँ नष्ट हुआ; वहीं उसका पुत्र पृथु धर्मके कारण सारी पृथ्वीका स्वामी हुआ; जिसके नामसे आज भी पृथिवी और पृथ्वी—ये भूमिके दो नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इसलिये राजाको चाहिये कि वह धर्मको ही सर्व-प्रधान मानकर अर्थप्राप्तिके लिये यत्न करे'—

धर्माद् वै पवनो राजा विधाय बुभुजे भुवम् ।
अधर्माच्चैव नहुषः प्रतिपेदे रसातलम् ॥
वेनो नष्टस्त्वधर्मेण पृथुर्वृद्धस्तु धर्मतः ।
तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः ॥
(शुक्रनीतिसार० १ । ६८-६९)

कामन्दककार कहते हैं कि 'धर्म ही सभी वर्णाश्रमियोंको स्वर्ग तथा मोक्ष देनेवाला है । उसके अभावमें यह संसार साङ्कर्यको प्राप्त होता है । और अन्ततो गत्वा इसका सर्वनाश हो जाता है; किंतु राजा इसीलिये होता है कि वह यथान्याय सबकी स्वधर्ममें प्रतिष्ठा कराये । अन्यथा धर्मका नाश होता है और धर्मके अभावमें जगत्का नाश हो जाता है'—

स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽयं सर्वेषां वर्णिलिङ्गिनाम् ।
तस्याभावे तु लोकोऽयं संकरान्नाशमाप्नुयात् ॥
सर्वस्यास्य यथान्यायं भूपतिः सम्प्रवर्तकः ।
तस्याभावे धर्मनाशस्तदभावे जगच्च्युतिः ॥
(काम० नी० सार० २ । ३३-३४)

आदिराज मनु तो स्पष्ट ही कहते हैं कि 'धर्म रक्षा किये जानेपर रक्षा करता है और नाश किये जानेपर नाश, इसलिये राजा इसका भूलकर भी नाश न करे'—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥
(राजनीति० प्रक० १५)

'कौटिल्य'का कहना है कि धर्म और अर्थके अनुसार ही कामको सेवन करे—

'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ।'
(१ । ७ । ६)

'अपना धर्म स्वर्ग और मोक्षको देनेवाला है, उसके अतिक्रमण करनेपर कर्म-साङ्कर्य और वर्ण-साङ्कर्य उत्पन्न होकर लोक सर्वथा उच्छिन्न हो जाता है'—

स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च । तस्यातिक्रमे लोकः सङ्करादुच्छिद्येत ॥ (१ । ३ । १४-१५)

इसलिये राजाका कर्तव्य है कि 'वह प्रजाको धर्म-मार्गसे भ्रष्ट न होने दे । अपने धर्मका पालन करता हुआ राजा यहाँ और परलोकमें सुखी होता है । श्रेष्ठ मर्यादाके व्यवस्थित होनेपर, वर्ण और आश्रमकी ठीक-ठीक परिस्थिति रहनेपर, इस प्रकार त्रयीप्रतिपादित धर्मके द्वारा रक्षा की हुई प्रजा सदा सुखी रहती है, कभी क्लेशको प्राप्त नहीं होती'—

तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत् ।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति ॥
व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥
(१ । ३ । १६-१७)

शुक्र तो यहाँतक लिखते हैं कि 'जब कभी अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रमें विरोध दीखे तो धर्मशास्त्रानुसार ही व्यवस्था दी जाय; अन्यथा स्वतन्त्र विचारनेवाला राजा पापी होता है'—

धर्मशास्त्राविरोधेन ह्यर्थशास्त्रं विचारयेत् ।
स्वतन्त्रः साधयन्नर्थान् राजापि स्याच्च किल्बिषी ॥
(४ । ४ । ७८५)

यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्।
(३।१।५१)

—से कौटिल्यने भी इसीका समर्थन किया है। याज्ञवल्क्यका तो स्वयं ही कहना है कि—

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः।

धर्मसे क्या लाभ है, यह बतलाते हुए कामन्दक आदि ऋषि कहते हैं कि 'मनुष्य चाहता है भोग, भोग मिलते हैं अर्थ—धनसे और अर्थका मूल है धर्म'—

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
(महा० शा० प० १२३)

इसकी टीकामें पं० श्रीनीलकण्ठ भट्टने आपस्तम्बके इस वचनको उद्धृत किया है—

तद्यथा आम्रे फलार्थं निर्मिते च्छायागन्ध इत्यनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्थोऽनूत्पद्यते।
(१२३। १४ की टीका)

अर्थात् जिस तरह आम केवल फलके लोभसे लगाया जाता है; किंतु फलके अतिरिक्त वह छाया और गन्ध भी देता है, उसी प्रकार स्वर्ग या मोक्षके लिये आचरित धर्म यदि धन दे तो क्या आश्चर्य। गोस्वामीजीने भी 'धन बिनु धर्मा'से यही बात कही है। भगवती सीताके इस विषयमें कहे गये—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥
आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः।
प्राप्यते निपुणो धर्मः न सुखाल्लभते सुखम्[1]॥
(वाल्मी० अर० ९। ३०-३१)

—ये दो श्लोक सदैव स्मरणीय हैं।

स्कन्दपुराणकी तो इस विषयमें बड़ी विचित्र सम्मति है। उसका कहना है कि 'मनुष्य यदि अर्थोपार्जनकी चिन्ता न भी करे, तो भी केवल धर्माचरणमात्रसे ही नाना प्रकारके अर्थ उसे अपने-आप ही प्राप्त होते रहते हैं, इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अर्थ-चिन्ताका परित्याग कर केवल धर्मका ही आश्रय ले'—

विनैवार्थार्जनोपायं धर्मादर्थो भवेद् ध्रुवम्।
अतोऽर्थचिन्तामुत्सृज्य धर्ममेकं समाश्रयेत्॥
(स्कन्दपु० काशी० २५। ३२)

यही बात—

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धर्मसील पहिं जाहिं सुहाएँ॥

—में कही गयी है। काशीखण्डमें सूक्ति है कि 'अर्थ या कामकी रक्षा करनेसे क्या लाभ? जिसने इस क्षणभङ्गुर शरीरसे धर्मकी रक्षा की, उससे तो सारा त्रिलोक ही रक्षित हो गया।' कुछ लोगोंका कहना है कि 'सभीके सुखदायक होनेसे 'काम' रक्षा करनेयोग्य है,' किंतु यदि यही बात तथ्य होती तो भगवान् कामारि शङ्करने क्षणभरमें ही जलाकर उसे अनङ्ग न बना दिया होता। कुछ लोगोंने जो यह कहा है कि 'धनकी सर्वदा रक्षा करनी चाहिये।' सो भी ठीक नहीं; क्योंकि तब हरिश्चन्द्रने इसकी विश्वामित्रसे अवश्य ही रक्षा की होती। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि सर्वस्वको भी त्यागकर धर्म ही रक्षणीय है; क्योंकि शिवि प्रभृति राजाओं और दधीचि आदि ब्राह्मणोंने शरीरतक परित्याग करके भी धर्मकी रक्षा की—

धर्मो हि रक्षितो येन देहे सत्वरगत्वरे।
त्रैलोक्यं रक्षितं तेन किं कामार्थैः सुरक्षितैः॥
रक्षणीयो यदि भवेत्कामः कामारिणा कथम्।
क्षणादनङ्गतां नीतो बहूनां सुखकार्यपि॥
अर्थश्चेत्सर्वथा रक्ष्य इति कैश्चिदुदाहृतम्।
तत्कथं न हरिश्चन्द्रोऽरक्षत् कुशिकनन्दनात्॥
धर्मस्तु रक्षितः सर्वैरपि देहव्ययेन च।
शिबिप्रभृतिभूपालैर्दधीचिप्रमुखैर्द्विजैः॥
(काशी० ४९। ३३—३७)

अग्निपुराणमें जो राजनीतिका वर्णन हुआ है, उसमें पुष्करने कहा है कि 'त्रिवर्ग एक ऐसा वृक्ष है जिसका मूल है धर्म, स्तम्भ है अर्थ और फल है काम। इसलिये इस वृक्षकी रक्षाके लिये इसके मूलकी रक्षा नितान्त आवश्यक है, अन्यथा 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' की नौबत आ जायगी और इस तरह सम्पूर्ण अर्थ-कामरूपी वृक्ष ही चौपट हो जायगा—

धर्ममूलोऽर्थविटपः तथा कामफलो महान्।
त्रिवर्गपादपस्तत्र रक्षया फलभाग्भवेत्॥
(आग्नेयपुराण २२४। २)

कणिकको बड़ा कूटनीतिज्ञ कहा गया है। लोग समझते

---

१. अर्थात् धर्मसे धन मिलता है, धर्मसे सुख मिलता है, धर्मसे सभी कुछ मिल जाते हैं, इस संसारमें धर्म ही सार है। अनेक प्रकारके संयमों और नियमोंके पालनसे धर्म उत्पन्न होता है और तब उससे सुख। सुखसे ही सुख कहीं किसीको नहीं मिला करता।

हैं कि वह केवल कूटनीति ही जानता था, पर वह भी कहता है कि 'जिस किसी भी उपायसे चाहे वह मृदु हो या दारुण, अपनेको विपत्तिसे बचाये, पर जब विपत्तिसे निकल जाय तब धर्मका ही आचरण करे'—

कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद्दीनमात्मानं स्वस्थो धर्ममथाचरेत्॥
(महाभारत)

इसकी टीकामें पं० नीलकण्ठने ठीक ही लिखा है कि—

समर्थो धर्ममाचरेदित्यनेन पूर्वोक्तं सर्वं कौटिल्यादिकमापद्येव कार्यं नान्यथेत्युक्तम्।

अर्थात् कणिकने जितने कौटिल्यके उपकरणोंका वर्णन किया है, वे सब आपत्तियोंमें ही उपयोग करने योग्य हैं, निरापद अवस्थामें नहीं। विदुर तो स्पष्ट ही कहते हैं कि 'राज्यको धर्मसे ही प्राप्त करे और धर्मसे ही उसकी रक्षा करे, क्योंकि धर्ममूलक राज्य-लक्ष्मीको पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न राज्यलक्ष्मी ही राजाको छोड़ती है'—

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते॥
(विदुर० २। ३१)

एक दूसरी जगह वे ही कहते हैं कि 'जो इस जगत्में धर्म तथा अर्थका विचार करके विजय-साधनसामग्रीका संग्रह करता है, वही उस सामग्रीसे युक्त होनेके कारण सदा सुखपूर्वक समृद्धिशाली होता रहता है'—

समवेक्ष्य तु धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति।
स वै सम्भृतसंभारः सततं सुखमेधते॥
(महा० उद्योगपर्व० विदुरप्रजा० ३५। ६७)

वृद्ध हारीत कहते हैं कि 'जो अपने वर्णाश्रम-धर्मको छोड़कर अनीतिपूर्वक आचरण कर रहा हो, राजा उसे १०० पण दण्ड दे और उसे अपने देशसे निकाल दे'—

यः स्ववर्णाश्रमं हित्वा अनयेन तु वर्तते।
तं दण्डयेत्पणशतं नाशयेत्तद्विदेशतः॥
(७। २२२)

गौतम कहते हैं कि 'राजा वर्ण और आश्रमधर्मकी न्यायपूर्वक रक्षा करे, जो धर्मविमुख हो रहे हों, उन्हें स्वधर्ममें स्थापित करे'—

वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्। चलतश्चैनान्स्वधर्मे एव स्थापयेत्।

(गौतमधर्मसूत्र ११। ६, ७)

बृहस्पति कहते हैं कि धर्मके द्वारा ही अर्थ और कामकी रक्षा करनी चाहिये—

धर्मेणार्थकामौ परिरक्ष्यौ।
(बार्हस्पत्यार्थशास्त्र)

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम्।
एतत्त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम्॥
(अनुशा० प० युधिष्ठिर-बृहस्पति सं० ११२। १८)

श्रीसोमदेवभट्ट नीति-वाक्यामृतके आरम्भमें ही राज्यको धर्म, अर्थ और काम फल देनेवाला कहकर नमस्कार करते हैं—

'धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः।'

चाणक्य भी अपने सूत्रोंको आरम्भ करते हुए लिखते हैं 'सुखस्य मूलं धर्मः'। सच पूछा जाय तो चाणक्यसूत्रमें सर्वत्र धर्म-ही-धर्म है। २३३ वें सूत्रके बादसे तो उन्होंने 'धर्मेण धार्यते लोकः' आदिसे केवल धर्मकी प्रशंसाके ही गीत गाये हैं। 'शुक्र' यद्यपि दैत्योंके आचार्य थे फिर भी उन्होंने अपने 'नीतिसार' में खुले कण्ठ धर्मकी प्रशंसा की है। इसी प्रकार 'वाराहपुराण' पूर्वार्द्धके १३७ वें अध्यायमें तथा 'देवीभागवत' के ७ वें स्कन्धके ११ वें अध्यायमें जहाँ राजनीतिकी चर्चा आयी है, केवल धर्मकी ही प्रशंसा की गयी है। इसी प्रकार अन्यान्य सभी राजनीतिके प्राचीन ग्रन्थोंमें भी ढेर-के-ढेर वाक्य मिलते हैं, किंतु विस्तारभयसे उन्हें नहीं दिखलाया जाता।

भगवान् श्रीराम और धर्म

अब देखना चाहिये कि उपर्युक्त धर्म भगवान् श्रीराममें किस तरह प्रतिष्ठित हैं। धर्मोंमें पहला स्थान मिला है 'यज्ञ' को, जो—

'यज्ञो वै विष्णुः', 'इज्याध्ययनदानानि', 'यज्ञोऽध्ययनं दानम्', 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा', 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः', 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्'

(मनु० ३। ७६, याज्ञ० ३। ७१)

—आदिसे प्रसिद्ध है। सावित्रीने भी 'तस्य द्वाराणि यजनम्' से पहले इसीका कथन किया है। अब हम देखें कि भगवान् श्रीरामसे यज्ञोंका क्या सम्बन्ध है। श्रीरामकी उत्पत्ति हुई यज्ञसे—

'पुत्र लागि सुभ जग्य करावा।'

यज्ञीय हविसे ही ये अवतीर्ण हुए। १४ वें वर्ष ही

विश्वामित्रकी यज्ञ-रक्षाके लिये माता-पिताको छोड़कर बक्सर गये—

होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख की रखवारी॥

फिर—

धनुष जग्य सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥

और अन्तमें तो—

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हें। द्विजन दान नाना बिधि दीन्हें॥

—से हद ही कर दिखलाया।

दूसरा लक्षण है 'तप'। 'तप' क्या है, इसीमें बड़ा मतभेद है। 'तप' का धात्वर्थ होता है 'कष्ट सहना', 'तप सन्तापे' (तप् to bear trouble) निबन्धकारोंने 'कृच्छ्रैकादस्युपवासादिलक्षणं मुख्यं तपः' (वा० रा० १। ११ की तिलक-टीका) 'तपःव्रतोपवासादि' (महा० १। १०० । १२ की नीलकण्ठी टीका) प्रायः यही अर्थ किया है अनुशासन-पर्वके ९३ वें अध्यायमें युधिष्ठिरने भीष्मसे यही प्रश्न किया कि 'तप क्या है?' वहाँपर भीष्मने मासोपवासादिको तप बताकर दान, वेद, जपादि को ही परम तप कहा है; किंतु १०३रे अध्यायमें उन्होंने ही—

मतं ममात्र कौन्तेय तपो नानशनात् परम्।

—से इसी मतको पुष्ट किया है। (हरिवंश १। ४०। ४५)में ब्रह्मचर्यको ही परम तप कहा है। पर 'तपः कृच्छ्रादिकर्म च' ही अधिक प्रसिद्ध है, सो उपवास तो भगवान्‌की साधारण बात थी, उन्हें पग-पगपर करना पड़ा है। राज्याभिषेकके समय वशिष्ठने जो उन्हें सपत्नीक उपवास कराया सो लगातार चार दिन उन्हें जलपर ही रहना पड़ा। 'अग्निवेश' लिखते हैं—

त्रिरात्रमुदकाहारश्चतुर्थेऽह्नि फलाशनः।
पञ्चमे चित्रकूटे तु रामो वासमकारयत्॥

—इसी प्रकार समुद्रके किनारे रास्ता माँगनेके समय और सेतुबन्ध रामेश्वर-पूजनके समय उनके तप और उपवासकी बात मिलती है। 'तीसरे उपास बनबास सिन्धु पास सो।' यदि ब्रह्मचर्यादिको तप माना जाय तब तो भगवान्‌ने जी-जानसे उसका पालन किया। 'श्रीमद्भागवत' में भगवान्‌ने उद्धवसे 'कामत्यागस्तपः स्मृतम्' (११। १९। ३७) कहा है, सो इस तरह भी भगवान् तपस्वी रहे—

राम पुनीत बिषय रस रूखे। लोलुप भूप भूमि के भूखे॥

यह प्रसिद्ध है।

अब तीसरा गुण 'दान' लीजिये। इसके पालनमें तो भगवान्‌ने हद कर दिखाया। गोस्वामीजी तो लिखते हैं कि सचमुचमें दानिशिरोमणि एकमात्र अनाथनाथ श्रीरघुनाथजी ही हैं—

एकै दानि-सिरोमनि साँचो।
जेइ जाच्यो सोइ जाचकताबस, फिरि बहु नाच न नाचो॥
हरिहु और अवतार आपने, राखी बेद-बड़ाई।
लै चिउरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बाल मिताई॥
कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन, को नहिं कियो अजाची।

(बिनय० १६३)

जा गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो संपति दस सीस अरप करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥

(बिनय० १६२ । २-३)

'दीनको दयालु दानि दूसरो न कोई'
'अभिमत दातार कौन दुख दरिद्र दारै'

जग जाचिअ कोउ न जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकी जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी,
अरु आन हियें हनुमानहि रे॥
तुलसी भजु दारिद-दोष-दवानल, ×××

(कबिता० उत्तर० २८)

मिटी मीच लहि लंक संक गई, काहू सो न खुनिस खई।

(गीतावली ३७)

श्रीमद्भागवतकार लिखते हैं कि 'भगवान्‌ने जब यज्ञ किया तब चारों ओरकी सारी पृथ्वी क्रमशः होता, उद्गाता, अध्वर्यु एवं आचार्यको दे डाली। केवल उनके वस्त्र और अलङ्कारमात्र बच गये। महारानी श्रीसीताके हाथमें भी केवल सौमङ्गल्य सूत्रमात्र अवशेष रह गया था—

इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः।
तथा—
राज्यपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता॥

(९। ११। ४)

—और तो और, जब वे जंगलकी यात्रा करते हैं तब भी अनन्त दान करते हैं। श्रीसीता अपने आभूषणोंको गुरुपत्नीको देती हैं, भगवान् लाखों गौओंका समूह एक दरिद्र

ब्राह्मणसे लाठी फेंकवाकर देते हैं । (वाल्मीकि० अयो०) अन्य ब्राह्मणोंको वर्षाशन देते हैं—

गुरु सन कहि बरषासन दीन्हें ।

अब चौथे कर्म 'दम' को लीजिये । 'दम' का अर्थ कुछ निबन्धकारोंने 'मदत्याग' बतलाया है और कुछ लोगोंने 'मनसो दमनं दमः' कहा है । इस विषयमें स्वयं भगवान्‌की उक्ति है—

मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी । जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी ॥

श्रीसीताजी कहती हैं कि 'राघव ! आप दूसरी स्त्रियोंको तो कभी मनसे भी नहीं सोचते फिर वाणी आदिकी क्या बात !' (वाल्मीकि० ३ । ९) । और ऐसे तो 'सब कोउ कहै राम सुठि साधू' की प्रसिद्धि है ही ।

'क्षमा' के तो आप स्वरूप ही ठहरे । जब जयन्त इषीकास्त्रके भयसे भागा हुआ कहीं भी त्राण न पा सका, सारे लोकोंमें घूम आया । अपने पिता इन्द्र तथा सभी देवताओं एवं महर्षियोंसे भी निराश हो गया तथा तीनों लोकोंकी परिक्रमा कर आया तो हठात् फिर वह राघवेन्द्रकी ही शरणमें गिरा । यद्यपि वह वधके योग्य था, पर प्रभुने उसकी रक्षा कर ही ली—

अनुसृष्टस्तदा काको जगाम विविधां गतिम् ।
त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह ॥
स च पित्रा परित्यक्तः सुरैः सर्वैर्महर्षिभिः ।
त्रींल्लोकान्सम्परिक्रम्य तमेव शरणं गतः ॥
स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् ।
वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत् ॥
(वाल्मीकि० सुन्दर० ३८ । ३२—३४)

धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं । राम बिमुख राखा तेहिं नाहीं ॥
···ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका । फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका ॥
काहूँ बैठन कहा न ओही···।

पुनः श्रीरामके चरणोंमें—

आतुर सभय गहेसि पद जाई । त्राहि त्राहि कृपालु रघुराई ॥
निज कृत कर्म जनित फल पायउँ । अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ॥
कीन्ह मोहबस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित ।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपालु रघुबीर सम ॥

इस विषयमें 'पद्मपुराण' की उक्ति बड़ी सुन्दर है । उसके वचन हैं—

उपेत्य सहसा भूमौ निपपात भयातुरः ।
प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीता तु वायसम् ॥
त्राहि त्राहीति भर्तारमुवाच दयिता विभुम् ।
तच्छिरः पादयोस्तस्य युयुजे चाथ जानकी ॥
तमुत्थाप्य करेणाथ कृपापीयूषसागरः ।
ररक्षासौ निजाख्याय तदेकाक्षि ददौ तथा ॥
वायसोऽपि मुहुर्नत्वा सीतायै राघवाय च ।
स्वर्लोकं प्रययौ हृष्टो राघवेणाभिपालितः ॥

अक्रोधके विषयमें—

अपराधिहुँ पर कोह न काऊ । निज अपराध रिसाहिं न काऊ ॥

—ही पर्याप्त है । 'कृपा' की छटा 'विभीषण' और 'सुग्रीव' की शरणागतिके समय द्रष्टव्य है । इसपर तो कभी अलगसे ही विस्तृत लेख लिखा जा सकता है । पर तो भी यहाँ भगवान्‌का एक वचन हम उद्धृत करते हैं । विभीषणके आनेपर जब सभी सुग्रीव, अंगद, मयन्दादिने मन्त्रणा की कि नाथ ! इसे बाँध रखना चाहिये या इसकी परीक्षाके लिये इससे बहुतसे अनाप-शनाप प्रश्न पूछे जायँ, तब भगवान्‌ने सीधे कहा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥
(वाल्मीकि० युद्ध० १८ । ३३-३४)

अर्थात् जो मेरी शरणमें आकर 'मैं आपका हूँ' ऐसा एक बार भी कह देता है तो मैं उसे सारे संसारसे ही तात्कालिक और आत्यन्तिक अभय प्रदान कर देता हूँ । इसे मैंने अभय-दान दिया । अब हे सुग्रीव ! यह चाहे विभीषण हो या विभीषणका वेष बनाकर स्वयं कपटपूर्ण रावण ही आया हो तो भी इसे सादर ले आओ, इसे अब किसी प्रकारका मुझसे भय नहीं रहा ।

सत्यवादिताके विषयमें भगवान् स्वयं सुमन्त्रसे कहते हैं—

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा । धर्म हेतु सब सहेउ कलेसा ॥
धर्म न दूसर सत्य समाना । आगम निगम प्रसिद्ध पुराना ॥
सो मैं धर्म सुलभ करि पावा । तजे तिहूँ पुर अपजस छावा ॥

अन्यत्र भरतजीसे कहते हैं कि तात ! पिताके सत्य वचनकी रक्षा करो, उन्हें सत्य ही प्रिय था, प्राण नहीं । जिस सत्यके लिये उन्होंने मुझे त्यागा, फिर मेरे विरहमें प्राण छोड़ा, उनकी आज्ञा कैसे मिटाऊँ ?'—

तजेउ राउ जेहि बचनहिं लागी । तन परिहरेउ प्रेम बिरहागी ॥
तासु बचन मेटत बड़ साचू ।························॥

नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। कहहु तात पितु बचन प्रमाना॥

जब जाबालिने उन्हें कुछ नास्तिकतापूर्ण बातोंको कहकर लौटाना चाहा, तब आपने कहा था कि 'ऋषे! सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है, सनातन आचार है। अतः राजा सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। ऋषियों और देवताओंने सत्यका ही आदर किया है। इस लोकमें सत्य भाषण करनेवाला मनुष्य सर्वोत्तम अक्षयलोक ब्रह्मधामको प्राप्त होता है। संसारमें सत्य ही धर्मकी पराकाष्ठा है, वही सबका मूल है। जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सत्यहीके आधारपर धर्मकी स्थिति है। सत्य ही सबकी जड़ है, सत्यसे बढ़कर कोई दूसरी उत्तम गति नहीं। दान, यज्ञ, तप, होम और वेद इन सबोंका आश्रय सत्य ही है। इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये'—

सत्यमेवानृशंस्यं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाव्ययम्॥
...धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः॥
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च॥
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥
(वाल्मीकि० अयो० १०९। १०—१४)

भगवान्ने 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' (योग-सू० २। ३६) को प्रत्यक्ष कर दिखलाया था, तभी तो सुग्रीवसे कहते हैं 'सखा बचन मम मृषा न होई'। विभीषणसे भी कहते हैं 'राम सत्यसंकल्प प्रभु।'

'तीर्थानुसरण' भी धर्म है। भगवान् श्रीरामके तीर्थ-भ्रमणका विस्तृत वर्णन योगवासिष्ठके प्रारम्भमें ही प्राप्त होता है। प्रायः पूरे ९० अध्यायोंतक उनकी तीर्थयात्रा आदिका ही वर्णन है। अग्निपुराण, बृहन्नारदीयपुराणके उत्तरभाग तथा अन्यत्रप्रोक्त गया-माहात्म्यमें इनके तीर्थानुसरण आदि करनेकी बातें आयी हैं। वनवासयात्रामें भी तीर्थानुसरण हुआ ही।

स्वाध्यायके विषयमें—

गुरु गृह गए पढ़न रघुराई। अलपकाल बिद्या सब पाई॥
बिद्या बिनय निपुन गुन सीला। ....॥

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्॥
(मूलरामायण)

—आदि उक्तियाँ ही पर्याप्त हैं। साधुओंका समागम तो बाल्यकालसे ही सुलभ था। श्रीवसिष्ठादि महर्षियोंका संग तो सदा ही प्राप्त होता रहा। १४ वें वर्षमें श्रीविश्वामित्रके यज्ञरक्षार्थ बक्सर गये। वामदेव, जाबालि आदि सात महर्षि मन्त्रीके रूपमें दरबारमें ही थे। ज्ञानिशिरोमणि जनकजी तो श्वशुर ही थे। जंगलमें आनेपर भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि, अगस्त्य आदि ऋषियोंके साथ 'मुनिगन मिलन बिसेष बन' हुआ ही। इस तरह ये चौदह वर्ष पूरे साधु-सेवामें रहे। संक्षेपमें उनका सारा जीवन सत्सङ्गमय ही रहा।

अब रहा सुरार्चन; सो 'पूजि पारथिव नायउ माथा।' 'सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए।' 'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा' आदिसे स्पष्ट है।

गुरु-शुश्रूषाके विषयमें क्या कहा जाय? राज्याभिषेक-कालमें जब वसिष्ठजी उनके यहाँ उपदेश देने गये हैं, तब उनकी उक्तियोंसे उनके गुरु-शुश्रूषाके भाव प्रकट होते हैं। आपके विषयमें वहाँ कहा गया है—

गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं। सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं॥

'ब्राह्मणोंकी सेवा' के लिये तो वे अद्वितीय ब्रह्मण्य-देव प्रसिद्ध ही हैं। अपने उत्तरकाण्डके भाषणमें उन्होंने पुरवासियोंसे कहा था कि—

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥

लक्ष्मणजीको भी भक्तिका रहस्य बतलाते हुए—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति नीती॥

—का उपदेश किया था और ऊपर तो विभीषणसे—

कवच अभेद बिप्र पद पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥

—कहा ही है। अन्यत्र उपमाओंमें ही 'ब्रह्मण्यदेव' की उपमा विद्वानोंने आपको ही दी है, जैसे—

ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा॥
(श्रीमद्भागवत)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
ते तु ब्रह्मण्यदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम् ॥

—आदि भी प्रसिद्ध हैं । इन्द्रिय-जयकी बात ऊपर आ चुकी है । धैर्यके विषयमें—

पित्रा दत्तां रुदन्रामः प्राङ् महीं प्रत्यपद्यत ।[1]
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥
(रघुवंश १२ । ७)

—यह रघुवंशका श्लोक तथा—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥[2]

—यह रामायणका श्लोक या

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥
(उत्तररामच० १ । १२)

—यह भवभूतिकी उक्ति या

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा[3] ॥

—यह गोस्वामीजीकी प्रार्थना या

नव गयंदु रघुबीर मनु, राजु अलान समान ।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान ॥

सन्तोषके लिये तो राज्य मिलनेपर कहते है—

जनमे एक संग सब भाई । भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनबेध उपबीत बिआहा । संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

कुटिलता तो उन्हें मालूम ही नहीं थी । गोस्वामीजी एक जगह लिखते हैं ।

सहज सरल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान ।
चलइ जोंक जल बक्र गति जद्यपि सलिलु समान ॥

इस तरह आर्जव भी समाप्त हुआ ।

१. पिता-दत्त राज्यको तो रामचन्द्रने रोते हुए स्वीकार किया, किंतु वन जानेवाली आज्ञा बड़ी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार की ।

२. अभिषेकके लिये बुलाये जानेपर तथा वनके लिये छोड़े जानेपर उनके आकारमें मैंने किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं देखा ।

३. जो अभिषेकके संवादसे न तो रत्तीभर विकसित ही हुई और न वनवासके कष्टसे रत्तीभर मलिन ही हुई, ऐसी भगवान् श्रीरामकी मुखच्छवि मेरे लिये सदा शुभदायक मंगल-मोदप्रद हो ।

उपसंहार

सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌ने सब कुछ केवल धर्मके ही लिये किया । भगवती सीताके—

त्वयि धर्मं च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
(वाल्मीकि० ३ । ९ । ७८)

—आदि वाक्य अक्षरशः सत्य हैं । यह कोई उनकी अधिक श्रमादिकी बात न थी, धार्मिकता उनका स्वाभाविक गुण था । सच्ची बात तो यह है कि उनके पूर्वज भी सभी धर्मके लिये मर-मिटनेवाले थे । 'प्रान जाय बरु बचनु न जाई' यह उनकी कुलरीति थी । 'धर्मका उन्हें ज्ञान ही न था' यह कहना कोरी मूर्खता ही होगी । कालिदासने लिखा है, 'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्' अर्थात् रघुवंशी बाल्यकालमें पूर्ण विद्या प्राप्त कर लेते थे । इस तरह उन्हें धर्मके ज्ञानमें उनकी प्रतिभा अप्रतिहतगामिनी रहती थी । धर्ममें उन्हें कभी सन्देह होता ही नहीं था । यदि किसी अवसरपर ऐसी बात आयी भी तो ठीक शास्त्रानुसार वे लोग गुरूपसदन करते थे जो उनके चरित्रोंसे सुस्पष्ट है । यद्यपि 'राजा' शब्द 'राजृ दीप्तौ' में 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' इस उणादि सूत्रसे कनिन् प्रत्यय करनेसे भी बनता है, पर वे लोग 'रञ्जति प्रजाः' (दिवादिगणीय) इति राजा, 'राजाभूजनरञ्जनात्' 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' आदि विग्रहोंको ही चरितार्थ करते थे । पर आज कलिके कारण हमारी बुद्धि कलुषित हो गयी है, और हमें निश्चय ही 'विपरीत अर्थका बोध' (गीता १८ । ३२) हो रहा है । इस वैज्ञानिक चकाचौंधके कारण हमने अपने पूर्वजोंको पूरा उल्लू समझ लिया और धर्म, पातिव्रत्यकी हँसी उड़ानेके लिये जमीन-आसमानके कुलाबे भिड़ाने लगे । पर यह न समझ सके कि इस विज्ञानमें कोई दम नहीं है । बल्कि यहाँ 'कलियुग' के प्रत्यक्ष रूपको हम कल-समूहमें देख रहे हैं और इस प्रकार ये कलरूपी 'कलयुग' महाराज हमें धोखा देकर असत्-मार्गपर चलाकर हमारा सर्वनाश करना चाहते हैं । यद्यपि यह बात अत्यन्त सीधी एवं स्थूल है, पर आज पतनके गर्तमें गिरनेवाले मानव कलिसे वञ्चित होकर 'पुराण पोपोंके बनाये हैं', 'यह प्रक्षिप्त है', आदि अनेक दुरुक्तियोंसे दूसरोंको भी पथभ्रष्ट करते रहते हैं । ठीक ही है—

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।

या—

आपु गये अरु घालहिं आनहिं । जो कोउ सतमारग प्रतिपालहिं ॥

कुछ लोग तो यहाँतक कहनेका दुस्साहस करते हैं कि 'राम' और 'कृष्ण' आदि ही नहीं हुए। सचमुच इससे बढ़कर दानवता क्या होगी। जिन भारतीयोंकी सत्यप्रियताको मेगस्थनीज, ह्वेनसांग, फाह्यान आदि विदेशी यात्रियोंने मुक्तकण्ठसे सराहा, जिन्होंने सत्यका मूल्य हजारों अश्वमेधोंसे भी अधिक आँका, उन्हीं अपने पूर्वजोंके भी पूर्वजोंको झूठा पोथा लिखनेवाला कहना बुद्धिका दिवालियापन नहीं तो और क्या है? जिन ऋषियोंकी वाणी सदा अमोघ रही, जिनके शापसे नहुषको अजगर, रम्भाको शिला और जनपदको भी वीरान दण्डकवन (शुक्रके शापसे) होना पड़ा, क्या उनकी लिखी हुई बातें झूठी होंगी? सचमुच आज हमारी दुर्दशा बड़ी चिन्तनीय है। धन न हो, बल न हो, पर बुद्धि हो, शील हो, तो सब कुछ बन सकता है, किंतु आज हमारी बुद्धि चौपट होकर विपरीत अर्थोंको बोध करने लगी है। अपने पूर्वजोंकी, करोड़ों वर्षतक जी-जीकर तपस्यादिके द्वारा तत्त्वानुसन्धान करनेवाले मुनियोंकी आज्ञाके, आचरणके प्रतिकूल हम चलने लगे हैं। भारतवर्ष पृथ्वीका हृदय कहा जाता है। यह सदा धर्मसे ही फला-फूला। अधर्मसे यहाँ अभ्युदय न हुआ। सारे भूमण्डलके अधर्ममय हो जानेपर भी यह धर्ममय ही रहा, पर आज हम भी दिनचर होकर उल्लुओं-जैसे रात देखनेके लिये, उद्योग करनेके लिये तैयार हो गये। सचमुच यदि ऐसा ही होता रहा तो महान् विनाश हमारे सामने है।

पर विश्वास है कि भारतके दिन अब अच्छे ही आने चाहिये। बहुत दिनोंतक इसने पारतन्त्र्य आदिकी विपत्तियाँ झेलीं। अब स्वतन्त्र हुआ। इसके अतिरिक्त हमारी नसोंमें बहनेवाला वह ऋषियोंका रुधिर हमारी स्वाभाविक धर्मप्रियताको कभी न भूलेगा, इङ्गित होते ही सद्बुद्धि जग पड़ेगी, फिर तो हमारा काम बना-बनाया ही है। अन्तमें हम परम धर्ममय श्रीराम एवं सभी धर्मसम्पन्न कल्पद्रुम श्रीरामनाम—

'बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम।'

राम! रावरो नाम साधु-सुरतरु है।
सुमिरे त्रिविध ताप हरत, पूरत काम।
सकल सुकृत सरसिजको सरु है।
(वि० प० २५५)

यथा—
जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥
(दोहा० २९)

—से अपने परम कल्याण-मार्गकी कामना करते हुए, इस पत्र-पुष्पको उन्हींके चरणोंमें समर्पण करते हैं।

राम प्रेम मूरति तनु आही

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[२३वें वर्षके पृष्ठ १४६४ से आगे]

'कौसल्या पहिं गे दोउ भाई' से यह प्रसङ्ग समाप्त हो जाता है और तब हमारे समक्ष कौसल्या माता और श्रीभरतके मिलनका करुण दृश्य उपस्थित होता है।

कृश शरीर आभूषणहीन म्लान अम्बा 'भरत' का नाम सुनते ही दौड़ पड़ती हैं वत्सला गौकी तरह। मनमें मिलनकी उत्कट आकाङ्क्षा होते हुए भी शरीर इतना शक्तिहीन हो चुका है कि वे मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर जाती हैं। भवन चारों ओर करुण विलाप और चीत्कारसे भर जाता है। श्रीभरत अनुजके साथ दौड़कर अम्बाको उठाते हैं। उनकी इस दशाको देख उनका हृदय शोकमें डूब जाता है। वे सोचते हैं, इन सारे अनर्थोंका मूल मैं ही तो हूँ। मेरा जन्म ही क्यों हुआ। व्यथाभरी वाणीसे बोल उठते हैं—

को तिभुवन मोहि सरिस अभागी।
गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥

उसी करुणामयी स्थितिमें वे बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें शपथ लेते हुए कहते हैं कि 'मुझे इस कुकाण्डका रञ्चमात्र भी ज्ञान नहीं था। यदि इस कार्यमें मेरा थोड़ा भी सहयोग रहा हो तो मुझे वही गति प्राप्त हो जो बड़े-से-बड़े पातकीको होती है—

जे अघ मातु पिता सुत मारें।
गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें।
मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं।
करम बचन मन भव कबि कहहीं॥

ते पातक मोहि होहुँ बिधाता ।
जौं यहु होइ मोर मत माता ॥
जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर ।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर ॥
बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं ।
पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी ।
बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी ॥
लोभी लंपट लोलुपचारा ।
जे ताकहिं परधनु परदारा ॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा ।
जौं जननी यहु संमत मोरा ॥

इन शपथोंको पढ़कर कुछ लोग चौंकते हैं । प्रायः इसकी दो प्रकारसे आलोचना की जाती है—

(१) 'जानउ राम कुटिल करि मोही । लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही ॥' का वरदान माँगनेवाले श्रीभरतजी अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके लिये इतने उत्सुक क्यों हैं?

(२) क्या उन्हें कौसल्या अम्बाके ऊपर यह विश्वास न था कि वे उन्हें निर्दोष मानती हैं ?

पर विचारसे दोनों ही बातें निर्मूल सिद्ध होती हैं । फिर निर्दोष सिद्ध करनेका प्रयास क्यों ? इसे समझनेसे ही सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं । कौसल्या माताके हृदयपर इसके पूर्व इतने भीषण और निर्मम आघात लग चुके है, जिससे उनका हृदय व्यथा-सागरमें डूब गया है । ऐसी परिस्थितिमें ही श्रीभरतका आगमन होता है । यदि कहीं श्रीकौसल्या माताके हृदयमें यह सन्देह हो जाय कि वास्तवमें श्रीभरतकी सम्मतिसे ही यह हुआ है और केवल लोक-प्रदर्शनके लिये ही वह मेरे निकट आया है तो उनकी बड़ी बुरी स्थिति हो जायगी, उनको असह्य पीड़ा होगी और ऐसी स्थितिमें उनके हृदयपर एक बहुत बड़ा आघात पहुँचेगा, जिसे सम्भव है वे न सहन कर सकें । ऐसी परिस्थितिमें श्रीभरतजीने बड़ी ही मनोवैज्ञानिक बुद्धिमत्ताका कार्य किया । उनका लक्ष्य कौसल्या माताके हृदयको शान्त करना था । उसके लिये अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके सिवा दूसरा उपाय था ही नहीं । इसलिये इस चेष्टासे उनके माँगे हुए पूर्वोक्त वरदानसे कोई विरोध नहीं होता है । यहाँ निर्दोषसिद्धिका यह प्रयास निर्दोष सिद्ध करनेके लिये न होकर कौसल्याके दुःख-भारको लघु बनानेके लिये है ।

यहाँ कहा जा सकता है कि 'तो क्या कौसल्या माताके चित्तपर उन्हें अविश्वास है ?' नहीं । श्रीभरतजीका कभी किसीपर अविश्वास न था, पर वे तो अपने दैन्य-सौशील्यके कारण अपनेको इतना प्रेमहीन मानते थे कि वे सोच ही नही पाते थे कि लोग मुझपर विश्वास करते होंगे ? उनकी विचारधाराका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाता है कि वे यही मानते थे कि 'कोई भी योग्य व्यक्ति मुझे बुरा ही समझेगा; क्योंकि मुझमें कोई श्रेष्ठ सद्गुण है ही नहीं ।' सत्य तो यह है कि इतनी महानताके साथ इतना दैन्य अन्यत्र दुर्लभ है । निम्नलिखित चौपाइयाँ भी इसी सत्यकी साक्ष्य दे रही हैं—

रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा ।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥

कैसा विलक्षण दैन्य है । धन्य है भक्तराज 'बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हो' इसे छोड़ क्या कहा जा सकता है । जिनके नामकी मालाका प्रभु स्वयं नित्य जप करते हों, जिनका नाम उन्हें अधीर बना देता हो, जिनकी प्रशंसामें प्रभु रात्रि-दिवस बिता देते हों, उनका यह सोचना कि 'प्रभु मेरा नाम सुनकर उठकर कहीं चले न जायँ' यह प्रभुके करुणामय स्वभावपर अविश्वास नहीं, अपनी लघुतापर विश्वासका सूचक है । भक्त-चूडामणि गोस्वामीजी भी श्रीविनयपत्रिकामें कुछ ऐसा ही कहते हैं—

स्वामीकी सेवक-हितता सब, कछु निज साइँ-दुहाई ।
निज मति-तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरुआई ।

उपर्युक्त पंक्तियोंका लक्ष्य प्रभुकी हिततार्का लघुता बताना नहीं है, अपने स्वामिद्रोहकी गुरुता बताना है। इसलिये किसी भी प्रसङ्गपर विचार करते समय हमें वक्ताके लक्ष्य और उसके स्वभावको विस्मृत नहीं करना चाहिये। श्रीभरतजीकी इन शपथोंको पढ़कर हृदय भर आता है। इतना बड़ा भक्त कितना सरल, कितना भोला होता है। उसे अपनी विशेषताका कभी ज्ञान ही नहीं होता। और सच भी तो है—जो भक्त प्रभुकी विशेषता ढूँढ़ते हैं, उन्हें दीखनेवाली बुराइयोंके लिये भी तो कोई स्थान होना चाहिये। और तब वे उसका पात्र 'स्व' को ही बनाते हैं।

गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥

× × ×

इसके पश्चात् तो श्रीभरतजीका विलक्षण चरित्र लोगोंकी दृष्टिमें स्पष्ट आने लगता है। उनके सामने एक महान् प्रलोभन था 'अयोध्याका विशाल राज्य।' वह भी अन्यायपूर्वक नहीं, सर्वसम्मतिसे। मरणाशौचसे निवृत्त होनेके पश्चात् ब्रह्मर्षि वशिष्ठकी प्रेरणासे समग्र पुरवासी राज-सभामें एकत्र होते हैं और सबकी ओरसे प्रतिनिधित्व करते हुए कुशलवचन श्रीवशिष्ठजी उन्हें राज्य स्वीकार करनेकी प्रेरणा करते हैं। उनके सहमत होनेके पश्चात् किसी अधर्मका सन्देह वहाँ शेष ही नहीं रह जाता है। वह राज्य-मद, जिसने अनेक महान् पुरुषोंको पथभ्रष्ट बनाया; नहुष, इन्द्र आदि जिसके एक थपेड़ेको न सँभाल सके; वह राज्यश्री आज अपने सम्पूर्ण शृङ्गारके साथ मनोमोहक रूपमें उन्हें लुभानेको प्रस्तुत है, पर प्रेमव्रती भरतको वह विचलित न कर सकी। उनके समक्ष जो कठिन परिस्थिति है, उसकी कल्पना करना भी आज कठिन है।

सारी प्रजा अनाथ हो गयी है। करुणा और विषादका समुद्र उमड़ा बह रहा है। उसमें पुरवासी डूबे-से हैं। माताओंकी स्थिति तो और भी अवर्णनीय है। वहाँकी स्थिति तो 'धीरजहूँ कर धीरज भागा' की सूचना देती है। सबकी दृष्टि भरतकी ओर है—सब एक ही आशामें जीवित रहना चाहते हैं। वह 'राम दरसकी लालसा' वहाँ जहाज बनकर उन्हे बचाये हुए है, पर वह भी कर्णधारसे हीन। कर्णधार कौन? और तब सब एक स्वरसे पुकार उठते हैं 'भरत'! उनके शब्दोंमें हृदयको कम्पित कर देनेवाली करुणा है। पर श्रीभरतके सामने भी तो एक द्वन्द्व है। वे अपनेको मल्लाह एवं सेवकके रूपमें अर्पित करनेको सहर्ष प्रस्तुत हैं। वे तो 'संपति सब रघुपति कै आही' को माननेवाले हैं। पर प्रस्ताव तो ठीक ऐसा ही नहीं है। वहाँ तो मानो कर्णधारको पहलेसे पुरस्कारका प्रलोभन दिया जा रहा है। न केवल प्रलोभन अपितु पुरस्कृत किया जा रहा है 'अवध राज सुरराज सिहाहीं' से। भले ही वह पुरस्कार लोगोंकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हो, पर एक रामप्रेमीके लिये वह किस कामका।

प्रेमीने कहा—मैं रोगी हूँ, हृदय जला जा रहा है पीड़ासे। वैद्यजी बोल पड़े। पर रोग साधारण हो तब न। प्रेममयीने बड़े करुण कण्ठसे एक दिन गाया—

'हे री, म्हें तो प्रेम दिवानी म्हारो दरद न जाणै कोय।'

सचमुच 'भगवतरसिक रसिककी बातें रसिक बिन कोउ समुझि सकै ना।' हाँ तो, प्रेम-रोग-ग्रस्त उस महापुरुषकी चिकित्सा करने आये माने हुए वैद्य—ब्रह्मर्षि वशिष्ठ। पर यह तो ऐसा रोग है जिसकी चिकित्सा वैद्य नहीं, रोगी स्वयं ही कर सकता है। हृदय प्रियतमके वियोगाग्निमें जल रहा है, उससे कहा जाता है तुम राज्यमदका पान करो। पर वैद्यका भला क्या दोष! नाड़ी पकड़ी पर रोगका निदान ही न मिला। लेकिन लोगोंकी तो श्रद्धा थी। माने हुए वैद्य थे। कौसल्या माताने भी उसीके सहारे कह दिया—

कौसल्या धरि धीरजु कहई।
पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥

पर प्रेमराज्यकी तो रीति ही निराली है । माना कि वह रोगी है, किंतु वह सब समझता है, उसे ज्ञान है इस रोगके वास्तविक स्वरूपका और उसकी दवाका । लेकिन वैद्य भी तो हितचिन्तक है, उसका तिरस्कार कैसे हो, फिर यह भरतजी-जैसे प्रेमीके लिये कैसे सम्भव था । वैद्यकी स्तुति कर दी उन्होंने—

गुर बिबेकसागर जगु जाना ।
जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना ॥

हाँ, यह स्तुति है, पर वैद्यजीपर एक मीठा व्यङ्ग भी । 'विस्व कर बदर समाना' एक विशिष्ट अभिप्राय रखता है । प्रशंसा ही तो है छोटा-सा बेर जैसे निष्प्रयास मुट्ठीमें, इसी तरह समग्र विश्व गुरुजीके कर-कमलोंमें । पर उसके लिये बेरहीको उपमा क्यों, आँवला भी तो छोटा होता है; फिर मानसमें ही बालकाण्डमें महर्षियों-की प्रशंसामें यही आँवलेकी उपमा दी भी गयी है—

जानहिं तीनि काल निज ग्याना ।
करतल गत आमलक समाना ॥

अन्तर तो अवश्य है बुद्धिमानोंके लिये । आयुर्वेदज्ञसे पूछिये—'धात्रीफलं सदा पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम् ।' बेर कुपथ्य है, आँवला पथ्य । वैद्यको सुन्दर संकेत है । 'पूत पथ्य गुर आयसु अहई' का इससे अधिक यथार्थ मधुर उत्तर सम्भव भी तो नहीं है । वैद्य अपनी त्रुटि समझ जाते हैं, कहाँ फँसे प्रेमराज्यमें । लोग उलझनमें थे, पर किया क्या जाय । पीड़ासे कराह रहे थे पर प्रेमीने बता ही तो दिया । उसका उत्तर तो निश्चित ही है । 'मीराकी तब पीर मिटै जब बैद साँवलिया होय ।'

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ॥

और 'प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं' के निर्णयने तो चमत्कार ही कर दिया । विषम वियोग-संतप्त पुरवासी जाग्रत् हो गये इस महामन्त्रके उच्चारणमात्रसे । भैया भरतके जयनादसे सभामण्डप गूँज उठा । एक बार फिर लोगोंका म्लान मुख तेजसे चमक उठा । ओषधिका नाममात्र सुन उनका अङ्ग-अङ्ग उल्लसित हो उठा । बलिहारी है रोगीकी । लोग प्रेममयी अश्रुसंयुक्त आँखोंसे देख रहे थे अपने भरतको । जिन लोगोंने भरतपर संदेह किया था वे भी आँसू बहाते हुए अपने पाप-तापोंको बहानेकी चेष्टा कर रहे थे । उस प्रेममय दिव्य स्थितिका वर्णन महाकविकी भाषामें पढ़िये—

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे । राम सनेह सुधाँ जनु पागे ॥
लोग बियोग बिषम बिष दागे । मंत्र सबीज सुनत जनु जागे ॥
मातु सचिव गुर पुर नर नारी । सकल सनेहँ बिकल भए भारी ॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही । राम प्रेम मूरति तनु आही ॥
तात भरत अस काहे न कहहू । प्रान समान राम प्रिय अहहू ॥
जो पावँरु अपनी जड़ताईं । तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाईं ॥
सो सठु कोटिक पुरुष समेता । बसिहि कलप सत नरक निकेता ॥
अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई । हरइ गरल दुख दारिद दहई ॥
अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह ।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह ॥

सभी घर जाकर चलनेके लिये सन्नद्ध हो रहे हैं । रामदर्शनकी लालसामें समग्र सुध-बुध भूले हुए श्रीभरत लौटे, पर उनके हृदयमें एक बड़ी चिन्ता है । सभी तो उत्सुक हैं राघवेन्द्रके दर्शनार्थ, पर स्व-सुख तो प्रेमीका लक्षण नहीं । उन्हें ज्ञात है नगरकी एक-एक वस्तुपर प्रभुका कितना स्नेह है । उनको प्रभु-वियोगसे क्षीणकाय घोड़ोंका बार-बार ध्यान हो आता है । उनके द्वारा पालित पशु-पक्षी सब उन्हें प्रिय तो हैं; यदि हम दर्शनकी लालसामें उन्हें विस्मृत कर दें तो कितना बड़ा अपराध होगा यह । धन्य है श्रीभरतके प्रेमकी रीति । सम्भव है किसीको संदेह हो कि 'राज्यपर ममत्व न होता तो इतने प्रबन्धकी क्या आवश्यकता थी ।' तो किया करें लोग संदेह । प्रेमी अपने मार्गपर जा रहा है उसे स्वसुखका नहीं, प्रियतमका, उनकी वस्तुओंका ध्यान है । यद्यपि साधारण रीतिसे विचार करनेपर दर्शन-विह्वल लोगोंकी स्थिति श्रेष्ठ प्रतीत होती

है पर गहराईमें उतरते ही जान पड़ता है दोनोंमें अन्तर है—महान् अन्तर। विह्वलतामें प्रेम है सही पर वहाँ आनन्दका उपभोग और स्व-सुखकी स्मृति ही अधिक है, किंतु 'तत्सुखे सुखित्वम्' का सच्चा स्वरूप तो श्रीभरतमें ही दृष्टिगत होता है। वास्तवमें उनकी यह प्रेममयी विचारधारा प्रेम-सिद्धान्तका एक अमूल्य अङ्ग है।

भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगरु बाजि गज भवन भँडारू॥
संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप सिरोमनि साइँ दोहाई॥
करइ स्वामि हित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥

और तब इस महान् आदर्शको दृष्टिगत रखकर रक्षकोंको नियुक्त करते हैं। वास्तवमें प्रेमतत्त्वका समझना ही अत्यन्त कठिन है। उसका निगूढ़ रहस्य तो श्रीप्रेमाचार्य भरतजी ही जानते हैं पर जो कुछ समझमें आता है उतना ही हमारे लिये बहुत अधिक है। वस्तुतः उस प्रेमामृतका एक विंदु भी अमरत्व प्रदान करनेमें समर्थ है!

'संपति सब रघुपति कै आही'

वस्तुको अपना स्वीकार करनेके पश्चात् ही उसके त्यागका प्रश्न आता है। जहाँ त्याग उत्तम धर्म है, वहाँ उसके साथ एक अवश्यम्भावी भय भी है। मनुष्य त्यागके साथ त्यागीका 'अहम्' भी ले लेता है। त्याग-जैसा धर्म भी अहङ्कारसंयुक्त होनेपर पतनका कारण बन जाता है। जिन लोगोंने सब कुछ छोड़कर प्रभुके पास जानेका निर्णय किया था वे भावुक थे अवश्य, किंतु संपत्तिको अपनी मानते थे। इसलिये उनको अधिकार था यह निर्णय करनेका कि 'हम यह सब छोड़कर प्रभुके निकट जायँ।' इसे हम समर्पण कर सकते हैं। पर सच्चे भक्तकी दृष्टिमें इस समर्पणका कोई अर्थ ही नहीं। समर्पण अपनी वस्तुका किया जाता है पर जब सब प्रभुका ही है, तब समर्पण कैसा? अवश्य ही समर्पण और त्याग 'तस्करता' से श्रेष्ठ हैं। प्रभुके स्वामित्वको भूलकर अपने लिये विषयोंका प्रयोग तस्करता है। उसकी अपेक्षा प्रभुके लिये समर्पण—त्याग श्रेयस्कर है। पर यह भी एक भोलापन ही है जब हम अपनेको या अपनी वस्तुको समर्पित करते हैं। समर्पितका समर्पण कैसा? भक्त तो यह सोचकर चकित हो जाता है और तब वह प्रभुसे ही पूछ बैठता है—

'किं नु समर्पयामि ते'

यही कारण है कि लोगोंके मुखसे अपने त्याग-वैराग्यकी प्रशंसा सुनकर महाभाग भरतजी लज्जित हो जाते हैं। वे बहुत सोचकर भी निर्णय नहीं कर पाते कि उन्होंने त्याग कब किया? लोग भले ही अवधराज-को श्रीदशरथका अथवा भरतका राज्य कहें; किंतु भरतके लिये वह—

'संपति सब रघुपति कै आही'

इसलिये अपनी दृष्टिमें वे त्यागी हैं ही नहीं और इसीलिये उनका दैन्य नाटकीय न होकर पूर्ण सत्य है। अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर लज्जित होना स्वाभाविक है। उनके संकोचका रहस्य समझनेके लिये उनके दृष्टिकोणको ध्यानमें रखना अत्यावश्यक है।

× × × ×

समग्र पुरवासियोंसहित श्रीभरतजी चित्रकूटकी ओर चले। सभी सुसज्जित वाहनोंपर आसीन होकर जा रहे हैं, किंतु—

बन सिय रामु समुझि मन माहीं।
सानुज भरत पयादेहिं जाहीं॥

यही नहीं, अन्य लोगोंके लिये स्वयं श्रीभरतने ही वाहनों कीव्यवस्था की है। यही है मानसका सच्चा आदर्श। आज तो हम स्वयं उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत करते हुए दूसरोंसे पूर्ण संयमकी आशा रखते हैं पर सच्चा भक्त संयमका पालन स्वयं करता है, दूसरोंपर

हठात् उसे लादना नहीं चाहता । श्रीभरत-चरित्र इसका साक्षी है । उपदेश या शासनसे नहीं, अपने जीवनमें चरितार्थ करके ही हम दूसरोंको संयमित बना सकते हैं ।

श्रीभरतजीको पादत्राणविहीन पैदल चलते देख सभी लोग वाहनोंको छोड़ देते हैं—

देखि सनेहु लोग अनुरागे ।
उतरि चले हय गय रथ त्यागे ॥

कोमलहृदया कौसल्या मैयाने इस दृश्यको देखकर श्रीभरतको अपने निकट बुलाया; क्योंकि वे जानती थीं कि सभी लोग इस कष्टको सहन करने योग्य नहीं हैं, श्रीभरतको देखकर ही वे ऐसा करनेको प्रस्तुत हो गये हैं । बड़ी ही स्नेहमयी वाणीमें उन्होंने भरतसे कहा—

तात चढ़हु रथ बलि महतारी ।
होइहि प्रिय परिवारु दुखारी ॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू ।
सकल सोक कृस नहिं मग जोगू ॥

बिना कोई 'ननु नच' किये श्रीभरत रथपर बैठ जाते हैं । यह भी श्रीभरतचरित्रकी अपनी अद्वितीय विशेषता है । प्रेमीका हृदय अपने प्रियतमके सदृश ही तो होता है । प्रभुका भी यही स्वभाव है—

करुनामय मृदु राम गोसाईं ।
बेगि पाइहैं पीर पराई ॥

प्रेमी दृढ़निश्चयी होता है, पर उसका निश्चय दूसरोंको कष्टकारक हो यह उसे अभीष्ट नहीं । अन्य साधनोंसे प्रेम-साधनमें एक वैलक्षण्य यह भी है कि जहाँ अन्य साधन सर्वांशमें सबके लिये सुखद हो यह सम्भव नहीं, वहाँ प्रेम-साधन 'सर्वजनहिताय' हो जाता है ।

यहाँ यह ध्यान रहे कि श्रीभरतजीका यह कार्य प्रदर्शनमात्र न था, वे तो मनसे यही चाहते थे कि सभी लोग वाहनोंसे चलें । न उन्हें यही ज्ञात था कि मुझे इस प्रकार चलते देख अन्य लोग भी अनुकरणकी चेष्टा करेंगे । नहीं तो वे अवश्य ही गुप्तरीतिसे ऐसा करते । अवसर प्राप्त होते ही उन्होंने ऐसा ही किया भी । गङ्गा पार करनेके पश्चात् वे पैदल ही चले; किंतु इतनी गुप्त रीतिसे कि कोई दिनभर जान न सका । सायंकालमें लोगोंने सुना कि श्रीभरत आज 'पयादे' ही आये हैं—

भरत पयादेहिं आए आजू ।
भयउ दुखित सुनि सकल समाजू ॥

इन घटनाओंसे श्रीभरतजीकी आज्ञाकारिता, सर्वजनहितता तथा दृढ़ नेम सभीका परिचय मिल जाता है ।

(क्रमशः)

रामनामकी महिमा

जो तू रामनाम चित धरतौ ।
अबको जन्म आगिलो तेरो दोऊ जन्म सुधरतौ ॥
जमको त्रास सबै मिटि जातो, भक्त नाम तेरो परतौ ।
तंदुल धरत सँवारि स्यामको संत परोसो करतौ ॥
होतो नफा साधुकी संगति मूल गाँठते टरतौ ।
सूरदास बैकुंठ पैठमें कोऊ न फैंट पकरतौ ॥

—सूरदासजी

परम पुरुषार्थ

(लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्य

वास्तवमें पत्रोंद्वारा अथवा पुस्तकोंद्वारा धर्म-विषयक साधन-मार्गका निश्चय होना असम्भवप्राय ही है । इस कारण कहा गया है—

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
> (गीता ४ । ३४)

मोक्ष नित्यसिद्ध और मुमुक्षुका आत्मस्वरूप होनेसे सदा प्राप्त और प्रत्यक्ष ही है; परंतु अविद्या-व्यवधानसे अप्राप्तवत् प्रतीत होता है । विद्या (ज्ञान) द्वारा मोक्षस्थलमें प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होती है । अज्ञानरूप प्रतिबन्धकी निवृत्तिके कारण ही मोक्षको ज्ञानका कार्य या फलरूपसे निर्देश किया जाता है, यह भी उपचार या कल्पनामात्र ही हैं । सदा सर्वावस्थामे एक अद्वितीय अखण्ड तत्त्वका सुनिश्चय रहना ही ज्ञान-स्वरूप है और इससे न्यूनभाव अर्थात् खण्ड-खण्ड ज्ञान और संशय ज्ञान किंवा विपरीत ज्ञानको अविद्या या अज्ञान कहा जाता है अर्थात् आत्मस्वरूपकी अनभिव्यक्ति है अज्ञान, तथा आत्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति और स्फुट प्रतीति है ज्ञान । अनभिव्यक्तिरूप अज्ञानके साथ अभिव्यक्तिरूप ज्ञानका विरोध और प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव अवश्यम्भावी है । जहाँ ज्ञान है वहाँ अज्ञान नहीं, और जहाँ अज्ञान है वहाँ ज्ञान नहीं रह जाता । जीव अपने स्वरूपविशेषपर ध्यान न देकर सन्तुष्ट है; इसी कारण वह नित्यानन्दसे वञ्चित रहकर लवानन्दोंमें मस्त हो रहा है । श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

> त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
> मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
> (७ । १३)

अर्थात् शम-दमादि सात्त्विक, हर्ष-दर्पादि राजसिक तथा शोक-मोहादि तामसिक—इन तीन गुणमय विकारोंसे भरपूर स्वभावोंसे यह सारा संसार सदसद्विवेकसे शून्य हो रहा है, इसीलिये इन स्वभावोंसे अस्पृष्ट, इनके नियन्ता अतः निर्विकार मुझ परमात्माको लोग स्वरूपतः नहीं जान सकते । लवानन्दोंमें मस्त पुरुष पूर्णानन्द-स्वादमें कैसे निमग्न रहेगा; परंतु—

> जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
> ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥
> (७ । २९)

जिन पुण्याचरणशील निष्पाप भक्तोंने जरा-मरणसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये मुझे आश्रय करके एकनिष्ठ होकर भजन किया है अथवा करते हैं, वे परब्रह्मको, देहादि-व्यतिरिक्त शुद्धात्माको तथा तत्साधनभूत सरहस्य-समुदाय कर्मको जान लेते है ।

> **अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।**
> **परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥**
> (८ । ८)

अर्थात् सजातीय प्रत्ययप्रवाहरूप अभ्यासयोगसे युक्त एकाग्र अतएव ईश्वरातिरिक्त अन्यत्रागामी चित्त-द्वारा अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणद्वारा द्योतनात्मक परम पुरुषके चिन्तनपरायण रहनेसे जीव स्वस्वरूपमें स्थित हो जाता है । विजातीय प्रत्यय-तिरस्कृतिपूर्वक सजातीय-प्रत्ययप्रवाहरूप अभ्यासयुक्त रहनेका उपाय या साधन श्रीभगवान्ने गीताजीमें तेरहवें अध्यायके ७ से १०॥ श्लोकोंमे कहा है । भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने भी कहा है—

> **एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां**
> **पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।**
> **प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां**
> **प्रारब्धस्त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥**

अर्थात् एकान्तमें सुखसे बैठो, परब्रह्ममें चित्तको लगा दो, पूर्णात्माको अच्छी तरहसे देखो और इस जगत्को

उसके द्वारा बाधित देखो, सञ्चित कर्मोंका नाश कर दो ज्ञानके बलसे, क्रियमाण कर्मोंसे लिपायमान मत होओ, प्रारब्ध कर्मको यहीं भोग लो, इसके बाद परब्रह्मरूपमें (एकीभाव होकर) स्थित हो जाओ। यह मार्ग ज्ञान-प्रवण मुमुक्षुके लिये बतलाया गया है। भक्तिप्रवण चित्तवालेके लिये भगवान्‌की अभयवाणी है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(१० । ९-१०)

अर्थात् जो मुझमें चित्त लगानेवाले, और प्राण लगानेवाले, परस्पर मेरे प्रभावका कथन-बोधन करते हुए मेरेसे ही संतुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे कि वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। (इसमें 'मच्चित्ताः' से मनोमय कोष, 'मद्गतप्राणाः' से प्राणमय कोष, 'बोधयन्तः' से विज्ञानमय कोष, 'कथयन्तः' से अन्नमय कोष और 'रमन्ति'से आनन्दमय कोषका निर्देश किया है।) यह भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अहैतुकी अनुकम्पाका प्रकाश करते हुए स्वयं कहा है।

सगुण उपासक अन्तमें ईश्वरको पाता है; किंतु निर्गुण ब्रह्माभ्यासी इसी क्षण ईश्वरको पा सकता है। केवल अधिकारी होनेकी देर है। सगुण ब्रह्माभ्यासी मृत्युकालमें ईश्वर-चिन्तन करके उस अभ्याससे परमात्माको प्राप्त होता है। निर्गुण-ब्रह्म-चिन्ताशील उपासक बहिर्जगत्‌को लपेटकर अपने चित्तमें ले आता है अर्थात् अपने चित्तको ही सुख-दुःखका हेतु निश्चय करता है। अपने चित्तको सर्वदा लक्ष्य करनेमें अभ्यस्त मनुष्यके लिये बहिर्दर्शन-दृश्य नहीं रह जाता। वह बादमें विचारता है—सुख-दुःख तो चित्तका भाव है, पर मैं चित्त तो हूँ नहीं, तो फिर मेरा सुख-दुःख क्या है ? मैं चित्त नहीं हूँ तो फिर क्या हूँ ? अहो, मैं तो चेतन हूँ, मैं ही आत्मा हूँ। तब वह आनन्दमें निमग्न होकर गायन करता है—

नाहं जातो जन्ममृत्यू कुतो मे
नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे।
नाहं चित्तं शोकमोहौ कुतो मे
नाहं कर्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे ॥

पुण्यकर्मद्वारा पापक्षय होकर जिसके चित्तमें विषयभावना नहीं उठती, उपासनाद्वारा निर्मल चित्त होकर जो ईश्वर-स्मरणसे शान्त हो चुका है, इस प्रकार जिसका चित्त जितना ही आत्मदेवकी आलोचना करता है, उतना ही उसका अज्ञान-आवरण हटता जाता है। शनैः-शनैः वह अपनेको प्रकृतिसे, चित्तसे भिन्न अनुभव करने लगता है। दृढ़ अभ्यास ही तरनेका मुख्य उपाय है। चित्तमें एक ही प्रकारकी भावनाका प्रवाहित करना अभ्यास है, जब चित्तमें एकतान प्रवाह रहता है और विरुद्ध चिन्ताका उदय नहीं होता, तभी दृढ़ अभ्यासका लाभ होता है।

'पौरुषं नृषु' कहकर भगवान् श्रीकृष्णजीने पुरुषकारको अपना स्वरूप बतलाया है। इससे बढ़कर पुरुषकारका माहात्म्य और क्या हो सकता है। इस न्यायसे पुरुषकार सेवन करनेसे ईश्वर-सेवा ही होती है। अतएव यह पौरुष सदा आदरणीय है। षष्ठ भूमिकापर आरुढ़ न होनेतक कर्म तो छोड़ा नहीं जाता। इसी कारण कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
(गीता ३ । ५)

हाँ, वर्ग, अवस्था और आश्रमके भेदसे कर्मका भेद होता है, यह तो सिद्ध ही है। अतः आत्मकल्याण-कामीके लिये आत्मज्ञानसाधक पौरुष सदा अवलम्बनीय है। जीवनमें ज्ञानलाभ करना ही परम पुरुषार्थ है।

बुद्ध्वैव पौरुषफलं पुरुषत्वमेत-
दात्मप्रयत्नपरतैव सदैव कार्या।
नेया ततः सफलतां परमामथासौ
सच्छास्त्रसाधुजनपण्डितसेवनेन ॥
(योग० मुमुक्षु ६ । ४१)

नाथ-भागवत

(लेखक—श्री वि० हर्षे एम्०ए०, साहित्य-विशारद)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धके प्रथम पाँच अध्यायों-की जो श्रीएकनाथजीने 'नाथ-भागवत'में व्याख्या की है, उसका परिचय पिछले अङ्कोंमें दिया जा चुका है। श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धके आगेके अध्याय छः, सात और आठके मूल वर्णनका यह अति संक्षिप्त परिचय है—

देववृन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनोंके लिये द्वारिका आये और भगवान्‌की स्तुति करनेके पश्चात् उन्होंने प्रार्थना की कि 'प्रभु अब वैकुण्ठ पधारें।' भगवान्‌ने उन्हें बताया कि 'मैं श्रियोद्धत यादवकुलका उपसंहार करके स्वधाम आने-हीवाला हूँ।' इसके पश्चात् ही द्वारिकामें अनेकों उत्पात होने लगे। उन अमङ्गल शकुनोंसे उद्धवजीने जान लिया कि भगवान् अब पृथ्वीका परित्याग करेंगे। इससे उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ और व्याकुल हृदयसे उन्होंने भगवान्‌की प्रार्थना की। भगवान्‌ने उद्धवजीको उपदेश करते हुए उन्हें अवधूत-का आख्यान सुनाया।

श्रीमद्भागवतके इस प्रसंगकी श्रीएकनाथजीने 'नाथ-भागवत'में मराठीमें जो व्याख्या की है, अब उसे देखिये।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके दर्शनके लिये द्वारिकामें सभी देवता आये। उनमें ब्रह्माजी, भगवान् शंकर, स्वामिकार्तिक, सनकादि मुनिगण, मरुद्गण, देवराज इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठों वसु, धन्वन्तरि, गन्धर्व, अप्सराएँ, सिद्ध, चारण, नाग आदि समस्त देवजातियाँ एवं प्रमुख देवगण एवं लोकपाल थे। इनका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजी कहते हैं कि ब्रह्माण्डको प्रकाशित करनेवाले सूर्य भगवान्‌के प्रकाशके द्वारा स्वयं प्रकाशित होने लगे, तेजोमय अग्नि द्वारिका पहुँचकर निर्धूम हो गये; गन्धर्वगण अपना संगीत भूलकर उन प्रभुका वेणुनाद सुननेके लिये उत्कण्ठित हो गये और रासकी रात्रिका स्मरण होते ही अप्सराओंका नृत्य-कुशलताका गर्व नष्ट हो गया। देवताओंने सोचा—'जिस द्वारिकामें भगवान्‌का निवास है, जहाँ श्रीकृष्णचन्द्रके रहनेसे सभी घरोंकी गायें कामधेनु और प्रत्येक वृक्ष कल्पद्रुम हो गये हैं, जहाँ सम्पूर्ण ऐश्वर्य एकत्र हैं, रत्नोंकी अनन्त निधि है और जहाँ ऋद्धि-सिद्धि सदा स्थिर निवास करती हैं, उस नगरीको एक बार देख लें।' देवताओंके मनमें इससे भी प्रबल इच्छा हुई भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके उस दिव्य श्रीविग्रहके दर्शनकी, जिससे उन्होंने धरापर प्रकट होकर देवकार्य सम्पादित किया। भगवान्‌के अनुपम सौन्दर्य, मेघश्याम वर्णको वे देखते ही रह गये। जिन प्रभुका ज्ञान वेदोंको भी पूर्णतः नहीं होता, योगीजन भी जिन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, उन्हीं प्रभुके प्रत्यक्ष दर्शनसे देवताओंको अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने भगवान्-के ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की और वे उनकी स्तुति करने लगे।

देवता बोले—'भगवन्! हमलोग मन, प्राण, वाणी, कर्म और विवेकसे भी आपको प्रणाम करते हैं। संसारके सारे बन्धनोंसे पृथक् होकर, विषयोंका परित्याग करके आपका भजन करनेवाले भक्त भी आपके जिन श्रीचरणोंका दर्शन कठिनतासे पाते हैं, आज हमें उन्हीं श्रीचरणोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कदाचित् आप कहें कि 'मैं भी तो तुम्हारे समान शरीरधारी ही हूँ। तुमलोग मेरी स्तुति क्यों करते हो?' तो हम आपसे निवेदन करते हैं कि वास्तवमें आप शरीरधारी नहीं हैं। अधर्मको नष्ट करने तथा धर्मकी स्थापनाके लिये ही आप स्वेच्छासे दिव्य शरीर प्रकट करते हैं। जैसे अपनी किरणोंमें 'मृगजल'का भ्रम उत्पन्न करनेका कारण होकर भी सूर्य इस क्रियासे सर्वथा अलिप्त रहते हैं, वैसे ही आप सभी संस्कारोंसे अलिप्त हैं। जो निरन्तर अपने आत्मसुखरूपमें निमग्न रहता है, वह देहधारी होते हुए भी ईश्वरस्वरूप ही होता है। उसके चरणोंके स्पर्शसे गङ्गादि तीर्थ भी पवित्र होते हैं; फिर आप आत्मसुखरूपकी तो चर्चा ही क्या।

'शास्त्र-श्रवण, वेदाध्ययन, दान, तप, वैदिक कर्म आदि आत्मज्ञान प्राप्त करनेके विविध साधन हैं; लेकिन इन साधनों में बहुत-से दोष पाये जाते हैं। शास्त्र-श्रवणसे गर्व होता है, वेदाध्ययनमें स्वरस्खलनका भय है, दान अपात्रको दिये जाने-पर हानिकारक होता है, वैदिक कर्म कष्टसाध्य हैं, इस प्रकार सभीमें कुछ-न-कुछ दोष हैं; इसलिये आपकी स्तुति (प्रार्थना) ही एकमात्र सबके लिये ग्रहण करनेयोग्य मार्ग है। आपने विविध अवतारोंमें जो चरित्र किये हैं, उनके

श्रवण तथा कीर्तनसे चित्त शुद्ध होता है और जीव ब्रह्मात्मैक्यको प्राप्त होता है। श्रद्धापूर्वक आपके मंगलमय सुयशके श्रवणको छोड़कर किये जानेवाले दूसरे सब साधन व्यर्थ हैं। श्रद्धा-लताका बीज स्वधर्माचरणके द्वारा हृदयमें अङ्कुरित होता है और आपके सुयश-श्रवणरूपी जलसे सींचे जानेपर बढ़कर वह लता पुष्पित होती तथा फलती है। उसका वैराग्यरूपी मूल दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार यह लता बढ़नेपर स्वतः चिदाकाशतक पहुँच जाती है और साधु स्वप्रकाशरूप अमल आत्मचन्द्रका साक्षात्कार प्राप्त करता है। यह सब आपके श्रीचरणोंकी कृपासे ही हुआ करता है। आपके इन चरणोंकी अपार सामर्थ्यका वर्णन किया नहीं जा सकता। इनके स्मरणसे ही समस्त पाप भस्म हो जाते हैं और भक्तोंको प्रेममय स्थिति तथा सद्गति प्राप्त होती है। जो प्रेमपूर्ण हृदयसे क्षुधा-तृषा भूलकर आपके श्रीचरणोंके दर्शनके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, आप उन्हें सब प्रकारसे अभय कर देते हैं।

'आपकी व्यूहरूपसे उपासना, यज्ञ, योग, ज्ञान आदि भिन्न-भिन्न साधनोंके द्वारा साधकगण आपके समीप पहुँचनेका ही यत्न करते हैं। जो लोग मायाके नश्वर दृश्य रूपका त्याग करके चिन्मय परब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें सफल होते हैं, उन्हें आत्मस्वरूपका ज्ञान होता है और तब उन्हें सभी दिशाओंमें आपके स्वरूपका ही दर्शन होता है। सर्वत्र आपके श्रीचरणोंका साक्षात् करनेवाले ऐसे महापुरुष अपनेमें ही आपके श्रीचरणोंकी पूजा करने लगते हैं। ऐसे भक्त आपको अत्यन्त प्रिय हैं। उनकी पूजा आपको सबसे प्रिय लगती है। ऐसे भक्तोंद्वारा अर्पित तुच्छ ग्राम्य फूलोंकी माला भी आपको अपनी परम प्रिया श्रीलक्ष्मीजीसे भी अधिक प्रिय लगती है और ऐसी मालाके प्रति लक्ष्मीजीके मनमें सापत्न्य भावका उदय हो जाता है। वे सोचने लगती हैं—'मैं तरुणी हूँ और यह माला कुम्हलायी हुई है, फिर भी मुझसे अधिक आप इसका सम्मान करते हैं। मुझे तो चरणोंकी सेवाका अवसर कदाचित् ही मिलता है, लेकिन इस मालाके प्रति भगवान्का स्नेह मुझसे अधिक है। यह मेरी अवहेलना करके भगवान्के वक्षके दोनों भागोंपर विराजमान है। मैं इनके चरणोंकी चेरी हूँ और यह इनके कन्धोंपर चढ़ गयी है। मेरा जन्म सागरके उच्चकुलमें हुआ है और यह ग्रामीण है, तो भी भगवान्के कन्धोंपर खेल रही है।' लेकिन पीछे श्रीलक्ष्मीजीको भी ज्ञात होता है कि यह सब आपकी भक्तिका ही प्रताप है और वे भी उस मालाको प्रणाम करती हैं।

'आपके चरणोंको प्रणाम करनेसे पत्थरकी शिलाका उद्धार हो गया और आपकी निन्दा करके शिशुपालने आपको प्राप्त कर लिया! आपके श्रीचरणोंकी निन्दा और स्तुति करनेवाले दोनों ही मोक्षके अधिकारी होते हैं; किंतु जो आपके चरणोंकी उपेक्षा करते हैं, उनके भाग्यमें अधोगति ही लिखी हुई है। आपके चरणोंकी सेवासे निज सुखका साम्राज्य फैलता है। आप कलि आदि समस्त देवताओंके तथा कर्मके भी नियन्ता हैं। आपने सभी शरीरधारियोंको इस संसाररूप क्षेत्र (खेत) में कर्मके हलमें जोत रक्खा है और आप ही उसके संचालक हैं। जो जन्म-मरणके बन्धनसे बँधा प्राणी अपने कर्तव्यको टालना चाहता है, उसे आप 'कस' (चाबुक) से मारते हैं। सम्भवतः आप कहेंगे कि 'यह सब द्वन्द्वात्मक सृष्टि मायाका ही सृजन है।' पर सच्ची बात यह है कि आप ही मायाके अधिष्ठान हैं। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके आप ही आधार हैं। ब्रह्माण्डका अन्त और सृजन आप ही करते हैं। आपहीकी शक्तिसे पुरुष और प्रकृतिका संग होता है। इसी संगसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है। इस ब्रह्माण्डका बाहरी आवरण सात प्रकारका है—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, अहंकार और कर्मसूत्र। इन सबके भीतर और बाहर केवल आप ही व्याप्त हैं। आप ही सबके कर्ता हैं; लेकिन आप इनमें किसीसे लिप्त नहीं होते। अपनी मायाशक्तिसे विविध विषयोंका उपभोग करते हुए भी आप अकर्ता हैं। भोग-भोग्य-भोक्ता, कर्म-कार्य-कर्ता आदि त्रिपुटियोंसे आप परे हैं; फिर भी आप ही उनको प्रकाशित करते हैं। जलको स्वयं प्रकाशित करके भी सूर्य उससे अलिप्त रहते हैं। दर्पणके प्रतिबिम्बसे किसीका संग नहीं हो सकता। इन तत्त्वोंको जानकर जो कार्य, कर्म और कर्ताकी त्रिपुटीसे निजात्मकताका अनुभव करता है, वही वास्तवमें अभोक्ता है। ऐसा महात्मा विश्वाकार स्थित है। विषयभोग उसे बाधा नहीं देते। विषयोके बीचमें रहकर भी उसका ज्ञान मलिन नहीं होता। वह लेन-देनके सब व्यवहार करता है, घरमें रहता है, पर वह इनमें नहीं है। आप ऐसे अभोक्ता पुरुषोंके आदर्श हैं। सोलह सहस्र नारियोंके बीचमें रहनेपर भी आपकी आत्मरति अखण्ड है। अर्जुनको और अखिल विश्वको आपने ही आत्मज्ञान प्रदान किया है। स्त्रियोंके हावभाव, चाञ्चल्य, विलास, दर्शन, कटाक्षादिसे बड़े-बड़े योगी भी विचलित हो गये हैं। कामारि भगवान् शंकर भी मोहिनीके आकर्षणसे अपनेको रोक न सके; किंतु सोलह सहस्र ललनाएँ निरन्तर अपनी चेष्टाओंसे आपको प्रभावित करनेका प्रयत्न करती हैं; फिर भी

आपके मनको आकर्षित करनेमें वे सफल नहीं हुईं, बल्कि आपने ही उनको निर्विषय बनाया। अखिल विश्वपर इसी प्रकार आपका अनुशासन है। आपकी इस कीर्तिको सुनकर अन्तरका मल दूर हो जाता है और स्वयं इसका कीर्तन करनेमे साधककी वृत्ति परम पवित्र हो जाती है। आपके सुयशका श्रवण और कीर्तन, ये दोनों कल्याणमय तीर्थरूप हैं। इन तीर्थोंका आश्रय लेकर मुमुक्षु अपना उद्धार कर लेता है।'

इस प्रकार समस्त देवताओंने भगवान्‌की स्तुति की। फिर ब्रह्माजीने अपनी ओरसे श्रीकृष्णचन्द्रको बधाई दी। उनके दिव्यरूप एवं कार्योंका पुनः गुणगान करके उनसे स्वधाम पधारनेके लिये प्रार्थना की।

देवताओंकी यह स्तुति सुनकर भगवान् सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कहा—'मैंने आपलोगोंकी प्रार्थना सुन ली। वास्तवमें मेरा यहाँकी लीलाका कार्य सम्पन्न हो गया है; परंतु मेरा यह यादवकुल शौर्य, सम्पत्ति, शक्ति आदिसे उद्धत हो गया है, मेरे अतिरिक्त इसका उपशम करनेकी शक्ति और किसीमें नहीं है। मेरे अन्तर्भावसे इसके द्वारा आप सब फिर संकटमें पड़ जायँगे। इसलिये इस यदुवंशका नाश करके ही मैंने निर्याणका निश्चय किया है।' भगवान्‌की यह आश्वासन-वाणी सुनकर देववृन्द प्रसन्न होकर अपने-अपने लोकोंको चले गये।

इधर द्वारिकामें नाना प्रकारके उत्पात होने लगे। आकाशमें धूमकेतु दिखायी पड़ा, भूकम्प हुआ, कुत्ते रोने लगे, सूर्यका ताप बढ़ने लगा, वायु जोरसे चलने लगा, नेत्रोंमें वायुसे उड़ी धूलि भरने लगी। इन संकटदायी अपशकुनोंको देखकर यादवकुलके प्रमुख लोग भगवान्‌के पास आये। भगवान्‌ने उनसे कहा—'हमारे कुलको ब्राह्मणोंने शाप दिया है। उस शापका उल्लङ्घन हम नहीं कर सकेंगे; इसलिये इस स्थानको छोड़कर हम सबको प्रभासतीर्थ चलना चाहिये। वह बड़ा ही पवित्र तीर्थ है। वहीं चन्द्रदेव यक्षशापसे मुक्त हुए थे। वहाँ पहुँचकर हम दानादिके द्वारा पुण्यार्जन करें।' भगवान्‌का यह आदेश पाकर यदुवंशियोंने प्रभास जानेका निश्चय किया। यह सब देखकर उद्धवजीकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी। उन्होंने अपशकुन देखे थे, देववृन्द तथा भगवान्‌का सम्भाषण उन्होंने सुना था, उन्होंने समझ लिया कि अपने कुलका उपसंहार करके भगवान् अब अपने धाम पधारनेवाले हैं। उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उनका कण्ठ गद्गद हो गया, नेत्रोंसे आँसू बहने लगे, रोम-रोमसे पसीना चलने लगा। श्रीकृष्णसे वियोगकी कल्पनासे ही वे परम व्याकुल हो गये। भगवान्‌को अकेले देखकर वे उनके चरणोंमें गिर पड़े और सिसक-सिसककर रोने लगे। उन्होंने गद्गद कण्ठ भगवान्‌से प्रार्थना की।

श्रीउद्धवजीने स्तुति करते हुए कहा—'भगवन्! आप ही मेरे सखा और स्वामी हैं। आपके प्रयाणकी बात सुनकर मैं अपने दुःखके वेगको रोक नहीं सकता। जलसे बाहर निकालनेपर मछलीकी जो दशा हो जाती है, वही दशा आपके बिना मेरी हो जायगी। आप मुझे क्यों छोड़ते हैं? आपके न रहनेपर मैं अपने मनकी व्यथा किसे सुनाऊँगा? प्राण निकल जानेपर शरीर जैसे प्रेतस्वरूप हो जाता है, आपके चले जानेपर मेरी वैसी ही स्थिति हो जायगी। आप ही मेरे पिता हैं और आप ही मेरी माता हैं। आप मुझे किसे सौंप कर जाना चाहते हैं? नन्हे शिशुको छोड़कर माता यदि चली जाय तो उसकी जो असहाय दशा हो जाती है, वही अवस्था मेरी हो रही है। आपके चले जानेपर मैं किसकी सेवा करूँगा? अबतक मैं आपके समीप ही रहा हूँ, अब एकाकी निराश्रय कैसे रह सकूँगा? आपने जीवनमें आजतक मेरा साथ दिया और अब इस प्रकार मेरा त्याग कर रहे हैं! आपके साथ एक ही आसनपर बैठनेका मुझे सौभाग्य मिला, आपने मुझे अनेक बार अपनी शय्यापर अपने समीप सुलाया, आपके साथ मैंने भोजन किया, एकान्तमें आपने मुझसे मन्त्रणाएँ कीं, दिन-रात्रि निरन्तर मैं आपके साथ रहा और अब आप मुझे छोड़ रहे हैं, यह कैसे मुझसे सह्य हो सकता है! मेरे प्राण आपके श्रीचरणोंमें ही निवास करते हैं! इस चिर वियोगको सहनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। चाहे मेरा यह शरीर नष्ट हो जाय, पर मैं आपके इन चरणोंको नहीं छोड़ूँगा। आपका प्रसाद और आपके सेवित माल्य, अंगरागादिके सेवनका मुझे सौभाग्य मिला। जिसके लिये योगियोंको अनन्त वर्षोंतक कठोर तप करना पड़ता है, वह परमानन्द आपसे सहज ही मेरे लिये उपभोग्य रहा। आपके मङ्गल-कीर्तनसे वाणी कृतकृत्य होती है। जो आपके इस दृश्य दिव्यरूपका वर्णन करते हैं, वे अदृश्य परमब्रह्मका दर्शन पाते हैं। आपकी लीलाओंका जो गान करते हैं, आप उनके समीप नित्य निवास करते हैं। गौओंके बछड़ोंके प्रति आपका जो प्रेम है, उसका वर्णन करनेवाले आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। मुझे इन सबका लाभ प्राप्त हुआ। आपने मेरी सभी इच्छाएँ पूरी कीं। आपके जिन अन्तरङ्गोंमें श्रीवसुदेवजी, माता देवकी, श्रीबलभद्रजी तथा प्रद्युम्न आदिका भी

प्रवेश नहीं, वहाँ आपने मुझे ले लिया। और अब—अब इन सब बातोंको भूलकर आप चले जा रहे हैं, यह कैसी निष्ठुरता है! मैं आपके साथ आये बिना रह नहीं सकता।'

नाथजी कहते हैं—उद्धवजीकी यह दशा देखकर भगवान्‌के हृदयमें दया उमड़ पड़ी। चातककी तृष्णा थोड़ी ही होती है; किंतु उसको उपलक्ष्य बनाकर मेघ सम्पूर्ण धराके तापको नष्ट करता है। ठीक इसी प्रकार अपने भक्तोंके कल्याणके लिये उद्धवको निमित्त बनाकर भगवान् मोक्षज्ञान-का बीज बोयेंगे और उसी कल्पतरुके उत्पादनसे भक्तोंका निर्वाह होगा। पक्वान्न अतिथिके लिये बनाये जाते हैं, किंतु उन्हींसे घरके बाल-बच्चे भी तृप्त होते हैं। गायका दूध उसके बछड़ेके लिये होकर भी वह दूसरोंको प्राप्त होता है। इसी प्रकार उद्धवजीको जो ज्ञान भगवान्‌ने दिया, उससे हमारा भी लाभ होगा। यहाँपर भगवान्‌ने मोक्षज्ञानकी धारा प्रवाहित की है, जहाँ तृषित मुमुक्षुजन अपनी तृषा शान्त कर सकते हैं। इसीलिये यहाँ श्रोताओंसे सावधान होनेकी प्रार्थना श्रीएकनाथजीने की है।

भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा—'मैं तुम्हारी अन्तर्व्यथाको समझ सकता हूँ; पर यहाँपर मेरा कार्य प्रायः समाप्त हो चुका है और देवताओंने मुझे बुलाया है। अब इस उद्धत यादवकुलका उपसंहार करके मुझे यहाँसे जाना है। तुम स्मरण रक्खो कि मेरे जानेपर एक सप्ताहके भीतर ही समुद्र इस नगरीको जलमग्न कर देगा। इस धरापर अधर्म और कलिका साम्राज्य हो जायगा। अतः ऐसे समय अब तुम्हें यहाँ नहीं रहना चाहिये। धन-धान्य, समृद्धि, कुल, भाई-बन्धु आदि सबको छोड़कर तुम्हें यहाँसे निकल जाना चाहिये।

'मनुष्यको चाहिये कि वह पहले स्नेह (राग) को समूल नष्ट करे और इसके पश्चात् अभिमानको भी त्याग दे। अभिमानको छोड़नेके लिये साधकको मेरे सर्वगत स्वरूपमें अपना चित्त स्थिर करके आत्मचिन्तन करना चाहिये। इस अभ्याससे सर्वत्र भेदरहित साम्यका साक्षात्कार होगा। सम्भवतः तुम आग्रह करोगे कि—'गरुड़की पीठपर या अपने कंधेपर बैठाकर आप मुझे भी अपने धाम ले चलें।' पर यह सम्भव नहीं है। 'अहंभाव' को जबतक तुम छोड़ नहीं देते, तबतक कोई भी साधन तुम्हें भगवद्धाम नहीं पहुँचा सकता। दृष्टि जिसे देख सकती है, कान जिसे सुन सकते हैं, जो संकल्प-विकल्पोंका विषय होता है तथा जो किसी इन्द्रियका गोचर है, वह नश्वर है। स्वप्नमें मिले राज्यके समान यह विश्व भ्रममय है। परम तत्त्वसे जो पृथक् है, उसे सभी ओर नानात्व ही दीखता है। इसी नानात्वकी भावनासे बन्धनकी उत्पत्ति होती है। इसीसे कर्म, अकर्म, विकर्म होते हैं। जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक तथा काम्यकर्मोंकी अभिलाषा—इन सबकी उत्पत्ति नानात्व बुद्धिसे हो जाती है। इसीसे उच्च-नीचकी भावना प्रकट होती है। ध्येयको पवित्र मानकर ध्याता अपनेको अपवित्र मानता है। ध्येय, ध्याता, ध्यान आदिकी सब त्रिपुटियाँ भेदबुद्धिसे ही उत्पन्न हुई हैं। इस प्रकार भेद-भावना बढ़ती है। इस भेद-भावनासे विषयोंकी सृष्टि होती है। विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति हो जाती है और इस विषयासक्तिसे जीव-का नाश हुआ करता है। सर्पको दूध पिलानेसे उस दूधका भी विष ही बनता है, इसी प्रकार इन्द्रियोंको जितना विषय-सुख दिया जाता है, वह सब सुख दुःख ही बनता है। जिस प्रकार दूधमें विष मिला देनेपर वह दूध सेवनके योग्य नहीं रह जाता, वैसे ही मुमुक्षुके लिये विषय सेवनीय नहीं हैं। उनमें सच्चे मुमुक्षुको कोई रुचि नहीं रहती। जो सिद्ध पुरुष हैं, उनका मन तथा इन्द्रियोंपर अधिकार हो जाता है, विषय-सेवन करते हुए भी उनका मन विषयोंमें नहीं रहता। वास्तवमें मनपर विषयोंका बड़ा प्रबल अधिकार रहता है; किंतु जो योगी मेरे सर्वगत स्वरूपको पहचान सकते हैं, उनका चित्त जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ वे मेरे स्वरूपको ही देखते हैं। मुझे छोड़कर कहीं वे जा नहीं सकते। अतएव सबको मेरे स्वरूपभूत ही देखनेका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार मच्चित्त होनेसे मनको विषय बाधा नहीं दे पाते। उलटे विषय ही मद्रूप बन जाते हैं।

'शास्त्रके श्रवणसे ज्ञान होता है, मनन तथा अभ्याससे विज्ञान। इन दोनोंको ठीक तरहसे समझकर तुम ब्रह्म-सम्पन्न हो जाओ। तदुपरान्त स्थावर-जङ्गम समस्त जगत्‌में तुम अपनेको ही देखोगे। तुमसे भिन्न किञ्चित् भी शेष नहीं रहेगा। इस अवस्थामें फिर तुम्हें कौन-सा भय हो सकता है? इस अवस्थामें बाध्य-बाधकता नष्ट हो जाती है। सङ्कल्प-विकल्पोंका निरास हो जाता है। ब्रह्मानन्दका अरुणोदय हो जाता है और कर्मका बन्धन छूट जाता है। ब्रह्मानुभवीके सामने कर्म किङ्कर बन जाता है। आत्मज्ञानियोंके लिये कर्मका बन्धन नहीं रहता। इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञानी स्वेच्छाचार करने लगते हैं। गुण-दोषातीत होनेसे उनमें विषयोंके प्रति आकर्षण ही नहीं रह जाता, अतः वे

स्वेच्छाचार क्यों करने लगे ? वे विहित कर्म ही करते हैं; किंतु उनका प्रत्येक कर्म अहैतुक ही होता है । कुम्हारके चाककी भाँति पूर्वप्रारब्धके कारण उनके हाथोंसे कर्म आप-ही-आप होता है । जैसे निद्रित मनुष्यके समीप बाघ आ बैठे या स्वर्ग-मोक्षकी सम्भावनाका कोई कारण वहाँ उपस्थित हो तो भी उस सोये व्यक्तिको उनसे कोई भय या राग नहीं हो सकता । इसी तरह ज्ञानियोंमें 'अहंभाव' न होनेसे उनके कर्मोंमें कारण और फलकी इच्छाका अभाव हो जाता हैं । यह निरभिमानिता गुरुवाक्यके बार-बार मनन-अनुवृत्तिसे ही प्राप्त होती है। अबोध बालककी भाँति ज्ञानी भी सहज प्रवृत्ति-प्रेरित शरीरमात्रसे ही कर्म करता है । इसी निरभिमानितासे शान्ति प्राप्त होती है । सहनशीलताकी सीमा कर देना या दाँत कटकटाकर सङ्कटोंको सहन कर लेना, इसे शान्ति नहीं कहा जा सकता । जिस प्रकार समुद्रका अन्तस्तल क्षोभहीन होता है, सहस्रों सरिताओंके प्रवाह मिलनेसे भी उसका जल गंदा नहीं होता, उसमें वृद्धि या ह्रास नहीं होता, इसी प्रकारकी अन्तःकरणकी स्थिति शान्ति है । ऐसी शान्तिको प्राप्त योगी प्राणिमात्रके सहृदय मित्र हो जाते हैं । उनमें किसीके प्रति शत्रुता रहती ही नहीं । जगत्के सम्बन्धमें उनकी दृष्टि कुछ और ही होती है । वे समस्त संसारमें मेरे स्वरूपको देखते हैं । विश्वमें आत्मैक्य-का अनुभव करते हैं । उनकी दृष्टि मुझे ही देखती है, अतः वे जो कुछ देखते हैं, सबको मेरा रूप ही देखते हैं । इस प्रकार मेरे साथ जिसकी एकरूपता निष्पन्न हो चुकी, उसके जन्म-मरणकी सम्भावना कैसी ?

'जीवके लिये जन्म अत्यन्त कष्टकर अवस्था है । पिताके रेत-मार्गसे रजस्वला नारीके गर्भाशयस्थ रुधिरमें पहुँचकर माताके उदरमें प्राणी गर्भ बनता है । माताके उदरमें सभी ओर कृमि-ही-कृमि होते हैं । गर्भके नाक, कान, मुँहमें सर्वत्र वहाँ कृमि-ही-कृमि भरे होते हैं । विष्ठा और मूत्रकी उष्णतामें नौ महीनेतक वहीं वह पकाया जाता है । जठराग्नि-के तापसे वह संतप्त होता है । इस गर्भावस्थाकी यातनाओं-का कहाँतक वर्णन करें, उसे तो सोचते ही घृणा हो जाती है । अन्ततः प्रसवकाल आता है और उसमें जो अपार पीड़ा होती है, उसकी तो बात ही मत पूछो । इस प्रकारके अपवित्र जन्म-सङ्कटमें ज्ञानी नहीं पड़ते । जिन्होंने मेरी कृपासे ईश्वरत्व प्राप्त कर लिया है, उनके लिये जन्म-मरणका भय नहीं रह जाता ।'

भगवान्के इस उपदेशको उद्धवजीने ध्यानपूर्वक सुना । जिस प्रकार चातक मेघकी बूँदोंको ऊपर-ही-ऊपर लेता है, जिस प्रकार चकोर उत्कण्ठापूर्वक चन्द्र-किरणोंका पान करता है, उसी प्रकार—उसी उत्कण्ठासे उद्धवने भगवान्की वाणी का श्रवण किया । भगवान्से और भी अधिक ज्ञानामृतको प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने पूछा—'भगवन् ! मोक्षके लिये आपने संन्यास एवं त्यागका वर्णन तो किया; पर यह त्याग बहुत ही कठिन है । जिसके चित्तमें काम है, उसकी आसक्ति विषयोंमें रहती ही है । हृदयमें ही ईश्वरका निवास है, फिर भी उनका ज्ञान मनुष्यको नहीं होता । ममत्वकी भावनासे देह-बुद्धि बढ़ती है, गृहासक्ति दृढ़ हो जाती है और त्यागकी भावना भी असम्भव हो जाती है । आपको छोड़कर मैं किसी दूसरेसे ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । भगवान् ब्रह्मा तो सृष्टिके कार्यमें व्यस्त रहते हैं एवं अपनेको सद्गुरु कहने वाले बहुतसे दूसरे लोग स्वयं ही विषयासक्त हैं । आप ही ब्रह्मज्ञानके वक्ता, भक्तोंके उद्धारक, आत्मज्ञानसे अकर्ता, अज्ञानरूपा मायाके नियन्ता और मेरे परम सुहृद् हैं । यह संसार एक अन्धकूप है, इसमें ये काम-क्रोधादि अत्यन्त दुष्ट महाव्याल विचरण किया करते हैं । निन्दा-स्पर्धादि असंख्य काँटे यहाँ बिखरे हुए हैं । इसी भयंकर कूपमें मैं पड़ा हूँ । इसलिये आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे ऐसा मार्ग बतावें, जिससे मेरी यह विषयासक्ति दूर हो, देहात्मबुद्धि छूटे, चित्त शुद्ध हो और परमतत्त्वका ज्ञान सहज ही प्राप्त हो सके !'

भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम्हें पहले यह समझना चाहिये कि परमार्थके साधनमें माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, जामाता आदि कोई भी सांसारिक सम्बन्धी तुम्हारे काम नहीं आयेंगे । नित्य एवं अनित्यका विचार करके अनित्यको त्यागकर नित्यको स्वीकार करनेसे आत्मज्ञान प्राप्त होता है। जो नित्य है, वही मेरा स्वरूप है । इसी स्वरूपको तुम्हें जानना है । पापकी मूलरूपा वासनाओंका त्याग करके, विषय-चिन्तनसे सर्वथा रहित पुरुष स्वयं ही अपना गुरु हो जाता है । मुमुक्षु पुरुष जन्म-मरणसे उकता जाता है, जन्म मरणके भयसे त्राण पानेकी तीव्र इच्छा उसके चित्तमें निरन्तर जाग्रत् रहती है । उसके मनमें स्त्री-पुत्रादिकी चाह नहीं होती । उसे सुखसे निद्रा नहीं आती । वह जानता है कि समस्त जीवन मृत्युसे आक्रान्त है । बचपन चला गया, जवानी जा रही है, बुढ़ापा आ रहा है । पल-पल समय बीता जा

रहा है और परमार्थका साधन अभीतक कुछ भी नहीं हुआ। आगे जन्म-मरणका अनन्त चक्र पड़ा है। इसी शरीरमें मोक्षका साधन करना सम्भव है। इस मानसिक व्याकुलता (आधि) से विषयोंके प्रति रुचि उसके मनसे दूर हो जाती है। संसार अनित्य है—नाशवान् है, इस परम सत्यको जानकर वह समस्त ऐहिक एवं पारलौकिक भोगोंकी इच्छासे ही विरक्त हो जाता है। वह भगवान्‌की उस कृपाकोरकी प्राप्तिके लिये छटपटाता रहता है, जो भव-बन्धनकी छेदिका है, दूसरोंकी भाँति वह ज्ञानके गर्वसे, विषयासक्तिमें अथवा दुविधामें अपना समय नहीं नष्ट करता। ऐसा विचारयुक्त वैराग्य जिसके पास है, वह स्वयं ही अपना गुरु है। उसकी बुद्धिको मैं स्वयं प्रकाशित करता हूँ। बुद्धिके निर्मल होते ही अविलम्ब आत्मबोध हो जाता है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये कि नाना प्रकारके अनुमानों या तर्कोंसे मेरा ज्ञान नहीं हुआ करता। आत्मप्राप्तिके लिये अहंकारका मूलतः निरास होना—सर्वथा अहंकारहीन स्थिति अत्यन्त आवश्यक है। मलरहित दर्पणमें जिस प्रकार अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार निर्मल बुद्धिमें ही आत्मतत्व भासमान होता है।

'इसी सम्बन्धमें मैं तुम्हें यदु-अवधूत-संवाद स्वरूप एक पुरातन चरित सुनाता हूँ। (क्रमशः)

परमात्माका अंश

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
(गीता १५। ७)

'तुमलोग गा सकते हो! गाओ! सब मिलकर गाओ! मुझे एक मृदङ्ग दो!' वह अत्यधिक सुरापानसे अपने आपमें नहीं था। 'तुम्हारे ये लाल-लाल वस्त्र मुझे बहुत पसंद हैं। नाचो तुम सब! हा, हा, सब बुढ़ियाँ नाचेंगी। बड़ा आनन्द आयेगा!' अट्टहास किया उसने।

'आश्रममें ऐसे उन्मत्तको कैसे रक्खा जा सकता है!' आश्रमके वृद्ध अध्यक्षने रघुनाथदाससे अपना प्रतिवाद प्रकट किया। रघुनाथ श्रीसमर्थके अत्यन्त प्रियपात्र हैं। उनके आग्रहकी उपेक्षा किसी आश्रमपतिके लिये सहज नहीं; किंतु आज वे जिसे उठा लाये हैं, उसके वस्त्र, शरीर और मुखसे इतनी दुर्गन्ध आ रही है कि कोई साधु उसके समीप ठहर नहीं सकता। उसके अनर्गल प्रलापसे आश्रमकी शान्ति भंग हो गयी है। 'साधकोंका नीरव एकान्त तथा संयम भंग हो, ऐसा कोई अवसर क्या आश्रमको अपेक्षित हो सकता है।'

'तुम सब गाओ! गाओ नहीं तो मैं मारूँगा!' वह उठ खड़ा हुआ। पासमें पड़ा पत्थर उठाया उसने। यद्यपि यह निश्चित था कि दो डग बढ़नेसे पहले वह लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा; किंतु कौन कह सकता है कि आघात पहुँचाना उसके लिये सम्भव नहीं। आश्रम क्या सुरापियोंका अखाड़ा बन सकता है?

'तुम यहाँ ऊधम नहीं कर सकते!' उन्मत्तके हाथसे अध्यक्षने झटकेसे पत्थर छीन लिया। वह उस झटकेसे ही लड़खड़ाया। 'चलो, निकलो यहाँसे बाहर!' उन्होंने उसके गिरनेकी चिन्ता नहीं की।

'आपको एक मनुष्यका यों अपमान नहीं करना चाहिये!' रघुनाथदासने बढ़कर गिरते हुएको सहारा दिया। उन्होंने अध्यक्षकी ओर ऐसी दृष्टिसे देखा, जैसे शिक्षक किसी विद्यार्थीको झिड़क रहा हो! 'आओ, मैं तुम्हें गायन सुनाऊँगा!' उन्मत्तको बच्चोंकी भाँति बहलाया ही जा सकता है।

'यह मुझे मारेगा! मारेगा मुझे! मैं इसके प्राण ले लूँगा इसके········!' वह अध्यक्षकी ओर घूर रहा था। गालियाँ बक रहा था और अपने आपको रघुनाथके हाथोंसे छुड़ानेके लिये उछल-कूद कर रहा था।

'यह मनुष्य है?' अध्यक्षके स्वरमें रोष आया। 'ऐसे मनुष्य धर्मराजके नरकोंकी ही शोभा बढ़ा सकते

हैं। आप कृपा करेंगे, यदि आश्रमको ऐसे मनुष्योंके दर्शन न कराया करें।'

'आप इस समय मानसिक दृष्टिसे अस्वस्थ हैं। मैं कुछ समय पश्चात् आपके विचार सुन लूँगा। अभी तो आरतीका समय है।' रघुनाथपर जैसे कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने अध्यक्षको सायंकालीन नीराजनका ध्यान दिलाकर तटस्थ करना चाहा। 'साधुके आश्रममें यदि उत्पीड़ितोंकी सेवा न हो तो साधुने आश्रम बनाया ही क्यों?' श्रीसमर्थ रामदास स्वामीके प्रिय शिष्यसे प्रमाद होगा, ऐसा सोचना भी सह्य नहीं हो सकता।

'प्रभुका नीराजन तो हो रहा है।' अध्यक्षका दोष नहीं। सायंकालीन उपासनाके समय आश्रममें यह हुल्लड़, दुर्गन्धि और स्नानके अनन्तर आवेशमें आये इस शराबीको स्पर्श कर लिया उन्होंने। पुनः स्नानकी उतनी चिन्ता नहीं, किंतु उपासनाके समय तो शान्ति चाहिये। 'उत्पीड़ितोंकी सेवा तो आश्रममें समझी जा सकती है, पर उन्मत्तोंकी सेवाके लिये तो कोई 'उन्मत्त-सदन' ही उपयुक्त होता।'

'तुम बहुत थक गये हो, यहाँ भली प्रकार सो जाओ तो मैं भजन सुनाऊँ!' रघुनाथदास एक तख्तेपर अपना उत्तरीय एक हाथसे बिछाकर उस सुरापीको लिटा चुके थे। वे उसे संयत करनेके प्रयत्नमें थे। 'मानसिक असंयमके रोगी शारीरिक रोगियोंसे अधिक दयनीय होते हैं।' अध्यक्षकी ओर उन्होंने एक दृष्टिमात्र डाल ली। जैसे इस समय वे किसीकी कोई बात सुननेको प्रस्तुत नहीं।

'अः, अः, अः' वमन हुआ। रघुनाथदासकी ओर ही मुख था उसका। पूरा अधोवस्त्र और कटिसे नीचेका शरीर भीग गया। दुर्गन्धसे नासिका व्यथित होने लगी। अध्यक्षने घृणासे मुख फेर लिया। वे एक हाथसे नाक दबाकर शीघ्रतासे हट गये वहाँसे।

'तुम गाओ!' सुराकी मादकतामें वह अपनी ही धुनमें था। उसे जलकी आवश्यकता न थी।

जग दुर्बल जीव बिचारो। रघुनन्दन पतित उबारो॥

सचमुच रघुनाथ उसके समीप बैठकर गाने लगे। नीचे भूमि भींग गयी है, दुर्गन्धसे दिशाएँ भर गयी हैं, उनका अपना वस्त्र और शरीर वमन हुई सुरासे लथपथ है; जैसे उन्हें इस सबकी कोई चिन्ता नहीं। लघुशङ्का जाकर भी कटि-स्नान करनेवाला वह साधु अर्धसुरास्नात बना उस सुरापीके मस्तकपर हाथ फेरता गा रहा है।

आरतीके घड़ियाल बजे, शङ्खने दिशाओंको ध्वनित किया और आश्रमके साधुओंका सम्मिलित स्तुति-पाठ सुनायी पड़ा। वह मदिरापायी सोने लगा है। उसे ठीक निद्रा आ जाय, इसलिये रघुनाथदास गा रहे हैं—

'करुणामय रूप तिहारो। अवधेश उबारो उबारो!'

मन्दिरके उस पावन भद्र पीठपर विराजमान धनुर्धारी श्रीविग्रहने कदाचित् सम्मुखके साधुओंकी अपेक्षा सुरापीके समीपसे आती उस स्तुतिको अधिक एकाग्र होकर सुना। सुरापी गाढ़ निद्रामें चला गया और तब रघुनाथ वहाँकी स्वच्छताके लिये उठ सके।

[२]

'आज उसने फिर शराब पी है!' युवक साधु कुछ अधिक उत्तेजित था। 'मैंने उसके मुखसे दुर्गन्ध निकलते अनुभव किया है। अब वह अपने आसनपर पड़ा हुआ है!'

गणपत आज सायंकालीन आरतीके समय उपस्थित नहीं हुआ था। आश्रमके अध्यक्षको उससे सदा शङ्का रहती है। वह सदा उसकी गतिविधिपर ध्यान रखते हैं। मनुष्य अपने पुराने अभ्यासपर सहसा विजय नहीं पा लेता उसे प्रोत्साहन और संरक्षणकी आवश्यकता होती है। रघुनाथदासजीके आग्रहपर उन्होंने इसको आश्रममें रख लिया। ऐसा व्यक्ति सुधर भी सकता है, आरम्भसे ही उन्हें आशा नहीं। किया क्या जाय; श्रीसमर्थ रघुनाथदासपर अगाध स्नेह रखते हैं। उन्हीं-

को आश्रमोंके संचालन, संगठनका सूत्र दे रक्खा है। अतः अपने संचालककी आज्ञाकी अवहेलना कैसे की जाय।

'मैं अत्यन्त पतित हूँ, घोर पापी हूँ।' जब पहली बार आश्रममें वह अपनी मादक निद्रासे सावधान हुआ, कैसा फूट-फूटकर रोया था। 'आप-जैसे महापुरुषोंका आश्रम मुझ-से नीचके द्वारा अपवित्र होता है। मुझे जाने दीजिये। नारकी कीट अपने स्थानपर ही सुखी होता है।' उसके पश्चात्तापमें कृत्रिमता नहीं थी। पूरी सावधानी न रक्खी गयी होती तो अवश्य वह भाग गया होता और भय था कि आत्महत्या कर ले। अध्यक्षको उस पश्चात्तापने द्रवित कर दिया था।

'कबतक टिकेगा यह ज्वार!' पश्चात्तापका ऐसा आवेग उन्होंने तब पहली बार ही तो नहीं देखा था। धीरे-धीरे आवेश मन्द पड़ता है। संयम शिथिल होता है। अन्तमें पुराना स्वभाव जाग्रत् होता है। 'कल जब वह जगेगा; फिर रोयेगा—कदाचित् भागनेका भी प्रयत्न करे।' वे इस सम्बन्धमें निश्चिन्त हैं। अपराध और पश्चात्तापका यह क्रम चलता है। श्रद्धा शिथिल होती जाती है। पश्चात्ताप घटता जाता है। अन्तमें संकोच विदा हो जाता है। अधम प्राणी फिर उसी दुर्गन्धमें चला जाता है, जहाँसे आया था। दूसरी बार उसे वहाँसे उठाना नितान्त अशक्य हो जाता है।

'म्लेच्छोंके चर चारों ओर सावधान हो गये हैं।' युवकने अध्यक्षकी चिन्तनपरम्परा भंग की। महाराज छत्रपति शिवाजीके दिल्लीसे निकलकर सकुशल महाराष्ट्र पहुँचनेमें श्रीसमर्थके इन शिष्यों और आश्रमोंकी कितनी सहायता थी, यह बात लोगोंपर प्रायः प्रकट हो चुकी थी। 'ऐसे असंयमी अपने लिये कभी भी आपत्ति उपस्थित कर सकते हैं।'

'श्रीसमर्थके सेवकोंका निश्चय भयसे प्रेरित हो, यह लज्जाकी बात है!' अध्यक्षकी दृष्टिमें तिरस्कार आया। उन्होंने गणपत रावको आश्रममें रखनेका विरोध किया था। अधिकारकी दृष्टिसे, साधकोंके साधनमें बाधा न पड़े, इस विचारसे। म्लेच्छवाहिनी, यवन-सम्राट्, त्रिभुवनसमर्थ श्रीराघवेन्द्रके उपासक क्या इन तुच्छ कीटोंकी चिन्ता करेंगे। 'हमें अपने कर्तव्यसे प्रयोजन है। उसमें भय, आशंकाको कहाँ स्थान। सर्व-समर्थ प्रभुका कार्य हमारे क्षुद्र प्रयत्नपर निर्भर नहीं, परंतु हम अपनी बालचेष्टासे उन्हें प्रसन्न करते हैं। महाकालमें भी साहस नहीं कि उनके सम्मुख हमारी ओर देखे।'

'आश्रमकी शान्ति..............!' युवक अपने अध्यक्षकी वाणीसे हतप्रभ हो गया था। वह अपनी लज्जा ही सम्हाल रहा था।

'मैं जानता हूँ कि गणपत उसमें व्याघात बन रहा है।' अध्यक्षने मस्तक झुकाया। 'हमने एक बार उसे स्वीकार किया है। श्रीसमर्थका जगत्-पावन सुयश, आश्रमपर फहराती वह गैरिक ध्वजा—इसकी छायामें पहुँचकर भी कोई उसी कीचड़में डूबने फेंक दिया जाय......!' उनके अन्तरकी चिन्ता वाक्यको पूरा नहीं करने दे रही थी। भावोंके समान वाणी उलझ गयी। यही चिन्ता तो उन्हें आरम्भसे व्यथित करती है। अपनाकर फिर गुण-दोषका विचार साधु-हृदय करता कहाँ है

'कार्यमें लगनेपर कदाचित् कुछ बदल सके वह।' युवकको ही नहीं, सभी आश्रमके लोगोंको आश्चर्य है कि उस नवागतको कोई भी कार्य क्यों नहीं बताया जाता। इस प्रकार व्यर्थ रहकर तो वह प्रमादी ही बनता जाता है। 'कोई साधन भी तो नहीं करता।'

'जो स्वयं संयत नहीं है, वह लोक-मङ्गलके कार्योंमें लगकर उन्हें विकृत ही करेगा!' अध्यक्ष जैसे सूत्र समझा रहे हों। 'साधनका प्रारम्भ रुचि एवं जिज्ञासाके जागरणसे पूर्व कराया ही नहीं जा सकता। बलात् श्रम कराया जा सकता है, साधन नहीं।'

'गणपत अपने आसनपर नहीं है। वह कहीं चला गया।' एक साधुने व्यग्रतापूर्वक सूचित किया। 'उसके वस्त्र और पात्र यहीं पड़े हैं। उसे वनकी ओर भागते हुए देखा है एक बालकने।'

'तुम शीघ्रता करो!' अध्यक्षने तरुणको आदेश दिया। उनके नेत्र ध्वजकी ओर उठे। मुखपर चिन्ताके लक्षण स्पष्ट हो गये।

× × × ×

[२]

'मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आप मेरा मुख भी देखें!' तीन दिनके परिश्रमके पश्चात् अध्यक्षने एक गुफामें उसे ढूँढ़ लिया था। तीव्र ज्वरसे वह बेचैन था। कदाचित् धूप तथा दूषित जलने उसे रोगी बना दिया था। यदि वह समर्थ होता, अवश्य उठकर कहीं भाग जाता। 'मुझसे साधुओंको कष्ट हो, लोगोंको पीड़ा पहुँचे, इससे तो मेरा मर जाना ही अच्छा है। किसीका कोई कार्य मेरेद्वारा सुधरनेसे रहा। धराका एक भार घट जायगा।'

'मेरे बच्चे!' जैसे वह अध्यक्षका पुत्र हो। इतना स्नेह उसे जीवनमें कदाचित् ही कहीं मिला हो। 'भगवान्‌ने तुम्हें पृथ्वीपर भेजा। तुम स्वयं स्वीकार करते हो कि तुम पाँचवीं बार आत्महत्या करनेमें असफल हुए हो। इसका अर्थ है कि प्रभु तुमको यहाँ रखना चाहते हैं। तुमसे कोई सेवा लेनी है उन्हें!' अध्यक्ष यदि दो घड़ी देरसे पहुँचते तो वह उस गड्ढेमें लुढ़क चुका होता, जो गुफासे समीप ही है। ज्वरमें उठनेपर वह गिर पड़ा था और फिर सम्हलनेके पूर्व अध्यक्षने उसे उठाकर व्यवस्थित रूपसे लिटा दिया था।

'पिताका धन, माताका स्नेह, गुरुकी शिक्षा, सभी तो नष्ट कर दी मैंने!' उसे एक साथ स्मरण आया, कितनी बड़ी सम्पत्ति छोड़कर पिता स्वर्गवासी हुए थे। माताने उसे हृदयके रक्तसे सींचकर पाला। जब उस वृद्धाको सहायताकी आवश्यकता है, वह एकमात्र आशा लगाये द्वार देखती कलपती होगी, वर्षोंसे वह उस स्नेहमयीकी उपेक्षा करके सुरा-सुन्दरियोंमें उन्मत्त हो रहा है। उसे स्मरण आयी उस वृद्ध शिक्षककी सौम्यमूर्ति, जो बचपनसे उसे अपने पुत्रसे भी अधिक प्रेमसे पालते थे। जिन्होंने अपनी धमनियोंकी सम्पूर्ण शक्ति उसे सुयोग्य बनानेमें व्यय की। 'मेरा शिष्य सुयोग्य होगा' जिनकी एकमात्र लालसा थी। जिन्हें एक दिन—वैसे अनेक शिक्षा, संकोच, झिझक, झकझकके दिनोंके पश्चात् उस अन्तिम दिन वह तिरस्कृत कर आया था—'बुड्ढे खूसट! मुझे तेरे उपदेशोंकी आवश्यकता नहीं!' जैसे किसीने कमर तोड़ दी हो। वे ऐसी निराशासे उसकी ओर देखते हुए गिर-से पड़े थे। 'ओह! मैं कृतघ्न हूँ! महापापी हूँ! मुझसे किसीका कोई हित न होगा! आप छोड़ दें मुझे!'

'सर्वेश्वर जानते हैं कि तुममें कितनी शक्ति, कितने सद्‌गुण, कितने विश्व-हित-साधनकी सामर्थ्य है!' अध्यक्ष धीरे-धीरे उसके मस्तकपर हाथ फेर रहे थे। उसे लगता था, जैसे तप्त भालपर कोमल हिमखण्ड घुमाया जा रहा है। 'तुम उस लोकनियन्ताके निर्णयपर अविश्वास नहीं कर सकते। उसके निर्णयमें दोष नहीं निकाल सकते।'

'वे दयामय! उन्होंने मुझे उस दिन नालीमेंसे उठाया था! मैं उस वेश्याके यहाँसे धक्के देकर निकाला गया था, जिसे सहस्रों रुपये दिये थे मैंने!' वह अपने आवेशमें था। 'मेरी उद्दण्डता, मेरा वह कुत्सित रूप, जैसे माता बच्चेके मल-मूत्रको स्वच्छ करे, उन्होंने मेरा वमनतक सहा और मैंने उनके विश्वासको भङ्ग किया! मैं अपने उस अधम अभ्याससे विवश हुआ! कौन-सा मुख दिखाऊँगा उन्हें! वे करुणामय क्षमा कर देंगे—क्षमा कर ही देंगे! क्या लाभ?

नारकीय कीड़ा पृथ्वीपर देवधामको अवतीर्ण करनेवाले महापुरुषके पावन स्थानको अपवित्र करता रहे, क्या लाभ इससे ?'

'तुम करोगे भी क्या ? आत्महत्या क्या तुम्हें छुटकारा दे देगी ?' अध्यक्षने वेधक दृष्टि उसके नेत्रों-पर स्थिर कर दी। 'यह संसार इसी जीवनसे समाप्त तो नहीं होता ! जीव परमात्माका अंश है—सनातन, शाश्वत अंश ! इस आवागमनवाले संसारमें वह नष्ट नहीं होता ! बार-बार आना है, अपने कर्मोंका फल भोगना ही है । जब भागनेसे छुटकारा नहीं तो कायरकी भाँति छटपटानेसे क्या लाभ ! अपनेको दृढ़ करो और·······।'

'कज्जल उज्ज्वल नहीं हो सकेगा ! वह जहाँ जायगा, वहीं कालिख पोतेगा !' रोगीके स्वरमें व्यथा थी; पर व्यग्रता क्षीण होनेके लक्षण स्पष्ट हो गये थे ।

'कौन कहता है कि मनुष्य कज्जल है !' अध्यक्षकी वाणी गौरवमयी हो गयी । 'सच्चिदानन्दघन परमात्माका अंश है जीव । इस त्रिगुणात्मक मायामें आकर संसारमें जीव बन गया है वह । तुम उस विशुद्ध सत्ताके अंश हो । सब सद्गुण, समस्त शक्ति तुममें है । वह सदा तुममें थी ! उसे जाग्रत् होने दो । उसकी उपस्थितिमें विश्वास करो !'

'गुरुदेव !' नेत्र अश्रुओंसे भर गये । वाणी सम्बोधनतक ही रह गयी ।

'गुरुदेव हैं हम सबके श्रीसमर्थ और उनके परम प्रिय शिष्यका प्रसाद तुम्हें प्राप्त है । यह वृद्ध झूठ नहीं बोलता ! तुममें सद्गुण हैं, शक्ति है और गुरुदेवको उनकी आवश्यकता है ! तुम इस प्रकार भाग नहीं सकते ! न आश्रमसे, न जीवनसे और न उन रघुनाथदासकी आज्ञासे, जो तुम्हें श्रीसमर्थके "रिक ध्वजकी पावन छायामें ले आये हैं !' अध्यक्षके नेत्र भी भर आये थे । 'इस समय तुम तनिक निद्रा लेनेका प्रयत्न करो, ओषधि लेनेके पश्चात् !' एक साधु एक पात्रमें कुछ लेकर गुफामें प्रवेश कर रहा था । ओषधि लाया होगा यह समझना सरल है ।

'मैं भाग नहीं सकता'·······'दो क्षण होठोंको हिलाता वह कुछ सोचता रहा और फिर ओषधि लेनेके लिये बच्चेकी भाँति बैठ गया ।

× × ×

[४]

'मैंने बहुत प्रयत्न किया' उसके स्वरमें निराशाके भाव स्पष्ट थे 'मेरा संयम सच्चा नहीं बन सका !' आज वह अपने उद्धारकर्ताके सम्मुख हृदयको भली प्रकार खोल देगा । आज निश्चय हो जाना चाहिये कि उसके लिये इस समूहमें कोई स्थान है भी या नहीं । अपनी कृत्रिमता वह और नहीं ढोते रह सकता ।

'अध्यक्ष तुम्हारी प्रशंसा करते थकते नहीं !' आज रघुनाथदास इस आश्रममें विशेषतः उसका समाचार जानने ही आये हैं । 'तुम्हारे सभी साथी तुम्हें अपने लिये आदर्श बतलाते हैं !'

'मेरा व्यायाम ही दिखायी दे सकता है उन्हें ! वे स्वयं अत्यन्त निर्मलचित्त हैं । इसीसे दूसरे भी उन्हें वैसे ही दिखायी देते हैं !' वह अपनी मानसिक स्थितिसे विवश होकर अकेले रहना चाहता है । मनके उद्वेगको मालाकी मणिकाओंसे दबानेका प्रयत्न करता है । अपनेको आश्रमके कामोंमें लगाकर भीतरकी लालसासे छुट्टी पानेका नाट्य कर लेता है । साधु इन्हींको एकान्त-प्रियता, भजन, सेवा, एकाग्रता, तल्लीनता, पता नहीं क्या-क्या समझते हैं । 'मेरे मनमें कितना कलुष है, यदि वे जान सकें, कोई मेरी छायाका स्पर्श भी नहीं चाहेगा !'

'तुममें तो कोई दोष है नहीं !' रघुनाथदास तनिक हँसे । 'दोष है तुम्हारी आसक्तिमें !'

'आसक्ति और मैं !' वह समझ नहीं सका कि इन दोनोंको पृथक् कैसे किया जा सकता है ।

'नेत्र, कर्ण, रसना, नासिका और त्वचा—ये ही पाँच इन्द्रियाँ तो हैं जो मनुष्यको उद्विग्न करती हैं!' रघुनाथदासने बात स्पष्ट की। 'रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श—इन विषयोंने तुम्हें लुब्ध किया, तुम उनमें प्रवृत्त हुए; किंतु इस समय तो तुमने उनसे अपनेको पृथक् कर ही लिया है। अब तो केवल ये इन्द्रियाँ अपने विषयोंकी ओर जानेका प्रयत्नमात्र करती हैं। मन उन्हीं विषयोंका चिन्तन करता है। वही इन्द्रियोंको प्रवृत्त करता है।' 'मेरा मन ही तो नहीं मानता!' उसे आशा थी कि कोई ऐसा साधन या मन्त्र बताया जायगा, जिससे मन झटपट परिवर्तित हो सकेगा।

'प्रकृतिमें तीन गुण हैं! कभी एक गुण कभी दूसरा गुण प्रबल होता ही रहता है। प्रकृतिमें प्रवृत्त होनेपर तो मन तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जीवको खींचेंगी ही।' रघुनाथदासजी जैसे बहुत सीधी बात कह रहे हों। 'मन और इन्द्रियाँ प्रकृतिमें न लगें तो यहाँ खींचेंगी भी नहीं!'

'मन यहाँ न रहे तो रहेगा कहाँ?' वह जानता है कि प्रयत्न करके भी जप एवं पूजामें उसका मन लगता नहीं।

'श्रीराघवेन्द्रमें! अंश अपने अंशीमें रहे, तभी उसमें शक्ति, तेज और महत्ता रहती है! अग्निके स्फुलिङ्ग अग्निसे दूर होकर कुछ क्षणमें ही भस्म या कोयला बन जाते हैं!' सामने धूनीमेंसे चिनगारियाँ उठ रही थीं। दोनोंकी दृष्टि उन्हींपर थी।

'मेरा प्रयत्न·······' वह क्या कहे उसके जीवनमें कोयलेकी कालिमाको छोड़कर और रहा भी क्या है। कहाँ लगता है उसका मन अंशीमें। धूनीसे निकली चिनगारियाँ इधर-उधर उठती और बुझती जा रही हैं। उनकी चट्-चट्का कोई अर्थ नहीं।

'चिनगारियोंका प्रयत्न ही उन्हें दूर नहीं ले जा रहा है, क्या यह कह सकते हो?' साधुने उसकी ओर देखा। 'अपनेको उसपर छोड़ दो और उसे प्रयत्न करने दो!'

'जप, पूजा, साधन·······?'

'पागल हो तुम! मैं कब कहता हूँ कि इन्हें मत करो!' साधुने झिड़का स्नेहसे। 'इनको इसलिये नहीं करना है कि इनसे सब हो जायगा! केवल इसलिये कि वह इनसे सन्तुष्ट होता है!'

'मन क्या मानेगा?' सबसे बड़ी कठिनाई तो यही है।

'मन और इन्द्रियाँ—यही तो तुम्हारी जटिलता है! तुम इनकी बात छोड़ दो! तुम सोचो श्रीराघवेन्द्रको, उनके दिव्य रूप, कोमल स्वभाव, मञ्जुल लीलाओंको, मनकी चिन्ता तुम्हें नहीं करनी है।' आश्रमके अध्यक्ष आ रहे थे। कोई साधु दूर गा रहा था—

'तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजे!'

'प्रेरक प्रभु—वे धनुष-बाणधारी, जटामुकुटी, वल्कलवसनविभूषित, श्यामल-गौर अवधकिशोर जो कहीं इस वनमें ही एक दिन आखेट करते फिरे थे।' वह जानता है कि यह आश्रम पञ्चवटीके विशाल क्षेत्रके समीप ही है। 'प्रभु कभी यहींसे निकले होंगे! ठीक यहींसे!' उसे लग रहा है, जैसे वे दोनों कुमार अभी-अभी निकल गये हैं। भूमिसे उसने धूलि उठाकर मस्तकसे लगायी, जैसे उनके चरण-चिह्नोंकी धूलि उठा रहा हो, इस प्रकार भावमुग्ध होकर!

'मन और इन्द्रियाँ जब प्रकृतिसे उठकर प्रेरकमें लगती हैं तो जीव अपने अंशीमें आकृष्ट हो जाता है!' रघुनाथदासने अध्यक्षकी ओर देखा। 'श्रीसमर्थकी अनुकम्पा अपार है!' अध्यक्षने संचालकके सम्मुख मस्तक झुका लिया था।

राम-राज्य

(लेखक—श्रीवसिष्ठजी)

आज सब ओरसे 'रामराज्य' की माँग है। गहराईमें जानेसे, अपने हृदयोंको टटोलनेपर हमें पता लगता है कि हममेंसे इने-गिने व्यक्ति ऐसे हैं जो किसी खास प्रकारके 'राम-राज्य' की कामना करते हैं; शेष सब अपने मनकी धारणाके राज्यकी कामना करके उस अपने मनोनीत राज्यको 'राम-राज्य' कहते हैं।

मानव-आयतनमें अवतीर्ण होकर उस युगमें—जिसकी तुलना हम आजके युगसे कदापि नहीं कर सकते—रामने मानवताके लिये कुछ मर्यादाएँ बाँधीं। ऐसी मर्यादाएँ जिनको चरितार्थ करनेके लिये हम अपने अन्तःस्थित रामसे सचेतन होकर साधनरूपमें सब कृत्योंका स्वागत कर सकें। कार्यसे कारणका पता लगानेकी प्रवृत्ति सङ्कुचित एवं भ्रान्त है। डाक्टर एक स्त्रीका हाथ काटता है, चोर एक दूसरी स्त्रीका। दोनोंका कार्य समान है—'हाथ काटना'; पर दोनोंका कारण भिन्न है। चोर लोभकी ओर उद्घाटित है; लोभ-वृत्तिने चोरको करण बनाकर दुष्प्रेरित किया है जब कि डाक्टर चिकित्साभावसे ऐसा करनेको उद्यत हुआ है। डाक्टर वधिक नहीं होता, छूरी भोंकना; नश्तर मारना उसके जीवनका लक्ष्य भी नहीं है। लक्ष्य है मानव-शरीरको निरामय करना और उस लक्ष्यको सिद्ध करनेके लिये वह विषके इंजेक्शन भी देता है, छुरियाँ भी भोंकता है, नश्तर भी मारता है। उसके इन सब कृत्योंसे रोगीको बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है। लेकिन डाक्टर ये सब कृत्य करता है और शल्य-कर्मकी पीड़ासे तड़पनेवाले रोगीसे दक्षिणा पाता है; उस व्यक्तिसे दक्षिणा पाता है जिसका उसने हाथ काट डाला है; आँख निकाल ली है। इन सब बातोंको जानते हुए भी हम अपने आपको कुछ ऐसी कठोर धारणाओंमें बाँध लेते हैं; जिनका टूटना या हमारे लिये तोड़ना असम्भव-सा हो जाता है। और इन धारणाओंको हम परम सत्य तथा उनको धारण करनेके कारण अपने-आपको परम पवित्र मानने लग जाते हैं, मानो सब कुछको परखनेकी सर्वश्रेष्ठ कसौटी वे हमारी धारणाएँ ही हैं। हम भगवान्की; अन्तःस्थित 'राम' की अन्तःप्रेरणा चाहते हैं; किंतु शर्त यह लगाते हैं कि उस रामकी अन्तःप्रेरणा हमारी धारणाओंसे बालभर भी इधरउधर न हो। हमें न 'राम'की पहचान है न रावणकी; न भगवान्की, न असुरकी।

मनुष्य हर अवस्थामें परोक्ष शक्तियोंके हाथकी कठपुतली है। वे शक्तियाँ दैव या आसुर हैं, शुभ या अशुभ हैं; आलोकित या अन्धकारमयी हैं। जब कोई किसीके द्वारा ठगा जाता है, तब लोकभाषामें उसे 'भोला' कहते हैं। हम 'भोले' शब्दका अर्थ करते हैं—साधु, सज्जन, जब कि उसका ठीक अर्थ है मूर्ख, अदूरदर्शी, अनुभवहीन। दुष्ट जब किसीको कुमन्त्रणा देता है, तब वह उसके स्वभावः मनोवृत्तिके अन्तर्गत ही चतुर भाषामें फुसलाकर सफलता प्राप्त करता है। मन्थराने जो कुमन्त्रणा दी; उसमें हितकर युक्तियोंका प्राबल्य एवं प्रचुरता थी। उसकी कुमन्त्रणा कितनी ही प्रबल थी और वह कैसी ही अकाट्य युक्तियोंके द्वारा उपस्थित की गयी थी; किंतु उस कुमन्त्रणाको स्वीकार करना, न करना कैकेयीपर निर्भर करता था। महारानी; अयोध्याकी सर्वेसर्वा कैकेयी थीं; मगर वह थीं मन्थराके हाथकी कठपुतली। नाम कैकेयीका था; पर नचानेवाली मन्थरा थी; तो अयोध्याके भाग्यकी, सुख-दुःखकी बागडोर उस कैकेयीके हाथमें थी; जो मन्थरा-द्वारा नचायी जाती थी। जबतक अयोध्याके भाग्य-विधाता ऐसे व्यक्ति होंगे—चाहे वे कैकेयी हों या दशरथ—जो मन्थराके इशारेपर नाचते हों, मन्थराकी मन्त्रणासे ही सब कुछ करते-धरते हों, तबतक अयोध्याके राज्यकी बागडोर रामके हाथमें नहीं; मन्थराके हाथमें है और रहेगी।

हमारे देशमें 'राम-राज्य' कैसे हो? इस प्रश्नपर विचार करनेसे पहले यह जानना जरूरी है कि हमारे देशका धन और आधिपत्य जिन लोगोंके हाथमें है, वे किन सूक्ष्म शक्तियों; प्रवृत्तियोंके हाथकी कठपुतली हैं? रामके या मन्थराके? प्रत्येक धनवान् 'राम-राज्य' चाहता है; किंतु वह जो धन कमाता है और व्यय करता है, वह रामकी अन्तः-प्रेरणासे या मन्थराकी अन्तःप्रेरणासे? जिन लोगोंके हाथमें आधिपत्य, अधिकार है, वे रामकी अन्तःप्रेरणाके अनुसार अपने अधिकारका उपयोग करते हैं या मन्थराकी अन्तःप्रेरणाके अनुसार? यदि धन और आधिपत्यके अधिष्ठाता मन्थरा या रावणकी अन्तःप्रेरणाके अनुसार धन और अधिकारका उपयोग करें तो 'राम-राज्यकी' कल्पना व्यर्थ है, सम्भावना असम्भव है। या जिसे दस आदमी 'राम-राज्य' कह दें, या जिसे कोई तत्कालीन तथाकथित संत 'राम-राज्य' कह

दें वही राम-राज्य है—ऐसा नहीं हो सकता । यद्यपि हर युगमें कोई-न-कोई व्यक्ति महापुरुष माना ही जाता है चाहे वह महापुरुषता पाशविक शक्तिके बलपर डिक्टेटरीद्वारा हो या जनताकी भ्रान्त धारणा या अन्धश्रद्धाके कारण । किंतु सत्य सदा ही सत्य है, चाहे उसके माननेवाला एक व्यक्ति हो या असंख्य । यदि बहुमत मिथ्या पक्षकी ओर हो तो मिथ्या सत्य नहीं बन जाता । बहुमतने जो निश्चय कर दिया, वही सत्य है और वही 'रामराज्य' है ऐसा न कभी हुआ, न होगा । बहुमतका अर्थ है वाक्चातुरीसे बनायी गयी डिक्टेटरी । सत्यका अनुयायी यदि एक व्यक्ति भी न हो तो भी सत्य सदैव सत्य रहेगा ।

अतः 'राम-राज्य' सत्यका राज्य चाहनेके लिये धनवान् और अधिष्ठाताको अन्तर्यामी 'राम' की अन्तःप्रेरणाके अनुसार चलना होगा न कि अपनी नपी-तुली धारणाके अनुसार या जिस-तिसकी शुभ प्रतीत होनेवाली मन्त्रणाके अनुसार । जबतक जर्मनीकी सम्पत्ति, जर्मनीका अधिकार, सेना एवं प्रजा हिटलरके आदेशानुसार काममें लायी गयी तब-तक जर्मनीमें हिटलरका राज्य था, रामका नहीं । हमारे अपने देशका धन, सम्पत्ति, कल-कारखाने, उद्योग-धंधे, जमींदारी एवं राज्यकी बागडोर जिन मनुष्योंके हाथमें है, वे किन शक्तियोंके द्वारा अन्तःप्रेरित हो रहे हैं, सब इस बातपर निर्भर करता है।

यदि धनवान् अपने धनका एक-एक पैसा अन्तःस्थित रामकी—न कि जिस-तिसकी प्रवृत्तिकी—प्रेरणाके अनुसार व्यय कर रहा है; यदि कल-कारखानेवाले, उद्योगपति, व्यापारी, जमींदार सब अपने धनको रामकी प्रेरणाके अनुसार व्यय कर रहे हैं। यदि शासकवर्ग रामकी अन्तःप्रेरणाके अनुसार राजकार्य कर रहा है, राजस्वका व्यय रामकी अन्तः-प्रेरणाके द्वारा ही हो रहा है तो 'राम-राज्य' हमारे देशमें सर्वत्र व्यापक है ही । चोरबाजारी, छल-झूठ, दुराचार, अस्वास्थ्यकर गंदी चीजोंका खाद्यान्नोंमें मिश्रण, महँगाई, भ्रष्टाचार, देशका विभाजन, दुर्भिक्ष, असन्तोष, सर्वत्र हाहाकार सब ही राम-राज्यके चमत्कार हैं ! और यदि ये सब बातें राम-राज्यसे भिन्न हैं तो समझना चाहिये कि हम सब वही कर रहे हैं जो 'सूक्ष्म' रावणकी कुप्रवृत्तियाँ हमें कुमन्त्रणा दे रही हैं । रामके पास न कोई जनशून्य उर्वर देश है, न अतुल सम्पत्ति एवं लाखों मन स्वर्णका भण्डार और न अणुबम-जैसे घातक अस्त्रोंसे सुसज्जित असंख्य मानव-सैनिकोंसे भरपूर कोई सेना ही कि वे अपने जनशून्य देशमें 'राम-राज्य' की छत्रछायामें रहनेके लिये उत्सुक लोगोंको आमन्त्रित कर सकें या स्वर्णके द्वारा देश-देशान्तरको क्रय कर लें या फिर हिटलरकी तरह सर्वत्र आक्रमण करके अपना डिक्टेटरी 'राम-राज्य' स्थापित कर दें; क्योंकि उन्होंने समस्त देश और सम्पत्ति उन मानवोंके ट्रस्टमें दे दी है, जो स्वाधीन हैं, भगवान्‌की अन्तः-प्रेरणाके अनुसार चलकर 'राम-राज्य' स्थापित करनेको या असुरकी अन्तःप्रेरणाके अनुसार चलकर 'रावण-राज्य' स्थापित करनेको । और यदि यह हो भी जाय कि 'राम' किसी जनशून्य देशमें हमें बसाने लगें तो आखिर हम भी तो कुछ हैं ही । 'राम' के जनशून्य देशमें बसकर उस नूतन उपनिवेशको 'राम-राज्य' के नामसे प्रख्यात करनेवाले हम अयोध्यावासी भी तो स्वच्छन्द होंगे धोबीकी कुमन्त्रणा स्वीकार करनेको । कुमन्त्रणाएँ, कुप्रवृत्तियाँ तो हमें गिद्ध, चील एवं मक्खियोंकी तरह हर समय घेरे रहेंगी। अन्ततोगत्वा उन्हींकी प्रेरणाओंको हम शिव-सङ्कल्प मानेंगे और कुछ ही दिनोंमें 'राम' के नूतन उपनिवेशको 'रावण' का दुर्गम दुर्ग बना डालेंगे !

धन और आधिपत्य भौतिक जगत्में दो महान् शक्तियाँ हैं । एक करोड़पति अपनी एक करोड़ रुपयेकी पूँजीसे हजारों मनुष्योंको निर्वाह, सुख, सुविधा देकर दिव्य या अदिव्य, शुभ या अशुभ यहाँतक कि राक्षसी और पैशाचिक कार्य कर सकता है, करा सकता है । यह सब पूँजीपतिपर—चाहे वह जमींदार हो, राजा हो, उद्योगपति या विख्यात व्यापारी—निर्भर करता है कि वह अपने धनको, धनशक्तिको किन प्रवृत्तियों, शक्तियोंके सुझावपर व्यय करता है, उपयोगमें लाता है; 'राम' की दिव्य शक्तियोंके सुझावके अनुसार या 'रावण' की आसुरी शक्तियोंके सुझावके अनुसार ।

जिसने धन उपार्जन किया है, साधारणतः नैतिक न्यायकी साधारण परिपाटीके अनुसार वह धन उसका ही है; किंतु यदि वह व्यक्ति अपने धनको ऐसे कार्योंमें एवं ऐसी प्रक्रियामें व्यय करता है कि भारत-सङ्घको हानि और पाकिस्तानको भारत-सङ्घकी सीमामें षड्यन्त्रकी सफलता मिले तब भारत-सङ्घ-सरकार ऐसे व्यक्तिके सब धनको—जिसका कि वह न्यायतः स्वामी है—बलात् छीन लेती है; उस धनको छीन लेती है जो भारत-सरकारका नहीं, उस धनको छीन लेती है जिसे धनपतिने परिश्रम एवं ईमानदारीसे कमाया था । तब 'रामराज्य' को चाहनेवाली जनता ऐसे व्यक्तियों,

समुदायों, यहाँतक कि रजवाड़ों एवं सरकारोंतकको क्यों स्वीकार करेगी जो 'राम' के स्थानमें आसुरी शक्तियोंकी कुमन्त्रणाके हाथकी कठपुतली हैं। इसलिये जिस देशके धनवान्, सत्ताधारी शासक और अधिपति अज्ञान, अन्धकारकी ससीम, सङ्कुचित शक्तियोंकी प्रेरणा या सुझावके प्रति उद्घाटित हैं, उस देशकी धनराशि, आधिपत्य सब सङ्कीर्ण, ससीम अज्ञानके सुझावोंपर व्यय होंगे, आसुरी सङ्कल्पकी पूर्तिमें व्यय होंगे और वहाँ असुरकी अन्तःप्रेरणाका बोलबाला होगा न कि 'राम' की अन्तःप्रेरणाका।

भगवान्की सन्तान, प्रजा ही—जिसका आज धातुपाठ है, जनता—वह निकेतन, घर या यन्त्र है, जिसको दैव या आसुरी प्रवृत्तियाँ करणरूपमें उपयोग करती हैं। सत्य या मिथ्या, प्रकाश या अन्धकार, शुभ या अशुभ, भगवान् या असुर इस 'मनुष्य'को ही निकेतन बनाकर निवास करता है, यन्त्री होकर ही यन्त्ररूपमें उपयोग करता है, यन्त्री बनकर ही मन्त्रणा देता है। यदि सत्ताधारी, सम्पत्तिशाली एवं अधिपतिने अपने-आपको या अपने सामर्थ्यको निकेतनरूपमें असुरको दे दिया है, जनताने अपने-आपको सत्ता-सत्त्व-विरोधी जड़यन्त्रवादी कम्यूनिष्टको दे दिया है तो यन्त्रोंपर, मानवसत्ताओंपर अधिकार असुरोंका होगा, रामका नहीं—चाहे वे यन्त्री आपसमें विरोधी हों या अनुकूल। तब भगवान्को, रामको न धनवान् उपलब्ध होगा, न अधिपति और न जनता। किसपर वे अपना 'राम-राज्य' स्थापित करेंगे? 'राम-राज्य' चाहनेवालोंने भी जब अपनी गतिविधि रावणके, असुरके सुझावपर निर्भर कर दी हो तब भगवान् 'राम' रौद्र रूप-रेखामें पूँजीवादी और जड़ साम्यवादी दो महान् असुरोंको लड़ाकर लंका-दहन तो करा सकते हैं। राम-राज्यकी स्थापना नहीं कर सकते। हममेंसे कौन है जो अपने सामर्थ्य, सम्पत्ति आदिको, अपने सर्वस्वको बिना किसी शर्तके 'राम'के विधानपर न्योछावर करनेको कटिबद्ध हो? एक ओर हम कम्यूनिज्मकी निन्दा करते हैं कि वह 'मनुष्य'को केवल खाने-पीनेके लिये जीनेवाला तथाकथित 'सुधरा हुआ' पशु बनाना चाहता है और वह भी व्यक्तिकी स्वेच्छासे नहीं बल्कि उसपर उस तथाकथित 'सुधरे हुए' पशुपनको बलात् लादकर और व्यष्टिको समष्टिमें स्वाहा करके, जब कि जरूरत है व्यष्टिको वृक्षकी तरह अपने-आपको विकसित करते हुए समष्टिके उद्यानको हरा-भरा बनानेकी। तो दूसरी ओर हम उतावले होकर तथाकथित 'सुधरे हुए' उसी जड़वादके 'पशुपन'से सम्पूर्ण एशियाको एवं तत्पश्चात् सम्पूर्ण धरणीको आच्छादित करनेके लिये कटिबद्ध स्टालिन-माचके लालचीन-को अपना एशियाई अन्तरंग बना लेते हैं जो आये दिन हमें अपना प्रतिद्वन्द्वी पूँजीवादी कहकर मास्कोसे चस्पां करनेकी योजना बना रहा है!

एक युग गुजर चुका है जिसमें यन्त्रीने यन्त्रको, निवासीने निकेतनको 'मायावाद' कहकर उस प्रकृतिका तिरस्कार तथा बहिष्कार किया और वह महान् यन्त्रवाला महान् यन्त्री भारत, भारतका आत्मा, जीर्ण-शीर्ण कुटियाका कंगाल बन गया। उसी कंगालीसे खिन्न होकर आज पश्चिमने दृष्टिगोचर जीर्ण-शीर्ण कुटियाको अजेय राजप्रासाद बनानेके लिये अदृश्य यन्त्रीको, निकेतनके निवासीको मायावाद कहकर अस्वीकार करना आरम्भ कर दिया है ताकि वह निवासीके मायावादसे मुक्त होकर जीर्ण-शीर्ण कुटियाको राजप्रासाद बना सके। किंतु वह राजप्रासाद किसके लिये? एक विकसनशील निवासी, एक शिक्षणशील यन्त्री, एक विवर्तनशील (evolving) आत्माकी अस्तित्व-प्रतिष्ठाके बिना केवल जिस-तिसका करण बनकर उपयोगमें लानेवाली एक आसुरी प्रवृत्तिके लिये वह राजप्रासाद एक भूतोंका डेरा होगा, अमृतके पुत्र किसी भद्र राजकुमारका शान्तिनिकेतन नहीं। निकेतनका निवासी निकेतनको माया मानकर कंगाल हुआ था, किंतु राजप्रासादका निवासी अपनेको ईंट-पत्थरका विकार मानकर ईंट-पत्थरसे भी गया-बीता बनने जा रहा है। जीर्ण-शीर्ण करुण कुटिया राजप्रासादकी रूप-रेखामें वधिकशाला बनायी जा रही है। और हम मनसूबे बाँध रहे हैं, उस वधिक-शालासे अयोध्याके रामके महलके राम-राज्यकी झाँकी लेनेकी।

महापण्डित रावणकी तरह आत्मामें अपरिपक्व, आसुरी प्रवृत्तियोंकी ओर उद्घाटित शम्बूक राजाने शक्तियोंके प्रभुत्वके लिये यज्ञ, तप और साधना की। प्रकृतिमें आवर्तित (involved) राजा शम्बूकमें छिपी हुई दुर्बलता आसुरी शक्तियोंकी उपासक बनकर या उसकी अशक्त चेतना अन्ध-प्रवृत्तियोंका आखेट बनकर साधुताकी रूप-रेखामें भागवत संकल्पके विकासको रोक देगी यह प्रत्यक्ष देखकर मर्यादा-पुरुषोत्तम रामने शम्बूकके यज्ञ, तप और साधनाको जहाँ-का-तहाँ स्थगित कर दिया। गुह्यज्ञान, सूक्ष्म दृष्टिसे वञ्चित आज-के धुरन्धर मेधावी—जो केवल चर्म-चक्षुसे ही किसी वस्तुके केवल स्थूल रूपको ही देख सकते हैं—परात्पर पुरुषोत्तम रामके इस रहस्यको नहीं समझ सकते और इसीलिये वे आज

भावी सम्भावनाओंकी, भावी सत्यसंकल्पकी उपेक्षा करके केवल अदूरदर्शी मजदूर जनताके बहुमतको प्रसन्न करके अपने नन्हे-से व्यक्तित्वके निमित्त साधुवाद बटोरनेके लिये 'लालचीन'को स्वीकार करके नाजीवादसे भी भयङ्कर खतरेको मानव-जाति-के भावी संहारके लिये सरसब्ज कर रहे हैं और अभिलाषा कर रहे हैं 'राम-राज्य' की। गुह्यज्ञान (occultism) की उपेक्षा करनेवाले आजके मेधावी एकलव्यको शिक्षा न देनेवाले द्रोणाचार्यकी आलोचना कर सकते हैं; किंतु तत्कालीन राजनीतिकी रूप-रेखाके अनुसार एकलव्यकी विनयशीलता और भक्तिसे द्रवित होकर उस अपात्रको धनुर्धारी बना देना वैसा ही भयानक हो सकता था जैसा कि कासिम रजवी या मद्रास प्रान्तके किसी कम्युनिस्ट आतङ्कवादीको अणुबम बनानेकी शिक्षा देना। कासिम रजवी भी अपने विद्यार्थी-जीवनके आरम्भमें, एक गरीब लड़केकी हैसियतसे, जब वह मुस्लिम युनिवर्सिटी अलीगढ़में पढ़ता था, एकलव्यसे भी अधिक विनयशील था। किसी राष्ट्रकी राजनीतिकी समष्टिमें किसी व्यक्तिविशेषके सौजन्यका कोई खास मूल्य नहीं हो सकता। स्वयं श्रीकृष्णने दम्भ और दर्पसे विपाक बनी हुई राजकुलों-की सङ्घर्षकारिणी अभेद्य शक्तिको मिटानेके लिये—ताकि चक्रवर्ती राज्य-लोलुपताकी स्पर्धा नष्ट-भ्रष्ट हो जावे—खाण्डव-दाहके वीभत्स व्यापारसे ही श्रीगणेश किया था। जो कुफ्र उतारता है, तूफ़ान बरपा कर देता है, वह काफ़िर है, शैतान है, आसुरी शक्तियोंका करण है। जो अध्यात्ममें अविवर्तित (unevolved) है, जिसकी अन्तश्चेतना अविद्यामें, अज्ञानमें आवर्तित (involved) है वह आत्मामें अव्यक्त है, अज्ञानकी आसुरी शक्तियोंके चंगुलमें है, वह सत्ताके प्रगतिशील विवर्तन (evolution) के मार्गमें कण्टक है और वही शूद्र है चाहे वह विद्या, बुद्धिमें कितना ही प्रवीण क्यों न हो। ऐसा व्यक्ति कोई भी क्यों न हो। वह जितना ही बुद्धिमें कुशाग्र, पाण्डित्यमें प्रवीण, अधिकार, ख्याति, सम्पत्ति आदिमें सम्पन्न होगा उतना ही असुरके लिये उपयोगी होगा। आसुरी शक्तियाँ ऐसे ही व्यक्तियोंको उनके शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार अपना करण बनाकर आये दिन पूँजीवाद या साम्यवादके वीभत्स रक्तरञ्जित 'वाद' उपस्थित किया करती हैं और हम गुह्यज्ञान (occultism) से अनभिज्ञ होनेके कारण उनके पीछे रहनेवाली और उनको प्रगति देनेवाली सूक्ष्म, अन्धशक्तियोंसे अनभिज्ञ रहते हैं जब कि प्राचीन कालके राजनीतिज्ञ गुह्यज्ञानी (occultists) इन सब बातोंको देखकर भविष्यका निर्णय किया करते थे। यदि आजके राजनैतिक सूक्ष्म शक्तियोंके गुह्यदर्शी (occultists) होते या वे अपनी गतिविधिका पथ-प्रदर्शन किसी सूक्ष्मदर्शीके अनुभवके द्वारा कराते तो उन्हें हिटलरके शक्ति-सम्पन्न बननेसे पहले उसके सम्बन्धमें वहीं निर्णय कर लेना पड़ता जो मर्यादा-पुरुषोत्तम रामने शम्बूकके लिये और द्रोणाचार्यने एकलव्यके लिये किया था। आज हम प्राचीन कालकी अलङ्कारयुक्त काव्यमयी भाषाका आधुनिक शैलीसे अर्थ लगाकर मर्यादा-पुरुषोत्तम रामकी और गुरु द्रोणाचार्यकी आलोचना कर सकते हैं। जीवनकी शैली भले ही भिन्न हों—जो युग-युगमें सदा ही देश, काल, पात्रकी भूमिकामें भिन्न हुआ करती हैं—पर आधुनिक हिटलर तपस्या, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक आहार, विनय-शीलता, शिष्टाचार और इष्टदेवके प्रति शरणागति और समर्पणमें प्राचीन शम्बूक और एकलव्यसे कहीं बढ़-चढ़कर था। और हम भी उसके 'स्वस्तिक' प्रतीक और 'आर्य' उपाधिके कारण उसको हिंदू-संस्कृतिका उद्धारक, आर्यत्वका संस्थापक मानने लग गये थे जब कि अतीतकालमें सूक्ष्मदर्शी (occultists) के निर्णयपर चलनेवाली 'प्रजा' महापण्डित शिखासूत्रधारी वैदिक कर्मकाण्डी द्विज दशाननको भी 'राक्षस' ही मानती थी। नैतिक विधान और शारीरिक तपस्याएँ मस्तिष्क और बुद्धि-विचारका चमत्कार हैं जो हृदयकी विशालताके बिना असुरके लिये ही उपयोगी हो जाया करती हैं। यदि कहीं मर्यादा-पुरुषोत्तम रामने शम्बूकको और द्रोणाचार्यने एकलव्यको हिटलरकी तरह शक्तिसम्पन्न बन जाने दिये होता तो उन्हें भी अपने युगमें उन्हीं कठिनाइयों और विपत्तियोंमेंसे गुजरना पड़ता, जिन विपत्तियोंमेंसे आजके राजनैतिक नेता हिटलरकी मार खाकर गुजर रहे हैं। अतीतकालके सूक्ष्मदर्शी (occultists) शक्तिसम्पन्न रावण, कंस, दुर्योधन, वालि-जैसे अध्यात्म-अक्षम राजाओंको मिटानेकी तथा शम्बूक और एकलव्य-जैसे अध्यात्म-अक्षम व्यक्तियोंको शक्ति और सामर्थ्य उपलब्ध करनेसे वञ्चित करनेकी योजना बनाते थे। और आजके राजनीतिज्ञ केवल अपने राष्ट्रके धनलोलुप व्यापारियों-को क्षणिक लाभ पहुँचानेके लिये हिटलर, स्टालिन और माव-जैसे व्यक्तियोंको शक्तिशाली बननेमें सहयोग दे रहे हैं और मानवताके लिये इनके द्वारा लायी जानेवाली आसन्न विपत्तिकी ओर दृष्टिपात नहीं करते। हम राम-राज्यके अभिलाषी होकर उन शक्तिशाली डिक्टेटरोंकी शक्ति और प्रभुत्वको बढ़ा रहे हैं जो उन अतिभौतिक शक्तियोंके यन्त्र हैं जिनका लक्ष्य है मर्यादापुरुषोत्तम रामकी मर्यादाओंको मिटाना। मरणासन्न

पूँजीवादको मिटाना उनका लक्ष्य नहीं है वल्कि ऐसी घोषणा करना उनकी छद्म साधुताका, जन-हित-मरीचिकाका ट्रेड मार्क है ।

अतः 'राम-राज्य'की, भगवान्‌के राज्यकी सम्भावनाके तीन साधन हो सकते हैं । प्रथम—धनपति, सत्ताधारी शासक, जिनके हाथमें आधिपत्य है, रामकी ओर भगवान्‌की ओर उद्घाटित हों और रामके द्वारा जिस प्रकार अन्तःप्रेरित हों उस प्रकारसे धन-शक्ति, अधिकार, आधिपत्यका उपयोग करें । दूसरा—धन-शक्ति, अधिकार, आधिपत्य ऐसे मनुष्योंके हाथोंमें पहुँचा दिये जायें जो एकमात्र भगवान् रामके द्वारा ही प्रभावित होते हैं, हो सकते हैं और भगवान् रामकी अन्तःप्रेरणाके अनुसार ही धनका उपयोग कर सकते हैं, करते हैं । तीसरा—धनवान्, सत्ताधारी, अधिपति अपनी धन-शक्ति और आधिपत्य-का उपयोग एवं व्यय ऐसे व्यक्तियोंके आदेशपर करें जो अबाध-रूपमें भगवान् रामकी अन्तःप्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं और करते हैं । पर भगवान् रामकी अन्तःप्रेरणाका पता लगाना महाकठिन है । कारण, भगवान् राम ही एकमात्र शक्ति नहीं हैं । अनेक शक्तियाँ हैं जो ऐसी साधु-भाषामें, जो हर किसी-को रामकी दिव्य भाषा प्रतीत हो सकती है, अन्तःप्रेरित कर सकती हैं, कुमन्त्रणा दे सकती हैं और विशेषतः तब, जब कि अन्तःप्रेरित होनेवालोंकी धारणाएँ, सङ्कुचित, ससीम, कठोर, अनन्य और अपरिवर्तनशील हों । ये अन्ध-शक्तियाँ तुरंत ही हर किसीको—साधु-भाषामें भी—बिना माँगे सलाह देनेको उद्यत हो जाती हैं वल्कि सलाह देने लगती हैं जिन्हें हम अपनी बुद्धिका विचार-चातुर्य मान लेते हैं या कोई-कोई भगवान् 'राम'की अन्तःप्रेरणा ।

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'

सत्यका मुख चमकीले सुनहरे ढकनेसे ढका हुआ है । सुवर्ण सुनहरा होता है परंतु वह सब जो सुनहरा होता है सुवर्ण नहीं होता । पीतल भी सुनहरा होता है और पीतल एवं स्वर्णके सुनहरेपनमें जो अन्तर है वह अनुभवकी चीज है । इसलिये यदि कोई परिवार, कुल, राष्ट्र या देश स्वर्णमय बनना चाहता है तो वह सोने और पीतलके भेदको पहचानकर सुवर्णका वरण करनेकी योग्यता प्राप्त करे; किंतु यह सबके लिये सम्भव नहीं, सब पारखी नहीं बन सकते । तब वह परिवार, कुल, राष्ट्र या देश अपनी क्रय-शक्तिको, धनको ऐसे व्यक्तियोंको सौंप दे, जो स्वर्ण और पीतलका भेद निमेषमात्रमें जान लेते हैं; किंतु यदि इतनी उदारता और निःस्वार्थ सम्भव नहीं हैं तो क्रय-कार्य ऐसे अनुभवीके द्वारा हो जो पारखी हो स्वर्ण और पीतलका भेद जाननेमें । इसी प्रकार 'राम-राज्य' रूपी स्वर्णसे देशका भण्डार तब भरपूर हो सकता है जब धन-शक्ति और आधिपत्यका उपयोग ऐसे व्यक्तियोंके निर्भ्रान्त निर्णयपर किया जाय जो यह जाननेकी सामर्थ्य रखते हैं कि परात्पर पुरुषोत्तम राम भारतके कल्याणके लिये क्या निर्देश कर सकते हैं और जो पहचान सकते हैं कि ऋषिकी वाणीमें सीताको उपदेश देनेवाला व्यक्ति असुर 'रावण' है और हा लक्ष्मण ! कहकर चिल्लानेवाला मारीच है, वह पुकार भगवान् 'राम'की नहीं है । महात्माओंसे भी अधिक पवित्र सीताजीका अनुभव—जिसके कारण उन्होंने साकार ऋषि और रावण, मारीच और रामकी वाणीमें भेद न जाना—हमें यह बताता है कि 'राम' और 'रावण' की, भगवान् और असुरकी अन्तः-प्रेरणाको पहचाननेमें 'महात्मा' भी धोखा खा जाते हैं । क्योंकि आसुरी और दैवशक्तियाँ तो निराकार रूपमें ही अन्तःप्रेरणा देती हैं, दाशरथि राम या लंकेश रावणकी तरह स्थूल शरीर-में तो क्या सूक्ष्म शरीरमें भी उपस्थित नहीं होतीं । सत्य कितना ही ज्योतिर्मय हो पर आवरण भी हिरण्मय होता है ।

अनुभव हमें बताता है कि अंग्रेज १९४२ में विपत्तिमें फँसे हुए थे, उनके उपनिवेश छिन चुके थे, उस समय उनको निकालना आसान था पर न हम उन्हें निकाल सके और न वे निकले । किंतु १९४५ में वे सर्वविजयी और निरापद होकर भारत छोड़नेको एकदम उद्यत हो गये और १९४७ में झटपट उल्टा-सीधा उत्तरदायित्व हमारे सिर पटककर चलते बने । जो कुछ हो गया है उससे प्रतीत होता है कि जर्मनी और जापानकी अन्तिम पराजय निश्चित थी और यह भगवान्‌का सङ्कल्प था । भले ही हम इसे नहीं जानते थे और न जाननेके लिये इच्छुक ही थे; क्योंकि हमारी धारणा अंग्रेजोंके विरुद्ध विद्वेषात्मक हो चुकी थी । उस समय हम आपत्तिग्रस्त अंग्रेजोंको दिवालिया और पराजित समझकर अपने देशको बचानेके लिये जापानसे सन्धि करनेकी सोच रहे थे, मानो अपनी ही संस्कृतिके अनुयायी चीनको हस्तगत करनेके लिये कटिबद्ध टोजो अपनी संस्कृतिसे कहीं भिन्न संस्कृतिवाले भारतको संतोंकी साधुताके लिये छोड़ देता ! और अपनी इस धारणाको हम भगवान् 'राम' की अन्तःप्रेरणा मान रहे थे । उस समय हमें यह सूझता ही न था कि यदि १९४२ में अंग्रेज चले जाते और जाते-जाते १९४२ की गड़बड़को एक भयानक अराजकताका रूप दे जाते तो टोजो भारतीयोंको पशुकी तरह उपयोगमें

लानेके लिये वर्मासे आ जाता और देशभक्तिका दम भरनेवाले मानवोंका वध करवाकर मुस्लिम-लीगियोंको सिविल सर्विसके मञ्चपर सुशोभित कर देता ! मुस्लिम-लीगद्वारा कराये गये विभाजनसे उत्पन्न विभीषिका इस बातका प्रमाण है कि उपर्युक्त दुर्घटना कितनी सहज सम्भव थी। अब प्रतीत हो रहा है कि जो कुछ हमें १९४७ में मिला वह सब कुछ १९४२ में क्रियात्मक रूपसे और १९४५ में वैधानिक रूपसे मिल जाता और देशका विभाजन भी न होता तथा १९४२ के अन्ततक ही मुस्लिम-लीगकी कब्र भी बनवा दी जाती !

उपर्युक्त प्रकारकी विद्वेषात्मक धारणाके होते हुए क्या हम किसी ऐसे व्यक्तिसे परामर्श करनेकी कल्पना कर सकते थे जो भागवत-चेतनासे एकाकार होकर यह बतानेकी सामर्थ्य रखता हो कि हमें पुनः प्रान्तीय मिनिस्ट्रीको स्वीकार करके क्रिप्स-प्रोपोजल्सके अन्तर्गत केन्द्रिय सरकार बनाकर जापानको पराजित करनेका तन, मन, धनसे प्रयत्न करना चाहिये या ऐसे नाजुक समयमें 'भारत छोड़ो' का विप्लव खड़ा करके टोजोकी सेनाको शीघ्र दिल्ली हस्तगत करनेका अन्यथा उपयुक्त सुयोग प्रदान करना चाहिये ? और क्या यह सम्भव हो सकता था कि हम अपनी धारणा और कल्पनाके प्रतिकूल इस परामर्शको स्वीकारकर लेते कि कॉंग्रेस मिनिस्ट्री बनाकर प्रान्तीय और केन्द्रिय सरकारें बना लो और अंग्रेजोंकी ही नहीं बल्कि एशियातककी रक्षाके लिये जापानको पराजित करो और सदाके लिये मुस्लिम लीग और पाकिस्तानकी मॉंगको शक्तिके बलसे मिटा दो ! अंग्रेजी हुकूमतसे विरोध करनेवाले किंतु अंग्रेजियतपर मोहित प्रमुख भारतीय यह कैसे विश्वास कर सकते थे कि राजनैतिक लेक्चर देनेवालोंकी दुनियासे दूर रहनेवाला कोई 'राम' का भक्त राजनीतिकी भित्तिपर 'राम' से कोई भविष्यवाणी प्राप्त कर सकता है ?

आखिर हमें बुरी तरह लज्जित होना पड़ा। देशका विभाजन देखना पड़ा। नर-हत्याओंका ताण्डव नृत्य देखा और देख रहे हैं हिंदू-मुस्लिम-विद्वेषका वह नासूर, जो भरनेमें नहीं आता। एक ही शरीरके दो अङ्ग एक दूसरेके गैर बन गये। पाकिस्तान भारतके शरीरका वह बायाँ हाथ है जिसमें ऐग्जिमा हो गया है और वह उस विद्वेषके ऐग्जिमेके चेपको शेष शरीरमें पोतनेपर तुला है और हम 'रावण' की शक्तियोंकी मधु-मण्डित विषाक्त प्रेरणाओंपर, सुझावोंपर नाच रहे हैं और सपने देख रहे हैं 'राम-राज्य' के ! हरएक कटिबद्ध है अपने सङ्कीर्ण और घृणित स्वार्थको पूर्णतः सिद्ध करनेके लिये, चाहे उसे किसीका गला ही क्यों न काटना पड़े। किंतु वह भी राम-राज्यका सपना देख रहा है ! मजदूर चाहता है कारखानेमें कुछ भी काम न करके मैनेजरकी तनख्वाह हड़पना, बादमें कारखानेकी मशीनें तोड़कर मिल-मालिकके घरको लूट लेना, किंतु सपना मजदूर भी राम-राज्यका देखता है ! और मिलमालिक चाहता है कि मजदूर चाँदीका रुपया धोकर सेठजीको वापस कर दे, धोवन (मैले पानी) का आचमन करके दिनभर कारखानेमें काम करे 'जल पीवै तो पीवै न खावै कछु अरु वित्तको चित्त चलावै नहिं' पर ऐसा उदार मिलमालिक भी 'राम-राज्य' चाहता है !

जबतक देशके धन और आधिपत्यका उपयोग उन व्यक्तियोंकी स्वेच्छाके अनुसार हो रहा है जो यथार्थसे भिन्न अर्धसत्य या असत्यकी अन्धकारमयी शक्तियोंकी ओर उद्घाटित हैं, उनके आदेशानुसार धन और आधिपत्यका उपयोग कर रहे हैं तबतक 'राम-राज्य' नहीं, किसी दूसरेका ही राज्य है। धन्यवाद है उन भगवान्‌को जिन्होंने १९४२ से १९४५ तक हमारी येन केन प्रकारेण रक्षा की और हमारे अतिशय हताश, निराश और थके हुए होनेपर भी अन्ताराष्ट्रिय झमेलोंकी उलझनोंको उलझाकर हमें स्वाधीनता प्रदान करायी।

यदि सचमुच हम 'रामराज्य', भगवान्‌का राज्य—सत्यका राज्य चाहते हैं तब यह एकमात्र भगवान्‌के द्वारा, उन व्यक्तियोंके द्वारा सम्भव हो सकता है जो भगवान्‌से एकाकार हो चुके हैं, हो रहे हैं।

भगवान् कैसा विधि-विधान चालू करेंगे यह काम भगवान्‌का है, हमारा नहीं। हममेंसे सबसे चतुर और कुशाग्रबुद्धि जैसा विचार और निर्णय करके जो कुछ हित और शुभ कर सकता है कम-से-कम उतना हित और शुभ भगवान् कर ही देंगे, इस नन्हीं-सी किंतु अटूट श्रद्धासे आरम्भ करके भगवान्‌पर भरोसा करना ही पड़ेगा। स्वयं यह पहचाननेमें असमर्थ कि कौन-सी प्रेरणा आसुरी शक्तियोंकी (evil forces) ओरसे है और कौन-सी प्रेरणा भगवान्‌की ओरसे, हमें ऐसे व्यक्तियोंपर अटूट विश्वास करना पड़ेगा जो भगवान्‌से तादात्म्य स्थापित कर चुके हैं या कर रहे हैं।

भगवान्‌के राज्यके लिये यह कोई अटपटी, अद्भुत शर्त नहीं है। चिकित्साशास्त्रसे अनभिज्ञ रोगीको भी चिकित्सकपर विश्वास करना पड़ता है, यहाँतक कि अनेक बार रोगके प्रकोपको उत्तरोत्तर बढ़ानेवाली ओषधियोंको धैर्य, सन्तोष

और विश्वासके साथ सेवन करना पड़ता है। यह सब चिकित्सक-की आज्ञाकारिता और प्रतिष्ठाके लिये नहीं, प्रत्युत रोगीकी भलाईके लिये कराया जाता है और यह रहस्य इसलिये अज्ञात रहता है; क्योंकि रोगी चिकित्सा-शास्त्रके ज्ञानसे अनभिज्ञ है।

भगवान् ही हमपर इतनी कृपा और करें कि हम अपने 'मैंपन' को, अपनी 'ख्यातिके बड़प्पनको कुछ संवरण करके, एक ओर रखकर उन पुरुषोंसे भी पूछ लेनेकी उदारता दिखाने लगें जो भगवान्‌के सङ्कल्पको पहचाननेकी चेष्टामें संलग्न हैं।

नारीका आदर्श

(लेखिका—श्रीचन्द्रकान्ता माथुर, एम्० ए०)

आधुनिक स्वतन्त्र भारतमें 'नारी' भी एक जटिल समस्या बन गयी है और इसीलिये प्रत्येक धुरन्धर विद्वान् अपने मस्तिष्कद्वारा उसपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न कर रहे हैं। प्रत्येक ओर स्वतन्त्रताकी, स्वत्वकी माँग है, इसीको देखकर असमय ही नारी भी अपने स्वत्वकी अविवेकभरी माँग कर बैठी। पर वह स्वयं इससे अनभिज्ञ है कि वह जो माँग रही है वह उसके लिये श्रेयस्कर भी है या नहीं, और भावावेशमें सम्भवतः वह यह जानना भी नहीं चाहती। वह अपने पथसे, अपने उद्देश्यसे तनिक विचलित हो चली है। वह भूल रही है कि उसका कर्मक्षेत्र दूसरा है। पर यह दोष केवल उसीका नहीं है, दोष है पाश्चात्त्य सभ्यता और संस्कृतिका, दोष है पुरुषका भी जिसने प्राचीन संस्कृतिको छोड़कर नारीके उज्ज्वलतम स्वरूपको मलिन करके उसको अधोगामिनी बना दिया, उसके आत्माभिमानको ठेस पहुँचायी, उसे निरादरकी अनुचित दृष्टिसे देखा, उसके व्यक्तित्वको अपने ही क्षेत्रमें विकसित न होने दिया, समाजमें सुप्रतिष्ठित उसके गौरवमय स्थानका हरण कर लिया और उसे अज्ञानके अन्धकूपमें डाल दिया। यह थी मध्ययुगमें नारियोंकी दशा—और अब जो कुछ हो रहा है वह है उसकी प्रतिक्रिया, केवल पुरुषकृत अन्यायका प्रतिशोध। पर यह कहाँतक उचित है इसको नारीने कभी नहीं सोचा, अन्यायको मिटाया जाय पर क्या अपनेको मिटाकर ? यह केवल नीच प्रवृत्ति है जो उसके पतनका कारण है। जीवनका ध्येय यह नहीं कि प्रतिकारकी भावनामें, प्रतिशोधके पागलपनमें वह अपने नारी-सुलभ सुन्दर सुगौरवपूर्ण गुणोंको तिलाञ्जलि दे दे। इसमें तो वह स्वयं अपना ही विनाश करेगी!

प्राचीन नारीका दृष्टान्त जब हमारे समक्ष आता है, तब हमारा मस्तक गर्वसे ऊँचा हो जाता है यह सोचकर कि हम भी उन्हीं आर्य-देवियोंकी सन्तान हैं जिन देवियोंने समराङ्गणमें भी समय पड़नेपर शत्रुओंको परास्त किया था। जिन्होंने अपने बाहुबलसे अपने सतीत्वकी रक्षा की थी और जिन देवियोंने अपने 'मातृत्वपद' की शोभाको विशेषरूपसे जाज्वल्यमान किया था। यही नहीं, ऐसी विदुषी नारियाँ थीं जो गहन शास्त्रार्थमें भाग लिया करती थीं। नारी सेवा और त्यागकी प्रतिमा थी और इसीके परिणामस्वरूप उसने पुरुष-समाजमें एक अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त किया था। सीताजीने आजीवन वनवास सहा, पर कदापि श्रीरामचन्द्रजीपर अभियोग नहीं लगाया। उर्मिलाने चौदह वर्षपर्यन्त विरह-व्यथा सही पर लक्ष्मणजीको कभी उपालम्भ नहीं दिया, क्योंकि वह इससे अभिज्ञ थी कि लक्ष्मण अपने कर्तव्य-पथपर अटल हैं। श्रीपार्वतीजीने भगवान् शिवकी प्राप्तिके लिये कठोर तपस्या की और जब शिव छद्मवेष धारण करके उनके समक्ष शिवकी निन्दा करने लगे तो उन सतीका मुख क्रोधपूर्ण हो गया और उन्होंने यही कहा—

> न केवलं यो महतोऽपभाषते
> शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।

यह थी नारीके स्नेहकी पराकाष्ठा, जो अपने प्रियकी निन्दा सुननेके लिये तैयार नहीं थी। सावित्रीने तो मृत्यु-तकको विजित कर लिया था। यह था नारीका आत्मबल। आजकी नारीकी तुलना उससे की जाय तो दुःख—क्षोभसे हृदय भर जाता है।

हमारी प्राचीन संस्कृति और पाश्चात्त्य संस्कृतिमें महान् अन्तर है। हमारे वेदोंमें नारीको जो स्थान दिया गया है वह पाश्चात्त्य संस्कृतिमें छूतक नहीं गया। हमारे यहाँ नारीको जगत्-जननी कहा है जब कि पाश्चात्त्य नारी केवल विलासकी साक्षात्-मूर्ति है। उसका अस्तित्व, उसका विकास

वह सदैव प्रस्तुत है। सेवा ही उसकी साधना है। वह क्षमाकी सजीव प्रतिमा है। वह अनन्य अनुरागमयी है। तभी तो उसे त्यागमयी, तपस्विनी, गृहिणी और माता कहा जाता है। वह अपने समस्त स्वरूपोंमें सौन्दर्यमयी है।

नारीका एक निकृष्ट रूप भी है, वह है उसका विलासिनी रूप। वह नारी-जीवनका कलङ्क है और सर्वथा त्याज्य है। नारी इतनी उत्कृष्ट होनेपर भी नारीका जो आधुनिक नग्न-चित्र सामने रक्खा जाता है, उसका कारण यही है कि वह मनुष्य-समाजके समक्ष ऐसे दृष्टान्त रख रही है जो उसके सम्मानपर आघात पहुँचा रहे हैं। इन सबके लिये पुरुष भी कम दोषी नहीं हैं। इस निकृष्ट और पतनके मार्गका दर्शन करानेवाला तथा प्रोत्साहन देनेवाला तो पुरुष ही है। पुरुष ही आज उसे पथभ्रष्ट करनेके प्रयत्नमें लगा है, वही आज उसे अपने समान बनाकर नारीत्वके उच्च आदर्शोंसे गिरा रहा है। विदेशोंमें पुरुषको अपने इस पतित प्रयत्नमें बहुत कुछ सफलता मिल चुकी है। पर अभी यहाँ वैसी नहीं मिली है। पुरुष वैवाहिक जीवनके दायित्वको सँभालनेमें असमर्थ हैं, तभी वे केवल उन्हें अपनी विलासपूर्ण कामनाओंकी तृप्तिका साधन बनाये रखना चाहते हैं और नारी मूर्खतावश अपनी जातिपर यह कलङ्क लगने दे रही है! पाश्चात्य रंगमें वह इतनी रँग चुकी है कि उसे उचित-अनुचितका ज्ञान ही नहीं रह गया है, यह हमारे लिये बड़े ही परितापका विषय है।

हमारे नारी-जीवनकी गौरव-गाथासे इतिहास भरा है। हाडी रानीने अपने मोहमें पतिको समराङ्गणसे विमुख होते देखकर उसको धर्मपर आरूढ़ रखनेके लिये अपना सिर काटकर स्मृतिरूपमें भेज दिया था। कितनी ही नारियाँ जौहर व्रत करती थीं। उनमें अपूर्व तेज था, साहस था और प्रेम था। पर आज तो नारी गृहस्थ-जीवनसे दूर हटनेका प्रयास कर रही है। और पुरुषोंसे प्रत्येक क्षेत्रमें अग्रगामी बननेकी तीव्र लालसा उद्वेलित कर रही है। कहाँ पराजित करनेकी यह भावना और कहाँ नारीका सुकोमल हृदय! वह नहीं सोच रही है कि वह इसमें अपना सब कुछ होम कर बैठेगी। चारित्र्यकी भी उसे चिन्ता नहीं है। आज उसका भी मूल्य उसके समक्ष नहीं, उसे तो बस, केवल स्वतन्त्र होना है! यही चाह उसके लिये घातक सिद्ध होगी—'स्वतन्त्रता' शब्दका क्या अर्थ लिया जाय यह प्रश्न बहुत विवादग्रस्त है। मनुने तो कहा है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

स्त्री स्वतन्त्र होने योग्य नहीं है। इसी धारणाने आज उनकी यह अवस्था ला दी है। स्वतन्त्रता नारीका जन्मसिद्ध अधिकार है पर कैसी स्वतन्त्रता? जहाँ उसकी आत्मा कुण्ठित न होने पाये। वह पूर्ण विकास कर सके। प्राचीन नारी भी स्वतन्त्र थी पर ऐसी नहीं थी कि जो उच्छृङ्खल बन जाये। अतएव नारीको वही स्वतन्त्रता चाहिये जो उसके लिये अपेक्षित है, जहाँतक उसके आदर्शोंको ठेस न पहुँचे। यह निश्चय है कि उसको नियन्त्रित जीवनकी आवश्यकता है। क्योंकि प्रकृतिने उसे ऐसा बना दिया है कि अधिक स्वतन्त्रता उसके लिये घातक होगी। और यही सोचकर मनुजीने भी यह लिखा है। इसका यह अर्थ लेना कि नारीको बन्धनमें कसकर उसकी आत्माको संकुचित कर दिया गया है, नितान्त भूल है। वैवाहिक जीवनसे घृणा करना, जो आजकल साधारण-सी बात हो गयी है, बड़ी भूल है और पतनकी ओर ले जानेवाली दूषित मनोवृत्ति है।

अतएव नारीका यह कर्तव्य है कि वह अपने स्वभाव-सुलभ पवित्र आदर्शोंको पाश्चात्य अग्निमें न झोंक दे। बल्कि सावधानीके साथ उनपर चलकर अपने जीवनको सुखमय बनाये और इस कलङ्कको सदैवके लिये धो दे। सत्य सदैव अटल है। श्रेयस्कर मार्गका आलम्बन ही जीवनका ध्येय होना चाहिये। देशकी उन्नतिमें उनका सबसे प्रमुख कार्य है और वह तभी पूर्ण हो सकता है जब कि नारी अपनी गृहपरिधिको सुन्दर बनाये। पुरुष अपना कार्य करे, नारी अपना। फिर देशमें यह विपन्नता न रहेगी और सर्वत्र शान्ति-सुखका साम्राज्य होगा। अतः नारीको अपने आदर्शोंको विस्मृत नहीं करना चाहिये। उसे तो इस नवजगत्‌में अपना एक ऐसा पवित्र स्थान निर्माण करना चाहिये, जहाँ उसका यह लाञ्छन दूर हो जाये और पुरुषकी दृष्टिमें फिरसे उसका वही सम्मान हो, वही गौरव हो और वही उसके आनन्द तथा परम शान्तिका साधन है।

'आप फल बेचते-बेचते कौनसे सवाल हल किया करते हैं ?'

'पिछले सालकी बात है' वह बुजुर्ग कुछ मुसकराया और कहने लगा, 'एक लड़का मेरे पास आया। उसने मुझे दुअन्नी दी और छः पैसेके अंगूर खरीदे। मुझे उसे दो पैसे वापस करने थे; लेकिन इसी तरहके झिलमिल अँधेरेमें अठन्नीको पैसा समझकर मैं उसे दे बैठा। ठीक आपकी तरह वह भी कुछ देरके बाद मेरे पास आया और अठन्नी वापस कर गया। जब उससे पूछा तो उसने बताया कि वह हिंदू-लड़का है। उस दिनसे मेरे दिलमें यह ख्याल पैदा हो गया है कि ये हिंदू कितने भले आदमी होते हैं। अगर किसी मुसल्मान लड़केके पास यह अठन्नी गल्तीसे चली जाती तो वह कभी वापस न करता........।'

'बाबाजी !' वह ऐसा कह ही रहा था कि मैंने उसे रोक दिया, 'बाबाजी ! आप यह फैसला कैसे दे सकते हैं कि लड़का हिंदू न होता तो कभी अठन्नी वापस न करता ?'

'आपने मेरी बात काटी न होती,' बुड्ढे बाबाने जवाब दिया, 'तो इस सवालका जवाब आपको खुद-ब-खुद मिल जाता। जरा सुनिये ! उस लड़केके किस्से-के बाद दूसरे दिन मेरे मोहल्लेका एक मुसल्मान वाकिफ़ लड़का कुछ फल खरीदने आया। मैंने जान-बूझकर उसे एक चवन्नी ज्यादा दे दी। मैं यह इम्तिहान लेना चाहता था कि वह लड़का भी चवन्नी वापस करता है या नहीं; लेकिन वह आजतक उस चवन्नीको वापस करने नहीं आया। इसीलिये मैंने आपसे सवाल किया था कि आप भी हिंदू हैं ?'

'हाँ, बाबाजी,' तब मैंने उसे बताया, 'मेरा नाम गोपालदास है।'

उस भद्र पुरुषने एक बार फिर मेरी ओर देखा और धीमे स्वरसे बोला—'ऐसी ही खूबियोंकी वजहसे आप-की कौम आगे बढ़ रही है।'

(पर आज हिंदुओंकी यह खूबी नष्ट हुई जा रही है !—सं०)

हिंदू-संस्कृतिमें देवतावाद

हिंदू-संस्कृतिकी सबसे प्रमुख विशेषता है एक ही सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन तत्त्वको मूलतः स्वीकार करके उसी-के अनेक रूपोंका स्वीकार और विश्वके समस्त नानात्वमें उसी एकका साक्षात्, दूसरे शब्दोंमें एकत्वमें अनेकत्व और अनेकत्वमें एकत्वका दर्शन। दर्शनशास्त्रका यह सिद्धान्त तो प्रायः सभी दार्शनिकोंकी समझमें आ जाता है; परंतु उपासनाके क्षेत्रमें जब वही अधिकार-भेदसे आराध्य रूपोंकी विविधताका स्वरूप धारण करता है, तब दार्शनिक चकराते हैं। हिंदुओंको बहुदेवोपासक कहकर तिरस्कृत किया जाता है और ऐसा भाव दिखाया जाता है, जैसे वे एक ईश्वरीय सत्तासे अनभिज्ञ हैं। उस समय यह भूल जाया जाता है कि दृश्य-मात्रको भ्रम कहकर 'एक ही सत्य चिन्मय सत्ताकी स्वीकृति' केवल हिंदूशास्त्रकी ही विशेषता है।

सभी मनुष्य एक रुचिके नहीं होते। सबकी प्रवृत्तियाँ एक-सी नहीं होतीं। शिक्षा-शास्त्रके विशेषज्ञ जानते हैं कि सभी बालकोंको समान शिक्षा देनेसे उनकी बौद्धिक शक्तिका विकास रुक जाता है और उनके मस्तिष्कपर व्यर्थ भार पड़ता है। उनकी रुचि पहचानकर यदि शिक्षा दी जाय तो उसे वे सरलतासे ग्रहण कर लेते हैं और शीघ्र उन्नति कर लेते हैं। इससे प्रत्येक व्यक्तिका रुचिभेद तथा रुचिके अनुसार ग्राहिका शक्ति प्रकट होती है। अध्यात्म-साधनके पथमें यह रुचि सहायता न करे, इसका कोई कारण नहीं। एकमात्र हिंदू-शास्त्रने मनुष्यके इस रुचि-भेदको पहचाना। विश्वके दूसरे सब धर्म सभी मनुष्योंके लिये एक ही साधन बतलाते हैं। उनके यहाँ एक ही मार्ग है। इसका कोई विचार नहीं कि प्रत्येक व्यक्तिकी स्वाभाविक रुचि उसके अनुरूप होगी या नहीं। लेकिन भारतमें (मैं आजकी बात नहीं कहता) ऋषियोंने रुचिका महत्त्व जान लिया था। हिंदूशास्त्रोंने व्यक्तिकी रुचिके अनुसार उपास्यका रूप, साधनादि चुननेका अधिकार दिया। गुरु अपने शिष्यकी रुचि एवं अधिकारके अनुसार उसे साधन बतलाता था। एक ही गुरुके शिष्योंमें योगी, ज्ञानमार्गी, भक्त, वैष्णव, शैव, शाक्त—सब हो सकते थे। भगवान् वेदव्यासने अठारह पुराण लिखे और सबमें विभिन्न निष्ठाओंका पोषण किया।

यह आज मनोवैज्ञानिकोंसे छिपा नहीं है कि मूल मनोवृत्तियाँ तीन ही हैं। वस्तुतः प्रकृतिके तीन गुणोंके ही ये मानस रूप हैं। सत्त्वगुण मनमें जिज्ञासा—ज्ञान बनता है, रजोगुण राग और तमोगुण द्वेष। रागके ही विकृत रूप काम, लोभ, मोह, आसक्ति हैं और राग विशुद्ध रूपमें परिवर्तित होनेपर अनुराग, प्रेम, भक्ति, वात्सल्यादि होता है। इसीका एक रूप कला है। द्वेषके विकृत रूप हिंसा, असूया, ईर्ष्या, क्रोधादि हैं और इसका विशुद्ध रूप वैराग्य, अनासक्ति है। इन तीन मुख्य मानसवृत्तियोंके कारण साधन-पथके तीन विभाग हो जाते हैं—ज्ञानमार्ग, उपासना, योग। मनोवृत्तियोंके पीछे जैसे अनेक भेद होते हैं और सबसे अधिक भेद रागात्मिका वृत्तिके होते हैं, वैसे ही उन्हींके अनुरूप तीनों साधनोंके अनेक भेद होते हैं और सबसे अधिक उपासनाके।

विश्वमें ऐसे मनुष्य हैं, जिनके लिये घर-द्वारका छोड़ना शक्य नहीं—जो विरक्त नहीं हो सकते। ऐसे भी हैं, जो किसीसे स्नेह किये बिना नहीं रह सकते और ऐसे भी हैं, जिन्हें अपने ऐकान्तिक चिन्तनमें किसीका भी सम्पर्क पसंद नहीं। कुछ लोग शारीरिक श्रम किये बिना नहीं रह सकते और कुछके लिये शारीरिक श्रम करना बहुत कष्टकर है। यदि ईश्वरकी उपलब्धि प्रत्येक मनुष्यके लिये आवश्यक है और इसीलिये मनुष्य मनुष्य हुआ है, जैसा कि सभी धर्म कहते हैं, तो उसकी प्राप्तिका मार्ग सबके लिये सुलभ होना चाहिये। कोई मार्ग सुलभ या दुर्लभ नहीं होता। जो जिसकी रुचिके अनुकूल है, वह उसके लिये सुलभ और जो प्रतिकूल है, वह दुर्लभ—कठिन होता है। जब सबकी रुचि समान नहीं है, तब सबके लिये एक ही सुगम मार्ग हो नहीं सकता। रुचिभेदके अनुसार साधन-भेद—यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार बालकोंकी शिक्षामें। जैसे प्रत्येक शिक्षाका अर्थ है ज्ञानप्राप्ति, वैसे ही प्रत्येक साधनका प्राप्य सर्वोच्च भगवदीय सत्ता ही है।

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

'रुचिकी विचित्रतासे टेढ़े-सीधे अनेक मार्गोंसे चलनेवाले साधकोंके एकमात्र गन्तव्य आप (महेश्वर) ही हैं, जैसे सभी नदियाँ अपने-अपने मार्गोंसे चलकर समुद्रमें ही पहुँचती हैं।' शास्त्रोंमें यह बात बार-बार कही गयी है।

साकार-उपासना

रुचिभेदसे ज्ञानके श्रवण-मनन-चिन्तन, भक्तिके प्रेम (सूफियोंकी भाँति अव्यक्त, अचिन्त्यके प्रति अनुराग) तथा अष्टाङ्गयोगकी आराधना—साधना करके मनुष्य उस एक ही तत्त्वको प्राप्त करता है, यह बात समझ लेनेपर भी साकार उपासनाकी बात समझनी कठिन है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि साकारकी भावना मनुष्यका स्वभाव है। साकार तत्त्व सत्य है, यह बात तो है ही; परंतु मनका स्वभाव है कि वह जिससे अनुराग करता है, उसे साक्षात् देखना चाहता है। मनुष्यकी सबसे प्रबल वृत्ति रागात्मिका वृत्ति है। इसीके सबसे अधिक भेद भी होते हैं। रागात्मिका वृत्ति व्यक्त आधार चाहती है। विश्वमें जितने धर्म मूर्तिपूजाके निषेधके लिये बने, सबमें किसी-न-किसी रूपमें वह आयी ही। हम अपने श्रद्धेय पुरुषोंका चित्र रखते हैं, उनके स्मारकोंका आदर करते हैं—यह मनका धर्म है। इसके बिना मनुष्य रह नहीं सकेगा। अनुरागके लिये तो आधार चाहिये।

ईसाई जानते हैं कि ईसामसीहका चित्र केवल प्रतीक है; परंतु उसके प्रति आदर करना मसीहका आदर करना है, यह माननेमें किसीको आपत्ति नहीं होती। जीवकी कोई आकृति नहीं, परंतु समस्त शरीरोंमें जीव है। ये आकृतियाँ जीवकी ही हैं; क्योंकि जीवके न रहनेपर आकृति नष्ट हो जाती है। ईश्वरके अंश जीवकी इतनी सब आकृतियाँ हैं तो उसके अंशीकी सब आकृतियाँ हैं, यह क्यों नहीं? अग्निकी चिनगारियाँ अनेक आकृतियोंकी हैं। व्यापक अग्निकी कोई आकृति नहीं। लेकिन अग्नि पानेके लिये उसे किसी-न-किसी आकृतिमें ही पाना होगा। किसी भी चिनगारीको पा लेनेसे व्यापक अग्निके समस्त गुण, प्रभावकी प्राप्ति हो जायगी।

हम साकार हैं। हमारा हृदय केवल साकार वृत्तियोंका ही ग्रहण करता है। इसलिये हमारा साधन भी साकार होना चाहिये। ज्योतिका ध्यान, शब्दका ध्यानादि भी आकार ही हैं। जब एक प्रकारका आकार माननेमें आपत्ति नहीं तो दूसरे प्रकारके आकारको माननेमें क्यों आपत्ति होनी चाहिये। जो सर्वव्यापक है, वह प्रत्येक आकारमें है। यदि हम किसी आकारमें सुविधापूर्वक मनको तल्लीन कर सकते हैं तो हृदयकी एकाग्रतामें वह प्राप्त हो जायगा। किसीको अग्निका ज्ञान करानेके लिये निराकार अग्निपर उपदेश देनेके बदले उसके सम्मुख एक धधकता कोयला रखना अधिक उपयुक्त है। वह जब अग्निके प्रकाश, तापादिका साक्षात् कर लेगा तब उसके निराकार रूपको भी समझ लेगा। जो ईश्वरको मनकी एकाग्रतामें किसी भी आकारमें साक्षात् कर लेगा, उसे उसके निराकार रूपको समझनेमें बाधा न होगी।

यहीं एक बात ध्यान रख लेनी चाहिये कि शास्त्र या नियम व्यक्तियोंके दुराग्रह एवं मूर्खताके उत्तरदायी नहीं होते। चाकू-बनानेवाला इसका दोषी नहीं है कि उससे अँगुली भी काट ली जाती है। आराध्यके अनेक रूपोंको लेकर जो आक्षेप

और वैमनस्य चलता है, उसमें व्यक्तियोंके अज्ञान, अहङ्कार, स्वार्थ ही कारण होते हैं। जो निराकार सत्ता स्वीकार करते हैं, उनमें भी साधन-भेदकी छोटी-छोटी बातोंको लेकर भयंकर संघर्ष होते रहते हैं। यह सब सिद्धान्तोंका दोष नहीं। इन संघर्ष और आक्षेपोंमें तो सिद्धान्तोंका अपमान—उपेक्षा ही होती है। शास्त्र कहते हैं कि भगवान्‌के ही सब रूप हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं। अब यदि कोई दूसरेके आराध्य रूपपर आक्षेप करता है तो वह अपने आराध्यपर ही आक्षेप करता है। क्योंकि सभी रूप एकके ही हैं, अतएव शास्त्रोंमें प्रत्येकके वर्णनमें उसे सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान् सत्ता बताया गया है।

मूर्ति-पूजा

'यथाभिमतध्यानाद्वा'—जो ध्यान अभीष्ट हो, उसे ही करना भी चित्तकी एकाग्रता पूर्ण कर देता है। इस नियमके अनुसार ध्यानके लिये साकार-उपासना स्वीकार भी कर लें तो मूर्तिपूजा क्यों? इतना बाहरी आडम्बर किसलिये? बहुत सीधा उत्तर तो यह है कि अनुरागके लिये कोई बाह्य प्रतीक चाहिये। देशके झंडे, महापुरुषोंके स्मारक-चित्र—ये सब मनुष्यके इसी स्वभावको सूचित करते हैं। बिना बाह्य प्रतीकके भाव व्यक्त किस आधारपर हो? उपासनामें तो भावकी प्रगाढ़तासे मनोलय प्राप्त करना है।

संसारमें हम देखते हैं कि बिना व्यक्त आधारके न तो अव्यक्तकी प्राप्ति हो सकती और न उसके प्रति भाव व्यक्त किया जा सकता है। अव्यक्त अग्नि व्यक्त काष्ठादिसे ही प्राप्त होती है। शब्द भी मनुष्य, पशु, वाद्य, रेडियोके व्यक्त पदार्थोंसे ही मिलते हैं। देशके प्रति भाव भी झंडेके आधारपर ही प्रकट होता है। इससे भी स्पष्ट यह कि हम अपने माता, पिता, गुरुजनकी सेवा करते हैं। हम जानते हैं कि उनका शरीर पाञ्चभौतिक—जड है। जड शरीरकी सेवामें हमारा तात्पर्य भी नहीं है; किंतु उनमें जो चेतन है, उसके प्रति भाव व्यक्त करने, उसकी सेवा करने, उससे स्नेह करनेके लिये जड शरीरको छोड़ दें तो कुछ है भी नहीं। गुरु, माता, पिता-की भक्ति करनी चाहिये। अब यदि पूछा जाय कि भक्ति किसकी करनी चाहिये, उनके शरीरकी या जीवकी? इसका उत्तर होगा कि उनमें जो चेतनतत्त्व है, उसकी। शरीरकी भक्ति करनी हो तो मरनेके बाद वह जला न दिया जाय। अब यह कोई बता सकता है कि शरीर और उसकी आकृतिको छोड़कर उसके मनमें और किसीके प्रति भक्तिका कभी उदय हुआ है या हो सकता है? आपके पास पिताको सन्तुष्ट करनेके लिये उसके शरीरकी सेवाको छोड़कर और उपाय भी क्या है?

अव्यक्तके प्रति अनुराग, उसकी उपलब्धि, उसकी सेवा—ये सब व्यक्तके ही माध्यमसे की जा सकती हैं। उपासना-भावके मार्गमें इसीलिये व्यक्त मूर्तिकी आवश्यकता है। रुचिके कारण जैसे ध्यान-मूर्तियोंमें विविधता होती है, वैसे ही व्यक्त मूर्तियोंमें भी। किसीको बालक पसंद है, कोई ऐश्वर्यसे प्रभावित होता है, कोई तपस्याकी मूर्तिमें मन लगा पाता है और कोई उग्र रूपमें एकाग्र होता है। एकाग्रता—तन्मयता प्राप्त करना लक्ष्य है। अतएव जिसका मन जिस भावमें शीघ्र एकाग्र होता है, उसके लिये वैसी ही मूर्ति आवश्यक है। क्योंकि मूर्ति भावकी प्रतीक है।

मूर्ति भावके लिये है, भावमयी है—यह भूलना नहीं चाहिये। प्रत्येक उपासक जानता है कि मूर्ति कागजपर बना चित्र है, अथवा पत्थरसे, लकड़ीसे या धातुसे बनी है, ठीक वैसे ही जैसे प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह पिताके जिस शरीरकी सेवा करता है, वह हड्डी, रुधिर, मांसका है, पाञ्चभौतिक है। जैसे पितृभक्तका सेव्य शरीर नहीं, उसमें व्यापक चेतन है, जैसे झंडेके प्रति सम्मान वस्त्र-खण्डका सम्मान नहीं, उसमें स्थापित भावरूप देशका सम्मान है, वैसे ही मूर्तिका आराधक मूर्तिमें भावरूप आराध्यकी आराधना करता है। वह मूर्तिमें केवल भाव देखता है। नहीं तो शिवलिङ्ग या शालग्रामजीमें कोई सौन्दर्य, आकारादि नहीं होता।

उपासनाका अर्थ है भाव-परिपाक और आप अपने आराध्यके लिये पुष्पचयन कर रहे हैं, भोग प्रस्तुत कर रहे हैं—इन सबमें भावोंका परिपाक ही तो होता है। शास्त्र भी ध्यानको महत्त्व देते हैं। ध्यान करनेमें जो समर्थ हैं, वे ध्यान ही करें। मूर्तिपूजाका तात्पर्य भी ध्यानमें अधिकाधिक निमग्न करना ही है। परंतु जो ध्यान नहीं कर सकते, वे व्यक्त क्रियाओंके आधारपर मनको भगवान्‌से सम्बन्धित रखते हैं। पूजा, उपासनाको छोड़कर दूसरा कोई मार्ग ही सर्वसाधारणके लिये मनको भगवान्‌में लगाये रखनेका नहीं है। जो निरन्तर ध्यान कर सकते हैं, बिना आधारके अहर्निश भगवत्स्मरण कर सकते हैं, जिनका चित्त एकाग्र है, वे आदर्श पुरुष हैं। वे महापुरुष हैं। हम उन्हें प्रणाम करते हैं। जो ऐसा नहीं कर सकते, वे जितना थोड़ा-बहुत ध्यान कर सकते हैं, ठीक। लेकिन पूजा उनके मनको शेष समयमें सरलतासे भगवान्‌से सम्बन्धित रक्खेगी और वे ध्यानकी उत्तरोत्तर अधिक योग्यता प्राप्त करेंगे।

—श्रीसुदर्शनसिंह

नयी सूचना

छोटी-छोटी पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं। इन पैकेटोंपर पुस्तकोंके अलग-अलग नाम तथा मूल्य छाप दिया गया है। पैकेटोंकी पुस्तकोंमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। किसी भी पुस्तककी अधिक संख्यामें अलग माँग दी जा सकती है।

पैकेटोंका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-सं० १३, मूल्य ॥।)

१–सामयिक चेतावनी–पृष्ठ २४, मूल्य -)
२–आनन्दकी लहरें–सचित्र, पृष्ठ २४, मूल्य -)
३–श्रीगोविन्द-दामोदर-स्तोत्र–सचित्र, सार्थ, पृष्ठ ३२, मू० -)
४–श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश–पृष्ठ १६, मूल्य -)
५–ब्रह्मचर्य–पृष्ठ ३२, मूल्य -)
६–सप्त-महाव्रत–पृष्ठ २८, मूल्य -)
७–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय–पृष्ठ ३२, मू० -)
८–श्रीभगवन्नाम–पृष्ठ ७२, मूल्य -)
९–श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन–पृष्ठ ६४, मूल्य -)
१०–भगवत्तत्त्व–पृष्ठ ६४, मूल्य -)
११–सन्ध्योपासनविधि–सार्थ, पृष्ठ २४, मूल्य -)
१२–श्रीहरेरामभजन–२ माला, मूल्य)॥।
१३–श्रीपातञ्जलयोगदर्शन–मूल, पृष्ठ २८, मूल्य)।

॥।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-सं० ५, मूल्य ।)

१–संत-महिमा–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥।
२–श्रीरामगीता–सटीक, पृष्ठ ४०, मूल्य)॥।
३–श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्–मूल, पृष्ठ ४४, मूल्य)॥।
४–वैराग्य–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥।
५–रामायण सुन्दरकाण्ड -)

।)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-सं० १६, मूल्य ॥)

१–विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद–सार्थ, पृष्ठ १६, मूल्य)॥
२–श्रीसीतारामभजन–मूल्य)॥
३–भगवान् क्या हैं ?–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
४–भगवान्की दया–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
५–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग–पृष्ठ ४८, मू०)॥
६–सेवाके मन्त्र–पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
७–प्रश्नोत्तरी–सटीक, पृष्ठ २८, मूल्य)॥
८–सन्ध्या–हिन्दी-विधिसहित, पृष्ठ १६, मूल्य)॥
९–सत्यकी शरणसे मुक्ति–पृष्ठ ३६, मूल्य)॥
१०–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
११–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति–)॥
१२–स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग–पृष्ठ २०, मू०)॥
१३–परलोक और पुनर्जन्म–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
१४–ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन–पृष्ठ ३६, मू०)॥
१५–अवतारका सिद्धान्त–पृष्ठ २८, मूल्य)॥
१६–गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥

॥)

पैकेट नं० ४, पुस्तक-सं० १८, मूल्य ।)

१–धर्म क्या है ?–पृष्ठ १६, मूल्य)।
२–श्रीहरिसंकीर्तनधुन–पृष्ठ ८, मूल्य)।
३–दिव्य सन्देश–पृष्ठ १६, मूल्य)।
४–नारदभक्तिसूत्र–सार्थ, गुटका, पृष्ठ २८, मूल्य)।
५–महात्मा किसे कहते हैं ?–पृष्ठ २४, मूल्य)।
६–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है–पृष्ठ २४, मूल्य)।
७–प्रेमका सच्चा स्वरूप–पृष्ठ २४, मूल्य)।
८–हमारा कर्तव्य–पृष्ठ २४, मूल्य)।
९–कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ–पृष्ठ ३२, मूल्य)।
१०–शोकनाशके उपाय–पृष्ठ २४, मूल्य)।
११–ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है–मूल्य)।
१२–चेतावनी–पृष्ठ २४, मूल्य)।
१३–त्यागसे भगवत्प्राप्ति–पृष्ठ २०, मूल्य)।
१४–श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव–पृष्ठ २०, मूल्य)।
१५–लोभमें पाप–पृष्ठ ८, मूल्य आधा पैसा
१६–सप्तश्लोकी गीता–पृष्ठ ८, मूल्य आधा पैसा
१७-१८–गजलगीता–२ प्रति, मूल्य)।

।)

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

राज० स० ए० १७५

नये ग्राहक शीघ्रता करें

'कल्याण'के 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'का सभी श्रेणीके विद्वानों तथा विचारशील पुरुषोंने बड़ी प्रशंसा की है और इसका अधिक-से-अधिक प्रचार हो, ऐसी इच्छा प्रकट की है। हम भी यही चाहते हैं। इसके लिये लगभग पन्द्रह हजार नये ग्राहकोंको हिंदू-संस्कृति-अङ्क मिल सके, ऐसी एक व्यवस्था है। जिन महानुभावोंको ग्राहक बनना हो वे तुरंत ७॥) मनीआर्डरसे भेज दें या वी० पी० द्वारा अङ्क भेजनेका हमें आदेश दें। इसी प्रकार इसका प्रचार चाहनेवाले जो सज्जन नये ग्राहक बनानेका प्रयत्न करते हैं, वे भी जल्दी करें। यह स्मरण रखना चाहिये कि इन पन्द्रह हजार अङ्कोंके बिक जानेपर गत वर्षोंकी भाँति नये ग्राहक बननेवालोंको निराश ही होना पड़ेगा।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

कल्याणके पाठकोंसे प्रार्थना

इधर कुछ वर्षोंसे हम लोग पुराने हस्तलिखित शास्त्रीय ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयत्न कर रहे हैं। यह इसलिये कि इन ग्रन्थोंकी रक्षा हो। बहुत-से स्थानोंमें आजकल ऐसे ग्रन्थ असावधानी तथा रक्षाकी व्यवस्थाके अभावसे नष्ट हो रहे हैं। अतएव हमारी 'कल्याण' के प्रत्येक पाठकसे प्रार्थना है कि वे वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र और धर्मशास्त्र आदि विषयोंके पुराने कागजोंपर या ताड़पत्रोंपर लिखे ग्रन्थ संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें। खर्चा हम देंगे। कोई सज्जन उचित मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जायगा।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक 'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ग्राहक महानुभावोंसे प्रार्थना

जिन ग्राहकोंके पास अप्रैलका यह अङ्क जा रहा है, उनको 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'समेत फरवरी, मार्चके अङ्क रजिस्टर्ड पैकेटसे भेज दिये गये हैं। पर उनमेंसे यदि किन्हींको वे अङ्क अभी न मिले हों तो वे कृपापूर्वक तुरंत सूचना दें ताकि पोस्ट आफिससे लिखा-पढ़ी करके पता लगाया जाय। तीन महीनेके अंदर-अंदर शिकायत करनेसे ही पोस्ट आफिस-वाले ध्यान देते हैं। हमलोगोंने रजिस्ट्री ता०१३-२-५० से भेजनी शुरू कर दी थी।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

कल्याण
वर्ष २४
अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, मई सन् १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

अवधकी वीथियोंमें शिव-भुशुण्डि

काकभुसुंडि संग हम दोऊ । मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ॥
परमानंद प्रेमसुख फूले । बीथिन्ह फिरहिं मगनमन भूले ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ | गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २००७, मई १९५० | संख्या ५ पूर्ण संख्या २८२

अवधकी गलियोंमें शिव-भुशुण्डि

घरनी धन्य मंगलधाम ।
भुवनभूप अनूप आये भूप-भवन ललाम ॥
धन्य पुर नर नारि पावन, धन्य गृह वन बाग ।
धन्य पुर-पथ लोक वंदित, अमल नव अनुराग ॥
धन्य दृग जो हरषि निरखत कहत पुलक अपार ।
फिरत वीथि भुसुंडि हर धरि मनुजरूप उदार ॥

याद रक्खो—मनुष्यके जैसे विचार होते हैं, यथार्थमें वैसा ही उसका स्वरूप होता है। बाहरसे कोई मनुष्य कितनी ही ऊँची ज्ञानकी, भक्तिकी या वैराग्यकी बातें क्यों न करे, जबतक उसके भीतरी विचार वैसे नहीं हैं, तबतक उसमें न वस्तुतः ज्ञान है, न भक्ति है और न वैराग्य ही है।

याद रक्खो—विचारोंका परिवर्तन केवल कथन-मात्रसे नहीं हो जाता। उसके लिये दीर्घकालतक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अभ्यास करनेकी आवश्यकता होती है। तुम्हारे अंदर जो-जो बुरे विचार हों, उन-उनके विरोधी अच्छे विचारोंका बार-बार मनन करो। विषयोंकी आसक्ति दूर करनेके लिये उनमें दुःख-दोषादि देखकर वैराग्यका अभ्यास करो; स्त्री या पुरुषके रूप-सौन्दर्यके मोहका तथा कामवासनाका नाश करनेके लिये शरीरके अंदर भरे हुए गंदे पदार्थ—रक्त, मांस, मेद, मज्जा, हड्डी, विष्ठा, मूत्र और कफ आदिका विचार करो, सड़े मुर्देका चित्र मनके सामने रक्खो; दूसरेके दोषोंका चिन्तन दूर करनेके लिये दूसरोंके गुणोंको खोज-खोजकर देखो और अपने दोषोंपर दृष्टिपात करो; क्रोधका नाश करनेके लिये क्षमाका उपयोग करो; लोभको हटानेके लिये लोभी मनुष्योंको विपत्तिमें फँसकर परिणाममें जो भयानक दुःख भोगने पड़ते हैं, उनपर विचार करो; शोक-विषादके नाशके लिये भगवान्‌के मङ्गलमय विधानपर विश्वास करो और पापवासनाओंके नाशके लिये नरकोंकी भीषण यन्त्रणाओंका स्मरण करो।

याद रक्खो—मनके प्रधान पाँच दोष हैं—विषाद, क्रूरता, व्यर्थचिन्तन, निरङ्कुशता और गंदे विचार। विरोधी विशुद्ध विचारोंके द्वारा इनका नाश करो। प्रसन्नता, सौम्यत्व, मानसिक मौन, मनोनिग्रह और शुद्ध भावोंका परिशीलन इनके विरोधी विचार हैं। भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे जो कुछ फलरूपमें प्राप्त होता है, सब मङ्गलमय ही है चाहे देखनेमें भयानक ही हो; ऐसा विश्वास हो जानेपर प्रत्येक स्थितिमें प्रसन्नता रहेगी। तुम्हारे साथ कोई क्रूरताका बर्ताव करे, तो तुम्हें कितना बुरा लगता है और शान्त-सौम्य व्यवहारसे कितना सुख होता है, इसी प्रकार तुम्हारी क्रूरता लोगोंको बुरी लगती है और तुम्हारी सौम्यतासे उनको सुख होता है; इस प्रकारके विचारसे सौम्यता आवेगी। दिन-रात संसारके अनुकूल-प्रतिकूल विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे चित्तमें कभी शान्ति नहीं होती, अतएव इसके बदलेमें प्रभुके मङ्गलमय नाम, गुण, लीला, तत्त्व, रहस्य आदिका चिन्तन-मनन सदा-सर्वदा करते रहनेसे विषयोंके लिये मन मौन हो जायगा। जबतक मन वशमें नहीं है तबतक वह जहाँ-तहाँ भटकता और अशुद्ध संकल्प-विकल्पोंमें पड़कर नये-नये दुःखोंकी सृष्टि करता रहता है; मन वास्तवमें तुम्हारा (आत्माका) सेवक है, स्वामी नहीं; इस बातको अच्छी तरह समझकर मनको वशमें कर लोगे तो वह तुम्हारे नियन्त्रणमें आकर प्रत्येक शुभ प्रयत्नमें तुम्हारा सहायक बन जायगा। और मनमें जो काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, हिंसा, असत्य, स्तेय और मान आदिके अशुभ भाव भरे हैं, इनके कारण इनके अनुकूल ऐसी ही क्रिया बनती है और जीवन अशुभका मूर्तिमान् रूप बन जाता है, इन दुर्भावोंकी जगह ब्रह्मचर्य, क्षमा, सन्तोष, विवेक, विनय, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अमानिता आदिके स्वरूप, गुण और लाभोंका चिन्तन किया जाय तो चित्त शुद्ध भावोंसे भर जायगा। इस प्रकार जब चित्तमें ये पाँचों बातें भली-भाँति आ जायँगी, तब तुम्हारा मानस-तप सिद्ध हो जायगा। फिर तुम्हारा बाहरी व्यवहार भी वैसा ही विशुद्ध होगा।

याद रक्खो—विचारोंके नियन्त्रणके लिये सबसे बढ़कर उपयोगी साधन है—आत्मशक्तिपर या सर्व-शक्तिमान् परम सुहृद् भगवान्‌की कृपापर दृढ़ विश्वास। यह विश्वास जितना ही बढ़ेगा, उतना ही शीघ्र और सरलतासे मनुष्य अपने मनोगत अशुभ विचारोंके नाश और शुभ विचारोंके विस्तारमें समर्थ होगा। आत्मा और भगवान्‌पर विश्वास करनेवाले पुरुषके मनसे देहाभिमान, स्थूल अहङ्कार, भौतिक बलका आश्रय आदि दूषित और गिरानेवाले भाव नष्ट हो जाते हैं। **'शिव'**

कल्याणका मार्ग

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

संसारकी वस्तुएँ, संसारके सुख बड़े ही आकर्षक और चमकीले प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो क्षणिक प्रयत्नसे अथवा बिना प्रयत्नके ही अपार सुख-महोदधि प्राप्त हो जायगा। जिसके चमत्कार और वैभवका अन्त ही नहीं है, वह भगवान् तथा भगवत्सम्बन्धी सुख रूखा-सूखा-सा प्रतीत होता है, उस मार्गमें बड़ी कठिनाई भी प्रतीत होती है। पद-पदपर कण्टकाकीर्ण भयङ्कर गर्त प्रतीत होते हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो महामहाप्रयत्न करनेपर भी सफलताकी कोई आशा नहीं है। कुछ मिला भी तो शुष्क नगण्य-सी ही वस्तु होती है। परंतु जब प्राणी संसारकी ओर चल पड़ता है, तब उसके दुःख और कठिनाइयोंका अन्त ही नहीं होता। जो चमकीली सुखमय वस्तु प्रतीत होती थी, वह दुःख-ही-दुःख प्रतीत होता है। जैसे पिपासासे व्याकुल हरिण मरु-मरीचिकामय जलके लिये जितना-ही-जितना आगे दौड़ता है, वह उतना दूर-ही-दूर होता जाता है। यही स्थिति सांसारिक प्रलोभनोंकी है। परंतु भगवान्‌की ओर चल पड़ते ही कठिनाइयाँ मिटती-सी अनुभूत होती हैं, कण्टक फूल-से हो जाते हैं, जितने-जितने पग आगे रक्खा जाता है, भगवान् और भगवत्सुख समीप आते हुए-से प्रतीत होते हैं, रूखी-सूखी-सी प्रतीत होनेवाली साधनाएँ बड़ी ही सरस, मधुर प्रतीत होने लगती हैं। मायामय व्यामोह दुरन्त है। प्रभुकृपाके बिना कौन क्या कर सकता है? कहाँ सुख? कहाँ शान्ति? सुविचार, सुप्रवृत्ति या परम निवृत्ति सब कुछ प्रभुकृपासाध्य है। इधर-उधर भटकते हुए शकुनिको जैसे एकमात्र आधारभूत भूमि ही विश्रान्तिस्थान है, वैसे ही भटकते हुए जन्तुका विश्रामस्थल भगवान् ही हैं। 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।' प्रथम जो विषके समान प्रतीत हो, परंतु परिणाममें अमृततुल्य हो, वही सात्त्विक सुख कहलाता है। कारण भी स्पष्ट है, जिस प्रकार निम्बकीटको सितारस-मधुरता उद्वेजक प्रतीत होती है, उसी प्रकार संस्कारप्राबल्यके कारण वैषयिक सुखानुभवी प्राणीको निष्प्रपञ्च ब्राह्मसुखका अनुभव अनुकूल प्रतीत नहीं होता। विषयों एवं तदनुगामी इन्द्रियोंका प्रचार अवरुद्ध हो जानेसे मनमें भी उद्वेग होता है। स्वभावतः यह स्थिति अनुकूल नहीं है। लक्ष्यनिष्ठा, प्रज्ञाके भी विचलित हो जानेकी सम्भावना इस मार्गमें बनी रहती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २। ६७)

विषयचारी इन्द्रियोंका जब मन अनुगमन करता है तब वही मन ब्रह्मनिष्ठ प्रज्ञाका उसी प्रकार हरण कर लेता है, जैसे समुद्रमें नावको वायु हरण कर लेता है। इस मार्गमें कथमपि शान्ति नहीं है। एक बार हठात् विषयविमुख होकर इन्द्रिय, मन, बुद्धिको अवरुद्ध करके भगवत्परायण होनेसे तत्काल कुछ कठिनाई अवश्य प्रतीत होती है, परंतु वस्तुतः भगवदाभिमुख्य होते ही क्षणे क्षणे शान्तिका अनुभव होने लगता है। जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरोंतक भी विषयोंके भोगसे कभी शान्ति नहीं होती। पृथ्वीभरमें जो भी व्रीहि, यव, हिरण्य, पशु, स्त्रियाँ हैं, उन सबकी प्राप्ति एक व्यक्तिको हो जाय तो भी सुख-शान्ति सम्भव नहीं है। अतः हठात् इनसे आँख मीचना ही अच्छा है। आँख मीचकर, निराश्रय होकर सर्वाधार, अशरणशरण, अकारणकरुण, करुणावरुणालय प्रभुके चरणोंका सहारा लेनेसे ही कल्याण है। (सिद्धान्त)

सिद्धान्त

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

१—जैसे जल, पानी, अम्बु, नीर, अप्, वाटर आदि सब एक जलके ही विभिन्न नाम हैं, वैसे ही एक ही परमात्माके ॐ, राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, वासुदेव, ईश्वर, अल्लाह, खुदा, गॉड—इत्यादि अनेकों नाम हैं। वास्तवमें वस्तु एक ही है। यह बात नहीं है कि हिंदुओंके ईश्वर दूसरे हों और मुसल्मानों तथा ईसाइयोंके दूसरे। इसी तरह सभीके विषयमें समझना चाहिये। कई लोग धर्मको मानते हैं, पर ईश्वरको नहीं मानते। और कई ईश्वर और धर्म दोनोंको ही नहीं मानते; किंतु उनके न माननेपर भी ईश्वर तो सभीके लिये हैं, चाहे उन्हें कोई मानें या न मानें। वे सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी परमात्मा सबके लिये समान भावसे ही उनके शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख आदि फलका विधान करते हैं।

२—जैसे एक जलके ही परमाणु, बादल, भाप, कुहरा, बूँद, ओले और बरफ आदि अनेक रूप हैं, वैसे ही एक परमात्माके ही व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज-चतुर्भुज, विष्णु-विराट्, राम-कृष्ण, शिव-शक्ति आदि अनेक रूप हैं।

३—मनुष्यकी जिस नाम और जिस रूपमें श्रद्धा, रुचि, विश्वास है, उसके लिये वही नाम और वही रूप विशेष लाभदायक होता है।

४—उपर्युक्त नाम-रूपकी उपासना यदि सकाम भावसे यानी इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये की जाती है तो उससे भोगोंकी प्राप्ति हो सकती है। और यदि रोग-संकटादि दुःखोंकी निवृत्तिके लिये की जाती है तो दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है। यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि यदि ईश्वर फल देनेमें हित समझते हैं तो फल देते हैं, हित नहीं समझते तो नहीं देते। किंतु यदि वही उपासना निष्कामभावसे की जाती है तो अन्तःकरणकी शुद्धि होकर आत्माका उद्धार हो जाता है।

५—हिंदू, बौद्ध, जैन, मुसल्मान, पारसी, ईसाई आदि कोई भी क्यों न हो, वास्तविक जो सर्वोत्तम एक ही वस्तु है, उसमें सबका (मनुष्यमात्रका) समान अधिकार है। क्योंकि सब साधनोंका सबसे बढ़कर अन्तिम फल एक ही है। उसीको परमात्माकी प्राप्ति, परम गति, परम शान्तिकी प्राप्ति, अव्यक्त-अक्षरकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, अमृतकी प्राप्ति, ब्रह्मकी प्राप्ति, भगवद्भावकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतादि शास्त्रोंमें कहा है और उसीको लोग आत्माका उद्धार, आत्माका कल्याण, मोक्ष, चतुर्विध मुक्ति, सब दुःखोंका अत्यन्त अभाव, कैवल चिति-शक्ति, मोक्षशिला, सातवाँ आसमान आदि नामोंसे कहते हैं। साधकको प्रथम अपने श्रद्धा, विश्वास, सिद्धान्त और मान्यताके अनुसार उत्तम-से-उत्तम पदकी प्राप्ति होती है, किंतु इसके अनन्तर सर्वोत्तम अन्तिम स्थिति सबकी एक ही हो जाती है। यह बात नहीं है कि परमात्माकी प्राप्तिकी अन्तिम अवस्था हिंदुओंके लिये कोई अलग हो, ईसाइयोंके लिये अलग हो और मुसल्मानोंके लिये उससे भिन्न हो। हाँ, साधककी नीयत शुद्ध होनी चाहिये; उसमें ममता, अहङ्कार, स्वार्थ, विषमता, राग, द्वेष और ईर्ष्याका सर्वथा अभाव अवश्य होना चाहिये।

६—वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है, मनद्वारा जो कुछ मनन किया जाता है और बुद्धिके द्वारा जो कुछ निश्चय किया जाता है, इन सबसे वह परम पदकी प्राप्ति निराली ही है। वह केवल, चेतन, अचिन्त्य और अलक्ष्य होनेसे किसी भी मन-इन्द्रियका विषय नहीं है। इसलिये जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य उसको किसी भी प्रकारसे नहीं समझ सकता, क्योंकि समझमें आनेवाले पदार्थसे वह अत्यन्त विलक्षण है। वहाँ न ज्ञान है, न अज्ञान; न बन्ध है, न मोक्ष; उसे न व्यक्त ही कह सकते हैं, न अव्यक्त ही; न वह सगुण है, न निर्गुण ही; न वह साकार है, न निराकार ही; और न वह द्वैत है, न अद्वैत। क्योंकि ऊपर लिखे हुए शब्दोंके जो अर्थ हैं, सब बुद्धिद्वारा समझमें आ सकते हैं, किंतु वास्तवमें वह परमात्मा बुद्धिकी समझसे परे और अत्यन्त विलक्षण है।

७—उपर्युक्त मुक्तिके विषयमें कोई कहते हैं—'इस देशमें मुक्ति नहीं होती', कोई कहते हैं—'इस कालमें मुक्ति नहीं होती', कोई कहते हैं—'गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती', कोई कहते हैं—'स्त्रीजातिकी मुक्ति नहीं होती' और कोई कहते हैं—'मुक्ति तो होती है, पर मुक्त हुए पुरुषका पुनः

आगमन होता है'; ये सभी कथन एकदेशीय, अनुदार और अयुक्त हैं। उपर्युक्त परम पदकी प्राप्ति तो सभी देशों, सभी कालोंमें और सभी मनुष्योंको हो सकती है। तर्ककी कसौटीपर कसने एवं निरपेक्षभावसे उदारताकी दृष्टिसे देखनेपर यही सिद्धान्त अतर्क्य, सर्वोत्तम और परम लाभप्रद सिद्ध होता है।

एक भाई इस देश और इस कालमें एवं मानवमात्रका मुक्तिमें अधिकार नहीं समझता। मान लीजिये, यदि उसकी बात सत्य भी हो तो भी इस देश-कालमें और मानवमात्रकी मुक्ति माननेवालेके लिये कोई भी हानि नहीं है; क्योंकि इस देश-कालमें यदि मुक्ति होती ही नहीं, तो वह तो मानने और न माननेवाले दोनोंके लिये ही समान है; किंतु यदि सब देश और सब कालमें तथा मनुष्यमात्रकी मुक्ति होती है तो इस पक्षमें इस देश-कालमें और मनुष्यमात्रकी मुक्ति न माननेवालेके लिये महान् हानि है। माननेवाला यदि अपने श्रद्धा-विश्वासके अनुसार प्रयत्न करता है तो उसकी मुक्ति हो सकती है; किंतु जो मानता ही नहीं, वह प्रयत्न ही क्यों करेगा और इस हालतमें मुक्ति होते हुए भी वह मुक्तिसे वञ्चित रह जायगा।

वास्तवमें अज्ञानके नाशसे मुक्ति होती है और ज्ञानसे अज्ञानका नाश होता है। उस ज्ञानकी प्राप्ति ईश्वरकी शरण और दयासे तथा ज्ञानी महात्माओंके सङ्ग, शरण और कृपासे एवं श्रद्धा, स्वाध्याय और साधनसे होती है, जिनमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। अतएव यही सिद्धान्त सर्वोत्तम, लाभप्रद और अतर्क्य है।

८—बहुत-से भाई ऐसा मानते हैं कि 'जीवन्मुक्त महात्माओंमें भी प्रारब्धवेगसे काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुण और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि दुराचार घट सकते हैं।' किंतु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। जिनको ज्ञानकी प्राप्ति तो हुई नहीं और न परमात्माके स्वरूपका अनुभव ही हुआ तथा जो भूलसे ऐसा मान बैठे हैं कि हमें ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी है, वे ही लोग अपनेमें घटनेवाले दुर्गुण-दुराचारोंको देखकर जीवन्मुक्त महात्माओंमें भी दुर्गुण-दुराचारोंका होना मानते हैं और मायाके लेशरूप प्रारब्धके कारण उनमें काम-क्रोधादि दुर्गुणों और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि दुराचारोंका होना बतलाते हैं; पर उनका यह कथन न शास्त्रसङ्गत है और न युक्तिसङ्गत। जब मुक्त पुरुषमें दुर्गुण-दुराचार ही घटते हैं तो फिर ऐसी मुक्तिसे ही क्या लाभ है? दुराचारोंके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने काम और क्रोधको हेतु बतलाया है, न कि प्रारब्धको।

जब अर्जुनने प्रश्न किया कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(गीता ३।३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसपर भगवान्‌ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३।३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

यहाँ भगवान्‌ने पापोंके होनेमें रजोगुणसे उत्पन्न कामको कारण बतलाया और कामसे ही क्रोध आदिकी उत्पत्ति बतलायी है तथा कामके नाशसे इन सबका नाश होता है। किंतु काम-क्रोध आदिके होनेमें प्रारब्ध कारण नहीं है, क्योंकि भगवान्‌ने कामका कारण आसक्तिको बतलाया है, न कि प्रारब्धको। प्रारब्ध कारण होता तो काम-क्रोधादिकी निवृत्ति सम्भव ही नहीं होती; और परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उस पुरुषमें आसक्तिका सर्वथा अभाव बतलाया है।

यथा—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(गीता २।५९)

'इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।'

जब आसक्तिरूप मूलका ही नाश हो जाता है, तब

उससे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि शाखा-पत्र कैसे रह सकते हैं ? इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अहंता-ममता, राग-द्वेष, संशय-भ्रम, क्लेश-कर्म आदि दुर्गुण-दुराचारोंकी गन्धमात्र भी नहीं रहती—

क्योंकि श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डकोपनिषद् २ । २ । ८)

'उस परात्पर परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् इस साधकके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, उसके सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं ।'

गीतामें भी कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

(५ । २६)

'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ।'

अतः युक्तियोंसे तथा शास्त्रसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि उनकी ऐसी मान्यता सर्वथा निराधार है ।

९—कितने ही लोग ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपकी अभेदरूपसे उपासना करते हैं, कितने ही भेदरूपसे; वे उपासक सगुण-साकारको हेय मानकर उसकी निन्दा करते हैं । वैसे ही दूसरे कितने ही सगुण-निराकार या सगुण-साकारकी उपासना करते हैं और निर्गुण-निराकारकी अभेदोपासनाकी निन्दा करते हैं । इस प्रकार अभेदोपासक भेदोपासकोंको और उनके उपास्यदेवको कोसते हैं तथा भेदोपासक अभेदोपासकों और उनके उपास्यको । किंतु वास्तवमें जब मनुष्य परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जान जाता है, उसे सत्य वस्तु ज्ञात हो जाती है, तब वह परमात्माके किसी भी स्वरूपकी निन्दा कैसे कर सकता है । उपनिषद्में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

(ईशावास्य० ६)

'परंतु जो मनुष्य संपूर्ण प्राणियोंको परमात्मामें ही देखता है और परमात्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् संपूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता, सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे ?'

वास्तवमें विचार करनेपर मालूम होता है कि निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, व्यक्त-अव्यक्त, सब मिलकर एक समग्र परमात्माका ही स्वरूप है । किसी भी स्वरूपकी निन्दा अर्थान्तरसे परमात्माके ही स्वरूपकी निन्दा है । जो परमात्माके तत्त्वका ज्ञाता है, उससे अपने परमात्माके किसी भी स्वरूपकी निन्दा हो ही कैसे सकती है ? इससे यही समझमें आता है कि परमात्माके स्वरूपकी या किसी अङ्गकी कोई निन्दा करता है तो वह वास्तवमें परमात्माके तत्त्व और रहस्यको समझा ही नहीं । क्योंकि पतिव्रता साध्वी स्त्री अपने पतिके किसी भी स्वरूप या अङ्गकी निन्दा कैसे कर सकती है ? पतिका हाथ, पैर, मुँह, कान कोई भी क्यों न हो, उसके लिये तो सभी आनन्ददायक होते हैं । इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये परमात्माके सभी स्वरूप आनन्ददायक होते हैं ।

कोई शिवभक्त होकर विष्णुकी निन्दा करे तो उससे शिव प्रसन्न नहीं होते और विष्णुभक्त होकर शिवकी निन्दा करे तो उससे विष्णु प्रसन्न नहीं होते; क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा ही शिव और विष्णुके रूपमें प्रकट होते हैं, वस्तुतः एक ही तत्त्व है । यदि व्यवहारकी दृष्टिसे भेद माना जाय तो शिवके उपास्य हैं विष्णु, और विष्णुके उपास्य हैं शिव; फिर, इस सिद्धान्तसे भी शिव और विष्णु परस्पर एक-दूसरेकी निन्दा करनेवालेसे कैसे प्रसन्न हो सकते हैं ? इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमात्माके किसी भी स्वरूपकी किसी प्रकार भी निन्दा नहीं बन सकती । अतः यदि कोई परमात्माके किसी भी स्वरूपकी निन्दा करता है तो वह परमात्माके तत्त्व और रहस्यको नहीं जानता ।

१०—परमात्माके निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार आदि स्वरूपोंकी जो उपासना है, वह सभी उत्तम और श्रेष्ठ है; क्योंकि सभीका लक्ष्य परमात्माकी तरफ होनेसे सभीको यथार्थमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । किंतु तर्ककी कसौटीपर कसनेसे साधनकालका कोई-सा भी स्वरूप वास्तविक स्वरूप सिद्ध नहीं होता; क्योंकि साधन-समयके माने हुए स्वरूपसे परमात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है ।

जैसे कि एक पुरुष तो श्रीराम और श्रीकृष्णका ध्यान करता है, दूसरा एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपका ध्यान करता है, दोनों प्रकारके साधकोंको ही अभी परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई है, अतः वे शास्त्र और आचार्यके बतलाये हुए मार्गके अनुसार अपनी समझसे परमात्माके स्वरूपको लक्ष्य बनाकर उसकी उपासना करते हैं। इसलिये सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लक्ष्यसे भी वास्तविक श्रीराम-श्रीकृष्णका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है और निर्गुण-निराकारके उपासकके लक्ष्यसे भी सच्चिदानन्द परमात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। किंतु श्रद्धापूर्वक उपासना करनेके कारण शाखा-चन्द्रन्यायकी भाँतिं परमात्माकी प्राप्ति सभीको हो जाती है, इसलिये सभीकी उपासना यथार्थ है।

अतएव सगुण-साकारोपासक यदि निर्गुण-निराकारोपासकको निम्नश्रेणीका माने और निर्गुण-निराकारोपासक सगुण-साकारोपासकको निम्नश्रेणीका माने तो वे दोनों ही गलतीपर हैं; क्योंकि तर्ककी कसौटीपर कसनेसे सभी गलत ठहर जाते हैं, किंतु श्रद्धापूर्वक उपासना करनेपर सबका परिणाम परमात्माकी प्राप्ति होनेसे सभी ठीक हैं।

११—इसी प्रकार जो एक सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदायके मार्गको निम्नश्रेणीका अथवा हेय बतलाते हैं सो ठीक नहीं है; क्योंकि जितने भी शास्त्रोक्त सम्प्रदाय हैं, तर्ककी कसौटीपर कसनेसे परस्पर एक-दूसरेकी दृष्टिसे सभीमें कुछ-न-कुछ दोष कायम किये जा सकते हैं। किंतु सबकी पद्धति भिन्न-भिन्न होनेपर भी सभी आचार्योंकी नीयत और भाव उत्तम होने तथा सभीका लक्ष्य शास्त्रानुकूल और आत्यन्तिक श्रेय (कल्याण) की ओर होने एवं सबका फल परमात्माकी प्राप्ति होनेसे सभी श्रेष्ठ हैं।

१२—कोई एक साधक निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी अभेदभावसे उपासना करता है, किंतु भगवान्के सगुण-साकारके तत्त्वको न समझनेके कारण उसको हेयबुद्धिसे देखता है तो यह उचित नहीं है; क्योंकि ज्ञानके सिद्धान्तके अनुसार भी सगुण और निर्गुण सभी एक ब्रह्मका ही स्वरूप है; इसलिये उसको भी भेदरूपसे सगुणकी उपासनाके द्वारा साधन करके फिर निर्गुण-निराकारकी अभेद उपासनासे अमृतरूप ब्रह्मकी प्राप्ति करनी चाहिये।

इसी तरह दूसरा कोई साधक सगुण-साकार श्रीराम-श्रीकृष्ण आदिमेंसे किसीकी भेदभावसे उपासना करता है, किंतु निर्गुण-निराकार ब्रह्मके तत्त्वको न समझनेके कारण उसकी परवा नहीं करता तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि निर्गुण-निराकारके तत्त्वको समझकर जो सगुण-साकारकी उपासना करता है, वही सबसे श्रेष्ठ है; इसलिये सगुण-साकारोपासकको निर्गुण-निराकारका तत्त्व समझकर ही सगुण साकारकी भेदरूपसे उपासना करनी चाहिये। भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
(गीता ७।२४)

'बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।'

१३—जो साधक कर्म और उपासनाकी अवहेलना करके केवल निर्गुणकी उपासनाकी बातें करता है; वह ठीक नहीं करता। किसी कविने कहा है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं कर्म दिए छिटकाय।
कर्महीन सो मूढ़ नर सहज नरक महँ जाय॥

एवं जो साधक सगुण-साकारका भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, कीर्तन-वन्दन आदि करता है, किंतु भगवान्के तत्त्व-रहस्यको न जाननेके कारण सन्ध्या-गायत्री, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन, दान, तप, पञ्चमहायज्ञादि नित्य, नैमित्तिक और वर्णोचित कर्मोंकी अवहेलना कर देता है तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि वह भगवान्की भक्ति तो करता है पर भगवदाज्ञारूप शास्त्रकी अवहेलना करता है, इस कारण उसे परमात्माकी प्राप्ति होना कठिन है। क्योंकि भगवान्की भक्तिमें भगवान्की आज्ञाका पालन प्रधान है, जो भगवान्की आज्ञाका पालन करता है, वही उनका सच्चा सेवक और प्रेमी है। तुलसीकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें स्वयं भगवान् श्रीरामने प्रजाके प्रति कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

गीतामें भी कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥
(३ । ३०—३२)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा संपूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर। जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं। परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू संपूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ।'

१४—काञ्चन, कामिनी, भोग, आराम, मान, बड़ाई आदिमें फँसे हुए मनुष्योंको उपर्युक्त परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, मांस-भक्षण, मदिरा-पान और जीवहिंसा आदि पापकर्म करते हैं, उनको तो वह मिल ही कैसे सकता है, किंतु जिनमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, कपट-अहंकार आदि किञ्चित् भी दुर्गुण घटते हैं, उनको भी मिलना कठिन है।

१५—शास्त्रोंमें भोग, आराम, मान, बड़ाई आदिको विषके तुल्य एवं विषयभोग और आरामके त्यागको तथा अपमान, निन्दा आदिको अमृतके तुल्य बतलाया गया है। इस बातको श्रेष्ठ आदर्श पुरुष ही चरितार्थ कर सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुषोंसे ही इसकी आशा की जा सकती है, भोग और आरामके किङ्कर, मान-बड़ाईमें फँसे हुए मनुष्योंसे कदापि नहीं। शास्त्रोंका उपर्युक्त वर्णन केवल कथनमात्र ही नहीं है, वरं आदर्श और आचरणीय है।

अतः जो दम्भी मनुष्य अपनेको ईश्वरका अवतार, ज्ञानी महात्मा और सिद्ध योगी बतलाकर अपने चरणरज और उच्छिष्टको प्रसाद और अपने चरणोदकको चरणामृतका रूप देकर लोगोंमें वितरण करते हैं, लोगोंसे अपने शरीरकी और अपने चित्र (फोटो) की पूजा करवाते हैं तथा अपने नाम और गुणोंका कीर्तन करवाते हैं, वे अपने-आपको और अन्य लोगोंको भी पतनके गर्तमें डालते हैं। इन्हींके कारणसे संसारमें नास्तिकताकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा धर्म और ईश्वरके विरोधमें बोलनेकी किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। जो वास्तवमें श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे तो भोग, आराम, मान-बड़ाईको विषके तुल्य समझकर इनसे सर्वथा दूर रहते हैं, उनके द्वारा इनके लिये किसीसे प्रेरणा या समर्थन करना तो दूर रहा, कोई दूसरे लोग उनके साथ ऐसा व्यवहार करें तो वे उसे भी स्वीकार नहीं करते, वरं उसे अपनेपर लाञ्छन मानते हैं तथा हृदय और व्यवहारसे कड़ाईके साथ उनका विरोध करते हैं। उनका इस प्रकार विरोध करना उनके लिये आदर्श है। ऐसे पुरुषोंके व्यवहार, आचरण और उपदेशोंसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। भगवान्ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

१६—आजकल जो अर्थोपार्जनके लिये भगवान्की लीलाका नाट्य किया जाता है, वह तो नकली लीला है। असली लीला तो यह है कि वस्तुमात्र ही भगवान्का स्वरूप है और चेष्टामात्र ही भगवान्की लीला है। ऐसा समझकर मनुष्यको क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये। क्योंकि 'वासुदेवः सर्वम्' के सिद्धान्तके अनुसार जब सब कुछ वासुदेव ही है तो उनके द्वारा होनेवाली सभी चेष्टाएँ भगवान्की लीला है। जो मनुष्य इसका तत्त्व-रहस्य अच्छी तरह समझ जाता है, उसको पदार्थमात्रमें भगवान्का स्वरूप और चेष्टामात्रमें भगवान्की लीलाका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और परम शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति होती रहती है।

१७—बहुत-से लोग मुझसे प्रश्न करते हैं कि कहीं-कहीं शास्त्रोंमें मांस-भक्षण, मदिरापान, द्यूतक्रीडा, झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि पापकर्मोंके प्रोत्साहनकी बातें भी विधिरूपसे और उदाहरण वाक्योंमें आ जाया करती हैं, सो ये क्षेपक हैं या इनका अर्थ दूसरा है अथवा उस समय ऐसी ही प्रणाली थी? इसमें आपकी मान्यता क्या है।' इसके उत्तरमें मैं यही कहता हूँ कि इन वाक्योंको क्षेपक कहकर शास्त्रोंपर दोषारोपण नहीं किया जा सकता; क्योंकि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ; तथा इनका कोई दूसरा ही अर्थ हो तो भी मुझे मालूम नहीं एवं पूर्वकालमें ऋषि-मुनियोंमें ऐसी दोषयुक्त प्रणाली थी—यह बात भी नहीं मानी जा सकती। इसलिये उपर्युक्त वचनोंको संदेहास्पद होनेसे मैं काममें नहीं लाना ही सब प्रकारसे

उत्तम समझता हूँ; क्योंकि विधि और उदाहरण-वाक्योंसे निषेध-वाक्य बलवान् होते हैं तथा शास्त्रोंमें जगह-जगह उपर्युक्त मांसभक्षण आदिका निषेध मिलता है । इसलिये शास्त्रोंके जिन वचनोंका अर्थ अपनी बुद्धिकी समझमें ठीक न आवे, उनको अपनी बुद्धिकी मन्दता स्वीकार करके वहीं छोड़ देना चाहिये और शास्त्रोंके संदेहरहित वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये, इसीमें अपना कल्याण है ।

१८—भगवत्प्राप्तिके बहुत-से स्वतन्त्र साधन हैं, वे प्रायः सभी योगनिष्ठा और सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत आ जाते हैं । योगनिष्ठा उसका नाम है जिसमें जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीनों पदार्थोंको अनादि और नित्य मानकर निष्कामभावसे कर्म और भेदभावसे उपासना की जाती है तथा सांख्यनिष्ठामें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही अनादि और नित्य मानकर अभेदभावसे उपासना की जाती है । योगनिष्ठाकी दृष्टिसे जो कर्म किये जाते हैं, उनमें फल और आसक्तिका त्याग किया जाता है (गीता १८ । ९) तथा सांख्यनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म किये नही जाते, साधकके द्वारा कर्म होते हैं, उनमें फल, आसक्ति और अहङ्कारका अभाव रहता है (गीता १८ । २३) ।

बहुत-से लोग प्रथम कर्मयोग, फिर उपासना और उसके बाद ज्ञानयोगका साधन बतलाते हैं तथा इस प्रकार कर्मयोगसे मलका, उपासनासे विक्षेपका और ज्ञानयोगसे आवरणका नाश मानते हैं । उनका यह मानना भी युक्तिसङ्गत है । किंतु यही क्रम है, दूसरा नहीं—ऐसी बात नही है । ये तीनों स्वतन्त्र साधन भी बतलाये गये हैं (देखिये गीता १३ । २४)

केवल कर्मयोगसे भी अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, यह बात भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायके ५१ वें; तीसरेके १९ वें; चौथेके ३८ वें; पाँचवेके ११ वें, १२ वें आदि अनेक श्लोकोंमें बतलायी है ।

इसी तरह केवल भक्तियोग (ईश्वरशरणागति) से भी भगवत्कृपासे स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, यह बात योगदर्शनके प्रथम पादके २३ वें सूत्र (ईश्वरप्रणिधानाद्वा) मे बतलायी है तथा गीतामें भी छठे अध्यायके ४७ वें; आठवेंके ५ वें, दसवेंके ९ वें, १० वें, ११ वें; अठारहवेके ६२ वें, ६५ वे आदि श्लोकोमें बतलायी गयी है ।

इसी प्रकार केवल ज्ञानयोगसे भी स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात गीतामें भी चौथे अध्यायके २४ वें, २५ वें; पाँचवेंके २४ वें; छठेके २७ वें, २८ वें; तेरहवेंके ३० वें आदि श्लोकोंमें बतलायी गयी है ।

जब केवल कर्मयोगसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है तब कर्मयोगके साथ भगवान्की भक्तिका समावेश होनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, इसकी तो बात ही क्या है । गीतामें तीसरे अध्यायके ३० वें, ३१ वें; आठवेंके ७ वें; अठारहवेंके ५६ वें आदि श्लोकोंमें यह बात बतलायी गयी है ।

इसी तरह योगदर्शन, गीता आदि शास्त्रोंमें केवल एक-एक साधनसे स्वतन्त्रतापूर्वक आत्माका कल्याण होना बतलाया है । श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि । (योग० २ । २८-२९)

'योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे अशुद्धिका नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है ।'

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये आठ (योगके) अङ्ग हैं ।'

गीतामें भी चौथे अध्यायके २४ वें श्लोकसे २९वें तक एक-एक साधनसे स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

१९—उपर्युक्त साधनोंको गीतामें योग और सांख्य इन दो निष्ठाओंके अन्तर्गत माना है । योगनिष्ठाके दो भेद हैं—(१) कर्मप्रधान योगनिष्ठा और (२) भक्तिप्रधान योगनिष्ठा । जहाँ केवल योगनिष्ठाका वर्णन आता है, वहाँ भक्तिका प्रत्यक्षमें कोई सम्बन्ध नहीं देखा जाता—जैसे गीता अध्याय २ श्लोक ४७ से ५१ तक । और जहाँ भक्तिप्रधान योगनिष्ठाका वर्णन है, उसे मदर्पण, मदर्थ, मदाश्रय आदि अनेक नामोसे कहा है—जैसे गीता ९ । २७; १२ । १०; १८ । ५६ तथा जहाँ केवल भक्ति होती है, उसे भक्तियोग, शरणागति, अनन्यभक्ति आदि नामोंसे कहा है—जैसे गीता १३ । १०; १४ । २६; ९ । ३४; ७ । १४; ११ । ५४ ।

२०—सांख्यनिष्ठाके भी दो भेद हैं—(१) विचारप्रधान सांख्यनिष्ठा और (२) उपासनाप्रधान सांख्यनिष्ठा । जहाँ विचारप्रधान सांख्यनिष्ठाका वर्णन है, वहाँ कर्तापनका अभाव दिखलाया गया है तथा प्रकृति और प्रकृतिके कार्यको ही कर्ता माना गया है—जैसे गीता ३ । २७-२८;

५ । ८-९; १३ । २९; १४ । १९; १८ । १७ तथा जहाँ उपासनाप्रधान सांख्यनिष्ठाका वर्णन है, वहाँ ध्यान और ज्ञानकी प्रधानता रहती है—जैसे गीता ५ । १७-१८, २४; ६ । २४-२५; १८ । ५१ से ५५ ।

२१—गीतादि शास्त्रोंको देखनेसे यह मालूम पड़ता है कि समताको विशेष स्थान दिया गया है । न तो समताके बिना किसी भी साधनका मूल्य है और न किसी साधनकी सिद्धि होती है । किसी भी निष्ठाके अनुसार साधन किया जाय, बिना समताके साधनकी सिद्धि ही नहीं होती । सांख्य और योग—दोनों ही निष्ठाओंके साधन समतापर ही निर्भर करते हैं । जहाँ सांख्य और योगका वर्णन आया है, वहाँ समतासे ही उनके लक्षण किये गये हैं । जैसे—

१-सांख्यके साधनमें समता

भगवान् कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

(गीता २ । १५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ।'

यहाँ सुख-दुःखमें समता बतलाकर साधकको ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी बतलाया गया है ।

२-योगके साधनमें समता

योगनिष्ठाका वर्णन करते हुए कर्मके साथ समता होनेसे ही उसकी 'योग' संज्ञा बतलायी है । भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(गीता २ । ४८)

'हे धनञ्जय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है ।'

सांख्य या योग—किसी भी निष्ठाको लक्ष्यमें रखकर साधन किया जाय, भगवान्‌ने समबुद्धिसे कर्म करनेकी ही आज्ञा दी है । वे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

(गीता २ । ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ।'

इससे यह बात सिद्ध होती है कि योग और सांख्य—दोनों ही साधनोंमें समताकी आवश्यकता है । समता होनेसे ही दोनों निष्ठाओंकी सिद्धि होती है । जहाँ समता नहीं, वहाँ योग योग नहीं है और सांख्य सांख्य नहीं है ।

साधकको किसी भी साधनके द्वारा जब परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह चाहे योगी हो, चाहे भक्त और चाहे ज्ञानी, समता ही उसकी कसौटी है । भगवान्‌ने परमात्माको प्राप्त योगीके लक्षण कहते हुए समताको ही विशेष आदर दिया है । वे कहते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

(गीता ६ । ८-९)

'जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है । सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

इसी प्रकार भक्तिद्वारा परमात्माको प्राप्त पुरुषोंके लक्षण कहते हुए भी समताको ही प्रधानता दी है । वे कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

(गीता १२ । १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है । जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और

आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।'

गुणातीत महात्माके लक्षण कहते हुए भी भगवान्‌ने समताकी ही विशेषता बतलायी है । वे कहते हैं—

> समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
> तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
> मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
> सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
> (गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है । जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

अतः इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि समताके बिना कोई भी महापुरुष, योगी, भक्त, ज्ञानी, महात्मा नहीं माना जा सकता । समता ही सबसे श्रेष्ठ साधन, सर्वोत्तम गुण और सब साधनों, साधकों और सिद्धोंकी कसौटी है ।

२२—तैत्तिरीयोपनिषद्‌की शिक्षावल्लीके ग्यारहवें अनुवाकमें कहा है कि—'मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।'—इत्यादि शास्त्रवचनोंसे यह सिद्ध होता है कि माता-पिताकी सेवासे बालकोंका, गुरुकी सेवासे शिष्यका, अतिथिकी सेवासे गृहस्थका, पतिकी सेवासे स्त्रीका तथा स्वामीकी सेवासे भृत्य (सेवक) का कल्याण हो जाता है; इसमें यह शङ्का होती है कि उपर्युक्त माता, पिता, पति आदि सेव्य व्यक्तियोंके स्वयं मुक्त न होते हुए भी केवल उनकी सेवासे ही सेवकका कल्याण कैसे हो सकता है । तो इसका उत्तर यह है कि सेवासे राग-द्वेषका नाश होकर समता आ जाती है और समता ही सब साधनोंका फल है । क्योंकि सेवकको उनकी सेवा करनेमें अपनी इच्छाका सर्वथा त्याग करना पड़ता है; जो बात अपने मनके प्रतिकूल है किंतु स्वामीके मनके अनुकूल है तो उसे बिना अपनी इच्छाके भी करना पड़ता है और जो बात अपने मनके अनुकूल है किंतु स्वामीके मनके प्रतिकूल है तो उसे अपनी अनुकूलताका त्याग करना पड़ता है । इस प्रकार अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलतापर बार-बार आघात पहुँचता है, जिससे अनुकूल, प्रतिकूल वृत्तिका नाश हो जाता है, अनुकूलतामें ही राग और हर्ष तथा प्रतिकूलतामें ही द्वेष और शोक होता है एवं अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिके नाशसे ही राग-द्वेष और हर्ष-शोकका समूल विनाश होता है । राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंका अत्यन्त अभाव होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर समता और ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

कञ्चन-तनसे क्या लाभ ?

> लाभ कहा कंचन तन पाये ।
> वचननि मृदुल कमलदल लोचन दुखमोचन हरि हरषि न ध्याये ॥
> तन मन धन अरपन नहिं कीनो प्रान प्रानपति गुननि न गाये ।
> जोवन धन कलधौत धाम सब मिथ्या सिगरी आयु गँवाये ॥
> गुरुजन गरब विमुख रँगराते डोलत सुख संपति बिसराये ।
> 'ललित किसोरी' मिटै ताप नहिं बिन दृढ़ चिंतामनि उर लाये ॥

—ललितकिशोरीजी

दुःखके कारण

पाँच चीजें ऐसी हैं जो हमारे दुःखको सदा बढ़ाती रहती हैं। यदि यह कह दें कि ये ही पाँच हमारे यहाँके प्रायः समस्त दुःखोंके कारण हैं, तो अत्युक्ति नहीं है।

(१) भगवान्‌के मङ्गलमय दानको अस्वीकार करनेकी वृत्ति—यहाँ जो कुछ भी हमें फलरूपमें प्राप्त हो रहे हैं, उन सबके आगे-पीछे मङ्गलमय प्रभुका मङ्गलविधान काम करता है। प्रभु हमें जो कुछ भी देते हैं, उसमें हमारा उत्थान होना निश्चित है। हमारे जीवनको नीचे स्तरसे उठाकर अबकी अपेक्षा कहीं अधिक सुख-शान्ति प्रदान करनेके लिये ही प्रभुका प्रत्येक विधान बनता है। किंतु हम उसे स्वीकार नहीं करना चाहते। जिन्हें प्रभुकी सत्तामें विश्वास नहीं, जो प्रभुको नहीं मानना चाहते, उनकी बात दूर, जो अपनेको आस्तिक कहते हैं, वे भी अपने मनके प्रतिकूल किसी भी विधानको स्वीकार नहीं करना चाहते। मनचाहा होनेपर तो बड़ी आसानीसे कह देंगे कि प्रभुकी कृपा है। पर कहीं मनके विरुद्ध हुआ तो उदासी आये बिना नहीं रहती। वास्तवमें यह प्रभुकी कृपाका अधूरा ही दर्शन है। पूरा दर्शन तो वह है जब कि हमारे लिये कुछ भी प्रतिकूल रहे ही नहीं। प्रभुके विधानसे जो भी हमें मिले, उसे हम अनुकूल बना लें, उसीमें पूर्ण अनुकूलताका दर्शन करें; किंतु यह होता नहीं। और उधर, यह बात है कि चाहे हम रोकर स्वीकार करें, या हँसकर, प्रभुका विधान तो हमपर लागू होकर रहेगा। प्रभुके यहाँ भ्रम नहीं, प्रमाद नहीं, पक्षपात नहीं। वहाँ तो अखण्ड स्नेह है, न्याय है, पूर्ण व्यवस्था है। जैसे अबोध शिशुके रोनेकी परवा न कर माता उसे स्नान कराती है, शरीरपर जमे हुए मैलको मल-मलकर धोती है, उलझे हुए बालोंको ठीक करती है तथा कभी जब यह देख लेती है कि बच्चेके कपड़े जीर्ण हो गये हैं, अथवा अत्यन्त मलिन हो गये हैं, तो उन्हें बदल देती है, वैसे ही दयामय प्रभु हमारे रोने-चिल्लानेकी परवा न कर हमें दुःख, विपत्ति, अपमान, निन्दा आदि विधानोंसे परिशुद्ध करते हैं और आवश्यकता होनेपर वस्त्र-परिवर्तनकी भाँति ही हमारे इस शरीरका मलिन आवरण हटाकर नवजीवन प्रदान करते हैं। जैसे माताकी प्रत्येक चेष्टामें बच्चेके प्रति अखण्ड स्नेह-भावना, सर्वथा हित-बुद्धि भरी होती है—शिशु भले ही इसे न समझे—वैसे ही प्रभु चाहे जो भी विधान करें, उसमें भरा है हमारे प्रति उनका अनन्त अपरिसीम स्नेह, हमारा ऐकान्तिक हित। मा यदि रोनेके भयसे बच्चेको स्वच्छ करना छोड़ दे, तब तो बच्चा जीवित रह चुका! अज्ञातावश रोना तो उसका स्वभाव है। मा उस ओर दृष्टिपात नहीं करेगी। वैसे ही प्रभु हमारे 'धुकुर-पुकुर, हाय रे, मरे रे' की ओर न देखकर हमें शुद्ध करेंगे ही, उनका विधान हमपर चरितार्थ होगा ही। और हम उसे टालनेका जितना *प्रयास करेंगे, उतना ही संघर्ष बढ़ेगा और हमारा दुःख* बढ़ता जायगा। उनके स्नेहमय कोमल हाथोंका स्पर्श भी हमें अवश्य प्राप्त होगा, हम उनकी गोदमें सुखकी नींद सो भी जायँगे, तथा जागनेपर हमें उस गत दुःखकी स्मृति भी नहीं रहेगी तथा आयु बढ़नेपर, समझ आ जानेपर तो प्रभुकी सत्तामें निष्ठा हो जानेपर, उनकी मङ्गलमयताका ज्ञान हो जानेपर—हम वैसे विधानोंका उत्फुल्ल होकर स्वागत करेंगे, उनकी प्रतीक्षा करेंगे, विलम्ब होनेपर संत कबीरकी भाँति* प्रभुसे प्रार्थना करेंगे कि

---

* कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी संत कबीरके जीवनपर एक रचना है, जिसका भाव यह है—कबीरको सिद्ध महात्मा मानकर लोगोंकी भीड़ एकत्र होने लगी। कोई सिद्धि दिखानेको कहता, कोई सन्तानकी माँग करता तो कोई मन्त्रसे रोग दूर करनेकी याचना करता। इस प्रकार कबीरके एकान्त भजन-साधनमें विघ्न होने लगा। उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की। कुछ ही दिनों बाद गाँवके कुछ ईर्ष्यालु लोगोंने कबीरके विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा, एक कुलटा स्त्रीको सिखा-पढ़ाकर ठीक किया। जब कबीर कपड़ा बेचने बाजारमें आये तब उसने उनका पल्ला पकड़ लिया और वह उन्हें खरी-खोटी सुनाने लगी। उसका कहना था कि 'मैं तुम्हारी रखेल स्त्री हूँ और तुमने मुझे छोड़ दिया, मैं कष्ट पा रही हूँ।' दुष्टोंका दल पहलेसे तैयार था ही। सब ताली पीटने लगे। कबीरकी खूब निंदा हुई, पर कबीर प्रसन्न हुए। वे उस स्त्रीको अपने साथ घर ले आये। उसे अपनी माताके समान मानकर आश्रय दिया और उसका आदर-सत्कार करने लगे। स्त्रीके मनमें पश्चात्तापकी आग धधक उठी। सर्वथा झूठा लाञ्छन उसने कबीरपर लगाया था। पर कबीर सदा यही कहते—'मैया! तू डर मत। तू तो भगवान्‌के यहाँसे मेरे लिये निन्दारूपी उपहार लेकर आयी है।' इसके पश्चात् एक बार काशीनरेशने कबीरकी ख्याति

'नाथ ! ऐसी कोई रचना रचो, कोई-सी लीला करो जिससे हमारे झंझट दूर हों' और वैसी परिस्थिति आनेपर हमारा रोम-रोम खिल उठेगा; किंतु जबतक ऐसा नहीं हो रहा है, तबतक हमारे लिये एक बार तो दुखी होना अनिवार्य है । यह है हमारी मूर्खता ही, पर उपाय क्या हो ! प्रभुरूप अनन्त दयामयी जननीके हाथमें हम अपनेको सौंप नहीं देना चाहते, उनके अनन्त शक्ति, असीम सौहार्द-पर हमारा विश्वास जो नहीं होता !

यहाँ इस प्रकृत उदाहरणमें शिशुके पास तो साधन नहीं कि वह माताकी भावनाको हृदयङ्गम कर सके । छः महीनेके बच्चेमें यह बुद्धि कहाँ है ? पर हमारे पास तो साधन भी है । हमारी जो बुद्धि राजनीति, अर्थशास्त्र, गणित, भूगोल, इतिहास एवं विज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंमें ऊहापोह कर सकती है, वह यदि चाहे तो, इन सबके ऊपर जाकर प्रभुकी सत्ता, मङ्गलमयतापर भी विचार कर सकती है; और यदि पक्षपातशून्य होकर वह उस दिशामें बढ़ेगी, अपने मनमाने सिद्धान्तको ही स्थापित करनेका आग्रह छोड़कर, सत्यको सहर्ष आदर देनेके लिये प्रस्तुत होकर अग्रसर होगी तो उसे कुछ-न-कुछ प्रकाश मिलेगा ही । कुछ-न-कुछकी बात इसलिये कि वास्तवमें इस दिशामें श्रद्धाका संबल नितान्त आवश्यक है । बुद्धि इस मार्गमें कुछ आगे चलकर कुण्ठित हो जाती है। फिर भी जो पुरुष सत्यको ग्रहण करनेका दृढ़ निश्चय, पक्षपातशून्य निश्चय लेकर चलता है, उसे प्रभुके ही किसी अचिन्त्य विधानके अनुसार किसी छिद्रसे आलोककी कोई क्षीणतम रेखा दीख ही जाती है । और कदाचित् उस क्षीण रेखाके सहारे ही वह थोड़ा-सा आगे और बढ़ गया, तब फिर तो उसका काम हो जाता है । उसके लिये श्रद्धाके द्वार अपने आप खुल जाते हैं । बस, जहाँ श्रद्धाके द्वार खुले कि ज्ञानका पूर्ण आलोक आया। इसके अनन्तर कुछ करना नहीं पड़ता; जो वस्तु यहाँ जिस रूपमें है, वैसी ठीक-ठीक दीखने लग जाती है । प्रभुके अतिरिक्त यहाँ दूसरी वस्तु है ही नहीं, सर्वत्र प्रभु हैं, सर्वत्र आनन्द भरा है, मङ्गल-ही-मङ्गल पूर्ण है । हमारी आँखोंपर अज्ञानरूपी अँधेरेका पर्दा पड़ा है । हम प्रभुको, उनकी नित्य आनन्दमयताको, उनकी मङ्गलमयताको देख नहीं पाते । कहीं ज्ञानका सूर्य उदय हो जाय तो काम हो जाय । यहाँ हम प्रत्यक्ष प्रतिदिन देखते हैं—सूर्योदय हमारी आँखों-पर पड़े हुए अँधेरेके आवरणको हटामात्र देता है, वह किसी वस्तुकी रचना नहीं करता । वैसे ही प्रभुका सम्यक् सुदृढ़ ज्ञान, उनका दिव्यातिदिव्य आलोक जहाँ आया कि वह हमारी बुद्धिके अनादि अज्ञान-अन्धकारको सदाके लिये नष्ट कर देता है । फिर प्रभु तो हमारे लिये नित्य-निरन्तर यहाँ हैं ही; उनकी रचना थोड़े होनी है !

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २८ । ३४)

किंतु हमारा न तो प्रभुपर विश्वास है, न इस दिशामें कोई प्रयत्न ही है । इसीका अनिवार्य परिणाम यह है कि जहाँ तनिक-सा भी कोई प्रतिकूल विधान हमारे सामने आया, आनेकी गन्धमात्र मिली कि हम उसे टालनेकी चेष्टा करते हैं । वह टलता तो है नहीं, केवल संघर्ष बढ़ता है, और हम दुखी होते हैं ।

(२) *हमारा मलिन स्वार्थ*—दूसरेका कुछ भी हो, उसका चाहे अहित हो, वह चाहे दुखी हो, हमारा भला होना चाहिये, हमें सदा सुख मिलना चाहिये । यह भावना हमारे दुःखका दूसरा कारण है । यह एक नित्य सनातन नियम मान लेना चाहिये कि जिसकी ऐसी भावना है, उसका भला होनेका ही नहीं है, उसके लिये सुख बहुत दूरकी वस्तु है । सुखका स्वप्न वह भले देख ले, मनके लड्डू खा ले; तथा यह भी सम्भव है—पूर्व अर्जित किसी शुभ कर्मके फलोन्मुख प्रारब्धवश वह यहाँ अभी जगत्‌की दृष्टिमें ऊपरसे सुखमयी परिस्थितियोंसे घिरा दीख पड़े, पर कहीं कोई उसके मनमें प्रवेश करके देखे, उससे मनकी स्थिति पूछकर देखे, तो पता चलेगा कि उसके मनमें सुखकी छाया भी नहीं है । वह एक अत्यन्त साधारण स्थितिके मनुष्यकी अपेक्षा भी बहुत अधिक अशान्त है । आज

सुनकर उनका दर्शन करना चाहा । कबीरने सोचा—रहा-सहा बखेड़ा भी दूर हो जाय । उसे लेकर वे राजसभामें गये । स्त्रीको साथ देखकर राजाके मनमें कबीरके प्रति घृणा हुई । कबीर सभासे निकाल दिये गये । कबीर कुटीमें आये । ईर्ष्यालु उन्हें चिढ़ा-चिढ़ाकर हँस रहे थे । पर वह स्त्री कबीरके चरणोंमें लोट गयी; बोली—'मुझ अधमाको अपने साथ रखकर इतना अपमान क्यों सहते हो ?' कबीर बोले—'जननी ! तू तो मेरे प्रभुकी भेजी हुई है, मेरे मालिकका दान है ।'

हममेंसे अधिकांशकी यही दशा है । हम अपना बनाना चाहते हैं, दूसरेकी उपेक्षा करते हैं । परिणाम यह होता है कि हमारा बनता ही नहीं, चाहे हम कितनी ही चेष्टा क्यों न करें और न बननेपर हम दुखी तो होंगे ही ।

जैसे हमारा शरीर है । इसमें आँख, नाक, कान, मुँह, सिर, कण्ठ, हृदय, पेट, कमर, हाथ, पैर आदि विभिन्न अवयव हैं । अब यदि आँख कहे कि हाथ टूटे तो टूटे, पैर कटे तो कटे, हम ठीक रहें; कान कहे कि आँख फूटें तो फूट जायँ, नाक सड़े तो सड़ जाय, इससे हमारा क्या ? हम ठीक बने रहें तो यह कैसी हास्यास्पद बात है ? एककी हानिका प्रभाव दूसरेपर पड़ेगा कि नहीं ? वैसे ही यह सारा विश्व एक ही प्रभुका शरीर है, हम सभी उस विराट् शरीरके अंश हैं, परस्पर हम सभी जुड़े हुए हैं, सबके हितमें हमारा हित, सबके सुखमें हमारा सुख समाया हुआ है । हमें ऐसी अनुभूति इसलिये नहीं होती कि विषय-व्यामोहमें पड़कर हम पागल हो रहे हैं, हमारी बुद्धि ठिकाने नहीं है । पागल जैसे अपने ही अङ्गोंको काटकर, तरह-तरहकी चेष्टाओंसे उसे विकृत कर सुखी होनेका अनुभव करता है, वही दशा हमारी है । जब हमारा यह पागलपन दूर होगा, प्रभुमें स्थित होकर हम इस जगत्को देखेंगे, तब यथार्थ दीखेगा । और उस समय, जैसे हम अपने सिर, हाथ आदि अङ्गोंमें, 'ये दूसरे हैं' ऐसी भेद-बुद्धि नहीं करते, वैसे ही समस्त भूत-प्राणियोंमें ही हम पर-बुद्धि करना छोड़ देंगे । सबके प्रति समान अपनापन होगा—

यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित् ।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ७ । ५३)

जबतक हमारी यह स्थिति नहीं हो जाती तबतक 'यह हमारा, यह दूसरेका, हम सुखी रहें, दूसरेसे हमें क्या मतलब ?' यह वृत्ति बनी रहेगी और हमें दुःख देती ही रहेगी ।

(३) पद-पदपर भयभीत होना—हमें इतने प्रकारके भय घेरे रहते हैं कि जिनकी गणना सम्भव नहीं । संक्षेपमें कहनेपर हम यों कह सकते हैं कि जो कुछ हमारे पास प्रिय वस्तुएँ वर्तमान हैं, उनमेंसे प्रत्येकके छिन जानेका भय तथा जो-जो हमारी अभिलषित वस्तुएँ हैं, जिनके लिये हम प्रयास करते रहते हैं, उनके न मिलनेका भय, इस प्रकार अगणित भय हमारे सामने खड़े रहते हैं; कुछ अव्यक्त चेतनामें, कुछ प्रत्यक्ष रूपसे । ऐसी स्थितिमें हम दुखी न हों तो और क्या हों ? पर यह भी है हमारी मूर्खता ही । क्या यह सम्भव है कि परम सुहृद् प्रभु हमारी आवश्यक वस्तु हमसे छीन लें ? अथवा हमारी आवश्यक वस्तु हमें न दें ? यहाँका कोई सच्चा मित्र भी जब ऐसा नहीं करता, तब जिन प्रभुसे समस्त विश्वमें मित्रभावका सञ्चार होता है, जो समस्त प्रेमिल भावनाओंके उद्गम हैं, जो सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, जो हमारे मनमें होनेवाले प्रत्येक सूक्ष्मतम स्पन्दनसे भी नित्य परिचित रहते हैं, वे कभी भला ऐसा कर सकते हैं ? कभी नहीं करेंगे, कर ही नहीं सकते । निरन्तर देते रहना तो उनका स्वभाव है, हमारे लिये नित्य-नव आनन्दका सृजन करना ही उनका काम है । जो वस्तु हमारे लिये अनावश्यक है, हानिकर सिद्ध होने लगती है, उसे वे हटा देते हैं, तथा ऐसी वस्तुएँ माँगनेपर भी, चेष्टा करनेपर भी, सामने लाकर नहीं रखते—इतना तो अवश्य करते हैं । पर इससे हमें भयभीत क्यों होना चाहिये ? बिना हमसे कुछ याचना किये, हमारे लिये नित्य-निरन्तर इतनी सुन्दर व्यवस्था करनेवाला, हमारी रक्षा करनेवाला हमारा अकारण स्नेही मित्र ऐसा कोई दूसरा मिलेगा ? किंतु हमें ऐसी प्रतीति नहीं होती और हम डरते रहते हैं, डर-डरकर दुखी होते रहते हैं । 'हाय रे, ऐसे हो गया तो फिर क्या होगा ? ऐसे नहीं हुआ तो क्या दशा होगी ?'—इन चिन्ताओंके जालमें पड़े रहनेके कारण हमारा दुःख प्रतिक्षण बढ़ता रहता है । प्रतीति हो भी तो कैसे हो ? हम प्रभुकी ओर नजर उठाकर देखतेतक नहीं, हमें उनकी आवश्यकता ही अभी नहीं प्रतीत होती ! यदि हम उनकी ओर देखने लग जाते तो प्रत्येक भयके स्थलमें ही, उसके अन्तरालमें उनका हँसता हुआ मुख हमें दीख जाता । फिर भय कहाँ, दुःख कहाँ ?

(४) हमारी प्रमादभरी आदतें—हमें जो करना चाहिये, वह तो हम करते नहीं, और जो नहीं करना चाहिये, वह करते रहते हैं । दुःखका यह चौथा कारण है । यह बात नहीं है कि हमें करने एवं न करने योग्यका पता ही नहीं हो । हममेंसे अधिकांशको अधिकांश स्थलपर अपने सहज ज्ञान (Intuition) से यह सङ्केत मिलता रहता है, पर हम उसकी उपेक्षा कर जाते हैं । जो आस्तिक जगत्में रहते हैं, सत्-चर्चा सुनते-कहते रहते हैं, उनको तो यह विशेष-रूपसे पता रहता है । ऋषियोंके इन अमर सन्देशोंसे वे प्रायः परिचित रहते हैं—

सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् ।

'तुम्हें सत्यसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये—कभी नहीं डिगना चाहिये। तुम्हें धर्मसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। बहाना बनाकर, आलस्यवश धर्मकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। कुशल—शुभ कर्मोंसे तुम्हें प्रमाद नहीं करना चाहिये, प्रभुके द्वारा सौंपे हुए शुभ कर्मोंका त्याग या उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।'

पर हम ऐसे कितने हैं, जो जानते रहनेपर भी, यह सोच-समझ रखनेपर भी ऐसा न करते हों ? विषयोंसे सुख पा लेनेकी लालसामें न जाने कितनी बार, कितनी बुरी तरहसे हम इन नियमोंको तोड़ते हैं । और जैसे—'सड़कसे नीचे दाहिने-बायें मत झुको, खड्डा है,' सर्वथा सीधी राह जाओ।'—इस सूचनाकी अवहेलना करनेपर हम नीचे गिरेंगे ही, चोट लगेगी ही, वैसे ही प्रभुके द्वारा स्थापित सनातन नियमोंका उल्लङ्घन, चाहे हम लुक-छिपकर करें, या भरी सभामें जनमत एकत्रकर सर्वसम्मतिसे उचित सिद्ध कराकर करें, पर हमारा पतन रुक नहीं सकता, सत्पथसे हम दूर हटेंगे ही, और दुःखका बोझ उठाना पड़ेगा ही।

(५) **हमारा अहंभाव**—इसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपोंमें होती है। हमें निमित्त बनाकर कहीं कोई-सी सुन्दर घटना घटित हुई कि हमारा अहंभाव जाग उठता है। उसका सारा श्रेय हम अकेले ही ले लेना चाहते हैं। 'अजी, मैं नहीं होता, तो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता।'—इस प्रकार अपनेको सामने रखनेमें हम लज्जाका अनुभव नहीं करते। यदि हम शिष्ट हैं तो हमारे कहनेकी भाषा सुन्दर शालीन हो सकती है, हमारे उस कथनमें ऊपरसे देखनेपर केवल विनम्रता भरी दीख सकती है तथा कभी-कभी तो जनतापर यह छापतक पड़ सकती है कि हम उस कार्यका श्रेय सर्वथा लेना ही नहीं चाहते, किंतु असलमें हमारा मन ही जानता है कि हम क्या चाहते हैं । और कभी इससे भी बहुत अधिक सूक्ष्म अभिव्यक्ति इसकी होती है । हम अनुभव करते हैं कि हमें इसका श्रेय नहीं चाहिये, पर बिना माँगे, बिना चाहे हमें जब श्रेय मिलने लगता है, तब हमें सुखकी अनुभूति होती है। यह सुखकी अनुभूति वास्तवमें प्रच्छन्न अहंभावकी ही अभिव्यक्ति है। जो हो, जाननेकी बात यह है कि चाहे जहाँ, जिस रूपमें, जिस मात्रामें इसकी अभिव्यक्ति होगी, वहाँ उसी रूपसे, उतनी मात्रामें ही हमारे लिये यह अभिव्यक्ति दुःखका सृजन कर ही देगी। हम तनिक सोचें, हमारी जिन इन्द्रियोंकी सहायतासे वह कार्य सम्पन्न हुआ है, जिस मनके विचार उसे सम्पन्न करनेमें हेतु बने हैं, जिस बुद्धिका निश्चय उसे अबतक—सफलताकी सीमातक निभा ले गया है, उन इन्द्रिय-मन-बुद्धिमें शक्ति कहाँसे आयी है ? प्रभुकी शक्ति ही तो इन्द्रियोंमें व्यक्त होती रही है, उनकी शक्तिने ही तो वैसे सुन्दर विचार मनमें उद्बुद्ध किये थे, बुद्धिकी वह निश्चयात्मिका शक्ति भी तो प्रभुकी ही देन है। फिर हमारा क्या है, जो हम 'अहङ्कार' कर रहे हैं, उस कार्यका श्रेय ले रहे हैं ? यहाँ सब कुछ सर्वथा प्रभुकी शक्तिसे ही तो सम्पन्न हो रहा है ? पर हम अहङ्कारसे विमूढ़ होकर अपनेको मान बैठते हैं उन सबका कर्ता । इसका परिणाम क्या होगा ? हमारे इस अहङ्काररूपी मलिन यन्त्रके द्वारा प्रभुकी पवित्रतम शक्तिका दुरुपयोग हुए बिना रह नहीं सकता। सदुपयोग तो केवल वहाँ सम्भव है, जहाँ यह अहङ्कार सर्वथा मिट गया होता है, प्रभुकी शक्ति सीधे उतरती होती है, अथवा जहाँ यह अहङ्कार सर्वथा परिशुद्ध होकर प्रभुके पादपद्मोंसे लिपट जाता है, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें प्रभुकी सञ्चारित की हुई शक्तिको वहींसे देखता भर रहता है, देख-देखकर उत्फुल्ल होता रहता है, कभी भूलकर भी हस्तक्षेप करने नहीं आता।

सारांश यह कि हमारा अहङ्कार पहले तो प्रभुकी शक्तिपरसे उनका नाम पोंछकर अपनी मुहर लगा देता है, और फिर उस शक्तिका अपव्यय करता है । अब जगन्नियन्ताकी शक्ति चुराकर उसका अपव्यय करनेका परिणाम दुःखकी सृष्टिके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

बस, उपर्युक्त पाँच कारणोंमें ही हमारे दुःखके प्रायः सभी कारण समा जाते हैं। ये पाँचों कारण एक-दूसरेसे भिन्न सर्वथा स्वतन्त्र हों, ऐसी बात नहीं है । पाँचों एक दूसरेसे मिले-जुले होते हैं, परस्पर रूपान्तरित होते रहते हैं। समझनेके लिये इन पाँच विभागोंमें बाँटकर हम उन्हें अच्छी तरह समझ सकते हैं।

वास्तविक दृष्टिसे विचारनेपर तो दुःख नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। फिर भी, जबतक हम प्रभुमें स्थित नहीं हो जाते, तबतक दुःखकी सत्ताका भ्रम बना ही रहता है । उनमें व्यवस्थित हुए कि दुःखका अत्यन्त अभाव हो जाता है। सूर्यको कभी अन्धकारकी सत्ताका भान है क्या ? जहाँ सूर्य है, वहाँ अन्धकार न था, न है, न रहेगा। वैसे ही परमानन्दघन प्रभुके समीप दुःखकी सत्ता है ही नहीं। उनमें तन्मय होते ही हमारे लिये भी दुःख नहीं रहेगा। अभी तो हम उनसे

अलग होकर, उनसे मुँह फेरकर अपनी दृष्टि घुमा रहे हैं, और इसीलिये—प्रभुके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व न होनेपर भी—हमें नाना पदार्थोंके, अनेक विषयोंके दर्शन हो रहे हैं तथा इन विषयोंसे सुख पानेकी जो अपेक्षा है, आशा है, बस, यही दुःख है—

दुःखं कामसुखापेक्षा.................. ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १९ । ४१)

जिस दिन जिस क्षण हमने प्रभुको देख लिया, उन्हें जान लिया, बस, उसी क्षण यह विषय-सुखकी अपेक्षा समाप्त हो जायगी; दुःखोंके समस्त कारण मिट जायँगे; हमारे दुःखोंका सदाके लिये अन्त हो जायगा। विषय, नानात्व—ये भी नहीं रहेंगे। रहेंगे केवल एक प्रभु । इसीलिये श्रुति हमें सावधान करती है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

(श्वेताश्वतर० ६ । २०)

'जब मनुष्य आकाशको चमड़ेकी भाँति लपेट ले सकेंगे तब उन परमदेव परमात्माको जाने बिना भी दुःखका अन्त हो सकेगा।'

यह असम्भव है, पर हम सुननेपर भी सावधान नहीं होते। दुःखके मार्गमें ही आगे-से-आगे बढ़ते चले जाते हैं। भगवान् हमें सद्बुद्धि दें !

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४०)

अब तो श्रीकृष्णचन्द्र प्रतिदिन ही वत्सचारण करने जाते हैं। उनके महामरकतश्यामल सुकुमार श्रीअङ्गोंके अन्तरालसे प्रतिदिन ही एक अभिनव ओजकी धारा प्रस्फुटित होती है, दिन-पर-दिन वयसोचित मेधाका भी सुन्दर विकास होता जा रहा है, मनके उल्लासकी तो सीमा ही नहीं रही है। और जब इस अपरिसीम उल्लासकी लहरियाँ वत्सचारणलीलाको सिक्त करने लगती हैं, उल्लासके आवेशमें यशोदाके नीलसुन्दर गोवत्सोंसे आवृत होकर अपनी परम रमणीय बाल्य-भङ्गिमाओंका प्रकाश करने लगते हैं, उस समय वृन्दाकाननके चर-अचर, स्थावर-जङ्गम समस्त अधिवासियोंकी दशा देखने ही योग्य होती है। सभी एक साथ ही किसी अनिर्वचनीय परमानन्दसिन्धुके अतल तलमें समा जाते हैं। ऊपर आकाशमें सुरसमुदाय आनन्द-मूर्च्छित हो जाता है; उनकी चिरसङ्गिनी सुरवनिताएँ आनन्दविवश होकर बाह्यचेतनाशून्य हो जाती हैं; अमरविमान नीचेकी ओर ढुलककर गिरने लग जाते हैं, कदाचित् श्रीकृष्णकी अचिन्त्यलीलामहाशक्ति सबका नियन्त्रण न करती होतीं, विशुद्ध सत्त्वरसभावित गोप-शिशुओंके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके इस निराविल आनन्द-विहारमें व्याघात न हो जाय—इस उद्देश्यसे लीलाशक्ति अपने अदृश्य-अञ्चलकी छोरपर इन विमान-पङ्क्तियोंको थाम न लेती तो सभी धरातलका स्पर्श करते होते। और इधर पुरवासी—इनका तो कहना ही क्या है। निर्निमेष नयन, स्पन्दनहीन अवयव, जो जहाँ जैसे अवस्थित है, वह वहाँ वैसे ही रह जाता है। सबके प्राण रुद्ध हैं, बस वहाँ, उसी स्थलपर—जहाँ श्रीकृष्ण-चन्द्र हैं, अग्रज बलराम हैं, श्यामसुन्दरके सहचर गोपशिशु हैं। व्रजदम्पतिकी समस्त वृत्तियाँ भी सिमटकर आ जाती हैं यहीं अपने इस अनोखे वत्सपालके सस्मित मुखकमलपर, वे भी केवल इतना ही देख पाती हैं—उनके नीलमणि, राम एवं गोपबालकोंसे परिवृत रहकर गोवत्सोंके साथ विविध विचित्र क्रीडामें संलग्न हैं। और यह देख-देखकर नन्दरायके, नन्दरानीके प्रत्येक रोमसे आनन्दनिर्झर झरने लग जाता है तथा व्रजकी धराका आनन्दोच्छ्वास भी प्रत्यक्ष हो जाता है। न जाने कितनी बार पावसकी श्याम घटाएँ उसके वक्षःस्थलका अभिषेक कर जाती थीं, पर फिर भी ग्रीष्म आता और उसकी मुखश्री झुलस जाती; किंतु अब, जबसे नवजलधरसुन्दर

श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें आये हैं, तबसे धराकी हरीतिमाका कभी ह्रास नहीं हुआ। तबसे प्रतिदिन ही व्रजकी धरापर कृष्णमेघकी स्निग्ध धारा प्रवाहित होती है, श्यामसुन्दरकी स्निग्ध अमल अङ्गकान्तिसे धरा नित्य श्यामलित रहती है। और इस समय वत्सचारण करते हुए, गोशावकोंके मध्यमें विविध क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी अङ्गच्छटा तो सर्वथा अप्रतिम हो जाती हैं, धराका अणु-अणु इस छटाकी छायासे श्याममय हो जाता है, कण-कणमें नव-नव सुकोमलतम तृणाङ्कुर उदय हो जाते हैं, धराका आन्तरिक आह्लाद व्यक्त हो जाता है—इस प्रकार समस्त व्रजपुरको सुखसमुद्रमें निमग्न करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी वत्सचारणलीला जब कुछ दिन चलती रहती है और वे इस कार्यके लिये पुरवासियोंकी दृष्टिमें सर्वथा कुशल, परम सुदक्ष सिद्ध होते हैं तब श्रीकृष्णचन्द्रका उत्साह और भी बढ़ता है। अबतक व्रजेश्वरने प्रासादसंलग्न लघुगोष्ठके गोवत्सोंका ही भार श्रीकृष्णचन्द्रको सौंपा है; उसके भी अपरिमित असंख्य गोवत्स अवश्य हैं, पर बृहत् गोष्ठके गोवत्सोंको सम्मिलित किये बिना श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णरूपसे वत्सपाल जो नहीं हुए। अतएव श्रीकृष्णचन्द्र जनक-जननीके समक्ष, पुरवासियोंके समक्ष, अपनी योग्यताकी परीक्षा देकर उसमें पूर्णरूपसे सफल होकर, सबकी सम्मति पाकर अब बृहत् गोष्ठके भी समस्त गोवत्सोंको चरानेके लिये अतिशय उत्कण्ठित हो उठते हैं—

एवमहरहरहतविक्रमः क्रमसमेधमानसमेधमानसोल्लासतया तया वत्सचारणखेलया खेलयारूढमनसः प्रसृमरानमराननवरतवरतनुसहितान् स हि तान् प्रमोदयन्मोदयन्नपि व्रजवासिनः सह सहचरैर्बलभद्रेण च भद्रेण चरितवैचित्र्येण जननीजनकयोरानन्दं मुहुस्तन्वानस्तन्वा नवघनघटाश्यामलया मलया व्रजभुवं च श्यामलयन् यदि तस्यामेव लीलायां कुशलो बभूव तदा यावन्तो वत्सास्तावतामेव चारणाय पर्युत्सुक आसीत्।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजराजकी अनुमति मिलनेमें अब विलम्ब ही क्या था; श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोवत्सोंके अधिनायक बन गये और त्रिभुवनजनपावनी जननी यशोदाकी प्रातश्चर्या यह बनी—किरणमालीकी स्वर्णिम किरणें व्रजपुरको रञ्जित करने आतीं, उससे पूर्व ही मैया अपने नीलमणिके शयनपर्यङ्कपर पुनः आ विराजतीं। व्रजराजमहिषी परिचित हैं अपने समस्त पुरवासियोंके स्वभावसे। उनके नीलमणिका दर्शन पानेके लिये गोपसुन्दरियोंके प्राणोंमें कितनी आतुरता है, व्रजरानीसे अब छिपा नहीं रहा है। निशाका अवसान होते ही गोपसुन्दरियाँ कोई-न-कोई बहाना लेकर आने लगती हैं और तबसे रात्रि आरम्भ होनेतक—जबतक श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनमें विराज रहे हैं, तबतक उनका क्रम नहीं टूटता। विशाल व्रजपुर है, असंख्य गोपसुन्दरियाँ हैं, और बहानोंका ही क्या अभाव है। कोई प्रातःकाल ही राम-श्यामके लिये निमन्त्रण लेकर आती है, व्रजरानी स्वीकार करें या न करें, कोई-न-कोई प्रतिदिन प्रस्ताव लायेगी ही—

जसोदा एक बोल जो पाऊँ।
राम कृष्ण दोउ तुम्हरे सुतको सखन समेत जिमाऊँ॥
जो तुम नंदराय सों सकुचौ तो हौं उन्हें सुनाऊँ।
जो पै आज्ञा देहौ कृपाकर भोजन ठाठ बनाऊँ॥

आजसे नहीं, प्रसूतिगृहमें थीं तबसे व्रजरानी देख रही हैं—गोपसुन्दरियोंके प्राण उनके नीलमणिमें ही समाये रहते हैं और वे घूम-फिरकर नन्दभवनकी ही परिक्रमा करती रहती हैं। नीलमणि जब पालने झूलने लगे, गोपसुन्दरियोंके तालबन्धपर नृत्य करने लगे, उस समय गोपसुन्दरियाँ आतीं एवं व्रजेश्वरीके चरणोंमें अपने आकुल प्राणोंकी अभिलाषा निवेदन करतीं—

यह नित नेम जसोदा जु मेरे तिहारो हि लाल लड़ावन को।
प्रात समय उठ पलना झुलाऊँ सकट भँजन जस गावन को॥
नाचत कृष्ण नचावत गोपी कर कठताल बजावन को।
आसकरन प्रभु मोहन नागर निरखि बदन सचु पावन को॥

यह सुनकर व्रजरानीके नेत्र छलक उठते, 'बहिनो, नीलमणि तो तुम सबोंका ही है' कहकर उनकी गोदमें वे नीलमणिको रख देतीं और उनका मनोरथ पूर्ण होता। मैया यहाँकी रीतिसे परिचित हैं, उन्होंने देख लिया है, जो एक बार नन्दभवनमें आया है, उसने अपने मन, प्राण सब कुछ नीलमणिको समर्पित कर दिये हैं—

व्रजकी रीति अनोखी री माई।
जो कोउ नंदभवनमें आवत ताको मन हर लेत कन्हाई॥

न जाने कितनी बार सन्ध्या-समय जननी यशोदाके भवनमें गोपसुन्दरियाँ आयी हैं अपना दीप प्रज्वालन करने; मानो उनके घर दीप प्रज्वलित करनेके साधन नहीं हों। इतना ही नहीं, दीप जलाकर वे बाहर गयी हैं और अपने मुखश्वाससे ही उस दीपको निर्वापित कर पुनः नन्दभवनमें लौट आयी हैं। जैसे हो, जिस मिससे हो, उनके नेत्रोंको नीलमणिके दर्शन होते रहें, इतना ही उन्हें अभिप्रेत है। नीलमणि उनके पलककी ओट हुए कि उनके प्राण हाहाकार कर उठते हैं—

घर नंद महरके मिस ही मिस आवैं गोकुलकी नारि।
सुंदर बदन बिन देखे कल न परत,
भूल्यो धाम काम आछो बदन निहारि॥
दीपक लै चली बारि, बाट में बड़ो कर डारि,
फिरि आवै छबि सों बयार देत गारि।
नंददास नंदलाल सों लागे नयन,
पलक की ओट मानो बीते जुग चारि॥

और न सही, नन्दसदनकी भित्तियोंपर, स्तम्भोंपर गवाक्षमालाओंपर कितने सुन्दर मनोहारी चित्र अङ्कित हैं, उनकी शोभा देखनेके बहाने ही गोपसुन्दरियाँ एकत्र खड़ी रहती हैं। वे चित्रोंकी प्रशंसा करती हैं, पर नेत्र झुके रहते हैं भोजन करते हुए नन्दनन्दनकी ओर—

चित्र सराहत चितवत मुर मुर गोपी बहुत सयानी।

किसीको ब्राह्ममुहूर्तमें ही भ्रम हो जाता है— श्रीकृष्णचन्द्रकी वंशी बज रही है। वे जाग उठे हैं तभी तो वंशी बजी है! और वह दौड़ पड़ती है नन्द-प्राङ्गणकी ओर! वहाँ आकर नीलमणिको सोये सुनकर, वस्तुस्थिति व्रजेश्वरीको समझा देती है, उनसे अनुनय-विनय करने लग जाती है—

मैं जान्यो जागे जु कन्हाई तातें जसुमति तेरे घर आई।
मेरे पिछवारे वैसेई सुरन सों तिनहूँ मधुरी मुरलि बजाई।
जनम सुफल कर बिनती चित धर अपने कान्ह किन देहु जगाई

और अब तो—जबसे वत्सचारण-आरम्भ हुआ है—यहाँ व्रजपुरकी, वृन्दावनकी आभीर-सुन्दरियोंका प्रथम कृत्य बन गया है नन्दभवनका दर्शन!—

प्रात समय उठ चलहु नंदगृह बलराम कृष्ण मुख देखिये।
आनँद में दिन जाय सखी री जन्म सुफल कर लेखिये॥
× × × ×
राम कृष्ण पुनि बनहि जायँगे चरन कमल रज लीजिये॥

व्रजरानीको यह सब ज्ञात है। पुरसुन्दरियोंका नीलमणिके प्रति यह प्रेमिल भाव देखकर उनका अन्तः-करण क्षण-क्षणमें आर्द्र हो उठता है। वे सबके प्रति सदय रहती हैं, यथायोग्य सबके मनोरथ पूर्ण हों, ऐसा अवसर वे प्रदान कर ही देती हैं। इसीलिये अब वे सूर्योदयसे पहले—गोपसुन्दरियोंकी भीड़ होनेसे पूर्व ही अपने नीलमणिका संलालन करती हैं। अन्यथा गोपसुन्दरियोंके आ जानेपर फिर नीलमणि शृङ्गार धराने बैठें और शान्तिसे शृङ्गार धरा लें, यह सम्भव जो नहीं। अस्तु, जननी अपने लड़ैते लालको जगाती हैं। फिर मुख-प्रक्षालन, गात्रपरिमार्जन, अभ्यञ्जन, उद्वर्तन, स्नान, अनुलेपन आदि क्रियाएँ सम्पन्न कर आभूषण धारण कराती हैं। अनेक कौशलसे श्रीकृष्णचन्द्रको भोजन कराती हैं। भोजनके अनन्तर व्रजरानीका वात्सल्य उमड़ता है, अपने नीलसुन्दरको भुजपाशमें बाँध लेती हैं, शयनपर्यङ्कपर स्वयं पौढ़ जाती हैं। नीलमणि भी जननीके वात्सल्यसे आप्यायित होकर क्षणभरके लिये अपने नेत्र निमीलित कर लेते हैं; मानो वे जननीका मनोरथ पूर्ण करते हुए सचमुच निद्रित हो गये हों। जब इतना हो लेता है, तब श्रीकृष्णचन्द्र वनकी ओर चलते हैं। जननी भी अनुगमन करती हैं, रह-रहकर जननी अञ्चलसे मुख पोंछकर आदेश करती हैं—'बस यहींतक, यहींसे इस स्थानसे ही लौट आना भला!'

और तब श्रीकृष्णचन्द्र मधुमिश्रित कण्ठसे, मृदुल मधुर आश्वासन-वचनोंसे जननीको परितृप्त कर उन्हें घर लौटा देते हैं। यह बनी है व्रजमहारानीकी दैनन्दिनी प्रातःचर्या !—

तथा सति प्रतिदिवसमनुदित एव किरणमालिनि त्रिभुवनजनपावनजनन्या जनन्यायकोविदया दयालुहृदयया स्वयमेव शयनोत्थापनमुखधावनपरिमार्जनाभ्यञ्जनोद्वर्त्तनस्नपनानुलेपनालङ्करणकौशलानन्तरमाशयित्वा शाययित्वा च क्षणमनुगते ऽर्द्धपथपर्य्यन्तमित एव निवर्त्यतामिति प्रतिमुहुरतिवत्सलां मातरमेनामतिमृदुलमधुरतरेण वचसा निवर्त्य ।

किंतु यह सब होकर भी बलराम एवं श्रीकृष्णचन्द्र व्रजकी सीमासे दूर गोवत्स चराने नहीं जा पाते। इसमें जननीका शासन अभीतक ज्यों-का-त्यों बना है। व्रजपुरके निकट रहकर ही वेणु, वेत्र, शृङ्ग, कन्दुक प्रभृति अनेक प्रकारकी क्रीडासामग्री लिये सुबल, श्रीदाम आदि अगणित गोपबालकोंके साथ मिलकर दोनों वत्सचारण करते हैं—

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः।
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३८)

अवश्य ही उनकी यथेच्छ क्रीड़ाके लिये अब कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा। समीपमें व्रजदम्पति नहीं, वयस्क गोप-गोपी नहीं, परिचारिकाएँ भी नहीं। क्योंकि कुछ दिन सकुशल वत्सचारण होते देखकर सबके मनमें अनिष्टाशङ्काएँ शिथिल पड़ गयीं। अतः राम-श्यामको निर्बाध क्रीड़ाका अवसर प्राप्त हो गया। कभी तो उनकी वंशी बजती। कभी दोनों भाई एवं गोपशिशु—सभी मिलकर बहुतसे बिल्व एवं आमलकी फल एकत्र करते तथा उन्हें रज्जुनिर्मित क्षेपणयन्त्रके द्वारा ऊँचे आकाशमें, उत्तुङ्ग वृक्षोंकी शाखाओंपर फेंकते; होड़ लगती, कौन कितना ऊँचा, कितनी दूर निक्षेप कर सकता है। कभी एक विशाल मण्डलकी रचना होती तथा मण्डलके मध्यमें खड़े होकर राम-श्याम अपने किङ्किणीमण्डित चरणोंसे सुमधुर नृत्य करते। कभी दो विचित्र मण्डली निर्मित होती—एक ओर समस्त गोपशिशु होते और दूसरी ओर राम-श्याम। गोपबालक कम्बलसे, वस्त्रोंसे अपने अङ्गोंको ढक लेते, दोनों हाथ पृथ्वीपर टेक देते, ग्रीवा ऊँची करके सिरको भी ढक लेते, केवल नेत्रोंके समीप कुछ स्थल छोड़कर शेष अङ्ग आवृत हो जाता और यथासम्भव शृङ्ग आदिके आकार बनाकर कृत्रिम गो-वृषभ बनकर, सजकर एक पङ्क्तिमें खड़े हो जाते तथा उनके ठीक सामने राम-श्याम भी ऐसी ही साजसे सजकर, कृत्रिम वृषभ बनकर गरजने लगते। फिर परस्पर युद्ध आरम्भ होता। इस युद्धमें विजय तो प्रायः गोपशिशुओंकी ही होती; पर हारनेपर भी राम-श्यामके आनन्दका पार नहीं रहता तथा कभी-कभी इन सब क्रीडाओंसे श्रान्त होकर, इन्हें परित्याग कर राम-श्याम दोनों भाई किसी सरोवर-तटपर, किसी वृक्षकी सुशीतल छायामें जा विराजते। उनके विराजनेकी देर थी, फिर तो हंस-मयूरादि विविध विहङ्गम आकर उन्हें घेर लेते, अपनी ग्रीवा उठाकर, पंख-प्रसारितकर मधुर कलरव आरम्भ करते। अब क्या चाहिये, श्रीकृष्णचन्द्रको क्रीडाकी एक वस्तु और मिल गयी। वे भी उन विहङ्गमोंके कल-कूजनका अनुकरण करने लग जाते। अपना मुख फुलाकर, सङ्कुचित कर ठीक उनकी भाँति ही स्वर निकालते तथा सखामण्डली हँस-हँसकर लोट-पोट होने लगती। राम-श्यामकी इन विविध क्रीडाओंको देखकर कौन कह सकता है कि ये अखिल ब्रह्माण्डपति हैं, प्रकृतिसे सर्वथा परेकी वस्तु हैं, तथा ऐसे अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहते हुए ही ये ठीक ऐसी लीला कर रहे हैं, मानो सर्वथा प्राकृत शिशु हों। नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रका बाल्यविहार, उनका यह प्राकृतानुकरण, प्राकृत मन-बुद्धिके द्वारा हृदयङ्गम कर लेना सम्भव जो नहीं! जो हो, नित्य अप्राकृतका यह प्राकृतानुकरण है अत्यन्त मधुर !—

क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।
क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः ॥

वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३९-४०)

इस प्रकार विविध क्रीड़ाओंका रस लेते हुए, रसदान करते हुए राम-श्याम दोनों भाई एवं असंख्य गोपशिशु अपने तुमुल आनन्दकोलाहलसे व्रजको, वनको गुञ्जित करते रहते। इस आनन्दकोलाहलको दूरसे सुन-सुनकर ही व्रजरानी धैर्य धारण करतीं। और जब मध्याह्न आने लगता तो विविध खाद्य द्रव्योंकी छाक सजाकर परिचारिकाओंके द्वारा वनमें भेज देतीं। राम-श्याम छाक आरोगते—

सखन सहित हरि जेंवत छाक।
प्रेम सहित मैया दे पठई हित सों बहु विध कीने पाक॥
सुबल सुदामा संग सखा मिल भोजन रुचिकर खात।
ग्वालन करतें छाक छुड़ावत मुखमें मेल सरावत जात॥
जे सुख कान्ह करत वृंदावन सो सुख तीन लोक विख्यात।
सूर स्याम भगतन वस ऐसे ब्रह्म कहावत हैं नंदतात॥

जब छकहारी परिचारिकाएँ लौटने लगतीं तो वयस्क गोपशिशुओंको आदेश दे जातीं—

अरे! रे! शीघ्रमेवायं प्रानयनीयो व्रजधरिणीश-प्रणयिन्याः प्राणस्य प्राण इति। (श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे, ओ, सुनते हो, शीघ्र ही व्रजराजप्रणयिनी यशोदाके प्राणोंके प्राण इस नीलसुन्दरको घर लौटा ले जाना है।'

तबतक सचमुच दिन भी ढलने लगता। मुखमें पुष्प-तृणका ग्रास लिये गोवत्सोंको धीरे-धीरे चराते हुए श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें व्रजकी ओर हाँक देते। पथमें भी उनकी क्रीडा होती ही रहती। कभी सुमधुर राग अलापते, कभी नृत्यका झंकार गूँज उठता, कभी हँस-हँसकर बालकोंको हँसाने लग जाते। न जाने उनके साथ मिलकर कितनी ऊधम करते, उनकी क्रीडाकी इति जो नहीं। ऊपरसे अमरवृन्द राशि-राशि कुसुमोंकी वर्षा करते रहते, पथ दिव्य कुसुमोंसे आस्तृत हो जाता और उसपर मन्द मन्थर गतिसे चरण-निक्षेप करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने गृहकी ओर चलते रहते—

सपुष्पतृणमुखान् वत्सान् व्रजाभिमुखान् विधाय शनैश्चारयन् गायन्नृत्यन् हसन् क्रीडन् × × × सुमनोभिश्च सुमनोभिर्वृष्यमाणःस्वगृहाय वर्त्म जगृहे।
(श्रीगोपालचम्पूः)

यह है श्रीकृष्णचन्द्रके प्रतिदिनके वत्सचारणका एक अत्यन्त संक्षिप्त क्रम। प्रतिदिन ही वे प्रातःकाल वनमें जाते हैं और सायंकाल लौट आते हैं। आज भी गये थे और लौट रहे हैं, पर आज गये थे एक विशेष अभिसन्धि लेकर। वत्सासुर-उद्धारकी भूमिका जो उन्हें प्रस्तुत करनी है। आज वनमें श्रीकृष्णचन्द्र क्रीड़ामें समय न व्यतीत कर, सर्वथा वत्ससंलालनमें ही संलग्न रहे। जिस आन्तरिक उल्लाससे उन्होंने आज गोवत्सोंकी परिचर्या की है, वह तो अभूतपूर्व ही हुई है। व्रज-पुरवासियोंने यह संलालन देखा नहीं, उन्होंने कतिपय वयस्क गोपबालकोंके मुखसे सुन पाया है। पर इसे देखा है कंसके असुर गुप्तचरोंने। उन सबने श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रत्येक प्रेमिल चेष्टाके दर्शन किये। गोपबालकोंकी दृष्टि उन गुप्तचरोंपर नहीं गयी। अन्यथा उनका आनन्द-कोलाहल शान्त हो जाता, उनके निर्बाध सुखमें व्याघात होता। इसीलिये योगमायाने वहाँ, उस दिशाकी ओर एक झीनी चादर डाल दी थी। गोपशिशु उस ओर देखकर भी गुप्तचरोंको इसीलिये नहीं देख पाये, उनकी गन्धतक उन्हें नहीं मिली। वे तो वैसे ही परमानन्दमें निमग्न अपने प्राणसखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ व्रजमें लौट रहे हैं तथा आज उनको एक और विशेष कौतूहलकी वस्तु प्राप्त हो गयी है। मधुमङ्गलके नेत्रोंमें एक दिव्य शक्तिका उन्मेष हो गया है, आज दिनभर उसने आकाशमें क्या-क्या देखा है, वह सबको सुनाता रहा है। बालक पूरा समझ नहीं पाते, कुछ देख भी नहीं पाते, पर सुन रहे हैं बड़ी उत्सुकतासे। हाँ, उनके कर्णरन्ध्रोंमें सुरसुन्दरियोंके कोकिल कण्ठसे निःसृत श्रीकृ॰ स्तुति अवश्य प्रविष्ट हो रही है—

कमला-नायक, वैकुँठ-दायक, दुख-सुख जिन कें हाथ।
काँध कमरिया, हाथ लकुटिया, विहरत बछरनि साथ॥

नाथ-भागवत

(लेखक—श्री वि० हर्षे एम्० ए०, साहित्य-विशारद)

[गताङ्कसे आगे]

हमारे पूर्वज महाराज यदु एक बार आखेटके लिये वनमें गये थे। वहाँ उन्होंने एक तेजोमय ब्राह्मणके दर्शन किये। उन तेजस्वी ब्राह्मणके सब लक्षणोंको देखकर महाराज यदुको निश्चय हो गया कि ये ब्रह्मदर्शी महापुरुष हैं, अतः बड़ी नम्रतासे महाराजने उनकी स्तुति की। महाराज यदुने कहा—'हे धीमन् विप्रवर्य ! मैं आपमें वह अमित तेज देखता हूँ, जो यम-नियमोंके कठोर पालनसे भी प्राप्त नहीं होता। आपकी चेष्टाओंमें शिशुओंकी सरलता और हेतुकी निरपेक्षता है; किंतु आपकी बुद्धि बालबुद्धि नहीं जान पड़ती। आप सर्वज्ञ प्रतीत होते हैं। प्रायः साधारण लोग काम्यकर्मोंमें ही लगे दीखते हैं। उनका ज्ञान उनके विषयोंतक ही सीमित रहता है। स्नान-सन्ध्या, जप-तप प्रभृति सभी वेदोक्त कर्म दम्भपूर्वक अर्थोपार्जनके लिये लोग करते हैं; किंतु परमार्थकी प्राप्तिके लिये कोई भी कुछ करता नहीं है। वे लोग यह भूल जाते हैं कि ऐहिक सुख अदृष्टके अधीन हैं। उनपर विषयोंका इतना प्रभाव है कि भगवत्-सेवा भी वे विषय-सुखकी प्राप्तिके लिये ही करते हैं; परंतु आप तो इन सब लोगोंसे भिन्न दिखायी पड़ते हैं। आपने मानव-जीवनको तृणके समान समझा है। सभी लौकिक विषयोंको छोड़कर आप आत्मानुसन्धानमें लीन रहते हैं। आत्मानन्दसे आपका चित्त शीतल है। ब्रह्मानन्दमें आपका हृदय कल्लोल किया करता है। आप सर्वज्ञ हैं, पर आप इसे किसीसे प्रकट नहीं करते। आपको कोई इच्छा नहीं। आपमें शान्तिका निरन्तर निवास है। आपमें ममत्वकी तनिक भी भावना नहीं है। काम-क्रोधकी अग्निमें समूचा संसार भस्म हो रहा है; किंतु उसकी बाधा आपको नहीं है। इसलिये आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि आप अपने इस आत्मानन्दका कारण मुझे बतानेकी कृपा करें। आपको न राजाका भय है और न धनवानोंकी कोई अपेक्षा है; परंतु मैं आपके शरण होकर यह प्रार्थना कर रहा हूँ ! आप इसे स्वीकार करें !'

तेजस्वी अवधूतने महाराज यदुके प्रश्नका सहर्ष उत्तर दिया। उन्होंने बताया कि 'बिना गुरुके किसीको भी आत्मज्ञान नहीं होता, इसलिये मैंने बहुत-से गुरु बनाकर अपनी ही बुद्धिसे उनके गुण-दोषोंका विवेचन करके बोध प्राप्त किया। संसारसे मुक्त होनेके लिये सद्बुद्धि ही एकमात्र सहायिका है। जिसमें सद्बुद्धि नहीं, वह संसारका दास ही होकर रहेगा। उसके भाग्यमें दुःख-ही-दुःख लिखा है। बिना सद्बुद्धिके वैराग्यकी उत्पत्ति नहीं होती। मुझे जहाँ जो गुण दिखायी पड़ा, वहाँ उस गुणको ही मैंने अपना गुरु बनाया। अच्छे गुणोंको मैंने अपनाया और दुर्गुणोंको त्याग दिया। इस भाँति मैंने चौबीस गुरु बनाये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१–पृथ्वी, २–वायु, ३–आकाश, ४–जल, ५–अग्नि, ६–चन्द्रमा, ७–सूर्य, ८–कपोत, ९–अजगर, १०–समुद्र, ११–पतंग, १२–भ्रमर, १३–हाथी, १४–मधुमक्खी, १५–मृग, १६–मछली, १७–पिंगलावेश्या, १८–चीलपक्षी, १९–बालक, २०–कुमारी, २१–बाण बनानेवाला, २२–सर्प, २३–मकड़ी और २४–रेशमका कीड़ा।

पच्चीसवें तत्त्व (परमात्मा) को पानेके लिये मैंने इन चौबीस गुरुओंसे लाभ उठाया। इनमें जिससे मैंने जो शिक्षा ग्रहण की उसे बतला रहा हूँ—

१. पृथ्वी—पृथ्वीके तीन अङ्ग हैं—भूमि, पर्वत और वृक्ष। इन तीनोंसे मैंने अलग-अलग शिक्षा प्राप्त की।

(क) भूमि—भूमिसे मैंने शान्तिकी शिक्षा ली। भूमिके कुछ भागोंपर लोग अपनी सत्ता स्थापित करनेके लिये युद्ध करते हैं; किंतु इन झगड़ोंमें भूमि तो तटस्थ ही रहती है। उसपर कोई पुष्प चढ़ाये या कोई उसपर मल-त्याग करे, भूमिको इनमें कोई हर्ष-विषाद नहीं। लोग भूमिको जलाते हैं, हल चलाकर खोदते हैं, उसपर आघात करते हैं लेकिन भूमि किसीसे रुष्ट नहीं होती; बल्कि सबको धन-धान्य प्रदान करती है। किसीने कोई अपराध किया और दूसरेने उसे चुपचाप सह लिया, यही शान्ति नहीं है; क्योंकि इसमें तो अपराधीकी उपेक्षा होती है। ईखकी भाँति अपने काटनेवाले शस्त्रको भी मिठास देनेवाले स्वभावको ही शान्ति कहते हैं। दूसरेके अपराधको भूलकर उसके हितके लिये प्रयत्नशील रहना ही शान्त-स्वभाव कहलाता

है । यही निर्द्वन्द्व शान्ति है । भूमिसे मैंने इसी शान्तिकी शिक्षा ली ।

(ख) पर्वत—रत्नादि खनिज सम्पत्तिको पर्वत परार्थ ही धारण करते हैं । उसके तृण, जल आदि सब पदार्थ दूसरोंके लाभके ही लिये हैं । ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें जब सर्वत्र अकाल-सी स्थिति रहती है, पर्वतका दान उस समय भी चलता रहता है । किसी भी आश्रयकी इच्छासे आनेवालेको वह 'ना' नहीं कहता और न किसीसे उकताकर उसे निकालता ही है । इसी प्रकार कोई दाता जैसे-जैसे मुक्तहस्तसे दान करता जाता है, वैसे-वैसे भगवान् उसे अपार सम्पत्ति देते रहते हैं; अतः परमार्थके इच्छुकको चाहिये कि स्वार्थका त्याग करके सदा दूसरोंके उपकारमें तत्पर रहे । पर्वतकी भाँति दातृत्वके अभिमानसे उसे अछूता होना चाहिये । जिस प्रकार पर्वतसे अविराम झरने बहते रहते हैं, उसी प्रकार परमार्थके साधकसे परोपकारके निर्झर बहते रहने चाहिये ।

(ग) वृक्ष—वृक्ष अपने रक्षक तथा लकड़ी काटनेवाले, दोनोंके लिये समान रूपसे हितप्रद है, इसी प्रकार योगी अपनेको पालकीपर बिठानेवाले अथवा प्राणदण्ड देनेवाले, दोनोंके प्रति समान रूपसे नम्र और उनका हितप्रद होता है । जो भी सुख या दुःख प्राप्त होता है, वह अपने प्रारब्धके अनुसार ही प्राप्त होता है, इसीलिये सभीको आत्मरूप मानकर योगी अपनेको किसीकी भी इच्छापर छोड़ देता है । वृक्ष अपने समीप आये लोगोंका स्वागत अपने पत्र, पुष्प, फल, दल, छाल, काष्ठ, छाया आदि सर्वस्वसे करता है इसी प्रकार साधु याचक अतिथिको अपने सर्वस्वका दान कर देता है । निजात्म-बुद्धि सम्पन्न होनेसे साधुको देह तथा धनादिमें ममत्व नहीं रह जाता । ये शिक्षाएँ मैंने वृक्षसे ग्रहण की हैं ।

२. वायु—वायु ही प्राण है, इसी प्राणवायुके सहारे इन्द्रियाँ विषयोंका सेवन करती हैं, परंतु प्राणरूप वायु उनमें किसी विषयसे संसक्त नहीं होता । प्राणोंके कारण ही इन्द्रियाँ बलवान् हैं, प्राणोंके द्वारा ही शरीरमें चेतना है; परंतु देहके किसी कर्मसे प्राण बँधते नहीं । प्रेमपूर्वक राजाके शरीरका रक्षण किया जाय अथवा कुपित होकर दरिद्रके देहका नाश कर दिया जाय, ऐसी इच्छा प्राणोंको नहीं होती । इसी प्रकार योगी अपने शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं करता और न उसकी विषयोंमें आसक्ति ही होती ।

वायु सभी वस्तुओंका स्पर्श करती है; लेकिन वह किसीके बन्धनमें नहीं पड़ती । अनेकों प्रकारकी सुरभियाँ वायुकी सेवामें तत्पर रहती हैं; किंतु वायु उनमें आसक्त नहीं होती । इसी प्रकार योगी विषयोंमें आसक्ति नहीं रखता । निजात्म-दृष्टि सम्पन्न होनेसे वह देहके गुणोंमें बँधता नहीं ।

३. आकाश—आकाश सभी पदार्थोंमें समान रूपसे व्याप्त है । उसमें गुरुत्व, असङ्गता, निर्मलता और अभेद—ये गुण नित्य निवास करते हैं । इन सब गुणोंकी योगीके लिये अत्यन्त आवश्यकता है । आकाश सर्वव्यापी होते हुए भी कहीं प्रत्यक्ष दीखता नहीं, ऐसे ही सर्वव्यापक परम ब्रह्म भी अदृश्य है । आकाश अग्निसे जलता नहीं, जलसे भीगता नहीं, शस्त्रसे उसे काटा नहीं जा सकता; इसी प्रकार योगीको भी विविध द्वन्द्व कष्ट नहीं दे पाते । आकाश किसी भी प्रकारके मलसे मलिन नहीं होता, ऐसे ही योगी सब कर्म करते हुए भी कर्म-दोषसे अलिप्त रहता है । घटके भीतरके आकाशको घटाकाश कहा जाता है, पर वह बाहरी आकाशका ही अंश है; इसी प्रकार देहमें जीवरूपसे रहनेपर भी आत्मा परमात्माका ही अंश है । मेघमालासे आकाश आच्छादित नहीं होता, आकाशमें विद्युत् प्रकाशमान होती है, पर आकाश उसका तटस्थ द्रष्टा ही रहता है; इसी भाँति कालकी अपार शक्ति भी योगीका कुछ नहीं बिगाड़ सकती । देहातीत होनेसे योगी जन्म-मरण-जरा आदि परिणामोंसे परे रहता है । सत्त्वगुणसे ज्ञानाभिमान, रजोगुणसे कर्मठता और तमोगुणसे होनेवाले मोहसे वह लिप्त नहीं होता । आनन्दके बोधसे वह गुणातीत हो जाता है ।

४. जल—जल स्वभावतः निर्मल, कोमल और मधुर है । तीर्थोंमें जलको पावनत्व प्राप्त होता है । इसी प्रकार सर्वनाश उपस्थित होनेपर भी योगी किसीके प्रति कठोरताका व्यवहार नहीं करता । जैसे चकोरोंके लिये चन्द्र-किरण या पक्षियोंके लिये उनके नन्हें पक्षोंका व्यवहार मृदुल होता है, वैसे ही योगीका व्यवहार सबके साथ मृदुतापूर्ण होता है । जलसे तृषा-शान्ति अल्पकालिक होती है और उससे केवल

रसनाको आह्लाद मिलता है; किंतु योगीकी तृप्ति और आनन्द सभी इन्द्रियोंको शान्तिप्रद होती है। जलपानके बाद शीतलता आती है; किंतु क्षणभर बाद ही पुनः उष्णताकी उत्पत्ति असम्भव नहीं रहती वहाँ; लेकिन योगीकी कृपा जिसे स्पर्श करती है, वह सदाके लिये त्रिविध तापोंसे मुक्त हो जाता है। मेघसे जलकी भाँति लोककल्याणके लिये ही ऊर्ध्वलोकोंसे योगी धरापर शरीर धारण करते हैं। उनके केवल नाम-स्मरण-मात्रसे भव-बाधा नष्ट हो जाती है। क्योंकि भक्तोंने ही देव-गौरवको विस्तीर्ण किया है, इस उपकारको ध्यानमें रखकर ईश्वरीय व्यवहार भी भक्तोंके वचनाधीन रहता है।

५. *अग्नि—अग्नि देदीप्यमान होता है। सुगन्धित* चन्दन, मधुर ईख, कड़वी नीम, सबको जलाकर वह उनका भेद नष्टकर देता है, इसी प्रकार योगी जिसे अपनाता है, उसे आत्मदृष्टिसे देखकर उसके दोषोंको नष्ट करके उसे निजरूप प्रदान करता है। अग्निके मुखमें जैसे सबको पवित्रता प्राप्त होती है, वैसे ही जो भी उपहार भक्तगण योगीको देते हैं, उन्हें स्वीकार करके योगी उन भक्तोंको पवित्र कर देता है और उनके सञ्चित तथा क्रियमाण कर्मोंका नाश करके उनको निजपदकी प्राप्ति कराता है। अग्नि वस्तुतः निराकार है, काष्ठादिके विभिन्न आकार ही उसमें विभिन्न आकृतियोंकी प्रतीतिके कारण हैं; इसी प्रकार ईश्वर नाना व्यक्तियों, सम्प्रदायों, आकृतियोंमें प्रवेश करके उन्हें साकार करता है। योगी इन नाना आकृतियोंमें ऐक्यका साक्षात्कार करके समदर्शी होकर एकात्मता प्राप्त करता है और उसकी देहात्मभ्रान्तिका निरास हो जाता है।

६. चन्द्रमा—घड़ेके जलमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है, पर चन्द्रमा घड़ेके नष्ट होनेसे नष्ट नहीं होता। चन्द्रमाकी सोलह कलाओंके समान शरीरधारियोंके शरीरमें भी जन्म-मरण, वृद्धि-क्षय, स्थिति-विकृति—ये षट् विकार होते हैं। योगीके लिये शरीरके विकारोंका कोई महत्त्व नहीं। शरीरके नष्ट होनेपर भी योगीकी सत्ता अखण्ड एवं पूर्ण रहती है। वास्तवमें देहमें विकार उत्पन्न करनेवाले कालकी गति अत्यन्त प्रबल है। कालनदीका महान् प्रवाह निरन्तर प्रवाहित हो रहा है। उस प्रवाहमें जरारूप कूड़ा-कर्कट बह रहा है, षट् भाव-विकारोंके भीषण आवर्त उसमें उठ रहे हैं। जीवनके तटोंको वह प्रवाह बराबर तोड़-तोड़कर अपनेमें लीन करता जा रहा है। उसकी दुर्गम धारासे स्वर्गादि मन्दिर नष्ट हो रहे हैं। उसमें प्रतिष्ठित देवता भी स्थानच्युत होकर उसीमें लीन होते जा रहे हैं। प्रलयकालकी महाघटासे जब कालनदीमें बाढ़ आती है, ब्रह्मलोकतक उसमें डूब जाते हैं। इस प्रकारसे अविरत बहनेवाली इस कालनदीको देखकर भी कोई पहचानता नहीं। समय जा रहा है, दीपशिखा-सा जीवन जलता हुआ नष्ट हो रहा है; किंतु लोग कहते हैं कि दीपक प्रज्वलित हो रहा है! क्षणभरमें ही वह बुझ जायगा, लेकिन कालकी इस सूक्ष्म गतिको कोई भी पहचानता नहीं।

७. सूर्य—भगवान् सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीके जलका शोषण करते हैं और वर्षा ऋतुमें उसी शोषित जलकी पृथ्वीपर वृष्टि कर देते हैं और इस प्रकार सबके तापको शीतल करते हैं; इसी प्रकार योगी भक्तोंसे थोड़ा-सा उपहार लेकर उसे सहस्रगुना करके उन्हें लौटाता है। भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करके वह उन्हें निष्काम बनाता है। गड्ढेके मलिन जलमें प्रतिबिम्बित सूर्य मलिन जान पड़नेपर भी वहाँकी मलिनतासे असंस्पृष्ट ही रहता है, वैसे ही चिदाकाशकी आत्मज्योति शरीरमें प्रतिबिम्बित होकर शरीरके कर्म सम्पादित करती है। देहातीत होकर, बोधको प्राप्त करके योगी देहके कर्मोंद्वारा बन्धनमें नहीं पड़ता। उसमें कभी देहात्मबुद्धि नहीं होती।

८. कपोत—संसारके दुःखका मूल कारण है विषयोंकी आसक्ति। इसी आसक्तिसे पुत्र-पौत्रादि प्रजा बढ़ती है। इन सबमें जो 'ममत्व' होता है वही पुरुषके बन्धनका कारण है। इसलिये कहीं भी विचारहीन स्नेह नहीं करना चाहिये। इसी बातको सूचित करनेवाली एक कपोतकी कथा इस प्रकार है—

एक कपोत अपनी कपोतीके साथ वनमें वृक्षके कोटरमें नीड़ बनाकर रहता था। दोनोंमें असीम प्रेम था और चिरकालतक साथ रहनेसे वह सुदृढ़ हो गया था। प्रतिक्षण उनमें प्रेमकी नवीन-नवीन लहरें आती रहतीं। वे एक साथ बैठते, सटकर सोते, शृङ्गार-सुखका अनुभव करते, चंचुसे चंचु मिलाकर अपनी प्रीति प्रकट करते। वे साथ ही उड़कर चारेके लिये जाते थे। परस्परके स्पर्शादिसे उनका अनुराग उद्दीप्त होता रहता था। उनके लिये कुछ देर भी एक दूसरेसे पृथक् होनेकी कल्पना असह्य थी। थोड़े शब्दोंमें वे दो शरीर एक प्राण हो चुके थे। अपनी प्रियाको जो प्रिय है, उसका सम्पादन यदि प्राण देकर भी हो सके, तो भी उसके लिये कपोत उद्यत रहता था। गृहस्थाश्रमकी आसक्ति ऐसी ही होती है। गृहस्थ धर्मकार्यके समयका ध्यान नहीं रखता, दीनपर दया करनेकी उसे यादतक नहीं आती, वह प्राणपणसे अपनी

स्त्रीपर आसक्त रहता है । जैसे शरीरपर बैठनेवाली मक्खी मारनेपर भी फिर वहीं उड़कर बैठती है, ऐसे ही जरा-मृत्युके भयको भूलकर वह विषयोपभोगमें ही लगा रहता है ।

कपोती कुछ दिनों पश्चात् गर्भवती हुई । कपोतकी प्रीति उसमें और बढ़ गयी और उस समय पत्नीकी सुविधा एवं इच्छाकी पूर्तिमें उसने पराकाष्ठा कर दी । समय आया और कपोतीने अंडे दिये । अंडे जब पककर फूटे, उनसे नन्हें-नन्हें शावक बाहर आये । उन सुकोमल शावकोंको देखकर पुत्र-वत्सल माता-पिताको अपार आनन्द हुआ । बड़े स्नेहसे उन्होंने उनका पालन-पोषण किया । उनके अस्पष्ट शब्दोंको सुनकर दोनों झूम पड़ते थे। उनके साथ बोलते, गुटकते, खेलते और उन्हें खिलाते थे । उनके कलभाषण, स्पर्श, चञ्चुचुम्बन आदिसे दोनोंको असीम सुख होता था ।

बच्चे दिन-दिन बढ़ते जाते थे, कपोत-कपोतीके लिये उनको चारा ढूँढ़नेका कार्य बढ़ता जाता था । दोनों दिनभर इधर-उधर घूमते और अपने उन नन्हें बच्चोके लिये कुछ-न-कुछ लाया करते । शावकोंकी चोंचमें चारा देनेमें उन्हें परम सन्तोष प्राप्त होता । इसी प्रकार दोनों एक दिन चारेकी शोधमें कहीं गये थे, उनके शावक क्षुधार्त होकर नीड़से बाहर निकल आये । वे अनजान थे, एक लुब्धक (बहेलिये) ने अपने जालको फैलाकर उन्हें फँसा लिया । कपोत और कपोती चारा लेकर लौटे और यह दृश्य देखकर दोनों अत्यन्त दुखी हुए । कपोती चीत्कार करने लगी और अन्तमें मोहोन्मत्त होकर वह उसी जालमें अपने बच्चोंके समीप जा गिरी ।

कपोत यह सब देखकर व्याकुल हो गया । वह सोचने लगा—'मैंने तो सर्वस्व गवाँ दिया । मेरी प्राणाधिका पत्नी और प्राणप्रिय शिशु मृत्युके मुखमें पड़े है । मेरी पत्नी परम पतिव्रता थी, धर्म और काममें उसने मेरा साथ दिया । अपने इन शिशुओंके साथ ही मैं हँसा और रोया । अब मेरे इस एकाकी विधुर जीवनमें क्या सार है ? जहाँ स्त्रीका प्रेम नहीं है, जहाँ अपत्यका स्नेह नहीं है, वहाँ सुख नहीं है ।' उस कपोतकी निराशा सीमा पार कर गयी । वह भी स्त्री-पुत्रोंके पास जालमे गिर पड़ा और इस प्रकार उसने आत्महत्या कर ली ।

राजन् ! गृहासक्त पुरुषोंकी यही दशा होती है ! हमारे लिये उस बहेलियेके स्थानपर 'काल' प्रस्तुत है, उसने गृहस्थ तथा उसकी पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि सबके लिये जाल फैला रक्खा है । सब स्वयं उस जालमें गिरकर फँसते हैं । मानव-देहको पाकर भी जो गृहासक्त हैं, जो शिश्न एवं उदरके लिये ही सब उद्योग करते हैं, वे उस कपोतके समान ही महाभय पाते हैं । विषय-सुख सभी शरीरोंमें समान रूपसे प्राप्त है । स्वर्गमें उर्वशीके साथ इन्द्रको जो सुख मिलता है, वही सुख शूकरीके साथ शूकरको भी प्राप्त है । प्राणीको बिना माँगे ही दुःख मिलता है और माँगनेपर भी सुख नहीं मिलता । ये दुःख और सुख दोनों अदृष्ट (भाग्य) के अधीन हैं । इस-लिये मनुष्य-देह प्राप्त करके विषयोंमें आसक्त होना केवल मूर्खता है । मनुष्य-देह तो मोक्षका खुला हुआ द्वार है । इस शरीरसे रामनामके अखण्ड जप तथा ध्यानसे मुक्ति प्राप्त की जा सकती है; अतः ज्ञानवान् पुरुषको चाहिये कि वह विषय-भोगोंकी प्राप्तिमें आयुका नाश न करके परमार्थकी उपलब्धिके लिये यत्नशील रहे । यह ध्यान रखना आवश्यक है कि समस्त विषय-सुख मृगजलके समान असत्य एवं क्षणभङ्गुर हैं ।

९. अजगर—अजगर स्वभावसे ही मुख खोलकर साँस लेता है और इससे सहज ही भाग्यवश जो उसके मुखमें खिंचकर आ गिरता है, उसकी सरसता-नीरसताका विचार न करके, उसीको उदरस्थ करके सन्तुष्ट रहता है । योगियोंकी स्थिति भी ऐसी ही है । सदा आत्मस्थ रहनेके कारण अनासक्तभावसे ही वे प्राप्त पदार्थोंका सेवन करते हैं । अजगरको बहुधा वायुपर ही रह जाना पड़ता है और उस वायुसे ही वह अपने शरीरके लिये कुछ पोषण प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार योगी 'वाताशी' होकर भी जीवित रह सकते हैं, वे अन्नके लिये लालायित नहीं रहते । कई दिनोंतक बिना खाये वे सहज ही रह सकते हैं और तब भी लंबासन (शवासन) से वे सुखसे सोते हैं । अवश्य ही वे साधारण निद्रा न लेकर योगनिद्रामें ही रहते हैं । वे समाधिमें ही निद्राका विश्राम प्राप्त कर लेते हैं । जैसे अजगरका देह विशाल और उसका बल अपार होनेपर भी वह नाना उद्योग-व्यापारोंके लिये प्रयत्न नहीं करता, वैसे ही योगीका शरीर, इन्द्रियाँ और बुद्धि सब बलवान् होते हैं, फिर भी उदर-पोषणके उद्योगमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती । इन ऐहिक झंझटोंमें लगकर वह अपने समाधि-सुखको भंग नहीं करना चाहता ।

१०. समुद्र—समुद्र सदा पूर्ण, निर्मल और प्रसन्न रहता है, यही अवस्था योगीकी भी है । सागर जलसे गम्भीर है और योगी स्वानुभवसे । समुद्र अपनी वेला (पुलिन-

उपकूल) का उल्लङ्घन नहीं करता और योगी अपने गुरुकी आज्ञाका। सागर अपनी लहरोंसे सब कूड़ा-कर्कट तटपर फेंक देता है और योगी ध्यानके द्वारा मलका प्रक्षालन करता रहता है। समुद्रमें मुक्ता-रत्न पाये जाते हैं और जो लोग योगीका आश्रय लेते हैं उनके चरणोंको चिद्रत्नों (ज्ञानानुभूतियों) के समूह चूमते हैं। समुद्रके जलमें प्रवाह नहीं, इसलिये वह निश्चल है और मृत्युका भय दूर हो जानेसे योगीका चित्त शान्त रहता है, वस्तुतः देखा जाय तो योगीकी महत्ता समुद्रसे भी बड़ी है। समुद्रका जल लहरोंके कारण चञ्चल दीखता है, पर योगीका अन्तःकरण सदा स्थिर रहता है। समुद्रमें समय-समयपर तूफान (झंझा) से क्षोभ होता है, पर अपनी योगशक्तिके कारण योगी कभी क्षुब्ध नहीं होता। समुद्र सबके लिये खारा है, पर योगी सबके लिये मधुर है। सागरमें गिरा बादलोंका जल व्यर्थ हो जाता है, पर योगीकी सेवा कभी भी असफल नहीं होती।

वर्षा ऋतुमें नदियाँ अपार जल समुद्रमें लाती हैं, इससे उसे कोई हर्ष नहीं होता और ग्रीष्ममें सरिताओंका जल कम हो जाता है, इसके लिये भी सिन्धुको कोई विषाद नहीं होता। इसी प्रकार समृद्धिसे 'अहङ्कार' और दरिद्रतासे 'विषाद' की उत्पत्ति योगीके चित्तमें नहीं होती। उसके लिये समृद्धि और दरिद्रता समान हैं, क्योंकि वह सर्वत्र समदर्शी है।

११. पतंग—त्रिगुणमयी मायाकी नारी साकार प्रतिमा है। उपभोगकी आशा-इच्छा करनेवाले प्राणियोंमें वही मोह उत्पन्न करती है। सहज सुन्दर स्त्रियाँ जब कज्जल, कुङ्कुम, वस्त्र, आभूषणादि प्रसाधनोंसे सुसज्जित होती हैं, तब उनकी मोहिनी शक्ति अपार हो जाती है। ऐसा लगता है, जैसे सृष्टिकर्ताने लोगोंको सम्मोहित करनेके लिये ही नारियोंकी रचना की है। इसी नारी-जातिके आकर्षणमें सब फँसे हैं। स्त्री, स्वर्ण तथा सभी वस्त्राभरणादि मोहमयी वस्तुएँ मनुष्यको मोहमें उलझानेके लिये ही संसारमें उत्पन्न हुई हैं। पुरुषके धैर्यरूपी कवचका भेदन करके स्त्रियाँ उनके हृदयमें घर कर लेती हैं, यह शिक्षा मैंने पतंगसे प्राप्त की। दीपककी शिखाके स्पर्शसे पतंगको क्या सुख मिलता होगा ? किंतु दीपके मोहमय प्रकाशपर लुब्ध पतंग दग्ध हो जाता है। अपने आगेके ही पतंगको जलते देखकर भी पीछेका पतंग उस दीपशिखापर ही झपटता है। यही दशा मनुष्योंकी है। स्त्रीके प्रति विषयासक्ति विनाशका कारण है, इस बातको भली प्रकार जानकर भी वह अपनेको बचा नहीं पाता।

१२. भ्रमर—जैसे भ्रमर पुष्पोंसे मधुका सञ्चय करता है; किंतु इस कार्यमें वह फूलोंको तनिक भी कष्ट नहीं देता; इसी तरह योगी भी घर-घरसे एक-एक ग्रासकी भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह कर लेता है। प्राण-धारणके लिये जितना आहार आवश्यक है, उतनेका ही वह सेवन करता है, अतः किसीको उससे पीड़ा नहीं होती। जैसे भ्रमर छोटे-बड़े सभी फूलोंसे रस लेता है, वैसे ही योगी शास्त्रदृष्टिसे सभी तर्कोंका विचार करके हंसके क्षीर-नीर-विवेक-न्यायसे उनका सार ग्रहण करता है। सब भूतोंमें भगवान्‌की सत्ता मान लेना, यही समस्त तर्कोंका सार है और इसीको वह सर्वत्र ग्रहण करता है।

काष्ठको भेदन करनेवाला भ्रमर कमलदलमें आसक्तिके कारण बद्ध होता है, अतः इससे शिक्षा पाकर योगी किसी एक स्थानपर नहीं ठहरता। जैसे शर्करापर बैठकर मक्षिका थोड़ी-सी शक्कर खा लेती है, फिर उड़ जाती है, वैसे ही वह भी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता। केवल भिक्षापात्र और उदर इससे अधिककी आवश्यकता अन्नसञ्चयके लिये उसे नहीं होती। संग्रह करनेके कारण ही मधुमक्खियोंका नाश होता है, अतः योगीको किसी वस्तुका संग्रह नहीं करना चाहिये। सभी पदार्थ, जो संग्रह किये जाते हैं, विनाशशील हैं, अतः यदि संग्रह ही करना हो तो सत्कर्माचरण करके शुद्ध धर्मका संग्रह करना चाहिये। इस तत्त्वको न समझकर धन आदि नश्वर पदार्थोंका संग्रह करना व्यर्थ है।

१३. हाथी—स्त्रैणताका यही फल है कि हथिनीके सङ्गसे हाथी मनुष्योंके बन्धनमें पड़ जाता है। श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्धने स्वप्नमें स्त्रीका दर्शन किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण और शङ्करजीमें संग्राम हुआ। अतः योगीके लिये स्त्री-संग बड़ा ही भयप्रद है। अहल्याके सङ्गसे इन्द्र, तिलोत्तमासे भस्मासुर—इस प्रकार बड़े-बड़े पराक्रमी पुरुष स्त्रियोंके सङ्गसे—उनके आकर्षणसे सङ्कटमें पड़े और नष्ट हुए। स्त्रीके सङ्गसे गृहासक्ति बढ़ती है। अपनी स्त्रीसे भी अधिक आसक्ति एवं सहवाससे कामवासना अनियन्त्रित हो जाती है और अधःपतन होता है, यह बात मैंने हाथीसे सीखी।

१४. मधुमक्खी—मधुमक्खी मधुका केवल सञ्चय करती है। वह न तो स्वयं उसे भरपूर खाती और न

दूसरोंको खाने देती । परिणाम यह होता है कि परिवारके साथ उसका नाश हो जाता है, उसका सञ्चित मधु कोई दूसरा ही लेता है। कृपणके धनकी भी यही दशा होती है। बड़े प्रयत्नसे सञ्चय किये धनका भी फल सञ्चयकर्ताको कदाचित् ही मिलता है । अतः भगवान्के ऊपर जिसका भरोसा है, वह संग्रहकी चिन्ता नहीं करता । गृहस्थको उचित है कि वह व्यर्थकी आशा एवं अपने ही स्वार्थकी चिन्ता छोड़कर अपने यहाँ आये अतिथिका उचित सत्कार करे । अतिथिरूपसे द्वारपर आये महापुरुष यदि किसीके यहाँसे बिना सत्कार पाये चले जायँ तो उसके समस्त पुण्योंका नाश हो जाता है, इसलिये द्वारपर कोई भी आये, अपनी शक्ति एवं समयके अनुसार उसका सत्कार करना ही चाहिये।

१५. मृग—मधुर नादसे मृग मुग्ध होकर जालमें फँस जाता है, यह देखकर योगीको कभी भी ग्रामीण स्त्रियोंके गीत नहीं सुनने चाहिये । स्त्रियोंके सङ्गीतके कारण ही तपस्वी ऋष्यशृङ्ग गृहस्थ बने। थोड़ेमे सच्ची बात यह है कि जिस गानमें भगवान्का नाम-सङ्कीर्तन न हो, जो शृङ्गारकी कल्पनाओंसे पूर्ण हो, उस गानको सुननेसे साधकका चित्त चलित होता है, उसमें विकार आता है।

१६. मछली—अर्थसंग्रहसे मनुष्यका नाश होता है, स्त्रीकी आसक्तिसे वह पतित होता है और जीभकी लोलुपतासे तो वह मृत्युका ही आह्वान करता है। मांसाहारकी लालसासे मछली मांस-खण्डपर झपटती है और उसमें लगे वंशीके काँटेसे प्राण देती है । इसी प्रकार जो जिह्वाके वशमें हैं, उनके शरीरमें रोग घर कर लेते हैं । जीभ स्वाद लेती है और इससे दूसरी इन्द्रियोंकी उन्मत्तता बढ़ती है । इन्द्रियोंके प्रमादमें लगनेसे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है। एक ओर रससेवनसे इन्द्रियोन्माद बढ़ता है और दूसरी ओर रसके सर्वथा त्यागसे शरीर कार्यक्षम नहीं रह जाता । अन्नको त्याग देनेसे इन्द्रियोंपर विजय नहीं प्राप्त होती; क्योंकि पुनः रससेवनसे इन्द्रियोंमें विषयोपभोगकी वृत्ति जाग्रत् हो जाती है । जीतना तो रसनाकी रसास्वाद-वृत्तिको चाहिये । रसनाके ऊपर जिसने विजय प्राप्त कर ली, उसने विषयोंका मार्ग ही बंद कर दिया। वही सच्चा विषयजयी है।

१७. पिङ्गला वेश्या—महाराज जनककी राजधानी जनकपुर (मिथिला) में पिङ्गला नामकी एक गणिका रहती थी। वह स्वैरिणी वेश्या प्रतिदिन सायंकाल वस्त्राभूषणोंसे अपनेको सजाकर अपने गृहद्वारपर धन देनेवाले पुरुषोंकी प्रतीक्षामें खड़ी रहा करती थी । उसमें खूब सौन्दर्य था और वह साज-शृङ्गार भी किये रहती थी । वह सुकुमारी भी थी ही। उसके घरके सम्मुखसे जो पुरुष जाते थे, उनको वह संकेतसे बुलाती थी। उसे सदा इच्छा रहती थी कि कोई गुणवान्, रूपवान्, धनवान् कामुक पुरुष उसकी ओर आकृष्ट हो। भाग्यकी बात, एक दिन कोई भी आया नहीं । वह देखती रही—प्रतीक्षा करती रही । वह निराशासे भीतर जाती थी और किसीकी भी आहट पाकर बाहर आ जाती थी। सन्ध्या गयी, रात्रि व्यतीत होती जा रही थी। क्षण-क्षण करके घंटे व्यतीत होते गये। आधी रात बीत गयी, लोग निद्रामग्न हो गये, अकेली पिङ्गला जागती रही। कोई भी आया नहीं। उसकी आशा नष्ट हो गयी। आशाके सर्वथा नष्ट होनेसे उसका मुख उदास हो गया, उसके ओष्ठ सूख गये, हृदयमें निराशाने जोर मारा । नैराश्यके उदयसे मनमें विरक्ति उत्पन्न हुई और पिङ्गला सोचने लगी—

'मेरी मूर्खताकी भी कोई सीमा है, वेश्यागामी स्त्रैण पुरुषोंकी प्रतीक्षामें मैंने पूरा जीवन व्यतीत कर दिया । असत्पुरुषोंके कामको तृप्त करनेके लिये मैंने अपना शरीर बेचा। सबके हृदयमें रहनेवाले श्रीहरि मेरे हृदयमें ही हैं, पर मुझे उनका स्मरणतक नहीं हुआ । मैं इन ऐरे-गैरे पुरुषोंकी खोजमें लगी रही। जो समस्त नारियोंकी निखिल कामनाएँ पूर्ण करके उन्हें निष्काम बना देते हैं, उन पुरुषोत्तमको 'कान्त' रूपसे स्वीकार करनेकी बात ही मेरे मनमें नहीं आयी। यह मनुष्य-शरीर केवल गंदगियोंका खजाना ही तो है । इसके भीतरकी दुर्गन्ध नव द्वारोंसे बहती ही रहती है । शरीरको स्नानादिसे स्वच्छ करनेपर भी वह पुनः मलिन हो जाता है । अस्थि-मांससे बने, विष्ठा एवं मूत्रके कोपरूप मनुष्योंके शरीरोंका मैं बड़े प्रेमसे आलिङ्गन करती रही; किंतु निरन्तर अपने समीप रहनेवाले, समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ, अच्युत रतिदायी उन हृदयविहारी परमात्माका ध्यान भी मुझे नहीं आया। अबतक मेरी प्रीति नश्वर पुरुष-देहोंमें थी, उन्हींमें मैं आसक्त थी; किंतु अब मैं सर्वेश्वर परमात्माको अपना स्वामी बनाऊँगी । उन्हीं परम पुरुषके आलिङ्गनका परमानन्द मैं अनुभव करूँगी । मैं अपने शरीर और प्राणके मूल्यमें उन्हें खरीदूँगी । संसारके दूसरे पुरुष जो स्वयं दुखी हैं, भला वे स्त्रीको क्या सुख दे सकते हैं ! यह मेरा सौभाग्य है कि मुझ-जैसी

पापिनीको भगवान्‌ने सद्बुद्धि दी । मैं व्यभिचारिणी हूँ, शरीर बेचकर मैं आजीविका चलाती रही; फिर भी किसी पूर्व-जन्मके पुण्यका आज उदय हुआ । भगवान्‌ने मुझपर कृपा की ! अब मैं उन्हींकी शरण जाऊँगी जो भक्तवत्सल प्रभु दुराचारीको भी पाप-मुक्त करके अपनाते हैं ।'

इस प्रकार पिङ्गलाको वैराग्यकी प्राप्ति हुई । वैराग्य प्राप्त होनेपर इन्द्रियोंमे स्खलन नहीं होता । जैसे समीपमें अप्सराओंके रहनेपर भी निद्रामग्न पुरुष निर्विकार रहता है, जिस प्रकार वमन हुए अन्नको खानेकी किसीकी इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार सच्चे वैराग्यके पश्चात् विषयोंकी चाह नहीं रह जाती । विश्वका प्रलय करनेवाली मृत्युका स्मरण सदा हृदयमें रहे तो यह विरक्ति प्राप्त हो सकती है । पिङ्गलाने ऐसा ही वैराग्य पाया । हृदयमें ही स्थित परमात्माको 'कान्त' के रूपमें स्वीकार करनेसे आगे चलकर उसके सङ्कल्प-विकल्प शान्त हो गये । उसकी दृष्टि भेद-अभेदसे परे हो गयी और उसे शान्ति प्राप्त हो गयी । स्त्री-पुरुषका द्वैधीभाव उसका नष्ट हो गया । उसने अपने उस हृदयस्थ 'कान्त' को सम-रसतासे आलिङ्गन किया और समाधिकी निद्रामें वह अपने वल्लभके साथ सो गयी ।

इस कथासे हमें यह समझना चाहिये कि आशा ही दुःखोंका कारण है और नैराश्यसे सुखकी उत्पत्ति होती है । आशाके साथ दीनता, ममता, शोक, पाप, नीचसेवन आदि दोष लगे रहते हैं । जहाँ आशा है, वहाँ सुख नहीं ! अतः जिसकी आशा मूलतः नष्ट हो चुकी है, वही परम सुखका अधिकारी है । *निराशा ही सुखकी निधि है—उसीमें सुख है* । परमार्थ निराशाके साथ रहता है, वैराग्य निराशाका सेवक है; अतः मन, वचन, कर्मसे निराशाकी उपासना करनी चाहिये । निराशाको छोड़कर परमार्थकी शोध नहीं हो सकती । (क्रमशः)

एकमेवाद्वितीयम्

(लेखक—श्रीइन्द्रचन्द्रजी शास्त्री, एम्० ए०)

उत्थान और पतन, विजय और पराजय, सुख और दुःख, लाभ और हानि—इन्हींका नाम जीवन है । जो व्यक्ति गिरना नहीं जानता, वह उठना भी नहीं जानता । जो रोना नहीं जानता, वह हँसना नहीं जानता । जो मरना नहीं जानता, वह जीना भी नहीं जानता । आपाततः विरोधी प्रतीत होनेवाले ये धर्म वस्तुतः एक ही तत्त्वके दो पहलू हैं । समस्त देश एक ही धुरीपर घूमते हुए चक्रके आरे हैं । उनमें कौन आगे है और कौन पीछे ! हम अपनी कल्पनासे भले ही किसीको आगे और किसीको पीछे कह लें; किंतु वस्तुतः कोई भेद नहीं है ।

विविधता संसारका स्वरूप है, किंतु उस विविधतामें एकताका दर्शन करना साधकका सर्वोच्च ध्येय है । विविधतामें एकता ही सौन्दर्य है । उसीकी अनुभूति सौन्दर्यानुभूति है । यदि चित्रकार समस्त चित्रपटको एक रंगसे पोत दे तो वह चित्र न कहा जायगा । चित्र तो रंग-बिरंगा ही होता है, किंतु यदि विविध रंग परस्पर मेल न खाते हों, एक दूसरेकी शोभाके पोषक न हों, उनमें कोई ढंग न हो तो वह भी चित्र नहीं कहा जायगा । रंगोंको इस रूपमें रखना, जिससे वे एक नये सौन्दर्यकी रचना कर सकें अथवा विविध रंगोंमें एकता पैदा करना ही चित्रकला है । इसी प्रकार विविध स्वरोंको मिलाकर एक मधुर रागकी सृष्टि करना संगीतकला है । विविध शब्दोंको मिलाकर हृदय चमत्कृत करनेवाले किसी भाव या रसकी अभिव्यक्ति करना काव्यकला है । जब वसन्त आता है, प्रकृति इधर-उधर बिखरे हुए रंगोंको पुष्पोंके सुन्दर रूपमें चित्रित कर देती है । मधुर शब्दोको कोयलके कण्ठमें ढाल देती है । सुगन्धके परमाणुओंसे मलयसमीरको लाद देती है । पुष्प, कोयल, मलयसमीर आदि सभी मिलकर एक नये सौन्दर्यकी सृष्टि करते हैं जिसका नाम है वसन्त-वैभव ।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें एकताके इसी दर्शनको आत्मसाक्षात्कार कहते हैं । काव्य-जगत्‌में इसीको रसास्वाद कहते हैं । समाज-शास्त्र, राजनीति आदि सभीमें यही एक तत्त्व रहा हुआ है । जो महापुरुष जिस क्षेत्रमें इस तत्त्वको पहचान लेता है, वही उस क्षेत्रका नेता बन जाता है ।

जब श्वेतकेतु वेदाध्ययन करके घरपर लौटा तो

पिताने पूछा—'वत्स ! तुमने क्या-क्या पढ़ा है ?' श्वेतकेतुने बड़े गर्वके साथ सारी विद्याओंका नाम ले लिया। पिताने फिर पूछा—'क्या तुमने वह विद्या भी पढ़ी है जिसके द्वारा एक वस्तुके जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है।' श्वेतकेतु उलझनमें पड़ गया। भला ऐसी कौन-सी विद्या है जिसके द्वारा एक वस्तुके जान लेनेपर सब कुछ समझमें आ जाय। पिताने कहा—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

'सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे समस्त मृन्मय जगत्का ज्ञान हो जाता है। विकार तो केवल शब्द ही हैं। उनमें सत्य वस्तु मिट्टी ही है।'

तात्पर्य यह है कि मिट्टीसे बने हुए घट, शराव आदि जितने पदार्थ हैं, उन सबमें सत्य वस्तु मिट्टी है। घट आदि उसीके विविध रूप हैं। जिस प्रकार देवदत्त चाहे सो रहा हो, बैठा हो या चल रहा हो, वास्तवमें वह देवदत्त है। सोना, बैठना आदि उसीकी विविध अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार घट आदि मिट्टीकी अवस्थाएँ हैं। यदि हम अखिल ब्रह्माण्ड-पर दृष्टिपात करें तो उसमें भी दिखायी देते विविध रूप किसी एक ही तत्त्वके विविध रूप दिखायी पड़ेंगे।

'वह तत्त्व कैसा है, उसे कैसे जाना जाय और कैसे प्राप्त किया जाय' इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर वेदान्तदर्शन देता है। घड़ा, सकोरा, ठीकरा आदि विविध रूपोंमें हम देखते हैं कि मिट्टी सबमें है किंतु घट आदि अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं। इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थ ज्ञानके बिना प्रतीत नहीं होते, हमें घट-पट आदि समस्त वस्तुओंके साथ ज्ञानकी सत्ता प्रतीत होती है। जब हम कहते हैं घड़ा, तो इसका अर्थ है हमें घड़ेका ज्ञान हो रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके लिये है। प्रत्येक वस्तुके साथ ज्ञान लगा हुआ है। घट, पट आदि पदार्थ बदलते रहते हैं जो कि ज्ञानका विषय है। जिस प्रकार ऊपरवाले उदाहरणमें मिट्टीके सभी अवस्थाओंमें अन्वित होनेके कारण उसे सत्य कहा गया और उसके द्वारा निर्मित नश्वर वस्तुओंको केवल वाग्विलास बताया गया, उसी प्रकार सर्वत्र अनुगत रहनेके कारण ज्ञान सत्य है और वस्तुएँ असत् हैं।

दूसरी बात यह है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंद्वारा अच्छी-बुरी, छोटी-बड़ी आदि परस्पर-विरोधी शब्दोंद्वारा कही जाती है। एक ही वस्तुमें दो विरोधी धर्म नहीं हो सकते। इस विरोधका कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी अपनी-अपनी भावनाएँ हैं। इसका अर्थ यह है कि वस्तुमें कोई धर्म नहीं है। हमारी भावनाएँ ही उसमें विविध धर्मोंकी कल्पना करती हैं। वे भावनाएँ किसी एक तत्त्वके रूप हैं। वही तत्त्व आत्मा है, वही ब्रह्म है।

समत्व-दर्शन उसी आत्मतत्त्वके साक्षात्कारपर जोर देते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि उसे कैसे देखा जाय। प्रत्येक वस्तुमें आत्माके दर्शन कैसे किये जायँ। इस नानारूप जगत्में एकताको कैसे प्राप्त किया जाय।

संसारमें सत्य और तथ्य भिन्न-भिन्न बातें हैं। तथ्यका अर्थ है बाह्य घटनाएँ। सत्यका अर्थ है भीतर रहा हुआ सिद्धान्त। साधारण जनता तथ्यको देखती है, सत्यको नहीं। वृक्षसे गिरते हुए फलोंको किसने नहीं देखा! किंतु पृथ्वीमें रही हुई आकर्षणशक्तिका दर्शन न्यूटनने किया। उसने उस सत्यको पहचाना। आध्यात्मिक जगत्में जो इस प्रकारके सत्यका दर्शन करता है, उसे ऋषि कहा जाता है। विभिन्न दर्शन उसीका दर्शन करनेके मार्ग हैं।

बुरे विचार मनमें ही न आवें

कुछ लोग इतनेसे ही सन्तुष्ट हैं कि वे कोई पतित कार्य नहीं करते। मैं तो ऐसा बनना चाहता हूँ कि कोई पतित विचार या भावना ही मेरे मनमें न आवे।

—जी. मैकडोनैल्ड

मनकी अद्भुत शक्तियाँ

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

हमारे मनमें अद्भुत शक्तियाँ हैं। जो व्यक्ति इन शक्तियोंको जान लेता है और इनका सदुपयोग करता है उसका जीवन सुखी और संसारके लिये कल्याणकारी हो जाता है। इन शक्तियोंको न जाननेके कारण हम दीन और दुखी बने रहते हैं। और संसारमें भाररूप बनकर अपना जीवनयापन करते हैं। यहाँपर हम विभिन्न प्रकारकी शक्तियोंपर, उनके संचित करनेके उपायोंपर और विनाशके कारणोंपर कुछ विचार करेंगे।

हमारे मनमें कई प्रकारकी शक्तियाँ हैं—जैसे दूसरेके मनके विचारोंको जान लेना, अपने विचारोंको दूरतक भेज सकना, दूसरे व्यक्तिको अपने विचारोंसे प्रभावित कर सकना और रोगीको आरोग्य बना सकना इत्यादि। अभी हालकी बात है कि बनारसमें एक साधु अपने बेलके द्वारा किसी भी व्यक्ति, जिसका नाम दूसरेने लिया हो, खोज करा लेता था। बनारसके एक व्यक्ति, जिनका नाम 'लकड़िया बाबा' है उनसे प्रश्न पूछनेवाले व्यक्तिके मनके प्रश्न बिना उसके कहे हुए ही जान लेते हैं। लेखकके एक विद्यार्थीने यह योग्यता प्राप्त कर ली थी कि वह आँख बाँधे हुए रहनेपर अपने पीठके पीछे रक्खे श्यामपटपर लिखे हुए किसी भी वाक्यको पढ़ लेता था। थोड़ी-सी साधनासे यह सम्भव है कि हम किसी आगन्तुकके अपने घरपर आनेपर उसके चेहरेको देखते ही उसके मनके भावको जान लें। यदि शान्त मनसे हम अपने प्रश्नका उत्तर दूसरे व्यक्तिके द्वारा जाननेकी चेष्टा करें तो हम उस उत्तरके मिलनेके पहले ही उसे जान लेते हैं। किसी नये व्यक्तिको देखनेपर कभी-कभी हमें अनायास ज्ञात हो जाता है कि वह कौन है और कहाँसे आया होगा। हालहीमें एक महिला ट्रेनिंग कालेजकी ओर जाते हुए लेखकको मिली। यह महिला पंजाबमें रहती है। लेखकने उसे कभी नहीं देखा। उसे देखते ही लेखकके मनमें विचार आया कि वह एक साथीकी स्त्री है और किसी परेशानीके कारण पंजाबसे आयी है। पूछताछ होनेपर लेखककी धारणा सत्य निकली।

यदि हम सच्चे मनसे किसी व्यक्तिसे मिलना चाहते हैं और वह व्यक्ति भी हमसे मिलनेका इच्छुक है तो हम अनायास ही अकस्मात् उससे इच्छित समयपर मिल जाते हैं; परंतु जब हम भीतरी मनसे उससे नहीं मिलना चाहते, केवल शिष्टाचारवश ही उससे मिलनेकी बात कहते हैं तो नहीं मिल पाते। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती हैं; परंतु उनके ऊपर ध्यान न जानेके कारण उनका अर्थ समझनेकी हम चेष्टा नहीं करते। यदि हम अपने आन्तरिक भावोंको भली प्रकार जाननेकी चेष्टा करें और अपने आपको धोखा न दें तो हम देखेंगे कि बहुत-सी घटनाएँ हमारी आन्तरिक इच्छाके अनुरूप होती हैं। इस प्रसंगमें लेखकके कुछ महत्त्वपूर्ण अनुभव उल्लेखनीय हैं। लेखक कुछ दिनों पूर्व अपने एक पुराने मित्रके पास अनायास मिलने चला गया। उस दिन लेखकको दूसरी जगह भी जाना था। लेखकका मित्र लेखकसे मिलनेके लिये भारी इच्छुक था; परंतु उसने निश्चय किया था कि वह लेखकके पास उस दिन सन्ध्या-समय जायगा। इसी समय लेखकको सभामें जाना था। अतएव यदि लेखकका मित्र उस समय घरपर जाता तो उसे निराश होकर लौटना पड़ता; परंतु उसे यह कटु अनुभव नहीं करना पड़ा। स्वयं लेखक ही उसके घर तीसरे पहर पहुँच गया।

एक दूसरे मित्रके अकस्मात् मिलनेकी भी बात विस्मयजनक थी। लेखकका एक मित्र, जो लेखकके पास कभी नहीं आया था और उसके मकानको नहीं जानता था, उसके घरकी ओर चला, ठीक इसी समय लेखकके मनमें भी उसके घरपर जानेका विचार आया और इसके कारण वह भी घरसे निकल पड़ा। इस समय अन्धकार हो चुका था। यह मित्र इधर-उधर जानेवाले लोगोंसे लेखकके घरका पता पूछ रहा था। स्वयं लेखकसे भी उसने पता पूछा। फिर क्या था, बिना ही अड़चनके दोनोंका मिलन हो गया। इसी तरह कितनी ही बार लेखक ऐसे मित्रोंसे मिल गया है जो यदि दो-चार मिनट बाद आते तो वह उनसे वर्षोंतक न मिल पाता।

जिस प्रकार दो आन्तरिक मनसे मिलनेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्ति अनायास ही मिल जाते हैं। इसी तरह जिन लोगोंमें भीतरी मनसे मिलनेकी इच्छा नहीं है; परंतु शिष्टाचारवश ही जो एक दूसरेसे मिलनेके इच्छुक रहते हैं, वे किसी-न-किसी कारणवश एक दूसरेसे नहीं मिल पाते हैं। कभी रेल छूट जाती है। कभी आवश्यक सामान घरपर रह जाता है और इसके लिये घर वापस आना पड़ता है। कभी

वह व्यक्ति घरपर ही नहीं मिलता और कभी हम अथवा वह रोगी हो जाते हैं। इस प्रकार दोनोंका मिलन नहीं होता। वास्तवमें आन्तरिक मन ही इस प्रकारकी भूलें कराता है।

हालहीमें लेखक एक अपनी पुरानी छात्राके पास गया। इस छात्राने लेखकको अपने घर बुलाया था। लेखकको उसके घर जाना अपने ऋणको अदा करनेके समान दिखायी देता था। लेखक उस छात्राके घर, जो अपने घरसे दो मीलपर है, पहुँचा। वहाँ जाकर देखा कि उस छात्राके घरका दरवाजा बंद है और घरपर कोई नहीं है। नजदीकका सम्बन्धी भी दिखायी न दिया। इस प्रकार एक ओर लेखककी कर्तव्य-बुद्धि संतुष्ट हो गयी, दूसरी ओर लेखककी उसके सम्बन्धियोंसे न मिलनेकी इच्छा भी पूर्ण हो गयी। सम्भव है कि किसी दूसरे दिनके लिये उस छात्राने लेखकको बुलाया पर इस प्रकारकी भूलें होना विशेष अर्थ रखती हैं। अभी हालमें ज्ञात हुआ कि वह छात्रा घरपर ही थी पर घरका दरवाजा बाहरसे बंद था।

एक विस्मयजनक मिलनकी घटना हालहीमें घटी। लेखक अपने एक छात्रसे बहुत दिनोंसे मिलना चाहता था। यह छात्र हरद्वारमें रहता है और गुरुकुल कांगड़ीका विद्यार्थी है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अधिवेशनमें जब लेखक मेरठ गया हुआ था तब उसने गुरुकुल कांगड़ीके छात्रोंको खोजा। गुरुकुल कांगड़ीके कुछ छात्र आये थे; परंतु जिस छात्रको खोज रहा था वह नहीं आया था। इस छात्रके मेरठ आनेके लिये लेखकने एक उसके पास तार भेजवाया। यह छात्र दूसरे दिन सबेरे आ गया। लेखकको आशा थी कि वह तार मिलनेके कारण आया होगा; परंतु उससे पूछनेसे पता चला कि उसे तार मिला ही नहीं। वह अनायास ही कुछ साथियोंके साथ मेरठ चला आया। उसकी भी लेखकसे मिलनेकी प्रबल इच्छा थी।

मनकी अद्भुत शक्तिको हम किसी व्यक्तिके आरोग्य लाभ करनेमें बहुत ही स्पष्टतया देख पाते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसे वातावरणमें रहता है, जहाँ प्रतिदिन कोई उसकी नुक्ताचीनी करता है अथवा उसका किसीसे झगड़ा हो जाता है तो ऐसा व्यक्ति अवश्य ही किसी स्थायी रोगका दास बन जाता है। लेखकको एक बार ऐसी जगहपर रहना पड़ा था जहाँपर उसके कुछ साथी और उच्चाधिकारी प्रत्येक बातमें उसकी आलोचना करते थे। इसके परिणामस्वरूप मन उद्विग्न हो जाता था। कुछ कालके बाद लेखकको वमनका रोग हो गया। जब लेखक ऐसे लोगोंके साथ भोजन करता था जो भोजनके समय नुक्ताचीनीकी बातें करते थे तब इस रोगका आरम्भ हुआ था।

लेखकके एक मित्र अपने ही एक सहयोगी अध्यापककी प्रायः नुक्ताचीनी किया करते थे, इसका बुरा परिणाम स्वयं नुक्ताचीनी करनेवाले व्यक्तिके बच्चोंके ऊपर पड़ा। वे जिस प्रकारकी मुद्रा अथवा मुखाकृति अपने साथीकी आलोचना करते समय बनाते थे, इसी प्रकारकी आकृति उनका आठ वर्षका लड़का बनाने लगा और उस लड़केको डाँटने-डपटनेपर वह पागल ही हो गया।

एक बार लेखकका अपने अधिकारीसे झगड़ा हो गया। इस झगड़ेके कारण लेखकको भारी क्रोध आया। लेखकको विश्वास हो गया था कि अधिकारीने उसके साथ कपट और अन्यायसे काम लिया है। इस झगड़ेके दूसरे ही दिन वह अधिकारी बीमार हो गया और उस दिनसे डेढ़ महीनेतक बिस्तरपर ही पड़ा रहा। दो दिनोंके बाद इधर लेखक भी बीमार पड़ गया। उसे ज्वर हो जाता था। यह ज्वर बार-बार होने लगा। अधिकारीका रोग तबतक ठहरा, जबतक लेखक और उनमें मेल न हो गया और अधिकारीने अपने आप अपनी भूल स्वीकार नहीं कर ली। मेल हो जानेके बाद लेखकको भी ज्वर नहीं आया।

लेखकके एक छात्रको साँपसे काटे हुए व्यक्तिको झाड़ देनेका मन्त्र आता था। उसका कथन है कि उसने इस मन्त्रसे बहुत-से लोगोंको झाड़ा। पर जब इस विद्यार्थीने इस मन्त्रसे झाड़नेके एक तरीकेको अपने एक अध्यापकको बता दिया इसके बादसे उसकी मन्त्रशक्ति चली गयी। पीछे इसी छात्रको मैत्री भावनाके द्वारा दूसरेको आरोग्य करनेकी विधिको बताया। इसने पहले तो इसका प्रयोग अपने चाचापर किया जो कई दिनोंसे बीमार थे। इस छात्रकी सेवा-शुश्रूषासे उसके चाचाका चिड़चिड़ापनका स्वभाव कम हो गया और पीछे वे स्वस्थ हो गये। इसने पीछे इसी मैत्री भावनाके अभ्याससे अपनी स्त्रीकी चिकित्सा की, जो कई दिनोंसे बीमार थी। स्त्री उससे सौ मील दूरपर देहातमें रहती थी। उसने सोते समय स्त्रीके पास शुभ निर्देश भेजना प्रारम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप कुछ दिनोंमें ही वह अच्छी हो गयी।

लेखकके एक मित्र स्वामी गोविन्दानन्दके पास एक बार ऐसा बालक लाया गया जिसे खूब चेचक हो गयी थी। स्वामीजीने उस बालकको तीन-चार बार झाड़ दिया अर्थात् अपना हाथ उसके चेहरेके ऊपर फेर दिया। इसके पश्चात् उस बालकका रोग सदाके लिये जाता रहा तथा उसके फोड़े दो ही दिनोंमें मिट गये।

एक बार लेखककी दसवर्षीया बालिका दस-बारह दिनोंसे ज्वरसे पीड़ित हो रही थी। लेखकके एक छात्रने कहा, 'आज मैं इसको ठीक करूँगा।' वह आध्यात्मिक विचारोंमें विश्वास करता है। वह उस लड़कीको अपने पास लेकर सो गया और उस बच्चीका ज्वर सदाके लिये अच्छा हो गया।

एक बार लेखकके मित्र श्रीजगदीश कश्यप पिनांग गये थे। एक बौद्ध-विहारमें गाँवके लोगोंको प्रतिदिन सन्ध्या-समय साधना कराते थे। एक बीमार वृद्धाको इस सत्सङ्गमें शामिल होनेकी प्रबल इच्छा हुई; परंतु वह बहुत दिनोंसे रोगिणी थी। उसे पालकीमें डालकर मठकी प्रार्थना-सभा तक लाया गया। भिक्षुकजीने उसे प्रार्थनाके चबूतरेपर लिटा दिया और सभी लोगोंको चित्त एकाग्र करके उसके आरोग्य होनेके लिये प्रार्थनाके लिये आदेश दिया। इस अभ्यासके पश्चात् जब सभा समाप्त हुई तो सब लोगोंके समान वह भी उठी और अपनी खुशीसे जाकर बाहर गाड़ीमें बैठकर घर चली गयी। सभी लोगोंके थोड़े कालके ही प्रबल मैत्रीभावनामय विचारोंका यह परिणाम था। इन्हीं भिक्षुक महाशयके पास एक बार लेखक अपने एक छात्रको ले गया, जिसे अनिद्राका रोग था। भिक्षुकजीने इस छात्रको आरामकुर्सीपर बैठा दिया और उससे कुछ देर बातचीत करनेके पश्चात् आनापान सतीका अभ्यास करना प्रारम्भ किया। वे स्वयं इस समय अपने तख्तपर लेट गये और नींद लेते हुए मनुष्य-जैसे खर्राटे लेने लगे। पासमें बैठे हुए अनिद्रासे पीड़ित रोगीको भी अपने सब अंग शिथिल करके और आँख मूँदकर उसी प्रकार साँस लेनेको कहा, जैसी साँस वे ले रहे थे। वह रोगी उसी समय उसी आरामकुर्सीपर सो गया।

एक बार लेखकके एक मित्रको कई दिनोंसे पेचिशका रोग हो रहा था, जिसके कारण उनके पेटमें भारी पीड़ा होती थी। लेखकने इसके पेटकी दर्दको अलग करनेके लिये आनापान सती और 'पास' देनेका प्रयोग किया। इसके फलस्वरूप वह सो गया और जब सोकर उठा तो उसका रोग जाता रहा।

ऊपर जो कुछ कहा उससे यह निश्चित होता है कि हमारे मनमें दूरकी बातें जाननेकी शक्ति है तथा हम विचारकी शक्तिके द्वारा अपने-आपको और दूसरेको आरोग्य बना सकते हैं। जो व्यक्ति जितना ही इस विचारकी शक्तिमें विश्वास करता है, उसे यह शक्ति उतनी ही प्राप्त होती है। मनकी उद्विग्नता मानसिक शक्तिका विनाश करती है। संशय उत्पन्न हो जानेपर मनुष्य निकम्मा हो जाता है। उसकी शक्ति नकारात्मक कल्पना तथा विचारोंमें नष्ट हो जाती है। अपने-आपको बाहरी वैभवसे मुक्त करके अपने भीतर घुसनेसे ही इस शक्तिका ज्ञान होता है। शान्त विचारोंकी शक्ति जितनी अधिक होती है, उतनी उत्तेजित विचारोंकी नहीं होती। मनकी शान्त अवस्थामें विचारकी रचनात्मक शक्ति अमित हो जाती है; परंतु मनकी शान्त अवस्था प्राप्त करनेके लिये अपनी इच्छाओंका त्याग करना आवश्यक होता है। उसी व्यक्तिका मन बलवान् होता है जो सभी प्रकारकी परिस्थितियोंमें सन्तुष्ट रहता है। ऐसे व्यक्तिको सच्चे मार्गके लिये सदा अन्तरात्माका आदेश मिलता रहता है। इस आदेशके अनुसार चलनेसे उसे अनायास दूसरे लोगोंकी सहायता और जीवनमें सफलता मिलती है।

कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु। सर्वः सुखमवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

सब प्राणी सुखी हों, सब प्राणी नीरोग हों, सब प्राणी कल्याणका दर्शन करें, दुःखका भाग किसीको न मिले। सब प्राणी सङ्कटोंसे तर जायँ, सब कल्याणका दर्शन करें, सब सुख प्राप्त करें, सब सर्वत्र आनन्दमय हों।

देशके प्रत्येक प्रान्तकी प्रत्येक प्राकृत भाषा, ग्राम्य भाषा ज्ञान-विज्ञानमें, धर्मादर्शमें, कर्मादर्शमें सुसमृद्ध थी। संस्कृतभाषामें लिपिबद्ध श्रेष्ठतम तत्त्व, आदर्श, सद्भाव प्राकृत और ग्राम्य भाषामें अनुप्रविष्ट होकर समाजके निम्नतर स्तरके पुरुष-स्त्रीके भी जीवनको आलोकित और सदाचारसम्पन्न करते थे। संस्कृत भाषाने ही भारतके श्रेष्ठतम मनीषियोंकी ज्ञानसाधना, भावसाधना और कर्मसाधनाको सर्वत्र सब श्रेणीके लोगोंमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे प्रचार करके समस्त भारतवर्षको एक आदर्शमें अनुप्राणित किया है, एक भावसे भावित किया है, एक जातीयताके सूत्रमें ग्रथित किया है, एक ही सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्राणको सभी शरीरोंमें समुज्ज्वल कर डाला है। संस्कृतभाषाने ही भारतके गौरवमय आसनको विश्व-मानवसमाजमें प्रतिष्ठित किया है तथा उसे आज भी मलिन नहीं होने दिया है।

दुर्भाग्यवश अनेकों शताब्दियोंकी राष्ट्रिय पराधीनताके फलस्वरूप संस्कृत भाषा—भारतकी जातीय भाषा आज 'मृत-भाषा' के नामसे पुकारी जाने लगी है। पराधीनताने जिस प्रकार भारतके अखण्ड जातित्वको ध्वंस करके भारतवासियोंको अनेकों परस्पर विवाद करनेवाली उपजातियोंमें खण्ड-खण्ड करके विभक्त कर दिया है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृतिको भी प्राचीन इतिहासके गम्भीर गह्वरमें डालकर वर्तमान जीवन-धारासे निर्वासित करनेका आयोजन किया है। सनातन भारतीय संस्कृतिकी जीवन्त मूर्तिस्वरूप संस्कृत भाषाको भी उसी प्रकार मृत-जातिकी विलुप्त संस्कृतिके शव-देहके रूपमें गण्य करनेकी व्यवस्था की है। पराधीनताके असंख्य दोषोंमें सर्वापेक्षा नाशकारी दोष यह है कि पराधीन देशके स्त्री-पुरुष आत्मश्रद्धाको तिलाञ्जलि दे देते हैं, अपनी संस्कृति-सम्पद्से वञ्चित हो जाते हैं, अपनी सुसमृद्ध भाषाको मृतभाषा कहकर उपेक्षा करते हैं और विजातीय असमृद्ध भाषाको आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं तथा उसका अनुकरण करनेकी चेष्टा करते हैं। दासत्वके निदर्शनको ही वे अलङ्कारके रूपमें वरण करते हैं। भारतवर्षने राष्ट्रिय पराधीनतासे देखनेमें मुक्ति प्राप्त कर ली है; परंतु जबतक भारत-सन्तान भारतीय संस्कृतिको निजत्वके रूपमें गौरवपूर्वक ग्रहण करनेके अभ्यासी नहीं हो जायँगे, भारतकी चिरन्तन जातीय भाषाके प्रति उनमें आन्तरिक अनुराग नहीं बढ़ जायगा, जातीय भाषाका वर्तमानमें जीवन्त भाषाके रूपमें व्यवहार करना नहीं सीखेंगे, तबतक स्वाधीनताकी यथार्थ प्राप्ति नहीं होगी और भारतका प्राण तबतक बेड़ियोंसे बँधा ही रहेगा।

आज देशमें संस्कृत शिक्षा और भारतीय संस्कृतिकी आलोचनाकी जो व्यवस्था पायी जाती है, वह बहुत कुछ परलोकगत पितरोंके प्रति बाह्य सम्मान-प्रदर्शन तथा पिण्ड-दानकी व्यवस्थासे तुलना करने योग्य है। प्राचीन युगमें मानव-सभ्यताका आकार-प्रकार कैसा था, अतीतकालके अर्द्ध-सभ्य मनुष्य किस विषयपर किस प्रकारसे विचार करते थे तथा किस प्रकारके आचार-व्यवहारके द्वारा अपने जीवनको नियन्त्रित करते थे, उसके स्मरण और प्रमाण-ग्रहणके लिये ही संस्कृत-का आवाहन किया जाता है। वर्तमान युगमें विदेशियोंके निकट शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करके ही हम सुसभ्य हुए हैं, और अन्ततः मानव-सभ्यताके यथार्थ स्वरूपके साथ परिचित हुए हैं, हमलोगोंकी युगोचित जीवन-यात्राके निर्वाहके क्षेत्रमें भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषाकी मानो कोई सार्थकता ही नहीं है। हमलोगोंकी सांसारिक आवश्यकताओंको सिद्ध करनेवाले ज्ञान-विज्ञानकी पर्यालोचनामें इस आध्यात्मिकता-प्रधान प्राचीन भाषाकी मानो कोई योग्यता ही नहीं है। आधुनिक विचित्र विचारधारा तथा भाव-धाराको मूर्ति प्रदान करनेमें यह भाषा नितान्त ही निर्बल है। संस्कृत भाषाकी सामर्थ्यके सम्बन्धमें इस प्रकारकी दृढ़बद्ध धारणा रखकर ही संस्कृत-शिक्षाकी व्यवस्था आजकल चल रही है।

संस्कृत शिक्षाका फल भी तदनुरूप ही देखनेमें आता है। विशुद्ध संस्कृत शिक्षाकी सुशिक्षित पण्डितमण्डली आधुनिक भाव-धाराको ग्रहण करनेमें विमुख अथवा असमर्थ हो रही है। वह वर्तमान युगकी विजातीय शिक्षासे शिक्षित जडोपासी (इस लोकको ही सर्वस्व माननेवाले) लोगोंके साथ-साथ पैर रखकर नहीं चल सकते हैं, संस्कृत भाषाकी सहायतासे वर्तमान जगत्‌की विचित्र भावधारा, चिन्तनधारा और कर्मधाराका साधारण परिचय प्राप्त करनेमें भी समर्थ नहीं होते, ऐतिहासिक दृष्टिसे भारतीय साधना और सभ्यताके विचित्र विकास और परिणतिके सम्बन्धमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करनेमें भी अभ्यस्त नहीं होते, सनातन भारतीय संस्कृतिको वर्तमान युगके अनुसार जीवन्त रूप प्रदान करनेमें भी शिक्षित नहीं होते। इन कारणोंसे जो विशुद्ध प्राचीन पद्धतिसे संस्कृत-साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्रादिमें परम विद्वान् कहलाते हैं, वे भी अतीतकालके मानवके रूपमें वर्तमान समाजमें निवास करते हैं, वर्तमान जीवन-धाराके साथ उनके जीवनका सम्यक् योग नहीं रहता तथा जन-साधारणकी

विचारधारा और कर्मधाराके ऊपर शास्त्रीय-ज्ञानके कल्याणकारी प्रभावका विस्तार करनेकी सामर्थ्य वे अर्जन नहीं करते। संस्कृत शिक्षाकी यह अवनति तथा शास्त्रज्ञ पण्डित-मण्डलीकी यह अमर्यादा देश और समाजके लिये नितान्त ही अकल्याण-कारिणी है। भारतीय साधनाके पुनर्जागरणके लिये, भारतकी जातीय स्वाधीनताकी पूर्ण प्रतिष्ठाके लिये और हिंदू-जातिके पुनर्गठनके लिये संस्कृत शिक्षाकी युगोचित सुव्यवस्था तथा संस्कृत-विद्या-विशारदोंकी प्रतिष्ठा तथा प्रभाव-शक्तिको बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये पण्डितमण्डली तथा अंग्रेजी पढ़े-लिखे संस्कृत-सेवकोंको एक सूत्रमें सम्बद्ध होकर नियमित प्रयत्न करना वर्तमान कालमें नितान्त ही आवश्यक है।

जिस भाषामें जातीय जीवनके विचित्र परिणामके साथ-साथ नये-नये प्रकारसे साहित्य, दर्शन, विज्ञानादिकी सृष्टि नहीं होती, जो भाषा विभिन्न कर्मोंमें लगे हुए शिक्षित जन-साधारणकी बुद्धि और हृदयकी आवश्यकताके अनुसार समुचित आहार प्रदान करनेमें समर्थ नहीं होती, देश और विश्वके विशाल मानवसमाजकी बहुमुखी साधनाके साथ युक्त होकर जो भाषा नाना प्रकारके नवीन ग्रन्थोंकी रचना करके स्वच्छन्द गतिसे प्रवाहित नहीं होती, उस भाषाको 'मृत' कहना आश्चर्यकी बात नहीं है। संस्कृत भाषाकी सृजन-शक्ति निःसीम है; मानव-चित्तके सब प्रकारके भावोंको शब्द-मयी मूर्ति प्रदान करनेमें इसकी क्षमताकी सीमा नहीं है। परंतु साधकोंके अभावसे, सेवकोंके अभावसे, वर्तमान युगमें इसकी जीवनी शक्तिका परिचय ही दुर्लभ हो गया है। जो लोग इसे 'देवभाषा' के रूपमें सम्मान करते हैं, वे लोग भी पारलौकिक अनुष्ठानके प्रयोजन-कार्योंमें ही इसका व्यवहार करके इसे स्वर्ग भेजनेके लिये ही व्यस्त हैं। मानवीय दैनिक प्रयोजनोंमें लगाकर इसे कलुषित करना मानो वे एक अप-कर्म समझते हैं। परलोकके साथ सम्बन्ध-स्थापन करनेके लिये जो उत्सुक नहीं हैं, वे इस देवभाषाको दूरसे ही प्रणाम करते हैं, उनकी समझमें इसका सान्निध्य आवश्यक या वाञ्छनीय नहीं है।

संस्कृत भाषाको पुनः जीवन्त भाषाके रूपमें पुनः प्रतिष्ठित करनेके लिये, उसे स्वर्गसे मृत्युलोकमें अवतरित कर वर्तमान युगके सब प्रकारके भावों और विचारोंके वाहनके रूपमें उसका प्रयोग करना होगा। साथ ही उसके स्वर्गीय भावोंको भी अक्षुण्ण रखना होगा। इस उद्देश्यसे भी आधुनिक विचारधारामें अभिज्ञ मनीषियोंके लिये संस्कृत-सेवी होना आवश्यक है तथा संस्कृत-शास्त्रोंका अध्ययन करनेवाले पण्डितोंका आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, इतिहास आदिके साथ सुपरिचित होना आवश्यक है।

आजकलकी विपरीत अवस्थामें जो लोग संस्कृत भाषाके अनुरागी हैं तथा जो भारतकी इस जातीय भाषाको पुनः समुचित पदपर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं; उनके लिये शीघ्र ही कतिपय विषयोंकी ओर ध्यान देना विशेष आवश्यक है।

पहले, स्वच्छन्द गतिशील, सहज संस्कृत भाषामें आधुनिक विचारधाराके अनुकूल शैलीमें दर्शन, विज्ञान, साहित्य, इतिहास, राजनीति, समाजविधि आदि विविध आवश्यकीय विषयोंपर सनातन भारतीय संस्कृतिके आधारपर नये-नये ग्रन्थोंकी रचना और प्रचार करनेकी चेष्टा करना आवश्यक है। वृत्ति, पारितोषिक, उच्चतर उपाधि और समुचित सम्मान-प्रदर्शन आदिके द्वारा उत्साहित करके योग्य व्यक्तियोंको ग्रन्थ-प्रणयनमें लगाना होगा, इस कार्यमें उदार धनी-मानी लोगोंकी सहानुभूति और सहायता प्राप्त करनी होगी तथा जातीय राजकोषसे भी उपयुक्त संरक्षण और सहायता प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी पड़ेगी।

इसके अतिरिक्त, संस्कृत विद्यापीठोंका वर्तमान युगके प्रयोजनके अनुसार नये ढंगसे पुनर्गठन करना आवश्यक है। आजकल देशमें जो संस्कृत विद्यापीठ हैं, उनका प्रधान दोष यह है कि युगोपयोगी साधारण ज्ञानकी कोई व्यवस्था न करके केवल प्राचीन पद्धतिके अनुसार कुछ विशेष-विशेष विषयोंका ज्ञान प्रदान करनेकी ही वे व्यवस्था करते हैं। शिक्षाके क्षेत्रमें सर्वत्र साधारण ज्ञानकी भित्तिके ऊपर ही विशेष ज्ञानकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये। प्रत्येक शिक्षित (अथवा अल्प शिक्षित) व्यक्तिको जाति और समाजके इतिहास तथा सांस्कृतिक क्रम-विकासके साथ साधारण परिचय रखना अत्यावश्यक है, देश और विश्वका भौगोलिक विवरण तथा राष्ट्रिय और अर्थनैतिक परिस्थितिके विषयमें साधारण ज्ञान होना आवश्यक है। आधुनिक, जड़-विज्ञानके साधारण स्थूल सिद्धान्तोंके साथ परिचय होना आवश्यक है, राष्ट्रनीति, समाजनीति और धर्मनीतिके सम्बन्ध-में जो विभिन्न भाव-धाराएँ प्रचलित हैं, उनके विषयमें भी कुछ साधारण ज्ञान आवश्यक है। गणित-शास्त्रका साधारण परिचय होना आवश्यक है। इन विषयोंका साधारण ज्ञान न होनेपर, वर्तमान युगमें शिक्षा-प्राप्त सभ्य पुरुष

कहलानेका अधिकार नहीं प्राप्त होता। संस्कृत पढ़नेवाले छात्र संस्कृत भाषाके द्वारा ही जिसमें इन विषयोंका साधारण ज्ञान प्राप्त कर सकें, इसकी चेष्टा करना प्रत्येक संस्कृत विद्यापीठके लिये आवश्यक है; परंतु जबतक इन विषयोंके प्राथमिक शिक्षाके उपयोगी संक्षिप्त ग्रन्थ सरल संस्कृत भाषामें रचे नहीं जाते तबतक प्रान्तीय भाषाओंके माध्यमसे इन विषयोंकी शिक्षा संस्कृत शिक्षाके अङ्गके रूपमें दी जानी आवश्यक है। साधारण ज्ञानको बढ़ाये बिना संस्कृत शिक्षाको समयोपयोगी बनाना तथा संस्कृत शास्त्रोंके विभिन्न विभागोंमें सुशिक्षित पण्डितसमाजकी, राष्ट्र, समाज और धर्मके क्षेत्रमें,प्रभाववृद्धि करना सम्भव नहीं है।

भारतकी जातीय भाषा और संस्कृतिकी मूर्च्छाको दूर करनेके लिये देशके सभी प्रान्तों और शिक्षा-केन्द्रोंमें संगठितरूपसे प्रबल चेष्टा करना आवश्यक है। सांस्कृतिक पराधीनतासे मुक्ति प्राप्त करके जबतक जाति आत्मस्थ नहीं होती तबतक उसका भविष्य अन्धकारमय है। जिस जातिका अपना 'निजस्व' प्राण है, निजस्व संस्कृति है और निजस्व गौरवमय अतीत इतिहास है, वह जाति यदि अपनेको भूलकर परानुकरणमें प्रवृत्त हो तो समझना चाहिये कि वह 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' ही होगी।

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(संकलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)

(१) जिसको वास्तविक प्रेम कहते हैं, वह वाणीका विषय नहीं है; वह तो एक स्थिति है और वह स्थिति त्यागके बहुत ऊँचे स्तरपर पहुँचनेपर प्राप्त होती है।

(२) प्रेम और भगवान्‌में अन्तर नहीं। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें सबसे प्रथम और सबसे अन्तिम आवश्यक वस्तु है—सर्वस्वका समर्पण और उत्कट अभिलाषा। सब कुछ भगवान्‌को सौंप देना और भगवान्‌के अतिरिक्त और वस्तुको किसी भी स्थितिमें न चाहना, न लेना।

(३) जहाँ हमने भगवान्‌का आश्रय लिया, वहीं स्वाभाविक रूपसे दैवी सम्पत्ति हमारे जीवनमें आ जायगी। ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्योदयके साथ ही प्रकाश आ जाता है।

(४) भगवान्‌में जो दिव्य गुण हैं, उनका अनुकरण करना, उनकी नकल करना, वे गुण किसी अंशमें अपनेमें आवें, इसके लिये प्रयत्न करना बड़े महत्त्वका साधन है। जैसे, भगवान् अपने सर्वस्वका जगत्‌में वितरण करना चाहते हैं, तो उनके इस गुणका अनुकरणकर हम भी अपने पास जो सम्पत्ति और गुण हों, उनको भगवान्‌की सेवाके निमित्त जगत्‌में वितरण करते रहें। देनेपर ही चीज मिलती है और हम जैसी चीज देते हैं, वैसी ही चीज हमें मिलती है और मिलती है अनन्तगुनी होकर। अतएव हम सद्गुणोंका वितरण करेंगे तो हमारे सद्गुण अनन्तगुना बढ़ जायँगे। भगवान्‌के राज्यमें बुरेका फल अच्छा और अच्छेका फल बुरा कदापि नहीं हो सकता। बीज एक होता है और फल अनेक। साथ ही बीजसे उसका ही फल होता है, दूसरा नहीं। अतः जैसा भला-बुरा हम करते हैं, वैसा ही अनन्तगुना भला-बुरा हमें प्राप्त होगा।

(५) भगवान्‌के जितने भी सुन्दर गुण हैं, सभी अंशरूपमें हमारे अंदर हैं। क्योंकि हम भगवान्‌के अंश हैं। पर उन गुणोंका विकास नहीं होता, वे छिपे रहते हैं। इसलिये साधनाकी आवश्यकता होती है। साधनामें सबसे पहली वस्तु है—भगवान्‌की ओर हमारा मन आकृष्ट हो, भगवान्‌को हम अपने जीवनका आधार बनावें और उनका चिन्तन करें। यह गुण आधाररूप है जो अन्य गुणोंको खींचकर लाता है। भगवान्‌का भजन करें, उनकी शरण ग्रहण करें, मनको उनसे जोड़ें—यह पहली बात है। यदि हमने इसे कर लिया तो अन्यान्य गुण हमारे अंदर अपने-आप ही प्रकट होने

लगेंगे। हमने आग जला ली तो उसके साथ उसकी दाहिका शक्ति अपने-आप आ जाती है। इसी प्रकार हम देवको अपने घरमें ले आयें तो उनके साथ दैवी सम्पत्ति अपने-आप आ जायगी। पर आज हम देवको छोड़कर दैवी सम्पत्ति चाहते हैं; सूर्यका बहिष्कार करके उसके प्रकाशको चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम दैवी सम्पत्ति या प्रकाशसे वञ्चित रह जाते हैं। भगवान्‌में अविश्वास करनेवालोंमें भी कभी-कभी दैवी गुण दिखायी पड़ जाते हैं, पर बिना दैवी आधारके वे टिक नहीं सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे बिना सजल-मूल नदी जल्दी ही सूख जाती है।

(६) अभ्यास और प्रेम दोनोंमें ही चिन्तन होता है। अभ्यास होनेपर चिन्तन अपने-आप होता है; प्रेम होनेपर भी चिन्तन अपने-आप होता है। परंतु अभ्यासका चिन्तन रूखा है, प्रेमका सरस। अभ्यासमें क्रिया है, प्रेममें भाव। क्रिया और भाव साथ-साथ चल सकते हैं पर अपने-अपने स्वरूपमें ही। अतएव भगवान्‌के जिस रूपकी ओर रुचि हो उसके चिन्तनका अभ्यास करना चाहिये। और साथ ही उसमें प्रेम-भाव भी बढ़ाना चाहिये। अभ्यासके साथ भाव होनेसे धीरे-धीरे रस आने लगेगा और फिर उसे हम छोड़ नहीं सकेंगे।

(७) अभ्यासकी क्रिया और भगवत्प्रेमका भाव बढ़ानेका प्रयत्न साथ-साथ चलते रहें। पहले गुणोंको देखकर ही प्रेम होता है। परंतु वस्तुतः प्रेम गुणजनित नहीं है और न वह गुणोंके आधारपर टिकता ही है, लेकिन पहले-पहल गुणोंको सुनकर, देखकर प्रेम होता है। अतएव भगवान्‌के गुणोंका, नामका, स्वरूपका, लीलाका चिन्तन किया जाय। बार-बार भगवान्‌के मधुर सम्बन्धको लेकर उनकी आवृत्ति होती रहे। इससे अभ्यास बढ़ेगा और हमारा अन्तःकरण प्रकाशसे भर जायगा तथा हमारे मनका सञ्चित मल जल जायगा। भगवान्‌के चिन्तनमें ऐसी शक्ति है कि वह हमारे अन्तःकरणके मलको निःशेषरूपसे जला देती है और उसे प्रकाशसे भर देती है।

(८) सूर्य और रात्रि दोनों जैसे एक समय एक साथ नहीं रहते, इसी प्रकार काम और राम साथ नहीं रहते। जबतक जगत्‌का चिन्तन मनमें है तबतक हम सर्वनाशके पथपर हैं, चाहे हम अपनेको महात्मा मान लें और चाहे दूसरे हमें महात्मा कहें। वस्तुतः महान् प्रभुसे मिलनेपर ही महात्मापन प्राप्त होता है।

(९) विषयोंका चिन्तन सर्वनाशका कारण है और भगवान्‌का चिन्तन सर्वनाशसे बचाकर सर्वकल्याणका साधन।

(१०) सावधानीके साथ मनको विषयोंसे हटाकर भगवान्‌के चिन्तनमें न लगाना ही साधनाकी सबसे बड़ी कमी है।

(११) भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही जगत्‌का काम करना चाहिये। भगवान्‌का स्मरण पहले और सब समय एक-सा हो और जगत्‌के काम यथासमय यथावश्यक। भगवान्‌के स्मरणमें यदि व्याघात हो तो इसका परम पश्चात्ताप होना चाहिये।

(१२) जबतक मन रागयुक्त होकर भगवान्‌का स्मरण नहीं करता तबतक कमी-ही-कमी है। अतएव भगवान्‌में अनुराग बढ़ाकर बार-बार भगवान्‌का स्मरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌के गुण, नाम, लीला आदि जिसमें ही मन लगे, अनुराग हो उसीका चिन्तन करना चाहिये।

(१३) मनको विषयोंसे हटानेके पूर्व उसे भगवान्‌की ओर लगाना चाहिये। पहले अभ्यास होना चाहिये, पश्चात् वैराग्य। ऐसा न होगा—हमने मनको एक विषयसे हटाया और उसे दूसरी वस्तु न मिली तो थोड़ी ही देरमें वह पुनः उसी विषयमें आ जायगा। नया खूँटा गाड़कर ही पुराने खूँटेसे पशुको खोलना चाहिये।

(१४) भगवान्‌की अखण्ड स्मृति हो और विषयोंसे पूर्ण उपरामता हो, यह जीवनका ध्येय होना चाहिये।

(१५) मनुष्य जो किसी भी स्थितिमें तृप्त नहीं है, यह इसी बातको सिद्ध करता है कि वह किसी पूर्णताकी स्थितिको प्राप्त करना चाहता है। भगवान् सुख और शान्तिके स्वरूप हैं। पूर्ण सुख, अखण्ड सुख, नित्य सुख भगवान्‌में ही है। हम ऐसे ही सुखको चाहते हैं और ऐसा सुख जगत्‌में कहीं है नहीं। इसीलिये हम कहीं भी किसी भी स्थितिमें पहुँच जायँ हमें अतृप्तिका, अभावका ही बोध होता है। हमारी इस अतृप्तिसे ज्ञात होता है कि हम परिपूर्णतम भगवान्‌को चाहते हैं।

(१६) मनुष्यका 'स्व' जितना ही फैला हुआ होता है, उतना ही उसका 'स्वार्थ' पवित्र होता है और जितना संकुचित—छोटा होता है, उतना ही अपवित्र होता है, दूषित होता है, गंदा होता है। नदीका बहता हुआ जल बिल्कुल स्वच्छ एवं पवित्र होता है, पर जब वह किसी गड्ढेमें इकट्ठा कर लिया जाता है तो वही गंदा हो जाता है, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। ········स्वार्थ जब छोटे दायरेमें अटककर गंदा हो जाता है तब पाप बढ़ जाते हैं। पाप, छल, कपट, चिन्ता, शोक आदि स्वार्थके इस छोटे दायरेमें ही होते हैं। इसलिये स्वार्थके संकुचित रूपका त्याग होना चाहिये। जगत्‌के सब प्राणियोंके प्रति आत्मभाव हो जाय और उनकी सेवाकी, उन्हें सुख पहुँचानेकी स्वाभाविक इच्छा हो, यही विस्तृत स्वार्थ है। यही परमार्थ है।

(१७) हम घरके मालिक बने हुए हैं। हमें चाहिये कि इस मालिकीको छोड़कर हम इसके मुनीम (सेवक) बन जायँ। फिर यह घर हमारा नहीं, इसके भोग हमारे नहीं; इसके हानि-लाभ हमारे नहीं रहेंगे। हम भगवान्‌के सेवक बन जायँगे। फिर जो काम होंगे वे सब भगवान्‌के हो जायँगे। यदि इस प्रकार विषयका सेवन किया जाय तो विषय हमें बाँधते नहीं। जो कर्म भगवान्‌की सेवाके लिये नहीं होते, वे बाँधनेवाले होते हैं। अतएव कर्म किया जाय, अच्छी प्रकार किया जाय, पर वह अपने लिये नहीं, भगवान्‌के लिये हो। भगवान्‌के लिये- कर्म करनेसे 'स्वार्थ' गंदा नहीं होता।

(१८) 'विश्व-सेवा ही भगवत्सेवा है और हम सेवा करनेवाले हैं।' यह भाव ठीक नहीं; इसमें कसर है। भगवान्‌की सेवा ही विश्व-सेवा है और भगवान्‌की सत्प्रेरणासे ही हम उन्हींकी वस्तुओंके द्वारा उनकी सेवा होनेमें निमित्त बनते हैं। यह भाव होना चाहिये। विश्व भगवान्‌के एक अंशमें है। पर जब मनुष्य विश्वको भगवान्‌से अलग समझकर उसकी सेवा करते हैं तो उसमें सेवा करानेवालेका मनोरञ्जनमात्र होता है और सेवकके मनमें अभिमान आ जाता है, उसमें सेव्यके हितकी दृष्टि नहीं रहती, वरं सेवक कहलानेकी भावना हो जाती है। इसलिये सेवा भी यथार्थरूपमें नहीं हो पाती। विश्वके लोगोंके मनकी बात होती है चाहे वह उनके लिये हानिकर ही क्यों न हो। पर जहाँ शुद्ध सेवाकी भावना होती है वहाँ प्रत्यक्ष सुखकी ओर न देखकर सेवक सेव्यके हितकी ओर देखता है। इससे यदि कहीं ऑपरेशनकी आवश्यकता होती है तो उसमें भी संकोच नहीं होता। भगवान्‌की सेवामें विश्वकी सेवा अपने-आप होती है और इससे जो सेवा होती है वह निरभिमान भावसे होती है, चाहे उसका रूप कुछ भी हो। भगवत्सेवाके भावसे अर्जुनने युद्ध किया। इससे विश्वकी सेवा अपने-आप हुई। पर यदि अर्जुन भगवान्‌को भूलकर अभिमानपूर्वक विश्वकी सेवा करते तो वे भगवत्सेवासे विमुख हो जाते और सेवा तो होती ही नहीं। मनुष्य बहुत बार विश्वकी सेवाके नामपर अभिमानकी ही सेवा करता है।

(१९) कार्य करते हुए भगवान्‌का स्मरण करो और भगवत्स्मरण करते हुए कार्य करो—इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। पहलेमें कार्य मुख्य है, दूसरेमें स्मरण।

स्मरण निरन्तर चले; बीचमें जब काम आ गया, कर लिया। यही ठीक है।

(२०) भय, चिन्ता, विषाद, शोक आदिका प्रधान कारण भगवान्‌पर अविश्वास ही है। भगवान्‌पर विश्वास न होनेसे और संसारके पदार्थोंपर विश्वास होनेसे ही भय, चिन्ता आदि उत्पन्न होते हैं। संसारकी वस्तुएँ न तो पूर्ण हैं और न नित्य ही। अतएव उनपर विश्वास करनेसे भय, चिन्ता, विषाद आदि होंगे ही।

(२१) हम जिस वस्तुका बार-बार चिन्तन करते हैं, संकल्प करते हैं, मनन करते हैं, हमारी कल्पनासे वैसी ही वस्तु बन जाया करती है। मनमें साँप है तो वह किसी रस्सीमें साँप पैदा कर लेता है। भूतोंका डर ऐसा ही है। किसी सूखे ठूँठको दूरसे देखा कि मनको प्रत्यक्ष होकर डराने लगा। इस प्रकार भयका भाव मनुष्यके उल्लास—उत्साहको नष्ट कर देता है। परंतु दुःख, भय आदिका सामना करनेपर दुःख-भय नहीं रहते। उनका सामना करना क्या है?—भगवान्‌पर विश्वास। अर्थात् इस बातपर विश्वास कि भगवान् सब वस्तुओंमें सर्वत्र और सर्वथा विराजित हैं और वे हमारे परम सुहृद् हैं, अतः वे जो कुछ करते हैं उसीमें हमारा परम मङ्गल है।

(२२) भगवान्‌का जो कुछ भी विधान है, वह हमारे लिये परम मङ्गलमय है—ऐसा विश्वास हो जाय तो भय रहे ही नहीं। परंतु हम तो अपने मनकी बात करवाना चाहते हैं कि अमुक वस्तु अमुक रूपमें हो जाय। इसीसे हमें भय-चिन्ता आदि होती हैं।

(२३) भयसे क्या होता है?—बिना हुए भी मनुष्य आशङ्का कर लेता है। सन्देह होनेपर चेष्टाएँ विपरीत दिखायी देने लगती हैं। भयसे आत्मविश्वास चला जाता है; भयसे साहस जाता है; भयसे प्रयत्नमें कमी आती है; भयसे अविश्वास होता है। भयसे चिन्ता उत्पन्न होती है और भयसे मृत्यु होती है। भय अनेक बुराइयोंका मूल है। मनमें भय न रहनेसे साहस होता है और हम सच्चे भयसे भी त्राण पा जाते हैं।

(२४) शास्त्रमें जिसके लिये जो कर्तव्य विहित है, उसीके अनुसार चलना—संयम और नियमबद्ध होकर शास्त्रोक्त कर्तव्यका पालन करना, यह सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका साधन है। इंजिन जहाँतक पटरीपर है, उसे चाहे जहाँ ले जाइये; पर यदि वह पटरीसे उतर गया तो फिर न तो इच्छित दिशाकी ओर उसे ले जाया जा सकता है और न वह सहज ही टूट-फूटसे ही बच सकता है।

(२५) पाप और पतनका मूल है विषय-चिन्तन और विषयोंमें सुख-बुद्धि। भगवान्‌में ही सुख है, अन्यत्र कहीं है ही नहीं—इस आस्थाको लेकर मन भगवच्चिन्तनमें प्रवृत्त हो जाय तो विषय ये ही रहेंगे, पर फिर ये हमारे लिये बाधक सिद्ध नहीं होंगे। उस समय विषय भगवान्‌की पूजाके फूल बन जायँगे और हमारा मानव-जीवन सफल हो जायगा।

(२६) पापकी गति भजनकी गतिसे बहुत पीछे रह जाती है।

(२७) सत्सङ्गका अर्थ वास्तवमें यही है कि वह हमें सत् (भगवान्) के साथ युक्त कर दे।

(२८) भगवत्-पूजाके लिये विषय-चयन और सुखकी प्राप्तिके लिये विषय-चयन—इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। जब हम सुखकी प्राप्तिके लिये विषय-चयन करते हैं तो सुख तो हमें मिलता ही नहीं, पद-पदपर आघात लगते हैं। साथ ही पापोंका ही पर्याप्त संग्रह हो जाता है। परंतु यदि भगवान्‌की पूजाकी सामग्रीके रूपमें हम विषयोंका चयन करें तो वे विषय वैध तथा शुभ होते हैं, क्योंकि वे *भगवदनुकूल* होते हैं। उनमें पाप नहीं होता और सुख भी असीम मिलता है।

(२९) आनन्द और सुखमें अन्तर है। दुःखका प्रतिद्वन्द्वी सुख है और आनन्द तो केवल आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्द भगवान्‌में है। भगवान् आनन्द-स्वरूप हैं। यदि हम जगत्‌को भगवान्‌से भरा हुआ

देखते हैं और प्रतिक्षण उनकी लीलाका दर्शन करते हैं तो हमें सदा सर्वत्र आनन्द ही प्राप्त होता है। ऐसा न करके भगवान्‌को छोड़कर हम केवल जगत् और उसके कार्योंको देखते हैं तो वह निश्चय ही अशाश्वत है और दुःखालय है।

(३०) जहाँ द्वेष है, वहाँ दुःख है और जहाँ प्रेम है, वहाँ सुख है। जगत्‌के प्रत्येक पदार्थमें हमारा राग-द्वेष है, इसीलिये हमें सुख-दुःख होते हैं। भगवान्‌के नाते सबके प्रति यदि हमारा प्रेम हो जाय, मैत्री हो जाय; फिर चाहे कितना ही व्यवहारभेद रहे, हमें सर्वत्र सुख ही प्राप्त होगा। जैसे अपने शरीरके सब अङ्गोंमें व्यवहार-भेद होते हुए भी आत्मीयता एक-सी है, इसी प्रकार जगत्‌में सबके प्रति आत्मीयताका भाव होना चाहिये। फिर किसीके द्वारा विपरीत व्यवहार होगा, तो भी हमें उसपर रोष नहीं होगा। दाँतसे यदि जीभ कट जाती है तो कष्ट होनेपर भी दाँतपर कोई क्रोध नहीं करता।

(३१) जगत्‌में हम शुभ देखना सीखें, भलाई देखना सीखें तो हमें अपने-आप सुख मिलेगा।

(३२) जहाँ सुख रहता है, वहाँसे सुखका ही वितरण होता है, और जहाँ दुःख रहता है, वहाँसे दुःखका ही—यह नियम है। भण्डारमें जो चीज होगी वही तो दी जायगी।

(३३) यह सत्य है कि जगत्‌में कोई किसीका बुरा नहीं कर सकता। जिसका बुरा होता है वह उसके अपने ही किये हुए कर्मोंके फल-स्वरूप होता है, दूसरा कोई तो उसमें निमित्तमात्र होता है। पर निमित्त बननेसे उसको उसके अनुरूप फल भोगना पड़ता है। इसलिये मनुष्यको सावधान रहना चाहिये कि वह किसीके दुःख और अहितमें निमित्त न बने और भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'भगवन्! न तो मुझे किसीके दुःखमें निमित्त बनावें और न किसी अन्यको मेरे दुःखमें। मेरे दुःखमें कोई निमित्त बनेगा तो उसके फलस्वरूप उसे दुःख होगा। मेरा प्रारब्धफल मुझे अनिच्छासे ही मिल जाय।' यदि सभी ऐसा सोचने लगें तो कोई भी किसीके दुःखमें निमित्त न हो।

(३४) यदि मनुष्य रोगमें तपकी भावना करे तो उसे तपका फल मिलता है और मृत्युमें निर्वाणकी भावना करे तो वह मुक्त हो जाता है।

(३५) प्रारब्धको चाहे मनुष्य न पलट सके (और उसे पलटनेकी आवश्यकता भी नहीं है), पर दुःखसे तो वह छुटकारा पा सकता है। वह ऐसा बन सकता है कि दुःख नामकी वस्तु उसके लिये कहीं रहे ही नहीं। दुःख दारिद्र्य आदिमें नहीं है, मनमें है। जगत्‌में जितने भी दुःखके कारण दीखते हैं, उनमें किसीमें भी दुःख नहीं है। यदि दुःखमें हम भगवान्‌को देखें, उसमें भगवान्‌का संस्पर्श प्राप्त करें—ऐसा अनुभव करें कि यह हमारे परम प्रियतम प्रभुका मङ्गलमय विधान है तो दुःख हमारे लिये सुख बन जायगा।

(३६) विचारोंके अनुसार हमारी भावना होती है और भावनाके अनुसार परमाणु बाहर निकलते हैं। अतएव सद्-विचारोंसे अपना तथा जगत् दोनोंका भला होता है।

(३७) बुरे विचारोंके स्थानपर सावधानीके साथ भले विचारोंको तेजीसे अपने हृदयमें भरना शुरू कर दे। फिर बुरे विचार बिना ही चेष्टाके अपने-आप ही क्षीण हो जायँगे। उनके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। शुभ विचारोंमें अशुभ विचारोंकी अपेक्षा शक्ति अधिक होती है। हृदयमें शुभ विचारोंकी प्रबलता देखकर बुरे विचार स्थान छोड़कर भाग जायँगे।

(३८) शुभ सात्त्विक विचार मनके मौनमें बहुत सहायक होते हैं। विचारोंके सर्वथा त्यागका प्रयत्न छोड़कर पहले शुभ विचार करने चाहिये। वे शान्ति देनेवाले—विचारोंकी परिसमाप्ति करनेवाले होते हैं

और असात्त्विक—रजोगुणी, तमोगुणी विचार मनको चञ्चल बनानेवाले। इसलिये अशुभ विचारोंका त्यागकर शुभ विचारोंका संग्रह करना चाहिये। मनका मौन—शान्ति शुभ विचारोंके फलस्वरूप ही आती है। शुभ विचारोंका अन्तिम परिणाम होता है—भगवान्‌में स्थिति।

(३९) निकम्मा मन प्रमाद करता है। अतएव मनको निरन्तर कर्मशील रक्खे। निरन्तर प्रयत्न करता रहे शुभको अपने अंदर भरनेका। कानसे शुभ सुने, आँखसे शुभ देखे, मुखसे शुभ बोले, हाथोंसे शुभ करे, पैरोंसे शुभ स्थानोंमें जाय आदि।

(४०) भगवान् सबके प्रति समान भावसे प्रेम करते हैं, सबको समानभावसे अपने कल्याणमय गुणोंका आस्वाद कराना चाहते हैं, समान भावसे सबपर उनकी कृपा बरस रही है, कोई भी उसका अनधिकारी नहीं। पर जो भगवान्‌के सामने नहीं आना चाहता, जो उनसे लाभ उठाना नहीं चाहता—वह अवश्य वञ्चित रह जाता है। सूर्य सबको समान भावसे प्रकाश और ताप देता है, पर जो व्यक्ति किसी अँधेरी कोठरीमें बैठे और दरवाजा बंद करके उसपर काला पर्दा डाल दे तो उसे सूर्यका प्रकाश नहीं मिलता। इसमें सूर्यका पक्षपात नहीं; वह स्वयं ही सूर्यसे प्रकाश नहीं लेना चाहता।

(४१) भगवान्‌के साथ नित्य युक्त रहना सारी व्यवस्थाओंकी और सुख-शान्तिकी आधारभूमि है और भगवान्‌से वियुक्त हो जाना, उनको भूल जाना—यही सारे दुःखों, पापों, चिन्ताओंकी जड़ है।

चिन्ता किसे सताती है ? नास्तिक कौन है ?

आलसी आदमी ही चिन्ताग्रस्त रहा करता है। वह आलस्य चाहे शारीरिक कष्टसे बचनेके लिये हो अथवा मानसिक कष्ट—सोचने-विचारनेके कष्टसे बचनेके लिये हो। लोग प्रायः औरोंका अन्धानुकरण किया करते हैं। स्वयं सोच-विचारकर अपने कर्तव्यका निर्णय करना उनके लिये एक भारी बोझ उठाना है। यदि किसीको अपना कर्तव्य सूझ भी गया तो वह तदनुसार चलनेके कष्टसे बचना चाहता है। यहाँ भी आलस्य ही उसे अपने सूक्ष्मरूपमें पङ्गु बना डालता है। इस प्रकारका आलस्य ही प्रमाद कहलाता है।

पर इस तरहसे हम अपनेको दीर्घकालतक धोखा नहीं दे सकते। श्रीभगवान्‌के दिव्य संकल्पको चरितार्थ करती हुई यह प्रकृति ही हमें बहुत दिनोंतक आलस्य-जन्य तामसिक सुखमें नहीं पड़े रहने देगी। यह हमें आगे बढ़नेके लिये, अपने चरम लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये, मजबूर करेगी। यदि हम सीधे-साधे उसकी नहीं सुनेंगे और सज्ञानपूर्वक आगे नहीं बढ़ेंगे तो परिस्थितिके घूँसे और लातें खाकर ही हमें आगे बढ़ना होगा; हृदयमें छिपी हुई शक्तियोंको जाग्रत् करके मार्गमें आनेवाले विघ्न-बाधाओंको चूर-चूर करते हुए हमें अपने चरम लक्ष्यतक अपने प्रियतमतक—पहुँचना ही होगा।

आलस्यको ही अपना एकमात्र शत्रु समझनेवाला कर्तव्य-परायण व्यक्ति ही वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग करते हुए उसे अनुकूल बना लेता है। प्रतिकूल दीखनेपर भी वह उसी परिस्थितिमेंसे अपने आगे बढ़नेके लिये रास्ता ढूँढ़ लेता है। ऐसे कर्तव्य-शील वीर पुरुषके लिये तो परिस्थिति एक आज्ञाकारिणी सेविका बन जाती है। वह उसे प्रियतमतक पहुँचाने-में अपना पूरा सहयोग देती है। आलस्यके वशीभूत हुए अपने अंदरके शक्तिके भंडारसे बेखबर लोग ही परिस्थितिके बदलनेकी प्रतीक्षा किया करते हैं। ऐसे

लोग कभी भी सफल-जीवन नहीं हो सकते। वे स्वयं ही चिन्तारूपी आग जलाकर उसमें भस्मीभूत होते रहते हैं पर जो अपने वर्तमान कर्तव्यको समझकर उसे पूरा करनेमें लगा हुआ है, उसे चिन्ता करनेके लिये फुरसत ही नहीं। उसकी सचाई चिन्ताका उत्साहमें, वीयमें रूपान्तर कर देती है।

अपने अंदर छिपी हुई दैवी शक्तियोंमें विश्वास न करनेवाला आलसी मनुष्य ही वास्तवमें नास्तिक है। वह स्वयं दुखी रहकर औरोंको भी दुखी करता है। उसके द्वारा कभी भी संसारमें सुख-शान्तिकी वृद्धि नहीं हो सकती। उसका दिखौआ 'साधन-भजन' या कहने भरका 'भगवद्विश्वास' औरोंको भी नास्तिक बनाकर छोड़ता है। आलसी तो उभयभ्रष्ट है ही, वह दुनियाका भी घोर शत्रु है। पर जिसने आलस्यरूपी अपने परम शत्रुको पहचान लिया वह अन्तमें कृतकृत्य हुए बिना न रहेगा।

उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्य वरान्निबोधत।

—ब्रह्मानन्द

अभय पद

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

नित्य अभय रहना ही सच्ची आस्तिकता है। परमाधार सत्ताका जिसे ज्ञान है, वही अभय रह सकता है। जो व्यक्ति परमात्माका आश्रय लेकर परिवर्तनशील जगत्के पदार्थोंसे विरक्त है, वही अभय है। संयोगीको ही वियोगका भय होता है; संयोग और वियोगके परे रहनेवाला योगी अभय है। अपनेसे भिन्न सांसारिक पदार्थोंका संयोग अथवा वियोग होता है और अपनेसे अभिन्न सत्य—परमात्मासे योग होता है। परमात्माका योगानुभव होनेपर ही अभय पद सुलभ होता है।

भय अज्ञानकी छायामात्र है, मनुष्यको धर्मपथमें रोकनेवाली आसुरी शक्तिकी माया है; पर साथ-ही-साथ पाप-पथमें पतित होते हुएको बचानेके लिये यह भगवान्‌की दया है।············अभय वही हो सकता है जिसके साथ ज्ञान-प्रकाश हो, बुद्धि-दृष्टि हो, संयम-शक्ति हो, सत्य—परमेश्वरमें जिसकी अनुरक्ति हो और भोगोंके प्रति जिसमें विरक्ति हो।

तुम सांसारिक पदार्थोंपर गर्व करते हुए अपने-आपको भयरहित माननेकी भूल न करो, तुम इनका आश्रय लेकर अभय नहीं हो सकते। जहाँ कहीं तुम्हें मान-हानिका भय है, वहाँ तुम अभिमानी हो। जहाँतक किसी पदार्थकी हानिका भय है, वहाँतक तुम लोभी हो। जहाँतक तुम्हें प्रिय स्वजनोंके सम्बन्ध-विच्छेदका भय है, वहाँतक तुम मोही हो। जहाँतक तुम्हें मृत्यु, लोक, परलोक और नरकका भय है, वहाँतक तुम देहासक्त, कर्तव्यकर्म तथा व्यवहारमें आलसी-प्रमादी, पुण्यसे हीन और अपराधी हो। यदि तुम समस्त भयोंसे मुक्त होकर अभय होना चाहते हो तो असत्यका परित्याग कर सत्यका ज्ञान प्राप्त करो और एकमात्र उसीके अनुरागी बनो।

सत्य ही सर्वोपरि महान् है; जिसमें तुम रहते हो, उसकी महत्ताके आगे विनम्र होकर अभिमानका त्याग करो, ऐसा करनेपर तुम्हें किसीके द्वारा मान प्राप्त करनेकी रुचि नहीं रह जायगी और तुम अपमानके भयसे मुक्त हो जाओगे। धन आदि पदार्थोंकी असारता-का अनुभव करते हुए सन्तोष धारणकर तुम हानिके भयसे छूट जाओगे। अपने प्रिय सम्बन्धियोंके सम्बन्ध-विच्छेदका स्मरण रक्खो, किसी प्रियके वियोगका दुःख

न होगा। अपने अविनाशी स्वरूपको जानो, तुम्हें देहकी मृत्युका भय न रहेगा। तुमपर संसार और समाजका जो ऋण है उसे कर्तव्यपरायणता तथा सेवाके द्वारा पूरा करते रहो, तुम्हें लोकका भय नहीं रहेगा। अपनी अहंगत रुचि-पूर्तिके पक्षपाती न बनकर दूसरोंकी भलाई एवं उपकार करते हुए पुण्य प्राप्त करो, अपने सुखके लिये किसी प्राणीको मन, वाणी और शरीरसे दुःख पहुँचाकर पाप-संचय न करो। तुम्हें परलोक और नरकयातनाका भय न रहेगा। अपनी प्रकृतिमें कहीं भी आसुरी सम्पदाके लक्षण न रहने दो, केवल दैवी-सम्पदा धारण करो, तुम भगवान्‌के विधानमें निर्भय रह सकोगे।

सत्यानुभव और योगाभ्यास ही भय-निवृत्तिका साधन है। जबतक तुम्हें कहीं भय है तबतक तुम्हारी भक्ति भगवान्‌के प्रति दृढ़ नहीं है, आत्मामें निष्ठा और सत्यमें श्रद्धाकी दृढ़ताका अभाव है। यदि तुम सर्व-शक्तिमान् प्रभुकी शरणमें आ चुके हो, श्रीभगवान्‌के ही आश्रित होकर रहने लगे हो, पूर्णत्यागी तथा परम प्रभुके अनुरागी हो, पवित्र प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश पाकर निष्काम हो चुके हो तो निस्सन्देह तुम्हें अभय होना ही चाहिये। जिस प्रकार अच्छे तैरनेवालेको डूबने, अच्छे चढ़नेवालेको ऊपरसे गिरने, अच्छे मार्गज्ञाताको भूलने और अच्छे वीरको शक्ति-सामर्थ्यके रहते हुए परास्त होनेका भय नहीं रहता, उसी प्रकार सच्चे विरक्त, यथार्थ तत्त्वज्ञानी और पूर्ण प्रेमीको संसार-के शोषण, मायाके मोह-पाश और मृत्युका भय नहीं रहता है।

सभी प्रकारके भय सीमाके भीतर ही हुआ करते हैं; सीमाके ऊपर उठ जानेपर किसी भी प्रकारका भय नहीं रह जाता है। जहाँतक तुम्हारे सुख, मान, राग, संयोग और जीवनकी सीमा है वहाँतक दुःख, अपमान, द्वेष, वियोग और मृत्युका भय बना रहता है। सीमाके भीतर ही संघर्ष है। सीमाको पार कर लेनेपर शान्ति मिलती है, अभयपदकी प्राप्ति होती है।

जो सत्य है वह असीम है, उसके भीतर तुम्हें सीमाकी जो प्रतीति होती है वह मानी हुई है। तुम अपनी मानी हुई सीमाके परे उस असीमको जानो। जहाँ कहीं सीमाके भीतर संकट उपस्थित हो, वहीं तुम सीमाके बाहर असीमकी शरण लो, तुम निस्सन्देह अभय होकर रह सकोगे। एकमात्र परमात्माका आश्रय लेकर सभी प्रकारके भयको जीत लो। वे वस्तु तुम्हारी नहीं हैं जिनका आश्रय लेनेके कारण भय लगता है, तुम किसी भी वस्तुके पीछे भयभीत न बनो। अभय होकर ही तुम आत्माके दिव्य गुणोंका विकास कर सकोगे। अभय होनेसे ही सत्य-धर्मके पथमें प्रगति होती है और नम्रतासे रक्षा होती है। निर्भयता और नम्रताके बीचमें ही सभी सद्गुणोंका विकास होता है।

रन्तिदेवकी प्रार्थना

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भागवत ९।२१।१२)

मैं ईश्वरसे अष्टसिद्धियोंसे युक्त परागति नहीं चाहता, न पुनर्जन्मराहित्य (मोक्ष) ही चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि समस्त दुःखसन्तप्त जीवोंके सारे दुःख मुझमें आ जायँ और मैं अन्तःप्रविष्ट होकर उनके दुःखोंको ग्रहण करूँ, वे सब दुःखोंसे छूट जायँ।

किसकी सेवा करनी है ? ईश्वरकी या धनकी ?

(लेखक—श्रीलेवेल फिल्मोर)

स्मरण रखिये—प्रत्येक व्यक्तिको अपने जीवनके सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नका निर्णय स्वयं करना चाहिये। वह है—'मैं किसकी सेवा करूँ, ईश्वरकी या धनकी ?'

दूसरा कोई तुम्हारे लिये इसका निर्णय नहीं कर सकता। दूसरेलोग तुम्हें इस सम्बन्धमें पर्याप्त सम्मति दे सकते हैं, किंतु अन्तिम निर्णय तो तुम्हें स्वयं ही करना पड़ेगा। संतोंने चेतावनी दी है कि एक म्यानमें दो तलवारें नहीं समा सकतीं। ईश्वर और धन दोनोंको आराध्य मानकर उनकी हम साथ-साथ सेवा नहीं कर सकते।

भक्तोंको किस रूपमें परम पिता भगवान्की सेवा करनी चाहिये, संत इसके लिये ज्वलन्त उदाहरण हैं। तत्त्वत: प्रत्येक व्यक्ति भगवान्का अंश है; किंतु बहुत ही कम लोग इस सत्यका अनुभव करते हैं। अधिक लोग तो यही सोचते हैं कि वे बुद्धिसम्पन्न चेतन भौतिक जीवमात्र हैं; परंतु संतोंने भगवान्के साथ तदाकारता स्थापित की और जगत्में यह प्रदर्शित करनेके लिये कि किस प्रकार भौतिक जगत् भगवान्के भक्तोंके साथ सम्पर्कित है, वे जगत्के लोगोंके बीच रहे।

मनुष्यको भौतिक शरीर दूसरे मनुष्योंके साथ अपने व्यवहारसे अपनी भगवदंशता सिद्ध करनेके लिये प्राप्त हुआ है। हमारा यह देह आवश्यक एवं उत्तम है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि हममेंसे बहुत-से लोग जीवनके भौतिक स्वरूपपर मुग्ध हो गये हैं और उन्होंने अपनी भगवदंशताको विस्मरण कर दिया है तथा इस प्रकार भगवदीय शक्तिसे प्राप्त प्रेम और स्फूर्तिके जीवनमें प्रवेश करनेके द्वारपर उन्होंने ताला लगा दिया है। वे भौतिक पदार्थोंके अहंकारी दास और भौतिक ऐश्वर्यकी गुलामीमें ही जीवन बिताते हैं।

भौतिक पदार्थ बुरी चीज नहीं हैं, उत्तम हैं। परंतु वे जीवनमें भगवान्का स्थान नहीं ले सकते। उनकी सृष्टि हमारी सेवाके लिये हुई है, न कि हमपर प्रभुत्व करनेके लिये। हम जब भगवान्की सेवा करते हैं, उन्हें सच्चे हृदयसे प्रेम करते हैं, तब भौतिक पदार्थ अपने आप ही हमारे जीवनमें यथास्थान स्थित हो जाते हैं। अर्थात् अपने उचित कार्यमें लग जाते हैं।

पृथ्वीपर रहते हुए ही भगवान्के साम्राज्यमें रहना, यह प्रत्येक व्यक्तिका अधिकार है। संत लोग पृथ्वीपर दिव्य राज्यके स्थापनकी बातपर विश्वास करते हैं। जब हम भगवदिच्छाको अपने जीवनमें सक्रिय होने देते हैं, तब हम अपनेको दिव्यराज्यमें स्थानान्तरित कर देते हैं और उस समय अपने अधिकारपूर्ण पदको प्राप्त कर लेते हैं; क्योंकि हम संतोंके साथ दायभागके अधिकारी बननेके लिये भेजे गये हैं। संतके वचन हैं—'अरे मन्द श्रद्धालु ! यह सोचकर चिन्ता न कर कि मैं क्या खाऊँगा, क्या पहनूँगा, किससे शरीरको ढकूँगा;—इन सब वस्तुओंकी चिन्ता भगवान्के पार्षद कर रहे हैं, क्योंकि परमपिता जानता है कि तुझे कब किन वस्तुओंकी आवश्यकता है। परंतु पहले तू उसके साम्राज्यकी तथा उसके धर्मकी खोज कर, ये वस्तुएँ अपने-आप तुझे प्राप्त हो जायँगी।'

जब हम भगवत्साम्राज्यकी खोज करते हैं, तब सर्वप्रथम हम धनके स्थानपर भगवान्की सेवा करके अपने जीवनमें भगवदीय नियमकी स्थापना करते हैं। मनुष्यको तुच्छ विषयोंका दास क्यों बनना चाहिये जब कि यह सम्भव है कि वह भगवान्का पूर्ण उत्तराधिकारी बन सकता है तथा इन समस्त वस्तुओंपर शासन कर सकता है। जबतक मनुष्य भौतिक पदार्थों तथा मानवी-इच्छाओंको आध्यात्मिक शक्तिमें प्रतिरोध करने देता है और इस प्रकार अशान्तिको प्राप्त होता है तबतक यह निश्चय मान लेना चाहिये कि वह भगवद्दत्त अधिकारको प्रयोगमें नहीं ला रहा है तथा अपने आसपासकी वस्तुओंपर प्रभुत्व नहीं कर रहा है।

धनकी दासता करनेवाले तथा भगवान्‌की दासता करनेवालेके मार्गमें बड़ा अन्तर है। धनका दास निरन्तर आत्मप्रशंसा तथा जागतिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील रहता है। कुछ लोगोंको आजीविकाके लिये एड़ीसे चोटीतक पसीना बहाना पड़ता है, जब कि कुछ भोगोंसे घिरे हुए हैं। परंतु किसीको तृप्ति नहीं है—आत्माकी भूख बनी हुई है। चाहे मनुष्य छल, कपट, चोरीद्वारा आगे बढ़नेकी चेष्टा करे, चाहे क्रोध तथा घृणामें भरकर एक मिट्टीके खिलौनेके लिये झगड़ा करते हुए एक-दूसरेको नष्ट करनेका प्रयत्न करे, चाहे दूसरोंसे ईर्ष्या कर उन्हें क्लेश पहुँचावे, चाहे अभिमानी एवं दुराग्रही बने, चाहे भौतिक अधिकार, प्रशंसा तथा सम्मानके लिये लालायित रहे और चाहे भौतिक वस्तुओं-को लेकर लालची, अक्षमाशील, चिन्तित एवं अशान्त बना रहे, उसको कभी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती; क्योंकि जिस धनको उसने अपना स्वामी मान रक्खा है उसके पास इन सब व्याधियोंकी कोई औषध है ही नहीं।

इसके विपरीत भगवान्‌का सेवक भौतिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे या क्षतिसे प्रभावित नहीं होता है। वह निरन्तर प्रसन्नचित्त, निःशंक एवं संतुष्ट रहता है। वह भगवान्‌की सन्तानके उपयुक्त नीति-नियमका पालन करता है। भगवान्‌के साम्राज्यमें उसकी सब सन्तान क्षमा और प्रेमकी अधिकारिणी हैं; यहाँतक कि शत्रु भी प्रेमका पात्र है। भगवान्‌का सेवक इस बातके लिये चिन्तित नहीं रहता कि वह क्या खायेगा, क्या पीयेगा और क्या पहनेगा। वह सदा विनयशील रहता है, वह उदार-चित्त रहता है; वह कष्ट सहन करके भी आवश्यकता पड़नेपर पुनः एक मील और जा सकता है। वह अपने अन्तर्हृदयसे ईश्वरको प्रेम करता है तथा अपने पड़ोसीको अपने समान ही समझता है।

क्या इसका यह अर्थ है कि धनके लोभी गुलामों-द्वारा भगवान्‌का सेवक ठगा जाता है और उसे अपने उत्तम कार्योंका कुछ भी पारिश्रमिक नहीं प्राप्त होता? नहीं, निःसंदेह ऐसी बात नहीं है। वह सबसे अधिक समृद्धिशाली है; कोई भी उससे बढ़कर सुखी नहीं है। क्योंकि वह शान्ति एवं सम्पन्नताके मार्गमेंसे होकर जा रहा है, जो उसके प्रेममय प्रभुके दासद्वारा, जिसने सब उत्तम वस्तुएँ प्रदान की हैं, बनाया हुआ है। वह अनुभव करता है कि भगवत् साम्राज्यका सुख किसी भौतिक विषयपर अपेक्षित नहीं है, वह तो भगवत्प्रेमसे ही प्राप्त होता है।

जगत्‌की वस्तुओंमें सृजन-शक्ति नहीं है। भगवान्‌ने सुखका सृजन किया और उसकी सन्तान उसके साम्राज्यमें इसका प्रचुरतासे उपभोग करती है। जो मनुष्य अपने आन्तरिक साम्राज्यमें सुख अनुभव करता है, वह अपने व्यवहारमें भी इसे प्राप्त कर सकता है और फिर वह चाहे जिस कार्य एवं परिस्थितिमें रहे, सुखी रहता है।

जो अपनी इच्छाओंकी पूर्तिमें या धनकी प्राप्तिमें सुखकी खोज करता है, उसे निराशा ही हाथ लगेगी। जो भगवान्‌की सेवा करता है वह प्रतिक्षण उस परम पिताद्वारा, जो अपने सेवकोंके नित्य साथ रहता है और उन्हें सुख एवं प्रसन्नतासे परिपूर्ण रखता है, पुरस्कृत होता रहता है। ऐसे व्यक्तियोंको लोक-प्रशंसा आदि अन्य पुरस्कारकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि उन्होंने पहलेसे ही परमपितासे अपना पुरस्कार प्राप्त कर लिया है। परम पिताके आशीर्वादके अतिरिक्त उन्हें अपने साथियोंसे भी शुभकामना एवं धन्यवाद मिलते हैं, क्योंकि उत्तम कार्यका सदैव आदर होता है। जो दूसरोंको आशीर्वाद देता है, उसे अवश्य आशीर्वाद प्राप्त होता है—यह बीज-फल-न्यायसे सिद्ध है।

जब हम भगवान्‌की सेवा करते हैं तो उससे मनुष्य-जातिकी सेवा हो जाती है और बदलेमें हम उसकी सेवा प्राप्त करते हैं।

यदि कोई आज धनका गुलाम बना हुआ है तो इसका अर्थ यह नहीं कि कल भी उसे इसकी सेवा करनी पड़ेगी। वह इसी क्षण परिवर्तन कर सकता है

और भगवान्‌की सेवा कर सकता है। भगवान् उस व्यक्तिको, जो अपने मनमें परिवर्तन कर परम पिताकी ओर मुड़ता है, सदैव क्षमा करनेके लिये तत्पर रहता है। संतोंके जीवनसे यह सिद्ध है कि जब उन्होंने उस परम पिताकी ओर अपना मुँह किया, तब उन्हें बहुत स्नेहपूर्ण स्वागत मिला।

निस्सन्देह, जो व्यक्ति अपने लिये क्षमा चाहता है, उसे पहले उनको क्षमा कर देना चाहिये जिन्होंने उसके विरुद्ध आचरण किया है। प्रत्येक व्यक्ति भगवदीय नियमके अनुसार आचरण करके उसे अपने जीवनमें सक्रिय होनेका मार्ग खोल सकता है। उदाहरण-के रूपमें जब वह दूसरोंको क्षमा कर देता है, तब वह स्वयं भी क्षमा प्राप्त कर लेता है।

जो कुछ भी तुम दूसरोंके साथ करते हो वह तुम्हारे जीवनमें भगवदीय नियमकी अभिव्यक्तिके लिये आदर्श बन जाता है। आशीर्वाद दो, तुम्हें आशीर्वाद मिलेगा। शास्त्रका वचन है—'दूसरेकी आलोचना मत करो, तुम्हारी भी आलोचना नहीं होगी; किसीपर दोषारोपण मत करो, तुमपर भी दोषारोपण नहीं होगा; दूसरोंको मुक्त करो, तुम भी मुक्त हो जाओगे, दूसरोंको उत्तम वस्तुका दान करो, तुम्हें भी वही वस्तु प्राप्त होगी और अत्यन्त प्रचुर मात्रामें होगी।

प्रसन्नताके साथ भगवान्‌की सेवा करो, तुम्हें उस परमपिताका मुक्त-हस्त आशीर्वाद मिलेगा। अतएव आज ही नवीन उत्साह एवं तत्परताके साथ भगवान्‌की सेवा करनेका निश्चय करो।

आवागमन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
(गीता १५।८)

'हरि हरि' चौंककर महर्षि देवल पीछे हट गये। एक विन्दु जल निकला होगा उसके शरीरसे। कुछ पैरोंमें लगा और थोड़ेसे रजःकण गीले हो गये। एक तुच्छ कीट पैरोंसे कुचल गया था। ऋषिने झुककर देखा, अस्थिहीन कीटका एक भाग पिस गया था। उसमें जीवनके कोई लक्षण नहीं थे।

'मेरे द्वारा यह हत्या क्यों हुई?' आजकी बात छोड़ दीजिये। आज तो मनुष्य मनुष्यके रक्तका प्यासा पिशाच हो गया है। आजके बच्चे क्षुद्र जीवोंको मारकर अपना मनोविनोद करते हैं। मनुष्यकी रसनाकी तृप्तिके लिये लाखों-लाखों पशु-पक्षी नित्य मारे जाते हैं। वह युग ही दूसरा था। नित्य सावधान, पैरोंसे दो हाथ आगेतक ही देखकर चलनेवाले ऋषिसे सहसा हिंसा हो जाय, यह छोटी बात नहीं थी। एक सहज घटना कहकर अपने प्रमादोंको क्षमा करना मनुष्यने सीखा नहीं था।

'इसकी अकाल-मृत्यु हुई!' ऋषिने ऊपरकी ओर देखा। उनके भालपर चिन्ताकी रेखाएँ स्पष्ट हो गयीं। 'क्या प्रकृतिमें कहीं व्यतिक्रम हो रहा है?' आज जब अधिकांश प्राणी रोग, आघात तथा युद्धके द्वारा अकाल ही मरण पाते हैं, हमारे लिये 'शतं जीवी' स्वाभाविक आयुका पुरुष ही आश्चर्यका विषय हो गया है। जगत्‌में कोई व्यतिक्रम न हो तो कोई प्राणी अपनी पूरी आयु भोगनेसे पूर्व नहीं मरेगा, यह हम समझ नहीं सकते।

'अब इस जीवयोनिमें स्रष्टा पूर्ति करेंगे! व्यतिक्रम बढ़ता जायगा!' जैसे महर्षि प्रकृतिकी भाग्यलिपि पढ़ रहे हों। एक क्षुद्र कीटका जीवन भी तो समष्टिका अङ्ग ही है। शरीरमें कहीं काँटा लगे, व्यथा तो पूरे शरीरमें व्याप्त होगी। उस कीट-योनिके जीवोंका एक प्राणी समयसे पूर्व मरा अतः नियमतः उसमें एक कीट समयसे पूर्व उत्पन्न होगा। प्रजनन तथा जीवके कर्मभोगमें यह परम्परा पता नहीं कहाँ-तक अपना प्रभाव डालेगी। आजकी कीड़ों-सी उत्पत्ति और पतंगों-सी मनुष्यकी मृत्युका रहस्य जैसे उसी समय प्रकट हो गया हो।

'मैं निमित्त क्यों बनाया गया ?' जिसके मनमें कभी रोष न आया हो, जिसने मनसे भी किसीका अनिष्ट कभी न सोचा हो, अनजानमें भी उससे हिंसा क्यों होनी चाहिये ? सृष्टिकर्ता प्रमाद नहीं करते; पर एक सर्वथा सावधान निर्दोष तपस्वी अनर्थोंकी परम्पराका निमित्त बन गया था और इसमें उसकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। कीटको इसी प्रकार मरना था तो क्या सृष्टिमें दूसरे निमित्तोंका अभाव था ?

महर्षिने स्नान किया सरस्वतीके पावन जलमें। कौपीन अभी आर्द्र ही था। एक बार स्नान करके भगवान् सूर्यको अर्घ्य निवेदित करके वे हवनके लिये आश्रमकी ओर जा रहे थे। मार्ग स्वच्छ था। वे पूर्णतः सावधान थे। अवश्य ही किसी पत्तेपरसे वह कीड़ा नीचे उस समय गिरा जब महर्षिका पैर आगेको उठ चुका था। महर्षि असमंजसमें पड़े। उन्होंने लौटकर पुनः स्नान किया। आज मन जपमें लग नहीं रहा है।

'इसे जीवन दे दूँ !' बहुत सीधी सरल बात थी। कमण्डलुसे दो बिन्दु जल उसके ऊपर टपकेंगे और वह फिर रेंगने लगेगा। स्नानसे लौटकर महर्षि फिर उस कीड़ेके पास ही रुक गये। वे झुककर उसे ध्यानसे देखने लगे।

'इन पिपीलिकाओंका आहार छिन जायगा !' कीड़ेके कुचले भागमें दो-तीन चींटियाँ लग गयी थीं। उनकी संख्या बढ़ती जा रही थी। ऋषि देखते रहे। चींटियोंने कीड़ेको उठा लिया। वे उसे एक ओर ले चलीं।

'कितना श्रम करती हैं ये !' चीटियोंके लिये तो वह भारी ही था। कई बार उनमेंसे कोई चींटी उसके नीचे दबी। अनेक बार वह लुढ़क जाता। नीची-ऊँची भूमिमें उसे उतारना-चढ़ाना सहज नहीं था। चीटियोंकी संख्या बढ़ती गयी। कीड़ेके ले जानेकी गति भी उनकी बढ़ती ही गयी।

'मैं अपहरण नहीं कर सकता !' सृष्टिमें एकको दान दूसरेके लिये अपहरण बनता है। एकका सुख दूसरेके दुःखका कारण होता है। यहाँ तो कोई कार्य ऐसा किया ही नहीं जा सकता जो अपने आपमें निरपेक्ष हो। ऋषि देखते रहे। कीड़ेका शव चींटियोंने दूर पहुँचा दिया। वह तृणमें अदृश्य हो गया।

'यह हत्या और इसकी विकृति !' केवल इस क्षुद्र दुर्घटनाका कोई महत्त्व न था। उसमें कोई पाप नहीं हुआ था। उसका प्रायश्चित्त जैसा कोई कर्म आवश्यक नहीं था। किंतु विश्वमें यह जो विकृतिका श्रीगणेश हो गया—परिमार्जन उसका तो होना ही चाहिये। कोई-न-कोई अज्ञात दोष भी होना चाहिये, जिससे कोई अनजानमें ही सही किसीके अपकार, कष्ट या मृत्युका हेतु हो। महर्षिको अपना वह दोष दीख नहीं पड़ता।

'कर्म-निर्णेता ही इसका ठीक निर्णय करेंगे !' जीवके लिये यमपुरी भयङ्कर हो सकती है और जीवित मानवके लिये अगम्य भावलोक; पर महर्षिके लिये वह एक स्थान मात्र है, जहाँ वे कुछ क्षणोंमें ही पहुँच जायँगे। अवश्य ही उनकी यात्रा हवनके पश्चात् ही होगी। इस कीड़ेके कारण आज हवनकालका अतिक्रम हो रहा है।

[२]

'स्थूल शरीर अन्नमय है। अन्न तो सड़ेगा ही !' यमराजकी संयमिनी पुरीमें महर्षि देवल सिंहासनपर आसीन थे। धर्मराज हाथ जोड़े खड़े थे। महर्षिकी अर्घ्य-पाद्यादिसे अर्चा समाप्त हो चुकी थी। 'जब आवश्यकता होती है किसीके कर्म समाप्त हो जाते हैं शरीर-भोगके, तब स्थूल शरीर किसी-न-किसी निमित्तसे नष्ट हो जाता है !'

'इस प्रकारके नाशमें एक तापसको निमित्त बनानेमें भी आप संकोच नहीं करते !' कीड़ेका शरीर चींटियोंका अन्न हो गया, यह तो महर्षि देख ही चुके थे। यह बतानेकी भी कोई आवश्यकता नहीं थी कि प्रत्येक जीव अपने ही कर्मका फल भोगता है। यह तो मुख्य प्रश्नको टालनेकी बातें हैं। उन्होंने धर्मराजकी ओर देखा 'इस आदियुगमें ही जीवोंके कर्म ऐसे होने लगे हैं कि वे अपनी पूर्णायु भोगसे पूर्व ही शरीर छोड़नेपर विवश हों ?'

'एक रात्रिके पूर्व जब आपने सायंकालीन आहुतियाँ निवेदित कीं, कुछ कण मन्त्रपूत साकल्यके बाहर गिर पड़े !' धर्मराजने कारण स्पष्ट किया।

'अबोध कीट यदि उन कणोंका कोई अंश सहज ही पा गया तो उसका अपराध क्या ?' महर्षिका सन्तोष उत्तरसे हुआ नहीं था।

'मन्त्रपूत साकल्यकी शक्ति कृमिदेह वहन करनेमें असमर्थ था !' एक परम तापसने जिस शुद्धतम हविष्का संचय किया, श्रुतिके साङ्ग शुद्ध मन्त्रोंसे जिसको अभिमन्त्रित किया गया, उस द्रव्यकी प्राण-शक्ति महनीय होनी ही

चाहिये । 'कीट-शरीरसे जीवने वह प्राणशक्ति उपलब्ध करके उन्नति की । जैसे ही उस अन्नका पाचन हुआ, शरीर उसकी शक्तिको धारण करनेमें असमर्थ हो गया !' आदियुगमें जीव अकालमें शरीर त्याग करनेको सामान्यतः विवश नहीं होता; किंतु सत्त्वके युगमें सत्त्वगुणका उत्कर्ष उन्नतिके लिये क्षुद्र शरीरकी पूर्णायुके बन्धनमें रहे, ऐसा नहीं हो सकता ।

'प्रमादका दण्ड प्रमाद है ।' महर्षिने स्वतः कहा । यज्ञीय अग्निमें अर्पित करनेके लिये अभिमन्त्रित हविका कोई कण बाहर गिर पड़े, यह प्रमाद हुआ था और इसी प्रमादने उस कीटके शरीरके नाशमें उन्हें निमित्त बनाया था । एक असत्यको छिपानेके लिये जैसे झूठकी परम्परा चलती है, वैसे ही प्रमादकी परम्परा थी यह ।

'अनजानमें भी उसने आपके प्रति ही अपराध किया था !' धर्मराजने इस प्रकार मस्तक झुकाया जैसे महर्षिने जो कुछ कहा, वे उसका समर्थन कर रहे हों ।

'उसका हुआ क्या ?' जिसका किसी भी प्रकार अपनेसे संग हो गया, उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो 'सतां सप्तपदी मैत्री' का अर्थ ही क्या रहे ।

'स्थूल शरीरके साथ उसकी असमर्थता नष्ट हो गयी । अपनी ज्ञानेन्द्रियों और मनके साथ अनुभूतिके क्षेत्रमें वह स्वतन्त्र हो गया ।' शरीरके साथ शरीरके रोग, असमर्थता, अल्पता आदि दोष तो नष्ट हो ही जायँगे । प्रश्न तो यह था कि मनके विकार, दोष तथा पूर्व कर्मोंने उस जीवकी क्या अवस्था की । धर्मराज कदाचित् अपनी व्यवस्थामें बाधा पड़नेकी सम्भावनासे ही बात टाल जाना चाहते थे ।

'अनुभूतिके क्षेत्रमें कहाँ ?' महर्षिने सीधे ही पूछा । स्वर्ग और नरक दोनों ही तो स्वतन्त्र अनुभूतिके क्षेत्र हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके साथ काल्पनिक (मानसिक) सुख तथा दुःख दोनोंकी चरम सीमा इनमें उपलब्ध होती है 'वह स्वर्गका उपभोक्ता रहेगा कुछ कालतक ।' हविष्यकी पावन शक्तिका सुखोपभोग स्वर्गमें ही उपलब्ध हो सकता है ।

'मैं उसे अपना समस्त पुण्य-प्रदान करता हूँ ।' हाथमें जल लेकर महर्षिको सङ्कल्प करते देर न लगी । क्यों कुछ काल ही वह बेचारा स्वर्गमें रहे । वह क्यों न स्वर्गका ही अखण्ड उपभोग करे ।

'अभागा प्राणी !' धर्मराजने प्रसन्नता प्रकट नहीं की ।

'क्यों ?' महर्षि चौंके । कहीं प्रमादोंकी परम्परा चलती ही तो नहीं जाती है ।

'कालका कोई अर्थ नहीं । वह अधिक-से-अधिक कल्पपर्यन्त अमरावतीका उपभोक्ता रहेगा !' कल्प और क्षण जिनके लिये समान हैं, जो कालके मिथ्यात्वके साक्षी हैं, उनके लिये पुण्य-दानका दृश्य प्रोत्साहक नहीं हो सकता था ।

'और एक तापस दे भी क्या सकता है !' महर्षिने खिन्न स्वरमें उस लोकनिर्णायककी ओर देखा । सचमुच ही अपने दानकी तुच्छता उन्हें प्रतीत हो रही थी ।

'मर्त्यलोक ही उन्नतिका क्षेत्र है !' धर्मराजको केवल स्मरण दिलाना था ।

'मैं आपका अभ्यागत हूँ !' ऋषिने याचनाके स्वरमें कहा । 'मुझे कुछ देंगे नहीं आप ?'

'मेरा सौभाग्य !' एक त्रिलोकवन्दित महर्षिकी सेवा हो सके, यह तो देवराजके लिये भी सौभाग्यका ही सूचक होगा । ऐसा अवसर धर्मराज कहीं छोड़ सकते हैं !

'मैंने उसे केवल पुण्य ही प्रदान किये हैं, कर्मयोनिमें आने दीजिये उसे !' अपने लिये उन पूर्णकामको कुछ न माँगना था और न उसकी कोई सम्भावना थी ।

'मैं केवल कर्मोंकी व्यवस्थामात्र करनेकी शक्ति रखता हूँ !' धर्मराजने मस्तक झुका लिया । यदि वे किसीको मनुष्ययोनि देनेमें समर्थ होते, तो देवता स्वर्गकी अपेक्षा भारतभूमिमें रहनेको कबसे उत्कण्ठित हैं । 'वह एक मन्वन्तर अमर भोगोंका आनन्द लेनेके पश्चात् ही मानव हो सकता है !'

× × ×

[३]

'जैसे पुष्पसे वायु अपने साथ सुगन्ध ले जाता है, वैसे ही जीवके साथ मन तथा इन्द्रियाँ भी जाती हैं ।' महर्षिने उसे समझानेका प्रयत्न किया ।

'गन्धहीन वायु तो ठीक, पर मन-इन्द्रियोंसे रहित जीव कैसा ?' आज वह पहली बार किसीकी बात सुननेको उद्यत हुआ । विषयोंसे प्राप्त सुख ही उसके लक्ष्य रहे हैं । न्याय-अन्यायकी बात दुर्बल सोचें । उसके पास शक्ति है, सम्पत्ति है, स्वास्थ्य है, फिर वह उपभोग क्यों न करे; पर है वह बुद्धिमान् । कोई भी नवीन बात सुनने-समझनेमें उसे आनन्द आता है । आज जो यह जटाधारी साधु आया

है, पता नहीं क्यों उसकी श्रद्धा हो चली है इसमें। बेकार रहकर समाजपर भार बननेवाले इन साधुओंसे उसे सदा घृणा रही है। आज उसे एक विलक्षण साधु मिला है, जो कुछ माँगता नहीं। भोजन करनेका आग्रह भी स्वीकार नहीं करता। ऐसे साधुकी बात तो सुननी ही चाहिये। उसने अपनी शङ्का और स्पष्ट की—'बहिरे लोग सुन नहीं पाते। अन्धे देख नहीं पाते। मूर्ख सोच नहीं पाते। मरनेपर कुछ नहीं होता।'

'तुमने शरीरके गोलकोंको ही इन्द्रियाँ माना है।' महर्षि क्या करें। कलियुगके इस विषयी मानवसे उन्हें आज उलझना पड़ा है। यह मुक्त हो जाय तो प्रमादकी परम्परा समाप्त हो। स्रष्टाके कर्म-विधानमें हस्तक्षेप सदा प्रमादसे ही होता है। वे सर्वेश्वर करुणासिन्धु जिस जीवके लिये जो विधान करते हैं, उसके लिये वही ठीक है। एक कीड़ा किसीका पुण्यदान प्राप्त करके जब स्वर्ग भोगकर कर्मयोनिमें आवेगा, वह विषयी हो जायगा; अपने पतनका मार्ग उन्मुक्त करेगा, यह तो मनमें ही आनेकी बात नहीं थी। पिताकी उपार्जित सम्पत्ति पुत्रको प्रायः व्यसनी बना देती है, यह तो अब ध्यानमें आ रहा है। अब तो इस परम्पराको जो इस जीवसे जुड़ गयी है, समाप्त करके ही छुटकारा है। ऋषिने समझाया—'तुम्हारे ये प्रकाश-यन्त्र यदि नष्ट हो जायँ तो प्रकाशिका-शक्ति रहेगी या नष्ट हो जायगी?'

'मैं दूसरा बल्ब लगा दूँगा। विद्युत् तो रहेगी ही!' बात उसकी समझमें आ रही थी। लेकिन ये नाक, आँख, कान आदि यन्त्र हैं तो इनकी शक्ति?

'स्वप्नमें भी तुम देखते, छूते, खाते हो!' उसे समझाया गया। 'उस समय इन्द्रियाँ बाहरी यन्त्रोंसे सम्बन्धित नहीं होतीं। अतः बाहरी पदार्थोंका ज्ञान तथा उपभोग नहीं होता। मानसिक ज्ञान होता है उन्हें।'

'कदाचित् अन्धा भी मनमें रूपकी कोई भावना करता होगा और बहिरा शब्दकी।' उसने मनन किया।

'जैसे स्वप्नमें तुम्हें तब भी कोई रोग नहीं होता, जब बाहर ज्वर आता है!' बात स्पष्ट ही कही गयी, पर अर्थ कुछ और हो गया। वह चाहे साधुओंको माने या न माने; परन्तु अनेक बार भय तो उसे लगता ही है। बड़ी आतुरतासे बोला—'आप मुझे बीमार होनेका शाप न दें।'

'मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे मानसिक रोग भी दूर हो जायँ!' महर्षिने आश्वासन दिया। 'मेरा तात्पर्य इतना ही है कि इस शरीरके सुख या दुःख जैसे स्वप्नमें नहीं रहते, वैसे ही मरनेपर शरीरकी त्रुटियाँ—अन्धापन आदि भी साथ नहीं जाता।'

'मैं मरनेकी इच्छा नहीं रखता!' ऋषि शाप देंगे, यह भय न होनेपर भी उसने स्पष्ट बता देना ठीक समझा। ये साधु पता नहीं कैसे परीक्षण करने लगे। 'मन तथा इन्द्रियोंसे भिन्न कुछ है, यह बात क्या बिना मृत्युके समझी नहीं जा सकती?'

'तुमने स्वयं कहा है कि निद्रामें कुछ नहीं रहता।' इस शङ्काको स्थान नहीं रहने देना था कि तब मृत्युमें भी मन आदि न रहेंगे। मृत्यु महानिद्रा है; परंतु निद्रामें शरीर श्रान्त हो जाता है, अतः मन-इन्द्रियाँ सो जाते हैं। मृत्युमें शरीरकी श्रान्ति न होनेसे ये जगते रहते हैं। निद्रामें जो मन आदिके सो जानेपर भी जाग्रत् रहकर श्वास एवं जीवनको चलाता है, वह तो मृत्युमें भी रहता ही है।'

'आपकी बात ठीक हो सकती है।' कुछ सोचा उसने परंतु वायु जहाँसे जायगा, वहाँकी गन्ध उसमें स्वतः आ जायगी। जीव भी मन-इन्द्रियोंके साथ जहाँ जायगा, वहाँकी प्रकृतिके अनुसार व्यवहार करेगा।

'तुम अपनेको वायुके समान जड़ नहीं मान सकते।' महर्षिने कुछ प्रसन्न होकर कहा—'अवश्य ही सामान्य दृष्टिसे अपने पुराने अभ्यासोंसे पुरुष विवश जान पड़ता है, पर वह उन्हें छोड़ सकता है। अपने कर्मोंके सम्बन्धमें और फलतः अपनी गतिके सम्बन्धमें वह स्वतन्त्र है। तुम समर्थ हो अपनी गतिको मोड़नेमें। कोई तुम्हें विवश नहीं कर सकता।'

सचमुच उसे पसंद नहीं कि कोई उसे विवश करे। वह सर्वथा स्वतन्त्र रहना चाहता है। कोई उसपर दबाव डाले, कोई उसे अपने संकेतपर चलावे, वह किसीके पराधीन रहे, यह कैसे सहा जा सकता है। उसने आश्चर्यसे देखा, जिसे वह सामान्य साधु समझ रहा था, वह तो सहसा अदृश्य हो गया। उसके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो गया। उसने अपनेको कुर्सीपर सम्हाला। दूर आकाशसे जैसे कोई कह रहा हो—'तुम मनके दास नहीं बन सकते। मन तुम्हें परतन्त्र करके नचावे, यह तुम्हारे लिये शोभास्पद नहीं!'

× × ×

[४]

'यह रसोइया मूर्ख है, इसने सागमें नमक ही नहीं डाला।' उसे रोष आया। रसोइयेको डाँटना चाहिये। निकाल देना चाहिये। अच्छा, तो मन चाहता है कि 'नमकहीन साग न खाया जाय। मैं रसोइयेपर बिगड़ूँ।'

उसने एक शब्द नहीं कहा मालिके सम्बन्धमें । रसोइयेको पुरस्कार मिलेगा यह बता दिया और आदेश दे दिया कि कलसे उसके किसी भोजनमें नमक या चीनी न पड़े । चीनी भी तो मनको अच्छी लगती है । वह मनका सेवक नहीं रहेगा । मनकी कोई बात नहीं मानेगा ।

'इस पत्रने आपकी निन्दा की है ।' मुनीमने बताया 'इसे हमारी ओरसे मिलनेवाली सहायता बंद हो जानी चाहिये ।'

'इसे उतनी ही सहायता और दे दो और लिख दो कि हमारे दोषोंको यह इसी प्रकार सूचित करता रहा तो यह सहायता मासिकरूपमें दी जायगी ।' मुनीम यदि आश्चर्यसे अपने तरुण स्वामीका मुख देखता रहे तो क्या उपाय । मनकी बात उसे करनी नहीं । 'मनने मुनीमका समर्थन किया तो उसके विपरीत निर्णय करना पड़ा उसे ।'

'मेरा बच्चा बीमार है, मुझे एक दिनकी छुट्टी मिल जाय !' डरते-डरते नौकरने कहा । 'घरमें उसकी औषधके लिये एक कौड़ी नहीं !'

'दूसरा नौकर अभी लौटा नहीं । इसे छुट्टी देनेपर घरका काम कौन करेगा ?' मन तो अपनी बात कहनेसे रुकनेवाला नहीं । 'यह पहलेसे एक महीने आगेका वेतन ले चुका है । इसे और नहीं देना चाहिये ।'

'तुम बच्चेके अच्छे होनेतक घरपर ही रहो !' नौकर तो डरा कि उसे निकाला जा रहा है । उसके स्वामी तो इतने उदार कभी न थे । 'डरो मत, तुम्हारा वेतन नहीं कटेगा । यह ले जाओ ! आवश्यकता हो तो और ले जाना !' उन्होंने एक नोट फेंक दिया उसकी ओर ।

'मालिक, यह दस रुपयेका है !' नौकरने समझा एक रुपयेका समझकर उसे यह नोट दिया गया है ।

'हाँ, दसका ही तो है !' वह हँस पड़े । मनके विपरीत प्रयत्नमें कितना आनन्द है । यह तो नवीन अनुभव हो रहा है । इस बेचारेको डाँटकर तो पता नहीं कबतक झल्लाहट ही रहती ।

आप मनुष्यका प्रयत्न कहिये या महर्षिकी कृपाका फल—स्थिति बदल गयी वहाँ । भोजनमें स्वाद आया और स्वादका कारण बदला गया । शय्या छूटी और भूमिपर सोने लगे । रेशमी वस्त्रोंका स्थान मोटे वस्त्रोंने लिया । लड़ना, झगड़ना, डाँटना सब गया । कहाँ तो संस्थाओं, सभाओंमें सम्मानित होनेके लिये प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रयत्न होते थे, कहाँ अब आग्रह करनेपर भी जाना नहीं होता । कोई गाली दे तो उसकी चिन्ता नहीं, कोई निन्दा करे तो अच्छा हुआ । कोई प्रशंसा करे तो उठ भागेंगे ।

मन—अन्ततः वह मनुष्यका ही तो मन है । उसने माँग करनी बंद कर दी धीरे-धीरे । जब कोई सदा किसीकी माँगसे ठीक उलटा कार्य करे तो उसके साथ माँगना कबतक चलाया जा सकता है । बेचारा मन—वह अपना हुआ तो क्या । इससे तो अच्छा होता कि वह दूसरेका होता । वह तो जैसे शून्य हो रहा है ।

लोग कहते हैं—'ये तो देवता हैं ! ऐसा त्यागी, तपस्वी, साधु क्या कहीं मिल सकता है ।' जिसे सेवा करने, श्रम करने, त्याग करनेमें ही सुख मिलता हो, जिसे अपनी हानि, अपना कष्ट, अपनी अप्रतिष्ठा व्यथित न करती हो, उसे क्या सामान्य मनुष्य कहा जा सकता है ?

उसे तो केवल मनकी बात नहीं माननी है । मनका दास नहीं होना है और सचमुच उसने एक समस्या खड़ी कर दी उस दिन, जब उसका अन्तिम समय निकट आया । मनने कहा—'आपने बहुत पुण्य किया है, आपको स्वर्ग मिलेगा !'

'स्वर्गमें तुम्हें सुख चाहिये न ? मैं नरक चलूँगा !' उसे तो मनकी बात करनी नहीं । वहाँ संयमिनीमें चित्रगुप्तने मस्तकपर हाथ दे मारा । किस पापके लिये, किस हाथसे वे उसे नरकमें जानेको कहें । धर्मराजके सम्मुख समस्या आ गयी !

'महर्षि ! आप अपने शिष्यको समझायें !' एकमात्र महर्षि देवल ही यमराजको इस समस्यासे मुक्त कर सकते थे । उनका सैंसा महर्षिके समीप तपोलोक जा पहुँचा ।

'आप फिर मुझे निमित्त बनाना चाहते हैं !' महर्षि हँसे । शिष्यके पास उन्हें आना पड़ा । 'वत्स ! तू नरक चाहता है ? पर वहाँ भी मनका ही तो भोग है ! मन और इन्द्रियाँ वहाँ भी तो साथ जायँगी ।'

'गुरुदेव !' उसने जिज्ञासा एवं श्रद्धापूर्वक देखा । शरीर उठनेमें असमर्थ हो चुका था ।

'तू समर्थ है ! कुछ मत चाह ! कोई इच्छा न कर ! छोड़ दे मनको और इन्द्रियोंको !' महर्षिने धर्मराजकी ओर देखा । वे रिक्तहस्त लौट रहे थे । मन-इन्द्रियोंसे ऊपर जानेवाला उनके साथ नहीं जाता ।

महामानवके दर्शन

(लेखक—निगम)

मैं कदली-दलकुञ्जायमान भवनके किनारे लटकते हुए कदली-फलोंके नीचेवाले लाल पुष्प-गुच्छोंकी मोहक मनोहारितापर मुग्ध हो रहा था। सहसा कौतुकवश एक कोमल, सुख-स्पर्श अत्यन्त कमनीय पत्तेको उठाया और चबाने लगा। थोड़ी देरमें मधुर पर स्वादहीन लुआबोंसे मेरा मुँह भर आया और मैं उसे थूकते हुए उन हरे-हरे लावदार थूकोंकी ओर निहारने लगा। अब मुझे अपनी सभ्यतापर बड़ी घृणा हुई। तत्काल पानी मँगाया और वहीं कुल्ला करने लगा। इतनेमें वंशीधर आये। एक करमें मधुर वंशी और दूसरे करमें एक सुन्दर श्वेत-पत्र था, जिसमें कि आधे दूरतक कुछ पतले लेखमें लिखा हुआ और अन्तमें हस्ताक्षर भी था।

उन्होंने कागज हाथमें थमाते हुए कहा—गुरुजी ! आपकी पुस्तकपर पूज्यवर महात्माजीने, जिनकी 'अमृत' नामसे यहाँ बड़ी ख्याति है, यह प्रशंसा लिख दी है।

मैं कुल्ला करनेका ध्यान भी भूल गया। ओठोंपर अभी हरियालीके चिह्न धुले भी नहीं थे कि मैं तौलियेसे हाथ पोंछकर वह पत्र पढ़ने लगा—

'यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रभावशाली है। इसका मनोरञ्जन भी एक महान् उद्देश्यकी पूर्ति करता है। पुस्तक सरल होते हुए भी अत्यन्त गम्भीर और उदार है। भाषा तो समन्तभद्र ही है। मैं इसके लेखकको जानता हूँ। अनेकों बार दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे मिला है। उनके व्याख्यानोंको सुना भी है। अत्यन्त हृदयग्राही वचन बोलते हैं। कम बोलनेपर भी ऐसी मार्मिक बातें कहते हैं कि सुनकर हृदय अतृप्त ही रह जाता है। आज मेरा अहोभाग्य है कि मैं ऐसी ऊँची पुस्तकपर कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। क्योंकि पुस्तकके भीतर भी वही कल्याण-गुण विराजमान हैं। इसके पढ़नेसे—आशा है—लोगोंके हृदयोंमें अपार उल्लास उठेगा और लोग आनन्दमें विह्वल हो-होकर धर्मका रुचिकर सेवन करेंगे।'

उसके उपरान्त नीचे 'अमृत' यह सुन्दर नाम लिखा हुआ था। मैं पढ़कर अवाक् हो गया और कुछ देरतक यों ही सोचता रहा कि यह मेरी किस पुस्तककी प्रशंसा है और वह क्यों की गयी है। मैं तो उस सज्जनको जानता भी नहीं। हृदयमें इस प्रकारकी उथल-पुथल होनेपर भी मैंने सोचा वह आगन्तुक विद्वान् और विचारशील प्रतीत होता है, स्वागत करना चाहिये। पास खड़े हुए मुरलीधरसे कहा—भतभद्र ! यहाँ खड़े रहो; बताओ वह मेरा वन्दनीय पुरुष कहाँ है ?

वंशीधरने अँगुली उठाते हुए, अँगड़ाइयाँ लेते हुए कहा—यहाँसे थोड़ी दूरपर उस उद्यानमें······

मैंने आगेकी बात अनसुनी कर दी, बीचमें ही कहा—तुम्हारी बड़ी कृपा हो, जाओ और जैसे हो—उस पुरुषको यहाँ लाओ। मैं निहार भी तो लूँ, वह कौन है, जिसकी मेरे नीरस व्याख्यानोंमें इतनी रुचि है !

वंशीधर तो अन्तर्धान हुआ और ओझल हो गया। मेरे मनमें आया। भई, इसका स्वागत किस ढंगका हो ! एक तो किसीको अपने घर बुलाओ मत और यदि बुलाना ही हो तो स्वागत तो अच्छा ही करो। मैंने सोचा, उसके लेखपर ध्यान गया—निश्चय, यह महात्मा-प्रकृतिका पुरुष है। बस, किसीको बुलाये बिना ही बाल्टी उठायी और पानी भरकर लाया। फिर एक हाथमें लोटा और दूसरेमें झाड़ू लेकर स्वयं अपना कमरा धोने पहुँचा। सारी पुस्तकें सजा दीं। पलंग बाहर निकाल दिया। कुर्सियाँ, मोढ़े—सब बाहर पहुँचे। मकड़ीके जाले जो इधर दो-तीन दिनोंसे इधर-उधर लटक रहे थे, उन्हें प्रथम स्वच्छ किया। फिर कमरेको धो दिया। धोने-पोंछनेके उपरान्त उस सदनमें सुगंधित पदार्थोंको लेकर हवन किया। अब क्या कहें, किसीका साहस भी नहीं होता था कि आज हो क्या रहा है !

मेरे कमरेसे बाहर सुगन्ध-श्री चू रही थी। इक्के-दुक्के करके बाहर मनुष्य विराजमान होते जा रहे थे। मेरी पवन-पान-कुशल खिड़कियाँ मुसकान भर रही थीं। पुस्तकें यथा-स्थान खिल रही थीं और सारा घर सुभाषित बन रहा था !

मैं सोचमें पड़ गया कि आज इस घरको क्या हो रहा है—जो इतना प्रसन्न है। आज मैं किस देवताकी पूजामें लगा हूँ ! आज वह कौन-सा पुरुष है, जिसके सत्कारमें अपने-आप यह घर भाग्यशाली बन रहा है !

इतनेमें कुछ मधुर ध्वनियोंके साथ कानमें कुछ भनक पड़ी। मैं अपनी सुधि-बुधि भूल रहा था और जिस दशामें था उसी दशामें बाहर आया। देखा—

वंशीधरके साथ एक श्वेत सुन्दर चादर ओढ़े अपूर्व मानव-पुष्प खिल रहा है! सुन्दर, सतेज मुँहसे कान्ति झर रही है! मेरी अञ्जलि सहसा जुड़ गयी और सिर नीचेको झुक गया। नवागतके लिये अपने-आप स्वागतकी ध्वनि और प्रसन्नतासूचक हर्ष आँखोंमें खिलकर रह गया!

वंशीधरसे उन्होंने कहा—आप ही हैं, आप ही हैं। ओह कितनी तन्मयता है प्रभु-भक्तिमें! कितना उल्लास है! वस्त्र गीले हो रहे हैं,-ओठसे नीली धार नीचेको बहकर सूख गयी है। फिर भी इस अल्हड़तामें एक अपूर्व यौवन है, एक साहसभरी आत्मा है, एक चिर-सुन्दर मस्तिष्क है!

मैं उनकी बातोंसे लजा गया। फिर भी हाथ जोड़कर अपूर्व आनन्दको मनमें छिपाये मैंने उनको भीतर आनेके लिये धीरेसे कहा। वे आगे बढ़े, मैं पीछे हो गया। हाय, वंशीधर कहाँ चला गया? अभी तो था, पर अब मैं अपनेमें उसे खो रहा था। सारा घर उस दैवी आत्मासे सजीव हो रहा था और मेरे हृदयमें तो वास्तवमें अमृत भर गया हो, इतनी शीतलता थी!

वह पुरुष बिछे हुए कुशासनपर बैठ गये और बैठते ही निर्वाक् होकर अन्तर्लीन हो गये। थोड़ी ही देरमें उन्होंने आँखें खोलीं और कहा—'आजका भोजन तुम्हारे साथ करेंगे, समझे न। एक मैं भी बढ़ गया।' मैंने सलज्ज वाणीमें कहा—यह आपका अपना घर है, ऐसा आप समझें और जिस किसी बातकी इच्छा हो व्यक्त करें। उन्होंने कहा—अब आप जाओ। हाथ-मुँह धो लो और वस्त्र बदल डालो। मैं अपनेपर पुनः लज्जित हुआ और बाहर आकर उद्यानकी क्यारीमें-जहाँ कि लोटा-बाल्टी, चौकी आदि पूर्वसे सब वस्तुएँ रक्खी रहती थीं—वहाँ पहुँचा। जान ऐसा पड़ता है कि आरम्भका स्वागत वंशीधरने ही कर दिया था! क्योंकि महात्माजी चलकर आये थे, फिर भी उनके हाथ-पैर धुले हुए थे!

मैंने भी कुल्ले किये। हाथ-मुँह धोया, फिर स्नान किया और नये-नये उजले वस्त्र धारण कर लिये। बस, अब तो मैं भी अच्छा जँचने लगा। फिर मैंने झाँककर महात्माजीकी ओर देखा। वे तो ध्यानमग्न थे। पासमें माताजी हाथ जोड़े मौन भावसे खड़ी थीं। मुझे बहुत बुरा लगा; क्योंकि उनके वस्त्र भी कुछ गीले, कुछ मटमैले हो रहे थे। वे भी चट बाहर आ गयीं और धीरेसे मुझसे पूछा कि–'भोजनमें कितनी देर है?'

मैंने कहा कि पहले अपने वस्त्रोंको तो देखो। उन्हें भी हँसी आ गयी। वे चट वहाँसे चली गयीं। मैंने सोचा—यहाँ इस पवित्र नगरमें बहुत-से भक्त रहते हैं। सज्जनोंके दर्शनाभिलाषी और विद्याके रसिक लोग रहते हैं। महाविद्यालयके यशस्वी छात्र और अध्यापक लोग रहते हैं। तो चलो—उन सबको यहाँ बुलानेके लिये पत्र लिख दें ताकि कोई यों न कहने लगे कि एक महान् उदय हुआ था और हम अन्धकारमें ही पड़े रहे। ओह—हम आँखें भी न खोल सके!'

मैं सोचने लगा कि 'क्या लिखूँ? मेरा तो कोई इनसे विशेष परिचय भी नहीं है।' फिर भी सोचा कि यह पुरुष महान् अवश्य है, इसपर अवश्य लोगोंका दृष्टिपात होना चाहिये।

मैंने लिखा—माननीय भवनके परम शिल्पकार एक सुख-स्पर्शी मनीषी पुरुष पधारे हुए हैं; यदि आपलोग उनके वचन श्रवण करें तो कृतार्थ होंगे। मैंने सोचा—इसे किसके हाथ भेजूँ? इतनेमें भीतरसे कुछ ध्वनि आयी, मैं भीतर पहुँचा। महाराजने कहा—खिड़कियाँ बंद कर देनी चाहिये।

उनके कहते ही सब खिड़कियाँ बंद हो गयीं। उन्होंने मुझसे कहा—'देखो, किसीको बुलानेकी आवश्यकता नहीं है—यहाँ मेरे पास बैठो।'

मैं वहीं बैठ गया। मेरी अञ्जलि उनकी ओरको हो गयी। तब उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—'जब तुम केलेकी पत्तियाँ चबा रहे थे, तभी तुम्हारा अन्तर्हृदय शुद्ध हो गया।' मुझे तो यह सुनते ही लज्जाके मारे काठ मार गया। बस, लज्जित और कातर आँखोंसे मैं उनकी ओर निहारने लगा। अब उन्होंने एक चुटकी और ली—'ओहो, कैसे दमक रहे हो!'

आगपर दूध गरम हो रहा था। भीतरसे बार-बार उफान उठता था, पर महात्माजी रह-रहकर जल-कणकी फुहारोंसे भरी हुई शीतल वाणीकी छिटकारी मार देते थे। सारा हृदय उल्लसित पर संकुचित हो रहा था—मानो अरविन्द खिल जानेके लिये आपेसे बाहर हो रहा हो, पर कोमल-कातर पँखुड़ियाँ उसके अमल मकरन्दको बाहर जानेसे रोक रही हों। ओहो! तभी तो चित्त-वृत्तियाँ मधुमक्खियोंकी भाँति आकर डटी हुई थीं। मकरन्दतक पहुँचनेके लिये विकल ऋतुराजके सिपाहियोंमें कर उगाहनेकी अपूर्व कुशलता।

मैंने फिर अन्तर्मनसे बाहर झाँका। महात्माजी बड़ी सुन्दर आँखोंसे मुझे निहार रहे थे। मैं यह पूछना तो भूल ही गया था, यह किस पुस्तककी प्रस्तावना है!

उन्होंने स्वयं कहा—मैं पुस्तकोंपर प्रस्तावना नहीं लिखा करता । न मैं व्याख्यान देनेमें रुचि रखता हूँ । तुम्हारी जीवन-पुस्तक मैं आँक चुका हूँ । तुम महान् भविष्यकी ओर जा रहे हो ।

भद्र ! तुम चिन्ता नहीं करते हो । सुलाभके लिये प्रार्थना नहीं करते और अलाभ होनेपर अनुशोचन नहीं है । तुम्हारी अन्तर्वृत्तियाँ शीतल हैं । तुम्हारा हृदय मानो अमृतसे लबालब भर रहा है । तुम्हारे लिये कहीं प्रकाशकी आशा नहीं और न तो कहीं अन्धकारका भय ही है । तुम्हारे भीतरसे आतङ्क निकल गया है; इस हेतु मैं कहता हूँ 'तुम्हारा चित्त निर्विकार है । तुम्हारे-जैसे पुरुषको, जिनके कि अज्ञान विशीर्ण हो चुके हैं, जिनपर कि आसुर वृत्तियोंके नोकदार बाण चलते-चलते मोटे हो गये, पर वे पत्थरके सदृश कम्पनरहित हैं—उनके लिये कहने या आदर्श दिखलानेका अवसर ही कहाँ है ?'

बुद्धिका जहाँतक वाग्जाल है, वहींतक आशाका चिर-सुन्दर मायाजाल भी है । जब मनुष्य निर्मम और निरहंकार बन जाता है, तब उसकी समस्त इच्छाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं । वह शोभा वर्णन नहीं की जा सकती ।

ओह ! वह जानता हुआ भी अज्ञानी बना रहता है । वह देखता कुछ भी नहीं, पर उससे छिपा हुआ कुछ भी नहीं है । भाषण करता हुआ भी वह मौनानन्दमें डूबा रहता है—कहो भद्र ! निर्वासनामें कितना अधिक सौन्दर्य है !

हनन करनेकी भावनासे घृणा उत्पन्न होती है । मनन करनेकी भावनासे प्रेम प्रतीयमान होता है । हम प्रेमकी परम्परामें सुन्दर सुमन विकसित करते हैं । अहो ! इससे बढ़कर आनन्द और कहाँ है ? हमने तो परायेको भी अपना बनाया है ।

और जिसके प्रभावसे गौरव मिलता है, वह ब्रह्मचर्य तुम्हारे भीतर प्रतिष्ठा पा रहा है । यही यशोंका महान् यश है । यही परम साधन है । यही आनन्दका परम केन्द्र है । यही आत्माका परम विकास-मूल है । यही जीवनका मूल और जीवनकी अन्तःश्री है । सब धारक तत्त्वोंका सार यही है । अधिक क्या—ओज, तेज, बल, कान्ति और शौर्य यही है । तुम्हारी जाति परम शुद्ध है—यही इसका मूल कारण है । ओहो ! आयुके नवीन प्रभातमें, इतना शौर्य, इतना कौशल और इतनी कान्ति मैंने कभी नहीं देखी ?

सरल, सरस, स्वाभाविक, मार्मिक और सुभूषित उक्तियाँ आज तुम्हारी मानवीय आत्माओंपर लहरा रही हैं । मैं तुम्हें धन्यवाद कहने आया हूँ । यह विश्व आश्चर्यमय नहीं है, यह कौतुक कभी मत करना । जिस प्रकार समतल शान्त जलकी भाँति आज तुम्हारा हृदय है, बस, उसी प्रकारसे स्फूर्ति-पात्र बनकर संसारका कल्याण करो । वासनाओंसे निर्लेप रहो । तुम सदा सदेह तो रहोगे नहीं, इस हेतु उनके स्वरमें स्वर मिलाकर मत गाना । वे जो कुछ गाते हैं, उसमें वर्तमानकी क्षणिक अन्तर्विभूतिमात्र नाच रही है । थोड़े दिनोंके उपरान्त उनके इस कौतुककी ओर कोई झाँककर देखेगा भी नहीं ।

बस—कवि ! ऋचाओंकी भाँति यह भावभरित गान गाना । मैं सोचता ही नहीं, विश्वास भी करता हूँ, तुम्हारे गान भविष्यकी अड़चनोंपर भी प्रहार करते रहेंगे । आकुल-व्याकुल, भयभीत प्राणियोंपर अमृत-सिंचन करेंगे । तुम गान प्रारम्भ करो, अपने-आप नाचो और अपने-आप हँसो । संसार तुम्हारे जीवनतक तुम्हें पागल कहेगा, कहने दो । असार तत्त्वोंमें भी सारको छान लो और उसे अमृत बनाकर पीड़ित प्राणियोंके लिये रसायनकी धार गिराओ । तुम तो मधुमक्खी हो । बस, कण-कणकी सीकर-बिन्दुओंसे मधुर मधु तैयार करो । जगत्के लिये मीठे रहो । तुम्हारी आँखें अमृतका धारण करें । जिह्वामें मधु लटपटाती रहे । कानमें श्रुतियोंकी भूरि राशियाँ लिपट रही हों । वह ब्रह्मकोश तुम्हारे लिये खुला है । मेधाकी चमत्कृत चादरसे यह शुभ्र आनन्द-श्री ढँक रही है । तुम उठो—अपने श्रवणकी रक्षा करो । अपनी आँखको बचाओ । और इस आनन्द-मन्दाकिनीकी तरल लहरोंपर क्रीडा करो ।

देखो—यह दृष्टिगोचर तत्त्व सदा रहनेवाला नहीं है । और भय, पीड़ा, रोग, चिन्ता आदि मिश्रित त्रिविध सन्तापोंसे दूषित भी है । निश्चय यह सार-हीन है । मूत्र-पुरीष, रक्त, स्वेद आदिके कारण सर्वथा निन्दनीय है । इसी कारण परीक्षकोंने इसे त्याज्य ठहराया है । जहाँ-जहाँसे तृष्णा प्रकट होती है बस, वहीं-वहीं दुःख है, बन्धन है, भय है, संसार है ! वीततृष्ण पुरुष ही सदा आनन्दित रहता है ।

—और समझो—तुम एक हो । अविकारी हो । चैतन्य हो । शुद्ध और निर्भ्रान्त हो । और यह दृष्टिगोचर पदार्थ—जो कभी कौतुकका कारण बन जाता है—असत् है, जड है और त्यागके योग्य है ! यह माया है, भ्रम है, शोक और संदेहका चरम स्थान है । करुणाका निधान और आपत्तियोंका प्रधान है !

इस संसार-काननमें कभी भी तुम्हें शान्ति नहीं मिल

सकती। पर यहींपर इन जर्जर साधनोंसे तुम अमृतपूर्ण आनन्द पा सकते हो। जो कर्म दुःख और मायाके रूपान्तर हैं, उनसे अपने आपको सँभाल लो।

सबका निर्माणकारी परमात्मा है, अन्य कोई सहायक नहीं! निश्चय जानो—यही निश्चय तुम्हें अविद्यासे तार देगा।'

सहसा मुनिकी वाणी रुक गयी। मैं यहीं अमृत-आनन्दका स्वाद पाते-पाते अतृप्त ही रह गया! सामने मनोमोहिनी मा खड़ी थीं। उनके दिव्य और अलौकिक चमकसे वह भूमि खिल रही थी। मैं खड़े होकर हाथ जोड़ लिये! माने कहा—

'वत्स! अतिथिका सम्मान करो। विलम्ब बहुत हो रहा है।' मैंने भी उस वेद-पुरुषको नतमस्तक होकर भीतर चलनेके लिये कहा।

परा विद्याका परम रहस्य बतानेवाले वेद-भगवान् थे और अपरा विद्याओंका रहस्य बतानेवाली भगवती माया थीं, जो माताके समान परम निर्मल और आनन्दकी दात्री थीं।

और मैं एक तुच्छ जीव! ओह, गागरमें सागर भर दिया गया है; हे भगवन्! इसे सँभाल भी पाऊँगा! ओह गुरुके समान चिर-सुन्दर! वंशीधर! तुम्हारी कृपा अगाध है, पर वह अभ्यास और वह वैराग्य कहाँसे लाऊँ?

वेदभगवान्ने कहा—मतभद्र! शोच न करो। चलो, भोजन करेंगे।

उत्साहवन्तो हि नरा न लोके सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु।

उत्साहवान् पुरुष दुष्कर कर्मके आनेपर भी विषाद नहीं किया करते!

हम सब भीतर चले गये।

कामके पत्र

(१)

अहङ्कार ही दुःखका कारण है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके ही नहीं, सभीके दुःखका कारण अहङ्कार, ममता, कामना और आसक्ति हैं। इनमें सबकी जड़ अहङ्कार है। जितना ही जिसका अहङ्कार बढ़ा है, उतनी ही ममता, कामना और आसक्ति बढ़ी हैं और उतनी ही मात्रामें वह अधिक-से-अधिक सन्तप्त, अशान्त और बन्धनग्रस्त है। अहङ्कारी मनुष्यको बात-बातमें अपमानका बोध होता है और वह पद-पदपर अनेकों शत्रु पैदा कर लेता है। किसीसे सीधी बात करनेमें भी उसे पीड़ा-सी होती है। वह अपने हठके सामने किसीकी भली बात भी नहीं सुनना चाहता। वह अपने ही हाथों नित्य बड़े गर्वके साथ अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारता है और उन्मत्त नटबाजकी भाँति उसीमें गौरव मानकर निर्लज्जताके साथ नाचता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२।७१)

'जो पुरुष सारी कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और निःस्पृह होकर संसारमें आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

इसके लिये आपको भगवान्का भजन करना चाहिये। भगवान्की माया बड़ी दुरत्यय है। मायाका आवरण हटे बिना अहङ्कारादिसे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है। और मायाके महासागरसे वही पार हो सकता है, जो मायापति भगवान्के शरणापन्न होकर उनका भजन करता है—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' भगवान् कहते हैं—'जो मेरा ही भजन करते हैं, वे इस मायासे तरते हैं।'

भजन करनेवालेमें ज्यों-ज्यों भक्तिका विकास होता है, त्यों-ही-त्यों उसमें दैन्य आता है, उसका अपना और अपने पुरुषार्थ तथा बलका गर्व गल जाता है। वह सभी बातोंमें सर्वसमर्थ प्रभुका ही कर्तृत्व देखता है। उसकी ममता जगत्में सब जगहसे हटकर एकमात्र प्रभुके पादपद्मोंमें ही केन्द्रित हो जाती है, एकमात्र प्रभुकी प्रीति ही उसकी कामनाका विषय बन जाता है, और प्रभुके नाम-रूप-लीलागुणादिमें ही उसका अनन्य अनुराग हो जाता है। फलतः प्रपञ्चसे उसका अहङ्कार, उसकी ममता और कामना तथा उसकी आसक्ति अपने-आप ही हट जाती है। वह प्रभुका प्यारा बन जाता है और प्रभु उसे अपने हृदयमें बसाकर निहाल कर देते हैं—

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
सो सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

बस, भगवान्को ही एकमात्र अपना मानकर लोभीके धनकी भाँति उनके हृदयमें बसनेका सौभाग्य प्राप्त कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

(२)

मानस भावोंका विकृतरूपसे प्रकाश

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य जब हठपूर्वक किसी मानसिक भावको दबा देता है, तब वह भाव अन्यान्य मार्गोंसे—जहाँ कहीं उसे जरा-सा भी रास्ता दिखायी देता है, उसीसे विकृत होकर निकलता है । इसलिये यह आवश्यक है कि हठपूर्वक किसी भावको न दबाकर उसके मूल-स्वरूपमें ही परिवर्तन करनेका प्रयत्न किया जाय, जिससे मनमें उसका मूल ही न रहे । इस प्रणालीसे जिस अनिच्छित भावका नाश होगा, वह स्थायी, सुखकर, आरोग्यकर और शान्तिप्रद होगा । दबे हुए प्रबल भावोंको जब प्रकट होनेका सीधा मार्ग नहीं मिलता, तब वे हिस्टीरिया, उन्माद, रोष, विषाद, निराशा, प्रमाद, अनाचार, अत्याचार, विकृत चेष्टा आदि अनेकों अवाञ्छनीय रूपोंमें प्रकट होनेका प्रयास करते हैं । यह नियम जैसा व्यष्टिके लिये है, वैसा ही समष्टिके लिये भी है ।

आर्य-हिंदूशास्त्रोंमें 'अहिंसाको परमधर्म' माना गया है और सभीने एक स्वरसे उसकी प्रशंसा की है; परन्तु साथ ही धर्म, न्याय और स्त्रियोंके सतीत्व आदिकी रक्षा, अनाचार-अत्याचारके उन्मूलन तथा राक्षसी-प्रकृतिके जीवोंके दमनके लिये हिंसाकी आवश्यकता और अनिवार्यता भी मानी गयी है । इसी कारण समय-समयपर सुयोग्य अधिकारियोंके द्वारा व्यवस्थित हिंसाका प्रयोग किया जाता था, जिसको 'दण्ड' और 'धर्मयुद्ध'की संज्ञा दी गयी थी ।

इधर कुछ समयसे नवीन पद्धतिसे भारतवर्षमें अहिंसाका प्रचार किया गया और किसी भी स्थितिमें बलप्रयोगको दूषित बतलाया गया । अहिंसाकी यथार्थ प्रतिष्ठाके लिये सबसे पहले और सबसे अधिक आवश्यकता थी मनमें बसे हुए अहङ्कार, ममत्व, रागद्वेष एवं तज्जनित हिंसावृत्तिका सर्वथा नाश करके उसकी जगह विशुद्ध प्रेमवृत्तिके उद्बोधनकी । यह कार्य तो हुआ नहीं । मनके राग-द्वेष और हिंसा-प्रतिहिंसाको मिटानेका कोई विशेष प्रयत्न बना नहीं । बाहरसे 'हिंसा न करो'का पाठ जनताने पढ़ा । इससे बाहरकी हिंसा रुकी, पर भीतर हिंसाकी आग उत्तरोत्तर भीषणरूप धारण करती गयी, और इसी आभ्यन्तरिक दुर्दमनीय हिंसाका दुष्परिणाम यह हुआ कि मर्यादित और व्यवस्थित हिंसाकी जगह ऐसी विकृत और घृणित हिंसाके सामूहिक कुकार्य हुए, जिनसे मानवताके ही मूलपर ही कुठाराघात हो गया ! प्राचीन कालमें मर्यादित 'धर्मयुद्धके' अवसरोंपर वीरोंसे वीरोंका युद्ध होता था और धर्मके आश्रय, बल-बुद्धिकी प्रचुरता तथा इष्टदेवकी कृपाके आधारपर किसीको विजयश्री प्राप्त होती थी । नृशंस बाल-हत्या, स्त्री-हत्या, सतीत्व-नाश, अबाध लूट-पाट, घरोंमें आग लगाकर सारी सम्पत्तिको और जीवित नर-नारियोंको अंदर ही जला देना—ऐसे बर्बर कुकर्म प्रायः नहीं होते थे । इधर दो-तीन वर्षोंसे भारतवर्षके दोनों खण्डोंमें जो राक्षसी कुकृत्य हुए—और हुए भी धर्मके नामपर, वे बाहरी अहिंसाके कारण दबी हुई भीतरी हिंसावृत्तिके ही विकृत परिणाम थे ! (मुसल्मानोंने बहुत अधिक किया, हिंदुओंने उनकी अपेक्षा बहुत ही कम किया—यह सत्य है, पर किसी-न-किसी अंशमें उन्होंने भी किया ही ।) इसकी जगह यदि खुलकर युद्ध होता तो उससे इतने बुरे रूपमें मानवताका संहार नहीं होता ! इसीलिये हिंदूशास्त्रोंमें आततायीके प्रति बलप्रयोगको वैध बतलाया गया है । आततायीके प्रति भी प्रेमका भाव होना बहुत उत्तम है, पर वह तो किसी असाधारण महामानवमें ही हो सकता है । साधारण जनतासे उसकी आशा नहीं की जा सकती । जिनके घरमें आग लगती है, जिनके बच्चे आँखोंके सामने मारे जाते हैं, जिनकी मा-बहिन-बेटियोंपर बलात्कार होता है, घर लूटे जाते हैं, मन्दिर तोड़े जाते हैं और भूमि छीनी जाती है, उनके मनमें द्वेष-वैर न्यूनाधिकरूपमें रहता ही है । उसे यदि सीधे मार्गसे नहीं निकलने दिया जाता तो वह कहीं-न-कहीं मार्ग बनाकर अत्यन्त विकृतरूपमें फूट निकलता है । पर आज लोग इस तथ्यको नहीं समझ रहे हैं । इसीसे अग्निको दबाया जाता है, उसे बुझाया नहीं जाता । अस्तु !

आप क्रोध और लोभका दमन सच्ची नीयतसे कर रहे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । और बलात्कारसे भी इन दुष्ट भावोंका दमन करना सर्वथा उचित ही है । तथापि जबतक क्रोध और लोभके मूल हेतु आपके मनमें वर्तमान हैं, तबतक वे मौका पाकर किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होंगे ही । आपके प्रसंगमें प्रत्यक्ष यही हो रहा है । आपके पत्रसे यह स्पष्ट प्रकट है कि आप जितना ही उनको दबाते हैं, उतना ही अधिक प्रबलरूपमें वे अत्यन्त विकृत होकर प्रकट होना चाहते हैं । मेरी समझसे तो आपको यह चाहिये कि आप इनके मूल स्वरूपको बदल डालें । श्रद्धा-विश्वासपूर्वक किये जानेवाले 'सतत भगवद्भजन' एवं 'निज-दोष-दर्शन'के अभ्याससे तथा 'सन्तोषमें ही परम सुख है' इस भावनासे इनका स्वरूप बदला जा सकता है । यह साधन-साध्य है, धीरज चाहिये; परंतु

असाध्य नहीं है। इनका स्वरूप बदल जानेके बाद ये दुःख-दायी और अशान्तिकर नहीं रहेंगे। इनका मूल ही उखड़ जायगा, और यदि ये रहेंगे भी तो आपके सत्प्रयत्नमें सहायक बनकर रहेंगे। फिर आपको क्रोध आयेगा अपने दोषोंपर—अपने साधनकी त्रुटिपर; और लोभ होगा दैवीसम्पत्ति, साधु-भाव, भगवद्भजन और भगवत्-प्रीतिकी समुन्नतिका—अभिवृद्धिका! शेष भगवत्कृपा।

(३)
भगवच्चिन्तनसे बेड़ा पार

सप्रेम हरिस्मरण! पत्र मिला, धन्यवाद। आप दुखी हैं, आपको जगत्‌में अपमान मिल रहा है, आपके पास स्वस्थ तन नहीं, धन नहीं और बुद्धि नहीं है; इसीलिये सुख नहीं है—ऐसी आपकी धारणा है।

यदि वस्तुतः आपकी ऐसी ही परिस्थिति है तो आपको प्रसन्न होना चाहिये। इसी अवस्थामें मनुष्य जगत्‌की ओरसे मोह-ममता हटाकर भगवान्‌की ओर बढ़ता है। भगवान् जिस-पर बड़ी दया करते हैं, उसीके सामने ऐसी परिस्थिति लाकर रखते हैं। निश्चय ही भगवान् आपपर कृपादृष्टि डाल रहे हैं। आपको अपनी शरणमें लेनेको उत्सुक हैं। अब आपका काम है कि इस परिस्थितिसे लाभ उठायें। संसारके मनुष्य यहाँ दुःख और अपमान पाकर भी इसीमें रचे-पचे रहते हैं। सौभाग्यकी बात है कि आपको जगत्‌के स्वरूपका वास्तविक अनुभव हुआ। अब आप यह निश्चय करें कि दीनबन्धु भगवान्‌के सिवा कोई भी अपना नहीं है। यह जगत्—यह शरीर अनित्य और दुःखरूप है—'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'—इसे पाकर भगवान्‌का भजन करो। भजन ही जीवनका सार है।

आप सुख, स्वास्थ्य, धन, मान या अपना उद्धार—जो कुछ भी चाहें, उसकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है भगवान्‌का भजन। भजन करनेमें कोई कठिनाई नहीं है। अपना तन, मन, धन—जो कुछ भी अपना कहा जानेवाला हो, सब कुछ मनसे भगवान्‌को अर्पण कर दें। आप भगवान्‌के हो जायँ। सोयें भगवान्‌के लिये, जागें भगवान्‌के लिये। सब कार्य, सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये हो; भगवान् ही अपने लक्ष्य, अपने प्राणोंके आराध्य बन जायँ। ऐसी अवस्थामें जो सुख मिलेगा, उसकी कहीं तुलना नहीं है। आप घर न छोड़ें, काम न छोड़ें, केवल भगवान्‌से नाता जोड़ लें, उनके ही हो जायँ। सब कार्य करते हुए भगवान्‌का चिन्तन करें। बेड़ा पार है। शेष प्रभुकी कृपा।

(४)
मानव-धर्म

······सादर सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। उत्तरमें देर हो रही है, इसके लिये क्षमा करें। मेरी समझसे तो जब हम मनुष्य हैं, तब सबसे पहले हमारे जीवनमें मानव-धर्म होना चाहिये। मानव-धर्मके बाद हिंदू-मुसल्मान-ईसाई धर्म हैं। सच पूछा जाय तो हम सबसे पहले आत्मा हैं, भगवान्‌के सनातन अंश हैं; इसके बाद मानव हैं तथा मानवके बाद और कुछ। हिंदू-मुसल्मान-धर्मका पालन करने जाकर यदि हम मूल मानव-धर्मको ही भूल जाते हैं तो फिर हिंदू-मुसल्मान-धर्मका पालन कैसे कर सकेंगे। भगवान् मनुने मनुष्यके साधारण दस धर्म बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(१) धैर्य या श्रेष्ठ धारणा; (२) क्षमा—अपना अहित करनेवालेसे बदला लेनेकी पूरी शक्ति होनेपर भी उसके अनिष्टाचरणको सह लेना और उसके प्रति मनमें जरा भी द्वेषबुद्धि न रखकर उसका हित चाहना; (याद रखना चाहिये—क्षमा कायरोंका धर्म नहीं है, इन्द्रियविजयी वीरोंका धर्म है); (३) मनका निग्रह—मनपर अपना पूरा प्रभुत्व हो; उसे जहाँ लगाया जाय, वह वहीं लगे; (४) अस्तेय (मन, वचन, शरीरसे किसीके स्वत्वको ग्रहण करना चोरी है, इससे सर्वथा बचना। आजकलकी चोर-बाजारी (Black-marketing) और घूसखोरी (Corruption) प्रत्यक्ष चोरी हैं); (५) शौच—बाहर तथा भीतरकी पवित्रता; (६) इन्द्रियनिग्रह—आँख, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वगिन्द्रियका वशमें होना; (७) धी (श्रेष्ठ, सावधान और निश्चयात्मिका बुद्धि); (८) विद्या—जिससे संसारका बन्धन छूट जाय, ऐसी विद्या; (९) सत्य (वाणी, मन और आचरणमें सत्यका सेवन), और (१०) अक्रोध (मनके विरुद्ध कार्योंको बिना विकारके सह लेना)—धर्मके ये दस लक्षण हैं।

कुछ-कुछ प्रकारान्तरोंसे ऐसे ही साधारण धर्मोंका उपनिषद्, श्रीमद्भागवत, योगदर्शन, भगवद्गीता, जैन और बौद्ध-शास्त्र, ईसाई, पारसी तथा इस्लामधर्ममें भी वर्णन आया है।

इसके अतिरिक्त मनुष्यका परम-धर्म एक और है, और वह है—'भगवान्‌का भजन।' भगवान्‌का स्वरूप जिसके मनमें जैसा जँचा हुआ हो, जिसे भगवान्‌का जो नाम रुचिकर प्रतीत

हो, पूजा-पद्धति जैसी अपने मनको भाती हो, उसी स्वरूपका, उसी नामका, उसी पूजा-पद्धतिसे भजन करे, पर करे अवश्य। यही परम धर्म है। इस परम धर्मसे और उपर्युक्त मानव-धर्मसे विमुख होकर—इनका विरोधी होकर—अर्थात् मानवताको खोकर जो किसी धर्म-विशेषका पालन करना चाहता है, वह वस्तुतः बड़े भ्रममें है।

इसका अर्थ यह नहीं कि अपने-अपने धर्मको, सम्प्रदायको कोई न माने। जरूर माने, अवश्य अपने धर्मके तथा सम्प्रदायके अनुकूल आचरण करे। उससे कभी हटे नहीं, परन्तु दूसरे किसीका विरोध या खण्डन भी न करे। जितने भी सच्चे महात्माओंके बतलाये हुए मार्ग हैं, सभी आगे-पीछे भगवत्-प्राप्ति करानेवाले हैं। जो जिस मार्गपर चल रहा है, वह उसीपर चले, स्वच्छन्दतासे चले; पर इस बातको याद रक्खे कि जगत्के सभी चराचर जीव एक ही भगवान्के अंश हैं, सबमें समानभावसे आत्मा व्याप्त है, कोई किसीका न वैरी है, न द्वेष्य है। सब एक ही भगवान्से आये हैं, एकमें ही बसते हैं और एकमें ही मिल जायँगे। साथ ही जिन आचरणोंसे मनुष्यका मनुष्यत्व बना रहता है, मनुष्य मनुष्य कहलाने योग्य होता है, उन आचरणोंको—उन धर्मोंको कभी न छोड़े।

यह सत्य है कि सर्व-धर्म-समन्वयका प्रयास व्यर्थ है और एक झखमात्र है। विभिन्न धर्म भगवत्प्राप्तिके मार्ग हैं और उनका समन्वय हो नहीं सकता। धर्मके लक्ष्यका समन्वय अवश्य हो सकता है और होना भी चाहिये। साध्य एक है, पर उसकी प्राप्तिके साधन तो अधिकारी-भेदसे अनेक रहेंगे ही। कलकत्ते पहुँचनेके अनेक मार्ग हैं और भिन्न-भिन्न दिशाओंमें स्थित पुरुषोंको अपने-अपने स्थानसे ही चलकर कलकत्ते आना पड़ता है। मार्ग सभी पृथक्-पृथक् होते हैं और उनका आरम्भ एक-दूसरेके बिल्कुल विपरीत और बड़ी दूरीपर होता है। कोई यदि सोचे कि हम सभी आरम्भसे ही एक ही मार्गसे जायँ तो ऐसा सोचना पागलपनके सिवा और कुछ नहीं होता। परंतु लक्ष्य एक होनेसे ज्यों-ज्यों लक्ष्यके समीप पहुँचते हैं त्यों-ही-त्यों मार्गकी दूरी भी मिटती जाती है और वातावरण भी एक-सा आता जाता है। अन्तमें सब एक ही कलकत्तेमें पहुँच जाते हैं। कलकत्ते पहुँचनेपर सब एक जगह हैं, पर कोई पहलेसे ही एक जगहसे चलना आरम्भ करना चाहे तो वह असम्भव है। इसी प्रकार सब धर्मोंका—भगवत्प्राप्तिके समस्त मार्गोंका—एकीकरण भी असम्भवप्रयास है—निरी भावुकतामात्र है। जब लक्ष्य एक है तो मार्गकी विभिन्नताको लेकर लड़ना भी क्यों चाहिये और क्यों यह आग्रह करना चाहिये कि सब हमारे ही मार्गपर आ जायँ ?

(५)

भगवान्‌का दिव्यरूप

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद। उत्तरमें निवेदन है कि गोस्वामीजीने—

'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥'

इस पद्यमें जिस मोहकी बात लिखी है, इसमें और 'मोह न नारि नारि के रूपा।' वाले मोहमें बहुत अन्तर है। 'स्त्री स्त्रीके रूपपर मोहित नहीं होती।' तात्पर्य यह है कि वह पुरुषके रूपपर मोहित होती है और पुरुष स्त्रीके रूपपर मोहित होता है। यही उनके लिये स्वाभाविक है। इन पङ्क्तियोंमें जो मोह है, वह काममूलक या वासनामूलक है। विषयासक्तिसे प्रेरित होकर स्त्री पुरुषपर और पुरुष स्त्रीपर मोहित होते हैं। यह बहुत ही घृणित एवं निकृष्ट मोह है। ऐसे मोहके लिये ऐसा कहना सर्वथा उपयुक्त ही है कि 'मोह न नारि नारि के रूपा।'

परंतु जनकनन्दिनीजीके रङ्गभूमिमें पधारनेपर जो समस्त नर-नारी मोहित हो गये, उनका मोह और ही प्रकारका था। वह मोह नहीं, अनिर्वचनीय आनन्दका उन्माद था। भगवती सीता भगवान् श्रीरामकी आह्लादिनी-शक्ति हैं, वे दोनों अभिन्नस्वरूप हैं। वे ही समस्त जड-चेतनके आत्मा हैं, अतएव वे सबके परम प्रेमास्पद हैं। संसारकी जितनी सुखद वस्तुएँ हैं, वे सब अपने आत्माको प्रिय लगनेके कारण सुखदायिनी मानी जाती हैं। स्त्री, पुत्र, धन, यह शरीर और प्राण भी स्वतः प्रिय नहीं हैं; आत्माके लिये ही ये प्रिय माने गये हैं। अतः अधिक प्रिय एवं सुखस्वरूप आत्मा है। आत्माकी ओर सबका स्वाभाविक आकर्षण है। सबके आत्मा हैं—भगवान् श्रीराम और सीता; अतः उनकी ओर समस्त प्राणीमात्रका स्वाभाविक आकर्षण है। वे ही जब लोकोत्तर लावण्य, माधुर्य एवं आनन्दके पुञ्जीभूत चिन्मय दिव्यविग्रह धारण करके नेत्रोंके सामने प्रकट हों तो उनकी अनुपम रूपमाधुरीका पान करके प्राणिमात्रका अलौकिक आनन्दमें निमग्न हो जाना क्या आश्चर्यकी बात है ? इस आनन्दोन्मादको ही वहाँ मोह कहा गया है। ऐसा मोह बड़े भाग्यसे प्राप्त होता है। यही मोह या आनन्दोन्माद श्रीरामकी दिव्य छबि देखकर जनकपुरके नर-नारियोंको भी हुआ था।

भगवान् और उनकी चिन्मयी शक्तिके लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्यमय दिव्य-विग्रहका गुण ही ऐसा है जिसकी ओर समस्त नर-नारियोंका ही नहीं, बड़े-बड़े आत्माराम मुनियोंका मन भी हठात् आकृष्ट हो जाता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥

उन्हें देखते ही प्राणिमात्र प्रेमविह्वल हो जाते हैं। सनकादि मुनीश्वरोंने एक बार भगवान् श्रीहरिकी झाँकी की और उनके प्राण प्रेमजनित आनन्दसे उन्मत्त हो उठे—

श्रीमद्भागवतमें आया है—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

'कमलनयन भगवान्के चरणारविन्दोंपर विराजमान तुलसीमञ्जरीके सौरभ और मकरन्दको लेकर जो हवा चली, वह नासिकारन्ध्रसे उन सनकादिके भीतर प्रवेश कर गयी। यद्यपि वे निर्गुण-निराकार अक्षर तत्त्वके चिन्तन करनेवाले वीतराग महात्मा थे, तो भी उस दिव्य वायुने उनके मन और शरीरको क्षुब्ध कर दिया। वे उन्मत्त हो गये।'

भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणकी रूप-छटाको देखकर स्वयं विदेहराज मोहित हो गये थे—

सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

ऐसे मोहका सौभाग्य विरले भाग्यवानोंको ही प्राप्त होता है।

रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥

—में बताये अनुसार समस्त नर-नारी इसी प्रकार मोहित—आनन्दनिमग्न हुए थे।

२—तुलसीकृत रामायण तथा वाल्मीकीय रामायणके कुछ प्रसङ्गोंमें कुछ मतभेद आपने दिखाये, सो ठीक है। इनके सिवा भी और बहुत-से रामायण हैं तथा उन सबमें भी कुछ-न-कुछ अन्तर मिलता है। इसके कई कारण हैं। कुछ तो लेखक भिन्न-भिन्न होनेसे ही भेद दिखायी पड़ता है। फिर 'हरि अनंत हरि कथा अनंता' के अनुसार तो भगवान्की कथाको कोई 'इदमित्थम्' रूपसे कह भी नहीं सकता। दूसरा समाधान कल्पभेदसे किया जाता है। सृष्टिके अबतक असंख्य कल्प बीत गये। सब कल्पोंमें श्रीरामके अवतार होते हैं। भिन्न-भिन्न ऋषियोंने समाधिके द्वारा या भगवत्कृपासे भिन्न-भिन्न कल्पोंकी कथाको साक्षात्कार करके लिखा है; अतः कल्पभेदसे उनमें कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

३—यह ठीक है कि आजकल भारतवर्षमें बड़ी दुर्दशा है, भगवान्को अवतार लेना चाहिये; परंतु अवतार तब होता है जब मनुष्यके लिये भगवान्के सिवा और कोई भरोसा नहीं रह जाता, जब सब लोग आर्तभावसे भगवान्को पुकारते हैं। आज तो भगवान्की आवश्यकता ही नहीं मानी जाती; लोगोंको अपने वैज्ञानिक बलपर गर्व है, अपने बुद्धिकौशलका अभिमान है; अतः भगवान्को पुकारनेकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। ऐसी दशामें भगवान् भी चुपचाप देखते हैं। अभिमान और भगवान् एक साथ नहीं रहते। यदि हम चाहते हैं कि भगवान् प्रकट हों तो हम सबको एक स्वरसे व्याकुलतापूर्वक भगवान्को पुकारना चाहिये। जो भगवान्के लिये एक कदम चलता है, भगवान् उसके लिये सौ कदम आगे बढ़ते हैं। और यदि स्वेच्छासे ही भगवान्को अवतार लेना है, हमको आपको आवश्यकता नहीं है, तब भगवान् जब उपयुक्त अवसर समझेंगे तब प्रकट होंगे। अभी तो हमें अपने दुःखमय प्रारब्धका भोग करना ही बदा मालूम होता है। शेष भगवत्कृपा।

(६)

नामनिष्ठाके सात मुख्य भाव

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भगवन्नामकी अमोघ शक्ति है, उसके द्वारा बहुत ही शीघ्र मनुष्य कल्याणको प्राप्त कर सकता है। नामपरायणतामें—नाममें विश्वास, नाममें आदरबुद्धि, नाममें प्रेम, निष्कामभाव, नामार्थ-चिन्तन, निरन्तरता और गोपनीयता—ये सात भाव मुख्य हैं। इन भावोंसे युक्त होकर नामाश्रय करनेवाले पुरुषोंको नामके चमत्कारपूर्ण प्रभावके शीघ्र दर्शन होते हैं—

(१) किसी भी अन्य साधनका तिरस्कार न करते हुए नाममें दृढ़ और अनन्य विश्वास होना चाहिये। नामसे ही सब कुछ हो सकता है और हो जायगा। नामकी जितनी जो कुछ महिमा शास्त्रों और संतोंने गायी है, सारी सत्य है। ऐसा विश्वास होना चाहिये। नाम-विश्वासके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका निम्नलिखित पद स्मरण रखने योग्य है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो ॥
करम, उपासन, ग्यान, वेदमत, सो सब भाँति खरो ।
मोहि तो 'सावनके अंधहि' ज्यों सूझत रंग हरो ॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो ।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो ॥
स्वारथ औ परमारथहू को नहि कुंजरो नरो ।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो ॥
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो ।
मेरे तो माय बाप दोउ आखर, हौं सिसु अरनि अरो ॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो ।
अपनो भलो रामनामहि ते तुलसिहि समुझि परो ॥
(विनय-पत्रिका २२६)

(२) नाममें वैसी ही आदरबुद्धि होनी चाहिये, जैसी भक्तकी भगवान्‌में होती है । सत्कारसेवित अभ्यास ही स्थिर हुआ करता है । नाम साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है—इस प्रकार नामके स्वरूप और प्रभावको जानकर अत्यन्त मनोयोग और श्रद्धाके साथ जो नाम-जप होता है, वही आदरबुद्धियुक्त माना जाता है । यद्यपि नामकी स्वाभाविक शक्ति ऐसी है कि तिरस्कार-अवहेलना और असम्मानके साथ निकला हुआ नाम भी पापोंका नाश करता है, जैसे किसी भी प्रकारसे स्पर्श हो जानेपर अग्नि ईंधनको जला ही देती है, तथापि आदरयुक्त नाम-जपकी बड़ी महिमा है ।

(३) नाममें प्रेम होना चाहिये । प्रेमका फल आनन्द है । जिस वस्तु या व्यक्तिमें हमारा अनुराग या प्रेम होता है, उसकी स्मृति आते ही चित्त आनन्दसे उत्फुल्ल हो जाता है, उसका नाम सुनने अथवा लिये जानेपर चित्तसागरमें आनन्दकी तरङ्गें उठने लगती हैं ।

इसी प्रकार नाममें प्रेम होनेपर एक-एक नामोच्चारणमें साधकको ऐसा अनुपम रस प्राप्त होता है कि वह उसीमें तन्मय हो जाता है । फिर नामको छोड़कर क्षणभर भी वह रह नहीं सकता । 'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता ।'

(४) नाममें निष्कामभाव होना चाहिये । जिसको नामके स्वरूप, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका पता है, वह नाम-जप करके नामके अतिरिक्त और क्या चाहेगा । नामके बदलेमें जो और कुछ चाहता है, उसने तो नामका कोई महत्त्व जाना ही नहीं । नामके बदलेमें संसारके सुखभोग चाहना अमृतके बदले विष चाहना है, और स्वर्गादि चाहना बहुमूल्य रत्न देकर बदलेमें पत्थर चाहना है । नाम-जपका फल नामनिष्ठा ही होना चाहिये ।

(५) भगवान्‌के नाममें और नामी भगवान्‌में अभेद है,भगवान्‌की भाँति ही भगवान्‌का नाम भी चिन्मय है—इस बातको याद रखते हुए नाम-स्मरण करना नामके 'अर्थका चिन्तन' करना है । 'मैं जो भगवान्‌का नाम-जप कर रहा हूँ सो भगवान्‌का ही स्पर्श कर रहा हूँ' इस प्रकारकी निश्चित अनुभूति प्रत्येक नामोच्चारणके साथ-साथ होती रहनी चाहिये । जबतक अनुभूति न हो, तबतक ऐसी भावना करनी चाहिये ।

(६) नाम-जप तैलधारावत् लगातार होते रहना चाहिये । संसारके सारे काम नाम-स्मरण करते हुए ही हों ।

(७) नाम-स्मरणको, जहाँतक हो, कृपणके धन और जारके प्रेमकी भाँति छिपाकर रखना चाहिये । इसीमें उसकी मर्यादा है और इसीमें उसकी सुरक्षा है ।

इसका यह अर्थ नहीं कि जो इन भावोंसे नाम-जप न कर सकते हों, वे नाम-जप ही न करें । किसी भी भावसे नाम-जप करना उत्तम है । कामनासे, क्रोधसे, भयसे, लोभसे, हँसीसे और सबको सुना-सुनाकर भी यदि नाम-जप किया जाय तो वह भी न करनेकी अपेक्षा बहुत उत्तम है । उससे भी पापोंका नाश होकर अन्तमें नामनिष्ठा-लाभ तथा भगवत्प्राप्ति हो जाती है ।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

कुछ भी न हो तो जीभसे लगातार नामकी रट लगती रहनी चाहिये ।

(२)

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है । यह सर्वशास्त्रमयी है । सभी आचार्योंने अपने-अपने दृष्टिकोणसे देखकर इसमेंसे अनुपम दिव्य रत्नराशिका संग्रह किया है । कर्मयोगका प्रतिपादन करनेवाली सर्वोत्तम टीका देखनी हो तो लोकमान्य तिलकका गीतारहस्य देखना चाहिये । लोकमान्यने कारागारमें इसकी रचना की थी । मूलग्रन्थ मराठीमें है । पर इसका बहुत सुन्दर हिंदी भाषान्तर भी प्रकाशित है । बड़ी सुन्दर, विशद, भावमयी और विद्वत्तापूर्ण टीका है । कर्मयोगके सम्बन्धमें गीताका क्या मत है, यह विस्तारसे जानना चाहें तो इससे बढ़कर सुन्दर ग्रन्थ दूसरा नहीं मिल सकता । यह 'केसरी' कार्यालय पूनासे प्राप्त होता है । शेष भगवत्कृपा ।

(७)
चार बहिनोंके पत्रोंके उत्तर
(१)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपके जीवनकी स्थितिसे परिचय प्राप्त हुआ । मेरी समझसे इसमें आपका कोई अपराध नहीं है । जिस दुष्टने आपके साथ निकटका आत्मीय होते हुए भी ऐसा दुर्व्यवहार किया, वही सर्वथा दोषका पात्र है । आप इस समय अपने स्वामीके साथ सुखी हैं और आपके स्वामी बड़े ही सदाचार-परायण, पवित्रात्मा हैं—यह बहुत ही आनन्दकी बात है । आप उनकी सेवा करती हैं और उनका आपपर आदर्श सद्भाव है, यह भगवान्‌की कृपा है । आपको जो पश्चात्ताप है और पतिदेवसे पूर्वकी घटना न बतानेके कारण जो आत्म-ग्लानि है, सो ठीक ही है । सदाचारिणी सत्-स्त्रियोंमें ऐसा होना स्वाभाविक ही है । मेरी सम्मतिमें आपको इसके लिये अब दुःख नहीं करना चाहिये, और आत्म-हत्याकी बात तो सोचनी ही नहीं चाहिये । आत्म-हत्या स्वयं एक बहुत बड़ा पाप है और वह जीवकी भयानक दुर्गतिका कारण होता है । बच्चोंकी देख-रेखकी बात भी है ही । किसी भी दृष्टिसे आत्म-हत्याका समर्थन नहीं किया जा सकता । फिर आप तो अपराधिनी हैं भी नहीं । लड़कपनमें दुष्टप्रकृतिके पुरुषने जो अनुचित लाभ उठाया, इसमें यदि किसी अंशमें आपका अपराध माना भी जाय तो वह अबतककी पश्चात्तापकी आगमें जल गया है ! आप श्रीरामायणजीका पाठ करती हैं, यह सब प्रकारके पापोंका नाश करनेवाला और परम मङ्गलकारी है । मेरी समझसे पतिदेवके सामने अब उक्त घटनाको प्रकट करनेमें कोई लाभ नहीं है । घटना तो बदल नहीं सकती; आपका अपराध है नहीं, फिर व्यर्थ ही उन्हें कष्ट पहुँचानेमें क्या लाभ है ! आप ऐसा करके उन्हें धोखा नहीं दे रही हैं; पर आप इसे जो धोखा मान रही हैं, यह आपका शील है और आदर्श गुण है । धोखा तो तब होता, जब आप इस समय जान-बूझकर कोई अपराध करतीं और उसे अपने स्वामीसे छिपातीं । इसलिये आप किसी प्रकार भी विषाद मत कीजिये और श्रीभगवान्‌को याद कीजिये । वे अशरण-शरण हैं और सच्चे हृदयसे शरण होनेपर महान्-से-महान् पापीको भी तुरंत आश्रय दे देते हैं । आप तो निर्दोष हैं । भगवान् आपको अवश्य शान्ति देंगे ।

(२)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपने एक कुलीन कुमारीकी बात लिखी, उसे पढ़कर प्रसन्नता हुई । सचमुच उनका भगवद्विश्वास और निष्ठा सराहनीय है । उन्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान् जिसको एक बार अपना लेते हैं, फिर कभी उसे छोड़ते नहीं । भले ही किसी कारणवश बीचमें उसे सम्बन्ध-विच्छेद हुआ-सा जान पड़े । उन्हें चाहिये कि वे आर्तभावसे अपने भगवान्‌को पुकारती रहें और प्रार्थना करती रहें । रही विवाहकी बात, सो यदि स्वास्थ्य अच्छा न हो तब तो दूसरी बात है; नहीं तो पिता-माताके आज्ञानुसार विवाह करा लेनेमें लाभ मालूम होता है । न तो प्राण देनेकी आवश्यकता है और न घरसे भागनेकी ही । आजकलका समय बहुत बुरा है । चारों ओर पापका विस्तार हो रहा है । ऐसी अवस्थामें अविवाहिता रहना उचित नहीं है । भगवान्‌का मङ्गल विधान मानकर भगवान्‌की सेवाके भावसे ही विवाह-बन्धनमें बँध जाना उचित और लाभदायक प्रतीत होता है । विवाह हो जानेपर पतिदेवको ही भगवान्‌की जीवित प्रतिमा मानकर भगवद्भावसे ही उनकी सेवा करनी चाहिये । यों करनेपर भगवान् अवश्य सहायता देंगे और सारी अड़चनोंको दूर करके अपने और भी समीप बुला लेंगे । चिन्ता नहीं करनी चाहिये । संसार भगवान्‌का लीला-क्षेत्र है, यह मानकर भगवान्‌की लीलामें सहर्ष यथायोग्य भाग लेना चाहिये । मन भगवान्‌में रहे और भगवान्‌की सेवाके लिये ही जगत्‌के सारे कार्य हों ।

(३)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । मेरी समझसे भगवान्‌ने आपका जिनके साथ विवाहका विधान किया है, वही सर्वथा उपयुक्त और ठीक है । आपके पति सदाचारी और भगवत्-सेवामें दृढ़ प्रीति रखनेवाले हैं ही, फिर आपको उन्हींकी सेवामें चित्त लगाना चाहिये । आत्म-हत्या करनेकी बात तो सोचनी भी नहीं चाहिये । किसी प्रकार शरीरका अन्त कर देनेसे ही जीव कर्म-बन्धनसे नहीं छूट जाता । बल्कि जैसे जेलसे भागा हुआ कैदी पकड़े जानेपर और भी अधिक दण्डका भागी होता है, वैसे ही आत्म-हत्या करनेवाले पापी जीवको परलोकमें बड़ी भयानक यन्त्रणा भोग करनी पड़ती है । आत्म-हत्या करनेके बाद आपको जिनके प्रति लड़कपनमें आकर्षण था, वे मिल ही जायँगे—यह निश्चय नहीं है । पता नहीं आप किस योनिमें कहाँ जायँ और वे कहाँ रहें । विवाहके पहले दूसरी बात थी; पर अब जब भगवान्‌के मङ्गलविधानके अनुसार माता-पिताने जि

सत्पात्रके साथ आपका सम्बन्ध कर दिया है, उन्हींको जीवन समर्पण करके सुखसे रहना चाहिये, नहीं तो यह अशान्तिकी आग आपको यहाँ भी जलायेगी और आगे भी।

यदि वास्तवमें आपके हृदयमें सच्चा प्रेम है और वे पुरुष भी यदि प्रेमके ही उपासक हैं तो आपलोगोंको जीवनमें कभी न मिलनेका प्रण करके पवित्र बहिन-भाईका मानसिक सम्बन्ध रखना चाहिये। यह भी न रहे तो और अच्छा है।

आपको न तो दुःख करना चाहिये और न अपनेको हतभागिनी ही मानना चाहिये। भगवान्‌का भजन करना चाहिये और उनकी कृपापर विश्वास करके अपने जीवनको पवित्र और सुखी बना लेना चाहिये। आपका दुःख तो आपकी कल्पनाका है और इस कल्पनाको छोड़ते ही मिट सकता है। और यह कल्पना आपके लिये पाप-कल्पना है, अतः उसे छोड़ देना ही उचित है।

(४)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र प्राप्त हुआ। उत्तर लिखनेमें कुछ देर हो गयी। आपने जो अपनी स्थिति लिखी, वह अवश्य ही बड़ी शोचनीय है; पर इसे प्रारब्धका भोग ही समझना चाहिये। आपने जो निश्चय किया है, इसमें भी मुझे तो आपका मोह ही मालूम होता है। इससे तो अच्छा था कि आप भगवान्‌से प्रार्थना करतीं, विश्वासपूर्वक उन्हें पुकारतीं। यों करनेपर वे कृपा करके आपके इस जन्म और पर-जन्म—दोनोंके लिये यथायोग्य व्यवस्था कर देते। मनुष्य यहीं भूल करता है और अपने मनकी बात भगवान्‌से करवाना चाहता है। दूसरे जन्ममें आपके और उनके कर्मानुसार किसकी क्या गति होगी, यह कौन कह सकता है। पर जब आपने निश्चय कर लिया है, तब भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि वे आपको सद्बुद्धि दें, आपके जीवनको निष्पाप रक्खें, और परजन्ममें आपकी इच्छा पूर्ण करें। इस सम्बन्धमें मैं कोई विशेष जानकारी नहीं रखता; इसलिये इस स्थितिमें नहीं हूँ कि आपको कुछ बता सकूँ।

घरसे निकलकर भागनेकी बात बिल्कुल नहीं सोचनी चाहिये, और जहाँतक बने, अपने रोगी पतिकी तन-मनसे सेवा करनी चाहिये। इससे आपको भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होगी। पति कैसे भी हों, आपके लिये तो पूजनीय ही हैं। हाँ, वे किसी पापके लिये आज्ञा दें तो उनकी वह आज्ञा नहीं माननी चाहिये। और आपने उनकी ऐसी आज्ञा न मानकर बहुत अच्छा कार्य किया। बड़ोंकी उस आज्ञातकको तो मान लेना चाहिये जिसके परिणाममें अपनी हानि होती है, पर उनकी कोई हानि न हो। परंतु जिस आज्ञापालनमें उनका अपना भविष्य बिगड़ता हो, उसे न मानना ही कर्तव्य है। 'पाप करनेवाला', 'करवानेवाला' और 'पापका समर्थन करनेवाला'—तीनों ही पापी होते हैं। इसलिये किसीकी पापाज्ञाका न मानना उसे पापसे बचाना है। विशेष धर्मकी बात दूसरी है, पर वह सबके लिये पालनीय नहीं है।

कर्मोंका फैसला देनेवाले श्रीभगवान् ही हैं, और उन्हींकी कृपासे किसीकी 'धारणा' सत्य हो सकती है। अवश्य ही वह धारणा धर्ममयी होनी चाहिये।*

हमारे रखवारे

देव दगन तारे, तोहि ध्यावैं देवता रे, तैंने
एते पतित तारे, जेते नभमें न तारे हैं।
तारे रतनारे जिन कई कोटि दीननके
दुःखन विदारे कवि 'श्रीपति' पुकारे हैं॥
नव नीरद कारे, पीतांबर धारे, राधाजू-
के प्रानप्यारे, श्रीजसोदाके बारे हैं।
नंदके दुलारे, धरनिधर धरनहारे,
मोर पंखधारे सो हमारे रखवारे हैं॥

* ये अन्तिम चारों पत्र अज्ञातनामा बहिनोंके लिखे हुए हैं। ऐसे पत्रोंका उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित करना उचित नहीं मालूम होता, तथापि पत्रोंमें पते न होने एवं उत्तरके लिये अत्यन्त आग्रह होनेसे इनके उत्तर प्रकाशित कर दिये गये हैं। भविष्यमें नाम-पतेसहित पत्र लिखना चाहिये और किसी निश्चित पतेपर उत्तर माँगना चाहिये। अन्यथा 'कल्याण' में उत्तर नहीं छापा जायगा।

महौषधि—रामनाम

[सत्य घटना]

(लेखक—श्रीविश्वनाथलालजी)

बनारस जिलेमें जगज्जननी जाह्नवीके पुनीत तटपर बूढ़ेपुर नामक एक गाँव है। पहले इसे बुद्धपुर कहा करते थे। शताब्दियों पूर्व यहाँकी भूमि तथागतके भिक्षुओंकी तपोभूमि थी। यहाँके निवासी पं० श्रीशिवकुमार-जी उपाध्याय हैं।

ये अचानक बीमार पड़ गये। संयमपूर्वक चिकित्सा होने लगी। ऐसे निष्ठुर संयमी बहुत कम देखे जाते हैं। वैद्यने जो बता दिया, उसका अक्षरशः पालन करना ये अपना धर्म और व्रत समझते थे; किंतु इतनेपर भी स्वास्थ्यमें कोई लाभ नहीं हो सका। स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता गया। एक वर्षमें इनका शरीर पीला हो गया। आँखें गड्ढेमें धँस गयीं। अस्थियाँ बाहर निकल आयीं।

इनकी वृद्धा माताका तो सर्वस्व लुटने जा रहा था। जवान बेटेका सदाके लिये विछोह होनेकी कल्पना कितनी घातक होती है, इसे वे ही अनुभव कर सकते हैं, जिन्हें माता-पिता होनेका सौभाग्य प्राप्त हो सका है। बेचारी वृद्धा माँके चेहरेपर हवाइयाँ उड़ती रहतीं; वे दिनभर रोतीं और जिस किसीसे तनिक भी सहानुभूति पातीं, उसके पैरोंपर गिरनेके लिये प्रस्तुत हो जातीं। अपना सर्वस्व देकर प्राणप्रिय पुत्रकी प्राण-रक्षाके लिये वे बेचैन थीं। चिकित्सा और सावधानीसे आरम्भ हुई, पर कोई लाभ नहीं हो सका। पूरे दो वर्ष निकल गये। अब पीले चर्मसे आवृत अस्थिपञ्जरके अतिरिक्त उनकी कायामें कुछ नहीं रह गया।

चिकित्साके लिये उन्हें काशी ले जाया गया, पर चार मास बाद वहाँसे भी निराश होकर लौट आना पड़ा। अब उनके लिये तिथि गिनी जा रही थी। किसीके मनमें यह कल्पना भी नहीं उदित हो रही थी कि वे एक-डेढ़ मासके बाद भी इस धराधामपर दीख सकेंगे।

मैं रामायणका पाठ कर रहा था। 'धम्म' की ध्वनि सुनी तो देहरीकी ओर देखने लगा। शिवकुमारकी माँ गिर पड़ी थीं। कदाचित् मुझसे कुछ कहने आयी थीं। उनका दुःख मुझसे देखा नहीं जाता था। मैं सिहर गया और उनके पुत्रके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा। वृद्धाने बताया कि 'शिवकुमारके चाचासे वैद्यने बिल्कुल निराशा प्रकट कर दी है।' मैंने कहा 'चिन्ता नहीं करनी चाहिये, भगवान्‌की शक्तिका पार नहीं। वे पानीसे पिंड सँवारते हैं, उनसे प्रार्थना कीजिये।'

पाठसे उठकर मैं सीधे शिवकुमारके यहाँ गया, उनकी धँसी और सूखी आँखें मेरी ओर देखने लगीं। उठानेसे भी उनके हाथ उठ नहीं रहे थे। मैंने पूछा 'आपका भगवान्‌में विश्वास है या नहीं?'

वे बोले, 'अब उनके सिवा और किसका भरोसा है? मेरा उनपर पूरा विश्वास है।'

मैंने ऐसे ही कह दिया 'तो आप एक काम कीजिये। प्रतिदिन प्रातःकाल अनारकी लकड़ीसे लाल स्याहीसे राम-नाम लिखते जाइये। मेरा विश्वास है आपको बहुत लाभ होगा।'

दृढ़ विश्वासके साथ उन्होंने कहा 'आपकी आज्ञाका पालन मैं अवश्य करूँगा, मास्टर साहब।'

उसके बाद पाँच दिनों बाद मैं उनके घर गया। उन्होंने बताया कि 'पहले तो हाथ ही नहीं उठ रहा था, पर अब दो दिनोंसे पाँच सौ राम-नाम लिख लेता हूँ।'

जीवनसे निराश होनेके कारण उन्हें भगवान्‌के चरणोंमें निष्ठा हो गयी थी क्षयसे त्राण पाना असम्भव

समझकर उन्होंने अपनेको प्रभुपर छोड़ दिया। रामनाम वे लिखते गये और लोगोंने देखा कि अब साधारण ओषधिसे भी उन्हें लाभ हो रहा है। स्वास्थ्य उनका क्रमशः सुधरने लगा। ये पंक्तियाँ शब्दशः सत्य हैं कि राम-नाम-लेखन-प्रभावसे दो वर्ष बाद ही वे लंगोट कसकर अखाड़ेमें उतर गये। पाँच वर्ष बाद उन्होंने नार्मलकी परीक्षा पास कर ली और अब काशीमें गायघाटकी पाठशालामें अध्यापन करते हैं।

उनके स्कूलमें अपने बच्चेको भरती करानेके लिये वे वैद्य गये, जिन्होंने शीघ्र उन्हें इस जगत्से विदा होनेकी बात कही थी। शिवकुमार उपाध्यायको इतना अधिक स्वस्थ देखकर वे उनका मुँह देखने लगे। शिवकुमारने नम्रतापूर्वक कहा था—'वैद्यजी! मैंने राम-नामकी महौषधि ली और परिणाम आपके सामने ही है।'

हिंदूधर्म और हिंदुओंके आराध्यदेव भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णपर आक्षेप

समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुआ है कि उस दिन हमारी धर्म-निरपेक्ष सरकारके विधान-मन्त्री कलियुगी मनु डा० श्रीअम्बेडकर महोदयने बौद्ध-धर्म ग्रहण करते समय महान् हिंदू-धर्मपर घृणित आक्षेप किये और हिंदूमात्रके नित्य आराध्यदेव भगवान् श्रीराम एवं श्रीकृष्णकी निन्दा की। वे इससे पहले भी हिंदू-धर्मकी कई बार निन्दा कर चुके हैं और उनकी क्रियाएँ भी प्रकारान्तरसे हिंदू-धर्मके नाशके लिये ही होती रही हैं; परंतु अब समाचारपत्रोंमें प्रकाशित समाचार यदि सत्य है, तो उनका यथार्थ स्वरूप भलीभाँति प्रकट हो गया है। कोई भी मनुष्य किसी भी धर्मपर एवं किसी भी महापुरुषपर श्रद्धा-भक्ति करनेमें स्वतन्त्र है; परंतु धर्म-निरपेक्ष कहानेवाली सरकारके एक उत्तरदायी पदपर आरूढ़ होकर इस प्रकार एक व्यापक अतिपुरातन धर्मपर खुले आम आक्षेप करना और उसके परमाराध्य महापुरुषोंकी निन्दा करना तो बड़ा ही निन्दनीय और घोर दुःसाहसका कार्य है। इस व्यवहारसे करोड़ों हिंदुओंके हृदयपर गहरी चोट पहुँची है और यदि सत्य कहना अपराध न माना जाय तो यह निर्विवाद है कि उनके मनोंमें भयानक क्षोभ, असन्तोष और विद्रोहके भाव उत्पन्न हुए हैं। किसी एक जनतन्त्रात्मक सरकारके शैशवकालमें ही विशाल जनताके हृदयमें इस प्रकारकी भावनाका उत्पन्न होना निश्चय ही अशुभ लक्षण है।

हिंदू-जनता इस बातको कुछ-कुछ समझ रही थी; पर अब तो उसकी यह धारणा सर्वथा दृढ़ हो गयी है कि डा० अम्बेडकरके द्वारा उपस्थित हिंदू-कोड बिल उनकी हिंदू-धर्म-विनाशी योजनाका ही एक प्रधान अङ्ग है। वास्तवमें इस प्रकार भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी निन्दा करनेवाला व्यक्ति हिंदुओंका विधान-निर्माता, धर्मनीति-प्रणेता और भाग्यविधाता होकर सरकारमें रहे, यह हिंदुओंके लिये और हिंदू-धर्मके लिये घोर अपमान, लज्जा और कलङ्ककी बात है। अतः अब हिंदुओंको विशेषरूपसे सावधान होना चाहिये और शान्तिमय पर प्रबल उपायोंके द्वारा सरकारको बाध्य कर देना चाहिये कि जिसमें वह ऐसे प्रत्यक्ष हिंदूधर्म-विद्वेषी मन्त्रीको तुरंत मन्त्री-पदसे पृथक् कर दे और हिंदू-कोड बिलको वापस ले ले। जगह-जगह सभाएँ करके इस आशयके प्रस्ताव स्वीकृतकर उन्हें सरकारके पास तार एवं पत्रोंद्वारा भेजना चाहिये।

अन्तमें हम अपनी राष्ट्रिय सरकारके धर्मभीरु साधुहृदय माननीय राष्ट्रपति महोदय, अन्ताराष्ट्रिय ख्यातिप्राप्त जन-नायक माननीय श्रीप्रधान मन्त्री महोदय, वयोवृद्ध अनुभवी माननीय श्रीगृहमन्त्री महोदय तथा कांग्रेसके उच्चाधिकारी महानुभावोंसे सादर निवेदन करते हैं कि वे इस विषयको नगण्य न समझें और विक्षुब्ध हिंदू-जनताके हृदयको शान्त करनेके लिये श्रीअम्बेडकर महोदयको विधान-मन्त्री-पदसे पृथक् करके तथा हिंदू-कोड बिलको वापस लेकर अपनी न्याय-प्रियता, धर्म-निरपेक्षता, प्रजारञ्जकता और जनतन्त्रात्मकताका यथार्थ परिचय दें।

गीता-रामायणके सम्बन्धमें कल्याणके पाठकोंसे विनीत प्रार्थना

'कल्याण'के पाठक 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'से परिचित हैं। गीता-रामायण कैसे अनुपम, आदरणीय और आशीर्वादात्मक ग्रन्थ हैं—यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। जो जितना ही इन अमृत-समुद्रोंमें गोते लगाता है, वह उतना ही मूल्यवान् भाव-रत्नोंको पाकर कृतार्थ होता है। इस संघकी स्थापना इसीलिये की गयी है कि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकागण स्वयं गीता-रामायणसे लाभ उठानेके लिये इस संघके सदस्य बनें और अन्य सज्जनों और देवियोंको बनायें। हमारे संघके एक उत्साही कार्यकर्ता तो ऐसा कहा करते हैं कि जैसे इस समय 'कल्याण'के ग्राहकोंकी संख्या सवा लाखके लगभग है, वैसे ही गीता-रामायण संघके सदस्योंकी संख्या भी कम-से-कम सवा लाख हो जानी चाहिये। मेरी समझमें यदि कल्याणके प्रेमी पाठक-पाठिका प्रयत्न करें तो ऐसा होना कोई बड़ी बात नहीं है। इस संघकी सदस्यतामें कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। गीता या रामायणके पारायणमें यथाशक्ति नियमित रूपसे भाग लेना ही सदस्यताका शुल्क है। जगत्में इहलौकिक और पारलौकिक जितने भी दुःख तथा अशान्तिके कारण हैं, वे सब-के-सब गीता-रामायणकी शरण लेनेसे दूर हो सकते हैं और परम दुर्लभ मोक्ष या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे अनुपम कार्यमें जीवनका कुछ समय लगाना ही वस्तुतः जीवनका यथार्थ सदुपयोग है।

अतएव मेरी प्रत्येक पुरुष-स्त्री, बालक-युवा-वृद्ध, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक आश्रमके लोगोंसे प्रार्थना है कि वे गीता-रामायण-संघके नियमोंको मँगवाकर पढ़ें और प्रेम तथा आदरके साथ स्वयं सदस्य बनें और दूसरोंको बनायें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

आवश्यक सूचना

'कल्याण'के दूसरे अङ्कमें श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघके सदस्य बननेके लिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना की गयी थी। तदनुसार कुछ सज्जनोंने प्रयत्न किया भी है। एतदर्थ 'संघ' उनका कृतज्ञ है। यदि प्रत्येक पाठक दो-दो सदस्य भी बनानेकी चेष्टा करेंगे तो शीघ्र ही श्रीगीता-रामायण ग्रन्थ-रत्नोंके पाठ करनेवालोंकी एक बहुत बड़ी संख्या हो जायगी। आशा है संघकी प्रार्थनापर ध्यान दिया जायगा।

जो सज्जन इस प्रचार-कार्यमें सहयोग प्रदान करते हुए स्वयं श्रीगीता-रामायणका पाठ करेंगे तथा दूसरोंसे भी करानेकी चेष्टा करेंगे, वे इस संघके यथार्थमें बड़े सहायक होंगे।

संघकी ओरसे गीता-रामायणकी पुस्तकें बिना मूल्य वितरण नहीं की जातीं। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके 'पुस्तक बिक्री-विभाग'को, 'कल्याण'के लिये मैनेजर 'कल्याण'को तथा गीता-रामायणकी परीक्षाके लिये 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति'को सीधे लिखना चाहिये। संघका कार्यालय उपर्युक्त विभागोंसे पृथक् और दूरपर स्थित है। अतएव पुस्तकें, कल्याण या गीता-रामायण-परीक्षा-समिति- सम्बन्धी कार्य गीता-रामायण-प्रचार-संघके पत्रमें लिखनेसे कार्य होनेमें अधिक देर हो जाती है।

जिन महानुभावोंको सदस्य रहना स्वीकार न हो, वे कृपापूर्वक पाठ-सूचना-कार्ड जानेपर उसे कृपया वापस कर दें। लेकर रक्खे रहनेकी अपेक्षा न लेना ही अधिक उपयोगी है। जो सदस्य रहना चाहते हों, वे भी उसकी पूर्ति करके शीघ्र ही लौटा देनेकी कृपा करें। पाठ-सूचना-कार्डमें किसी दूसरे नये सदस्यका नाम न लिखें। इसके लिये अलगसे सूचना देनी चाहिये। पुराने सदस्य पत्र-व्यवहारमें सदस्य-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें।

आवेदन-पत्र तीन पैसेका)||| टिकट लगाकर डाकमें छोड़ना चाहिये, अन्यथा वह बैरंग हो जाता है।

गीता-रामायण-प्रचार-संघके नियम तथा आवेदन-पत्र कार्यालयको लिखकर मँगवा लें।

निवेदक—रामजीदास बाजोरिया, संयोजक 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' पो० गीताप्रेस, गोरखपुर।

भूल-सुधार

'कल्याण'के 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के प्रकाशित कुछ लेखों और चरित्रोंमें रही भूलोंके सम्बन्धमें 'कल्याण' के प्रेमी महानुभावोंने हमें सूचना देनेकी कृपा की है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। उन भूलोंके सम्बन्धमें हमारा निम्नलिखित निवेदन है--

१—'हिंदू राजाके लक्षण और कर्तव्य' शीर्षक लेखमें 'राजा' शब्दकी व्युत्पत्ति लिखनेमें भूल हो गयी। इस भूलको स्वयं लेखक महोदयने ही सबसे पहले बतलाया; परंतु सब फार्म छप चुके थे, इससे सुधार नहीं किया जा सका। 'राजा' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—'राजा' शब्द 'राजृ दीप्तौ' में 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' इस उणादि सूत्रसे 'कनिन्' प्रत्यय करनेसे बनता है। उक्त लेखमें छपी व्युत्पत्तिके स्थानपर यों पढ़ना चाहिये।

२—पृष्ठ २६७ में 'जटा माला शिला लेखा' की जगह 'जटा माला शिला रेखा' पढ़ना चाहिये।

३—आर्यसमाजके प्रवर्तक ऋषि दयानन्दजीके चरित्रोंमें उनका श्रीएनी बेसेंटके साथ कार्य करना छपा है, परंतु स्वामीजीके समय एनी बेसेंट नहीं थीं। मैडम ब्लैवेट्स्की तथा आल्कट साहेब थे। ये ही दोनों 'थियोसाफिकल सोसायटी' के संस्थापक थे।

४—भगवान् महावीरके चरित्रमें उनके विवाहकी बात छपी है। इसपर एक जैन महोदय बहुत दुखी हुए हैं और उन्होंने पूछा है कि 'कल्याण' में यह किस आधारपर छापा गया है।' इसके उत्तरमें हमारा नम्रता-पूर्वक निवेदन है कि श्रीआर० सी० मजूमदारकी 'एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया' के आधारपर यह लिखी गयी थी। इसके अतिरिक्त एक विद्वान् जैन मुनि महोदयसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय भगवान् महावीरके विवाहकी बात मानता है और उसकी मान्यताके अनुसार उनके वंशमें दौहित्रीतकके प्रमाण मिलते हैं। सत्य क्या है, इसका हमें पता नहीं। न हमारा कोई आग्रह है। जैन समाज जिस रूपमें मानता हो, उसी रूपमें ठीक है। जिन जैन सज्जनको इसके लिये दुःख हुआ है, उनसे हम क्षमा चाहते हैं।

५—भक्त सूरदासजीको 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' में 'सारस्वत ब्राह्मण' लिखा गया है; इसपर दो सज्जनोंने आपत्ति की है और उनके 'ब्रह्मभट्ट' ब्राह्मण होनेके पक्षमें प्रमाण दिये हैं। प्रसिद्ध मिश्रबन्धु आदिने उन्हें 'सारस्वत' माना है। हमारा इसमें कोई भी आग्रह नहीं है। वे सारस्वत रहे हों या ब्रह्मभट्ट अथवा अन्य कोई ब्राह्मण। हम तो उनको इसी नाते पूजते और उनकी भक्ति करते हैं कि वे भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके महान् प्रेमी भक्त थे। वे ब्रह्मभट्ट हों तो बहुत अच्छी बात है। हमारा उसमें कोई विवाद नहीं है।

६—श्रीनिम्बार्काचार्यके संक्षिप्त परिचयमें आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्तीका नाम आया है। एक श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती श्रीगौडीय सम्प्रदायके ग्रन्थनिर्माता और टीकाकार हुए हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है। परंतु इस सम्बन्धमें तीन मत हैं। कोई कहते हैं कि निम्बार्क-सम्प्रदायमें भी इस नामके एक और महात्मा हुए हैं। 'वेदान्त दर्शनेर इतिहास' में उनका नाम आया है और तदनुसार ही 'कल्याण' में भी लिखा गया था। दूसरा मत है कि गौडीय सम्प्रदायके ग्रन्थ-लेखक प्रातःस्मरणीय श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय गौडीय सम्प्रदायमें दीक्षित नहीं थे। तीसरा मत है कि श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती नामके कोई आचार्य नहीं हुए। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती गौडीय सम्प्रदायके ही आचार्य थे।' हमें ठीक पता नहीं कि कौन-सा मत यथार्थ है। न हमें किसी भी मतका आग्रह है। परंतु यदि निम्बार्क-सम्प्रदायमें इस नामके आचार्य न हुए हों और 'वेदान्त दर्शनेर इतिहास' के आधारपर 'कल्याण' में यह बात भ्रमसे छपी हो एवं इसके लिये गौडीय सम्प्रदायके महानुभावोंको दुःख हुआ हो तो हमें इस बातका खेद है और हम उनसे क्षमा चाहते हैं।

नये ग्राहक शीघ्रता करें

'कल्याण'के हिंदू-संस्कृति-अङ्कको भारतवर्षके सभी श्रेणीके विद्वानों, देशनेताओं, विचारशील पुरुषों तथा प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओंने बड़ी प्रशंसा की है और इसका अधिक-से-अधिक प्रचार हो, ऐसे विचार प्रकट किये हैं । हम भी ऐसा चाहते हैं । इसीलिये गताङ्कमें हमने पंद्रह हजार नये ग्राहकोंको 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' मिल सकनेकी सूचना दी थी । तदनुसार पर्याप्त संख्यामें नये ग्राहक बन रहे हैं । अतएव अब जिन महानुभावोंको ग्राहक बनना हो, वे तुरंत ७॥) मनीआर्डरसे भेज दें या वी० पी० द्वारा अङ्क भेजनेका हमें आदेश दें । इसी प्रकार प्रचार चाहनेवाले या प्रचारार्थ संस्थाओंमें वितरण करनेवाले सज्जन भी नये ग्राहक बनानेमें या इकट्ठे अङ्क मँगवानेमें जल्दी करें । अङ्क बहुत शीघ्र समाप्त हुए जा रहे हैं । पुनः छपनेकी संभावना नहीं है । बचे हुए अङ्क बिक जानेपर नये ग्राहक बननेवालोंको निराश ही होना पड़ेगा ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', गोरखपुर

कल्याणके पाठकोंसे प्रार्थना

इधर कुछ वर्षोंसे हमलोग पुराने हस्तलिखित शास्त्रीय ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयत्न कर रहे हैं । यह इसलिये कि इन ग्रन्थोंकी रक्षा हो । बहुत-से स्थानोंमें आजकल ऐसे ग्रन्थ असावधानी तथा रक्षाकी व्यवस्थाके अभावसे नष्ट हो रहे हैं । अतएव हमारी 'कल्याण' के प्रत्येक पाठकसे प्रार्थना है कि वे वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र और धर्मशास्त्र आदि विषयोंके पुराने कागजोंपर या ताड़पत्रोंपर लिखे ग्रन्थ संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें । खर्च हम देंगे । कोई सज्जन उचित मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जायगा ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक 'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याणके प्राप्य विशेषाङ्क और साधारण अङ्क

वर्ष १५वाँ—साधारण अङ्क ३, ४ दो अङ्क एक साथ, मूल्य ॥)
वर्ष १८वाँ—साधारण अङ्क ६ठा, मूल्य ।) प्रति ।
वर्ष १९वाँ—संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या ९५८, रंगीन चित्र २१, लाइन-चित्र २४१, मूल्य ४≡)
वर्ष २०वाँ, साधारण अङ्क ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ११, १२ नौ अङ्क एक साथ, मूल्य २।)
वर्ष २४वाँ, चालू वर्षका विशेषाङ्क हिंदू-संस्कृति-अङ्क, वार्षिक मूल्य ७॥)

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें—

२१वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ९, १०, ११, १२ कुल आठ अङ्क एक साथ, मूल्य १।), रजिस्ट्रीखर्च ।), कुल १॥)

२२वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ कुल दस अङ्क एक साथ, मूल्य १॥−), रजिस्ट्रीखर्च ।), कुल १॥।−)

उपर्युक्त दोनों वर्षोंके कुल १८ अङ्क एक साथ रजिस्ट्रीखर्चसहित मूल्य ३−)

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

दुर्व्यवहारसे दुर्गति

जो पुरुष अपनी साध्वी स्त्री तथा अन्यान्य आश्रितोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, थोड़ी-सी भूलके लिये बात-बातमें क्रोधातुर होकर उन्हें डाँटते-फटकारते, उनका तिरस्कार करते और उन्हें जली-कटी सुनाया करते हैं, उनके पाप निरन्तर बढ़ते रहते हैं और वे लोक-परलोकमें भयानक दुःखोंके भागी होते हैं। ऐसे लोगोंपर भगवान्‌की कृपा नहीं होती और उनके पूजा-पाठ, धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत आदि भी सफल नहीं होते। पद्मपुराणमें कहा गया है—

पतिव्रतरतां भार्यां सुगुणां पुण्यवत्सलाम् ॥
तामेवापि परित्यज्य धर्मकार्यं प्रयाति यः।
वृथा तस्य कृतः सर्वो धर्मो भवति नान्यथा ॥
भार्यां विना हि यो लोके धर्मं साधितुमिच्छति।
विफलो जायते लोके नान्नमश्नन्ति देवताः ॥ (भूमिखण्ड अ० ५९)

'जो पुरुष अपनी सद्गुणवती, पुण्यानुरागिणी पतिव्रता पत्नीका परित्याग कर धर्मके लिये बाहर जाता है, उसका किया हुआ सारा धर्म व्यर्थ होता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।'

'जो पुरुष अपनी पत्नीको छोड़कर धर्मसाधनकी इच्छा करता है, वह संसारमें असफल होता है और उसका अन्न देवता ग्रहण नहीं करते।'

खास करके जो पुरुष अपनी पुत्रादिरहित पत्नीको निराश्रय छोड़कर संसार त्याग करनेकी इच्छा करता है, वह तो बहुत बड़ा प्रमाद करता है। क्योंकि ऐसी परित्यक्ता स्त्री यदि विपरीत परिस्थितिमें पड़कर किसी प्रकार भी पथभ्रष्ट हो दुश्चरित्रा हो जाती है तो उस पुरुषकी कई पीढ़ीतकके पितरोंको नरकोंमें जाना पड़ता है। और इसका सारा दायित्व उस पुरुषपर होता है। पतिके दुर्व्यवहारसे अत्यन्त पीड़ित होकर जिसकी स्त्री आत्मघात आदि दुष्कर्म कर बैठती है, उस पातकी पुरुषको इस लोक और परलोकमें भयानक दुःखोंकी प्राप्ति होती है।

जो पुरुष अपनी पत्नीका परित्याग करके परस्त्रीमें आसक्त होता है या दूसरी स्त्रीको पत्नी बनाता है, वह जन्मान्तरमें स्त्रीयोनिको प्राप्त होकर विधवा होता है—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम्।
परदाररतो हि स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्।
सोऽन्यजन्मनि देवेशि स्त्री भूत्वा विधवा भवेत् ॥ (स्कन्दपुराण)

इसी प्रकार जो स्त्री स्वेच्छासे या किसीके प्रस्तावसे सम्मत होकर परपुरुषमें आसक्त हो कुकृत्य करती है, पतिको कष्ट पहुँचाने तथा पवित्र सतीत्व धर्मसे डिगनेके कारण उसकी सन्तान और धनका नाश हो जाता है, परलोकमें उसे भयानक नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, जवानीमें विधवा होना पड़ता है और उसके बाद विविध दुःख-सन्तापमयी घृणित कुयोनियोंमें जन्म लेकर घोर क्लेशयुक्त जीवन बिताना पड़ता है।
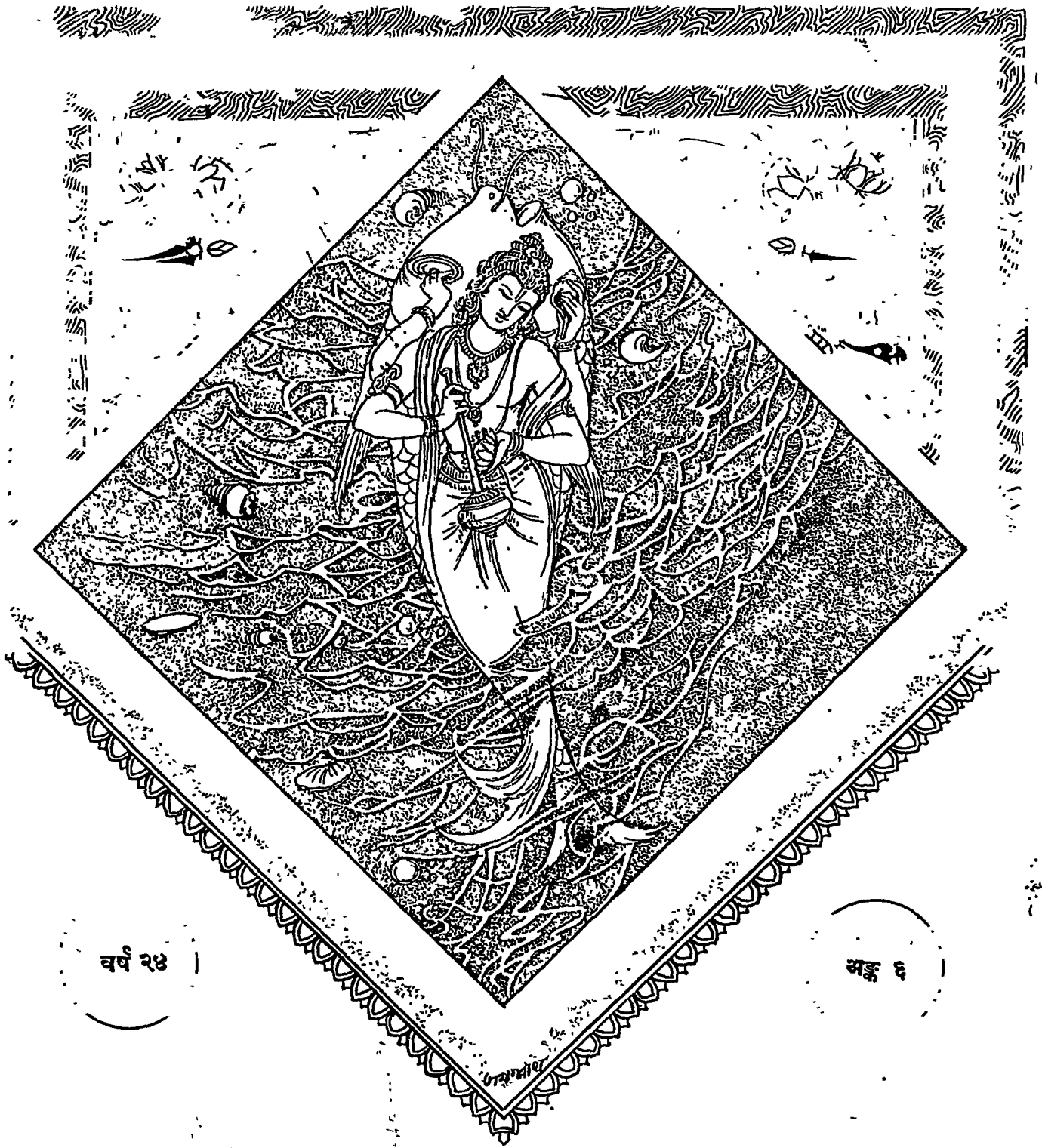
वर्ष २४
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, जून सन् १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

शास्त्र और शस्त्रका दान

कामासक्ति, ममत्व छोड़ दो; तज दो अहङ्कार भी पार्थ !
सावधान हो धर्मयुद्धसे पूजो मुझे, वीर ! निस्वार्थ !

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २००७, जून १९५० { संख्या ६
पूर्ण संख्या २८३

धर्मयुद्ध—हरिका आराधन

रणकी, जीवन-रणकी वात ।
पार्थ-पार्थसारथिकी वातें, मनन करो दिन-रात ॥
शुचि श्रद्धा विश्वास धर्मपथ,
क्यों स्तम्भित होवे जीवन-रथ ।
व्यर्थ ममत्व मोह भय मनका, यह कर्तव्य प्रभात ॥
अहङ्कार आसक्ति त्याज्य बस,
हो द्वन्द्वोंमें अन्तर समरस ।
धर्म-युद्ध—हरिका आराधन, करो कर्म सहजात ॥

याद रक्खो—निकम्मा मन प्रमाद करता है। जबतक वह किसी दायित्वपूर्ण कार्यमें लगा रहेगा, तबतक उसे व्यर्थकी, अनावश्यक तथा न करने योग्य बातोंके सोचनेका अवसर ही नहीं मिलेगा। पर जहाँ दायित्वके कामसे छुटकारा मिला—स्वच्छन्द हुआ कि मन उन विषयोंको सोचेगा, जिनका स्मरण भी उसे कार्यके समय नहीं होता था।

याद रक्खो—जब नया साधक ध्यानका अभ्यास आरम्भ करता है, तब उसके सामने सबसे बड़ी एक यही कठिनाई आती है कि अन्य समय जिन सड़ी-गली गंदी और भयावनी बातोंकी उसे कल्पना भी नहीं होती, वे ही उस समय याद आती हैं और वह घबरा-सा जाता है। इसका कारण यह है कि वह जिस वस्तुका ध्यान करना चाहता है, उसमें तो मन अभ्यस्त नहीं है और जिन विषयोंमें अभ्यस्त है, उनसे उसे हटा दिया गया है; ऐसी हालतमें वह निकम्मा हो जाता है। पर निकम्मा रहना उसे आता नहीं; इसलिये वह उन पुराने चित्रोंको उधेड़ने लगता है जो उसपर संस्काररूपसे अङ्कित हैं और जिनके उधेड़नेका उसे अन्य दायित्वपूर्ण कार्योंमें संलग्न रहते समय अवसर नहीं मिलता।

याद रक्खो—यदि साधक इस स्थितिमें घबराकर ध्यानके अभ्यासको नहीं छोड़ बैठेगा और लगनके साथ अभ्यास करता रहेगा तो कुछ ही समयके बाद अभ्यास दृढ़ हो जानेपर मन ध्येय वस्तुके स्वरूपमें रम जायगा और फिर तदाकार भी हो जायगा।

याद रक्खो—प्रमादी मनवाला मनुष्य ही ऐसे काम कर बैठता है, जो उसे नहीं करने चाहिये। प्रमादका अर्थ ही है—करने योग्य कर्मका न करना और न करने योग्यका करना। इसलिये मनको निरन्तर शुभ चिन्तनमें लगाये रक्खो। और उसका उसपर इतना दायित्व थोप दो कि यह काम तुम्हें अवश्य करना है एवं सुन्दर सुव्यवस्थित रूपसे करना है। कार्यमें इतना संलग्न रहना चाहिये कि उसीका चिन्तन करते-करते नींद आ जाय और उठते ही फिर उसीका चिन्तन हो। ऐसा होनेपर तदाकार वृत्ति शीघ्र और सहज होती है।

याद रक्खो—नये विषयमें लगनेसे मन एक बार घबराता है, रुकता है, ऊबता है और कभी-कभी प्रबलरूपसे उसे अस्वीकार भी कर देता है; परंतु इससे घबराओ मत। गाय पहले-पहल नयी जगह, नये खूँटेपर बँधनेसे इन्कार करती है, चाहे वह नयी जगह उसके लिये पहलीकी अपेक्षा कितनी ही अधिक सुखप्रद क्यों न हो; जरा-सी रस्सी ढीली होते ही या अवसर पाते ही भागकर पुरानी जगह पहुँच जाती है। इसी प्रकार मन भी नये विचारमें लगना नहीं चाहता। और इसी कारण विषय-चिन्तनमें अभ्यस्त मन भगवच्चिन्तनमें लगनेसे घबराता, रुकता, उकताता और इन्कार करता है। पर यदि निराश न होकर उसे निरन्तर लगाते जाओगे तो वह विषय-चिन्तनको छोड़कर भगवच्चिन्तनमें वैसे ही लग जायगा, जैसे गौ कुछ दिनों बाद पुरानी जगहको भूलकर नयी जगहमें ही रम जाती है।

याद रक्खो—जीवका विषय-चिन्तनका अभ्यास बहुत पुराना है। उसे छुड़ाकर भगवच्चिन्तनमें लगानेमें यदि एक मानव-जीवनका आधेसे अधिक काल भी लग जाय तो भी बहुत थोड़ा ही है। मन बड़ा दुर्निग्रह और चञ्चल है, पर अभ्यास (नूतन-वस्तु—भगवच्चिन्तनमें बराबर लगाने) और वैराग्य (पुराने विषय-चिन्तनके दुःख-दोष दिखा-दिखाकर उससे हटाने) का सावधानीके साथ सतत प्रयोग करनेपर वह भगवच्चिन्तनपरायण हो ही जायगा। फिर किसी भी प्रमादकी आशङ्का या सम्भावना नहीं रहेगी।

'शिव'

मन्त्र या देवतारहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०)

मन्त्रका स्वरूप क्या है, मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिमें उसका क्या स्थान है, मन्त्र-साधनाका वास्तविक अभिप्राय क्या है—ये सारे प्रश्न साधारणतः तत्त्वजिज्ञासु साधकके हृदयमें उठा करते हैं। इनके साथ दूसरे आनुषङ्गिक प्रश्न नहीं उठते, ऐसी बात नहीं है। इस विषयका यथार्थ समाधान जाननेके लिये मन्त्ररहस्यसे अवगत होना आवश्यक है।

परमेश्वर सृष्टिके आदिमें अपनी बहिरङ्गा शक्ति महामायाके या बिन्दुके ऊपर दृष्टि डालते हैं। यह दृष्टिक्षेप ही चैतन्य-शक्तिका सञ्चार है। दृष्टिपातके पूर्व क्षणतक महामाया सुप्त अवस्थामें विद्यमान रहती हैं। विशुद्ध जडशक्तिका नाम महामाया है। वे सारे अणुरूपी जीव जो पूर्वकल्पकी साधना, वैराग्य, संन्यास, विवेकज्ञान आदिके फलस्वरूप अशुद्ध जड शक्तिरूपी मायाको अतिक्रमण करनेमें तो समर्थ हो चुके हैं, परंतु परमेश्वरके निज स्वरूपमें उपनीत नहीं हो पाये हैं, महामायाके गर्भमें विद्यमान रहते हैं। इन सारे जीवोंकी अवस्था सुषुप्तिवत् होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। मायासे मुक्त होनेके फलस्वरूप इन जीवोंके जिस प्रकार अशुद्ध मायिक देह अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह नहीं रहते, उसी प्रकार कोई उच्चतर विशुद्ध देह भी नहीं रहता। वे मायाके ऊपर, महामायाके गर्भमें लीन रहते हैं। मायाके गर्भमें रहना जिस प्रकारका होता है, महामायाके गर्भमें रहना भी बहुत कुछ उसी प्रकारका होता है। दोनोंके बीचमें केवल आवरणगत पार्थक्य होता है, अप्राकृत दिव्य अवस्था या भागवत-अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। चैतन्यके विकासके बिना उसका आविर्भाव नहीं होता। वही पशुत्वके परेकी अवस्था है। मायाकी निद्रा और महामायाकी निद्रा दोनों ही स्थलोंमें पशुभाव विद्यमान रहता है। जबतक पशुत्व है, तबतक वास्तविक जागृति कहाँ !

महामायाकी विश्रान्तिके समय उनके गर्भस्थित जीव सुषुप्त होते हैं। उनका जीवत्व पशुत्वमूलक होता है। जबतक चैतन्यका उन्मेष नहीं होता, तबतक वह तिरोहित नहीं होता। उन विदेहकैवल्यप्राप्त जीवोंकी भगवत्ता-प्राप्तिके मार्गमें दो अन्तराय हैं—एक आत्माका स्वरूपगत अणुत्व या पशुत्व, यह अभिन्नज्ञान-क्रियात्मक चैतन्यके स्वरूपका आच्छादन है; और दूसरा महामायाका सम्बन्ध। इन दोनों आवरणोंके निवृत्त होनेपर शुद्ध भगवत्ताकी अभिव्यक्तिका मार्ग खुल जाता है।

जब सृष्टिके आदिमें महामायामें चैतन्यशक्तिका आधान होता है, तब इस शक्तिकी क्रियाके कारण महामाया क्षुब्ध होकर कार्योन्मुख होती हैं। और उनमें सुप्तवत् निहित अणुरूपी सारे जीव भी जाग उठते हैं। निद्रा-कालमें ये सारे जीव विदेह-अवस्थामें महामायामें लीन रहते हैं; परंतु महामायाके क्षुब्ध होते ही इनकी निद्रा भङ्ग हो जाती है। देह-सम्बन्धके बिना कोई अणु कभी जाग नहीं सकता। अतएव महामायाके क्षोभके फलस्वरूप क्षुब्ध महामायासे इन समस्त अणुओंके प्रयोजनके अनुसार देह आदिकी उत्पत्ति और विकास हो जाता है। इसलिये जब वे जाग उठते हैं, तब उनमें कोई भी विदेह नहीं रहता; ये महामायासे उत्पन्न शरीर लेकर ही प्रकट होते हैं।

महामायामें चैतन्यशक्तिका आवेश तथा इन समस्त अणुओंमें चैतन्यशक्तिका सञ्चार एक ही बात है; क्योंकि सारे अणु सुप्त अवस्थामें महामायाके साथ अभिन्न होकर ही रहते हैं।

महामायाके गर्भमें असंख्य अणु विद्यमान रहते हैं। महाप्रलयकी अवस्थामें ये सभी समभावसे लीन रहनेपर भी चैतन्यशक्तिके सम्पातके समय सभी समानरूपसे प्रबुद्ध नहीं होते, और न हो ही सकते हैं। किसी-किसी अणुकी ही जागृति होती है, सबकी नहीं। यद्यपि सभी अणु मलविशिष्ट होते हैं, तथा चैतन्य या भगवदनुग्रहकी आवश्यकता सबको समभावसे होती है, तथापि मलकी परिपक्वता सबकी समान नहीं होती। जिसका मल जितना अधिक परिपक्व होता है, वह उतना ही अधिक परिमाणमें चैतन्यशक्तिकी ओर उन्मुख होता है। मलने अनादिकालसे आत्माके साथ युक्त होकर आत्माको अणुरूपमें परिणत कर रक्खा है। अणुत्व ही पशुत्व है, यह आत्माका स्वभावसिद्ध धर्म नहीं है। आत्माका स्वाभाविक धर्म तो शिवत्व या पूर्ण चैतन्य है। यह ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्तिका अभिन्न और अपरिच्छिन्न स्वरूप है। मल अनादि होनेपर भी आगन्तुक है। इसके द्वारा जब वह स्वरूप आच्छन्न होता है, तब शिवरूपी आत्मा जीव या पशुरूपमें परिणत हो जाता है। यह मल कालशक्तिके द्वारा निरन्तर परिपक्व हो रहा है। सृष्टिकालमें परिपाकके अन्य उपाय न हों, ऐसी बात नहीं है; परंतु प्रलयकालमें वे उपाय काम नहीं करते। परिपक्वताकी एक ऐसी मात्रा है, जिसके प्राप्त होनेपर

ये सारे अणु अपने-आप चैतन्यशक्तिकी ओर उन्मुख हो जाते हैं। आकाशस्थ सूर्यकी किरणें समुद्रके ऊपर और कुछ तल-प्रदेशपर्यन्त पड़ती हैं; परंतु जो जीव इन किरणोंकी सीमा-रेखापर्यन्त उपस्थित नहीं हो सकते, वे आपाततः इन किरणों-की क्रियासे मुक्त रहते हैं। दूसरे पक्षमें जिनको इन किरणोंका स्पर्श प्राप्त हो जाता है, वे इनके प्रभावसे जाग उठते हैं, और अपने मल-परिपाककी मात्राके अनुसार विशुद्ध देह लाभ करके शुद्ध जगत्‌में सञ्चरण करते हैं। अतएव अपेक्षाकृत अपरिपक्व मलसे जीवोंकी सुषुप्ति भङ्ग नहीं होती। साधारणतः कल्पान्तर-में उसके होनेकी सम्भावना रहती है। कहना न होगा कि यहाँ हम परमेश्वरकी स्वातन्त्र्य-शक्तिके खेलकी ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं। स्वातन्त्र्य-शक्तिकी दृष्टिसे विचार करनेपर मलकी परिपक्वताके ऊपर चैतन्यशक्तिका सञ्चार निर्भर करता है, यह बात सर्वत्र समानरूपसे सत्य मान लेनेसे काम नहीं चलता। यहाँ तो साधारण नीतिका ही अनुसरण किया गया है। जिन जीवोंके विषयमें आलोक-स्पर्श होनेकी बात कही गयी है, वे सभी पुरातन जीव हैं। वे संसारमें पतित हुए थे तथा प्रत्यावर्तनकी दिशामें मायापर्यन्त तत्त्वभेद करके देहसे वियुक्त होकर महामायाके भीतर केवलीरूपमें विलीन होकर रहते हैं। मायाराज्यका भेद हो जानेपर भी इनकी वासनामुक्ति पूर्णरूपसे नहीं हुई है; क्योंकि मायातीत वासना इस समय भी वर्तमान है। मायिक वासनाको क्षीण करनेके लिये मायिक देह ग्रहण करके मायिक जगत्‌में कर्म करना पड़ता है। देह ग्रहण किये बिना वासना क्षय नहीं होती। मायातीत वासनाको क्षीण करनेके लिये भी तदनुरूप देह ग्रहण करके तादृश कर्म सम्पादन करना आवश्यक है। मायिक वासना मलिन होती है, परंतु मायातीत वासना विशुद्ध होती है। कर्तृत्व-अभिमानके वश मायिक जगत्‌में कर्म होता है, और भोक्तृत्व-अभिमानके वश मायिक जगत्‌में भोग होता है। कर्मानुष्ठान और कर्मफल-भोगको ही मिलितरूपमें संसार कहते हैं; परंतु मायातीत वासनाके स्थलमें न तो कर्मके मूलमें अहङ्कार रहता है, न भोगके मूलमें। इसीलिये उसे प्रकृत संसार नहीं कहा जा सकता। यदि उसे संसार कहना हो तो 'शुद्ध संसार' कह सकते हैं। यह मायातीत कर्म ही अधिकार है, और मायातीत भोग ही यथार्थ भोग या सम्भोग है। अधिकार और भोगकी अतीतावस्था ही 'लय' है।

यहाँ प्रश्न होता है कि मायातीत वासना विदेह अणुमें किस प्रकार चरितार्थ हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि मायातीत वासना मायातीत देहके द्वारा ही तृप्तिलाभ करती है। मायिक वासनाकी तृप्ति तो मायिक उपादानसे होती है। परंतु मायातीत वासनाकी तृप्ति मायिक उपादानसे कैसे हो? इसके लिये जो मायातीत उपादान आवश्यक होता है, उसका नाम है 'महामाया।' जब चैतन्यशक्ति महामायाको स्पर्श करती है, तब पूर्वोक्त परिपक्वमल सारे जीव जाग उठते हैं, और क्षुब्ध महामायासे रचित देहोंमें अधिष्ठान करके अपने-अपने कार्य-साधनमें प्रवृत्त हो जाते हैं। महामायाका ही दूसरा नाम है कुण्डलिनी शक्ति। पूर्वोक्त परिपक्वमल जीवोंके देहादि कुण्डलिनी शक्तिसे रचित होते हैं; ये सारे जीव तब फिर जीव-पदवाच्य नहीं होते, ये जीव होकर भी ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न होते हैं। परमेश्वरकी करुणादृष्टिरूप चैतन्यशक्तिके सञ्चारकी बात पहले कही जा चुकी है। यह वस्तुतः चित्‌शक्तिका ही उन्मेष है, जो क्रियाशक्तिके रूपमें होता है।

चित्‌शक्तिकी सक्रिय और निष्क्रिय, दो अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः दो अवस्थाओंके न होनेपर भी कर्मगत भेदकी उपपत्ति-के लिये कृत्रिमभावसे दो कही जाती हैं। निष्क्रिय अवस्थामें क्रियाके अभावके कारण शक्तिका सञ्चार नहीं होता। अतएव यह शक्तिसञ्चार वस्तुतः चित्‌शक्तिमयी क्रियाशक्तिका व्यापार है। इसीका नामान्तर है दीक्षा। परमेश्वर स्वयं ही क्रियाशक्तिके प्रवर्तकरूपमें चैतन्यदाता गुरु हैं। पूर्वोक्त परिपक्वमल जीव सृष्टिके आदिमें इस दीक्षाको प्राप्त होकर महामायासे उद्भूत विशुद्ध देह लाभ-कर परमेश्वरके आदि शिष्यरूपमें शुद्ध जगत् या महामायिक जगत्‌में स्थिति-लाभ करते हैं। हम जिस मायिक जगत्‌से परिचित हैं, उसकी सृष्टि, स्थिति आदि समस्त व्यापारोंका चरम भार इन्हींके ऊपर न्यस्त होता है। ये जीव होते हुए भी ईश्वरकल्प हैं। परंतु नित्यसिद्ध परमेश्वरसे न्यून हैं। क्योंकि इनमें शुद्ध वासना है और परमेश्वरमें वासना नहीं है। समष्टिरूपसे समस्त जगत्‌की कल्याण-कामना, यही इनकी शुद्ध वासनाका स्वरूप है।

आपाततः ऐसा प्रतीत हो सकता है कि विशुद्ध वासनाके परे जानेपर विशुद्ध भगवद्भावकी प्राप्ति हो सकती है; परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। वह विशुद्ध कैवल्य अवस्था है, भगवदवस्था नहीं।

सृष्टिके आदिमें परमेश्वरकी चैतन्यमयी शक्तिको प्राप्त होकर जो जीव विशुद्ध देह लाभ करते हैं, वे सब समभावापन्न नहीं होते। उनके बीच भी अवान्तर भेद होता है। अवश्य

ही एक प्रकारसे सबको एक स्तरके जीव कहा जा सकता है, क्योंकि उन सबके भीतर चित्-शक्तिका उन्मेष रहता है। सभी शुद्ध विद्या प्राप्तकर शुद्ध राज्यके अधिवासी हो चुके हैं, तथा न्यूनाधिक रूपमें होनेपर भी सभीके भीतर क्रियाशक्ति जाग्रत् हो गयी है; परंतु क्रियाशक्तिके विकासमें तारतम्य होनेके कारण इनमें भी तारतम्य दीख पड़ता है। वस्तुतः शुद्ध जगत्के चेतनवर्गमें जो वैषम्य दीख पड़ता है, उसका मूल हेतु है क्रियाशक्तिकी अभिव्यक्तिका तारतम्य। यह तारतम्य क्यों होता है, इसकी खोज करनेपर जाना जा सकता है कि सारे अणुओंमें मल समानरूपसे परिपक्व नहीं होता। अतएव भगवत्-शक्ति अर्थात् परमेश्वरकी क्रियाशक्तिको सभी समान रूपसे धारण नहीं कर सकते। मलके उस परिमाणतक पक्व हुए विना वह चित्-शक्तिका स्पर्श सहन नहीं कर सकता। वह शुद्ध राज्यमें सभीको प्राप्त होता है, यह सत्य है; परंतु इस परिपक्वतामें तारतम्य होता है और उसीके अनुसार, जहाँ परिपक्वता अधिक होती है, वहाँ क्रियाशक्तिका आवेश अधिक मात्रामें होता है। मलके परिपक्व न होनेपर क्रियाशक्ति धारण नहीं की जा सकती। इसी कारण अपक्व मलकी अवस्थामें क्रियाशक्तिका सञ्चार बिल्कुल ही नहीं होता। अतएव मलपाक न होनेपर श्रीगुरु कभी जीवपर अनुग्रह नहीं करते।

समस्त पक्वमल अणुओंमें, जिनका मल सर्वापेक्षा अधिक परिपक्व होता है, क्रियाशक्तिका आवेश होनेपर उनमें कर्तृभावका उदय होता है। कहना न होगा कि यह कर्तृत्व शुद्ध होता है, इसमें अहङ्कारका सम्बन्ध नहीं होता। इनके नीचे बहुसंख्यक पक्वमल अणु उपर्युक्त प्रणालीसे भगवत्-शक्तिको प्राप्त होते हैं, और चैतन्यलाभ करते हैं। इनकी क्रियाशक्तिकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत न्यून होती है, अतएव इनमें कर्तृभावका उन्मेष न होकर करणभावका उन्मेष होता है। जिनमें कुछ अणुओंमें कर्तृभावका उन्मेष होता है, वे एक प्रकारसे सजातीय होते हैं तथापि उनमें भी परस्पर न्यूनाधिक्य रहता है। उसी प्रकार करणशक्तिमय समष्टिमें भी परस्पर न्यूनाधिक्य रहता है। जो कर्तृभावापन्न हैं, वे ईश्वर-तत्त्वको आश्रय करके रहते हैं तथा जो करणभावापन्न हैं, उनका अवलम्बन शुद्ध विद्यातत्त्व है। यह विद्या मायातीत ज्ञानस्वरूपा है। जो कुछ लोग ईश्वर-तत्त्वमें अवस्थान करते हैं, वे ईश्वर अथवा गुरु हैं; और जो विद्यातत्त्वके आश्रय रहते हैं, वे मन्त्र अथवा देवता हैं। ये समस्त मन्त्र ईश्वर या गुरुके अधीन हैं। ये गुरुके द्वारा प्रयुक्त होकर मायिक जीवोंके उद्धारका कार्य करते रहते हैं। ये स्वतः प्रेरित होकर जीवोद्धारमें लगे नहीं रह सकते; क्योंकि ये करण हैं, कर्ता नहीं हैं।

गुरु और देवता दोनों ही शुद्धदेहसम्पन्न होते हैं। परमेश्वरके अनुग्रहकी प्राप्तिसे दोनोंमें निज स्वरूपज्ञान जाग चुका है। अपने शिवत्व-बोधरूपी ज्ञानका उदय दोनों क्षेत्रोंमें ही समभावसे हो चुका है। परंतु गुरु कर्तृभावसे तथा देवता करणभावसे कार्य करते हैं। इसके सिवा दूसरी ओरसे भी दोनोंमें कुछ पार्थक्य है। यद्यपि परमेश्वरकी अनुग्रहशक्ति दोनोंमें पड़ती है, तथापि व्यक्तिगत विकासकी दृष्टिसे इनमें तारतम्य रहता है। जो आत्मा तत्त्व-भेदके क्रमसे ऊर्ध्वगतिके फलस्वरूप मायाको अतिक्रम करनेमें समर्थ हो चुके हैं, वे मलपाकके कारण भगवत्कृपाको प्राप्तकर देवतापदपर आरूढ़ होते हैं। इनका नाम मन्त्र है। इतना आत्मिक विकास हुए विना यथार्थ देवत्व प्राप्त नहीं होता। यहाँ मायाके अन्तर्गत रहनेवाले देवताओंको हम नहीं कह रहे हैं। मायातीत देवताका एकमात्र शुद्ध देह ही रहता है, अशुद्ध देह नहीं रहता। परंतु गुरुकी अवस्था और ही है। मल यदि अत्यन्त परिपक्व होता है तो उससे उसमें चैतन्यशक्तिका अवतरण अवश्यम्भावी है। तथा मलपाककी तीव्रताके कारण कर्तृभावका आवेश स्वाभाविक है। ये सब अणुदीक्षाको प्राप्त होकर आचार्य-अधिकार लाभ करते हैं। तत्त्व-भेदके क्रमसे इनका जितना ही आत्मिक विकास हो, उतना ही यथेष्ट है। जो जिस तत्त्वमें अवस्थित है, गुरुपदपर अधिरूढ़ होनेपर भी उसका मायिक देह उसी तत्त्वका हो जाता है। परंतु भगवान्के अनुग्रहसे जिस विशुद्ध देह या वैन्दव देहकी प्राप्ति होती है, वह गुरुपदवाच्य सभी आत्माओंके लिये एक ही प्रकारका होता है। जबतक मायातत्त्वका भेद नहीं होता, तबतक गुरुमात्रके दो शरीर होते हैं। उनमें एक गुरुप्रदत्त शुद्ध देह है, जो महामाया या कुण्डलिनीके उपादानसे गठित होता है, तथा दूसरा अपना-अपना मायिक शरीर है। यह दूसरा शरीर जीवके क्रम-विकासकी मात्राके अनुसार किसी-न-किसी तत्त्वमें आश्रित रहता है; अर्थात् किसीका मायिक स्थूल देह पार्थिव, किसीका जलीय, किसीका तैजस इत्यादि होता है। देहके विकाससे अभिप्राय है देहके उपादानको निम्नवर्ती तत्त्वसे ऊर्ध्व तत्त्वमें परिणत करना। कार्यकी गति कारणकी ओर होती है, और कारणकी गति उसके स्वकारणकी ओर। इस प्रकार पार्थिवदेह जलीय, तथा जलीयदेह तैजसमें परिणत हो सकता है; यही देहका उपादानगत उत्कर्ष है। भगवान्के अनुग्रहकी प्राप्ति इस तत्त्व-भेदरूपी उत्कर्षपर निर्भर नहीं करती। यह उत्कर्ष प्राकृतिक क्रम-विकासका फल है। चैतन्यशक्तिका अवतरण एकमात्र मलकी परिपक्वताके ऊपर निर्भर करता है। इसी कारण कोई तो पृथ्वी-तत्त्व-भेद किये विना

भी भगवद्-अनुग्रहको प्राप्त हो जाते हैं, और कोई माया-तत्त्वको अतिक्रम करके भी उसे प्राप्त नहीं होते। तत्त्व-भेदके ऊपर शक्तिका अवतरण निर्भर नहीं करता। परंतु यह निश्चित है कि अणु मायातत्त्वको भेद करनेपर भी जबतक मल-पाक-करण भावकी अभिव्यक्तिके लिये उपयोगी नहीं होता, तबतक उसके ऊपर भगवान्‌की अनुग्रहशक्ति सञ्चारित नहीं होती। इन अणुओंको कल्पान्तरके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है; क्योंकि देवदेहकी रचना सृष्टि-समयमें नहीं होती, सृष्टिके प्राक्-कालमें होती है। यदि मायाभेद न हो तो कोई बात ही नहीं है; क्योंकि जबतक मायाभेद नहीं हो जाता, तबतक *किसी भी आत्मामें मलपाकके कारण भगवान्‌का शक्तिपात* होनेपर भी देवत्वका आविर्भाव सम्भव नहीं। मायाके भेदके बाद जो आत्मा मलपाकके फलस्वरूप भगवद्-अनुग्रह लाभकी योग्यता प्राप्त करते हैं, उनके ऊपर कल्पान्तरमें शक्ति-अवतरण होता है। वर्तमान कल्पमें ये सब आत्मा महामायामें लीन रहते हैं।

अतएव यह निश्चित है कि किसी विशिष्ट कल्पका आत्मा अणुरूप मलपाकके होनेपर भी उस कल्पमें देवत्व प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँतक कि मायाभेद हो जानेपर भी यह सम्भव नहीं होता। उसे महामायामें दूसरे कल्पके आरम्भतक विश्राम करना पड़ता है। परंतु पहले कहा जा चुका है कि गुरुके सम्बन्धमें इस प्रकारका नियम नहीं है। गुरुमें शक्तिके अवतरणकी प्रधानता होती है। अर्थात् जितना मलपाक होनेपर कर्तृभावका आवेश दीक्षाकालमें सम्भव होता है, उतना होगा ही। मायाभेद न करनेपर भी क्षति नहीं होती। यहाँतक कि किसी निम्नवर्ती तत्त्वमें अवस्थान करनेपर भी क्षति नहीं होती। क्योंकि गुरुभावकी अभिव्यक्तिमें जीवकी स्वकृत ऊर्ध्वगतिकी मात्राका निर्देश आवश्यक नहीं होता। ठीक-ठीक मल परिपक्व होनेपर, स्वीय विकासके फलस्वरूप जो जहाँ है, वहाँसे ही भगवदनुग्रह लाभ करके शुद्ध देह तथा आचार्यका अधिकार प्राप्त कर सकता है। परंतु यदि उसका मायातत्त्व भेद हो जाता है तो उसको नये जन्मके प्रारम्भतक अपेक्षा करनी पड़ती है।

यह सर्वत्र ही सत्य है कि देवता गुरुके अधीन हैं। देवता स्वभावतः महामायाके राज्यके अधिवासी हैं; परंतु गुरु महामायाके राज्यके अधिवासी होकर भी, एक ही साथ मायाराज्यके भी अधिवासी हो सकते हैं। अवश्य ही यहाँ सृष्टिकालीन गुरुकी बात कही जा रही है, जिनके माया और शुद्ध दोनों देह होते हैं। सृष्टिके अतीत गुरुकी बात यहाँ नहीं कही जा रही है—वे मायादेहरहित तथा विशुद्ध वैन्दव-देह-सम्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त विवरणमें तत्त्वभेदपूर्वक ऊर्ध्वगतिकी बात कही गयी है। इसकी थोड़ी-सी भलीभाँति आलोचना किये बिना यह बात समझमें नहीं आयेगी। अतएव संक्षेपमें कुछ कहा जा रहा है। सृष्टिके पूर्व सृष्टिकी मूल उपादानस्वरूप एक वस्तु रहती है। आपाततः उसे जड कहा जा सकता है। इसकी एक दिशा (भीतरी) शुद्ध होती है। और दूसरी (बाहरी) अशुद्ध होती है। जबतक सृष्टिका उदय नहीं होता, तबतक यह आन्तर-बाह्य विभाग समझमें नहीं आ सकता। *यहाँतक कि यह अचित्स्वरूप मूल उपादान भी समझमें* नहीं आ सकता। परंतु जब सृष्टिके पूर्वमें परमेश्वरकी दृष्टि शुद्धांशपर पड़ती है, तब वह ज्योतिरूपमें उज्ज्वल होकर चमक उठता है। शुद्धके बाहर जो अशुद्ध अंश है, वह छाया या अन्धकारके रूपमें इस ज्योतिःस्वरूपको घेर लेता है। यह शुद्धांश या ज्योति महामाया है, और वह बाहरकी छाया माया है। सूक्ष्मरूपसे देखनेपर यह पता लगता है कि इन दोनोंमें एक ही अचित् सत्ता है। यह शुद्ध होकर स्तर-स्तरमें तत्त्वरूपसे अभिव्यक्त होती है। परंतु ये तत्त्व अचित्‌के मूल विभाग नहीं हैं। अचित्‌का मूल विभाग है पञ्चकला। इनमें दो कलाएँ शुद्धांशमें और तीन कलाएँ अशुद्धांशमें हैं। प्रत्येक कला अवान्तर भावसे तत्त्वके रूपमें अभिव्यक्त होती है। तदनुसार ज्योतिर्मय राज्यमें पाँच तत्त्व एवं माया वा छाया-राज्यमें इकतीस तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। पञ्चकलाएँ एक दूसरीके बाद अधिकतः बहिर्मुख होती हैं। उसी प्रकार इनसे अभिव्यक्त तत्त्व भी इन्हींके समान ही एकके बाद दूसरे अधिकतर बहिर्मुख होते हैं। जहाँ बहिर्मुखताकी पराकाष्ठा है, उसीका नाम पृथ्वी है। इसी प्रकार जहाँ अन्तर्मुखताकी चरम सीमा है, उसका नाम शिव या महामाया है। वस्तुतः वही कुण्डलिनीस्वरूपा हैं। यह शिव, शिवनामसे परिचित होनेपर भी, वस्तुतः विशुद्ध जडवस्तु है। इसीका नाम आदितत्त्व या बिन्दु है। तत्त्वातीत शिव या परमेश्वर इससे पृथक् हैं।

ये तत्त्व स्तर-स्तरमें सुसज्जित हैं। विश्वमें सर्वत्र यह क्रम-विन्यास दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक तत्त्वसे अनेकों भुवनोंका आविर्भाव होता है। भुवन तत्त्वोंकी भाँति गुण, क्रिया, शक्ति प्रभृतिके विकासके तारतम्यके अनुसार ऊपर-नीचे परस्पर शृङ्खलाबद्ध रहते हैं। ऊर्ध्व प्रदेशसे सर्वापेक्षा

निम्नतम प्रदेशपर्यन्त इन भुवनोंकी समष्टि ही जीवके लिये विश्वके नामसे परिचित है । जीव अपने-अपने अधिकार और योग्यताके अनुसार प्रत्येक स्तरमें विद्यमान है । जीव सृष्टिकालमें अर्थात् विश्वमें अवस्थानके समय देहयुक्त ही रहता है; परंतु प्रलय-अवस्थामें जीवके देह नहीं रहता । उस समय जीव साक्षात् या परम्परारूपसे मायामें लीन होकर सुषुप्तवत् स्थित रहता है; अथवा यदि किसी कौशलसे किसीका मायाभेद हो जाता है तो वह महामायामें सुषुप्तवत् लीन रहता है । मायामे जो इकतीस तत्त्व हैं, उनमें प्रत्येकका आश्रय लेकर जीव रहता है और रह सकता है । इन सब तत्त्वोंमें जन्य-जनकभाव अथवा अधः-ऊर्ध्व विभाग है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है । तदनुसार तत्त्ववर्ती जीवसमूहके भी श्रेणी-विभाग होते हैं; परंतु ये श्रेणी-विभाग तत्त्वके आपेक्षिक उत्कर्षमूलक होते हैं । उससे जीवके स्वकीय उत्कर्षका परिचय नहीं मिलता । प्रलय जडकी क्रियाकी अपेक्षा रखता है, वह जीवकी साधनाके अधीन नहीं है । जब उपादानमें बहिर्मुखी प्रेरणा आती है, तब सृष्टिकी ओर प्रवृत्ति होती है । पक्षान्तरमें, जब उपादानमें सङ्कोच भाव आता है, तब यह प्रवृत्ति निवृत्त होकर केन्द्रकी ओर आकर्षण बढ़ने लगता है, और चरम अवस्थामें मूल उपादानरूपमें केन्द्रमें स्थिति हो जाती है ।

अभिव्यक्तिके नियमानुसार जो जीव इस मूल-उपादानका अतिक्रम करके महामायामें अवस्थान करते हैं, उनमें कोई-कोई मलपाकके तारतम्यसे नवीन सृष्टिमे देव-भावमें आविर्भूत होते हैं । इनके देह वैन्दव देह होते हैं । ये स्वभावतः मायातीत होते हैं । इसीसे वे शुद्ध होनेपर भी क्रम-विकास-नियमके अधीन नहीं होते । वे एक प्रकारसे अव्यक्त भावापन्न होते हैं । कहना न होगा कि ये दोनों बातें मायाके अतीत भूमिकी हैं ।

ठीक इसी प्रकार अशुद्ध अथवा मायिक देवता भी हैं । इनका रहस्य समझमें आ जानेपर शास्त्रवर्णित आजान देवता, कर्मदेवता प्रभृति विभिन्न देवता-तत्त्व हृदयङ्गम हो जायगा ।

श्रीभगवान्की भक्ताधीनता

महर्षि दुर्वासाको भगवान् विष्णु कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम् ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

(श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६३ से ६८)

ब्रह्मन् ! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें स्वतन्त्रता नहींके बराबर है । मेरे साधु भक्तोंने मेरे हृदयको अपने वशमें कर लिया है । मैं भक्तोंका प्रिय हूँ और भक्त मुझे प्रिय हैं ।

विप्रवर ! जिनका मैं ही एकमात्र परम आश्रय हूँ, उन साधु-स्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी हृदयङ्गमा अविनाशिनी लक्ष्मीको ।

जो भक्तजन अपने स्त्री-पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आये हैं, उनको छोड़नेका विचार भी मैं कैसे कर सकता हूँ ।

जैसे साध्वी स्त्रियाँ अपने सद्व्यवहारसे सदाचारी पतिको वशमें किये रहती हैं, वैसे ही समदर्शी साधु भक्त अपने हृदयको मुझमें बाँधकर मुझे अपने वशमें कर लेते हैं ।

मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य और सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे मेरी सेवाके सुखसे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हुए उन मुक्तियोंको भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है ।

मेरे प्रेमी साधु भक्त मेरे हृदय हैं, और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ; वे मेरे सिवा और कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता ।

सत्सङ्ग और कुसङ्ग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महापुरुषोंकी महिमा और उनके सङ्गका फल

जिस प्रकार भगवान्‌के महान् आदर्श चरित्र और गुणोंकी महिमा अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार भगवत्प्राप्त संत महापुरुषोंके पवित्रतम चरित्र और गुणोंकी महिमाका भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे महापुरुषोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, स्वार्थत्याग और सौहार्द आदि पावन गुण अतिशयरूपमें होते हैं; इसीसे ऐसे पुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

ठीक यही भाव श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्ग और मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?'

भगवत्प्रेमी महापुरुषोंके एक निमेषके सत्सङ्गके साथ स्वर्ग-मोक्ष किसीकी भी तुलना नहीं होती—यह बात उन्हीं लोगोंकी समझमें आ सकती है, जो श्रद्धा तथा प्रेमके साथ नित्य सत्सङ्ग करते हैं।

प्रथम तो संसारमें ऐसे महापुरुष हैं ही बहुत कम। फिर उनका मिलना बहुत दुर्लभ है और मिल जायँ तो पहचानना अत्यन्त कठिन है। तथापि यदि ऐसे महापुरुषोंका किसी प्रकार मिलना हो जाय तो उससे अपने-अपने भावके अनुसार लाभ अवश्य होता है; क्योंकि उनका मिलना अमोघ है। श्रीनारदजीने भक्तिसूत्रोंमें कहा है—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'

'महात्माओंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

अपने-अपने भावके अनुसार लाभ कैसे होता है, इसपर एक दृष्टान्त है—

दो ब्राह्मण किसी जंगलके मार्गसे जा रहे थे। दोनों अग्निहोत्री थे। एक सकामभावसे अग्निकी उपासना करनेवाला था, दूसरा निष्कामभावसे। रास्तेमें बड़े जोरकी आँधी और वर्षा आ गयी। थोड़ी ही दूरपर एक धर्मशाला थी। वे दोनों किसी तरह धर्मशालामें पहुँचे। अँधेरी रात्रि थी और जाड़ेके दिन थे। धर्मशालामें दूसरे लोग भी ठहरे हुए थे और वे सभी प्रायः सर्दीसे ठिठुर रहे थे। धर्मशालामें और सब चीजें थीं, पर अग्निका कहीं पता नहीं लगता था। न किसीके पास दियासलाई ही थी। उन दोनों ब्राह्मणोंने जाकर अग्निकी खोज आरम्भ की। उन्हें एक जगह एक कमरेके आस-पास बैठे हुए लोगोंने बतलाया कि हमें तो जाड़ा नहीं लग रहा है, पता नहीं कहाँसे किस चीजकी गरमी आ रही है। उन लोगोंने उस कमरेको खोलकर देखा तो पता लगा कि उसमें राखसे ढकी आग है। इसी आगकी गरमीसे वह कमरा गरम था, शेष सारी धर्मशालामें सर्दी छायी थी। जब आगका पता लग गया तो सब लोग प्रसन्न हो गये। पहलेसे ठहरे हुए जिन लोगोंको अग्निमें श्रद्धा नहीं थी और जो केवल अग्निसे रोशनी और रसोईकी ही अपेक्षा रखते थे, उन्होंने उससे रोशनी की और रसोई बनायी। दोनों अग्निहोत्री ब्राह्मणोंने, जिनको अग्निके ज्ञानके साथ ही उसमें श्रद्धा थी, रोशनी तथा रसोईका लाभ तो

उठाया हो, पर साथ ही अग्निहोत्र भी किया। इनमें जो सकाम भाववाला था, उसने सकामभावसे अग्निहोत्र करके लौकिक कामना-सिद्धिरूप सिद्धि प्राप्त की और जो निष्काम भाववाला था, उसने अपने निष्कामभावसे अग्निहोत्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिका परम लाभ उठाया। इस प्रकार जिनको अग्निका ज्ञान भी नहीं था, उन्होंने भी अग्निके स्वभाववश उसके निकट रहनेके कारण गरमी प्राप्त की; जिन्हें ज्ञान था पर श्रद्धा नहीं थी, उन लोगोंने केवल रोशनी-रसोईका लाभ उठाया। ज्ञान, श्रद्धाके साथ सकाम भावसे अग्निहोत्र करनेवालेने सकाम सिद्धि पायी और निष्कामी पुरुषने परमात्माको प्राप्त किया। इसी प्रकार किसी महापुरुषका यदि सङ्ग हो जाय और पहचाना भी न जाय तो भी उनके स्वाभाविक तेजसे पापरूपी ठण्डक तो शान्त होती ही है। जो लोग महात्माको किसी अंशमें ही जानते हैं और उससे साधारण क्षणिक लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें साधारण क्षणिक लाभ मिल जाता है। जिनमें श्रद्धा है पर साथ ही सकाम भाव है, वे उनका सङ्ग करके इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप वैषयिक लाभ प्राप्त करते हैं और जो उन्हें भलीभाँति पहचानकर श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे उनका सङ्ग करते हैं, वे परमात्माको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार महात्माके अमोघ सङ्गसे लाभ सभीको होता है, पर होता है अपनी-अपनी भावनाके अनुसार।

महात्मा पुरुषोंके भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि मायिक होते हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्तिके प्रभावसे वे साधारण मनुष्योंकी अपेक्षासे विलक्षण और दिव्य हो जाते हैं, अतएव उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे तो लाभ होता ही है, मनके द्वारा उनका स्मरण हो जानेसे भी बड़ा लाभ होता है। जब एक कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे कामी पुरुषके हृदयमें कामका प्रादुर्भाव हो जाता है, तब भगवत्प्राप्त महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे साधकके हृदयमें तो भगवद्भाव और ज्ञानका प्रादुर्भाव अवश्य होना ही चाहिये।

ऐसे महापुरुषोंके हृदयमें दिव्य गुणोंका अपार-शक्ति-सम्पन्न समूह भरा रहता है, जिसके दिव्य बलशाली परमाणु नेत्रमार्गसे निरन्तर बाहर निकलते रहते हैं और दूर-दूरतक जाकर जड-चेतन सभीपर अपना प्रभाव विस्तार करते रहते हैं। मनुष्योंपर तो उनके अपने-अपने भावानुसार न्यूनाधिकरूपमें प्रभाव पड़ता ही है, विविध पशु-पक्षियों तथा जड आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वृक्ष, पाषाण, काष्ठ, घास आदि पदार्थोंतकपर भी असर पड़ता है। उनमें भी भगवद्भावके पवित्र परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे महात्मा जिस पशु-पक्षीको देख लेते हैं, जिस वायुमण्डलमें रहते हैं, जो वायु उनके शरीरको स्पर्श करके जाता है, जिस अग्निसे वे अग्निहोत्र करते, रसोई बनाते या तापते हैं, जिस सरोवर या नदीमें स्नान-पान करते हैं, जिस भूमिपर निवास करते हैं, जिस वृक्षका किसी प्रकार उपयोग करते हैं, जिस पाषाणखण्डको स्पर्श कर लेते हैं, जिस चौकीपर बैठ जाते हैं और जिन तृणाङ्कुरोंपर अपने पैर रख देते हैं, उन सभीमें भगवद्भाव-के परमाणु न्यूनाधिकरूपमें स्थित हो जाते हैं, और उन वस्तुओंको जो काममें लाते हैं या जिन-जिनको उनका संसर्ग प्राप्त होता है—उन लोगोंको भी बिना जाने-पहचाने भी सद्भावकी प्राप्तिमें लाभ होता है। जिनमें श्रद्धा, ज्ञान तथा प्रेम होता है, उनको यथापात्र विशेष लाभ होता है।

ऐसे महात्माओंकी वाणीसे भी उनके हृद्गत भावोंका विकास होता है; इससे उसे सुननेवालोंपर तो यथा-धिकार—जो जैसा पात्र होता है तदनुसार प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही वह वाणी—शब्द नित्य होनेके कारण सारे आकाशमें व्याप्त होकर स्थित हो जाती है और जगत्के प्राणियोंका सदा सहज ही मङ्गल किया करती है। जहाँ

उनकी वाणीका प्रथम प्रादुर्भाव होता है, वह स्थान और वहाँका वायुमण्डल विशेष प्रभावोत्पादक बन जाता है। इसी प्रकार उनके शरीरका स्पर्श होनेसे भी लाभ होता है। भावोंके परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इससे उनकी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती; पर वे वैसे ही अनिवार्यरूपसे सद्भावका प्रसार करते हैं, जैसे स्थूल दृष्टिसे न दीखनेवाले प्लेगके कीटाणु रोगका विस्तार करते हैं।

ऐसे महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया सर्वोत्तम दिव्य चरित्र, गुण और भावोंसे ओतप्रोत रहती है; अतएव उनके चिन्तनमात्रसे—स्मृतिमात्रसे उनके चरित्र, गुण और भावोंका प्रभाव दूसरोंके हृदयपर पड़ता है। नामकी स्मृति आते ही नामीके स्वरूपका स्मरण होता है। स्वरूपके स्मरणसे क्रमशः चरित्र, गुण और भावोंकी स्मृति हो जाती है, जो हृदयको उन्हीं भावोंसे भरकर पवित्र बना देती है। वस्तुतः महापुरुषका मानसिक सङ्ग बहुत लाभदायक होता है, फिर चाहे महात्मा किसी साधकका स्मरण कर ले या साधक किसी महात्माका स्मरण कर ले। अग्नि घासपर पड़ जाय या घास अग्निमें पड़ जाय, अग्निका संसर्ग उसके घासस्वरूपको मिटाकर उसे तुरंत अग्नि बना देगा। इसी प्रकार ज्ञानाग्निसे परिपूर्ण महात्माके सङ्गसे साधकके दुर्गुण और दुराचारोंका तथा अज्ञानका नाश हो जाता है, फिर चाहे वह संसर्ग महात्माके द्वारा हो या साधकके द्वारा। महात्मा स्वयं आकर दर्शन दें, तब तो वह प्रत्यक्ष ही केवल श्रीभगवान्की अपार कृपाका ही फल है। परंतु यदि साधक अपने प्रयत्नसे महात्मासे मिले, तो इससे साधकके अन्तःकरणमें शुभ संस्कार अवश्य सिद्ध होते हैं; क्योंकि शुभ संस्कार हुए बिना महात्मासे मिलनेकी इच्छा और चेष्टा ही क्यों होने लगी, तथापि इसमें भी प्रधान कारण भगवान्की कृपा ही है—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'

इस संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, सब केवल दोके ही सम्बन्धसे बने हुए हैं—(१) श्रीभगवान्के किसी भी स्वरूप या अवतारके प्राकट्य, निवास, लीलाचरित्रादिके होनेसे और (२) महापुरुषोंके निवास, तप, साधन-प्रवचन या समाधि आदिके होनेसे। देशगत अच्छे परमाणुओंका परिणाम प्रत्यक्ष है। आज भी जो लोग घर छोड़कर पवित्र तीर्थ या तपोभूमियोंमें निवास करते हैं, उनको अपनी-अपनी श्रद्धा तथा भावके अनुसार विशेष लाभ होता ही है। इसका कारण यही है कि उक्त भूमि, जल तथा वातावरणमें महात्माओंके तपस्या, भक्ति, सदाचार, सद्गुण, सद्भाव, ज्ञान आदिके शक्तिशाली परमाणु व्याप्त हैं।

विशेष और शीघ्र लाभ तो वे साधक प्राप्त करते हैं, जो महापुरुषोंकी इच्छाका अनुसरण, आचरणोंका अनुकरण और आज्ञाका पालन करते हैं। जो भाग्यवान् पुरुष महापुरुषोंकी आज्ञाकी प्रतीक्षा न करके सारे कार्य उनकी रुचि तथा भावोंके अनुकूल करते हैं, उनपर भगवान्की विशेष कृपा माननी चाहिये। यों तो श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण साधारण लोग किया ही करते हैं। इसीलिये श्रीभगवान्ने भी कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

पर जो श्रद्धा-विश्वासपूर्वक महापुरुषोंके चरित्रका अनुकरण और उनके द्वारा निर्णीत मार्गका अनुसरण करते हैं, वे विशेष लाभ प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार भगवान् और महात्माओंके चरित्र, उपदेश, ज्ञान, महत्त्व, तत्त्व, रहस्य आदिकी बातें जिन ग्रन्थोंमें लिखित हैं, महात्माओंके और भगवान्के चित्र जिन

दीवालों तथा कागजोंपर अङ्कित हैं, यहाँतक कि महात्माओंकी और भगवान्‌की स्मृति दिलानेवाली जो-जो वस्तुएँ हैं—उन सबका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है तथा श्रद्धा-विश्वासके अनुसार सभीको लाभ पहुँचानेवाला है। जिस प्रकार स्वाभाविक ही मध्याह्नकालके सूर्यसे प्रखर प्रकाश, पूर्णिमाके चन्द्रमाकी ज्योत्स्नासे अमृत एवं अग्निसे उष्णता प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे स्वाभाविक ही ज्ञानका प्रकाश, शान्तिकी सुधा-धारा और साधनमें तीक्ष्णता और उत्तेजना प्राप्त होती है।

इसलिये सभीको चाहिये कि अपनी इन्द्रियोंको, मनको, बुद्धिको नित्य-निरन्तर महापुरुषोंके सङ्गमें और उन्हीं विषयोंमें लगाये, जो भगवान् तथा महापुरुषोंके संसर्ग या सम्बन्धसे भगवद्भावसम्पन्न हो चुके हों। ऐसा करनेपर उन्हें सर्वत्र तथा सर्वदा सत्सङ्ग ही मिलता रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन श्रीभगवान् और सच्चे महापुरुषोंके सम्बन्धमें है। ऐसे महापुरुष कोई विरले ही होते हैं। इस सिद्धान्तका दुरुपयोग करके जो दुराचारीलोग शास्त्रों तथा भगवान्‌का खण्डन करते हुए दम्भपूर्वक स्वयं अपनेको भगवान् या महापुरुष बतलाकर अपने कल्पित मिथ्या नामका जप-कीर्तन करवाते, अपने नश्वर शरीरको पुजवाते, अपने चित्रका ध्यान करवाते और इस प्रकार जनताको धोखा देकर स्वार्थ-साधन करते हैं, वे वस्तुतः बड़ा पाप करते हैं। ऐसे लोगोंको महापुरुष मानना बड़े-से-बड़े धोखेमें पड़ना है तथा ऐसे लोगोंका सङ्ग करना बड़े-से-बड़ा कुसङ्ग है।

असलमें यह एक सिद्धान्त है कि जिस प्रकारके भाववाले पुरुषका संसर्ग जिस मात्रामें चेतनाचेतन पदार्थोंको प्राप्त होता है, उसी प्रकारके भावोंका उसी अनुपातमें न्यूनाधिकरूपसे उनमें प्रवेश होता है। और यह प्रवेश जैसे महात्माओंके भावोंका होता है, वैसे ही दुरात्माओंके भावोंका भी होता है। महात्माओंके भावोंका जैसे सच्चे श्रद्धालु व्यक्तियोंपर तथा सात्त्विक पदार्थोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है, वैसे ही दुराचारियोंके भावोंका दुराचारपरायण व्यक्तियों एवं राजस-तामस पदार्थोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है। इसीलिये अब यहाँ कुसङ्गके फलपर संक्षेपमें विचार किया जाता है।

दुराचारी पुरुष और दुराचारियोंके कुसङ्गका फल

जिस प्रकार सत्सङ्गसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार कुसङ्गसे बुरा प्रभाव पड़ता है। भगवद्भावसे रहित नास्तिक, विषयी, पामर और दुराचारी व्यक्तियों-का सङ्ग तो प्रत्यक्ष हानिकारक और पतन करनेवाला है ही; इनके संसर्गमें आये हुए मनुष्य, पशु-पक्षी और जड पदार्थोंका संसर्ग भी हानिकारक है। जो लोग गंदे नाटक-सिनेमा देखते हैं, रेडियोके शृङ्गारपरक गंदे गाने तथा वार्तालाप सुनते हैं, घरोंमें ग्रामोफोनादि-पर गंदे रेकार्ड चढ़ाकर सुनते-सुनाते हैं, व्यभिचारियों और अनाचारियोंके मुहल्लोंमें रहते हैं, और उन लोगोंके संसर्गमें आये हुए पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनपर भी बुरा असर होता है। और जो लोग मोह या स्वार्थवश ऐसे लोगोंका सेवन, सङ्ग तथा अनुकरण करते हैं, उनका तो—इच्छा न होनेपर भी—शीघ्र पतन हो जाता है। सङ्गका रंग चढ़े बिना नहीं रहता। एक आदमी जूआ खेलना बुरा समझता है, चोरी-डकैतीको पाप मानता है, शराबसे दूर रहना चाहता है, अनाचार-व्यभिचारकी बात भी नहीं सुनना चाहता, वह भी यदि ऐसे लोगोंके गिरोहमें किसी भी कारणसे सम्मिलित होने लगता है और यदि उसे अनिष्टकर मानकर शीघ्र ही छोड़ नहीं देता तो कुछ ही समयमें उस सङ्गदोषके कारण पहले उन कुकर्मोंसे उसकी घृणा कम होती है, फिर घृणाका नाश होता है, तदनन्तर उनमें प्रवृत्ति होने लगती है और अन्तमें वह भी प्रायः वैसा ही बन जाता है। इसके अनेकों उदाहरण हमारे सामने हैं।

कामीके सङ्गसे कामका, क्रोधीके सङ्गसे क्रोधका और लोभीके सङ्गसे लोभका प्रकट होना, बढ़ना और तदनुसार क्रिया करवा देना स्वाभाविक होता है। काम-क्रोध-लोभ जिनमें उत्पन्न होकर बढ़ जाते हैं,

उनका पतन अवश्यम्भावी है। भगवान्‌ने इनको नरकका द्वार और आत्माका पतन करनेवाला बतलाया है (गीता १६। २१)। सङ्गदोषसे चरित्र बिगड़ जाता है, खान-पान भ्रष्ट हो जाता है और मनमें तथा आचरणोंमें नाना प्रकारके दोष आकर दृढ़ताके साथ अपना डेरा जमा लेते हैं। इसीलिये शास्त्रोंने अमुक-अमुक स्थितियों-के तथा अमुक-अमुक कार्य करनेवाले लोगोंके संसर्गसे बचनेकी आज्ञा दी है, यहाँतक कि उन्हें स्पर्श करनेतकका निषेध किया है। इनमें प्रसूतिका और रजस्वलावस्थामें पूजनीया माता, प्रियतमा पत्नी तथा अपने ही शरीरसे उत्पन्न पुत्रीतकके स्पर्शका निषेध किया है। आज भी विशेषज्ञ डाक्टर आदि किसी संक्रामक रोगसे पीड़ित रोगीको छूकर हाथ धोते हैं और किसी अंशमें इस सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं। यह वैज्ञानिक तत्त्व है। हमारे परम विज्ञ ऋषि-मुनि दीर्घदृष्टि और सूक्ष्मदृष्टिसे सम्पन्न थे। प्रत्येक वस्तुके परिणामको जानते थे, इसीसे उन्होंने स्पर्शास्पर्शकी विधिका निर्दोष निर्माण किया था। यह केवल सङ्गदोषसे बचनेके लिये था, न कि किसी जाति या व्यक्तिविशेषसे घृणा करनेके लिये।

दुराचारी नर-नारियोंके सङ्गका तो बुरा असर होता ही है, पशु-पक्षियोंकी कुत्सित क्रिया, चित्रलिखे कुत्सित दृश्य, समाचारपत्रोंमें प्रकाशित नारियों आदिके चित्र, किसीके अश्लील और घृणित वर्ताव और क्रियाओंका वर्णन देखने, सुनने और पढ़नेसे भी चित्तमें असद्भावोंकी जागृति हो जाती है। इस तत्त्वको समझकर मनुष्यको सब प्रकारके कुसङ्गका सर्वथा त्याग करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

नरकमें रहकर वहाँकी यन्त्रणा भोगना अच्छा, पर विधाता कहीं बुरा सङ्ग न दे। क्षणभरका बुरा सङ्ग भी गिरानेवाला होता है।

काम या प्रेम

बहुत बार हम प्रेमके नामपर कामकी उपासना करते हैं। हमें मलिन काम नचाता रहता है और हम भ्रमवश प्रेमकी निर्मल वेदीपर आत्मोत्सर्ग करनेका दम भरते हैं, जगत्‌के सामने एक परमोज्ज्वल आदर्श स्थापित कर जानेका स्वप्न देखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि केवल अपने-आप ही नहीं गिरते, अपने तथा कल्पित प्रेमास्पदको भी अन्धकारमें घसीट ले जाते हैं। साथ ही इससे जगत्‌में इतने दूषित परमाणु फैल जाते हैं कि वैसे सजातीय मनवाले व्यक्तियोंके भी सुप्त संस्कार जग उठते हैं, उन्हें भी हमारा अनुकरण करनेमें गौरवकी अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार प्रेमका निर्मल नाम तो कलङ्कित होता ही है, समाजको, राष्ट्रको, विश्वको, इनमें हमारा जहाँ जैसा जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसके अनुपातसे छिन्न-भिन्न कर देनेमें, इनके लिये अशान्ति, दुःख, विपत्तिका जाल रच देनेमें हम निमित्त बन जाते हैं। और यह स्थिति बड़ी दयनीय होती है। अतः प्रारम्भसे ही हमें सावधान होकर बढ़ना चाहिये। हम आत्म-निरीक्षण करते रहें—कामके चंगुलमें हैं या प्रेमका निर्मल आकर्षण हमें आकर्षित कर रहा है?

यह बात ध्रुव सत्यरूपमें स्वीकार कर लें कि हम एवं हमारे प्रेमास्पद—इन दोनोंके बीचमें यदि भगवान्‌के लिये स्थान नहीं है, हमारा एवं हमारे किसी भी प्रेमास्पदका पारस्परिक सम्बन्ध प्रभुकी भावनासे शून्य है, तो चाहे ऊपरी ठाट-बाट, बाहरका ढंग कितना भी सुन्दर, सुव्यवस्थित, पवित्र क्यों न प्रतीत हो, है वह वास्तवमें कामका ही पसारा। ऐन्द्रिय विषयोंसे पूर्ण, कलुषित मनके द्वारा यथेच्छ स्थापित किये हुए सम्बन्धमें काम भरा हो—इसमें तो कहना ही क्या, जो सम्बन्ध सर्वथा वैधरीतिसे स्थापित हुए हैं, जिनमें कहीं भी, तनिक भी, मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं हुआ है, उन सम्बन्धोंमें भी प्रेमका भ्रम होता है, और वहाँ रहता है काम। भारतके सूक्ष्मदर्शियों (Occultists) को इसका पूरा पता था। वे इसका विश्लेषण कर गये हैं—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ५ । ६)

'यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है। पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं।'

यह पढ़-सुनकर एक बार तो ऐसा लगेगा कि यह कैसे हो सकता है? क्या हमारे सभी पारिवारिक, कौटुम्बिक सम्बन्ध प्रेमशून्य हैं? नहीं, यह बात नहीं है। परंतु गम्भीरतासे विचारनेपर यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध होगी। विश्वके धरातलपर विभिन्न देश हैं। वहाँके नर-नारियोंके जीवनपर हम सूक्ष्म विचार करें। फिर हमें सन्देह नहीं रहेगा। जबतक हमें अपने सम्बन्धियोंसे सुख मिलनेकी सम्भावना रहती है, सुख मिलता रहता है, तबतक प्रेमसूत्र जुड़ा है। सुखकी आशा मिटी, सुख मिलना बंद हो गया कि बस प्रेम भी टूट गया। न टूटा तो शिथिल तो हो ही जायगा।

इसीलिये ऋषियोंने सुन्दर मर्यादा बाँधी थी, इन समस्त काममूलक सम्बन्धोंको भगवत्प्रेममें परिणत कर देनेकी सरल एवं अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था कर दी थी। वे आदेश दे गये थे—पत्नीको चाहिये कि वह अपने पतिको प्रभुका रूप मानकर ही उससे प्रेम करे, पतिको चाहिये कि अपनी पत्नीको वह प्रभुका ही रूप समझे। पुत्र पितामें प्रभुकी ही भावना करके उनकी सेवा करे। पिता अपने पुत्रको प्रभुकी अभिव्यक्ति मानकर ही उसका संलालन करे। जहाँ जिससे सम्बन्ध हो, उसमें एकमात्र प्रभुको ही अभिव्यक्त देखकर, इस अनुभूतिको सतत बनाये रखकर ही यथायोग्य सेवामें प्रवृत्त हो। इस भावनाका यह निश्चित परिणाम होना ही है कि बहुत शीघ्र ही हमारा अहङ्कार विगलित हो जायगा; हमारे अंदर जो स्पर्धाकी वृत्ति है, दूसरेको फलते-फूलते देखकर हम जो ईर्ष्या करने लगते हैं, यह नष्ट हो जायगी; असूया (परदोषदर्शन) की वृत्ति भी समाप्त हो जायगी; आज जो हम गर्वमें भरकर लोगोंका तिरस्कार कर बैठते हैं, यह भी नहीं रहेगा—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २९ । १५)

तात्पर्य यह कि अनादि संस्कारवश, कर्मवश जब हम जगत्में हैं, तब हमारा लोगोंसे सम्बन्ध हुए बिना रह नहीं सकता। पर यदि हम ऋषियोंकी बाँधी हुई मर्यादाका अनुसरण करें तो इन काममूलक सम्बन्धोंका कोई दोष हमें स्पर्श नहीं कर सकेगा; अपितु हम अपने जीवनके चरम उद्देश्यको भी प्राप्त कर लेंगे। विषको शोधकर हम अमृत बना लेंगे,—हमारे इस काम-सम्बन्धका पर्यवसान भगवत्प्रेममें हो जायगा। पर होगा तब, जब हम करना चाहेंगे। कहीं आजकी भाँति प्रेमका स्वाँग रचने जायँगे, कामका जो प्रवाह बह रहा है, उसीमें सुखका अनुभव कर, प्रभुको बीचमेंसे अलगकर हम भी बह चलेंगे तब तो हो चुका! आज क्या हो रहा है? जरा पाश्चात्त्य देशोंकी ओर दृष्टि उठाकर देखें—यौवनके उन्मादमें युवक-युवती परस्पर मिलते हैं, परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं। उन्मादकी दूसरी लहर उठनेतक न जाने प्रेमका कितना कैसा सुन्दर अभिनय चलता रहता है। पर स्वार्थका एक हलका-सा झोंका लगा, अपेक्षाकृत तनिक-सा अधिक सुन्दर सुखका दूसरा साधन सामने उपस्थित हुआ कि समस्त प्रेम क्षणभरमें हवा हो जाता है। पत्नी दूसरा पति वरण करती है, पति दूसरी पत्नी स्वीकार करता है। यहाँ भी जो मन पहले था, वह तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है; यहाँ भी ठेस लगते देर नहीं लगती तथा इसे भी छोड़कर नया सम्बन्ध स्थापित होता है। एक-दो-तीन चार—न जाने कितने परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक सम्बन्धके आरम्भमें ही प्रेमका नाटक तो ठीक-ठीक साङ्गोपाङ्ग ही पूर्ण होता है। ऊपरसे देखनेपर ठीक ऐसा लगता है मानो सचमुच ही इस बार दो हृदय सदाके लिये एक होने जा रहे हैं। पर होता वही है जो कामके क्षेत्रमें सदा हुआ करता है। दूसरा प्रलोभन आता ही है, तथा दोनों नये सुखकी खोजमें नया सम्बन्ध ढूँढ़ने चल पड़ते हैं। और मजा यह है कि ऐसा होना, ऐसा करना सभ्यताका अङ्ग माना जाने लगा है; इसका विरोध करनेवाले, सत्यको सामने रखनेवाले व्यक्ति पिछड़े हुए समझे जाते हैं। भारतवर्षपर भी इस उन्मादी लहरकी छाया पड़ने लगी है। इसका कुछ-कुछ नमूना हम अपने स्कूल-कालेजोंके छात्र-छात्राओंमें, उच्छृङ्खल युवक-युवतियोंमें देख सकते हैं। हमारे ऋषियोंने जो सुन्दर मर्यादा बाँधी थी, प्रत्येक काममूलक सम्बन्धको ही विशुद्धतम बना देनेकी जो उनकी व्यवस्था थी, उसके प्रति हमारे अधिकांश शिक्षित युवक-युवतीवर्गका आदर नहीं

रहा है। अपने अतीतके गौरवमय अध्यात्मप्रवण इतिहासको वे अविकसित पुरुषोंका जीवन मानने लगे हैं। उनका आदर्श बन रहा है आजका वह समाज, जो भोग भोगनेकी पूरी स्वतन्त्रता देता है, जहाँ जिसमें नाना प्रकारके विषयोंको प्राप्त करनेकी, विषयोंका उपभोग करनेकी घुड़दौड़ मच रही है। इस आदर्शके अनुरूप ही वे अपना जीवन-निर्माण करने लगते हैं। उन्हें पुरानी बातें पसंद नहीं,-उन्हें तो नवीनता चाहिये, विकसित युगकी बातें ही वे ग्रहण करेंगे, और इसीलिये उनके प्रेमका क्षेत्र भी इस युगके अनुरूप ही होता है। कामके नग्न-नृत्यको ही वे प्रेमका विलास मानते हैं और उस प्रेमकी वेदीपर बलिदान होनेमें अपनेको अत्यन्त गौरवान्वित अनुभव करते हैं। यह है आजकी दशा !

जो हो, हममेंसे जिनका विवेक सर्वथा मर नहीं गया है, जो अपने जीवनको केवल अपने लिये ही नहीं—समाज, राष्ट्र, विश्वके हितकी दृष्टिसे भी उन्नत देखना चाहते हैं, उन्हें तो सावधान ही होना चाहिये। हम कहीं भी प्रेम-सम्बन्ध स्थापित क्यों न करें, सबसे पहले वहाँ प्रभुको लाकर खड़ा करें। इस रूपमें प्रभु ही हमारे सामने हैं, यह भावना अक्षुण्ण बनी रहे। अन्यथा इस भावनासे रहित कोई भी सम्बन्ध काममय सम्बन्धमें परिणत हुए बिना नहीं रहेगा। भले ही उसका प्रारम्भिक रूप कितना भी पवित्र, कैसा भी सुन्दर क्यों न हो। तथा इस भावनाके साथ ही बहुत नहीं तो कम-से-कम एक बातका और ध्यान रक्खें। प्रेममें स्वार्थ साधनेकी वृत्ति, किसी प्रकारकी भी स्वसुखभावना—हमें प्रेमास्पदके द्वारा सुख मिले—यह भावना नहीं रह सकती। विशुद्ध प्रेममें तो अपना सर्वस्व समर्पणकर प्रेमास्पदको सुखी करनेकी ही वासना रहती है, उससे सुख पानेकी नहीं। जहाँ स्वयं सुख पानेकी इच्छा है, वहाँ प्रेम नहीं—काम है, यह मान लेना चाहिये; किंतु हम इस सम्बन्धमें बहुत बार धोखा खा जाते हैं। हमारा अहंभाव हमें ठगता रहता है। हम समझते हैं, हम तो प्रेम कर रहे हैं, हमारे मनमें एकमात्र प्रेमास्पदके सुखकी ही वासना है; पर वास्तवमें हम करते रहते हैं कामकी उपासना, हमारे अंदर भरी होती है प्रेमास्पदसे स्वयं सुख पानेकी छिपी लालसा। इस भ्रमजालको भी हमें अवश्य तोड़ देना है; इस छिपे स्वार्थकी, स्वसुख-लाभकी वृत्तिको शीघ्र-से-शीघ्र कुचल देनी है। यह कुछ कठिन अवश्य है; पर करनेसे क्या नहीं होता। कामको—स्वसुखवासनाको प्रेमका स्वाँग देकर हमारे सामने रखनेवाली अहंताको हम एक बार ठीकसे पहचान लें तथा पहचानकर निरन्तर सजग बने रहें। अपने किसी भी प्रेमके सम्बन्धमें हमें अपने अंदर उसकी तनिक भी गन्ध मिले कि बस उसी क्षण इसे विशुद्ध प्रेमके निर्मल सुवाससे ढँक दें; हमारा प्यारा सुखी हो, हमें इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिये—इस परम पुनीत सरस सुरभित भावनाको जाग्रत्कर अन्य समस्त वृत्तियोंको शान्त कर दें। एक बार, दस बार, सौ बार, हजार बार—जितनी बार हमारी वह अहंता, कामकी माया—अँधेरा फैलावे, उतनी बार हम विशुद्ध प्रेमप्रदीपकी लौको तेजकर, उसके आलोकमें प्रेमास्पदको देखने लग जायँ। फिर तो क्रमशः वह लौ उज्ज्वल, उज्ज्वलतर होती जायगी, एवं अँधेरा क्षीण-क्षीणतर होता जायगा। किसी दिन यह अँधेरा सर्वथा, सदाके लिये विलुप्त हो जायगा और बच रहेगा एकमात्र हमारा प्रेमास्पद। प्रेमास्पद कौन ? प्रभु ! इसी स्थितिका संकेत इन श्रुतियोंमें प्राप्त होता है—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। (छान्दोग्योपनिषद् ७। २४। १)

'जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वही भूमा (प्रभु) है।'

प्रेम एवं कामका अन्तर हमारे आचार्योंने विस्तृतरूपसे बताया है। प्रेमके महामहिम पुजारियोंने सूक्ष्म विवेचनके द्वारा समझाया है—किस प्रकार हमारी अहंता कामको प्रेमका नकाब पहना देती है। पर उनके विवेचनको, उनके दिये हुए दिव्य उदाहरणोंको हम हृदयङ्गम कर सकें—यह भी सम्भव नहीं। कामसे अभिभूत हुए हमारे मनमें उन दिव्य भावोंके लिये स्थान ही नहीं, कामका इतना गहरा काला रंग हममेंसे अधिकांशके ऊपर चढ़ गया है। उनका तो उल्लेख ही व्यर्थ है। पर हम जहाँ हैं, हमारा मस्तिष्क जिस धरातल-पर क्रियाशील है, उसके अनुरूप विवेचन भी यदि हम ग्रहण करना चाहेंगे तो हमें मिल सकते हैं। एक पाश्चात्त्य संतने प्रच्छन्न कामका जाल रचनेवाली हमारी अहंताका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। यदि हम उन संतकी इन थोड़ी-सी बातोंको ही समझ लें, ग्रहण कर लें, और फिर उसके सहारे आत्मनिरीक्षण करते हुए ऊपर उठने लग जायँ तो सचमुच देखते-ही-देखते ऊपर उठ ही जायँ। हमारा काम बन जाय, स्वार्थकी वृत्तिपर हम विजय पा लें, अहंताके भ्रममें फिर न फँसें। वे संत कहते हैं—

"अहंकारका एक रूप और है, जो इतना प्रच्छन्न रहता

है कि ऊपरसे अहंकारका अत्यन्त विरोधी भाव प्रतीत होता है। इस प्रकारके अहंकारसे, उसकी छद्मवेषताके कारण हमें सजग होकर अपनी रक्षा करनी चाहिये। यह अहङ्कार प्रायः प्रेमके साथ देखनेको मिलता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रेमसे स्त्री-पुरुषके दाम्पत्य-प्रणयका ही अर्थ ग्रहण किया जाय; किंतु फिर भी न्यूनाधिक रूपमें प्रबल प्रेमसे तो आशय है ही। अहंकारके अन्य रूपोंकी भाँति इसमें भी स्वार्थ एवं अहम्मन्यतासे सम्बन्ध रहता है; पर यहाँ इन दोनोंका वेश ऐसा बदला रहता है कि सुतीक्ष्ण दृष्टिके बिना उनको देखना असम्भव है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक स्त्री अपनी किसी सखीको इतना प्यार करती है मानो उसकी पूजा-सी करती है। अपनी सखीके लिये जो-जो करना सम्भव प्रतीत होता है, उसे करनेमें अपना सारा समय व्यय करती है। उसको मिठाई और फूल देने, उसके लिये सुन्दर-सुन्दर अधोवस्त्र बनाने, उसके पास असंख्य सन्देश भेजने, उसके फटे कपड़ोंको ठीक करनेसे लेकर उसके केशप्रसाधन आदिमें सहायता करनेतकके सभी कामोंको वह करती रहती है। प्रेमके इस प्रचुर प्रदर्शनको देखकर कुछ लोग कहेंगे, 'अहा! कैसी आराधना है! कितना हृदयस्पर्शी! कितना सुन्दर! कैसा निःस्वार्थ प्रेम है!' परंतु क्या सचमुच यह निःस्वार्थ प्रेम है? जब यह परमासक्त स्त्री सुनती है—किसीने उसकी सखीको मिठाइयाँ दी हैं, उसके लिये कुछ और भी किया है—उस समय यह सुनकर उसे पूर्ण सुखकी अनुभूति होती है क्या? उसका चित्त बिल्कुल शान्त रहता है क्या? उसके मनमें तो एक विकलता उत्पन्न हो जाती है, जिसको वह बता तो नहीं सकती; पर उससे उसका मन अस्थिर हो जाता है और उसके जीवनमें उल्लास बरसानेवाली ज्योत्स्ना कुछ मन्द हो जाती है। न जाने क्यों वह सोच लेती है कि दूसरोंकी दी हुई मिठाइयोंमें उतना स्वाद नहीं होना चाहिये जितना उसकी; दूसरोंका सन्देशवहन उतना सफल नहीं होना चाहिये जितना उसका; दूसरोंके दिये हुए केश धोनेवाले चूर्णोंमें उतना असर या सुगन्ध न होना चाहिये जितना उसके दिये हुए चूर्णोंमें। इसी प्रकार अन्य बातोंमें भी उसे दूसरेका हस्तक्षेप नहीं सुहाता। अब कल्पना करें कि कोई अदृश्य व्यक्ति उससे प्रश्न करता है, 'क्योंजी! क्या तुम नहीं चाहती कि तुम्हारी सखी सुखी रहे?' फिर तो वह प्रेमातिरेकसे उत्तर देगी—'कौन कहता है? मैं तो दिनभर उसे सुखी करनेकी चेष्टामें निरत रहनेके अतिरिक्त और कुछ करती ही नहीं। उसके सुखके लिये तो मैं अपने प्राणोंकी भी बलि दे सकती हूँ।' और कहीं वही अदृश्य स्वर पुनः पूछ बैठे—'फिर उसको सुख मिलनेपर तुम अशान्त क्यों होती हो?' अब यहाँ तो बस, मौन है। कोई उत्तर नहीं।

"बात क्या है? यह सारी स्वार्थहीनता केवल मिथ्या स्वार्थहीनता है। वास्तवमें यह रूप बदले हुए अहङ्कार है। जबतक वह परमासक्त स्त्री अपनी सखीको सुख देनेका कार्य स्वयं सम्पन्न करती है, आनन्द-ही-आनन्द है; किंतु जहाँ किसी दूसरेने उसे वैसे ही सुख पहुँचाया कि बस, दुःख होने लगता है। जिस प्रकार ईर्ष्याका वास्तविक कारण अहम्मन्यता है, उसी प्रकार यहाँ भी देनेका एकमात्र अधिकार अपनेमें ही सुरक्षित रखनेकी इच्छा भी अहम्मन्यतासे ही उत्पन्न होती है। यह कहना अनावश्यक है कि जहाँ कहीं भी अहम्मन्यता है, वहाँ अहंकार है ही; क्योंकि दूसरा पहलेकी ही एक वृत्ति है। यह कहा जाता है, 'वह धन्य है, जो प्रसन्नतापूर्वक देता है।' परंतु कभी-कभी ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा कि 'दूसरे व्यक्ति दे सकें, प्रसन्नतापूर्वक दूसरोंको यह आज्ञा दे देनेवाला धन्य है।' हमें इसकी चिन्ता क्यों हो कि हमारे प्रेमास्पदको सुख किससे मिलता है? मुख्य बात तो यह है कि हम जिन्हें प्यार करते हैं, वे सुखी रहें। जगत्‌में इस प्रकारकी मिथ्या स्वार्थहीनता तथा मिथ्या स्वार्थपूर्ण प्रेमके उदाहरण बहुत हैं। इसकी झलक नाना प्रकारके सम्बन्धोंमें दीख पड़ती है, जैसे—माता-पुत्रोंमें, माँ-बेटियोंमें, पति-पत्नियोंमें और दो प्रेमियोंमें।"

इसके पश्चात् वे संत पाश्चात्य देशकी सभ्यताके अनुरूप युवक-युवतियोंमें परस्पर होनेवाले प्रेमका, उनके वैवाहिक सम्बन्धका आदि-अन्त चित्रितकर स्पष्ट कर देते हैं कि किस प्रकार इसमें स्वार्थका नग्ननृत्य भरा होता है। आज भारतके युवक-युवती अपने पुनीत सिद्धान्तसे, धर्ममय मर्यादासे च्युत होकर, व्यामोहमें पड़कर जिस प्रेमका अनुकरण करनेमें गौरवकी अनुभूति करते हैं, वह वास्तवमें कितना मलिन स्वार्थमय सम्बन्ध है—यह संतके उस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है। वे बतलाते हैं—

"प्रदर्शन-प्रिय प्रेमियोंकी तो एक जाति होती है, जो इसका पूरा-पूरा चित्र खड़ा कर देती है। इस प्रकारका प्रेमी (कल्पना कर लें आप स्त्री हैं तो) आपके लिये दिनमें बीसों बार मरनेको तैयार रहेगा। × × × आपको अनुभव होगा—इससे पूर्व संसारमें कभी भी किसीने भी आपको

इतना प्यार नहीं किया, आपकी इतनी पूछ कभी नहीं हुई, और किसीके लिये भी आप उसके जीवनकी इतनी आवश्यक वस्तु सिद्ध नहीं हुई। उसके मुखसे प्रवाहित होनेवाली स्नेहस्यन्दिनी वाणी आपको सातवें आसमानपर चढ़ा देगी। आप बार-बार उसके मुखसे सुनेंगे—'प्रिये! विधाताका सम्पूर्ण कौशल तुम्हारी रचनामें ही व्यक्त हुआ है; कहीं भी, किसी भी दृष्टिसे कोई कसर नहीं रही; तुम तो पूर्णताकी खान हो।' तथा इस प्रकार अपना समादर करनेवाले, अपनेसे इतना प्रेम करनेवाले व्यक्तिको पाकर आप सुखमय आश्चर्यमें डूब जायँगी। ××× ठीक भी है; इसमें सन्देह नहीं कि यह सुख अपूर्व है। किंतु अफीम खानेवालेके भी आरम्भकालीन स्वप्न ऐसे ही होते हैं—मत्त आह्लादपूर्ण, चमचमाते हुए मनोराज्य! पर इसमें पीछे प्रतीत होनेवाली कमियोंका क्या रूप है? आपको पता लगने लगता है कि इस प्रकारसे अत्यन्त चाहे जानेमें भी कोरी मिठास-ही-मिठास तो नहीं है। (और मान लें उस अनुभवके पूर्व ही आपका उसी व्यक्तिसे विवाह हो गया) फिर तो आपको अनुभव होगा कि आप एक जालमें फँस गयी हैं—××× और उस पतिके व्यवहार-वर्तावसे अन्तमें आप इस भयानक निष्कर्षपर पहुँचती हैं कि वह जो प्रेमी (विवाहसे पूर्व) जगत्का सर्वश्रेष्ठ नमूना प्रतीत होता था, आज सर्वाधिक स्वार्थी और एक अत्यन्त असह्य पति बन गया है। दुर्भाग्यकी बात तो यह है कि आपका ऐसा सोचना ठीक है। क्या आरम्भसे लेकर अबतक वह सचमुच आपको ही प्यार कर रहा था? नहीं, वह अपने आपको प्यार कर रहा था, उस सुखको चाह रहा था जो उसे आपसे मिल रहा था। उसका अभिप्राय एकमात्र अपने सुख पानेसे था और उसकी समस्त मनोरम वचनावलियाँ स्वार्थपूर्ण अनुरोधका रूपान्तरमात्र थीं। यदि आपने उसे ठुकरा दिया होता तो वह मरनेको तैयार हो जाता—यह मृत्युका आवाहन आपके लिये नहीं, आपके कारणसे! उसकी अहम्मन्यतापर पहुँचा हुआ आघात तथा उसकी अभिलाषाओंका मर्दन उसके लिये इतना असह्य हो जाता कि वह आत्मघात करके शान्ति प्राप्त करना चाहता। वह तो सबसे बड़ा अहंकारी है, जो अभिलषित वस्तुको न प्राप्त करनेकी अपेक्षा जीवित न रहनेको श्रेयस्कर समझेगा। साधारण अन्तरके साथ उसके समान सहस्रों व्यक्ति प्रेमका दम भरनेवाले मिलेंगे। 'भग्नहृदय होकर मर जाना!' इस काव्यमय प्रतीत होनेवाले वाक्यका वास्तविक अर्थ क्या है? स्वार्थके कारण मरना। अलभ्य वस्तुकी निरन्तर चाहसे अभिभूत होकर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।"

"स्वार्थ और अहंकार कितने प्रच्छन्न हो सकते हैं और इनमें भी अहंकार हमारे चरित्रके प्रत्येक छिद्रों और दरारोंमें कीटाणुकी भाँति चुपकेसे पहुँचकर, जहाँ बिल्कुल भी आशा नहीं है, ऐसे स्थलोंपर सिर निकालकर कैसे झाँकने लगता है—यह हम देख लें। इस साँपसे अपनी रक्षा करें। यह बड़ा भयानक है—नहीं-नहीं, यह हमारे समस्त सौन्दर्यको नष्ट कर देनेवाला रोगकीटाणु है। इसे तो ज्ञानरूप शोधक एवं निर्विष कर देनेवाले औषधविशेषसे नष्ट ही कर देना चाहिये।'*

आदरणीय संतके ये उद्गार बड़े ही सरल एवं नपे-तुले हैं, पर हैं अत्यन्त व्यापक। जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें इन भावोंकी कसौटीपर अपनी चेष्टाओंको कसकर देख लें। हम स्वार्थ (काम) के कण्टकमय वनमें चक्कर लगा रहे हैं, या निर्मल प्रेमके राज्यमार्गपर अग्रसर हो रहे हैं—यह निर्णय हमें मिल जायगा तथा वस्तुस्थिति समझ लेनेपर हम यदि अपना सुधार करना चाहें तो अवश्य कर सकते हैं।

हमारा भ्रान्त मन इन बातोंका उल्टा अर्थ भी ले सकता है। वह हमें कहेगा कि जब सर्वत्र सभी सम्बन्ध स्वार्थसे पूर्ण हैं, इनमें विशुद्ध प्रेम है ही नहीं तो चलो, छोड़ो, सबसे अलग हो जाओ। पर यह भी मनका धोखा ही है। हम अलग जायँगे कहाँ? जहाँ जायँगे, मन तो साथ रहेगा! मनमें भरा है संसार, भरी है स्वार्थवासना, काम-लालसा। बाहरसे सर्वथा वैरागी बनकर भी भीतरसे अत्यन्त कलुषपूर्ण साम्राज्यमें ही हम विचरते रहेंगे, हमारे अंदरसे सबकी अनजानमें ही विषका प्रवाह बहता रहेगा और न जाने कितने प्राणी उसके सम्पर्कमें आकर पतङ्गकी भाँति झुलसनेका प्रोत्साहन पायेंगे। आवश्यकता तो इस बातकी है कि सच्ची नीयतसे आत्मपरीक्षण करके हम कामरूप विषको शोध डालें। फिर यह अमृत बन जायगा, हमें नवजीवन देकर हमारे लिये, अनेकोंके लिये अनन्त शाश्वत सुख-शान्तिका द्वार खोल देगा।

उपर्युक्त सभी बातोंका सारांश इतना ही है—हमारे प्रत्येक सम्बन्धमें प्रभुकी भावना, उनका अस्तित्व ओतप्रोत रहे। यह हुए विना हम कामके क्षेत्रमें बरबस गिर पड़ेंगे।

* 'THE INITIATE IN THE NEW WORLD' नामक पुस्तकके एक अंशका भावानुवाद।

सारे यशको खो दे सकता है। वे ही लोग, जो उसका एक समय पूजन करते थे, उसका विनाश कर सकते हैं। संसारका प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थको देखता है। जिस व्यक्तिसे उसका स्वार्थ सिद्ध होता है, उसका वह गुणगान करता है। जिससे उसे हानि होती है, उसकी वह निन्दा करता है। वह पहले व्यक्तिके उन्नत होनेकी और दूसरेके विनाशकी इच्छा करता है। जब मनुष्य यशहीन हो जाता है, तब वह जीना भी नहीं चाहता; जब उसका आदर करनेवाले लोग ही उसकी अवहेलना करने लगते हैं अथवा उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगते हैं, तब वह इतना दुखी होता है कि मृत्युतकका आवाहन करने लगता है। फिर इस प्रकारके व्यक्तिकी मृत्यु भी हो जाया करती है। यशस्वी पुरुषका यश गया तो सब कुछ गया। फिर उसका जीना ही व्यर्थ है। यूरोप और भारतवर्षके राजनैतिक क्षेत्रके अनेकों कार्यकर्ता इसी कारण समयके पूर्व ही मर गये।

यशसे अधिक मौलिक वस्तु ज्ञान है। बाहरी परिस्थितियोंसे मनुष्यका रुपया-पैसा खो सकता है, उसका यश नष्ट हो सकता है; परंतु ये उसके ज्ञानको नष्ट नहीं कर सकते। बल्कि संकटोंके पड़नेसे मनुष्यका ज्ञान और भी बढ़ता है। मनुष्यको नयी परिस्थितिमें पड़नेपर नयी-नयी बातें सोचनी पड़ती हैं। फिर भौतिक सम्पत्ति और यश दूसरोंकी इच्छापर भी निर्भर करते हैं, ज्ञान मनुष्यकी अपनी इच्छापर निर्भर करता है। वह अपने ज्ञानको अपने प्रयत्नसे बढ़ा सकता है। जेलमें रहकर धन और यश नहीं कमाये जा सकते, परंतु ज्ञान कमाया जा सकता है। पुस्तकें पढ़नेको मिलीं तो भला है, न मिलीं तो भी मनुष्य अपने अनुभवोंपर मनन करते-करते नये विचारका अन्वेषण कर सकता है। किसी भी नये विचारका आविष्कार मनुष्यके मस्तिष्कमें तब हुआ, जब वह संसारकी चहल-पहलसे अलग था। पुस्तकें ज्ञान-वृद्धिका साधन अवश्य हैं; पर जिसको ज्ञान-पिपासा नहीं, उसके लिये वे व्यर्थ हैं। कई धनिकोंके पास हजारों पुस्तकें रहती हैं; वे केवल उनकी आलमारियोंको सजाती हैं, उनके मस्तिष्कको नहीं सजातीं। ज्ञानका इच्छुक व्यक्ति रास्ते चलते-चलते अपने और संसारके लिये उपयोगी बात सोच लेता है। स्टीविनसन महाशयके इस कथनमें पूरा मौलिक सत्य है कि 'सत्य कुएँकी तलीमें अथवा दूरबीनके आखिरी सिरेपर नहीं है, वह तो सत्यान्वेषककी दृष्टिमें है। ज्ञानकी खोज करनेवालेको ज्ञान जहाँ-तहाँ दिखायी देता है, पर ज्ञानकी चाह न रखनेवालेको वह कहीं नहीं दिखायी देता। अतएव ऊपर कही गयी दो वस्तुओंसे अधिक स्थायी और सुलभ वस्तु ज्ञान है। विवेकी पुरुष भौतिक सम्पत्ति और कीर्तिके पीछे न दौड़कर ज्ञानकी खोज करता है।

ज्ञानवान् व्यक्तिके धन अथवा कीर्ति नष्ट हो जायँ तो वह इनके चले जानेपर इतना दुखी नहीं होता कि वह जीना ही न चाहे। वह अपने ज्ञानमें ही मस्त रहने लगता है। ऐसे व्यक्तिके लिये पदोंकी प्राप्ति और उनका चला जाना भी कोई महत्त्व नहीं रखता। साधारण शासक वर्तमान कालके लोगोंपर अधिकार रखता है और उसका क्षेत्र सीमित रहता है। पर ज्ञानका शासक न केवल वर्तमान अपितु भविष्यमें आनेवाले लोगोंके मनोंपर भी अपना अधिकार रखता है। और उसके अधिकार किसी देशकी सीमासे आबद्ध नहीं रहते। ज्ञानी न केवल अपने-आपको प्रकाशित करता है, वरं सबको प्रकाशित करता है। वह जिस ज्ञान-ज्योतिको अपने मनमें जलाता है, वह उसके सहज प्रयाससे अपने-आप ही दूसरोंके मनोंमें जल जाती है। अपने-आपको धनी बनानेके प्रयत्नसे तो दूसरोंके सिर गरीबी पड़ती है, अपना यश अधिक बढ़नेपर वह दूसरोंके यशकी बाढ़में रुकावट डालता है। पर अपने ज्ञानके बढ़नेसे दूसरोंका ज्ञान भी घटनेके बदले और भी बढ़ता है। वास्तवमें ज्ञानकी वृद्धिकी प्रक्रिया ही ऐसी है कि दूसरोंके देनेकी चेष्टाके बिना उसकी वृद्धि ही नहीं होती। शिक्षा-मनोविज्ञानका सिद्धान्त है कि यदि किसी शिक्षकको भली प्रकार कोई विषय सीखना हो तो वह विषय किसी कक्षाको पढ़ाने लग जाना चाहिये। हम जितना ही अधिक अपने विचारोंको दूसरोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं, वे स्वयं हमें उतना ही अधिक समझमें आते हैं। आइन्सटीनको अपने रिलेटिविटीके सिद्धान्तपर तबतक विश्वास न हुआ, जबतक वह किसी दूसरे गणितज्ञको न समझा सका। अपने एक ही मित्रको अपना खोजा हुआ सिद्धान्त समझानेमें उसे वर्षों लगे। वास्तवमें इस प्रकारके प्रयत्नसे ही वह सिद्धान्त स्वयं उसे स्पष्ट हुआ। ज्ञान जितना ही दिया जाता है, उतना ही बढ़ता है। यह उसकी विलक्षणता है। यह देनेवालेको भी सुखी करता है और लेनेवालेको भी। धनके देनेसे दानीका मस्तिष्क ऊँचा उठता है, पर लेनेवालेका नीचा होता है। पर ज्ञानमें देनेवाला और लेनेवाला समान ही रहते हैं; क्योंकि इस लेन-देनमें कोई कुछ नहीं खोता।

यहाँ ज्ञानकी मौलिकतापर विचार हुआ। यदि ज्ञानसे

भी बढ़कर कोई मौलिक वस्तु है तो वह मनुष्यकी सद्भावना है। सद्भावनाका सञ्चय भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार धन, यश और ज्ञानका होता है। यह बात साधारणतः लोगोंको स्पष्ट नहीं होती। धन, यश, ज्ञान स्वतः मूल्य नहीं हैं; इनकी मौलिकता दूसरी वस्तुपर निर्भर करती है। धन, यश और ज्ञान—ये सभी इसलिये मूल्यवान् माने जाते हैं कि वे मनुष्यको सन्तोष देते हैं। यदि वे सन्तोष न देते हों तो इन्हें कोई न पूछे। मनकी दुखी अवस्थामें न तो धन अच्छा लगता है, न यश और न ज्ञान। जब मनुष्यके मनमें सद्भावनाके अभावके कारण अन्तर्द्वन्द्व रहता है, तब मनुष्य इन सभीको त्याग देता है और वह मृत्युका आवाहन करने लगता है। उपर्युक्त सभी पदार्थ मूल्यवान् तभीतक हैं, जबतक मनुष्यकी चेतना स्वस्थ है; पर जब भीतरी और बाहरी मनमें विरोध होनेपर चेतनाके स्वास्थ्यपर ही आघात होने लगता है, तब मनुष्य इन सबका अभिमान त्यागकर शून्यावस्थामें जानेकी इच्छा करने लगता है। यही मनुष्यके पागल हो जानेका कारण होता है। आत्मसन्तोष ही सबसे मौलिक वस्तु है। मनुष्य इस आत्मसन्तोषको भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें खोजता है; परंतु ये सभी कभी-न-कभी उसे धोखा दे डालते हैं। संसारका कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं, अतएव लौकिक पदार्थोंके द्वारा प्राप्त किया हुआ सन्तोष कहाँतक स्थिर रह सकता है।

स्थायी आत्म-सन्तोष मनुष्यको अपनी शुभ कामना, सद्भावनाके अतिरिक्त दूसरी किसी बातमें नहीं मिलता। इसीलिये जर्मनीके प्रसिद्ध दार्शनिक इम्मेनुअल कान्ट महाशयने कहा है कि 'सद्भावना एक ऐसी वस्तु है जो निरपेक्ष कीमत रखती है (Good willis the only good 'that is good without qualification)। संसारके अन्य सभी पदार्थ नश्वर हैं। संसारकी भलाई करनेकी इच्छा रखते हुए भी कभी-कभी इच्छित परिणाम नहीं होता। डाक्टर रोगीको आरोग्य प्रदानकी इच्छासे ही ओषधि देता है, पर कभी-कभी उसकी ओषधिसे उसकी मृत्यु भी हो जाती है। चीर-फाड़में तो ऐसा कई बार हो जाता है। इस प्रकारकी मृत्युके लिये हम डाक्टरको दोषी नहीं ठहराते। यदि जान-बूझकर कोई डाक्टर जहरीली ओषधि रोगीको दे अथवा वह जान-बूझकर चीड़ा-फाड़ीमें असावधानी करे, तभी हम उसे दोषी ठहराते हैं। अतएव सबके कल्याणकी भावनामात्र मनमें लाना और उसके लिये पूरा यत्न करना, यही भरोसेकी बात है। वास्तवमें मनुष्यका सच्चा धन यही शुभ भावनाका धन है।

जिस व्यक्तिके पास यह धन है, वह दूसरे धनोंके खो जानेसे उद्विग्न-मन नहीं होता। विवेकी पुरुष दूसरे सभी धनोंका सञ्चय और उनका त्याग इस धनकी प्राप्तिमात्रके लिये करता है। पैसेका भला तभीतक भला है, जबतक वह शुभ कामनाओंकी वृद्धिका साधन है। यदि पैसेकी बाढ़से हमारे हृदयमें सद्भावनाएँ न आकर दुर्भावनाएँ आने लगें तो फिर हमें उसका त्याग ही कर देना आवश्यक है। यदि पैसा देनेपर हमें किसीकी सद्भावना मिलती है तो इस सौदेको बुरा कभी नहीं समझना चाहिये। सद्भावना स्वयं धन है और वह भौतिक धनमें उसी प्रकार सरलतासे परिणत हो सकता है, जिस प्रकार यश और ज्ञान भौतिक धनमें परिणत हो जाते हैं। सद्भावनासे यशकी प्राप्ति होती है और यशसे अर्थकी। एक ही सद्भावनाका व्यक्ति अपने उदाहरणसे लाखोंका भला करनेमें समर्थ होता है। भलाई भी उसी प्रकार संक्रामक है, जिस प्रकार बुराई है। ज्ञानके प्रसारके समान सद्भावनाका प्रसार भी सहज रूपसे होता है।

ज्ञानको हमने स्वतः मूल्य नहीं कहा। ज्ञान सद्भावनाका साधन अवश्य है; पर कितने ही पढ़े-लिखे विद्वान् कहानेवाले लोग सद्भावनाकी खोज न कर पैसा-रुपया अथवा यशकी खोजमें ही लग जाते हैं। संसारका जितना लौकिक ज्ञान आज बढ़ा है, उतना पहले कभी नहीं बढ़ा था; परंतु सद्भावनाके अभावमें यही ज्ञान आज संसारको विनाशोन्मुख बना रहा है। वैज्ञानिकोंने अणुको बड़े परिश्रमसे खोजा। पर इस महाशक्तिकी खोज करके मनुष्य सुखी न होकर और भी अधिक दुखी हो गया है। संसारके सभी लोगोंको भय है कि न जाने अणुबम कब उनका विनाश कर डालेगा; इसके आविष्कारके कारण संसारके धनी और अधिकारीवर्ग तो चैनकी नींद सो ही नहीं सकते। अब हाइड्रोजन-बमके बनाने और मृत्यु-किरणका आविष्कार करनेमें वैज्ञानिक लोग लगे हैं। यह सारा अनर्थ सद्भावनाके अभावके कारण ही हो रहा है।

फिर सद्भावनाकी कमी पागलोंकी संख्याको बढ़ाती है। इस पागलपनकी ओषधि न तो मनुष्यका धन है और न यश तथा ज्ञान ही है। विशाल ज्ञानके रहते भी आज जैसा पागलपन हमें राष्ट्रोंमें और समाजमें दिखायी पड़ता है, वैसा ही व्यक्तिमें भी वर्तमान है। स्वयं ज्ञानमें वह बल नहीं कि

वह मानव-मनके विभिन्न भागोंमें समन्वय स्थापित कर सके। मौतिक ज्ञान मनुष्यको शान्ति नहीं देता, सद्भावनाका अभ्यास ही उसे शान्ति देता है। जब ज्ञानसे मनुष्यके अभिमानकी वृद्धि हो जाती है, तब वह उसे विक्षिप्तताकी ओर ही ले जाता है। जो व्यक्ति कहने लगता है कि मेरे समान दूसरा पण्डित कोई नहीं, वह एक दिन पागलखानेका निवासी बन जाता है। ज्ञानका अभिमान होनेपर यदि संसारसे मान न मिला तो ज्ञान भी दुःखका कारण बन जाता है। मनुष्य देखता है कि मूर्खोंका तो सम्मान होता है और ज्ञानवान्‌की कोई पूछ नहीं। इस दुःखसे पीड़ित होकर वह आत्म-विस्मृतिकी भावना करने लगता है और इस प्रकार अपनी चेतनाको ही, जो वास्तवमें मौलिक वस्तु है, खो देता है।

सद्भावनाकी उपस्थितिमें उपर्युक्त बातें नहीं होतीं। सद्भावनासे जिसका हृदय भरा-पूरा है, वह दूसरे प्रकारके धनकी इच्छा नहीं रखता। भगवान् बुद्ध, ईसा, सुकरात स्वयं फकीर थे। उनके शिष्य बड़े-बड़े धनी लोग भी थे। पर उन्हें उनके धन लेनेकी इच्छा नहीं हुई। जब हालैंडके महान् दार्शनिक स्पैनोजासे उसके मित्रने मरते समय अपना सभी धन लेनेको कहा तो उसने उस मित्रको सन्तोष देनेके लिये ले लिया और फिर उसे उसके सम्बन्धियोंमें ही बाँट दिया। चौदहवें लुईने उसे चौदह हजार फ्रैंककी पेन्शन देनी चाही। स्पैनोजाने कहा मैं इतने धनका क्या करूँगा। मेरा तो खर्च बहुत थोड़ा है और वह मुझे मिल ही जाता है। इन महान् पुरुषोंका आज संसारमें नाम है। उनके पुण्यसे आज हम जीवित हैं। यदि वे न हुए होते तो आपसकी द्वेषाग्निसे संसार भस्म हो गया होता। उनकी सद्भावनाओंने केवल उन्हें ही पुनीत और पूज्य नहीं बनाया वरं हमें भी वे आज भला बननेकी प्रेरणा देती हैं। अतएव इस धनसे बड़ा और कौन धन कहा जा सकता है।

मनमें सद्भावनाके आते ही मन शान्त और स्थिर हो जाता है। सद्भावना मनुष्यमें आत्मविश्वास और मानसिक दृढ़ता लाती है। अपने-आपकी उन्नतिके विषयमें सोचते-सोचते जब मनुष्यका मन चिन्ताग्रस्त हो जाता है और उसे अपने चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखायी देने लगती है, तब उसकी सद्भावनाएँ ही उसके काममें आती हैं। मनुष्यकी सद्भावनाएँ उसका सञ्चित पुण्य है, जो संकटके समय काम आता है। ये ही मनुष्यकी सच्ची मित्र हैं। यदि किसी व्यक्तिने दूसरे व्यक्तिको उसके संकट-कालमें सहायता दी है तो सहायता पानेवाला व्यक्ति भले ही अपने उस सहायककी विपत्तिके समय सहायता न करे, परंतु उसका मन ही उसकी सहायता करता है। बदला पानेके निमित्त सहायता करना सद्भावनाकी वृद्धि नहीं करता, निरपेक्ष सहायता ही सद्भावनाकी वृद्धि करती है। इसका परिणाम अपने-आपकी इच्छा-शक्तिका दृढ़ होना और सब प्रकारकी विपत्तिमें शान्तमन रहना होता है।

सद्भावनाका मनुष्यकी कार्यशीलतासे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, मनुष्यके विचार ही उसकी क्रियाके रूपमें परिणत होते हैं। जिन बातोंके सम्बन्धमें मनुष्य दिन-रात सोचता है, उन्हींकी प्राप्तिके लिये वह कार्य भी करने लगता है। धनका इच्छुक धन-प्राप्तिके लिये, मानका इच्छुक मानकी प्राप्तिके लिये, ज्ञानका इच्छुक ज्ञानकी प्राप्तिके लिये सहज ही चेष्टा करते रहते हैं। इसी प्रकार सद्भावनाका इच्छुक सहज ही सद्भावनाका सञ्चय करता है और तदर्थ प्रयत्न करता रहता है; परन्तु मनुष्यकी बाहरी सफलतासे उसकी सद्भावनाका तौल नहीं करना चाहिये। यदि सद्भावना किसी बड़े कार्यमें प्रकाशित नहीं हुई, तब भी वह महान् वस्तु है। सद्भावनाकी मौलिकता भावनामात्रमें है। अतएव जितनी बार कोई मनुष्य उसका स्वागत करता है, उसकी अनुभूति करता है, उतना ही वह अपने जीवनको मौलिक बनाता है। किसी भावनाकी बार-बार अनुभूति करनेसे वह मनुष्यका स्थायी भाव या स्वभाव बन जाती है। फिर यह स्थायी भाव अनेक कार्योंका कारण बनता है। यदि अनुभव की जानेवाली भावना भली हुई तो तज्जनित स्थायी भाव भी भला होगा और यदि वह बुरी हुई तो स्थायी भाव भी बुरा होगा। मनुष्यके स्थायीभाव निष्क्रिय नहीं रहते। वे सदा सक्रिय रहते हैं। वे मनुष्यकी किसी काममें लगनको बढ़ाते अथवा घटाते हैं। वे ही उसकी रुचियोंके आधार हैं। स्थायी भावोंके अनुसार मनुष्यकी विचारशैली बनती है। अतएव स्थायी भाव भले हैं तो आचरण अपने आप ही भला होगा। मनुष्यके चरित्रका बल उसके स्थायी भावोंमें है। जिस मनुष्यके स्थायी भाव दृढ़ नहीं होते, उसके चरित्रका भी कोई भरोसा नहीं। वह चलित मनका व्यक्ति होता है जो कभी कुछ और कभी कुछ कर बैठता है। अतएव स्थायी भावोंको बनाना अपने-आपको निश्चित चरित्रका व्यक्ति बनाना है। यह अपने-आपपर भरोसा प्राप्त करनेका उपाय है।

महान् चरित्र एक दिनकी वस्तु नहीं, यह अनेक दिनके

प्रयत्नका फल है। एक-एक बूँद जुड़कर समुद्र बनता है, एक-एक पैसा जोड़कर मनुष्य करोड़पति बनता है, इसी प्रकार एक-एक सद्भावनाके परिणामस्वरूप मनुष्य महान् चरित्रको प्राप्त करता है। सबसे कठिन काम अपने-आपपर नियन्त्रण प्राप्त करना है, यह काम एक दिनमें नहीं होता। यह दीर्घकालके प्रयत्नका फल है। इसके लिये प्रतिदिनके सतत अभ्यासकी आवश्यकता है। आत्मनियन्त्रण उसी व्यक्तिको प्राप्त होगा, जो अपने आपको दूसरोंके लिये खोये रहता है, जो सदा सबके लिये शुभ कामना भेजता रहता है। अतएव प्रतिदिन और प्रतिक्षण ही सद्भावनाका अभ्यास करते रहना चाहिये। इसीसे जीवन सफल होगा और सच्चे धनकी प्राप्ति होगी।

रोग और मन्त्र

(लेखक—कविराज श्रीप्रतापसिंहजी)

मैं बालकपनसे ही जप करनेका अभ्यासी हूँ। जब मैं छोटा था, अपने पिताजीको गायत्रीका जप करते देखता था। इससे मुझे भी जप करनेकी ओर आकर्षण हो गया। प्रतिदिन जप एवं पाठ करना और गीता आदिका नियमित रूपसे अध्ययन करना जीवनकी एक साध बन गयी।

जीवनमें अनेक बार जप, तप, योग, साधन आदि किये; पर इस बारके रोगमें जो मन्त्रका प्रभाव देखा, वह आश्चर्यजनक है।

घटना इस प्रकार है—मैं राजस्थानके आयुर्वेदिक विभागका अध्यक्ष नियुक्त हुआ, और पहली बार ही मुझे बीकानेर और जोधपुरमें ग्रीष्मकालीन दौरा करना पड़ा। यहाँकी भयानक गर्मी और लूने अपना काम किया और मैं २५ अप्रैलको उदयपुर पहुँचते ही अंशुघातसे पीड़ित हो गया। प्रारम्भमें दो-तीन दिनोंतक तो व्याधिका प्रभाव अधिक नहीं रहा, पर २७ अप्रैलको उसने उग्ररूप धारण किया और अत्यन्त तीव्र सर्वाङ्ग-दाह, उग्रज्वर और मूर्छाने एक ही साथ शरीरपर प्रबल आक्रमण किया। सन्निपातज्वरके लक्षण भयङ्कर रूपसे व्यापक हो गये। चिकित्सक घबरा गये और विविध प्रकारकी व्यवस्था करने लगे। मुझे सम्भवतः एक बार होश आया और मैंने सब चिकित्साएँ रोक दीं एवं आदेश दिया कि मुझे बिना चिकित्साके ही मरने दो।

इतनेमें ही मैं फिर मूर्छित हो गया। जब मुझे होश आया, रात्रिका अधिकांश बीत चुका था और मुझे एक स्वप्न आया। मैंने देखा, एक काले रंगकी भयङ्कर मूर्ति हाथमें नंगी तलवार लिये मुझपर वार करनेके लिये दौड़ी आ रही है और मेरे समीप आनेपर 'तुम मुझको मार नहीं सकते, मैं महामृत्युञ्जयका पाठ करता हूँ' यह कहते हुए मैंने नीचे लिखे महामृत्युञ्जय-का पाठ करना प्रारम्भ किया। यह तो स्मरण नहीं कि कितने मन्त्रोंका जप किया; किंतु इतना याद है कि कुछ ही मन्त्रोंका जप करते ही वह मूर्ति पीछे हट गयी और मुझे एकलिङ्ग महादेवके दर्शन हुए। मेरा ज्वर उसी दिन कम हो गया और मैं अपने आपको स्वस्थ अनुभव करने लगा। यद्यपि अभी दुर्बलता बहुत है, किंतु शरीर निर्मल हो गया है।

मन्त्र यह है—

'अघोरेभ्योऽपि घोरेभ्यः घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते, अस्तु तत्पुरुषाय विद्महे धियो रुद्रः प्रचोदयात्।'

आशा है 'कल्याण'के पाठक इस मेरे रोगके अनुभव-से लाभ उठायेंगे।

आनन्दाम्बुनिधिको आवेदन ?

'सिरस' सयानो नाहिं, मन,मैं विचार उठो, मिलिवो सहज जग-नाथ राम सों न है।
विधि विष्णु सिवहू के ध्यान मैं न आवै जौन, जपी तपी जोगी मुनि मन मारे मौन है॥
मिलिवो न मिलिवो कृपालु ! है तिहारे हाथ; मेरे हौ अधार, जैसे प्रान हेतु पौन है।
ऊँचनि गुजर विनु नोचन के होत नहीं, नींव वल धाम खड़ो, कहतो न कौन है॥

वाँस वनी वाँसुरी न जानै स्वरभेद नेकु; निकरैगो गीत सोई, जन जो वजावैगो।
वायु की लहर मैं न निज वल वोलिवो है, रेडियो मैं साधु सब्दसोध सुधी भावैगो॥
वारिद वरसि सकै विनु सिंधुजल कहाँ, मन मति गति नाहिं, नाथ कौं रिझावैगो।
करिवो विनयवर 'सिरस' की सक्ति नाहिं, अवर सवर कैसे सामवेद गावैगो॥

वालकपने सों अपनोई नाथ मान्यो तुम्हैं, जौवन उमंगहू मैं रंग राउ पागतो।
प्रौढ़पनो गुन्यो गुन गौरव गोविन्द गीत, विपय-विलास परो तऊ जोर जागतो॥
वृद्धहू वयस मैं सनेह कम परो नाहिं, कैसे ना सनाथ करौ द्वार दान माँगतो।
सर सों सुखातो सिंधु सुन्यो ना 'सिरस' ऐसो, प्रभु की दया तामैं दाग अव लागतो॥

जुवक ह्वै जोर जोरयौं जुवतीन संग सदा, अंग मैं अनंग रंग चढ़ो, वुद्धि लूटै है।
'सिरस' कठोर लोह रगर सों जातो घिस, इंद्रिन विलास रोग लाय देह कूटै है॥
सक्ति हीन दीन भयों जुवा मैं जरठ, हाय! विवस भएहूँ पै न भाव भोग टूटै है।
राघव ! न घाव भरो विपय कौ, वूढ़ो भयौं, जरि गई रसरी, पै ऐंठन न छूटै है॥

'सिरस' दीन दूरि, तऊ दीनानाथ ध्यान देवौ; सुनौ हाल मेरो, कैसे कलुष कमात हौं।
दामिनी सी कामिनी कौं गहौं पै न गहि सकौं; लोभ छन छन देत, लेत ना अघात हौं॥
मोह मद मान सान सनो है 'सिरस' सदा, अधोगतिदायी अभिमान मैं धमात हौं।
विसद विलास वास वपु वल वाला वित्त, वदरी विलोकि दरी-दुनिया समात हौं॥

जग-जाल तोरि तिनुका सों, मोरि मन मंद, द्वंद दुख दोषन सों दूरि, मल धोवैगो।
प्रेम अनुराग जगो प्रभु पद नव नित्य, छन छनहूँ मैं अनन्य भक्ति वीज वोवैगो॥
सेवक 'सिरस' सनमुख सीतानाथ रहि, अम्बुनिधि-आनंद कौं जुग-जुग जोवैगो।
द्रवत दयालु ! दीन पै न देर करौ नेक, करुनानिधान राम कवौं ऐसो होवैगो॥

(१)

ईश्वरपर विश्वास कीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। व्यापारिक उलझनोंके कारण आपकी जो मानसिक स्थिति हो गयी है, वह अवश्य ही शोचनीय है। योजनाओंकी चतुर्दिक् असफलताओंसे निराशा और सन्देहका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। आप आज चारों ओर निराशा देखते हैं। चित्तमें उदासी, विशाद है; सभीपर सन्देह है कि लोग मेरी उपेक्षा करते हैं, अपमान करते हैं और आपके मुँहसे निराशाभरे शब्द निकलते हैं। यह सब ठीक है, पर इस स्थितिको सुधारना है। निराशाभरे भावोंका पोषण करने, निराशाभरे शब्दोंके उच्चारण करने तथा अपनेको एवं दूसरोंको कोसनेसे स्थितिमें सुधार नहीं होगा; ये तो मानसिक दुर्बलताके लक्षण हैं। इनसे संकटोंकी शृङ्खला टूटती नहीं, वरं और भी दृढ़ हो जाती है। इनके बदले आप पवित्र रचनात्मक भावोंको मनमें लायें और वैसे ही शब्द उच्चारण करें। ऐसा करनेसे बल और उत्साह आयेगा, संकटोंको झेलनेकी शक्ति आयेगी तथा संकटोंसे तरनेका मार्ग दिखायी देगा।

श्रीभगवान्पर विश्वास कीजिये। आप निश्चय मानिये, भगवान्ने आपके अंदर वह शक्ति दे रक्खी है, आपको वह साधन प्रदान कर रक्खा है, जिसके प्रयोगसे निराशाकी जगह निश्चित आशाका सञ्चार हो सकता है और असफलता सफलतामें परिवर्तित हो सकती है। वह शक्ति या साधन है—'ईश्वरमें विश्वास रखकर सावधानीके साथ अपने कार्यमें लगे रहना।' ईश्वरमें विश्वास करनेपर ईश्वरीय नियमोंकी रचनात्मक शक्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं और मनुष्य अपने-आप निराशापर विजय प्राप्त करके असफलताके मूल कारणको भी समूल उखाड़ फेंकनेमें समर्थ होता है।

दुखी होने, कोसने, निराश होने, पागलोंकी तरह प्रलाप करने, अपशब्दोंके उच्चारण करने और कार्यमें मन लगाकर प्रयत्न न करनेसे तो उलझनें और भी बढ़ जायँगी। अतएव मेरी आपसे विनीत प्रार्थना है कि आप ईश्वरमें विश्वास करके अपनेको समर्थ बना लें और आशाभरे भावोंका पोषण तथा आशाभरे शब्दोंका उच्चारण करें; फिर दुर्भाग्य आपसे दूर भाग जायगा और आप अपने आध्यात्मिक स्तरकी भी रक्षा कर सकेंगे।

ईश्वरका रचनात्मक विधान सदा-सर्वदा हमारे संकट-नाश और अभ्युदयके लिये प्रस्तुत है। आप इस सत्यको स्वीकार कीजिये; फिर देखिये, आपकी उलझनें किस आसानीसे सुलझती हैं। संशय, भय, क्रोध, निराशा और असफलताके भावोंका पोषण करके तथा बार-बार ऐसे शब्द बोलकर आप उन बीजोंको बो रहे हैं जिनके फल भी यही—संशय, भय, क्रोध, निराशा और असफलता ही होंगे। इनसे बचिये और ईश्वरकी महान् कृपा और उनके स्वाभाविक प्रेमपर विश्वास करके उन्हींके बीज बोइये। फिर उनसे वैसे ही ईश्वरकृपामें और उनके प्रेममें अनन्त विश्वासरूपी महान् फल प्राप्त होंगे।

यदि आप जीवनमें सुख, शान्ति, आनन्द, सफलता और ईश्वर-प्रेम चाहते हैं तो बार-बार इन्हींका चिन्तन कीजिये और इन्हीं शब्दोंका उच्चारण कीजिये। दुःख-अशान्ति, असफलता आदिकी चर्चा और चिन्तन ही बंद कर दीजिये। जो कुछ हो चुका है, उसे भगवान्के मङ्गलविधानका परिणाम मानकर अपने मनमें उसका रूप बदल दीजिये, जिससे आपमें उत्साह, उल्लास और कार्यशीलता आ जाय एवं आपका भविष्य उज्ज्वल तथा सुखपूर्ण हो जाय।

ईश्वरमें आपका विश्वास जितना ही दृढ़तर होगा, आपमें और ईश्वरमें उतना ही अधिक निकटका सम्बन्ध

होगा और आप उतने ही सुख-शान्ति तथा आनन्दका अनुभव करेंगे।

ये बातें मैं केवल आपको ऊपरी सान्त्वना देनेके लिये नहीं लिख रहा हूँ। यह परम सत्य है। कोई भी मनुष्य इसका प्रयोग करके देख सकता है। आप साहस मत छोड़िये और निराश न होइये। भगवान्‌की अपार और अटूट शक्तिपर विश्वास करके कार्योंको सुलझानेमें जुट जाइये। आपको अपने-आप चमत्कार-पूर्ण प्रकाश मिलेगा, पथ मिलेगा और आप अनायास ही कष्टकी कँटीली और जहरीली भूमिको पार करके सुख-शान्तिसे पूर्ण अमृतमयी भूमिमें पहुँच जायँगे।

विपत्तिसे घबरानेवालेकी विपत्ति बढ़ती है, घटती नहीं। विपत्ति तो उसीकी नष्ट होती है, जो विपत्ति-विदारण भगवान्‌के बलपर विश्वास करके विपत्तिको भगानेमें जुट जाता है।

विपत्ति आती ही इसलिये है कि मनुष्य पहले अपने विश्वास करने योग्य वस्तुके चुनावमें भूल करता है। वह यदि पहलेसे ही क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखदायी भोगोंपर विश्वास न करके ईश्वरमें विश्वास करता तो विपत्ति आती ही नहीं। पर जो हो गया, सो हो गया। अब भी असत्यका त्याग करके सत्यको स्वीकार कर लिया जाय तो सारी उलझनें सहज ही सुलझ सकती हैं।

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरि नाम।'

(२)

भगवान्‌का लीलाविलास

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद!

आप आस्तिक-परिवारमें उत्पन्न हुए, यह सौभाग्य-की बात है। इक्कीस वर्षकी आयुतक आप पूर्ण आस्तिक रहे, ऐसा होना परिवारके अनुरूप ही था। बादमें आपकी श्रद्धा मूर्तिपूजापरसे हट गयी, सगुण-उपासना भी बुद्धिको नहीं रुची और निर्गुण-उपासनामें भी मन-बुद्धिका प्रवेश न हो सका। इसका प्रधान कारण है—वैसे सत्सङ्ग और स्वाध्यायका अभाव। आयु और शिक्षा बढ़नेके साथ ही विचारशक्ति भी जाग्रत् होती है; उस समय अपने भीतर जो संशय एवं वितर्कपूर्ण प्रश्न उठते हैं, उनका समाधान होना ही चाहिये। तभी श्रद्धाके लिये सुदृढ़ आधार प्राप्त होता है। आपने अपने भीतरकी इस प्यासको सत्संग और स्वाध्यायके जलसे बुझा दिया होता तो यह अशान्ति नहीं आती। इस सम्बन्धमें मेरी सम्मति यही है कि आप गीताको मनो-योगपूर्वक पढ़ें। मनन करें। सम्भव हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतातत्त्वविवेचनी' का मनन करें, अनुशीलन करें। साथ ही किसी ज्ञानी महापुरुषकी सेवामें उपस्थित होकर अपनी शङ्काओंका समाधान करायें। सत्सङ्गसे आपकी खोयी हुई शान्ति चिरस्थायिनी होकर लौट आ सकती है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

आप यह अनुभव न करें कि मुझमें नास्तिकतापूर्ण विचार आ रहे हैं। विचारोंको उद्बुद्ध होने दें। शङ्काएँ उठती हैं तो उठने दें। प्रश्न और जिज्ञासाका उदय होना उर्वर मस्तिष्कका लक्षण है। इससे आपका उत्साह बढ़ना चाहिये। अवसाद अथवा शैथिल्य क्यों आये?

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक वस्तुको समझ ही ले—यह धारणा भूल हो सकती है; परंतु प्रत्येक मनुष्य अपनेको, अपने 'स्व' या आत्माको समझे—यह उसके लिये अनिवार्य है। इस ज्ञानका वह अधिकारी है। इसे समझे बिना सच्ची शान्ति कहाँ?

आपकी बुद्धि निर्गुण तत्त्वको मानती-सी दीखती है; परंतु वास्तवमें मानती-जानती कुछ नहीं। मानती-जानती होती तो निश्चय ही अपने 'स्व' में उसको असीम शक्तिका साक्षात्कार होता।

जिसमें प्रत्येक वस्तुको मानकर चला जाता है, उस सिद्धान्तसे आप सहमत नहीं, आप अनुसन्धानके द्वारा सत्यका निर्णय करना चाहते हैं—यह ठीक है; परंतु

सत्यको मानना ही पड़ता है । प्रत्येक व्यक्ति 'मैं हूँ' इस सत्यका अनुभव करता है; अतः आत्मसत्ता सबको प्रत्यक्ष है । आत्माको मानकर चलना अनुचित नहीं । आत्मा है या नहीं ? यह प्रश्न नहीं उठता । आत्मा क्या है ? इस प्रश्नका समाधान अपेक्षित है । इसका समाधान होते ही सब कुछ समझमें आ जाता है । गीताने थोड़े-से शब्दोंमें ही इस प्रश्नका उत्तर दिया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

'ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूलशरीरसे परे (श्रेष्ठ) हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे पर 'वह' (आत्मा) है ।'

इस श्लोकका मनन करें । आत्मा बुद्धिसे भी परे है । वही बुद्धिका प्रकाशक और साक्षी है । विशुद्ध आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्वके दो नाम हैं ।

परमात्म-तत्त्व-शोधनकी चिंता होनी ही चाहिये । जो मनुष्य विचारवान् होकर आत्मतत्त्व या परमात्म-तत्त्वकी शोध नहीं करता, उसे आत्म-हननका दोष लगता है, वह घोरतर अन्धकारमें पड़ता है ।

जबतक आपका मन सगुण या निर्गुण किसी भी तत्त्वमें रमता या उसकी ओर आकृष्ट होता है, तबतक आपको अपनेमें नास्तिकताका आरोप नहीं करना चाहिये । सच्चा नास्तिक भी निर्द्वन्द्व रहता है । आपके मनमें सगुण-निर्गुण आदिके प्रश्नको लेकर जो आकुलता छा रही है, वह नास्तिकको प्रभावित नहीं कर सकती । नास्तिक जडवादी होता है । आस्तिक आत्मचैतन्यके प्रकाशका अनुभव करता है । आप नास्तिक कदापि नहीं हैं ।

मनुष्य क्यों उत्पन्न होता है ? इस प्रश्नको और व्यापक रूप भी दिया जा सकता है । जगत्के सम्पूर्ण जीव क्यों उत्पन्न होते हैं ? जैसे वृक्ष और बीज अनादि हैं, वैसे ही जागतिक जीवोंके जन्म-मरणकी परम्परा भी अनादि है । बीज बोया गया, इसलिये वृक्ष उत्पन्न हुआ । उत्पन्न वृक्षमें नूतन बीज उत्पन्न हुए । उन बीजोंके कारण वृक्षके और भी अनेक जन्म हो सकते हैं । बीज जलनेपर ही वृक्षोत्पत्तिकी परम्परा रुक सकती है । इसी प्रकार कर्मबीज ही जागतिक जीवोंकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं । उत्पन्न हुए जीव पुनः नूतन कर्मबीजका सञ्चय करते हैं, जो पुनः उन्हें जन्म-मरणकी परम्परामें बाँधते हैं । ज्ञानाग्निसे, या भगवान्की शरणागतिसे उन बीजोंको जलाये बिना बन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता ।

मनुष्य जागतिक जीवोंमें सबसे श्रेष्ठ माना गया है । ज्ञान और कर्मके जो प्रकृष्ट साधन मनुष्यको प्राप्त हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं । अतः मनुष्य क्यों उत्पन्न हुआ ? इस प्रश्नका महत्त्व भी बढ़ जाता है । कर्मफल-भोगके साथ ही सत्कर्म, भगवद्भजन अथवा तत्त्वज्ञानद्वारा भगवत्प्राप्ति किंवा मुक्तिलाभ करना ही मानव-जन्मका महान् उद्देश्य है । इस उद्देश्यको साधनेके लिये ही मनुष्य उत्पन्न हुआ है । मानव-शरीर मोक्षका द्वार है । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥

आगे कहते हैं—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

इसलिये मानव-जीवनका लक्ष्य है—आत्माको जानना अथवा परमात्माको प्राप्त करना । ज्ञान और भक्ति—ये ही इस लक्ष्यके परम साधन हैं । उपासनासे तत्त्व-ज्ञान और भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति दोनों सध जाते हैं । अतः यही सबके लिये सहज और सुगम साधन है । मनुष्य अपना जीवन कैसे बिताये ? इसका उत्तर गीताके शब्दोंमें इस प्रकार है—

साध्य यज्ञमें अन्तराय आ जानेपर महर्षिको कितना खेद होगा, यह ज्ञात हो गया था। यज्ञरक्षाके कार्यको कितनी सावधानी और श्रमसे श्रीरामने पूर्ण किया, यह समझनेकी—मनन करनेकी वस्तु है।

राज्यके प्रबन्धमें मर्यादा-पुरुषोत्तमने सदा यह ध्यान रक्खा कि राज्यकर्मचारियों या किसी भी शत्रु या हिंसक प्राणीसे प्रजाको कष्ट न हो तथा सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होकर जनताको मानसिक या व्यावहारिक दुःख न भोगना पड़े। राजा और प्रजाका सम्बन्ध पिता और पुत्रका सम्बन्ध है। राजाका कर्तव्य है कि वह प्रजाके हितके लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहे। राजा या राजसचिव जब अपने जीवनको विलासी बना लेता है, तब वह अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता। श्रीरामका संयमपूर्ण जीवन ही राजाका आदर्श जीवन है और तभी प्रजा ऐसे राजाको पिताके समान पूज्य मान पाती है।

मर्यादा-पुरुषोत्तमकी युवावस्था आयी और जैसे उनके धैर्य, संयम, त्याग, सदाचार तथा गुरुजनोंकी आज्ञा-पालन-प्रवृत्तिकी परीक्षा हो गयी हो। चक्रवर्ती महाराज दशरथजीने अपने प्राणाधिक ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराज बनानेकी सारी तैयारी कर ली, जनताने इस कार्यमें सहर्ष सम्मति दी। पर ठीक समयपर धर्म-संकट उपस्थित हो गया। श्रीरामको चौदह वर्ष वनमें रहनेकी आज्ञा मिली। इस आज्ञाको पाकर उनके कमल-मुखकी क्या स्थिति थी, इस सम्बन्धमें महर्षि वाल्मीकिजीने कहा है—

आहूतस्याभिषेकाय प्रस्थितस्य वनाय च।
न मया लक्षितः कश्चित् स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

राज्याभिषेकके लिये बुलाया और वनवासकी आज्ञा सुना दी; पर हर्ष अथवा विषादकी एक रेखातक नहीं आयी श्रीरामके मुखपर। वे ज्यों-के-त्यों निर्विकार बने रहे और यह तब, जब कि वनके कष्टोंका वे अनुभव कर चुके थे। उन क्लेशोंसे विश्वामित्रजीके आश्रममें ही परिचय हो चुका था। सार्वभौम साम्राज्यका त्याग और पूरे चौदह वर्षोंके लिये वनवासके कष्टोंकी स्वीकृति कितना महान् त्याग है। हम भारतवासियोंके हृदयमें श्रीरामकी वह त्यागमयी मूर्ति सदा विराजमान रहेगी और तब भी हम त्यागका यह पावन पथ न अपनायें, यह दुःखकी ही बात है।

तरुणावस्था व्यतीत करके नैष्ठिक वानप्रस्थ लेनेवाले जिन नियमोंको स्वीकार करते हैं, लगभग उन्हीं नियमों-का पालन करते हुए वनमें रहनेकी पिताकी आज्ञा थी। पूर्ण ब्रह्मचर्य, विलासकी वस्तुओंका सर्वाङ्ग त्याग, नगर और ग्रामोंमें न जाना, कन्द-मूल-फलादिका आहार, वर्षा-ग्रीष्म-शीतके आघात सहन करना—इन सब कठोर नियमोंका पालन करना था। मर्यादा-पुरुषोत्तमने शास्त्रमर्यादाकी रक्षा की और उस युवावस्थामें ही इन नियमोंका पूरा पालन किया। वनमें जाते समय भगवती सीता और छोटे भाई लक्ष्मणने साथ चलनेका आग्रह किया और उनके आग्रहको स्वीकार करना पड़ा। परम सुकुमारी पत्नीके साथ वनमें जानेपर कठिनाइयाँ बढ़ेंगी ही, यह बात समझी हुई थी; पर पत्नी और भाईके प्रेमानुरोधको वे स्नेहमय तोड़ नहीं सकते थे। अकेला पुरुष किसी प्रकार वनमें रह लेगा, नियमोंका पालन कर लेगा, कष्ट सह लेगा; पर पत्नीके साथ एकान्तमें रहना और संयमका पालन करना—इसके लिये कितना दृढ़ संयमशील मानस चाहिये, यह कोई भी समझ सकता है। ऐसे लोग, जो घरमें पति-पत्नी दो ही हों, इस कठिनाईको और समझ सकते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम और श्रीजनकनन्दिनी पूरे तेरह वर्ष एकान्त काननमें साथ-साथ रहे। आग्रहपूर्वक अपनाने योग्य है यह आदर्श संयम।

वनवासके अन्तिम वर्षमें कष्टोंकी सीमा ही नहीं रह गयी। राक्षसराज रावण श्रीवैदेहीका हरण कर ले

गया और समुद्रसे घिरी लङ्कामें राक्षसियोंके मध्य उन जनककुमारीको अपने मनोबल एवं तेजसे ही अपने शीलकी रक्षा करनी पड़ी। श्रीरामको पत्नीके परित्राण एवं आततायीको दण्ड देनेके लिये भगीरथ-प्रयत्न करना पड़ा। इस आपत्तिकालमें भी श्रीरामके द्वारा कहीं तनिक भी अधर्माचरणको प्रश्रय नहीं मिला। उनका हृदय सतत धर्मपर स्थिर रहा। कीर्तिके लोभसे या मोहवश उन्होंने लङ्काका संग्राम नहीं किया। उनका श्रम शास्त्रकी आज्ञाके अनुरूप और धर्मके लिये ही था। रावणके वधके पश्चात् जब श्रीसीताजी उनके सम्मुख आयीं, उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि रावणके गृहमें रहनेके कारण उनको स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीजानकीजी न केवल शरीरसे, अपितु हृदयसे भी सर्वथा परम पवित्र, नितान्त निर्दोष हैं—इस बातको मर्यादा-पुरुषोत्तम भली प्रकार जानते थे। उन्हें इसमें कोई सन्देह नहीं था; किंतु आदर्शकी रक्षाके लिये, जनसमाजको तनिक भी आशङ्का न रहे तथा मर्यादामें व्यतिक्रम न आये, इसलिये यह कठोरता धारण की गयी। कौन पतिव्रता पतिद्वारा परित्यक्ता होकर जीवित रहना चाहेगी? भगवती जानकी जलती चितामें प्रविष्ट हुईं और जब प्रज्वलित अग्निकी लपटोंने उनकी पवित्रताकी साक्षी दी, स्वयं अग्निदेव प्रकट हुए श्रीमैथिलीके पातिव्रत्यका प्रमाण देने, तभी श्रीरामने उन्हें स्वीकार किया।

चौदह वर्ष पूरे हुए, भाई और जानकीके साथ श्रीराम अयोध्या लौटे, अयोध्याके सिंहासनपर उनका राज्याभिषेक हुआ; किंतु कुछ ऐसे मन्दबुद्धि पुरुष थे, जिन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तमका श्रीजानकीको अङ्गीकार करना नहीं रुचा। वे इसे मर्यादाविरुद्ध मानने लगे। धीरे-धीरे निन्दा होने लगी और बात श्रीरामके कानोंतक पहुँची। श्रीमैथिलीकी पवित्रताकी साक्षी अग्निदेव दे चुके थे; उनके सम्बन्धमें शङ्का करना ही अनर्थ था; और उस समय वे सगर्भा थीं। किंतु शास्त्रने राजाके लिये पति-पत्नी आदि समस्त निजी सम्बन्धोंकी अपेक्षा प्रजाका रञ्जन ही श्रेष्ठ कर्तव्य बताया है। प्रजाने ही श्रीरामको राजा बनाया है, तब राजधर्मके अनुसार प्रजाको प्रसन्न रखना ही परम कर्तव्य है। प्रजा जब श्रीजानकीका अङ्गीकार अनुचित मानती है, तब पति-पत्नीको समस्त व्यथा सहकर भी अपना राजधर्म पालन करना ही चाहिये। सीताका त्याग हुआ। श्रीरामने अपना जीवन प्रजाके लिये व्यथामय बना लिया। श्रीराम और जानकी दोनोंने यह भयङ्कर कष्ट स्वीकार किया। चौदह वर्षोंके वनवासकी इसके साथ कोई तुलना नहीं थी; यह तो कभी समाप्त न होनेवाला अकल्पित अपार कष्ट था।

निर्दोष, निष्कलङ्क, परम पावन सीता पतिद्वारा त्याग दी गयीं। उन्होंने न तो अपने पूज्य पतिपर कोई आक्षेप किया, न रोष! दोनों अभिन्नहृदय एक-दूसरेकी व्यथा जानते ही थे, कौन किसपर रोष करे। अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ हुआ, ब्राह्मणोंने श्रीरामसे दूसरा विवाह कर लेनेका अनुरोध किया; क्योंकि पत्नीके बिना यज्ञ नहीं हो सकता था। यज्ञ पूरा हो या न हो, श्रीराम दूसरा विवाह कर नहीं सकते। उन्होंने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। परित्यक्ता मैथिलीके प्रति उनका भाव स्पष्ट व्यक्त हो गया। एकपत्नीव्रती श्रीराम अपना व्रत भङ्ग नहीं कर सकते। विवश होकर ब्राह्मणोंने स्वर्णमयी श्रीजानकीकी मूर्ति बनवाकर यज्ञ करनेका विधान किया।

महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें जानकीने आश्रय पाया था। महर्षिने सीताजीके दोनों पुत्रों—लव-कुशको श्रीरामचरितके गानकी शिक्षा दी थी। अश्वमेध-यज्ञसे एक मास पूर्वसे ही महर्षिकी प्रेरणासे लव-कुश अयोध्याकी जनताको अपना रामायण-गान सुना रहे थे। यज्ञमें स्वर्ण-प्रतिमा जानकीके स्थानपर साक्षात् जानकीको दीक्षित करानेके लिये महर्षि पधारे। उन्होंने स्वयं

श्रीमैथिलीकी पवित्रताका वर्णन किया। श्रीरामने प्रजासे सम्मति माँगी, महर्षि वाल्मीकिने विशेषरूपसे श्रीसीताकी पावनताका वर्णन सुनाया; पर प्रजा—प्रजाके लोग कुछ कहनेका साहस न कर सके। वे मूक बने रहे। श्रीरामके चरितपर कलङ्ककी आशङ्काका यह मूक अनुमोदन असह्य था; जानकीजीने भगवती पृथ्वीसे प्रार्थना की और पृथ्वीने उनको अपने भीतर ले लिया। कितना दुःखद, कितना कठोर था यह त्याग! कितना निष्ठुर कर्तव्य और उसका कितना पूर्ण पालन हुआ।

भगवान् श्रीरामका यह आदर्श—यह अपार कष्ट-पूर्ण आदर्श क्या यों ही रक्खा गया जगत्के सम्मुख? उन्होंने कितना महान् क्लेश स्वयं उठाया, कितना त्याग किया—श्रीरामके भक्तोंको इसपर विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीराम और श्रीजानकीके त्यागमय जीवनके अनुरूप भारतीय समाजके आदर्शकी प्रतिष्ठा रखनेके लिये, समाजको सबल बनानेके लिये हम सबको स्वार्थसे ऊपर उठना चाहिये। भगवान् श्रीराम समाजको त्यागकी भावना, सहनशीलता, सदाचार, संयम, श्रद्धा, भक्ति आदि सद्गुण प्रदान करके भारतका कल्याण करें, यही उनके श्रीचरणोंमें हृदयसे प्रार्थना है।

रूप-रहस्य

(लेखक—श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

यह पृथिवी असंख्य जीवोंकी निवासभूमि है। प्राणि-पर्यायका निर्णय करते-करते, प्राणियोंका वर्गविभाग करते-करते और उन वर्गोंमें पारस्परिक सम्बन्धका निरूपण करते-करते विज्ञान परिश्रान्त हो रहा है। प्राणि-राज्यमें पतङ्गिनी (तितली) का जीवन-इतिहास अति कौतूहलजनक है, अति मनोरम है। रवीन्द्रबाबूने अपनी कवितामें लिखा है—

प्रजापतिर बाड़ी कोथाय जाने ना त केऊ।
समस्त दिन कोथाय चले लक्ष हाजार ढेऊ॥

अर्थात्—

'तितलीका घर कहाँ है, यह कोई नहीं जानता। दिन-भर लाखों-लाखों तरङ्गें कहाँ उठा करती हैं?' स्त्री-पुंशक्तिसे उत्पन्न दो दुर्निरीक्ष्य अणु कब और कहाँ सम्मिलित होते हैं, यह कोई नहीं जानता। नवप्रसूत अण्डकणके अधिष्ठानके विषयमें भी किसीको कोई पता नहीं। विकासके तीसरे स्तरमें इस अण्डकणमें प्राणस्पन्दनका लेशमात्र स्फुरण होता है और उसके पश्चात् एक क्षुद्राकार परिपुष्ट डिम्ब (अण्डा) बनता है, परंतु वह भी प्रायः इन्द्रियोंके लिये अगोचर होता है। अङ्गविकासके पञ्चम स्तरमें जो दृश्यमान होता है, उसको अंग्रेजीमें 'लार्वा' कहते हैं। वही बढ़कर जब कुत्सित आकार-में बड़ा होता है, तब उसका नामकरण केटरपिलर होता है। (Larva and caterpillar) कीड़ा रेंगते हुए चलता है। इसके बाद ही उस प्राणीके रूपका पर्दा खुलने लगता है। यह बड़ा ही विचित्र व्यापार है। अंग्रेजीमें इसके सुन्दर-सुन्दर नाम रक्खे गये हैं। Pupa, Nymph—पुतली-बालिका, परी-कन्या—और अन्तमें Chrysalis। अर्थात् स्वर्णमूर्ति। यह स्वर्णप्रतिमा नाना प्रकारकी रूप-रेखा प्रकाशित करती है। मानो वह इन्द्रजालकी छल-छटा हो! इस प्रकार इस इतिहासके अनेक अध्याय हैं। इन सबके बाद चारु चमत्कार उपस्थित होता है—आविर्भूत होती है एक मनोहारिणी स्वर्गकुमारिका, सुकोमल पंखवाली। उसके दो पंखोंके सुदिव्य वर्णविलास, अचिन्त्य वर्णरेखा, कितनी विभा, कितनी आभा, कितने रंगोंका मिश्रण, कितने रंग, कितने ढंग और कैसे चित्रण होते हैं! मानो तरुणी कवि-बालिकाकी हल्की आलोकमयी कल्पनाकी क्रीड़ा हो! ध्यान-धारणामें लीन थे वृद्ध ऋषि-देवता। उपनिषद्का गहन-गंभीर गान गाते-गाते पतङ्गिनीको देखकर सिहर उठे और सुर भरने लगे—'नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षः'—अन्य कविकी तो बात ही क्या!

"I have watched you now a full half hour;
Self-pois'd upon that yellow flower,
Little Butterfly."*

तितलीका इतिहास रूप-रहस्य-कविताका एक सुरम्य श्लोक

* अर्थात् हे छोटी तितली! उस पीत कुसुमपर स्वासीन तुझ-को मैं आधे घंटेतक देखता रह गया?

है, एक आनन्द-छन्द है । पतङ्गिनी (तितली) रूपकी आलेख्य है । यह रूप कहाँसे आता है ? इस रूपका उत्स (स्रोत) कहाँ है ? कौन अनुसरण करता है ? कारण-वस्तु कहाँ है ? कारणमें रूप नहीं है ? कारण निराकार है ? और कार्यमें रूपका सन्निवेश ! आश्चर्यकी बात है ! यह आश्चर्य नहीं, मिथ्या है । कारणमें जो नहीं है, वह कार्यमें नहीं आ सकता ।

'असदकरणाद् उपादानग्रहणात्०' इत्यादि कारिकाकी रचना करके तत्त्वज्ञानी सांख्याचार्य ईश्वरकृष्णने इस तत्त्वको समझा दिया है । पतङ्गिनीका जो कारण है, उसे हम प्राकृत या अप्राकृत जिस किसी भूमिमें देखें, सूक्ष्मरूपमें वह उस पतङ्गिनीके समान है । कार्य-पतङ्गिनीका कारण पतङ्गिनी ही है, इसे स्वीकार करनेके लिये विज्ञान हमें बाध्य करता है। यहाँ मानसिक धींगाधींगी—मन-मानी करनेसे काम नहीं चलेगा । वैज्ञानिक विचारको तो मानना ही होगा ।

विश्वमय रूपके इतिहासमें पतङ्गिनी (तितली) का स्थान कहाँ है, इसका किञ्चित् आभास दिया गया । तितली एक उदाहरण है । रूपके उदाहरणोंका अन्त नहीं है । विश्व रूपमय है; क्योंकि विश्व दृश्यमान है । दूरकी बात, अन्तरङ्गकी बात पीछे कहेंगे । 'तद्दूरे तद्वन्तिके' रूपका उपहार आसपास दिग्दिगन्तमें सजा हुआ है । रूपका प्रसार इधर-उधर, आगे-पीछे अविरत गतिसे हो रहा है । सर्वत्र राशि-राशि रूप, शत-शत मूर्ति, सहस्र-सहस्र शोभा (चित्र) किस स्रोतसे उठकर, किस अज्ञात रूपके साम्राज्यसे प्रवाहित होकर आ रहे हैं, कौन जानता है ?

वनविहङ्गकुलमें मयूरका रूपैश्वर्य नेत्र और मनको विमुग्ध कर देता है, अभिभूत कर देता है । ऋषि-मुनियोंके शिरोमणि शुकदेवजीने ध्यान-चक्षुसे 'गोविन्दवेणुमनुमत्त-मयूरनृत्यम्'का दर्शन किया था । रवीन्द्रनाथने देखा था, समीप ही कोठेपर पुच्छ-पुञ्जको फैलाकर गर्वसे छाती फुलाये घरका पालतू मयूर नृत्य कर रहा है । उसके पुच्छ-पुञ्जरूपी पटपर सूर्यकी किरणोंकी कितनी वर्णरेखाएँ, कितनी ज्योतिश्छटा अङ्कित होकर, रञ्जित होकर प्रवाहित हो रही हैं, उसका निरूपण करना अति कठिन है । नील, कृष्ण, श्याम, पीत, कपिश आदि अनेक वर्ण हैं । सुन्दर पंख-पुच्छोंको धारण करनेवाला विहङ्ग है । सर्वाङ्गमें मनोरम रंगकी रेखाएँ हैं । वे कितनी हैं, इसकी कौन गिनती कर सकता है ?

इसके पश्चात् कुसुमके सौन्दर्यराज्यको देखिये । वर्णमय, गन्धमय, असीम सुषमा-सम्भार ! जलके नीचे तो केवल पङ्क है ! उस पङ्कसे अङ्कुरित हुई है—सुकोमलाङ्गी किशोरीके सुवलित अति सुन्दर बाहुके उपमानकी एक मनोरम मृणालिनी, एक नलिनी-लता । उस नलिनीके प्राणका रूप-सौरभ-सम्पद् जो भावमात्र था, वही रूपमें प्रस्फुटित होकर खिल उठा । सुरम्य सरोजशोभा ! कमनीय कमल ! समस्त रूपोंकी परम उपमा ! था तो पङ्क, फूटकर निकला पङ्कज ! यह रूप, वर्ण, सुषमा, यह मधुगन्ध किसके मनमें था ? किसकी कल्पनामें था ? वह क्या 'अरूपमव्ययम्' था ? 'तथारसन्नित्यमगन्धवच्च यत्' था ? यह रसका परिहास किसका है ? रूपसे भरपूर अरूप वह कौन है ? महर्षि बादरायणने कौशलपूर्वक वेदान्त-सूत्रमें बतलाया है—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् । (३ । २ । १४)

सब रूपोंका निर्माण वही करते हैं, वही प्रकाश करते हैं । फिर वे सब रूपोंके परे रहते हैं । अतएव उनको अरूप भी कहा जा सकता है । प्रकाशित प्राकृत रूप-समूहके सम्बन्धसे ही वे अरूप हैं; परंतु सरूपमें अरूपकी बात नहीं कही गयी । इसका विचार इस प्रबन्धमें न हो सकेगा । 'रूपोपन्यासाच्च' (१ । २ । २४) इत्यादि सूत्र विचारपूर्वक देखने होंगे ।

इस लेखमें प्राकृत रूपकी ही बात कही जायगी । वन, कानन, उद्यान, उपवनमें, देश-देशान्तरमें नित्यप्रति लाखों-लाखों फूल खिलते हैं । दो घड़ीके लिये रूप-रूपमें प्राण-मनको उन्मादितकर झर पड़ते हैं और सूख जाते हैं । फिर खिलते हैं, फिर टूटते हैं । इस प्रकारका प्रवाह, इस प्रकारकी पुष्प-स्रोतधारा नित्य-निरन्तर बहती चलती है । इसका अन्त नहीं है । अवसान नहीं है । निश्चय ही इस पुष्प-नदीका निर्झर है । एक-एक पुष्प एक-एक रंगमयी तरङ्ग है । एक ही निर्झर दूर-दूरतक दिग्दिगन्तमें शत-सहस्र-पुष्प-प्रणालीको खोल दे रहा है । वह निर्झर एक पुष्प है, वह अनन्त पुष्प है, अशेष कुसुम है, चिरविकसित है; परंतु वह पुष्प है शक्ति, और वह शक्ति ही पुष्प है । पुष्प ब्रह्म है । हम जो कुछ देखते हैं, वह पुष्प-माया है । मोहका वितरण करके छिप जाती है । हम जितने रूप देखते हैं, सभी रूप-माया हैं । निखिल रूपोंका आश्रय है, अनादि आश्रय है । उसका नाम है रूपब्रह्म । नित्य रूपके न होनेपर अनित्य रूप कहाँसे आयेगा ? जो कवि हृदयमें उस नित्य रूपकी सुदूरोपलब्धि करके रूपरचना करते हैं, वही कवि हैं । उस उपलब्धिकी भूमिसे कवि कीट्सने

लिखा है—'A thing of beauty is a joy for ever.' सुन्दर वस्तु सुचिर आनन्दका घर है। एंडिमियोन (Endymion) रूपरसका—प्रणयानुरागका महाकाव्य है। इसकी तुलना नहीं है। निर्बोध समालोचकोंने न समझकर निन्दा की है। शेलीका मनः-प्राण उसी रूपब्रह्मके अनुभवसे भरा था। अन्यथा गुलाबके फूलका ऐसा वर्णन नहीं हो सकता—

And the rose like a nymph to the bath addressed,
Which unveiled the depth of her glowing breast,
Till fold after fold, to the fainting air,
The soul of her beauty and love lay bare.*

और उसी ब्रह्मानुभवके कारण वर्डसूवर्थने गाया है—

To me the meanest flower that blows
Is too deep for tears.†

छोटे-से पुष्पके वक्षःस्थलपर अनन्त पुष्पशक्तिकी क्रिया-की विभावनासे ही विश्वकवि रवीन्द्र बाबूने लिखा था—

कुँड़िर भीतेर फिरिछे गन्ध किसेर आशे,
फिरिया आपन माझे,
बाहिरिते चाय आकुल श्वासे
कि जानि किसेर काजे।
कहिछे से हाय ! हाय !
कोथा आमि जाई कारे चाई गो
ना जानिया दिन जाय।‡

पुष्पके वक्षःस्थलमें प्रतिष्ठित पुष्प-ब्रह्मकी रहस्यकथाको श्रीमद्भागवतमें प्रकट करते हुए कहा गया है—

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्याः ॥*

पुष्पका मूर्त्त प्राण पुष्पके बाहर प्रीति वितरण कर रहा है और भीतर भी छिपा है। पुष्पका प्रकाश ही उस अन्तरतमका परिचय है। इत्यादि रहस्यकी बातें भी श्रीमद्भागवतमें कही गयी हैं। (१० । ३० । ८)

हम प्राकृत नेत्रोंसे जो देखते हैं या देख सकते हैं, वही रूप है, वही मूर्त्त है, और सबका सब अरूप और अमूर्त्त है—यह धारणा भ्रममूलक है। इन्द्रियकी अशक्ति तथा शक्तिकी सीमा होनेके कारण बहुत-से सत्य दर्शनेन्द्रियके लिये गोचर नहीं होते। मनुष्यकी सारी इन्द्रियाँ स्थूल वस्तुमें ही व्यापृत रहती हैं, वे स्थूलग्राहिणी होती हैं। सूक्ष्म उनके लिये मिथ्याके समान है।

'सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्'

—इत्यादि अनेकों अदर्शनके हेतुओंका दर्शनविज्ञानने उल्लेख किया है। जो सत्य है, उसे आच्छन्न करके मन सर्वदा ही नाना प्रकारकी विकृत भावना, धारणा और संस्कारके पर्दे बुना करता है। यही प्रधान व्यवधान है। सुख-दुःख, काम-क्रोधके अभिभव या प्रतिघातके द्वारा हम बहुधा विमूढ़ हो जाते हैं। मन और बुद्धिका अभिभव जीवनमें सदा चलता रहता है। विज्ञान और दर्शनने शक्तिकी सीमाका निर्देश किया है। नीलारुण रश्मियाँ अति द्रुतगतिसे तरङ्गित होती हैं; वे अति क्षिप्र और अति तीव्र होती हैं। इनसे अधिक द्रुततर तरङ्गित रश्मि तथा उसके द्वारा प्रकाशित पदार्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आते। इसका नाम है Ultra-violet। रक्तरश्मियाँ अति मृदु भावसे तरङ्गित होती हैं; उनके तरङ्ग दीर्घ होते हैं, प्रवाह कोमल होते हैं। उनकी अपेक्षा मृदुतर तरङ्गित रश्मि तथा उसके द्वारा प्रकाशित पदार्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आते। इसका नाम Infra-red है। जो अति बृहत्—विशाल है, उसे हम पूर्णतः नहीं देख सकते। सौर राज्यको किसने देखा है? हम केवल सूर्यको देखते हैं। परमाणुको किसने देखा है? सूक्ष्म-दर्शी विज्ञानने उस परमाणुके प्राणोंके भीतर एक छिपे रासनृत्यके व्यापारका आविष्कार किया है।

---

* अर्थात् गुलाब स्नानार्थ बुलायी गयी उस अप्सराके समान है जो अपने दीप्यमान उरोजके गाम्भीर्यको अनावृत करती है, आवरणके उपरान्त आवरण खुलते जाते हैं और अन्तमें उसके सौन्दर्य और प्रेमकी आत्मा विमुग्ध अन्तरिक्षके सम्मुख नग्न खड़ी हो जाती है।

† मेरे सामने छोटा-सा-छोटा फूल, जो बहता है, रुदनके लिये अति गम्भीर है।

‡ कलिकाके भीतर गन्ध किसकी आशामें घूम रहा है, अपने ही भीतर घूमकर आकुलतापूर्वक निःश्वास छोड़ता हुआ न जाने किसके लिये बाहर आना चाहता है। वह कहता है—हाय! हाय! मैं कहाँ जाऊँ? मेरा प्रेमी कौन है? अनजानेहीके दिन समाप्त हो जाते हैं।

* पुष्पों और फलोंसे सुसमृद्ध वनलताएँ और वृक्ष अपने भीतर मानो श्रीविष्णुभगवान्‌को प्रकटित कर रहे हैं।

'परमाणुचयान्तरस्थं गोविन्दमादिपुरुषम्'

—इत्यादि बातें शास्त्रोंमें हैं।

रूपदर्शनके मार्गमें बहुत बाधाएँ हैं, अनेक विघ्न हैं, प्राकृतरूपके विषयमें ही यह बात है। परंतु प्राकृतरूप स्थितिहीन, भित्तिहीन है। अप्राकृत नित्यरूप सारे अनित्य-रूपोंका आश्रय है। आकाश शून्य है; उस शून्य सिन्धुको भेदकर ज्योतिर्मय, दिव्य-वर्णमय, अपूर्व सौन्दर्य-वैभवमय इन्द्रधनुषकी परिपूर्ण आकृति विकसित हो उठती है—इसे हम देखते हैं। महाकवि कालिदासने उसे देखकर आनन्दमुग्ध होकर वर्णन किया है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः॥*

कालिदासके मनमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति जाग उठी थी इन्द्रधनुषको देखकर। जयदेवके मनमें इन्द्रधनुषका चारु चित्र स्फुरित हो उठा था भगवान् श्रीकृष्णके सिरपर मोरपंखकी चूड़ा देखकर।

चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम्।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेशम्॥†

मेघ, इन्द्रधनुष, मयूर, कृष्ण! मेघके वक्षःस्थलपर भासित होता है इन्द्रधनुष! इन्द्रधनुषकी वर्णच्छटा किस मायामन्त्रसे अङ्कित होती है, अनुरञ्जित होती है मयूरके पंख—पुच्छमें, सारे अङ्गोंमें। और उसी मयूरपुच्छकी चूड़ा बाँधकर सिरपर धारण करते हैं भगवान् श्रीकृष्ण! 'बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम्'। निश्चय ही एक योगसूत्र है, जिस सूत्रमें सारा विश्व गुँथा हुआ है। उछलता हुआ सिन्धु-सलिल उज्ज्वल रविकिरणोंको आलिङ्गन—धारण करता है, उसीसे मेघोंका सञ्चार होता है। वही मेघ रवि-किरणोंको भेदकर चुपके-चुपके सञ्चित रंगकी डलियाको हरणकर उस रंगको किस प्रकार कुशलतापूर्वक अपने अङ्गमें लेपन कर लेता है। उसीके साथ-साथ नाना प्रकारके रंगोंके फूल-धनु आकाशपटपर खिल उठते हैं।

मयूर मेघको देखकर मतवाला हो उठता है! पुलकायमान होकर अपने पंखोंके पुञ्जको फैला देता है। उन्मत्त हो उठता है, अत्यन्त पुलकितचित्त होकर वह स्वर्गविहङ्गम नाचने लगता है। मयूर मेघको सर्वदा ही इन्द्रधनु-रञ्जित देखता है। मयूरकी दृष्टि ध्यानदृष्टि होती है। उसके अङ्ग-पुच्छ-पंख रागतप्त, तरलित होते हैं। वह इन्द्रधनुके अनुरञ्जनके आलोक-चित्रकी रचनाको धारण कर लेता है। इन्द्रधनुषका तथा तपन (सूर्य) का स्वप्न-भंग रंग भिन्न नहीं है। मेघ, मेघधनु और तपन क्या पृथक्-पृथक् हैं! तपन भी तो मेघ ही है! वह है प्रतप्त मेघ, ज्वलन्त मेघ, अग्निमय नीहारिका-पुञ्ज!

अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम्॥*
(सप्तशती २। १२)

प्रज्वलन्त मेघराशि आकाशव्यापिनी होती है। दिग्दिगन्तमें दूर-दूरतक झलकती रहती है। 'दिवि सूर्य-सहस्रस्य युगपदुत्थिता भाः।' अप्-तेज-मरुत्—इन तीन महाभूतोंका समष्टि है यह मार्तण्ड। यह कहाँ था? कब आविर्भूत हुआ था? था एक अनन्त अपार महामरुत् सिन्धु। वह मरुत् था आकाशके वक्षःस्थलपर। आकाश निरभिमान होकर छिपा था निराकार निर्विशेष शब्दतन्मात्रमें। 'शब्दमात्रमभूत् तस्मान्नभः।' तन्मात्र-नामक भूतसूक्ष्म निमज्जित थे तामसिक अहङ्कारके अन्धकारमें। अहङ्कार अपने सत्त्व, रजस् और तमस् वर्णको लेकर महत्तत्त्वके गहन मनमें छिपा था। महत्तत्त्व है अव्यक्तकी प्रथम अभिव्यक्ति। शङ्कराचार्य कहते हैं—

अक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्वरूपं सर्वकार्यकारण-बीजत्वेनोपलक्ष्यमानम्।

'अर्थात् महत् तत्त्वम्।' अर्थात् विश्व और विश्वके भीतर ग्रह, नक्षत्र, गिरि, नदी, कीट-पतङ्ग आदि जो

---

* हे मेघ! यह सामने वल्मीकके ऊपरसे रत्नकान्ति-मिश्रित-सा इन्द्रधनुष प्रकटित हो रहा है—जिससे तेरा श्याम तनु, मोरपंखसे सुशोभायमान भगवान् श्रीकृष्णके समान, अत्यन्त ही कान्तिको प्राप्त होगा।

† श्यामसुन्दरके केश चन्द्रकके द्वारा सुचारु मोरपंखके पुञ्जसे चमत्कृत हो रहे हैं; इन्द्रधनुसे अत्यन्त अनुरञ्जित उनका सुन्दर मेघ श्याम रूप आनन्द प्रदान करता है।

* हे देवि! जलते हुए पर्वतके समान अत्यन्त प्रकाशके पिण्डके रूपमें तुमको देवताओंने देखा। तुम्हारी ज्वालासे दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं।

कुछ है, सबका आदि बीज महत्तत्त्व है—the embryonic origin of the Universe । जिस अव्यक्तसे महत्तत्त्वका उद्भव है, वही माया है । सप्तशतीमें लिखा है—

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया ॥
(११ । ५)

यह माया परब्रह्मकी बहिरङ्गा शक्ति है, अतएव वह तदभिन्न है । क्या तद्-अभिन्न परब्रह्म है ? तब तो सर्वनाश हो गया !

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् ।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥

हम रूपके भावना-स्रोतमें बहते-बहते, रूप-स्वप्नके पवनमें उड़ते-उड़ते अवारापार अरूपके महासागरमें आ पड़े हैं । कहाँ मेघ, कहाँ इन्द्रधनुष ? कहाँ मयूर और कहाँ मयूरकी फुल्लवर्णोज्ज्वल पुच्छराशि ? और कहाँ अखिल स्वर्ग-सुषमाके स्वरूप-विग्रह भगवान् श्रीकृष्ण ! हम विलोम-प्रणालीके पथसे ऊजड़में आ गये हैं, फिर अनुलोमप्रणालीको ग्रहणकर अनुकूल स्रोतकी धारासे चलनेपर सब कुछ प्रकाशित हो जायगा । तो क्या अरूप ही रूपका मूल है ? असम्भव है । जो कारणमें नहीं है, वह कार्यमें नहीं रहता । इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है ।

'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यम्' (१० । ३ । २४)

और ब्रह्मसंहितामें लिखा है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूप-
माद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च ॥

वह है नवयौवन पुरुष ! 'शाश्वतं पुरुषं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।' 'श्यामं हिरण्यपरिधिम् ।' उपनिषद्—वेदान्तमें कदाचित् देखनेमें आता है—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' अथवा 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम् ।' परंतु इसके साथ ही कहा गया है—'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।' जो धीमान् हैं, वे केवल देखते ही नहीं, बल्कि भलीभाँति देखते हैं, अप्राकृत अमृतरूपको देखते हैं । अरूप कुछ नहीं है ।

हमने रूप-रहस्यको समझनेकी चेष्टा की, परंतु वह चेष्टा पूरी न हो सकी । समझमें भी नहीं आया । रूपकी, दूरसे दीखनेवाले रूपकी छटासे ही आँखें चकाचौंध हो गयीं, चित्त विमुग्ध हो गया । मुग्ध चित्तमें प्रश्न उठता है—रूप सत्य है या अरूप ? रूप तो प्रमाणित है, प्रत्यक्षीकृत है । पर वह सत्य है या मिथ्या, विचार करके देखना होगा । परंतु अरूप वस्तु कुछ है, इसका प्रमाण कहाँ है ? हम देख नहीं पाते, इसीसे अरूप है—यह तो कोई प्रमाण नहीं है । देखनेकी शक्ति नहीं है, इसी कारण नहीं देख पाते । शक्तिके स्फुरित होनेपर हम देख सकेंगे । 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे रूपमैश्वरम् ।' किसी दिन कोई चक्षु भी दे सकता है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति ।*

रूपमात्रके पीछे है एक भावशक्ति—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।

चार प्रकारके तत्त्वस्तर हैं—भूतसत्ता, भवत्सत्ता, भावसत्ता, भगवत्सत्ता (1) The physical thing, (2) The physical principle of life, (3) The spiritual principle of govern ance, (4) The living and life-giving substance divine) ।

यह अन्तिम तत्त्व ही भगवत्सत्ता है । यह सत्ता रूपमय है । 'द्वे ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च' । भाव और रूप, यही सारी सत्ताके मूल हैं । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' । विश्वकवि रवीन्द्रबाबूने इसीको छन्दोबद्ध कर दिया है—

भाव पेते चाय रूपेर माझारे अङ्ग
रूप पेते चाय भावेर माझारे छाड़ा ।
असीम से चाहे सीमार निविड़ सङ्ग
सीमा चाय ह'ते असीमेर माझे हारा ॥†

---

* प्रेमरूपी अञ्जनसे दीप्त भक्तिरूपी नेत्रके द्वारा साधुजन सदा ही अपने हृदयमें तुमको देखते हैं ।

† भाव रूपके भीतर स्थान प्राप्त करना चाहता है, और रूप भावके भीतर अपनेको विलीन करना चाहता है । वह असीम सीमामें अतिशय आसक्त होना चाहता है, और सीमा असीममें अपनेको खो देना चाहती है ।

मनुष्यका मौलिक धन

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)

मनुष्यका मौलिक धन वह है, जो सब समय उसके साथ रहे। कहावत है कि 'हाथके हथियार और गाँठके पैसेपर ही भरोसा किया जा सकता है।' इसी प्रकार हमारे पास सभी समय रहनेवाले धनके ऊपर हम विश्वास कर सकते हैं। ऐसा धन कौन-सा है, जो सदा हमारे पास रह सकता है? भौतिक धन कभी पासमें रहता है और कभी चला जाता है। उसमें आग लग सकती है, उसे चोर चुरा सकते हैं और राज्य छीन सकता है। फिर वह निर्दोष भी नहीं है। उसकी रक्षाके लिये सदा चिन्ता करनी पड़ती है। जितना अधिक वह बढ़ता है, उतनी ही मनुष्यकी चिन्ता भी अधिक बढ़ती है। इस धनकी वृद्धिके लिये अनेकों लोगोंको कष्ट देना पड़ता है और उनकी शत्रुता मोल लेनी पड़ती है। धनी लोगोंसे दूसरे धनी ईर्ष्या करते हैं और वे सदा उनका विनाश चाहते रहते हैं। आसपासके लोगोंके बुरे विचार धनी मनुष्यके मनमें अनेकों प्रकारकी उपद्रव कल्पनाएँ उत्पन्न कर देती हैं, जिसके कारण वह सदा दुखी रहता है। इसीसे किसी-किसीने अर्थको धिक्कारते हुए कहा—

> अर्थानामर्जने क्लेशं तथैव परिपालने।
> नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं क्लेशकारिणम्॥

'धनके कमानेमें क्लेश, रक्षामें क्लेश, नाशमें क्लेश, खर्च हो जानेमें क्लेश! इस प्रकार क्लेश देनेवाले अर्थको धिक्कार है।' इसीलिये संसारके विवेकी पुरुषोंने अपने-आपको इस धनके एकत्र करनेमें नहीं खोया। महात्मा कबीर कहते हैं—

> साईं इतना दीजिये, जामें आप समाय।
> आप न भूखा मैं रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

यदि संसारके कुछ लोग असाधारण धनी न हो जाते तो आज कम्यूनिज्म (साम्यवाद) की आवश्यकता क्यों रहती? संसारके धनी देश इस समय कम्यूनिज्मके भूतसे परेशान हैं। धनकी वृद्धिने जितना मनुष्यको सुख दिया, उससे अधिक दुःख दिया। संसारके विश्वव्यापी युद्ध धन और धनके साधनोंकी छीना-झपटीके लिये ही तो होते हैं। धनकी पिपासा रहते हुए इन युद्धोंके बंद होनेकी कैसे आशा की जा सकती है। धनी थोड़े समयतक गरीबोंको बहकावेमें रख सकते हैं; परंतु अन्तमें तो उन्हें अपने धनसे हाथ धोना ही पड़ेगा। तभी उनका कल्याण होगा।

मनुष्यका दूसरा धन, जो उपर्युक्त पहले धनसे श्रेष्ठ है, वह यश, कीर्ति और मान है। मनुष्यके अर्थको चोर चुरा ले सकते हैं, लुटेरे लूट सकते हैं। ठग ठग ले जा सकते हैं और राज्य छीन सकता है; परंतु उसके यशको न तो चोर चुरा सकता है, न लुटेरे लूट सकते हैं। न ठग ठगी कर सकते हैं और न राज्य उसे छीन सकता है। भौतिक धनके समान वह उतना अधिक चिन्ताका कारण नहीं होता। फिर मनुष्यका यश किसी बैंकनोटके समान है, इसे मनुष्य समय पड़नेपर भँजा भी सकता है, अर्थात् वह अपने यशके बलपर पैसा कमा सकता है। रोजगार करनेमें मनुष्यकी साखकी बड़ी महत्ता है। जिस मनुष्यको समाज सच्चा और भला मानता है, उसके ऊपर हर प्रकारका विश्वास करता है। इस विश्वासके बलपर कोई भी सच्चा मनुष्य समाजमें उन्नति कर सकता है। वह अच्छी नौकरी पा सकता है, वह रोजगार कर सकता है और वह यदि पतित हो जाय तो कुछ समयतक ठगी भी कर सकता है। जिस मनुष्यकी दुनियामें अपकीर्ति फैल जाती है अथवा जिसने पहलेसे ही इसे नहीं कमाया होता, वह अधिक दिनोंतक संसारमें उन्नति नहीं कर सकता। बड़े-बड़े राज्य राज्य-कर्मचारियोंके यशके ऊपर चलते हैं। जब किसी शासकका यश नष्ट हो जाता है, तब उसके शासनका भी अन्त हो जाता है। भारतवर्षमें अंग्रेजोंके शासनका अन्त इसी प्रकार हुआ। शस्त्रबलसे किसी देशपर अधिक दिनोंतक राज्य नहीं किया जा सकता। राज्य करनेवाली वस्तु यश, कीर्ति और प्रतिष्ठा होते हैं। इनका सञ्चय धनके सञ्चयके समान धीरे-धीरे होता है। अपने यशके बलपर ही आज नेहरू-सरकार देशका शासन कर रही है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यमें तो शासनकर्ताओंका यश ही सब कुछ है।

परंतु यह धन भी अस्थायी है। जिस प्रकार धनकी वृद्धि चिन्ताका कारण होती है, यशकी वृद्धि भी अत्यन्त चिन्ताका कारण बनती है। एक यशस्वी व्यक्तिसे दूसरे यशस्वी ईर्ष्या करते हैं। वे उसके यशका विनाश करनेकी चेष्टा करते रहते हैं। यश शक्ति है, यह शक्ति धनकी शक्तिके समान अपहृत की जा सकती है। फिर जिस प्रकार अपनी किसी भूलसे कोई करोड़पति दो दिनोंमें दिवालिया बन सकता है, इसी प्रकार कोई भी यशस्वी पुरुष अपनी किसी भूलसे अपने

सारे यशको खो दे सकता है। वे ही लोग, जो उसका एक समय पूजन करते थे, उसका विनाश कर सकते हैं। संसारका प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थको देखता है। जिस व्यक्तिसे उसका स्वार्थ सिद्ध होता है, उसका वह गुणगान करता है। जिससे उसे हानि होती है, उसकी वह निन्दा करता है। वह पहले व्यक्तिके उन्नत होनेकी और दूसरेके विनाशकी इच्छा करता है। जब मनुष्य यशहीन हो जाता है, तब वह जीना भी नहीं चाहता; जब उसका आदर करनेवाले लोग ही उसकी अवहेलना करने लगते हैं अथवा उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगते हैं, तब वह इतना दुखी होता है कि मृत्युतकका आवाहन करने लगता है। फिर इस प्रकारके व्यक्तिकी मृत्यु भी हो जाया करती है। यशस्वी पुरुषका यश गया तो सब कुछ गया। फिर उसका जीना ही व्यर्थ है। यूरोप और भारतवर्षके राजनैतिक क्षेत्रके अनेकों कार्यकर्ता इसी कारण समयके पूर्व ही मर गये।

यशसे अधिक मौलिक वस्तु ज्ञान है। बाहरी परिस्थितियोंसे मनुष्यका रुपया-पैसा खो सकता है, उसका यश नष्ट हो सकता है; परंतु ये उसके ज्ञानको नष्ट नहीं कर सकते। बल्कि संकटोंके पड़नेसे मनुष्यका ज्ञान और भी बढ़ता है। मनुष्यको नयी परिस्थितिमें पड़नेपर नयी-नयी बातें सोचनी पड़ती हैं। फिर भौतिक सम्पत्ति और यश दूसरोंकी इच्छापर भी निर्भर करते हैं, ज्ञान मनुष्यकी अपनी इच्छापर निर्भर करता है। वह अपने ज्ञानको अपने प्रयत्नसे बढ़ा सकता है। जेलमें रहकर धन और यश नहीं कमाये जा सकते, परंतु ज्ञान कमाया जा सकता है। पुस्तकें पढ़नेको मिलीं तो भला है, न मिलीं तो भी मनुष्य अपने अनुभवोंपर मनन करते-करते नये विचारका अन्वेषण कर सकता है। किसी भी नये विचारका आविष्कार मनुष्यके मस्तिष्कमें तब हुआ, जब वह संसारकी चहल-पहलसे अलग था। पुस्तकें ज्ञान-वृद्धिका साधन अवश्य हैं; पर जिसको ज्ञान-पिपासा नहीं, उसके लिये वे व्यर्थ हैं। कई धनिकोंके पास हजारों पुस्तकें रहती हैं; वे केवल उनकी आलमारियोंको सजाती हैं, उनके मस्तिष्कको नहीं सजातीं। ज्ञानका इच्छुक व्यक्ति रास्ते चलते-चलते अपने और संसारके लिये उपयोगी बात सोच लेता है। स्टीविनसन महाशयके इस कथनमें पूरा मौलिक सत्य है कि 'सत्य कुएँकी तलीमें अथवा दूरबीनके आखिरी सिरेपर नहीं है, वह तो सत्यान्वेषककी दृष्टिमें है। ज्ञानकी खोज करनेवालेको ज्ञान जहाँ-तहाँ दिखायी देता है, पर ज्ञानकी चाह न रखनेवालेको वह कहीं नहीं दिखायी देता। अतएव ऊपर कही गयी दो वस्तुओंसे अधिक स्थायी और सुलभ वस्तु ज्ञान है। विवेकी पुरुष भौतिक सम्पत्ति और कीर्तिके पीछे न दौड़कर ज्ञानकी खोज करता है।

ज्ञानवान् व्यक्तिके धन अथवा कीर्ति नष्ट हो जायँ तो वह इनके चले जानेपर इतना दुखी नहीं होता कि वह जीना ही न चाहे। वह अपने ज्ञानमें ही मस्त रहने लगता है। ऐसे व्यक्तिके लिये पदोंकी प्राप्ति और उनका चला जाना भी कोई महत्त्व नहीं रखता। साधारण शासक वर्तमान कालके लोगोंपर अधिकार रखता है और उसका क्षेत्र सीमित रहता है। पर ज्ञानका शासक न केवल वर्तमान अपितु भविष्यमें आनेवाले लोगोंके मनोंपर भी अपना अधिकार रखता है। और उसके अधिकार किसी देशकी सीमासे आबद्ध नहीं रहते। ज्ञानी न केवल अपने-आपको प्रकाशित करता है, वरं सबको प्रकाशित करता है। वह जिस ज्ञान-ज्योतिको अपने मनमें जलाता है, वह उसके सहज प्रयाससे अपने-आप ही दूसरोंके मनोंमें जल जाती है। अपने-आपको धनी बनानेके प्रयत्नसे तो दूसरोंके सिर गरीबी पड़ती है, अपना यश अधिक बढ़नेपर वह दूसरोंके यशकी बाढ़में रुकावट डालता है। पर अपने ज्ञानके बढ़नेसे दूसरोंका ज्ञान भी घटनेके बदले और भी बढ़ता है। वास्तवमें ज्ञानकी वृद्धिकी प्रक्रिया ही ऐसी है कि दूसरोंके देनेकी चेष्टाके बिना उसकी वृद्धि ही नहीं होती। शिक्षा-मनोविज्ञानका सिद्धान्त है कि यदि किसी शिक्षकको भली प्रकार कोई विषय सीखना हो तो वह विषय किसी कक्षाको पढ़ाने लग जाना चाहिये। हम जितना ही अधिक अपने विचारोंको दूसरोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं, वे स्वयं हमे उतना ही अधिक समझमें आते हैं। आइन्सटीनको अपने रिलेटिविटीके सिद्धान्तपर तबतक विश्वास न हुआ, जबतक वह किसी दूसरे गणितज्ञको न समझा सका। अपने एक ही मित्रको अपना खोजा हुआ सिद्धान्त समझानेमें उसे वर्षों लगे। वास्तवमें इस प्रकारके प्रयत्नसे ही वह सिद्धान्त स्वयं उसे स्पष्ट हुआ। ज्ञान जितना ही दिया जाता है, उतना ही बढ़ता है। यह उसकी विलक्षणता है। यह देनेवालेको भी सुखी करता है और लेनेवालेको भी। धनके देनेसे दानीका मस्तिष्क ऊँचा उठता है, पर लेनेवालेका नीचा होता है। पर ज्ञानमें देनेवाला और लेनेवाला समान ही रहते हैं; क्योंकि इस लेन-देनमें कोई कुछ नहीं खोता।

यहाँ ज्ञानकी मौलिकतापर विचार हुआ। यदि ज्ञानसे

भी बढ़कर कोई मौलिक वस्तु है तो वह मनुष्यकी सद्भावना है। सद्भावनाका सञ्चय भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार धन, यश और ज्ञानका होता है। यह बात साधारणतः लोगोंको स्पष्ट नहीं होती। धन, यश, ज्ञान स्वतः मूल्य नहीं हैं; इनकी मौलिकता दूसरी वस्तुपर निर्भर करती है। धन, यश और ज्ञान—ये सभी इसलिये मूल्यवान् माने जाते हैं कि वे मनुष्यको सन्तोष देते हैं। यदि वे सन्तोष न देते हों तो इन्हें कोई न पूछे। मनकी दुखी अवस्थामें न तो धन अच्छा लगता है, न यश और न ज्ञान। जब मनुष्यके मनमें सद्भावनाके अभावके कारण अन्तर्द्वन्द्व रहता है, तब मनुष्य इन सभीको त्याग देता है और वह मृत्युका आवाहन करने लगता है। उपर्युक्त सभी पदार्थ मूल्यवान् तभीतक हैं, जबतक मनुष्यकी चेतना स्वस्थ है; पर जब भीतरी और बाहरी मनमें विरोध होनेपर चेतनाके स्वास्थ्यपर ही आघात होने लगता है, तब मनुष्य इन सबका अभिमान त्यागकर शून्यावस्थामें जानेकी इच्छा करने लगता है। यही मनुष्यके पागल हो जानेका कारण होता है। आत्मसन्तोष ही सबसे मौलिक वस्तु है। मनुष्य इस आत्मसन्तोषको भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें खोजता है; परंतु ये सभी कभी-न-कभी उसे धोखा दे डालते हैं। संसारका कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं, अतएव लौकिक पदार्थोंके द्वारा प्राप्त किया हुआ सन्तोष कहाँतक स्थिर रह सकता है।

स्थायी आत्म-सन्तोष मनुष्यको अपनी शुभ कामना, सद्भावनाके अतिरिक्त दूसरी किसी बातमें नहीं मिलता। इसीलिये जर्मनीके प्रसिद्ध दार्शनिक इमेनुअल कान्ट महाशयने कहा है कि 'सद्भावना एक ऐसी वस्तु है जो निरपेक्ष कीमत रखती है (Good willis the only good 'that is good without qualification)। संसारके अन्य सभी पदार्थ नश्वर हैं। संसारकी भलाई करनेकी इच्छा रखते हुए भी कभी-कभी इच्छित परिणाम नहीं होता। डाक्टर रोगीको आरोग्य प्रदानकी इच्छासे ही ओषधि देता है, पर कभी-कभी उसकी ओषधिसे उसकी मृत्यु भी हो जाती है। चीर-फाड़में तो ऐसा कई बार हो जाता है। इस प्रकारकी मृत्युके लिये हम डाक्टरको दोषी नहीं ठहराते। यदि जान-बूझकर कोई डाक्टर जहरीली ओषधि रोगीको दे अथवा वह जान-बूझकर चीड़ा-फाड़ीमें असावधानी करे, तभी हम उसे दोषी ठहराते हैं। अतएव सबके कल्याणकी भावनामात्र मनमें लाना और उसके लिये पूरा यत्न करना, यही भरोसेकी बात है। वास्तवमें मनुष्यका सच्चा धन यही शुभ भावनाका धन है।

जिस व्यक्तिके पास यह धन है, वह दूसरे धनोंके खो जानेसे उद्विग्न-मन नहीं होता। विवेकी पुरुष दूसरे सभी धनोंका सञ्चय और उनका त्याग इस धनकी प्राप्तिमात्रके लिये करता है। पैसेका भला तभीतक भला है, जबतक वह शुभ कामनाओंकी वृद्धिका साधन है। यदि पैसेकी बाढ़से हमारे हृदयमें सद्भावनाएँ न आकर दुर्भावनाएँ आने लगें तो फिर हमें उसका त्याग ही कर देना आवश्यक है। यदि पैसा देनेपर हमें किसीकी सद्भावना मिलती है तो इस सौदेको बुरा कभी नहीं समझना चाहिये! सद्भावना स्वयं धन है और वह भौतिक धनमें उसी प्रकार सरलतासे परिणत हो सकता है, जिस प्रकार यश और ज्ञान भौतिक धनमें परिणत हो जाते हैं। सद्भावनासे यशकी प्राप्ति होती है और यशसे अर्थकी। एक ही सद्भावनाका व्यक्ति अपने उदाहरणसे लाखोंका भला करनेमें समर्थ होता है। भलाई भी उसी प्रकार संक्रामक है, जिस प्रकार बुराई है। ज्ञानके प्रसारके समान सद्भावनाका प्रसार भी सहज रूपसे होता है।

ज्ञानको हमने स्वतः मूल्य नहीं कहा। ज्ञान सद्भावनाका साधन अवश्य है; पर कितने ही पढ़े-लिखे विद्वान् कहानेवाले लोग सद्भावनाकी खोज न कर पैसा-रुपया अथवा यशकी खोजमें ही लग जाते हैं। संसारका जितना लौकिक ज्ञान आज बढ़ा है, उतना पहले कभी नहीं बढ़ा था; परंतु सद्भावनाके अभावमें यही ज्ञान आज संसारको विनाशोन्मुख बना रहा है। वैज्ञानिकोंने अणुको बड़े परिश्रमसे खोजा। पर इस महाशक्तिकी खोज करके मनुष्य सुखी न होकर और भी अधिक दुखी हो गया है। संसारके सभी लोगोंको भय है कि न जाने अणुबम कब उनका विनाश कर डालेगा; इसके आविष्कारके कारण संसारके धनी और अधिकारीवर्ग तो चैनकी नींद सो ही नहीं सकते। अब हाइड्रोजन-बमके बनाने और मृत्यु-किरणका आविष्कार करनेमें वैज्ञानिक लोग लगे हैं। यह सारा अनर्थ सद्भावनाके अभावके कारण ही हो रहा है।

फिर सद्भावनाकी कमी पागलोंकी संख्याको बढ़ाती है। इस पागलपनकी ओषधि न तो मनुष्यका धन है और न यश तथा ज्ञान ही है। विशाल ज्ञानके रहते भी आज जैसा पागलपन हमें राष्ट्रोंमें और समाजमें दिखायी पड़ता है, वैसा ही व्यक्तिमें भी वर्तमान है। स्वयं ज्ञानमें वह बल नहीं कि

वह मानव-मनके विभिन्न भागोंमें समन्वय स्थापित कर सके। भौतिक ज्ञान मनुष्यको शान्ति नहीं देता, सद्भावनाका अभ्यास ही उसे शान्ति देता है। जब ज्ञानसे मनुष्यके अभिमानकी वृद्धि हो जाती है, तब वह उसे विक्षिप्तताकी ओर ही ले जाता है। जो व्यक्ति कहने लगता है कि मेरे समान दूसरा पण्डित कोई नहीं, वह एक दिन पागलखानेका निवासी बन जाता है। ज्ञानका अभिमान होनेपर यदि संसारसे मान न मिला तो ज्ञान भी दुःखका कारण बन जाता है। मनुष्य देखता है कि मूर्खोंका तो सम्मान होता है और ज्ञानवान्‌की कोई पूछ नहीं। इस दुःखसे पीड़ित होकर वह आत्म-विस्मृतिकी भावना करने लगता है और इस प्रकार अपनी चेतनाको ही, जो वास्तवमें मौलिक वस्तु है, खो देता है।

सद्भावनाकी उपस्थितिमें उपर्युक्त बातें नहीं होतीं। सद्भावनासे जिसका हृदय भरा-पूरा है, वह दूसरे प्रकारके धनकी इच्छा नहीं रखता। भगवान् बुद्ध, ईसा, सुकरात स्वयं फकीर थे। उनके शिष्य बड़े-बड़े धनी लोग भी थे। पर उन्हें उनके धन लेनेकी इच्छा नहीं हुई। जब हालैंडके महान् दार्शनिक स्पैनोजासे उसके मित्रने मरते समय अपना सभी धन लेनेको कहा तो उसने उस मित्रको सन्तोष देनेके लिये ले लिया और फिर उसे उसके सम्बन्धियोंमें ही बाँट दिया। चौदहवें लुईने उसे चौदह हजार फैंककी पेन्शन देनी चाही। स्पैनोजाने कहा मैं इतने धनका क्या करूँगा। मेरा तो खर्च बहुत थोड़ा है और वह मुझे मिल ही जाता है। इन महान् पुरुषोंका आज संसारमें नाम है। उनके पुण्यसे आज हम जीवित हैं। यदि वे न हुए होते तो आपसकी द्वेषाग्निसे संसार भस्म हो गया होता। उनकी सद्भावनाओंने केवल उन्हें ही पुनीत और पूज्य नहीं बनाया वरं हमें भी वे आज भला बननेकी प्रेरणा देती हैं। अतएव इस धनसे बड़ा और कौन धन कहा जा सकता है।

मनमें सद्भावनाके आते ही मन शान्त और स्थिर हो जाता है। सद्भावना मनुष्यमें आत्मविश्वास और मानसिक दृढ़ता लाती है। अपने-आपकी उन्नतिके विषयमें सोचते-सोचते जब मनुष्यका मन चिन्ताग्रस्त हो जाता है और उसे अपने चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखायी देने लगती है, तब उसकी सद्भावनाएँ ही उसके काममें आती हैं। मनुष्यकी सद्भावनाएँ उसका सञ्चित पुण्य है, जो संकटके समय काम आता है। ये ही मनुष्यकी सच्ची मित्र हैं। यदि किसी व्यक्तिने दूसरे व्यक्तिको उसके संकट-कालमें सहायता दी है तो सहायता पानेवाला व्यक्ति भले ही अपने उस सहायककी विपत्तिके समय सहायता न करे, परंतु उसका मन ही उसकी सहायता करता है। बदला पानेके निमित्त सहायता करना सद्भावनाकी वृद्धि नहीं करता, निरपेक्ष सहायता ही सद्भावनाकी वृद्धि करती है। इसका परिणाम अपने-आपकी इच्छाशक्तिका दृढ़ होना और सब प्रकारकी विपत्तिमें शान्तमन रहना होता है।

सद्भावनाका मनुष्यकी कार्यशीलतासे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, मनुष्यके विचार ही उसकी क्रियाके रूपमें परिणत होते हैं। जिन बातोंके सम्बन्धमें मनुष्य दिन-रात सोचता है, उन्हींकी प्राप्तिके लिये वह कार्य भी करने लगता है। धनका इच्छुक धन-प्राप्तिके लिये, मानका इच्छुक मानकी प्राप्तिके लिये, ज्ञानका इच्छुक ज्ञानकी प्राप्तिके लिये सहज ही चेष्टा करते रहते हैं। इसी प्रकार सद्भावनाका इच्छुक सहज ही सद्भावनाका सञ्चय करता है और तदर्थ प्रयत्न करता रहता है; परन्तु मनुष्यकी बाहरी सफलतासे उसकी सद्भावनाका तौल नहीं करना चाहिये। यदि सद्भावना किसी बड़े कार्यमें प्रकाशित नहीं हुई, तब भी वह महान् वस्तु है। सद्भावनाकी मौलिकता भावनामात्रमें है। अतएव जितनी बार कोई मनुष्य उसका स्वागत करता है, उसकी अनुभूति करता है, उतना ही वह अपने जीवनको मौलिक बनाता है। किसी भावनाकी बार-बार अनुभूति करनेसे वह मनुष्यका स्थायी भाव या स्वभाव बन जाती है। फिर यह स्थायी भाव अनेक कार्योंका कारण बनता है। यदि अनुभव की जानेवाली भावना भली हुई तो तज्जनित स्थायी भाव भी भला होगा और यदि वह बुरी हुई तो स्थायी भाव भी बुरा होगा। मनुष्यके स्थायीभाव निष्क्रिय नहीं रहते। वे सदा सक्रिय रहते हैं। वे मनुष्यकी किसी काममें लगनको बढ़ाते अथवा घटाते हैं। वे ही उसकी रुचियोंके आधार हैं। स्थायी भावोंके अनुसार मनुष्यकी विचारशैली बनती है। अतएव स्थायी भाव भले हैं तो आचरण अपने आप ही भला होगा। मनुष्यके चरित्रका बल उसके स्थायी भावोंमें है। जिस मनुष्यके स्थायी भाव दृढ़ नहीं होते, उसके चरित्रका भी कोई भरोसा नहीं। वह चलित मनका व्यक्ति होता है जो कभी कुछ और कभी कुछ कर बैठता है। अतएव स्थायी भावोंको बनाना अपने-आपको निश्चित चरित्रका व्यक्ति बनाना है। यह अपने-आपपर भरोसा प्राप्त करनेका उपाय है।

महान् चरित्र एक दिनकी वस्तु नहीं, यह अनेक दिनके

प्रयत्नका फल है। एक-एक बूँद जुड़कर समुद्र बनता है, एक-एक पैसा जोड़कर मनुष्य करोड़पति बनता है, इसी प्रकार एक-एक सद्भावनाके परिणामस्वरूप मनुष्य महान् चरित्रको प्राप्त करता है। सबसे कठिन काम अपने-आपपर नियन्त्रण प्राप्त करना है, यह काम एक दिनमें नहीं होता। यह दीर्घकालके प्रयत्नका फल है। इसके लिये प्रतिदिनके सतत अभ्यासकी आवश्यकता है। आत्मनियन्त्रण उसी व्यक्तिको प्राप्त होगा, जो अपने आपको दूसरोंके लिये खोये रहता है, जो सदा सबके लिये शुभ कामना भेजता रहता है। अतएव प्रतिदिन और प्रतिक्षण ही सद्भावनाका अभ्यास करते रहना चाहिये। इसीसे जीवन सफल होगा और सच्चे धनकी प्राप्ति होगी।

रोग और मन्त्र

(लेखक—कविराज श्रीप्रतापसिंहजी)

मैं बालकपनसे ही जप करनेका अभ्यासी हूँ। जब मैं छोटा था, अपने पिताजीको गायत्रीका जप करते देखता था। इससे मुझे भी जप करनेकी ओर आकर्षण हो गया। प्रतिदिन जप एवं पाठ करना और गीता आदिका नियमित रूपसे अध्ययन करना जीवनकी एक साध बन गयी।

जीवनमें अनेक बार जप, तप, योग, साधन आदि किये; पर इस बारके रोगमें जो मन्त्रका प्रभाव देखा, वह आश्चर्यजनक है।

घटना इस प्रकार है—मैं राजस्थानके आयुर्वेदिक विभागका अध्यक्ष नियुक्त हुआ, और पहली बार ही मुझे बीकानेर और जोधपुरमें ग्रीष्मकालीन दौरा करना पड़ा। यहाँकी भयानक गर्मी और लूने अपना काम किया और मैं २५ अप्रैलको उदयपुर पहुँचते ही अंशुघातसे पीड़ित हो गया। प्रारम्भमें दो-तीन दिनोंतक तो व्याधिका प्रभाव अधिक नहीं रहा, पर २७ अप्रैलको उसने उग्ररूप धारण किया और अत्यन्त तीव्र सर्वाङ्ग-दाह, उग्रज्वर और मूर्छाने एक ही साथ शरीरपर प्रबल आक्रमण किया। सन्निपातज्वरके लक्षण भयङ्कर रूपसे व्यापक हो गये। चिकित्सक घबरा गये और विविध प्रकारकी व्यवस्था करने लगे। मुझे सम्भवतः एक बार होश आया और मैंने सब चिकित्साएँ रोक दीं एवं आदेश दिया कि मुझे बिना चिकित्साके ही मरने दो।

इतनेमें ही मैं फिर मूर्छित हो गया। जब मुझे होश आया, रात्रिका अधिकांश बीत चुका था और मुझे एक स्वप्न आया। मैंने देखा, एक काले रंगकी भयङ्कर मूर्ति हाथमें नंगी तलवार लिये मुझपर वार करनेके लिये दौड़ी आ रही है और मेरे समीप आनेपर 'तुम मुझको मार नहीं सकते, मैं महामृत्युञ्जयका पाठ करता हूँ' यह कहते हुए मैंने नीचे लिखे महामृत्युञ्जय-का पाठ करना प्रारम्भ किया। यह तो स्मरण नहीं कि कितने मन्त्रोंका जप किया; किंतु इतना याद है कि कुछ ही मन्त्रोंका जप करते ही वह मूर्ति पीछे हट गयी और मुझे एकलिङ्ग महादेवके दर्शन हुए। मेरा ज्वर उसी दिन कम हो गया और मैं अपने आपको स्वस्थ अनुभव करने लगा। यद्यपि अभी दुर्बलता बहुत है, किंतु शरीर निर्मल हो गया है।

मन्त्र यह है—

'अघोरेभ्योऽपि घोरेभ्यः घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते, अस्तु तत्पुरुषाय विद्महे धियो रुद्रः प्रचोदयात्।'

आशा है 'कल्याण'के पाठक इस मेरे रोगके अनुभव-से लाभ उठायेंगे।

आनन्दाम्बुनिधिको आवेदन ?

'सिरस' सयानो नाहिं, मन मैं विचार उठो, मिलिवो सहज जग-नाथ राम सों न है।
विधि विष्णु सिवहू के ध्यान मैं न आवै जौन, जपी तपी जोगी मुनि मन मारे मौन है॥
मिलिवो न मिलिवो कृपालु ! है तिहारे हाथ; मेरे हौ अधार, जैसे प्रान हेतु पौन है।
ऊँचनि गुजर विनु नीचन के होत नहीं, नींव वल धाम खड़ो, कहतो न कौन है॥

बाँस बनी बाँसुरी न जानै स्वरभेद नेकु; निकरैगो गीत सोई, जन जो वजावैगो।
वायु की लहर मैं न निज वल बोलिवो है, रेडियो मैं साधु सब्दसोध सुधी भावैगो॥
वारिद वरसि सकै विनु सिंधुजल कहाँ, मन मति गति नाहिं, नाथ कौं रिझावैगो।
करिवो विनयवर 'सिरस' की सक्ति नाहिं, अवर सवर कैसे सामवेद गावैगो॥

बालकपने सों अपनोई नाथ मान्यो तुम्हें, जौवन उमंगहू मैं रंग राउ पागतो।
प्रौढ़पनो गुन्यो गुन गौरव गोविन्द गीत, विषय-विलास परो तऊ जोर जागतो॥
बूढ़हू वयस मैं सनेह कम परो नाहिं, कैसे ना सनाथ करौ द्वार दान माँगतो।
सर सों सुखातो सिंधु सुन्यो ना 'सिरस' ऐसो, प्रभु की दया तामैं दाग अव लागतो॥

जुवक ह्वै जोर जोरयौं जुवतीन संग सदा, अंग मैं अनंग रंग चढ़ो, बुद्धि लूटै है।
'सिरस' कठोर लोह रगर सों जातो घिस, इंद्रिन विलास रोग लाय देह कूटै है॥
सक्ति हीन दीन भयौं जुवा मैं जरठ, हाय ! विवस भएहूँ पै न भाव भोग टूटै है।
राघव ! न घाव भरो विषय कौ, बूढ़ो भयौं, जरि गई रसरी, पै ऐंठन न छूटै है॥

'सिरस' दीन दूरि, तऊ दीनानाथ ध्यान देवौ; सुनौ हाल मेरो, कैसे कलुष कमात हौं।
दामिनी सी कामिनी कौं गहौं पै न गहि सकौं; लोभ छन छन देत, लेत ना अघात हौं॥
मोह मद मान सान सनो है 'सिरस' सदा, अधोगतिदायी अभिमान मैं भ्रमात हौं।
विसद विलास वास वपु वल वाला वित्त, वदरी विलोकि दरी-दुनिया समात हौं॥

जग-जाल तोरि तिनुका सों, मोरि मन मंद, द्वंद दुख दोषन सों दूरि, मल धोवैगो।
प्रेम अनुराग जगो प्रभु पद नव नित्य, छन छनहूँ मैं अनन्य भक्ति बीज बोवैगो॥
सेवक 'सिरस' सनमुख सीतानाथ रहि, अम्बुनिधि-आनंद कौं जुग-जुग जोवैगो।
द्रवत दयालु ! दीन पै न देर करौ नेक, करुनानिधान राम कवौ ऐसो होवैगो॥

कामके पत्र

(१)

ईश्वरपर विश्वास कीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। व्यापारिक उलझनोंके कारण आपकी जो मानसिक स्थिति हो गयी है, वह अवश्य ही शोचनीय है। योजनाओंकी चतुर्दिक् असफलताओंसे निराशा और सन्देहका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। आप आज चारों ओर निराशा देखते हैं। चित्तमें उदासी, विषाद है; सबोंपर सन्देह है कि लोग मेरी उपेक्षा करते हैं, अपमान करते हैं और आपके मुँहसे निराशाभरे शब्द निकलते हैं। यह सब ठीक है, पर इस स्थितिको सुधारना है। निराशाभरे भावोंका पोषण करने, निराशाभरे शब्दोंके उच्चारण करने तथा अपनेको एवं दूसरोंको कोसनेसे स्थितिमें सुधार नहीं होगा; ये तो मानसिक दुर्बलताके लक्षण हैं। इनसे संकटोंकी शृङ्खला टूटती नहीं, वरं और भी दृढ़ हो जाती है। इनके बदले आप पवित्र रचनात्मक भावोंको मनमें लावें और वैसे ही शब्द उच्चारण करें। ऐसा करनेसे बल और उत्साह आयेगा, संकटोंको झेलनेकी शक्ति आयेगी तथा संकटोंसे तरनेका मार्ग दिखायी देगा।

श्रीभगवान्‌पर विश्वास कीजिये। आप निश्चय मानिये, भगवान्‌ने आपके अंदर वह शक्ति दे रक्खी है, आपको वह साधन प्रदान कर रक्खा है, जिसके प्रयोगसे निराशाकी जगह निश्चित आशाका सञ्चार हो सकता है और असफलता सफलतामें परिवर्तित हो सकती है। वह शक्ति या साधन है—'ईश्वरमें विश्वास रखकर सावधानीके साथ अपने कार्यमें लगे रहना।' ईश्वरमें विश्वास करनेपर ईश्वरीय नियमोंकी रचनात्मक शक्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं और मनुष्य अपने-आप निराशापर विजय प्राप्त करके असफलताके मूल कारणको भी समूल उखाड़ फेंकनेमें समर्थ होता है।

दुखी होने, कोसने, निराश होने, पागलोंकी तरह प्रलाप करने, अपशब्दोंके उच्चारण करने और कार्यमें मन लगाकर प्रयत्न न करनेसे तो उलझनें और भी बढ़ जायँगी। अतएव मेरी आपसे विनीत प्रार्थना है कि आप ईश्वरमें विश्वास करके अपनेको समर्थ बना लें और आशाभरे भावोंका पोषण तथा आशाभरे शब्दोंका उच्चारण करें; फिर दुर्भाग्य आपसे दूर भाग जायगा और आप अपने आध्यात्मिक स्तरकी भी रक्षा कर सकेंगे।

ईश्वरका रचनात्मक विधान सदा-सर्वदा हमारे संकट-नाश और अभ्युदयके लिये प्रस्तुत है। आप इस सत्यको स्वीकार कीजिये; फिर देखिये, आपकी उलझनें किस आसानीसे सुलझती हैं। संशय, भय, क्रोध, निराशा और असफलताके भावोंका पोषण करके तथा बार-बार ऐसे शब्द बोलकर आप उन बीजोंको बो रहे हैं जिनके फल भी यही—संशय, भय, क्रोध, निराशा और असफलता ही होंगे। इनसे बचिये और ईश्वरकी महान् कृपा और उनके स्वाभाविक प्रेमपर विश्वास करके उन्हींके बीज बोइये। फिर उनसे वैसे ही ईश्वरकृपामें और उनके प्रेममें अनन्त विश्वासरूपी महान् फल प्राप्त होंगे।

यदि आप जीवनमें सुख, शान्ति, आनन्द, सफलता और ईश्वर-प्रेम चाहते हैं तो बार-बार इन्हींका चिन्तन कीजिये और इन्हीं शब्दोंका उच्चारण कीजिये। दुःख-अशान्ति, असफलता आदिकी चर्चा और चिन्तन ही बंद कर दीजिये। जो कुछ हो चुका है, उसे भगवान्‌के मङ्गलविधानका परिणाम मानकर अपने मनमें उसका रूप बदल दीजिये, जिससे आपमें उत्साह, उल्लास और कार्यशीलता आ जाय एवं आपका भविष्य उज्ज्वल तथा सुखपूर्ण हो जाय।

ईश्वरमें आपका विश्वास जितना ही दृढ़तर होगा, आपमें और ईश्वरमें उतना ही अधिक निकटका सम्बन्ध

होगा और आप उतने ही सुख-शान्ति तथा आनन्दका अनुभव करेंगे।

ये बातें मैं केवल आपको ऊपरी सान्त्वना देनेके लिये नहीं लिख रहा हूँ। यह परम सत्य है। कोई भी मनुष्य इसका प्रयोग करके देख सकता है। आप साहस मत छोड़िये और निराश न होइये। भगवान्‌की अपार और अटूट शक्तिपर विश्वास करके कार्योंको सुलझानेमें जुट जाइये। आपको अपने-आप चमत्कार-पूर्ण प्रकाश मिलेगा, पथ मिलेगा और आप अनायास ही कष्टकी कँटीली और जहरीली भूमिको पार करके सुख-शान्तिसे पूर्ण अमृतमयी भूमिमें पहुँच जायँगे।

विपत्तिसे घबरानेवालेकी विपत्ति बढ़ती है, घटती नहीं। विपत्ति तो उसीकी नष्ट होती है, जो विपत्ति-विदारण भगवान्‌के बलपर विश्वास करके विपत्तिको भगानेमें जुट जाता है।

विपत्ति आती ही इसलिये है कि मनुष्य पहले अपने विश्वास करने योग्य वस्तुके चुनावमें भूल करता है। वह यदि पहलेसे ही क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखदायी भोगोंपर विश्वास न करके ईश्वरमें विश्वास करता तो विपत्ति आती ही नहीं। पर जो हो गया, सो हो गया। अब भी असत्यका त्याग करके सत्यको स्वीकार कर लिया जाय तो सारी उलझनें सहज ही सुलझ सकती हैं।

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरि नाम।'

(२)

भगवान्‌का लीलाविलास

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद!

आप आस्तिक-परिवारमें उत्पन्न हुए, यह सौभाग्यकी बात है। इक्कीस वर्षकी आयुतक आप पूर्ण आस्तिक रहें, ऐसा होना परिवारके अनुरूप ही था। बादमें आपकी श्रद्धा मूर्तिपूजापरसे हट गयी, सगुण-उपासना भी बुद्धिको नहीं रुची और निर्गुण-उपासनामें भी मन-बुद्धिका प्रवेश न हो सका। इसका प्रधान कारण है—वैसे सत्सङ्ग और स्वाध्यायका अभाव। आयु और शिक्षा बढ़नेके साथ ही विचारशक्ति भी जाग्रत् होती है; उस समय अपने भीतर जो संशय एवं वितर्कपूर्ण प्रश्न उठते हैं, उनका समाधान होना ही चाहिये। तभी श्रद्धाके लिये सुदृढ़ आधार प्राप्त होता है। आपने अपने भीतरकी इस प्यासको सत्संग और स्वाध्यायके जलसे बुझा दिया होता तो यह अशान्ति नहीं आती। इस सम्बन्धमें मेरी सम्मति यही है कि आप गीताको मनोयोगपूर्वक पढ़ें। मनन करें। सम्भव हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतातत्त्वविवेचनी' का मनन करें, अनुशीलन करें। साथ ही किसी ज्ञानी महापुरुषकी सेवामें उपस्थित होकर अपनी शङ्काओंका समाधान करायें। सत्सङ्गसे आपकी खोयी हुई शान्ति चिरस्थायिनी होकर लौट आ सकती है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

आप यह अनुभव न करें कि मुझमें नास्तिकतापूर्ण विचार आ रहे हैं। विचारोंको उद्बुद्ध होने दें। शङ्काएँ उठती हैं तो उठने दें। प्रश्न और जिज्ञासाका उदय होना उर्वर मस्तिष्कका लक्षण है। इससे आपका उत्साह बढ़ना चाहिये। अवसाद अथवा शैथिल्य क्यों आये?

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक वस्तुको समझ ही ले—यह धारणा भूल हो सकती है; परंतु प्रत्येक मनुष्य अपनेको, अपने 'स्व' या आत्माको समझे—यह उसके लिये अनिवार्य है। इस ज्ञानका वह अधिकारी है। इसे समझे बिना सच्ची शान्ति कहाँ?

आपकी बुद्धि निर्गुण तत्त्वको मानती-सी दीखती है; परंतु वास्तवमें मानती-जानती कुछ नहीं। मानती-जानती होती तो निश्चय ही अपने 'स्व' में उसको असीम शक्तिका साक्षात्कार होता।

जिसमें प्रत्येक वस्तुको मानकर चला जाता है, उस सिद्धान्तसे आप सहमत नहीं, आप अनुसन्धानके द्वारा सत्यका निर्णय करना चाहते हैं—यह ठीक है; परंतु

सत्यको मानना ही पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति 'मैं हूँ' इस सत्यका अनुभव करता है; अतः आत्मसत्ता सबको प्रत्यक्ष है। आत्माको मानकर चलना अनुचित नहीं। आत्मा है या नहीं ? यह प्रश्न नहीं उठता। आत्मा क्या है ? इस प्रश्नका समाधान अपेक्षित है। इसका समाधान होते ही सब कुछ समझमें आ जाता है। गीताने थोड़े-से शब्दोंमें ही इस प्रश्नका उत्तर दिया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

'ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूलशरीरसे परे (श्रेष्ठ) हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे पर 'वह' (आत्मा) है।'

इस श्लोकका मनन करें। आत्मा बुद्धिसे भी परे है। वही बुद्धिका प्रकाशक और साक्षी है। विशुद्ध आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्वके दो नाम हैं।

परमात्म-तत्त्व-शोधनकी चिंता होनी ही चाहिये। जो मनुष्य विचारवान् होकर आत्मतत्त्व या परमात्म-तत्त्वकी शोध नहीं करता, उसे आत्म-हननका दोष लगता है, वह घोरतर अन्धकारमें पड़ता है।

जबतक आपका मन सगुण या निर्गुण किसी भी तत्त्वमें रमता या उसकी ओर आकृष्ट होता है, तबतक आपको अपनेमें नास्तिकताका आरोप नहीं करना चाहिये। सच्चा नास्तिक भी निर्द्वन्द्व रहता है। आपके मनमें सगुण-निर्गुण आदिके प्रश्नको लेकर जो आकुलता छा रही है, वह नास्तिकको प्रभावित नहीं कर सकती। नास्तिक जडवादी होता है। आस्तिक आत्मचैतन्यके प्रकाशका अनुभव करता है। आप नास्तिक कदापि नहीं हैं।

मनुष्य क्यों उत्पन्न होता है ? इस प्रश्नको और व्यापक रूप भी दिया जा सकता है। जगत्के सम्पूर्ण जीव क्यों उत्पन्न होते हैं ? जैसे वृक्ष और बीज अनादि हैं, वैसे ही जागतिक जीवोंके जन्म-मरण-की परम्परा भी अनादि है। बीज बोया गया, इसलिये वृक्ष उत्पन्न हुआ। उत्पन्न वृक्षमें नूतन बीज उत्पन्न हुए। उन बीजोंके कारण वृक्षके और भी अनेक जन्म हो सकते हैं। बीज जलनेपर ही वृक्षोत्पत्तिकी परम्परा रुक सकती है। इसी प्रकार कर्मबीज ही जागतिक जीवोंकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं। उत्पन्न हुए जीव पुनः नूतन कर्मबीजका सञ्चय करते हैं, जो पुनः उन्हें जन्म-मरणकी परम्परामें बाँधते हैं। ज्ञानाग्निसे, या भगवान्‌की शरणागतिसे उन बीजोंको जलाये बिना बन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता।

मनुष्य जागतिक जीवोंमें सबसे श्रेष्ठ माना गया है। ज्ञान और कर्मके जो प्रकृष्ट साधन मनुष्यको प्राप्त हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। अतः मनुष्य क्यों उत्पन्न हुआ ? इस प्रश्नका महत्त्व भी बढ़ जाता है। कर्मफल-भोगके साथ ही सत्कर्म, भगवद्भजन अथवा तत्त्वज्ञानद्वारा भगवत्प्राप्ति किंवा मुक्तिलाभ करना ही मानव-जन्मका महान् उद्देश्य है। इस उद्देश्यको साधनेके लिये ही मनुष्य उत्पन्न हुआ है। मानव-शरीर मोक्षका द्वार है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

आगे कहते हैं—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इसलिये मानव-जीवनका लक्ष्य है—आत्माको जानना अथवा परमात्माको प्राप्त करना। ज्ञान और भक्ति—ये ही इस लक्ष्यके परम साधन हैं। उपासनासे तत्त्व-ज्ञान और भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति दोनों सध जाते हैं। अतः यही सबके लिये सहज और सुगम साधन है। मनुष्य अपना जीवन कैसे बिताये ? इसका उत्तर गीताके शब्दोंमें इस प्रकार है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(गीता १६ । २४)

क्या करना, क्या न करना—यह शास्त्र बताते हैं । शास्त्रकी आज्ञा है—'असत्य तथा असत्-कर्मोंसे दूर रहो । सत्य और सदाचारका पालन करो ।' शास्त्रके इन विधि-निषेधोंका पालन करते हुए मनुष्य भगवत्परायण रहे । भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ प्रत्येक कार्य करे—

'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।'

इस प्रकारका शास्त्रीय कार्यमात्र भगवत्पूजा है ।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।'
(गीता १८ । ४६)

'अपने कर्मके द्वारा उस भगवान्‌को पूजकर मनुष्य सिद्धि—भगवत्प्राप्ति लाभ करता है ।'

पर कर्म होना चाहिये शास्त्रीय । शास्त्रविपरीत आचरण करनेसे सिद्धि, सुख तथा परम गति, सभी दुर्लभ हैं—

'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥'

पता नहीं, मानवके आदिम कालका यह अद्भुत इतिहास आपने कहाँ पढ़ा है, जिसके अनुसार सशक्त मानवकी विजय और अशक्तके शोषणसे पूर्ण ही प्राचीन युगका इतिहास लक्षित हुआ । मानवकी मनमानी, दूसरोंका रक्त शोषण करके शक्ति और वैभवके खेलमें आसुरी आनन्द लेना, स्वर्गको नरक बनाना—यह सब तो आधुनिक युगकी देन है । प्राचीन सिद्धान्तके अनुसार तो परस्पर सहयोग ही परम कल्याणकर समझा जाता था—

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।'

भगवती श्रुति भी इसी पारस्परिक प्रेम और सहयोग-का सन्देश देती है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ॥
(ऋ० १० । १९१ । २)

आज तो प्रजा भी एक दूसरेको नोच-खसोटकर अपना पेट भरना चाहती है, परंतु प्राचीन कालमें राजा भी प्रजाकी इच्छाका दास था । प्रजाके संकेतसे राजा अपना राज्य, अपना देश, अपना प्राण तथा अपनी प्राणप्यारी धर्मपत्नीका भी त्याग कर सकता था । भगवान् श्रीराम और उनका रामराज्य इसका आदर्श है ।

आजकल आसुरी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं । ऐटम बम-का निर्माण और हाइड्रोजन बम बनानेका प्रयत्न इसीके परिणाम हैं । प्राचीन कालमें भी पाशुपत और नारायण-जैसे संहारक अस्त्र थे, पर उनका प्रयोग निरीह जनता-के वधके लिये नहीं होता था । उन अस्त्रोंके साथ यह मर्यादा थी कि निरीह, निरपराधपर इनका प्रयोग न हो; अन्यथा परिणाम विपरीत होगा । वर्तमान कालके इन भयानक आसुरी बमोंसे तथा आसुरी मानवोंसे बचनेका एक ही उपाय है—'शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधर असुर-संहारक विश्वप्रतिपालक भगवान् विष्णुकी ही अनन्य शरण ली जाय ।'

जब दैवी वृत्तिके लोग देवको भूलकर अहंकारके वशीभूत हो प्रमाद करने लगते हैं, तब उसकी प्रति-क्रियामें आसुरी शक्तियाँ सिर उठाती हैं । यह सब भगवान्‌का ही एक खेल है । फिर असुरोंके अत्याचारसे तभी छुटकारा मिलता है, जब उनका भी दमन हो । यह सब भी भगवान्‌की लोकहितकारिणी लीलाका ही विलास है ।

प्रभु मङ्गलमय हैं, वे सबका मङ्गल ही करते हैं—इस विश्वासके साथ उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये ।

शेष भगवत्कृपा ।

(३)

दुर्गा और सरस्वतीकी उपासना

सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद ! उत्तरमें निवेदन है कि श्रीदुर्गाजीका 'दुर्गा' नाम ही ढाई

अक्षरका है। इसका जप आप हर समय कर सकते हैं। प्रतिदिन स्नान-सन्ध्या आदिसे निवृत्त होकर एक आसनपर बैठकर मालाद्वारा जप करना चाहिये। जितना आप अधिक-से-अधिक प्रेमपूर्वक जप कर सकें, उतना ही अच्छा है—'अधिकस्याधिकं फलम्।' इसके जपकी कोई नियमित संख्या या विशेष विधि नहीं है।

'सरस्वती' का बीज-मन्त्र 'क्लीं' है। यह सबसे छोटा मन्त्र है। सरस्वतीजीका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करनेसे उनकी कृपा प्राप्त होती है। श्रीदेवीभागवतमें इसकी बड़ी महिमा बतायी गयी है। सुदर्शनने इसीके जपसे सरस्वतीका प्रत्यक्ष दर्शन और दुर्लभ वरदान प्राप्त किया था।

प्रत्येक कामनाकी पूर्ति करनेवाले हैं स्वयं श्रीभगवान्; अतः प्रेमपूर्वक उन्हींका नाम जपना चाहिये—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० २।३।१०)

अर्थात् 'कोई कामना न हो, अथवा सब प्रकारकी कामनाएँ हों या मोक्षमात्रकी अभिलाषा हो, मनुष्य तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान्‌की आराधना करे। अतः प्रत्येक कामनाकी पूर्तिका उपाय है—भगवान्‌की अटल भक्ति और भगवान्‌के नामोंका निरन्तर जप।

वशीकरणकी विधि मेरे पास नहीं है। वशीकरण-का प्रयोग सीखना या करना भी नहीं चाहिये। कोई पुरुष किसी स्त्रीको वशमें करनेके लिये यदि इसका प्रयोग करता है तो वह पाप करता है। यदि किसी मनोरथकी सिद्धिके लिये किसी देवताको वशमें करना हो तो वह उस देवताकी अथवा साक्षात् भगवान्‌की आराधनासे ही साध्य है। इसके लिये वशीकरणका प्रयोग करना निरर्थक है। भगवान्‌पर वशीकरण नहीं चलता। वे तो प्रेमसे ही वशमें होते हैं। अथवा स्वयं कृपा करके ही भक्तकी इच्छा पूरी करते हैं। भगवान्‌को वशमें करनेके लिये 'ढाई' अक्षरका 'प्रेम' ही समर्थ है। शेष भगवत्कृपा।

(४)

नामसे पापका नाश होता है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके प्रश्नोंपर अपना विचार इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌के नामके बलपर पाप नहीं हो सकता, पापका नाश होता है। क्या सूर्यके प्रकाशके बलपर अन्धकार फैलाया जा सकता है? क्या जहाँ अन्धकार है, वहाँ सूर्यका प्रकाश भी है? इसी प्रकार जहाँ पाप है, वहाँ नाम या नामका बल नहीं है। वहाँ तो नामका अनादर या अवहेलना है। नाम और भगवान् दोनोंके प्रति द्रोहकी सूचना है। दूसरे शब्दोंमें वह महान् नामापराध है। इसका दण्ड है—'अन्धतमसाच्छन्न घोर नरक।'

नाम वह अग्नि है, जो पापराशिके ईंधनको जलाकर भस्म कर देती है। उस आगसे पापका नया ईंधन नहीं निकल सकता। सूर्यका प्रकाश रात्रिके गहन अन्धकारको विलीन कर देता है। उस समय नूतन अन्धकारकी सृष्टि नहीं हो सकती। जो नामकी शरण लेता है, वह भगवान्‌के प्रति श्रद्धालु होता है। वह पापके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान्‌की शरणमें जाता है। उसको पापसे छूटनेकी चिन्ता रहती है। उसके मनमें पाप करनेका द्विगुण उत्साह नहीं हो सकता। वह पुराने अभ्यासवश विवश होकर पाप कर सकता है; फिर सावधान होता है, फिर फिसलता है। इस प्रकारकी दशा उसकी हो सकती है; किंतु वह पापसे दूर रहनेके लिये ही प्रयास करता है। पाप हो जानेपर उसके मनमें बड़ी ग्लानि होती है। वह अपार वेदनाका अनुभव करता है। प्रभुसे रो-रोकर प्रार्थना

करता है कि मुझे पापोंसे बचाइये। ऐसे साधकको भगवान् बचा लेते हैं। वह पहलेका पतित है, भगवान्‌की शरणमें आकर उनके नामकी गङ्गामें नहाकर पवित्र हो गया है। अतएव भगवान् पतितपावन हैं। यदि भगवान्‌की शरणमें आकर भी कोई पापाचारी, पतित बना रह जाय, तभी उनकी पतित-पावनतामें सन्देह किया जा सकता है। मनुष्य पहले कितना ही दुराचारी क्यों न रहा हो, यदि नाम और भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है तो भगवान्‌के शब्दोंमें उसे 'साधु' ही मानना चाहिये। क्योंकि अब उसने ठीक रास्ता पकड़ लिया है, उत्तम निश्चयको अपना लिया है—

'साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।'

अब वह पापी नहीं रहेगा। पापमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। उसको तो अब शीघ्र ही महात्मा बनना है—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।'

पर जो भगवान्‌का नाम लेकर पाप करता है, वह तो असुरों और दैत्योंकी भाँति भगवान्‌के साथ खुला विद्रोह करता है। असुरों और दैत्योंने भगवान् विष्णुको अपना शत्रु समझा था, अतः वे उनके स्वरूपभूत धर्मपर कुठाराघात करनेके लिये जान-बूझकर पापको बढ़ावा देते थे। पापाचार ही उनकी युद्ध-घोषणा या चुनौती थी। आज भी जो लोग नाम लेकर जान-बूझकर पाप करते हैं, वे नामापराधी असुर और दैत्योंकी कोटिमें हैं। समाजमें पाप और भ्रष्टाचार फैलाना उन्हींका काम है। भगवन्नामका आश्रय लेनेवाले भक्त तो स्वभावसे ही धर्मपालक और धर्म-प्रचारक होते हैं।

(२) 'भगवन्नाममें पाप-नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी पापी मनुष्यमें पाप करनेकी नहीं है।' यह कथन सर्वथा सत्य है। नामके साथ भगवान्‌की शक्ति है—जो अपरिमेय, असीम है। मनुष्य क्षुद्रतम जीव है, फिर पापी जीव तो और भी निकृष्ट है; उसमें शक्ति ही क्या है? इससे यह समझना चाहिये कि नामकी शक्ति बहुत बड़ी है, उससे हमारा उद्धार हो जायगा। यदि आजतक हमसे कोई शुभ कर्म नहीं बन सका, सदा पाप-ही-पाप हुआ है, तो भी हताश होने, घबरानेकी बात नहीं है। शीघ्र-से-शीघ्र हमें नामकी शरण लेनी चाहिये। नाम पापका विरोधी है, अतः उसकी शरण लेनेका अर्थ है पापसे मुँह मोड़ लेना। नाव और नाविकको अपना शरीर सौंप दिया जाय, तभी हम सागर या सरिताके पार हो सकते हैं। एक पैर जमीनपर और एक नावमें रक्खें तो गिरकर डूबना ही है। इसी प्रकार नामको पूर्णतया आत्मसमर्पण करनेवाला ही नामका बल रखता है। नाम और पाप दोनोंको चाहनेवाला डूबता है। वास्तवमें पापको चाहनेवाला नामकी मखौल उड़ाता है, वह नामका बल मानता ही नहीं। जो पूर्णतया नामनिष्ठ हो जाता है, उसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं—चाहे वे जान-बूझकर किये गये हों या अनजानमें।

(३) नाम लेनेमें किसी विधिकी अपेक्षा नहीं; हँसी, भय, क्रोध, द्वेष, काम या स्नेहसे भी नाम लेनेपर उस नामसे उसके पूर्व पाप अवश्य नष्ट हो जाते हैं। परंतु जब वह अपना यह पेशा बना लेता है कि 'मै पाप करूँगा और नाम लेकर उन्हें नष्ट कर दूँगा,' तब वह नामापराधी हो जाता है। उस दशामें नामापराध नामक नूतन और बड़ा भयङ्कर पाप वह कर बैठता है। यही उसको डुबो देता है। इससे बचना चाहिये। कारणका संयोग मिल जानेपर कार्य हो ही जाता है। यदि हँसी-मजाक, क्रोध, द्वेषसे भी किसीके शरीरसे आगकी चिनगारी छुआ दी जाय तो उसमें जलन होगी ही। बालकको विषके गुणका ज्ञान नहीं है, उसके प्रभावपर उसकी श्रद्धा या विश्वास नहीं है तो भी उसे खानेपर उसकी मृत्यु हो ही जायगी। इसी

प्रकार नामोच्चारण मात्रसे पाप नाश होता है—भले वह हँसीमें, भयसे, द्वेषसे ही लिया जाय। अनिच्छासे या मनको और बातोंमें लगाये रखकर भी यदि हम भोजन करते हैं तो भी उससे भूख तो मिट ही जाती है; इसी प्रकार अन्यमनस्क होकर भी नाम लेनेसे पाप-नाश हो ही जाता है। हाँ, जब हम पाप करके नामसे मिटा देनेकी भावना रखकर बार-बार नाम लेते और पाप करते रहेंगे तो एक नवीन अपराध बनता जायगा, जिसे हम 'नामापराध' कहते हैं। यह समस्त पापोंसे बढ़कर है। नामापराधसे छुटकारा भी तभी मिलता है, जब पापसे सर्वथा बचे रहने तथा भविष्यमें 'नामापराध' न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा मनमें लेकर एकनिष्ठ होकर भगवन्नामोंका अधिकाधिक जप किया जाय। क्योंकि 'नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।' नामापराधका पाप भी नाम ही हरता है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

दुःख क्या है ?

प्रिय भाई साहब! सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला। दुःख वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। मोहवश किसी घटना या अवस्थाविशेषमें आप प्रतिकूलताका अनुभव करते हैं, वहीं दुःख बन जाता है। यदि प्रारब्धभोग, भगवान्‌का मङ्गलमय विधान या मायाका विलास—इनमेंसे कोई-सी भी एक बात मान लें तो दुःख नहीं रहेगा। यों संसारी हिसाबसे देखें तो दुःख अपनी अपेक्षा सुखियोंके प्रति ईर्ष्यासे होता है और सुख अपनी अपेक्षा हीन स्थितिवालेसे अपनी ऊँची स्थिति माननेपर होता है। मनुष्यको सुखी होना हो तो सुखियोंसे द्वेष-ईर्ष्या करना छोड़ दे और अपने सुखको दुखियोंमें बाँट दे। आप स्वयं बुद्धिमान् हैं, मैं विशेष क्या लिखूँ।

शेष भगवत्कृपा।

(६)

स्त्रीसङ्गका त्याग आवश्यक है

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार जाने। आपने अपने मनकी जो स्थिति लिखी, उसपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि आपके मनमें अभी छिपी हुई प्रबल वासना है। यह स्थिति केवल आपकी ही नहीं है, बहुतोंकी है। मनकी इस दशामें आपके लिये यही श्रेयस्कर है कि आप बार-बार रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करें। प्रार्थनामें बड़ी शक्ति है। इससे असम्भव मानी जानेवाली बात भी भगवत्कृपासे सम्भव हो जाती है, इसपर आप विश्वास करें।

जहाँतक हो, स्त्रीचिन्तन और स्त्रीदर्शनका सर्वथा त्याग करें! शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन बतलाये हैं—

श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च कार्यनिर्वृत्तिरेव च॥

'स्त्री-सम्बन्धी बात सुनना, कहना, स्त्रियोंको देखना, उनके साथ खेलना, एकान्तमें बात करना, प्राप्त करनेका निश्चय करना, प्रयत्न करना और सहवास करना।'

इन सभीसे बचना आवश्यक है। स्त्री-सम्बन्धी साहित्यका पढ़ना, पत्रोंमें सिनेमाकी अभिनेत्रियोंके चित्र देखना और सिनेमा देखना—इस दुर्वासनाको बढ़ानेमें बहुत सहायक होते हैं। इनसे मनमें विकार पैदा होता है। स्त्रियोंके साथ बात करनेसे विकार बढ़ता है, स्पर्श करनेपर वह मानो पूरा बढ़ जाता है। इसीलिये स्त्री-दर्शनतकका निषेध किया गया है और उसे पाप माना गया है।

आजकल जो स्कूल-कॉलिजोंमें बालक-बालिकाएँ और स्त्री-पुरुष एक साथ पढ़ते हैं, यह बहुत ही हानिकारक है। देखने और बातचीत करते समय मनमें जो एक सुखासक्ति-सी प्रतीत होती है; मन वहाँसे हटना नहीं चाहता—यही छिपे विकारका लक्षण है।

मनमें रहनेवाली वासनाको यदि पनपनेका अवसर नहीं मिलता, उसे पुष्ट होनेको खूराक नहीं मिलती और लगातार विरोधी वातावरण मिलता है तो वह

धीरे-धीरे क्षीण होकर मर जाती है। वैसे ही, जैसे दीर्घकालतक जल न मिलनेपर वृक्षकी जड़ सूख जाती है और वह मर जाता है; परंतु यदि उसे जल मिलता रहा तो वह सदा हरा-भरा रहेगा एवं बढ़ेगा। उसमें यथासमय फूल और फल भी पैदा होंगे। इसी प्रकार पुरुषकी स्त्री कामवासनामें यदि देखना, सुनना, एकान्तमें मिलना और बातचीत करना चलता रहता है तो वासना बढ़कर प्रबल कामनाका रूप धारण कर लेती है और फिर मनुष्यका पतन हो जाता है।

इसलिये जहाँतक बने, सात्त्विक साहित्यका सेवन करना, सात्त्विक पुरुषोंके सङ्गमें रहना, निरन्तर सात्त्विक कार्योंमें लगे रहना, इन्द्रियोंके द्वारा मनके सामने सदा-सर्वदा सत्-वस्तुओंको ही रखना, जिससे वह सात्त्विक चिन्तनमें ही लगा रहे, और भगवान्‌के नित्य स्मरणका अभ्यास करना चाहिये। इससे कामवासनाका नाश होता है।

प्रतिदिन आदित्यहृदय और सूर्यकवचका पाठ करने, गायत्री जपने तथा सूर्यदेवसे प्रार्थना करनेसे भी कामवासनाका नाश होता है; परंतु केवल पाठ-प्रार्थना करे तथा स्त्रियोंका सङ्ग न छोड़े तो उससे वैसे ही विशेष लाभ नहीं होता, जैसे दवा लेनेके साथ-साथ बार-बार कुपथ्य करनेवाले रोगीको लाभ नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें तो कहा है—

'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।'

'स्त्रियोंका ही नहीं, स्त्रियोंके सङ्ग करनेवालोंका भी सङ्ग दूरसे ही त्याग देना चाहिये।'

(७)

प्रसन्नता-प्राप्तिका उपाय

सप्रेम हरिस्मरण! संसारमें रहते हुए ही चित्तकी प्रसन्नताका उपाय पूछा सो इसका उपाय भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलाया है—

**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥**
(२।६४)

'वशमें किये हुए शरीर, इन्द्रिय और मनसे जो पुरुष राग-द्वेषसे मुक्त होकर विषयोंका सेवन करता है, उसे प्रसाद (प्रसन्नता) की प्राप्ति होती है।' और इस प्रसाद (प्रसन्नता) से सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते॥'
(गीता २।६५)

जबतक मनुष्य राग-द्वेषके वशमें है और जबतक मन-इन्द्रियोंका गुलाम है, तबतक उसके शरीर, इन्द्रिय और मनसे ऐसे कार्य होते ही रहते हैं, जो उसकी सारी प्रसन्नताका नाश करके उसका पतन कर देते हैं।

विषयोंमें रागी (विषयासक्त) मनुष्य जिह्वाके स्वादका गुरुपाक पदार्थोंका अधिक भोजन कर लेता है अथवा राजस-तामस पदार्थोंको खा लेता है, जिससे शरीरमें विकार होते हैं और प्रसाद (प्रसन्नता) का नाश होता है।

राग-द्वेषयुक्त मनुष्य लोगोंके दोष देखने और उनकी स्तुति-निन्दा करनेमें रसका अनुभव करता है; अतः उसके द्वारा व्यर्थ, कटु, असत्य, अहितकर भाषण होता रहता है। फलस्वरूप उसके प्रसादका नाश होता है।

राग-द्वेषयुक्त मनुष्य घर-द्वार, परिवार-परिजन, धन-सम्पत्ति, यश-कीर्ति और शरीरके आराम-भोग आदिमें राग करके चोरी, जुआ, दुराचार, असत्य, अनाचार, दुर्व्यसन, कुसङ्ग और कुप्रवृत्तिमें प्रवृत्त हो जाता है और इससे उसके प्रसन्नता नाश हो जाता है।

राग-द्वेषके कारण मनुष्य अपने कार्योंमें बाधक समझकर लोगोंसे वाद-विवाद, वैर-विरोध, मारने-

मुकद्दमे, उनका अपमान-तिरस्कार, उन्हें दुःख तथा हानि पहुँचानेकी चेष्टा और दुःख तथा हानि होनेपर प्रसन्नताका अनुभव करता है तथा दूसरोंके स्वत्व, धन, जमीन, स्त्री, मान, यश तथा अधिकारपर मन चलाता है एवं उन्हें हथियानेका प्रयत्न करता है । इससे उसके प्रसादका नाश होता है ।

बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो राग-द्वेषके वशमें नहीं होता तथा इन्द्रियोंको एवं मनको अपने वशमें रखकर शास्त्रविहित विषयोंका भगवान्‌की प्रीतिके लिये सेवन करता है ।

शरीरको वशमें रखकर उसके द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा, भगवान्, संत तथा गुरुजनोंकी यथायोग्य वन्दना, पूजा और सेवा करनी चाहिये ।

वाणीको वशमें रखकर उसके द्वारा घबराहट उत्पन्न न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये तथा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, रहस्य, प्रेम आदिका यथायोग्य कथन तथा जप-कीर्तन करना चाहिये ।

मनको वशमें रखकर उसके द्वारा शुभचिन्तन, भगवच्चिन्तन करना चाहिये । उसमें दया, प्रेम, सौहार्द, ममता, तितिक्षा, अहिंसा, प्रसन्नता, कोमलता, मननशीलता, पवित्रता आदि भावोंका विकास, संरक्षण तथा संवर्द्धन करना चाहिये ।

और इस प्रकार तन, वचन और मनको नित्य-निरन्तर शुभके साथ जोड़े रखना चाहिये तथा यह सब भी करना चाहिये निष्कामभावसे, केवल श्रीभगवान्‌की प्रीतिके लिये ही । एवं यही चाहना चाहिये कि इस तरह विशुद्ध भगवत्-प्रीतिके लिये तन, वचन तथा मनसे सेवन-भजन करनेमें उत्तरोत्तर उल्लास, उत्साह-पूर्वक प्रवृत्ति बढ़ती रहे । प्रसन्नता या सच्चे प्रसादका यही लक्षण है कि उसमें मन-बुद्धि सर्वथा भगवान्‌के अर्पण हुए रहते हैं । इन्द्रियाँ और शरीर भगवान्‌की सेवाके लिये अपनेको समर्पण कर देते हैं । अशुभका सर्वथा परित्याग हो जाता है । परंतु जबतक मनुष्य राग-द्वेषरूपी लुटेरोंके वशमें हुआ रहता है, तबतक वह शुभके साथ पूर्णरूपसे संयुक्त नहीं हो सकता—भगवान्‌में चित्तको सर्वथा संलग्न नहीं कर सकता ।

परंतु राग-द्वेषके छूटनेका उपाय भी भगवान्‌का भजन ही है । भगवद्भजनसे ही, भगवान्‌के नित्य अपराभूत अपरिमित बलसे ही मनुष्य राग-द्वेषरूपी प्रबल डाकुओंसे छुटकारा पा सकता है ।

अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह भगवान्‌के नाम-रूप, लीला, गुण, धाम आदिमें राग करे । उनके असीम सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य-सागरमें बार-बार डुबकी लगाना आरम्भ कर दे और भगवद्विरोधी—भगवान्‌से हटानेवाले विषयोंमें द्वेष करे । परिणाम यह होगा कि उसके राग-द्वेषका नाश हो जायगा । फिर न तो उसके हृदयमें द्वेष रहेगा और न उस द्वेषका प्रतिद्वन्द्वी राग ही रहेगा । उस समय भगवान्‌में उसकी सर्वत्र द्वेषहीन विशुद्ध अनुरक्ति हो जायगी—उन्हींमें अनन्य राग हो जायगा । इसी 'राग'का नाम 'भगवत्प्रेम' है । इसीकी प्राप्तिके लिये भक्तजन सदा लालायित रहा करते हैं । भगवत्प्रेमके सामने महापुरुष मुक्तिको भी तुच्छ समझकर सदा इसके सेवनमें लगे रहते हैं ।

मुकुति निरादरि भगति लुभाने ।

(८)

पूजा-प्रतिष्ठासे बचिये

प्रिय महोदय, सादर हरिस्मरण ! आपका कृपा-पत्र मिला । धन्यवाद ! आपने लिखा कि 'समय बहुत अच्छा बीत रहा है, भजन-साधनके साथ ही मैं आज-कल प्रवचन भी करता हूँ, बहुत लोग सुननेको आते हैं, लोगोंका प्रेम तथा उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ रहा है ।' सो बहुत आनन्दकी बात है । भगवान्‌के प्रति लोगोंमें

प्रवृत्ति हो, उनका उत्साह-उल्लास बढ़े और वे भजन-साधन करनेमें लगें—यह बहुत ही उत्तम बात है। जो लोग स्वयं भगवान्‌का स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं, वे निश्चय ही धन्य हैं। एक प्राचीन श्लोक मिलता है—

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'मनुष्योंमें वे लोग धन्य हैं और निश्चय ही कृतार्थ हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं भगवान्‌के नामका स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।'

इस दृष्टिसे आपका कार्य बहुत ही सराहनीय है। परंतु एक सुहृद्‌के नाते मेरा आपसे निवेदन है कि आप सदा-सर्वदा आत्मनिरीक्षण करते रहियेगा। आप शुद्ध वैराग्यके भावसे, केवल भगवत्स्मरण एवं भजन-ध्यानके लिये ही घरसे निकले हैं—ऐसा आप मानते हैं। अतएव यह ध्यान रखिये कहीं वैराग्य और भजनके पवित्र स्थानमें बड़प्पनका या गुरुपनका अभिमान, मान-सम्मानकी इच्छा और लोगोंका मनोरञ्जन करके उनसे विषय प्राप्त करनेकी लालसा न जाग्रत् हो जाय।

पता नहीं लगता—जब मनुष्य भजन-साधन करने लगता है, घर त्यागकर संन्यासी हो जाता है, वैराग्यका अभ्यास करता है, आहार-विहार आदिमें संयम-नियमका पालन करता है, श्रीभगवन्नाम-गुण-कीर्तनमें कभी मस्त हो जाता है, तब सरल हृदयके नर-नारी उसे भक्त या महात्मा मानकर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करने लगते हैं, उससे उपदेश प्राप्त करके भवसागरसे पार होना चाहते हैं, उसे अपनी जीवन-नौकाका कर्णधार गुरु मानने एवं कहने लगते हैं और ऐसी स्थितिमें यदि इन बातोंमें उसे जरा भी रस आने लगता है तो संयम-नियमके साधन, भगवद्भजन तथा सत्सङ्गके प्रभावसे जो कामना-वासनाएँ तथा दुर्गुण-दुर्विचार हृदयमें लुप्त-से हो गये थे, छिप गये थे, जिससे उसने मान लिया था कि मैं काम, क्रोध, लोभ, मान और मोहादिसे मुक्त हो गया हूँ, वे कामना-वासनाएँ और दुर्गुण-दुर्विचार पुनः प्रबलरूपमें जाग उठते हैं, जो उसकी सारी साधन-सम्पत्तिको सहज ही लूटकर उसके अंदर धन, मान, प्रतिष्ठाकी प्रत्यक्ष और प्रबल भूख उत्पन्न कर देते हैं, जिससे उसका जीवन सचाईसे दूर हटकर निरी कृत्रिमताका तथा दम्भका केन्द्र बन जाता है। वह फिर अपने व्याख्यानों, प्रवचनों, कथाओं, कीर्तनों और प्रेम तथा ध्यानकी नकली भाव-भङ्गियोंसे उन नर-नारियोंको रिझाकर उनसे अपनी वासना-कामनाकी तृप्ति करनेके प्रयत्नमें लग जाता है। भलीभाँति आत्मनिरीक्षण करनेपर मनके इस दोषका पता लग सकता है। कभी मनकी ऐसी स्थिति मालूम दे तो सावधान हो जाना चाहिये तथा लोगोंके सामने किये जानेवाले व्याख्यानों, प्रवचनों एवं कीर्तनोंको छोड़कर एकान्तमें भगवान्‌के सामने रो-रोकर कातर प्रार्थना करके अपनी स्थिति रखनी चाहिये और उनसे रक्षाकी भीख माँगनी चाहिये।

आपको यह सर्वथा सावधानीके साथ देखते रहना चाहिये कि आपकी क्रिया और चेष्टा लोकरञ्जनार्थ—लोगोंको प्रसन्न करके अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये तो नहीं हो रही है। वे जब आपको फूलोंका हार पहनाते हैं, चन्दन लगाते हैं, मान-सम्मान करते हैं, पैर छूते हैं, भक्त, जीवन्मुक्त महात्मा, महाभागवत, महापुरुष या भगवान् कहकर सिर नवाते हैं, आपके आचरण, साधन या स्थितिकी बड़ाई करते हैं, आपको अपना पथप्रदर्शक या गुरु बनाना चाहते हैं, सरल हृदयसे अपनी दुरवस्थाको आपके सामने रखकर उससे त्राण करने और भगवत्प्रेम प्रदान करनेकी प्रार्थना करते हैं, उस समय आपका मन क्या कहता है। क्या उससे आपके मनमें उस समय आनन्द आता है? उस मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठामें रस, सुख तथा गौरवकी अनुभूति होती है? उन लोगोंको इस पूजा-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान करने एवं पैर पूजनेकी प्रवृत्तिको आप

उत्साह देते हैं, उनकी भक्ति, श्रद्धा मानकर प्रसन्न होते हुए उसे अच्छा बतलाते हैं या इन सब कार्योंका विरोध करते हैं ? विरोध करते हुए भी क्या आपके मनमें कभी ऐसी बात आती है कि विरोध करनेपर ये नर-नारी मुझे और भी अधिक ऊँची स्थितिका महात्मा या प्रेमी समझेंगे और मेरी इस विनम्रतापर विशेष मुग्ध होकर मेरा विशेष सम्मान करेंगे ?

यदि आपको मान-पूजामें—चरणस्पर्श कराने आदिमें रस आता है, प्रसन्नता होती है, आप सुखका अनुभव करते हैं, अथवा इसमें अपना एवं उनका 'कल्याण होगा' ऐसा मानते-कहते हैं, दुःख, संकोच और लज्जाका अनुभव नहीं होता, यह एक 'महान् पतन करानेवाला साधनका प्रधान विघ्न' है, ऐसा नहीं मानते तो निश्चय समझिये, आपका पतन हो रहा है। आप परमार्थके पुण्य-पथसे च्युत हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें सावधान हो जाइये।

धन और स्त्रीके संसर्गसे तो सदा-सर्वदा सर्प तथा अग्निसे बचनेकी तरह सर्वथा बचे ही रहिये; मान, प्रतिष्ठा, पूजा, यश, कीर्तिकी भी कभी जरा भी इच्छा मत कीजिये।

यह बड़े आश्वासनकी बात है कि आप अपनी कमजोरियोंको स्वीकार करते हैं और अपनी मानस-स्थितिको समझते हैं; पर इतनेपर भी आप उन कार्योंको कर ही रहे हैं, जिनका परिणाम आपके लिये अहितकर हो सकता है—यह अवश्य दुःखकी बात है। मेरी रायमें अभी आपको चाहिये कि आप दूसरोंको उपदेश देना बंद कर दें। पूजा-प्रतिष्ठाको कभी स्वीकार न करें। किसीको चरण न छूने दें। वर्तमान स्थानको छोड़ दें और कहीं अन्यत्र जाकर नियमपूर्वक भजन करें। भजनमें इतना समय लगायें कि थोड़ी देर सोने तथा शौच-स्नान-भोजनादिके अतिरिक्त दूसरी बातके सोचने तथा दूसरा काम करनेके लिये अवकाश ही नहीं मिले। स्त्रियोंसे एकान्तमें कभी न मिलें, न बातचीत करें, न किसी अकेली स्त्रीके घर भिक्षा आदिके लिये जायँ और न किसी स्त्रीको मन्त्र दें।

आप तो नये साधक हैं। सिद्ध महापुरुष भी वैसे ही आचरण करते हैं, जिनसे उनका अनुकरण करके इतर लोग सन्मार्गपर आरूढ़ रहें। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(३। २१—२४)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, इतर लोग भी उसीका अनुकरण करते हैं। वह जो कुछ भी प्रमाण कर देता है, लोग उसीका अनुवर्तन करते हैं। अर्जुन ! मेरे लिये त्रिलोकीमें कोई भी कर्तव्य नहीं है, न कोई प्राप्त होने योग्य वस्तु ही मुझको अप्राप्त है; तथापि मैं कर्ममें ही वर्तता हूँ। यदि मैं कदाचित् सावधानीके साथ आदर्श कर्माचरण न करूँ तो पार्थ ! मानव-समुदाय सब प्रकारसे मेरे ही बताये मार्गपर चलने लगे अर्थात् आदर्श कर्मोंका परित्याग कर दे। इस प्रकार यदि मैं आदर्श कर्म न करूँ तो लोक उत्सन्न हो जायँ और मैं संकरताका कारण बनूँ तथा इस सारी प्रजाका नाश करनेवाला होऊँ।'

जब इस प्रकार स्वयं भगवान् और जनकादि सिद्ध पुरुष भी श्रेष्ठ आदर्श आचरण करना चाहते हैं, तब आप तो साधक हैं। यह सत्य है कि नित्य समत्वमें स्थित परम

श्रेष्ठ सिद्ध महापुरुषोंका यदि कहीं मान-सम्मान होता है तो उससे उनकी कोई हानि नहीं होती, तथापि वे भी उसे स्वीकार नहीं करते। असलमें मान-सम्मान होता है श्रेष्ठत्वका—सदाचार, सद्गुण, ऐश्वर्य, शक्ति, निःस्वार्थभाव, त्याग, वैराग्य, भक्ति और ज्ञानका। ये सारी चीजें भगवान्‌की हैं; यदि किसीमें ये हैं तो भगवान्‌की दी हुई हैं। फिर वह इनके लिये अभिमान क्यों करे, भगवान्‌को मिलनेवाले सम्मान-गौरवका अधिकारी अपनेको क्यों समझे ? जो लोग इस मान-सम्मानको अपनी प्राप्तव्य वस्तु समझकर स्वीकार करते हैं और फूल उठते हैं, वे तो अपना पतन ही करते हैं। सबसे अच्छी और लाभकी बात तो यह है कि इन्हें स्वीकार ही न किया जाय और यदि कहीं स्वीकार न करनेसे किसीको यथार्थमें दुःख होता हो तो उतना ही स्वीकार करे, जितना शास्त्रमर्यादा और सदाचारके अनुकूल हो और उसको भी भगवान्‌के ही समर्पण कर दे। यही समझे कि यह सब भगवान्‌का ही मान-सम्मान है। मैं जो निमित्त बनाया गया हूँ, इससे मालूम होता है कि इसमें कहीं-न-कहीं मेरी कोई वासना ही कारण है। और भगवान्‌से प्रार्थना करे कि वे इस मीठे विघ्नसे सदा बचाते रहें।

स्त्री-स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें एक अंग्रेज न्यायाधीशका मत

अभी कुछ दिनों पूर्व सस्सेक्स (Sussex) नगरमें लार्ड जस्टिस डेनिंग नामक एक अंग्रेज न्यायाधीशने भाषण देते हुए कहा कि 'मुझे सन्देह है कि स्त्री-जातिको दी जानेवाली स्वतन्त्रता कभी भलाईके लिये हो सकती है।' उन्होंने सभाको स्मरण दिलाया कि स्त्रीकी स्वतन्त्रता रोमन-समाजके लिये एक भारी अभिशाप सिद्ध हुई। इसके कारण रोमन-समाजमें सदाचारका ह्रास हुआ और दाम्पत्य-जीवनके पवित्र बन्धनका जैसा पतन हुआ, उसका परिचय पाश्चात्त्य जगत्‌को इससे पहले कभी नहीं हुआ था। नैतिकताके ह्रासके कारण ही रोमन-साम्राज्यका पतन हुआ। उनके कथनानुसार आधुनिक जगत्‌में स्त्री केवल स्वतन्त्र ही नहीं, वरं कानूनकी वह एक उच्छृङ्खल प्रेयसी है, और पुरुष एक सहिष्णु भारवाहक घोड़ेके समान है। कानूनने पतिपर भारी दायित्वका बोझ लाद दिया है, उसे पत्नीका भरण-पोषण करना ही पड़ेगा, और इसके लिये उसे घरके बाहर कोई-न-कोई काम-धंधा करना ही होगा। इसपर भी पत्नी अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये अपने पतिके नामसे कोई भी वस्तु उधार ले सकती है; परंतु वह बेचारा ऐसा नहीं कर सकता, चाहे उसकी स्त्री कितनी ही धनाढ्य हो और चाहे वह कितना ही कमाती हो। स्त्री अपनी सम्पत्तिको सुरक्षित रखनेके लिये पतिपर अदालतमें मुकदमा चला सकती है; परंतु पति इस मामलेमें असहाय है, वह ऐसा नहीं कर सकता। यदि पति-पत्नीमें कहीं अनबन हो गयी या विच्छेदकी नौबत आ गयी तो स्त्रीके पास जीवन-निर्वाहके लिये पर्याप्त साधन न होनेपर और उस अवस्थामें जब कि उसने अपने व्यवहारसे अपना अधिकार नहीं खो दिया है, अदालत पुरुषको ही बाध्य करेगी कि वह स्त्रीके जीवन-निर्वाहके लिये प्रबन्ध करे। पुरुष बेचारेको नियमानुसार बाध्य होकर यह सब करना पड़ेगा।

लार्ड जस्टिस डेनिंगने स्त्री-पुरुषकी समानताके प्रभावपर इसी प्रकारकी और कई एक सरल दलीलें दी हैं, उनका कहना है कि—'स्त्री जब घरके बाहर किसी कामको करने लगती है, जो वह उसे अन्य पुरुषके अधिक सम्पर्कमें ला फेंकता है, वहाँ वह उन प्रलोभनोंमें फँस सकती है, जो उसे घरपर सुलभ नहीं होते।' अधिक स्वतन्त्रता देनेसे स्त्रीके अधिक बिगड़ जानेकी सम्भावना है, ऐसा उनका मत है। रोममें ऐसी स्वतन्त्रताका यही दुष्परिणाम हुआ है।

भक्त-गाथा

भक्त गोवर्धन

विशालपुरीमें गोवर्धन नामक एक नवयुवक पण्डित रहते थे। ब्राह्मण सदाचारी, विद्वान्, तर्कशील और कुछ विद्याभिमानी थे। उनकी पत्नी भी बड़ी साध्वी थी। उसमें भगवान्‌के प्रति विश्वास और भक्ति थी। पति-पत्नीमें पवित्र प्रेम था। घर बहुत सम्पन्न न होनेपर भी दोनों बड़े सुखी थे। इनके यहाँ एक विरक्त महात्मा कभी-कभी आया करते थे। गोवर्धनजीके पिता महात्माजी-के बड़े भक्त थे। उन्होंने इनकी बड़ी सेवा की थी। महात्माकी सच्ची सेवा उनके बतलाये हुए पवित्र मार्गका अनुसरण करनेमें ही है, उनके बाहरी वेष-भूषाका अनुकरण करनेमें नहीं। गोवर्धनके पिता ऐसे ही श्रेष्ठ सेवक थे। उन्हींके सम्बन्धसे महात्मा कभी-कभी इनके घर कृपा करके पधारा करते थे। इधर बहुत दिनोंसे महात्मा नहीं आये। गोवर्धनका पड़ोसी नन्दाराम बड़ा असदाचारी और कुमार्गगामी था; वह गोवर्धनको देखकर जलता था और उन्हें भी अपने समान ही बनाना चाहता था। परंतु बीच-बीचमें महात्माका सङ्ग प्राप्त होते रहनेसे गोवर्धनकी चित्तवृत्तिपर मलिनताकी छाप नहीं पड़ती थी और इसीलिये पड़ोसी नन्दारामकी दाल नहीं गलती थी।

इधर वर्षोंसे महात्माका सङ्ग छूट गया। गोवर्धन सदाचारी विद्वान् तो थे, परंतु भजनपरायण नहीं थे। उनमें तर्क अधिक था, भक्ति नहीं थी; तथापि महात्माके सङ्ग-प्रभावसे उनके अंदरके काम-क्रोधादि दोष दबे रहते थे। पर सत्सङ्ग छूट जाने और नन्दारामका कुसङ्ग प्राप्त होनेसे उनके वे दबे दोष प्रबलरूपसे उभड़ आये। गोवर्धन धीरे-धीरे शराबी, जुआरी, व्यभिचारी हो गये। पत्नी बेचारी बड़ी दुखी थी। उसके मनमें बड़ा सन्ताप था। उसका भगवान्‌में विश्वास था। उसने एक दिन मन-ही-मन आर्तभावसे रोकर भगवान्‌से प्रार्थना की—'भगवन्! मेरे पतिदेव कुसङ्गमें पड़ गये हैं, महात्मा इधर नहीं आये। आप दीनबन्धु हैं। मुझ दीना अबलापर दया कीजिये। महात्माको यहाँ भिजवाइये और मेरे पतिका जीवन सुधारिये। आप सर्वसमर्थ हैं, कृपासागर हैं, जीवमात्रके सुहृद् हैं। आपने स्वयं कहा है, मुझको सब जीवोंका सुहृद् मान लेनेपर उसे तुरंत शान्ति मिल जाती है। प्रभो! मैं आपको सर्वसुहृद् मानती हूँ। आप मुझे शान्ति दीजिये।'

भगवान् सच्ची पुकारको तुरंत सुनते हैं। पुरुष हो, स्त्री हो, ब्राह्मण हो, चाण्डाल हो, पण्डित हो, मूर्ख हो—जो कोई भी जब कभी भी आर्त होकर सच्चे हृदयसे उन्हें पुकारता है, वे तुरंत सुनते हैं और उसका मनोरथ सफल करते हैं। यह तो हमारा अभाग्य है कि हम ऐसे सदा सर्वत्र अपने साथ रहनेवाले सर्वशक्तिमान् परम सुहृद्‌पर विश्वास न करके नश्वर भोगोंपर और स्वार्थी जगत्‌पर विश्वास करते एवं सङ्कटके समय उनके सामने गिड़गिड़ाकर निराशा और तिरस्कारके विषधर सर्पको हृदयका हार बनाते हैं।

महात्मा समाधिस्थ अवस्थामें सुदूर नदीतटपर एकान्तवास कर रहे थे। अकस्मात् उन्हें अपने सेवकके पुत्र गोवर्धनकी याद आयी। उनका हृदय तिलमिला उठा। 'मैं बहुत दिनोंसे विशालपुरी नहीं गया। पता नहीं, गोवर्धनकी क्या स्थिति होगी। कहीं वह कुसङ्गका शिकार तो नहीं हो गया। मेरे मनमें बार-बार क्यों उसके लिये इतना उद्वेग हो रहा है?' महात्माके मनसे जगत्‌की सत्ताका सर्वथा अभाव हो गया था। फिर सत्ताके सङ्कल्प करने-वाले मनका भी अभाव हो गया। पहले दृश्यका अभाव था, अब द्रष्टा भी खो गया। रह गया वही, जो है; वह क्या है, कैसा है? कौन बताये। न कोई जानने योग्य है और न जाननेवाला। बस, उसीमें एकात्मता प्राप्त

करके महात्मा निर्विकल्प समाधिमें स्थित थे। आज अकस्मात् उनकी समाधि टूटी और उन्हें गोवर्धनकी स्मृति आ गयी। स्मृति भी ऐसी, जो भुलाये नहीं भूलती। मानो किसी आसक्तिवश कुछ हो रहा है। सत्यसंकल्प सर्वनियन्ता भगवान्‌की जो प्रेरणा थी। क्योंकि गोवर्धनकी साध्वी पत्नीने भगवान्‌से यही प्रार्थना की थी कि महात्माको भेजकर मेरे स्वामीका जीवन सुधारिये।

महात्मा सीधे विशालापुरीकी ओर चले, जैसे निपुण लक्ष्यवेधीका बाण सीधा लक्ष्यकी ओर ही जाता है। वे विशालापुरी पहुँचे, उस समय आधी रात बीत चुकी थी। सिद्ध महात्माकी सर्वगत दृष्टिने देख लिया, इस समय गोवर्धन शहरके उत्तरकी ओर बसे हुए मुहल्लेमें मायावती वेश्याके घरपर हैं। वे सीधे वहीं पहुँचे। बाहरका दरवाजा खुला था। उन्होंने अंदर जाकर कमरेके किवाड़ खटखटाये और कहा—'गोवर्धन! किवाड़ खोलो।' गोवर्धन इस समय मद्यकी मादकतामें चूर, अपनेको भूला हुआ था। पराधीन था, सर्वथा बहिर्मुख हो रहा था। परंतु महात्माके सिद्ध शब्दोंकी वह अवहेलना नहीं कर सका। वेश्याका भी साहस नहीं हुआ कि उसे रोके। गोवर्धनने किवाड़ खोल दिये। चाँदनी रात थी। खोलते ही अपने सामने एक परम तेजःपुञ्ज जटाधारी महापुरुषको खड़े देखा। उनके शरीर और नेत्रोंसे एक स्निग्ध सुशीतल तेजोऽमृतधारा निकल रही थी। गोवर्धनको पहले तो कुछ डर-सा लगा, वहम हुआ। मनमें कुछ उद्वेग आया। परंतु दूसरे ही क्षण उसने महात्माको पहचान लिया। उसका सारा मद उतर गया। वह चीख मारकर चरणोंमें गिर पड़ा।

संत और भगवान्‌की कृपासे क्या नहीं होता। महान् दुराचारी भी चुटकी मारते-मारते साधु-शिरोमणि बन जाता है। अरे भोले मानव! तू कितने विकट भ्रमके भँवरमें फँस रहा है। संसारके पदार्थोंमें सुख है, यह कैसी मिथ्या मृगतृष्णाका विश्वास है। बार-बार ठोकरें खाता है, निराश होता है, गिरता है, चोट लगती है, फिर भी मोहवश उसी ओर दौड़ता है।

मायावती भी किवाड़ोंके पास खड़ी थी। महात्माके अमोघ दर्शनका प्रभाव था। उसका भी हृदय द्रवित हुआ जा रहा है। जीवनके सारे पाप मानो इस क्षण मूर्तिमान् होकर उसके सामने खड़े हो गये। वह काँप गयी। हृदयमें पश्चात्तापकी प्रचण्ड आग जल उठी। सारी पापराशि जल गयी। हृदयका भाव-नवनीत पिघला और अश्रुधाराके रूपमें वह नेत्रमार्गसे बह चला। पता नहीं, उसका हृदय शुद्ध हुआ माना जाय या नहीं; पर वह भी आगे बढ़कर महात्माके चरणोंपर गिर पड़ी और नेत्र-जलकी धाराओंसे उनके पावन पद-सरोज पखारने लगी। महात्माका वरद हस्त उठा। महात्मा झुके। वरद हस्तने दोनोंके मस्तकोंका स्पर्श किया और बोले—'मेरे बच्चो! उठो, घबराओ नहीं। भगवान्‌की कृपाशक्तिके सामने तुम्हारे पापोंकी क्या बिसात है! कितना ही घना, गहरा और बहुत समयका अन्धकार हो, प्रकाशके आते ही वह छिप जाता है। फिर यदि वहाँ साक्षात् सूर्य उदय हो जाय, तब तो अन्धकारको कहीं छिपनेकी भी जगह नहीं मिलती। भगवान्‌की कृपा कभी न छिपनेवाला प्रचण्ड और सुशीतल प्रकाशमय सूर्य है। पापान्धकारमें कितनी शक्ति है जो क्षणमात्र भी उसके सामने ठहर सके। मैं श्रीभगवान्‌की अनुपमेय कृपाशक्तिकी प्रेरणासे ही आधी रातके समय यहाँ आया हूँ। तुम दोनों पवित्र हो गये। उठो! भगवान्‌का भजन करो और जन्म-जीवनको सफल करो।' दोनों उठे और हाथ जोड़कर कठपुतलीकी भाँति सामने खड़े हो गये। दोनोंके नेत्र झरने बने हुए थे।

महात्माने कहा—'गोवर्धन! तुम घर जाओ और अपनी साध्वी पत्नीको सान्त्वना दो। आजसे यह मायावती तुम्हारी बहिन है। इसको अपनी सहोदरा बहिन समझो। यह अब कावेरीके तटपर जाकर भगवान्‌का

भजन करेगी। किसी कुसङ्गमें पड़कर यह इस दशाको पहुँची। तुम्हारे पिता मेरे बड़े आज्ञाकारी थे, संत थे, भगवत्प्राप्त पुरुष थे। उनके शुभ संस्कार तुम्हारे अंदर थे; परंतु तुमने विद्याके अभिमानमें भगवान्‌की भक्ति नहीं की। तर्कके बलपर केवल जगत्‌के अस्तित्वका खण्डन ही करते रहे। तुमने मायाधीश्वर सच्चिदानन्द भगवान्‌को भी मायाका ही कार्य बताया। इसीलिये तुम बिना केवटकी नावके सदृश इस अघ-समुद्र-में डूब गये। जो अतुलशक्ति भगवान्‌का आश्रय न लेकर अपने चार अक्षरोंके अभिमानपर कूदा-फाँदा करते हैं, उन्हें तो उल्टे मुँहकी खानी ही पड़ती है। उनका पतन ही होता है। अन्धकारका प्रवेश वहीं होता है, जहाँ प्रकाश नहीं होता। पहलेसे ही भगवदाश्रयकी दिव्य शीतल स्निग्ध ज्योति प्रज्वलित कर ली जाय और दृढ़ विश्वासके निर्मल स्नेहसे सिञ्चन करते हुए उसे सदा ज्यों-की-त्यों प्रज्वलित रक्खी जाय तो वहाँ कभी पापान्धकारका प्रवेश हो ही नहीं सकता। पापके बिना ताप भी नहीं आते। चोर-डाकुओंका प्रवेश अँधेरेमें ही हुआ करता है।

'तुमने तो आज भी भगवान्‌को नहीं पुकारा, उनकी शरण नहीं गये। पर तुम्हारी पत्नी बड़ी भक्तिमती है। उसका भगवान्‌पर अटल विश्वास है। उसीकी विश्वासभरी आर्त पुकारने भगवान्‌का आसन हिलाया और भगवान्‌की प्रेरणाने ही समाधिसे उठाकर मुझको यहाँ भेजा। मैं भगवान्‌की सत्य प्रेरणासे ही यहाँ आया; इसीसे तुम दोनोंके हृदयोंमें जो चिरपोषित अनाचार-दुराचारकी राशि थी, वह सूर्यके प्रखर प्रकाशसे अन्धकारके नाशकी भाँति इतनी जल्दी मिट गयी। भगवान्‌के मिलनेपर पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के मिलनेकी इच्छा ही पापोंको जला डालती है। आज मेरे साथ आयी हुई भगवान्‌की प्रेरणाका अनिच्छित दर्शन करके ही तुम कृतार्थ हो गये हो। यह भगवान्‌की अनन्त कृपाका दिग्दर्शन है। इस कृपा-प्राप्तिमें कारण है तुम्हारी साध्वी पत्नी। तुमने भगवान्‌को नहीं पुकारा। पर तुम्हारी पत्नीने विश्वासभरी पुकार की। उसकी प्रार्थना थी—'दीनबन्धु भगवान् दया करके मेरे द्वारा तुम्हारा सुधार करें।' वही हुआ। मैं तो समाधिस्थ था। यहाँ क्यों आता। साध्वी ब्राह्मणीके द्वारा वशीकृत भगवत्कृपाशक्तिने मुझको जगाकर यहाँ भेजा। सच्चे आत्मीय, स्वजन, बन्धु और प्रिय वे ही हैं, जो अपने आत्मीय, स्वजन, बन्धु और प्रियको कुमार्गसे हटाकर—विषय-विष-वारुणीके जहरीले नशेसे छुड़ाकर भगवान्‌के मार्गपर लगाते हैं और भगवान्‌से कातर प्रार्थना करके उन्हें भगवत्प्रेम-सुधा-धाराका पान कराते हैं। तुम्हारी पत्नी धन्य है और तुम भी धन्य हो, जो ऐसी पत्नीके पति होनेका सौभाग्य तुमने प्राप्त किया है। सावित्रीने एक यमराजके फंदेसे अपने स्वामी सत्यवान्‌को छुड़ाया था। पर तुम्हारी साध्वी पत्नीने तुमको अनेकों जन्म-जन्मान्तरोंमें जानेसे छुड़ाकर अनेकों—अनन्तों मृत्युओंसे बचा लिया। साध्वी पत्नी क्या नहीं कर सकती!

'यह मायावती पूर्वजन्मकी बड़ी भक्ता थी। यहाँ भी पवित्र ब्राह्मण-कुलमें इसका जन्म हुआ था। परंतु माता-पिता तथा स्वामीके परलोकवासी हो जानेपर दुराचारी मनुष्योंने इसे अपने फंदेमें फँसा लिया। यह भोली थी, सरलहृदया थी, इससे सहज ही कुसङ्गमें पड़ गयी। जिस कुसङ्गने तुम्हारा पतन किया, उसीने इसका भी किया। कुसङ्गसे ऐसी कौन-सी बुराई है, जो नहीं हो सकती और ऐसा कौन-सा पतन है, जो नहीं होता। मूर्ख मनुष्य धनादिके लोभसे कुसङ्गमें पड़कर अपने ही हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारकर स्वयं ही अपनेको पतनके गहरे गड्ढेमें ढकेल देते हैं। मायावती भी कुसङ्गमें पड़कर गिर गयी। पर इसके हृदयमें पश्चात्ताप-

की आग जल रही थी। पापी दो प्रकारके होते हैं। एक वे, जो परिस्थितिवश कुसङ्गमें पड़कर पापपङ्कमें धँस जाते हैं; पर वह पाप उनके हृदयमें सदा शूलकी तरह चुभता रहता है। वे पश्चात्तापकी आगमें तपते और मन-ही-मन कराहते हुए पतितपावन भगवान्‌को पुकारा करते हैं। दूसरे वे, जो पाप करनेमें ही दक्षता, चतुराई और जीवनकी सफलता मानकर मन-ही-मन गौरवका अनुभव करते हैं। ऐसे लोग बार-बार भयानक नरकयन्त्रणाओं और नारकी योनियोंमें विविध दुःखों एवं कष्टोंके ही शिकार होते हैं। पर जो पहले—पश्चात्ताप करके दीनबन्धु भगवान्‌पर अनन्य विश्वास करके उन्हें पुकारनेवाले होते हैं, उनकी पुकार भगवान् सुनते हैं और अपनी कृपासुधा-धारामें नहलाकर उन्हें तुरंत परम साधु बना लेते हैं।'* अस्तु,

मायावतीने अभी कल ही रो-रोकर भगवान्‌को पुकारा था। भगवान्‌ने उसकी भी पुकार सुन ली। गोवर्धन और मायावती दोनोंके नेत्रोंसे उसी प्रकार अश्रुधारा बह रही थी। उनके सारे पाप उसीमें बह गये थे। दोनोंने बहिन-भाईकी भाँति परस्पर मिलकर महात्माके आगे हाथ जोड़े। महात्माने मायावतीको अपनी तुलसीकी माला देकर आशीर्वाद दिया तथा कावेरीके तटपर जाकर भजन करनेका आदेश दिया। गोवर्धनको उसके घर जानेका आदेश दिया और प्रातःकाल ही स्वयं भी उसके घर पधारनेकी बात कही। गोवर्धन और मायावतीके सामनेसे मायाका पर्दा हट गया। वे निहाल हो गये। संत और भगवंतकी कृपाशक्ति कल्याण करनेमें अमोघ होती है।

गोवर्धनकी पत्नीकी आँखोंमें नींद नहीं थी। वह रो-रोकर करुणामय भगवान्‌को पुकार रही थी। इतनेमें ही गोवर्धनने आकर किवाड़ खटखटाये तथा आवाज दी। दीर्घकालसे गोवर्धन बहुत ही कम घर आते और जब कभी आते तो शराबके नशेमें चूर, बड़बड़ाते, खीझते, झल्लाते, चीखते और गिरते-पड़ते। बेचारी ब्राह्मणी सम्हालती, नहलाती, खिलाती, सेवा करती, समझाती; परंतु बदलेमें उसे मिलते तिरस्कार, अपमान, वाग्बाण और कभी-कभी मार भी। ब्राह्मणी सब सहती, पतिकी असहाय अवस्थापर विचारकर रो पड़ती और आर्त होकर भगवान्‌को पुकारती। आज तो वे पूर्ण स्वस्थ

*श्रीगीतामें इन दोनों प्रकारके पापियोंकी स्थिति और गतिका वर्णन किया है—

(१)

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७।१५)

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(१६।१९-२०)

'मायाके द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले, आसुरी स्वभावके आश्रित, मूढ़, अधम पापीलोग मुझको नहीं भजते। उन द्वेष करनेवाले निर्दय पापी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन! वे मूढ़लोग मुझको न पाकर (एक ही जन्ममें नहीं) जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, तदनन्तर उससे भी नीच गतिको ही जाते हैं।'

(२)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९।३०-३१)

'यदि महापापी मनुष्य भी अनन्यभाक् होकर (मुझ एकमें ही विश्वास करके) मुझको भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सनातनी शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम यह निश्चय सत्य समझो कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।'

हैं। उनकी आवाजसे ही उनकी स्वाभाविक स्थितिका पता लगता है। पर आज इस स्वाभाविकताके साथ कुछ अन्यजातीय अस्वाभाविकता भी है—वह है पवित्र हृदयकी प्रभु-भक्तिका निर्मल सुधाप्रवाह। ब्राह्मणी आवाज सुनते ही मानो निहाल हो गयी। उसने दौड़कर दरवाजा खोला। गोवर्धन पत्नीके साथ घरके अंदर आये। वह चरणोंपर गिरकर रोने लगी। इधर कृतज्ञ-हृदय गोवर्धनके नेत्रोंमें आँसुओंकी झड़ी लगी थी। गोवर्धनने उसको उठाया और स्नेहसे अपने पास बैठाकर गद्गद कण्ठसे सारी कथा सुनायी। ब्राह्मणी भगवत्कृपाका चमत्कार देखकर कृतार्थ हो गयी और उसका बचा-बचाया जीवन सदाके लिये प्रभुके समर्पण हो गया। समस्त रात्रि संत-चर्चा और भगवच्चर्चामें बीत गयी। प्रातः स्नानादिसे निवृत्त होकर गोवर्धन भगवत्-पूजाकी बात सोच रहे थे कि महात्मा पधार गये।

पति-पत्नी उनके चरणोंपर गिर पड़े। दोनोंका हृदय कृतज्ञता, उल्लास और सर्वसमर्पणकी निश्चयतासे भरा था। महात्माने दोनोंको भगवद्भक्तिका उपदेश और षोडश नामके—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस कलिसन्तरणोपनिषद्के मन्त्रका उपदेश किया और कहा, 'अब तुम्हारा कभी पतन नहीं होगा। तुम दोनों भगवान्‌के दिव्य धामको और स्वरूपको प्राप्त करोगे।' तदनन्तर भिक्षा आदि करनेके बाद महात्मा अपने स्थानको पधार गये।

इधर ये दोनों भगवद्भक्तिमें तल्लीन हो गये। ब्राह्मणीका जीवन भक्तिमय था ही। ब्राह्मण भी परम भक्त हुए और अन्तमें भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करके दोनों दिव्य धामको पधारे। वहाँ उन्होंने नित्य पार्षदगति प्राप्त की।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(संकलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)

(१) जो विश्वास कर लेता है कि एकमात्र भगवान् ही मेरे रक्षक हैं, एकमात्र भगवान् ही मेरे त्राणकर्ता हैं—उससे इस समय यदि पाप भी होते हैं, उसमें कुछ बुरी चीज भी है, तो भी वह शीघ्र ही साधु बन जाता है; क्योंकि उसका यह निश्चय यथार्थ है। ऐसा निश्चय होते ही भगवान्‌का आश्रय मिल जाता है। तथा भगवान्‌का आश्रय मिलते ही सारी अच्छाइयाँ अपने-आप वैसे ही आ जाती हैं, जैसे हिमालयमें ठंडक आ जाती है; क्योंकि वहाँ वह ही है।

(२) भगवान्‌का विश्वास ही एकमात्र ऐसी चीज है, जो सब अच्छाइयोंको ला देती है। हम कैसे हैं, क्या हैं—यह न देखकर भगवान् कैसे हैं, क्या हैं—यह देखना अधिक लाभकारी है; इसीमें वास्तविक लाभ है।

(३) भगवान्‌का बल, भगवान्‌की कृपाका बल, भगवान्‌की दयाका बल ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने सब प्रकारके बल परास्त हो जाते हैं। हो क्या जाते हैं, सब परास्त हैं ही।

(४) मनुष्यको अपनी अयोग्यतापर—अपने अपराधोंपर विश्वास करनेके बदले भगवान्‌की अतुलनीय शक्ति-सामर्थ्यपर विश्वास करना चाहिये। अपनी अयोग्यतापर विश्वास करनेसे उत्साहमें कमी आती है, भगवान्‌पर विश्वास करनेसे निराशामें भी उत्साह आ जाता है।

तीसरा प्रार्थना करता है कि 'भगवन् ! मैं नहीं जानता कि मेरा हित किसमें है । अतएव जिसमें आप मेरा हित समझें, वही करें । मेरी इच्छा आपकी इच्छाके विरुद्ध हो तो उसे कभी पूर्ण न करें ।' इसमें भी सकामभाव है । हम अपने लिये चाहते तो हैं, पर समझते हैं कि भगवान् जो कुछ हमारे लिये सोचेंगे, करेंगे, उसमें हमारा अधिक भला होगा, इसलिये उन्हीं-पर छोड़ दें । यह बहुत श्रेष्ठ भाव है ।

इससे ऊँची प्रार्थना यह है कि 'भगवन् ! तुम्हारा मङ्गलमय स्मरण होता रहे, उसमें कभी भूल न हो ।'

(१३) प्रार्थनाका स्वरूप है—भगवान्‌के साथ विश्वासपूर्वक अपने चित्तका अनन्य संयोग कर देना । ऐसा हुए बिना भगवान्‌से प्रार्थना होती ही नहीं ।

(१४) प्रार्थनामें श्रद्धा-विश्वास तो है ही, इनके बिना तो प्रार्थना होती ही नहीं; पर दो बातोंकी और आवश्यकता है—पहली, इतना आर्तभाव, जो भगवान्‌को द्रवित कर दे और दूसरी, भगवान्‌की कृपालुतामें परम विश्वास—कि प्रार्थना करनेमात्रकी देर है, प्रार्थना करते ही वह कृपालु मा अपनी गोदमें ले ही लेगी ।

(१५) उत्तम चीज यह है कि हम भगवान्‌का प्रेमपूर्ण भजन ही चाहें । हमारा कल्याण हो या न हो, इसकी हमें परवा ही नहीं होनी चाहिये ।

(१६) भक्तका सर्वोत्तम भाव यह है कि भजनको छोड़कर भगवान्‌को भी नहीं चाहता । वस्तुतः ऐसा होता ही नहीं कि भगवान् मिल जायँ और भजन छूट जाय । पर यदि ऐसी कल्पना करें तो वह भगवान्‌को छोड़ देगा पर भजन नहीं छोड़ सकता ।

(१७) साधनाकी सिद्धि—चाहे पारमार्थिक हो, चाहे लौकिक—विश्वास करनेपर बहुत जल्दी होती है ।

(१८) जो प्रार्थना शब्दोंकी होती है, वह नकली होती है । यों बैठें, यों शब्द पुकारें, इसमें तो नकलीपन आता है । प्रार्थना जो मनसे होती है, वही असली होती है ।

(१९) भगवान् ही एकमात्र मेरे हैं, मेरे परम सुहृद् हैं अर्थात् भगवान्‌पर विश्वास और भगवान्‌में अनन्यता—जहाँ ये दो बातें होती हैं वहीं प्रार्थना सिद्ध होती है । यह केवल भौतिक क्षेत्रमें ही नहीं होती, साधना-क्षेत्रमें भी यही बात है । भक्त ध्रुवके जीवनमें हमें इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है ।

(२०) प्रार्थनासे पहले ही भगवान् उत्तर देते हैं, यह बिल्कुल सत्य है । भगवान्‌के यहाँ योजना पहलेसे ही बनी रहती है, प्रार्थना करनेपर वह प्रकट हो जाती है । यदि ऐसा न हो तो आवश्यकताके ठीक अवसरपर प्रार्थना करनेसे वह कैसे सिद्ध हो जाती है ।

(२१) लौकिक पदार्थोंके लिये प्रार्थना करना पाप नहीं । पर इसमें हमारा कमीनापन है, ओछापन है । जो वस्तु जानेवाली है, असत्य है, उसके लिये प्रार्थना करना, भगवान्‌के विश्वासको, भगवान्‌के भजन-को कौड़ियोंके बदले खोना बड़ा बुरा है । अतएव ऐसा नहीं करना चाहिये, इससे सदा बचना चाहिये । इसमें यह हानि है कि हम बहुत बड़े लाभसे वञ्चित हो जाते हैं । यदि हमारी पूर्ण श्रद्धा न होनेसे कहीं वह प्रार्थना सफल न होगी तो उससे भगवान्‌के प्रति अविश्वास भी हो सकता है । अतः सकाम प्रार्थनासे बचना चाहिये । भगवान्‌के लिये भगवान्‌की प्रार्थना करनी चाहिये—आपकी इच्छा पूर्ण हो और आपकी इच्छा मङ्गलमय है । पर इसमें यह बात न हो कि 'बिना माँगे अपने-आप अधिक मिल जायगा ।' तुलसी-ने केवल दो ही चीजोंके लिये प्रार्थना की—आपका भजन होता रहे और आपके भक्तोंका सङ्ग होता रहे—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग ।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥

उपभोग

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥
(गीता १५ । ९)

'तनिक धीरे !' हम सब कीर्तन कर रहे थे । मेरे समीप बैठे उन वयोवृद्ध पुरुषने मुझे अत्यन्त नम्रतासे रोका। बचपनसे मेरी संगीतमें रुचि नहीं है । निपुण गायकोंके कलात्मक आलाप जिसे 'आयँ आयँ' लगते हों, जो उनके संगीतके रसकी अपेक्षा उनके पूरे खुले मुखमें एक चुटकी चीनी डालनेपर क्या होगा, इस कल्पनामें अधिक आनन्द पाता हो, उसके हाथकी झाँझ बेसुरी बजे, यह स्वाभाविक ही था । मैं अपनी समझसे धीरे-धीरे बजा रहा था । वे मेरे आदरणीय हैं । चेतावनीने संकुचित किया । हाथ सर्वथा रुक गये ।

'कीर्तनमें भगवान्‌के नामका आनन्द है ।' कभी मेरे एक मित्रने किसी महात्मासे सुनी बात सुनायी थी । 'सुन्दर स्वर, मधुर वाद्य, सम्यक् ताल सुनना हो तो संगीतगोष्ठियोंमें जाना चाहिये । यहाँ तो एक सप्तममें बोलेगा और एक पञ्चममें । एककी ताली पिट्-पिट् करेगी और दूसरेका झाँझ फट्-फट् । यहाँ तो नाममें ही रसानुभव किया जा सकता है । भगवान्‌का नाम ही रसरूप है ।' कीर्तन चल रहा था । और मैं अपनी उधेड़-बुनमें था ।

'स्वर, साज और एकतानता अपने मनको भी तो तल्लीन करती है !' मैंने सोचा । वे ही आगे-आगे बोल रहे थे । सब मिलकर बोलनेका प्रयत्न न करें, सब झाँझ बेढंगे पीटने लगें तो कोई भी नामका कीर्तन कर कैसे सकता है । 'देवर्षि नारदने लय एवं ताल भंग किया तो राग-रागिनियोंके अङ्गभङ्ग हो गये । उन्होंने देवर्षिको उलाहना दिया ।' एक प्राचीन आख्यान स्मरण आया । देवर्षि और कुछ तो गाते नहीं । वे तो सदा भगवान्‌का कीर्तन ही करते हैं । स्वर-ताल तो उनके लिये भी आवश्यक हैं ।

'यह अपने बसकी बात नहीं ।' मैंने एक प्रकारसे झाँझ बजाना बंद ही कर लिया था । मैं और चाहे जो बन सकूँ, गायक बनना तो दूर, गायनका ठीक श्रोता भी नहीं बन सकता—इस सम्बन्धमें मुझे कोई सन्देह नहीं है । अपने लिये मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती । मेरे पास 'कान' नहीं हैं ।

'बेचारे बहिरे !' गायन भी 'श्रुति' है और उसको समझनेके लिये भी विशेष 'कान' चाहिये—यह मनमें आते ही उनका स्मरण आया, जो शब्द सुन ही नहीं सकते । 'कर्णके दुरुपयोगका परिणाम मिला है उन्हें !' जिस इन्द्रियका ठीक उपयोग न होगा, उसकी शक्ति नष्ट हो जायगी—यह बात लोकमें प्रत्यक्ष है । जब किसीकी जन्मसे कोई इन्द्रिय विकृत होती है, तब मान लेते हैं कि उसने पूर्वजन्ममें उसका दुरुपयोग किया है ।

'ऐसा भी क्या कीर्तन, जो सबके बसकी बात न हो !' सच तो यह है कि मैं अपनी दुर्बलता संकीर्तनपर लाद रहा था ।

'कोई लाठियाँ खटखटाता है, कोई ताली बजाता है, कोई अटपटे आलाप लेता है ।' सहसा एक दृश्य आया मनमें । 'गायें बाँ-बाँ करती हैं, बछड़े हुम्मा-हुम्मा पुकारते हैं, बंदर हूप-हूप करते हैं, मेढक टर्राते हैं, मयूर पुकारते हैं और कोयल कूकती है । सब बोलते हैं । सबके शब्द मनमाने और अनियन्त्रित हैं; किंतु जैसे सब एक ही संगीतके साज हैं । सबमें 'सम' है । सब एक लयमें बाँध दिये गये हैं । कदम्ब-मूलसे तनिक टिककर एक मयूरमुकुटी, पीताम्बरधारी, त्रिभंगसुन्दर खड़ा है । उसकी कोमल लाल अँगुलियाँ मुरलीके छिद्रोंपर फुदकती हैं—फुदकती जाती हैं ।

मुरलीकी वह स्वरलहरी, उसमें स्वरभंग नहीं आता। कोई ध्वनि उसके तालमें बाधा नहीं देती। सब ध्वनियाँ, सब स्वर उसके साज बन गये हैं। सब उसे उद्दीप्त करते हैं। सबमें वह साम्य ला रही है।'

मेरे हाथमें झाँझ सम्भवतः फिर वेगसे बजने लगी थी। मैं कह नहीं सकता कि मेरा स्वर दूसरोंसे मिलता है या नहीं; क्योंकि इसे पहचानना मैं जानता ही नहीं। इतनी बात अवश्य है कि मुझे किसीने फिर रोका नहीं।

× × ×

'प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।'

'सुन्दर मुख, पतली अँगुलियाँ, उज्ज्वल नेत्र' किया क्या जाय ? मन मानता नहीं। दृष्टि इधर-उधर जाती है। 'यह फूला हुआ पैर कितना भद्दा दीखता है।' एक ओरसे नेत्र हटाये तो वे दूसरी ओर गये।

'माताने मुख भी नहीं धोया है।' छोटे-से बच्चे-का मुख स्वच्छ न होनेसे विचित्र हो गया था।

'यह अस्वच्छता, यह फूला पैर, वह कोमल मुख!' मनमें एक विचार आया 'वही चर्म, रक्त, मांस और हड्डियाँ! कहीं कोई रोग हो जाय तो········।' एक रोगीका स्मरण हुआ। उसके पूरे शरीरमें खुजली हुई थी। बड़े-बड़े फोड़े फूट रहे थे। मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। बार-बार कपड़ेसे वह मवाद पोंछता और चिल्लाता था। सारा शरीर सिहर उठा उस स्मृतिसे।

'अच्छे हैं वे, जो इस रूपके धोखेमें नहीं आते!' नेत्रहीनोंका स्मरण हुआ। 'सुन्दर कोमल पुष्प, कलापूर्ण चित्र, कूदते-खेलते शिशु—यदि ये सब विश्वमें न हों ?' जिनके नेत्र नहीं हैं, उनके लिये तो होकर भी ये नहीं हैं। कितना कष्ट होता है नेत्रज्योतिके न रहनेपर—मैं एक कल्पना कर सकता हूँ।

'स्वप्न········नेत्रहीनके लिये निद्रा ही वरदान है!' जब जीव स्वर्ग और नरकके दृश्य देखता है, तब स्वप्न भी देखता ही होगा। मुझे किसी जन्मान्धसे यह पूछनेका अवसर नहीं मिला कि उसकी स्वप्नकी अनुभूति क्या है ? क्या वह स्वप्न ही नहीं देखता ? वह वहाँ भी अपनेको अन्धा ही देखता है ? रूपका ज्ञान उसे वहाँ भी नहीं होता ? ऐसा तो नहीं होना चाहिये

'सूरदासजी ? लोग कहते हैं कि वे जन्मान्ध नहीं थे। देखनेवाले भी क्या इतना स्पष्ट वर्णन कर सकते हैं ? तब स्मरणसे भगवान्‌के रूपका वर्णन इतना सूक्ष्म कैसे सम्भव है!' मनको तो कुछ सोचनेको चाहिये। एक पद—पद नहीं, पदके किसी अंशका भाव स्मरण आ रहा है—'श्यामने रोते-रोते दोनों हाथोंसे मलकर काजल नाक और कपोलोंतक फैला दिया है। उसने गोमूत्रमें गीले गोबरको लपेट लिया है इधर-उधर और मैया उसे गोदमें लेकर मुग्ध होकर देख रही हैं। उनकी नवीन साड़ी उस कीचड़से सन गयी, यह सोचतीं ही नहीं वे।'

'जो केसरकी खौर और गोबरके धब्बेसे समान-रूपसे भूषित होता है, जिसे मणि और गुञ्जा दोनोंकी मालाएँ भरपूर फबती हैं, जिसकी शोभा कोमल किसलय, कस्तूरिकाङ्गराग या हरी दूर्वा तथा गैरिकको भी शोभित करती है, उसीका रूप तो रूप है!' कुछ पढ़ा जा रहा था। भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्यकी कोई बात थी उसमें और मैं सोचता हूँ 'नेत्र क्या भगवान्‌ने ये सड़नेवाले रूप देखनेको ही दिये हैं ? ये रूप—सचमुच ये रूप भी हैं ?'

'मुझे भी बैठने दीजिये।' राजा साहबने तनिक संकोच एवं बन्धुत्वसे आग्रह किया और आगे खिसक आये। उन्होंने कटोरीमेंसे तैल लिया और चरणोंमें मलने लगे। बिवाइयाँ फटीं, काँटेसे कठोर निकले स्थान-स्थानपर चमड़े थे उनके चरणोंमें, और कहाँ ये हाथ, कोमल लाल रुई-जैसे। तनिक-सा किसीसे हाथ मिलाते हैं और अँगुलियाँ ऐसी हो जाती हैं, जैसे उनसे रक्त टपक पड़ेगा।

'अच्छा, आप मलिये चरणोंमें भली प्रकार तैलको!' मैं तो सदासे धृष्ट हूँ। महात्माओंसे भी भय करना चाहिये, यह अपनी समझमें आता ही नहीं। जिनके हृदयमें परत्वकी भावना ही नहीं, मनुष्य उनसे न निर्भय

हो तो और कहाँ निःसंकोच होगा। राजा साहब तो यहाँ आकर राजा नहीं रहते। उनके व्यवहारने उन्हें यहाँके वातावरणमें हिला-मिला दिया है। मैं वहाँसे उठकर मस्तक दबाने लगा।

'भाई! आपके कारण मुझे भी यह सौभाग्य मिला है।' सचमुच राजा साहब चरणोंमें भली प्रकार तैल मल रहे थे। उन्हें आनन्द आ रहा था। उनके हाथ लाल हो गये; पर वे थके हों, ऐसा नहीं लगता था। उनके सेवकने उनका स्थान लेना चाहा, पर वह संकेतसे रोक दिया गया।

'आज बच्चोंका आग्रह विजयी हुआ है।' मैंने हाथोंकी ओर देखा। महात्माने एक बार मेरी ओर देखा था एक विचित्र दृष्टिसे, जैसे कह रहे हों 'बड़ा उद्धत है तू।' मैं जानता हूँ कि वे किसीकी कोई सेवा इस प्रकार स्वीकार नहीं करते। उन्हें बुलानेके लिये अखण्ड कीर्तन करना पड़ता है। उन्हें भोजन कराने और जल पिलानेके लिये निश्चित-संख्यामें जप करके पदार्थकी शुद्धि करनी पड़ती है। उनकी तनिक-सी शरीर-सेवाके लिये घंटों जप करके अपनी शरीरशुद्धि आवश्यक होती है। अखण्ड कीर्तन चल रहा था और भोजन-सामग्री उनके साथ आयी थी। यहाँ उन्हें कुछ लेना नहीं था, पर भाव सबसे बड़ी शुद्धि है। मैंने अपने लिये तैलकी शीशी मँगायी थी। नवीन शीशी खोलकर तैल कटोरीमें भर लिया और पैरोंके पास बैठ गया। 'मैं इस समय जप करनेसे रहा!' मेरी हठका तिरस्कार कर नहीं पा रहे थे वे कृपामूर्ति और जब एककी धृष्टता चल गयी, तब दूसरेको कैसे रोका जाय।

'महाराजके चरणोंमें काँटे गड़े हैं!' मैंने देखा राजा साहबके नेत्र भर आये। राजा साहबको भी काँटे चुभे होंगे। शिकारका उन्हें व्यसन है, अतः काँटोंका अनुभव कठिन नहीं। मुझे तो अपना स्मरण है, नागफनीका एक काँटा पैरोंमें सीधा चुभ गया था। लगभग एक इंच भीतरसे उसे खींचनेपर रक्तकी धारा निकल पड़ी। मत पूछिये उस कष्टको!

'इन पैरोंमें लगकर काँटे भी टूटते ही हैं, कष्ट नहीं देते।' एक सीमातक महात्माकी बात ही सच थी। नंगे पैरों चलनेसे तलवेका चर्म बहुत मोटा और कठोर हो गया था। 'तुम्हारे हाथ लाल हो गये, अब रहने दो! वहाँके मृत चर्मपर तैल भला क्या जान पड़ेगा।' राजा साहबके हाथ सचमुच दया करनेकी स्थितिमें थे।

'भगवान्के श्रीचरण मिलेंगे, इसकी तो आशा नहीं।' चरणोंपर मस्तक रखकर फिर वे दुगुने वेगसे तलवोंको मलने लगे। उनके नेत्र कह रहे थे 'दया करके मुझे रोकिये मत!'

'मृदुल और कठोर!' मैं सोचने लगा था 'जब मैं बिछौनेपर बराबर एक स्थानपर पड़ा रहता हूँ, वह कठोर लगने लगता है; पर ये कर जिन चरणोंमें मृदुलता पा रहे हैं आज, वह मृदुलता कैसी है?'

'स्पर्शका तुम्हारा नियम ठीक नहीं दीखता।' मनने कहा। 'वह कुम्हार अपनी पूजाके दिन अग्निपर नंगे पैरों चल रहा था। न तो उसने 'सी' किया और न उसके पैरोंमें छाले पड़े और कल वह पैसे माँग रहा था जूतोंके लिये। दोपहरीमें घर जाते समय धूपमें पैर जलनेका कष्ट सहना उसके लिये भारी हो रहा है।'

'भगवान्के चरण दुर्लभ तो नहीं हैं।' महात्मा समझाने लगे। वही प्रेम, निष्ठा, विश्वास, भजन और व्याकुलताकी बात, जो सत्य है—यह जानकर भी मनमें बैठती नहीं। जीवन जिसे स्वीकार करनेमें, पता नहीं, क्यों हिचकता रहता है।

'भगवान्के श्रीचरण!' त्वचा सार्थक हो जाय यदि एक बार भी उनका स्पर्श हो। स्नानके लिये जल रक्खा जा चुका था। तैल-मर्दन समाप्त करना ही चाहिये। मैंने देखा राजा साहबकी स्पर्शेन्द्रिय सार्थक हो गयी है। वे महात्माके चरणोंके अँगूठेको नेत्रोंकी पलकोंसे लगा रहे थे।

× × ×

'थोड़ी-सी चटनी लीजिये ! आज बहुत स्वादिष्ट बनी है !'

'मुझे खटाई अच्छी नहीं लगती !'

'आँवलेकी बनी है !'

'तब तो ले लूँगा !' आँवलेसे मुझे कुछ अधिक रुचि है। 'लाल मिर्च तो नहीं पड़ी ?'

'थोड़ी-सी हरी मिर्च पड़ी है। बहुत थोड़ी !' वे इस प्रकार आग्रह कर रहे थे, जैसे कोई अमृत दिया जा रहा हो। रुचिका निर्णय व्यक्ति अपनेसे ही तो करता है।

'तब मुझे नहीं चाहिये !'

'आप एकदम मिर्च नहीं खाते ?'

'प्राय: नहीं !' और तभी स्मरण आया एक घटना। मेरे एक मित्रने एक बार अपनी थाली हटायी सामनेसे। बहुत कुछ थालीमें था। उनके नेत्रोंसे पानी बह रहा था। हिचकियाँ आ रही थीं।

'लाओ, मुझे दे दो !' मैंने वह उच्छिष्ट लेनेका प्रयत्न किया।

'मैं जूँठा नहीं दूँगा !' वे थाली हटाने लगे।

'भगवान् बद्रीनाथका प्रसाद उच्छिष्ट नहीं होता !'

'मैं इसे अभी भोजन करूँगा ! मेरा पेट भरा कहाँ है !' मैं आग्रह न करता तो वह कदाचित् प्रसादको सबेरेके लिये रख देते। उस हिम-प्रान्तमें प्रसादमें इतनी मिर्च कदाचित् उचित हो।

'राधा बड़ी कठिनतासे थोड़ा-सा दूध पीती है।' मुझे कई बच्चे स्मरण आये। किसीको घीकी गन्धसे अरुचि थी, कोई मीठी चीजोंको फेंक देता था। एक तो नमकको चीनीकी अपेक्षा अधिक प्रेमसे फाँक लेता है।

'लोगोंका रसास्वाद भी एक नहीं।' भोजनके साथ मैं उनकी ओर देख रहा था, जिन्होंने पिसी हुई लाल मिर्च ऊपरसे माँगकर अपनी थालीकी दाल लाल बना ली थी।

'रसो वै सः' रसरूप तो वह लीलामय ही है। श्रुतिने पता नहीं क्या कहा इस मन्त्रमें; पर मन कहता है, 'जिसके प्रसादकी भावनामें ही सब रस केवल रस रह जाते हैं, उसका सचमुच प्रसाद यदि रसनाको मिले ?' मिल तो सकता ही है और संत उससे भिन्न कहाँ हैं ? पर अहङ्कार 'सीथ' को प्रसाद बनने दे तब न !

× × ×

'आप काले वस्त्र क्यों पहनते हैं ?' मैंने उन्हें प्राय: काले कपड़ोंमें ही देखा है। उनका इतना मृदु व्यवहार अपने प्रति न होता तो इतने प्रख्यात विद्वान्से ऐसी बात पूछनेका साहस न होता।

'मुझे इत्र लगानेका व्यसन है।' बड़ी सरलतासे उन्होंने बता दिया। 'दूसरे रंगके वस्त्रोंमें धब्बे पड़ जाते हैं।'

'हमने पूरे शरीरमें प्याजका रस मला। मार्गभर प्याजका टुकड़ा नाकसे लगाये रहे। इतनेपर भी भय था कि कहीं गिरे तो फिर संसारमें लौटनेको उठ नहीं सकेंगे। सिरपर पैर रखकर भागे जा रहे थे। मस्तिष्कमें बराबर मादकता बढ़ती जाती थी। जैसे निद्रा आ रही हो। अब गिरे तब गिरे !' पूरी बात तो भूल गयी, पर यह किसीकी उत्तराखण्ड-यात्राका एक वर्णन है। वहाँ किसी विशेष सरोवरकी यात्रामें मार्गमें चम्पाका वन पड़ता है। चम्पाके पुष्पोंकी मीलोंतक व्यापक सुगन्ध यात्रीको मूर्छित कर देती है और यदि वहाँ गिर पड़े तो सँभाले कौन। उस सुगन्धसे रक्षाकी व्यवस्था करके ही यात्री मार्ग पार कर पाता है।

'यहाँ पता नहीं कैसी गन्ध आ रही है !' आज प्रात: मैंने एक साथीसे कहा था। मुझे सम्भवत: दूसरोंकी अपेक्षा गन्धकी कुछ अधिक प्रतीति होती है।

'मुझे तो सर्दी हुई है !' साथीने कोई जिज्ञासाका भाव प्रकट नहीं किया।

'सुना है जो लोग सुगन्धसे दुर्गन्ध और दुर्गन्धसे सुगन्धमें बराबर जाते हैं, उनकी घ्राण-शक्ति नष्ट हो जाती है।' मेरा अभिप्राय साथीको चिढ़ाना ही था; पर मैं जानता था कि नाकके दूसरे रोगकी चर्चा दु:खद हो जायगी। उसे सुगन्धित तैल लगानेका व्यसन है और बराबर वह कहता है कि कार्यालयमें उसे ऐसे स्थानपर बैठना पड़ता है, जहाँ दुर्गन्ध

आया करती है । पीछे ही नाली है । उसने मेरी बात-पर ध्यान नहीं दिया उस समय ।

'साधनविशेषसे घ्राणशक्ति जाग्रत् हो जाती है !' मैंने कहीं पढ़ा है । मैंने सुना है कि एक महात्मा केवल इच्छासे समीप बैठे लोगोंको चाहे-जैसी सुगन्धका अनुभव करा दिया करते थे ।

'कोई दैवी या योगसिद्धि रही होगी ।' मन तो एक विचारसे दूसरेपर जाता ही है । 'देवता गन्ध-ग्राही होते हैं । वे सूँघकर ही तृप्ति प्राप्त करते हैं । हमारे लिये सुगन्ध व्यसन है और उनके लिये आहार ।' मन सोचता रहा ।

'ये पुष्प देवताकी तृप्तिका कारण बन सकते थे ।' एक माला टँगी थी । 'अब तो इनमें दुर्गन्ध आयेगी ।' पुष्प काले पड़ गये थे ।

'सभी पुष्प सड़ते हैं, सभी सुगन्ध दुर्गन्धमें बदलती है !' बुद्धिने भी मनकी सहायता की ।

'यह सुगन्ध ! भगवान्‌के समीप धूप जलायी गयी दीखती है ।' बड़ी सुन्दर सुगन्ध थी । मैंने दो-चार बार कसके श्वास खींचा । 'यह सुगन्ध भी प्रसाद है ।'

'भगवान्‌की अम्लान वनमाला, उनके चरणोंपर समर्पित तुलसी-मञ्जरी, उनकी दिव्य गन्ध !' तुलसी-की गन्ध दिव्य ही तो होती है । तुलसी-काननमें जिन्हें बैठनेका अवसर मिला हो, वही उसे जान सकते हैं । 'कहीं वह भी चरणोंपर समर्पित नित्य नवलदलों-की सुरभि हो····नासिकाके ऐसे भाग्य जगतीमें होते तो हैं ही ।'

× × ×

'सब लोग सोचते होंगे, यह बड़े ध्यानसे सुन रहा है !' कुछ पढ़ा जा रहा था—कोई सुन्दर महत्त्वपूर्ण निबन्ध और मैं अपनी उधेड़-बुनमें लगा था । 'मन नहीं था यहाँ तो सुनायी क्या पड़े ।' मन अपने-आप ही अपनी समालोचना कर रहा था ।

'मन न रहनेसे केवल कर्ण ही नहीं—नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका—सब निष्क्रिय हो जाती हैं ।' सुनना तो फिर भी मनको था नहीं । उसकी अपनी बात ही चलती रही—'मनकी रुचि ही इन सबके विषयोंको प्रिय या अप्रिय बनाती है और मनका संयोग न हो तो कोई इन्द्रिय काम ही नहीं करती ।'

'जब सुननेमें नहीं लगना है, तब जो चाहे सो सोचो !'—मैं चाहता था कि जो कुछ पढ़ा जा रहा है, उसे समझूँ; पर मन जो नही मानता । तब मनको ही देखें कि वह करता क्या है ।

'मन तो कुछ नहीं सोचता । श्वास भी कदाचित् बंद होना चाहता है । सचमुच श्वास-रोध-जैसा थोड़ा कष्ट ज्ञात हुआ । प्रयत्नपूर्वक दो-तीन बार श्वास लेना पड़ा । 'तब मन भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता ।'

'शरीरमें जो चेतन तत्त्व है, मनमें स्थित होकर, मनके द्वारा इन्द्रियोंसे सम्बन्ध करके वह बाह्य भोगोंमें प्रवृत्त होता है ।' यह बात अनेक बार सुनी है, अनेक बार पढ़ी है । आज जैसे उसमें एक अद्भुत प्रकाश आ गया है । उसका भाव जैसे स्वयं जाग्रत् हुआ है ।

'स्वप्नमें स्वर्गमें, नरकमें और जाग्रत् दशामें भी मन इन्द्रियोंसे सम्बन्धित होकर तभी भोग उपस्थित करता है, जब चेतन उसमें स्थित होता है ।' जाग्रत् दशामें शरीर भोगोंका भोक्ता होता तो निद्रामें और मरनेपर शरीर तो रहता ही है ।

'शरीर तो भोगता नहीं और भोग सब शरीर-जैसे ही स्थूल हैं ।' मुझे विज्ञानका एक नियम स्मरण आ रहा है—संयोग सर्वथा विषम पदार्थोंका नहीं होता । संयोगके लिये उनमें किसी अंशमें साम्य अपेक्षित है । 'पदार्थोंमें और मनमें क्या समता ?'

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।'

'नीला चश्मा लगाया और सब दृश्य नीला हो गया ! जड मनने समस्त आनन्दको जडसे प्राप्त भोग कह दिया !' कदाचित् यह बुद्धिका विश्लेषण था । 'जड-का कोई सम्बन्ध चेतनसे हो तो अन्तश्चेतन उस

सम्बन्धसे चेतनको प्राप्त करे ! जडका सम्बन्ध तो जड-में ही जन्म-मरणका चक्र चलाता रहेगा ।'

'जडमें चेतनका सम्बन्ध क्या हो ।' बुद्धि ठीक ही पूछती है ।

'सब कहीं भगवान् हैं । सब भगवान् हैं । सब भगवान्के स्वरूप हैं !' पढ़ना समाप्त हो गया था लेखका और उसका स्पष्टीकरण चल रहा था । 'प्रत्येक शब्द प्रभुका नाम है । उनका गुणगान है । स्तुति है । प्रत्येक रूप भगवान्का दर्शन है । प्रत्येक स्पर्श भगवान्का मङ्गल स्पर्श है । प्रत्येक रसमें उसी रसरूपका रस है । प्रत्येक गन्ध भगवान्के श्रीअङ्गकी दिव्य गन्ध है । हमारा मन निरन्तर भगवान्में रहे, भगवान्का चिन्तन करे तो हमारी सम्पूर्ण क्रिया भगवान्की पूजा हो जायगी ।' वे कहते जा रहे थे ।

सुन लेता हूँ, अच्छी लगती हैं ये बातें—यदि जीवनमें आ पातीं................ !

तन्त्रशास्त्रका विषय तथा वैशिष्ट्य

(लेखक—अध्यापक श्रीनरेन्द्रनाथजी शर्मा चौधुरी, एम्० ए०, शास्त्री, काव्य-व्याकरण-तीर्थ)

'तन्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम् ।'

जिस शास्त्रके पठन-पाठन तथा अनुसरणसे ज्ञानकी वृद्धि होती है, उस शास्त्रका नाम 'तन्त्र' है । इस अर्थमें 'तन्त्र' शब्दसे समस्त शास्त्रोंका ही बोध होता है । तन्त्रशास्त्रका विशेष अर्थ—लोकप्रसिद्ध शिवदुर्गा-प्रकाशित तान्त्रिक धर्मशास्त्र है ।

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥
(कामिकागमतन्त्र)

तन्त्रशास्त्रसे मन्त्रशास्त्रका बोध होता है । ब्रह्म तथा प्रकृतिका तत्त्व क्या है—इस प्रश्नका विचार तथा सिद्धान्त तन्त्रशास्त्रमें किया गया है । किस प्रकारसे दुःखोंके पंजेसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है, किस उपायसे ऐहिक सुख-सम्पद् तथा पारलौकिक परमानन्द एवं मुक्तिका लाभ हो सकता है, किस उपायसे मनुष्य देवतास्वरूप बन सकता है—इन सब विषयोंका सुन्दर प्रशस्त पथ तन्त्रशास्त्रमें दिखलाया गया है ।

जिस प्रकार वेदका नाम 'श्रुति' है, उसी प्रकार तन्त्रका नाम भी 'श्रुति' है । महर्षि हारीतने कहा है—

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः । श्रुतिप्रमाणको धर्मः । श्रुतिस्तु द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च ।'

अर्थात् धर्म क्या है—इस विषयको जाननेके लिये श्रुतिका आश्रय लेना पड़ता है । दो प्रकारकी श्रुति है—वैदिक श्रुति तथा तान्त्रिक श्रुति । जिस प्रकार भगवान् ब्रह्मासे वेदोंका प्रकाश हुआ है, उसी प्रकार भगवान् शिवसे तन्त्रोंका प्रकाश हुआ है ।

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥
(स्वच्छन्दतन्त्र)

सदाशिवने कभी गुरुरूपसे और कभी शिष्यरूपसे तन्त्र-तत्त्वोंका प्रकाश किया है । जिस प्रकार वेद गुरु-शिष्यपरम्परा-द्वारा 'श्रुति' नामसे संसारमें प्रचारित हैं, उसी प्रकार तन्त्र भी गुरु-शिष्यपरम्पराद्वारा 'श्रुति' नामसे संसारमें ख्यात हुए हैं ।

कर्णात् कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम् ।
(वामकेश्वरतन्त्र)

मन्त्रोंकी 'अघटनघटनापटीयसी' शक्ति है । अद्वैतवादी आचार्य शङ्करने भी शारीरकभाष्यमें इस विषयका उल्लेख किया है—

लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकाल-निमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते ।

इस उक्तिका मर्म यह है—जिस प्रकार मणि तथा ओषधिकी अचिन्त्य शक्तिका परिचय इस संसारमें पद-पदपर प्राप्त होता है, उसी प्रकार मन्त्रोंकी भी अचिन्त्य शक्ति है । इस शक्तिका ज्ञान सद्गुरुके उपदेशोंसे प्राप्त होता है, केवल युक्ति-तर्कसे इस विषयका ज्ञान नहीं होता । तन्त्रशास्त्रके केवल अध्ययनसे गूढ़ रहस्योंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, आचरण तथा प्रयोगकी आवश्यकता है । तन्त्रमें विशिष्ट-कर्मी बनना चाहिये । कार्य करनेपर ही बोध हो जायगा कि मन्त्रोंकी जिस प्रकार शक्ति वर्णित है, वह शक्ति यथार्थ सत्य है । विद्याके बलसे तन्त्रोंका रहस्य परिज्ञात नहीं होता ।

विद्याबलेन यः कश्चिदागमार्थं विचारयेत् ।
परान् दिशति धर्मार्थं स पतेन्नरके ध्रुवम् ॥
(साधनप्रदीप)

वेद तथा तन्त्रमें तत्त्वतः कुछ भी भेद नहीं है, भेद केवल दृष्टिकोणका है । महाभागवत ग्रन्थमें देवीजीने कहा है—

आगमश्चैव वेदश्च द्वौ बाहू मम शङ्कर ।
ताभ्यामेव धृतं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥

(तन्त्रतत्त्व)

इसका तात्पर्य यह है—वेद तथा तन्त्र पराशक्तिके दो बाहु हैं । इन दो भुजाओंसे जगदम्बा चराचर जगत्की रक्षा करती है ।

अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वरुण आदि वेदके प्रधान देवता हैं । ये सभी देवता पुरुष हैं । उषा-प्रभृति स्त्री-देवताओंकी संख्या वेदमें अत्यन्त कम है । वेदमें अग्नि, इन्द्र प्रभृति पुरुष-देवताओंको जो स्थान दिया गया है, अग्निशक्ति स्वाहाको तथा इन्द्रशक्ति इन्द्राणीको उसी प्रकारका स्थान नहीं दिया गया है । किंतु तन्त्रशास्त्रने शक्तिको ही—जगदम्बाको ही—विशिष्ट आसन प्रदान किया है । तन्त्रका विचार है—अग्निकी दाहिका शक्ति ही तो अग्नि है, दाहिका शक्तिके नाश होनेपर अग्निका अग्नित्व नहीं रह जाता । शक्ति तथा शक्तिमान्में भेद कहाँ है ? शक्तिमान्का जीवन ही तो शक्ति है । जो कुछ हो रहा है, वह शक्तिका ही तो कार्य है ।

ब्रह्माणी कुरुते सृष्टिं न तु ब्रह्मा कदाचन ।
....
प्रकृतिं च विना देवि सर्वे कार्याक्षमा ध्रुवम् ॥

(कुब्जिकातन्त्र)

इस दृष्टिकोणके भेदके कारण वैदिक तथा तान्त्रिक उपासना-पद्धतिमें कुछ भेद आ गया है । तन्त्रोंके सिद्धान्तमें—

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः ।

(देवीभागवत)

शिवकी शक्ति कुण्डलिनी जब शिवसे पृथक् हो जाती है, तब शिव भी शव बन जाते हैं । अतएव शिवकी पूजाका प्रकृत अर्थ शिव-शक्तिकी पूजा है । शक्तिको पृथक् करनेसे शिवका अस्तित्व नहीं रहता ।

शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते ।

(शक्तिसङ्गमतन्त्र)

इस शक्ति-पूजामें सभीका ही अधिकार है, परंतु वेदमें सबका अधिकार नहीं है । नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद्में कहा है—

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति ।

परंतु तन्त्रशास्त्रमें इस प्रकारका कोई भी नियम नहीं है—

विप्राद्यन्तजपर्यन्ता द्विपदा येऽत्र भूतले ।
ते सर्वेऽस्मिन् कुलाचारे भवेयुरधिकारिणः ॥

(महानिर्वाणतन्त्र)

तन्त्रोंके श्रेष्ठाचार—कुलाचारमें—विप्रसे शूद्रपर्यन्त सभी मनुष्योंका अधिकार है । तन्त्रमें जातिभेदका आदर नहीं किया गया है । इसमें आदर है पुरुषकारका । परंतु इन सब वक्तव्योंका यह अर्थ नहीं है कि तन्त्र वेदविरुद्ध हैं । प्रत्युत उपनिषदोंके प्रयोगात्मक व्याख्यान ही तन्त्रोंमें दिये गये हैं । उपनिषद्में उक्त है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषद्)

केवल ब्रह्मविद्यासे ही कार्य नहीं चलेगा, प्रकृतिको भी जान लेना चाहिये । यह विश्व ब्रह्मका ही अंश है, विश्वको पृथक् करनेसे ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता है परंतु इसका सुगम पथ क्या है, सुगम उपाय क्या है, किस प्रकारसे संसारके द्वारा ही ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है—इत्यादि विषयोंका ठीक-ठीक निर्णय तन्त्ररूपी बृहत् प्रयोगशालामें ही उपलब्ध है । इस प्रयोगशालाका अनुसन्धान प्राप्त न होनेसे वैदिक उपनिषदोंका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता । अतः तन्त्रोंको उपनिषदोंकी क्रियात्मक तथा व्यावहारिक व्याख्या कहा जाता है । परंतु यह व्याख्या किस प्रकारकी है, वह पथ किस प्रकारका है—इन सब विषयोंको जाननेके लिये अनुभवी सद्गुरुका अनुसन्धान करना पड़ता है । उनकी शरण लेनेपर ही ज्ञानकी प्राप्ति सम्भव होती है, तभी ज्ञान तथा कर्मका भेद दूर हो जाता है, शिव एवं शक्ति एक हो जाते हैं, कुण्डलिनी-शक्ति परमेशिवसे मिल जाती है, तथा जीवनको आनन्दमय और अमृतमय कर देती है; परंतु इस तान्त्रिक दीक्षामें दीक्षित होनेके लिये हृदयकी उदारता एवं विशालताकी आवश्यकता है । तन्त्र-धर्ममें सिद्धिकी प्राप्तिके लिये अपनेको भी देवतास्वरूप बन जाना पड़ता है—

देव एव यजेद्देवं नादेवो देवमर्चयेत् । (गन्धर्वतन्त्र)

स्वयं देवतास्वरूप नहीं बननेसे देवताकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव तान्त्रिक धर्ममें सबका अधिकार होनेपर भी इस धर्ममें यथार्थतः अधिकारियोंकी संख्या बहुत ही कम है । भोगसे परिवेष्टित होकर भी परमपदको प्राप्त करना बहुत ही कठिन समस्या है । कुलार्णवतन्त्रमें वर्णित है—

कृपाणधारागमनाद् व्याघ्रकण्ठावलम्बनात् ।
भुजङ्गधारणान्नूनमशक्यं कुलसाधनम् ॥

'अर्थात् कृपाणकी तीक्ष्ण धारापर गमन भी सहज है, व्याघ्रका कण्ठालिङ्गन भी सहज है, फणीके फणपर हस्तक्षेप भी सहज है; किंतु तन्त्रका कुलसाधन इन सबसे अत्यन्त कठिन है ।' परंतु इस तन्त्रमार्गका विशेष आकर्षण यह है कि—

भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव । (रुद्रयामल)

तन्त्रमें संसार-त्यागकी आवश्यकता नहीं है । संसारमें रहकर भी परमपदकी प्राप्तिके लिये सुन्दर पथ तन्त्रमें दिखलाया गया है । किंतु पथ-प्रदर्शककी प्राप्ति न होनेसे, सद्गुरुके न मिलनेसे इस पथपर चलना अत्यन्त कठिन होता है । किंतु यदि सद्गुरु मिल जाय तो अति अल्प समयमें ही एवं अति अल्प परिश्रमसे ही असम्भव भी सम्भव हो जाता है, उद्देश्यकी पूर्ति होती है, अमृतका अनुसन्धान प्राप्त हो जाता है, साधक स्वयं शिव बन जाता है ।

तन्त्रोंके बीजमन्त्र देवताओंके प्रतीक हैं । मन्त्र तथा देवताओंमें लेशमात्रका भी भेद नहीं है । मन्त्रसिद्धिका अर्थ ही देवतासिद्धि है । मन्त्रसिद्धि होनेपर साधक स्वयं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' बन जाता है ।

तन्त्रोंकी पाँच प्रसिद्ध शाखाएँ हैं । इन शाखाओंमें शक्तिशाखा ही अधिक प्रसिद्ध है । शाक्त तन्त्रोंमें काली, तारा, षोडशी इत्यादि दश महाविद्याएँ ही प्रधान हैं । दश महाविद्याओंमें भगवती काली आद्या शक्ति हैं । भगवती कालीके पुरुषरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं । जगत्‌की रक्षाके लिये पराशक्ति आविर्भूत होती है । सप्तशती महाग्रन्थमें देवीने स्वयं कहा है—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥

इसी प्रकारकी उक्ति भगवद्गीतामें भी मिलती है । इस पराशक्तिकी कालीमूर्तिका तत्त्व अत्यन्त गम्भीर है । अथर्ववेदमें उक्त है—

तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ।

काल ही सबसे अधिक शक्तिशाली है । इस कालकी शक्तिका नाम ही काली है । कालशक्तिका कार्य केवल संहार ही नहीं है, अपितु सृष्टि तथा पालन भी हैं । इसी गूढ़ तत्त्वको कालीमूर्तिमें परिस्फुट किया गया है । काली न तो पुरुष है और न स्त्री, तथापि साधकोंके ध्यानादिमें सुविधाके लिये इस महाशक्तिकी मातृरूपमें ही कल्पना की गयी है ।

नेयं योषिन्न च पुमान् न षण्ढो न जडः स्मृतः ।
तथापि कल्पवल्लीवत् स्त्रीशब्देनैव युज्यते ॥

(नवरत्नेश्वर)

तत्त्वतः ब्रह्म, शिव, दशावतार, दशमहाविद्या इत्यादि भिन्न-भिन्न देवताओंमें कुछ भी भेद नहीं है । एक ही पराशक्तिको भिन्न महिमा तथा कार्यके निमित्तसे भिन्न-भिन्न नाम तथा रूप दिये गये हैं । ऋग्वेदमें भी कहा है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

विप्रोंने एक ही ब्रह्मका नाना रूपोंमें दर्शन तथा प्रकाश किया है । भगवती काली कालसे—महाकाल शिवसे भिन्न नहीं हैं ।

सा शिवा परमा ज्ञेया शिवाभिन्ना शिवङ्करी ।

(सूतसंहिता)

इस कालीकी पूजामें साधकको भी कालीस्वरूप हो जाना पड़ता है । कालिकोपनिषद्‌में कहा है—

कालीरूपमात्मानं विभावयेत् ।

कालीभावनाके बलसे कालीत्व प्राप्तकर कालशक्तिकी भीषण भीतिसे मुक्ति प्राप्त करना ही कालीपूजाका अन्यतम उद्देश्य है । कालशक्तिपर जय प्राप्त करनेपर ही जरा-मरणका भय दूर हो सकता है, परम सुख तथा शान्ति मिलती है; द्वेष, विवाद आदि समस्त अनर्थ ही दूर हो जाते हैं, और भेदमें अभेद आ जाता है । इस प्रकारसे तन्त्रकी मातृपूजाके दार्शनिक तत्त्वने भारतीय धर्ममतमें एक नूतन स्रोतको प्रवाहित किया है । द्वैतवादके द्वारा ही अद्वैतवादकी स्थापना की है । माताके आसनको अत्यन्त उन्नत कर दिया है । केवल इतना ही नहीं, अपितु सब स्त्रियोंमें जगदम्बाकी ही प्रतिष्ठा की है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।

(सप्तशती)

परंतु 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुण्डकोपनिषद्) । बलकी—शक्तिकी आवश्यकता है । बल अथवा शक्तिके बिना आत्मलाभ नहीं होता । अतः शक्ति-पूजाकी—कालीपूजाकी—बड़ी आवश्यकता है । शक्तिकी साधनामें—कालीकी साधनामें—सिद्धि प्राप्त होनेपर ही ऐहिक तथा पारत्रिक सब समस्याओंका समाधान हो जाता है, पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है, विश्व आनन्दमय बन जाता है । एकता, प्रीति, भ्रातृत्व तथा विश्व—संसारकी सुख-शान्तिका समाधान ही तन्त्र-शास्त्रका दार्शनिक सिद्धान्त तथा उपदेश है । यही शक्ति-पूजाका परम तत्त्व तथा रहस्य है ।

माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः ।
भ्रातरो भैरवाः सर्वे स्वभवनं भुवनत्रयम् ॥

(तन्त्रतत्त्व)

श्रीहरिः

नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित दो नयी पुस्तकें

तत्त्व-चिन्तामणि भाग ६

आकार—डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४५६, एक सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य १) डाकखर्च ॥) कुल १॥), सजिल्द १।=) डाकखर्च ॥-) कुल १॥।≡) मात्र।

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके 'कल्याण'में प्रकाशित लेखोंके पाँच संग्रह 'तत्त्व-चिन्तामणि'के नामसे पाँच भागोंमें पहले प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तकमें उनके ३४ लेखोंका संग्रह है। इस भागमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, वैराग्य, सदाचार आदि सभी विषयोंका समावेश है। आदर्श महापुरुषों और सदाचारियोंके चरित्र तथा अनेक कथा-कहानियोंसे युक्त होनेसे यह भाग सभीके लिये बहुत ही उपादेय एवं रोचक हुआ है। 'तत्त्व-चिन्तामणि'के पूर्व-प्रकाशित पाँचों भागोंको पढ़कर जिन लोगोंने लाभ उठाया है, उन लोगोंसे इस ग्रन्थकी उपादेयता छिपी नहीं है। यह बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभीके कामकी चीज है। पहलेकी भाँति इससे भी भारतके नर-नारी पारमार्थिक लाभ उठावेंगे, ऐसी आशा और प्रार्थना है।

परमार्थ-पत्रावली भाग ३

आकार—डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २००, एक सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य ॥) मात्र; डाकखर्च ।≡) कुल ॥।≡) मात्र।

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्रोंका संग्रह है, जो समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित हो चुके हैं। इन पत्रोंमें संक्षेपतः उपादेय विषयोंका कितना सरल, सुन्दर और प्रभावोत्पादक विवेचन रहता है—यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। जिज्ञासुओंकी परमार्थविषयक रुचि एवं सत्संग-प्रेमको बढ़ाने तथा आन्तरिक जिज्ञासाकी पूर्ति करनेमें इन पत्रोंद्वारा बहुत सहायता मिलती है; इस परम लाभकी दृष्टिसे ही यह तीसरा भाग प्रकाशित किया गया है। इसमें ७२ पत्रोंका संग्रह है। पाठकोंको इस संग्रहसे लाभ उठाना चाहिये।

नीचे लिखी पुस्तकें मिलने लगीं—

पुस्तक	मूल्य
गीता मझोली सटीक पदच्छेद, अन्वयसहित	॥≡)
सजिल्द ...	१)
गीता सटीक मोटा टाइप ...	॥)
सजिल्द ...	॥।=)
विनय-पत्रिका भावार्थसहित	१)
सजिल्द ...	१।=)
तत्त्व-चिन्तामणि (बड़ा) भाग ३ ...	॥≡)
सजिल्द ...	१-)

ये पुस्तकें बहुत दिनोंसे समाप्त हो गयी थीं; परन्तु अब पुनः छपकर तैयार हो गयी हैं। खर्च बढ़ जानेसे सजिल्दके दाम पहलेकी अपेक्षा कुछ बढ़ाये गये हैं। जिनको आवश्यकता हो, पुस्तकें मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' पर कौन क्या कहते हैं—

महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र एम्० ए०, डी० लिट्०, प्रयाग-विश्वविद्यालय—

"इस अङ्कको पढ़नेसे भारतीय संस्कृतिका जागता हुआ एक चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। भारतीय संस्कृतिका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किसी एक ग्रन्थमें सकल साधारण लोगोंके समझनेके योग्य शब्दोंमें आजतक देख नहीं पड़ा था। ××× इस घोर कलिकालमें, जब कि चारों ओरसे भारतीय संस्कृतिके ऊपर इतना प्रहार हो रहा है और इसके रक्षक ही जब इसके भक्षक हो चले हैं, इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशितकर भारतीयोंके हृदयमें संस्कृतिके संस्कारको पुनः जगाया है। प्रत्येक भारतीयको यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिये और अपने पास सदा रखना चाहिये।.... परीक्षाकी बधाईके स्थानमें यही अङ्क उपहारस्वरूपमें दिया जाय। इसका प्रयत्न लोग करें। ××××"

युक्तप्रान्तीय सरकारके शिक्षा और अर्थमन्त्री माननीय बाबू श्रीसम्पूर्णानन्दजी—

"××× अङ्क बहुत अच्छा है और इस विषयमें अभिरुचि रखनेवालोंको इसमें बहुत-सी परमोपयोगी सामग्री प्राप्त होगी।"

हिंदी-संसारके लब्धप्रतिष्ठ पुराने महारथी पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी—

"×××× हिंदू-संस्कृतिपर इतना पूर्ण और उपयोगी संकलन हिंदी भाषामें अबतक नहीं था। ××× चुने हुए प्रामाणिक विद्वानोंसे जो लेख प्राप्त किये गये हैं, सबकी सराहनाके लिये हृदय-सहमत शब्द नहीं हैं। यह तो हिंदू-जातिका ज्ञान-कोश है। ×××"

हिंदीके प्रसिद्ध और गम्भीर लेखक डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०—

"×××× लगभग नौ सौ पृष्ठोंकी इतनी बहुविध सुपाठ्य और रोचक सामग्री इस अङ्कमें एकत्र देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। भारतीय धर्म, दर्शन, कला और जीवन-के कितने ही महत्त्वपूर्ण अंशोंपर प्रकाश डाला गया है। कलाके चित्रोंका चुनाव कल्याण-के लिये एक नवीन आयोजन है। ×××× भारतीय संस्कृतिकी सामग्री तो वस्तुतः अपरम्पार है। उसका जितना अधिक व्याख्यान एवं रूप प्रकाशन किया जाय, स्वागतके योग्य है। ×× इस अङ्कके सम्पादन, प्रकाशनसे एक अभावकी पूर्ति हुई है। ××××"

थोड़े अङ्क बचे हैं। जिनको ग्राहक बनना हो, वे ७।) रुपये मनीआर्डरसे भेज दें या वी० पी० से भेजनेका आदेश तुरंत लिखें।

कल्याण
अङ्क ७
वर्ष २४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, जुलाई सन् १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक ...

रामविरही घोड़े

भडुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछें। राम बियोगि बिकल दुख तीछें॥
जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
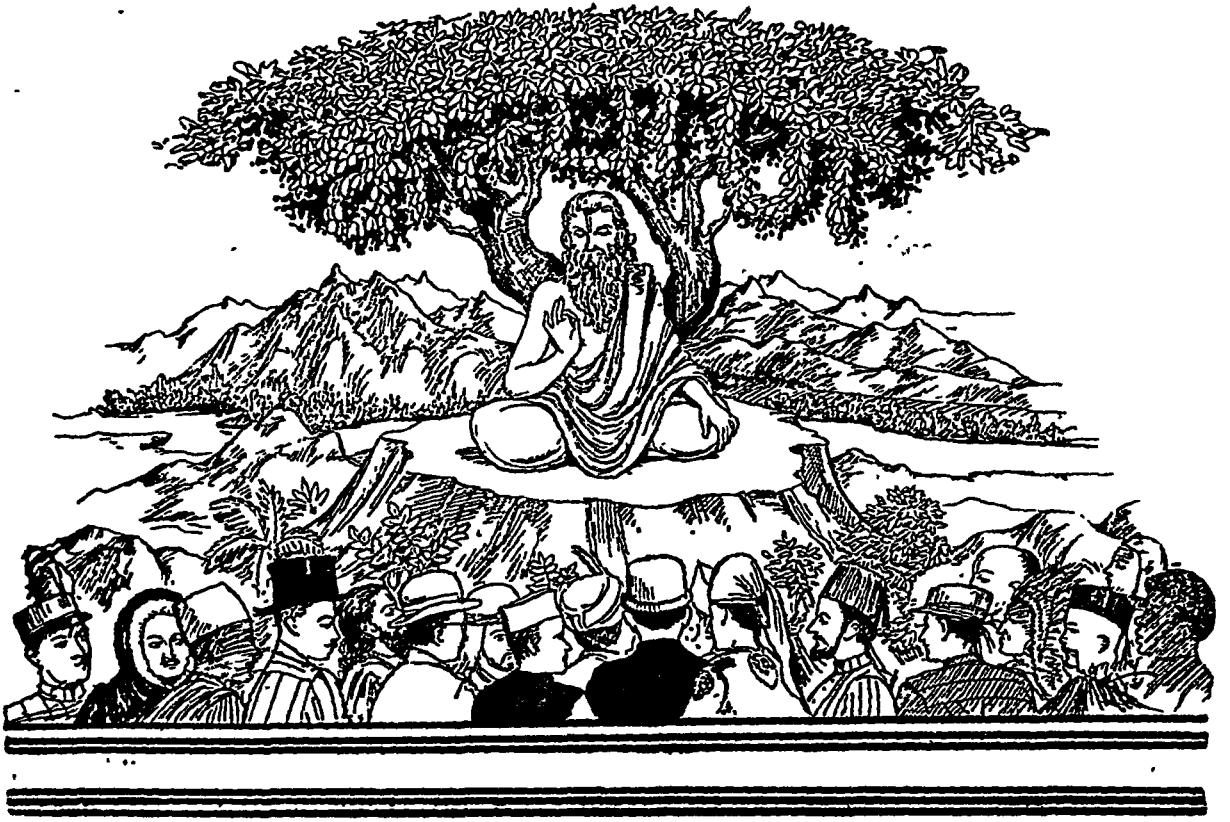
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर श्रावण २००७, जुलाई १९५० { संख्या ७
पूर्ण संख्या २८४

राम-विरही घोड़े

हिंकरि हिंकरि हय पाछेइ हेरें ।
जो कह राम-लखन-वैदेही, तेहि चितवहिं हठि टेरें ॥
आगे धरन चहत नहिं द्वै पद केवट घरे चलावैं ।
वनमृग जोरे मनहु आनि रथ पथ कैसे चलि पावैं ॥
नयनन नीर स्वेद-साने तन विह्वल इत-उत धावैं ।
रघुवर-वाजि निषाद विलोकत लोचन नीर बहावैं ॥

याद रक्खो—संसारके भोगोंमें सुख है ही नहीं, जो वस्तु जहाँ नहीं है, वह वहाँ कैसे मिलेगी। ढूँढ़ते रहो, दर-दर भटकते रहो, सिर पटकते रहो, सर्वत्र और सदा अन्तमें निराशा, निर्वेद और व्यथाके ही थपेड़े लगेंगे। सुख—सच्चा और स्थायी सुख तो है—भगवान्‌में और उन भगवान्‌की प्राप्ति होती है त्यागसे।

याद रक्खो—जो पुरुष त्यागसे प्राप्त होनेवाले निर्मल सुखका अनुभव करता है, वह भोगोंकी ओर कभी आँख उठाकर देखता ही नहीं। हाँ, भोगोंके प्रचुर प्रलोभन भाँति-भाँतिसे सज-धजकर उसके सामने स्वयमेव आते हैं उसे अपनी ओर खींचनेके लिये, परंतु वह उन्हें उसी प्रकार ठुकरा देता है जैसे बहुमूल्य रत्नोंको पा जानेवाला मनुष्य रंग-विरंगे काँच-पत्थरोंको।

याद रक्खो—त्यागीको अपनी सन्तोषमयी वृत्तिसे और त्यागभरी स्थितिसे जो सुख प्राप्त होता है, उसकी तुलनामें भोगोंके—धन, मान, यश, आराम, अधिकार आदिके सभी सुख सर्वथा तुच्छ और नगण्य हैं। सच्ची बात तो यह है कि भोग-सुख वस्तुतः सुख ही नहीं है। बुद्धिहीन मनुष्योंको भ्रमके कारण ही उसमें सुखकी प्रतीति होती है। असलमें तो उनसे दुःख ही उत्पन्न होते हैं, इसीसे बुद्धिमान् लोग भोगोंमें अपने मनको नहीं फँसने देते—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

याद रक्खो—जो वस्तु अनित्य, परिवर्तनशील और अपूर्ण है, उससे कभी सच्चा और स्थायी सुख मिल ही नहीं सकता। इसीलिये आज जो किसी भोग-सामग्रीसे—धनसे, मानसे, सन्तानसे, सत्तासे अपनेको सुखी मानता है, वही कल रोता-विलपता देखा जाता है।

याद रक्खो—त्यागमें पहले-पहले कुछ कठिनाई-सी लगती है, कुछ कर्कशता-सी प्रतीत होती है, इसीसे मन उससे भागना चाहता है; परंतु गहराईसे विचार कर देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि जितनी कठिनाइयाँ, जितने क्लेश, जितनी कर्कशता और जितनी पीड़ा भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके साधनमें और प्राप्त होनेपर उनके संरक्षणमें हैं, उतने त्यागमें कदापि नहीं हैं। वरं त्यागकी कठिनाई और भोगकी कठिनाईमें जातिगत बड़ा भेद है। त्यागकी कठिनाई सात्त्विक है और भोगकी कठिनाईमें राजसिकता तथा तामसिकता है। त्यागकी कठिनाईका परिणाम परम अमृतकी प्राप्ति है और भोगकी कठिनाईका परिणाम विषमयी ज्वाला है, जो लोक-परलोकके जीवनको जलाकर सर्वथा यातनापूर्ण और जर्जरित कर देती है।

याद रक्खो—भोग भ्रमाते हैं और त्याग स्व-रूपमें स्थिति कराता है। भोगोंसे कभी न पूरी होनेवाली भयानक इच्छा, कामना और वासनाएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे सदा दुःख-ही-दुःख मिलते हैं एवं त्यागसे वे सब-की-सब क्षीण होती हैं तथा खूराक न मिलनेसे—ईंधनके अभावमें आग बुझ जानेके समान—स्वयमेव बुझ जाती हैं, मर जाती हैं।

याद रक्खो—त्यागसे जीवनमें शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' और शान्तिसे मनुष्य परमानन्द-स्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है। भोगसे अशान्ति प्राप्त होती है और वह जीवको जबर्दस्ती नरकानलमें दग्ध होनेके लिये ले जाती है।

याद रक्खो—यदि तुम 'भोगोंमें सुख है' इस भ्रान्तिको त्यागकर भोगोंका मोह छोड़ दोगे तो शीघ्र ही सुखी हो जाओगे और तुम्हारा यह त्यागका सुखी जीवन तुम्हें भगवान्‌की ओर ले जायगा। एवं ऐसा करनेपर तुम्हें निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

'शिव'

श्रीसंत-वाणी

(एक संतका पत्र)

जिसे हम अपना मान लेते हैं एवं जिसकी हमें आवश्यकता हो जाती है, उसमें अनुराग स्वतः उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों मिलनेमें देर होती जाती है त्यों-त्यों प्रीतिका प्रवाह और प्रबल होता जाता है। वह प्रीति प्रीति नहीं है जिसमें शिथिलता आती हो। प्रीति वही सार्थक है जो उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्राणी प्रीति करनेमें सदैव स्वाधीन है। पराधीन केवल उपभोगमें है, प्रीतिमें नहीं। अतः भगवत्-अनुराग कैसे उत्पन्न होगा यह आस्तिक प्राणीका प्रश्न ही नहीं हो सकता। क्योंकि सच्चा आस्तिक वही है जिसके अन्यान्य चिन्तन एक चिन्तनमें विलीन हो जाते हैं।

जिसने सद्भावपूर्वक यह मान लिया है कि 'प्रभु मेरे हैं, मैं उनका हूँ' बस वही भक्त हो गया। भक्त होते ही भक्तिरस स्वतः उत्पन्न होता है। भक्तिरस कितना अनुपम रस है, जिसे वाणीद्वारा तथा लेखनी-द्वारा प्रकाश करना सम्भव नहीं है। हाँ, संकेतकी भाषामें केवल यह कह सकते हैं कि उस अनुपम रसके लिये भक्त और भगवान् दोनों ही लालायित रहते हैं।

जिसने सरल विश्वासपूर्वक यह मान लिया कि 'प्रभु मेरे हैं' वह यह नहीं मान पाता कि 'तन मेरा है, मन मेरा है, प्राण मेरा है, सम्बन्धी मेरे हैं और धन मेरा है इत्यादि।' वह तो यही पाठ पढ़ता है कि उनके अतिरिक्त मेरा कोई नहीं है। इतना ही नहीं, उसे यह भी चिन्ता नहीं रहती कि वे मुझे अपना कहें। वे भले ही मेरे होकर न रहें, पर मैं किसी दूसरेका होकर नहीं रह सकता। ऐसी अविचलित धारणा ही भक्तकी धारणा है। भक्तको स्मरण, चिन्तन, ध्यान करना नहीं पड़ता, होने लगता है। प्रीति और आसक्तिमें एक बड़ा भेद है, प्रीति अपनत्वसे और आसक्ति अभ्याससे उत्पन्न होती है। प्रीतिका आरम्भ तो होता है किंतु अन्त नहीं होता; क्योंकि प्रीति प्रियतमका स्वभाव और प्रेमीकी माँग है। आसक्ति अभ्याससे मिट जाती है। अभ्यासका जन्म सीमित अहंभावसे होता है और प्रीति प्रभुसे जातीय एकता जान लेनेपर होती है। अतः जब साधकको यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि मैं और मेरा प्रियतम दोनोंकी जातीय एकता है, तब उसे अपना मान लेनेमें कुछ भी कठिनाई तथा विकल्प नहीं होता है। प्राणीसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिस संसारमें मानी हुई एकता है, उसे वह जातीय एकता मान लेता है। जिसके कारण वह वासनाओंके जालमें आबद्ध हो जाता है और फिर अपने प्रभुसे अपनापन नहीं कर पाता। अतः हम आस्तिकोंको यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि हमारी जातीय एकता तो केवल श्रीहरिसे ही है, संसारसे नहीं। जब साधक अपने प्रेमास्पदके सम्बन्धको भलीभाँति जान लेता है, तब उसके जीवनमें निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण प्रभुकी अहैतुकी कृपासे स्वतः उत्पन्न होते हैं। फिर उसका हृदय पवित्र प्रीतिसे भर जाता है एवं मन अमन हो जाता है। और अहंता अभिमान-शून्य हो जाती है। इतना ही नहीं, अपने प्रियतमसे भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता।

'यह जो कुछ है, उनका है' यह प्रीतिकी प्रथम अवस्था है; 'यह जो कुछ है, उसमें वे ही लीला कर रहे हैं' यह प्रीतिकी दूसरी अवस्था है; और 'उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं' यह प्रीतिकी अन्तिम निष्ठा है। अतः सब कुछ उनको समर्पण करके ईमानदारीके साथ उनके हो जाओ। उनकी कृपामयी अनुपम शक्ति पतितको पवित्र, तुच्छको महान् और असमर्थको समर्थ बनानेमें सर्वदा समर्थ है। अतः आस्तिकके जीवनमें निराशाके लिये कोई स्थान ही नहीं है।

आपका प्रश्न सुनकर प्रभु-प्रेरित जो भाव उत्पन्न हुआ, सेवामें प्रकट कर दिया। आपको एवं सत्संगी भाइयोंको ॐ आनन्द।

सिद्धान्त

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[वर्ष २४, अङ्क ५ के पृष्ठ ११०७ से आगे]

२३—संसारमें चार पदार्थ माने जाते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । उनमें अर्थ और काममें तो प्रारब्ध प्रधान है तथा धर्म और मोक्षमें पुरुषार्थ; क्योंकि प्रारब्धके बिना प्रयत्न करनेपर भी अर्थ और कामकी सिद्धि नहीं होती । किंतु धर्म और मोक्ष क्रियमाण होनेसे प्रयत्नसाध्य हैं, प्रारब्ध कर्मके फल नहीं । सारांश यह कि ये प्रारब्धकर्मके बलपर अपने-आप सिद्ध होनेवाले नहीं हैं ।

शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानका नाम 'धर्म' है । वह धर्म यदि निष्कामभावसे पालन किया जाय तो मुक्तिदायक होता है और वही यदि सकामभावसे किया जाय तो अर्थ और कामकी सिद्धि करनेवाला होता है । 'अर्थ'का अभिप्राय है धन (रुपये) और धनसे प्राप्त होनेवाले पदार्थ । इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिकी अभिलाषाको 'काम' कहते हैं । इसके कई भेद होते हैं, उनमें मुख्य चार भेद समझने चाहिये—तृष्णा, इच्छा, स्पृहा और वासना । स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदिके होते हुए भी उनकी वृद्धिकी कामनाको 'तृष्णा' कहते हैं । जिस वस्तुका अभाव हो, उसकी पूर्तिकी कामनाका नाम 'इच्छा' है । अभाव होनेपर भी जिसके बिना जीवननिर्वाह न हो सके, उस अत्यन्त आवश्यकतावाली वस्तुकी कामनाका नाम 'स्पृहा' है । तथा जो कुछ प्राप्त है, उसके बने रहने और जीवनके नित्य बने रहनेकी कामनाका नाम 'वासना' है । ये चारों 'काम'के ही भेद हैं । निष्कामकर्म, ईश्वर-भक्ति और परमात्मज्ञानके द्वारा समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव और परमानन्दकी प्राप्ति होनेका नाम 'मोक्ष' है; इसीको परम गति, परमात्माकी प्राप्ति, मुक्ति आदि नामोंसे कहा है ।

२४—कोई प्रारब्धको बलवान् बताते हैं और कोई पुरुषार्थको; किंतु वास्तवमें अपने-अपने स्थानपर ये दोनों ही बलवान् हैं । अभिप्राय यह है कि अर्थ और काममें तो प्रारब्ध बलवान् है तथा धर्म और मोक्षके विषयमें पुरुषार्थ; क्योंकि पुरुषार्थ किये बिना अपने-आप न तो धर्मका पालन हो सकता है और न मोक्षकी सिद्धि ही ।

किये हुए पुण्य और पापरूप सञ्चित कर्मोंमेंसे जिस कर्मके अंशका फलभोग प्रारम्भ हो जाता है, उसका नाम 'प्रारब्ध' है । इस पुण्य-पापके फलरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छासे, परेच्छासे और स्वेच्छासे । अकस्मात् दैवेच्छासे धन आदिका प्राप्त होना या रोग, सङ्कट, मृत्यु आदिका प्राप्त होना अनिच्छा-प्रारब्धभोग है; परेच्छासे—दूसरोंकी इच्छासे धन आदिका प्राप्त होना या सङ्कट, मृत्यु आदिका प्राप्त होना परेच्छा-प्रारब्धभोग है, एवं अपनी इच्छासे किये हुए प्रयत्नद्वारा अर्थ और कामका सिद्ध होना या इसके विपरीत अर्थ और भोगका विनाश होना—यह स्वेच्छा-प्रारब्धभोग है ।

इसपर यह जिज्ञासा होती है कि पूर्वसञ्चित कर्मोंमेंसे एक अंशका ही प्रारब्ध बनता है या इस जन्ममें किये हुए नवीन कर्मका भी प्रारब्ध बन सकता है तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि इस वर्तमानकालमें एक क्षण पूर्व किये हुए कर्म भी सञ्चितमें सम्मिलित हो जाते हैं इस कारण वे भी प्रारब्ध बन सकते हैं । यदि कहें कि कोई मनुष्य अर्थ और कामको अपने प्रयत्न (पुरुषार्थ) से प्राप्त करना चाहे तो हो सकता है या नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि हो भी सकता है और नहीं भी । जैसे कोई आदमी आमके वृक्षकी एक

टहनीमें जामुनकी कलम लगा देता है और यदि उसका प्रयत्न सिद्ध हो जाय यानी जामुनकी टहनी उससे जुड़ जाय तो उस आमके वृक्षकी उस टहनीपर भी जामुन लग सकते हैं, इसी तरह कोई मनुष्य इसी जन्ममें पुत्र, धन आदिकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित यज्ञ, तप आदिका अनुष्ठान करता है और उसका वह शास्त्रविहित कर्म सिद्ध हो जाता है तो उसके पूर्वके प्रारब्धमें न लिखे हुए पुत्र, धन आदि भी इस नये प्रारब्धसे प्राप्त हो सकते हैं; किंतु यदि शास्त्रोक्त प्रयत्न सिद्ध नहीं होता तो नहीं भी होते तथा मनमाने किये हुए प्रयत्नसे प्रारब्धका परिवर्तन कभी नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र भी है, पर फल भोगनेमें बिल्कुल नहीं।

अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित प्रयत्नका नाम 'पुरुषार्थ' है। तथा मोक्षकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम 'परम-पुरुषार्थ' है। किंतु शास्त्रविपरीत प्रयत्नका नाम 'पाप' और व्यर्थ चेष्टाका नाम 'प्रमाद' है।

अतएव मनुष्यको परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधन करने चाहिये।

२५-अर्थ-त्यागके प्रयोगके कई भेद हैं। उनमें चार प्रधान हैं—पूर्वका ऋण चुकाना, दहेज देना, दान करना और ऋण देना।

जैसे किसीकी अत्यन्त गरीब घरमें ब्याही हुई एक लड़की है और उसके लड़केका विवाह है; किंतु उसके पास धन नहीं है, केवल उस लड़कीके पाँच सौ रुपये पिताके पास जमा हैं। लड़केके विवाहमें दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता है। इसलिये वह अपने पितासे प्रार्थना करती है कि यह विवाह दो हजार रुपयोंके बिना नहीं हो सकता, चाहे जिस शर्तसे आप रुपये देनेकी कृपा करें। इसपर उसके पिताने पाँच सौ रुपये तो उसके जमा थे, वे दे दिये और पाँच सौ रुपये नानाके नाते दहेजके रूपमें दे दिये तथा पाँच सौ रुपये गरीब होनेके नाते उसे सहायताके रूपमें दे दिये एवं पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दिये—इस प्रकार कुल दो हजार रुपये दे दिये। इन दो हजार रुपयोंमेंसे पाँच सौ तो जो उसके जमा थे, वे दिये गये; उनका भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहा, क्योंकि वह पूर्वका ऋण चुकाया गया। इसी प्रकार पाँच सौ जो दहेजके रूपमें दिये गये, उनपर पुत्रीके नाते उसका हक था, अतः उनका भी भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहा, क्योंकि वह भी एक प्रकारसे पूर्वजन्मका ऋण ही था। तथा पाँच सौ रुपये जो सहायताके रूपमें दिये गये, उनका भी भविष्यमें लड़कीसे कोई लेन-देन नहीं है, पर यदि वे रुपये सकामभावसे दिये गये हैं तो उससे कामनाकी सिद्धि हो सकती है और यदि वे निष्कामभावसे दिये गये तो उससे उसके अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है। शेष पाँच सौ जो ऋणके रूपमें दिये गये, वे लड़कीसे लेने हैं; यदि ये इस जन्ममें वापस मिल जायँगे तो उनका भी लेन-देन समाप्त हो जायगा, अन्यथा इनका लेन-देन आगे भावी जन्ममें भी चलेगा; किंतु ऋणदाता पिताका यह अधिकार है कि वह अपने हृदयसे यदि इनका त्याग कर दे तो इन रुपयोंका भी लेन-देन समाप्त हो सकता है; पर यह बात ऋण देनेवालेके अधिकारमें नहीं है। ऋणदाता सकामभावसे इनका त्याग करे तो उसकी कामनाकी सिद्धि हो सकती है और निष्कामभावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार किसीको भी मनुष्य जो कुछ देता है, उसके चार भेद समझ लेने चाहिये। जैसे कोई मनुष्य किसी राजाको भूमिकर, आयकर आदि (टैक्स) देता है, तो वह ऋण चुकानेके समान है, उसका भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहता।

मनुष्य भोग, आराम और यशके लिये जो धन खर्च करता है, वह यदि न्याययुक्त है तो परिणाममें

भोग, आराम और यश देकर समाप्त हो जाता है और यदि अन्याययुक्त है तो दाता पापका भागी होता है।

जो द्रव्य डाकू आदिको मृत्युभयसे दिया जाता है, उसका फल दाताको कुछ नहीं होता, किंतु डाकू आदि पापके भागी होते हैं।

जो मनुष्य मरते समय अपने उत्तराधिकारियोंको धन, ऐश्वर्य आदि छोड़कर चला जाता है, अर्थात् उससे उनका वियोग हो जाता है तो वह पूर्वजन्मके पावनेदारोंका ऋण चुकानेके समान है, अतः उससे उस मृतकको कोई फल नहीं मिलता। किंतु जो मनुष्य आत्मकल्याणके लिये विवेक और वैराग्यपूर्वक धन-ऐश्वर्यादिका स्वेच्छासे त्याग कर देता है, उसका उसे सात्त्विक त्यागकी भाँति अन्तःकरणकी शुद्धिरूप फल मिलता है। इसलिये मनुष्यको धनका उपयोग विवेक-वैराग्यपूर्वक निष्कामभावसे ही करना चाहिये।

२६—मनुष्य-जीवनका समय बहुत ही अमूल्य है। इसलिये जो शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माकी प्राप्तिके इच्छुक हैं उनको तो सारा समय उत्तम-से-उत्तम साधनमें लगाना चाहिये। अर्थात् नित्य-निरन्तर परमात्माको याद रखते हुए ही अपना सारा-का-सारा समय परमात्मामें ही लगा देना चाहिये। जो मनुष्य सब-का-सब समय परमात्माके समर्पण करनेमें असमर्थ हैं, उनको अपने समयका अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य उपयोग करना चाहिये। अपने समयका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इसकी सामान्य विधि यह है—

दिन-रातमें चौबीस घंटे होते हैं। उनमेंसे छः घंटे सोनेके लिये, कम-से-कम छः घंटे एकान्तमें बैठकर केवल भजन-ध्यानादि साधनके लिये, छः घंटे जीविकाके लिये और बाकी छः घंटे शौच-स्नान, आहार-विहार, स्वास्थ्य-रक्षा आदिके लिये लगाने चाहिये। इसका प्रकार यह है—

रात्रिमें १० बजेसे प्रातः ४ बजेतक शयन करना चाहिये। सोते समय मनसे जप, ध्यान या गीतापाठ करते हुए ही सोना चाहिये; क्योंकि इस प्रकार करनेसे स्वप्न अच्छे आते हैं और शयनका समय भी उपयोगमें आ जाता है। प्रातः ४ से ५ तक शौच-स्नान, व्यायाम, आसन करके ५ से ८ तक आत्मकल्याणके लिये पवित्र और एकान्त देशमें बैठकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक अपने अधिकारके अनुसार अर्थको खयालमें रखते हुए सन्ध्या-गायत्री, होम, भगवान्‌के नामका जप, स्वरूपका ध्यान, भगवान्‌की पूजा, स्तोत्रपाठ, स्तुति-प्रार्थना, वेद, गीता, रामायण आदि शास्त्रोंका स्वाध्याय आदि साधन करने चाहिये। ८ से १० तक पर्यटन, स्वास्थ्यरक्षा, गृहकार्य और भोजनादि करना चाहिये; भोजन शुद्ध, सात्त्विक और लघु होना चाहिये। १० से ४ तक वर्णधर्मके अनुसार जीविकोपार्जन करना चाहिये, परमात्माको निरन्तर याद रखते हुए शुद्ध और न्याययुक्त जीविकाके कर्म करने चाहिये। ४ से ५ तक पर्यटन, शौच-स्नान करना चाहिये। ५ से ८ तक आत्म-कल्याणके लिये सन्ध्या-गायत्री आदि सब साधन प्रातःकालकी तरह ही करने चाहिये। फिर रात्रिको ८ से १० तक भोजन करना एवं घरके सब एकत्र होकर आत्मकल्याण, व्यवहार और व्यापारके सुधार तथा समाज और देशकी उन्नतिके लिये बातचीत करनी चाहिये।

इस दिनचर्याको देश, काल, परिस्थिति तथा अपनी सुविधाके अनुसार यथायोग्य घटा-बढ़ा सकते हैं; किंतु परमात्माकी स्मृति हर समय रखते हुए ही सब कार्य करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

परंतु ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियोंको न तो जीविकाके लिये छः घंटोंकी तथा न आहार-विहार और स्वास्थ्यरक्षादिके लिये ही छः घंटोंकी आवश्यकता है। अतः उन्हें शौच-स्नान, आहार-विहार और

स्वास्थ्यरक्षा आदिके लिये चार घंटोंमें ही काम चलाकर बाकी ८ घंटोंका समय बचाकर ब्रह्मचारियोंको तो गुरुसेवापूर्वक विद्याभ्यासमें, वानप्रस्थियोंको तपस्यामें और संन्यासियोंको आत्मकल्याणके लिये जप-ध्यानादिके साधनमें लगाना चाहिये।

२७—कई मनुष्य सन्दिग्धरूपमें प्रश्न किया करते हैं, उनके प्रश्नोंका निर्णयात्मक उत्तर निश्चितरूपसे दे देना चाहिये। जैसे—

प्रश्न—विवाह करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—यदि स्वास्थ्य ठीक हो तो विवाह अवश्य करना चाहिये परंतु चालीस वर्षकी उम्रके बाद नहीं।

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—संन्यास लेनेका यह समय नहीं है।

प्रश्न—दुःख पड़नेपर आत्महत्या करनी चाहिये कि नहीं?

उत्तर—भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी आत्महत्याका तो कभी विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये।

प्रश्न—गाली देनेवालेको बदलेमें गाली देनी चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—अपनेपर अत्याचार करनेवालेका प्रतीकार करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—अत्याचारका बदला अत्याचारसे नहीं देना चाहिये, आत्मरक्षाके लिये न्याययुक्त प्रतीकार किया जा सकता है।

कोई बीमार आदमी प्रश्न करे तो उसे इस प्रकार उत्तर देना चाहिये—

प्रश्न—आज स्वास्थ्य ठीक नहीं है; खाना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—जल पीना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—पी सकते हैं।

प्रश्न—स्नान करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—शौच या लघुशङ्काके लिये किस समय जाना चाहिये?

उत्तर—इनके वेगको क्षणमात्रके लिये भी कभी नहीं रोकना चाहिये, तुरंत चले जाना चाहिये।

प्रश्न—निद्रा कितनी लेनी चाहिये?

उत्तर—उचित निद्रा लेनी चाहिये।

२८—सभी बालक-बालिकाओंको दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और विलासिताका त्याग करके नित्य माता, पिता, आचार्य और गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सेवा और नमस्कार, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, व्यायाम, ईश्वरभक्ति और सद्गुण-सदाचारके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके साथ ही बालकोंको अपने-अपने वर्णानुसार जीविकाके लिये अध्यापनकला, युद्धकौशल, खेती, पशुपालन, व्यापार, शिल्प आदि कला-कौशलके काम भी यथासाध्य सीखने चाहिये। एवं बालिकाओंको सिलाई, कताई आदि कारीगरी तथा रसोई बनाना, पीसना आदि सभी गृहकार्य भी सीखने चाहिये।

२९—स्त्रियोंको घरमें सबकी सेवा करना, सबके साथ प्रेम रखना और स्वार्थत्यागपूर्वक समताका व्यवहार करना, स्वावलम्बी बनना, बालकोंको उत्तम शिक्षा देना, सादा भोजन, सादगीसे रहन-सहन और खर्च कम लगाना, रुपयोंका हिसाब-किताब रखना, घरसे बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं घूमना, धूर्त, ठग और कुटनी स्त्रियोंसे बचकर रहना, सत्य, प्रिय और मित-भाषण, खेल-तमाशा, मादक-वस्तु, नाटक-सिनेमा आदि दुर्व्यसन और दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करना, रोना-रूठना और लड़ाई-झगड़ा नहीं करना एवं हाड़ दाँत सींग लाखकी चूड़ी, चमड़ा तथा नील और मिलके वस्त्र आदि अपवित्र वस्तुओंका सर्वथा त्याग करना— इन बातोंपर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये।

३०—विधवा स्त्रियोंको काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंका, झूठ कपट चोरी हिंसा व्यभिचार आदि दुराचारोंका, आलस्य प्रमाद खेल-तमाशा ताश-चौपड़ नाटक-सिनेमा मादक वस्तु आदि दुर्व्यसनोंका तथा ऐश-आराम, शृङ्गार-शौकीनी, स्वाद, तेल-फुलेल, इत्र-सेंट आदि विलासिताका सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा विषयी, पामर, कुलटा और कुटनी स्त्रियोंके और पुरुषमात्रके संसर्गसे दूर रहना चाहिये। एकान्तमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप, ध्यान और स्वाध्यायका अनुष्ठान, ज्ञान, वैराग्य, तप, सदाचार, शौचाचार, परोपकार, मन-इन्द्रियोंका संयम तथा प्रेम और विनय-पूर्वक सबके साथ उत्तम वर्ताव और सबकी सेवा, सत्कार करना चाहिये।

३१—पुरुषोंको स्त्री, पुरुष और बालकोंकी शिक्षा तथा उन्नतिके उद्देश्यसे नित्यप्रति रात्रिमें सबको एकत्र करके गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदि शास्त्रोंका प्रवचन और विवेचन करना, अपनी सामाजिक व्यावहारिक नैतिक धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये नित्यप्रति एकान्तमें विचार करना, अपने व्यापार और आचरणके सुधारके लिये ईश्वरको नित्य-निरन्तर याद रखते हुए स्वार्थका त्याग करके सबके साथ विनय और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना, दुखी अनाथ पूज्य और गुरुजनोंकी सेवा तथा निष्कामभावसे प्राणि-मात्रके हितका चिन्तन और उनकी उन्नतिकी चेष्टा करते हुए उनकी सेवा करना एवं दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार और विलासिताको विषके समान समझकर त्याग करना तथा आत्मोद्धारके लिये बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति, सद्गुण-सदाचार-को अमृतके समान समझकर उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिये।

पुरुषोंको विधवा स्त्रियोंकी सेवा-शुश्रूषा, उनकी रक्षा, उनके रुपयोंका व्याज उपजाना और उनकी जीविकाका प्रवन्ध विशेषरूपसे करना चाहिये तथा उनकी भक्ति, जप, तप, वैराग्य, सद्गुण-सदाचारके साधनमें सहायता करना और उनको किसी प्रकार भी कष्ट न हो, इसपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि विधवा स्त्रीकी दुराशिषसे यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

३२—मनुष्यको नील, लाख, सींग, हाड़, चर्बी और चर्बीमिश्रित पदार्थ, चमड़ा, चपड़ा, मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज, डाक्टरी दवाइयाँ और मिलका कपड़ा—इनको न तो कभी काममें लाना और न इनका व्यापार ही करना चाहिये। तथा मिल, खान, भट्ठा, सट्टा-फाटका, लौह, काठ, रेशम-टसर, जुआ, नाटक-सिनेमा आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये।

३३—मनुष्यको दो वातोंको सदा याद रखना चाहिये और दो वातोंको सर्वथा भूल जाना चाहिये।

सदा याद रखनेकी दो वातें ये हैं——१—दूसरोंके द्वारा किया गया अपना उपकार और २—अपने द्वारा किया गया किसीका अपकार। क्योंकि दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको याद रखनेसे कृतघ्नताका दोष नहीं आता तथा मनुष्य प्रत्युपकार करके ऋणसे मुक्त हो सकता है एवं अपने द्वारा किये गये किसीके अपकारको याद रखनेसे पश्चात्ताप होकर जिसका अपकार किया गया है, उसके प्रति विनय, प्रार्थना और सेवा करनेसे मनुष्य अपराधसे मुक्त हो सकता है।

सर्वथा भूल जानेकी दो वातें ये हैं——१—दूसरोंके द्वारा किया हुआ अपकार और २——अपने द्वारा किया हुआ उपकार। क्योंकि दूसरोंके द्वारा किये हुए अपकारको याद रखनेसे प्रतिहिंसाकी भावनाके कारण उसका अनिष्ट किये जानेकी विशेष गुंजाइश है, इससे अपना पतन होता है और अपने द्वारा किया हुआ उपकार याद रहनेसे वह कभी प्रकट भी किया जा सकता है, जिससे जिसका उपकार किया गया है, उसे दुःख

और लज्जा होती है, अपनेमें अभिमान-अहंकारकी वृद्धि होती है एवं वह किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अपनी सब प्रकारसे हानि है।

३४—किसीको अपने अनुकूल बनानेके लिये मनुष्यको दो प्रयोग करने चाहिये। ये दो सर्वमोहन मन्त्र हैं—१. स्वार्थका त्याग करके उसकी सेवा करना और २. उसके दोषोंकी ओर ध्यान न देकर उसके सद्गुण-सदाचारोंकी स्तुति करना। ये दो ऐसे सर्वमोहन मन्त्र हैं कि इनसे ईश्वर, महात्मा, ऋषि-मुनि, देवता तथा मनुष्य सब अनुकूल हो जाते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है, दुष्ट और वैरी भी मित्र बन जाते हैं।

३५—वैराग्य, उपरति और संयम—ये एक दूसरेसे भिन्न हैं तथा इन तीनोंका ही इन्द्रिय, मन और विषयोंसे सम्बन्ध है। संसारके विषय, कर्म, इन्द्रिय और मन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिके अभावका नाम 'वैराग्य' है तथा उस रागका अत्यन्त अभाव हो जाना 'परम वैराग्य' है।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी ओरसे इन्द्रियों और मनकी वृत्तियोंका हट जाना 'उपरति' है तथा उनसे मन-इन्द्रियोंका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना 'परम उपरति' है। इन्द्रियोंका और मनका सर्वथा साधकके वशमें हो जाना इन्द्रियोंका और मनका 'संयम' कहलाता है; इनमें इन्द्रियोंके संयमको 'दम' और मनके संयमको 'शम' कहते हैं।

इन तीनोंमें वैराग्य प्रधान है; क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होनेसे मन और इन्द्रियोंकी वृत्ति उनसे स्वाभाविक ही हट जाती है तथा मन और इन्द्रियोंका वशमें होना भी सहज है। एवं वैराग्य होनेपर परमात्माकी प्राप्तिके साधन भी सुगम हो जाते हैं, जिससे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। किंतु बिना वैराग्यके केवल उपरति और संयमसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि योगी लोग सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये भी इन्द्रियोंकी और मनकी पदार्थोंमें एकाग्रता और संयम करते हैं, किंतु विषयोंमें आसक्तिके कारण परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं।

३६—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, श्रद्धापूर्वक सत्पुरुषोंका सङ्ग, उनकी आज्ञाका पालन, उनके आचरणोंका अनुकरण, सत्-शास्त्रोंका अर्थ और भावसहित स्वाध्याय, चराचर भूतोंको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी सेवा, परमात्माके नामका जप, उसके स्वरूपका ध्यान, भगवान्‌में अनन्य प्रेम, भगवान्‌की पूजा, भगवान्‌के गुण-प्रभाव-लीलाका मनन, ईश्वर-शास्त्र-महापुरुष और परलोकमें उत्तम श्रद्धा, परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तथा भगवद्भावोंका प्रचार—इन सब साधनोंमेंसे किसी भी एकका रहस्य समझकर श्रद्धा, भक्ति और विवेक-वैराग्यपूर्वक निष्कामभावसे अनुष्ठान किया जाय तो वह एक ही साधन अति शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करा सकता है।

३७—भगवान्‌के नामका जप वाणीकी अपेक्षा श्वाससे करना उत्तम है और श्वासकी अपेक्षा मनसे करना उत्तम है तथा वह भी यदि गुप्त रक्खा जाय अर्थात् प्रकाश न किया जाय तो और भी उत्तम है। उससे भी उत्तम वह है, जो अर्थ और भावसहित किया जाय एवं वही जप श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर करनेपर तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है।

३८—श्रद्धा और प्रेमपूर्वक की हुई पूजासे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(९।२६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल,

जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

मन्दिरोंमें प्रतिष्ठापित पाषाण और धातु आदिसे बनी मूर्तिकी पूजाकी अपेक्षा अपने-अपने घरोंमें भगवान्‌की पाषाण और धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटकी पूजा करना उत्तम है। क्योंकि मन्दिरोंमें तो पण्डा-पुजारी, महन्त आदि ही पूजा करते, भोग लगाते और आरती करते हैं, हमलोग तो दूरसे केवल दर्शनमात्र ही कर सकते हैं तथा उनमें किसी-किसीके चरित्र भी अच्छे नहीं होते एवं अपने घरमें तो हम स्वेच्छानुसार अपने हाथसे भगवान्‌की मूर्तिकी पूजा कर सकते हैं, भोग लगा सकते हैं और आरती कर सकते हैं। अतः हमें अपने घरमें मूर्ति स्थापित करके अपने बाल-बच्चे, स्त्री तथा बन्धु-बान्धवोंसहित उसकी पूजा करनी चाहिये।

इससे भी उत्तम वह मानसपूजा है, जो अपने शरीररूपी मन्दिरके अंदर हृदयाकाशमें या अपने सन्मुख बाह्याकाशमें मनसे भगवान्‌की मूर्तिकी स्थापना करके मनसे ही की जाती है अर्थात् मनसे ही भगवान्‌के पत्र-पुष्प, चन्दनादि चढ़ाये जायँ, भोग लगाया जाय, आरती की जाय एवं स्तुति-प्रार्थना आदि की जाय। क्योंकि पाषाण और धातुकी मूर्ति या चित्रपट आदिकी पूजा करते समय मन इधर-उधर चला जाता है, किंतु मानसिक पूजामें तो सारा कार्य मनसे ही होता है, मनके इधर-उधर चले जानेपर सारा काम बंद हो जाता है, इसलिये मनकी वृत्तियाँ पूजामें अवश्य लगानी पड़ती हैं। जो काम मनसे होता है, वही मूल्यवान् है और यह गुप्त भी रह सकता है; क्योंकि बिना बतलाये उसे कोई जान भी नहीं सकता। इससे मनुष्य सहज ही मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और दिखाऊपनसे भी बच सकता है।

परंतु दान, तप, होम, श्राद्ध, तर्पण, तीर्थ, व्रत, सन्ध्या, बलिवैश्वदेव, माता, पिता, गुरु, अतिथि आदिकी सेवा, सधवा स्त्रियोंके लिये पतिसेवा आदि कर्म केवल मनसे करना निम्नश्रेणीका है; क्योंकि इनको केवल मनसे करनेसे प्राणिमात्रका पूर्णतया हित नहीं हो सकता। अतः इनको तो मन, तन, धन और वाणीसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे करना चाहिये; किंतु जन्म और मरणाशौच यात्रा, असमर्थता और आपत्तिकालमें इनको भी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये यथोचित मानसिक कर सकते हैं।

इससे भी मूल्यवान् वह है, जो चराचर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको साक्षात् परमात्माका स्वरूप समझकर मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवारूप पूजा की जाय। क्योंकि इसमें सर्वदेशीय भगवद्भावना होनेके कारण भगवान्‌की स्मृति सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर रह सकती है।

परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि समस्त प्राणियोंकी सेवा करनेवालोंको उपर्युक्त दान, होम, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, गुरुजनोंकी सेवा आदि नहीं करने चाहिये। यथायोग्य इनको भी अवश्य करना चाहिये।

इन उपर्युक्त पूजाओंको श्रद्धा-भक्ति-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करनेपर अति शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

३९—शास्त्रोंमें कहीं भक्तिको, कहीं ज्ञानको, कहीं योगको, कहीं तपको, कहीं गङ्गा-यमुना आदि तीर्थोंको, कहीं एकादशी आदि व्रत-उपवासको, कहीं सेवा-पूजाको, कहीं निवृत्तिमार्गको, कहीं प्रवृत्तिमार्गको तथा कहीं सत्सङ्ग और स्वाध्यायको ही सर्वोपरि बतलाया गया है। अर्थात् भक्तिके प्रकरणमें बतलाया गया है कि उसके समान यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि कुछ भी नहीं है; जिसने एक क्षणमात्र भी परमात्माका ध्यान कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया। इसी प्रकार ज्ञान आदिके प्रकरणमें बतलाया गया है।

इन सब प्रकरणोंको देखनेपर परस्पर एक-दूसरेसे विरोध तथा एककी दूसरेकी अपेक्षा श्रेष्ठता एवं उनकी महिमाकी अतिशयता भी प्रतीत होती है; किंतु इसका रहस्य यह है कि शास्त्रोंमें इनकी जो कुछ महिमा बतलायी गयी है, वह अतिशयोक्ति नहीं है, बल्कि वह उससे भी अधिक है। क्योंकि जो कुछ कहा जाता है, वह वाणीसे ही कहा जाता है और वाणी परिमितका ही वर्णन कर सकती है। पर वास्तवमें इनकी महिमा अपार और अपरिमित है. इसलिये जो कुछ कहा गया, वह अल्प ही है। तथा इनमें जो परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है, वह विरोध नहीं है; क्योंकि जिस विषयका जो प्रकरण होता है, उसको उसके उपासकके लिये सर्वोपरि बतलाना उचित ही है। ईश्वरभक्तके लिये भक्तिको सर्वोपरि बतलानेका यही उद्देश्य है कि वह अपनी चित्तवृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर भक्तिके ही परायण हो जाय; नहीं तो एकनिष्ठ भक्ति कैसे हो सकेगी और बिना एकनिष्ठ भक्ति हुए भक्तिका पूर्णतया फल शीघ्र मिलना सम्भव नहीं। भक्तिकी अपेक्षा अन्य साधनोंको न्यून बतलाना दूसरोंकी निन्दाके उद्देश्यसे नहीं है, बल्कि भक्तिकी प्रशंसाके लक्ष्यसे ही है तथा यह प्रशंसा न तो मिथ्या है और न अतिशय ही है।

इसी प्रकार ज्ञान, योग, तप, तीर्थ, व्रत आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। ज्ञानके साधकके लिये ज्ञान, योगके साधकके लिये योग, तपस्या करनेवालेके लिये तप, तीर्थ करनेवालेके लिये तीर्थ और व्रत करनेवालेके लिये व्रत ही सर्वोपरि है। जिस साधनकी जो स्तुति की जाती है, वह उसमें श्रद्धा-प्रेम बढ़ानेके लिये ही की जाती है। साधकके लिये उसके साधनमें श्रद्धा-प्रेम बढ़ानेकी आवश्यकता है और उसके लिये वह उचित भी है। जो जिस साधनको करता है, उसको सर्वोपरि मानकर ही करना चाहिये; क्योंकि सर्वोपरि मानकर करनेसे ही वह साङ्गोपाङ्ग होता है और साङ्गोपाङ्ग होनेसे ही कार्यकी सिद्धि शीघ्र होती है।

४०—श्रीविष्णुपुराणमें श्रीविष्णुको ही सर्वोपरि बतलाया गया और कहा कि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय श्रीविष्णुसे ही होते हैं; वही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं; वही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और सर्वश्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं है। इसी प्रकार शिवपुराणमें श्रीशिवको, देवीभागवतमें श्रीदेवीको, गणेशपुराणमें श्रीगणेशको तथा सूर्यपुराणमें श्रीसूर्यको ही सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, पूर्णब्रह्म परमात्मा कहा गया है। इसी प्रकार अन्य सब पुराणोंमें भी इसी तरहका वर्णन आता है। इससे एक दूसरेमें परस्पर विरोध, एक-दूसरेकी अपेक्षा परस्पर श्रेष्ठता तथा उसकी महिमाकी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। इसका भाव यह है कि जैसे सती-शिरोमणि पार्वतीके लिये केवल एक श्रीशिव ही सर्वोपरि हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं, और भगवती लक्ष्मीके लिये केवल एक श्रीविष्णु ही सबसे बढ़कर हैं, इसी तरह सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माको लक्ष्यमें रखकर, सभी उपासकोंको परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति हो जाय, इस दृष्टिसे महर्षि वेदव्यासजीने एक-एक देवताको प्रधानता देकर पुराणोंकी रचना की है। प्रत्येक पुराणके अधिष्ठाता देवताके नाम और रूप परमात्माके ही नाम-रूप हैं—यह भलीभाँति समझ लेनेपर उपर्युक्त शङ्का रह नहीं सकती। किसी भी देवताका उपासक क्यों न हो, उस उपासकको पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सर्वोपरि फल मिलना चाहिये—यह पुराणरचयिताका उद्देश्य बहुत ही उत्तम और तात्त्विक है। प्रत्येक पुराणमें उसीकी प्रशंसा करनेका प्रयोजन दूसरेकी निन्दामें नहीं है, बल्कि उस उपासककी उस पुराण और देवतामें श्रद्धापूर्वक एकनिष्ठ भक्ति करानेका ही उद्देश्य है और यह उचित भी है। इस प्रकार होनेसे ही साधकका अनुष्ठान

साङ्गोपाङ्ग होकर उसे पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है।

जितने भी पुराण-उपपुराण हैं, उनके अधिष्ठाता देवताका नाम और रूप (आकृति) भिन्न होते हुए भी लक्ष्य एक पूर्णब्रह्म परमात्माकी ओर रक्खा गया है; क्योंकि गुण, प्रभाव, लक्षण, महिमा और स्तुति-प्रार्थनाका वर्णन करते हुए प्रत्येक देवताको ब्रह्मका रूप बतलाया गया है, इसीलिये एक-दूसरे देवताकी स्तुति परस्पर प्रायः मिलती-जुलती आती है। तथा यह स्तुति पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही घटती है। पुराणोंमें जो पुराणोंके अधिष्ठातृ देवताकी प्रशंसा एवं स्तुति की गयी है, वह अतिशयोक्ति नहीं है; क्योंकि परमात्माकी महिमा अतिशय, अपार और अपरिमित होनेसे उस अधिष्ठाता देवताको परमात्माका रूप देकर जितनी भी उसकी महिमा बतलायी जाय, वह अल्प ही है। वाणीके द्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह परिमित ही है अतएव वास्तवमें वाणीद्वारा परमात्माकी महिमा कोई किसी प्रकार भी वर्णन नहीं कर सकता।

आशय यह है कि जो भक्त जिस देवताकी उपासना करता है, उस उपासकको अपने उपास्यदेवको सर्वोपरि पूर्णब्रह्म परमात्मा मानकर उपासना करनी चाहिये। इस प्रकारकी दृष्टि रखकर उपासना करनेसे ही सर्वोपरि सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि सभी नाम और सभी रूप परमात्माके ही होनेसे वह उपासना परमात्माकी ही उपासना है। अतः परमात्माको लक्ष्य करके किसी भी नाम और रूपकी उपासना की जाय, उसका फल एक पूर्णब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति होती है। इसलिये मनुष्यको अपने इष्टदेवको पूर्णब्रह्म परमात्मा समझकर उसके नामका जप और स्वरूपका ध्यान नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४२)

सप्तस्वर्ग-सप्तपातालसमन्वित असंख्य ब्रह्माण्डश्रेणीके प्रधान पालक जब वत्सपाल बने हैं, अपने अनन्त—अपरिसीम ऐश्वर्यको रससिन्धुके अतलतलमें डुबाकर व्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्रने, रोहिणीनन्दन बलरामने जब गोशावक-संलालनका व्रत स्वीकार किया है, तब दिनचर्या भी उसके अनुरूप होनी ही चाहिये। इसीलिये यहाँ इस वृन्दावनमें—

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥*

—इस मन्त्रपाठके द्वारा उनका आवाहन नहीं होता; आसन, पाद्य, अर्घ्य, स्नानीय, धूप, दीप, नैवेद्य आदिका विधिवत् समर्पण होकर उनकी आराधना नहीं होती। यहाँ तो रजनीका विराम होनेपर व्रजेश्वरीके सुमधुर मनुहारपूरित सङ्गीतके द्वारा, जननीकी अतिशय प्रेमिल भर्त्सनाओंके द्वारा वे जगाये जाते हैं—

'जागो हो तुम नंदकुमार।
बलि बलि जाऊँ मुखारविंदकी गोसुत मेलो करो सँभार॥
आज कहा सोवत त्रिभुवनपति और बार तुम उठत सवार।
बारंबार जगावत माता कमलनयन भयो भवन उजार॥
× × ×
कौन परी नंदलालैं बान।
प्रात समैं जागनकी बिरियाँ सोवत है पीतांबर तान॥

* उन परम पुरुषके सहस्रों (अनन्त) मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान) को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं। अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं।

मात जसोदा कबकी ठाढ़ी लै ओदन भोजन घृतसान ।
जागो स्याम कलेऊ कीजै सुंदर बदन दिखाओ आन ॥
संग सखा सब द्वारें ठाढे मधुवन धेनु चरावन जान ।
सूरदास अलि ही अलसाने सोवत हैं अजहूँ निसि मान ॥

और फिर जननीका अञ्चल ही उनका आसन होता है। यहाँ यह निश्चित नहीं कि मुख-प्रक्षालन, स्नान, संमार्जन होनेके अनन्तर ही नैवेद्य अर्पित हो। अपने क्रोडमें अञ्चलपर आसीन श्याम-बलरामको निहारकर जननी प्रतिदिन आत्मविस्मृत-सी होती ही है और न जाने कितनी बार संलालनके क्रममें व्यतिक्रम होता है। संलालन कलेऊसे ही आरम्भ होता है। दोनों पुत्रोंको भुजपाशमें बाँधकर जननी स्फुट कण्ठसे मनमाना गीत गाती हुई सर्वप्रथम नैवेद्यका उपहार ही समर्पित करती हैं—

करो कलेऊ रामकृष्ण मिल कहत जसोदा मैया ।

× × ×

उठत प्रात कछु मात जसोदा मंगल भोग देत दोउ छोरा ।
माखन मिश्री दह्यौं मलाई दूध भरे दोउ कनक कटोरा ॥

यह होनेपर फिर स्नान, सम्मार्जन आदि सम्पन्न होते हैं। श्रीकृष्ण-बलरामके श्यामल-गौर श्रीअङ्गोंपर तो नित्य लावण्यकी लहरें उठती रहती हैं। वहाँ मलिनताकी छाया भी नहीं। जहाँ मालिन्य है, वहाँ ही संस्कार-परिष्कृति अपेक्षित होती है। नित्य नव सुन्दरको क्या तो नहलायें, क्या विभूषित करें।

यह तो यशोदारानीके वात्सल्यसिंधुकी चञ्चल लहरें हैं, जो विविध शृङ्गारसे, आभूषणोंसे वे अपने पुत्रोंको विभूषित करती रहती हैं। ऐसा करना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है। इसीलिये, भ्रान्तिवश ऐसी भूल हो जानेपर, स्नानसे पूर्व ही कलेवा करा देनेपर पश्चात्ताप भी करने लगती हैं; उन्हें भय होने लगता है, ऐसा करनेसे उनके नीलसुन्दरके, अग्रजके शरीरमें व्याधि होनेकी सम्भावना है; उनका अबोध सरलमति नीलमणि आगे चलकर ऐसी अशुचिताका अभ्यासी बन जायगा। जो हो, तात्पर्य यह है कि यहाँ—इस वृन्दाकाननमें वत्सपाल बने हुए सर्वलोकैकपाल राम-श्यामकी अर्चना निराले ढंगसे ही होती है; यहाँ विधि-विधान कुछ नहीं, यहाँ तो जननीके, गोपसुन्दरियोंके, गोपोंके अन्तस्तलमें प्रवाहित अनाविल प्रेमसिन्धुकी ऊर्मियोंपर ही राम-श्याम निरन्तर नृत्य करते हैं। लहरें जहाँ—जिस ओर जैसे बहा ले जाती हैं, वहाँ ही उसी ओर वैसे ही दोनों बह जाते हैं। अस्तु, अब तो दोनोंका दैनन्दिनी क्रम यह हो गया है—शय्यासे गात्रोत्थान करते ही वे शीघ्र-से-शीघ्र स्नानादि प्रातःकृत्य समापन कर लेते हैं; फिर अत्यन्त अल्प समयमें ही जननीके धराये शृङ्गारको धारण कर लेते हैं और तब प्रातःकालीन भोजन भी अतिशय त्वरासे नन्दभवनमें ही हो जाता है। उसके बाद यहाँ और कुछ नहीं, सब कुछ वनमें तथा असंख्य गोवत्सोंके, गोपशिशुओंके समाजमें। सखाओंसे परिवेष्टित रहकर दिनभर दोनों भाई वत्सचारण करते हुए वनमें ही घूमते रहते हैं—

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४५)

वत्सासुरका उद्धार तो हो ही गया, पर उसके कारण इनके स्वच्छन्द विहारमें कोई बाधा नहीं आयी। वत्सासुरके आनेकी बात अधिकांश गोपोंने, व्रजरानीने जानीतक नहीं। उसी दिन श्रीकृष्णचन्द्रने सखागोष्ठीमें मन्त्रणा कर यह स्थिर कर लिया था—'कोई भी इस घटनाकी बात किसीको न बतावे, अन्यथा मैया वत्सचारणके लिये मुझे वनमें नहीं आने देगी, कम-से-कम सुदूर वनमें नहीं जानेका प्रतिबन्ध तो पुनः लग ही जायगा और फिर हमलोगोंकी स्वच्छन्द क्रीड़ा नहीं हो सकेगी।' बालकोंने वैसा ही किया, किसीको कुछ भी नहीं बताया। सदाकी भाँति श्रीकृष्णचन्द्रका वनगमन, वत्सचारण, वनविहार निर्बाध

चलता ही रहा । जनश्रुतिके रूपमें मधुपुरसे यह बात व्रजपुरमें भी आयी अवश्य; पर किसीने इस ओर ध्यान नहीं दिया । इसकी प्रतिक्रिया तो मधुपुरके अधीश्वर कंसपर हुई। जिस क्षण अपने पूर्व गुप्तचरके मुखसे कंसने वत्सासुर-निधनकी बात सुनी, उसे प्रतीत हुआ मानो हालाहल विषकी ज्वाला कर्णरन्ध्रोंके पथसे हृदयमें प्रविष्ट हो गयी। अन्तस्तल झुलस गया। नेत्रोंमें अँधेरा छा गया। अतिशय वेगसे उसने आँखें बंद कर लीं —

कंसस्तु तस्माद्वत्सपादपि वत्सासुरनिर्वासनमपसर्पमुखाद्विषमिव कर्णरन्ध्रस्पर्शमात्रेणान्तःसम्भूय भृशं दृशौ निमीलयामास ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

इतना ही नहीं, संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ा वह । जीवनमें प्रथम बार इतनी गहरी मूर्च्छा कंसको हुई, मानो वह निष्प्राण हो गया हो । सचमुच बाहरसे जीवनके सभी लक्षण कुछ क्षणके लिये विलुप्त हो गये । मन्त्री दौड़े, अनेकों उपचार आरम्भ हुए, फिर कहीं जाकर उसे किसी प्रकार बाह्यज्ञान हुआ—

तेन दशमीमिव दशां प्रापितः स तु मन्त्रिभिः कथञ्चिद्बहिरवधापितः । (श्रीगोपालचम्पूः)

अब अपेक्षित मन्त्रणा पुनः प्रारम्भ हुई । कंस भीति एवं अतिशय खेदपूर्ण वाणीमें सभासदोंपर अपना मनोभाव प्रकट करने लगा—

हन्त सम्भाविता दम्भान्विता बहवः प्रस्थापिता न तु तैर्भद्रं किञ्चिदपि सञ्चितम् । (श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय ! एक नहीं, बहुतसे प्रतिष्ठित छद्मवेश धारण करनेवाले भेजे गये; किंतु उनके द्वारा किञ्चिन्मात्र भी हित साधन नहीं हुआ ।'

कुछ शब्दोंमें ही कंसराजने परिस्थितिकी गम्भीरता बता दी, पर वह मन्त्रिमण्डल भी तो अपना महत्त्व रखता है । मन्त्रियोंने अपने महाराजमें पुनः नवीन आशा सञ्चारित कर देनेके उद्देश्यसे यह परामर्श दिया—

देव ! केवलं बकमत्र बलमवलम्बामहे । यतस्तज्जातावेव दम्भसम्भारा गम्भीरायन्ते ॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'स्वामिन् ! अब तो बकासुरके बलका ही आश्रय करें, क्योंकि बगुलेकी जाति ही ऐसी होती है, जहाँ दम्भका जाल गहरा बन जाता है ।'

सचमुच कंसको बकासुरकी विस्मृति हो गयी थी । मन्त्रियोंने उपयुक्त अवसरपर ही स्मरण कराया । फिर तो उल्लासमें भरकर कंसने इसका अनुमोदन ही किया—

आं आं मम सुहृत्तमः स एव केवलस्तत्र प्रस्थापनाय स्थाप्यताम् ।

'हाँ, हाँ ! बहुत ठीक, मेरे उस सुहृत्तम बकासुरको ही वहाँ भेजा जाय ।'

बकासुरका, बकभगिनी पूतनाका प्रथम मिलन मानो उसकी स्मृतिमें नाच उठा । कंस एवं बक दोनों ही भीषण द्वन्द्व-युद्धमें संलग्न हुए थे । अत्यन्त पराक्रमी बकने कंस-जैसे महाविक्रान्त योद्धाको भी अपने मुखका ग्रास बना लिया था । दुर्धर्ष कंसने भीतर जाकर भी प्रचण्ड पराक्रमसे अपने-आपको उगल देनेके लिये बकासुरको बाध्य तो अवश्य कर दिया, और फिर उठाकर घुमाते हुए उसे पटक देनेमें भी समर्थ अवश्य हुआ, पर बकके अपरिमेय बलकी छाप उसपर पड़ ही गयी । तथा इसीलिये उसी क्षण जब अपने भाईको विपन्न पाकर उसकी बहिन पूतनाने कंसको अपने साथ युद्धके लिये ललकारा तो कंसने यही उत्तर दिया था—

स्त्रिया सार्द्धमहं युद्धं न करोमि कदाचन ।
बकासुरः स्यान्मे भ्राता त्वं च मे भगिनी भव ॥

(गर्गसंहिता)

'देख, स्त्रियोंके साथ मैं कभी युद्ध नहीं करता । आजसे बकासुर तो मेरा भाई बने और तू मेरी बहिन ।'

अस्तु, तबसे बक-बकीका सौहार्द कंसके प्रति अक्षुण्ण रहा । बकी—पूतनाने तो अपने प्राण कंसके

लिये दिये ही। अब बकासुरकी परीक्षाका अवसर था। मन्त्रियोंके मुखसे उसका नाम सुनते ही कंस एक बार पुनः सुख-स्वप्न-सा देखने लग गया, उसे आशा बँध गयी—नन्दपुत्रको बकासुर तो निगल ही जायगा! फिर विलम्ब क्यों? तुरंत ही बकका आह्वान हुआ; वह सभामें उपस्थित हुआ; उसे सारी योजना समझा दी गयी और वह व्रजेशपुत्रको अपने मुखका ग्रास बनानेके उद्देश्यसे चल पड़ा।

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी सदाकी भाँति वत्सचारण करने वन चले। वही त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य है, वही मधुरातिमधुर बाल्यभङ्गिमा है; वैसी ही क्षीरसिन्धुकी उच्छलित तरङ्गों-जैसी गोवत्सराशि आगे-आगे आ रही है, वैसा ही परमानन्दमें निमग्न क्रीडापरायण गोप-शिशुओंका समाज है, अग्रजका संरक्षण है। अपनी बङ्किम चितवनसे वनस्थलीकी शोभा निहारते, हँसते-हँसाते, अपनी वंशीकी मधुर स्वर-लहरीसे वृन्दाकाननको रसप्लावित करते, झूमते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं। चलते-चलते नवतृणास्तीर्ण वनभूमि आ जाती है। वहाँ एक परम रमणीय सरोवर है। सरोवरके सन्निकट मनोहर नव-नवाङ्कुरित तृणराजि है, जो जलका सान्निध्य पाकर सान्द्र स्निग्ध बन गयी है। इस परम सुन्दर वन्य भू-भागको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोवत्सोंको यहीं निवेशित करते हैं, आज यहीं क्रीड़ा होगी—

नवशाद्वलतलमालोकयन् क्वचन जलाशयोपकण्ठे ललितानि नवनवाङ्कुरितानि शष्पाणि पानीयसन्निकर्षसुमेदुराणि समालोक्य वत्सकुलं तत्रैव निवेशयामास। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उल्लासमें भरे राम-कृष्णकी, गोपशिशुओंकी यहाँ प्रथम चेष्टा होती है—अपने-अपने वत्ससमुदायको सरोवरका सुनिर्मल जल पिलाकर तृप्त करना। इतनी दूरसे चलकर आये गोवत्सोंको प्यास लगी ही होगी; श्रीकृष्णचन्द्रको, उनके सखाओंको स्वयं भी जो प्यासकी अनुभूति हो रही है। अतः प्रथम सभी अपने-अपने वत्सकुलको सरोवरमें उतारते हैं; उनके जलपान कर लेनेपर तीर देशमें उन्हें तृण चरनेके लिये उन्मुक्त छोड़ देते हैं। इसके अनन्तर स्वयं उस सुनिर्मल सुमिष्ट जलका पानकर तृप्त होते हैं—

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम्॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४६)

गोपशिशुओंमें नवस्फूर्तिका सञ्चार हुआ और वे जलाशयके तीरपर लगे दौड़ने। इसी समय सहसा उनकी दृष्टि एक विचित्रकाय जन्तुपर चली जाती है; जलके समीप ही वह जन्तु बैठा जो है। उज्ज्वल वर्ण, अत्यन्त प्रकाण्ड वह सचमुच क्या वस्तु है, बालक यह निर्णय नहीं कर सके! मानो वज्राघातसे एक गिरिशृङ्ग टूट गया हो; टूटकर भूमिपर, उस सरोवरके तटपर ही आ गिरा हो! ऐसे विशालकाय जन्तुको देखकर बालक अत्यन्त भयभीत हो गये—

ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम्।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम्॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४७)

यह जन्तु और कोई नहीं, वही कंसप्रेरित बकरूपधारी महाबली बक दैत्य है, अपनी घातमें बैठा है—

स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक्।
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४८)

किञ्चित् वयस्क एवं साहसी बालकोंने कुछ आगे बढ़कर यह तो जान लिया कि यह एक अत्यन्त विशालकाय बगुला पक्षी है। पर जब उन्होंने उस बकके विस्तारित चञ्चुपुटोंकी ओर देखा तो उनके प्राण सूख गये—

धरणितलमुन्नमयन्निव धरणितलनिहितोत्तरचञ्चुर्दिवमवनमयन्निव द्युतलनिवेशितोर्ध्वचञ्चुश्च

युगपदेव देवदनुजमनुजादिसकलजीवजीवनाकर्षणाय वितताायतमहासन्दशं विवृत्य स्थित इव कालपुरुषः।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मानो धरणीको उत्पाटित कर ऊर्ध्वदेशमें ले जानेके उद्देश्यसे उसने अपने नीचेकी चोंचको धरातलसे संलग्न कर रक्खा है; एवं स्वर्गको उखाड़कर धरातलपर लानेके लिये ही उसका ऊर्ध्वचञ्चु आकाशमें उठा है। मानो एक साथ देव, दनुज, मानव—समस्त जीवोंके प्राण आकर्षण करनेके लिये विशाल संडासी विस्फारितकर कालपुरुष वहाँ अवस्थित हो !'

गोपबालक भगे अपने प्राणाधार सखा श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर। श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वतः भी दृष्टि उस विशालकाय बककी ओर ही लगी है। दो-एक सहचरोंसे वे उस बककी ही चर्चा कर रहे हैं—

आकारात्पक्षितुल्यः स्याद् व्यापारान्न च पक्षिवत्।
वकः किं नवकः साक्षात् कूटवत् स्थितिरीक्ष्यते ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'भैयाओ ! देखो, आकारसे तो वह पक्षीके समान ही लगता है, पर इसकी चेष्टा पक्षी-जैसी नहीं है। क्या यह कोई नवक बक—नयी जातिका बगुला है ?* पर्वतशृङ्ग-जैसा प्रतीत हो रहा है।'

इतनेमे आकर गोपसखा उन्हें घेर लेते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी बात पूरी होते-न-होते अतिशय भीतिभरे स्वरमें कई एक साथ ही कहने लग जाते हैं—

सखे ! नायं पक्षी। अपि तु सकलानेव नो गिलितुमिव कृतारम्भेण गुरुतरदम्भेन केनापि वकाकृतिना दानवेनैव भवितव्यम्। तदितः पलायनमेवास्माकं पथ्यम्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैया कन्नू ! यह पक्षी नहीं है। यह तो हम सबको निगल जानेके उद्देश्यसे आया हुआ, अत्यन्त छद्मनिपुणतासे बगुलेकी आकृति धारण करनेवाला कोई दानव होगा। अतः यहाँसे भाग चलनेमें ही हम सबोंका कल्याण है।'

कुछ गोपशिशु अतिशय त्वरासे बोल उठते हैं—

कैलाशशिखरिशिखरद्राघीयसः शरीरादपि दीर्घदीर्घतराच्चञ्चुपुटादस्य कथं पलायनमपि।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे देखते नहीं ! कैलाश पर्वतके शिखरकी अपेक्षा भी इसका शरीर बड़ा है, और इस अतिशय दीर्घ शरीरसे भी इसके चञ्चुपुट दीर्घ—दीर्घतर हैं। इसकी चोंचसे बचकर भागोगे कैसे ?'

अपने सखाओंकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर मृदु हास्यकी सुन्दर रेखा-सी खिंच जाती है। उस स्मितकी ओटसे सुधा-सीकर झरने लगते हैं। मुखमण्डलका सौन्दर्य, लावण्य निखर उठता है। अमृतस्यन्दी स्वरसे सखाओंको 'नाशङ्कनीयम्'—भयभीत मत होओ, कहकर आश्वासन देते हुए अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्र बकमुखकी ओर भी सन्निधिमें जानेका विचार करते हैं, चल पड़ते हैं। इस समय सर्वज्ञ, सर्ववित्—स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनका यह बाल्यावेश देखने ही योग्य है। उन्हें सब कुछ पता है; यह कौन है, क्या करने आया है, वे सब कुछ जानते हैं। फिर भी मुखकमलपर ऐसा मुग्धभाव है, जैसे उन्हें इस प्रकाण्ड बकपक्षीके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं; इतने सरल मुग्ध शिशुकी भङ्गिमा धारण किये वे बकतुण्डकी ओर अग्रसर हो रहे हैं—

पुण्डरीकलोचनस्तं जानन्नप्यजानन्निव तस्य तुण्डसन्निधिमेव गमनेऽवधिश्चकार।
(श्रीगोपालचम्पूः)

भीतिविजड़ित नेत्रोंसे गोपशिशु अपने प्राणाराम सखाकी यह चेष्टा देखने लगते हैं। अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्रके मुखपर तो भयकी छाया भी नहीं है। उन्हें भय क्यों हो। वे व्रजेन्द्रके वत्सपाल भले ही हों,

* अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान्‌के मुखारविन्दसे कूटभाषाकी ओटमें सत्य प्रकट हो गया। 'नवक बक' कहकर उन्होंने संकेत कर दिया—'यह बक नहीं, बकासुर दैत्य है।'

पर हैं तो अखिललोकके अभयदाता ही न ! वे मन्द-मन्थर गतिसे बकके सन्निकट होते जा रहे हैं । उनकी चालसे स्पष्ट है—भय नहीं, अपितु उस बकके प्रति उपेक्षा—अवहेलना है—

अकुतोभयमभयदमखिललोकस्य सहेलमभिमुखमुपसर्पन्तम् ××× ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु आह ! यह क्या हुआ ! अरे वह बक उचका ! श्रीकृष्णचन्द्रके निकट वह सहसा आ गया ! हाय रे ! इस महाबली तीक्ष्णतुण्ड पक्षीने तो नीलसुन्दरको अपने चञ्चुपुटोंमें रख लिया ! आह ! व्रजजीवन नीलमणि बकमुखके ग्रास बन गये—

आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली ।

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४८)

वनविहङ्गम आर्तनाद कर उठे । तरुवल्लरियोंमें बड़े वेगका प्रकम्पन आरम्भ हुआ । वन्यमृगोंमें, कपिदलमें एक विचित्र मर्मभेदी करुण कोलाहल होने लगा । अन्तरिक्षमें समस्त देवसमुदाय चीत्कार कर उठा । तथा राम एवं गोपशिशु ? आह ! प्राण निर्गत होनेपर मृत-देहस्थ चक्षुः आदि इन्द्रियोंकी क्या दशा होती है ? जब उनके प्राणस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ही उन्हें छोड़कर बक-मुखमें समा गये, तब अग्रजमें, गोपशिशुओंमें रक्खा ही क्या है ? श्रीकृष्णचन्द्रको बगुला निगल गया, नेत्र-गोलकने इतना ही देखा; फिर तो निष्प्राण शरीरके इन्द्रियगोलककी भाँति रामके सहित समस्त गोपशिशु चेतनाशून्य हो गये—

कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ४९)

जब बक ग्रस्यौ कुँवर नँदलाल । बल समेत सब व्रजके बाल ॥
भये विचेतन ते तन ऐसैं । प्रान बिना इंद्रीगन जैसैं ॥

अवश्य ही अचिन्त्य लीला-महाशक्तिके प्रभावसे प्रत्येक गोपशिशुके नेत्र निमीलित नहीं हुए, ज्यों-के-त्यों खुले रहे तथा नेत्रमें लीलोपयोगी दर्शनशक्ति भी बनी रही । इसके अतिरिक्त उन्हें अपने-परायेके सुख-दुःखका कोई भान नहीं रहा, अन्य कोई अनुभूति नहीं रही ।

अस्तु, अब बककी क्या दशा हुई, यह देखें । बड़े उल्लाससे उसने नन्दपुत्रको ग्रास तो बना लिया । पर क्या वह इन्हें सचमुच निगल सकेगा ? जिनकी एक आंशिक अभिव्यक्तिके लोमकूपमें असंख्य ब्रह्माण्ड धूलिकणकी भाँति विलीन होते रहते हैं, जो जगत्-स्रष्टाके भी स्रष्टा हैं, उन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको क्षुद्रातिक्षुद्र बकासुर उदरस्थ कर ले, यह सम्भव हो सकता है क्या ? यह तो उनकी लीला-रसास्वादनकी अभिनव-पद्धति ही है, जो वे स्वयं बकके मुखमें समा गये हैं । अन्यथा बक उन्हें स्वप्नमें भी स्पर्शमात्र कर ले, यह शक्ति भी उसमें कहाँ ? जो हो, जब वे उसके मुखविवरमें गये हैं, तो अग्रिम लीलाक्रम भी होगा ही, श्रीकृष्णचन्द्र उससे खेलेंगे ही, खेलने ही लगे । यह देखो—अग्निज्वालाकी भाँति उत्ताप उसके तालु-मूलमें, कण्ठदेशमें सृष्ट हो जाता है ! उनके परम शीतल शन्तम श्रीअङ्गोंका स्पर्श ही असुरके तालुमूलमें असह्य प्रदाह उत्पन्न कर देता है । इतनी, ऐसी भीषण जलन होती है, मानो उसने भ्रान्तिवश एक ज्वलन्त लौहपिण्ड ही अपने चञ्चुपुटोंसे उठा लिया हो । श्रीकृष्णचन्द्रकी यह क्रीड़ा कितनी विचित्र है ! जिनका एक नाम एक बार जिह्वाग्रपर आते ही नरककी भीषण ज्वाला सर्वथा शान्त हो जाती है उनके ही परम शीतल चरणसरोजका स्पर्श पाकर बकका कण्ठ जलने लगता है ! उसे इतनी असह्य वेदना होती है कि वह व्रजेन्द्रनन्दनको उगल देनेके लिये बाध्य हो जाता है, तुरंत उसी क्षण उन्हें उगल ही देता है । श्रीकृष्णचन्द्र बाहर आ जाते हैं । बकको विश्वास था—कण्ठ भले ही जले, पर उगलनेपर श्रीकृष्णचन्द्र तो निष्प्राण मांसपिण्ड ही बनकर उसके

मुँहसे निकलेंगे; किंतु इससे विपरीत वे तो सर्वथा अक्षत निकले। वकके क्रोधकी सीमा नहीं रहती। अतिशय रोपमें भरा अपने चञ्चुप्रहारसे श्रीकृष्णचन्द्रको प्राणशून्य कर देनेके लिये वह पुनः उनके समीप आ जाता है—

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद्
गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं वक-
स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५०)

मूर्च्छित हुए उन गोपशिशुओंके विस्फारित नेत्र यह सब देख रहे हैं। तथा जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र वकके मुखसे बाहर निकले, उसी क्षण उन्हें अक्षत देखकर समस्त बालकोंकी ज्ञानशक्ति भी लौट आती है। पर क्रियाशक्ति अभी भी ज्यों-की-त्यों सुप्त है। जो हो, इधर श्रीकृष्णचन्द्रकी वकक्रीड़ाका उत्तर-अंश आरम्भ हो जाता है। भक्तगण-परिपालकने, देववृन्दोंके आनन्दविधायकने दृश्य बदल देना चाहा। अतः अब विलम्ब नहीं। यह लो, देखो, यशोदाके नीलमणिका दूसरा खेल! वे अत्यन्त निकट आ जाते हैं और वक दैत्यके दोनों बृहत् चोंचोंको अपने नन्हें करपल्लवोंसे बलपूर्वक पकड़ लेते हैं। और फिर क्षणार्ध भी नहीं लगता, मानो वह वक दैत्य ग्रन्थिहीन एक तृणविशेष हो—इस प्रकार अनायास उसे बीचसे चीर डालते हैं—

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो-
र्दोर्भ्यां वकं कंससखं सतां पतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया
मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५१)

प्रभु लीला आसक्तमें लखि सिसु दुखी अपार।
कर-कमलनसों चोंच गहि करे फका द्वै फार ॥

आकाशसे सहस्र-सहस्र कुसुमोंकी वृष्टि होने लगती है, आनन्दप्रमत्त देवगण नन्दनकाननसे राशि-राशि जाती, यूथी, मधुमालती, चम्पक, नागेश्वर, मल्लिका आदि कुसुमोंका चयन कर श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंपर वर्षा कर रहे हैं। वहाँकी समस्त वनस्थली दिव्य सौरभमय प्रसूनोंसे सम्पूर्णतया आस्तृत हो जाती है। साथ ही आनक, शङ्ख आदि दिव्य वाद्योंकी ध्वनिसे, देवकृत स्तवपाठके सुमधुर नादसे अन्तरिक्ष पूरित होने लगता है। पुनः-पुनः पुष्पवर्षण, वाद्यवादन, श्रीकृष्णस्तवनसे देवसमाज अपने त्राताकी आराधना करके भी आज अघाता जो नहीं। यह सब देख-सुनकर गोपशिशुओंको अतिशय विस्मय होने लगता है—

तदा वकारिं सुरलोकवासिनः
समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवै-
स्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५२)

किंतु अब वे देवोंके गान-वाद्यकी ओर देखें, यह समय नहीं रहा है। उनके प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्र वकासुरके कराल मुखसे मुक्त होकर उनके समीप आकर खड़े जो हो गये हैं। फिर तो जैसे मृत शरीरमें पुनः प्राण लौट आये हों, इस प्रकार एक साथ राम आदि सभी शिशुओंमें क्रियाशक्तिका सञ्चार हो गया। इतना ही नहीं, उनका रोम-रोम उत्फुल्ल हो उठा। एक साथ सभी उठे, सबने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने भुजपाशमें बाँध लिया। ओह! इस मिलनके समय जिस सुखकी अनुभूति इन गोपशिशुओंने की, उसे कौन बतावे? कैसे बतावे?

मुक्तं वकास्यादुपलभ्य बालका
रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः
.... ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५३)

दो खण्डोंमें विभक्त वकका मृत शरीर सामने पड़ा है। स्वयं तो वह अनादि संसृतिके, भवप्रवाहके उस पार बहुत दूर जा पहुँचा है—

तदा मृतस्य दैत्यस्य ज्योतिः कृष्णे समाविशत् ।
(गर्गसंहिता)

'उस मृत दैत्यकी ज्योति श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें प्रविष्ट हो गयी ।'

सिद्ध तपोधन जाजलिकी बात आज सत्य हो गयी है । सुदूर अतीतका इतिवृत्त है । यही बक हयग्रीव-पुत्र उत्कल दैत्य था । सुरराजका राजच्छत्र छीनकर, अनेक मर्त्य नरपालोंका राज्य अपहरण कर शासक बना था । एक दिन यह दुर्मदान्ध उत्कल असुर-समुदाय साथ लिये सिन्धुसागरके सङ्गमपर तपोनिधि जाजलिकी पर्णशालाके निकट जा पहुँचा । आश्रमकी मनोहर शोभाकी ओर इसकी दृष्टि नहीं गयी । इसने तो चञ्चल लहरियोंपर निर्भीक खेलते हुए मत्स्योंके प्राण लेने आरम्भ किये । बारंबार बडिश (मछली पकड़नेकी बंसी) फेंककर वह मत्स्योंको जलके बाहर खींच लेता; उनकी हत्यामें ही उसे रस आ रहा था। जाजलिने विनम्र शब्दोंमें निवारण किया । पर कौन सुनता है ! आखिर मुनिसत्तम जाजलिके नेत्रोंमें रोषकी छाया-सी आयी । उनके मुखसे निकल पड़ा—'दुर्मते ! बककी भाँति ही तो तू इन मत्स्योंका आहार करता है न ? अच्छा जा, तू बगुला ही हो जा ।' और तत्क्षण ही उत्कल तेजोभ्रष्ट होकर बक पक्षीके रूपमें परिणत हो गया । अब तो मदशून्य उत्कल जाजलिके चरणोंमें जा गिरा । मुनिका स्तवन करने लगा । जाजलि रुष्ट थोड़े ही थे; द्रवित हो गये और कह दिया—'वैवस्वत मन्वन्तर आयेगा, उसके अट्ठाईसवें द्वापरका अन्त आनेपर परिपूर्णतम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ही वृन्दाकाननमें वत्सचारण करते हुए विचरण करेंगे । उस समय श्रीकृष्णचन्द्रमें तुम्हें तन्मयताकी प्राप्ति होगी । इसमें तनिक भी संशय नहीं ।' अस्तु, अश्रद्धा, अनादरपूर्वक एवं ऐसे अशुभ निमित्तसे प्राप्त महत् सङ्गका यह महान् फल उत्कलको मिला ! कदाचित् श्रद्धा होती, आदर होता, दैवी सम्पदाका संबल साथ होता, फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र उसे क्या देते, यह बताना कठिन है !

जो हो, इस समय गोपशिशुओंके प्राणोंमें कुछ ऐसा, इतना उल्लास है कि स्वयं वाग्वादिनी भी उसे चित्रित नहीं कर सकतीं । आज उद्दाम क्रीड़ा नहीं, आज तो वन्य पुष्पोंसे, नन्दनकाननके उन मल्लिका, यूथी, वैजयन्ती कुसुमोंसे, रक्त, पीत, उज्ज्वल, हरिताभ वनधातुओंसे श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंको सुसज्जित करनेकी और फिर उन्हें अङ्कमें भरनेकी होड़ लग रही है । आज उन सबकी बाल्योचित प्रतिभा भी सहसा इतनी विकसित हो गयी है कि देखकर आश्चर्य होता है । अपने प्राणसखाके शौर्य-वीर्यकी प्रशंसा करते-करते वे सब न जाने क्या-क्या कर रहे हैं । पर कुछ भी असंबद्ध, असङ्गत नहीं, आज तो उनकी प्रत्येक उक्ति परम सत्यका निदर्शन बनती जा रही है । इस उमङ्गके प्रवाहमें दिन तो कबका ढल चुका है । वनसे प्रवाहित समीर सन्ध्याकी सूचना देने आ गया है । श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्सोंको एकत्र कर व्रजकी ओर चल भी पड़ते हैं । बालक भी साथ-साथ चले जा रहे हैं; किंतु इनका उत्साह शिथिल नहीं हो रहा है । आज प्रथम अवसर है कि प्रत्येक आभीर-शिशुके नेत्र आनन्दातिरेकसे रह-रहकर छलक उठते हैं । अपने मनकी बात श्रीकृष्णचन्द्रको सुनाते समय तो उनके दृगोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगता है—

बका बिदारि चले ब्रजकौं हरि ।
सखा संग आनंद करत सब, अंग-अंग बन-धातु चित्र करि ॥
बनमाला पहिरावत स्यामहिं बार-बार अँकवार भरत धरि ।
कंस निपात करौगे तुमहीं, हम जानी यह बात सही परि ॥
पुनि-पुनि कहत धन्य नँद-जसुमति, जिनि इनकौं जनम्यौ सो धनि घरि ।
कहत इहै सब जात सूर प्रभु, आनँद आँसु ढरत लोचन भरि ॥

रही परलोककी बात, जो इस जीवनके बाद देखा जायगा।' वे ऐसा कहते ही नहीं, कार्यरूपमें इसे चरितार्थ करते हैं और इस प्रकार आसुरी स्वभावके बनकर स्वार्थ-साधनमें सदैव तल्लीन रहते हैं; किंतु ऐसे व्यक्तियोंसे हमारी प्रार्थना है कि कीचड़ लगाकर उसे धोनेकी अपेक्षा, दूरसे ही उसका त्याग करना परम श्रेयस्कर है। दूसरे, भगवान्‌के यहाँ अंधेर नहीं है। वहाँ सबकी सच्ची परख होती है और शुभाशुभ कर्मका फल निश्चित रूपसे भोगना पड़ता है। न तो वहाँ खाली हाथ—बिना पुण्यार्जन किये—जानेसे कार्य बनता है, न वहाँ चोरीसे कमायी हुई थैली काम आती है और न किसीकी सिफारिश या अनुरोधसे ही काम चलता है। वहाँ रंक और राजा, बुद्धिमान् और मूर्ख, शिक्षित और अशिक्षित—सभीके साथ समान न्याय होता है। इसीलिये तो भगवान्‌का एक नाम दयालु और न्यायकारी भी है। सारांश यह है कि अधर्मसे अर्जित धन स्थिर नहीं रह सकता। अतएव धन-संग्रहके लोभमें परम्पराप्राप्त धर्मका लोप कदापि नहीं करना चाहिये। परम भक्त रहीमने स्पष्ट कहा है—

रहिमन रीति अधर्मको, उरत न लागै बार।
चोरी करि होरी रची, भई तनकमें छार॥

वस्तुतः भारतीय संस्कृतिके आधारभूत साधनोंद्वारा अर्जित धन ही सच्चा धन है और विशाल तृष्णावाला प्राणी ही वास्तवमें दरिद्री है। जबतक मनुष्यको सन्तोष प्राप्त नहीं होता, तबतक कोट्यवधि धनराशि प्राप्त होनेपर भी उसकी दरिद्रता नहीं जाती। 'सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्'—जिसका मन सन्तोष-धनसे परम शान्त हो गया है, उसके लिये जगत्‌की सम्पत्ति सर्वत्र प्राप्त है; किंतु इसके विपरीत जो मनुष्य धर्म, नीति और मर्यादाको त्यागकर अन्यायसे धन-प्राप्तिकी अभिलाषा करता है, वह लोकमें पतित होकर क्षुद्रताको प्राप्त होता है—

यो हि धर्मं परित्यज्य भवत्यर्थपरो नरः।
सोऽस्माच्च हीयते लोकात् क्षुद्रभावं च गच्छति॥

धन-प्राप्तिके लिये आज देशमें बड़ी शोचनीय स्थिति उपस्थित है। प्रायः सभी मनुष्य छल-कपट, दम्भ-पाखण्ड, लूट-मार, मिथ्या व्यवहार आदि माया-जालका आश्रय लेकर अन्याय-पूर्वक धन-संग्रह करनेमें संलग्न हैं। धर्म-मर्यादाका सर्वथा उल्लङ्घन हो रहा है। न तो आज लोगोंको दूसरेकी धरोहर और रक्षित सम्पत्ति हड़पनेमें भय है और न दूसरेका न्याय्य स्वत्व अपहरण करनेमें लज्जा है। बलात् धन-अपहरणकी चेष्टा—दिनदहाड़ेकी डकैती तो आज सभ्यता या सिद्धान्तके रूपमें गिनी जाने लगी है। लोग अनेकों प्रकारके प्रपञ्च रचकर एक-दूसरेको नीचा दिखानेकी कुचेष्टामें अहर्निश संलग्न हैं। यद्यपि इन सब घृणित चेष्टाओंसे समस्त प्राणियोंमें, सम्पूर्ण समाज और देशमें त्राहि-त्राहि मची हुई है, सभी सशङ्कित, भीत तथा दुःखमय जीवन बिता रहे हैं; परंतु कोई किसीकी सुनतातक नहीं, सभी अपनी मोहमयी धुनमें मस्त हैं। बस, एक ही चिन्ता लगी है, धन आये फिर वह किसी भी प्रकारसे आये। दूसरोंका चाहे सर्वनाश हो जाय, समाज चाहे रसातलको चला जाय, इसकी किसीको कुछ भी चिन्ता नहीं है। सभी एक-दूसरेका धन और अधिकार छीनने-लूटने और हड़पनेमें लगे हैं। फलतः सभी दुखी हैं, सन्त्रस्त हैं। पर किसीको कुछ भी सूझता नहीं। साँपके मुँहमें पड़ा हुआ मेंढक जैसे मक्खियोंको मारनेमें लगा रहता है, वैसे ही मौतके मुँहमें पड़ा हुआ मानव आज दूसरोंको मारनेमें संलग्न है। यह कितनी दयनीय और शोचनीय स्थिति है। क्षणिक भोगोंके लिये धर्म, सभ्यता, संस्कृति, समाज और ईश्वरका इतना तिरस्कार !! जहाँकी सभ्यताका आदर्श था पर-धनको मिट्टीके समान और पर-स्त्रीको माताके समान समझना—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।'

—वहाँके लोग आज दूसरोंका धन अपहरण करनेमें सभी प्रकारके अवैध उपायोंको काममें ला रहे हैं! यह कितने महान् दुःखकी बात है !!

सचमुच आजकी स्थिति बड़ी भयानक है। इस समय हमें अपनी प्राचीन संस्कृतिकी ओर देखना चाहिये। वही हमें ऐसे अन्धकारमें भी मार्ग-प्रदर्शन कर सकती है। अतएव हमें आधुनिक अर्थवादके चकाचौंधमें न पड़कर अपनी उस प्राचीन संस्कृतिका आश्रय लेना चाहिये, जिसने सदैव हमारा तथा विश्वका कल्याण किया है। अपनी प्राचीन संस्कृतिको नगण्य बताकर उसकी उपेक्षा करना तो प्रत्यक्ष कृतघ्नता है।

हमारा प्राचीन साहित्य आज भी हमें नव-चेतनाका सन्देश देकर उद्बोधित कर रहा है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

'न कर्मसे, न प्रजा-सन्ततिसे, न धनसे, अपितु एकमात्र (भोगोंके) त्यागसे ही मनीषी विद्वानोंने अमृतत्व

प्राप्त किया है !' वास्तवमें स्वधर्मयुक्त विशुद्ध जीविकाके द्वारा अर्जित धनको परोपकारमें—भगवत्सेवामें निष्कामभावसे उत्सर्ग कर देना ही भारतीयताका आदर्श है।

आज प्रायः सभी लोग चोरबाजारी और रिश्वतखोरी रोकनेके लिये लंबे-लंबे व्याख्यान दे रहे हैं, किंतु सुनता कोई नहीं। सुने भी कौन और कैसे; अधिकांश व्याख्यानदाता स्वयं उसी समुदायमें सम्मिलित हैं। उसी शिक्षाका प्रभाव पड़ा करता है जो स्वयं आचरणमें लायी जाती है, यह सिद्धान्त है। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि हमलोग पहले अपना सुधार करें, तब समाजके सुधारमें लगें; नहीं तो मलिन अन्तःकरणके द्वारा हम समाजकी गंदगीको घटानेकी अपेक्षा बढ़ायेंगे ही।

यथार्थ भारतीय भावना-भावित व्यक्तिके वात, पित्त, कफ आदि धातु सदैव साम्यावस्थामें रहते हैं और वह तितिक्षा, दया, उदारता, त्याग, परोपकार और उद्योग आदि सत्त्वगुणयुक्त अनेक गुणोंका प्रसार नित्य ही किया करता है, जो समाजके पोषण एवं वर्द्धनके लिये अनिवार्य है। इन दैवी लक्षणोंद्वारा हिंसा, परपीड़न, कठोरता, चोरी और परस्वत्वापहरणकी आसुरी वृत्तियोंका सहजहीमें निर्मूलन हो जाता है; किंतु विदेशी शिक्षा एवं सभ्यतासे प्रभावित हमारे ही कुछ भाई 'हिंदू-कोड' जैसे कानून बनाकर हमारी प्राचीन संस्कृतिको नष्ट-भ्रष्ट करनेको जा रहे हैं, जो सर्वथा असभ्य और अन्याय है। सर्वप्रेरक, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिसे प्रार्थना है कि वे इन परकीय भावना-भावित व्यक्तियोंको सद्बुद्धि दें, जिससे ये अपनी भारतीय संस्कृति न भूलें।

हमारा लक्ष्य

(लेखक—श्रीभगवानदासजी झा 'विमल' एम्०ए० (हिन्दी-दर्शन), बी० एस्सी०, एल्०टी०, 'साहित्यरत्न')

इस अखिल विश्वके समस्त प्राणियोंमें मानव सर्वश्रेष्ठ है। सृष्टिकर्ताने मानो दैवी-विभूति और पशु-प्रवृत्ति दोनोंके अद्भुत मिश्रणसे मानव-सृष्टिका सृजन किया। मानव और अन्य प्राणी कई बातोंमें एक दूसरेके समान हैं। भोजन करना, सोना, डरना, मैथुन करना आदि चेष्टाएँ सामान्यरूपसे प्राणिमात्रमें पायी जाती हैं; किंतु मानव एक बातमें अन्य प्राणियोंसे भिन्न है। वह यह है कि मानवमें विवेक-शक्ति पायी जाती है, जिसका अन्य प्राणियोंमें अभाव है। अपनी इस विवेक-शक्तिके आश्रयसे मानव ईश्वरके अस्तित्वका अनुभव कर सकता है, उसके समीप पहुँच सकता है और अन्तमें उससे तादात्म्य लाभ कर सकता है; किंतु दूसरी ओर इसी विवेक-शक्तिके अभावमें अथवा उसके दुरुपयोगसे मानव दानवी चेष्टाओंके रूपमें अनेक घृणित कार्यतक कर सकता है। मानव अपनी मानवताको मारकर दानव, असुर या पिशाच बन जा सकता है। विवेक-शक्तिके अभावको ही नैतिक-पतनकी संज्ञा दी जाती है। आदिकालसे प्रत्येक प्राणी इस सृष्टिका दर्शन करता आ रहा है। सामान्य प्राणियोंने सृष्टिको साधारण रूपमें लिया, उसमें उन्होंने कोई नवीन आकर्षण नहीं पाया—वे अपनी साधारण स्थितिमें ही सन्तुष्ट रहे। परंतु मस्तिष्ककी तर्कशक्ति और हृदयकी भावनाओंका प्रतीक मानव अपनी वर्तमान स्थितिसे सन्तुष्ट न रह सका। उसकी अन्तःप्रेरणाओंके वेगने उसे चञ्चल बना दिया। वह सृष्टिको अधिक विवेकमय और अनुभव-पूर्णरूपमें देखनेके लिये व्याकुल होने लगा। उसने अपनी समस्त मानसिक और भावनात्मक शक्तियोंसे सृष्टिके ज्ञान-भाण्डारकी वृद्धिमें सक्रिय सहयोग देना आरम्भ कर दिया। वह स्वयं प्रश्न करने लगा—'यह सब क्या है? क्या इसके पीछे कोई रहस्य छिपा हुआ है?' ये और इसी प्रकारके अनेक प्रश्न उसकी जिज्ञासामयी प्रवृत्तिको झंकृत करने लगे। इस अवस्थामें उसे न दिनको विश्राम मिलता था और न रातको नींद आती थी। साधारण अवलोकनसे उसे ज्ञात हुआ कि विश्वमें प्रत्यक्ष रूपसे पाये जानेवाले अव्यवस्थित बाह्य उपकरणोंमें भी एक आन्तरिक अप्रत्यक्ष व्यवस्था है। सृष्टिके समस्त उपकरण किसी अदृश्य शक्तिके संकेतपर एक दूसरेसे व्यवस्थितरूपमें सम्बन्धित हैं। उनमें अनावश्यक आवेग नहीं, उनमें अवाञ्छनीय विद्रोह नहीं, उनमें क्रान्तिकारी कटुता नहीं, उनमें अनैतिक चेष्टाएँ नहीं, एवं उनमें वैभिन्यजन्य ईर्ष्या नहीं। इस बाह्य अवलोकनके पश्चात् उसने अपने अन्तरका अवलोकन किया और अपने अंदर भी मानसिक क्षेत्रमें उसने इसी प्रकारकी सुव्यवस्था पायी। अब उसकी जिज्ञासा और वेगवती हो गयी। उसके मस्तिष्कमें अनेक संशय उत्पन्न होने लगे और एक बार

फिर उसका मस्तिष्क-सागर इन विचार-तरङ्गोंसे उद्वेलित होने लगा—'इन मानसिक और भौतिक विधानोंके पीछे क्या कोई रहस्यमयी शक्ति छिपी हुई है ?' अन्तरात्मासे उत्तर मिला—'निश्चित ही इन विधानोंको नियन्त्रित करनेवाली एक रहस्यमयी शक्ति है । हे मानव ! तू अपनी विवेक-शक्तिसे उसका पता लगा । क्या अन्य प्राणियोंके समान तू भी चुपचाप बैठा रहेगा ?'

मानवको ठेस पहुँची । उसने सक्रियमार्गका अवलम्बन करना प्रारम्भ कर दिया । उसने अपने अनुसन्धानात्मक मार्गको दो श्रेणियोंमें विभाजित किया—एक मार्गसे वह भौतिक विश्वके अनुसन्धानमें लगा और दूसरेसे वह मानसिक क्षेत्रके उद्घाटनमें तत्पर हुआ । प्रथम मार्गसे उसे अनेक सत्यताएँ अवगत हुईं, जिनका सारात्मक निष्कर्ष यह था कि प्रकृति अचिन्त्य सौन्दर्यका सञ्चित कोष है । प्रकृतिके इस सौन्दर्यने मानवको इतना अधिक आकर्षित कर लिया कि वह अपने अनुसन्धानमार्गकी गति ही भूल बैठा । सौन्दर्यकी भावनासे उसका हृदय ओतप्रोत हो गया और शनैः शनैः यह भावना सौन्दर्य-प्राप्तिकी तृष्णाके रूपमें प्रस्फुटित होने लगी । सौन्दर्य-तृष्णा इन्द्रियजन्य सुखका रूप धारण करने लगी और इसका अन्तिम रूप वासनामय सौन्दर्य ही हो गया । इस विलासकी पूर्तिमें मानव स्वार्थी बन बैठा, क्योंकि वह सब कुछ भूलकर केवल वासना सागरमें ही गोते लगाने लगा । वास्तवमें यह मानवकी सुन्दर चेष्टाओंकी नैतिक मृत्यु है । ओह ! भौतिक विश्व-सम्बन्धी बाह्य सत्यताएँ ही आजकी मानवताके लिये अभिशाप बन बैठीं । विश्वके 'सभ्य राष्ट्रों' ने इन्हीं सत्यताओंका आश्रय ग्रहण करके विश्वमें विनाशका बीड़ा अपने हाथमें उठा लिया । वैज्ञानिकक्षेत्रतरु अनेक अनुसन्धानों और आविष्कारोंसे पल्लवित होने लगा । भौतिकताका प्राबल्य हो गया । सृष्टिका गँवारू रूप विज्ञानमय चित्ताकर्षक रूपमें परिणत हो गया । मानव भोग-विलासकी प्रचुर सामग्रीमें लिप्त हो गया । आशा तो यह थी कि विज्ञानमयी सृष्टिकी ये नूतनताएँ विश्वके व्यापारोंको सुचारु और सुव्यवस्थित रूप प्रदानकर सृष्टिमें शान्ति स्थापित करेंगी, किंतु भौतिकताके भँवर-जालमें पड़कर वह सत्य सत्य न रहकर 'असत्य' और 'अनैतिक' बन गया । मानवताके आदर्शोंकी प्रस्थापना न हो सकी । दानवी शक्तियों एवं पाशविक वृत्तियोंने मानवताको रौंद डाला, कुचल डाला ! मनुष्यकी विवेक-शक्तिके दुरुपयोगका यह अवश्यम्भावी परिणाम था ।

दूसरे मार्गका क्या रूप था ? मानवको यहाँ अपना रूप ही परिवर्तित करना पड़ा । उसने अपनेको प्रकृतिके आकर्षक एवं भोगविलासमय सौन्दर्यसे पृथक् कर लिया और शनैः-शनैः वह अपने मानसिक क्षेत्रका स्वयं उद्घाटन करने लगा । आश्चर्य और असन्तोषकी बात यह थी कि इस उद्घाटनके परिणामस्वरूप उसे ज्ञात हुआ कि मस्तिष्क बड़ा चञ्चल और उद्विग्न है, जो हृदयकी उच्चाकाङ्क्षाओंको रौंद डालनेके लिये सदैव सक्रिय रहता है । उसने यह भी अनुभव किया कि मस्तिष्ककी चेष्टाएँ उसे इन्द्रिय-सुखकी ओर ले जानेके लिये प्रयत्नशील हैं । उसने इन्द्रिय-जन्य सुखकी निस्सारताकी अनुभूति तो पहले ही कर ली थी । अस्तु, वह अपनी आत्मीय शक्तिसे मस्तिष्कके द्वारा प्रस्तुत किये हुए इस विप्लवका सामना करने लगा । अनेक सतत प्रयत्नोंके पश्चात् मस्तिष्क शान्त हो सका । मस्तिष्क मानवका मित्र बन गया । मानव और आगे बढ़ता गया । अन्तमें वह उस स्थितिपर आ पहुँचा जहाँ न तो मनकी पहुँच थी और न मस्तिष्ककी ही । यही स्थिति सृष्टिके अनेक विधानोंके पीछे छिपे हुए रहस्यका उद्घाटन थी । उसके हृदयके सारे संशय दूर हो गये । उसके प्रयत्न विजयी हुए । उसके 'सत्य' की विजय हुई । उसने विश्वके सामने घोषणा की—इस रहस्यमयी सृष्टिके पीछे ईश्वरकी रहस्यमयी शक्ति छिपी हुई है । केवल ईश्वरके विषयमें ज्ञान प्राप्त करनेसे ही मानव-जीवनमें व्याप्त समस्याओं और गुत्थियोंका निराकरण हो सकता है । केवल यही ज्ञान चरम शक्ति एवं अविरल सुखकी अवतारणा कर सकता है । यही सच्चा आत्मज्ञान है, जिसमें मनुष्य अखिल विश्वमें एक व्यापक सच्चिदानन्द-सत्ताका अनुभव सर्वतोभावेन अनन्य और आत्यन्तिक सुख-शान्तिको प्राप्त हो सकता है । यही मानव-जीवनका सच्चा आदर्श और लक्ष्य है । यही वह सन्देश है जिसका उद्घाटन भारतीय ऋषियोंने किया; यही वह मूक ध्वनि है जो ज्ञानी महापुरुषोंके जीवन-क्षेत्रसे सदा ध्वनित होती रही है; यही वह रश्मि है जो मानवीय हृदयके अन्धकारको विदीर्ण कर सकती है । इसी सन्देशकी घोषणाके लिये विभिन्न अवतार हुए । जगत्के महापुरुषोंने इसी परम सत्यका सन्देश दिया ।

सृष्टिकी परीक्षा भी हमें इसी तथ्यतक पहुँचाती है । क्या यह सारी जड सृष्टि विनाशमयी नहीं है ? क्या हम विश्वके प्रत्येक पदार्थपर मृत्युकी मुहरके दर्शन नहीं करते ? वैभव और ऐश्वर्यका अन्तिम रूप भी मृत्यु ही होता है । धन, सम्मान, सौन्दर्य, पद आदि कोई भी विभूति हमें

मृत्यु-क्षणसे पृथक् नहीं कर सकती। किंतु एक वही सार्वभौमिक सत्यता और वास्तविकता है जो सर्वत्र समान है, जो मृत्युसे परे है; और वह ईश्वर है। यदि हम एक बार भी इस शक्तिके पास पहुँच जायँ तो फिर हमें भय, मृत्यु, विनाश आदि किसीसे भी डरनेकी आवश्यकता न रहेगी। अतः ईश्वरकी प्राप्ति ही मानव-चेष्टाओंका अन्तिम लक्ष्य और आदर्श है। ईश्वर ही वास्तविक है, अन्य वस्तुएँ अवास्तविक हैं। ईश्वर ही 'सत्' है, जो जन्म और मरण दोनोंसे परे है। वह अपरिवर्तनशील है, अतः वह नित्य है। वह 'चित्' की अक्षयनिधि है। वह स्वयं प्रकाशमान है, वहाँ न तो सूर्य, न चन्द्रमा और न तारे-नक्षत्र आदि प्रकाश देते हैं। वह सदा अपने-आप चमकता है, उसीकी चमकसे ये सब सूर्य, चन्द्रमा और तारे चमकने लगते हैं। उसीके प्रकाशसे सारा विश्व प्रकाशित होता है। यदि हमें उसका ज्ञान हो गया, तब फिर हमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। वह सर्वशक्तिमान् है। वह आनन्द है। ईश्वरके इसी 'आनन्द' से सृष्टिके प्राणियोंका प्रादुर्भाव होता है, आनन्दके आश्रयसे ही वे जीवित रहते हैं, और अन्तमें वे आनन्दमें ही मिल जाते हैं। 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द'—यही ईश्वरका स्वरूप है और ईश्वरके इन तीन भावोंमेंसे किसी एककी आराधना करनेसे भी ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है। उपनिषदोंमें कहा गया है—'वेदोंका अध्ययन, मानसिक बल आदि किसीसे भी आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता। आत्माका सच्चा ज्ञान केवल उसीको हो सकता है, जिसके सामने ईश्वर अपने रूपको प्रकट करनेकी कृपा करते हैं—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' ईश्वर ही आत्मा है, उसीके आश्रयपर ही हम आत्माको पहचान सकते हैं। आत्माके ज्ञानके बिना हम सदैव 'अहं' से पीड़ित रहेंगे। 'अहं' ही समस्त विपदाओं और आपत्तियोंका मूल कारण है; किंतु ईश्वरके कृपापात्र बननेके लिये कुछ आराधनाकी आवश्यकता है। इस आराधनाको ही उपनिषदोंने 'तप' की संज्ञा दी है। इसीका नाम 'योग' है। योग (भगवान्के साथ आत्माका संयोग) मानवको अहंके बन्धनसे मुक्त करके आत्माका ज्ञान कराता है। इसके प्रभावसे उसका समस्त शरीर ईश्वरीय विभूतिसे ओतप्रोत हो जाता है। उसका अपना कुछ नहीं रह जाता, सब कुछ ईश्वरका हो जाता है। योग मनको पवित्र करनेवाला एक अचूक साधन है। चित्त-शुद्धिके लिये भी योगकी नितान्त आवश्यकता है। जो मनुष्य अपनेको पाप और इन्द्रियजन्य सुखोंसे परे नहीं बना लेते, उन्हें ईश्वरकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। मानसिक साम्यकी स्थितिमें ही ईश्वरकी आराधना करके ईश्वरकी प्राप्ति की जा सकती है। इस 'योग' के अनेकों भेद हैं, जिनमें चार प्रधान हैं—राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। राजयोगवाला आराधक अपने चित्त (मन, बुद्धि और अहंकार) को अनेक रूप ग्रहण करनेसे रोकता है। ज्ञानयोगवाला आराधक इस सृष्टिको मायाका खेल समझता है। वह अपने विवेक-ज्ञानसे 'वास्तविक' का 'अवास्तविक' से भेद करके 'वास्तविक सत्य' के मार्गका अवलम्बन करता हुआ ब्रह्म-प्राप्तिके प्रयत्नमें निरत होता है। वह परमात्माके अहंमें अपने अहंको मिलाकर सब कुछ उन्हींको समझता है। कर्मयोगी वैध कर्मोंके आश्रयसे अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करता है; वह कर्ममें निष्काम भाव रखता है, उसे न कर्मोंमें आसक्ति होती है और न उसके फलोंकी कामना। वह सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है।

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।'

भक्तियोगी अपने दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्की अपार श्रद्धा तथा प्रेमके साथ पूजा और आराधना करता है। वह सब कुछ त्यागकर ईश्वरकी आराधनामें ही अपना चित्त लगाये रहता है। वह अपना सब कुछ ईश्वरके चरणोंमें समर्पित कर देता है।

ईश्वर-प्राप्तिकी साधनाके ये चार प्रधान मार्ग हैं। इसके अतिरिक्त पतञ्जलिप्रयुक्त अष्टाङ्गयोगसे भी भगवत्प्राप्ति होती है। हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें इनका तथा ऐसे ही अन्यान्य मार्गोंका भी निरूपण किया गया है। हम मानवोंका कर्तव्य है कि हम अपनेको इन्द्रियजन्य वासनाकी मृग-मरीचिकासे पृथक् करके सच्चिदानन्द भगवान्की प्राप्तिका उपाय करें। जो अपनी शक्ति तथा रुचिके अनुसार जिस मार्गका अवलम्बन करता है उसीमें उसका कल्याण है। मार्गका अन्तिम लक्ष्य एक परम 'सत्य' की प्राप्ति होनी चाहिये। ईश्वरकी प्राप्ति ही चरम शान्ति और अविरल आनन्दकी प्राप्ति है। ईश्वरकी प्राप्ति ही जन्म-मरणके बन्धनोंसे मुक्ति है। अतएव मानव! उठो, जागो और अपने लक्ष्यकी ओर गतिशील होओ। लक्ष्यतक पहुँचनेपर ही प्रयत्नको विराम दो।

अर्थपञ्चक

(विशिष्टाद्वैतवेदान्तपरक)

(लेखक—श्रीजयनारायण मल्लिक, एम्०ए०, डिप०एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

श्रीवैष्णवों (श्रीरामानुज-सम्प्रदायानुयायी महानुभावों)के लिये 'अर्थपञ्चक'का ज्ञान परम आवश्यक है। विना 'अर्थ-पञ्चक' जाने वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं होता। अर्थपञ्चकमें पाँच विषय वर्णन किये गये हैं—

१. स्वस्वरूप (जीवात्माका स्वरूप)।
२. परस्वरूप (परमात्माका स्वरूप)।
३. पुरुषार्थस्वरूप (जीवोंके लिये क्या पुरुषार्थ है)।
४. उपायस्वरूप (जीवात्माके परमात्मासे मिलनेका क्या उपाय है)।
५. विरोधीस्वरूप (जीवात्माके परमात्मासे मिलनेमें अर्थात् मोक्ष-मार्गमें क्या-क्या रुकावटें हैं)।

इन पाँचों विषयोंके यथार्थ ज्ञानका नाम 'अर्थपञ्चक' है। इन पाँचों विषयोंमेंसे प्रत्येकके पाँच भेद हैं।

तत्त्वज्ञानके लिये इन पाँचोंका ज्ञान आवश्यक है। जबतक जीव अपने स्वरूपको नहीं पहचानेगा तबतक वह माया-मोहमें लिपटा रहेगा। जब उसे यह ज्ञान हो जायगा कि यह भौतिक शरीर क्षणिक है और आत्मा अमर है, तब वह भौतिक शरीर-के भोगोंमें भी लिप्त नहीं होगा। विना परमात्माका स्वरूप जाने परमात्माका कैंकर्य नहीं हो सकता।

स्वस्वरूपका अर्थ जीवात्माका स्वरूप है। वह पाँच प्रकारका है—

१. नित्य (जो सदैव वैकुण्ठमें रहते हैं)।
२. मुक्त (जो पहले संसारी मायामें लिपटे थे, पर अब मायासे छुटकारा पा गये हैं)।
३. बद्ध (जो अभी भी संसारी मायामें लिपटे हैं)।
४. केवल (जो केवल ज्ञानयोगके द्वारा परमात्मामें मिल जाना चाहते हैं)।
५. मुमुक्षु (जो परमात्माके कैंकर्यमें लीन होकर मोक्ष-की अभिलाषा करते हैं)।

परमात्माका स्वरूप पाँच प्रकारका है—

१. पर-रूप (वैकुण्ठमें श्रीलक्ष्मीदेवीके साथ मायामण्डल-से पृथक् श्रीमन्नारायण भगवान्)।
२. व्यूह-रूप (क्षीरशायी श्रीवासुदेव भगवान् तथा संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध)।
३. विभव (श्रीराम-कृष्ण इत्यादि अवतार)।
४. अन्तर्यामी (सर्वत्र सभी वस्तुओंमें सर्व-शक्तिमान् रूपसे रहनेवाले परमात्मा)।
५. अर्चावतार (भगवान्की श्रीमूर्तियाँ)।

जो वस्तु पुरुषोंको उपार्जन करनी चाहिये, उसीका नाम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ पाँच प्रकारका है—

१. धर्म (लोकोपकारी शुभ कार्य)।
२. अर्थ (कर्तव्यके लिये द्रव्यका सदुपयोग)।
३. काम (संसारी तथा स्वर्गीय सुख-भोग)।
४. आत्मानुभव (केवल अपनी आत्माके शुद्ध, दिव्य रूपका चिन्तन करना)।
५. भगवदनुभव (मुक्त होकर वैकुण्ठमें सदैव भगवत्कैंकर्यका अनुभव करना)।

भगवान्से मिलनेका उपाय भी पाँच प्रकारका है—

१. कर्म।
२. ज्ञान।
३. भक्ति।
४. प्रपत्ति (आत्मसमर्पण)।
५. आचार्याभिमान।

विरोधी भी पाँच प्रकारका है—

१. स्वरूपविरोधी।
२. परत्वविरोधी।
३. पुरुषार्थविरोधी।
४. उपायविरोधी।
५. प्राप्तिविरोधी।

जो लोग सदैव संसारके सम्बन्धसे, संसारी रूपसे और संसारी सम्पर्कसे रहित हैं, जो भगवान्हीके इच्छानुसार जीवनके भोगोंको भोगते हैं, जो श्रीवैकुण्ठनाथके विविध कैंकर्योंमें प्रवीण मन्त्रीगण हैं, जो भगवान्की आज्ञासे सृष्टि-की स्थिति और संहार दोनों करनेमें समर्थ हैं, जो पर-व्यूह इत्यादि भगवान्के सभी रूपोंका सभी अवस्थाओंमें भी

अनुकरण कर कैंकर्य करनेमें पटु हैं, ऐसे जो विष्वक्सेन इत्यादि भगवान्के पार्षद देवगण हैं (अर्थात् जो सब प्रकारसे माया-बन्धनसे मुक्त हैं, जो सदैव वैकुण्ठमें रहकर वैकुण्ठनाथके कैंकर्यमें लीन रहते हैं), उन्हें 'नित्यजीव' कहते हैं।

भगवान्की कृपासे जिनके प्राकृतिक सम्बन्धके दुःख और पाप पूर्णरूपसे छूट गये हैं (परमात्माकी दयासे जिनके संसारी दुःख और पाप सर्वथा नष्ट हो गये हैं), जो भगवान्के स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और वैभवोंका अनुभव करते हुए वैकुण्ठ-महाधाममें पूर्णतया संतुष्ट तथा आनन्दित हैं, उन्हीं मुनियोंका नाम 'मुक्त जीव' है।

नित्य जीव तो कभी माया-बन्धनमें पड़े ही नहीं, पर मुक्त जीव माया-बन्धनमें पड़कर भक्ति-योग तथा प्रपत्ति-योगके द्वारा माया-बन्धनसे मुक्त हो गये हैं। मुक्तकी अवस्थामें स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर पूरा नष्ट हो जाता है और आत्माका शुद्ध रूप प्रकट हो जाता है।

बद्ध जीव माया-मोहमें लिपटे हुए अज्ञानी जीव हैं। वे समझते हैं कि पाँच तत्त्वोंका (मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाशका) बना हुआ शरीर जो दुःख और सुखके अनुभवोंका साधन है, जो आत्माके वियोग होनेपर (मरनेपर) देखने और छूनेके भी योग्य नहीं रहता, जो अज्ञान, मूढ़ता और विरुद्ध ज्ञान देनेवाला है—वह शरीर ही आत्मा है, और इसी कारण वे सोचते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न अपनी देहका पालन-पोषण करना ही पुरुषार्थ है। इसीलिये वे केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि विषयोंकी प्राप्तिके लिये (अर्थात् अनुकूल शब्द सुननेके लिये, कोमल वस्तुओंको छूनेके लिये, सुन्दर वस्तुएँ देखनेके लिये, स्वादिष्ट पदार्थ चखनेके लिये और सुगन्धित चीजें सूँघनेके लिये) यत्नशील बने रहते तथा वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और आश्रम (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी) के धर्मोंको छोड़कर नीच पुरुषोंकी सेवा करते हैं, और प्राणियोंकी हिंसा करते हुए पर-नारी तथा दूसरेका धन हड़पकर संसारमें अपनी उन्नति चाहते हैं। ऐसे जो भगवान्के विमुख जीव हैं, उन्हें 'बद्ध' कहते हैं।

बद्ध जीव समझते हैं कि शरीर ही सब कुछ है और मृत्यु ही जीवनका अन्त है। वे शरीरसे पृथक् आत्माको नहीं मानते, अतः स्वर्ग, नरक और मोक्षको भी नहीं मानते। वे समझते हैं कि जबतक जीवित रहें, खूब सुखभोग कर लें। वे पापसे नहीं डरते, क्योंकि नरक और स्वर्गमें उन्हें विश्वास ही नहीं रहता।

कैवल्य चाहनेवाले संसाररूपी जंगलकी आगसे व्याकुल होकर संसारी दुःखोंका नाश करनेके लिये शास्त्रमें बताये हुए ज्ञानके द्वारा प्रकृति (जड जगत्) और आत्मा (चैतन्य) का सच्चा विवेक प्राप्त कर यही सोचते हैं कि प्रकृति (संसार) दुःखकी जड़ है और इसमें केवल वे ही पदार्थ भरे पड़े हैं जो घृणित और त्यागने योग्य हैं, तथा आत्मा प्रकृतिसे अलग है, अपने ही प्रकाशित और सुखी है, नित्य (जिसका आदि और अन्त न हो) और अलौकिक (जिसका जड जगत्से कुछ भी सम्पर्क न हो) है। इस प्रकार सोचकर वे अपने पहलेके भोगे हुए दुःखोंकी अधिकताके कारण ज्ञान और आनन्दसे युक्त परमात्माके चिन्तनमें असमर्थ होकर तथा परमात्मारूपी अमृतके समुद्रको छोड़कर आत्मारूपी थोड़े ही रसमें लीन हो जाते हैं और इस आत्माकी प्राप्तिके साधन—ज्ञानयोगमें निष्ठा लगाये हुए यही सोचते हैं कि योग-मार्गमें जो आत्माका अनुभव है, वही एकमात्र पुरुषार्थ है। इस प्रकार केवल आत्मज्ञानमें लगे हुए वे मृत्युके बाद संसारके सम्बन्धसे तथा भगवान्की प्राप्तिसे रहित होकर केवल आत्माहीके रूपमें विचरते रहते हैं। ऐसे जो जीव हैं, उन्हें 'केवल जीव' कहते हैं।

जो जीव कर्मयोग और ज्ञानयोगकी सहायतासे भक्ति (परमात्माका कैंकर्य) और प्रपत्ति (परमात्माके लिये आत्म-समर्पण) के द्वारा मायाबन्धनसे छुटकारा पाकर परमात्माके दिव्य-लोकमें परमात्माके आनन्दमय अनुभवमें लगे रहते हैं, उन्हें 'मुक्त' कहते हैं, पर जो जीव कर्मयोग, भक्ति और प्रपत्तिको छोड़कर केवल ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माका चिन्तन नहीं करते, पर केवल अपनी आत्माहीका चिन्तन करते रहते हैं (धर्म और अधर्मसे अलग रहकर अपने ही आपमें लीन रहते हैं) वे मरनेके बाद माया-बन्धनसे तो अवश्य छुटकारा पा जाते हैं, पर परमात्माके लोकमें नहीं जाते, केवल निर्विकार आत्माके रूपमें विचरण करते रहते हैं, उन्हें 'केवल' जीव कहते हैं।

जो जीव मोक्षकी इच्छा रखते हैं, वे मुमुक्षु हैं। वे दो प्रकारके हैं—उपासक और प्रपन्न।

उपासक वे हैं जो भक्ति, प्रेम और उपासनाके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं। प्रपन्न वे हैं, जो शरणागति और आत्मसमर्पणके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं।

वेद-शास्त्रोंमें कहे हुए उपायोंसे कर्म और ज्ञानके द्वारा समस्त कल्याणगुणयुक्त परमात्माके रूप और गुणका सदैव चिन्तन और स्मरण करना, परमात्माकी सेवा करना, और जिस प्रकार तैलकी धारा लगातार गिरती रहती है, कहीं टूटने नहीं पाती, उसी प्रकार निरन्तर परमात्माका ध्यान करना भक्ति कहलाता है। प्रपत्तिका अर्थ है परमात्माकी शरणमें निष्काम और निर्लिप्त होकर जा गिरना—संसारकी सारी आशा और भरोसा छोड़कर परमात्माके चरणोंमें अपने शरीर, मन, आत्मा सभी कुछको सौंप देना। प्रपत्ति भक्तिसे अधिक सुलभ और शीघ्र फल देनेवाली है। प्रपत्तिके द्वारा परमात्मा बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं, क्योंकि जब जीव अपना सब कुछ परमात्माको सौंप देता है और हृदयसे कहता है कि 'नाथ! मैं तेरी ही शरणमें हूँ, मैंने सबका आसरा छोड़ दिया है, मैं केवल तेरा ही हूँ, मुझे कोई दूसरा देखनेवाला नहीं, मैं अकिञ्चन हूँ (अर्थात् मेरा कुछ भी नहीं है और मैं अनन्य हूँ, संसारसे छुटकारा पानेके लिये मैं केवल तुझको अपना उपाय समझता हूँ, मैं किसी दूसरेकी शरणमें नहीं जा सकता)। प्रपन्नकी ऐसी आर्त वाणी सुनकर परमात्माका हृदय दयार्द्र हो जाता है। भक्त समझते हैं कि 'ममैवासौ' अर्थात् वह (परमात्मा) मेरे ही हैं, इसलिये उनकी सेवाका पूर्ण भार मेरे ही ऊपर है। प्रपन्न समझते हैं कि 'तस्यैवाहम्' अर्थात् मैं उन्हींका हूँ अतः वे ही मेरे स्वामी तथा सर्वस्व हैं।

भगवान्‌के पाँच भेद हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार। इनमें अर्चावतारकी उपासना तो सबसे सुलभ है, पर मोक्षकी प्राप्तिके लिये पररूप तथा अन्तर्यामीरूपकी उपासना भी आवश्यक है। परब्रह्म मायामण्डलसे पृथक् हैं। अतः उनकी सेवा इन्द्रियोंसे नहीं हो सकती, केवल मनसे हो सकती है। पर-वासुदेवकी सेवा केवल स्मरण, चिन्तन, शरणागति, आत्मसमर्पण तथा अष्टाक्षर और द्वयमन्त्रका अनुसन्धान है। अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र सभी प्राणियोंमें वर्तमान हैं। अतः उनकी सेवा सभी प्राणियोंकी सेवा है।

पर-वासुदेव मायामण्डलसे पृथक् वैकुण्ठ-धाममें वर्तमान आदिज्योतिःस्वरूप पर-ब्रह्म परमात्मा हैं।

परमात्माका वैकुण्ठ-धाम वही है, जिसके विषयमें लिखा है—

ॐ 'तद्विष्णोः परमं पदम्, सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम्।' (ऋग्वेद प्रथमाष्टक)

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।' (गीता १५। ५)

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' (पुरुषसूक्त)

उस परमधाममें दुःख, शोक, व्याधि, पीड़ा, भूख, प्यास, काम, क्रोध, मोह, लोभ किसी प्रकारका सन्ताप नहीं है। वहाँ केवल दिव्य-आनन्द और भगवत्कैङ्कर्य है। मायाका वहाँ कुछ भी अधिकार नहीं, अतः वहाँ इच्छा और पुनर्जन्म भी नहीं। ये ही वैकुण्ठपति श्रीमन्नारायण भगवान् भूदेवी, नीलादेवी और अनन्त तथा अलौकिक सौन्दर्य एवं शीलकी राशि जगन्माता श्रीदेवीके साथ विराजमान हैं। ये परमात्मा दिव्य सुन्दररूप अनन्त कल्याण-गुणयुक्त आदिज्योतिःस्वरूप हैं। महाप्रलयमें भी वैकुण्ठका नाश नहीं होता, अतः वैकुण्ठका वैभव और शोभा नित्य तथा सनातन हैं। वैकुण्ठमें पहुँच जानेपर जीव मुक्त हो जाता है (माया-बन्धनसे छूट जाता है)। इन्हीं वैकुण्ठनाथका नाम पर-वासुदेव परब्रह्म अथवा श्रीमन्नारायण भगवान् है। भगवान्‌के जितने स्वरूप हैं, सबमें श्रेष्ठ यही रूप है। यहाँ अनन्त, विष्वक्सेन, गरुड़ इत्यादि नित्यमुक्त जीव सदैव भगवत्कैङ्कर्यमें लीन रहते हैं। सृष्टिकी चिन्ता वैकुण्ठपति भगवान्‌को नहीं रहती। वहाँके मुक्त जीव दिव्य-सुन्दर शरीर धारणकर दिव्य आनन्दमें मग्न रहते हैं तथा उन्हें दिव्य स्मृति, दिव्य ज्ञान और दिव्य नेत्र प्राप्त हो जाते हैं। वह लोक स्वयंप्रकाश है। यहाँ श्रीदेवीके रूपकी झलकसे कोटि सूर्यके समान प्रकाश है और कोटि चन्द्रमाके समान शीतलता है। इसी परमधामकी प्राप्तिका नाम 'मोक्ष' है।

भगवान्‌के दूसरे रूपका नाम व्यूहरूप है। व्यूहरूपमें संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं। इनका कार्य सृष्टि करना, पालन करना और संहार करना है।

व्यूह चार हैं, पर कहीं-कहींपर तीन भी लिखे हैं। प्रथम छः गुणोंसे युक्त शेषनागपर शयन करनेवाले क्षीरशायी वासुदेव भगवान् हैं, जो संसारके स्वामी हैं और दुष्टोंका नाश करने तथा न्याय एवं धर्मकी रक्षा करनेके लिये कभी-कभी पृथ्वीपर अवतार लेते हैं। जिस प्रकार वैकुण्ठपति त्रिपाद्विभूतिके स्वामी हैं, उसी प्रकार वासुदेव भगवान् मायाविभूतिके स्वामी हैं। इनके अतिरिक्त तीन और मूर्तियाँ हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

इनमेंसे प्रत्येक दो-दो गुणसम्पन्न हैं। इनका कार्य सृष्टिका प्रबन्ध तथा संचालन करना है। इन्हींके अंशसे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश उत्पन्न होते हैं।

भगवान्का विभवरूप श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि अवतार हैं। यों तो भगवान्के करोड़ों अवतार हैं, पर उनमें चौबीस प्रधान हैं और चौबीसमें भी दस मुख्य हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र, बुद्ध तथा कल्कि। इनमें भी श्रीराम और श्रीकृष्ण पूर्णावतार तथा शेष अंशावतार हैं। अंशावतार केवल किसी विशेष कार्यसे पृथ्वीपर प्रकट होते हैं और कार्य-सम्पन्न होनेपर फिर अन्तर्धान हो जाते हैं। पर श्रीराम और श्रीकृष्ण अपनी पूर्ण विभूतियोंके साथ पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए और केवल दुष्टोंका नाश करके ही अन्तर्धान नहीं हो गये, वरं बहुत दिनोंतक मर्यादापुरुषोत्तमकी तरह हमारे दुःख-सुखोंके बीच रहकर हमें एक आदर्श कर्तव्यका ज्ञान सिखला गये। जब-जब ब्रह्मा, महादेव, इन्द्र आदि देवता अन्याय-अत्याचारसे डरकर शेषशायी भगवान्की शरणमें जाते हैं, तब-तब शेषशायी भगवान् पृथ्वीपर अवतार लेकर संसारको कृतार्थ करते हैं।

अन्तर्यामी भगवान् दो प्रकारके हैं। 'दासों (प्राणिमात्र) के अन्तस्तलमें भगवान् वर्तमान हैं।' भगवान्का कथन है कि 'मेरे दास ही मेरी आत्मा हैं।' सृष्टिके अन्तःकरणमें परमात्माकी झलक है। संसारमें जहाँ-जहाँ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का प्रकाश है—जहाँ कहीं आनन्द एवं कल्याणकी ज्योति है, वहाँ अन्तर्यामी भगवान्की ही झलक है। प्राणिमात्रके हृदयमें संपूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्तिको सर्वदा देखते हुए जो भगवान् हैं, उन्हींका नाम अन्तर्यामी है।

भगवान्का अन्तर्यामीरूप सूक्ष्म, व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र रहनेवाला तथा अव्यक्त है। उन्हें कोई देख नहीं सकता, पर वह सब कुछ देख रहे हैं। एकान्तसे एकान्त स्थलमें जो कुछ भी पुण्य-पाप किया जाता है, उसे भी अन्तर्यामी भगवान् देख लेते हैं। इतना ही नहीं, हमारे मनके अंदर जो अच्छे तथा बुरे संकल्प उठते हैं, वे भी अन्तर्यामी भगवान्से छिपे नहीं रहते। जो अन्तर्यामी भगवान्की सत्तापर विश्वास करेगा, वह छिपकर भी कभी पाप नहीं कर सकता, बुरे विचारोंको भी मनमें नहीं ला सकता तथा 'अन्तर्यामी भगवान् सभी प्राणियोंमें हैं' यह जानकर किसीका अनिष्ट भी नहीं कर सकता। अन्तर्यामी भगवान्की उपासना—प्राणिमात्रका कल्याण करना, उन्हें सुखी बनाना तथा अच्छे मार्गपर लाना है। एक बात और है—अन्तर्यामी भगवान् प्रवृत्ति और निवृत्तिको देखते हैं। अतः मनमें भोग-लालसा, स्वार्थ-बुद्धि तथा बुरी वासना रखकर यदि कोई अच्छा कार्य भी किया जाय, तो भगवान् प्रसन्न नहीं होते। संसारकी दृष्टिमें तो हम अच्छे कार्य करनेका यश लूटते हैं, पर भगवान् तो हमारे हृदयकी छिपी प्रवृत्तिको देख रहे हैं। इसी प्रकार पवित्र मनसे कर्तव्य-बुद्धिसे तथा कल्याण करनेकी भावनासे यदि कोई अपराध भी हो जाय, तो उसे भगवान् क्षमा कर देते हैं। जो निश्छल, निष्कपट हृदयसे अपने आचरणोंको पवित्र रखकर प्राणिमात्रपर दया तथा प्रेम रखते हुए एवं प्राणिमात्रका कल्याण करते हुए सतत श्रीलक्ष्मीजी-सहित परमात्माके दिव्य रूप तथा गुणोंके चिन्तनमें रत रहता है, वही परमात्माका श्रेष्ठ भक्त है।

अपने दासोंके अनुकूल नाम और रूप धारण कर, सर्वसमर्थ होनेपर भी असमर्थकी तरह, सबके रक्षक होते हुए भी दूसरोंके भरोसे रहते हुए-से सबके लिये सुलभ जो भगवान्की मूर्तियाँ हैं, उन्हींका नाम अर्चावतार है। अर्चावतार भगवान् स्वयंव्यक्त, दैव अथवा मानुष (मनुष्यके द्वारा स्थापित) के रूपमें सब लोगोंकी पहुँचके अन्तर्गत हैं। उसका कैङ्कर्य सभीके लिये सुलभ है।

अभीतक हमलोग यही समझते आये हैं कि घर बुहारना, लीपना, फूल-तुलसी तोड़ना, पूजा करना, रसोई बनाना, भोग लगाना, धूप-आरती देना, बस—यही भगवान्के कैङ्कर्य-कार्य हैं। जहाँ हमलोग ये कार्य कर चुके कि बस, हमारे कैङ्कर्यकी इति-श्री हो चुकी; परंतु इतनी ही बात नहीं है। यह कैङ्कर्य भी आवश्यक है, पर यह तो केवल अर्चावतार रूपका कैङ्कर्य है। मोक्षके भागी तो हम तभी हो सकते हैं, जब हम भगवान्के सभी रूपोंका कैङ्कर्य करें। पर-वासुदेवका कैङ्कर्य और अन्तर्यामी भगवान्का कैङ्कर्य तो और भी आवश्यक है। पर-वासुदेव हमारी इन्द्रियोंसे परे और मायासे भी परे हैं। अतः उनका कैङ्कर्य इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता, केवल मनसे हो सकता है। वैकुण्ठपति भगवान्का स्मरण, ध्यान, सदैव चिन्तन, मन्त्रार्थका अनुसन्धान और परमात्माकी सेवामें लीन रहना ही

पर-रूप भगवान्‌का कैङ्कर्य है। शेषशायी भगवान्‌की स्तुति, वन्दना, कीर्तन इत्यादि व्यूहरूपके कैङ्कर्य हैं। कथा-पुराण सुनना या कहना तथा नाम-यश इत्यादिकी चर्चा करना विभवरूप भगवान्‌के कैङ्कर्य हैं। भगवान्‌का अन्तर्यामी-रूप सर्वत्र है, सभी प्राणियोंमें है। अतः अन्तर्यामी भगवान्‌का कैङ्कर्य निम्नलिखित है।

१—छिपकर भी (एकान्त स्थलमें भी) कोई पाप, अन्याय तथा बुरा काम कभी नहीं करना; क्योंकि अन्तर्यामी भगवान् वहाँ भी हैं।

२—मनमें कोई भी विकार तथा बुरी वासना कभी नहीं रखना। जो कुछ करना निष्काम और निर्लिप्त होकर, भगवत्सेवाकी बुद्धिसे कर्तव्य समझकर करना; भोग-बुद्धि और स्वार्थ-भावनासे नहीं करना; क्योंकि हमारे अन्तःकरणमें भी अन्तर्यामी भगवान् हैं और हमारी प्रवृत्तियोंको वे देखा करते हैं।

३—अपनी शास्त्रविहित भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी ओरसे विरक्त नहीं होना। अपने जीवनको सब तरहसे सुखी, समुन्नत तथा धार्मिक बनाना, क्षणिक सुख-भोग, या मनके प्रमोदके लिये अपने शरीरका अथवा धनका या शक्तिका दुरुपयोग नहीं करना। आमोद-प्रमोद वे ही उचित हैं, जिनसे आनन्दके साथ-साथ सात्त्विक शिक्षा भी मिले, भगवान्‌की ओर रुचि बढ़े, हमारा और हमारे समाजका यथार्थ कल्याण हो, कोई बुराई न हो, क्योंकि हममें भी अन्तर्यामी भगवान् हैं।

४—माता-पिता, स्त्री-पुत्र, मित्र-परिवार, जाति तथा देश, गरीब तथा निःसहाय सभीके प्रति प्रेम रखना, सभीकी सेवा करना और सभीके साथ उचित व्यवहार करना; क्योंकि इन सबके अंदर भी अन्तर्यामी भगवान् हैं।

५—प्राणिमात्रपर दया तथा प्रेम रखना। दूसरेका कल्याण करना, किसीकी भी बुराई नहीं करना। अपने स्वार्थके लिये अथवा भोग-वासनाके लिये किसीके भी जीवनको दुःखी नहीं बनाना, किसीके भी हृदयपर चोट नहीं पहुँचाना। वचनसे या कर्मसे किसीका भी अनिष्ट नहीं करना। मनसे भी किसीका अनिष्ट नहीं सोचना। दूसरेके जीवनको सुखी, समुन्नत तथा पवित्र बनाना, क्योंकि प्राणिमात्रमें अन्तर्यामी भगवान् हैं।

पर-वासुदेवकी सेवाका अर्थ है—

करेहु कर्म करहु बिधि नाना। मन राखहु जहँ कृपानिधाना॥
भजेहु सकल बासना त्यागी। केवल राम चरन लय लागी॥

अन्तर्यामी भगवान्‌की सेवाका अर्थ है—अपने अन्तः-करणको तथा अपने आचरणोंको पवित्र रखना एवं सभी जीवोंपर प्रेम रखना तथा निःस्वार्थभावसे सबकी भलाई करना।

भगवान्‌से मिलनेके कई मार्ग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा प्रपत्तियोग। वेदके पूर्व-भाग (संहिता और ब्राह्मण) में कर्मका प्रतिपादन और वेदके उत्तर-भाग (उपनिषद् और आरण्यक) में ज्ञानका विश्लेषण किया गया है। भक्ति या उपासनाकी झलक सर्वत्र मिलती है—विशेषकर पाञ्चरात्र, गीता और सूत्र-ग्रन्थोंमें। दिव्य-प्रबन्धोंमें प्रपत्ति या शरणागतिका वर्णन है। मीमांसाने कर्मको अपनाया, सांख्य और शाङ्कर-वेदान्तने ज्ञानको। योगशास्त्रमें कर्म और ज्ञान दोनोंका समन्वय है, पर शाङ्कर-वेदान्त और योगशास्त्रका एक ही लक्ष्य है—कैवल्य-पदको प्राप्त करना। सकाम कर्म हमें पितृयान या धूममार्गके द्वारा चन्द्रलोक या स्वर्गतक ले जा सकता है पर पुनर्जन्मको नहीं रोक सकता। कर्मयोग (निष्काम और निर्लिप्त होकर भगवत्प्रीतिके लिये केवल कर्तव्य तथा कैङ्कर्य-बुद्धिसे कर्म करना और कर्म करनेके बाद भगवान्‌को अर्पित कर देना) हमें मोक्षकी ओर अग्रसर करता है। ज्ञानयोग हमें आत्मा और परमात्माको पहचाननेमें तथा भक्तियोगमें सहायक होता है। केवल ज्ञानका पथ कठिन है और वह कैवल्यकी ओर चला जाता है। श्रीरामानुजवेदान्तमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा प्रपत्तियोग सबका समन्वय है। मोक्षका सबसे बड़ा बाधक अज्ञान, अविद्या या कर्म-संस्कार है। जबतक कर्म-संस्कारसे बने हुए सूक्ष्म शरीरका नाश नहीं होता, तबतक जीव मुक्त नहीं हो सकता। निष्काम कर्म-योगसे क्रियमाण कर्म अन्तःकरणमें विकार और आसक्ति उत्पन्न ही नहीं करता। ज्ञानयोगसे पहलेका संचित कर्म दग्ध हो जाता है। भक्तियोग हमें परमात्माके समीप ले जाता है और प्रपत्तियोग हमें परमात्माके ऊपर निर्भर कर देता है। श्रीरामानुजने सम्पूर्ण वेदको प्रामाणिक मानकर पूर्व-मीमांसा और वेदान्त—दोनोंको एक शास्त्र माना है।*

---

* यह सुन्दर लेख श्रीरामानुज-सम्प्रदायानुसार लिखित है। परमात्मा, आत्मा तथा जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें सिद्धान्तोंमें मतभेद हो सकता है, पर इसमें जिन साधनोंका वर्णन है, वे तो प्रायः सर्वमान्य हैं। —सम्पादक

सदुपयोगकी महिमा

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

बुद्धिमान् मनुष्यो ! तुम्हारे साथ शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धिसे लेकर इनके द्वारा गृहीत सभी वस्तुओं-तक जो कुछ भी है उसका सदुपयोग करना ही पुण्य-पथमें चलना है तथा आदिमें सुख और अन्तमें शान्ति प्राप्तकर जीवनको सार्थक बनाना है, इसके विपरीत प्राप्त वस्तु अथवा शक्तिका दुरुपयोग करना ही पाप-पथसे चलते हुए सुखके पीछे दुःख तथा घोर अशान्तिके गहन तलमें उतरकर जीवनको व्यर्थ नष्ट करना है।

रजोगुणकी प्रधानतामें अभिलषित वैध सुख-लाभके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे शक्तिका उपयोग कहा जा सकता है पर जिसे अपने लाभका ज्ञान ही नहीं है उसके द्वारा तमोगुणकी प्रधानतामें आलस्य-प्रमादवश केवल शरीर और इन्द्रियजन्य सुखोंकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न होता है वह तो शक्तिका दुरुपयोग ही है। केवल सत्त्वगुणकी प्रधानतामें ही बुद्धिनिर्णीत सुख और अन्तमें शान्ति-लाभके लिये जो प्रयत्न होता है वही शक्तिका सदुपयोग है। शुद्ध सात्त्विक बुद्धिसे ही तुम वह सत्य-ज्ञान-प्रकाश पा सकोगे जिसके द्वारा अपने अधिकारमें मिली हुई वस्तुओंका या शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियोंका सदुपयोग करना अत्यन्त सुगम होगा।

सुन्दर वस्तुओंकी प्राप्ति ही केवल सौभाग्यकी बात नहीं है या सुन्दर कही जानेवाली वस्तुओंका अभाव ही दुर्भाग्यका परिचायक नहीं है, वास्तवमें शुद्ध बुद्धिमें यथार्थदर्शिता ही सौभाग्यका परिचय देती है, इसीसे प्राप्त वस्तुओं या शक्तियोंका सदुपयोग सिद्ध होता है। शुद्ध बुद्धिमे प्राप्त सद्ज्ञानके द्वारा ही मानव सुलभ सुखों या सुखद पदार्थोंका सदुपयोग करते हुए दानी होता है और अभावजनित दुःखोंका सदुपयोग करते हुए त्यागी होता है। दानसे अभीष्ट सुखोंकी प्राप्ति और त्यागसे शान्तिकी सिद्धि होती है। यदि बुद्धि शुद्ध नहीं है तो जो कुछ भी अच्छी वस्तु तुम्हें मिली है उसका अमर्यादित विधिसे अभिमानपूर्वक भोग करते हुए तुम दुरुपयोग ही करोगे। युग-युगान्तरसे सदुपयोगका सत्परिणाम और दुरुपयोगका दुष्परिणाम मनुष्य देखता चला आ रहा है। कितने ही आदर्श महापण्डित, अद्वितीय विद्वान् तथा मृत्युको स्ववश-सा कर लेनेवाले महापराक्रमी शक्तिके दुरुपयोगके कारण ही राक्षस और दैत्यकोटिमें गिने गये। युगोंकी बात पीछे छोड़ दो, वर्तमान समयमें ही ऐसे बुद्धिशाली विद्वान् जो प्रकृतिकी शक्तियोंपर स्वतन्त्र आधिपत्य स्थापित कर स्वच्छन्दरूपसे आकाश-पातालमें घूम रहे हैं तथा संसारमें समयसे पूर्व ही प्रलय उपस्थित करनेकी शक्तिका परिचय दे रहे हैं और अन्यान्य लोकोंमें पहुँचनेका प्रयत्न कर रहे हैं; अपनी बड़ी-से-बड़ी शक्तिका दुरुपयोग करते हुए अशान्तिमय अन्धकारमें ही भटक रहे हैं। आज जिधर दृष्टि जाती है प्रायः उधर ही ऊँची-ऊँची कक्षाओंमें उत्तीर्ण होनेवाले बड़ी-बड़ी उपाधियोंसे सम्मानित शिक्षित व्यक्तिमें जितनी चरित्र-हीनता, बड़ी-बड़ी चोरी, छल-कपट, अहङ्कार-अभिमान, अर्थलोलुपता तथा भोगजन्य सुखोंकी तृष्णा दीख पड़ती है उतनी अशिक्षित समुदायमें नहीं है। यह भयानक कुरूपता तमोगुणी बुद्धिद्वारा शक्तिके दुरुपयोगके ही कारण है। वर्तमान समयमें जो विद्वान्, बलवान्, उच्चपदाधिकारी और धनी होकर अपनी शक्तिका दूसरोंके हितके लिये अथवा आत्मकल्याणके लिये सदुपयोग कर रहे हैं वे सज्जन नाममात्रको रह गये हैं। जिसकी बुद्धि सत्य-असत्यका विचार नहीं कर सकती, धर्मा-धर्म और कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय नहीं कर सकती,

सद्विवेक और यथार्थ ज्ञानसे रहित है उसके अधिकारमें किसी भी प्रकारकी सुन्दर वस्तुका होना उसी प्रकार भयावह है जिस तरह उन्मत्त मनुष्यके हाथमें बन्दूक, तलवारका होना है।

जिस किसीको अपने जीवनमें शक्ति-सदुपयोगके ज्ञानकी कमी प्रतीत हो, उसीसे यह निवेदन है कि तुम श्रेष्ठ और सुन्दरके संयोगसे अभिमानोन्मत्त न बनो और न श्रेष्ठ और सुन्दरके अभावमें अपने भाग्यको ही कोसते रहो। तुम्हारे लिये श्रेयास्पद यही है कि बुद्धिमान् और ज्ञानी पुरुषोंके संगसे शक्ति-सदुपयोगका ज्ञान प्राप्त करो। सद्ज्ञानका द्वार बुद्धिमान् और श्रद्धालु पुरुषोंको ही दीखता है। यदि तुम जीवनका अथवा जीवनकी सभी अवस्थाओंका सदुपयोग करना चाहते हो तो विनम्र बनो। विनम्रताका अर्थ है ज्ञानरूपी प्रकाशके सामने झुकना और उसे शिरोधार्य करना। विनम्र होकर ही श्रद्धाका परिचय दिया जा सकता है और श्रद्धालु ही ज्ञान प्राप्त करता है। यथार्थ ज्ञानके द्वारा ही जीवनका और जीवनके साथ सब कुछका सदुपयोग होता है।

संसारमें वे ही यथार्थ ज्ञानी, संत और महापुरुष कहे जाते हैं जो सभी अवस्थाओं और परिस्थितियोंका सदुपयोग करते हैं। वे बलवान् होकर निर्बलोंके संरक्षक होते हैं, अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये उत्पीड़क, शोषक और संहारक नहीं होते; वे विद्वान् होकर परार्थी और परमार्थी होते हैं; इन्द्रियार्थी, सुखार्थी और अनर्थकारी नहीं होते। वे धनवान् होकर उदार हृदयसे धर्म और कर्तव्य-पथमें दानी होते हैं; कृपण, दरिद्र और कंजूस नहीं होते। वे सुख-सम्पत्ति पाकर दुखियोंकी सेवा करते हैं, मिथ्याभिमानी और भोगी नहीं बनते। वे सर्वाधार परमात्माके योगी भक्त होते हैं, देहादि अनात्म पदार्थोंके संयोगाभिमानी बनकर विभक्त नहीं होते। महापुरुष ही भूले हुए लोगोंके पथ-प्रदर्शक हैं, पतितोंको उठानेवाले हैं।

तुम बुद्धिशाली होकर विद्वान् बनो और विद्याके द्वारा संसारकी प्रत्येक वस्तु और व्यक्तिके पीछे सर्वाधार सत्यका ज्ञान प्राप्त करो, शक्ति-संचयकर तुम दूसरोंका हित ही करो, अहित नहीं; परोपकारी बनो, अपकारी नहीं; गिरतेको उठानेवाले बनो, किसीको गिरानेवाले नहीं। ऊपरकी ओर बढ़ो, नीचेकी ओर न देखो! परमात्माके भक्त बनो, संसारमें आसक्त नहीं। प्रत्येक आकृतिके पीछे प्रकृतिको देखो, प्रकृतिके पीछे कारण-तत्त्वको देखो। क्रियाके पीछे भाव और भावके पीछे विचार देखना ही बुद्धिका सदुपयोग है। बुद्धिके सदुपयोगद्वारा मोह, माया, मान, सुख तथा दुःखके बन्धनसे, सांसारिक पदार्थोंकी ममता एवं अहंकारसे मुक्त होकर परम शान्तिको प्राप्त होना ही जीवनका सदुपयोग है।

कलियुगकी महिमा

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

—तुलसीदासजी

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(सङ्कलनकर्ता—एक सत्सङ्गी)

(१) भगवान्‌के अवतार दो प्रकारके होते हैं— जनानुकरणयुक्त और जनानुकरणरहित । कच्छप, नृसिंह आदि अवतार जनानुकरणरहित हैं; इनमें भगवान् किसी माता-पितासे जन्म ग्रहण नहीं करते; भगवान् गर्भमें रहे, ऐसी लीला नहीं होती । पर जनानुकरणयुक्त अवतारोंमें उनकी स्वप्रकाशिका शक्ति माता-पिताके रूपमें अवतरित होती है, क्योंकि भगवान् ज्ञानमय हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, उनका विशुद्ध सत्त्वके बिना प्राकट्य नहीं होता ।

(२) हमारा ज्ञान चित्तकी वृत्तिविशेष है, भगवान्‌का ज्ञान स्वरूपभूत है । अतएव भगवान्‌का नाम 'ज्ञानस्वरूप' है ।

(३) संसार-नदीसे तरनेके लिये सुनिश्चित नौका भगवच्चरणारविन्द ही है । साधारण नदीसे पार जानेपर भी आना-जाना लगा ही रहता है; पर भव-नदी कुछ विचित्र है । यहाँसे जो उस पार चला जाता है, वह कभी वापस नहीं आता । और इस भव-नदीसे पार होना श्रीगोविन्द-चरण-नौकाके बिना प्रायः सम्भव नहीं है । जो लोग नौकासे नदी पार करते हैं, वे नौकाको साथ ले जाते हैं और जबतक वे नहीं लौटते, इस ओरवाले पार नहीं हो पाते । श्रीभगवच्चरण-नौकासे पार होनेवाले भव-नदी पार होनेपर लौटते तो नहीं, पर नौकाको यहीं छोड़ जाते हैं, जिससे जो चाहे उसका आश्रय लेकर सहज ही पार हो जाय ।

(४) असंख्यों वीर चाहे करोड़ों वर्षोंतक नाना शस्त्रादिसे अन्धकारको मारें-काटें, पर वह मरता और कटता नहीं; किंतु जरा-सी प्रकाशकी किरण आयी कि वह अभेद्य अन्धकार विलीन हो जाता है । ऐसे ही भगवान्‌के चरणोंका आश्रय न करके करोड़ों दूसरे प्रयत्न किये जायँ, पर यह भव-सागर 'गोष्पद' नहीं होता । जो भगवान्‌के शरणापन्न हो गये, उनके लिये भव-सागर तरना बड़ा तुच्छ कार्य है ।

(५) कोई चाहे वह हाथ-पैर मारकर इस भवार्णवसे पार हो जाय तो कभी भी सफल नहीं होता । पर जो 'अगतिके गति'के चरणोंकी शरण हो जाता है, वह पार पहुँच जाता है ।..........भगवान्‌के चरण सबके लिये प्राप्त होनेपर भी मूढ़ जीव उनकी ओर नहीं जाता ।

(६) जबतक भगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं होता, तभीतक यह भवार्णव भयानक एवं दुस्तर है । पर जहाँ श्रीभगवच्चरणारविन्दका आश्रय हुआ कि यह तुच्छ गोष्पद हो जाता है । गोष्पद ही नहीं, सूख जाता है— नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं ।

(७) मुक्ति, मुक्ति, सिद्धि—किसीकी भी कामना न कर शुद्ध प्रेमभावसे श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति करना ही श्रीभगवच्चरणाश्रय है । शुद्ध भक्तिमें केवल प्रेमपरिपूर्ण हृदयसे भगवान्‌की लीलाका श्रवण, मनन एवं चिन्तन रहता है; उसमें यही साधन और यही फल है ।

(८) सत्कुलका क्या अर्थ है ?—जिस कुलके लोग संसारसे मुक्त हों, जिस कुलमें शास्त्रोंकी मर्यादाका पालन होता हो, जो कुल मोक्षकी ओर जानेवाले लोगोंसे युक्त हो ।..........सत्कुलमें जन्म होना, शास्त्रका अध्ययन करना और तपपरायण होना—ये मोक्षकी तीन सीढ़ियाँ हैं ।

(९) श्रीभगवान्‌के चरणोंकी शरण होनेपर फिर विद्या, तप, कुल आदिकी भी आवश्यकता नहीं रहती । जो श्रीगोविन्द-चरणाश्रित न होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये कुल, शास्त्राध्ययन एवं तपकी

आवश्यकता होती है (और उसमें भी यह निश्चय नहीं कि वे अपने प्रयत्नमें सफल हो ही जायँ)।

(१०) जो सती पतिपरायणा है, वह शृङ्गार आदिसे रहित भी हो, तो भी पति उसकी सेवासे प्रसन्न होकर उससे प्रेम करता है । ऐसे ही जो भक्त भगवान्‌की सेवामें रहते हैं उनके लिये कुल, तप आदि बाहरी गुणोंकी आवश्यकता नहीं है । उनकी विशुद्ध सेवासे ही प्रसन्न होकर भगवान् उनपर कृपा करते हैं ।

(११) जो श्रीभगवान् और उनके भक्तोंका अपमान करते हैं उनपर कभी भी कृपा नहीं होती । श्रीभगवान् और उनके भक्तोंका चरणाश्रय ही जीवको पार करता है । और सच तो यह है कि श्रीभगवत्-भक्त-चरणाश्रयके बिना श्रीभगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं प्राप्त होता ।

(१२) भगवान्‌के भक्तोंकी अवज्ञा करके अथवा उनके साथ सम्बन्ध न रखकर जो भजन करता है, उसका भजन व्यर्थ जाता है ।

(१३) भक्तिमार्गका साधक बड़ा चौकन्ना रहता है; वह डरता है कि मुझसे कोई अपराध न बन जाय। अतएव उससे ज्ञानकृत (जान-बूझकर किये गये) अपराध नहीं होते । जो ज्ञानके उपासक हैं उनसे भी जान-बूझकर कोई अपराध नहीं बनते । पर जो लोक-प्रतारणाके लिये ज्ञानका दम्भ करते हैं, उनके द्वारा ज्ञानकृत अपराध होते रहते हैं । निरन्तर चौकन्ना रहनेपर भी भक्तके द्वारा अज्ञानकृत अपराध तो बन ही जाते हैं । पर भक्तोंको भगवान्‌का सहारा होता है, वे भगवान्‌के आश्रित होते हैं; उन्हें बचानेवाले भगवान् विद्यमान हैं । अतएव अज्ञानकृत अपराधोंसे भगवान् उन्हें मुक्त कर देते हैं ।

(१४) भगवान्‌के परम आश्रित जो अनुरागी भक्त हैं उनका मन पाप-पुण्यसे दूर होता है; वे पाप-पुण्यका चिन्तन नहीं करते; वे चिन्तन करते हैं भगवान्‌का । उनके मनमें सिवा भगवच्चिन्तनके और कुछ होता ही नहीं । अतएव निषिद्ध कर्मोंमें—पापोंमें उनका मन जाता ही नहीं । पर कहीं अनजानमें कोई पाप हो भी जाय तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं ।

(१५) वनमें आग लगती है तो पेड़ जल जाते हैं, परंतु उनकी जड़ शेष रह जाती है । ऐसे ही अन्यान्य साधनोंसे जिन पापोंका नाश होता है वे निर्मूल नहीं होते; उनकी जड़ प्रायः रह जाती है । पर जिन्होंने श्रीभगवान्‌का चरणाश्रय ले रक्खा है उनके पाप समूल नष्ट हो जाते हैं; उनके पापोंके पुनः अङ्कुरित होनेका डर नहीं रहता ।

(१६) भगवान्‌के चरणोंका आश्रय करनेपर जीवको अनायास मुक्ति मिलती है, पर भगवान्‌के चरणोंका अनाश्रय करनेपर विभिन्न साधनोंके द्वारा सिद्धिके पदपर आरूढ होनेपर भी स्खलन—पतन हो जाता है ।

(१७) भक्तिसे रहित जो ज्ञान या योग है वह ब्रह्मका साक्षात् तो कराता है, पर उसमें बड़े विघ्न हैं; किंतु भक्तियोग परम स्वतन्त्र है, विघ्नरहित है । उसमें श्रीगोविन्द-चरणोंका आश्रय रहता है । भक्ति निरपेक्ष है । अतएव भक्तिके उपासकको ज्ञान, योग आदिकी आवश्यकता नहीं रहती ।

(१८) भक्त प्रारम्भसे ही भगवत्कृपाकी डोरीसे बँधे हुए चलते हैं । अतएव जहाँ पैर फिसला कि भगवान्‌ने डोरी खैंची । इससे भक्त कभी गिरते नहीं ।

(१९) जो श्रीभगवान्‌के चरणाश्रित भक्त हैं, उनकी नित्य प्रार्थना होती है कि हमें चरण-सेवा मिलती रहे। अतएव भगवान् अपने स्वभाववश उन्हें अपनी चरण-सेवा ही देते हैं ।

(२०) भगवान्‌के चरणोंका आश्रय करके जो

भगवान्‌के हो जाते हैं, वे कभी गिरते नहीं; क्योंकि भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। भक्त किसी भी प्रकारके विघ्नसे डरते नहीं, क्योंकि विघ्नोंका नाश करनेवाले भगवान् उनके सहायक जो हैं। विघ्नोंका सेनापति भी आ जाय तो भी वे विचलित नहीं होते।

(२१) भक्तोंमें निरन्तर दैन्य बढ़ता रहता है। पद-पदपर भगवत्कृपाका अनुभव करते रहनेसे उनमें सरलता बढ़ती है और भगवान्‌की कृपाको निरन्तर अनुभव करनेकी लालसा बढ़ती है। अतएव वे कभी गिरते नहीं और कहीं गिरते भी हैं तो भगवान् अपने-आप उनको बचाते हैं, उनका निर्वाह करते हैं और उन्हें अपने धाममें ले जाते हैं।

(२२) भगवान्‌की स्वप्रकाशिका शक्ति है विशुद्ध सत्त्व; वही वसुदेव हैं। श्रीभगवान् उससे अपनेको प्रकट किया करते हैं।

(२३) भगवान्‌के रूपदर्शनमें उनकी कृपा कारण है, न कि भौतिक प्रकाश। भगवान्‌की कृपा होनेपर अन्धा मनुष्य भी घने अन्धकारमें भी उनके दर्शन कर सकता है। पर भगवान्‌की कृपा न होनेपर करोड़ों सूर्योंका प्रकाश तथा करोड़ों आँखें प्राप्त होनेपर भी उनका दर्शन नहीं हो सकता।

(२४) सारे दुःखोंका आत्यन्तिक नाश हो जाय और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाय—यह भगवान्‌के चरणोंकी कृपा बिना नहीं होता। कर्मफलरूप स्वर्गादिकी प्राप्ति हो सकती है, पर वहाँ दुःखोंका आत्यन्तिक क्षय नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म-सायुज्यमें जीवोंके दुःखोंका तो आत्यन्तिक नाश हो जाता है पर उन्हें प्रेममय परमानन्दका भोग नहीं मिलता। श्रीभगवान्‌के चरणाश्रित भक्त आनन्द-समुद्रसे उठी हुई आनन्द-तरङ्गोंका उपभोग करते हैं।

(२५) भगवान्‌का श्रीविग्रह क्या है?—दिव्य अनन्त आनन्दकी घनीभूत मूर्ति। क्षुद्र विषय-सुखसे लेकर ब्रह्मानन्दतक सब उस घनीभूत आनन्द-समुद्रके बिन्दुकण मात्र हैं।

(२६) भक्तोंकी उत्कण्ठासे ही भगवान् अपनी नित्य सिद्ध मूर्तिको प्रकट करके लीला करते हैं।

(२७) जीव अपने दुःखकी गाथा भगवान्‌के सामने रखना जाने या न जाने, भगवान् उसके लिये जो हित है, वह स्वतः करते रहते हैं। पर जब किसी-पर दुःख पड़ता है, तब वह भगवान्‌के अन्तर्यामी स्वरूपको जानते हुए भी चिल्ला उठता है—'भगवन्! मेरी रक्षा करो।' बस, यहींपर गलती होती है।

(२८) भगवान् जगत्‌में आते हैं—रसास्वादनके लिये; अपने दिव्य आनन्द-रसका स्वयं पान करनेके लिये; अपने सखाओंके द्वारा सख्यरसका, अपने प्रेमियों-द्वारा मधुररसका और अपने माता-पिता आदिके द्वारा वात्सल्य-रसका। इन रसोंका भगवान् स्वयं आस्वादन करते हैं और अपने माता-पिता-सखा आदिको कराते हैं।

(२९) भगवान्‌का जन्म अलौकिक है। वात्सल्य-प्रेममयी कौसल्या या देवकी-यशोदाको इस प्रकारकी प्रतीति होती है कि मेरे पेटमें बालक है तथा गर्भके सब लक्षण भी दीखते हैं। पर वास्तवमें भगवान् न तो जीवकी भाँति गर्भस्थ होते हैं और न माताके खाये हुए अन्नसे बनते हैं। जो गर्भस्थ होता है तथा माताके खाये हुए अन्नसे बनता है, वह अविनाशी नहीं होता, न दिव्य ही होता है। पर भगवान्‌का शरीर तो सच्चिदानन्दस्वरूप है, भगवान् ही है।

(३०) अन्तर्यामीरूपमें भगवान् सबके हृदयमें हैं, पर प्रेमियोंके हृदयमें वे प्रेमके सम्बन्ध-रूपसे रहते हैं, जैसे वात्सल्यभाववालेके हृदयमें पुत्ररूपमें, माधुर्य-भाववालेके पतिरूपमें, सख्यभाववालेके सखारूपमें आदि।

(३१) भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय सरूपका दर्शन किसीको होना, न होना—यह भगवान्‌की इच्छा-पर निर्भर है ।

(३२) मनुष्य भगवान्‌को देखकर भी अपनी बहिर्मुखताके कारण विपरीत भावको प्राप्त होता है और भगवान्‌के माधुर्यको नहीं देख पाता । प्रेमी भक्तोंमें भी प्रेमके तारतम्यके अनुसार आनन्द-आस्वादनमें तारतम्य होता है ।

(३३) श्रीकृष्ण-प्रेमका यह स्वभाव है कि भक्त अपनेको तो भूल जाता है, पर श्रीकृष्णके साथ अपना क्या सम्बन्ध है और उनकी सेवा क्या, कैसे करनी है—यह वह कभी नहीं भूलता ।

(३४) भगवान्‌को देखनेकी, पानेकी वासना-कामना जिनके मनमें जाग्रत् हो जाय—वहाँ कोई बन्धन रहता है क्या ? बन्धन तभीतक है, जबतक हमारे मनमें जगत्‌के भोगोंकी वासना है ।

(३५) दो प्रकारके संसारमें लोग हैं—दीन और अदीन । अधिक लोग दीन हैं, दीनात्मा हैं—यह चाहिये, वह चाहिये, इसकी कमी है, उसकी कमी है—अर्थात् वे जीवनभर त्रुटिका ही अनुभव करते रहते हैं।····जो कामनावाले हैं, जिनके मनमें तृष्णा है, जो सदा अभावका अनुभव करते हैं वे दीन हैं । वे सदा दुखी रहते हैं । दूसरी श्रेणीके लोग अदीन हैं, जिनको कभी किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती । ऐसे अदीन वे हैं, जो सदा भगवान्‌के भावमें तन्मय रहते हैं, जिन्हें कभी भी अभावका बोध होता ही नहीं ।

(३६) कोई भाग्यवान् व्यक्ति निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति करता है तो भगवान् अपने सच्चिदानन्द-विग्रहसे उसके सामने प्रकट होते हैं । पर श्रीभगवान्‌को भजकर, भगवान्‌की आराधनाके बदलेमें भगवत्प्रेमके बदलेमें जो भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि चाहते हैं वे भक्त ही नहीं हैं, वे भक्तिके महत्त्वको जानते ही नहीं । भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि—ये भक्तिके वास्तविक फल नहीं हैं; भुक्ति, मुक्ति और सिद्धि तो भक्तिकी चेरी हैं । वस्तुतः भगवान्‌के दिव्य लीला-विग्रहका दर्शन, उसकी सेवा—यही भक्तिका, भगवत्प्रेमका फल है ।

जिंदगी बेकार न हो जाय

डरते रहो यह जिंदगी बेकार न हो जाय ।
सपने में किसी जीव का अपकार न हो जाय ॥
सेवा करो निज धर्म की शुभकर्म हरि-भजन ।
इतना भी करके तुम को अहंकार न हो जाय ॥
पाया है तन अमोल सदाचार के लिये ।
विषयों में फँस के तुम से अनाचार न हो जाय ॥
मंजिल असल मुकाम की तै करना है तुम्हें ।
जग ठगनगर में फँस के गिरफ्तार न हो जाय ॥
'माधव' लगी है बाजी माया-मोह-जाल से ।
धोखे में पड़ के अब की कहीं हार न हो जाय ॥ —'माधव'

मैं परीक्षाके योग्य नहीं

('दुर्गेश')

मैं बढ़ती जाती थी अल्हड़ बालिका-सी निश्चिन्त। न कोई उद्देश्य था, न उसकी पूर्तिकी चिन्ता थी। हाय ! अचानक देखा तुमको हृदयाङ्गणमें खड़े और बस, तभीसे उस जीवनक्रममें गड़बड़ी आ गयी। पहले मेरे सामने न कोई पाप था, न पुण्य। अपने आमोद-प्रमोदमें मस्त रहना ही कार्य था इस जीवनका। परंतु अब ? अब क्या, जीवन ही कुछ पलट-सा गया। कुछ पीड़ाका अनुभव हुआ, कुछ प्यारका और मिली बढ़ती हुई अलमस्ती। मैंने हृदयासन बिछा दिया तुम्हारे विराजनेके लिये, किंतु मायाके झोकोंने सब अस्तव्यस्त कर दिया। तुम मायाके पर्देकी ओटमें खड़े मुसकराते रहे। मैं पुनः अपने मायिक साथियोंके साथ खेलने लगी। मुझे मायामें फँसी देख एक ठोकर दी तुमने, पर्दा हिला, मुझे कुछ चेत हुआ जैसे स्वप्नसे जागी होऊँ। कुछ समयतक यही क्रम चला। कभी दुःखके, कभी सुखके विकारसे ग्रस्त हो मैं तुम्हें भूलती। तुम मुझे प्यारकी थपकी दे-देकर जगाते, सान्त्वना देते। पता नहीं, कबसे—कब तुमने हृदयपर आसन जमा दिया। मैं कृतार्थ हो गयी। एक दिन अचानक इस देहका भाई चल बसा। मैं विकल हो तुम्हारे चरणोंपर गिर पड़ी। मैंने अनुभव किया तुम अपने दयार्द्र हस्तकमल मेरे घावोंपर फेर रहे हो। मैं गद्गद हो गयी। एक दिन सुना मैंने,—तुमने मेरा तबादला—स्थानान्तर (कन्यासे गृहिणीके रूपमें)········से········ग्राममें कर दिया। मैं दंग रह गयी। अब क्या करूँ। स्थानोंसे तो मुझे कुछ भी उलझन नहीं। तुम्हारी कृपासे मेरे लिये स्वर्ग और नरक भी बराबर है। केवल तुम मेरे हृदयमें बसे रहो ! उलझन तो इस बातकी है कि यदि तुमने मेरे हृदयका एक कोना भी रिक्त छोड़ा होता तो उसमें मैं अपने नये स्वामी—इस देहके स्वामीका आसन लगाती ! मैं तुम्हारे चरणोंको पकड़कर रो पड़ी, किंतु तुम गम्भीर ही बने रहे। मेरा हृदय टूटने लगा ! तुम्हारी इच्छाको भला कौन रोक सकता है ? इस देहका विवाह कर दिया गया। मैंने समझा, मेरी किसी कर्मीको पूर्ण करनेके लिये, किसी अधूरी साधनाको पूर्ति करानेके लिये ही मेरे प्रभुने यह अपना प्रतीक प्रकट किया है। मैंने भी इनको अपने प्रभुका प्रतीक समझकर चरणोंमें सिर रख दिया। मैंने अपने हृदयमें देखा—तुम्हारा हस्तकमल सस्नेह मुझपर फिर रहा है। मेरी सारी उलझनें सुलझ गयीं। दिल हल्का हो गया। आज सवा साल हो चुका मुझे इस स्थितिमें। मैं अनुभव करती हूँ—विषयवासनाओंके झोंके आते हैं, मैं काँप उठती हूँ। मैंने समझा, प्रभुने हृदयासनका त्याग कर दिया, पर देखती हूँ तुम पूर्ववत् विराजमान हो। तब क्या मेरी परीक्षा ले रहे हो ? प्रभो ! मैं परीक्षाके योग्य नहीं, दयाके योग्य हूँ। यदि मैं तुमको भूलकर कहीं विषयोंमें फँस गयी तो तुम्हारा ही इतना उद्योग व्यर्थ जायगा। इसीलिये निवेदन करती हूँ कि मैं परीक्षाके योग्य नहीं !

मैं निश्चिन्त हो चुकी अर्पण कर तुझको तन-मन-जीवन।
हे नाविक ! ले चल मुझको अब वहीं, जहाँ हो तेरा मन॥

आहार-शुद्धि

(लेखक—श्रीहरिरामजी गर्ग)

सब साधनोंमें प्रथम साधन अन्नकी शुद्धि है। जबतक अन्न शुद्ध न होगा, तबतक कोई साधन हो ही नहीं सकता। अन्नशुद्धिके बिना साधन किये भी जायँ तो फलप्रद नहीं होते। अशुद्ध अन्नके सेवनसे पवित्र पुरुषका मन भी मलिन हो जाता है। इसीलिये ऋषियोंने अन्नशुद्धिपर बहुत विचार किया है। अन्नकी अशुद्धिमें संतों एवं शास्त्रोंने तीन दोष बतलाये हैं—

१—उपाय-दोष—कपट, झूठ, छल, अन्याय आदिसे द्रव्योपार्जन। व्यापारमें झूठ, छल, विश्वासघात, चोरी, नौकरीमें घूसखोरी, कामचोरी तथा जुआ, डकैती, ठगी, चोरी आदिसे जो धन आता है, वह दूषित है।

२—स्वरूप-दोष—गीताजीमें वर्णित रजोगुणी एवं तमोगुणी पदार्थ। ऐसे पदार्थ जो शीघ्र न पचें, कब्ज करें, बुद्धिको विकृत करें या वीर्यक्षय करें।

३—क्रिया-दोष—रसोई-स्थानकी तथा बर्तन आदिकी अशुद्धि, रसोई बनानेवालेकी शारीरिक एवं मानसिक अशुद्धि, रसोई बनानेकी विधिमें अशुद्धि, भोजन करनेवालेकी शारीरिक एवं मानसिक अशुद्धि, बलिवैश्वदेव न करना, भगवदर्पण किये बिना भोजन करना। अतिथि-साधु आदिको अन्न न देना। बालक, वृद्ध, गर्भिणी स्त्री, रोगीसे पहले भोजन करना। भोजनमें भेदभाव करना। सेवकों, घरके सदस्योंको स्वादिष्ट पदार्थोंका उचित भाग न छोड़ना। भूखसे अधिक भोजन करना। पङ्क्तिभेद और दृष्टि-दोष आदि।

इनमेंसे प्रत्येक दोषपर पृथक्-पृथक् विचार करना सुविधाजनक है।

उपाय-दोष

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति ५। १०६)

समस्त शौचोंमें अर्थशौच प्रधान है। जो पदार्थ उपार्जनमें पवित्र है—न्यायोपार्जित है, वही वस्तुतः पवित्र है। जो अधर्म या अन्यायसे उपार्जित है, वह स्वरूपसे पवित्र होने तथा मिट्टी और जलद्वारा पवित्र किये जानेपर भी पवित्र नहीं है। अतएव अन्नदोषोंमें सर्वप्रथम स्थान उपार्जनकी अपवित्रताका है। जो अन्न न्याय एवं धर्मपूर्वक पैदा नहीं किया गया है, जो अन्याय तथा अधर्मके द्रव्यसे आया है, वह चाहे जितना सात्त्विक हो, शुद्ध रीतिसे बनाया जाय, पर वह हमारी बुद्धिको अवश्य मलिन करेगा।

शास्त्रकारोंने अपने-आप न्यायपूर्वक उपार्जित धनको उत्तम धन माना है। पैतृक सम्पत्तिपर निर्वाह करना मध्यम स्थिति मानी गयी और माताकी निजी सम्पत्तिसे समर्थ पुत्र जीविका चलाये, यह निकृष्ट स्थिति है। और स्त्री-धन—पत्नीके पितृगृहसे प्राप्त सम्पत्ति तो पुरुषके लिये अत्यन्त निन्दित मानी गयी है। यह समाजका दुर्भाग्य है कि लड़कोंके माता-पिता लड़केके विवाहके अवसरपर और पीछे भी लड़केकी स्त्रीके माता-पिता आदिसे अधिक-से-अधिक सम्पत्ति लेनेका प्रयास करते हैं। यह धन—'दहेज'मे प्राप्त यह सम्पत्ति सर्वथा निन्दित है। यह स्त्री-धन तो कन्याके माता-पिता आदिकी प्रसन्नतासे जितना आये, उतना ही उचित है और वह भी उस कन्याके पतिकुलके उपयोगमें नहीं आना चाहिये। वह तो स्त्री-धन है और सर्वथा उस स्त्रीके लिये ही सुरक्षित रहना चाहिये।

दानका द्रव्य आपत्तिकालको छोड़कर ब्राह्मणको भी नहीं लेना चाहिये। शूद्र, अन्त्यज, विधर्मी, आचारहीन, अधर्मपरायण, वेश्या तथा राजाका द्रव्य सबके लिये सर्वथा ही त्याज्य है। इनके अतिरिक्त, वे सब धन और पदार्थ भी वर्जित हैं, जो न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त न हुए हों। यदि ऐसा कोई पदार्थ, जो न्यायोपार्जित नहीं है या उपर्युक्त लोगोंमेंसे किसीका है, प्राप्त होता है और उस उपहारको अस्वीकार करना उचित नहीं लगता, तो उसे लेकर तुरंत किसी अच्छे कार्यमे लगा देना चाहिये। उसको अपने उपयोगमें तो नहीं ही लेना चाहिये।

न्यायपूर्वक अपने श्रमसे जो द्रव्य उपार्जित किया जाय, उसका भी दशांश दान करनेपर जो बचे, वही शुद्ध द्रव्य है और उसीसे प्राप्त अन्न उपाय-दोषहीन शुद्ध अर्थ है। उपार्जनके सम्बन्धमें भी प्रत्येक वर्ण एवं आश्रमके लिये शास्त्रने कुछ मर्यादाएँ निश्चित की हैं। उन मर्यादाओंकी रक्षा करते हुए उपार्जन ही धर्मोपार्जन है। अतः उन मर्यादाओंपर भी विचार करना चाहिये।

ब्राह्मणकी आजीविका विद्या पढ़ना-पढ़ाना, दान लेना, यज्ञ कराना आदि कही गयी । ब्राह्मणको मूल्य निश्चित करके अध्यापन नहीं करना चाहिये । उसे कर्तव्यबुद्धिसे ही बिना भेदभावके अध्यापन करना चाहिये । शिष्य तथा उनके अभिभावक श्रद्धापूर्वक जो भी दें, प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेना चाहिये तथा अधिककी माँग नहीं करनी चाहिये । इसी प्रकार दक्षिणा निश्चित करके जप, पाठ, यज्ञ आदि करना भी ब्रह्म-विक्रय कहा गया है और इसे अत्यन्त निन्दित कर्म माना गया है । ब्राह्मणको दान केवल द्विजातिसे लेना चाहिये । और उसमें भी राजा, कदाचारी, अधर्मीका या अन्यायोपार्जित द्रव्य नहीं लेना चाहिये । जो दान निष्कामभावसे दाता दे रहा हो, वही उत्तम है । ब्राह्मण-बालकोंको भी जहाँतक सम्भव हो, घरके द्रव्यसे ही अध्ययन करना चाहिये । आजकल प्रायः तामस दान ही प्राप्त होता है । अधर्मी लोग अन्यायोपार्जित द्रव्य किसी कामनासे ही देते हैं । ऐसे द्रव्यसे प्राप्त अन्न बुद्धिको विकृत करता है । फलतः अनेक दोष बालकोंमें आते हैं । यदि ब्राह्मणका काम इनसे न चले तो उसे क्षत्रिय या वैश्यके समान आजीविका करनी चाहिये ।

क्षत्रियोंके लिये प्रजाकी रक्षा करना और ब्राह्मणको छोड़कर शेष वर्गसे प्राप्त करपर जीवन-निर्वाहका शास्त्रोंने विधान किया है । पर वर्तमान समयमें ऐसी आजीविका रह ही नहीं गयी । अब तो सेनामें भर्ती होना या फिर वैश्यकी आजीविका—यही बची है । सेनामें आजकलका ढंग केवल नौकरीका है और यह शूद्रवृत्ति है । ब्राह्मण और क्षत्रियको आपत्तिमें भी शूद्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ।

वैश्योंके लिये व्यापार, खेती और गोपालन आजीविकाके शास्त्रीय साधन हैं । शुद्ध व्यापार वही है जिसमें झूठ, छल, कपट, अन्याय और छिपावसे काम न लिया जाय । व्यापारीको जुआ नहीं खेलना चाहिये और यह स्मरण रखनेकी बात है कि सट्टा भी जुआ ही है । ग्राहक चाहे जो हो, सबको आदरपूर्वक समान भावसे वस्तु देनी चाहिये । न तो कम तौलना या नापना चाहिये और न दूसरे किसी प्रकारसे धोखा देनेका प्रयत्न करना चाहिये । निषिद्ध वस्तुओंका व्यापार नहीं करना चाहिये । इनमें नील, चपड़ा, लाख, सींग, हड्डी, चमड़ा, चर्बी, मादक द्रव्य—अफीम, गाँजा, तम्बाकू, सिगरेट, बीड़ी-शराब आदि तथा हानिकर पदार्थ—नकली घी-जैसे द्रव्य तथा वे पदार्थ, जिनमें मांस, अण्डे आदि पड़ते हों—जैसे अपवित्र बिस्कुट प्रभृतिका व्यवसाय अच्छा नहीं है । किसी वस्तुमें कोई मिलावट नहीं करनी चाहिये और यदि वस्तुमें कोई दोष हो अथवा किसी प्रकार रखनेसे, पुरानी होनेसे आ गया हो तो उसे स्पष्ट ग्राहकको बता देना चाहिये ।

सभी प्रकारके व्यापारोंमें जो छल और ग्राहकको ठगने तथा उससे अधिक-से-अधिक पैसा लेनेकी वृत्ति चल पड़ी है, यह अधर्म है । घी, तेल, अन्न, दूध आदि पदार्थोंमें दूसरे द्रव्य मिला देना, एक नमूना दिखाकर दूसरा माल दे देना, उचितसे अधिक मूल्य लेना आदि कार्य पाप है । इसी प्रकार अपवित्र वस्तुओंका व्यवसाय और उन्हें दूसरारूप देना भी पाप है । सबको सचाई, ईमानदारी, शुद्धताका पूरा ध्यान रखकर ही व्यापार करना चाहिये । ऐसा शुद्ध व्यापार निष्कामभावसे किया जाय तो परमार्थका उत्तम साधन हो जाता है ।

व्यापारमें जो उत्पादक वर्ग है, उसको विशेष सावधान रहना चाहिये । किसी हानिकर वस्तुका उत्पादन न किया जाय । नकली घी, शराब, सिगरेट, नकली तैल आदिका उत्पादन अधर्म है । ऐसे ही जो पुस्तकोंके प्रकाशक हैं, उन्हें भी गंदे, विकारोत्पादक, धर्मविपरीत साहित्यका (ग्रन्थ और पत्र आदिका) प्रकाशन नहीं करना चाहिये । गंदे चित्रादि सर्वथा ही नहीं छापने चाहिये ।

कृषिको व्यापारकी अपेक्षा उत्तम माना गया है; किंतु इसमें भी धर्मपूर्ण व्यवहार ही होना चाहिये । अन्न आदि जो बाजारमें लाया जाय, जैसा हो वैसा ही दिखाया और कहा जाय । उसे गीला न रक्खा जाय । धोखा देनेका प्रयत्न न किया जाय । पशुओंको पर्याप्त चारा दिया जाय । उनकी पूरी सेवा हो और उनसे क्रूरतापूर्वक काम न लिया जाय । उनकी शक्तिके अनुसार ही श्रम उनसे कराया जाय । अपने पशु दूसरोंके खेतोंमें न चराये जायँ । दूसरोंको किसी प्रकार हानि न पहुँचायी जाय । दूसरोंके खेतसे कुछ न लें । दूसरोंके अधिकारकी खाद, जल आदिका उपयोग न किया जाय । न्याय एवं धर्मपूर्वक ही सब व्यवहार हों । इसके साथ ही नील, लहसुन, प्याज, तम्बाकू आदि अपवित्र एवं हानिकर पदार्थ उत्पन्न न किये जायँ । खेतोंमें गंदी खाद न दी जाय । गोबरकी खाद दी जाय । खेतोंमें ही पशुओं, पक्षियों, बंदरों आदिका भी भाग है । इनके साथ क्रूरता नहीं करनी चाहिये । इनको हटानेमें दया और संयमसे काम लेना चाहिये । अन्नको अनुचित लाभ उठानेके लिये जमा नहीं करना चाहिये ।

गोपालन वैश्यकी तीसरी आजीविका है । गाय या

भैंसको पूरा चारा तब भी मिलना चाहिये जब वह दूध न देती हो । वृद्ध पशुओंकी सेवाका पूरा ध्यान रक्खा जाय तथा रोगी, अपंग पशुओंकी चिकित्सा, सेवा कर्तव्य समझा जाय । पशुओंके बच्चोंको कम-से-कम जबतक वे भली प्रकार दूसरे पदार्थ न खाने लगें; पर्याप्त दूध पीने देना चाहिये । उनका भी भाग दुह लेना तो बहुत नीच कर्म है; फिर फूँका आदि नृशंस उपायोंसे दूध लेनेके महापापकी तो चर्चा ही क्या । पशुओंके बच्चे जब दूसरे तृणादि खाने लगें, तब भी उनको कम-से-कम उनकी माताके दूधका कुछ अंश तो मिलना ही चाहिये । उनके चारेकी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये । दूधमें, मक्खनमें, घृतमें जल या दूसरे पदार्थ मिलाकर बेचना सदा नैतिक अपराध है ।

इस प्रकार व्यापारमें सर्वत्र सत्य, ईमानदारी और शुद्धताका ध्यान रखने तथा उसका पूर्ण पालन करनेसे जो आय होती है, वही शुद्ध द्रव्य है और उनके द्वारा प्राप्त अन्न ही पवित्र अन्न है ।

शूद्रकी आजीविकाका साधन है सेवा । विशुद्ध भावसे उसे पूरी शक्तिसे सेवा करना चाहिये । सेवा तभी ठीक होगी जब मनमें सन्तोष हो । अधिक-से-अधिक पानेकी आशा और कम-से-कम श्रम करनेकी इच्छा अपराध है । सेवकको स्वामि-द्रोही अथवा कामचोर कभी नहीं होना चाहिये । और स्वामीको सेवकके प्रति अपनी ही सन्तानके समान स्नेह रखना चाहिये ।

जो लोग कहीं भी नौकरी करते हैं, उन्हे अपने अवैधरूपसे नियत वेतनसे अधिक कुछ पानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये । घूस लेना तो पाप है ही, कागज, स्याही, लकड़ी, कोयला, टाट, पिन आदि कुछ भी बिना माँगे नहीं लेना चाहिये । आज सभी विभागोंमें घूसखोरी, अनुचित दबावसे लाभ, अधिक मूल्य लेनेकी निन्दित वृत्ति चल पड़ी है । यदि खराब सिक्का पा जायँ तो उसे छल-पूर्वक दूसरेको नहीं देना चाहिये । उसे तो फेंक देना ही ठीक है । जब इस प्रकारका नन्हा अपराध भी हमसे न होगा, तभी हम कामचोरी, घूस आदिसे बच सकेंगे ।

आज समाजमें स्त्रियोंको नौकरी दिलानेका आन्दोलन चल पड़ा है । स्त्रीद्वारा उपार्जित द्रव्य उसके पति एवं परिवारकी श्री, पुण्य आदिको क्षय करने-वाला होता है, अतः स्त्रियोंका दूकानपर बैठना, फेरी करना तथा नौकरी करना सर्वथा ही अनुचित है और इसमें दूसरे नैतिक दोष भी बहुत अधिक आ जाते हैं ।

कुछ भी हो, सत्यकी कमाई करनी चाहिये । सरकारी कर्मचारी, धर्मगुरु, नेता, शिक्षक, व्यवसायी, कृषक, ग्वाले, सुनार, तेली, बढ़ई, धोबी, चमार, दर्जी आदि सभी वर्गोंमें आज छल, चोरी, झूठ, धोखा देना, खराब या नकली पदार्थ मिलाना आदि अनुचित लाभ उठानेकी प्रवृत्ति वेगसे बढ़ गयी है । यह स्वयं उनके लिये ही हानिकर है । इससे पाप होकर परलोकका नाश तो होता ही है, इस लोकमें भी दुःख ही मिलता है । अन्याय और अधर्मसे आया अन्न बुद्धिको मलिन करता है, मनमें बुराइयाँ आती हैं और मनुष्य असंयमके द्वारा स्वास्थ्य, धन और यश सबका नाश कर लेता है । अतः न्यायो-पार्जित द्रव्यकी ही सबको इच्छा करनी चाहिये ।

जहाँ गृहस्थोंके लिये आजीविकाके उपर्युक्त उपाय हैं, वहीं साधुओंके लिये भी शास्त्रोंने उपाय निर्देश किये हैं । साधुके लिये शुद्ध अन्न अत्यन्त आवश्यक है । अपवित्र अन्न उसके मनको दूषित करेगा और इससे उसका पतन सम्भव है । साधुको द्विजातिके घरसे ही भिक्षा करनी चाहिये । शुद्ध, सात्त्विक गृहस्थोंके घरोंसे न्यायोपार्जित अन्नकी भिक्षा पाना आज सरल नहीं है । लेकिन जहाँतक सम्भव हो साधुको धर्मात्मा, सात्त्विक गृहस्थोंके घरसे ही भिक्षा प्राप्त करनी चाहिये । साधुके लिये द्रव्य-संग्रह और भोग-सामग्रियोंका उपयोग पाप है । उसे कलके लिये भी संचय नहीं करना चाहिये । उसे तो भिक्षामें जो प्राप्त हो जाय, उसीपर सन्तुष्ट होकर भगवच्चिन्तनमे अपना समय लगाना चाहिये ।

इस प्रकार सबको अपने वर्णाश्रम धर्म एवं सामाजिक स्थितिके अनुसार उचित रीतिसे, पवित्र व्यवसायद्वारा जो न्यायोपार्जित, धर्मानुसार द्रव्य प्राप्त होता है, वही शुद्ध अन्नका कारण है । उसीसे प्राप्त अन्न उपायतः शुद्ध है ।

स्वरूप-दोष

पवित्र न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त अन्नको भी स्वरूपतः शुद्ध होना चाहिये । अन्न तीन प्रकारका होता है—१. सत्त्वगुणयुक्त, २. रजोगुणयुक्त और ३. तमोगुणयुक्त । भगवान्‌ने इनका विवेचन गीताके सत्रहवें अध्यायमें किया है । जो अन्न बुद्धिवर्धक हो, वीर्यरक्षक हो, उत्तेजक न हो; कब्ज न करे, रक्त दूषित न करे, सुपाच्य हो—वह

शुद्ध सत्त्वगुणी कहा जाता है। साधकको स्वादकी आसक्ति छोड़कर उसीका सेवन करना चाहिये।

मांस, मदिरा, मछली, अण्डे, लहसुन, प्याज, गाजर, शल्जम, बैंगन, मसूरकी दाल, बिस्कुट, सोडावाटर, डबलरोटी, स्पिरिट या मदिरा मिली ओषधियाँ, मांस, यकृत्, चित्त-ग्रन्थि आदिसे बनी ओषधियाँ, नील या चर्बी पड़ी चीजें, वनस्पति घी, चाय, लाल, तम्बाकू, सिगरेट, गाँजा, भाँग, अफीम, विलायती दूध आदि अपवित्र, मादक या दूषित पदार्थ बुद्धिको मलिन करनेवाले होते हैं।

गेहूँ और जौ सत्त्वगुणी अन्न है। साधकके लिये ये उत्तम हैं। इन अन्नोंको भाड़मे भून देनेपर ये रसहीन रूक्ष होकर रजोगुणी हो जाते हैं, अतः ऐसा करना ठीक नहीं है। चनेका अधिक उपयोग वायुकारक होता है। भुने चने छिलके साथ ही उपयोगी होते हैं। कच्चे चनेको छिलके सहित भिगाकर खाना बलकारी होता है। चनेका छिलका नहीं उतारना चाहिये। यही बात मूँगके सम्बन्धमे भी है। मक्का वायुप्रधान और रजोगुणी अन्न है। इसके हरी 'बालों'का भी यही गुण है। दालोंमे मूँग, मोठ, अरहर श्रेष्ठ हैं, पर इन्हें पीसकर इनकी रोटी बनाना ठीक नहीं। ज्वार और कोदों तामस अन्न हैं तथा बाजरा राजस अन्न है। दालोंमे उड़द राजस है। उड़द बुद्धिको स्थूल करता है और वायुको विकृत भी करता है। मूँग यदि धोया न जाय तो हल्का सत्त्वगुणयुक्त है। अरहर भी मूँगके समान ही है; किन्तु मोठ राजसिक है।

सिंघाड़े प्रायः व्रतके अवसरपर उपयोगमें आते हैं, ये प्रायः खुश्क होते हैं और कब्ज करते हैं। इनके स्थानपर दूसरे पदार्थ काममे लेना उत्तम है। साबूके चावल बाँसके बीज ये दोनो उत्तेजक है। आलू गरम, वायुप्रधान और कब्ज करनेवाला कंद है। शहरोंके वे सब शाक जो गंदे नालेके जल या गंदी खादसे उत्पन्न किये जाते हैं, नितान्त तामसिक होते हैं। ये बुद्धिमें तमोगुणकी वृद्धि करते हैं।

जिन देशोंमें चावल अधिक होता है, उन देशोंके लोगोंके लिये वही हितकर है। जो पदार्थ शीघ्र न पचें, उन्हें रजोगुणी न हों तो भी उपयोगमें नहीं लेना चाहिये। जिन पदार्थोंका एक साथ सेवन वर्जित है, जैसे दूध और नमक, ऐसे संयोगविरुद्ध पदार्थ भी त्याज्य ही हैं। लालमिर्च, गरम मसाला, चटनी, अचार, तेल, खटाई आदि राजसिक पदार्थ हैं। इसी प्रकार सोंठ, अदरख, कालीमिर्च और नमकका भी उपयोग बहुत कम करना चाहिये। इनका भी अधिक उपयोग मनकी राजसवृत्तिको प्रोत्साहित करता है। नमकको आटेमें डालकर रोटी बनानेसे वह बहुत रजोगुण-वर्द्धक हो जाता है।

शाकोंमें अच्छे शाक हैं टिंडे, तोरई, लौकी (कद्दू)। अरवी, गोभी, बैंगन, हरे टमाटर, शलगम आदि राजस और तामस हैं तथा प्रायः सभी पत्ती शाक मलकारक एवं वायुवर्धक होते हैं। जिस किसी सात्त्विक शाकमें लालमिर्च, खटाई आदि राजसिक पदार्थ पड़ेंगे, वह राजसिक हो जायगा। इसी प्रकार सभी गरिष्ठ-पकान्न उत्तेजक एवं कब्ज करनेवाले होते हैं। अतएव साधकको पूड़ी, हलवा आदि गरिष्ठ वस्तुओंसे बचना चाहिये।

सबसे अच्छा पेय तो शुद्ध शीतल जल ही है। गन्ने तथा कुछ फलोंके ताजे रस भी पिये जा सकते हैं। गर्मियोंमें बादाम, खीरेके बीज, इलायची, सौंफ, कासनी, कालीमिर्चें और गुलाबके फूलोंकी ठंढाई मिश्री मिलाकर पीना ठीक है। लेकिन बर्फ, सोडा आदि समस्त नवीन पेय हानिकर एवं दोषपूर्ण हैं।

फलोंमें मौसम्मी, सन्तरे यदि खट्टे न हों, मीठे आम—ये श्रेष्ठ फल हैं। केला, नाशपाती, सेव आदि कुछ कब्ज करते हैं। ककड़ी और बेर तो अत्यन्त कब्ज करनेवाली हैं। बेल, आँवला ये दोनों उत्तम स्वास्थ्यप्रद फल हैं। दूसरे फलोंका भी विचारपूर्वक ही उपयोग करना चाहिये। वे सभी मेवे जिनमें तेल होते हैं, जैसे अखरोट, बादाम, पिश्ता, मूँगफली आदि सब राजसिक एवं उत्तेजक हैं।

मीठा चाहे गुड़ हो या शक्कर, जबतक उसे जलमें डालकर पका न लिया जाय, कच्चा मीठा कहलाते हैं और ये गरम तथा उत्तेजक हैं। जलमें डालकर पका लेनेके पश्चात् 'बूरे' के रूपमें भी इनका उपयोग बहुत कम करना ही अच्छा है। अधिक मीठेके सेवनसे रक्तदोष होता है। मीठेके योगसे बननेवाले भोजन प्रायः सब गरिष्ठ होते हैं। सेवईं, खीर, मीठे चावल, हलवा आदि सभी पचनेमें भारी होते हैं और इनका उपयोग साधकको तो नहीं ही करना चाहिये। मिलकी चीनी अशुद्ध होती है, अतः उसे छोड़ देना अत्यन्त उत्तम है। इसमें अनेक हानिकर पदार्थ भी पड़े होते हैं।

दूध सर्वोत्तम गौका होता है। बकरीका दूध भी हल्का

होता है, पर भैंसका दूध भारी होता है। भेड़ तथा ऊँटनीके दूध तो सर्वथा त्याज्य हैं। बहुत गरम दूध पीना हानिकर होता है और एकदम शीतल भी नहीं पीना चाहिये। गायके दूधको छोड़कर और दूध धारोष्ण पीने योग्य नहीं होते। दूधमें अल्पमात्रामें चूरा या चीनी डालनी चाहिये, पर गुड़ नहीं डालना चाहिये।

दूधकी मलाई, रबड़ी, खोआ आदि चीजें गरिष्ठ और उत्तेजक होती हैं। घृत शुद्ध हो तो सात्त्विक और लाभप्रद है, किंतु मिश्रित घी अत्यन्त हानिकारी होता है। गायका घी तो रसायन है। दही साधकके लिये उत्तेजक होता है और छाछ यदि खट्टी न हो तो स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है।

सभी मिठाइयाँ ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे हानिकर हैं। जो दाल या शाक आदि बिना जलके केवल घीमें ही बनाये जाते हैं, वे भी गरिष्ठ हो जाते हैं। कोई भी रसदार कच्चा भोजन तीन घंटे बाद बासी होकर तमोगुणी हो जाता है। लेकिन घीमें पके पदार्थ या मिठाई आदि जबतक कठोर न हो जायँ या उनमें विकार न आ जाय, बासी नहीं माने जाते।

भोजनके अतिरिक्त हम कुछ पदार्थ और भी काममें लेते हैं। इनमें जलको शुद्ध रूपमें ही काममें लेना चाहिये। उसमें सुगन्धित पदार्थ या बर्फ डालना जलकी स्वाभाविकता और सात्त्विकताको नष्ट कर देता है। ऐसे ही, पुष्पोंका अपने शृङ्गारमें उपयोग नहीं करना चाहिये। सभी प्रकारका शृङ्गार राजस भावका वर्धक है। दातौनके लिये नीम, मौलिश्री और बबूल अच्छे हैं। प्रतिपदा, षष्ठी, नवमी, एकादशी, अमावस्या, रविवारको तथा कोई ऐसा दन्तरोग हो जिसमें दातौनसे कष्ट होता हो तो, दातौन नहीं करना चाहिये।

सभी प्रकारके मादक द्रव्य सर्वथा तामसिक होते हैं। धूम्रपानका तो सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिये। धूम्रपान करनेवालेको मन्त्र-सिद्धि नहीं होती। तम्बाकूको सुराके समान मानकर उसका सर्वथा त्याग ही उचित है।

ओषधियाँ, जहाँतक सम्भव हो देशी ही लेनी चाहिये। डाक्टरी ओषधियोंमें स्पिरिट, सुरा, मांस तथा अनेक दूषित पदार्थ होते हैं और अपने देशकी ओषधियाँ ही अपनी प्रकृतिके अनुकूल पड़ती हैं। देशी ओषधियोंमें भी वनौषधि तथा पवित्र वस्तुएँ ही ली जायँ तो अत्यन्त उत्तम है।

क्रिया-दोष

पदार्थ चाहे उपाय-दोषसे दूषित न हो, वह शुद्ध न्यायोपार्जित द्रव्यसे आया हो और उसमें स्वरूपसे भी कोई दोष न हो; परंतु यदि उसे विधिपूर्वक काममें न लिया जाय तो वह भी दोषयुक्त हो जाता है। पदार्थका यह तीसरा दोष क्रिया-दोष है। क्रिया-दोषसे दूषित पदार्थ भी मनको दूषित करता है और शरीरमें भी अनेक विकार ला सकता है, अतएव इस दोषके सम्बन्धमें भी कुछ विचार करना आवश्यक है।

रसोई-स्थान—जहाँ भोजन बनाया जाय, वह स्थान खुला न हो, जिसमें रेत आदि उड़कर पड़े या पक्षियोंद्वारा भोजनमें कोई दोष आये। उस स्थानपर पशु भी न पहुँच जाय, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। रसोई-स्थान कच्चा ही श्रेष्ठ होता है, जिसमें वहाँ मिट्टी-गोबरका नित्य चौका लगाया जा सके। रसोई-स्थानको शनिवार और गुरुवारको गोबरसे नहीं पोतना चाहिये। इन दिनों मिट्टीसे पोतना चाहिये। सप्ताहमें दो दिन अवश्य गोबरसे उसे स्वच्छ करना चाहिये। भोजनका स्थान रसोईके स्थानसे कुछ नीचा होना चाहिये और यदि ऐसा सम्भव न हो तो एक लकीर खींचकर रसोई-स्थानकी सीमा निश्चित कर देनी चाहिये। रसोई-स्थानमें बिना पैर धोये किसीको नहीं जाना चाहिये। भोजन-स्थानपर एक बार लोगोंके भोजन करके उठते ही गोबर या मिट्टीसे पोता दे देना चाहिये। रसोई बनानेवाला शुद्धाचरणयुक्त हो, भोजन करनेवालोंसे उसका स्नेह हो, उसके वस्त्र स्वच्छ एवं पवित्र हों और वह स्नान करके शुद्ध हो। उसे कोई रोग, मानसिक दुश्चिन्ता या भोजन बनानेमें अरुचि नहीं होनी चाहिये। आचारहीन, तैल लगानेपर जो स्नान न किये हो, श्मशानसे लौटकर जिसने स्नान न किया हो, कोई चमड़ेकी चीज पहिने हो, इनका स्पर्श किया भोजन अपवित्र होता है। निम्न जातिका छुआ भोजन भी अपवित्र होता है। भोजनपर कुत्ते, किसी कदाचारी या निम्न जातिके पुरुष, या भूखेकी दृष्टि पड़नेसे भोजनमें दृष्टि-दोष हो जाता है और वह अनेक शारीरिक एवं मानसिक विकारोंका कारण हो सकता है। काक आदिसे छुआ या स्पर्श अथवा दृष्टि-दोषसे दूषित अन्न फेंककर दूसरा बनाना चाहिये। भोजनके पदार्थोंपर मक्खी न बैठे, चूहे मुँह न दे जायँ, इसका भी ध्यान रखना चाहिये।

रसोईके उपकरणोंकी शुद्धि—रसोईके बर्तन भली प्रकार मलकर स्वच्छ किये गये हों। उनमें जूठन, मैल आदि न लगा हो। रसोईमें काम आनेवाले वस्त्र स्वच्छ तथा पवित्र हों। पीपलकी लकड़ी या पत्ते, पत्थरका कोयला नहीं जलाना चाहिये। इनसे अनेक रोगोंके होनेकी सम्भावना

रहती है। चावल, दाल, शाक आदि स्वच्छ करके और भली प्रकार धोकर काममें लेने चाहिये। चावल हाथका कुटा तथा आटा हाथका पिसा उत्तम होता है। दूधको छानकर ही काममें लेना चाहिये। घी, नमक, मसाला, आटा आदि ढककर सावधानीपूर्वक रखना योग्य है।

भोजनके काममें तथा पीनेके लिये स्वच्छ, शीतल, गन्धहीन छानकर रक्खा हुआ कुएँका जल ही उत्तम है। चमड़ेके पात्रका, तैलके इंजिनसे निकाला और नलका जल शुद्ध नहीं होता। पवित्र नदियोंका स्वच्छ जल कामके योग्य होता है और गङ्गाजल सदा पवित्र रहता है। कूपजल ताजा ही कामके योग्य होता है। विधर्मी एवं अस्पृश्य जातियों तथा रजस्वला स्त्रीसे स्पर्शित जल अपवित्र होता है। जलको पवित्रतापूर्वक स्नान करके ही लाना चाहिये। उसे वस्त्रसे छानकर ढककर रखना चाहिये और रात्रिका रक्खा जल काममें नहीं लेना चाहिये। तवेपर मुखसे नहीं फूँकना चाहिये और अग्निको भी मुखसे नहीं फूँकना चाहिये। किसी पात्रको पैरोंसे नहीं छूना चाहिये। मिट्टी, काँच, पत्थर और लकड़ीके वर्तन जूठे होनेपर फिर कामके योग्य नहीं होते, अतः इनमें भोजन नहीं करना चाहिये।

भोजन—बलिवैश्वदेव करके, अग्निमें अन्नकी आहुति देकर, हन्तकार निकालकर उसे किसी योग्य सत्पुरुषको देकर, पहले अतिथि, बालक, रोगी, वृद्ध और नौकरों आदिको भोजन कराना चाहिये। हन्तकार-भाग निकालनेका अर्थ है भगवान्‌के निमित्त अन्न निकालना। प्रत्येक पदार्थमेंसे इतना अंश निकालना चाहिये जिससे एक व्यक्ति भोजन कर ले और उससे किसी उत्तम व्यक्तिको भोजन कराना चाहिये। इसीके साथ गौका तथा अन्यान्य पशु-पक्षियों तथा कीटोंका भाग भी निकालना चाहिये।

घरमें जितने सदस्य हों, उनमें बालकों, वृद्धों और रोगियोंको तथा अतिथि और अभ्यागतोंको भोजन करानेपर जो बचे, सबका भाग होता है। भोजनमें भेद करना पाप है। घरके लोगों और सेवकोंके भोजनमें कोई भेद नहीं होना चाहिये। इस प्रकारके भेदभावसे भोजन करनेवालेके अन्नमें भाव-दोष होता है और इससे अनेक रोग हो सकते हैं। रसोई नित्ययज्ञ है। रसोई करनेवाला यज्ञकर्ता है और भोजन करनेवाले सभी विष्णुरूप आमन्त्रित हैं। अतः रसोई बनाने या परसनेवालेको भेदभाव तनिक भी नहीं आने देना चाहिये। जिसे घटिया अन्न दिया जाता है, उसका कुछ नहीं बिगड़ता, पर जिसे अच्छा दिया जाता है, उसके अन्नमें भावदोष होता है। भेद करनेवाला तो पापका भागी होता ही है।

सूर्योदयसे पूर्व, मध्याह्नमें (लगभग साढ़े ग्यारहसे साढ़े बारहतक) और सूर्यास्तसे डेढ़ घड़ी पहलेसे तारे उगनेतक भोजन नहीं करना चाहिये। इस सायंकालकी गोधूलि वेलामें भोजन करनेसे उसपर प्रेतोंकी दृष्टि पड़ती है और वह दूषित हो जाता है। रात्रिमें तिल तथा तेलकी वस्तुएँ वर्जित हैं।

स्नान करके ही भोजन करना चाहिये। स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर, पैर धोकर, नंगे सिर भोजन करना चाहिये। पहननेके वस्त्र उतारकर भोजन करना उचित है, पर केवल एक वस्त्रसे भी भोजन करना निषिद्ध है। भोजनके समय उत्तरीय (अंगोछा आदि) शरीरपर रखना चाहिये। भोजन जिस पात्रमें बना है उसमें रखकर, हाथपर रखकर, कागजपर रखकर, कुर्सी-मेजपर नहीं करना चाहिये। जूते पहने, खड़े-खड़े, चलते हुए कुछ भी नहीं खाना चाहिये। भूमिपर आसनपर स्थिरतापूर्वक बैठकर, शान्तचित्तसे, पवित्र होकर, मौन होकर भोजन करना उचित है। भोजन पूर्व या उत्तर मुख बैठकर करना चाहिये। बासी, रसहीन, दुर्गन्धित, जूठा, अपवित्र, अधपका, अधिक पका, जला हुआ, सड़ा, खुर्चा, रोष या घृणापूर्वक दिया, अपरिचित या निन्दित व्यक्तिसे दिया, अपवित्र अन्न नहीं खाना चाहिये। एक वर्णके लोगोंको ही एक पंक्तिमें बैठना चाहिये। एक साथ पंक्तिमे बैठे लोगोंको आगे-पीछे नहीं उठना चाहिये। भोजनके समय एक दूसरेका स्पर्श नहीं करना चाहिये। भोजनके पश्चात् दो घंटेसे पूर्व नहीं सोना चाहिये।

दृष्टि—भोजनपर पिता, माता, बन्धु, पुण्यात्मा जन, वैद्य, हंस, मयूर और चकवेकी दृष्टि पड़ना शुभ होता है। नीच, दरिद्र, भूखे, रोगी, लम्पट, अधर्मी, मुर्गे, सर्प, कुत्ते और किसी भी द्वेष, घृणा, क्रोधसे युक्त व्यक्तिकी दृष्टि भोजनपर पड़े तो उस अन्नको छोड़ देना चाहिये। यदि भोजन छोड़ना शक्य न हो तो इस श्लोकको पढ़ते हुए भोजन करना चाहिये—

अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्।
दृष्टिदोषविनाशाय हनूमन्तं स्मराम्यहम्॥

पञ्चग्रास—सबसे प्रथम भोजनमें ये पाँच मन्त्र पढ़ते हुए क्रमशः पाँच ग्रास मुखमें डालने चाहिये—१. ॐ प्राणाय स्वाहा, २. ॐ अपानाय स्वाहा, ३. ॐ व्यानाय स्वाहा, ४.

ॐ उदानाय स्वाहा, ५. ॐ समानाय स्वाहा । ऐसा करनेसे भोजन यज्ञमय हो जाता है । भोजन भगवत्प्रसादबुद्धिसे यज्ञशेष मानकर करना ही सर्वोत्तम है ।

अन्नमें स्वादबुद्धि नहीं होनी चाहिये । उसे शरीरके लिये ओषधि मानकर उपचारकी भाँति जितना आवश्यक हो, लाभकर हो, उतना ही करना चाहिये । अन्नको रुचि-पूर्वक आदरभावसे ही भोजन करना चाहिये । अरुचि एवं उपेक्षापूर्वक किया गया भोजन ठीक पचता नहीं । उदरके दो भागको अन्नसे, एकको जलसे पूर्ण करके एक भाग वायुके लिये खाली रहने देना चाहिये । भोजनके मध्यमें थोड़ा-थोड़ा जल पीना हितकर होता है; पर भोजनके अन्तमें तुरंत बहुत जल पीना हानिकर है । किसीके द्वारा उल्लङ्घन किया भोजन या जल भी काममें नहीं लेना चाहिये ।

भोजनके पश्चात्—भोजनके पश्चात् मुखको जलसे खूब स्वच्छ कर लेना चाहिये । फिर भीगे हाथ नेत्रोंपर फेरने चाहिये । इसके पश्चात् १०० पद घूमकर लेटना अच्छा है । तुरंत दौड़ना या कोई कठोर काम नहीं करना चाहिये ।

व्रतोपवासादि—व्रत एवं उपवासके तो हमारे शास्त्रोंमें बहुत विधान हैं और उनके लाभ भी अपार हैं; परंतु यहाँ आहारके विवेचनमें इतना ही जानना चाहिये कि एकादशी-को चावलका भोजन अत्यन्त वर्जित है । ग्रहणके दोषकालमें आहार ग्रहण करना या जल पीना निषिद्ध तो है ही, हानिकारक भी है । शरीरके लिये आहार जितना आवश्यक है, व्रत भी एक सीमामें उतने ही आवश्यक हैं और निषिद्ध समयों-में तो आहार ग्रहण करना ही नहीं चाहिये ।

उपसंहार—इस प्रकार आहारके सम्बन्धमें सभी दोषों-को बचाकर जबतक अन्नका ग्रहण नहीं किया जाता, तबतक मानसिक दोषोंसे परित्राण नहीं पाया जा सकता । हम जो भोजन करते हैं, उसीसे मन बनता है । जैसा अन्न वैसा मन । अतएव शरीरकी आरोग्यता और मनकी पवित्रताकी प्राप्ति तथा रक्षाके लिये भी आहारको ही पहले पूर्णतया शुद्ध होना चाहिये ।

भक्त-गाथा

बहिन सरस्वती

सरस्वती माता-पिताकी बड़ी ही लाड़ली लड़की थी। इसीसे उसके लालन-पालनमें माता-पिताने कुछ भी उठा नहीं रक्खा था । उसको कहीं जरा-सी भी मनोवेदना हो, यह माता-पिताको असह्य था । इकलौती सन्तान थी, सम्पन्न घर था और माता-पिताके हृदयोंमें स्नेहकी सरिता उमड़ती थी । बारह वर्षकी अवस्थामें उसका विवाह एक सम्पन्न घरके सुदर्शन नामक लड़केसे कर दिया गया । तीन साल बाद द्विरागमन हुआ । सरस्वतीके विवाह और द्विरागमनमें बहुत बड़ी धनराशि खर्च की गयी । प्रचुर दहेज दिया गया ।

सरस्वती सचमुच योगभ्रष्टा थी । नैहरके पंद्रह वर्षमें उसके शरीर और मनको चोट पहुँचानेवाली कोई भी—छोटी-सी घटना भी नहीं हुई । वह सब प्रकारसे बड़े आरामसे रही, पर उसका मन कभी भी संसारके भोगोंमें फँसा नहीं । आरामकी सामग्रियाँ प्रचुर मात्रामें थीं पर उसका मन उनसे सदा उदासीन-सा रहता था । माता-पिताको दुःख न हो, इसलिये वह प्रकटमें सब कुछ स्वीकार करती थी; परंतु उसका मन उनको स्वीकार नहीं करता था । घरमें श्रीगोपालजीका मन्दिर था । श्रुतदेव नामक बूढ़े पुजारी बड़े ही भक्ति-भावसे श्रीगोपालजीकी पूजा करते थे । उनके कोई सन्तान नहीं थी । उनका गोपालजीमें वात्सल्यभाव था । वे बड़े स्नेहसे गोपालजीके भोग लगाया करते । उनके मन गोपालजी जड स्वर्णप्रतिमा नहीं थे । सच्चिदानन्दघन भगवान् थे । मनमें ही नहीं, भक्त श्रुतदेवकी शुद्ध भावनाके अनुसार भगवान् उनसे स्थूल व्यवहार भी ऐसा ही करते थे । पर इस बातका रहस्य श्रुतदेवने किसीको नहीं बताया । सरस्वतीके माता-पिता श्रीकीर्ति तथा मतिमान् भी इस रहस्यसे अपरिचित थे । सरस्वती छोटी उम्रसे ही मन्दिरमें जाकर बैठती, खेलती; पुजारीजीकी पूजा-आरती तथा भोग-रागको बड़े चावसे देखा करती । पुजारीजी छोटी बच्ची समझकर उससे कोई छिपाव नहीं करते । इसके अतिरिक्त उनका सरस्वतीके प्रति बड़ा स्नेह था, वे उसे अपनी

सगी पुत्रीसे बढ़कर मानते थे । यह पुत्री और ठाकुरजी श्रीगोपालजी प्राणप्रियतम पुत्र—इस भावसे पुजारीजीका स्नेह दोनोंमें बँट गया था । उनके इस सम्बन्धसे सरस्वती और गोपालजीमें भी भाई-बहिनका सम्बन्ध हो गया था । छोटी बालिका अपने गोपाल भैयासे बड़ा प्यार करती । बाल्यभावसे उन्हें खिलाती-पिलाती, उनके साथ खेलती, शुद्ध प्रेमालाप करती । श्रुतदेवजी बड़े प्रसन्न होते ।

सरस्वतीकी बुद्धि बहुत तीव्र थी, वह पुजारीजीसे गीता-रामायण-पुराण तथा अन्य शास्त्रग्रन्थ बड़ी लगनसे पढ़ती । और समय-समयपर श्रीभगवान्‌के स्वरूप तथा लीलाके सम्बन्धमें पूछा करती । श्रुतदेवजी-को वह पितासे बढ़कर मानती और उनके उपदेशों और वचनोंको कार्यरूपमें परिणत करनेकी चेष्टा करती । इससे उसका जीवन पवित्र भक्तिमय हो गया था । नौ ही वर्षकी अवस्थामें उसे श्रीभगवान्‌के दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो गया था । उसके सरल आग्रहसे प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट हो भगवान्‌ने भोग आरोग लिया तथा कुछ ही दिनों बाद श्रावणी पूर्णिमाके दिन उसके द्वारा रक्षाबन्धन करवाया । श्रुतदेवजी इससे बड़े ही प्रसन्न हुए । इसके बाद तो श्रीगोपालजीके साथ सरस्वतीका भाई-बहिनका सम्बन्ध इतना स्पष्ट और सुदृढ़ हो गया था कि दोनों जाने कितनी बार मिले और कितनी बार परस्पर सुख-दुःखकी चर्चा हुई । फिर गोपाल भैयाकी सम्मति-से ही सरस्वतीने विवाह करना स्वीकार किया, इस शर्तपर कि गोपाल भैयाको सरस्वती बहिन जब याद करेगी; तभी वे उसके पास पहुँच जायँगे । सरस्वतीको अपने बाल्यजीवनमें पिता-माताके द्वारा जो सब प्रकार सुख-सुविधा प्राप्त हुई, इसमें गोपाल भैयाकी ही करामात थी और सरस्वतीके विवाह तथा द्विरागमन-में भी गोपाल भैयाका बड़ा हाथ था । दहेजकी सामग्री, अतिथियोंका स्वागत-सत्कार, सबकी सात्त्विक प्रसन्नता आदिकी व्यवस्था सरस्वतीके पिता मतिमान्‌को आश्चर्यमें डालनेवाली थी । कहाँसे कैसे कब क्या होता था, इसका उन्हें पता ही नहीं लग पाता था । न मालूम कहाँसे उनके इतने कार्य-कुशल मित्र आ गये थे और इतनी सुमुखी-सयानी देवियाँ घरमें आ गयी थीं श्रीकीर्तिके काममें सहयोग देने । उन्हें पता नहीं था कि यह सब सरस्वतीके भैया गोपालकी कृपाशक्तिके खेल हैं ।

द्विरागमन हो गया । सरस्वती ससुराल चली गयी । गोपाल भैया गुप्तरूपसे बहिनको पहुँचाने साथ गये और दो-तीन दिन वहाँ रहकर उसे सान्त्वना देकर लौटे । सरस्वतीके पति सुदर्शन बड़े ही सात्त्विक प्रकृतिके साधु पुरुष थे । उनमें जगत्‌के छलछन्दका कहीं गन्ध-लेश भी नहीं था । पिताका घर सम्पन्न था । माता-पिता निष्ठावान् धार्मिक थे । घरमें सब प्रकारसे सुख था । सरस्वतीका जीवन बहुत आनन्दसे बीत रहा था । गोपाल भैया, बीच-बीचमें आकर बहिनसे मिल जाया करते और बातों-ही-बातोंमें उसे उपदेश दिया करते तथा अपने स्वरूपका तत्त्व समझाया करते थे ।

एक दिन सरस्वतीने श्रीगोपालजीसे कहा—"भैया ! मैं छोटी थी, तब तो कुछ समझती नहीं थी । तुम्हारी छोटी-सी मूर्ति मुझे बड़ी प्यारी लगती । पुजारीजी पूजा करते तब मुझे ऐसा लगता, तुम मानो हँस रहे हो; वे भोग लगाते तब मुझे लगता, तुम खा रहे हो । मेरी बालसुलभ श्रद्धा थी । फिर एक दिन जब मैं पुजारीजीसे अड़ गयी कि आज तो मैं ही भोग लगाऊँगी । उन्होंने बहुत समझाया, पर मैंने अपना हठ नहीं छोड़ा; उस समय मुझको लगा—तुम मानो पुजारीजीसे कह रहे हो कि 'सरस्वती भोग लगाना चाहती है तो तुम क्यों रोकते हो । मुझे इसके हाथका भोग ग्रहण करनेमें बड़ी प्रसन्नता है ।' पता नहीं, उन्होंने तुम्हारी बात सुनी या नहीं, परंतु तुरंत ही मुझसे कह दिया कि 'तुम भोग लगाओ' और पता नहीं इतना कहकर वे क्यों बाहर चले गये । मैंने भोग रक्खा । पर्दा लगाया । पर तुमने खाया नहीं । भैया ! मुझे उस दिनकी बात अच्छी तरह याद है, जब मैं रोने लगी तो तुम उसी

मूर्तिमेंसे प्रकट हो गये और मेरा रक्खा हुआ प्रसाद प्रसन्नतासे पाने लगे। मुझे उस दिन बड़ी ही प्रसन्नता हुई। इसके छः ही महीने बाद मेरे आग्रह करनेपर तुमने राखी बँधवायी मुझसे। इसके बाद तो तुम मुझसे बातचीत करने लगे। मैं जानती नहीं थी कि तुम कौन हो। इतना ही जानती थी कि मेरे भैया लगते हो। यही पुजारीजीने मुझको बताया था। माने कई बार मुझसे पूछा, पिताजीने भी कभी-कभी बात चलायी, पर तुमने मने कर दिया था, इससे मैंने किसीसे कुछ भी नहीं कहा। तुम्हारे कहनेसे मैं यहाँ चली आयी। पर अब मेरे मनमें यह जाननेकी आ रही है कि वास्तवमें तुम कौन हो? माताजी, पिताजी तुम्हें भगवान् कहते हैं। पुजारीजी भी भगवान् ही मानते हैं। पर तुम मेरे माता-पिताके सामने मूर्ति ही बने रहते हो। भैया! बताओ, क्या सचमुच तुम भगवान् ही हो? भगवान् ही हो तो मेरे भाई कैसे? क्या मैं तुमको भाई न मानूँ। ऐसा तो सोचते ही मेरा मन जाने कैसा घबड़ा जाता है। भैया! अपना भेद मुझे बताओ। आज मैं बिना जाने नहीं रहूँगी।"

सरस्वती बहिनकी बात सुनकर गोपाल भैया हँसे। बोले—'सरस्वती बहिन! सचमुच मैं तुम्हारा भैया हूँ। यों तो मैं सारे ही संसारका बन्धु हूँ पर तुम्हारा तो भाई ही हूँ। तुम्हारा मेरे प्रति जो निश्छल प्रेम है, उससे तुमने मुझको सदाके लिये अपना भैया बना लिया है। बहिन! प्रेम आत्माका स्वरूपभूत गुण है—धर्म है। जैसे दूधकी सफेदी और अग्निकी दाहिका-शक्तिका उनसे अभिन्न सम्बन्ध है, वैसा ही आत्माका अभिन्न सम्बन्ध प्रेमसे है। परंतु बद्ध जीवका चित्त अशुद्ध होनेसे उसके प्रेमका विषय दूसरा होता है। वह अपने स्वरूप आत्मामें प्रेम न करके तुच्छ और अनित्य भोग-पदार्थोंमें—स्त्री, पति, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदिमें प्रेम करता है और इन नश्वर पदार्थोंसे प्रेम करनेके कारण ही बार-बार प्रवञ्चित होता है। उसे इस प्रेमके परिणाममें निराशा, असफलता, वियोग, मृत्यु, नाश और रोना-कराहना ही मिलता है। पर जब मेरी कृपासे जीवका चित्त शुद्ध होनेपर अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि जाती है तब उसमें विशुद्ध प्रेमकी स्फूर्ति होती है तब वह आत्माकी ओर मुड़ता है। आत्मामें प्रेम स्थापन करता है, आत्माराम हो जाता है। तदनन्तर ही प्रेम-साधनाके बलसे वह जान पाता है कि मैं (भगवान्) ही समस्त आत्माओंका आत्मा हूँ। मैं ही सबका एकमात्र स्वरूपाश्रय हूँ, तब वह समझता है कि बस, एकमात्र भगवान् ही मेरे प्रेमास्पद हैं। ऐसी अवस्थामें उसका चित्त मेरे ही दिव्य गुणोंकी ओर आकर्षित हो जाता है, मेरे ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यपर मुग्ध होता है और फिर वह समस्त जगत्में और जगत्से बाहर केवल मुझको ही देखता हुआ मुझमें ही अपने प्रेमको मिला देता है। तब, मैं क्या हूँ, कैसा हूँ इस तत्त्वका उसे मेरी कृपासे यथार्थ पता लग जाता है।

'सरस्वती बहिन! तुम मुझे ठीक जानती नहीं कि मैं कौन हूँ, परंतु मुझसे प्रेम करती हो। मेरी तुलनामें तुम्हारे मनमें न घर-द्वार हैं, न माता-पिता हैं, न धन-ऐश्वर्य हैं, न मान-सम्मान हैं और न स्वर्ग-मोक्ष ही हैं। तुम्हारा मुझमें इतना अपार अनुराग है। सो यह उचित ही है। इस बातको चाहे कोई जाने या न जाने, सबका प्रेम आत्मामें होता है और मैं तो आत्माका भी आत्मा हूँ। इसके सिवा जो मुझे एक बार देख लेता है, वह अनन्य प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकता। मैं हूँ ही ऐसी वस्तु! आत्माराम मुनि भी मेरे गुणोंपर मुग्ध होकर मेरे प्रति अहैतुकी भक्ति करते हैं। यह प्रेम कोई वृत्ति नहीं है, यह मेरी स्वरूप-शक्ति है। प्रेमवृत्ति तो इसीका एक साधारण क्षुद्र प्रकाशमात्र है। भाईके पवित्र भावसे तुममें मेरे प्रति यह जो अप्रतिम प्रेम है; यह मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान तुमको अपने-आप ही करा देगा।

'वस्तुतः मेरे स्वरूपका पता कोई भी पुरुषार्थके द्वारा

नहीं प्राप्त कर सकता। मेरा स्वरूप मन-बुद्धि-वाणीके अगोचर है। मैं ही नित्य सत्य हूँ, सनातन हूँ, पूर्ण हूँ और परात्पर हूँ। जो कुछ भी दृश्यवर्ग है, सब न तो मुझसे भिन्नरूपसे सत् है और न यह शशश्रृङ्ग या इन्द्रजालकी भाँति सर्वथा असत् ही है। यह जो कुछ है, सब मैं ही हूँ। पर जिस रूपमें यह दीखता है, उस रूपमें नहीं। इस दृश्यमें परिवर्तन होता है; परंतु प्रत्येक दृश्यकी आड़में मैं नित्य सत्यरूपसे विराजित हूँ। यह परिवर्तन तो मेरा लीला-विलास है। प्रलयमें जगत् मुझमें ही लीन होता है और सृष्टिके आरम्भमें फिर मुझसे ही उद्भूत हो जाता है। अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड सब मुझमें है, मैं अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें हूँ। और मैं ही उनसे अतीत अचिन्त्यरूप हूँ। जो कुछ भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष है, जो कुछ जगत् या जगदातीत है, जो कुछ भी 'है' या 'नहीं' है, सब मैं ही हूँ। मैं सदा अप्रकट हूँ और नित्य प्रकट हूँ। परमाणु-परमाणुमें मेरा ही नित्य आनन्द-नृत्य चल रहा है। सुन्दर सृजन और भयानक संहार सब मेरे ही लीलास्वरूप हैं। इतना सब होते हुए भी मैं तुम्हारा अपना और परम प्यारा गोपाल भैया हूँ। तुम मुझे नित्य भैया मानो और मैं तुम्हें नित्य बहिन मानूँगा।

'देखो, तुम्हारा यह पति मेरा पुराना भक्त है। यह पहले अवन्तिकापुरीमें ब्राह्मण था। वहाँ भी तुम इसकी धर्मपत्नी थी और मेरी परम भक्त थी। मेरे किसी लीला-सङ्केतसे तुम दोनोंको फिर यहाँ जन्म लेना पड़ा। अब तुम दोनों मेरी भक्ति करते हुए सफल जीवन होओगे और मेरे दुर्लभ परम धामको प्राप्त करोगे।

'तुम निश्चय समझो कि एक बार जो मेरा हो जाता है, वह सदा मेरा ही रहता है। तुम्हारे सदृश महान् भाग्यशाली भक्तोंको, जो मेरे लिये सारे भोगोंकी आसक्ति भूलकर, सब कुछ त्यागकर मेरे ही हो गये हैं, मैं कभी नहीं छोड़ता—

विस्मृत्य सकलान् भोगान् मदर्थे त्यक्तजीवितान्।
मदात्मकान् महाभागान् कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

इतना कहकर गोपाल भैयाने सरस्वतीके सिरपर हाथ रक्खा। हाथ रखते ही उसकी बुद्धिमें भगवान्का तत्त्व-स्वरूप प्रकट हो गया। कुछ ही क्षणोंमें बुद्धि भी असमर्थ हो चली। अब आगेकी बात कौन बताये। भगवान्के साथ सरस्वतीकी किस प्रकार कैसी एकात्मता हुई, इसका किसीको पता नहीं है; परंतु वह समाधिस्थ-सी हो गयी। श्रीभगवान्का वरदहस्त उसके मस्तकपर है और वह जड पुत्तलिकाकी भाँति निस्तब्ध—स्थिर है। वह इस समय कहाँ थी, क्या अनुभव करती थी, अनुभव करनेवाली कोई सत्ता भी थी या नहीं, कुछ पता नहीं। पर जब कुछ देरके बाद वह जगी, तब देखा गया उसमें अपूर्व विलक्षणता थी। उसकी मुखाकृति ही बदल गयी थी। उससे मानो स्निग्ध शीतल तेजोराशि तथा निर्मल शान्तिकी धारा प्रवाहित हो रही थी। भगवान् उसकी ओर देखकर मुसकरा दिये और वह भी हँसने लगी। तदनन्तर भगवान् अन्तर्धान हो गये। सरस्वती भगवान्से प्रत्यक्ष दर्शन और उपदेश प्राप्त करके कृतार्थ हुई।

इधर भगवान्ने कृपापूर्वक सरस्वतीके पति सुदर्शन-को भी कुछ ऐसी विचित्र प्रेरणा की कि उसे अपने पूर्व-जन्मकी बात याद आ गयी, और वह सबका मोह छोड़कर केवल भगवदाराधनमें लग गया। अब तो श्रीगोपालजी उसके सामने भी प्रकट हो गये। दोनों पति-पत्नी एक ही साध्य, एक ही साधन और एक ही मार्गका अवलम्बन करके भगवान्के परम प्रेमी बन गये। अब उनके पास जो कुछ भी था; सब भगवान्की पूजाका उपकरण बन गया और वे जो कुछ भी करते, सब भगवत्परायण होकर भगवान्की पूजाके लिये ही करते। उनका अलग कोई काम रह ही नहीं गया। इस प्रकार भगवद्भक्तिसे ओतप्रोत भगवन्मय जीवन बिताकर वे भगवान्के परम धामको प्राप्त हुए। बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

ज्ञाननेत्र

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
(गीता १५। १०)

'अङ्गुष्ठ-परिमाण दीप-कलिकाके समान ज्योतिर्मय सूक्ष्म शरीर जब इस स्थूल देहको छोड़ देता है, लोग कहते हैं—मनुष्य मृत हो गया।' कानोंकी विशाल हस्तिदन्त मुद्राएँ भस्मभूषित कपोलोंका स्पर्श करके बार-बार हिल रही थीं। व्याघ्रचर्मपर जैसे तेजोराशि भगवान् कैलाशपति स्वयं इस एकान्त शान्त वनकी शोभापर लुब्ध होकर आ विराजे हों।

'अपने शरीरमें ही जिसने उसका साक्षात् करके ज्योति-केन्द्रमें प्रवेश कर लिया है, वही अमर पुरुष हो गया है। आनन्द अखण्डरूपसे उसका स्वरूप बन गया।'

'धारणा तबतक स्पष्ट नहीं होती, जबतक ध्येय-का साक्षात् कम-से-कम एक बार न कर लिया जाय!' भर्तृहरिने गुरुदेवके अरुण चरणोंमें मस्तक झुकाया।

'हरि! तुम्हारी भावना पवित्र है!' बाबा गोरखनाथ स्नेहवश उन्हें इसी अल्प नामसे सम्बोधन करते हैं। 'पर तुम्हारे गुरुभाईकी योगमें आस्था ही नहीं। पुत्रकी मृत्युसे कृत्रिम वैराग्यवश यह आग्रहपर उतरा और मैंने भी पहली बार मूढ़ दुराग्रहसे विवश होकर दीक्षा दी। शक्तिपातके क्षणमें जो जागरणकी अन्तः-क्रिया हुई, साधनाने उसे ऊर्ध्वोत्थित नहीं किया। भ्रूमध्यके द्विदलके भेदनसे पूर्व जीवको साक्षात्कार कैसे हो सकता है।'

'आपकी कृपासे तो असम्भव भी सम्भव होता है।' भैरवनाथने अत्यन्त नम्रतासे प्रार्थना की। गुरुदेव-ने योगकी जो गम्भीर बातें सुनायी थीं, वे उनकी समझमें तो आयीं नहीं। योगके अटपटे आसनों और जिह्वानालके छेदनमें उनकी रुचि भी नहीं। वे तो गुरुके ऊपर भरोसा करके बैठ गये हैं। उनके समर्थ गुरु सब कर सकते हैं। उनके कल्याणकी चिन्ता उनकी अपेक्षा गुरुदेवको अधिक है।

'प्रत्येक क्रिया अधिकारकी अपेक्षा करती है।' पता नहीं क्यों आज बाबा गोरखनाथ कुछ अधिक प्रसन्न नहीं जान पड़ते थे।

'जैसी आपकी इच्छा!' यदि भैरवनाथसे भर्तृहरि-ने प्रातः जीव तथा उसके स्वरूपके सम्बन्धमें वह लंबा उपदेश न बताया होता तो वे कहाँ स्वयं पूछने चले थे। उन्हें इस झोपड़ीकी परिचर्यासे अवकाश कहाँ। आज छः महीनेकी आश्रम-सेवाके पश्चात् तो गुरुदेव पधारे थे उस सेवाको सार्थक करने।

'तुम दोनों मेरे साथ आओ।' बाबाने झट चिमटा उठा लिया। खड़ाऊँ पैरोंमें आयीं। वे तो जैसे दौड़ते हुए चलते हों। जब इस प्रकार वे किसी कार्यमें प्रवृत्त हों, कोई बीचमें कुछ बोलनेका साहस नहीं कर सकता। कोई कुछ पूछे तो एक मीठी फटकार मिलेगी—'थोड़ी देर प्रतीक्षाकी स्थिरता होनी चाहिये सत्यके साधकमें।'

'यहाँ बैठो और शीघ्रता करो मनको संयमित करनेके लिये।' झाड़ियोंको हटाते, ऊँचे-नीचे पत्थरों-पर पैर रखते वे एक छोटे नालेके समीप जा खड़े हुए। एक जंगली मनुष्य भूमिपर मूर्छित पड़ा था। मुखसे फेन निकल आया था। नेत्र ऊपर चढ़ चुके थे। शरीर विवर्ण हो गया था। 'दो क्षण पश्चात् इस

पिंजड़ेमें और है ।' एकटक वे उसीकी ओर देख रहे थे ।

'गुरुदेव !' भैरवनाथके स्वरमें करुणा आयी । 'बेचारा मनुष्य—पता नहीं कौन-कौन घरमें उसकी प्रतीक्षा करते होंगे, कितने लोग दुखी होंगे उसके न रहनेसे । केवल एक चिटकी भस्म यदि गुरुदेव उसपर डाल दें, यदि भर्तृहरिको ओषधि देनेका ही आदेश दे दें ।'

'तुम चाहते हो कि वह इस चिथड़ेमें जीवनको लथेड़नेके लिये फिर उठे और बार-बार इसी प्रकार शिलाजीतके अन्वेषणमें पर्वतसे लुढ़कता रहे ।' भैरवनाथने उसके कमरके चारों ओर लिपटा मैला जीर्ण-शीर्ण चिथड़ा देखा । यही उसका वस्त्र था । उसका यह कंकाल शरीर भी चिथड़ा ही है, यह वे नहीं समझ सके । 'वह जा रहा है ! आसन लगाओ !'

'यह तो अब कहीं जा नहीं सकता ।' आज्ञा-पालनके लिये आसन लगा लिया भैरवनाथने, पर वे क्या ध्यान कर सकेंगे । 'आप जब सम्मुख खड़े हों तो नेत्र कौन बंद करे ।' जिस विग्रहका उन्हें ध्यान अच्छा लगता है, वह तो प्रत्यक्ष है । भर्तृहरि पहले ही आसन सम्हाल चुके थे । उनके अर्धमुकुलित नेत्र मूर्छित व्यक्तिके मुखपर स्थिर थे ।

'वह चला गया । नेत्रके मार्गसे निकलनेवाला अधोगति तो नहीं पायेगा, पर गया लौटनेके लिये ही ।' भर्तृहरिने तनिक देरमें ही धीरे-धीरे आसन छोड़ा और उठ खड़े हुए ।

'हाँ, यह मर तो गया ।' भैरवनाथने शवका स्पर्श करके निश्चय किया । 'गुरुदेव इसे पुनः जीवन देनेके पक्षमें नहीं ।' उन्होंने सोचा कि ध्यानस्थ होनेसे भर्तृहरिने गुरुकी बात सुनी नहीं । इसीसे वे इसे फिर लौटानेकी बात कहते हैं ।

'यहाँसे अधिक सुखमें गया है यह ।' भर्तृहरिने धीरेसे गुरुका समर्थन किया ।

'हाँ, प्राण निकल गया ।' जब शरीर मृत हो गया तो उसमेंसे कुछ-न-कुछ तो निकल ही गया, पर क्या निकल गया ? भैरवनाथ कैसे बतायें उसे । गुरुदेव आश्रमकी ओर चल पड़े । अच्छा ही हुआ—इतने दिनोंपर पधारनेके पश्चात् इतनी शीघ्रतासे जब उन्होंने आश्रम छोड़कर यात्रा की थी तो बहुत अखरा भैरवनाथको । उन्हें अभी सेवाका सौभाग्य मिलेगा । इस 'क्या निकल गया ?' से सेवामें अधिक रुचि है उनकी ।

× × ×

[२]

'प्राण—जो नित्य अजपा जाप स्वतः श्वाससे चल रहा है, उसका जपनेवाला ही प्राण है ।' भैरवनाथ गुरुदेवके विश्रामके पश्चात् भर्तृहरिके समीप आ बैठे थे । भर्तृहरिने उन्हें प्राणका तत्त्व समझाया । 'प्राणका जो प्रेरक है, वही जीव है ।'

'प्राणायामके समय श्वास नहीं चलता, पर जीवन फिर भी रहता है ।' परमयोगीका शिष्य प्राणायामसे अपरिचित कैसे रहता । भैरवनाथ प्राणायाम करते हैं—खूब देरतक कुम्भक कर लेते हैं । सचमुच यदि श्वाससे भिन्न जीव न हो तो कुम्भकके परिपाकमें तो श्वास रहता नहीं ।

'उस ज्योतिर्मय चेतनका निवास हृदय-गुहामें है ।' भर्तृहरिने बातको और स्पष्ट किया । 'ध्यानके द्वारा हृदय-कमलके विकसित होनेपर उसका दर्शन होता है । योगकी सिद्धि उसीके साक्षात्कारसे पूर्ण होती है ।'

'आप विश्राम करें ।' भैरवनाथने उदासीनतासे कहा । अब उसे एकान्तकी आवश्यकता थी । अपने आसनपर जाकर ही वह पूरी बातें सोचेगा ।

'हृदय-कमलपर तो श्रीगुरुदेव विराजमान हैं ।' गुरु-आज्ञा मानकर उसने निरन्तर अजपा जपका अभ्यास किया । प्राणायाम यदि आदेशके कारण न करना पड़ता तो उसकी अपेक्षा दंड-बैठक उसे अधिक प्रिय है । वह जातिसे अहीर जो ठहरा । उसे न आकाशमें उड़नेकी इच्छा है और न हाथ-पैर लंबे या छोटेकरनेकी । प्रेतसिद्धिके चमत्कार वह घरपर देख चुका है । ऐसे चमत्कारोंमें भी उसका आकर्षण नहीं । भरपेट दूध पीना, भैंसोंको चराना, गोबर फेंकना, घरके दूसरे काम करना और प्रातः-सायं दंड-बैठकके पश्चात् पिताकी सेवा करना बचपनसे उसने सीखा । पिता रहे नहीं, इकलौता पुत्र यमराजने उठा लिया । वह गुरुदेवकी शरणमें आया । यहाँ अब गुरुदेवकी, संतोंकी सेवा, आश्रमके कार्य और व्यायामके बदले प्राणायामका अभ्यास हो गया । योग किसलिये सीखे वह ।

'आत्मज्ञानके बिना उद्धार नहीं होता !' यह उससे बार-बार कहा गया है । आत्मा और जीवमें उसे कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, पर जीव है क्या ? प्रातःसे आज वह इसी उलझनमें है । जब गुरुदेवने दीक्षा दी, पता नहीं क्या हुआ । उसका शरीर उस समय झनझना उठा था । कई दिनोंसे रीढ़में कुछ चींटियाँ-सी चलती हैं । आज वह ध्यान करनेका प्रयत्न कर रहा था । 'हृदयकमल तो खिला ही है !' ऐसे श्रद्धालुओंको कमलोत्थान और जागरणकी अपेक्षा नहीं होती । भाव ही उनके हृदयको नित्य उद्बुद्ध रखता है । उसने हृदयमें तेजोमयी गुरुमूर्तिके दर्शन किये ।

'मेरा जी सदा गुरुके चरणोंमें लगा रहता है !' वह सोचने लगा । 'अवश्य इन चरणोंमें ही कहीं मेरी आत्मा लगी होगी !'

'ज्योतिर्मय अङ्गुष्ठपरिमाण आत्मा !' वह हृदयमें प्रकट उन चरणोंको ध्यानसे देख रहा था । चरण ज्योतिर्मय हैं । उनका अङ्गुष्ठ—पर वहाँ और कोई दूसरी अङ्गुष्ठ-जितनी बड़ी वस्तु तो नहीं है ! एक-एक पाद-तलकी रेखाएँ स्पष्ट हो गयीं । वह भूल ही गया कि उसे आत्माको ढूँढ़ना है । ध्यान करता रहा चरणोंका ।

'हरि ! तुम्हें अपने गुरुबन्धुके लिये चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं ।' ब्राह्ममुहूर्तमें भर्तृहरिने गुरुदेवके चरणोंमें अभिवादन किया था । सचमुच आज रात्रिमें उनके मनमें अनेक बार भैरवनाथकी बात आयी । कितना सरल, सेवापरायण, बालचित्त है वह । उसका हृदय आवरणहीन क्यों नहीं होता ?

'आज वह अबतक उठा नहीं है !' ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि भैरवनाथ इतनी देरतक आसनपर रहे । वह तो नित्य इस समयतक आश्रम स्वच्छ करनेमें लग जाया करता था ।

'तुम्हारा उपदेश सार्थक हुआ !' गुरुदेवके मुखपर रहस्यमय स्मित आया ।

'आपके श्रीचरणोंकी सेवा सार्थक तो होगी ही; किंतु भैरवके सम्बन्धमें प्रभुको विशेष द्रवित होना है !' गुरुकी प्रसन्नताने प्रार्थनाको अवकाश दिया ।

'वह अज्ञानी नहीं है !' भर्तृहरि चौंके । उनके सर्वज्ञ गुरु कभी अनर्गल बात नहीं कहेंगे । 'अज्ञान अश्रद्धासे होता है । उसकी मुझमें श्रद्धा है !'

'वह आत्माकी सत्ता भी समझ नहीं पाता !' भर्तृहरिने शंका की ।

'घोर अज्ञानी ही सत्तामें सन्देह करते हैं ! शरीर ही सब कुछ नहीं है, जो इतना समझकर कहीं श्रद्धा करेगा, वह उस सत्ताका साक्षात्कार अवश्य पा लेगा ।' योगीन्द्र बाबा गोरखनाथ आज भावका महत्त्व समझा रहे थे । 'श्रद्धा अज्ञानके आवरणमें बँधी नहीं रह सकती । जब वह उन्मुक्त होती है, दूसरे आवरण स्वतः नष्ट हो जाते हैं !'

'भैरव.................................... ।'

'उसे देखोगे ?' बात पूरी होनेसे पूर्व ही गुरुदेवने भर्तृहरिको साथ लिया और आसनसे उठे ।

'ज्योति—निर्मल, घनानन्द ज्योतिमात्र !' भैरवनाथने नेत्र बंद कर रक्खे थे। सम्भवतः वे रात्रिभर बैठे ही रहे हैं। सहसा मस्तकपर स्पर्श हुआ और नेत्र खुले। अन्तरकी ज्योति जैसे बाहर घनीभूत खड़ी हो।

'इन नखोंकी ज्योति ही सबमें—सब हृदयोंमें और पदार्थोंमें भी फैली है! व्यर्थ ही आपने आत्मा, जीव आदि नाम रखकर मुझे उलझा दिया !' गुरुचरणोंसे उठकर भर्तृहरिको उलाहना दिया उन्होंने। ठीक उसी प्रकार जैसे छोटा भाई बड़े भाईको देता है।

'यदि तू उसे उपभोक्ता न बना दे, सिद्ध हो गया !' गुरुदेवने आशीर्वाद दिया या नहीं, कौन जाने।

× × × ×

[२]

'बाबा भैरवनाथ शक्तिपात करते हैं! दीक्षा ली और आत्मज्योतिके दर्शन हुए! ऐसे समर्थ गुरुकी कृपा बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होती है!' लोगोंमें किसी बातको बढ़ा-चढ़ाकर कहनेका सहज स्वभाव है। बाबा भैरवनाथकी व्यापक ख्यातिमें इस स्वभावका भी हाथ तो है ही।

'क्या रक्खा है इन साधनोंमें! गुरुकी शरण लो! तत्काल चमत्कार देखोगे। मोक्ष तो वे भस्मकी चिटकीके साथ प्रसादमें बाँटते हैं।' ये शिष्यवर्ग यदि अपने गुरुदेवका गुण-गान करते हैं तो अपराध कौन-सा करते हैं। 'जाको खाइय, वाको गाइय।' अन्ततः गुरुदेवके मठमें माल घुटनेके साधन भी तो एकत्र होने चाहिये।

'वे महामूर्ख हैं जो कहते हैं कि आत्मा नहीं होता!' बाबाजी स्वयं प्रत्यक्ष जो वस्तु दिखला सकते हैं, उसमें भी कोई अश्रद्धा करे तो उससे बड़ा मूर्ख होगा कौन। जिसे विश्वास न हो, वह दीक्षा लेकर देख ले। यहाँ तो खुला दरबार है।

कोई भी बात फैलती है तो उसके मूलमें कुछ तथ्य होता ही है। बाबा भैरवनाथ दीक्षा देते समय शिष्यकी दोनों भौंहोंके मध्यका भाग अपने दाहिने हाथकी मध्यमा अङ्गुलीसे स्पर्श कर देते हैं। दीक्षा लेनेवाला नेत्र बंद किये होता है। जैसे एक प्रदीप भ्रूमध्यमें प्रकाशित हो गया हो। अब वह प्रकाश किसीको सदा न दिखायी दे तो गुरुदेव क्या करें। उसमें श्रद्धा, विश्वास, गुरुसेवाका अभाव होगा तो प्रकाश स्थायी कैसे रहेगा।

लोक तो 'चमत्कारको नमस्कार' करता है। आश्रमकी झोपड़ियाँ विदा हो गयीं। उनका स्थान विशाल भवनने लिया। शिष्योंकी पूजाके लिये मन्दिर बना। त्रिशूल स्थापित हुआ। बाबा गोरखनाथकी चरण-पादुका पूजित होने लगी। योग्य शिष्य ही तो गुरुका गौरव उज्ज्वल करता है।

किसी-किसीको दूसरोंकी उन्नति असह्य हुआ करती है। बाबा भैरवनाथ तो सरलताकी मूर्ति हैं, वे तो कुछ बोलते नहीं, पर उनके शिष्योंसे कैसे सहा जाय। यह भर्तृहरि बाबाके बड़े गुरुभाई हुए तो क्या, उन्हें इसका बड़ा घमण्ड है कि वे पहले राजा थे। भला साधुमें बड़ा-छोटा क्या; पर उनसे तो बाबाकी यह कीर्ति और ऐश्वर्य देखा नहीं जाता।

'भैरव, गुरुदेवने तुम्हें सिद्ध होनेका आशीर्वाद दिया!' आज सबके सामने ही भर्तृहरिने बाबा भैरवनाथसे कहा था। 'तुमने आत्मसिद्धिके बदले लोकसिद्धि ले ली! यह भवन, ये पदार्थ, इनका संग्रह किसके लिये है? तुम कभी सोचते भी हो?'

'जैसे सोचनेका ठेका इन्हींने लिया है। तीन महीना भी नहीं बीतता और आ धमकते हैं। यह स्थान न हो तो मालपुए कहाँ मिलें!' शिष्योंको बात बहुत कड़ी लगी थी। भैरवनाथजीने कुछ कहा तो नहीं, पर उनके नेत्रोंने बहुत कुछ कह दिया।

'पदार्थोंका भोक्ता बनकर ही जीव शरीरमें आसक्त हुआ। पदार्थोंसे तृप्तिकी भावना ही करनी है उसे। पदार्थका उपयोग तो उसे प्राप्त नहीं होता। साधुके

एकाग्र हृदयमें क्या कम आनन्द या तृप्ति है जो संग्रह करे और असन्तोष मोल ले !' भर्तृहरिको गुरुभाईसे सहज स्नेह है । वे मठसे विदा होनेसे पूर्व एक बार फिर सावधान करना चाहते हैं । 'पदार्थोंका उपयोग शरीरके लिये है, पर शरीर उनका कोई सुख-दुःख नहीं पाता । मृत शरीरके लिये सभी भोग समान हैं !'

'आप मुझे शाप देना चाहते हैं !' व्यक्तिके सहन-की सीमा होती है । भैरवनाथ अपने शिष्यों और सेवकोंके सम्मुख कहाँतक अपमान सहें । 'भर्तृहरि यह मृत्युकी क्या बात कहने लगे । वे इतने बढ़ गये कि मरनेका शाप दें !' स्वर कठोर हुआ ।

'तुम स्वयंको अभिशप्त कर रहे हो ।' भर्तृहरिने रोषका कोई लक्षण नहीं प्रकट किया ।

'आप यहाँसे पधारें ।' शिष्योंमें एकने लगभग चिल्लाकर कहा । वह साधुकी अपेक्षा मल्ल (पहलवान) अधिक प्रतीत होता है । पूरी उत्तेजनामें है और उसके समीप ही कुछ और वैसे ही युवक साधुवेषमें रुष्ट-से खड़े हैं । 'आप तो राजसदनको ठुकराकर साधु हुए हैं; फिर इस भवनमें क्यों रहें । वनसे आपका यहाँ आना ही आश्चर्यजनक है ।' व्यंग भरपूर तीक्ष्ण हो गया था ।

'तुम जो देख रहे हो, यह तुम्हारा स्नेह नहीं; इस ऐश्वर्यका अनुराग है ।' जैसे वहाँ कोई दूसरा है ही नहीं । भर्तृहरिने किसीकी ओर देखातक नहीं । 'अब भी कुशल है, उत्तराधिकारियोंमें छीननेकी भावना हो, इससे पूर्व ही उन्हें यह सब दे दो और मेरे साथ आओ ।'

'जैसे गुरु गोरखनाथ यहीं हैं ।' शिष्यवर्ग उत्तेजित होता रहा ।

'मैं विचार करूँगा ।' भैरवनाथ किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाना चाहते थे ।

'विचार करो, पर विचारको कुण्ठित मत करो ।' भर्तृहरिने मस्तक झुकाया । उन्होंने नहीं देखा कि किस प्रकारकी विचित्र भङ्गिमासे लोगोंने अपने मुख विकृत कर लिये हैं । वे द्वारसे बाहर जा रहे थे—दूर, वनकी ओर ।

× × ×

[४]

'गुरुदेव, आपने कहा था कि भैरव मूर्ख नहीं रहेगा ।' भर्तृहरिने अन्ततः गुरुदेवके दर्शन प्राप्त किये । उनके सर्वज्ञ गुरु व्याकुल स्मरणकी उपेक्षा कहाँ कर पाते हैं । 'जो भोगोंको ही लक्ष्य मान ले, वह मूर्ख ही तो है ।'

'यह भी संस्कार है ।' जैसे बाबा गोरखनाथका भैरवनाथसे कोई सम्बन्ध हो ही नहीं । 'इस समय रजोगुण उसमें प्रबल हो गया है ।'

'लोग कहते हैं कि आप चमत्कारोंके महापुरुष हैं ।' भर्तृहरिने प्रार्थना की गुरुबन्धुके लिये 'संस्कारोंसे आपकी कृपाके चमत्कार कहीं शक्तिशाली हैं प्रभु ।'

'जबतक हृदय शुभ कर्मोंमें लग न जाय, शान्ति-का मार्ग खुलता नहीं ।' बाबाने उसी तटस्थतासे बताया । 'अभी तो वह रजोगुणसे तमोगुणकी ओर जा रहा है । रोष, विवाद और आलस्य—यही उसके उपास्य हो गये हैं ।'

'प्रभुने दीक्षा दी है और उसने श्रीचरणोंकी सेवा कम नहीं की है ।' स्वर जैसे दया एवं दीनता-के भारसे मन्द हो रहा हो ।

'अग्निकी चिनगारी महाज्वाला तो बनेगी ही । ईंधनका भार उसे दबा सकता है, बुझा नहीं सकता ।' वाणीमें आश्वासन था । 'केवल संवत्सरका एक चक्कर अभी और पूरा होगा ।' उन त्रिकालदर्शीने अवधि निर्धारित कर दी ।

'बाबा भैरवनाथ महाराज बड़े भारी महात्मा हैं । उनकी धूनीपर चिलम कभी ठंडी नहीं होती ।' भर्तृहरिजीको गुरुभाईके समाचार मिल जाया करते हैं जंगलियोंसे । इन समाचारोंने उन्हें कुछ उद्विग्न कर

दिया। गुरुदेवने प्रार्थना सुन ली। एक वर्ष कोई बड़ी अवधि नहीं है।

'मठपर डाका पड़ा था। डाकुओंने सब लूट लिया। आजकल इतना अधर्म हो गया कि लोग साधु-संतोंके स्थानको भी छोड़ते नहीं।' उस दिन वह जंगली लकड़िहारा बड़े दुःखसे सुना गया।

'महाराजसे भला कोई बात छिपी रह सकती है। डाकुओंको उन्होंने अपने शिष्योंसे ही पकड़ मँगवाया। मठमें इतनी मार पड़ी कि कईने रक्त उगल दिया। सब सामग्री मिल गयी। अब राज्य जो दण्ड देगा वह ऊपरसे। ऐसे दुष्टोंको तो कुत्तोंसे नोचवा देना चाहिये।' उस वन्यपुरुषमे साधुओंके प्रति बड़ी श्रद्धा है। उसकी श्रद्धाने डाकुओंके कष्टका विचार करने ही नहीं दिया।

'किसीने बाबा भैरवनाथको भोजनमें विष दे दिया। चिकित्सा चल रही है।' इस समाचारसे इच्छा हुई जाकर देखनेकी, परंतु गुरुने तो आनेपर भी न बोलनेका आदेश दे दिया है।

'मठको तो चिकित्सालय बना दिया गया।' फिर समाचार मिला। 'सब सम्पत्ति दे दी गयी।'

'अपने रोगने दूसरे रोगियोंके कष्टोंका ध्यान दिलाया।' भर्तृहरि मन-ही-मन सोच रहे थे।

'चिकित्सालय उसी साधुके संरक्षणमें रहेगा, जिसने विष दिया था।' आज वह जंगली पुरुष बहुत उदास है। उसने सुना है कि बाबा भैरवनाथको उनके ही किसी शिष्यने विष दे दिया था। बाबाजीने उसे कोई दण्ड न दिया और न किसीको देने दिया। उलटे उसे सम्मानित किया उन्होंने। 'वह तो चाहता ही था कि मठकी गद्दी उसे मिले।'

'अब सत्त्वगुण जाग्रत् हुआ है।' भर्तृहरि मन-ही-मन गणित कर रहे थे। गुरुदेवके बताये हुए वर्षमें पूरे नौ महीने बीत चुके।

'मुझे क्षमा नहीं मिलेगी ?' जैसे कोई वर्षोंका रुग्ण हो। कहाँ गया वह पुष्ट भव्य शरीर। हड्डियोंके ऊपर स्नायु लपेटकर चमड़ेसे ढकी एक आकृतिमात्र रह गयी। मांसका नाम नहीं। नेत्र गड्ढेमें चले गये। उनके चारों ओर घनी कालिमा फैल गयी। शरीर पीला हो गया। भर्तृहरिको दया आयी। गुरुबन्धु इस अवस्थामें सम्मुख खड़ा नेत्रोंसे धाराएँ बहा रहा है और वे उसकी ओर देखतेतक नहीं।

'मैं अधम हूँ। सचमुच ही आप मुझसे बोलें, इस योग्य नहीं हूँ। यहाँ आकर अपने अपवित्र स्पर्शसे इस पुण्याश्रमको दूषित किया है मैंने।' भूमिमें मस्तक रखकर वह फिर उठा—'केवल एक प्रार्थना है, गुरुदेव कभी पधारें तो उनकी तनिक-सी चरण-रज किसीके द्वारा सरिताके उस तटपर इस कंगालके लिये भेज देंगे। प्राण न भी रहा तो अस्थियाँ उसकी प्रतीक्षा करेंगी।'

'गुरुदेव ! गुरुदेव !' भर्तृहरिकी वाणी नहीं, परंतु उनका हृदय हाहाकार कर रहा था। उनका गुरुबन्धु लौट रहा है। उन्हें इतना कठोर आदेश पालन करना है कि बोलतक नहीं सकते। 'गुरुदेव !'

'भैरव !' जैसे कानोंमें अमृत पड़ा हो।

'गुरुदेव !' दोनों चौंके, दोनों दौड़े और आज बाबा गोरखनाथके चरणोंपर भर्तृहरि और भैरवनाथ एक साथ पड़े थे—समान, बिना भेदके।

'मेरे बच्चे !' बाबाने पहले भैरवनाथके मस्तकपर हाथ फेरा 'तू मूर्ख नहीं है। देख तो कौन गुणोंमें लिप्त होकर उनका उपभोग करता है और फलतः गुणोंमें स्थित होकर बार-बार आता-जाता है संसारमें।'

'प्रकाश—दिव्य प्रकाश! श्रीगुरुमूर्तिका वही अणु-अणुमें व्याप्त दिव्य तेज !' जब बाबा गोरखनाथ कह रहे हैं तो भैरवनाथ अज्ञानी—मूर्ख कैसे रह सकते हैं। उनके ज्ञाननेत्र आज आवरणहीन हैं। अब कुछ उनके लिये रहस्य कैसे रह सकता है।

कामके पत्र

(१)

लगन होनेपर भजनमें कोई बाधा नहीं दे सकता

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आप लिखते हैं 'मैं गृहस्थाश्रममें फँसा हूँ, परिवारपालनके लिये धन कमाना पड़ता है । इस अवस्थामें साधन-भजन कब और कैसे करूँ ।' आपका लिखना बहुत ठीक है । ऊपरसे देखनेपर आपकी बात बहुत ही ठीक और युक्तियुक्त प्रतीत होती है । और यह भी कोई नहीं कह सकता, आप अपने परिवार-पालनके कार्यको छोड़ दें; परंतु यदि गहराईसे विचार किया जाय तो मालूम होगा यह विचार वस्तुतः हमारे मनका धोखा ही है । भजन-साधनमें लगन और रुचि होनेपर उसमें कोई भी बाधा नहीं पड़ सकती । शास्त्रोंमें उदाहरण दिया गया है कि 'परव्यसनिनी नारी दिनभर घरके काम-काजमें लगी रहती है, किसी काममें त्रुटि नहीं करती, पर उसका मन दिन-रात अपने इच्छित विषयमें लगा रहता है । उसे वह भूल नहीं सकती ।' इसी प्रकार साधक गृहस्थीके सारे कर्म सुचारुरूपसे करता हुआ ही चित्तवृत्तिको भगवान्‌के भजनमें संयुक्त रख सकता है । भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनको सब समयमें अपना (श्रीभगवान्‌का) स्मरण करते हुए युद्ध करनेकी आज्ञा दी है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
(गीता ८ । ७)

जब युद्ध-सरीखा विकट कर्म भी भजन-स्मरणमें बाधक नहीं होता, तब गृहस्थाश्रममें अन्यान्य कर्म कैसे बाधक हो सकते हैं । लगन होनी चाहिये । यह तो हमारा मन ही भाँति-भाँतिके बहाने बताकर हमें प्रसारित किया करता है और हम अपनी लगनके अभावसे उसीको सत्य प्रमाण मानकर हाँ-में-हाँ मिला देते हैं ।

यदि आप इस बातको भलीभाँति समझ लें और विश्वास कर लें कि मानव-जीवनका चरम और परम उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है । भगवान्‌की प्राप्तिके बिना जीवन व्यर्थ है और साथ ही यह भी विश्वास कर लें कि संसारके विषय विषरूप हैं, इनके सेवनसे बार-बार मृत्युके मुखमें पड़ना पड़ेगा तो आपकी अपने-आप ही विषय-भोगोंमें अरुचि हो जाय और आप भगवान्‌को भजने लगें ।

धनके महत्त्वको जान लेनेपर धनकी आवश्यकतावाले पुरुषको यह समझाना नहीं पड़ता कि वह धनोपार्जनके लिये प्रयास करे । वह अपने-आप ही दिन-रात उसी उद्योगमें लगा रहता है । और यदि उसे कहीं पता लग जाय कि अमुक स्थानपर असीम धनराशि गड़ी है एवं वह तुम्हें मिल सकती है, तब तो वह हजार काम छोड़कर उसकी प्राप्तिके प्रयासमें लग जायगा । इसी प्रकार किसीको मालूम हो जाय कि तुम जिस लड्डूको खाने जा रहे हो, वह सुन्दर है, मधुर है; परंतु उसमें जहर मिला हुआ है, तो चाहे जितनी भूख लगी हो और लड्डुओंमें चाहे जितना मन आसक्त हो, पर वह लड्डू नहीं खायेगा । इसी प्रकार भगवत्प्राप्तिकी अनिवार्य आवश्यकताका अनुभव होनेपर तथा भजन-साधनसे वे शीघ्र मिलते हैं यह विश्वास होनेपर मनुष्य चाहे जैसे भी हो, भजन-साधन करेगा ही; और यह विश्वास हो जानेपर कि विषय सचमुच विष ही है, वह स्वाभाविक ही उनका त्याग कर देगा । हमलोग भगवान्‌की महत्ता और विषयोंकी विषमयताकी बात कहते-सुनते तो हैं; पर वस्तुतः हमारा विश्वास ऐसा नहीं है । इसीलिये हममें न तो भगवद्भजनकी लगन है, न विषय-त्यागकी ही ।

श्रीतुलसीदासजी महाराज तो कहते हैं कि जैसे

कामीको नारी प्रिय होती है और लोभीको धन प्रिय होता है, वैसे ही मुझको निरन्तर हे भगवान् श्रीरामचन्द्र ! आप प्रिय लगें ।

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

भगवान्‌में ऐसी प्रियता होनेपर तो हम उन्हें भूल ही नहीं सकते, चाहे घरका कितना ही काम हो । जबतक ऐसा न हो, तबतक रोग-नाशके लिये जैसे दवा ली जाती है, वैसे ही भव-रोगनाशके लिये दवाके रूपमें भगवान्‌का भजन करना चाहिये ।

यदि हम अपनेको भगवान्‌का सेवक मान लें और घरके स्वामी भगवान्‌को, तो फिर घरका भी प्रत्येक काम भगवान्‌की सेवा या भजन ही बन जायगा । उस अवस्था-में मुखसे भगवान्‌का नाम लेते हुए और मनसे भगवान्‌का चिन्तन करते हुए हम बड़ी आसानीसे घरके सारे काम सुचारुरूपसे रस प्राप्त करते हुए करेंगे । हमारा जीवन भजनमय ही हो जायगा । अतएव आप इस धारणाको त्याग दीजिये कि घरका काम करते हुए भजन नहीं बनता । वरं यह दृढ़ धारणा कीजिये कि निरन्तर भजन करते हुए घरका सारा काम भलीभाँति हो सकता है । यहाँतक कि सारा काम ही भजन बन सकता है ।

(२)

भगवान्‌का स्वरूप

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌का स्वरूप क्या है ? यह ठीक-ठीक भगवान् ही जानते हैं । अथवा वे कृपा करके जिसे जना दें, वह भगवत्-स्वरूपके विषयमें कुछ-कुछ जान सकता है । कुछ-कुछ इसलिये कि मानवी बुद्धि भगवान्‌के स्वरूपतक पहुँच ही नहीं सकती । उनकी महिमाके एक अंशका भी सम्यक् रूपसे ग्रहण नहीं कर सकती । जहाँ ब्रह्मा आदि देवताओंकी भी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, शेष-शारदाकी भी वाक्-शक्ति अवरुद्ध हो जाती है वहाँ मानवीय मन-बुद्धिकी क्या गति होगी—यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है । शास्त्रकी वाणीमें—जहाँ सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान तथा सम्पूर्ण वैभव प्रतिष्ठित हैं, वे ही भगवान् हैं । श्रीमद्भागवतमें भगवत्-स्वरूपकी त्रिविध अभिव्यक्ति सूचित की गयी है—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् । 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' । ब्रह्म निर्गुण निराकार हैं, परमात्मा सगुण निराकार हैं और भगवान् सगुण साकार मङ्गलविग्रह दिव्य सच्चिदानन्दघनस्वरूप हैं । जैसे भगवान् सूर्यकी त्रिविध अभिव्यक्ति होती है—एक सूर्यका प्रकाश है, जो सर्वत्र व्यापक है । दूसरा सूर्यमण्डल है, जो प्रकाशका घनीभूत पुञ्ज है तथा तीसरी अभिव्यक्ति साक्षात् सूर्यनारायणकी है, जो सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता हैं । यहाँ प्रकाश सूर्यमण्डलके आश्रित है और सूर्यमण्डल सूर्यनारायणके । इस प्रकार भगवान् सूर्य ही सम्पूर्ण तेज और प्रकाशके उद्भावक हैं । वे एक देशमें स्थित होकर भी प्रकाशके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं और तेजोमण्डलके रूपमें सम्पूर्ण लोकके प्रकाशक एवं सविता (उत्पादक और पालक) हैं । इसी प्रकार सर्वव्यापक प्रकाशस्थानीय ब्रह्म ही विभु हैं । वही अनन्त, असीम, अगुण एवं अवाङ्मनस-गोचर तत्त्व है । इस ब्रह्मका भी आश्रय—घनीभूत प्रकाश, जिसे चिन्मय परम धाम, परम पद, परम व्योम, त्रिपाद् अमृत एवं वैकुण्ठ आदि धाम कहते हैं, परमात्मा है; और इस घनीभूत प्रकाश-पुञ्जके भी प्राण, आत्मा एवं आधार सच्चिदानन्दरसघनविग्रह अखिलरसामृत-सिन्धु साक्षात् भगवान् हैं, जिन्हें शास्त्र श्रीकृष्ण, श्रीराम, महानारायण, सदाशिव आदि नामोंके द्वारा वर्णन करता है । यह त्रिविध अभिव्यक्ति एक ही है ।

एक ही तत्त्वके तीन नाम दे दिये गये हैं। इस प्रकार सगुण साकार सच्चिदानन्दमय मधुरातिमधुर विग्रहका ही नाम भगवान् है। यहाँ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। वास्तवमें भगवत्-स्वरूपका किञ्चित् मात्र बोध भी केवल भगवत्कृपासाध्य है। यह स्वानुभवैकगम्य विषय है।

(२) आत्माका स्वरूप क्या है? यह प्रश्न करते समय आप 'आत्मा'के मानी 'जीव' समझ रहे हैं। भागवत, गीता तथा रामायण आदि सद्ग्रन्थोंमें जीवको 'ईश्वरका अंश' कहा गया है। स्वरूपतः वह भी विमल चैतन्यरूप एवं सहज आनन्दराशि है, किंतु मायावश वह अपने स्वरूपको भूल गया है; अतएव वह अपनेको बद्ध, दुखी, जरा-मृत्युसे ग्रस्त मानता है। जब सत्-समागम तथा पुण्यविशेषसे वह भगवान्की शरण जाता है, तब वे कृपा करके जीवको अपनी भक्ति देते और उसे अपने स्वरूपका बोध कराते हैं। फिर तो वह अपनेको प्राकृत-शरीरसे अतीत, अजर, अमर, अजन्मा एवं नित्यमुक्त देखने लगता है और भगवत्सेवाजनित सुखके सिन्धुमें निमग्न हो जाता है। जीवभावकी निवृत्ति होनेपर यह विशुद्ध आत्मा बन जाता है। विशुद्ध आत्मा तो वह अब भी है ही, जीवत्वके भ्रमसे इस सत्यको देख नहीं पाता। भ्रम दूर होनेपर सत्यका उसे साक्षात्कार होने लगता है। फिर तो वह परमात्मासे भिन्न नहीं रह जाता। केवल भगवत्सेवा-रसका आस्वादन करनेके लिये अपने पार्थक्य-अभिमानको बनाये रखता है। 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।' यह उसकी सहज निष्ठा है।

(३) 'परमात्माका स्वरूप क्या है?' इस विषयमें ऊपर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। जब केवल परमात्माके विषयमें प्रश्न हो, तब उसे सम्पूर्ण परमात्मतत्त्व—समग्र ब्रह्मविषयक समझा जाता है। अतः परमात्मापदसे यहाँ ईश्वर, भगवान्, ब्रह्म आदि सभी नामोंका ग्रहण हो जाता है। अतः जो सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डका आत्मा और आधार है, जिससे यह सब कुछ उत्पन्न होता है, जहाँ इसकी स्थिति है और पालन होता है तथा अन्तमें जहाँ इसका विलयन हो जाता है; वह सर्वात्मा, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सर्वपोषक तत्त्व ही परमात्मा है। वह सम्पूर्ण प्राकृत प्रपञ्चमें व्याप्त होकर भी उससे परे है। वह मायाके अधीन नहीं, माया उसके अधीन है। वही बन्धन और मुक्ति देनेवाला है। उसीके स्वरूपगत प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है। वह मनका भी मन, बुद्धिकी भी बुद्धि, प्राणोंका भी प्राण तथा आत्माका भी महान् आत्मा है। वह सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, सर्वमय, सर्वातीत, भेद-अभेद तथा उभयातीतस्वरूप, मन-बुद्धिसे अगोचर, परमतत्त्व, सारे सिद्धान्तों और फलोंका अन्तिम अनिर्वचनीय और अचिन्त्य फल है।

(४) 'आत्मा कितने हैं?' यह प्रश्न जीवको लेकर बन सकता है। तो जीव अनन्त हैं, असंख्य हैं। यह भेद भ्रम—अज्ञानजनित है। जैसे समुद्रकी बूँदें असंख्य हैं, उसमें उठनेवाली लहरें अपरिमित हैं तथापि वे पृथक् नहीं गिनी जा सकतीं। वे सब मिलकर एक समुद्र है। इसी प्रकार असंख्य चिन्मय जीव एक परमात्माके ही अंश हैं। अतः परमात्मरूपसे सब एक है और जीवरूपसे तो उनकी कोई नियत संख्या सम्भव ही नहीं है।

(५) 'एक है तो कैसे जाना जाय और अनेक है तो कैसे जाना जाय?' इस प्रश्नका उत्तर भी ऊपर आ चुका है। परमात्मरूपसे सब एक है, जैसे समुद्र-रूपसे सब लहरें एक हैं। जैसे समुद्रकी लहरोंकी गणना अशक्य है, वैसे ही जगत्के अनन्त जीवोंकी गणना भी असम्भव है। फिर भी शास्त्रकारोंने जीव-

जगत्की चार श्रेणियाँ मानी हैं—अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। चौरासी लाख योनियाँ हैं, जिनमें जीवोंका जन्म होता रहता है। एक-एक योनिमें अनन्त जीव देखे जाते हैं, फिर चौरासी लाख योनियोंकी जीवोंकी गणना कौन कर सकता है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

बुद्धिमान् और चतुर कौन ?

प्रिय महोदय ! आपका कृपापत्र मिला। आजकल यही हो रहा है। जो लोग किसी भी प्रकारसे ठगकर, लूट-कर, चोरीकर, छल-कपटकर और तरह-तरहके झूठे प्रपञ्च रचकर रुपया कमा लेते हैं, वे समझते हैं कि उनके समान चतुर, बुद्धिमान् और सफलजीवन पुरुष जगत्में कोई नहीं है। दूसरे लोग भी ऐसे ही लोगोंका मान-सम्मान करते हैं, प्रशंसा-स्तुति करते हैं और उनकी हाँ-में-हाँ मिलाते हैं। वे स्वयं और समाजके लोग उनके श्रेष्ठत्वकी घोषणा करते हैं। और समाज उन्हीं-को आदर्श पुरुष, नेता, बुद्धिमान् और सबका पथ-प्रदर्शक मान लेता है। इसीका यह परिणाम है कि आज समाजमेंसे सत्य, ईमानदारी, सदाचार, धर्मभीरुता आदि सद्गुणोंका लोप हो रहा है। परलोक, कर्मफलभोग, धर्म तथा ईश्वरके भय आदिको भूलकर लोग केवल अर्थपिशाच और अधिकारलिप्सु हुए चले जा रहे हैं। सारे समाजमें यह विषकी बेल फैल गयी है। नये-नये कानून बनते हैं पर बेईमानीके नये-नये रास्ते निकल रहे हैं। पता नहीं, इसका कैसा भयङ्कर कुपरिणाम होगा !

परंतु विचार करके देखनेपर पता लगता है कि बुद्धिमान् और चतुर तो वे लोग भी नहीं हैं, जो भोगोंमें सुख मानकर उनमें आसक्त रहते हैं पर निषिद्ध आचरण—चोरी, ठगी, बेईमानी, झूठ-कपट आदि न करके वैध उपायोंके द्वारा ही भोग प्राप्त करने-की चेष्टा करते हैं। क्योंकि ऐसे लोग यद्यपि जान-बूझकर पाप नहीं करना चाहते; परंतु उनके द्वारा जो दिन-रात विषय-चिन्तन होता है, वह स्वाभाविक ही विषयासक्ति, कामना, क्रोध (या लोभ), मोह, स्मृतिनाश और बुद्धिनाश करके अन्तमें उनका पतन करा देता है (देखिये गीता २। ६२-६३)। भोगोंसे परिणाममें दुःख उत्पन्न होता है। विचार करनेपर इसका भी सबको पता लग सकता है। सच्ची बात तो यह है कि भोग दुःखयोनि हैं, इसका सभीको अनुभव है, पर मोहवश इस अनुभवसे लोग लाभ नहीं उठा रहे हैं। जो मनुष्य अपनेको पतन और दुःखकी ओर बढ़ाता रहे, वह कभी बुद्धिमान् और चतुर नहीं कहला सकता। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

> नर तनु पाइ विषय मन देहीं।
> पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥
> ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
> गुंजा गहइ परसमनि खोई॥

श्रीभगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें उन्हींको बुद्धिमान् कहा है—जो इन दुःख उत्पन्न करनेवाले उत्पत्ति-विनाश-शील भोगोंमें अपने मनको नहीं फँसाते (गीता ५। २२) और जो भगवान्‌को ही सबका मूल तथा भगवान्‌से ही सबको प्रवर्तित समझकर भावके साथ उन्हें भजते हैं (गीता १०। ८)। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने उद्धवजीसे स्पष्ट कहा है—

> एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
> यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥
> (११। २९। २२)

'बुद्धिमानोंकी बुद्धि और मनीषियोंकी मनीषा यही है कि वे इस असत्य और मर्त्य देहके द्वारा मुझ सत्य और अमृतरूपको प्राप्त कर लें।'

मनुष्य-शरीरका यही उद्देश्य है और यही परम फल है कि उसमें अपने अधिकारानुसार साधन करके भगवान्‌को प्राप्त कर लिया जाय।

पर जो लोग इतने भोगासक्त और पतित हैं कि दिन-रात चोरी-ठगी, बेईमानी और झूठ-कपटमें लगे रहकर इसीमें अपनेको गौरवान्वित, पण्डित, बुद्धिमान् और चतुर मानते हैं, वे तो महामूढ़ हैं। वे मानव-जन्मको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं, पापका एक बहुत बड़ा बोझ बाँध रहे हैं, जिसका दुष्परिणाम विविध दुःखों, कष्टों और यातनाओंके रूपमें उन्हें जन्म-जन्मान्तरतक भोगना पड़ेगा। यहाँकी यह मान-प्रतिष्ठा, यह धन-ऐश्वर्य कितने दिनोंका है? यह सुख कबतक रहेगा? वस्तुतः तो इसमें सुख है ही नहीं। पाप करके भोगोंका उपार्जन करनेवाले मनुष्योंका चित्त कभी शान्त, उद्वेगरहित, निर्भय और निश्चिन्त नहीं रह सकता। वे रात-दिन अपने पापोंसे आप ही जलते रहते हैं। यह अनुभव ऐसे सभी लोगोंको न्यूनाधिक रूपमें है जो ऐसे कुकर्मोंमें लगे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें बतलाया है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले, अशुभ कर्मोंमें लगे हुए, निर्दयी नराधमोंको मैं संसारमें लगातार (कुत्ते, सियार, सूअर आदि) आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन! संसारमें वे मूर्खलोग जन्म-जन्ममें बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं और मुझको न पाकर, फिर और भी अधम गतिको (नरकोंकी प्रेत-पिशाचादि योनियोंमें) जाते हैं।' पहले भी भगवान् यह कह आये हैं——

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

'बुरी तरहसे कामोपभोगमें लगे हुए वे लोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं।'

यह है पापियोंकी गति——(१) जबतक जीवन रहा अशान्ति, उद्वेग, भय, ईर्ष्या और कामनाकी आगसे जलते रहे, (२) दुर्लभ मानव-शरीर व्यर्थ नष्ट हो गया——भगवत्प्राप्तिके मार्गपर ही नहीं आये, (३) पापोंका इतना भार ले चले कि जिसके फलस्वरूप कुत्ते, सियार, सूअर, नरकके कीट आदि बनना पड़ेगा और नरकोंकी भीषण यन्त्रणाएँ सहनी पड़ेंगी!

भला, कौन ऐसा यथार्थ बुद्धिमान् पुरुष होगा जो अपने जीवनको इस दुष्परिणामपर पहुँचाना चाहेगा। पर यदि कोई ऐसा चाहता है तो स्पष्ट ही है कि वह महामूर्ख है, जो अपने ही लिये आप दुःखोंकी गहरी खाई खोद रहा है।

अतएव विचारनेकी बात यह है कि ऐसे कार्य करनेवाला कोई चाहे अपनेको बुद्धिमान् और चतुर समझकर अभिमान करे या सारी दुनियाँ उसे महान् बुद्धिमान् और अत्यन्त दक्ष मानकर उसका बड़ा भारी सम्मान करे, वास्तवमें यह न तो उसकी बुद्धिमत्ता है, न दक्षता और न इससे उसको किसी प्रकारका लाभ ही है। अतएव आपको इस मोहमें कदापि नहीं पड़ना चाहिये। लोग चाहे मूर्ख मानें, चाहे यहाँ मान-सम्मान न मिले, चाहे यहाँका जीवन लोगोंके देखनेमें दुःखपूर्ण हो, पर जिसके जीवनकी गति भगवान्की ओर है, जो यहाँके सुखोंकी स्पृहा छोड़कर सादा जीवन बिताता हुआ गरीबीसे रहता है, और जो भगवान्के मङ्गल-विधानमें विश्वास रखकर अपनी लौकिक स्थितिके सम्बन्धमें सदा सन्तुष्ट और निश्चिन्त है, वही वास्तवमें बुद्धिमान् है, वही भाग्यशाली है और उसीका मानव-जीवन सफल होता है।

(४)

जीव भजन क्यों नहीं करता?

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद।

(१) इसमें सन्देह नहीं है कि श्रीभगवान् ही जीवमात्रके सच्चे सुहृद् और परम आत्मीय सम्बन्धी हैं । वे ही परम सुख और शान्ति देनेवाले हैं । वे जीव-जगत्के आधार हैं । जीवात्मा उन्हींका सनातन अंश है । अतः जीवका भगवान्के प्रति सहज एवं अटूट प्रेम होना चाहिये । जो जीव अपने और भगवान्के इस सहज सम्बन्धकी घनिष्ठताका अनुभव करता है, उसका भगवान्के प्रति स्वाभाविक अटूट प्रेम होता ही है । परंतु न जाने कब किस कारणसे जीव उस करुणामय सुहृद्से बिछुड़ गया । जीव और भगवान्के बीच एक आवरण-सा पड़ गया । अनादिकालसे और अज्ञात कारणवश जीव प्रभुसे अलग है । अलग होकर यह कभी सुख-शान्ति न पा सका । फिर भी मार्ग भूल जानेके कारण वह प्रभुतक पहुँच भी नहीं पाता । बिछुड़नेके बादसे अबतक इसने अपने मनमें इतने विरोधी संस्कार सञ्चित कर लिये हैं कि उनसे प्रभावित रहनेके कारण इसे अपने प्रेमास्पद प्रभुकी सत्तापर भी यथावत् विश्वास नहीं हो पाता । शास्त्र-श्रवण अथवा सत्सङ्गका अवसर सब जीवोंको तो प्राप्त होता ही नहीं । थोड़े-से लोगोंको यह अवसर अवश्य मिलता है । तथापि उनमें भी अधिकांश जनोंका मन विरोधी संस्कारोंके कारण संशयापन्न रहता है; अतः शीघ्र ही शास्त्रोपदेश या सत्सङ्गका उसपर भी यथार्थ असर नहीं हो पाता । हाँ, अधिक कालतक शास्त्रानुशीलन और सत्सङ्ग करनेसे धीरे-धीरे विरोधी संस्कार दूर एवं दुर्बल होने लगते हैं; फिर दीर्घकालके बाद जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तो प्रभुके साथका अपना सम्बन्ध स्मरण हो आता है । फिर तो पिछली पहचान जाग उठती है और महान्-से-महान् बाधाकी भी परवा न करके प्रेमी जीव अपने प्रियतम प्रभुके पास पहुँचनेके लिये प्रेमके पन्थपर दौड़ पड़ता है । जीव कब बिछुड़ा, क्यों बिछुड़ा? माया क्यों आवरण डालती है ? इन सब प्रश्नोंमें उलझनेसे आज कोई लाभ होनेवाला नहीं है । जीव जहाँ है, वहींसे उसको अपने प्रभुकी ओर बढ़ना है । कारण और समय कोई भी क्यों न रहा हो, आज जीव अपनेको भगवान्से अलग देखता है । प्रभुसे अपनेको बिछुड़ा हुआ पाता है । यह विलगाव, यह बिछुड़न दूर होनी चाहिये । यही इस विरही जीवकी जन्म-जन्मकी साध है । जब प्रभुके पास था, उनके चरणोंकी सेवामें था, तब इसे सुख था, शान्ति थी, आराम था, आनन्द था और प्रभुके मधुरातिमधुर प्रेम-रसका समास्वादन प्राप्त होता था । आज जब यह जीव प्रभुसे पृथक् हो गया है, तब भी यह उन्हीं वस्तुओंको चाहता है । पर लक्ष्यभ्रष्ट होनेके कारण यह भौतिक नाशवान् एवं दुःखमय जगत्में, यहाँके विषय-भोगोंमें उस सुख, शान्ति, आराम, आनन्द और मधुर प्रेम-रसास्वादनका लाभ लेना चाहता है । मरु-मरीचिकामें हिरन कितनी ही चौकड़ी क्यों न भरे, वहाँ शीतल जल नहीं मिल सकता । इसी प्रकार भौतिक जगत्के भोगोंमें शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । भगवान्की दयासे जो जीव वस्तुतः इस सत्यको समझ लेता है, वह सब कुछ छोड़कर एकमात्र प्रभु-चरणारविन्दोंका चिन्तन करनेवाला चञ्चरीक बन जाता है । जबतक प्रभु-प्राप्तिके सुखकी विलक्षणता अनुभवमें नहीं आती, तबतक विषयसुख ही श्रेष्ठ एवं स्पृहणीय प्रतीत होते हैं । उस दशामें भजन, साधन, पूजा, पाठ और आराधन आदि भी इस विषय-सुख-सामग्रीका सञ्चय करनेके लिये ही किये जाते हैं । इनकी प्राप्तिमें ही उन साधनोंकी भी सार्थकता दिखायी देती है । सत्कर्म, सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्र-चिन्तनके प्रभावसे जो प्रभुकी महत्ता समझ गये हैं, उन्हें भगवत्-कृपाका ही आश्रय लेकर, भगवान्की प्राप्तिको ही चरम

लक्ष्य बनाकर प्रत्येक साधन अथवा सत्कर्म करना चाहिये। विघ्न, बाधा और विक्षेप आते हैं तो आयें, इस दुःखमय जगत्में और है ही क्या, जो आयेंगे। जब अपने साथ भगवत्कृपाका बल है तब किसी भी विघ्न-बाधासे अपनी क्या हानि हो सकती है। विक्षेप आदिका भय भी भगवान्के प्रति अथवा उनकी अकारण करुणाके प्रति अविश्वासका ही सूचक है। भगवद्विश्वासीकी दृष्टिमें भगवान्के सिवा और कुछ आना ही नहीं चाहिये। सत्य यही है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। विघ्न-बाधा-विक्षेप भी भगवान्से भिन्न नहीं; तब भगवद्भक्तको किसीसे भी भय क्यों होना चाहिये। निर्भरता और निश्चिन्तता तो भगवद्भक्तका स्वाभाविक गुण है।

(२) भगवान् तो सत्य, सुन्दर, सुखस्वरूप हैं ही। उनके नाम, रूप, लीला, धाम सब वैसे ही हैं। जो भगवान्को वस्तुतः इस रूपमें समझ सके हैं; उनका सहज आकर्षण उनकी ओर होता ही है। जिनका सहज आकर्षण उनकी ओर नहीं है, वे भगवान्के सत्य, सुन्दर, सुखस्वरूपको नहीं जानते। संसारी वस्तुओंकी ओर आकर्षण इसीलिये है कि वे उनसे सुख पानेकी आशा रखते हैं; यदि उनके हृदयमें वस्तुतः यह विश्वास, यह अनुभव हो जाय कि भगवान् ही सुख, शान्ति, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम और आनन्द-सुधाके सागर हैं तो वे विषय-सुखको तिनकेकी भाँति त्यागकर उस ओर दौड़ पड़ेंगे।

(३) जप-कीर्तनादिमें कमजोरी होनेकी बात लिखी, सो मालूम हुई। हृदय, वाणी, कण्ठ तथा मस्तिष्क एवं मेधाको शक्ति प्राप्त हो, ऐसा प्रयोग किसी सद्वैद्यसे पूछकर करना चाहिये। सात्त्विक आहार, संयम, कुपथ्यसे परहेज तथा स्वास्थ्यकर वस्तुओंका सेवन एवं ब्रह्मचर्य-पालनपर भी ध्यान देना चाहिये।

(४) शारीरिक दुर्बलताके कारण भी आलस्य-प्रमाद आदि घेरते हैं; मनकी एकाग्रता भी नहीं हो पाती। अतः शरीरको स्वस्थ बनाये रखनेकी चेष्टाके साथ-साथ एकाग्र ध्यानका भी अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। मनको एकाग्र करनेका उपाय भगवान्ने ही बता दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही पातञ्जल-योगदर्शनका भी मत है। अभ्यास-वैराग्यके स्वरूप और महत्त्वसे आप परिचित होंगे ही। अतः अभ्यास बढ़ानेकी चेष्टा करते रहें।

(५) श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको बाह्य जगत्का भान बहुत कम रहता था; वे नित्य ही श्रीकृष्णकी सन्निधिमें रहते थे। उनके लिये सर्वत्र वृन्दावन ही था। उनके भक्तगण ही उनकी सँभाल रखते थे। वृन्दावनकी प्रत्येक वस्तु उनके विरहभावको उद्दीपित करनेवाली थी। अतः वे बार-बार मूर्च्छित हो जाते थे। कभी-कभी यमुनामें कूदकर देरतक डूबे रह जाते। उस दशामें उनके इस शरीरकी रक्षा कठिन जान पड़ने लगी; अतएव भक्तगण इन्हें जगन्नाथपुरी ले गये। प्रभु भक्तपरवश थे। भक्तोंकी इच्छा देखकर ही करुणावश उनके साथ वृन्दावनसे चले गये।

(६) 'निरख सखि! चार चंद इक ठौर' वाले पदका संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार जान पड़ता है, प्रिया-प्रियतम दोनों यमुनाजीके तटपर बैठकर उनकी चञ्चल लहरोंकी शोभा देख रहे हैं। उस समय कोई सखी दूसरी सखीसे उस झाँकीका वर्णन कर रही है। प्रिया-प्रियतमकी परछाहीं भी जलमें दिखायी पड़ती है, अतः वे दोसे चार हो गये हैं। शब्दार्थ इस प्रकार है—

'सखी! देखो तो सही, एक ही स्थानपर चार चन्द्रमा एकत्र हो गये हैं। प्रियतम श्यामसुन्दर और प्रियतमा श्रीकिशोरीजी दोनों बैठे हैं, और सूर्यनन्दिनी यमुनाकी ओर देख रहे हैं। चारमेंसे दो चन्द्रमा तो श्यामघनकी भाँति नील वर्णके हैं (एक श्यामसुन्दर और दूसरा उनका प्रतिबिम्ब है) तथा दो चन्द्रमाओंकी झाँकी गौर वर्णकी है। (किशोरीजी और उनका प्रति-

बिम्ब—ये दो गोरे हैं) इन चारों चन्द्रमाओंके बीच चार शुक शोभा पा रहे हैं। इनकी नासिका ही शुकके समान प्रतीत होती है। केवल किशोरीजी ही अपनी नासिकामें मुक्ता-फल धारण करती हैं; अतः वह उन्हींके प्रतिबिम्बमें भी लक्षित होता है। इस प्रकार चार शुकोंके बीच दो ही फल हैं। चारोंके आठ नेत्र ही आठ चकोर हैं। प्रत्येक चन्द्रमा (मुख-चन्द्र) के साथ प्रवाल (मूँगा) है, कुन्द है और भ्रमर भी है। यहाँ अधर ही प्रवाल हैं, दन्तपङ्क्ति ही कुन्द है और भ्रूलता ही भ्रमरावलि है। ऐसे शोभामय चन्द्र-व्रह्ममें मेरा मन उलझ गया है। सूरदासजी कहते हैं, मेरे दोनों ही प्रभु रूपकी निधि हैं, इन युगल-किशोरकी झाँकीपर बलिहारी है! बलिहारी है!'*

(७) आप तो प्रभुकी लीला-कथाके गायक हैं। उनका निरन्तर चिन्तन करते रहे हैं। प्रभुके रूप, रस, लीला, धाम और नामकी माधुरीमें मनको डुबाये रक्खें; फिर उनका विशुद्ध प्रेम या अनुराग तो प्रभु स्वयं ही दया करके देंगे। वह किसी साधनका फल नहीं, प्रभुकी कृपाकी देन है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

आजके मठ और आश्रम

प्रिय महोदय! आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि मैं कई वर्षोंसे एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान करनेकी इच्छासे विविध आश्रमों और मठोंमें रहता आया हूँ पर मुझे कहीं भी शान्ति नहीं मिली। जहाँ गया, वहीं प्रपञ्च पाया और उकताकर मुझे वहाँसे भागना पड़ा।' वात ठीक है। शान्ति किसी स्थानविशेषमें नहीं है, शान्ति तो आपके अंदर है और वह अनुकूल वातावरण मिलनेपर कहीं भी प्रकाशित हो सकती है। आजकलके आश्रमों और मठोंमें अधिकांशकी स्थिति अच्छी नहीं है। इस विषयमें पिछले दिनों **स्वामी असीमानन्दजी सरस्वतीने** एक लेख लिखा था, उसके कुछ अंशका अवतरण नीचे दिया जाता है, इससे आजकलकी ऐसी संस्थाओं-की दशाका अनुमान लगाया जा सकता है। वे लिखते हैं '………अतीत भारतका आडम्बरशून्य एक आश्रम भारतवर्षको जो अमूल्य सम्पत्ति दान कर जाता था, आजके सैकड़ों मठ-मन्दिर और आश्रम क्या वैसी सम्पत्ति दे सकते हैं? आज महलोंपर महल बन रहे हैं, प्रचार-पर-प्रचार चल रहा है पर सच्चे आश्रमोंका आदर्श मानो क्रमशः इस कोलाहल और आडम्बरमें लुप्त हुआ जा रहा है। × × × शान्ति और आनन्दकी धाराका वितरण करनेके लिये जगत्के हितार्थ जिसकी स्थापना की गयी है, वहाँ आगे चलकर मिलती है दलबंदीकी विषक्रिया, और वैयक्तिक प्रधानताकी दारुण दावाग्नि! मनुष्य शान्तिकी आशासे मनके व्याकुल आवेगको लेकर वहाँ जाता है पर कुछ दिनोंमें ही वहाँसे भागनेके लिये व्याकुल हो उठता है।

धर्मलाभकी आशासे आश्रमका निर्माण किया जाता है, आश्रमका अवलम्बन करके धर्मसाधनका सङ्कल्प किया जाता है; परंतु आगे चलकर वह आश्रम धर्म-लाभका अवलम्बन नहीं रह जाता, वहाँकी धर्मसाधना आश्रमके संगठनका उपकरण वन जाती है और वह आश्रम वन जाता है अर्थागमन और अपने स्वार्थलिप्साकी पूर्तिका साधन। फलस्वरूप कहाँ तो हम साधना करके अपने सारे बन्धनोंको काटकर मुक्तिके मार्गपर चलना चाहते थे और

* निरख सखि! चार चंद्र इक ठोर।
निरखति बैठि विलंबिनि पिय सँग सूर-सुताकी ओर॥
द्वै ससि स्याम नवल-घन सुंदर द्वै कीन्हें विधि गोर।
तिनकें मध्य चार सुक राजत द्वै फल आठ चकोर॥
ससी सुअंग प्रवाल कुंद अलि अरुझि रह्यो मन मोर।
सूरदास प्रभु अति रति नागर बलि-बलि जुगल-किसोर॥

कहाँ, उसके बदलेमें हमारा वह आश्रम हमें हजारों नये-नये बन्धनोंमें बाँधनेवाला क्षेत्र बन जाता है। आश्रम होता है अर्थागमनका केन्द्र। आश्रममें धन बढ़ता है, आश्रमवासियोंकी संख्या बढ़ती है, नाम होता है, यश भी होता है, घर बनते हैं, गाड़ी-मोटरें आती हैं और ऐश्वर्य बढ़ जाता है; परंतु जब अपने भीतरकी ओर देखा जाता है तो दिखायी देता है कि अन्तरका सारा ऐश्वर्य—अन्तर्देवता हमारी बिना ही जानकारीके कभीका लुप्त हो गया है। धर्मका दम्भ करके, जनहितके नारे लगाकर जड़-जगत्के ऐश्वर्यमें चाहे हमें सम्राट्त्व मिल गया हो; परंतु साधनाके राज्यमें तो हम दिवालिये हो गये हैं। हमारे अन्तरका दैन्य अपनी विशालताको लेकर प्रतिपल हमारा उपहास करता है!'

यह है आजके अधिकांश आश्रमों और मठोंकी स्थिति। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी आश्रम ऐसे ही हैं। अच्छे आश्रम भी होंगे। पर वैसे बहुत थोड़े हैं। इसीसे मैं तो सदा यही सलाह दिया करता हूँ कि घरमें रहकर भगवान्का भजन कीजिये। घरमें जितनी सुविधा है, उतनी बाहर कहीं नहीं मिलेगी। मेरा तो अब भी यही निवेदन है कि आप बाहर भटकना छोड़कर घरपर रहिये। त्यागपूर्वक रहनेसे घरवाले भी आपपर प्रसन्न रहेंगे। घरवालोंकी अप्रसन्नता तो स्वार्थसे ही होती है। उनके स्वार्थमें आप बाधक न होंगे तो वे आपसे प्रसन्न रहेंगे तथा आप सुखपूर्वक साधन-भजनका अभ्यास भी कर सकेंगे। आपको कहीं शान्ति नहीं मिली, चित्त उकता गया। इसका कारण यह भी हो सकता है कि आपके चित्तमें ही कहीं कोई दोष हो। आपके जिस चित्तने घरमें अनुकूलता न पाकर जैसे वहाँसे आपको भगाया, वैसे ही उसीने इन आश्रमोंमें भी अनुकूलता न पाकर आपको उकताया हो तो क्या आश्चर्य है। किसीमें दोष न होनेपर भी वह हमारी दृष्टिमें प्रतिकूल हो सकता है। अतः मेरी यह प्रार्थना है कि आप भगवान्का मङ्गल विधान समझकर सदा सर्वत्र अनुकूलताकी भावना कीजिये। अनुकूलता हो जानेपर फिर, आप किसी भी परिस्थितिमें शान्तिपूर्वक रह सकेंगे।

(६)

संकुचित स्वार्थ बहुत बुरा है

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप जिस दृष्टिकोणसे अपनी स्वार्थरक्षाका विचार कर रहे हैं, वह यद्यपि आपकी युक्तियोंके अनुसार ठीक हो सकता है परंतु यह दृष्टिकोण वस्तुतः दूषित है। हमारी संस्कृतिमें तो 'समस्त भूतप्राणियोंको अपना आत्मा समझना,' 'सारी दुनियाँको अपना कुटुम्ब मानना,' 'अपनी उपमासे सबके सुख-दुःखका अनुभव करना,' 'सबको भगवत्स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना' और 'सबका अंश देकर बचा हुआ प्रसादामृत स्वयं खाना'—इसीको उत्तम और कर्तव्य माना गया है। यह तो आजके इस उन्नत माने जानेवाले पतित युगकी महिमा है कि जिसमें कुटुम्बकी परिभाषा केवल अपनी स्त्री तथा छोटे बच्चोंतक ही सीमित हो गयी है। सारा स्वार्थ केवल अपने शरीरकी दृष्टिसे 'मुझे और मेरे' तक ही केन्द्रित हो गया है और इसीमें बुद्धिमानी तथा सन्तुष्टि मानी जा रही है। मानव-जीवनके विशाल दृष्टिकोणको समझनेके लिये स्वार्थकी इस अत्यन्त क्षुद्र सीमाका अतिक्रमण करके बहुत आगे बढ़ना होगा। यह वस्तुतः बड़ा भारी मतिभ्रम है। इससे हमारी अन्तरात्मा कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह चाहती है—अखण्ड आनन्द और परम शान्ति। पर हम इनको खोज रहे हैं क्षुद्र सीमित स्वार्थके गंदे गड्ढेमें। इसीसे सुखके स्थानपर दुःखोंकी तथा शान्तिके स्थानपर अशान्तिकी

परम्परा चल रही है। क्षुद्र कामनाके वशीभूत होकर आज हम परस्वापहरण, क्रोध, द्रोह, असत्य और अन्यायके द्वारा अखण्ड सुख पानेका स्वप्न देख रहे हैं!!

आप निश्चय मानिये—आपके माता-पिता, आपके ताऊ-चाचा, आपके बड़े और छोटे भाई तथा परिवारके अन्य सदस्य—इनमें पराया कोई भी नहीं है। आप इनको कुछ भी न देकर स्वयं ही सारी सम्पत्तिके स्वामी बनना चाहते हैं और इसका धर्म तथा न्यायके द्वारा समर्थन चाहते हैं, यह आपकी बड़ी भूल है। जबतक आप सम्मिलित कुटुम्बमें हैं तबतक न्यायके अनुसार सभीका हिस्सा है। पैतृक सम्पत्तिमें तो है ही, आपकी कमाईमें भी है। आपको ईमानदारीके साथ कुछ भी न छिपाकर सबका न्याय्य-प्राप्त अंश प्रसन्नताके साथ प्रत्येकको दे देना चाहिये। उचित तो यह है कि आप सम्मिलित कुटुम्बको ही कायम रहने दें और सबको अपनी कमाईमें सदा हिस्सेदार समझकर सबका भरण-पोषण यथायोग्य करते रहें। क्या आप यह मानते हैं कि आपकी कमाईमें उनका कोई हाथ नहीं है? यदि ऐसा समझते हैं तो यह आपका मिथ्या गर्व है जो आपके लिये परिणाममें कभी हितकर नहीं हो सकता। माता-पिताने तो आपको जन्म दिया, पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया और मनुष्य बनाया। ताऊ तथा चाचेके लिये आप स्वयं कहते हैं कि उनका बर्ताव मेरे साथ बुरा नहीं हुआ। भाई तो घरका सारा काम करते ही हैं। आप दो-चार अक्षर ज्यादा पढ़े हैं और आपकी आमदनी उनसे कुछ ज्यादा है इसीपर आप उन्हें निकम्मा, व्यर्थका खानेवाले और भारस्वरूप मानने लगे? आप अपने हृदयको विशाल बनाइये। इससे आपको लाभ होगा। अभी जो आपको आशङ्का हो रही है और भविष्यकी बड़ी चिन्ता हो रही है इसमें प्रधानतया आपके क्षुद्र स्वार्थके विचार ही कारण हैं। सीमित तथा गंदे स्वार्थके द्वारा जो लोग पराजित हो जाते हैं, उनकी यही दशा हुआ करती है। उन्हें पद-पदपर शंका-सन्देह होता है। घरवाले सब शत्रु-से दिखायी देते हैं। वे समझते हैं कि ये सब हमें लूट खाना चाहते हैं। ये विचार वस्तुतः बहुत निम्नकोटिके हैं। आपको अखण्ड आनन्द और शान्ति इन विचारोंसे कभी नहीं मिलेगी। सबके हित और सुखके लिये स्वार्थको विस्तृत कीजिये। एक अपने कुटुम्बके लिये ही क्यों, समस्त विश्वकी सेवामें आपका तन-मन-धन लगना चाहिये। तभी आप सच्ची शान्ति और अखण्ड आनन्दको पा सकेंगे।

आप सुशिक्षित हैं, सब बातोंको समझते हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि आप इस विषयपर गहराईसे विचार कीजिये। जरा भी लोभ मनमें मत आने दीजिये। यदि आपने लोभके वशीभूत उन लोगोंको न्याय्य-स्वत्वसे वञ्चित किया तो यह आपके लिये आत्मघातसे भी बढ़कर दुःखदायी हो सकता है। दुखी हृदयोंकी हाय मत लीजियेगा। धन न साथ आया है, न साथ जायगा। आपको भी मरना है। सब यहीं रह जायगा। फिर मनमें बेईमानी करके अपने ऊपर पापका भार क्यों लादना चाहिये।
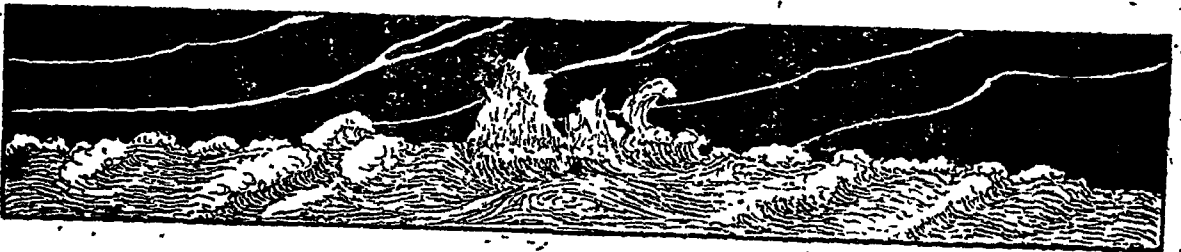
वनस्पति-प्रतिबन्धक कानून

(लेखक—श्रीकिशोरलाल घ० मशरूवाला)

वनस्पतिपर जनमतकी माँग

केन्द्रिय धारासभामें पं० ठाकुरदास भार्गवने 'वनस्पति' यानी तेलोंको जमानेकी क्रिया और धंधेको बंद करनेके लिये एक विधेयक (बिल) पेश किया है। यदि यह विधेयक मंजूर होगा, तो वनस्पतिके सब कारखाने बंद किये जायँगे और विदेशसे भी उसकी आयात करनेकी मनाही होगी। इसके बारेमें लोकमत क्या है, यह समझनेके लिये सरकारने इस विधेयकको अखबारों आदिद्वारा प्रकाशित किया है और तारीख ३१ अगस्तके भीतर अपनी राय जाहिर करनेके लिये सूचना दी है।

आकर्षणोंका जाल

वनस्पति हमारे देशका एक बड़ा महत्त्वका पदार्थ बन गया है। इसके पैदा करनेवाले और बेचनेवाले व्यापारियोंको यह धंधा इतना फायदेमंद साबित हुआ है कि तेजीसे उसके कारखाने बढ़ानेकी कोशिशें हो रही हैं और उसके प्रचारार्थ आकर्षक विज्ञापन आदिमें लाखों रुपया खर्च करना आसान हो गया है। थोड़ा भी महत्त्व रखनेवाले किसी भी अखबारको देखिये तो वनस्पतिके सच्चे-झूठे गुणगान करनेवाले बड़े-बड़े विज्ञापन पाठकोंके ध्यानको आज-कल आकर्षित कर देते हैं। इसके अलावा उसके विषयमें तरह-तरहकी जानकारी देनेवाली बड़े आकर्षक और महँगे कागजपर छपी हुई सचित्र पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की गयी हैं और तारीख ३१ अगस्तकी अवधिके भीतर उसके पक्षमें अनुकूल लोकमत प्राप्त करनेके लिये तरह-तरहके प्रयत्न किये जा रहे हैं।

हर प्रकारसे हानिकारक

दूसरी तरफसे यह पदार्थ जितना धंधेवालोंको फायदेमंद हुआ है, उतना ही लोगोंके लिये शकमंद हो गया है। खेती और गोपालनका धंधा चलानेमें इस पदार्थने बाधाएँ पैदा कर दी हैं। घानीका धंधा तोड़ दिया है। आरोग्यकी दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व सिद्ध नहीं होता, फिर भी अपने मायावीरूपसे मोहमें डालकर वह खानेवालेको बिना जरूरी खर्चमें डालता है और एक भ्रममें फँसाता है। शुद्ध तेल और शुद्ध घी प्राप्त करना जनताके लिये उसने बहुत ही मुश्किल कर दिया है। व्यापार-धंधेसे नीतिकी भावना निर्मूल करनेमें उसने बलवान् सहयोग दिया है।

मृग-मरीचिकाके फेरमें

जानकीहरणकी वह काव्योक्ति यहाँ ठीक लागू होती है। मायावी राक्षसने सुवर्णमृगका रूप धारणकर जानकीको आकर्षित किया। राम जानते थे कि यह सुवर्णमृग नहीं हो सकता, फिर भी मजबूर होकर वे उसके पीछे दौड़े। परिणाममें जिसने वह माया पैदा कर दी थी, वह रावण जानकीजीको हरण कर ले गया और उनके शील और जीवन दोनोंको जोखिममें डाल दिया। इसी तरह मायावी तेल भी घीका रूप लेकर जनताको आकर्षितकर गृहस्थको 'यह घी नहीं, नकली पदार्थ है', ऐसा जानते हुए भी उसे खरीदनेपर मजबूर कर देता है। परिणाममें जिसने वह माया पैदा की है, उन उद्योगपतियोंने जनताकी नीति, आजीविका, धन और आरोग्य—चारों जोखिममें डाल दिये हैं।

अनधिकृत विधानोंका ताँता

यह कहना मुश्किल है कि केन्द्रिय धारासभामें पं० भार्गवके बिलका आखिर नतीजा क्या आयेगा। मालूम होता है कि केन्द्रिय और प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलोंमें इस विषयपर एक राय नहीं है। कई मन्त्री वनस्पतिके बिलकुल पक्षमें मालूम होते हैं, कई साफ विरुद्ध और कई तटस्थ। इसमें यहाँतक अनुभव आया है कि इस विषयमें जब एक परिषद् बुलायी गयी थी, तब उसमें आये हुए कई प्रान्तोंके मन्त्रियोंने जो राय दी थी, उससे उल्टी राय उनके मन्त्रि-मण्डलकी ओरसे श्रीजयरामदास दौलतरामने धारासभामें किये हुए निवेदनमें पेश की है। कई मन्त्रियोंने और विशेषज्ञोंने जाने-अनजाने अपने क्षेत्रसे बाहर जाकर भी ऐसे बयान दे दिये हैं, जो वनस्पति उद्योगवालोंके हाथोंमें प्रचारके बड़े उपयुक्त साधन हो गये हैं। उदाहरणार्थ, डा० गिल्डरका निष्णातोंके प्रयोगोंका सारांश देना तो अपने क्षेत्रके भीतरकी बात मानी जा सकती है, परंतु उनका आगाखाँ जेलका किस्सा सुनाना, या यह सर्टिफिकेट दे देना कि उन्होंने खुद वनस्पतिका उपयोग किया है, और उससे उन्हें कुछ नुकसान नहीं हुआ, कतई क्षेत्र-बाह्य बात थी। फिर, यह कहना कि घीका तलनेमें ही ज्यादा करके उपयोग होता है, गलत बात है। इसी तरह डॉ० शान्तिस्वरूप भटनागर यदि इतना ही कहते कि कोई योग्य रंग नहीं प्राप्त हो रहा है, तो वह उनके क्षेत्रकी बात हो जाती। परंतु रंग मिलानेसे उद्योग और वाणिज्यके आर्थिक विकासमें क्या फर्क हो जायगा, यह उनके

क्षेत्रमें नहीं आती थी। जब ये लोग जानते हैं कि इस विषयपर बड़ी गम्भीरतासे सोचनेवाले दूसरे लोग भी हैं, खुद विशेषज्ञों और मन्त्रिमण्डलोंमें भी हैं, तब एक अधिकारी-के पदसे ऐसी अप्रस्तुत बातें करके उन्होंने स्वयं अपनी खुद-की विश्वासपात्रताको ही शङ्कास्पद नहीं बनाया, बल्कि बहुत-से विशेषज्ञों और अधिकारियोंकी भी। हाल-हालहीमें वनस्पतिके जो विज्ञापन निकल रहे हैं, वे सब इन अप्रस्तुत रायोंका फायदा उठा रहे हैं, साथ-साथ इसमें असत्य भी मिलाया जाता है। उदाहरणार्थ डॉ० भटनागरका हवाला देते हुए हिंदी, मराठी, अंग्रेजी विज्ञापनोंमें बताया गया है कि 'परिणामोंसे यह पूर्णतया सिद्ध हुआ है कि वनस्पति पौष्टिक और स्वास्थ्यदायक है।'

'वनस्पति हर प्रकारसे अच्छी है', 'वनस्पतिकी आवश्यकता है।' एक दूसरे विज्ञापनमें लिखा है, 'एक डॉक्टरने यह भी कहा था कि जो वनस्पतिके उत्पादनका विरोध करते हैं, वे निर्धनोंके शत्रु और धनवानोंके मित्र हैं।' ये सब असत्य बातें हैं। विशेषज्ञोंद्वारा अधिक-से-अधिक इतना ही कहा गया है कि आरोग्यकी दृष्टिसे 'कच्चे अथवा परिशुद्ध तेलकी भाँति वनस्पतिका भी कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ा'। अर्थात् कच्चे अथवा परिशुद्ध तेलसे उसकी आरोग्य-कीमत न ज्यादा है न कम। घीके साथ तो उसकी तुलना ही नहीं। हम नहीं जानते कि शुद्ध घी और बाज़ारू मिलावटी घीके साथ वनस्पतिके तुलनात्मक प्रयोग किये गये या नहीं और किये गये तो उसके परिणाम क्यों नहीं बताये गये। फिर भी तेलों-के क्षेत्रमें वनस्पतिने अपनी कोई आरोग्यवर्धक विशेषता नहीं बतायी है। उसकी जो विशेषता है, वह सिर्फ घीका वेश लेकर आँख और मनपर माया फैलानेकी ही है और इसके लिये इसकी वाजिब कीमतसे बहुत ज्यादा दाम उसपर खर्च होते हैं।

हानियाँ कम नहीं

इसके दूसरे नुकसान भी बहुत हैं। उसने तेलके कारखानोंको अनिवार्य बना दिया है। कारखानोंमें तेलकी शुद्धि-क्रियामें जो कचड़ा निकलता है, उसे तेली लोग सस्तेमें खरीदकर फिर उसमें मिलाते हैं। दूसरी चीज़ें भी मिलाते हैं और मिलावटी तेल तैयार करते हैं। वनस्पतिको घीमें मिलाकर उसे भी मिलावटी करते हैं। शुद्ध करनेका और जमानेका खर्च करके भी न शुद्ध तेल मिलता है, न शुद्ध घी। फिर लोग सोचते हैं कि सब झंझटें छोड़कर वनस्पतिका ही उपयोग करना बेहतर है। इस तरह दूसरे खाद्योंको बिगाड़कर वह अपना स्थान जमाता है।

स्थानिक घानियाँ बंद होनेसे उसकी खली भी नहीं हो सकती। मिलकी खलीमें तेलका अंश कम रहता है, अशुद्धियाँ ज्यादा होती हैं, फिर वे निर्यात की जाती हैं और खादमें जाती हैं। यानी मवेशीकी खुराककी एक आवश्यक चीज समुद्र-पार जाती है, और भूमिमें वैसी ही मिलायी जाती है जिससे कितना लाभ होता है इसपर कुछ शंका भी है। इस तरह कृषि और गो-पालन, दोनोंका नुकसान होता है।

अनीतिका तो कहना ही क्या? मिलावट और काला-बाजार आदि चीजोंकी शर्म ही रह नहीं गयी। झूठको प्रचारकी कला बनाया गया है।

सही राय भेजनेका नमूना

इन सब बातोंका खयाल करके लोगोंको, विशेषकर सार्वजनिक सेवाकी संस्थाओं, म्युनिसिपलिटियों, पंचायतों आदिको अपनी राय तारीख ३१ अगस्तके पहले केन्द्रिय सरकारके अन्नमन्त्री और केन्द्रिय धारासभाके सभापतिको भेज देनी चाहिये। राय इस रूपमें भेजी जा सकती है—

'इस सभाका मत है कि इस देशके हितमें खाद्य तेलोंके जमाने या जमाये हुए तेलोंका व्यापार करनेपर शीघ्र प्रतिबन्ध लगाना चाहिये और जबतक ऐसा नहीं हुआ है तबतक जमाये हुए तेलोंमें ऐसा रंग मिलाना चाहिये, जिससे शुद्ध घीके साथ उसे मिलाकर धोखा देना सम्भव न हो।'

ऐसे प्रस्तावकी एक प्रति मन्त्री, गो-सेवा-संघ, गोपुरी, नालवाडी (वर्धा) के पास भी भेज देनी चाहिये।*

विनोबाजीकी सहमति—

श्रीकिशोरलाल भाईके इस लेखके साथ मैं पूरी तरह सहमत हूँ।

परंधाम, पवनार —विनोबा

* सुना गया है कि 'वनस्पति-कारखानेवाले' लोगोंको धोखा देनेके लिये तरह-तरहके प्रचार कर रहे हैं। कहते हैं कि सात लाख रुपये इस प्रचार-कार्यके लिये रक्खे गये हैं। वनस्पति घी बेचनेवाले अपने प्रत्येक ग्राहकसे एक मत-पत्रपर हस्ताक्षर करवा रहे हैं कि 'वनस्पति बड़ा पौष्टिक पदार्थ है, इसमें हमें कोई शिकायत नहीं है।' पर यह सब स्वार्थवश सत्यको छिपानेका प्रयत्न है। वनस्पतिसे सब प्रकारकी हानि है। अतएव 'कल्याणके' पाठकोंको इसके विरोधमें हस्ताक्षर करवाकर श्रीमान् माननीय स्पीकर महोदय, केन्द्रिय विधान संसद, नयी दिल्लीके पतेपर तुरंत बड़ी संख्यामें भेजने चाहिये।—सम्पादक

नाम-महिमा

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः ॥ (विष्णुधर्मोत्तर)

हे राजेन्द्र ! परम मङ्गलमय कृष्णका नाम जिसके मुखसे उच्चारित होता है, उसके करोड़ों महापाप भस्म हो जाते हैं ।

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः ।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम् ॥ (नरसिंहपुराण)

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कहकर जो मेरा नित्य स्मरण करता है, जलका भेद करके जैसे कमल उठता है, वैसे ही मैं उसका सहज ही नरकसे उद्धार कर देता हूँ ।

पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः ।
गोविन्दनाममेघौघैर्नश्यते नीरबिन्दुभिः ॥ (गरुडपुराण)

प्रदीप्त पापानलसे कोई मनुष्य भय न करे । श्रीगोविन्द नाम ही मेघसमूह है । इसके बिन्दुमात्र जलकणसे ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।

अनिच्छयापि दहते स्पृष्टो हुतवहो यथा ।
तथा दहति गोविन्दनाम व्याजादपीरितम् ॥

अग्निका स्पर्श अनिच्छासे होनेपर भी जैसे वह जला देता है, वैसे ही गोविन्द नाम किसी बहानेसे भी उच्चारित हो जाता है तो वह सारी पापराशिको जला देता है ।

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम् ।
शान्तिदं सर्वारिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥ (बृहद्विष्णुपुराण)

श्रीहरिका नाम-कीर्तन समस्त (शारीरिक-मानसिक) रोगोंको दूर करनेवाला, समस्त उपद्रवोंका नाश करनेवाला और समस्त अरिष्टोंको शान्त करनेवाला है ।

हरिनामपरा ये च घोरे कलियुगे नराः ।
त एव कृतकृत्याश्च न कलिर्बाधते हि तान् ॥ (बृहन्नारदीय)

इस कलियुगमें जो लोग हरिनामपरायण हैं वे ही कृतकृत्य हैं । कलियुग उनको दुःख नहीं दे सकता ।

जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
विष्णुलोकमवाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ (बृहन्नारदीय)

जिसकी जीभके अग्र भागपर 'हरि' ये दो अक्षर विराजते हैं, वह विष्णुलोकको प्राप्त होता है, जहाँसे पुनः इस संसारमें लौटना नहीं होता ।

ग्राहक महानुभावोंसे क्षमा-प्रार्थना

कुछ मशीनोंके टूट जाने तथा पुस्तकोंका काम बढ़ जानेके कारण पिछले दिनों 'कल्याण'के प्रकाशनमें लगभग छः सप्ताहकी देर होने लगी थी। अब भी यह अङ्क चार सप्ताह देरसे निकल रहा है। लगभग दस-बारह दिन डिस्पैचमें लगेंगे। जिनके पास आखिरी दिनका डिस्पैच किया हुआ अङ्क पहुँचेगा, उनको वह लगभग छः सप्ताह बाद मिलेगा। ग्राहकोंको इतने विलम्बसे 'कल्याण' मिलना हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात है। और कल्याणके प्रेमी ग्राहकोंको इसके लिये जो चिन्ता होती है तथा बार-बार पत्र लिखने पड़ते हैं, इसके लिये हमें बड़ा खेद है। हम ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं कि जिसमें सितम्बरका अङ्क ग्राहकोंको ठीक समयपर मिल जाय। आशा तो है कि इसमें हमें सफलता मिलेगी। तबतकके लिये सब महानुभाव कृपापूर्वक क्षमा करें, यह हमारी उनसे करबद्ध प्रार्थना है।

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

जिन सज्जनोंको नये ग्राहक बनना हो वे वार्षिक मूल्य ७।।) मनीआर्डरसे भेजकर अथवा वी० पी० का आर्डर देकर इस वर्षके अबतकके प्रकाशित अङ्कोंसहित मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

कल्याणके पाठकोंसे विनीत प्रार्थना

इधर कुछ समयसे हमलोग पुराने हस्तलिखित शास्त्रीय ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयत्न कर रहे हैं, वह इसलिये कि इन ग्रन्थोंकी रक्षा हो। बहुत-से स्थानोंमें आजकल पुराने ग्रन्थ असावधानी तथा रक्षाकी सुव्यवस्था न होनेके कारण नष्ट हो रहे हैं। अतएव हमारी 'कल्याण'के प्रत्येक पाठकसे प्रार्थना है कि वे वेद-वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र और धर्मशास्त्र आदि विषयोंके संस्कृत, हिंदी, बंगला ग्रन्थ पुराने कागजोंपर या ताड़पत्रोंपर लिखे हुए संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें। व्रजभाषाका अमुद्रित साहित्य किन्हींके पास हो तो वे भी भेजनेकी कृपा करें। खर्च हम देंगे और यदि कोई सज्जन उचित मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जायगा।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक 'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, अगस्त सन् १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

नृत्य-माधुरी

नाचत त्रैलोकनाथ माखनके काजै

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
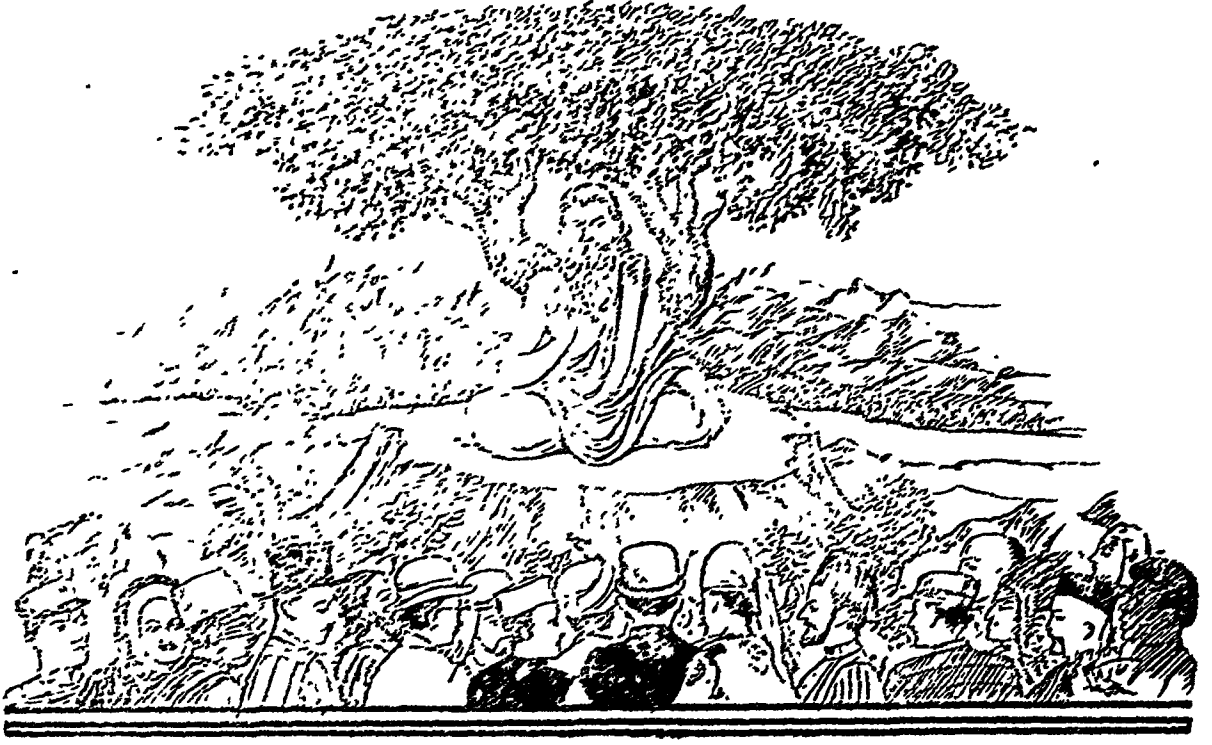
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ | गोरखपुर, सौर भाद्रपद २००७, अगस्त १९५० | संख्या ८ पूर्ण संख्या २८५

नृत्यमाधुरी

जसुमति दधि मथन करति, बैठि वर धाम अजिर,
ठाढ़े हरि हँसत, नान्हि दँतियनि छबि छाजै ।
चितवत चित लै चुराइ, सोभा बरनी न जाइ,
मनु मुनि-मन-हरन-काज, मोहिनि दल साजै ॥
जननि कहति नाचौ तुम, दैहौं नवनीत मोहन,
रुनुक-झुनुक चलत पाइ, नूपुर-धुनि बाजै ।
गावत गुन सूरदास, बढ्यौ जस भुव-अकास,
नाचत त्रैलोकनाथ माखनके काजै ॥

कल्याण

याद रक्खो—जगत्‌में जितने भी प्राणी हैं, सब तुम्हारे अपने आत्मा ही हैं, उनमें कोई भी पराया नहीं है, कोई भी दूसरा नहीं है। जैसे तुम्हारे एक ही शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्ग तुम्हारे शरीरके ही अवयव हैं, सबको लेकर ही शरीर है, इसी प्रकार सबको लेकर ही तुम हो।

याद रक्खो—तुम उन्हें अपना आत्मा न समझकर दूसरा समझते हो, इसीसे उनके सुख-दुःखसे उदासीन रहते हो। अपना समझते तो कभी ऐसा नहीं करते। क्या शरीरके किसी भी अङ्गमें चोट लगनेपर तुम यह मानते हो कि चोट किसी दूसरेको लगी है? क्या तुम्हें उसके लिये वेदनाका अनुभव नहीं होता? होता है। क्यों? इसीलिये कि तुम्हारा उन सबमें आत्मभाव है।

याद रक्खो—तुम सबके हितकी परवा न करके उन्हें कष्ट पहुँचाकर यदि केवल अपना भला चाहते हो, अपने लिये सुख चाहते हो तो न तो तुम्हारा कदापि भला होगा, न तुम्हें सुख ही मिलेगा। भला, अपने ही हाथों अपने अङ्गोंको काटकर क्या कोई कभी सुखी हो सकता है?

याद रक्खो—समाज, जाति, सम्प्रदाय आदि भेद केवल समाजकी व्यवस्थाका सुचारुरूपसे सञ्चालन हो, और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने मार्गसे चलकर जीवनके परम लक्ष्य भगवान्‌को प्राप्त कर सके, इसके लिये है। और यह आवश्यक तथा उचित भी है; परंतु इसका यह अर्थ कभी नहीं, इस भेदसे आत्मामें कोई भेद आ जाता है और एक दूसरेके हितका नाश करके कोई सुखी हो सकता है।

याद रक्खो—जो व्यक्ति विश्वात्माके साथ अपनेको मिलाकर सारे विश्वके समस्त जीवोंको अपने ही रूपमें देखता है, और सबके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख मानकर, जैसे अपने दुःखको दूर करनेकी और सुख प्राप्त करनेकी स्वाभाविक चेष्टा करता है, वैसे ही सबके लिये करने लगता है, उसका जीवन ही यथार्थ मनुष्य-जीवन है और वही जीवन धन्य है।

याद रक्खो—स्वार्थ जितना सङ्कुचित होता है, उतना ही गंदा और हानिकर होता है। जैसे छोटे-से गढ़ेमें एकत्र हुआ जल सड़ जाता है और उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। यदि तुम्हारा स्वार्थ अखिल जगत्‌के स्वार्थके साथ मिल जाय, विश्वके प्राणियोंका स्वार्थ ही तुम्हारा स्वार्थ हो तो फिर तुम्हारा वह स्वार्थ पवित्र और लाभदायक होगा। उससे स्वाभाविक ही विश्वात्मा भगवान्‌की पूजा होती रहेगी।

याद रक्खो—जो पुरुष यह अनुभव करता है कि यह सारा जगत्—जगत्‌के समस्त प्राणी मेरे भगवान्‌से ही निकले हैं, और भगवान् ही सदा सबमें व्याप्त हैं, वह अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजकर जीवनको अनायास ही सफल कर सकता है। उसके लिये प्रत्येक जीव भगवान्‌का स्वरूप और उसका अपना प्रत्येक कर्म उस भगवान्‌की पूजा बन जाता है। और जिसके द्वारा निरन्तर भगवान्‌की पूजा ही होती है, उसको जीवनमें परम सिद्धि—भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसमें सन्देह ही क्या है!

याद रक्खो—यदि तुम क्षुद्र सीमाको छोड़कर जाति, वर्ण, अधिकार, धन, देश आदिके भेदोंको आत्माके भेद न मानकर विश्वरूप भगवान्‌की पूजामें अपना जीवन लगा दोगे तो तुम्हें पद-पदपर और पल-पलमें भगवान्‌के दर्शन होंगे और तुम्हारा जीवन परम पवित्र तथा सबके लिये आदर्श बन जायगा।

'शिव'

श्रीमद्भागवतकी कुछ सुधा-सूक्तियाँ

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥
(१।५।११)

जिसकी रचना सुबद्ध एवं सुन्दर गुणोंसे युक्त न होनेपर भी उसके प्रत्येक श्लोकमें भगवान्‌के सुयश-सूचक नाम अङ्कित हुए हैं, वह निबन्ध लोगोंके सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला है क्योंकि साधु पुरुष उसीका श्रवण, गायन और कीर्तन किया करते हैं ।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
(१।५।१२)

जहाँ कर्मोंका सम्पूर्णतः त्याग हो जाता है वह निर्मल ज्ञान भी यदि भगवान्‌के प्रति भक्तिभावसे रहित है तो उसकी शोभा नहीं होती । फिर जो साधन और सिद्धि सभी अवस्थाओंमें अमङ्गलरूप है वह सकाम कर्म और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है वह अहैतुक निष्काम कर्म भी भगवद्भक्तिके बिना कैसे सुशोभित हो सकता है ?

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥
(१।५।२२)

विद्वानोंने मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान तथा दानका एकमात्र यही अविनाशी फल बताया है कि भगवान् श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका वर्णन किया जाय ।

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥
(१।१३।२६)

जो अपनेसे अथवा दूसरोंके समझानेसे इस संसारको दुःखरूप समझकर इसकी ओरसे विरक्त हो जाता है और अपने मनको वशमें रखते हुए हृदयदेशमें भगवान्‌को स्थापित करके घरसे निकल पड़ता है, वही श्रेष्ठ मनुष्य है ।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥
(१।१३।४२)

जैसे जगत्‌में खिलाड़ीकी इच्छासे ही खिलौनोंका संयोग और वियोग होता है, उसी प्रकार भगवान्‌की इच्छासे ही मनुष्योंका मिलना और बिछुड़ना होता है ।

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥
(१।१७।३८)

राजा परीक्षित्‌ने कलिके प्रार्थना करनेपर उसे रहनेके लिये चार स्थान प्रदान किये—जुआ, मद्यपान, स्त्री और हिंसा । जहाँ क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति तथा निर्दयता—ये चार प्रकारके अधर्म निवास करते हैं ।

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥
(१।१७।३९)

कलिने जब पुनः स्थानके लिये याचना की, तब उसे राजाने 'सुवर्ण' दिया । तबसे असत्य, मद, काम, रजोगुण, निष्ठुरता तथा पाँचवाँ वैर—ये पाँच स्थान कलिके रहनेके लिये हो गये ।

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः ।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत् ॥
(१।१७।४०)

अधर्मका मूल कारण कलि परीक्षित्‌के दिये हुए

इन्हीं पाँच स्थानोंमें उनकी आज्ञाका पालन करते हुए रहने लगा ।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥
(१ । १८ । ४८)

भगवान्‌के भक्त अपराधीको दण्ड देनेमें समर्थ होते हैं तो भी वे दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, ठगी, गालीगलौज, आक्षेप और मार-पीटके लक्ष्य बनकर भी इसके लिये उनसे बदला नहीं लेते ।

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्मागुणाश्रयः ॥
(१ । १८ । ५०)

संसारमें साधु पुरुष प्रायः दूसरोंके द्वारा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें डाल दिये जानेपर भी हर्ष और शोकके अधीन नहीं होते; क्योंकि आत्माका स्वरूप तो गुणोंसे सर्वथा परे है ।

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥
(२ । १ । ५)

राजा परीक्षित् ! निर्भय पदकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सर्वदा सबके आत्मा एवं ईश्वर भगवान् श्रीहरिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये ।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥
(२ । १ । ६)

मनुष्योंके जीवनका इतना ही सबसे महान् लाभ है कि ज्ञानसे, योगसे तथा स्वधर्मनिष्ठाके द्वारा उन्हें मृत्युकालमें भगवान् नारायण स्मरण हो आयें ।

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ॥
(२ । १ । १२)

जो अपने कल्याणसाधनकी ओरसे असावधान है, उसे कितने ही वर्षोंकी लम्बी आयु क्यों न मिले, उससे उसका क्या लाभ है ? अपने जीवनकी वह घड़ी दो घड़ीका समय भी श्रेष्ठ है, जिसमें मनुष्य कल्याणप्राप्तिका कोई उपाय कर सके ।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
(२ । ३ । १०)

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, या जो सब कुछ पानेकी कामनावाला है अथवा जो उदारबुद्धि पुरुष केवल मोक्षकी ही कामना रखता है, वह तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही आराधना करे ।

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥
(२ । ३ । ११)

भगवान्‌की आराधना करनेवाले साधकोंके लिये इस संसारमें सबसे महान् कल्याणकी प्राप्ति यही है कि भगवद्भक्तोंके संगसे उनका भगवान्‌में अविचल अनुराग हो जाय ।

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥
(२ । ३ । १७)

जिसका समय भगवान् श्रीकृष्णकी कथा-वार्तामें व्यतीत हो रहा है, उसके सिवा, अन्य जितने मनुष्य हैं उन सबकी आयुको उदय और अस्त होते समय सूर्यदेव छीनते रहते हैं, उनकी आयु व्यर्थ चली जाती है ।

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥
(२ । ३ । १९)

जिसके कानोंमें कभी भी भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथा नहीं पड़ी, जिसने भगवान्‌के नाम और

गुणोंका कीर्तन कभी नहीं सुना, वह नर-पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गदहोंसे भी गया-बीता है।

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
(२। ३। २०)

सूतजी! मनुष्यके जो कान भगवान् श्रीहरिके गुण-पराक्रम आदिकी चर्चा कभी नहीं सुनते, वे बिलके समान हैं; तथा जो जीभ भगवान्की लीला-कथाका गायन नहीं करती, वह मेढककी जीभके समान अधम है।

भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥
(२। ३। २१)

जो मस्तक कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटमण्डित होनेपर भी भारी बोझमात्र ही है तथा जो हाथ भगवान्की सेवा-पूजामें नहीं लगते वे सोनेके कंगनसे विभूषित होनेपर भी मुर्देके ही हाथ हैं।

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥
(२। ३। २२)

जो श्रीविष्णु भगवान्के अर्चा-विग्रहोंकी झाँकी नहीं देखते, मनुष्योंके वे नेत्र मोरकी पाँखोंमें बने हुए नेत्र-चिह्नके समान व्यर्थ ही हैं तथा जो श्रीहरिके तीर्थोंकी यात्रा नहीं करते वे पैर भी जड वृक्षोंके ही समान हैं, उनकी गमनशक्ति व्यर्थ है।

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥
(२। ३। २३)

जो मनुष्य कभी भगवान्के भक्तोंकी चरणधूलि अपने मस्तकपर नहीं चढ़ाता, वह जीते-जी मुर्देके समान है। तथा जो श्रीहरिके चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी सुगन्धका कभी आस्वादन नहीं करता, वह मानव साँस लेता हुआ भी श्वासरहित शव ही है।

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥
(२। ३। २४)

वह हृदय नहीं वज्र है, जो श्रीहरिके नामोंका कीर्तन करते समय पिघल नहीं जाता है। जब हृदय पिघलता है, तो नेत्रोंमें आँसू छलकने लगते हैं और शरीरमें रोमाञ्च हो आता है।

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(२। ४। १८)

किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि तथा दूसरे-दूसरे जो पापयोनि मानव हैं वे भी जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण लेनेमात्र-से परम पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान्को नमस्कार है।

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(३। २। २३)

अहो, दुष्ट पूतनाने जिन्हें मार डालनेकी नीयतसे अपने स्तनोंका कालकूट जहर पिलाया था; तथापि उसने

प्रभुकी उदारतासे, जो गति माताके लिये उचित है, वह गति प्राप्त कर ली; ऐसे दयालु भगवान्‌को छोड़कर हम दूसरे किसकी शरणमें जायँ ।

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥
(३ । ९ । ६)

प्रभो ! जगत्‌के मनुष्य जबतक आपके निर्भय चरणोंकी शरण नहीं लेते तभीतक उन्हें धन, गृह और सुहृदोंके निमित्त भय प्राप्त होता है, शोक, स्पृहा, तिरस्कार और प्रचुर लोभका सामना करना पड़ता है तथा तभीतक उसे मेरेपनका असत् आग्रह बना रहता है, जो दुःखका मूल कारण है ।

प्रेम-पुकार

(रचयिता—श्रीरामदासजी झा 'विरही')

[१]

तुम चाहते हो न हमें दिलसे, यह तो न किसीको बताया करो ।
'विरही' मनको तरसाया करो, तड़पाया करो पर आया करो ॥
मन भोले बसे मनमोहन हो, मनको अनमोल दिखाया करो ।
मद मस्त बने मद यौवनसे, मतवाली कली सरसाया करो ॥

[२]

श्याम-सरोरुह-सी कलिका, वन-बाग-तड़ाग खिली ही रहे ।
मद मस्त गणेश-सी चाल रुचै, अरु भौंरोंकी भीड़ ठिली ही रहे ॥
लव सुन्दरतापर प्यारे सखा, शलभोंकी यह पुंज पिली ही रहे ।
फिर वेग वियोग रहे न रहे, सरसै कलिका विरही न रहे ॥

[३]

मन-मोहनी-मूरत मोहन पै, कछु भाव विचित्र हृदयमें समाए ।
शुचि सुन्दर सोहति सी सरसावनी, देखि सुहावनी आनँद पाए ॥
विद्युत् छूटि गई तनमें, अरु कण्ठ घुटा अँसुवा भरि आए ।
फिर बोल उठा दिल खोल उठा, बस प्रेमीके प्रेममें ये दुख पाए ॥

[४]

विरही मनकी मत पूछो व्यथा, यह कथा सुनि शान्ति मिलेगी नहीं ।
दुख दूना बढ़ेगा सदाके लिए, दिलकी यह आग बुझेगी नहीं ॥
यदि, प्रेम-सुधा बरसाओगे तो, यह वेग प्रवाह रुकेगा नहीं ।
बस प्रेमकी सीमा यहींतक है, मिट जायगा तो भी मिटेगा नहीं ॥

भगवान्‌के परम दिव्य-गुणसम्पन्न स्वरूपका ध्यान

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान्‌के ध्यानके समान संसारमें और कोई भी दूसरा साधन नहीं है। इसलिये मनुष्यको भगवान्‌का ध्यान श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये। एकान्तवास, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और मनन, नामका जप, स्वरूपका स्मरण, लीला और गुण-प्रभावका चिन्तन, तत्त्व और रहस्यका ज्ञान, भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम तथा संसारके भोगोंसे वैराग्य और उपरति—ये सब भगवान्‌के ध्यानमें विशेष उपयोगी हैं। क्योंकि भगवान्‌के नामके जपसे स्वरूपकी स्मृति होती है, स्वरूपकी स्मृतिसे चरित्र (लीला) की स्मृति होती है, लीलाकी स्मृतिसे गुण-प्रभावकी अनुभूति होती है, इन सबके स्मरण और मननसे भगवान्‌का तत्त्व-रहस्य जाना जाता है, उससे श्रद्धा-प्रेम बढ़ता है, तब सांसारिक भोगोंसे वैराग्य और उपरति होकर भगवान्‌के ध्यानमें गाढ़ स्थिति हो जाती है।

अतः साधककी साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण जिस स्वरूपमें रुचि हो, उसे अपने उसी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। उस परमात्माके निर्गुण-निराकारसहित असंख्य दिव्य-गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा ध्यान ही भगवान् पुरुषोत्तमके समग्र रूपका ध्यान है। इसको समझानेके लिये इसके सदृश दृष्टान्त, दार्ष्टान्त, उदाहरण, रूपक, उपमा संसारमें है ही नहीं। जिस देशमें सूर्य नहीं, उस अन्धकारमय देशमें किसी भी दृष्टान्तके द्वारा सूर्यको समझाना कदापि सम्भव नहीं, क्योंकि जब सूर्यके सदृश दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब उसे किस रूपमें कैसे समझाया जाय? इसी प्रकार परमात्माका वह अति विलक्षण दुर्विज्ञेय स्वरूप किसी भी दृष्टान्तके द्वारा यहाँ समझाया जाना कठिन है।

जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें कारणभूत परमाणुरूपमें स्थित जल अव्यक्त और अप्रकट है, वह दूरबीक्षण या अन्य किसी भी साधनके द्वारा दृष्टि-गोचर नहीं हो सकता। किंतु वही जल जब रसमय होकर आकाशमें स्थित रहता है, तब भी वह देखनेमें तो नहीं आता किंतु विचारके द्वारा अनुभवमें आ सकता है। और वही जल जब बादल और बूँदोंका रूप धारण करके ओलों (बर्फके ढेलों) के रूपमें बरसने लगता है, तब वह प्रत्यक्ष देखने तथा पकड़नेमें भी आता है। उस प्रकट जलसे सभी प्रकारका जलोचित व्यवहार किया जा सकता है। यह जलका उदाहरण चेतन परमात्माकी उपमाके योग्य नहीं है; क्योंकि जल जड, परिणामी, विनाशशील, एकदेशीय और अल्प है तथा परमात्मा इससे सब प्रकारसे विलक्षण, नित्य, चेतन और निर्विकार है, अतः उस अनुपम और अप्रमेय परमात्माके लिये कोई दृष्टान्त या उदाहरण है ही नहीं। तथापि महात्मागण समझानेके लिये किसी-न-किसी दृष्टान्तको सामने रखकर ही यथाशक्ति यत्किञ्चित् उसका तत्त्व समझाया करते हैं।

जैसे अव्यक्त कारणरूपमें स्थित निराकार जल ही रसके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही भक्तोंके प्रेम और भावके कारण विज्ञानानन्दमय सगुण-निराकार रूपमें प्रकट होते हैं। फिर जैसे वही जल बादल और बूँदोंके रूपमें प्रकट होकर ओलोंका रूप धारण करता है, उसी प्रकार दिव्य चिन्मय निरतिशय कल्याणमय गुणसमूहोंके महान् समुद्र सगुण-निराकार परमात्मा

अनन्त महान् प्रकाशके रूपमें प्रकट होकर फिर, नित्य-दिव्य प्रकाशपुञ्ज सगुण-साकार रूपमें प्रकट होकर दृष्टिगोचर होते हैं। जिस परमप्रेमी श्रद्धालु भक्तको भगवान्‌के उस दिव्य स्वरूपके दर्शन होते हैं, उस भगवद्-भक्तकी दृष्टि भी दिव्य हो जाती है। भगवान्‌का भक्त भगवान्‌की कृपासे इन चर्मचक्षुओंसे भी भगवान्‌के उस अति दिव्य अद्भुत रूपका दर्शन कर सकता है। भगवान्‌का दर्शन पाकर वह भक्त आनन्दमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता, उसे एक श्रीभगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता, वह अपने-आपको भी भूल जाता है। उस रूप-माधुरीके दर्शनके प्रभावसे उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती, वह एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उस दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन ही करता रहता है। फिर चेत होनेपर वह भक्त भी उस दिव्यरूप-माधुरीका वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि उस अपरिसीम अप्रमेय दिव्य-गुणगणसम्पन्न माधुरी मूर्तिका वर्णन करनेमें वाणी सर्वथा असमर्थ रहती है। फिर मुझ-जैसा एक साधारण मनुष्य तो उस परम दिव्यरूप-माधुरीके किसी शतांशका वर्णन करनेमें भी कैसे समर्थ हो सकता है। तथापि कुछ प्रेमी भाइयोंके आग्रहसे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है। वह मेरी धृष्टतामात्र है; इसके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

जिस समय भगवान् प्रकट होते हैं, उसके पूर्व ही साधकके बाहर और उसके शरीरके अंदर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें तथा शरीरके अणु-अणुमें अनन्त, अतिशय दिव्य, अलौकिक चेतनता, शान्ति, समता और आनन्द परिपूर्ण हो जाते हैं। फिर परमात्माका यह सगुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-साकाररूपमें परिणत होकर उसके सम्मुख दृष्टिगोचर होता है। निरतिशय प्रेमानन्दस्वरूप भगवान्‌की यह दिव्य मूर्ति अत्यन्त मनोहर, अनन्त प्रेममय, दिव्य अमृतमय, महान् रसमय और परम आनन्दमय है। इस परम मनोहर दिव्य मूर्तिका चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त ध्यान करके साधक भी रसमय, प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय हो जाता है। अतः साधकको उस प्रेमानन्दमयी मूर्तिका साक्षात्कार करनेके लिये उसका अपने सम्मुख आकाशमें निम्नलिखित प्रकारसे ध्यान करना चाहिये।

अपने नेत्रोंसे करीब तीन हाथकी दूरीपर आकाशमें साक्षात् विज्ञानानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही दिव्य चेतन महान् प्रकाशमय सगुण-साकार श्रीविष्णुके रूपमें विराजमान हो रहे हैं। वे अखिल सौन्दर्यकी निधि एवं अपनी अनन्त महिमासे नित्य महिमान्वित हैं। वे नीलमणिके सदृश श्याम होते हुए भी दिव्य निर्मल उज्ज्वल प्रकाशके कारण हल्की-सी नीलिमासे युक्त अति शुभ्र श्वेतरूपमें अनन्त सूर्योंसे भी बढ़कर प्रकाशित और देदीप्यमान हो रहे हैं, किंतु वह महान् तेजोमय प्रकाश शीतलताके पुञ्ज चन्द्रमासे भी बढ़कर अत्यन्त शान्तिमय है। उनका श्रीविग्रह षोडशवर्षीय सुन्दर राजकुमारके-से आकार-का करीब साढ़े तीन हाथ लंबा और एक हाथ चौड़ा है। उनके चरणोंके तलुओंमें गुलाबी रंगकी झलक है और उनमें ध्वजा (पताका), जौ, अङ्कुश, शङ्ख, चक्र, कमल, वज्र, स्वस्तिक आदिके चिह्न (रेखाएँ) सुशोभित हो रहे हैं। उनके चरण तथा चरणोंकी अँगुलियाँ बहुत ही चमकीली, कोमल, चिकनी और अतिशय सुन्दर हैं। अँगुलियोंमें संलग्न चाँदनीयुक्त चन्द्रमाके समान उद्भासित नखश्रेणियोंकी ज्योति एक निराले ही ढंगकी है, मानो दिव्य रत्न चमक रहे हों। भगवान्‌के चरणोंमें स्थित नूपुरोंकी ध्वनि ऐसी अमृतमयी और मधुर है कि कर्णपुटोंमें प्रवेश करते ही साधकका मन उसीमें तल्लीन होकर मन्त्रमुग्धकी तरह स्तब्ध हो जाता है। उनके मृदुल चरणोंका

स्पर्श बड़ा ही विलक्षण, अत्यन्त अमृतमय, महान् रोमाञ्चकारक और परम आनन्ददायक है। भगवान् अति दिव्य, सुकोमल (मुलायम) और चमकीला पीताम्बर पहने हुए हैं, जिसके भीतरसे भगवान्‌की महान् प्रकाशमयी देहद्युति चमक रही है। उनकी पिण्डलियाँ, घुटने तथा जङ्घाएँ भी बड़ी ही कोमल, चिकनी, चमकीली और परम सुन्दर हैं। भगवान् अपने पतले और अति मनोहर कटिभागमें दिव्य रत्नोंसे जड़ी हुई करधनी धारण किये हुए हैं। ब्रह्माजीका उत्पत्तिस्थान उनका नाभि-कमल अत्यन्त गम्भीर है तथा उदर त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित और अति सुन्दर है। भगवान्‌का वक्षःस्थल विशाल, अत्यन्त पुष्ट, अतिशय मनोरम और चौड़ा है। भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं, दो ऊपरकी ओर फैली हुई हैं और दो नीचेकी ओर घुटनोंतक पसरी हुई हैं। भुजाएँ लंबी, बड़ी ही मृदुल, चिकनी, चमकीली, अत्यन्त पुष्ट, बलशालिनी, गोलाकार, चूड़ी-उतार (क्रमशः ऊपरसे मोटी और नीचेसे पतली) तथा परम मनोहर हैं। भगवान्‌की हथेली मन्द-मन्द लालिमासे युक्त बड़ी ही सुन्दर, शङ्ख, चक्र, कमल, यव, अङ्कुश, ध्वजा, स्वस्तिक आदि चिह्नोंसे सुचिह्नित एवं परम शोभासंयुक्त है। उनके हाथोंकी अँगुलियों-में संलग्न नखश्रेणियोंकी ज्योति अतिशय उज्ज्वल और बड़ी ही चित्ताकर्षक है, मानो दिव्य रत्नोंकी पङ्क्ति चमक रही हो। चारों हाथोंकी अँगुलियोंमें रत्न-जटित स्वर्णमय अँगूठियाँ और हाथोंमें कड़े तथा भुजबन्द सुशोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के नीचेके दाहिने हाथमें परम ओजस्विनी कौमोदकी गदा तथा बायें हाथमें अति सुन्दर कमल है एवं ऊपरके दाहिने हाथमें अत्यन्त तेजोमय सुदर्शनचक्र और बायें हाथमें परम उज्ज्वल अति शुभ्र पाञ्चजन्य शङ्ख शोभायमान हो रहा है। वे अपने नीलिमायुक्त कण्ठदेशमें अतिशय देदीप्यमान दिव्य मुक्ता, रत्न और स्वर्णकी मालाएँ धारण किये हुए हैं एवं तुलसी और अलौकिक पुष्पोंकी वनमालाएँ घुटनोंतक लटकी हुई हैं। कोमल पल्लव और फूलोंके समूहद्वारा बनाये हुए हारसे शङ्ख-के समान मनोहर ग्रीवा बड़ी सुन्दर जान पड़ती है। उनके वक्षःस्थलपर रत्नजटित चन्द्रहार तथा परम दिव्य कौस्तुभमणि बालसूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रही है। वक्षःस्थलके मध्यभागमें स्वच्छ दर्पणमें मुख दीखनेकी भाँति श्रीलक्ष्मीजीका (श्रीवत्स) चिह्न दिखलायी पड़ता है और उसके ऊपर श्रीभृगु-लताका चिह्न है। भगवान्‌के कन्धे उन्नत, पुष्ट और कोमल हैं, उनपर स्वर्णमय यज्ञोपवीत और लाल रंगका उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) धारण किये हुए हैं। भगवान्‌की ग्रीवा लंबी, कण्ठ और चिबुक अति सुन्दर हैं। भगवान्‌के अधर और ओष्ठ बिम्बफल, लालमणि और मूँगेकी भाँति चमक रहे हैं। भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, उनका मुखारविन्द खिले हुए कमलकी तरह मनोहर हास्य, परम शोभा, उज्ज्वल कान्ति और अतिशय निर्मल उल्लाससे संयुक्त है। जिससे अतिशय निर्मल दाँतोंकी पङ्क्ति मोतियोंकी पङ्क्तिकी भाँति परम शोभायुक्त और अति मनोहर दृष्टिगोचर हो रही है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही सुन्दर, स्पष्ट, कोमल और मधुर है, जो कि कर्णपुटोंको अमृतके तुल्य प्रतीत होती है। नासिका बड़ी ही मनोहर है। भगवान्‌के कपोल (गाल) चमकीले, कोमल, स्वच्छ और मन्द-मन्द गुलाबी रंगकी झलकसे युक्त परम कान्तिमय हैं, उनपर कानोंमें संलग्न कुण्डलोंकी झलक शोभा दे रही है। परम सुन्दर और विशाल कानोंमें मकरकी आकृतिवाले रत्नजटित स्वर्णमय कुण्डल बाल-सूर्यकी भाँति चमक रहे हैं। भगवान्‌के नेत्र विस्तृत कमलपत्रकी तरह अति सुन्दर, अति विशाल, चमकीले और खिले हुए कमल-पुष्पकी भाँति अतिशय प्रफुल्लित एवं परम ज्योतिर्मय हैं। भगवान्

अपने अपरिसीम प्रेम और दयासे मुझको अपलक (एकटक) देखते हुए मानो प्रेम, दया, आनन्द, शान्ति, समता, ज्ञान आदि गुणोंकी मुझपर अनवरत वर्षा कर रहे हैं और जैसे पूर्णकलायुक्त चन्द्रमाकी अमृतमयी किरणोंसे सम्पूर्ण ओषधियोंमें अमृतमय रस परिपूर्ण हो जाता है, उसी तरह भगवान्के नेत्रोंसे प्रवाहित वह दिव्य अमृतमय गुणोंकी अजस्र धारा मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरके अणु-अणुको अपने उस परम दिव्य रससे आप्यायित करती हुई सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है, जिससे वे गुण मुझमें प्रवेशकर रोम-रोममें भलीभाँति व्याप्त होकर ऐसी चेतनता, आनन्द और शान्तिका मधुर रसास्वादन करा रहे हैं, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। मैं भगवान्के उस अखिल-सौन्दर्य-रससुधानिधि मुखारविन्दको देखकर बार-बार मुग्ध हो रहा हूँ और एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींके रूपको देख रहा हूँ। भगवान्की भौंहें भ्रमरोंकी तरह कृष्णवर्ण तथा भृकुटी विशाल और अतिशय सुन्दर है, जिससे समस्त जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह सूचित हो रहा है। भगवान्का ललाट चमकीला, चिकना, अति विशाल और परम शोभायमान है, उसपर अति सुन्दर श्रीधारण तिलक हैं। मस्तक चमकीली, चिकनी, काली घुँघराली अलकावलीसे सुशोभित हो रहा है; केशोंमें पारिजात आदिके पुष्प गुँथे हुए हैं। मस्तकपर रत्नजटित स्वर्णमय परम कान्तियुक्त दिव्य मुकुट चमक रहा है। भगवान्के मुखारविन्दके चारों ओर सूर्यकिरणोंकी भाँति दिव्य प्रकाशकी अत्यन्त उज्ज्वल किरणें छिटक रही हैं। उनका मुखारविन्द अमृतमयी शरत्पूर्णिमाके कलङ्करहित चन्द्रमासे भी बढ़कर कान्तिमान्, शोभामय और परम रमणीय है। भगवान्के श्रीविग्रहसे अत्यन्त दिव्य, परम मधुर सुगन्ध निर्गत हो रही है, जिसको मैं अपने नासापुटोंसे ग्रहण करके मानो अमृतका ही पान कर रहा हूँ। भगवान्का दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप— सभी प्रेममय, रसमय और आनन्दमय हैं।

भगवान्का श्रीविग्रह, वस्त्र, अलङ्कार, आभूषण, आयुध, मालाएँ आदि सभी दिव्य चिन्मय हैं। भगवान्के श्रीविग्रहकी सुन्दरता इतनी मधुर और चित्ताकर्षक है कि जिसको देखकर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है! उनकी सुरूप-लावण्यमयी आकृतिको देखकर कामदेव भी लज्जित हो जाता है। करोड़ों कामदेवोंका सौन्दर्य भी भगवान्के सौन्दर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है। भगवान्की वह रूपमाधुरी भक्तपर एक जादूका-सा काम करती है। उस रूप-माधुरीके दर्शनसे ही इतना आकर्षण हो जाता है कि फिर उसे छोड़ा ही नहीं जा सकता। सम्पूर्ण जगत्का समस्त सौन्दर्य मिलकर भी भगवान्के सौन्दर्यके एक अंशके समान भी नहीं है। उनकी प्रेममयी सुन्दरताकी महिमा कोई भी नहीं गा सकता। भगवान्के नेत्रोंकी प्रेममयी दृष्टि पड़नेसे मनुष्य भगवान्के प्रेममें इतना तन्मय हो जाता है कि वह फिर भगवान्को कभी भुला नहीं सकता, बल्कि वह सदा अपने नेत्रोंसे भगवान्की रूपमाधुरीका ही पान करता रहता है। भगवान्की उस रूपमाधुरीके प्रत्यक्ष दर्शनकी तो बात ही क्या है, स्वप्नमें भी उसके दर्शन हो जाते हैं तो मनुष्य प्रेममें इतना निमग्न हो जाता है कि अपने जीवनमें उसे कभी भुला नहीं सकता। उसमें इतना अद्भुत आकर्षण है कि वह रसमय विग्रह एक बार भी यदि ध्यानमें आ जाता है तो फिर भक्त उसे भुलानेमें असमर्थ-सा हो जाता है और उस अमृतमय रसका आस्वाद लेता हुआ कभी तृप्त नहीं होता, वरं उस प्रेममय अतृप्तिमें अपने आपको ही भुला देता है एवं उनके गुणोंको बार-बार स्मरण करके मुग्ध होता रहता है।

भगवान्में असीम और अत्यन्त विलक्षण सौम्यता, शान्ति, प्रेम, सौहार्द, मधुरता, सुन्दरता, रमणीयता, रुचिरता, मनोहरता, नित्यनूतनता, उदारता, वीरता, निरभिमानता, निर्वैरता, भक्तवत्सलता, प्रेमाधीनता, पतित-

पावनता, सर्वमङ्गलकारिता, सच्चिदानन्दस्वरूपता, सर्वाराध्यता, कृतज्ञता, दानशीलता, धार्मिकता, सर्वश्रेष्ठता, तत्त्वज्ञता, बुद्धिमत्ता, वाग्मिता, शास्त्रज्ञता, समस्तभाषाभिज्ञता, प्रियवादिता, मनस्विता, दक्षता, सर्वचित्ताकर्षक मधुरभाषिता, शरणागतसंरक्षण, साधुपरित्राण, भक्तसौहार्द, न्याय, दृढव्रत, पाण्डित्य, प्रतिभा, परम आनन्द, परमगति, सर्वसिद्धि, समृद्धि, सर्ववशित्व, असाधारण अद्भुत शोभा, सर्वाकर्षणत्व और अद्भुत चमत्कार आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। इनके अतिरिक्त, भागवतमें भी सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा आदि बहुत-से गुणोंका वर्णन आता है। पृथ्वीने धर्मके प्रति कहा है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥
इमे चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥

'भगवन्! उन भगवान्‌में सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र-विचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, पराक्रम, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, मनोबल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहङ्कारिता—ये उन्तालीस अप्राकृत गुण तथा बड़े-बड़े महत्त्वाकाङ्क्षी पुरुषोंद्वारा वाञ्छनीय और भी बहुत-से महान् गुण उनकी सेवा करनेके लिये नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, वे एक क्षणके लिये भी उनसे अलग नहीं होते।'

शास्त्रोंमें भगवान्‌के और भी अनेक गुण बतलाये गये हैं; किंतु अनन्त गुण होनेके कारण उन सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है। ये सब अप्राकृत गुण भगवान्‌में अतिशय और पूर्णरूपसे हैं। सारे संसारके प्राणिमात्रके हृदयमें वर्तमान दया और प्रेमको एकत्र किया जाय, तब भी उस अनन्त अपार दया और प्रेमके समुद्रकी एक बूँदसे भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डके समस्त गुणसमूह मिलकर भी उन गुणसागरके एक बूँदकी भी समता नहीं कर सकते; क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड परमात्माके सङ्कल्पके किसी एक अंशमें स्थित हैं। उन दिव्य चिन्मय परमात्माका निर्गुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-निराकारके रूपमें परिणत होता है, अतः ये सब गुण दिव्य और चिन्मय हैं। इसलिये इन दिव्य चिन्मय गुणोंके एक अंशका प्रतिबिम्ब ही सारे ब्रह्माण्डमें अनन्त गुणोंके रूपमें भासित हो रहा है। इसीलिये संसारके समस्त गुण परमात्माके गुणोंके एक बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकते।

उस सगुण-साकार स्वरूपके दो भेद हैं—एक तो मायाविशिष्ट और दूसरा मायातीत। जो मायातीत रूप है, उसमें सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंका अत्यन्त अभाव है, अतः उन परमात्माके गुण, स्वरूप, प्रभाव आदि सभी चिन्मय हैं; किंतु जो संसारमें अवतार लेते और सबके दृष्टिगोचर होते हैं, वह भगवान्‌का मायाविशिष्ट रूप है,* असली मायातीत रूप सबको नहीं दीखता; क्योंकि सभी उसके अधिकारी न होनेके कारण भगवान् अपने ऊपर मायाका पर्दा डाले हुए रहते हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

---

* गीतामें भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(७ । २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु जो भगवान्के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला भक्त है, उससे वे अपना पर्दा हटाकर वास्तविक मायातीत रूप दिखला देते हैं, जिसके दर्शन पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

वास्तवमें वे परमात्मा ईश्वरोंके भी ईश्वर, अज और अविनाशी हैं, उनका जन्म और विनाश नहीं होता, वे तो संसारके हितके लिये प्रकट और अन्तर्धान होते हैं या यों कहिये कि उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जो मनुष्य उन परमात्माके जन्मकी उपर्युक्त दिव्यता और अलौकिकताको तत्त्वतः जान लेता है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ४ । ९)

भगवान्का प्रभाव भी अतिशय अप्रमेय और अलौकिक है। भगवान्में सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, पराक्रम, प्रताप, सामर्थ्य, विभूति, महिमा, कान्ति, सर्वज्ञता, सर्वकारणता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्वनियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता आदि अनन्त, असीम और विलक्षण प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानके प्रभावसे समस्त दुर्गुण, दुराचार, विकार और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्गुण-सदाचारसम्पन्न होकर जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परमात्मा स्वयं असीम, अप्रमेय और चिन्मय होनेके कारण उनका प्रभाव भी चिन्मय, असीम और अप्रमेय है। जिनके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अनायास ही होते रहते हैं, जिनके कृपाकटाक्षसे ही लाखों-करोड़ों प्राणियोंका क्षणमें उद्धार हो सकता है, जो असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव करनेमें समर्थ हैं; जो जडको चेतन और चेतनको जड बना सकते हैं और जो मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छर बना देनेमें समर्थ हैं, उन अचिन्त्य-अनन्त प्रभावशाली परमात्माके प्रभावका वर्णन पूर्णतया करना सम्भव नहीं। समस्त ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ भी विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि प्रभावशाली तेजस्वी पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भगवान्के प्रभावके एक अंशका ही आभासमात्र हैं, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्के संकल्पके एक अंशमें स्थित हैं।* उन भगवान्के तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, वह उसी क्षण उनको प्राप्त हो जाता है।

अतएव भगवान्के तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये गुण-प्रभावसहित उनके स्वरूपका निष्कामभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर ध्यान करना चाहिये।

---

* गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१० । ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योग-शक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४३)

गृहतोरणके समीप अपने हाथोंमें नीलमणि एवं बलरामके करपल्लव धारण किये व्रजेश्वरी खड़ी हैं तथा आभीर-शिशु उन्हें वनमें घटित आजकी घटना सुना रहे हैं—

मातः परं मातः परं कौतुकं कौ तु कं न विस्मापयति तत्। यदद्य सख्या सख्यापित-भुजपराक्रमः पराक्रमः कृतः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'री मैया! इससे परे सुन्दर कौतुक और कोई हो ही नहीं सकता। यह पृथ्वीपर भला किसे विस्मित नहीं करेगा! आज हमारे सखा कन्हैयाने शत्रुपर ऐसे आक्रमण किया कि क्या बताऊँ! उस आक्रमणको देखकर ही हमलोगोंने जाना कि सचमुच कन्हैया भैयाकी भुजाओंमें कितना बल है!'

व्रजेश्वरीके नेत्रोंमें, मुखपर एक साथ भीति, उत्कण्ठा, अनिष्टाशङ्काकी छाया झलमल कर उठती है। क्षणभर पूर्व वनसे लौटे हुए नीलसुन्दरकी शोभा निहारनेमें ही मैयाके प्राण तन्मय हो रहे थे। किंतु गोप-शिशुओंके इन शब्दोंने वह एकाग्रता हर ली; प्राणोंमें स्पन्दन आरम्भ हो गया—पता नहीं क्या घटना हुई है? जननी पूरे मनोयोगसे शिशुओंकी बात सुनने लगती हैं। वे सब भी कहते ही जा रहे हैं—

निजमदपर्वतायमानं पर्वतायमानं सर्वानेव नो गिलितुमुद्यतमुद्यतं ज्वलन्तमिव पावकं वकं तीक्ष्ण-चञ्चुं चञ्चूर्यमाणं करसरोजाभ्यामाभ्यामाहितहेलं हेऽलंसुकृतिनि! तव कुसुमसुकुमारः कुमारः सपदि वीरणतृणमिव पाटयामास।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देख मैया! तुम्हें बताऊँ—वह जो आया था, अपने गर्वोल्लासमें फूल रहा था, पर्वत जैसा बगुला बना हुआ था, हम सबको निगल जानेके लिये उद्यत होकर आया था। मृत्यु उसके सिरपर नाच रही थी; इसीलिये आनन्द, शान्तिका लेश भी उस पक्षीमें नहीं था। री मैया, उसके अत्यन्त तीक्ष्ण चोंच थी, उस चोंचके कारण वह जलती हुई आगके समान बना हुआ था। टेढ़े-टेढ़े चलकर वह आ रहा था। किंतु मैया, री बहुपुण्यवती जननि! तेरे इस कुसुमसुकुमार नीलमणिने अपने इन्हीं हस्तकमलोंसे उस बकासुरको देखते-ही-देखते अनायास—जैसे कोई वीरण नामक तृणको बीचसे चीरकर फेंक दे, वैसे ही चीरकर फेंक दिया!'

बालकोंकी बात सुनकर व्रजरानीके मुखकी उत्फुल्लता जाती रहती है। निराशाभरी आँखोंसे वे पुरपुरन्ध्रियों-की ओर देखती हुई कहने लगती हैं—

यदर्थमजहामहं बत! महावनावस्थितिं
तदेतदतिभीतिदं दितिजकृत्यमुन्मीलति।
अयं परमचञ्चलः परमसाहसोऽसाध्वसः
क्व यामि करवाणि किं हतविधेर्न वेद्मि हितम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'आह! जिस कारणसे महावनका निवास छोड़कर आयी, वह यहाँ भी पीछे लगा ही रहा; यहाँ भी वह असुरोंका भयङ्कर उत्पात होने ही लगा। यह मेरा नीलमणि अतिशय चञ्चल है, अत्यन्त साहसी है, भय तो इसे छू नहीं गया है, किसीसे तनिक भी नहीं डरता (जहाँ चाहे चला जाता है, जिस किसी वस्तुको ही पकड़ लेता है)। हाय! कहाँ जाऊँ! क्या करूँ! पता नहीं, दुर्दैवकी क्या इच्छा है!'

—यह कहते-कहते अत्यन्त दुःखभारसे व्रजेश्वरीके नेत्र निमीलित हो जाते हैं। किसी अचिन्त्य प्रेरणावश गोप-शिशुओंके मुखसे यह बात सहसा स्पष्ट नहीं निकली कि बक श्रीकृष्णचन्द्रको निगल चुका था। अन्यथा व्रजेश्वरीके अन्तस्तलपर इस घटनाकी क्या

कैसी प्रतिक्रिया होती, यह कहना कठिन है!

जो हो, विद्युत्की भाँति यह समाचार समस्त व्रजपुरमें फैल जाता है। अपने जीवनसर्वस्व श्रीकृष्ण-चन्द्रको अतिशय निकटसे जाकर देख लेनेके लिये प्रत्येक गोप-गोपीके प्राण चञ्चल हो उठते हैं। नन्दभवनमें ही व्रजमण्डल एकत्र हो जाता है। बालक बार-बार उस घटनाका विवरण सबको सुना रहे हैं, सुन-सुनकर सभी आश्चर्य-विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्ण-चन्द्रकी ओर ही देखने लगते हैं। व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोपोंने आदिसे अन्ततक—कैसे क्या-क्या हुआ—सब सुना। फिर तो सबकी अञ्जलि बँध जाती है, सभी अपने इष्टदेव श्रीनारायणके चरणोंमें श्रीकृष्ण-चन्द्रकी इस अप्रत्याशित रक्षाके लिये लुट पड़ते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके सुकोमल अङ्गोंकी ओर दृष्टि जानेपर उन्हें विस्मय होता है—ओह! इस नन्हें-से नीलमणिने ऐसे दुर्दान्त दैत्यको अनायास चीर डाला! और जब वे बकके द्वारा श्रीकृष्णचन्द्रको निगल जानेकी बात स्मरण करते हैं, तब उन्हें लगता है—आह! नीलमणि तो आज हमलोगोंको छोड़कर मानो दूसरे लोकमें चला ही गया था, श्रीनारायणदेवकी कृपासे ही लौटकर आ गया है—मृत्युकी छाया छूकर आया है। उनकी खोयी हुई परमनिधि उन्हें पुनः प्राप्त हो गयी है, नीलमणि उनके नेत्रोंके सामने पुनः सकुशल लौट जो आया है, उन्हें क्या नहीं मिल गया है!—प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलका अनुराग उमड़ चलता है, सभी अतृप्त नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते ही रह जाते हैं—

श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५४)

जब भावप्रवाह किञ्चित् शिथिल होता है, तब गोपसमाजमें, गोपीमण्डलीमें यह चर्चा आरम्भ होती है—

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्।
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम्॥
अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत्॥
अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित्।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत्॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५५—५७)

'अहो! कितने आश्चर्यकी बात है! अबतक इस बालकके लिये मृत्युके कारण तो बहुतसे उपस्थित हुए; पर हुआ यह कि जो इसका अनिष्ट करने आये, उन्हींका अनिष्ट हो गया। ऐसा इसीलिये हुआ कि उन सब-के-सबने यहाँ आनेसे पूर्व बहुतसे प्राणियोंका अनिष्ट साधन करके अपने लिये भी पुष्कलमात्रामें अनिष्टका ही सञ्चय कर लिया था—उनके पापका घड़ा भर जो चुका था। देखो तो सही, वे भयङ्कर-मूर्ति राक्षस आते तो हैं, पर इस कुसुमसे भी सुकुमार नीलसुन्दरका बाल बाँकातक नहीं कर पाते। सब-के-सब इसका प्राण हरण करनेकी इच्छासे ही आते हैं; पर जहाँ इसके पास आये कि प्रज्वलित अग्निमें गिरे पतङ्गकी भाँति स्वयं नष्ट हो जाते हैं। ओह! वेदार्थ-तत्त्वज्ञोंके मुखसे निःसृत वाक्य सचमुच कभी मिथ्या नहीं होते! भगवान् गर्गने जो कुछ कहा था, उसे ठीक वैसे ही घटित होते हमलोग देख जो रहे हैं।'

किंतु व्रजेश्वरीका ध्यान इस चर्चाकी ओर बिल्कुल नहीं है। वे अपने नित्यकर्ममें व्यस्त हैं। कुछ क्षणतक तो मैया इस घटनासे अतिशय व्यथित होकर आँख बंद किये न जाने क्या-क्या सोचती रहीं; पर सहसा वनसे लौटे पुत्रका क्लान्त मुख उनकी स्मृतिपथमें आया और वे प्रतिदिनकी भाँति नीलमणिके संलालनमें लग गयीं। अतिशय लाड़से गोप-शिशुओंको अपने-अपने

घर भेज दिया। फिर अभ्यञ्जन, उद्वर्तन आदिसे नीलमणिकी, अग्रजकी श्रान्ति मिटाकर उन्हें ब्यारू करवाया। यह हो जानेके अनन्तर वात्सल्यकी सहस्र-सहस्र धारासे नीलसुन्दरको अभिषिक्त करती हुई मैया उनसे कहने लगती हैं—

तात ! गृह एव भवता स्थीयतां नातः परे वनान्तरे गन्तव्यम्। वत्स! वत्सरक्षणक्षणस्ते विरमतु वत्सरक्षणे बहवः सन्ति। किं तवामुनाऽऽयासेनेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मेरे लाल! अब तू घरपर ही रह। अब फिर कभी वनमें मत जाना। मेरे लाड़िले! वत्ससंलालनका तेरा सुख यहीं समाप्त हो। वत्सरक्षणके लिये बहुतसे गोप हैं ही। तेरे इस प्रकार कष्ट उठानेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? बस, अब बहुत हो चुका।'

श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी यह उद्विग्नता देखकर अपने करपल्लवसे उनकी ठोड़ी स्पर्श करते हुए आश्वासन देने लगते हैं—

मातर्मा तव भयं किमपि×××तदलं चिन्तयेति×××।

'मैया, तेरे लिये कोई भी भयकी बात नहीं है! तू व्यर्थकी चिन्ता रहने दे।'

यह कहते-कहते ही श्रीकृष्णचन्द्रके नयनसरोजोंमें आलस्य भरने लगता है तथा जननी उन्हें परम सुन्दर शय्यातलपर शयन करा देती हैं।

इधर गोपसमाजमें, गोपीसमुदायमें श्रीकृष्णचन्द्रकी चर्चा समाप्त नहीं हुई है। स्वयं व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोप भी अन्य समस्त कृत्य भूलकर सबकी बातें सुन रहे हैं तथा स्वयं भी घटनाक्रमके किसी अज्ञात एवं स्खलित अंशकी पूर्ति कर दे रहे हैं। पूतना, शकट, तृणावर्त, यमलार्जुनपतन, बकविपाटन आदि समस्त लीलाकथाओंकी, इनसे सम्बद्ध क्षुद्र-से-क्षुद्र नगण्यतम घटनावलियोंकी पुनः-पुनः आवृत्ति करनेमें इस आभीरकुलको इस समय क्षण-क्षणमें नवीन उत्साहकी अनुभूति हो रही है। आज तो अभी-अभी विशिष्ट घटना घटित हुई है, बकको चीरकर श्रीकृष्णचन्द्रने सबको आश्चर्यचकित कर दिया है। ऐसे निमित्तसे श्रीकृष्णचरित्रकी चर्चा चले, इसमें क्या बड़ी बात है। यह तो व्रजेश्वरसे लेकर जनसाधारणतक—समस्त पुरवासियोंकी जीवनचर्याका प्रमुख अङ्ग है, उनका व्यसन है। इससे उपरति, तृप्ति उन्हें कभी होती ही नहीं। सजल नेत्र हुए अश्रुपूरित कण्ठसे श्याम-बलरामके चारुचरित्रोंका गान पुरवासियोंके प्राणोंका आधार है। यह किये बिना उनके लिये प्राण-धारण सम्भव नहीं। व्रजमण्डलमें, नन्दव्रजमें, वृन्दाकाननमें, नन्दनन्दनकी तथा, रोहिणीतनयकी कथासुधा सतत प्रसरित होती रहती है, उसीमें अवगाहन करते, उसीमें निरन्तर निमग्न हुए पुरवासियोंको भववेदना स्पर्शतक नहीं कर पाती, कथामृतसिन्धुमें डूबे हुए इस आभीरसमाजको भवदुःखदावानल दग्ध नहीं कर सकता, इस ज्वालाकी छाया भी उन्हें छू नहीं सकती—

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥

(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५८)

इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है—

तादृग्रमेशचरितं श्रुतिमात्रवेद्यं
यस्यास्ति सोऽपि भवदुःखलवं न वेत्ति।
चित्रं किमत्र स च तच्चरितं च येषा-
मध्यक्षमास न विदुर्भववेदनां ते॥

(भक्तिरसायन)

'रमावल्लभ श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे चरित्रोंको जो केवल सुनतेमात्र हैं, जिन्हें अनुभव नहीं, केवल श्रवणमात्रसे ही होनेवाला लीलासम्बन्धी ज्ञान जिनके पास है, उनके लिये भी भवदुःखका लेशतक नहीं रहता—लीलाश्रवणकी इतनी महिमा है। फिर यहाँ तो व्रजपुरवासियोंके नेत्रोंके सामने वे श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं विराज रहे हैं, एवं श्रीकृष्णचरित्रका प्रत्यक्ष प्रवाह बह रहा है। अब इन पुरवासियोंको यदि भववेदनाकी अनुभूति नहीं होती तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?'

इस व्रजपुरमें जबसे श्रीकृष्णचन्द्रका अवतरण हुआ है, तबसे उनके महामरकत-श्यामल अङ्गोंसे लीलाका नवीन नूतन स्रोत क्षण-क्षणमें झरता रहा

है । प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलमें उसकी एक-एक बूँद सञ्चित होती रहती है और फिर प्रत्येक विन्दु गीतके रूपमें मूर्त हो जाती है । प्रत्येक रजनीका विराम होते ही गोपेन्द्र एवं अन्यान्य समस्त गोप तो नित्यकर्ममें संलग्न होते हैं; और गोपेन्द्रपरिचारिकाएँ, गोपसुन्दरियाँ वास्तुपूजनकर अपने कंकणभूषित करोंसे दधिमन्थन आरम्भ करती हैं । उस समय प्रत्येक गृहमें, प्रत्येक गोपीके अधरोंपर श्रीकृष्णलीलागानकी लहरें उठती रहती हैं । गीतकी यह अनर्गल धारा व्रजराजके, व्रजमण्डलवासी समस्त गोपोंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो जाती है । किसी गोपीके मानसपथमें श्रीकृष्णचन्द्र पालने झूल रहे हैं । गोपी उसे निहारकर आनन्दनिमग्न हो रही है । यह अपरिसीम आनन्द अन्तर्देशमें सीमित रह जो नहीं सकता । गीत बनकर बाहर लहराने लग जाता है, गोपी गाने लग जाती है—

नंदको लाल व्रज पालने झूले ।
कुटिल अलकावली तिलक गोरोचना चरन अंगुष्ठ मुख किलकि फूले
नैन अंजन रेख भेख अभिराम सुठि कंठ केहरि किंकिनी कटि मूले ।
नंददासनि नाथ नंद-नंदन कुँवरि निरखि नागरि देह गेह भूले ॥

कहीं किसी दूसरी गोपीके मानसतलमें नन्द-नन्दनके जन्ममहोत्सवका राग-रंग भर रहा है, उत्सवका साक्षात्कारकर वह फूली नहीं समा रही है, उसके प्राणोंकी उमङ्ग शब्दोंका आकार धारणकर बाहर प्रसरित होने लगती है—

माई आज गोकुल गाम, कैसौ रह्यौ फूलि कै ।
गृह फूले दीसैं, जैसैं संपति समूल कै ॥
फूली फूली घटा आई, घरहर घूमि कै ।
फूली फूली वर्षा होति, झर लायौ झूमि कै ॥
फूलौ फूलौ पुत्र देखि, लियौ उर लूमि कै ।
फूली हैं जसोदा माइ, ढोटा मुख चूमि कै ॥
देवता अगिनि फूले, घृत-खाँड होमि कै ।
फूल्यौ दीसै दधिकाँदौ, ऊपर सो भूमि कै ॥
मालिन बाँधै बंदनमाल, घर घर डोलि कै ।
पाटंबर पहिराइ राइ, अधिकै अमोल कै ॥
फूले हैं भँडार सब, द्वारे दिये खोलि कै ।
नंद दान देत फूले, 'नंददास' बोलि कै ॥

इस प्रकार गोपीमुखनिःसृत लीलागानकी अनन्त धाराएँ दसों दिशाओंको परिव्याप्त कर देती हैं । गोपोंके कर्णपुट इनसे पूरित होने लगते हैं । इनका उन्मादी प्रभाव वयोवृद्ध गोपोंतकको चञ्चल कर देता है । गोष्ठ जाकर गोदोहन, गोसंलालन आदिमें लगे हुए गोप-समाजका मन—और तो क्या, भुवनभास्करको अर्घ्य समर्पित करते हुए परम निष्ठावान् स्वयं व्रजराजका मन भी इस प्रवाहमें बरबस बह चलता है । गोपोंके द्वारा गोसंलालन, गोदोहन तो होते हैं, पर होते हैं यन्त्रवत् और मन तन्मय होने लगता है उन्हींके मुखसे स्वतः प्रस्फुरित लीलागानमें । व्रजेन्द्रको भी अर्घ्यकी, अर्घ्यके मन्त्रकी सर्वथा विस्मृति है, केवल क्रियामात्र सम्पन्न हो रही है; चित्तवृत्ति तो कबकी विलीन हो चुकी है पुरसुन्दरियोंके कलकण्ठनिर्गत श्रीकृष्णचरित्रगानमें । स्वयं व्रजेशकी वाणी भी वैसे ही किसी गीतकी आवृत्ति करने लगती है ।

जहाँ कहीं जब कभी भी कोई गोपसमुदाय एकत्र होता है, वहाँ उस समय चर्चा आरम्भ होती है श्रीकृष्णचरित्रसे ही, तथा आरम्भ होनेके अनन्तर उसका विराम कहाँ ? क्योंकि इस समुदायका प्रत्येक सदस्य अपने हृद्देशमें किसी एक परम सरस स्रोतका ही अनुसरण करते हुए लौटता है । ऊपरसे भले प्रतीत हो कि चर्चा स्थगित हो गयी, पर यह तो मन्दाकिनीकी वह सरस धारा-जैसी है जो सघनवनकी ओटमें विलुप्त हो जाती है और फिर आगे जाकर अनुकूल धरातलपर पुनः व्यक्त हो जाती है । गोप भावशावल्यवश एक बार मौन हो जाते हैं, चल पड़ते हैं अपने गन्तव्य दिशाकी ओर । पर कुछ दूर अग्रसर होनेपर पुनः उद्दीपनकी कोई-न-कोई वस्तु स्पर्श करती ही है और पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रोंका चित्रण चल पड़ता है । भला ऐसे लीलारसमत्त आभीरसमाजको भववेदना स्पर्श करे तो कैसे करे ? वहाँ उनकी चित्तभूमिमें अन्य भावना, अन्य अनुभूतिके लिये स्थान जो नहीं रहा !

और वास्तवमें तो यह भववेदनाका प्रश्न भी

बहिरङ्गदृष्टिसे ही है । अनन्तैश्वर्यनिकेतन नराकृति परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके ये लीलापरिकर—नन्ददम्पति, व्रजगोप, गोपसुन्दरियाँ, गोपशिशु आदि सब भवाटवीमें भ्रमण करनेवाले जीव तो हैं नहीं जो भववेदना उन्हें छू सके । ये तो सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके अनादिसिद्ध स्वरूपभूत परिकर हैं, सत्त्व-रज-तमोमयी प्रकृतिसे अत्यन्त परेकी वस्तु हैं । इन्हें प्राकृत सृजनका कम्पन उद्वेलित नहीं करता, संहारकी छाया नहीं छूती । अपनी ही महिमामें स्थित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ ही इनका नित्यनिवास है, एवं इनको सदा साथ लिये ही श्रीकृष्णचन्द्रकी नित्यलीला अखण्डरूपसे चलती रहती है, अनादिकालसे चल रही है, अनन्तकालतक चलती रहेगी । यहाँ इस लीलामें क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, सुख, दुःख, हास्य, क्रन्दन जो कुछ भी है, वह सत्त्व, रज, तम—इन त्रिगुणकी परिणति नहीं अपितु सब-के-सब सच्चिदानन्दमय हैं, सच्चिदानन्दसिन्धुकी लोल लहरियाँ हैं; इनपर खेलते हुए, इनका रस लेते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कभी-कभी प्रापञ्चिक जगत्में भी इसकी एक दो बूँद बिखेर देते हैं—प्रापञ्चिक जगत्में इस चिन्मयी लीलाका प्रकाश कर देते हैं । प्रापञ्चिक स्तर इस चिद्वैभवको स्पर्श तो नहीं करता, स्पर्श कर सकता ही नहीं, प्रकाशके समय भी यह प्रपञ्चसे अत्यन्त सुदूर ही, अतिशय पृथक् ही स्थित है । फिर भी अचिन्त्य-सौभाग्यवश, एकमात्र भगवत्कृपाको ही जीवनका सारसंबल बनानेवाले जो प्राणी इसका साक्षात्कार करते हैं, उनके अनादि संसरणकी इति हो जाती है, और वे अपने अधिकारके अनुरूप इसमें यथायोग्य यथासमय स्थान पाते हैं, आगे भी इस प्रकाशके अन्तर्हित हो जानेके अनन्तर भी, साधनाका आदर्श, साधनका स्वरूप प्राप्त होता रहता है, जिसका अनुसरण कर अगणित प्रपञ्चगत प्राणी अपने परम निःश्रेयसका मार्ग प्रशस्त करते हैं । ऐसे इस दिव्यातिदिव्य चिन्मय साम्राज्यके परिकरोंमें भववेदनाका सचमुच प्रश्न ही कहाँ बनता है ? यह तो श्रीकृष्णचन्द्रकी चिन्मयी लीलामें प्रपञ्चगत भावोंका साम्य देखकर होनेवाली शङ्काका एक बहिरङ्ग समाधान है । साथ ही त्रितापदग्ध प्राणियोंके लिये एक सुन्दर सङ्केत है—जीवो ! क्यों जल रहे हो ? श्रीकृष्णलीला-रस-मन्दाकिनीके इस पुनीत प्रवाहमें तुम भी इन गोपोंकी भाँति अवगाहन करो, तुम्हें शाश्वती शान्ति सहजमें प्राप्त हो जायगी !

अस्तु, आज एक प्रहर निशा व्यतीत हो चुकी है । व्रजेश्वरी तो शयनागारमें पुत्रोंको लिये, उन्हें सुलाकर स्वयं अनिद्रित रहकर चिन्तामें निमग्न हैं । उन्हें एक ही चिन्ता हो रही है—'जिस किस प्रकारसे हो, नीलमणि यदि वन जानेका हठ छोड़ दे तो कितना सुन्दर हो ! क्या उपाय करें ? नीलमणिको कैसे समझावें ?' और इधर व्रजेश्वर अभी भी गोपसभामें विराजित हैं, राम-श्यामकी चर्चा करनेमें, सुननेमें तन्मय हो रहे हैं; किंतु अब अतिकाल जो हो रहा है, नारायण-मन्दिरमें शयन-नीराजनका समय हो चुका है । परिचारिकाके द्वारा स्मरण दिलानेपर व्रजेश्वर सभा विसर्जितकर मन्दिरकी ओर चल पड़ते हैं; किंतु अभी-अभी श्रीकृष्णचरित्र-चित्रण-श्रवणसे प्राप्त सुखकी अमिट स्मृति साथ लिये जा रहे हैं । वास्तवमें यह सुख है ही अप्रतिम, इसकी अन्यत्र कहीं तुलना जो नहीं !—

जो सुख होत गोपालहिं गाये ।
सो नहिं होत किये जपतपके कोटिक तीरथ न्हाये ॥
दिये लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाये ।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नँदनंदन उर आये ॥
बंसीबट बृंदाबन जमुना, तजि बैकुंठ को जाये ।
सूरदास हरिको सुमिरन करि, बहुरि न भव चलि आये ॥

देहसिद्धि और पूर्णत्वका अभियान

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०, डी०लिट्०)

(१)

मनुष्यकी ज्ञानशक्तिके विकासके साथ-साथ उसके जीवनका चरम आदर्श अस्पष्ट रूपसे उसके हृदयमें कभी-कभी भासित हो उठता है । वह आदर्श क्या है, इसे भाषामें व्यक्त करें तो अनेक दिशाओंसे अनेक प्रकारके नाम निर्देश किये जा सकते हैं । परंतु वस्तुतः कोई भी नाम उस महान् आदर्शको पूर्ण रूपसे व्यक्त करनेमें समर्थ नहीं है । दुःख-निवृत्ति अथवा आनन्दकी अभिव्यक्ति दार्शनिक समाजमें बहुत ही परिचित वस्तु है । यही परम पुरुषार्थ है, इसे बहुतेरे लोग निःसङ्कोच स्वीकार करते हैं । परंतु मेरी समझसे 'पूर्णत्व-प्राप्ति'को ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य स्वीकार करना अधिक सुसंगत है । मनुष्यका जीवन पहलेसे ही नाना प्रकारके बन्धनोंमें बँधा और आवरणसे ढका है, अतएव उसकी स्वतन्त्र स्फूर्ति कभी नहीं हो सकती । इन सारे बन्धनों और आवरणोंसे जबतक मुक्त नहीं हुआ जाता, तबतक मनुष्य वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकता; और जबतक इस स्वाधीनताका आविर्भाव नहीं होता, तबतक मनुष्यके लिये पूर्णत्वकी प्राप्ति तो दूरकी बात है, पूर्णत्वकी यात्राका श्रीगणेश भी नहीं होता । पूर्णत्व अत्यन्त दुर्लभ अवस्था है—इसे आजपर्यन्त यथार्थ रूपमें किसीने उपलब्ध किया है या नहीं—यह नहीं कहा जा सकता । परंतु उस मार्गमें अल्पाधिक परिमाणमें कुछ लोग अग्रसर हुए हैं, इसका प्रमाण इतिहाससे प्राप्त होता है ।

बहुतोंकी धारणा है कि जीव जन्म लेकर कर्म-पथसे चलते-चलते, किसी-न-किसी दिन, इस जन्ममें या भविष्यके दूसरे जन्मोंमें पूर्णत्व लाभ कर सकता है । यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है, परंतु इसके भीतर आंशिक सत्य रहस्यके गर्भमें निहित है । कर्म, अकर्म और विकर्मका सहज ही भेद नहीं किया जा सकता । प्रकृत कर्म-पथ प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इसमें सन्देह नहीं । परंतु एक बार इस पथके प्राप्त होनेपर कर्मसे ही ज्ञानका विकास होता है, ज्ञानका पृथक् रूपसे आहरण नहीं करना पड़ता । वस्तुतः दीक्षा-कालमें गुरुदत्त ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-साथ कर्मपथ खुल जाता है । और उसके बाद कर्मके निर्दिष्ट परिमाणमें विकास होनेपर गुरुदत्त अव्यक्त-ज्ञान या ज्ञान-शक्ति ज्ञानचक्षुके रूपमें उन्मीलित होती है—इसका ही नाम 'लक्ष्यका उन्मेष' है । साधारण जीवके लिये लक्ष्यरूपी इस ज्ञानचक्षुके उन्मेषके प्रभावसे निम्नस्तरके सारे कर्म, जिनके द्वारा चित्त विक्षिप्त और आच्छन्न होता है, नष्ट हो जाते हैं । तब दो अवस्थाओंकी अभिव्यक्ति विकल्प रूपसे होती है । दुर्बल अधिकारीके लिये पूर्वोक्त ज्ञानोदयके साथ-साथ एक स्थिति अवस्थाका उदय होता है । इस अवस्थामें साधक प्रकाशमय महाज्योतिके बीच निष्क्रिय स्वसत्ताको लेकर अचल भावसे अवस्थान करता है । परंतु सबल अधिकारीके लिये इस ज्योतिमें क्रमशः अग्रसर होनेका मार्ग मिल जाता है । इसका ही नाम है 'योगपथमें महाभिनिष्क्रमण ।'

साधारणतः निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञानके उदयके बाद देहमें अवस्थान करना सम्भव नहीं होता । अतएव महाप्रस्थान अथवा महायोगके मार्गपर चलना नहीं बनता । विदेह-कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त करनेके बाद केवली आत्माके लिये किसी प्रकारकी अग्रगति अथवा अवस्थान्तरकी प्राप्ति नहीं हो सकती । देह-सम्बन्धके बिना प्रकृत कर्मका विकास सम्भव नहीं होता ।

जागतिक साधक जिन आध्यात्मिक स्तरों या अनुभूति-क्षेत्रोंकी उपलब्धि करता है, वे सब अज्ञान-भूमिके अन्तर्गत होते हैं, अतएव अल्पाधिक परिमाणमें जडताके द्वारा आच्छन्न रहते हैं ।

इससे समझा जा सकता है कि योगीका यथार्थ कर्मपथ ज्ञान-नेत्रके उन्मीलनके बाद प्राप्त होता है, इसके पूर्व नहीं । इस विराट् पथपर चलनेके लिये देहको सुरक्षित रूपमें अपने अधीन रखना आवश्यक है, क्योंकि यही आद्य धर्मसाधन है, अर्थात् रोग, जरा, अकालमृत्यु आदि समस्त विघ्नोंसे देहको मुक्त करके पूर्णत्वके मार्गमें चलना है । यह अधिकांश मनुष्योंके लिये अप्राप्य या दुष्प्राप्य है, अतएव यथार्थ जीवन्मुक्ति संसारमें इतनी दुर्लभ है । साधारणतः जिस अवस्थाको जीवन्मुक्ति कहा जाता है, उसमें अज्ञानकी आवरण-शक्ति न होनेपर भी विक्षेप-शक्ति रहती है—यह मानना पड़ता है । विक्षेप-शक्तिके होनेके कारण वेदान्तादि अनेकों प्रस्थानोंमें एक ऐसा मत प्रचलित है कि प्रारब्ध कर्म तत्त्वज्ञानके द्वारा नष्ट नहीं होते, एकमात्र भोगके द्वारा ही नष्ट होते हैं । इस प्रकारकी जीवन्मुक्ति-अवस्था नित्य नहीं

होती; क्योंकि प्रारब्धभोगोंका अन्त हो जानेपर देह-पात अवश्यम्भावी है। देहान्तके बाद विदेह-कैवल्य-अवस्थाका उदय होता है। कहना न होगा कि वह जीवन्मुक्त अवस्थासे बिल्कुल ही भिन्न है, क्योंकि इस अवस्थामें देह या इन्द्रिय आदि नहीं रहते।

अतएव योगियोंका सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ उद्यम देह-स्थैर्यके व्यापारमें लगता है, देहको जरारहित करके अमरत्व दान करना ही देह-स्थैर्यका उद्देश्य है। देहको स्थिर कर लेनेपर वह पुनः चञ्चल नहीं होता, तथा वह कभी विकार-ग्रस्त नहीं होता, अथवा मृत्युमुखमें नहीं पड़ता। पृथिवीके सभी देशोंमें इसी कारण प्राचीन कालमें सम्प्रदायविशेष अति गुप्त भावसे देह-सिद्धिकी क्रियाका अनुष्ठान करते थे। ईसाई-सम्प्रदायमें सेंट जॉन और चीन देशमें आचार्य लाउत्से इस मार्गमें दीक्षित होकर कुछ अंशमें चरम सत्यकी प्राप्तिके पथपर अग्रसर हुए थे। भारतवर्षमें हठयोगीगण तथा शैव, शाक्त, वैष्णव आदि उपासकोंमें कुछ लोग देहसिद्धिके रहस्यको जानते थे। मध्ययुगके तिब्बतमें विशिष्ट योगीजन भी इसे जानते थे। वायु अथवा मनको स्तम्भित करके अथवा अष्टादश संस्कारसे संस्कृत पारदके द्वारा देह-सिद्धि की जा सकती है। योगियोंकी कुछ मुद्राएँ भी इस क्रियामें उपयोगी होती हैं। यह कथा प्रसिद्ध है कि स्वामी शङ्कराचार्यके गुरु गोविन्द भगवत्पादने रस-प्रक्रियाके द्वारा सिद्ध देह प्राप्त किया था। चौरासी सिद्धोंका इतिहास भारतीय और तिब्बतीय साहित्यमें सुपरिचित ही है। माधवा-चार्यने सर्वदर्शनसंग्रहके अन्तर्गत रसेश्वर दर्शनकी आलोचनाके प्रसङ्गमें प्राचीन कारिकासे उद्धृत कर बहुतेरे सिद्धदेह-सम्पन्न योगियोंके नामोंका उल्लेख किया है। वे योगी आज भी अक्षयदेहमें विद्यमान रहकर जगत्‌में सर्वत्र विचरण करते हैं।

आचार्यगण कहते हैं कि सिद्ध देहकी प्राप्ति ही यथार्थ जीवन्मुक्ति है, क्योंकि इस देहका पतन न होनेके कारण जीवन्मुक्ति अवस्था चिरस्थायी होती है। जीवन्मुक्ति-अवस्थाके बाद देहान्त होनेपर कैवल्यका कोई स्थान नहीं। क्योंकि जिस देहको प्राप्त करनेसे कभी देह-त्याग नहीं होता वही यदि जीवन्मुक्ति हो तो कैवल्य या निर्वाणके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। सिद्धोंके मतसे कायसिद्धिके अभावके कारण निर्वाण स्वीकृत होता है। कायसिद्धिको प्राप्त कर लेनेपर निर्वाण सदाके लिये अतिक्रान्त हो जाता है। और योगी सिद्धतनु-अवस्थासे प्रणवतनु-अवस्थाकी ओर उठता है। सिद्धोंका मत है कि सिद्धदेहको प्राप्त किये बिना ब्रह्मज्ञान अधिगत नहीं होता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये जो कठोर साधना, तपस्या और सहनशीलता आवश्यक होती है, वह मनुष्यके अपरिपक्व देहमें सम्भव नहीं है। इसी कारण उनका उपदेश है कि पहले देह-इन्द्रिय आदिको कालके कवलसे उद्धार करके अमृत-रसके द्वारा सञ्जीवित करे, पश्चात् महाज्ञानकी साधनाका व्रत ले। इतना किये बिना पूर्णत्वके पथकी यात्रा तो सिद्ध होती ही नहीं बल्कि वस्तुतः उसका आरम्भ ही नहीं होता।

वैष्णवलोग अन्तरङ्ग साधनाके पथमें अग्रसर होकर सिद्धदेह प्राप्तकर राजमार्गका भजन करते-करते रस-साधनाके चरम उत्कर्षको प्राप्त होते हैं। उनके मतसे भावदेह ही सिद्धदेह है। भावदेहकी प्राप्तिके बाद सुदीर्घ साधना करने-पर भगवत्प्रेम प्राप्त होता है और तब रसस्वरूपमें स्थिति-लाभ होता है। उस समय भावदेह ही प्रेमके द्वारा परिणत होते-होते रसमग्न कायामें पर्यवसित हो जाता है। रससिद्धिके पूर्व नित्यलीलाका आविर्भाव हो ही नहीं सकता।

इससे यह समझा जा सकता है कि पूर्ण ब्रह्मज्ञानके पथमें अथवा रस-साधनाके चरम उत्कर्षकी प्राप्तिके मार्गमें सिद्धदेह एक अत्यन्त आवश्यक उपकरण है। श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में जो 'योगाग्निमय शरीर'की बात कही गयी है वह सिद्धदेहका ही एक प्रकार है। 'योगबीज', 'अमनस्क' आदि योगसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें योगदेहका स्पष्ट और अस्पष्ट निर्देश देखनेमें आता है।

(२)

प्रश्न हो सकता है कि देह प्राकृतिक गुणोंसे उद्भूत पञ्च-भूतोंके द्वारा रचित है, यह सर्वदा परिणामशील और अनित्य है, आत्मा कूटस्थ, नित्य और अपरिणामी है—ऐसी अवस्थामें देहका स्थैर्य किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? आत्मा स्थिर है और देह अस्थिर है—यही सनातन सत्य है। यह जानकर ही अनित्यके प्रति वैराग्य तथा नित्य-अनित्यका पारस्परिक विवेक प्राप्त करनेके लिये अध्यात्म-पथमें अग्रसर होना पड़ता है। इस प्रश्नके उत्तरमें बहुत कुछ कहनेको रह गया है। परंतु विस्तारपूर्वक उन सारी बातोंकी आलोचना कर गम्भीर देहतत्त्वकी मीमांसा सामयिक पत्रके कलेवरमें सम्भव नहीं है। तथापि प्रसङ्गवश कुछ तत्त्वालोचना न करनेसे मुख्य सिद्धान्त स्पष्ट नहीं होगा, अतएव यहाँ दो-चार बातें कही जायँगी।

उपनिषदोंमें विभिन्न स्थानोंमें वर्णित है कि पुरुष षोडश-कल अर्थात् देहावच्छिन्न आत्माकी सोलह कला या अवयव है। आगमशास्त्र तथा तदनुयायी अनेकों ग्रन्थोंमें आत्माकी षोडश कलाका उल्लेख मिलता है। इन सोलह कलाओंमेंसे पंद्रह कलाएँ धर्मशास्त्रमें तथा ज्योतिषशास्त्रमें तिथिरूपमें कालचक्रके अङ्कके रूपमें वर्णित हैं। सोलह कलाविशिष्ट चन्द्रकी पंद्रह कलाएँ आविर्भाव-तिरोभावविशिष्ट तथा अनित्य हैं। ये मृत्युकला, कालकी कला अथवा नश्वर कलाके नामसे प्रसिद्ध हैं; परंतु षोडशी कला कालचक्रकी नाभिस्वरूपा है, यही विन्दुरूप अमृतकला है।

'पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलाम्।'

अतएव देहरूपी पुरके अधिष्ठाता पुरुषकी पंद्रह कलाएँ उसकी देह तथा सोलहवीं कला या अमृतकला उसकी आत्मा है। जीव पितृयान मार्गसे चलकर इन पंद्रह कलाओंका ही परिचय प्राप्त करता है। देवयान-मार्गसे गये बिना सोलहवीं कलाका पता नहीं लगता। पंद्रहवीं कला और सोलहवीं कलाके बीच जो सम्बन्ध है, वह मृत्युकालमें छिन्न हो जाता है। वस्तुतः साधारण मनुष्यकी षोडशी कलाके जागनेका अवसर ही नहीं आता। संसारमें जबतक पञ्चदश कलात्मक शरीरमें षोडशी कलाकी पूर्णताके द्वारा विधिपूर्वक अमृतक्षरण न होगा, जबतक पञ्चदश कला अपने नश्वर स्वभावको त्यागकर अमरत्व-सम्पन्न नहीं हो सकती, तबतक शरीरको मृत्युके अधीन रहना ही पड़ेगा। षोडशी कला मृत्युके समय देहसे वियुक्त होकर सूर्यमण्डल भेद करके उसके ऊपर नित्य चन्द्रमण्डलमें लौट जाती है, परंतु वह अमृत-किरण देहके ऊपर नहीं गिरती।

श्रुति कहती है—'अपाम सोमममृता अभूम।' यह वेद-वाक्य सोमपानके फलस्वरूप अमृतत्वकी प्राप्तिका निदर्शन करता है। यह अमृतत्व देहसिद्धिजनित अमरत्व है; यह आत्माका स्वभावसिद्ध अमरत्व नहीं है। क्योंकि आत्माके स्वाभाविक अमरत्वमें सोमपानकी कोई आवश्यकता नहीं होती। 'सोम' शब्दसे सोमलता अथवा औषधीश चन्द्र अथवा विशुद्ध मन—चाहे जो भी ग्रहण किया जाय, मूलमें कोई भेद नहीं होता, सोमरस सर्वत्र एक ही वस्तु है। जो लोग हठयोगका आश्रय लेकर साधन-पथपर चलते हैं, वे खेचरी मुद्राको स्वाधीन करनेके समय इस षोडशी कलारूपी चन्द्रविन्दुके अमृतस्रावके साथ थोड़ा-बहुत परिचित होते हैं। तालुमूलके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, साधारण अवस्थामें चित्तकी एकाग्रताके अभावमें यह सोमधारा नित्य विगलित होकर कालरूप अग्निकुण्डमें नाभिस्थलमें नियमितरूपसे गिरती रहती है। एक लक्ष्य उन्मीलित हुए बिना, अर्थात् ज्ञानचक्षुके खुले बिना यह अमृतपान नहीं किया जा सकता। इसी कारण निरन्तर अमृत-क्षरणके प्रभावसे चन्द्रकलामय शरीरमें सर्वदा रसका शोषण होता है, कालरूपी अग्नि सर्वदा ही रसका शोषण करके देहमें जरा आदि विकारोंकी तथा मृत्युकी उद्भावना करती रहती है। हठयोगीगण बन्ध आदि प्रक्रियाके साथ वायु-निरोधके द्वारा तथा राजयोगी साक्षात् भावसे चित्त-निरोधके द्वारा पूर्ववर्णित विन्दुक्षरणको रोकनेमें समर्थ होते हैं। मन्त्रयोगी मन्त्रके उद्बोधनके बाद जप-क्रिया अथवा अजपा क्रियाके द्वारा इसी एक उद्देश्यको पूर्ण करनेकी चेष्टा करते हैं। तान्त्रिक उपासकलोग जब भूतशुद्ध करके उपासनाके लिये विशुद्ध भूतमय अभिनव देहकी सृष्टि करते हैं तब उनको भी यही एक उद्देश्य प्रेरणा प्रदान करता है। चन्द्र-बीज (ठं) के बिना देह-रचना नहीं होती, यह एक अत्यन्त परिचित सत्य है। जो लोग रस-साधनामें निष्णात हैं, वे भी इसी एक लक्ष्यके द्वारा प्रेरणा पाते हैं। रस अथवा पारद स्वरूपतः शिववीर्य है। परंतु यह बहुत-से मलोंके द्वारा आच्छन्न होनेके कारण अपना कार्य सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता। विभिन्न संस्कारोंके द्वारा इन मलोंको दूर करनेपर विशुद्ध शिव-विन्दु प्राप्त हो जाता है। इस विन्दुसे उत्पन्न देह ही वैन्दव देह है। वह नित्य निर्मल और जरादि विकारोंसे वर्जित होता है। वज्रयान और सहजयानके साधक लोग तथा वैष्णव सहजियालोग प्रकारान्तरसे इसी एक तत्त्वको अङ्गीकार करते हैं। वे जीवविन्दुको शुद्ध और अटल शिवविन्दुमें परिणत करनेके पक्षपाती हैं। मलिन विन्दु जब-तक कठोर ब्रह्मचर्य-साधनाके फलस्वरूप विशुद्ध और स्थिर नहीं हो जाता तबतक उसके साथ प्रकृतिका योग नीतिविरुद्ध है। इस विन्दुके द्वारा रागमार्गकी साधना नहीं चलती। चण्डीदासकी रागात्मिका कविताका रहस्य जो समझते हैं, वे इसे हृदयङ्गम कर सकते हैं। कहना न होगा कि विन्दु ही वज्रयानियोंका बोधी चित्त है। इसको निर्मल और स्थिर किये बिना, बुद्धत्व-प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। शुद्ध विन्दु प्रकृतिके सङ्गसे लीलायित होकर जिस ऊर्ध्वगतिका विकास करता है वही आदिरस अथवा शृङ्गार-रसकी साधना है। यही नित्यलीलामें प्रवेश करनेका द्वार है। विन्दुके सिद्ध हुए बिना स्खलन तथा काल-ग्रासमें पड़ना अवश्यम्भावी है।

असिद्धके लिये पूर्णत्वके पथपर चलनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती। सिद्धदेह लाभ करना और कामजय करना एक ही बात है।

साधारण जीवदेह चाहे जितना ही पवित्र क्यों न हो, वह अपवित्र और अशुचि ही है। इसका एकमात्र कारण यही है कि काम ही जीवदेह-सृष्टिका मूल है। कामकी अतीत अवस्थामें गये बिना शुद्ध देह लाभ करना दुष्कर है। बहुत लोग समझते हैं कि कामको ध्वंस करना ही अध्यात्मपथका मुख्य उपदेश या उद्देश्य है। परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। कामका नाश करके पूर्णत्वके मार्गमें कौन चल सकता है? कामका नाश न करके उसे विशुद्ध प्रेममें परिणत करना होगा तब यह प्रेम ही एक समय रसमें परिणत होकर पूर्णत्वके द्वारका उद्घाटन करेगा। जो लोग महायान-सम्प्रदायके बौद्धोंके साधन-रहस्यसे अवगत हैं वे इस प्रसङ्गमें 'आश्रय-परवृत्ति'की बात याद करेंगे। पूर्णताकी अभिव्यक्तिके लिये देह और देहस्थित प्रत्येक शक्तिकी आवश्यकता है। इनमें जो मलिनता और जडता दीख पड़ती है, उनको दूर करनेपर इन्हींसे परमपथका सङ्केत और साहाय्य प्राप्त हो सकता है। इसी कारण श्रीरूप गोस्वामीपादने कहा है कि भगवान्‌को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। सकाम साधकके लिये भगवत्प्राप्तिकी आशा सुदूर समझनी चाहिये, क्योंकि वह भोगार्थी होता है। जहाँ भोगकी आकाङ्क्षा है वहाँ भगवान् नहीं रहते। इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा है कि निष्काम मुमुक्षुके लिये भी भगवत्प्राप्ति अति कठिन है। क्योंकि जिसे कोई आकाङ्क्षा ही नहीं है, जिसने शुद्ध वासनाका भी त्याग कर दिया है, जिसे भगवान्‌के विरहकी अनुभूति नहीं है, उसके लिये एकमात्र निर्वाणके सिवा अन्यत्र गति नहीं है। भगवत्प्राप्ति उसके लिये नहीं है। जो सकाम होकर भी निष्काम है, साथ ही निष्काम होकर भी सकाम है अर्थात् जो कामको प्रेममें परिणत करनेमें समर्थ है, केवल उसीके भाग्यमें भगवद्दर्शन बदा है।

'बिना प्रेमके ना मिलै कबहूँ श्रीनँदलाल।'

परमहंस और पढ़े-लिखे बाबू

(लेखक—म० श्रीशम्भूदयालजी मोतिलावाला)

गङ्गा-स्नानका पर्व है। मेला खूब भरा है। स्त्री-पुरुष बहुत श्रद्धा और उमङ्गसे स्नान कर रहे हैं। किनारेपर बड़ी भीड़ है। सब अपनी रुचिके अनुरूप कार्योंमें लगे हैं। कोई बैठा प्राणायाम कर रहा है। कोई खड़ा होकर सूर्यनारायणको अर्घ्य दे रहा है। किसी-से पंडे संकल्प छुड़वा रहे हैं और कोई ठाकुर-पूजा कर रहा है। धूप, दीप, चन्दन आदिकी पवित्र गन्धसे सारा तट सुगन्धित हो रहा है। किनारेसे कुछ दूर, जन-कोलाहल-से हटकर एक सत्तरवर्षीय वृद्ध केवल लँगोटी लगाये सहज आसनसे बैठे हुए हैं और प्रार्थना कर रहे हैं—'प्रभो! जबतक तुम दया करके जीवोंको मिल नहीं जाते, तबतक बेचारे वे कितना कष्ट पाते रहते हैं। धन्य हो तुम, जो जीवोंकी प्रत्येक चेष्टासे प्रसन्न होते हो, उनपर तरस खाते हो और अपनी सहज दयासे उनके समीप होते जाते हो। परंतु नाथ! जो बुद्धिमान् हैं—जिन्हें अपनी बुद्धिका अभिमान है, उनके लिये तुम सदा अप्राप्य हो, वे अपने बुद्धिबलसे कभी भी तुम्हें प्राप्त नहीं कर पाते।'

इधर निकट ही केवल ५०-६० हाथकी दूरीपर कुछ नयी रोशनीवाले बुद्धि-अभिमानी बाबू खड़े हैं। उनमें कुछ कोट-पतलून पहने हैं, कुछ कमीज-पतलूनमें हैं, कुछ खद्दरधारी हैं, किसीके हाथमें हाकीका डंडा है, किसीके हाथमें कैमेरा है, कोई सिगरेट मुँहमें लिये हैं और कोई साइकिलके सहारे झुककर उसे थामे हुए हैं। ये लोग न तो बुरी दृष्टिसे स्त्रियोंकी ओर ताक रहे हैं और न ये बेचारे ठग या चोर ही हैं। ये तो केवल नयी रोशनीमें पले हुए होनेके कारण ईश्वर, पूजा-पाठ आदिकी हँसी उड़ा रहे हैं—'देखो! हमारे देशवासी

कितने मूर्ख हैं ! व्यर्थ ही ईश्वर-ईश्वर करके वहममें जीवन बिता रहे हैं। दूसरे देशोंने नये-नये आविष्कार करके कितनी उन्नति कर ली है । उन लोगोंको एक मिनटका भी अवकाश नहीं है, और ये लोग नाक पकड़े, आँख मूँद व्यर्थ समय नष्ट करनेमें ही गौरव समझते हैं।' ऐसा वार्तालाप चल रहा था कि उनमेंसे एक, जिनका नाम शंकर है और जो एम्०एस्-सी० होनेके कारण अपनेको विशेष बुद्धिमान् समझते हैं—उस सत्तरवर्षीय वृद्ध महात्माकी ओर संकेत करते हुए बोले—'भैयाओ! चलो, उस बूढ़ेसे कुछ विनोद करें।' वे लोग तो विनोदकी सामग्री चाहते ही थे । सबने एक स्वरसे समर्थन किया और आ पहुँचे उन परमहंसजीके पास।

शंकरने अपने भावको छिपाते हुए कहा—'परमहंसजी ! प्रणाम।' परमहंसजीने अपने सहज स्वभावसे उत्तर दिया—'भैया ! आशीर्वाद ।' परमहंसजीकी स्वाभाविक सरलताने शंकरके रहे-सहे संकोचको बहा दिया । उसने परमहंसजीसे प्रश्न करने प्रारम्भ कर दिये—

शंकर—क्या आप मुझे समझा सकते हैं कि ईश्वरके नामपर हमारा देश क्यों समय नष्ट कर रहा है ? दूसरे देश बड़ी तेजीसे सुख-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाले आविष्कार करते जा रहे हैं और ये लोग आँख बंद किये हुए हैं।

परमहंस—भैया ! अपने प्रयत्नोंसे यदि उन देशोंको सुख-शान्ति मिल गयी हो तब तो उनका प्रयत्न निस्सन्देह ठीक है । या तेजीसे काम करके उन्होंने अपनी कामनाका अन्त कर दिया हो तो भी उनकी भाग-दौड़ ठीक समझी जा सकती है; अन्यथा उनका यह तेजीसे आगे बढ़ना मुझे तो व्यर्थ पिछड़ना ही दीखता है।

शंकर—ठीक है; परंतु मेरे खयालसे इन ईश्वरको भजनेवालोंको तो न माया मिलती है और न राम ही।

परमहंस—ऐसा मत तुम्हारा ही है भैया ! ईश्वरको भजनेवाले तो अनेकों कह गये हैं कि हमारी सब कामनाओंका अन्त हो गया है और हम बन्धनसे मुक्त तथा आनन्दमें हैं।

शंकर—मैं तो इस बातको कभी नहीं मानता।

परमहंस—भैया ! तुम अपनी मान्यताके लिये स्वतन्त्र हो, क्योंकि मानना ही जो है। पर तुम जिन बातोंको सच मानते हो, उनको झूठ माननेवाले भी हो सकते हैं।

शंकर—मैं जिन बातोंको सत्य मानता हूँ, उनको मूर्ख ही नहीं मानते । चार दिन हुए मैंने एक गँवारको बहुत समझाया कि गीली धोतीका पानी हवा और सूर्य उड़ा देते हैं; किंतु उसने यही हठ रक्खा कि धोती चूस लेती है । वह मेरी बात मानता तो क्या, उल्टे लड़नेको तैयार हो गया।

परमहंस—भैया ! वह जैसे तत्त्वोंके स्वरूपको नहीं समझ पाया है, वैसे ही तुमने जीवकी प्रकृतिको नहीं समझा है । इसीलिये तुम हिंदू-संस्कृतिको नहीं मानते हो । अन्य देश इन्द्रिय-बलसे इतने बड़े संसारको (कितना बड़ा कि जितना-जितना इससे दूर भागो, उतना-ही-उतना यह बढ़ता जाय) काबूमें करना चाहते हैं जब कि हमारी संस्कृति साढ़े तीन हाथके इस शरीरके कल-पुर्जोंको समझना और उन्हें यथोचित व्यवस्थामें रखना सिखाती है । यह संसार इसी शरीरकी छाया है।

शंकर—कुछ दिन हुए मैं आबू पहाड़की ओर गाँवोंमें गया था । वहाँके लोग लिखने-पढ़नेका तो नामतक नहीं जानते । जब मैंने तख्तीपर लिखकर उनके द्वारा स्टेशनमास्टरसे कुछ चीजें मँगवायीं तो वे उस तख्तीको जादूकी समझने लगे । उन मूर्खोंके यहाँ न तो ठिकानेके घर हैं और न सुखका कोई सामान ही है।

परमहंस—तुम वहाँ क्यों गये थे ?

शंकर—वहाँ शहद, घी, जंगली फल खूब मिलते हैं। इन चीजोंको लेने गया था।

परमहंस—क्यों जी, उन्होंने पढ़ना-लिखना क्यों नहीं सीखा ?

शंकर—वे स्त्री-पुरुष सभी एक अधोवस्त्र पहने रहते हैं, जिसे वे स्वयं ही बुन लेते हैं। वे गाय, भैंस, कुत्ते, बकरी, भेड़ और मक्खी पालते हैं। उनके यहाँ सामक ही नित्यका भोजन है। वे इतने स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट हैं कि बीमार तो बूढ़े होनेपर मृत्युके समय ही चाहे होते हों। वे मूर्ख पदार्थोंको क्या समझें ? वे न तो कभी शहरोंकी ओर आते हैं और न पढ़ना-लिखना चाहते हैं।

परमहंस—वे यदि पदार्थोंके भूखे हों तब तो अवश्य तरस खानेकी बात है। पर तुम उनकी सेवा करने थोड़े ही गये थे; तुम तो उनसे सहायता लेने गये थे। तुमने यह लिखना-पढ़ना इसीलिये सीखा है कि स्वयं दूर-दूर देशोंमें भागते फिरते हो। उनको इस बनावटकी क्या आवश्यकता ? उनकी सारी आवश्यकताएँ या तो उनकी सीमामें हैं, या वे जो कुछ अपनी सीमामें उत्पन्न होता है, उसीमें सन्तोष कर लेते हैं।

शंकर—अजी, वे तो केवल बैल-जैसे जानवर हैं।

परमहंस—परंतु बैल मनुष्यको ही मूर्ख जानवर समझता है। वह जानता है कि ईश्वरने मुझे खुर, सींग, रोम, पूँछ आदि दिये हैं, इसलिये मुझे जूते, हथियार, कपड़ोंकी आवश्यकता ही नहीं है। मनुष्य मेरा नौकर है। उसे मुझसे गोबर, खादके लिये मूत्र, खानेके लिये अन्न आदि मिलते हैं। अतएव वह मेरी सेवा करता है। मैं दयाके कारण उसके कामोंमें कंधा लगा देता हूँ। मूर्ख मनुष्य मुझ साधुको स्वार्थके कारण पीटता भी है। पर मुझ साधुको उसीकी तरह क्रोध करके अपना हृदय दुखानेकी क्या आवश्यकता है ? मनुष्य लोभका भी गुलाम है; जोड़-जोड़कर दुःख पाता रहता है। मुझे तो पेट भरनेभरको चाहिये, फिर चाहे कोई भी मेरी नाँदमें खा जाय। मुझे ईश्वरने सब जानवरोंका देवता बनाया है। भैया ! जैसे तुम अपनी योनिमें मस्त हो, वैसे ही सब अपनी-अपनी योनिमें मस्त हैं। सब एक ही पिताके पुत्र हैं। यदि हाथी बड़े अङ्गसे बड़ा बनता है तो चींटी भी अपनी बारीकीमें हाथीको अँगूठा बताती है। मनुष्य अपने ही समुदायमें मियाँ मिट्ठू बन रहा है। यह उसकी भ्रमभरी तुच्छता है, जिसे वह गौरवकी वस्तु मान रहा है।

शंकर—बाबा ! बात तो निःसन्देह ठीक है। हमें क्या पता कि दूसरे हमको क्या समझते हैं। बताइये, फिर संसारमें बड़ा कौन है और हम कैसे बड़े बनें ?

परमहंस—बड़ा बनना छोड़ दो; बड़ा बननेकी इच्छा अहङ्कारसे उत्पन्न होती है और अहङ्कार ही नाशका मूल है। साधारण बननेकी कोशिश करो।

शंकर—वह कैसे ? क्या संसारमें कोई भी बड़ा नहीं है ?

परमहंस—यथोचित रूपसे सबको समान बाँटकर खाओ। स्वाद और बड़ाईको मत बढ़ाओ। जिन लोगोंकी समानताको हड़पकर तुम बड़े बन रहे हो, उनके साथ वह परम पिता है जो सबसे बड़ा और सबका प्यारा है। उनको वह सन्तोषरूपी अमृत पिला रहा है और तुम असन्तोषकी अग्निमें जल रहे हो। अन्यायियोंको वह उनकी कामनासे ही मारता है। गरीब बनोगे, तब वह गोदमें लेगा और तभी शान्ति मिलेगी।

शंकर—परम पिताकी गोद प्राप्त करनेके लिये गरीब बनें ? ईश्वर है यह तो मैं भी मानता हूँ; मैं ब्राह्मण ही हूँ।

परमहंस—निर्दोष, गरीब और निरहंङ्कारी बनो। उनके चरणोंको पकड़ो जिनको तुम गरीब-गँवार समझते हो। जितने ही अधिक तुम झुकोगे, उतनी ही अधिक परम पिताकी कृपा और प्रसन्नताको अपनी ओर करोगे। यह सबसे बड़ा विज्ञान है। वह परम पिता

धनियोंके पास, बुद्धिके भवनोंमें नहीं रहता है; वह तो अपने गरीब, असहाय, निर्बल, अहिंसक, नंगे, भूखे पुत्रोंको आत्मशक्ति देता रहता है; नहीं तो वे कम आहार और कम वस्त्रमें सेवा करनेकी शक्ति कहाँसे लायें? तुम अनेक पदार्थों और सुख-वृद्धिके अनेक साधनोंमें पनपते हुए भी बिना सवारी चल नहीं सकते; गद्दे-तकियोंमें सिर दिये उन्हींपर निर्भर बने रहते हो। मैंने जो विज्ञान बताया है, इसको भी समझो; यों उड़ते मत फिरो।

शंकर—निःसन्देह हमारा विज्ञान तो हमें पर-मुखापेक्षी और परस्पर सन्देहशील तथा ईर्ष्यापरायण बना रहा है। हम सदा एक दूसरेसे भयके मारे चौंकते रहते हैं। इस भयकी रक्षाके अतिरिक्त, अब हमारे विज्ञानके पास दूसरा कोई काम ही नहीं रह गया है।

परमहंस—तुमको तुम्हारे ही ढंगसे समझाता हूँ। एक ही चेतनसमुद्रसे अनेक संकल्प—लहरें उठीं और उन्होंने अनेकों तरहके संसारी घरौंदे रच डाले। जिस संकल्पने जितने अधिक घरौंदे बनानेका काम लिया, वह उतना ही अधिक परतन्त्र है। जितनी कामना कम है, उतना ही वह स्वतन्त्र है, सुखी है और उसमें उतना ही अधिक आत्मबल है।

शंकर—हमारे मनमें जो कामनाएँ उत्पन्न होती हैं—क्या इन्हींका नाम संकल्प है?

परमहंस—हाँ, कामनाएँ, जो तुमलोगोंको आविष्कारोंकी ओर दौड़ा रही हैं, अपनेको नहीं देखने देती हैं।

शंकर—तो अपने लिये और दूसरोंके लिये मुक्तिकी चेष्टा करना ही प्रधान काम है, बाकी तो सब जंजाल है। अच्छा गुरुजी! विस्तारसे बताइये अब क्या करें।

परमहंस—यह तन अनन्तकालसे चली आती हुई कामनाओंका ढेलामात्र है। इसमें फँसे हुए अपनेको इससे बाहर निकालना है; इस तनको मन, वचन और कर्ममें पवित्र बनाओ; युक्त आहार-विहार करो। जो सेवाएँ नियत की हुई हैं, उनका पालन करो। बड़प्पन या अहंकारको नष्ट करनेके लिये झुको। नयी बड़ाई और स्वादकी कामनाको उत्पन्न न होने दो। ऐसा अभ्यास करनेसे पिछली वासनाएँ पक जायँगी और मुक्त होनेके संकल्पसे चित्त विदेह हो जायगा। हमारी संस्कृति यही सिखाती है।

शंकर—गङ्गा-किनारेके ये स्त्री-पुरुष क्या यही कर रहे हैं?

परमहंस—और क्या, यही तो कर रहे हैं। देखो, अनेक भावोंकी देहको ईश्वरके लिये झुका रहे हैं। जो वस्तु अपनी आवश्यकतासे अधिक है उसे दानमें दे रहे हैं। अनेक तरहकी क्रियाएँ करके देहको मथ रहे हैं। सब प्रयत्नोंका उद्देश्य एक यही है कि वे दीनदयालु दया करके आ जायँ। जैसे पत्तोंको कूटनेसे नस टूट-टूटकर उनमेंसे रस निकल आता है, वैसे ही अहंकारकी नस टूटकर झूठमेंसे सत् निकल आता है।

शंकर—महाराज! आप धन्य हैं। अब मैं समझा हूँ। विदेशी सङ्गने मुझे पागल कर दिया था।

शंकरका एक साथी—क्यों जी, इस गंदले ठंढे जलमें एक डुबकी लगानेसे ही क्या मैल उतर जाता है?

परमहंस—अरे भाई, ये लोग यहाँ साबुनसे देहकी चमड़ीको रगड़नेके लिये नहीं आये हैं। ये तो भावरूपी उस बिजलीको साफ करने आये हैं, जिसके पवित्र होनेसे इस देह-मलकी तो बात ही क्या है, देह और संसार ही नहीं रहते हैं।

शंकरका दूसरा साथी—यदि ठीक-ठीक कर्म करते जायँ तो क्या फिर भी ईश्वरकी खुशामदकी जरूरत है?

परमहंस—जिससे जो पैदा होता है, उससे प्रेम किये बिना न तो वह ठीक कर्म कर सकता है और न जीवित ही रह सकता है। जैसे गुबरीला बिना गोबरकी शरण लिये और बच्चा बिना माताकी गोदके रह नहीं सकता, वैसी ही दशा जीवकी भगवान्‌के

विना है। हम जिससे पैदा हुए हैं, उससे प्रेम करना हमारे लिये ही कल्याणकारी है; उस सर्वसम्पन्नको खुशामदकी तनिक भी लालसा नहीं है। दुराचारी और कृतघ्नोंके कर्म भी ठीक वैसे ही होंगे जैसे आज-कलके विज्ञानका अणुवम बनाना है।

शंकर—गृहस्थीके प्रत्येक कामके आरम्भमें जो ईश्वर-पूजन किया जाता है, उसका क्या अर्थ है?

परमहंस—आस्तिक ही कार्यके आरम्भमें ईश्वरका स्मरण करता है। जैसे थर्मामीटरके चढ़े हुए पारेको नीचे उतारकर ज्वर देखा जाता है और तब वह सही टेम्परेचर बताता है, ऐसे ही अनेक भावोंमें बिखरे हुए चित्तको ईश्वर-आराधनसे हृदयमें उतारकर काम आरम्भ करनेसे वह ठीक होता है। अर्थात् ध्यानमें ईश्वरकी शरण लेनेसे क्षणभरमें बुद्धिकी ठसक दूर हो जाती है, और अहङ्कार गिर जाता है, एवं चित्तमें निष्कामता आनेसे वह स्फूर्त हो जाता है। ईश्वरका ध्यान करते हुए किया हुआ काम सफल होता है। संसारी संकल्पोंमें बिखरे चित्तको बिना ईश्वरकी ओर लगाये ठीक कामोंमें लगाना ऐसा ही है, जैसे बिना धोये कपड़ेपर रंग चढ़ाना या Sun-strock-negative पर फोटो लेना।

शंकर—आपके कहनेका अर्थ यही कि पवित्र भाव बनाना चाहिये; परंतु पवित्र भावको स्थिर कर लेना क्या मनुष्यके अधिकारकी बात है?

परमहंस—भावका स्थिर होना, निश्चयके स्थिर होनेसे ही होता है। निश्चय दो तरहसे स्थिर होता है—एक तो माता-पिता और गुरु आदिके वचनोंमें प्रेम-विश्वास होनेसे और दूसरे अपने मन-इन्द्रियोंके अनुभवसे।

शंकरका साथी—क्या भाव एकदम पवित्र नहीं हो सकते?

परमहंस—प्रत्येक इन्द्रियकी कामनाकी जड़ें मिथ्या संसारमें घुसी हुई हैं। भाव पवित्र तभी होंगे, जब ये जड़ें एक-एक करके लालसा छोड़ देंगी।

शंकरका साथी—महाराजजी! आपने तो नम्रता और झुकना अच्छा बताया है; परंतु हमने यह सुन रक्खा है कि यह तो गुलाम बननेकी निशानी है।

परमहंस—तुम्हारा कहना ठीक है; पर जो झुकना बुरा बताया जाता है, उसमें और मेरे बताये हुए इस झुकनेमें अन्तर है। भय, स्वार्थ या दिखावटी रूपसे जहाँ झुका जाता है, वह निःसन्देह बुरा है, पर जहाँ हृदयके सच्चे भावसे अहङ्कारको नष्ट करनेके लिये झुका जाता है, वह तो बहुत ऊँचा है। हमारी संस्कृतिने कालनेमि-जैसे भंड साधुओं और रावण-जैसे अत्याचारी राजाओंके सामने झुकनेकी कभी अनुमति नहीं दी है, पर सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय करनेवाली शक्ति भी सुदामा-जैसे निर्धनके पैर चूमती है तथा गुरु दुर्वासाके रथमें घोड़ोंके स्थानपर स्वयं जुतकर चाबुक खाना पसंद करती है। खर-दूषणकी चौदह हजार सेनाको अकेले भूननेवाले रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रने ब्राह्मणत्वके कारण चमकते हुए फरसेके आगे सिर झुका दिया था।

शंकर—धन्य है बाबा! आपने बड़ी कृपा की जो हमारे भ्रमकी केंचुलीको उतार फेंका। मैं यह चाहता हूँ कि आप हमें भी कुछ अपनी सेवा बतायें। आपके पास कोई सामान नहीं दीख रहा है।

परमहंस—भैया! बस तुमसे यही सेवा चाहिये कि तुम अपनेको समझो और समझाओ। अच्छा आशीर्वाद।

इतना कहते-कहते परमहंसजी उठे और गङ्गाके किनारे बनकी ओर चल दिये। शंकर और उनके साथी भी घरको लौट पड़े। आज शंकर और उसके सब साथियोंकी आँखें खुलीं। आज उनकी समझमें आया कि विजेताओंने हमारी सांस्कृतिक परम्पराओंको कितना विकृत रूप दिया है तथा शिक्षा आदिके रूपमें उन्होंने हममें कितना विष फैलाया है।

शान्तिलोक

(लेखक—कविवर सुब्रह्मण्य भारती)

सन्ध्याका समय था। मद्रास—ट्रिप्लिकेनके समुद्रतटपर एक घरके तीसरे तल्लेपर अपनी थकावट दूर करनेके लिये मैं चारपाईपर लेटा था। सायङ्कालीन सुषमा और शीतल हवा अत्यन्त मनोमोहक थी। मैंने सोचा कि एक बढ़िया घोड़ा-गाड़ीपर सवार होकर समुद्रके किनारे-किनारे दक्षिणकी ओर जाऊँ और महाकवि कालिदासका अभिज्ञान-शाकुन्तल या कोई उपनिषद् पढ़ता जाऊँ तो बहुत अच्छा हो पर न घोड़ा था और न गाड़ी थी।............मेरे मनने कहा कि ईश्वरने सबको ज्ञान नामका एक दैवी रथ दिया है। सङ्कल्पकी सहायतासे ज्ञान-रथ आ गया, मैं रथपर चढ़ गया। मैंने उसे दुःखरहित भूमिपर चलनेका आदेश दिया।............आह! मैं भी कैसा था कि ऐसे रथको पाकर भी चिन्ता और मनके बोझको हल्का करनेका उपाय न जान सका। कितने दिनोंतक मेरा मन मरते कीड़ेकी तरह तड़प रहा था। कुछ न कर सकनेसे मैं कितना दुखी हो रहा था। संसारकी चिन्ताओंके विचारमात्रसे ही हृदय सहम उठता है। चिन्ताएँ ही मनुष्यमात्रकी सुन्दरता और यौवन-श्री नष्ट कर देती हैं, आँखोंको निस्तेज और शरीरको निःसत्त्व कर देती हैं। विषैले कीड़ेकी तरह शरीरको भीतर-ही-भीतर खोखला कर निष्प्राण कर देती हैं। बुद्धि विकृत और भ्रष्ट हो जाती है।

मैंने ज्ञान-रथको आदेश दिया कि तुम मुझे उस लोकमें ले चलो जिसमें चिन्ताका नाम भी न हो। मन रथको रोककर खड़ा हो गया; उसने कहा कि वह लोक उतना सुखकर नहीं है जितना तुम समझते हो। जहाँ चिन्ता ही नहीं है वहाँ सुख भी नहीं है। मुझे उस लोकमें जाना पसंद नहीं है।

मैंने मनसे क्रोधपूर्वक कहा कि 'तुम्हें सदा चिन्ता घेरे रहती है इसलिये मैंने सोचा कि तुम्हें ऐसे लोकमें ले जाऊँ जिसमें कुछ देरके लिये शान्ति मिल सके।' बार-बार समझाते रहनेपर भी मनने ज्ञान-रथको एक पग भी आगे बढ़ने न दिया।

मैं मनको बहुत प्यार करता हूँ। मेरे और उसके बीचका प्रेम इतना अधिक बढ़ गया है कि द्वैतभाव मिट-सा गया है। मनका दुःख मुझसे देखा नहीं गया, इसलिये मैंने शान्ति-लोकके दर्शनकी इच्छा की पर मन अपने सङ्कल्पपर अडिग रहा।

मैंने मनसे कहा कि 'जो कुछ भी मैं कर रहा हूँ उससे तुम्हारा भला होगा।' दूसरे ही क्षण हमलोग शान्तिलोकमें पहुँच गये। किलेकी ऊँची दीवारके पास जाकर रथ खड़ा हो गया। मैं दूरसे ही उस किलेको देख सकता था। मैंने सोचा था कि ज्ञान-रथके पहुँचते ही दरवाजे अपने-आप खुल जायँगे। पर ऐसा न हो सका। मैंने सोचा कि क्या यह इतना पवित्र लोक है कि मेरा ज्ञान-रथ इसके भीतर नहीं जा सकता। मेरा मन पहलेसे कहीं अधिक भयभीत हो उठा, वह मुझसे बात भी नहीं कर सकता था। प्रधान दरवाजेपर एक पहरेदार हाथमें नंगी तलवार लेकर खड़ा था, आगकी ज्वालाके समान और हिमालयको भी एक ही क्षणमें टुकड़े-टुकड़े कर डालनेवाली-सी तलवारपर ज्योतिर्मय अक्षरोंमें 'विवेक' अङ्कित था। मैंने पहरेदारसे कहा कि 'शान्तिलोकको देखकर लौट जानेका विचार है।' वह ठहाका मारकर हँसने लगा। मनकी स्थिति तो अत्यन्त दयनीय थी, वह अशान्त और विकल था।

पहरेदारने कहा कि 'शान्तिलोकको देखकर तुमने लौट जानेका जो विचार प्रकट किया है, उससे मुझे हँसी आ गयी, यहाँ आकर कोई लौट नहीं पाता।

है। तुम आना चाहते हो तो आ सकते हो, किसी भी जीवको आनेसे रोकनेका मुझे अधिकार नहीं है पर वैराग्यगढ़को पारकर भीतर जानेका अधिकार तुम्हारे मन नामक झूठे साथीको नहीं है, भीतर प्रवेश करनेपर उसकी दशा वही होगी जो अग्निलोकमें जानेपर रूईके पुतलेकी होती है।'

अब मेरी समझमें यह बात आ गयी कि मन भीतर क्यों नहीं जाना चाहता था। मैंने भीतर जानेका निश्चय बदल दिया। पहरेदारने कहा कि 'मनके मरनेके बाद ही शान्तिलोक मिल सकता है। जबतक वह जीवित है, जीव शान्त और स्थिर तथा निश्चिन्त नहीं रह सकता। चिन्ता-राक्षसीकी जननी मन है।'

अचानक वह किला आँखोंसे ओझल हो गया। पहरेदारका कहीं पता ही नहीं था। चारों ओर अँधेरा-सा छा गया। मैंने अपने-आपको ट्रिप्लिकेनके उसी मकानके ऊपरी भागमें खाटपर पाया। सन्ध्या-कालीन शीतल समीर समुद्रकी लहरोंका आलिङ्गन कर तट-देशपर विचरण कर रहा था।

[तामिल काव्य 'ज्ञानरथ' से सङ्कलित]

भक्त-गाथा

(गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी)

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममें वि० संवत् १५५९ माघ शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासमिश्रजी और माताका श्रीतारादेवी था। व्यासमिश्रजी नौ भाई थे, जिनमें सबसे बड़े श्रीकेशवदासजी तो संन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके संन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोंके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे। इसलिये आप सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय थे और इसीसे आपका लालन-पालन भी बड़े लाड़चावसे हुआ था। आप बड़े ही सुन्दर थे और शिशुकालमें ही 'राधा' नामके बड़े प्रेमी थे। 'राधा' सुनते ही आप बड़े जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगे थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामें ही आपने पलनेपर पौढ़े हुए 'श्रीराधासुधानिधि' स्तवका गान किया था, जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

वस्तुतः 'राधासुधानिधि' भक्तिपूर्ण शृङ्गाररसका एक अतुलनीय ग्रन्थ है। बड़ी ही मनोहर भावपूर्ण कविता है। इसमें आचार्यने अपनी परमाराध्या वृषभानुकुमारी श्रीराधाजीके विशुद्ध प्रेमका बड़ी ही ललित भाषामें चित्रण किया है। इसमें आरम्भसे अन्ततक केवल विशुद्ध प्रेमकी ही झाँकी है।

इनके बालपनकी कुछ बातें बड़ी ही विलक्षण हैं, जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन आप अपने कुछ साथी बालसखाओंके साथ बगीचेमें खेल रहे थे। वहाँ आपने दो गौर-श्याम बालकोंको श्रीराधा-मोहनके रूपमें सुसज्जित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोंके शृङ्गार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन और श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमें परिणत कर दिया। और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृङ्गार करके मुग्ध होकर युगल-छविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने श्रीविग्रहोंमें श्रीराधाके रूपमें श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपमें राधाजीको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण

स्मृति नष्ट हो जानेसे शृङ्गार धरानेमें भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होंने शृङ्गारको सुधारा । परंतु तुरंत ही अपने-आप वह शृङ्गार भी बदलने लगा । तब घबराकर व्यासजी बाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा, हरिवंश अपने सखाओंके साथ खेल-खेलमें वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होंने सोचा, इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है ।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भोग रक्खा, इतनेमें ही देखते हैं कि लड्डुओंके साथ फलदलोंसे भरे बहुत-से दोने थालमें रक्खे हैं। इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस दिनकी बात याद आ गयी। पूजनके बाद इन्होंने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवंशजीने बगीचेमें दो वृक्षोंको नीले-पीले पुष्पोंकी मालाओंसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रक्खा है । इस घटनाका भी व्यासजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक बार श्रीहरिवंशजी खेल-ही-खेलमें बगीचेके पुराने सूखे कुएँमें सहसा कूद पड़े। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादेवी और कुटुम्बके लोगोंको तो अपार दुःख हुआ ही, सारे नगरनिवासी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँमें कूदनेको तैयार हो गये । लोगोंने जबरदस्ती उन्हें पकड़कर रक्खा।

कुछ ही क्षणोंके पश्चात् लोगोंने देखा, कुएँमें एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवंशजी श्रीश्याम-सुन्दरके मञ्जुल श्रीविग्रहको अपने नन्हे-नन्हे कोमल कर-कमलोंसे सम्हाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे । श्रीहरिवंशजी जिन भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अङ्गसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमें लाया गया और बड़े समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी। श्रीहरिवंशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया—श्रीनवरङ्गीलालजी। अब श्रीहरिवंशजी निरन्तर अपने श्रीनवरङ्गीलालजीकी पूजा-सेवामें निमग्न रहने लगे । इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे विमुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हें दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हें शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इसका वर्णन करते हुए गो० श्रीजतनलालजी लिखते हैं—

> करत भजन इक दिवस लाडिली-छबि मन अटक्यो ।
> रूपसिंधुके माँझ पर्‌यो कहुँ जात न भटक्यो ॥
> बिबस होइ तब गये भये तनु प्यारी हरिकैं ।
> झुके अवनिपर सिथिल होइ अति सुखमें भरिकैं ॥
> कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होइ दरसन दियौ ।
> अपने हितकौं जानिकैं हित सौं मन्त्र सु कहि दियौ ॥

आठ वर्षकी अवस्थामें उपनयनसंस्कार हुआ । सोलह वर्षकी अवस्थामें श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये विदा हो गये। श्रीनवरङ्गीलालजीकी सेवा भी अपने पुत्रोंको सौंप दी, जो इस समयतक आपके तृतीय पुत्र श्रीगोपीनाथ प्रभुके वंशजोंके द्वारा देवबनमें हो रही है।

देवबनसे आप चिड़यावल आये । यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे । आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ और

उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको श्री-हरिवंशजी वृन्दावन ले आये । वृन्दावनमें मदन-टेर नामक स्थानमें श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया । इसके पश्चात् इन्होंने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एवं गुप्त सेवाकुञ्ज, रासमण्डल, वंशीवट एवं मानसरोवर नामक चार पुण्य स्थलोंको प्रकट किया । तदनन्तर आप सेवाकुञ्जके समीप ही कुटियोंमें रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ ।

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेमका सम्बन्ध था । और ओरछेके राजपुरोहित और गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्री-हिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी । 'श्रीवृन्दावन-महिमामृतम्' के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्य-के भक्त प्रसिद्ध स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बड़ी निष्ठा और प्रीति थी ।

श्रीभगवान्‌की सेवामें किस प्रकार अपनेको लगाये रखना चाहिये, और कैसे अपने हाथों सारी सेवा करनी चाहिये, इसकी शिक्षा श्रीहितहरिवंश प्रभुजीके जीवनकी एक घटनासे बहुत सुन्दर मिलती है । श्रीहितहरिवंशजी एक दिन मानसरोवरपर अपने कोमल करकमलोंसे सूखी लकड़ियाँ तोड़ रहे थे । इसी समय आपके प्रिय शिष्य दीवान श्रीनाहरमलजी दर्शनार्थ वहाँ आ पहुँचे । नाहरमलजीने प्रभुको लकड़ियाँ तोड़ते देख दुखी होकर कहा—'प्रभो ! आप स्वयं लकड़ी तोड़नेका इतना बड़ा कष्ट क्यों उठा रहे हैं, यह काम तो किसी कहारसे भी कराया जा सकता है ।............ यदि ऐसा ही है तो फिर हम सेवकोंका तो जीवन ही व्यर्थ है ।'

नाहरमलके आन्तरिक प्रेमसे तो प्रभुका मन प्रसन्न था; परंतु सेवाकी महत्ता बतलानेके लिये उन्होंने कठोर स्वरमें कहा—'नाहरमल ! तुम-जैसे राजसी पुरुषोंको धनका बड़ा मद रहता है, तभी तो तुम श्रीठाकुरजी-की सेवा कहारोंके द्वारा करवानेकी कहते हो । तुम्हारी इस भेद-बुद्धिसे मुझे बड़ा कष्ट हुआ है ।' कहते हैं कि श्रीहितहरिवंशप्रभुजीने उनको अपने पास आने-तकसे रोक दिया । आखिर जब नाहरमलजीने दुखी होकर अनशन किया—पूरे तीन दिन बीत गये, तब वे कृपा करके नाहरमलजीके पास गये और प्रेमपूर्ण शब्दोंमें बोले—'भैया ! प्रभुसेवाका स्वरूप बड़ा विलक्षण है । प्रभुसेवामें हेयोपादेय बुद्धि करनेसे जीवका अकल्याण हो जाता है । प्रभु-सेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है । ऐसा विरोधी भाव मनमें नहीं लाना चाहिये । मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम अन्न-जल ग्रहण करो ।' ऐसा कहकर उन्होंने स्वयं अपने हाथों-से प्रसाद दिया और भरपेट भोजन कराया ।

श्रीहितहरिवंशजीकी रसभजनपद्धतिके सम्बन्धमें श्रीनाभाजी महाराजने कहा है—

> श्रीराधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी ।
> कुंज-केलि दम्पती, तहाँकी करत खवासी ॥
> सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी ।
> विधि-निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट व्रतधारी ॥
> श्रीव्यास-सुवन पथ अनुसरै सोइ भलैं पहिचानिहैं ।
> हरिबंस गुसाँई भजनकी रीति सकृत कोउ जानिहैं ॥

स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेद-रहित नित्य विहार-रस ही श्रीहितहरिवंशजीका इष्ट तत्त्व है । इन्होंने 'श्रीराधासुधानिधि' नामक अनुपम ग्रन्थका निर्माण तो किया ही । इनकी व्रजभाषामें भी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जो 'हितचौरासी' और 'स्फुट वाणी'के नामसे प्रसिद्ध हैं । यहाँ इनके दो-चार पद उद्धृत किये जाते हैं—जिनके अध्ययनसे इनके उत्कृष्ट भावोंका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है ।

(१)

> जोई जोई प्यारौ करैं सोई मोहिं भावै,
> भावै मोहिं जोई जोई सोई करैं प्यारे ।

मोकौं तो भाँवती ठौर प्यारेके नैननिमें,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननिके तारे ॥
मेरे तन मन प्रानहूँ ते प्रीतम प्रिय,
प्रीतम अपने कोटिक प्रान मोसौं हारे ।
(जैश्री) हित हरिबंस हंस हंसिनी साँवल गौर,
कहौ कौन करै जल-तरंगनि न्यारे ॥

(२)

बनी श्रीराधामोहनकी जोरी ।
इन्द्रनील मनि स्याम मनोहर शातकुंभ तनु गोरी ॥
भाल विसाल तिलक हरि कामिनि चिकुर चंद्र बिच रोरी ।
गजनायक प्रभु चाल गयंदिनि गति वृपभानु किसोरी ॥
नील निचोल जुवति मोहन पटपीत असन सिर खोरी ।
(जैश्री) हितहरिवंस रसिक राधापति सुरत रंगमें बोरी ॥

(३)

मानुषको तनु पाइ भजौ व्रजनाथकौं ।
दर्वी लैकैं मूढ़ जरावत हाथ कौं ॥
(जैश्री) हितहरिवंस प्रपंच विषय रस मोहके ।
विनु कंचन क्यों चलहिं पचीसा लोहके ॥

(४)

मोहनलालके रँग राची ।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ बात दसौं दिसि माँची ॥
कंत अनंत करौ जो कोऊ वात कहौं सुनि साँची ।
यह जिय जाहु भलैं सिर ऊपर हौं अब प्रगट है नाँची ॥
जागत सयन रहत उर ऊपर मनि कंचन ज्यौं पाँची ।
(जैश्री) हितहरिवंस डरौं काके डर हौं नाहिन मति काँची ॥

(५)

सवसौं हित निपकाम मत बृंदावन विश्राम ।
(श्री) राधावल्लभलालको हृदय ध्यान, मुख नाम ॥
तनहिं राखु सतसंगमें मनहिं प्रेम रस भेव ।
सुख चाहत हरिवंस हित कृष्ण कल्पतरु सेव ॥

श्रीहितहरिवंश प्रभुजीका वैराग्य बड़ा विलक्षण था । अर्थ-कामकी तो बात ही दूर, यहाँ तो धर्म और मोक्षमें भी राग नहीं था । इनकी निष्ठाके कुछ नमूने देखिये—

कदा नु वृन्दावनकुञ्जवीथी-
ष्वहं नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम् ।

'श्रीराधे ! क्या मैं कभी वृन्दावनकी कुञ्जवीथियोंमें अतिथि होऊँगी ।'

'कदा रसाम्बुधिसमुन्नतं वदनचन्द्रमीक्षे तव !'

'मैं कब तुम्हारे समुन्नत रससमुद्ररूप मुखचन्द्र-को देखूँगी ।'

कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरिचराश्चर्यचर्यां चरन् ।

'श्रीराधे ! मैं कब तुम्हारी श्रुतिशेखर—उपनिषदु-परि परिचर्या—आश्चर्यमयी परिचर्याका आचरण करूँगी !'

इस परिचर्याके सामने आपके मतसे—

'वृथा श्रुतिकथा वत विभेमि कैवल्यतः'

'श्रुति-कथा व्यर्थ है और कैवल्य तो भयप्रद है ।'

वे कहते हैं—

'धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथा वार्तया ।'

'ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसीके लिये आदरणीय होंगे । मेरे लिये इनकी व्यर्थ चर्चासे क्या लाभ है ?'

मैं तो बस—

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथ वा ।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम् ॥

'मैं अपने जन्मकर्मानुसार नरक अथवा परमपद कहीं भी जाऊँ, सर्वत्र मेरे हृदयमें श्रीराधिकारति-निकुञ्जमण्डली ही सर्वदा विराजित रहे ।'

अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामको पावन करनेके पश्चात् सं० १६०७ वि० की शारदीय पूर्णिमाके दिन आपने निकुञ्जलीलामें प्रवेश किया ।*

'बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय ।'

* नर्मदा प्रिंटिंग वर्क्स, जबलपुरसे प्रकाशित 'राधा-सुधानिधि' (सानुवाद) में बाबा हितदासजीलिखित गो० श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीके जीवनचरित्रके आधारपर ।

सूखा बगीचा

(गोलोकप्राप्त महात्मा श्रीरसिकमोहन विद्याभूषणका एक पुराना लेख)

आज इस शून्य काननको देखकर मैं उदास बैठा हूँ। श्रीभगवान्‌की अर्चनाके लिये जिस हृदय-काननमें तरह-तरहके सुगन्धित सुन्दर फूल खिलते, पुष्प-चयन करते-करते डाली भर जाती परंतु पुष्प नहीं पूरे होते। हाय! आज वहाँ एक भी फूल नहीं है, तुलसीजी पत्तोंसे रहित हो गयी हैं, हरी पत्तीका कहीं चिह्न भी नहीं रहा। बड़ी साधका सारा बगीचा सूख गया! मेरे प्राणोंके देवता! आज तुम्हारे चरणों-पर चढ़ानेके लिये मेरे पास कुछ भी नहीं है; क्या चढ़ाकर तुम्हारी पूजा करूँ?

वसन्तकी बहार बीत गयी। आज घोरतर निदाघ है—मर्मदाही मार्तण्डका प्रचण्ड प्रताप है—सर्वग्रासी भीषण सन्ताप है। रसका अन्तिम विन्दुतक उड़ गया। रसराज! ऐसी मरुभूमिमें बैठकर मैं तुम्हें कैसे पुकारूँ, किन प्राणोंको लेकर तुम्हारी पूजाका आयोजन करूँ?

क्यों ऐसा हो गया? मैं समझता हूँ। अपराध हुआ है, निश्चय—प्रतिक्षण ही अपराध हो रहा है—यह भी ध्रुव है। बद्धजीवकी दुश्चिन्तासे ही हृदयमें यह आग जल उठती है, हृदय जलकर राख हो जाता है, मरुभूमिमें परिणत हो जाता है—यह निश्चय है। तुम रसमय हो, अखिल रसामृतमूर्ति हो, चित्तको तुममें लगाये रखनेपर यह आग नहीं जलती, ऐसी दुर्दशा नहीं होती, यह भी समझता हूँ।

परंतु कार्यतः चित्त तुमसे दूर-दूर ही रहता है—दूर रहना वह चाहता नहीं, तथापि रहता है—रहते-रहते सूख जाता है, जलकर दग्ध हो जाता है। तब फिर तुम्हींको चाहता है—परंतु हाय! फिर तुम कहाँ—घोर निदाघमें मेरे नवजलधर कहाँ, मेरे नव-नीरदरुचि कहाँ, मेरे श्यामसुन्दर कहाँ, मेरे वे नन्दकुलचन्द्र कहाँ, मेरे सुरेन्द्र नीलद्युति कहाँ, मेरे तापित प्राणोंकी वह सुधा-लहरी कहाँ? आज इस भीषण दुर्दिनमें तुम कहीं देखनेको भी नहीं मिलते!

देखनेका उपाय भी तो मैं नहीं ढूँढ़ पाता। मेरे हृदय-वृन्दावन-विहारी! आज तुम अप्रकट—छिपे हो। तुम आनन्दलीला-रसविग्रह जो ठहरे, इस मरुभूमिमें तुम्हारे मिलनेकी आशा कैसे की जाय? श्यामला यमुनाकी उस सुधातरङ्गको आज मैं स्वप्नमें भी अपने मनमें ला सकता—वह रसमय वृन्दावन आज मेरे स्वप्नसे भी अतीत है। निदारुण संसारकी ज्वालाने दावानलकी भाँति मेरी साधके बगीचेको जलाकर राख कर दिया है। यह दुश्चिन्ता क्यों है, कुछ समझमें नहीं आता—जिस चिन्ताका कहीं कूल—किनारा नहीं है—जो चिन्ता केवल दुःखकी ही निदान है—जिस चिन्ताका फल केवल नरकज्वाला है—चित्त-वृत्ति क्यों उसकी ओर, अनल-शिखामें जाकर पड़ने-वाले पतङ्गकी भाँति अनवरत दौड़ी जा रही है, जान-सुनकर भी क्यों उसमें जाकर जलती है, इसका कारण मैं नहीं ढूँढ़ पाता।

संसार-विषकी तीव्र ज्वालाको जान-सुनकर भी मैं बड़े आदरके साथ उसी कालसर्पको हृदयमें स्थान देता हूँ। इसका परिणाम अनिवार्य है। इसपर फिर तुम्हारा अभिमान है। जब मर्म-मर्ममें आग समा जाती है, तब पुकारनेपर भी नहीं आते, खोजनेपर भी तुम्हारा पता नहीं लगता। तुम्हारे जो प्रियजन हैं, जो समय-समयपर तुम्हारे विरहसे व्यथित होते हैं, वे जब भी तुम्हें पुकारते हैं, तुम उसी समय उन्हें दर्शन देते हो—न दर्शन दो तो तुम्हें उनके मानके फंदेमें फँसना पड़े। उन्हें मनानेके लिये खुशामद करनी पड़े। पर वह अलग बात है। क्योंकि उनके प्राण और उनके मन तो तुम्हारेमें आ मिले हैं। परंतु यह अधम तो सर्वथा बहिर्मुख है। समय-समय-पर यह मनमें आती है कि तुम यदि कृपा कर दो तो

फिर किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। परंतु यह बात सामयिक है। तुम्हारी मधुमयी शाश्वती स्मृति, मन्दाकिनीके प्रवाहकी भाँति सदा-सर्वदा हृदयमें प्रवाहित न रक्खी जायगी तो हृदयकी ऐसी दुर्दशा होगी ही। यह बात भलीभाँति समझमें आ रही है।

लोग बात-बातमें तुम्हारी कृपाकी भिक्षा चाहा करते हैं—परंतु मुझमें वैसा साहस नहीं है; इस नित्यके अपराधीमें यह साहस कहाँसे आये—ऐसा भरोसा क्योंकर हो? परंतु तुम्हारी कृपा कोई नियम नहीं मानती—विधान नहीं मानती। वह अयाचित भावसे—अप्रार्थितरूपसे ही अपनी सुधातरङ्गोंसे समय-समयपर इस मरुभूमिको भी सींच जाती है। सामने अनन्त समुद्र है। तटका भूभाग मरुमय है। बालुका-राशिके महान् श्मशानमें तटकी बालुका तो समुद्रतरङ्गसे सींची जाती है, परंतु जो दूर है, उसे तो सदा जलना ही पड़ता है।

आज यह हृदय-मरु वासनाके काँटे-कंकड़ोंसे भरा है। यहाँ न तुम्हें पुकारनेकी साध है, न साहस ही होता है। रसमय रासेश्वर निकुञ्जविहारी! जीवनके इस घोर निदाघमें चारों ओर ही प्रलयका कालानल धधक उठा है। इसे भी मैं सार्थक समझ लूँगा, यदि इसके फलस्वरूप अन्यान्य सारी वासनाएँ जलकर राख हो जायँगी। हृदय जलकर राख हुआ जा रहा है, हो जाय। इसके बाद तुम अपने कृपारससे उस भस्मस्वरूपको सींचकर उसमें श्रीवृन्दावनकी भक्ति-लतिकाका बीज अङ्कुरित कर देना—यही मेरा अन्तिम निवेदन है।

अभी सुखी हो जाइये

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

स्मरण रखिये—सुख वायुके समान ही सबके लिये, सदा-सर्वदा और सहज ही प्राप्त होनेवाली वस्तु है। इसके लिये किसीको कुछ व्यय नहीं करना पड़ता। इसका हम चाहे जितना उपभोग करें, पर उसका मूल्य कुछ भी नहीं।

हम वायुका भलीभाँति मूल्याङ्कन नहीं करते, क्योंकि वह अत्यन्त प्रचुर एवं सर्वत्र सुलभ है। हमारा यह भ्रम है कि जो वस्तु अल्पमात्रामें होती है, वह मूल्यवान् है—जैसे सोना, हीरा आदि। यदि हमें स्वर्ण एवं वायुमेंसे एकको अपने लिये चुनना पड़े तो हम निःसन्देह अतुल स्वर्ण-राशिकी अपेक्षा प्रचुर मात्रामें वायुको ही लेना चाहेंगे। प्रचुरता, अप्रत्यक्ष एवं निःशुल्कता—इन गुणोंमें सुख वायुके सदृश ही है। सुखका हम बिना कुछ व्यय किये शक्तिभर उपभोग कर सकते हैं।

अधिकांश लोगोंकी यह मान्यता है कि मनुष्यका सुख उसकी भौतिक सम्पत्तिपर आश्रित है तथा वह सुख स्वर्णके द्वारा खरीदा जा सकता है। इस मान्यताके कारण बहुतसे लोग अपने सुखको उस कालतकके लिये स्थगित कर देते हैं जब कि उन्हें अपनी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी। कदाचित् कोई व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह पूर्ण सुखी तभी होगा जब उसके पास एक नवीन मोटरगाड़ी हो जायगी। किंतु जब उसके पास मोटरगाड़ी हो जाती है तब उसे पता चलता है कि उसे वह सुख नहीं मिला, जिसकी वह आशा लगाये बैठा था।

जब हम यह सोचते हैं कि सुख भौतिक वस्तुओं या बाह्य परिस्थितिपर आश्रित है, तब हम उसकी प्राप्तिको भविष्यपर छोड़ देते हैं और इस प्रकार सुखसे सदा वञ्चित ही रहते हैं, वह कभी हमारे हाथ नहीं लगता।

सुख भगवान्की अनन्त देनोंमेंसे है, जो निरन्तर इसकी प्रतीक्षामें है कि हम उसे ग्रहणकर उसका उपभोग करें। जब सुख सर्वव्यापक है, तब हमें उसको अङ्गीकार करके अपने अधिकारमें कर लेना चाहिये। सुख अपने स्वरूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है, चाहे बाह्य परिस्थिति उसकी द्योतक न भी हो।

यदि यह मानें कि मोटरगाड़ीमे मनुष्यको सुखी बनानेकी शक्ति है तो मोटरगाड़ी रखनेवाले सभी सुखी होने चाहिये। परंतु यह सभी जानते हैं कि बहुतसे मोटर-मालिक सुखी नहीं हैं। जब हम ईश्वरीय देनोंके वास्तविक स्वरूपको समझ जाते हैं कि वे अपरिवर्तनशील हैं तथा सभी जीवोंके लिये

हैं तो हम किसी भौतिक वस्तुके अभावको ईश्वरीय दैनके उपभोगमें बाधा उपस्थित नहीं करने देंगे ।

सभी अच्छी भौतिक वस्तुओंका उद्गमस्थान आत्मा है । सभी ईश्वरीय दैनें प्रधानरूपसे आत्मिक हैं । भगवान्की ओरसे प्राप्त दैनोंमेंसे अधिकांश अप्रत्यक्ष हैं—इसपर विचार करनेसे उक्त सत्यका अनुभव करनेमें सहायता मिलती है । हम वायु, शब्द एवं गैसको नहीं देख पाते, पर फिर भी हम वायुके द्वारा श्वास लेते हैं, रेडियो सुनते हैं तथा गैससे भोजन पकाते हैं । वायु, शब्द और गैस—तीनों सत्य हैं । जीवन, प्रेम, ज्ञान और सुख भी सत्य एवं आवश्यक हैं । ये तथा ऐसी ही दूसरी चीजें भगवान्की ओरसे हमारे लिये दैन हैं ।

संतोंने कहा है—आत्मा वायुके सदृश है । 'वायु अपने इच्छानुसार विचरण करती है, हम उसकी ध्वनिको सुनते हैं, पर हम यह नहीं जानते कि वह कहाँसे आती है और कहाँ चली जाती है, यही बात आत्मासे उत्पन्न वस्तुओंकी है ।'

मनुष्यकी पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ईश्वरीय वस्तुओंको नहीं समझा जा सकता, अतः आत्मिक सत्योंका स्पष्टीकरण इन्द्रियधारी मनुष्यसे करना कठिन है । फिर भी आत्मिक पदार्थ ही वह तत्त्व है जिसके कारण भौतिक वस्तुएँ सम्भव होती हैं । मनुष्य-शरीरमें चैतन्य पदार्थ आत्मा है; शरीर इसके बिना क्रियाशील नहीं हो सकता । यही बात ईश्वर-प्रदत्त प्रेम, सुख, विवेक तथा अन्य आत्मिक दैनोंकी है । हमें सुखको उत्पन्न करनेके मानवी प्रयत्नोंकी अपेक्षा भगवान्के सुखमय स्वरूपपर अधिक विश्वास रखना चाहिये ।

कोई भी हमारे सुखको हमसे छीन नहीं सकता जब कि हम सत्यतापूर्वक स्वरूपसे उसे अपनाये हुए हैं । ऐसा सोचनेके स्थानपर कि हमें मोटरगाड़ीसे सुख प्राप्त हो सकता है, हमें ऐसा विश्वास करना चाहिये कि अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर मोटरगाड़ीको पानेकी सम्भावना अधिक हो जायगी । समस्त आत्मिक शक्तियाँ ईश्वरप्रदत्त हैं, और मनुष्यके विश्वास एवं प्रयत्नसे वे बाहरी जगत्में अपना फल अभिव्यक्त करती हैं । प्रेम और प्रसन्नता आत्मिक चुम्बक हैं, जो श्रेष्ठ वस्तुओंको हमारी सन्निधिमें आकर्षित करते हैं ।

जब हम अपना ध्यान जीवनकी अभावात्मक एवं विषाद-जनक वस्तुओंपर केन्द्रित करते हैं, तब हम प्रसन्नताको दूर भगा देते हैं; किंतु यदि हम अपना ध्यान जीवनके आनन्दांशपर लगायें तो हम अपनी प्रसन्नताको उन्मुक्तकर उसे जीवनके अन्धकारपूर्ण स्थानोंमें भर देते हैं । जब ईश्वरके आनन्दमय स्वरूपका प्रकाश जीवनके अन्धकारपूर्ण स्थानोंको पूरित कर लेगा तो हम यह अनुभव करनेमें समर्थ होंगे कि वस्तुतः कोई अन्धकारपूर्ण स्थान है ही नहीं ।

हमें अपने सुखकी प्राप्तिको किसी भावी अवधिपर नहीं छोड़ना चाहिये, और इस प्रकार ईश्वरीय साम्राज्यमें प्रविष्ट होनेसे अपनेको वञ्चित नहीं रखना चाहिये ।

बाह्य परिस्थितियाँ हमारी आत्मिक दैनोंको हमसे छीन नहीं सकतीं । केवल उस समय जब कि हम उन्हें भगवान्की अपेक्षा अधिक प्यार करने लगते हैं, वे हमारे और ईश्वरीय दैनोंके बीचमें आ उपस्थित हो सकती हैं ।

यदि हम जीवनके व्यापारोंको दैवी-क्रमसे रक्खें तो आत्मिक वस्तुएँ सबसे आगे स्थान पायेंगी । ऐसा विचार करनेकी अपेक्षा कि हमें सुखका तत्परतापूर्वक पीछा करना चाहिये, हमें उसके स्वरूपको जीवनमें उसी रूपमें अपना लेना चाहिये जैसे हम नित्य-कर्मोंको अपनाये हुए हैं ।

जब हम किसी नवीन वस्तुसे प्राप्त होनेवाली प्रसन्नताकी कल्पना करते हैं, तब प्रायः हमें उसमें वस्तुकी प्राप्तिसे उत्पन्न आनन्दकी अपेक्षा अधिक रस मिलता है । यह इस बातका द्योतक प्रतीत होता है कि वस्तुद्वारा प्रदत्त प्रसन्नताकी अपेक्षा कल्पनाकालमें हमारे मस्तिष्कमें आनन्द अधिक था । जब हमने इच्छित वस्तुको प्राप्त किया और उससे हमारी प्रसन्नतामें कोई वृद्धि नहीं हुई, तब हमपर निराशा छा जाती है; किंतु जब एक बार हमें वास्तविक प्रसन्नता प्राप्त हो गयी, तब फिर हम कभी उससे वञ्चित नहीं होंगे, वह हमारी स्थायी सम्पत्ति हो जायगी ।

जब हम अपनी आन्तरिक शान्ति एवं प्रसन्नताके लिये भौतिक वस्तुओंपर अत्यधिक निर्भर रहना छोड़ देते हैं, तब हम उनके स्वामी बन जाते हैं । हमें किसी बाह्य वस्तुको हमारे सुखमें व्याघात नहीं पहुँचाने देना चाहिये और न उसे हमपर रोब ही जमाने देना चाहिये, क्योंकि सुखके मूल तो भगवान् हैं ।

सदा स्मरण रखिये कि ईश्वरने हमें सुख एवं प्रसन्नता दे रक्खी है और ये हमारी चेतनामें वैसे-वैसे ही विस्तार पायेंगी जैसे-जैसे हम इनको अपनायेंगे तथा इन्हें अपनेमें रहने देंगे ।

सुखके लिये भविष्यकी अपेक्षा न कीजिये । इसी समय उसे अपनाइये और अभी भगवान्के आनन्द-स्वरूपमें प्रविष्ट हो जाइये । फिर देखिये, समस्त सृष्टि भगवान्की स्तुति करनेमें आपका साथ देगी ।

सत्सङ्ग-माला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरीभाई व्यास)

(१) सत्य और प्रिय वाणी बोलनी चाहिये, असत्य और प्रिय नहीं । इसी प्रकार सत्य और अप्रिय भी नहीं बोलना चाहिये । जीव अनेक जन्मोंके संस्कारके कारण अप्रिय और असत्य बोलता है । वे संस्कार प्रयत्नसे हट सकते हैं । अतः सत्य और प्रिय बोलनेका अभ्यास करना चाहिये । चिन्ता रखकर अभ्यास करना और सत्य एवं प्रिय बोलनेमें कोई हानि हो जाय तो उसे सह लेना चाहिये । सत्य और प्रिय बोलनेकी स्थिति न हो तो मौन रहना चाहिये और उस मौन रहनेमे यदि हानि हो तो उसे सह लेना चाहिये । परंतु सत्य और प्रिय बोलनेके नियमका त्याग कभी नहीं करना चाहिये । जो इस (सत्य और प्रिय बोलनेके) नियमका दृढ़तासे पालन करेगा, उसे सुख, शान्ति, सम्पत्ति प्राप्त होगी, यश मिलेगा और निष्काम भावसे पालन करनेपर मुक्ति मिलेगी । जबतक जीवन रहे तबतक इस नियमका पालन करना चाहिये । इस नियममें बहुत ही बल है । असत्य बोलनेवाले प्रिय बोलते हैं, इसलिये व्यवहारमें प्रिय बोलनेवाले प्रायः कपटी होते हैं, वे स्वार्थसाधनके लिये कपटसे प्रिय वाणी बोलते हैं, अतः व्यवहारमें प्रिय बोलनेवालोंका विश्वास नहीं करना चाहिये । सत्य बोलनेवाले कटु वाणी बोलते हैं, और वह कटु वाणी सत्यके तपको खा जाती है । अतएव साधकको सत्य और प्रिय बोलनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

(२) दूसरेकी चीज लेनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये । इस नियमके पालनसे चोरी नहीं होगी; घूस नहीं ली जा सकेगी, किसीका न्याय्य स्वत्व नहीं छीना जायगा, मुफ्त कुछ भी नहीं लिया जायगा, दुराचार नहीं होगा, परस्त्रीके प्रति विकारसे नहीं देखा जायगा और अपना हक ही लिया जायगा । जिस वस्तुका मूल्य न दिया गया हो उसे लेनेकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये । इस नियमका पालन करनेवाला सबका प्रिय होता है, उसमें सब विश्वास रखते हैं, उससे सबको शान्ति मिलती है, और सभी उसका प्रिय चाहते हैं ।

(३) किसीका कभी अपमान न करना । प्राणिमात्रको मान प्रिय है, अपमानसे उसको चोट लगती है, उसकी आत्मा दुखी होती है । अपमान करनेवालेका पुण्य नष्ट होता है । अपमान करनेवालेपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते, वरं नाराज होते हैं । अपमान करनेवालेमें अभिमान होता है, अभिमान अपने स्वामीका अल्पकालमें ही नाश कर देता है । प्रभुताके बलपर दीन, रंक या कष्टमें पड़े हुए मनुष्यका जो अपमान करता है, वह पुण्यके बलसे ही करता है । पुण्य समाप्त होते ही वह महान् दुःखमें आ पड़ता है । किसीका कभी अपमान न करना, यह महान् व्रत है । बालक, वृद्ध, आश्रित, दीन, दुखी, रोगी किसीका कभी अपमान न करे । अपनेमें जो भगवान् विराज रहे हैं, वही सबके हृदयमें विराज रहे हैं, अतएव किसीका भी अपमान न करके मान करना चाहिये । सम्पूर्ण दानोंमें मान सबसे बड़ा दान है । यह जिसको दिया जाता है, उसकी आत्मा प्रसन्न होती है । अतएव सबको यथायोग्य मान देना चाहिये ।

(४) काठमें अग्नि व्याप्त है । अग्नि काठमें न हो तो, वह प्रकट ही नहीं हो परंतु प्रकट होती है इससे यह सिद्ध है कि काठमें अग्नि है । इतनेपर भी, काठको चीरनेसे जब उसमें अग्नि नहीं दिखायी देती, तब यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अग्नि नहीं है । इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक हैं, वह निरी आँखोंसे नहीं दीखते । विचारसे समझमें आते हैं और श्रद्धा तथा भक्तिसे प्रकट होते हैं । जिसमें विश्वास हो उसी मूर्तिमें या अपने हृदयमें श्रद्धापूर्वक भगवान्को देखकर उनकी भक्ति करनेसे भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं । अतएव दृढ़ निश्चय करके भगवान्की खूब भक्ति करनी और शरीर छूटनेसे पहले ही भगवान्को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये । यही जीवका कर्तव्य है ।

(५) धर्मके चार अङ्ग हैं—सत्य, तप, दया और दान । तप इन्द्रियोंके निग्रहका नाम है । इन चारोंमेंसे एकको भी सिद्ध कर लेनेवाला परम सुखी हो जाता है, फिर जिसमें ये चारो बसते हैं उसकी महत्ताकी तो बात ही क्या । जिसमें ये चार नहीं हैं, वह धर्म नहीं है । ये चार जहाँ हैं वहाँ लक्ष्मीजी निवास करती हैं । कीर्ति तो इन चारोंके पीछे लगी रहती है । इन चारोंका सेवन करनेवालेमें सदा तेज रहता है । जो दुखी है उसे निश्चय जानना चाहिये कि इन चारोंमेंसे उसमें किसीकी न्यूनता है । सुखकी इच्छावालोंको इन चारोंका सदा सेवन करना चाहिये ।

(६) सत्य और प्रिय वाणी, ब्रह्मचर्य, मौन और रसत्याग—इन चारका सेवन करनेवालेमें सदा सिद्धियाँ बसती हैं।

(७) जिसका मन कभी विकल नहीं होता और सदा प्रसन्न रहता है, वह सदा मुक्त ही है।

(८) मैं चेतनस्वरूप आत्मा हूँ, नित्य हूँ, परमात्मस्वरूप हूँ। यह सारा जगत् अचेतन और असत् होनेके कारण मेरा कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसा दृढ़ ज्ञान हुए विना सदा रहनेवाली शान्ति नहीं मिलती, मन प्रसन्न नहीं होता।

(९) हर्ष और प्रसन्नतामें भेद है। इन्द्रियोंके अनुकूल भोगकी प्राप्तिसे हर्ष होता है। और हर्षके मोहका परिणाम शोक होता है। इसीलिये भोगसे मन और इन्द्रियाँ कभी प्रसन्न होते ही नहीं। मन जब आत्मामें लीन होता है, तभी मन-इन्द्रियाँ आनन्दका अनुभव करती हैं। आनन्द आत्मामें है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। जगत्के किसी भी भोगमें आनन्द नहीं है।

(१०) एकान्तमें बैठ। अकेला घूम। अकेला सो। अकेला रह और वह भी प्रकृतिके समीप—नदी, पर्वत या जंगलके पास। अकेला भगवन्नामका खूब जप कर। अकेला विचार कर, अकेला शास्त्रका चिन्तन कर। सात्त्विक आहार कर। बहुत न खा। थोड़ा भूखा रहा कर।

(११) जैसा अन्न वैसी बुद्धि। जैसा सङ्ग वैसी बुद्धि। अतएव सज्जनका सङ्ग कर। आत्माका कल्याण करनेवाली पुस्तक पढ़ और मेहनत करके अपने हकका अन्न खा। पराया अन्न, जहाँतक बने, नहीं खाना चाहिये। यदि कभी खाना ही पड़े तो भाववान्, गुणवान्, भगवान्के भक्त और उद्यमीका अन्न खा।

(१२) सम्पत्ति, सन्तति और कल्याणकी इच्छावाले गृहस्थाश्रमीको गायत्रीका जप करना चाहिये। शंकरकी पूजा करनी और प्रतिदिन अग्निमें आहुति देनी चाहिये। सन्ध्या-समय और प्रातःकाल गूगल आदिका धूप करना, साँझ-सबेरे घीका दीपक जलाना, भोजनसे पहले कौएको बलि देना, पक्षियोंको दाने डालना, उनके जल पीनेका साधन करना और गाय तथा कुत्तेको खानेको देना चाहिये। हो सके तो भूखेको अन्न देना, साधुको भोजन कराना चाहिये। किसी भिक्षुकका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। न हो सके तो चाहे न दे; परंतु अपमान कभी न करे। सदाचारका पालन करना चाहिये।

(१३) शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, मोह और क्रोध—इन छःसे जो मुक्त है, वह सदा मुक्त है।

(१४) जिसके घरमें स्त्री, बालक, वृद्ध, रोगी, अतिथि और आश्रित आनन्दमें रहते हैं, उस घरमें सदा लक्ष्मी निवास करती है। और जिस घरमें ये छः दुखी रहते हैं, उसके घरसे लक्ष्मी थोड़े ही समयमें अदृश्य हो जाती है।

(१५) पैदाइश, पड़ोस, पवन, पानी, प्रकाश, पगताश, पवित्रता और परमार्थ—ये आठ जहाँ सुलभ हों, वहाँ रहना चाहिये।

(१६) हो सके तो किसीका अन्नसे, वस्त्रसे, धनसे, वचनसे, विचारसे और बुद्धिसे भला कर देना। पर बुरा तो कभी करना ही नहीं। किसीका भी अहित उसके अपने कुकर्मसे ही होता है तथापि मनुष्य उसके अहित करनेमें व्यर्थ ही भाग लेकर पाप करता है।

(१७) हो सके तो पुण्य करना, पर पाप तो कभी करना ही नहीं।

(१८) हो सके तो दूसरेको देना, पर लेना तो नहीं ही।

(१९) दूसरेको सुखी देखकर प्रसन्न होना, दुखी देखकर सहायता करना, पर दुखी देखकर प्रसन्न तो होना ही नहीं।

(२०) एक गुप्त बात कहता हूँ। तू जैसा करेगा, वैसा ही तेरे प्रति सारा जगत् करेगा। तू सच बोलेगा तो सारा जगत् तेरे साथ सच बोलेगा। तू यथाशक्ति दूसरेको सुखी करना चाहेगा तो सारा जगत् तुझे सुखी करना चाहेगा। तू दया रक्खेगा तो सारा जगत् तेरे प्रति दया रक्खेगा। इसमें दो शर्तें हैं—एक तो यह कि तू जिस गुणका आचरण करे, वह निष्काम भगवदर्पण होना चाहिये। दूसरी, बहुत बार आचरण करनेसे वह गुणरूप स्वभाव हो गया होना चाहिये। कोई भी पुण्यकार्य सकाम होनेपर सम्पत्ति और यश देता है तथा निष्काम होनेपर भगवान्की प्राप्ति कराता है।

(२१) त्याग तप है। त्यागके विना न तेज है, न सत्कार है, न शान्ति है, न प्रसन्नता है, न आनन्द है और न मुक्ति ही है। त्याग कर—घरका नहीं, स्त्री-पुत्रोंका या धनका नहीं। त्याग कर क्रोधका—कड़वी वाणीका, विषय-भोगका, मनकी विविध कामनाओंका, दूसरेको दुःख

देनेवाले स्वभावका, आलस्यका, अभिमानका, आसक्तिका, ममताका और अहंताका ।

(२२) कोईका बन जा, स्वामी बना ले । स्वामी समर्थको बना । सबसे समर्थ हैं—भगवान् । भगवान्‌का बन जा । भगवान्‌से लग्न (विवाह) कर ले । हाथ पकड़ ले । वे पकड़ा हुआ हाथ नहीं छोड़ते । दयालु हैं और समर्थ हैं । देख, अगर तू छोड़ भी देगा, तो याद रख, भगवान्‌का बन जानेपर भगवान् कभी भूलते नहीं, छोड़ते नहीं । जगत्‌में जीवन रहते या मर जानेके बाद कोई उसे सताने और दुःख देनेमें समर्थ नहीं होता । सर्वभावसे भगवान्‌की शरण ले ले । 'मैं भगवान्‌का हूँ' यों कह, यों मान ले । फिर चिन्ता, भय और शोकसे छूटकर फिर । जिसको जितना ही चिन्ता, भय और शोक होता है, उतना ही वह भगवान्‌का नहीं होता, यह समझना चाहिये । जिसके सिरपर समर्थ चौदह लोकका नाथ स्वामी हो, जो अनन्यभावसे उसका बन चुका हो, उसे क्या चिन्ता, भय और शोक होता है ?

(२३) तेरेमें व्यसन है ? व्यसनमात्रका त्याग किये बिना नहीं तरा जाता । तेरेमें विषयभोगकी इच्छा है ? विषयभोगमें रस रहेगा, तबतक भगवान् नहीं मिलेंगे । तेरेमें बहुत तरहकी कामनाएँ हैं ? धीरे-धीरे कामनाओंका, व्यसनका, एक-एक चुन-चुनकर त्याग किये बिना भगवान् नहीं मिलेंगे । जहाँ कामना है, वहाँ भगवान् नहीं और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ कामना नहीं ।

(२४) तू दुखी है ? तेरेमें दया कम होगी । दयाहीनको दुःख जहाँ-तहाँसे खोजता हुआ चला आता है । जिसमें दया है, जिसका हृदय दयासे कोमल है, उसके पास सुख चारों दिशाओंसे आते हैं ।

(२५) तू दुखी है ? तू जरूर दूसरेकी निन्दा करता होगा । दूसरेका दुःख देख-सुनकर प्रसन्न होता होगा । सुखी होना हो तो दूसरेकी निन्दाका त्याग कर । जो उपस्थित नहीं है, उसके अवगुणोंका, दोषोंका कथन निन्दा कहलाता है, उसका त्याग कर दे तो सुखी हो जायगा । जो दूसरेका दुःख देखकर प्रसन्न होता है, उसके पास दुःख अवश्य आता है । दूसरेको दुखी देखकर सहायता कर, दया कर । यदि कुछ भी न बने तो उसका दुःख दूर करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कर ।

(२६) जब-जब मनमें अशान्ति हो, तब-तब समझना चाहिये कि हम भगवान्‌को भूल गये हैं, और इसलिये उसी समय भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये ।

(२७) तू जानमें, अनजानमें यदि माता-पिताको दुःख देगा तो उनकी इच्छा न होनेपर भी उनके हृदयसे तेरे लिये जो शाप निकलेगा उससे या तो तू लक्ष्मीहीन हो जायगा या सन्ततिहीन । 'माता-पितासे मैं अधिक जानता हूँ, अधिक समझता हूँ ।' ऐसा मानकर उनका अपमान न करना । उनके हृदयका एक आँसू तेरी सारी सम्पत्तिको जलाकर भस्म कर देनेमें समर्थ है । जिस विद्यासे धन पैदा होता हो, वह चाहे तूने अधिक पढ़ी हो, जिस बुद्धिसे सच्चेको झूठा, झूठेको सच्चा साबित किया जाता हो वह बुद्धि चाहे तेरेमें विशेष हो, परंतु माता-पितापर श्रेष्ठता प्राप्त करनेके लिये ऐसी बुद्धि और विद्या व्यर्थ है । विद्या वह है जिससे भगवान्‌के दर्शन हों; बुद्धि वह है जिससे भगवान्‌को पहचाना जाय, धर्माचरण बने । धर्म, सत्य और तप—यही जीवकी सम्पत्ति हैं । यहाँकी लक्ष्मी तो जीवके लिये भाररूप, चिन्ता, भय, क्लेश, श्रम, दुःख और मदको देनेवाली है और अन्तमें जन्म-मरणके चक्करमें डालनेवाली है ।

(२८) जैसे मूर्ति (पत्थरकी) पत्थर नहीं है, पर पत्थरमें भगवान् हैं, इसी प्रकार हाड़-मांसके शरीरमें माता-पिता हाड़-मांस नहीं हैं पर हाड़-मांसके शरीरमें विराजित परमात्मा हैं । माता, पिता, गुरु, बड़े-बूढ़े, बालक और आश्रितका सत्कार करना चाहिये । माता-पिता और गुरुकी देवताकी भाँति आराधना करनी चाहिये । उन्हें मान देना, उनके कथनानुसार करना, उन्हें सन्तोष पहुँचाना चाहिये । देवताओंका शाप टालनेमें माता, पिता और गुरु समर्थ हैं; परंतु माता, पिता, गुरुका शाप टालनेके लिये त्रिभुवनमें कोई भी समर्थ नहीं है ।

(२९) स्त्रीको यथायोग्य आवश्यकताओंकी पूर्ति करके सन्तुष्ट रखो, पर उसके वशमें न हो जाओ । स्त्रीमें बुद्धि कम है, हृदय प्रधान है । उसमें अच्छे-बुरेका, लाभ-हानिका स्वयं विचार कम है । वह विचार कम कर सकती है । वह भावनाके वशमें है । मोह, दया, ममता, लोभ आदिके अधीन झट हो जाती है । उसे नया-नया देखना, नया-नया सुनना, नया-नया पहनना, घूमना-फिरना, नयी-

नयी वस्तु प्राप्त करना विशेष पसंद है। उसको उसकी बुद्धिपर चलने दोगे या तुम उसकी बुद्धिपर चलोगे तो भयङ्कर दुःखमें पड़ जाओगे। अतएव उसपर सदा नियमन रक्खो। उसका हृदय ऐसा है जो सहज ही ठगा जा सकता है, इसलिये उसकी रक्षा करनी चाहिये। दुर्जन, प्रलोभन, वहम और मोहसे उसे बचाना चाहिये। उपदेशकी अपेक्षा भय उसके लिये विशेष लाभदायक है। निष्ठा पक्की हो जानेपर वह उससे नहीं फिरती। इसीसे पातिव्रत उसके लिये उत्तम धर्म है। पतिके आज्ञानुसार चलनेका व्रत रखनेवाली स्त्री कभी दुखी नहीं होती। स्त्रीको ज्ञान पसंद नहीं है, भक्ति पसंद है। तीर्थाटन पसंद है। देव-दर्शन पसंद है। व्रत-नियम पसंद है। इसलिये स्त्रीको व्रत-नियम करने देना चाहिये। बुरे सङ्गसे स्त्री बिगड़ती है, इसलिये उसका सङ्ग सदा अच्छा होना चाहिये। इसीलिये उसको सदा गृहकार्यमें, देव-दर्शनमें और भगवत्-सम्बन्धी तथा नीतिकी पुस्तकोंके पढ़नेमें लगाये रखना चाहिये। पतिको साथ लिये बिना स्त्रीको कभी पर-पुरुषके साथ,—भले ही वह साधु या भक्त ही हो,—नहीं रहना चाहिये। पुरुषको चाहिये कि वह स्त्रीको पर-पुरुषके पास चाहे वह कोई क्यों न हो, कभी नहीं रक्खे। स्त्री चाहे जितनी होशियार हो परंतु भोली है। और पुरुष चाहे जितना धर्मात्मा माना जाता हो, पर वह स्त्रीके लिये दगाबाज, कामी और कपटी है। अतएव स्त्रीको पर-पुरुषका और पुरुषको पर-स्त्रीका सङ्ग कभी करना ही नहीं चाहिये। स्त्री-पुरुषके लिये एकान्तवास भयरूप है। अपनी स्त्रीको दूसरेके अधीन कभी नहीं रखना चाहिये।

(३०) जिसमें सदाचार नहीं, वह सत्कारका पात्र नहीं। किसीके विशेष धन हो, विशेष बल हो, विशेष बुद्धि हो, सिद्धियाँ हों, वह आकाशमें उड़ता हो, भूमिमें गड़ता हो, मुर्देको जीवित करता हो और चाहे इससे भी विशेष कोई चमत्कार दिखाता हो, पर जिसमें सदाचार न हो तो उसका संक्रामक रोगकी भाँति त्याग कर देना चाहिये। कोई भजन गाता हो, व्याख्यान देता हो, नाचता-कूदता हो और गवाता हो, पर यदि वह सदाचारी नहीं है तो उसका त्याग कर देना चाहिये। दुराचारी संक्रामक रोगीकी अपेक्षा भी अधिक भयङ्कर है। दुराचारके समान कोई दूसरा संक्रामक रोग नहीं है।

(३१) जो मनुष्य परस्त्रीके साथ बातें करनेमें रस लेता हो, निर्लज्ज हो, मीठी-मीठी बातें करनेवाला हो और रास्तेमें या चलते-चलते खाता हो, उसका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। ये सब प्रायः हृदयके कपटी और दुष्ट भाववाले होते हैं। मीठी-मीठी बातें करनेवाला चोर होता है—झूठा, कपटी और दुराचारी होता है। व्यवहारमें मीठा बोलनेवालेका कभी विश्वास न करे। खुशामद करनेवालेका विश्वास न करे। सच्चा मीठा बोलनेवाला और हितैषी दुर्लभ है।

(३२) इस कालमें कामके बिना दूसरेके घर कभी नहीं जाना चाहिये और न दूसरेको अपने घर आने देना चाहिये। कोई आ जाय तो उसे पूछना चाहिये, कैसे आये? क्या काम है? किससे काम है? और यदि काम न हो तो उसे आदरके साथ घरसे विदा कर देना चाहिये। परिचित, प्रेमी और सगे-सम्बन्धी हों तो दूसरी बात है। पर उनको भी बिना काम इस समय कहीं नहीं रहना चाहिये। पिताको लड़केके घर भी काम बिना अधिक नहीं रहना चाहिये। अपने घरमें, अपने मुकाममें और अपने काम-धंधेके लिये सदा रहना चाहिये। सदा या तो उद्यम करना चाहिये, या भजन-सत्सङ्ग करना चाहिये। निकम्मा कभी नहीं बैठा रहना चाहिये।

(३३) किये बिना मिलनेका नहीं। जैसा करता है, वैसा मिलता है। पहले किया है वैसा अब मिल रहा है और अब जैसा करेगा, वैसा आगे मिलेगा। करना अपने हाथ है, फल कब, कैसा और कितना देना, यह ईश्वरके हाथ है। पुण्यका फल सुख और पापका दुःख है, यह निश्चित है। बस, तो करना आरम्भ कर दे। किये जा। लगा रह। यह समय आया है या आ जायगा। जाग, उठ और लग जा। फिर ऐसा अवसर नहीं आयेगा। ईश्वरका भजन कर। तेरे पास कुछ हो तो दान कर। बुद्धि हो तो भूले हुएको मार्ग बता, दुखीकी सहायता कर, दुखीके प्रति दया रख। मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर भगवान्‌में लगा। कुटुम्ब-पालन तो पशु-पक्षीकी योनिवाले भी करते हैं, विषय-भोग तो तेरी अपेक्षा पशु-पक्षियोंको अधिक सुलभ है। फिर कुटुम्ब-पालन और विषय-भोगमें ही अपनी आयुको क्यों बिता रहा है? देख तो सही। जगा है या अभी सो ही रहा है? देख, तेरी सारी प्रवृत्तियाँ कुटुम्बके पालन-पोषण और मन-इन्द्रियोंके भोगोंके लिये ही हो रही हैं। काल

आयेगा। और सब कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा। उस समय कोई कुटुम्बी सहायता नहीं कर सकेगा। जीवनभर परिश्रम करके जिसको प्राप्त किया, वह सम्पत्ति, वह धन और वह कुटुम्ब भी यहीं रह जायगा। जिसके लिये पाप किया, वह सब कुछ यहीं छूट जायगा। तू अकेला जायगा। स्त्री-पुत्र, स्नेही-सम्बन्धी कोई तेरे साथ नहीं जायँगे। पाप और पुण्य ही तेरे साथी होंगे। इसलिये भाई! चेत कर! प्रतिदिन कुछ पुण्य करता रह। भजन करता रह। ये तेरे काम आयेंगे। जीवका धन धर्म और भजन—ये दो ही हैं। इस बातको कभी न भूल और धन-धर्मके संग्रह और पालनमें लगा रह।

(३४) पतिकी आज्ञाका पालन करना स्त्रीका परम धर्म है। वह इतना ही धर्म पालन कर ले तो स्वर्गमें जाती है।

(३५) माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना, यह सन्तानका धर्म है। इतने ही धर्मके पालनसे सन्तान अवश्य स्वर्गको जाती है।

(३६) ऐसी ही क्रिया करनी चाहिये और ऐसी ही वाणी बोलनी चाहिये कि जिससे असत्य, आलस्य, अकुलाहट, चिन्ता, भय और विक्षेप श्रम न हो।

(३७) बहुत बातोंका जानना और आचरण करना कठिन मालूम होता हो तो एक ही बात बतलाता हूँ—'सदा प्रसन्न रहना।' मनकी प्रसन्नता स्थिर रहे ऐसा बोलना, ऐसा बर्ताव करना और ऐसा विचार करना चाहिये। जिसको चिन्ता नहीं है, भय नहीं है, जो क्रोध नहीं करता, जो सदाचारी और शान्त है, वही नित्य प्रसन्न रह सकता है। किसी भी क्रियाके करनेसे पहले विचार करके देख ले कि इससे मन प्रसन्न रहेगा? प्रसन्न मनवालेकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है, मन शान्त रहता है, मुखकी आकृति शान्त, क्षोभरहित होती है, मनको प्रसन्न रखनेका अभ्यास करनेसे वह सिद्ध होती है। मनमें उठनेवाले सङ्कल्पोंके अनुसार ही जो क्रिया करता है, उसका मन प्रसन्न नहीं रहता। मनमें चोरी या दुराचारका विचार आया तो उसके अनुसार कार्य प्रारम्भ करते ही मन अशान्त, व्यग्र, चिन्तित और भयसे युक्त हो जाता है। प्रसन्नता तो मनकी सदा शान्त अवस्था है, इन्द्रियनिग्रह, मौन और आत्मबुद्धिसे दीर्घकालमें यह प्राप्त होती है।

(३८) एक सहज नियम बताता हूँ। इतना हो जाय तो भी तरा जा सकता है—'दूसरेकी निन्दा न सुननी, न करनी।' जो उपस्थित न हो उसके दोषका कथन करना निन्दा कहलाता है।

(३९) बालक जन्म लेता है, उसी समय ज्योतिषी उसके जीवनमें क्या-क्या होनेवाला है सब बता देते हैं। अतएव उसके जीवनमें जो होनेवाला है वह जन्मसे ही निश्चित है। अपने जीवनमें जो कुछ होना है, वह तो निश्चित है ही, जगत्में भी जो कुछ होना है, वह भी निश्चित है। सिनेमाके फिल्मकी भाँति, इस जगत्में जो कुछ होना है सो होगा ही। अतएव हर्ष-शोक और आश्चर्यको छोड़कर शान्तिके साथ इसे देखा कर और अपनेको पहचान।

(४०) तूने इतिहास पढ़ा। भूगोल, खगोल पढ़ा। भाषाएँ पढ़ीं, शास्त्र पढ़े, बहुत जानकारी प्राप्त की और इस जानकारीसे तुझे अभिमान हो गया कि मैं बहुत जानता हूँ। पर मैं तुझे कानमें पूछता हूँ कि क्या तूने यह जान लिया कि 'तू कौन है?' इसके जाने बिना सारा जानना भाररूप है। तूने बहुत देखा। शहर, खण्ड और सारी पृथ्वी देखी; पेड़, पहाड़ और जंगल देखे। भाँति-भाँतिके मनुष्य, पशु और पक्षी देखे। पर मैं तुझे धीरेसे पूछता हूँ कि 'तूने अपनेको देखा?' तूने अपनेको नहीं जाना, नहीं देखा और सब कुछ जान लिया, देख लिया तो वह सब व्यर्थ है। तेरा सारा परिश्रम व्यर्थ गया। अब भी चेत; देख, जान और समझ कि तू कौन है।

(४१) तू किसपर गर्व करता है? विद्यापर। तेरी विद्या तो तेरे और तेरे कुटुम्बका पेट भरने, पाप करने और मन-इन्द्रियोंको प्रसन्न करने-जितनी ही है। यह सब काम तो पशु-पक्षी बिना पढ़े ही करते हैं और तुझसे अच्छा करते हैं। तो मूर्ख! इसके लिये तूने क्यों इतना परिश्रम किया? पशु-पक्षी और देव-योनिमें जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी प्राप्तिके लिये तू मनुष्य बना। उसको तो प्राप्त किया नहीं। और उलटे परिश्रममें लग गया! मूर्ख! अब भी चेत! अपनेको पहचान। भगवान्की शरण ले और सदाके लिये संसारसे तर जा!

श्रीरामरूप-निष्ठासे भव-निवृत्ति

(लेखक—श्रीकान्तशरणजी)

उपासनाके लिये इष्टतत्त्वके ज्ञानकी सर्वप्रथम आवश्यकता होती है—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामनामकी आराधना करके इष्टतत्त्वका साक्षात्कार किया और अपनी विनय-पत्रिकाके एक पदमें उस तत्त्वका वर्णन किया है। इष्टतत्त्वके ज्ञानके लिये इस पदका मनन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं।
नवकंज लोचन, कंजमुख, कर कंज, पद कंजारुणं॥
कंदर्प अगणित अमित छवि, नवनील नीरज सुंदरं[1]।
पट पीत मानहु तड़ित रुचि शुचि नौमि जनक-सुतावरं॥
शिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदार अंग विभूषणं।
आजानुभुज शर-चाप-धर संग्राम-जित-खरदूषणं॥
इति वदति तुलसीदास शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं।
मम हृदय-कंज निवास करु कामादि खल-दल-गंजनं[2]॥

सामान्यार्थ—'हे मन! कृपालु श्रीरामजीका भजन करो! वे संसारके जन्म-मरणरूप दारुण भयका हरण करनेवाले हैं। उनके नेत्र, मुख, हस्त एवं चरण प्रफुल्लित लाल कमलके समान हैं। असंख्य कामदेवोंके समान वे छविशाली हैं और उनका श्रीअङ्ग नवीन नीलकमलकी भाँति सुन्दर है। विद्युत्के समान उनके पीताम्बरकी आभा है। श्रीजनकनन्दिनीके उन भुवनपावन नाथकी मैं वन्दना करता हूँ। सिरपर मुकुट, (कानोंमें) कुण्डल, (भालपर) सुन्दर तिलक तथा सुन्दर अङ्गोंमें आभूषण धारण किये, आजानु प्रलम्ब भुजाएँ और हाथमें धनुष-बाण लिये, संग्राममें खर-दूषणको पराजित करनेवाले वे प्रभु जो भगवान् शङ्कर, शेष एवं मुनियोंके मनोंको आनन्दित करनेवाले हैं, उनसे ही तुलसीदास यह प्रार्थना करता है कि वे कामादि दुष्टोंके दलको नष्ट करनेवाले नाथ मेरे हृदय-कमलमें निवास करें।'

इस पदमें श्रीरामजीके स्वरूप, गुणके साथ आराधनाके स्वरूपका परिचय कराया गया है। इसका पहला शब्द है 'श्री'। यह शब्द शोभाके अर्थमें आता है, पर यहाँ उपासनात्मक ध्यानका विषय है। उसके अनुरूप ही इसका अर्थ होना चाहिये। श्रिञ् सेवायाम्, शॄ हिंसायाम्, श्रु श्रवणे और शॄ विस्तारे—इन धातुओंसे 'श्री' शब्द निष्पन्न होता है। रहस्यत्रयमें कहा गया है—

'तत्र श्रीशब्देन समस्तसमाश्रयणीया परमात्माश्रिता निखिलजीवदोषनिहन्त्री श्रीरामभगवन्तं चेतनाचेतमविज्ञापनं श्रावयन्ती स्वगुणैरखिलं विश्वं पूरयन्ती भगवती सीतोच्यते॥'

अर्थात् 'श्री शब्दसे समस्त प्राणियोंकी आश्रयणीया, परमात्मा श्रीरामके आश्रित, समस्त जीवोंके दोषको नाश करनेवाली, भगवान् श्रीरामको चेतन और जड सभी जीवोंकी ओरसे प्रार्थना सुनानेवाली और अपने गुणोंसे सारे जगत्को पूर्ण करनेवाली भगवती सीता वर्णित होती हैं।'

क्योंकि श्रीजनकनन्दिनी ही जीवोंका पुरुषकारत्व प्रभुके समीप करती हैं, इसलिये उपासक प्रथम उन्हींके श्रीचरणोंकी शरण लेते हैं। इसीसे पदमें प्रथम श्रीतत्त्वका निर्देश करके तब परब्रह्म तत्त्वका 'राम' शब्दसे वर्णन हुआ है।

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥
(श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषत्)

'जिस सत्यानन्द चित्स्वरूप आत्मतत्त्वमें योगीजन रमण करते हैं, वही परमब्रह्म 'राम' इस पदसे वर्णित होता है।'

---

१. किन्हीं प्रतियोंमें इस पदमें 'नवनील नीरद सुन्दरं' पाठ दिया गया है; परंतु प्राचीन प्रतियोंमें 'नवनील नीरज सुन्दरं' पाठ ही है।

२. आधुनिक विनयपत्रिकाकी प्रतियोंमें इस पदमें ये दो चरण और मिलते हैं—

भजु दीनबंधु दिनेश दानव-दुष्ट-वंसनिकंदनं।
रघुनंद आनँदकंद कोशलचंद दिनकरनंदनं॥

लेकिन पुरानी प्रतियोंमें ये पद मिलते नहीं हैं। अतएव क्षेपक मानकर इन्हें छोड़ दिया गया है।

छन्दःशास्त्रके अनुसार यह गीति छन्द है, जो सायंकाल गौरी-रागमें गाया जाता है। अलंकारकी दृष्टिसे इसमें उपनागरिका वृत्ति है, जो अनुप्रासका एक भेद है। इस वृत्तिमें श्रवणप्रिय मधुर वर्ण आते हैं।

चिद्वाचको रकारः स्यात्सद्वाच्याकार उच्यते ।
मकारानन्दवाची स्यात्सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥

(महारामायण)

अर्थात् अविनाशी सच्चिदानन्द राम-नाममें 'र' चिद्वाचक, 'आ' सद्वाचक और 'म' आनन्दवाचक है।

'राम' इस नाममें चार वर्ण हैं—र, आ, म् और अ्। इनमें पहला वर्ण 'र' शेष तीनोंका आधार है—

'रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च ।'

(रामतापनीय उ०)

रेफपर आरूढ़ शेष तीनों वर्ण एवं उनके वाच्य त्रिदेव एवं उनकी शक्तियाँ रेफके आश्रित हैं और रेफके वाच्य हैं श्रीराम—

'रश्च रामेऽनित्ये वह्नौ' (एकाक्षरकोष)

इसी एकाक्षरकोषके अनुसार शेष तीनों वर्णोंके अर्थ इस प्रकार हैं—

'अकारो वासुदेवः स्यादाकारस्तु प्रजापतिः ।'
'मः शिवश्चन्द्रमाः ।'

इससे स्पष्ट है कि सृष्टि, स्थिति एवं संहारके अधिष्ठाता त्रिदेव एवं उनकी शक्तियाँ श्रीरामके ही आश्रित हैं और उन्हींकी शक्तिसे अपने कार्योंको सम्पन्न करते हैं।

श्रीरामचरितमानसमें राम-नामके लिये स्पष्ट कहा गया है—

'बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो ।'

श्रुति कहती है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।'

यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है । उसीसे इसकी उत्पत्ति, पालन, संहारादि हैं और उसीमें यह चेष्टा करता है; अतः शान्त होकर उस ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये ।

वह परब्रह्म-तत्त्व श्रीराम हैं । 'राम' शब्दसे परब्रह्म इष्ट-तत्त्वका प्रतिपादन होनेपर आराध्यके ऐश्वर्य एवं माधुर्य-गुणोंकी सूचनाके लिये मूलपदमें आगे 'चन्द्र' शब्द आया है।

'चन्द्र' शब्द 'चदि आह्लादने' तथा 'चदि दीप्तौ' इस प्रकार दो अर्थवाली 'चदि' धातुसे निष्पन्न होता है। आह्लादनार्थमें 'चन्द्र' शब्दकी निष्पत्तिसे 'श्रीरामचन्द्र' इस पदद्वारा रामजीका निरवधिक आनन्द-जनकत्व सिद्ध होता है । श्रीरामचरितमानस, वाल्मीकीय रामायण, पुराण तथा श्रुतिमें सर्वत्र श्रीरामके सर्वानन्दप्रदायी स्वरूपका वर्णन है।

'चदि दीप्तौ' अर्थमें निष्पन्न 'चन्द्र' शब्दके योगसे 'रामचन्द्र' इस पदद्वारा श्रीरामका सर्वप्रकाशक स्वरूप प्रकट होता है—

बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥

(श्रीरामचरितमानस)

आराध्यके इस प्रकार अनन्त माधुर्य एवं अतुल ऐश्वर्य-रूपको जानकर उनकी उपासना करनेकी इच्छा होगी; किंतु सच्चिदानन्दघन, सर्वेश्वर, सर्वप्रकाशक, परम प्रभुका सामीप्य पानेका साहस क्षुद्र जीवमें कैसे हो ? उपासकमें दैन्य होता है और वह अपनेको पापी, मलिन समझता ही है। उसके लिये यह भय सहज स्वाभाविक है—

'अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं ॥'

(विनय-पत्रिका)

उपासकके इस भयको दूर करता है आराध्यका कृपामय रूप और उसी रूपकी सूचनाके लिये पदमें 'कृपालु' शब्द आया है।

'कृप कृपायाम्' से अनुग्रहार्थमें और 'कृपू सामर्थ्ये' से शक्तिमत्ता अर्थमें कृपा शब्द निष्पन्न होता है।

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः ।
इतिसामर्थ्यसन्धाना कृपा सा परमेश्वरी ॥

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका रक्षण करनेवाला उनका परम स्वामी हूँ—इस प्रकार प्रभु अपनी जिस अनुग्रहमयी शक्तिका आश्रयण करते हैं, वही परमेश्वरी कृपा है । उनसे युक्त प्रभु कृपालु हैं।

इस प्रकार आराध्यकी सुलभता बतलाकर अपने मनको सम्बोधित करके कहते हैं—'भजु मन !' 'भज सेवायाम्' के अनुसार भजनका अर्थ है सेवन करना । मनसे कहा गया है कि सब प्रकारसे, सर्वेन्द्रियोंसे उन आराध्यका ही सेवन करो । लेकिन मनकी प्रवृत्ति तो विषयोंमें है—

बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥

(विनयपत्रिका)

इन विषयोंमें अनुरागका फल शोक, मोह, जरा, व्याधि, जन्म-मृत्यु आदि अनन्त दारुण विपत्तियाँ हैं। इन विपत्तियोंका सन्ताप सदा ही सिरपर है। भजन करनेसे यह दारुण सन्ताप, भवका यह भीषण भय निवृत्त हो जायगा—यह आश्वासन

मनको दिया गया—'हरण भवभय दारुणं' वे प्रभु दारुण भव-भयको हरण करनेवाले हैं। उनका भजन करनेसे ये सब क्लेश सदाको मिट जायँगे।

मन सदासे विषयोंमें लीन रहते-रहते मलिन हो गया। ये जगत्‌के दारुण भय सम्मुख रहते भी वह अपने प्रलोभनोंसे पृथक् नहीं होता। अतः उसे इन तुच्छ विषयोंसे अनन्त सुन्दर, अनन्त माधुर्यमय दिव्य आधारकी ओर प्रेरित करता है—

'नवकंज लोचन कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुणं।'

यहाँ श्रीरघुनाथजीके लोचन, मुख, कर एवं चरण प्रफुल्ल लाल कमलकी उपमासे भूषित हुए और आगे—

'कंदर्प अगणित अमित छवि, नवनील नीरज सुंदरं॥'

इस पदमें प्रभुके श्रीअङ्गको नवीन इन्दीवर (नील-कमल) के समान सुन्दर बताया गया। इस प्रकार पाँच कमलों-की उपमा दी गयी है।

मनका स्वभाव है भ्रमर-जैसा। गन्ध-लोलुप भ्रमरकी भाँति विषय-लम्पट होकर वह सदा चञ्चल बना रहता है। कहीं स्थिर नहीं होता। शास्त्रोंमें मनकी भ्रमरसे अनेक स्थानों-पर उपमा दी गयी है। भ्रमर केवल कमलमें आवद्ध होता है। वहीं मधुपानसे मत्त होकर वह स्थिर होता है। श्रीभगवान्‌के अङ्गरूपी कमलोंमें उसे कहीं भी स्थिर होना चाहिये। आराध्यके अङ्गोंकी कमलसे उपमा देनेमें यही भाव है।

मन स्वयं पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके सहारे ही विषयोंका उपभोग करता है। पाँचों इन्द्रियोंमें बैठकर ही वह संसारके पदार्थोंमें आसक्त होता है। भगवान्‌के श्रीअङ्गोंमें पाँच कमलोंकी उपमासे सूचित किया गया कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों-के लिये सर्वोत्कृष्ट आश्रय उन परम प्रभुमें ही है। मनको परम सन्तोष सभी प्रकारसे वहीं प्राप्त होगा। नेत्रोंके लिये—

'कंदर्प अगणित अमित छवि, नवनील नीरज सुंदरं'

कर्णोंके लिये उस 'कंज-मुख'की अमृत वाणी, नासिकाके लिये 'कंजारुण' पदमें चढ़ी तुलसीका पावन गन्ध, रसनाके लिये 'नवकंज लोचन' की सुधादृष्टिसे पवित्र हुआ प्रसाद और त्वचाके लिये अभयदायी 'कर-कंज'का परम कोमल स्पर्श ही जीवका परम वाञ्छनीय है।

> तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
> निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
> स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
> मधुव्रतो नेक्षुरसं हि वीक्षते॥
> (आलवन्दारस्तोत्र)

अर्थात् 'हे प्रभो! आपके अमृतस्रावी चरणकमलोंमें जिनका चित्त लग गया है, वे किसी भी और वस्तुकी इच्छा कैसे कर सकते हैं। भ्रमर जब कमलपर मकरन्द-पानमें मत्त हो गया, तब फिर वह गन्नेके रसकी ओर देख भी कैसे सकता है।'

श्रीरामके श्रीअङ्गरूप कमलोंमें रस, गन्ध, रूप, सौकुमार्यादि सभी दिव्य, चिन्मय एवं अनन्त हैं। मन-भ्रमरके लिये ऐसा परमसुखमय परमाश्रय और कोई हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार प्रभुके स्वरूपका वर्णन करके पीताम्बरका वर्णन किया गया। मेघश्याम श्रीअङ्गपर पीतपट स्थिर विद्युत्-के समान सुशोभित है। ऐसे श्रीजानकीनाथको नमस्कार। यहाँ 'जनक-सुतावरं' के द्वारा युगलस्वरूप श्रीसीतारामजीकी आराधना सूचित की गयी है।

'सिर मुकुट कुंडल' इस पदके द्वारा आभूषणोंका वर्णन हुआ। वस्त्रके पश्चात् आभूषणोंका क्रम उचित ही है। सिरपर मुकुट, कानोंमें मकराकृति कुण्डल, सुन्दर अङ्गोंमें केयूर, कंकण, मेखला, अँगूठी, नूपुर आदि आभूषण हैं। भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं और करोंमें धनुष-बाण हैं। यह वीरता, दुष्ट-दलन एवं भक्त-परित्राण-परायणताका सूचक है।

'संग्राम-जित-खरदूषणम्' यहाँ खर-दूषण-विजयी कहने-का विशेष तात्पर्य है। प्रभुकी ऐसी शोभा है कि बहिनकी नाक-कान काटनेके समाचारसे परम क्रुद्ध खर-दूषण भी उस शोभापर मुग्ध हो गये। क्रूरहृदय असुर और वे भी अत्यन्त क्रोधावेशमें जिस छविको देखकर मुग्ध हुए, उस शोभाका वर्णन कोई कैसे कर सकता है।

श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीने अपने 'रामसुधा' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

> भाई पंचवटीके बनमें। बड़ो रंग समुझनमें॥
> चाह सुपनखा सदा सोहागिन खेलि रही मन बनमें।
> लखन दरस ताके धरि काटे नाक कान यक छनमें॥
> खर हो क्रोध, लोभ हो दूषन, काम फिरै त्रिसिरनमें।
> कामै क्रोध लोभ मिलि दरसैं तीनों एकै तनमें॥

कथाका यह आध्यात्मिक रूप इस बातका सूचक है कि काम, क्रोध, लोभ एवं इनकी समस्त सेनाको नाश करने-वाले श्रीराम ही हैं और भक्तोंके कामादि शत्रुओंके विनाशके लिये ही वे खर-दूषण-विजयी प्रभु अपने करोंमें धनुष-बाण धारण किये रहते हैं।

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरें चाप सायक कटि भाथा ॥
(श्रीरामचरितमानस)

इस प्रकार इष्टके स्वरूप एवं औदार्यका प्रतिपादन करके उनका महत्त्व तथा इस आराधनाके आचार्योंका सङ्केत करते हैं—'शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं' कहकर । भगवान् शङ्कर तो नित्य राम-नाम-जापक हैं ही । उनके हृदयमें तो प्रभु सदा ही निवास करते हैं । 'जय महेस मन मानस हंसा' कहकर इसीसे प्रभुकी स्तुति होती है । श्रीशेष-जी भी परम भागवत, नित्य भगवद्ध्यानपरायण एवं भक्तिमार्गके परमाचार्य हैं । वे अहर्निश श्रीरामगुण-गान करते हैं, यह श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है । मुनिगण तो नित्य प्रभुके ध्यानमें लगे ही रहते हैं ।

अन्तमें श्रीगोस्वामीजी प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—
'मम हृदय कंज निवास करु कामादि खल दल गंजनं ।'

प्रभो ! आपके कर-चरणादि कमलके समान हैं, अतः आपका निवास भी कमलमें ही होना चाहिये । मेरे हृदय-कमलमें आप निवास करें । आप धनुष-बाणधारी हैं, खल-दल-गंजन स्वभाव है आपका और मेरे हृदयमें काम-क्रोधादि दुष्ट भरे हैं । आप खर-दूषण-विजयी हैं, अतः इन दुष्टोंको सहज ही नष्ट कर देंगे । यह मुझपर आपका अनुग्रह होगा । आप कृपालु हैं, अतः इतनी कृपा करें ।

इस प्रकार श्रीगोस्वामीजीने इस पदमें मर्यादा-पुरुषोत्तम परात्पर परमब्रह्म श्रीरामके इष्टस्वरूप, स्वभाव, सौन्दर्य, कामादि-दलन प्रभावादिका सम्पूर्ण वर्णन किया है । इस ध्यानसे बाह्याभ्यन्तरशुद्धिपूर्वक भगवत्प्राप्ति निरूपित हुई है ।

कामके पत्र

(१)

धनका सदुपयोग कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपके लंबे पत्रका उत्तर संक्षेपमें निम्नलिखित है । धनसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं । यदि किसीके पास धन आये तो उसे तुरंत भगवत्प्रीत्यर्थ लोकसेवाके काममें लगाना आरम्भ कर देना चाहिये । धनकी सार्थकता तथा सफलता इसीमें है । भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यय किया हुआ धन भगवान्‌की प्रसन्नताका कारण होता है और फलतः व्यय करनेवाले-को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है । धनकी तीन गतियाँ प्रसिद्ध हैं—दान, भोग और नाश । इनमें भगवत्प्रीत्यर्थ धनका दान उसका सर्वोत्तम उपयोग है; भोग निकृष्ट है और परिणाममें दुःखदायी है । नहीं तो, नाश तो होगा ही । पर वह दुःख, संकट, अपमान, कलह, अनाचार और मौततक देकर नाश होगा । बड़ी साधसे छिपाकर रक्खा हुआ धन जब जबरदस्ती जाता है, तब बहुत दुःख होता है । पहले उसका सद्व्यय किया नहीं, फिर सिर पटककर रोना पड़ता है । धन भी छूटता है और वह सुखको भी साथ ले जाता है । बटोरे हुए धनका बलात्कारसे अपहरण और विनाश आज प्रत्यक्ष है; यह धनकी अवश्यम्भावी गति है । आप चाहे जितने दुखी हों, यह तो जायगा ही । बस, इसके बटोरनेमें आपने जो पाप किये, उनका फल यहाँ और आगे आपको भोगना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त इसको लेकर यहाँ जो चिन्ता तथा दुःख है, वह अलग है । अब भी मेरा तो यही निवेदन है कि बचे-खुचे धनका यदि अब भी कुछ सदुपयोग हो सके तो करना चाहिये । किसी तरह, मान लीजिये, यदि आपने छलछद्म करके इसको बचा भी लिया, जिसकी सम्भावना बहुत कम है, तो आपके उत्तराधिकारी इसका कैसा सुन्दर सदुपयोग करेंगे, इसका अनुमान आप उनके वर्तमान विचारों और आचरणोंसे लगा सकते हैं । सच्ची बात तो यह है कि धनको जो इतना महत्त्व दिया जा रहा है, यही भूल है । सच्चा धन तो भगवान्‌का भजन है, मन लगाकर उसका सञ्चय कीजिये । छोड़िये इसकी चिन्ताको, यह तो कभी छूटेगा ही । इस समय रह

भी जाता, तो मरनेके समय इसे छोड़ना पड़ता। यह साथ तो जाता ही नहीं, फिर अभीसे इसका मोह छोड़कर निश्चिन्त क्यों नहीं हो जाते ? आप अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं, और बुद्धिमान् हैं भी। यह तो बुद्धिका दुरुपयोग हुआ, जिससे आज आपको दुखी होना पड़ रहा है। इस बुद्धिको, विवेकको अब जगत्से मोड़कर भगवान्की ओर लगा दीजिये। घबरानेकी जरा भी बात नहीं है। जितनी आयु आपकी शेष है, यदि उसका एक-एक श्वास आपने भगवान्को सौंप दिया तो सारे पाप-तापोंसे मुक्त होकर इसी जन्ममें आप भगवान्को पाकर अनन्त जीवनकी साध पूरी कर सकते हैं। आशा है मेरी प्रार्थनापर आप ध्यान देंगे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

प्रेम मुँहकी बात नहीं है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण।............किसीके व्याख्यानको सुनकर ही उसे प्रेमी मान लेनेमें बड़ा धोखा हो सकता है। प्रेम वाणीका विषय ही नहीं है। जितना प्रेम यथार्थ और शुद्ध होता है, उतना ही उसमें त्याग अधिक होता है। वस्तुतः त्याग ही प्रेमका आधार है। प्रेममें अपने शुद्ध स्वार्थको, अपने व्यक्तिगत लाभको और अपनेको सर्वथा भूल जाना पड़ता है। प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर ये अपने-आप ही भूले जाते हैं। प्रेममें प्रेमास्पदसे कुछ भी पानेकी आशा नहीं रहती। वहाँ तो बस, देना-ही-देना होता है—देह-प्राण-मन ले लो, धन-ऐश्वर्य-समृद्धि ले लो, मान-यश-प्रतिष्ठा ले लो, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ले लो; जो चाहो सो ले लो—और इस देनेमें ही परम सुख, परम सन्तोष मिलता है प्रेमीको। आत्मविसर्जन ही प्रेमका मूल-मन्त्र है। प्रेमास्पदका हित और सुख ही प्रेमीका परम सुख है। इस प्रकारकी स्थिति बातोंसे तो हो नहीं सकती। इसके लिये त्याग चाहिये। आपने व्याख्यान सुन लिया, प्रेमकी महिमा सुन ली, कभी एक-दो बूँद आँसू देख लिये और किसीको प्रेमी मान लिया। यह ठीक नहीं है। प्रेमका पता तो तब लगेगा, जब उसकी प्रत्येक क्रियामें आपको त्यागकी अनुभूति होगी। बहुत-से स्वार्थी लोग प्रेमकी व्याख्या इसीलिये किया करते हैं कि लोग उनके प्रेमी बनें, और वे उनके प्रेमास्पद प्रियतम बनें। अर्थात् लोग अपना सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दें। यह प्रेमके नामपर लोगोंको ठगना है। यहाँ नीच काम ही प्रेमकी पोशाक पहनकर आता है। असलमें प्रेमका व्याख्यान नहीं होता; प्रेमका तो आचरण होता है और वह किया नहीं जाता, होता है—बरबस होता है। क्योंकि प्रेमीसे वैसा किये बिना रहा नहीं जाता। प्रेमास्पद उसे भले ही न चाहे, बदलेमें प्रेम न करे, उसके प्रेमका तिरस्कार करे, उसे ठुकरा दे, पर प्रेमीके पास इन सब बातोंकी ओर देखनेके लिये चित्त ही नहीं है। उसका चित्त तो अपने प्रेमास्पदमें सहज ही लगा है।

'मैं किसीका प्रेमास्पद बनूँ—प्रेमीका उपास्य बनूँ—मेरे प्रेमी लोग मुझे अपना प्रेमदान देकर आप्यायित करें।' ऐसी यदि मनमें चाह है तो समझना चाहिये कि हमारा मन नीच स्वार्थके कलंकरूप कामके वश हो रहा है और भोले लोगोंको प्रतारित करना चाहता है। ऐसी स्थितिमें सावधान हो जाना चाहिये। प्रेमका कहीं यदि उपदेश होता है तो वह अपने लिये ही होता है कि 'मैं ऐसा प्रेमी बनूँ। मैं ऐसा त्यागपूर्ण आचरण करूँ, जिससे मेरा पवित्र प्रेम खिल उठे।' ×××××शेष भगवत्कृपा।

(३)

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ! कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके प्रश्नोंपर विचार यों हैं—

(१) यह ठीक है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं; यह भी सत्य है कि वे भविष्यमें होनेवाली सभी बातोंको जानते हैं; अतः जो भी उनके ज्ञान या निश्चयमें है, वही होगा। तथापि मनुष्यको शुभ कर्म करना चाहिये और अशुभसे बचना चाहिये। जो भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे ही

शास्त्रद्वारा मनुष्यको यह प्रेरणा देते हैं कि वह सत्कर्म करे और पापसे बचे । इससे सिद्ध है कि मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार कर्म करनेमें स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें पहलेसे ही मौजूद है । अतः इस विधि-निषेधको मानते हुए मनुष्य जो कुछ कर रहा है या करेगा, वह सब ईश्वरके द्वारा अनुमोदित है । शास्त्र ईश्वरीय आदेश है, उसके पालनसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं और शास्त्रके विपरीत चलनेसे मनुष्य दण्डका भागी होता है । इसके अनुसार पुरस्कार और दण्डकी प्राप्ति भी सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें है; अतः मनुष्यको शास्त्राज्ञा-पालनमें सतत सावधान रहना चाहिये । मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, यह बात सर्वज्ञ ईश्वर-द्वारा अनुमोदित है ही । इसलिये वह जो कुछ भी करेगा, वही सर्वज्ञकी दृष्टिमें पहलेसे है—ऐसा माना जा सकता है । सर्वज्ञने कब किससे क्या करवानेका निश्चय कर रक्खा है, यह बात किसीको भी ज्ञात नहीं है । अतः जो न्यायोचित कर्तव्य है, उसके लिये चेष्टा करना सभीको उचित है । मनुष्यका ऐसा स्वभाव बना दिया गया है कि वह कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता ।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

उसका स्वभाव उसे चुपचाप बैठने न देगा । भगवान्‌ने जो पहलेसे निश्चय कर रक्खा है, वही होगा और वह अपने-आप हो जायगा—यों विचारकर कोई भी हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रह सके, यह सम्भव नहीं है । उसकी प्रकृति उसे कर्ममें लगा देगी (प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति) ।

महाभारतमें कौरव-पाण्डव उभय पक्षके जिन वीरोंकी मृत्यु नियत थी, उन सबका वह भावी परिणाम भगवान्‌ने अपने विराट्रूपमें पहले ही अर्जुनको दिखा दिया । इसपर अर्जुन यह सोच सकते थे कि 'ये सब मरेंगे तो निश्चय ही, फिर मैं क्यों इनकी हत्याका कलंक लूँ ।' पर उन्होंने अर्जुनको ऐसा सोचने नहीं दिया । उन्हें यह प्रेरणा दी गयी—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।' 'अर्जुन ! तू निमित्तमात्र हो जा ।' इसी प्रकार शास्त्रीय विधि-निषेधके द्वारा भगवान् हम सबको निमित्तमात्र बना रहे हैं । अर्जुनको निमित्त बनना पड़ा । हमको भी भावीमें जो सुनिश्चित है, निमित्त बनना ही पड़ेगा । 'हम निमित्तमात्र ही हैं, वास्तवमें भगवान् स्वयं सब कुछ कर रहे हैं, करवा रहे हैं'—यह भावना दृढ़ रहे तो हमें उन कर्मोंका बन्धन भी नहीं लगेगा । मनुष्य बँधता है ममता और अहङ्कारके कारण, कर्म और उसके फलमें आसक्ति तथा कामनाके कारण । यदि ईश्वरप्रीत्यर्थ ही सब कुछ किया जाय अथवा अपनेको निमित्तमात्र मानकर अपने ऊपर कर्तृत्वका अभिमान न लादा जाय तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता । अतः सब कुछ सर्वज्ञ ईश्वरकी सुनिश्चित इच्छाके अनुसार होनेपर भी हम सबका यही कर्तव्य है कि हम भगवत्प्रीतिके उद्देश्यसे शास्त्रीय सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें ही संलग्न रहें ।

(२) यह ठीक है कि मरे हुए पिता-पितामह आदि जहाँ जिस योनिमें जन्म पाते हैं, वहाँ उन्हें कर्मानुसार अन्नपान आदि तो प्राप्त होता ही है । फिर भी पुत्र-पौत्रादिका कर्तव्य है, उनके लिये श्राद्ध करें । श्राद्धमें दी हुई वस्तु उन पितरोंको, जहाँ जिस योनिमें भी वे रहते हैं, योग्यतानुसार प्राप्त होती है और उन्हें तृप्त करती है । श्राद्धके तीन देवता हैं, जो नित्य एवं सर्वव्यापी हैं । उनके नाम हैं—वसु, रुद्र और आदित्य । वसु पिताके स्वरूप हैं । रुद्र पितामहके प्रतिनिधि हैं । और आदित्य प्रपितामहके प्रतीक हैं । श्राद्धमें जब पितरोंका आवाहन होता है, तब जो आ सकते हैं वे पितर भी आते हैं नहीं तो ये ही लोग उपस्थित होते हैं; ये पुत्रादिद्वारा अर्पित किये हुए सत्कार, मान, पूजा, श्राद्धान्न आदि सब स्वयं ही ग्रहण करते हैं और वह सब ले जाकर मनुष्यके पितरोंके पास पहुँचा देते हैं । वे अपने ज्ञान और शक्तिसे भलीभाँति जानते हैं कि किसके पिता, पितामह आदि कहाँ किस रूपमें उत्पन्न हुए हैं; अतः उनके पास वे अनायास पहुँच जाते हैं और वह श्राद्धीय वस्तु उनको अर्पित करते हैं । यदि वे पितर मनुष्येतर स्थूल योनिमें या स्वर्ग-नरकादिके देव या पितृ-शरीरमें हैं तो वहाँके शरीरके अनुरूप खाद्य

प्रस्तुत करके ये उन्हें तृप्त करते हैं। इस प्रकार श्राद्ध-द्वारा तृप्त किये हुए वसु आदि देवता मनुष्यके पितरोंको तो पूर्ण तृप्त करते ही हैं, श्राद्धकर्ताको भी उसके भाव तथा श्रद्धाके अनुसार आयु, सन्तान, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदिकी प्राप्ति कराते हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया, इसका समर्थन याज्ञवल्क्य-स्मृतिके निम्नाङ्कित वचनोंसे होता है—

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः॥
आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नॄणां पितामहाः॥
(आचाराध्याय २६९-२७०)

आपने श्राद्धके विषयमें वैदिक मन्त्रके उल्लेखका भी अनुरोध किया है। श्राद्धविषयक वैदिक मन्त्र अनेक हैं। यहाँ स्थानाभावके कारण केवल एक मन्त्र दिया जाता है—

आ यन्तु न पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ (यजुर्वेद १९। ५८)

"हमारे सोमपानके अधिकारी 'अग्निष्वात्त' पितर देवयानमार्गसे आयें और इस यज्ञमें स्वधा (श्राद्धान्न) से तृप्त होकर हमें मानसिक उपदेश एवं आशीर्वाद दें।'

(३) गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

'पुरुष श्रद्धामय होता है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।' इसके अनुसार सात्त्विक श्रद्धासे सम्पन्न पुरुष सात्त्विक होता है। अतएव उसकी ऊर्ध्वगति हो सकती है; क्योंकि 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' यह गीताका सिद्धान्त है। इसी प्रकार तामसी श्रद्धावाला मनुष्य तमोगुणी होनेके कारण अधःपतनको प्राप्त हो सकता है। यहाँ मनुष्यके स्वभावगत श्रद्धाकी बात कही गयी। जहाँ श्रद्धारहित कर्मको निष्फल बताया गया है (न च तत्प्रेत्य नो इह); वहाँ उत्तम श्रद्धाका क्रियाके साथ योग न रहनेपर वह कर्म निष्फल होता है—ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये। सात्त्विक श्रद्धाका योग न होनेपर कर्म निरर्थक हो जाता है। यदि राजसी या तामसी श्रद्धाका योग हो जाय तब तो राजस-तामस भावके अनुसार फल अवश्य होगा। हवन, दान, यज्ञ, तप, जप आदि कर्म सात्त्विक श्रद्धासे ही किये जाने चाहिये। तामसी श्रद्धावालेकी तो इसमें प्रायः प्रवृत्ति ही नहीं होगी। हुई भी तो विधिका पालन न हो सकेगा। आप कहते हैं श्रद्धारहित कर्म हो ही नहीं सकता। किंतु जगत्‌में श्रद्धा रहित कर्म भी होता देखा जाता है। कोई किसी दबाव या संकोचके कारण भी सत्कर्म करता है। भीतरसे उस कर्ममें उसकी रुचि या श्रद्धा नहीं होती। यही अश्रद्धाकृत कर्म है। छान्दोग्य उपनिषद्‌की श्रुतिमें भी श्रद्धा कृत कर्मकी ही श्रेष्ठता बतायी गयी है। इससे और गीताके वचनसे कोई विरोध नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

(४)

मृत्युके बादके शरीर और श्राद्ध-तर्पण

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें क्रमसे उत्तर लिख रहा हूँ। पितृ-श्राद्धके सम्बन्धमें कल्याण १५ वें वर्षके ११ वें अंकमें छप चुका है, उसे भी देखना चाहिये।

(१) 'जैसे जोंक अगले तृणपर पैर रखकर पिछले तृणसे पैर उठाती है, इसी प्रकार जीव दूसरे शरीरका निश्चय करके पहले शरीरको छोड़ता है।' अथवा जैसा श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—'जैसे पुराना वस्त्र त्यागकर मनुष्य नया वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही जीव एक शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरको धारण कर लेता है।' ये दोनों ही बातें सत्य हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि 'जीव अपने कर्म-फल भोगनेके लिये नरक, पितृलोक या स्वर्गादि लोकोंमें भी जाता है।' इन दोनों ही शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी संगति है। शरीरोंके कई भेद हैं। हमारे इस मर्त्यलोकका शरीर पाञ्चभौतिक पृथ्वीप्रधान होता है। पितृलोकका वायुप्रधान होता है और स्वर्गादि देवलोकोंका तेजःप्रधान होता है। यहाँ मृत्यु होते ही जीवको एक आधार-

रूप शरीर मिल जाता है, उसे 'आतिवाहिक देह' कहते हैं । इसलिये उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तोंके साथ कोई विरोध नहीं रहता । उनमें शरीर मिलनेकी बात है; कैसा कौन-सा शरीर मिलेगा, यह कुछ भी नहीं कहा है ।

आतिवाहिक शरीरसे—कर्मानुसार यदि जीवको नरकोंमें जाना है तो वायुप्रधान 'यन्त्रणा-शरीर' मिलता है, जिसमें उसे भीषण यन्त्रणाओंका अनुभव होता है पर मृत्यु नहीं होती । जैसे नरकोंकी आगसे जलने और तीक्ष्णधार पत्रोंके द्वारा कटने आदिकी पीडा असह्य होती है, पर मृत्यु नहीं हो पाती । पितृलोकके अन्यान्य स्तरोंमें जानेवाले जीवोंको भी वायुप्रधान भोग-देह प्राप्त होते हैं, परंतु उनमें वे नरक-यन्त्रणा न भोगकर पितृलोकके भोग भोगते हैं । स्वर्गादि देवलोकोंमें जानेवालोंको तेज:प्रधान देह मिलते हैं । ये स्थूल पार्थिव देह नहीं होते । देव-देहमें वृद्धावस्था नहीं होती । मूत्र-पुरीषादि नहीं होते । हमलोगोंकी भाँति मरण नहीं होता । पर इन देहोंकी आकृति यहाँ मृत्युलोककी आकृतिके सदृश ही होती है । हाँ, प्रेतलोकके देहकी आकृति मलिन तथा भयानक दीखती है और देवलोकके देहकी तेजस्वी और सुन्दर प्रतीत होती है । परंतु उन आकृतियोंको देखकर यहाँके उनके परिचित लोग उन्हें पहचान सकते हैं कि ये अमुक हैं । लङ्का-विजयके पश्चात् महाराज दशरथके लङ्कामें पधारनेकी बात आती है, और उन्हें पहचानकर सीताजी अवगुण्ठनवती हो जाती हैं तथा भगवान् श्रीरामचन्द्र उनका यथोचित सत्कार करते हैं । इस प्रकारके अन्यान्य बहुत-से इतिहास हैं । इस युगमें भी परलोकगत आत्माओंके आने और उन्हें पहचाननेके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं (यद्यपि ऐसी बातोंमें आज झूठ-फरेब बहुत अधिक मात्रामें आ गया है) । पितृलोक और देवलोकके हमारे आत्मीय हमारे साथ वैसा ही सम्बन्ध मानते हैं, जैसा यहाँ मानते थे और अपने-अपने स्वभावके अनुसार हमारे सुख-दु:खमें सुखी-दुखी होते हैं तथा सहायता एवं विरोध करनेका भी यथाशक्ति प्रयास करते हैं । हमलोग जो उनके लिये श्राद्ध-तर्पण, दान आदि करते हैं, उन लोकोंके नियमानुसार वहाँके पदार्थोंके रूपमें वह उन्हें प्राप्त होता है, उनकी भूख-प्यास मिटती है और उन्हें शान्ति मिलती है । उनके निमित्त किये हुए सदनुष्ठानोंसे उनकी सद्गति-तक हो जाती है । इसलिये उनके निमित्त श्रद्धा तथा विधिपूर्वक श्राद्ध-तर्पण, कीर्तन, दान तथा जपादि अवश्य-अवश्य करने चाहिये ।

(२) जो लोग पितृलोक तथा देवलोकादिसे लौटकर मनुष्य या पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि स्थूल शरीरोंको प्राप्त हो जाते हैं, उनको भी उनके यहाँके पदार्थोंके रूपमें परिणत होकर हमारे अर्पण किये हुए पदार्थ मिलते हैं । जैसे हमें अमेरिका डालर भेजने हों तो यहाँ तो रुपये ही जमा करायेंगे; परंतु बैंक अपने भावसे मुद्रापरिवर्तन करके वहाँ उन्हें दे देगा । इसी प्रकार हम यहाँ जो कुछ देंगे, वह उन्हें वहाँ उन्हींके उपयोगी होकर मिल जायगा । वसु, रुद्र और आदित्य—देवशक्तियाँ, कौन जीव कहाँ है, इस बातका पता रखती हैं और यथायोग्य वस्तुएँ वहाँ पहुँचा देती हैं । इसलिये श्राद्धतर्पण करते ही रहने चाहिये—चाहे पितर पितृ-देवलोकमें हों, चाहे स्थूल योनिमें आ गये हों ।

(३) आपकी यह शङ्का ठीक है कि 'यदि कोई पितर मुक्त हो गया हो तो उसके निमित्त किया हुआ श्राद्ध-दान आदि किसको मिलेगा । ऐसी स्थितिमें श्राद्ध-तर्पण करनेसे क्या लाभ है ?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो हमको यह पता कैसे लगेगा कि अमुक पितरकी मुक्ति हो गयी है । हमने मुक्ति मानकर श्राद्ध-तर्पण करना छोड़ दिया और उसकी मुक्ति अभी नहीं हुई हो तो हम कर्तव्यविमुखताका पाप करनेवाले हुए और उस पितरको अतृप्त रहना पड़ा । दूसरे,

यह मान लें कि मुक्ति हो गयी तो भी श्राद्ध-तर्पणादि करनेमें कोई हानि नहीं है, हमारे उस सत्कर्मका फल लौटकर हमींको मिल जायगा, जैसे किसीके नाम मनीआर्डरसे भेजे हुए रुपये उस व्यक्तिके वहाँ न मिलनेपर या मर जानेपर लौटकर हमें वापस मिल जाते हैं।

शास्त्रका आदेश तो डंकेकी चोट है ही, हमारा अपना भी इस विषयमें कुछ अनुभव है; उसके आधार-पर हम यह कह सकते हैं कि श्राद्ध-तर्पण, हरिकीर्तन, अनुष्ठान, नारायणबलि और गया-श्राद्ध आदिसे पितरों-को बहुत सुख मिलता है, उनका बड़ा हित होता है। अतएव माता-पिता तथा पूर्वपुरुषोंके प्रति कर्तव्यशील प्रत्येक व्यक्तिको श्रद्धा तथा विधिपूर्वक यथासाध्य श्राद्ध-तर्पण अवश्य करना चाहिये।

(५)
चेष्टाओंसे स्वभावज्ञान

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है कि मनुष्यकी आकृतिसे और उसकी चेष्टाओंसे उसके स्वभावका बहुत अंशमें पता लग सकता है; परंतु इस प्रयासमें सभी लोग सफल नहीं हो सकते। आकृतिविज्ञान एक प्रकारका शास्त्र ही है, पर उसकी मुझको जानकारी नहीं है, इसलिये इस विषयमें कुछ भी नहीं लिख सकता। हाँ, चेष्टाओंके सम्बन्धमें कुछ बातें सोची जा सकती हैं। जैसे—

(१) जिस मनुष्यको भोजन-पदार्थोंकी चर्चा बहुत अच्छी लगती हो, जो भोजनके किसी अमुक पदार्थकी चर्चा आनेपर हर्षित हो उठता हो और कहता हो कि 'वह तो बहुत ही स्वादिष्ट—बहुत ही उत्तम है।' वह आदमी प्रायः जीभका गुलाम या पेटू होता है। ऐसे लोग जब पंक्तिमें भोजन करने बैठते हैं तब बगलके लोगोंकी पत्तलोंकी ओर टेढ़ी नजरसे ताका करते हैं।

(२) जिस मनुष्यको स्त्री-सम्बन्धी चर्चा बहुत अच्छी लगती हो, जो स्त्रियोंके अङ्गोंसे वस्तुओंकी तुलना करते हों, जिनकी स्त्री-साहित्यमें बड़ी रुचि हो, ऐसे लोग प्रायः 'कामी' स्वभावके होते हैं, यद्यपि वे बातोंमें या आचरणमें कोई लम्पटता नहीं दिखाते।

(३) जो लोग वेष-भूषा आदिसे शरीरको सजानेमें बहुत रुचि रखते हैं, वे स्त्री हों या पुरुष, प्रायः लम्पटताके दोषसे युक्त होते हैं। लोग मुझे सुन्दर देखें, इस भावसे शरीरको सजानेवालोंके मनमें 'काम' छिपा रहता है।

(४) जो लोग प्राकृतिक सौन्दर्यमें विशेष रुचि रखते हैं, प्रातःकालके और सन्ध्याके विविध रंगरञ्जित आकाशको बड़े चावसे देखते हैं, पक्षियोंके गानमें बड़ा सुख पाते हैं, दिनमें गम्भीर रहते हैं और रात्रिमें विशुद्ध आमोद-प्रेमी होते हैं, उनमें कलाकार-कविका भाव होता है। उनकी आमोदप्रियता मर्यादित होती है।

(५) जो लोग अपनी ही कहते रहते हैं, दूसरेकी सुनना चाहते ही नहीं, कोई कुछ बोलना चाहता है तो उसे तुरंत रोक देते हैं, और सत्यका प्रकट होना पसंद नहीं करते, ऐसे वाचाल लोग उदार तो होते ही नहीं, सत्यसे डरनेवाले होते हैं।

(६) जो मनुष्य अपनी बड़ाई सुनकर, उसका विरोध करते हुए भी, मन-ही-मन प्रसन्न होते हैं, वे 'मूर्ख' होते हैं और प्रायः दूसरोंके द्वारा ठगे जाते हैं।

(७) जो लोग बात-बातमें शपथ खाते हैं, उनका स्वभाव बहुत ओछा होता है। वे किसी गम्भीर विषयमें चित्तका संयोग प्रायः नहीं कर सकते।

(८) जो लोग हाँ-में-हाँ मिलाते हैं और अपना कोई सिद्धान्त नहीं रखते, वे 'चाटुकार' माने गये हैं और उनके लिये सत्यका सन्धान पाना बहुत कठिन होता है।

(९) जिन लोगोंको परनिन्दा बहुत प्यारी लगती है और परनिन्दा सुनानेवालोंसे जो बड़ा प्रेम रखते हैं, उनके हृदयमें द्वेष भरा है। द्वेष न हो तो निन्दा सुननेका मन ही न हो।

(१०) जिन लोगोंको गहरी रात्रिके समय सन्-सन् करनेवाली लंबी हवा अच्छी लगती है, वे प्रायः ही भावुक हृदयके या दार्शनिक भावोंके मनुष्य होते हैं।

(११) जो लोग एकान्तमें भजन, ध्यान, सद्विचार, सच्चिन्तन करते हैं, वे सच्चे साधक होते हैं।

(१२) जो लोग बात-बातमें कभी किसीको, कभी किसीको बुला-बुलाकर कानोंमें मुँह लगाकर बातें करते हैं, वे प्रायः अविश्वासी और सन्दिग्धमना होते हैं। ऐसे लोगोंपर दूसरोंको भी विश्वास नहीं करना चाहिये।

(१३) जो लोग रास्ता चलते हुए भी इधर-उधर ताकते रहते हैं, वे प्रायः मन्दबुद्धि या चोरस्वभावके होते हैं।

(१४) जो स्त्री पुरुषोंमें अधिक जाना-आना और पुरुषोंसे ही अधिक बातचीत करना पसंद करती है, उसके स्वभावमें प्रायः पुरुषाकर्षण-प्रवृत्तिका दोष रहता है।

(१५) जो स्त्री बात-बातमें मुसकराती है और आँखें नीची करके लज्जाका भाव दिखलाती है, उसका हृदय प्रायः कुटिल होता है।

वास्तवमें मनुष्यके स्वभावका पता अकेलेमें लगता है। इसलिये एकान्तमें वह क्या करता है, रातको अकेलेमें उसकी क्या चेष्टा होती है—यह देखना चाहिये। परंतु जो साधक है, अपना हित चाहता है, वह दूसरेका एकान्त क्यों देखे। उसे तो नित्य-निरन्तर अपना एकान्त देखना चाहिये, जिसका देखना अत्यन्त आवश्यक है और जिसको वह आसानीसे बिना भूलके देख भी सकता है। हम स्वयं, अपने मनके अंदर—मनके एकान्त कोनेमें—किस कोनेमें कब क्या हो रहा है, इसे भलीभाँति जान सकते हैं। अतएव उसीको देखे और उसमें दोष हो तो उसीके सुधारमें तत्परतासे लग जाय। तभी हमारा कल्याण होगा। शेष भगवत्कृपा।

हिंदू-संस्कृति और विकासवाद

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

संसार क्या है ? इसका निर्माण क्यों और कैसे हुआ ? इसकी क्रियाओंके नियम क्या हैं ? ये प्रश्न मनुष्यके मनमें सदासे ही उठते रहे हैं। इन प्रश्नोंमें केवल कौतूहल-पूर्ण जिज्ञासा ही नहीं है। हम जिस विश्वमें रहते हैं, उसके नियमोंको जानकर ही अपने जीवनक्रमको व्यवस्थित कर सकते हैं। अतएव विश्वकी गतिशीलताके नियम अवश्य जान लेने योग्य हैं। भारतीय महर्षियोंने बताया कि एक सर्वशक्तिमान् दयामय सत्ता है और उसने जीवोंके विनोदके लिये विश्वका निर्माण किया। विश्व जब बना, सम्पूर्ण दोषरहित था। धीरे-धीरे वह उसी प्रकार बिगड़ता जा रहा है, जैसे नये खिलौने पुराने होते जाते हैं या वर्षाका शुद्ध जल सड़ता जाता है। पाश्चात्त्य देशोंमें डार्विनने इसके विपरीत ठीक दूसरी बात कही। उसका मत है कि कोई चेतनसत्ता नहीं है। विश्व धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। उसमें गति स्वतः स्वाभाविक है।

विचारणीय यह है कि भारतीय विकृतिवाद तथा डार्विनके विकासवादमेंसे सत्य कौन-सा मत है। यदि भारतीय मत ठीक है—जो कि ठीक ही है, यह हम आगे देखेंगे,—तो ईश्वर स्वतःसिद्ध सत्ता है। फिर धर्माचार, आध्यात्मिकता आदि मनुष्यके जीवनके आदर्श होने चाहिये। यदि डार्विनका मत ठीक है तो चेतनसत्ता कोई नहीं है। मनुष्य भी एक पशुविशेष है। नास्तिक महापण्डितोंकी यह बात ठीक ही है कि 'ईश्वर मनुष्यका मानसपुत्र है और धर्म मनुष्यकी दुर्बलताओंका संत्रीभाव।'

हमें यह भूल नहीं जाना चाहिये कि विकासवादका जन्म इंग्लैंडमें हुआ है। वहाँकी सभ्यताका इतिहास ढाई-तीन सहस्र वर्षका है। यूरोपके दूसरे देशोंके असभ्य लोग जब अपने देशकी अपेक्षाकृत सभ्य जातियोंसे पराजित हुए, तब भागकर वहाँ जा बसे। वहाँ खेती आदिकी सुविधा थी नहीं। फलतः उनका रहा-सहा ज्ञान भी विस्मृत हो गया। वे केवल

समुद्री मछलियोंपर निर्वाह करनेवाले मछुए बन गये। पश्चिमी यूरोपीय देशोंकी भी उस समय यही दशा थी। रोम (इटली) के संसर्गसे धीरे-धीरे उनकी सभ्यताका विकास हुआ। अतएव डार्विनके विकासवादकी युक्तियाँ वहाँ ठीक प्रमाणित हुई। पश्चिमी यूरोपके भी वे अनुकूल थीं। फलतः वहाँके विद्वानोंके हृदयमें वे बैठ गयीं। क्योंकि पश्चिमी यूरोप और ब्रिटेन शासकदेश थे, विश्वके तीन चौथाई देशोंपर उनका शासन था। अमेरिका, आस्ट्रेलियामें वही उपनिवेश बनाकर बसे थे। उनकी इस मान्यताका खूब प्रचार हुआ। शासित देशोंके विद्वानोंने भी आँख मूँदकर उनका अनुसरण किया। यों तो अब यूरोप तथा ब्रिटेनके वैज्ञानिक विकासवादको दो युग पीछेका भ्रमपूर्ण सिद्धान्त बतलाते हैं और उसे स्वीकार नहीं करते; परंतु इतिहास, भूगर्भशास्त्र, पुरातत्त्व आदि सभी विद्याओंपर विकासवादकी धारणाका प्रभाव पड़ा था और अबतक वह चल रहा है। विकासवादको अस्वीकार करके भी पश्चिमी यूरोपमें सभ्यताके विकासके कारण इन विद्याओंमें परिवर्तनकी आवश्यकता ज्ञात नहीं हो रही है और न है; परंतु भारत, मिस्र आदि देशोंमें तो सभी विभागोंके ग्रन्थोंको नये सिरेसे लिखना आवश्यक होगा। अबतकके पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंको अस्वीकार करके दूसरे ही ढंगसे समस्त ज्ञानको सजाना होगा। इन प्राचीन सभ्य देशोंके विद्वान् पाश्चात्त्योंका अनुकरण करनेके कारण सभी विषयोंको भ्रमात्मक बना चुके हैं और अभी भी उसी प्रवृत्तिका अनुगमन करते हैं। अतएव डार्विनके विकासवादकी आलोचना अभी इन देशोंमें बहुत आवश्यक है।

विकासवादके प्रमाण

वैज्ञानिक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। अन्ततः डांवनको ऐसे कौन-से प्रमाण मिले, जिससे उसने विकासवादके सिद्धान्तोंको स्थिर किया ? इसके उत्तरमें विकासवादी निम्न पाँच विद्याओंका नाम लेते हैं—

१—जाति-विभाग।
२—तुलनात्मक शरीर-रचना।
३—लुप्त जन्तुओंके प्राप्त शरीर।
४—गर्भ-वृद्धिक्रम।
५—भौगोलिक रचना।

इन विषयोंपर पाश्चात्त्य विद्याविशारदोंने बहुत अन्वेषण (!) किया है। यहाँ विकासवादके इनके सम्बन्धमें अपने सिद्धान्त और उन सिद्धान्तोंकी आलोचना क्रमशः करना पर्याप्त होगा। १—जाति-विभाग। इसमें विश्वके दो विभाग हैं—वनस्पति और प्राणी। विकासवादी वैज्ञानिक वनस्पति-विभाग छोड़ देते हैं; क्योंकि तृणसे वट-जैसा महान्वृक्ष कैसे विकसित हुआ, यह उनके वशकी बात नहीं। प्राणिवर्गके भी दो विभाग हैं—बिना रीढ़वाले प्राणी और रीढ़की हड्डीवाले। इन प्राणियोंमें भी श्रेणीविभाग किया जाता है; किंतु ऐसा श्रेणीविभाग अभी निश्चित नहीं कहा जा सकता। रुधिर-परीक्षणसे प्राणियोंमें चार प्रकारके रक्त पाये गये हैं। गोल, चपटे, अण्डाकार तथा चपटे अण्डाकार रक्तकण होते हैं। छोटे कीड़ोंमें रक्तके स्थानपर कुछ चिपचिपा जल होता है। क्यों गोल या चपटा रक्तकण वर्तुलाकार हुआ ? विकासवादी रक्तके परिवर्तनका कोई कारण बता नहीं पाते। जातिविभागके मुख्य आधार रक्तकण हैं और जब यही नहीं बताया जा सकता कि एक रक्तकण दूसरे रक्तकणमें क्यों बदलता है, तब वह बदलता ही है, ऐसी भ्रमात्मक बात क्यों मानी जाय ?

दूसरा प्रमाण तुलनात्मक शरीर-रचनाका है। सच्ची बात तो यह है कि इसी बातने डार्विनको भ्रममें डाला और एक बार भ्रमको सत्य मान लेनेपर बहुत-से कल्पित प्रमाण एकत्र कर लिये गये। बन्दर, वनमानुष, जावाके जंगली मनुष्य, हब्शी और यूरोपियन—इन आकृतियोंमें कुछ समता है। ऐसे ही चमगीदड़ पशु एवं पक्षियोंके बीचका है। उड़नेवाली गिलहरी, तेंदुआ सब ऐसे ही प्राणी हैं। ऐसी ही समानता विकासवादी लेते हैं। गाय, घोड़ा, हिरन, गधा, हाथी, ऊँट—ये सब खुरवाले पशु हैं। इस प्रकार मनुष्यसे कीड़ोंतक आकृतियोंमें कुछ-न-कुछ समताका क्रम मिल जाता है और जहाँ नहीं मिलता, वहाँ मान लिया जाता है कि सन्धि-योनियोंके प्राणी पृथ्वीपरसे नष्ट हो गये।

यह तो ठीक है कि आकृतियोंमें समताका तारतम्य है; परंतु क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ये जीव एक दूसरेके विकसित रूप हैं ? अन्ततः यह विकास क्यों हुआ ? किस पद्धतिपर हुआ ? वैज्ञानिक कहते हैं कि विकासका कारण परिस्थिति है। जैसे पानीमें लकड़ी तैरती थी। उसपर कीड़े थे। उन कीड़ोंको खानेके लिये जो मछलियाँ कूदने लगीं, वे धीरे-धीरे मेढक हो गयीं। जो मेढक वृक्षपर कीड़े पकड़नेका प्रयत्न करने लगे, वे आगे जाकर गिलहरी बन गये। आकृतियोंके इस परिवर्तन-सिद्धान्तकी आलोचना तो पीछे करेंगे; पहले यह देखिये कि क्या यह सम्भव है ?

आज सहस्रों वर्षोंका इतिहास प्राप्त है—इतने वर्षोंमें एक भी वैज्ञानिक-प्रयोगशाला लाख सिर मारकर भी एक मेढक-को गिलहरी या एक मछलीको मेढक न बना सकी। इन जीवोंमें थोड़ा भी परिवर्तन नहीं हुआ। ब्रिटेनके दो प्रसिद्ध भेड़ पालनेवालोंमेंसे एकने निश्चय किया कि वे अपनी भेड़ोंको हाथीके बराबर बनायेंगे और दूसरे भेड़ोंको चूहोंके बराबर बनानेमें लगे। वैज्ञानिकोंकी सलाहें ली गयीं। सहस्रों पाउण्ड व्यय हुए। वर्षोंके परिश्रमके पश्चात् ज्ञात हुआ कि कुछ इंच भेड़ें बढ़ीं और घटी हैं तथा आगे घटना और बढ़ना बंद हो गया है। आकार भी घटाया-बढ़ाया न जा सका तो भेड़से ऊँट या चूहा बननेकी तो बात ही दूर। भेड़ोंने सिद्ध कर दिया कि वे अपने समान चरनेवाली बकरी भी नहीं बनना चाहतीं।

एक टेढ़ा प्रश्न और है—जो सन्धियोनियाँ मिलती हैं, वे अबतक क्यों उसी प्रकार हैं? जब चमगीदड़ पशुसे पक्षी बन रहा था, तब क्यों उसके सब साथी सफल हो गये और वह अभी अधरमें लटक रहा है? क्यों जलके छोटे जीव अभी ज्यों-के-त्यों हैं? नालीमें पड़े अन्नके सड़नेपर पूँछवाले कीड़े आपने देखे होंगे, सभी देशोंमें ये इसी आकृति-के होते हैं। मूत्रके कीड़े भी सब कहीं एक-से होते हैं। किसी देशकी परिस्थिति इन्हें अपनी शीत या उष्णतासे दूसरा रूप नहीं दे पाती।

तुलनात्मक शरीर-रचनामें घोड़ा एक बड़ा भारी रोड़ा है। पुरुष घोड़ेके स्तनके चिह्न नहीं होते। उसके टाप होता है, खुर नहीं। बच्चा देते समय घोड़ीकी जिह्वा गिर जाती है। यह सब विशेषता उसमें कैसे आयी? फिर जो प्राणी घोड़ेसे आगे विकसित हुए, उनमें यह विशेषता क्यों नहीं आयी? अनावश्यक होनेसे जब पुरुष घोड़ेके स्तन-चिह्न लुप्त हो गये तो आगेके पुरुष प्राणियोंमें उनकी क्या आवश्यकता हो गयी? बकरीके गलस्तन, मनुष्यकी छठी अँगुली किस आवश्यकताके लिये विकसित होते हैं?

सच्ची बात तो यह है कि इस शरीररचनाके निरीक्षणमें ही दोष है। डार्विन स्वयं जब उत्तरी ध्रुवदेशमें गये तो वहाँके मनुष्योंको देखकर पहचान न सके कि ये पशु हैं या मनुष्य, किंतु वनमानुष उन्हें मनुष्यका पूर्वज लगा। ध्रुव-देशके वे अत्यन्त छोटे मनुष्य, चौदह इंच मोटे ओठोंवाले दक्षिणी अमेरिकाके हब्शी और एक अंगरेज, ये सब मनुष्य हैं, यद्यपि इनकी आकृतियोंमें बहुत अन्तर है। वनमानुषों (गुरिल्लों) की कोई-कोई जाति इससे भी कम अन्तर मनुष्याकृतिसे रखती है, पर वे मनुष्य नहीं हैं।

एक सिद्धान्त भारतीय 'समानप्रसवात्मिका जातिः'का है। जिन प्राणियोंके परस्पर संयोगसे सन्तति-परम्परा चल सके, उन्हें जाति कहना चाहिये। चाहे आकृतियाँ कितनी भी मिलें, परंतु गधे एवं घोड़ेके मेलसे उत्पन्न खच्चरकी जाति नहीं चलती। खच्चरी गर्भ धारण करते ही मर जाती है। खच्चरमें वीर्य होता ही नहीं। इसी प्रकार कलमी वृक्षोंके बीज या तो उगते नहीं या उगकर फल नहीं देते और फल देते भी हैं तो फल मूल बीजू वृक्ष-जैसा देते हैं।

आकृतियोंमें इतनी समानता क्यों है? इसका बड़ा सीधा उत्तर है कि यह समानता बतलाती है कि कोई सृष्टिकर्ता चेतनतत्त्व है और उसके मन है। वह मनोयोगसे सृष्टि-रचना करता है। मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि मनका स्वभाव है कि वह एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थको सहसा नहीं सोचने लगता। पहले पदार्थके किसी सादृश्यके आधारपर ही दूसरे पदार्थतक जाता है। मनके इसी धर्मके कारण हमारे जीवनकार्योंमें तारतम्य एवं सादृश्य होता है। सृष्टिकर्ताके मनका भी यही धर्म होना चाहिये। अतः एक जीव-सृष्टिसे दूसरे जीवकी सृष्टिमें उनके मनकी सादृश्यता ही लक्षित होती है।

तीसरा प्रमाण विकासवादियोंका लुप्त जन्तुओंके प्राप्त चिह्न हैं। विकासवादी इसीको सबसे पुष्ट आधार मानते हैं; पर वे स्वीकार करते हैं कि प्राप्त प्रमाण अभी अपर्याप्त हैं। पृथ्वीमें खोदनेपर जीवोंके बहुतसे अस्थिपंजर मिले हैं। 'चट्टानोंमें दबे जीवोंके चिह्न मिले हैं। प्रायः सभी संग्रहालयों (अजायबघरों) में इनका एक विभाग होता है। विकासवादी वैज्ञानिकोंकी यह कठिनाई स्वीकार करने योग्य है कि समूची पृथ्वी खोदी नहीं जा सकती। बहुत-से अस्थि-पंजर नष्ट हो जाते हैं। संयोगवश ही कोई प्राणी ऐसे स्थान-पर दबा रह जाता है, जहाँ सड़े-गले नहीं। ऐसे प्राणी समस्त पृथ्वीभरमें होंगे। अतः प्राप्त प्रमाण अत्यल्प हैं। इनमें भी केवल अस्थिवाले जीवोंके ही अवशेष मिलते हैं। जिनमें अस्थि नहीं है, वे तो सड़-गल जायँगे।

जो प्रमाण मिले हैं, उनमें देखा गया है कि भूमिके नीचेकी तहोंमें केवल छोटे जीवोंके चिह्न हैं। जैसे-जैसे ऊपरी तहें आती हैं, उन्नत (इसका अर्थ केवल बड़े) जीवोंके चिह्न मिलते हैं। मनुष्यके चिह्न तो सबसे ऊपरके

स्तरमें ही हैं। इसीलिये जीवोंका क्रमविकास पृथ्वीपर सिद्ध किया गया है। लेकिन वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पृथ्वीके एक स्तरको बननेमें कई शताब्दियाँ लगती हैं। एक स्तरके ऊपर जब दूसरा स्तर बनता है, तब नीचेके स्तरपर भार बढ़ जाता है। बहुत नीचेके स्तर भारकी अधिकतासे टूटकर एक हो गये हैं। ऐसी दशामें यह स्वतः सिद्ध है कि जो स्तर जितने नीचे हैं, उनको उतना अधिक काल व्यतीत हुआ है। हड्डी भी दीर्घकालमें मिट्टी बन जाती है, यह सब जानते हैं। अधिक भारसे बड़े अस्थिपंजर दब जायँगे और पत्थरोंकी संनिधियोंमें बचे छोटे जीवोंके अवशेष ज्यों-के-त्यों रहेंगे, यह स्वाभाविक है। इस प्रकार पहले छोटे ही प्राणी थे, यह नहीं कहा जा सकता।

अस्थिपंजरोंका पहचानना और भी टेढ़ा है। गधे, टट्टू और जुराबके पंजर पास-पास हों तो उनको कैसे पहचाना जाय? यदि पृथ्वीसे सब शेर नष्ट हो गये होते तो उनके अस्थिपंजर देखकर वैज्ञानिक यही तो कहते कि किसी समय बिल्लियाँ गधेके बराबर होती थीं। प्राप्त अस्थिपंजरों (फॉसिलों) से भी कुछ सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्धका लंदनका संग्रहालय विश्वमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और उसके अध्यक्षसे यह तो आशा करनी ही चाहिये कि वह विश्वके दूसरे संग्रहालयोंकी विशेषताओंसे परिचित होगा। वह ब्रिटिश संग्रहालयका अध्यक्ष डाक्टर एथिज कहता है—'इस ब्रिटिश म्यूजियममें एक कण भी ऐसा नहीं, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियोंमें परिवर्तन होता है। विकास-सम्बन्धी दसमें नौ बातें व्यर्थ और सारहीन हैं। इनके परीक्षणोंका आधार सत्यता और निरीक्षणपर सर्वथा अवलम्बित नहीं है; पूरे विश्वमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो विकास-सिद्धान्तकी पुष्टि करती हो।'

अगस्त सन् १९२३ के 'थियासॉफिकल पाथ' पत्रमें एक समाचार निकला है—'जॉन टी० रीडको नेवाड़ामें एक आदमीके पद-चिह्न और अच्छी प्रकार बने हुए जूतेका एक तला प्राप्त हुआ है। इसमें सिलाई, धागोंके मरोड़, सीनेके छेद, धागोंके माप जो मिले हैं, वे आजकलके बने अच्छे-से-अच्छे जूतेसे पक्के और सूक्ष्म हैं। चट्टानविषयक भूगर्भ-विद्यासम्बन्धी ज्ञानके अनुसार इस जूतेके तलेको पचास लाख वर्ष पुराना समझा जाता है।' इसका अर्थ हुआ कि पचास लाख वर्ष पूर्व मनुष्य इतना सभ्य था कि आजकी अपेक्षा अच्छे जूते बनाकर पहनता था। तब मनुष्यका विकास कब हुआ? विकासवादके अनुसार पृथ्वीकी आयु बहुत छोटी है, यह स्मरण रखना चाहिये।

चौथा प्रमाण विकासवादियोंका गर्भका विकास-क्रम है। मनुष्य सर्वाधिक विकसित प्राणी है; अतएव मानव-शिशु गर्भमें उन सब अवस्थाओंमें दिखलायी पड़ता है, जिन योनियोंमें विकसित होते हुए वह मनुष्य-शरीरमें आया है। विभिन्न समयोंके गर्भस्थ शिशुओंके नमूने सुरक्षित रक्खे गये हैं। इस सम्बन्धमें वैज्ञानिक कहते हैं कि जिस नियमसे प्राणीका विकास हुआ है, वही नियम गर्भका भी है।

इस प्रमाणके सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिये कि लुप्त जन्तुओंके शरीरोंकी भाँति इसमें मध्यकी कड़ियोंके न मिलनेके कारण नहीं हैं। गर्भको पूरा-पूरा विकास-क्रम दिखलाना चाहिये; परंतु ऐसा होता नहीं है। विवश होकर विकासवादी कहते हैं कि गर्भशास्त्रके विकास-क्रममें भी अध्याय-के-अध्याय लुप्त हैं अर्थात् मध्यकी बहुत-सी आकृतियाँ गर्भमें नहीं मिलतीं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर नहीं है। उदाहरणके लिये मुर्गीको वे सर्पणशीलोंसे पक्षी हुआ मानते हैं; किंतु गर्भमें मुर्गीके सर्पणशीलोंके दाँत नहीं दिखायी पड़ते। चमगीदड़का पशुओंसे पक्षी होना बताया जाता है, क्योंकि उसके स्तन हैं; किंतु चमगीदड़के गर्भमें भी पशुओंके पूरे चिह्न नहीं हैं। मनुष्य पक्षीसे इस योनिमें आया है। मानव-गर्भ मछली, मेढक, पक्षी, बंदर, वनमानुषका रूप बताया जाता है; किंतु मनुष्यगर्भमें चोंच तथा डैने कभी स्पष्ट नहीं होते।

बात यह है कि कोई भी बच्चा सहसा नहीं बन जायगा। पिण्डके बननेमें अवयव क्रमशः प्रकट एवं स्पष्ट होंगे। अपुष्ट तथा अप्रकट अवयवोंमें मनमानी कल्पना कर लेना एक बात है और सचमुच गर्भका वैसा प्राणी होना दूसरी बात। बच्चे बादलोंमें घोड़े, हाथी, ऊँटकी आकृतिकी कल्पना करते हैं। गर्भके सम्बन्धमें भी ऐसी ही कल्पना विकासवादी करते हैं। नहीं तो मनुष्यका गर्भस्थ शिशु न तो एक बार भी मछली या मेढकके समान गलफड़ोंसे श्वास लेता पाया गया है और न उसमें पक्षियोंके पक्षके लक्षण आते हैं; यही दशा सभी प्राणियोंके गर्भकी है।

पाँचवाँ प्रमाण विकासवादी भौगोलिक शास्त्रको बतलाते हैं। कम-से-कम इस शास्त्रको उन्होंने क्यों प्रमाण माना, यह समझमें आना कठिन है। क्योंकि इसके सम्बन्धमें वे स्वयं जो कुछ कहते हैं, वह उनका खण्डन करता है, समर्थन नहीं

करता। वैज्ञानिकोंका कहना है कि संसारके सभी स्थानोंमें एक प्रकारके प्राणी नहीं हैं। जहाँकी जैसी परिस्थिति है, वहाँ वैसे प्राणी हैं। जैसे हिमप्रान्तके प्राणी उष्ण देशोंमें नहीं हैं। बात तो ठीक है, पर वे चाहते क्या हैं? क्या वे चाहते हैं कि मछलियोंको घासके मैदानोंमें टहलना चाहिये और ऊँटको समुद्रमें डुबकी लेते मिलना चाहिये? जिस प्राणीके स्वभाव, आकृति, आहारके अनुरूप जो स्थान है, वह वहाँ पाया जाता है।

विकासवादी ही कहते हैं कि यूरोपियनोंके जानेसे पूर्व आस्ट्रेलियामें शशक नहीं थे, यद्यपि उनके रहने योग्य वहाँ परिस्थिति थी। जब वे वहाँ लाकर छोड़े गये तो खूब बढ़ गये। ऐसे उदाहरण बहुत-से प्राणियोंके सम्बन्धमें मिल सकते हैं। इन उदाहरणोंका तो यही अर्थ हुआ कि परिस्थिति अनुकूल होनेपर भी प्राणियोंका स्वतः विकास नहीं होता। उनका बीज तो लाना पड़ता है। भारतका मयूर दूसरे स्थानोंपर कम पहुँचा है, अतः उसकी सन्तति भी अन्यत्र कम है। स्वयं वह कहीं किसी पक्षीसे विकसित नहीं हो गया।

इस प्रकार विकासवाद जिन पाँच प्रमाणोंपर निर्मित हुआ है, उनमेंसे पाँचों ही प्रमाण मानने योग्य नहीं हैं। उनमेंसे एक भी प्रमाण ऐसा नहीं है, जिससे विकासवाद सिद्ध होता हो। प्रमाणोंको छोड़कर विकासवादके सिद्धान्तों एवं नियमोंकी आलोचना भी कर लेनी चाहिये। विकासवादी कहते हैं—'पृथ्वी धीरे-धीरे शीतल हो रही है। पहले यह एक धधकते गैस (वायव्य अग्नि)-गोलकके रूपमें थी। धीरे-धीरे शीतल हुई और तब क्रमशः जल एवं भूमि प्रकट हुए। बहुत समय पश्चात् जलमें जीवन-बीज प्रकट हुआ। यह जीवन-बीज क्यों और कहाँसे आया, इसका उत्तर वे दे नहीं पाते, परंतु इतना मानते हैं कि वह पाञ्चभौतिक तत्त्वसे ही किसी प्रकार बना। पहले जीवन-बीज एक कोष्ठका था। धीरे-धीरे उसीसे वनस्पति एवं प्राणिजगत्‌का विकास हुआ।

विकास सदा यन्त्रकी भाँति होता है। आरम्भिक शरीर सीधे सरल थे, वे क्रमशः जटिल होते गये। विकासकी प्रवृत्ति प्रकृतिके संघर्षोंमें जीवन-रक्षा एवं भोजन-प्राप्तिकी आवश्यकताके कारण हुई। जैसे तैरती लकड़ीपर कीड़े पकड़नेका प्रयत्न करते-करते मछलियाँ क्रमशः मेढक हो गयीं। प्रकृतिके संघर्षमें जो प्राणी अपनेको अनुकूल बना पाते हैं, वे बच रहते हैं और शेष नष्ट हो जाते हैं। प्रकृतिमें सदा योग्यकी रक्षा एवं अयोग्यके विनाशकी प्रवृत्ति है। वे विशेषताएँ जो एक जीवमें उसके प्रयत्नसे आती हैं, उसकी सन्तानमें भी आ जाती हैं। इस प्रकार सन्ततिक्रमके द्वारा विशेषताएँ बढ़ती जाती हैं और वह एक नवीन आकृति बना देती है। साथ ही जो जीव अपने जिस अङ्गसे काम लेना बंद कर देते हैं, वे अङ्ग धीरे-धीरे असमर्थ होकर लुप्त हो जाते हैं।'

विकासवादके सिद्धान्तोंकी आलोचना

विकासवादके सिद्धान्त ऊपर संक्षेपमें दिये जा चुके। पृथ्वी क्रमशः शीतल हुई और होती जा रही है, यह बात ही प्रथम विश्वसनीय नहीं है। सब जानते हैं कि शीत देशोंके पुरुष लंबे होते हैं और उष्ण देशोंके ठिंगने होते हैं। यदि पृथ्वी क्रमशः शीतल हो रही है तो सभी देशोंके मनुष्योंकी लंबाई अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा बढ़नी चाहिये। प्रत्यक्ष तथा मिले कंकालोंपरसे यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि सभी देशोंमें मनुष्यकी लंबाई घटी है और बराबर घटती जा रही है।

जीवन-बीज पृथ्वी, जल आदिसे ही बना—यह कल्पना ही है। प्रत्यक्ष सत्य तो यह है कि नदीमें रेत निकलनेपर, समुद्रमें नवीन टापू प्रकट होनेपर तबतक वहाँ कोई पेड़, तृण या जीव नहीं हो पाते, जबतक उनके बीज बाहरसे वहाँ न पहुँचें। यद्यपि बीजके बढ़नेके, पोषणके योग्य वहाँ परिस्थिति होती है, तथापि बीज स्वयं वहाँ उत्पन्न नहीं होता। यही बात शरीरोंके सरल एवं क्रमशः जटिल होनेके सम्बन्धमें है। अमीबाको प्रारम्भिक एक कोष्ठक जीव कहा जाता है। वह सरेस या गोंदके एक बिन्दुके समान है। वह चाहे जहाँसे अपने शरीरमें छिद्र करके अपना भोजन ग्रहण कर लेता है। शरीरमें चाहे जहाँ छिद्र होनेपर भी उसके भीतरका द्रव बहता नहीं। वह भोजन पचाता है, अपना भोजन पहचानता है और उसीको लेनेमें प्रवृत्त होता है, मल-त्याग करता है। अब उसके शरीरकी रचनाको सरल कहना केवल धृष्टता नहीं तो क्या है? मनुष्यके पश्चात् सबसे बुद्धिमान् प्राणी चींटी है; किंतु उसके मस्तिष्कमें क्या है? उस रचनाको तो अभी समझना ही कठिन है। अतएव किसी प्राणीके शरीरकी रचना जटिल और किसीकी सरल है, यह बालकों-जैसी कल्पना है। सभी प्राणी आहार पहचानते, ग्रहण करते, पचाते, मल त्यागते तथा सन्तानोत्पादन करते हैं, सब भयका अनुभव करते और आत्मरक्षाका प्रयत्न करते हैं। इन

कार्योंके योग्य यन्त्र सबमें हैं। अतः सबकी रचना एक-सी जटिल है।

आहारके अन्वेषण तथा जीवन-रक्षाके प्रयत्नके अनुसार आकृतियोंमें परिवर्तन हुए। आवश्यक अङ्ग, जिनसे काम लिया गया, बढ़ गये और अनावश्यक अङ्ग क्षीण हो गये, यह बात भी सत्य नहीं है। जिन प्राणियोंमें हड्डी नहीं थी, उनमें हड्डी कैसे बनी? इसका कोई उत्तर विकासवादियोंके पास नहीं है। वे कहते हैं कि जैसे हाथमें कार्य करनेसे घट्ठे पड़ते हैं, वैसे ही कोई नस कठोर हो गयी होगी या हड्डी बनानेवाली वस्तुएँ खानेसे हड्डी बनी होगी। इन दोनों ही बातोंमें तथ्य नहीं है। घट्ठे शरीरके बाहर पड़ते हैं और वे कभी इस रूपमें नहीं आते कि उन्हें हड्डीका पूर्वरूप कहा जा सके। उनमें सदा चर्म ही रहता है, चाहे वह कितना भी कड़ा हो जाय। दाँत स्पष्ट बतलाते हैं कि वे स्नायुसे नहीं बने हैं। वे नसके अङ्ग होते तो गिर न सकते। नसमें चूनेका वह अंश ही नहीं, जिससे हड्डी बनती है। जोंक, खटमल, जूँ—ये मनुष्य एवं पशुओंके अस्थि बनानेवाले रक्तसे ही जीवित रहते हैं, परंतु इनमें अस्थिका नामतक नहीं, अतः अस्थि बनानेवाले भोजनसे अस्थि स्वतः बन गयी। यह बात भी ठीक नहीं।

अस्थि, मान लीजिये, किसी प्रकार बन गयी; पर उसमें परिवर्तन कैसे होता है? क्योंकि अस्थिवाले प्राणियोंकी आकृतिमें परिवर्तन तो अस्थिमें परिवर्तन हुए बिना हो नहीं सकता। भोजनकी आवश्यकता या आत्मरक्षाकी आवश्यकताका अनुभव मनको होता है। अस्थिपर मनका कोई नियन्त्रण नहीं है। दाँतोंमें छिद्र करनेसे कष्टका अनुभव नहीं होता। टूटी हड्डी जब शरीरसे बाहर आती है, डाक्टरकी रेतीके चलनेपर भी कष्ट नहीं होता। जब मनका अस्थिपर कोई नियन्त्रण ही नहीं है तो मनके द्वारा अनुभूत आवश्यकतासे अस्थिमें परिवर्तन कैसे सम्भव है।

दूसरी बात यह है कि आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन होते तो कहीं देखा नहीं जाता। भारतमें, अफ्रिकामें रीछ भी हैं और भैंस भी हैं। गाय और भैंसें साथ-साथ रहती हैं। भैंसको गर्मी और शीत दोनोंमें कष्ट होता है, परंतु आवश्यकता उसके शरीरपर गाय-जैसा मोटा बालयुक्त चमड़ा न बना सकी। साइबेरियाके मनुष्योंके शरीरपर भी रीछ-जैसे बाल नहीं उगे। उन बेचारे एस्किमो लोगोंको मछलीका चमड़ा पहनना पड़ता है। इस प्रकार कहीं भी आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन देखनेमें आता नहीं।

निरन्तरके अभ्याससे यदि कोई अङ्ग घट जाता होता तो आर्य अपने बच्चोंका सहस्रों वर्षोंसे कर्णवेध करते हैं; किंतु एक-भी बच्चा जन्मसे कानोंमें छिद्र लेकर नहीं उत्पन्न हुआ। चीनी स्त्रियोंके युगोंके प्रयत्नसे भी उनके पैर छोटे नहीं उत्पन्न होते। मनुष्य पक्षियोंसे उत्पन्न हुआ बताया जाता है। उसने उड़नेके लिये विमान बनाया। भला, क्या पक्ष भी ऐसी वस्तु थी जो व्यर्थ हो जाय। फिर पक्षका लोप क्यों हुआ? कहा जाता है कि मयूरके पक्ष काम न लेनेसे दुर्बल हो गये; परंतु अभी भी उसे कुत्ते, शृगालसे भय है। अतः पक्षकी आवश्यकता गयी तो नहीं थी। कोई मनुष्य नहीं चाहता कि उसके बाल पक जायँ, उसके दाँत गिर जायँ। वह दाँतोंसे काम भी लेता ही है। इतनेपर भी बाल पक जाते हैं। दाँत गिर जाते हैं।

प्रकृतिमें योग्य ही टिक पाते हैं और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं—यह बात जितनी मिथ्या है, उतनी ही भयङ्कर भी। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक जाति अहङ्कारवश अपनेको सर्वश्रेष्ठ मान लेती है और कल्पना कर लेती है कि शेष समस्त विश्व उसीके उपभोगके लिये है, उसे अपनी उन्नतिके लिये दूसरोंको नष्ट करनेका नैतिक अधिकार है। जर्मनी-जापानादिने इस धारणाका खुला प्रचार किया था। यह सिद्धान्त स्थिर करनेवाले यह नहीं देखते कि जिस अमीबाको वे निकृष्टतम प्राणी कहते हैं, वह विश्वमें दूसरे सब जीवोंसे अधिक हैं और उन्नततम मनुष्यकी संख्या किसी भी जातिके कीड़ेसे कम है। यदि प्रकृतिमें उन्नत जीवोंको ही रखनेकी प्रवृत्ति होती तो एक भी कीट आदि न होता।

विशेष संस्कार सन्ततिमें आते हैं, यह सिद्धान्त बहुत थोड़ी दूरतक ही ठीक है। नियम तो यह है कि जिस प्राणीका जो स्वभाव है, वही उसकी सन्तानमें आता है। यदि कोई प्राणी कोई अतिरिक्त विशेषता उत्पन्न कर ले तो सन्तानमें वह अतिरिक्त विशेषता नहीं आती। जो बहुत विद्वान् हैं, उनके पुत्र प्रतिभाशाली ही हों, यह आवश्यक नहीं। बकरीके गलस्तन तथा मनुष्यकी छठी अँगुली सन्तानमें नहीं आती। इसी प्रकार कर्णवेधका छिद्र, खतनेका चिह्न, छोटे किये गये पैर भी सन्ततिमें नहीं आते। कृत्रिम रीतिसे जो विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं, उनका प्रयत्न भी स्वाभाविकताकी ओर ही जानेका है। यदि बगीचेके कलमी वृक्षोंकी सम्हाल न रक्खी जाय तो थोड़े दिनोंमें वे बीजू हो जाते हैं। सिंह तथा बाघके योगसे सन्तान होती है; किंतु

जब उस मिश्रित सन्तानसे सन्तान पैदा करायी जाती है तो बच्चा सिंह या बाघ हो जाता है। इस प्रकार नवीन प्राणी बनाया नहीं जा पाता।

विकासवादके समर्थक कहते हैं कि 'मनुष्य स्त्रियोंके कई बच्चे होते हैं, उनमें कहीं-कहीं छःसे आठतक स्तन देखे गये हैं; इससे सिद्ध है कि मनुष्य पशुओंसे विकसित हुआ है।' मनुष्योंमें तो और भी विशेषताएँ हैं, वह भेड़ियेकी माँदमें पाले जानेपर बिलमें रह सकता है और कच्चे मांस खा सकता है। मृगोंद्वारा पाले जानेपर चालीस मील प्रतिघंटेकी गतिसे छलाँग भरता भी देखा गया है; किंतु ये सब विशेषताएँ तो उसे बन्दरके बाद मनुष्य होनेपर मिली हैं न? बन्दर भी तो मनुष्यके समान ही निम्न योनियोंसे विकसित हुआ है। मनुष्यसे छोटा होनेपर भी दूसरी योनियोंसे तो बड़ा है ही। बन्दरियाके दोसे अधिक स्तन क्यों कभी देखे नहीं जाते? क्यों बन्दरिया चार-छः बच्चे कभी नहीं देती? बन्दरको भी आप भेड़ियेकी माँदमें पाल सकेंगे क्या?

विकासवादी भी मानते हैं कि कुछ स्थिर जातियाँ हैं। सृष्टिके आरम्भसे अबतक उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर नहीं है। क्यों अमीबा जीवित रहा और उससे अधिक योग्य प्राणियोंकी जातियाँ नष्ट हो गयीं? इसका भी उत्तर नहीं है। जन-संख्याके अनुसार विश्वमें बहुत लंबे और बहुत ठिंगने व्यक्ति थोड़े ही हैं। इनमें मध्यम कदके ही अधिक हैं। ऐसा क्यों है? यह भी समाधानहीन प्रश्न है। वैज्ञानिक यह जानते हैं कि मेढक, मछली, सर्प—इन सबकी आयु बहुत अधिक है; परंतु मनुष्य, पशु तथा पक्षियोंकी आयु उनके सम्मुख अत्यल्प है। इस प्रकार आयुकी दृष्टिसे ह्रास हुआ है। भोजनकी दृष्टिसे भी सर्प, मछलीका आहार कम है। वे निराहार भी पर्याप्त समयतक रह सकते हैं। मेढक महीनों बिना भोजनके रह सकता है। पशु एवं पक्षियोंमें भोजनकी आवश्यकता बढ़ गयी। यहाँ भी असुविधा ही बढ़ी। इस प्रकार किसी भी रीतिसे विकासवादका कोई सिद्धान्त ठीक नहीं सिद्ध होता।

मद्रास हाईकोर्टके जज श्री टी० एल्० स्ट्रैंजने लिखा है—'जलकृमियोंमें भिन्न-भिन्न स्वरूपके जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं। उनके लिये एक दूसरे जन्तुसे विकृत होकर उत्पन्न होना आवश्यक नहीं। एक-दूसरेसे अपेक्षारहित होकर एक ही समय वे अलग-अलग आकारके उत्पन्न होते हैं।

प्रोफेसर गेडिसका कहना है—'यह मान लेना चाहिये कि मनुष्यके विकासके प्रमाण संदिग्ध हैं और उनके लिये विज्ञानमें अब कोई स्थान नहीं है।' यह एक व्यक्तिकी बात नहीं है। अमेरिकाकी कई रियासतोंने डार्विनकी शिक्षाको अनियमित घोषित कर दिया है। वहाँ विकासवादकी चर्चा अपराध है। एक अमेरिकन जजने प्रोफेसर जॉन स्कोप्सपर एक सौ डालर जुर्माना करते हुए फैसलेमें लिखा था—'अभियुक्तने शिक्षा दी कि मनुष्य छोटे-छोटे पशुओंका विकसित रूप है।' सिडनी कॉलेटका कहना है कि 'विज्ञान स्पष्ट कहता है कि मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके बदले उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है। मनुष्यकी आरम्भिक दशा उत्तम थी।'

न्यूटनका सिद्धान्त है कि गतिको रोकनेके लिये शक्तिकी आवश्यकता है, बनाये रखनेके लिये शक्तिकी आवश्यकता नहीं है। गति और उष्णता एक ही तत्त्वके रूप हैं, आज यह सिद्ध हो चुका है। पृथ्वी जब वायुहीन स्थानमें अग्निका गोला थी तो शीतल कैसे हुई? वायुहीन बोतलमेंका गरम पानी आज शीतल नहीं होता और होता भी है तो इसलिये कि बोतलपर बाहरी वायुका प्रभाव पड़ रहा है। पृथ्वी जब अग्निगोलक थी, तब तो वायु थी ही नहीं। अतः उस समय उसमें शीतलता आना सम्भव ही नहीं।

विकासवादियोंमें हक्सलेने कहा था कि प्राचीन समयमें भारतीय भी विकास मानते थे। कुछ वैज्ञानिक अवतारोंके क्रमको विकासवादका पोषक बतलाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भारतका नाम लेकर वे अपनी भ्रान्त धारणाका अनुचित ढंगसे पोषण करना चाहते हैं। वे जानते हैं कि जब मत्स्य-कच्छपादि अवतार हुए, तब सृष्टिमें सभी प्राणी विद्यमान थे। वे अवतार प्राणियोंका विकास करनेके लिये नहीं हुए। उनके अवतारका प्रयोजन ही दूसरा था।

आकृतियोंमें परिवर्तन होता है और परिस्थितिका प्रभाव भी उनपर पड़ता है, यह सिद्धान्त सत्य है। परंतु इस परिवर्तनका यह अर्थ नहीं कि गधा बिच्छू बनने जा रहा है, आपके घरके सामनेका वृक्ष किसी दिन सर्दी या गर्मी या कोई विशेष खाद पाकर भेड़ बनकर भाग जायगा या आपकी गो-माता सिंहिनी बनकर आक्रमण करनेके उद्योगमें है। आप चाहे तोतेको पिंजड़ेमें डालकर बंदी ही बना दें, परंतु इस परिस्थितिसे वह सर्प बनकर सरक निकलेगा और आपको डँस लेगा, ऐसा भय करनेकी आवश्यकता नहीं।

आकृतिमें परिवर्तनकी एक सीमा है । उस सीमाके पश्चात् आकृतिमें परिवर्तन नहीं होता । जातिका लक्षण है समान प्रसव, आयु और भोग । परिस्थिति जाति नहीं बदल देगी । मनुष्यकी, पशुका, एक जातिका सजातीयमें सन्तानोत्पादनकी शक्ति, उस सन्तानसे सन्तति-परम्परा चलना, उसकी आयुकी सीमा और उसका स्वाभाविक आहार, यह परिस्थिति नहीं बदल सकती ।

जब अंग्रेज अमेरिका गये थे, उस समयका उनका चित्र, आजके अमेरिकनका चित्र और अमेरिकाके एक रेडइण्डियनका चित्र लेकर देखिये । आजके अमेरिकनकी आकृति रेडइण्डियनसे अधिक मिलती है । 'इसका अर्थ है कि उसकी आकृतिमें उस देशकी जल-वायुके अनुसार परिवर्तन हो रहा है; किंतु रेडइण्डियनकी आकृति ज्यों-की-त्यों है । उसमें परिवर्तन पूरा हो चुका । इसी प्रकार एक ही मनुष्यजाति स्थानके प्रभावसे हब्शी, चीनी, यूरोपियन, ध्रुवीय देशके बौने—इन विभिन्न आकृतियोंमें परिस्थितिके कारण परिवर्तित हुई है । परिस्थिति इतना ही परिवर्तन कर सकती है । पर सब कहीं मनुष्य मनुष्य ही है । वह न तो सैकड़ों वर्ष जीनेवाला सर्प बना और न कुल आठ-दस वर्ष जीनेवाला पक्षी । किसी भी दो जातिके मनुष्योंसे सन्तान-क्रम चल सकता है । प्रत्येक मनुष्य फलोंको रुचिपूर्वक खाता है ।

'परिस्थितिजन्य परिवर्तन यदि जाति नहीं बदल सकता और एक जीवसे दूसरा जीव क्रमशः विकसित होकर नहीं बना, तो इतने जीव सृष्टिके आदिमें एक साथ कैसे बन गये ?' इसी प्रश्नको न सुलझा पानेके कारण डार्विन विकासवादके भ्रममें पड़ा । भारतीय शास्त्र कहते हैं कि 'पृथ्वी जलसे प्रकट हुई । पृथ्वीतत्त्व जलका परिणाम है । अतएव इसके क्रमशः शीतल होनेका प्रश्न ही नहीं है । यदि यह गोला थी तो जलका थी । आजतक भी समुद्रोंसे नवीन-नवीन द्वीपोंके निकलनेके समाचार आते ही रहते हैं । जैसे आज समुद्रसे नवीन द्वीप प्रकट होते हैं, वैसे ही आदिसृष्टिमें भी जलसे पृथ्वी प्रकट हुई । आज जैसे बरसातमें बीरबहूटी, केंचुए प्रकट हो जाते हैं, जैसे मेढकको सुखाकर चूर्ण बनाकर रख लें और वर्षाके समय जलमें फेंकें तो तुरंत सैकड़ों छोटे मेंढक कूदने लगते हैं, जैसे आज भी जलमें नित्य सैकड़ों नवीन प्रकारके कृमि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सृष्टिके आदिमें भी सब जीव एक साथ उत्पन्न हो गये ।

जीवोंके उत्पन्न होनेके दो क्रम संसारमें स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं । एक तो सन्तति-परम्परासे और दूसरे उस जीवके शरीरांशसे । मेढक, बीरबहूटी, केंचुए ये सब बच्चे उत्पन्न करते हैं । इनमेंसे कोई भी वर्षाके प्रारम्भमें मिट्टीसे भी उत्पन्न हो सकता है; किंतु मेढक वहीं उत्पन्न होगा, जहाँ मेढकके शरीरका अंश हो । बीरबहूटी एवं केंचुए भी अपने शरीरांशसे ही उत्पन्न होंगे, चाहे वह शरीरांश सूखकर मिट्टीमें चूर्णित क्यों न हो गया हो । सब मिट्टी केंचुआ, बीरबहूटी या मेढक नहीं बन सकती । इसका अर्थ है कि सृष्टिके आदिमें बहुतसे जीव उत्पन्न तो हो सकते हैं, किंतु उनके जीवन-बीज होने चाहिये । जीवन-बीजकी खोजमें जानेपर पहले बीज या पहले वृक्षका प्रश्न आता है । सृष्टिकी अनादि-परम्परा माने बिना छुटकारा नहीं ।

'मान लें कि सृष्टि अनादि है; किंतु जब सर्वप्रथम पृथ्वी प्रलयके पश्चात् प्रकट हुई, तब जीवन-बीज कहाँसे आये ! पृथ्वीमें तो प्रलयके समय नष्ट हो गये थे । जब पृथ्वी जलात्मक या उससे पूर्व आग्नेय थी, तब वहाँ जीवन किसी प्रकार सम्भव नहीं था । जब जीवन ही नहीं था तब जीवन-बीज कैसा । उससे पूर्व-सृष्टिका जीवन-बीज रक्षित रह सकता है, बिना इसे माने कोई मार्ग नहीं । क्योंकि विश्वमें परिस्थिति जीवन उत्पन्न नहीं करती, यह स्पष्ट हो चुका है । पूर्व-सृष्टिके जीवन-बीज रक्षित थे तो कहाँ थे ? क्यों रक्षित थे ?' इनका अन्वेषण करनेपर आपको एक सृष्टिकर्ता चेतनकी सत्ता स्वीकार करनी होगी और मानना पड़ेगा कि समस्त जीवन-बीज उसीके समीप सुरक्षित थे ।

जीवनकी एक प्रकारकी विजातीय-सी उत्पत्ति हम संसारमें और देखते हैं । जुएँ, खटमल, नालीमें अन्नके कीड़े इसके उदाहरण हैं । ये स्वयं सन्तान उत्पन्न करते हैं और बिना आदि बीजके मनुष्यके पसीने और नालीके सड़े अन्नसे उत्पन्न हो जाते हैं । नालीमें जब अन्न सड़ता है और पूँछवाले कीड़े उत्पन्न होते हैं, तब न तो वहाँ उनको उत्पन्न करनेवाला कोई कीड़ा पहलेसे होता और न किसी कीड़ेके शरीरका अंश । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अन्नमें ही उनको उत्पन्न करनेका बीज था । अन्नसे ही मनुष्य-शरीर बना है । अतएव एक ही अन्नका परिपाक दो रूपोंमें सम्भव है । मनुष्यके स्वेदसे खाटमें खटमल तथा बालों और कपड़ोंमें जुएँ उत्पन्न होते हैं । स्वेदमें परिस्थिति-भेदसे दो जीव उत्पन्न हुए, इसका भी यही अर्थ है कि दोनोंके बीज स्वेदमें थे । स्वेद मनुष्यका है, अतः मनुष्यमें ही

खटमल एवं जूँके मूल बीज रहते हैं, यह मानना पड़ेगा।

यह ध्यान रखनेकी बात है कि एक बार जूँ बननेपर वह फिर खटमल नहीं बन सकता और खटमल जूँ नही बन सकता। स्वेदसे उत्पन्न होनेपर भी दोनोंकी जातियाँ पृथक् हैं। वे आगे अपनी ही जातिकी सन्तानें उत्पन्न करती हैं। दूसरी बात यह कि कहीं भी जीवका निर्माण जडसे नहीं होता। मिट्टी, पानी, पत्थरमेंसे कोई जीवन कभी प्रकट नहीं होगा। जड पदार्थ केवल जीवनका पोषण करते हैं। जीवनका उद्भव तो सदा चेतन या चेतनके शरीरांशसे होगा। खटमल आदि मनुष्यके पसीनेसे ही हो सकते हैं, वर्षामें खेतोंमे सफेद छत्रक (कुकुरमुत्ते) खेतोंमें भूमिसे निकल पड़ते हैं। खोज करनेपर यह सिद्ध हो गया है कि वे भूमिसे नही निकलते। किसी लकड़ीका अंश, पत्तोंकी सड़ी खाद, गोबर या किसी प्राणीके मिट्टीप्राय शरीरांशसे ही वे निकलते हैं। विकासवादी भी वृक्षादिको जीवन-सृष्टिमें ही मानते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि एक ही जीवनयुक्त शरीरमें अनेक प्राणियोंके जीवन-बीज हो सकते हैं। परिस्थितिविशेषमें वे प्रकट हो जाते हैं। प्रकट होनेके पश्चात् वे अपनी ही जाति चलाते हैं। उनमें प्रकट होनेके अनन्तर कोई विकास नहीं होता।

जीवोंकी यह अपरिमित सृष्टि क्यों हुई? हिंदुओंमें तो चौरासी लक्ष योनियोंकी बात बच्चा-बच्चा जानता है। स्पेन्सरने वनस्पतिशास्त्रके अनुसार वनस्पतियोंके तीन लाख बीस हजार भेद बताये हैं और प्राणियोंके भेद उसने बीस लाख लिखे हैं। उसके पश्चात् खोजमें कई लाख योनियाँ और मिली हैं। लाखों प्राणिवर्ग सृष्टिसे लुप्त हो गये; अभी पता नहीं, कितने सूक्ष्म प्राणी, समुद्री जीव, जंगलों एवं बर्फीले स्थानों तथा भूमिके प्राणी अज्ञात होंगे। अतएव वैज्ञानिकोंको भी हिंदुओके प्राणिगणनाकी शङ्कामें अब सन्देह नहीं है। इतने प्राणी क्यों हो गये?

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'

—इस सिद्धान्तके अतिरिक्त इसका कोई उत्तर नहीं। पूर्व-जन्मके जैसे कर्म होते हैं, वे अपने परिणामस्वरूप जाति, आयु तथा भोग देते हैं। शास्त्र इन विविध योनियोंका यही कारण बतलाता है। प्रत्येक जीवकी गति, आयु एवं भोग निश्चित है। विभिन्न जातिके प्राणियोंसे नवीन प्राणी उत्पन्न करनेपर इसी कारण उसकी सन्तति-परम्परा नहीं चलती। क्योंकि किसी जीवका प्रारब्ध उस कृत्रिम जातिमें जानेका नहीं होता। कोई जीव उधर आकर्षित नहीं होता।

जिस प्रकार 'समानप्रसवात्मिका जातिः' का नियम निर्भ्रान्त है, वैसे ही जातिकी आयुका भी है। समान आयु एवं भोगको लेकर तो कृत्रिम प्राणी या पौधा बनाया भी जा सकता है; किंतु विषम आयु एवं भोग लेकर यह भी नहीं किया जा सकता। गधे एवं घोड़ेकी आयु समान है, दोनोंका आहार समान है, अतः उनसे खच्चर हो सकता है। घोड़ी और बैलसे कोई सन्तान नहीं उत्पन्न की जा सकती। ऐसी दशामें पशु एवं पक्षीके मेलसे तो सन्तान हो ही कैसे सकती है। वृक्षोंपर कलम बाँधनेवाले जानते हैं कि कलम सदा समानजीवी एकसे रसके पौधोंकी ही परस्पर बाँधी जा सकती है। दूधवाले पौधोंकी कलम बिना दूधवाले पौधोंपर नहीं लगेगी। इसी प्रकार जिस जातिके वृक्षकी आयु बहुत है, उसकी कलम कम वृक्षकी आयुके पेड़पर भी नहीं लग सकती।

किसी प्राणीके भोगमें भी व्याघात करनेपर वह टिकाऊ नहीं होता। जापानियोंने प्रयत्न करके मुर्गोंकी लंबी पूँछें बना डालीं। विचित्र कबूतर बनाये। लेकिन उनकी सन्तति वैसी नहीं होती। वह साधारण कबूतर-जैसी ही होती है। मि० लामार्कने चूहोंकी पूँछ काट-काटकर चाहा कि बिना पूँछके चूहे उत्पन्न हों; किंतु ऐसा हो नहीं सका। आजकल कुछ डेरी फार्मोंमें बछड़े और बछड़ियोंके सींग जड़से निकाल दिये जाते हैं, इससे बड़े होनेपर वे बैल या गौ बिना सींगके होते हैं। पर ऐसा नहीं होता कि बिना सींगकी गो-जाति पैदा हो गयी हो। सींग तो निकलते ही हैं, पीछे उन्हें काटा जाता है। किसी जातिका स्वाभाविक स्वरूप नष्ट करना शक्य नहीं है।

जीवोंकी जातियाँ, उनकी आयु, उनके भोग निश्चित हैं। उनमें कृत्रिम विशेषता लानेपर वह विशेषता आगे नहीं चलती। कृत्रिम प्राणियोंकी सन्ततिपरम्परा नहीं चलती। यह सब सिद्ध करता है कि सृष्टिके आदिसे ही सभी जीववर्ग अपने मूल रूपमें ही हैं। यह दूसरी बात है कि डार्विन जिन खर्वाकार टेरोडेक्टिफगोके मनुष्योंको पहचान न सका, वे पशु नहीं मनुष्य हैं और डार्विनके मतसे उसके पूर्वज वनमानुष पशु हैं। जातिका यह भेद उनके समान प्रसवसे स्पष्ट हो जाता है और आकृतियोंमें इतना ही अन्तर

परिस्थिति कर पाती है। वह जाति, आयु एवं भोग नहीं बदल सकती। सृष्टिके आदिमें सब प्राणी किसी चेतन सत्तासे उत्पन्न हुए। उस चेतन सत्तामें ही उनके बीज थे जो परिस्थितियोंकी भिन्नताके कारण उससे अभिव्यक्त हुए। प्रत्यक्ष निरीक्षणसे यही सिद्ध हुआ।

हिंदू-शास्त्रोंका सृष्टिक्रम यही है। सृष्टि अनादि है, सृष्टिकर्ताकी चेतनसत्ता है। प्रलयके समय समस्त जीव (जीवन-बीज) सृष्टिकर्तामें लीन हो जाते हैं। सृष्टिके समय विभिन्न मानसिक परिस्थितियोंमें स्रष्टाके शरीरसे ही जीवोंका प्रादुर्भाव होता है। स्रष्टाके कुछ मानसिक पुत्रोंसे भी मानसिक सृष्टि होती है। जब यह सृष्टि प्रकट हो जाती है, तब सन्तान-परम्परासे अपनी अभिवृद्धि करती है। यही हिंदू-शास्त्रोंका सृष्टि-सिद्धान्त है।

डार्विनको वनमानुप देखकर भ्रम हुआ। उसके देशमें उसके समाजका सचमुच ज्ञान-विकास हुआ था। अतएव भ्रमको एक सहारा मिला। दूसरे बहुतसे विद्वान् उसकी प्रबल कल्पनासे भ्रान्त हो गये। यूरोपमें अब वैज्ञानिक इस भ्रमसे प्रायः छुट्टी पा चुके हैं। पर भारतमें अब भी उसी भ्रमपूर्ण सिद्धान्तका पोषण, प्रचार एवं शिक्षण होता है, यह खेदकी बात है। विद्वान् सम्मुखके सत्यको न देखकर कल्पनाके पीछे दौड़ रहे हैं, यह चिराग-तले अँधेरा ही है। आदिमानव पूर्ण सभ्य था या असभ्य? इसके उत्तरमें आजके विद्वान् कह देते हैं कि मनुष्य पहले जंगली था। सभ्यताका विकास हुआ है। वे देखते नहीं कि विकास किसी वस्तुका निर्माण होनेके पश्चात् नहीं होता। सब वस्तुएँ पहले शुद्ध बनती हैं। धीरे-धीरे फिर विकृत होती, सड़ती हैं। प्रकृतिमें जो भी पदार्थ प्रकट होता है, वह आदिमें शुद्ध, पूर्ण होता है। जलको ही ले लीजिये। वर्षाका जल पृथ्वीपर आनेसे पूर्व पूर्ण शुद्ध होता है। धीरे-धीरे वह सड़ता है। यही दशा मनुष्यके बनाये पदार्थोंकी है। आप अच्छी या बुरी जो वस्तु बना देंगे, यदि उसे सुधारने-सम्हालनेमें न लगे रहें तो वह धीरे-धीरे स्वतः बिगड़ती जायगी। बासी भोजन, काममें न आनेवाली मशीनें आदि क्या यह नहीं बतलातीं कि प्रकृतिका स्वभाव ही विकृत करनेका है। जब सब कहीं विकृति हो रही है, सब कहीं ह्रास हो रहा है तो मनुष्यमें ही कैसे विकास होगा। मनुष्यकी बुद्धि भी तो प्राकृतिक ही है। नियम सब कहीं एक-से होते हैं, यह ध्यान रखना चाहिये।

सब पदार्थ विकृत हो रहे हैं। सबमें ह्रास हो रहा है। मनुष्यकी आकृति और शरीर-बलमें ह्रास हो रहा है, यह इतना स्पष्ट है कि विकासवादी भी इसे स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें, केवल मनुष्यकी बुद्धिका विकास हो रहा है, यह हास्यास्पद बात है। हम देखते हैं कि विकास करना बुद्धिका धर्म नहीं है। हम जो कुछ सीखते हैं, दूसरोंसे सीखते हैं। यदि हम अपने सीखे ज्ञानको स्मरण रखनेका प्रयत्न न करते रहें तो वह भूलता जाता है। बुद्धिका स्वाभाविक धर्म विस्मरण है, अतः विकास वहाँ सम्भव नहीं।

सृष्टिमें यह नियम सर्वत्र एक-सा दिखलायी पड़ता है कि पदार्थ प्रारम्भमें पूर्ण, शुद्ध प्रकट होते हैं। धीरे-धीरे उनमें विकार आता है। विकारके सीमासे अधिक होनेपर पदार्थका स्थूल रूप नष्ट हो जाता है और फिर उनके सूक्ष्म रूपसे नवीन शुद्ध स्थूल रूप प्रकट होता है। जल शुद्ध होता है जब वर्षा होती है। धीरे-धीरे सड़ता जाता है और अन्तमें सूखकर वाष्प हो जाता है। फिर वाष्पसे बादल बनकर वर्षा होती है। बच्चा उत्पन्न होता है रोगहीन। धीरे-धीरे वृद्धावस्थातक शरीर विकृत होता है। अन्तमें मृत्युके पश्चात् पुनर्जन्म। सभी पदार्थोंमें यही क्रम चलता रहता है। हिंदू-शास्त्र पूरी सृष्टिके सम्बन्धमें भी यही क्रम बतलाते हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें सत्ययुग था। मनुष्यके शरीर स्वस्थ, बलवान्, सुन्दर थे। मन निर्दोष था। संकल्पमें पदार्थोंको प्रकट करनेकी शक्ति थी। धीरे-धीरे ह्रास हुआ। त्रेता और उसके पश्चात् द्वापरयुग आया। अब कलियुग चल रहा है। इस युगके अन्तमें प्राणि-सृष्टिका क्षय होकर पुनः सत्ययुग आ जायगा।

पाश्चात्त्य वैज्ञानिक जगत् भी हिंदू-शास्त्रके विकृतिवादको अब सन्देहहीन होकर स्वीकार करता है। विश्वमें जो नेत्रोंके सम्मुख प्रत्यक्ष ह्रासका क्रम चल रहा है, उसे कोई भी विचारशील कैसे अस्वीकार कर देगा? इस ह्रासकी सीमाके पश्चात् क्या होगा? यह विषय सम्मुखके पदार्थोंका क्या होता है, पूर्ण ह्रास होनेपर, यह देखनेसे जाना जा सकता है और तभी ज्ञात होता है कि चतुर्युगके ह्रास-क्रमके पश्चात् पुनः वही आदियुग। इस प्रकार सर्वज्ञ ऋषियोंका आवर्तवाद सर्वथा पूर्ण एवं निर्भ्रान्त है।

सिव चतुरानन देख डेराहीं

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

हनुमानगढ़ीके नागा—बालाजी मेरे परिचित थे। अब तो वे समाधि ले गये, परंतु उनकी एक आप-बीती कहानी, मुझे बार-बार याद आया करती है। उन्होंने एक दिन मेरी कुटीपर पधारकर वह विचित्र कथा सुनायी थी।

बालाजी अनाथ थे। पाँच सालकी आयुमें एक बाबाजी-के साथ लग लिये। जब बारह सालके हुए, तब बाबाजीने उनको हनुमानगढ़ीके किलेमें, एक सिपाही बनाकर ढील दिया। चौबीस सालतक अखण्ड ब्रह्मचर्य साधकर और तत्कालीन महन्तकी गुरुदक्षिणा प्राप्तकर नागाजी देशाटनको निकले। क्योंकि देशाटनके बिना ज्ञान अनुभवके पदपर नहीं पहुँचता—वह पुस्तकीय ज्ञान रह जाता है।

घूमते-घामते वे नर्मदा-किनारे जा पहुँचे। वहाँ मिला एक योगी। उससे मित्रता हो गयी। दोनोंने एक साथ रहकर देश-पर्यटन करनेकी ठानी।

× × × ×

जिला छत्तीसगढ़के एक गाँवमें वे दोनों जा पहुँचे। गाँवके बाहर शिवजीके मन्दिरपर डेरा डाला। ग्रामवासी नर-नारी-बालक आदि आकर दर्शन और सत्सङ्ग करने लगे। आजकल कोई योगी द्वारपर ठहर जाता है तो मूर्ख गृहस्थ उससे बहस करनेपर आमादा हो जाता है। ज्ञान सीखना नहीं चाहता, वह अपना ज्ञान सिखाना चाहता है कि जो कुछ भी नहीं है।

रातको जब एकान्त हुआ। दोनों मित्रोंमें बातचीत छिड़ी।

योगी—आप मायासे अभीतक बचे हुए हैं?

नागा—माया ससुरी है क्या चीज जो बचना पड़ेगा? स्वरूपरूपी हिमालयके सामने एक चींटी!

योगी—आपने स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया? आप अपना सहज स्वरूप पा गये? क्या आपने सनातन पुरुषको प्राप्त कर लिया?

नागा—निश्चय!

योगी—आपको माया कभी परास्त नहीं कर सकती?

नागा—सपनेमें भी नहीं। रातमें भी मैं रामपञ्चायतनकी पञ्चायतमें सोता हूँ, जहाँ बजरङ्गीका अटल पहरा है।

योगी—माया कहते किसे हैं?

नागा—कामिनी, काञ्चन और कीर्ति—इन तीन नदियोंकी त्रिवेणीको माया कहते हैं।

योगी—आप पक्के गुरुके चेले मालूम पड़ते हैं।

नागा—पक्के गुरुके होंगे आप, हम तो सच्चे गुरुके चेले हैं। जिन्होंने प्रत्येक तत्वके सारे बखिये खोलकर रख दिये।

योगी—आप कौन हैं?

नागा—जीव था, अब ईश्वर हो गया हूँ।

योगी—कैसे?

नागा—ईश्वरने अपने महलकी एक खिड़की मुझमें खोल दी है। अब वही वह है—मैं जो था, सो खिड़की खुलते ही न मालूम कहाँ चला गया। ठीक अब समझा, वाह गुरुदेव! कैसी मार्केकी बात बतलायी! बतलायी नहीं—दिखलायी!

योगी—क्या बतलायी?

नागा—गुरुजीने बेतारके तारसे इसी समय यह कहा था कि खिड़की खुलनेसे मन चला गया मायामें। मनभर माया-का एक माशा मन तेरा मन बना घूमता था। सो वह मायामें खिंच गया। डोरी लगी थी—खिंच गया पतङ्ग-सा!

योगी—वाह, वाह, वाह! आज पक्के योगीके दर्शन हुए। धन्य भाग्य! आप छार-छार ईश्वर हो गये और मायाकी अब आपको कोई परवा नहीं।

नागा—अजी माया है कहाँ जो परवा होती? मुर्दा है—माया। इधरसे मत देखो—जरा उधरसे तो देखो। बेचारी चींटी!

> चींटी चढ़ी पहाड़पर नौ मन तेल लगाय।
> हाथी पकड़ बगलमें दाबे लिये ऊँट लटकाय॥

कबीर साहबके इस रहस्यवादी दोहेका अर्थ अब खुला।

योगी—परंतु नागाजी महाराज! जरा ध्यान दीजिये कि रामायण क्या कहती है इस विषयमें।

नागा—किस विषयमें?

योगी—मायाके विषयमें?

नागा—क्या कहती है?

योगी—

> सिव चतुरानन देख डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

नागा—यह तुलसीकी विमूढ़ता है। हम परमहंस लोग, विधि-हरि-हर तीनों देवोंसे ऊपरके लोकमें विचरण करते हैं। हमारे सामने माया बदमाशी करे तो तुरंत हम उसकी नाक काट डालें।

योगी—वाह गुरु! मैं मायादेवीसे करबद्ध अनुरोध कर रहा हूँ कि वह अपनी शक्तिका कुछ नमूना हमारे इन परमहंसजीको अवश्य दिखलानेकी कृपा करें।

× × ×

प्रातः एक बूढ़ा आदमी, जो चन्दन लगाये था, दो लड़कोंके साथ वहाँ आया और दण्डवत् कर नम्रताके साथ दोपहरीका निमन्त्रण दे गया। योगियोंका धर्म है कि वे निमन्त्रण स्वीकार कर गृहस्थोंके गृह पवित्र किया करें।

दोपहरीमें दो लड़के आये और दोनों योगियोंको घर लिवा ले गये। पक्का सामान बनाया गया था। खूब आनन्दसे भोजन कराया गया। फिर ऊपरके हवादार कमरेमें, दोनों महात्माओंको विश्राम करनेके लिये कहा गया। थोड़ी देर बाद एक लड़का आया और योगीजीको नीचे मालिक-मकानके कमरेमें लिवा ले गया। थोड़ी देरमें बालाजी सो गये।

मालिक—आइये महाराज! बैठिये, आपसे एक प्रार्थना है।

योगी—कहिये भगतजी!

मालिक—आपके साथ जो दूसरे योगी हैं उनका आपका साथ कबसे है?

योगी—कोई एक माससे।

मालिक—उससे पहले वे कहाँ थे?

योगी—हनुमानगढ़ीमें रहते थे।

मालिक—अच्छा तो, वे अपने सम्बन्धमें और कुछ कहते थे? विवाहका हाल बतलाते थे?

योगी—विवाह! अरे राम-राम! उनका विवाह?

मालिक—विवाह क्यों नहीं?

योगी—वे अखण्ड योगी हैं आप कहते हैं—विवाह!

मालिक—ऐसी-तैसी उसकी और तुम्हारी! तुम चुपकेसे चले जाओ। नहीं तो, मारे जूतोंके सारी शृङ्खला बिगाड़ूँगा।

योगी—आखिर मामला क्या है?

मालिक—तुम्हारे साथ जो है वह मेरा दामाद है। बारह सालका था, उसे कोई बाबा बहका ले गया था। गाँवके मदरसेमें पढ़ता था। नाम था बालाजी। तुम्हारे साथीका क्या नाम है?

योगी—(मन-ही-मन मायाको प्रणामकर) ठीक है, नाम तो बालाजी ही बतलाता था।

बूढ़ेका एक दामाद था जरूर। नाम भी उसका बालाजी ही था। एक नामके सैकड़ों होते हैं। उसे कोई बाबा ले भी गया था।

मालिक—तुम अच्छे लड़के दिखलायी देते हो। फिर तुम्हारा अपराध भी कुछ नहीं। बल्कि तुमने यह अहसान किया कि उसे इधर ले आये। कल जो गाँवकी स्त्रियाँ, मन्दिरपर गयीं, तो सखियोंके साथ मेरी लड़की विमला भी चली गयी थी। लड़की जो लौटकर आयी तो बेतरह रोने लगी। जब उसकी माताने बहुत दम-दिलासा दिया, तब उसकी हिचकी रुकी। उसने कहा कि मेरे पति ही योगीरूपसे मन्दिरपर एक संन्यासीके साथ ठहरे हैं। बारह साल हो गये तो क्या हुआ—कोई स्त्री अपने पतिको भूल थोड़े ही सकती है।

योगी—नहीं भूल सकती। भूलका क्या काम?

मालिक—बेटा रमेश!

रमेश—जी!

मालिक—इधर आओ। देखो बेटा! रमेश! इन संन्यासी-जीके चरण-स्पर्श करो। यही तुम्हारे जीजाजीको लाये हैं।

रमेशने योगीको प्रणाम किया, योगीने मायाको प्रणाम किया।

मालिक—जीजाजी क्या करते हैं?

रमेश—सोते हैं।

मालिक—तुम देख आये हो?

रमेश—जी हाँ।

मालिक—गुदगुदे गद्देपर, मसहरी काहेको देखी होगी? अच्छा जाओ—धीरेसे किंवाड़ बंद करना और ताला लगा देना। और हाँ—विमलाको जरा यहाँ भेजते जाना।

रमेश गया। विमला आयी।

मालिक—बेटी विमला! तुम्हारी समझसे तुमने ठीक-ठीक पहचाना है न कि ऊपर जो योगी सो रहा है—वही तुम्हारा पति है?

विमला चुपचाप रोने लगी।

मालिक—कहिये महात्मन्! यह रोती क्यों, यदि वही न होता?

योगी—वही है।

मालिक—आपकी आत्मा आईना हो गयी है। आप भी समझते हैं कि वही है।

योगी—वही है! वही है! मातेश्वरी माया वही है!

मालिक—नाम भी वही, रूप भी वही!

योगी—नाम भी वही, रूप भी वही। वही तो बेटा! जुआचोर।' कहता था कि मैं ईश्वर हूँ और माया

कुछ नहीं। अब नथ गये बच्चू नथकी नकबेसरमें।

मालिक–आप ही बतायें कि मेरा क्या कर्तव्य है?

योगी–मैंने तो प्रार्थना ही की थी इस कर्तव्यके लिये।

मालिक–तो आप इसी समय यहाँसे चले जायँ। उससे हम निबट लेंगे। अपना और उसका खून एक कर दूँगा—नहीं तो, मेरा नाम विश्वनाथ महाराज नहीं। मेरी एकमात्र कन्याको कलङ्कित करता है—बेईमान।

योगी–अच्छा चलता हूँ। जय सीताराम।

मालिक–जय श्रीराम! अब आप कहाँ जायँगे?

योगी–अपने आश्रमपर लौट जाऊँगा। दुनिया देख ली है।

× × ×

बालाजीकी जो आँख खुली तो शाम हो गयी थी। किवाड़ खोले तो बाहर था ताला। इधर-उधर देखा तो कोई नहीं। आवाज दी—कुछ नहीं। योगीको देखा—कहीं पता नहीं! बालाजीको बड़ा क्रोध हुआ। क्या मैं नजरबंद कर दिया गया? ईश्वरको भी नजरबंद?

ताबड़तोड़ जो दस-पंद्रह लातें किंवाड़ोंपर जमायी तो एक आला बालाने आकर ताला खोल दिया और कहा—'कहिये स्वामीजी क्या आज्ञा है?'

बाला–बाहरसे साँकल क्यों लगायी थी?

ताला भी था–इसका पता नहीं था।

युवती–जिससे कोई लड़का या बिल्ली आपकी निद्रा भंग न करे।

बालाजीकी गरमी शान्त हो गयी। अपने ईश्वरत्वमें जो शङ्का पैदा हो गयी थी, वह दूर हो गयी।

बाला—दूसरा योगी कहाँ गया?

युवती थी विमला।

विमला–अपनी कुटीपर चले गये।

बाला–मेरे लिये क्या कह गये?

विमला–कह गये कि आप तबतक यहीं रहें, जबतक मैं पुनः न लौट आऊँ?

बाला–कब आयगा?

विमला–सात दिनके अंदर।

बाला–चला क्यों गया? बिना कहे चला गया?

विमला–कोई चीज लाने गये हैं।

बाला–मैं सात दिन एक जगह नहीं रह सकता।

विमला–क्यों?

बाला–'बहता पानी–रमता जोगी, इनको कौन सके बिलमाय?'

विमला–आप योगी थे तो मुझसे विवाह क्यों किया था?

बाला–किसने विवाह किया?

विमला–आपने।

बाला–किसके साथ?

विमला–मेरे साथ।

बाला–तुम भूलती हो।

विमला–वही नाम, वही रूप।

बाला–फिर भी मैं वह नहीं।

विमला–वही! वही! निश्चित वही!!

बाला–कैसे जाना?

विमला–वही नाम, वही रूप और वही मसा!

बाला–मसा क्या चीज?

विमला–नाकके नीचे जो छोटा-सा मसा है, वह भी था।

बाला–फिर भी मैं नहीं।

विमला–वाणी वही। रंग वही।

बाला–फिर भी नहीं। तुम भ्रममें हो।

हाथमें भरी बंदूक लिये मालिक ऊपर आ गये।

मालिक–देखो बालाजी! तुम दोनोंकी सारी बातें मुझे जीनेमें खड़े होकर सुननी पड़ीं। वैसे पिताको कन्या-दामादकी बात नहीं सुननी चाहिये। परंतु लाचारी थी। यदि अब तुम अपना जोगीपन छाँटोगे तो अच्छा न होगा।

बाला–क्या होगा?

मालिक–इस बंदूकमें पाँच गोलियाँ हैं। दोसे तुम दोनोंको मारूँगा, दोसे हम दोनों मरेंगे। एक फिर भी बच रहेगी। मेरे दोनों लड़के घरमें राज करेंगे। क्या समझे?

बालाजीने देखा कि मामला बेढब है। दब गये। अवसर पाकर किसी दिन निकल भागेंगे–यह मनमें स्थिर किया।

मालिक–क्या कहते हो?

बाला–आपकी आज्ञा स्वीकार है।

मालिक–यह मत समझना कि भाग जाओगे। तुम्हारे ऊपर छः सालतक कड़ा पहरा रहेगा।

दोनों पति-पत्नीकी तरह रहने लगे। तीन साल डटे रहे। जब एक लड़का पैदा हो गया। पहरा कुछ ढीला पड़ गया। एक रात निकल भागे। आखिर योगी थे, योगी नहीं चाहता राज्य भी। तब आकर उन्होंने अपना यह लङ्का-काण्ड सुनाया।

मैंने पूछा–बालाजी! अब मायाके प्रति क्या विचार है?

बालाने कहा–वह जगदम्बा है! माताकी इज्जत और परवा करना अपना धर्म है। यहाँ रहकर ईश्वर नहीं बना जा सकता। रामायणमें ठीक ही लिखा है।

वनस्पतिवालोंकी दलीलोंमें न सत्य है, न तथ्य ही

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी मन्त्री अ० भा० गो-सेवकसमाज)

जिस आदमीके पास सच्ची या असली चीज होती है उसे विज्ञापनबाजीकी जरूरत नहीं। वह विज्ञापन देता ही नहीं, देता है तो साधारण सूचनाके लिये। जिसके पास खरा सोना है, वह उसे बेचनेके लिये घर-घर पुकार नहीं करता, लोग स्वयं आकर खरीदते हैं। शुद्ध घी बेचनेवाले किसानने कभी आजतक एक पाई भी विज्ञापनपर खर्च नहीं की, हमारे देशमें वनस्पति चलनेके दो ही कारण रहे हैं। सरकारी अधिकारी तथा विज्ञापनबाज़ी। जब-जब भी वनस्पतिसे घीमें रंग डालने या मिलावट दूर करनेका प्रश्न सामने आया इन दो ढालोंने उनकी रक्षा की। पं० ठाकुरदासजी भार्गवके वनस्पतिनिषेध बिलने तो इनके वारे-न्यारे कर दिये। वनस्पति-कारखानेवालोंके पास यदि कोई उचित दलील होती तो विज्ञापनबाज़ीपर लाखों रुपये खर्च न करते। वनस्पतिके पक्षमें दलीलें हैं—१. वनस्पति एक राष्ट्रिय इन्डस्ट्री या शिल्प है और इसपर देशका २५ करोड़ रुपया लगा हुआ है। २. वनस्पति स्वास्थ्यके लिये हानिकारक नहीं, यह पौष्टिक, स्वास्थ्य-वर्धक और सर्वगुणसम्पन्न खाद्य पदार्थ ही नहीं, ईश्वरीय दैन भी है। ३. वनस्पति घी गोवंश और किसानको नुकसान नहीं पहुँचाता, अपितु लाभ ही देता है। ४. वनस्पतिका समर्थन सरकारके मन्त्री तथा विशेषज्ञ करते हैं। ५. उत्तम वस्तु होनेके कारण वनस्पतिकी माँग साधारण जनतामें ही नहीं, फौजी सिपाहियोंके लिये भी है।

वनस्पतिवालोंने इन दलीलोंका प्रचार करनेके लिये एँड़ी-चोटीका जोर लगाया है। पर यह दलीलें तर्कसम्मत नहीं। हमारे शास्त्रोंमें आप्तवचनको सबसे बड़ा प्रमाण माना है। महात्माजी आप्तपुरुष थे। गान्धीजीने वनस्पति घीको धोखा-दगा ही नहीं बताया, खोटे सिक्कोंकी-सी उपमा देते हुए दण्डनीय भी कहा। तथा इस कामके करनेवालोंको नहीं, वनस्पति घीको सहन करनेवालोंको भी देशका शत्रु बतलाया। सरकार और वनस्पतिवालोंके लिये गान्धीजीके वचन पर्याप्त हैं। उन्हें चाहिये था कि गान्धीजीके कहते ही वनस्पति घीको बंद कर देते, पर जो लोग किसी स्वार्थके वश गान्धीजीके सिद्धान्तोंकी केवल मौखिक दुहाई देते हैं और काम करते हैं उनके विरुद्ध, उन्हें गान्धीजीकी सम्मति बतलाना जंगलमें रोनेके समान व्यर्थ है। अतः सत्य तथा तथ्यकी दृष्टिसे वनस्पतिवालोंकी दलीलोंका उत्तर दिया जाता है।

१. वनस्पति न इन्डस्ट्री है, न इसके बंद करनेसे करोड़ों रुपयेका नुकसान ही होगा

कपास, रूई, ऊन, रेशमसे कपड़ा बुनना, चमड़ेसे जूते आदि बनाना, कच्चे लोहेसे लोहेकी चीजें बनाना, दूधसे घी बनाना, सरसों-तिल आदिसे तेल निकालना इन्डस्ट्री है या शिल्प। पर वनस्पति घी न इन्डस्ट्री है न शिल्प। मूँगफली या बिनौलेके तेलको घीका रंग-रूप देनेसे उसका खाद्यमूल्य नहीं बढ़ता। कितने ही विशेषज्ञोंके मतमें घटता ही है। इस समानगुण या हीनगुण वस्तुके लिये व्यर्थ परिश्रम ही नहीं करना पड़ता, मूल्य भी अधिक देना पड़ता है। वनस्पति एक खाद्य वस्तु है। तेलसे अधिक इसमें खाद्यमूल नहीं, देशमें चिकनाईकी कमी होनेके कारण वनस्पतिके अधिक दिन ठहरा रहनेकी दलीलमें भी कोई सार नहीं है। जो चीज़ अधिक होती है उसे ही अधिक दिन रखनेकी आवश्यकता होती है। गो कि वनस्पति घी न शिल्प है न इन्डस्ट्री ही। गान्धीजीके हरिजन ता० ६. १०. ४६ के पत्रमें लिखे वचनानुसार यह धोखा है, दगा है। २५ करोड़ रुपयेकी लागतका सवाल भी उचित नहीं, वनस्पतिके कारखानोंमें तेलके बीजोंसे तेल निकालने, तेलको शुद्ध करने और तेलको जमाने इत्यादिकी क्रियाएँ होती हैं। तेलको शुद्ध करनेकी क्रियाका विरोध नहीं है। तेल जमानेके लिये जो मशीनें ४२ कारखानोंमें लगी हुई हैं, उनकी कुल कीमत चालीस लाखसे अधिक नहीं। तेलका जमाना या वनस्पति बनाना बंद हो जाय तो इन मशीनोंसे अन्य शिल्पकारियोंके लिये अरंड नीम आदि तेल जमाये जा सकते हैं। वनस्पतिके कारखानेवालोंने करोड़ों रुपया कमाया है। सालोंतक तो कारखानेकी कुल कीमतके बराबर मुनाफा ही हुआ है। अतः इस चालीस लाखकी रकमके लिये पचास करोड़का नुकसान बताना उचित नहीं। कारखानेवालोंने देशका अहित करके वनस्पति घीसे बहुत रुपया कमाया है। उचित है कि वह बर्दाश्त कर ले या देशकी सरकार और जनता जमानेकी मशीनोंकी लागत देकर इन मशीनोंको उखड़वा दे। देशहितके लिये चालीस लाखकी रकम कोई बड़ी बात नहीं। इतनी या इससे कुछ कम रकम तो वनस्पति घीवालोंने विज्ञापनबाज़ीमें खर्च की और कर रहे हैं।

२. जहरको अमृत बनानेवाले विशेषज्ञोंकी अविशेषज्ञता

वनस्पति घी प्रायः मूँगफलीके तेलसे बनता है। वनस्पति-

के पक्षपाती विशेषज्ञोंके मतानुसार भी इसमें तेलसे अधिक गुण नहीं, अतः वनस्पति घी न स्वास्थ्यवर्धक है न पौष्टिक। यह ठीक है, वनस्पति घी कारखानेवालों, तत्सम्बन्धी राज्य-अधिकारियों और विज्ञापन करनेवालोंके लिये ईश्वरीय देन है, जनताके लिये। मूँगफली तथा मूँगफलीका तेल उत्तरभारतके गरम तथा शुष्क इलाकेके लोगोंके लिये अत्यन्त हानिकारक है। दक्षिण-पूर्वके लोग प्रायः तेल खाते हैं। उन्हें वनस्पति घीकी जरूरत ही नहीं। वनस्पति घीपर सर्वप्रथम १९२७ में पंजाबके सरकारी विशेषज्ञ कैप्टन थामस तथा उसके बाद बम्बईके करनल महकी, सर साहिबसिंह सोखे और कितने ही सरकारी विशेषज्ञों, डाक्टरों, वैद्यों और हकीमोंने इसे स्वास्थ्यके लिये हानिकारक बतलाया है। सरकारने स्वयं इज्जतनगरके अनुभवके आधारपर जनताको अनेक बीमारी पैदा करनेवाली चीज़ बतलाया। पिछले महीने ही देशकी प्रसिद्ध सूचना राज्यकी प्रेस-टस्ट-इंडियाने दिल्लीके इरविन अस्पतालके अनुभवका जिक्र करते हुए बताया है कि पिछले चार सालोंमें आँखोंकी बीमारियाँ आठगुना बढ़ गयीं। इन बीमारियोंके बढ़नेका प्रधान कारण वनस्पति घी और मक्खन निकला घी पाउडर है। जिन विशेषज्ञोंने २४ नवम्बर १९४९ की रिपोर्टमें वनस्पति घी और साधारण तेलोंमें समान गुण-दोष बतलाये हैं, उन विशेषज्ञोंकी कमेटीका निर्णय अभी अधूरा है। सर्वसम्मत भी नहीं। सर साहिब सोखे, जो इन सब विशेषज्ञोंसे सर्वश्रेष्ठ थे और जिनका नाम इस विशेषज्ञ कमेटीमें था, शामिल नहीं हुए। बतलाया जाता है कि अनुभवमें चूहों या मनुष्योंको वनस्पतिके साथ-साथ अन्य चिकनाई या विटामिन दिये गये जिनसे केवल वनस्पतिके गुण-दोष ठीक मालूम नहीं हो सकते। अतः यह अनुभव जो आज वनस्पतिवाले और उनके साथियोंका बड़ा सहारा है, न सर्वसम्मत है न सम्पूर्ण या अन्तिम और न पक्षपातरहित। यह सब मानते हैं कि वनस्पति स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हानिकारक नहीं, तो सन्देहात्मक अवश्य है। भोजनकी चीज़ोंमें सन्देहका लाभ व्यापारीकी दृष्टिसे नहीं, खानेवालेकी दृष्टिसे देखा जाता है। भोजनकी जिस चीजमें सन्देह होता है वह खाने योग्य नहीं समझी जाती। उदाहरणतया यदि हमारे दूध या चायके प्यालेमें हमें यह सन्देह हो कि इसमें जहर है या अन्य स्वास्थ्यको हानि पहुँचानेवाली चीज है तो न हम उसे स्वयं पियेंगे, न किसी औरको पीने देंगे। वनस्पति घीको तो बीस-पचीस सालतक लगातार प्रसिद्ध विशेषज्ञोंने स्वास्थ्यके लिये हानिकारक बतलाया। सन्देहात्मक तो सभी बतलाते हैं। तब न्यायकी दृष्टिसे वनस्पति तेलोंका जमाना बंद कर देना चाहिये। उचित होगा, यह अनुभव चूहों, कैदियों आदिपर न होकर वनस्पतिके कारखानेवालों, जो स्वयं शुद्ध घी-मक्खन खाते और लोगोंको नकली खिलाते हैं, तथा उनके पक्षपाती सरकारी अधिकारियोंपर पूर्ण देख-रेखके साथ किया जाय। यदि इनको छः महीनेतक कोई चिकनाई या विटामिन न देकर केवल वनस्पति खिलाया जाय। और इनका स्वास्थ्य ठीक आज-जैसा ही रहे तो कहा जा सकेगा कि वनस्पति स्वास्थ्यके लिये बुरी चीज नहीं है। आशा है वनस्पति घीवाले और उनके पक्षपाती सरकारी अधिकारी तथा विशेषज्ञ इसके लिये तैयार होंगे।

३. पशुधन और किसानका शत्रु

हमारे देशमें पशु दूध ही नहीं, हल चलानेके लिये, बोझ ढोने, कुएँ आदि चलानेके भी काममें आते हैं। पशुओंसे देशको बारह अरब रुपये वार्षिक या कुल आयकी आधी आमदनी होती रही है। इसमें तीन अरब रुपया दूध-घी आदिसे मिलता है। अधिकतर पशु गाँवमें रहते हैं। प्रायः गाँव शहरोंसे दूर है। वहाँ दूध बिकता नहीं इसलिये घाटा उठाकर भी घी तैयार करना पड़ता है। घी निकालनेसे किसानको छाछ भी मिलती है और यही छाछ किसानके जीवनका एकमात्र सहारा है। छाछके कारण ही वह कड़ी धूप, सर्दी, गर्मीकी परवा नहीं करता। किसानका घी तसल्लीसे बिकना चाहिये और उचित मूल्य भी मिलना चाहिये। नकली घीके कारखानेवालोंने वनस्पति घीका रंग-रूप तथा सुगन्ध घी-जैसा बनाकर घीकी मिलावटके दरवाजे खोल दिये हैं। शुद्ध घीकी तसल्ली नहीं रही। अर्थशास्त्रके ग्रेशम नियमानुसार जब बाजारमें नकली घी तथा सस्ती चीजें आ जाती हैं तब असली चीजोंको खदेड़ बाहर करती हैं। वनस्पति घीके कारण आज शुद्ध घीकी कोई तसल्ली नहीं रही। शुद्ध घी खरीदनेवालोंको शुद्ध घीका भरोसा नहीं रहा। अतः वह वनस्पति खरीदनेपर मजबूर है। शुद्ध घी पैदा करनेवाले किसानको यह निश्चय नहीं कि उसका घी उचित दामोंपर बिकेगा, जब घीकी बिक्रीकी तसल्ली ही नहीं रही तो पशुपालन नहीं हो सकता। महात्मा गान्धीजीने ८ जनवरी १९४० के हरिजनमें श्रीपन्नालालजीकी इस बातको स्वीकार किया है कि वनस्पति घीकी मिलावट जारी रही तो पशु लाभदायक नहीं रहेंगे, केवल शौक या मनबहलावेकी चीज रह जायँगे। सरकारी कृषिकमीशन १९२८ तथा सरकारी पशुरक्षा-उन्नति-कमेटीकी रिपोर्ट १९४८ और प्रायः सभी पशु व कृषिविशेषज्ञोंने वनस्पति घीको पशुओंकी उन्नतिकी दृष्टिसे हानिकारक बतलाया है। यदि किसानोंका मत मालूम किया जाय तो शायद ही कोई

किसान वनस्पतिके पक्षमें मत दे। भारतीय किसान वनस्पति घीको अपना तथा अपने पशुओंका शत्रु समझता है।

४. दो मन्त्रियोंकी बाबत झूठा प्रचार तथा वनस्पतिके बड़े वकील गिल्डर और भटनागर

वनस्पतिके कारखानेवालोंने अपने विज्ञापनोंमें उत्तरप्रदेशके खाद्य तथा स्वास्थ्यमन्त्री श्रीचन्द्रभानजी गुप्त तथा श्रीजयरामदास दौलतरामजी खाद्य तथा कृषिमन्त्री भारतसरकार, बम्बईके स्वास्थ्यमन्त्री श्रीगिल्डर और भारतसरकारके विशेषज्ञ श्रीभटनागरका नाम बार-बार लिया है। महात्मा गान्धीजीके वनस्पतिके विरुद्ध मत प्रकट करनेके बाद इनके मतका विशेष मूल्य नहीं। श्रीचन्द्रभानजी गुप्तने वनस्पतिवालोंकी विज्ञापनबाजीका विरोध करते हुए लिखा है, मैं वनस्पतिका पक्षपाती नहीं हूँ। ऐसे विज्ञापन नहीं छापने चाहिये। ८ दिसम्बर १९४९ के प्रश्नोत्तरमें वनस्पतिवालोंने श्रीजयरामदास दौलतरामके हवालेसे वनस्पतिको पौष्टिक और स्वास्थ्यवर्द्धक लिखा है। पर श्रीजयरामदासजीने ऐसा नहीं कहा। इन दोनों मन्त्रियोंकी बाबत जो प्रचार किया जा रहा है वह असत्य है। वनस्पतिवालोंके दो बड़े वकील हैं—श्रीगिल्डर और भटनागर। श्रीगिल्डरने तो गान्धीजीको भी वनस्पतिका पक्षपाती बतलाकर उनके वनस्पतिके विरुद्ध दिये वक्तव्योंपर पानी फेरकर उस महान् पुरुषकी भी अवहेलना की है। श्रीगिल्डर इज्जतनगरके अनुभवकी बाबत कहते हैं कि चूहोंको वनस्पतिके साथ बंगाली या कमजोर खूराक दी गयी इसलिये अन्धापन तथा अर्धाङ्ग आदि बीमारियाँ उत्पन्न हुईं। उसका यह मतलब है कि चूहोंको वनस्पतिके साथ पौष्टिक खूराक दी जाती तो बीमारी न होती। साधारण बुद्धिका आदमी भी यह जानता है कि भोजनमें पौष्टिकता उत्पन्न करने या बढ़ानेके लिये ही घीकी आवश्यकता है। घीके खानेसे पौष्टिकता बढ़ी, स्वास्थ्य ठीक रहा, बीमारियाँ नहीं हुईं तथा वनस्पति घीके खानेसे पौष्टिकता मिली नहीं। इसलिये बीमारियाँ हुईं। जो आदमी भोजनके साथ मक्खन, मेवे, फल तथा अन्य विटामिन खाते हैं, यदि वह साथमें थोड़ा-सा वनस्पति घी भी खा लें और यह कहा जाय कि वनस्पति स्वास्थ्यके लिये अच्छा है, उचित नहीं होगा। विशेषज्ञोंके २४ नवम्बर १९४९ के अनुभवकी रिपोर्टमें यही भूल है। श्रीगिल्डरको जनताके रुपयेसे वेतन मिलता है, उन्हें केवल वनस्पति घीवालोंकी ही वकालत नहीं करनी चाहिये थी, साथ-साथ इन विशेषज्ञोंके शिरोमणि उनके नगरके हाफकिन इन्स्टीट्यूट बम्बईके डायरेक्टर श्रीसाहिबसिंह सोखेका मत भी एसम्बली मेम्बरोंके सम्मुख रखना चाहिये था। गान्धीजीके नामका जो उन्होंने दुरुपयोग किया है वह तो अक्षम्य है। दूसरे बड़े वकील हैं श्रीशान्तिस्वरूप भटनागर। जनताका नमक खाते हुए भी इन्होंने सदैवसे वनस्पतिवालोंका साथ दिया है। जब पंजाबमें रंग डालनेका सवाल आया, तब भी आपने जनताका नहीं, वनस्पति घीका पक्ष लिया। आप वनस्पति घीमें मिलावट दूर करनेके लिये रंग डालनेके भी विरुद्ध हैं। आपकी दलील है कि यदि घीकी मिलावट दूर करनेके लिये वनस्पतिमें रंग डालना जरूरी है तो क्यों न दूधकी मिलावटमें काम आनेवाले पानीको रंग देना चाहिये। आपने लिखा है कि संसारके मान्य लोग रँगनेके विरुद्ध हैं। अतः वह नहीं चाहते कि वनस्पति घीको रँगा भी जाय। श्रीभटनागरने पानी रँगनेकी दलील देकर वनस्पतिका पक्ष ही नहीं लिया, अपनी अविशेषज्ञता ही प्रकट की है। पानी एक प्राकृतिक चीज है। उसका रँगा जाना असम्भव है; पर वनस्पति घीका मिठाई, शरबत आदिकी तरह रँगा जाना असम्भव नहीं। पश्चिमीय देशोंमें वनस्पति घीके बदले मारग्रीन चलती है, वहाँ दूध गायोंका ही होता है और उस दूधके मक्खनका रंग हल्का पीला है। मारग्रीन सफेद होती है, उसे मक्खन-जैसे बनानेके लिये पीला रँगा जाता था, जिसे सरकारने कानूनद्वारा बंद कर दिया। संसारके किसी देशके सम्मुख मारग्रीनको रँगनेका ही नहीं, रंग न देनेका प्रश्न आया है। अतः भटनागर साहिबका यह कहना कि संसारके विशेषज्ञ रंग डालनेके विरुद्ध हैं, उचित नहीं। मारग्रीन वनस्पतिकी तरह केवल जमा हुआ तेल ही नहीं है, पौष्टिकता लानेके लिये इसमे चर्बी, दूधका छेना, तेल तथा अन्य ऐसे ही कितने पदार्थ मिलाये जाते हैं, मारग्रीन और मक्खनके रंग, स्वाद और सुगन्ध भिन्न-भिन्न हैं। उनकी मिलावट नहीं हो सकती। फिर भी किसानके लाभ और मक्खनकी दस्तकारीकी रक्षाके लिये कनेडा, दक्षिणी अफ्रीका और इटलीने मारग्रीन बनना और बिकना कतई बंद कर दिया। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडमें यह पनप ही नहीं सकी। इंग्लैंड, अमरीका और डेन्मार्क तथा अन्य देशोंमें जबतक मक्खनको पूरी रक्षा न मिली, तबतक मारग्रीनपर तरह-तरहके प्रतिबन्ध लगाये गये। डेन्मार्कने तो इसके विज्ञापन भी न छपने दिये। अच्छा होता भटनागर विदेशोंके उदाहरण देनेसे पहले 'ओयल एन्ड फैट' (तेल तथा चिकनाई) और भारतसरकारकी मूँगफली रिपोर्टके ३०१ से ३०६ तक पृष्ठ पढ़ लेते। दर-असल भटनागर साहिब सदासे वनस्पतिवालोंके पक्षपाती रहे हैं। इसका कारण बतलाना मेरा काम नहीं है। यह सरकारका काम है।

५. वनस्पतिकी माँग अच्छा होनेके कारण नहीं

यह ठीक है कि पिछले दस सालोंमें वनस्पति घी

आठगुना अधिक बढ़ा है और शुद्ध घीका उत्पादन आधा रहा है। वनस्पति घीकी माँग इसलिये नहीं बढ़ी, कि वह अच्छी चीज है अपितु इसलिये बढ़ी कि वनस्पतिकी मिलावटके कारण ही शुद्ध घीकी तसल्ली नहीं रही। शुद्ध घीकी तसल्ली न रहनेके कारण मजबूरन वनस्पति खरीदना पड़ता है। शायद ही कोई फौजी सिपाही होगा जो वनस्पति घी खाना पसंद करे। यदि सरकार सचाईके साथ फौजी सिपाहियोंका मत ले तो नब्बे प्रतिशतसे भी अधिक वनस्पतिके विरोधी मिलेंगे। पर जब फौजीके लिये वनस्पतिकी मिलावटके कारण शुद्ध घी नहीं मिलता या मिलनेमें कठिनाई आयी, तब उसे मजबूरन वनस्पति खरीदना पड़ा। माँग बढ़नेका कारण वनस्पतिके गुण नहीं, उसकी मिलावट है।

६. रंग भी नहीं, सुगन्ध और दाना भी रहेगा

१९२७ से वनस्पति घीकी मिलावट दूर करनेके लिये रँगनेका सवाल जनता और सरकारके सामने आया, पर जब-जब रंग डालनेकी कोशिश हुई या की गयी, वनस्पति घीके कारखानेवालोंने विशेषज्ञों तथा सरकारी अधिकारियोंसे मिलकर रंग न पड़ने दिया। कभी रंग न मिलनेका बहाना किया गया, रंग मिला तो स्वास्थ्यके लिये खराब बतलाया। सरकार इन मायावी लोगोंके मायाजालमें फँसकर कुछ न कर सकी। २२ मई १९४९को कांग्रेस वर्किंग कमेटीने शीघ्र रंग डालनेकी तजवीज की। श्रीजयरामदास दौलतरामजीने ८ दिसम्बरको रंगका जिक्र किया और उसी सरकारके विशेषज्ञ श्रीभटनागर, जिनके सुपुर्द रंग तलाश करनेका काम हुआ था,-कहते हैं रंग नहीं डालना चाहिये। जबतक श्रीभटनागर-जैसे विशेषज्ञ रहेंगे, रंग नहीं पड़ेगा। रंगके अतिरिक्त वनस्पतिमें घी-जैसी सुगन्ध तथा रंग-रूप देना भी उचित नहीं, यह केवल घीकी मिलावटके लिये दिये जाते हैं। सरकारी मूँगफली-रिपोर्टके पृष्ठ ३०५ पर सिफारिश की गयी है कि ब्यूट्रिक एसिड और साइन्थेटिक एसैन्स, जो वनस्पतिको घीका रंग-रूप देता है, न मिलाये जायँ, पर कुछ परवा नहीं की गयी। वनस्पति घीके कारखानेवाले, उनके पक्षपाती विशेषज्ञ और सरकारी अधिकारी रंग न पड़ने देंगे और न घी-जैसी सुगन्ध तथा रूप-रंग बंद करेंगे। इसका एक ही उपाय है वनस्पति तेल, (घी नहीं, तेल है) तेलकी तरह बने तथा बिके। जमाया न जाय। भारत-सरकारके वर्तमान खाद्य-मन्त्री श्री के० एम० मुन्शीने मद्रासमें वनस्पतिवालोंसे मिलावट दूर करनेके लिये कहा। यदि वास्तवमें श्रीमुन्शीजी चाहते हैं कि मिलावट दूर हो तो वनस्पति तेलोंका जमाना बंद कर दें। यदि वह तुरंत ऐसा नहीं करना चाहते तो अनुभवके तौरपर रंग मालूम करनेकी जिम्मेवारी सरकारी विशेषज्ञोंपर न डालकर कारखानेवालोंपर डालें। एक कमेटी बनानेका निश्चय किया था पर आजतक उस कमेटीका पता ही नहीं है। यदि यह कमेटी जाँच कर लेती तो वनस्पति घीवालोंका पक्ष कतई कमजोर होता। सरकारने हर उचित-अनुचित तरीकेसे वनस्पति घीवालोंकी मदद करनेकी कोशिश की है। पं० ठाकुरदासजी भार्गवके वनस्पति घीके निषेध-बिलकी बाबत जनमत लेनेकी जरूरत न थी, केवल कानून बनाना था। यदि जनमत ही लेना था तो ग्रामपंचायतों, म्युनिसिपल बोर्डों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा अन्य ऐसी संस्थाओंसे लेना था जो लोगोंके सीधे सम्पर्कमें रहती हैं। आज वनस्पतिवाले अपने व्यापारियोंके द्वारा दबाव या लालच देकर हस्ताक्षर करवा रहे हैं। यह शुद्ध जनमत नहीं है। यह आवश्यक बिल केवलमात्र सरकारी गजटमें छापनेसे जनतातक पहुँचा ही नहीं। जो पहुँचना उचित था सरकारने इसे केवल अपने गजटमें छापा जो अंग्रेजी भाषामें है, जिसे जनताका एक प्रतिशत भाग भी नहीं समझ सकता। बिलके साथ कुछ प्रान्तोंमें नियमके अनुसार संसदमें हुए वक्तव्योंका सार नहीं, विशेषज्ञोंकी अधूरी एकतरफा सम्मति है। इन बातोंसे सिद्ध है कि जनताके नामसे चलनेवाली सरकार जनताका नहीं, वनस्पति घीवालोंका पक्ष ले रही है। गान्धीजीके नामकी दुहाई देनेवाली सरकारके कर्णधारोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे महात्मा गान्धीजीके कथनानुसार वनस्पति घीको जाली सिक्का समझें, इसे धोखा और दगा मानें और जनहितके लिये इसका जमाना बंद कर दें। यदि सरकारने अपनी अनुचित जिद्को न छोड़ा तो भविष्यमें आनेवाले चुनावोंमें वनस्पति घी भी उसकी पार्टीके उम्मीदवारोंके विरुद्ध एक बड़ी दलील होगी। लाखों वोटोंपर इसका प्रभाव पड़ेगा।*

---

* इस लेखको पढ़ लेनेके बाद वनस्पतिके पक्षमें कही जानेवाली बातोंकी निस्सारता सबकी समझमें आ गयी होगी। 'कल्याण'के पाठकोंसे प्रार्थना है कि इसके विरोधमें पं० ठाकुरदासजी भार्गवने जो बिल विधान-सभामें रक्खा है, उसके समर्थनमें गताङ्कके लेखके अनुसार सभाओंमें प्रस्ताव पास करके और जनतासे हस्ताक्षर कराकर श्रीमान् स्पीकर महोदय, संसद नयी दिल्लीके पतेसे भेजनेकी शीघ्र कृपा करें।—सम्पादक

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

'कल्याण'के इस अङ्कपर भारतवर्षके विभिन्न भाषाओंके बहुसंख्यक पत्रोंने जो मत प्रकट किये हैं, उनमेंसे मराठीके प्रसिद्ध 'केसरी' और गुजरातीके 'ज्योति'के मतका अधिकांश नीचे दिया जाता है—

'केसरी'—संयुक्तप्रान्तके गोरखपुर, गीताप्रेससे 'कल्याण' नामक सुप्रसिद्ध हिंदी मासिकपत्र निकलता है। 'कल्याण'का प्रतिवर्ष एक विशेषाङ्क निकला करता है। इस वर्ष 'हिंदू-संस्कृति' नामक विशेषाङ्क निकला है। इस विशेषाङ्कमें बड़े आकारके कुल १०२५ पृष्ठ हैं। सुन्दर चिकने कागजोंपर २२८ इकरंगे और २१ बहुरंगे उत्कृष्ट चित्र हैं। 'हिंदू-संस्कृति'पर प्रकाश डालनेवाले लगभग ३०० लेख और ४६ कविताएँ हैं। कुछ लोगोंकी समझ है कि 'हिंदू' शब्द हीनत्वका द्योतक है। इस अङ्कमें इस शङ्काका उत्तर दिया गया है और हिंदू शब्द प्राचीन तथा गौरवार्थी है, यह दिखलाया गया है।

लेखोंमें 'भारतीय संस्कृति और सूर्य', 'भगवद्गीता और कम्यूनिस्टवाद', 'हिंदू कौन है', 'हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप,' 'त्याग और भोगका समन्वय,' 'भारतीय सामाजिक रचना और मार्क्सवाद', 'भारतीय संस्कृतिमें स्त्रियोंका स्थान' इत्यादि लेख विशेष अभ्यसनीय हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन दर्शन-शास्त्र, देवतावाद, हिंदुओंके मुख्य देवता, भगवान्‌के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अवतार, आदर्शभूत महर्षि, प्राचीन भक्त और अर्वाचीन सत्पुरुष, आदर्श स्त्रियाँ, विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्य, महात्मा और भक्त, आदर्श राजा-महाराजा इत्यादिकी जानकारी करानेवाले विविध लेख हैं। मुख्य सम्पादकका 'हिंदू-संस्कृति अध्यात्मपरक है' लेख विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकारके उत्तम लेखोंसे पूर्ण और उत्कृष्ट चित्रोंसे सुसज्जित प्रचण्ड अङ्क केवल वार्षिक मूल्यमें ही ग्राहकोंको मिल जाता है। कल्याणका वार्षिक मूल्य डाकव्ययसहित ७॥) रुपया है।

'ज्योति'—भारतके सुप्रसिद्ध हिंदी मासिकपत्र 'कल्याण'ने इस वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति' विषय-पर निकाला है। इसमें अनेकों चित्रोंके साथ १०४६ बड़े आकारके पृष्ठ हैं। पहले पृष्ठपर 'हिंदू-संस्कृति'का आदर्श रंगीन चित्रमें दिखलाया गया है। इस अङ्कमें हिंदू-संस्कृतिके समग्र प्रकार, मन्तव्य, वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंकी सूक्तियाँ, विभिन्न दर्शनों और वादोंका सार, आयुर्वेद-चिकित्सा, शिल्पकला, चित्रकला, सङ्गीतकला, नाट्यकला, नक्षत्रविज्ञान, सामुद्रिकशास्त्र, अवतार, ऋषि-मुनि, भक्त, सत्पुरुष, सन्नारी, राजपुरुष, तत्त्वचिन्तक, देवी-देवताओंके संक्षिप्त वृत्तान्त, शिष्टाचार, वर्णव्यवस्था आदि विषय दिये गये हैं। साम्प्रदायिक आचार्य, सुप्रसिद्ध शास्त्री, पण्डित, महामहोपाध्याय, साहित्यकार, प्राध्यापक, वकील आदिके अतिरिक्त श्रीअरविन्द, श्रीमाताजी, भूतपूर्व गवर्नर जनरल श्रीराजगोपालाचार्य, बंगाल तथा बिहारके गवर्नर, भारत-सरकारके भूतपूर्व उद्योगमन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, उत्तरप्रदेशके शिक्षामन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्द, श्रीगोलवलकर, श्रीविनोबा भावे आदि-आदिने हिंदू-संस्कृतिकी अनेकों वानगियाँ परोसी हैं। हिंदू-संस्कृतिका दर्शन करानेवाली अनेकों कविताएँ भी इस अङ्कमें हैं। अतएव प्रत्येक सुशिक्षित हिंदू बहिन-भाईके लिये इस अङ्कका पढ़ना आवश्यक है। यह विशेषाङ्क इतना बड़ा होनेपर तथा दूसरे ग्यारह अङ्क और भी दिये जानेवाले होनेपर भी 'कल्याण'के इस वर्षका वार्षिक मूल्य केवल ७॥) रुपया रक्खा गया है। इसके लिये तथा गत २३ वर्षोंसे हिंदू-धर्म, हिंदू-तत्त्वविद्या और हिंदू-संस्कृतिकी प्रतिमास लगातार सेवा करते रहनेके लिये हम 'कल्याण'के सञ्चालकोंको हार्दिक धन्यवाद देते हैं और अपने पाठकोंको 'कल्याण'का 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' पढ़नेके लिये अनुरोध करते हैं।

रजि० सं० ए० १७५

विष्णु भगवान्‌का ध्यान

तव प्रभु ध्यान करै युत प्रीती । एक चित्त निरखै एहि रीती ॥
नील कंज दल स्याम सरूपा । सिरपर ललित किरीट अनूपा ॥
मुख प्रसन्न अंबुज दुतिहारी । कंज गर्भ दृग सोभनकारी ॥
सौरभ स्याम अलक घुघुरारे । ललित कपोलन पैं सुख भारे ॥
मंडित गंड सुकुंडल लोलं । नासा सुक तहँ मुक्त अमोलं ॥

अरुण अधर अति सोहने, चिबुक चारु दर ग्रीव ।
कंठ कौस्तुभमनि लसै, सकल प्रभा की सींव ॥
अंगद भुज वर सोह, कटक मुद्रिका सुभग अति ।
मुक्त माल मन-मोह, संख चक्र कर कमल धर ॥

वक्ष चिह्न श्रीवत्स पुनीतं । लसत कमल केसर पट पीतं ॥
वनमाला युत मधुप सोहनी । रसना श्रोणि देस पर बनी ॥
नूपुर चरन शब्द युत नीको । पद नख मनि प्रकास कर ही को ॥
दर्सनीयतम सांत अनूपा । दृग मन कहु अभिराम अनूपा ॥
भक्त हृदय वर कंज सुहावन । सोइ आसन जिनको अति पावन* ॥

---

* हस्तलिखित दोहा-चौपाईयुक्त श्रीमद्भागवतसे ।

वर्ष २४
अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २००७, अक्टूबर १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥ जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥ जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥	साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

'कल्याण'का

पचीसवें वर्षका विशेषाङ्क

संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे प्रार्थना

'कल्याण' अपने ग्राहकोंकी रुचि और आग्रहसे प्रति तीसरे वर्ष प्राचीन साहित्यमें किसी विषय-पर विशेषाङ्क देनेका प्रयत्न किया करता है। इसीलिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'से पहले 'उपनिषदङ्क' निकला था। और अगले वर्ष 'संक्षिप्त स्कन्दपुराण' विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करना निश्चय किया गया है। भारतीय वाङ्मयमें पुराण-साहित्यका विशेष महत्त्व है। पुराणोंमें स्कन्दपुराण प्रधान है। इसमें तीर्थ, देवता, पर्व और मासादिके माहात्म्यके प्रसङ्गमें भगवान्‌के तत्त्व, स्वरूप, रहस्य, लीला, महत्त्व और चरित्रोंको लेकर बड़ी सुन्दर-सुन्दर कथाएँ दी गयी हैं। परंतु यह पुराण बहुत बड़ा है और मूल संस्कृतमें है, इस कारण सर्वसाधारण इसके लाभसे प्रायः अभीतक वञ्चित ही है। इसीलिये इसके विशेष-विशेष उपयोगी स्थलोंको चुन-चुनकर उनका सरल सुन्दर हिंदी अनुवाद इस अङ्कमें देनेका प्रयत्न किया गया है। अतः इस अङ्कमें बहुत ही रोचक, शिक्षाप्रद तथा लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली अनेकों सुरुचिपूर्ण सुन्दर ऐसी कथाएँ रहेंगी, जिनके पढ़नेमें बालक, वृद्ध, युवा सभी नर-नारियोंका मन लगेगा और उनका उपकार होगा।

साथ ही, इसमें भगवान् विष्णु, भगवान् शङ्कर, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण आदिके तथा भक्तोंके एवं अन्यान्य कथा-प्रसङ्गोंके सैकड़ों सादे, इकरंगे तथा बहुरंगे सुन्दर चित्र दिये जायँगे। जिससे यह अङ्क और भी सुन्दर, सुगम, सुबोध और विशेष आकर्षक तथा संग्रहणीय हो जायगा। इसमें पृष्ठ-संख्या लगभग ८०० होगी। यदि एक अङ्कमें संक्षिप्त स्कन्दपुराणकी पूरी सामग्री नहीं जा सकेगी तो अगले कुछ अङ्कोंमें वही और दी जायगी। उसके बादके अङ्कोंमें सदाकी भाँति पारमार्थिक विविध विषयोंपर अनुभवी तथा विद्वानोंके लेख रहेंगे। वार्षिक मूल्य ७॥) रक्खा गया है। इसमें 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' (विशेषाङ्क) मिलेगा और ग्यारह महीनोंतक प्रतिमास एक-एक साधारण अङ्क मिलता रहेगा।

अबतकके प्रकाशित 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनके लिये पहलेसे रुपये भेजकर ग्राहक नहीं बन जानेवालोंको निराश ही रहना पड़ा है। उन विशेषाङ्कोंके लिये अबतक हमारे पास बड़ी आग्रहपूर्ण माँगें आती हैं; परंतु अङ्क न होनेसे हमें सबको निराशापूर्ण उत्तर लिखना पड़ता है। अतएव नये-पुराने जिन सज्जनोंको ग्राहक बनना हो, वे मनीआर्डरसे ७॥) रुपये तुरंत भेजनेकी कृपा करें जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित हो जाय। मनीआर्डर-फार्म साथ भेजा जा रहा है।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं। अतएव सब पत्रव्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय और मनीआर्डरके कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। मनीआर्डर-कूपनमें ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये तथा नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये, और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग।

सजिल्द विशेषाङ्क चाहनेवालोंको १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये। इस वर्ष जिल्दों-की जुजबन्दीकी सिलाईकी व्यवस्था की गयी है।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये।

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजना चाहें, वे पूरी बीमा वेंचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्डपत्रसे रुपये न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'की नहीं होगी।

क्षुधा-माधुरी

कत हौ आरि करत मेरे मोहन तुम आँगनमें लोटी।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २००७, अक्टूबर १९५० { संख्या १०
पूर्ण संख्या २८७

सुधा-माधुरी

गोपालराइ दधि माँगत अरु रोटी ।
माखन सहित देहु मेरी मैया, सुपक सुकोमल रोटी ॥
कत हौ आरि करत मेरे मोहन, तुम आँगनमैं लोटी ।
जो चाहौ सो लेहु तुरतहीं, छाँड़ौ यह मति खोटी ॥
करि मनुहारि कलेऊ दीन्हौं, मुख चुपर्‌यौ अरु चोटी ।
सूरदासको ठाकुर ठाढ़ो, हाथ लकुटिया छोटी ॥

—सूरदासजी

याद रक्खो—सांसारिक सुख तुम्हारी उन्नतिका प्रतिबन्धक है, तुम्हारे विकासका वैरी है, तुम्हारे विवेकका नाशक है और तुम्हारे नये पापों और बन्धनोंका कारण है।

याद रक्खो—सांसारिक सुख तुम्हें सम्पत्तिपर गर्व करना सिखाता है, तुम्हारी प्रवृत्तियोंको बहिर्मुखी करता है, तुम्हारी यथार्थ दृष्टिपर अज्ञानका पर्दा डाल देता है और तुम्हारे सहज जीवन-प्रवाहका अवरोध करता है।

याद रक्खो—सांसारिक सुख तुम्हें ऐश्वर्यका गुलाम बनाता है, भविष्यकी सुखकल्पनाके भ्रमजालमें फँसाता है, तुम्हारे हृदयको कलुषित करता है और तुम्हें पतनकी ओर ले जाता है।

याद रक्खो—सांसारिक सुख विषयोंमें आसक्ति और कामनाको बढ़ाता है, बुद्धिको भ्रष्ट करता है, दीन और दुखियोंके प्रति उपेक्षाके भाव जाग्रत् करता है और अधिकारकी प्रबल लालसा उत्पन्न करता है।

याद रक्खो—सांसारिक सुख दूसरोंकी उन्नतिमें ईर्ष्या उत्पन्न करता है, मोहमुग्ध कर देता है, दूसरोंको मूर्ख और अपनेको बुद्धिमान् माननेके लिये आग्रह करता है और सहज ही श्रेष्ठ पुरुषोंका भी अपमान करवा देता है।

याद रक्खो—सांसारिक सुख मनुष्यकी दृष्टिको परम साध्यसे हटा देता है, विलास-विभ्रममें जोड़ देता है, आत्मशक्तिको छिपा देता है और मानव-जीवनको विफल कर देता है।

याद रक्खो—सांसारिक सुख तुम्हें धर्मसे हटाता है, ईश्वरसे विमुख करता है, आत्माको अधोगतिमें ले जाता है और नरकोंकी यन्त्रणा भोगनेको बाध्य करता है।

याद रक्खो—इसके विपरीत, सांसारिक दुःख उन्नतिमें सहायक है, विकासकी ओर ले जाता है, विवेकको जाग्रत् करता है और पापोंका प्रायश्चित्त कराकर बन्धनोंको काटता है।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख तुम्हें सुकृतियोंपर गर्व करना सिखाता है, तुम्हारी प्रवृत्तियोंको अन्तर्मुखी करता है, यथार्थ दृष्टिको खोलता है और जीवनप्रवाहको सीधा चलने देता है।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख तुम्हें मनका स्वामी बनाता है, भविष्यमें सच्चे सुखके साधन बतलाता है, हृदयको पवित्र और उदार बनाता है और उत्कर्षकी ओर ले जाता है।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख वैराग्य और उपरतिको उत्पन्न करता है, बुद्धिको शुद्ध करता है, दीन-दुखियोंके प्रति सहानुभूतिके भाव जाग्रत् करता है और अधिकारके केन्द्रसे हटाकर कर्तव्यपरायण बनाता है।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख विनयी और नम्र बनाता है, मोह-निद्रासे जगाता है, दूसरोंके प्रति सद्भाव पैदा करता है और श्रेष्ठ जनोंका सम्मान करना सिखाता है।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख साध्यका स्मरण कराता है, विलास-भ्रमका भंग कर देता है, आत्मशक्तिको प्रकाशित करता है और मानव-जीवनको सफलताकी ओर ले जाता है!

याद रक्खो—सांसारिक दुःख तुम्हें धर्ममें लगाता है, ईश्वरके आश्रयमें ले जाता है, आत्माका उत्थान करता है और नरक-यन्त्रणासे बचाकर सद्गति प्राप्त कराता है।

याद रक्खो—मोहके कारण ही तुम सांसारिक भोगसुखोंको चाहते हो और सांसारिक दुःखोंको भयानक मानकर उनसे भागना चाहते हो। विश्वास करो, जो सुख भगवान्का विस्मरण कराकर भगवान्की ओर अरुचि उत्पन्न कर दे, उसके समान कोई भी हमारा शत्रु नहीं है। और जो दुःख विषयोंसे हटाकर भगवान्की ओर लगा दे, उसके समान हमारा कोई मित्र नहीं है। इसी प्रकारके सुख-दुःखोंकी यह बात है और इसी दृष्टिसे सांसारिक सुख-दुःखका निरीक्षण और परीक्षण करके उनसे लाभ उठाना चाहिये।

'शिव'

श्रीमद्भागवतकी कुछ सुधा-सूक्तियाँ

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसंभृताम् ।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥
(५ । १९ । २५)

जो प्राणी इस भारतवर्षमें ज्ञान, क्रिया और द्रव्य-राशिसे सम्पन्न मानव-जन्मको पाकर भी मोक्षके लिये प्रयत्न नहीं करते, वे जंगली जन्तुओंकी भाँति पुनः बन्धनमें ही पड़ते हैं।

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं
स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्
वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ॥
(५ । १९ । २८)

देवता कहते हैं कि यदि इस देवलोकमें स्वर्गसुख-भोगसे बचा हुआ अब भी हमारा यज्ञ, स्वाध्याय एवं क्रियाजनित शुभ पुण्य शेष हो तो उसके फलरूपमें अजनाभ भारतवर्षके भीतर हमलोगोंका जन्म हो और उस समय हमें अपने पूर्वजन्मकी भी स्मृति बनी रहे। भारतवर्ष वह पुण्यस्थली है, जहाँ साक्षात् श्रीहरि अपना भजन करनेवालोंका कल्याण करते हैं।

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः ।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥
(६ । १ । १६)

राजन्! पापी मनुष्य अपने मन-इन्द्रिय और प्राणको श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित करके उनके भक्तजनोंकी सेवासे जितना पवित्र हो सकता है, उतना तपस्या आदिसे नहीं हो सकता।

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥
(६ । १ । १८)

राजेन्द्र! जैसे मदिरासे भरे हुए घड़ेको नदियाँ भी नहीं शुद्ध कर सकतीं, उसी प्रकार भगवद्विमुख मनुष्यको अनेकानेक प्रायश्चित्त व्रत भी पवित्र नहीं बना सकते।

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥
(६ । १ । १९)

जिन्होंने यहाँ भगवान्के गुणोंमें अनुरक्त हुए अपने मनको एक बार भी श्रीकृष्णचरणोंमें लगाया है, उनके द्वारा समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है। वे यमराज तथा उनके पाशधारी किङ्करोंको स्वप्नमें भी नहीं देखते।

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
(६ । २ । १०)

समस्त पापियोंके लिये यही सबसे सुन्दर प्रायश्चित्त है कि वह भगवान् विष्णुके नामोंका कीर्तन करे। इससे भगवद्विषयक बुद्धि होती है।

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥
(६ । २ । ११)

ब्रह्मवादी महात्माओंद्वारा बताये हुए व्रत आदि प्रायश्चित्तोंसे पापी पुरुष वैसा शुद्ध नहीं होता जैसा कि भगवन्नामसम्बन्धी पदोंके कीर्तनसे होता है। नाम-कीर्तन श्रीहरिके गुणोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है।

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥
(६ । २ । १२)

पापका प्रायश्चित्त कर लेनेपर भी यदि मन पुनः असत् मार्गपर दौड़ता है तो वह प्रायश्चित्त पापनिवृत्तिका आत्यन्तिक साधन नहीं है। अतः जो लोग कर्ममलका निराकरण करना चाहते हैं, उनके लिये श्रीहरिका गुणानुवाद ही अन्तःकरणको पवित्र बनानेवाला है।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
(६।२।१४)

किसीके नामके व्याजसे, परिहासमें या गीतके आलाप आदिके लिये अथवा अवहेलनापूर्वक भी लिया हुआ भगवान्‌का नाम सब पापोंका नाश करनेवाला माना गया है।

पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥
(६।२।१५)

गिरकर, लड़खड़ाकर, चोट खाकर, बिच्छू आदिके डंक काटनेपर, ताप सहकर या आघात पाकर विवशतापूर्वक भी जो हरि-नामका उच्चारण करता है, वह पुरुष यमयातनाको नहीं प्राप्त होता।

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(६।२।१८)

अनजानमें अथवा जानकर उच्चारण किया हुआ जो श्रीहरिका नाम है, वह मनुष्यकी पापराशिको उसी प्रकार भस्म कर देता है जैसे आग ईंधनको।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥
(६।३।२९)

यमराज अपने सेवकोंसे कहते हैं—जिनकी जिह्वा भगवान्‌के गुण और नामका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंका निरन्तर चिन्तन नहीं करता तथा जिनका मस्तक एक बार भी श्रीकृष्णके सामने नहीं झुकता, भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये कर्म न करनेवाले उन दुष्ट पुरुषोंको तुम अवश्य ले आओ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात् क्षितेस्तनुः॥
(६।७।२९)

आचार्य ब्रह्माका, पिता प्रजापतिका, भ्राता इन्द्रका तथा माता साक्षात् पृथ्वीका स्वरूप है।

दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम्।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥
(६।७।३०)

बहिन दयाकी मूर्ति है, अपना अतिथि साक्षात् धर्मका स्वरूप है, अभ्यागत अग्निका अङ्ग है तथा सम्पूर्ण भूत आत्माके रूप हैं।

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम्।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः॥
(६।१०।६)

निश्चय ही यह संसार स्वार्थी है, यह दूसरेके संकटको नहीं जानता। यदि जानता तो किसीसे याचना न करता, और जो देनेमें समर्थ है, वह माँगनेपर इनकार नहीं करता।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(६।११।२६)

भक्त वृत्रासुर कहते हैं—प्राणवल्लभ कमलनयन! जिनके पंख अभी नहीं उगे हैं ऐसे पक्षिशावक जैसे चारेके लिये अपनी माताकी बाट जोहते रहते हैं, भूखसे पीड़ित बछड़े जैसे वनमें गयी हुई गौ (मा) के दूधके लिये लालायित रहते हैं तथा विषादमें डूबी हुई प्रियतमा

जैसे परदेश गये हुए पतिसे मिलनेके लिये उत्सुक रहती है, उसी प्रकार मेरा मन भी बड़ी उत्कण्ठासे आपका दर्शन करना चाहता है।

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन वालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥
(६। १५। ३)

जैसे प्रवाहके वेगसे वालुका बह जाती तथा एकत्र हो जाती है, उसी प्रकार जीव कालके प्रभावसे संयुक्त और वियुक्त होते रहते हैं।

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु॥
(६। १६। ६)

जैसे बाजारमें बिकनेके लिये रक्खी गयी सुवर्ण आदि वस्तुएँ इधर-उधर भिन्न-भिन्न मनुष्योंके हाथमें जाती रहती हैं, उसी प्रकार जीव भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है।

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः।
कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च॥
(६। १७। १९)

सुख-दुःखको देनेवाला न तो अपना आत्मा है और न कोई दूसरा ही है। जो अज्ञानी है वही अपनेको अथवा दूसरेको दुःख-सुखका कारण मानता है।

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति॥
(७। २। ४०)

भाग्य अनुकूल हो तो उससे सुरक्षित होकर रास्तेमें गिरी हुई वस्तु भी ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती है, परंतु भाग्यकी मारी हुई होनेपर घरमें तिजोरीके भीतर रक्खी हुई वस्तु भी खो जाती है। दैवकी अनुकूल दृष्टि पड़नेपर वनमें अनाथ प्राणी भी जीवित रह सकता है; परंतु जो भाग्यका मारा हुआ है, वह घरमें सुरक्षित रहनेपर भी मर जाता है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(७। ५। २३-२४)

भक्त प्रह्लाद कहते हैं—भगवान् विष्णुके नामोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह नव प्रकारकी भक्ति है। यदि किसी पुरुषने भगवान् विष्णुके प्रति यह नवधा भक्ति सम्पादित कर ली तो मैं इसीको सबसे उत्तम अध्ययन मानता हूँ।

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥
(७। ६। १)

बुद्धिमान् पुरुष कुमारावस्थासे ही यहाँ भागवत धर्मोंका आचरण करे। क्योंकि मानवजन्म दुर्लभ है, यदि प्राप्त हो गया तो भी स्थिर रहनेवाला नहीं है; किंतु यदि इसका सदुपयोग हुआ तो यह परम पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥
(७। ७। ३२)

सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, ऐसा अपने मनमें समझते हुए उन सबको इच्छानुसार वस्तुएँ देकर भलीभाँति सम्मानित करना चाहिये।

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(७।९।९-१०)

मेरा ऐसा विचार है कि धन, उत्तम कुल, रूप, तपस्या, वेदाध्ययन, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पुरुषार्थ, बुद्धि और योग—ये सभी परमपुरुष भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं, परंतु भक्तिके द्वारा भगवान् गजराजपर भी सन्तुष्ट हो गये। उपर्युक्त बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् पद्मनाभके चरणकमलसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल ही श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया है। क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलको पवित्र करता है; किंतु बड़प्पनका अधिक अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥
(७।१४।८-९)

जितनेसे अपना पेट भर जाय उतने ही धनपर जीवोंका अधिकार है। जो इससे अधिक धनको अपना मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये। हरिन, ऊँट, गदहा, बंदर, चूहा, सर्प, पक्षी तथा मक्खीको भी अपने पुत्रकी ही भाँति देखे। भला इन जीवोंमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है।

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्।
कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥
(७।१५।१६-१७)

जो सन्तुष्ट है, निष्काम है तथा अपने-आपमें ही रमण करनेवाला है, उसे जो सुख मिलता है, वैसा सुख कामलालसा तथा धनकी अभिलाषासे चारों दिशाओंमें दौड़नेवाले लोगोंको कैसे प्राप्त हो सकता है।

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥
(७।१५।२२)

संकल्पके त्यागद्वारा कामको जीते, कामके त्यागसे क्रोधपर विजय प्राप्त करे, अर्थ—धनसे जो अनर्थ होते हैं, उन्हें दृष्टिमें रखकर लोभका त्याग करे तथा तत्त्वके विचारद्वारा भयको जीते।

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात्॥
नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति॥
(७।१५।४५-४६)

यह मनुष्य-शरीररूपी रथ जबतक अपने वशमें है और इसके इन्द्रिय-मन आदि साधन अच्छी दशामें विद्यमान हैं, तभीतक श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी सेवा-पूजासे तेज की हुई ज्ञानकी तीखी तलवार लेकर भगवान्‌के आश्रयसे राग-द्वेषादि शत्रुओंका नाश करके अपने स्वाराज्य-सिंहासनपर विराजमान हो जाय और फिर अत्यन्त शान्तभावसे इस शरीरका भी परित्याग कर दे। नहीं तो, तनिक भी प्रमाद हो जानेपर ये इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़े और उनसे मित्रता रखनेवाला बुद्धिरूप सारथि रथके स्वामी जीवको उलटे रास्ते ले जाकर विषयरूपी लुटेरोंके हाथमें डाल देगा। वे डाकू सारथि और घोड़ोंके सहित इस जीवको मृत्युके अत्यन्त भयावने घोर अन्धकारमय संसारके कुएँमें गिरा देंगे।

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात् ।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत् ॥
(८ । ९ । २९)

मनुष्य अपने प्राण, धन, कर्म, मन और वाणी आदिसे शरीर एवं पुत्र आदिके लिये जो कुछ करता है, वह सब व्यर्थ ही होता है, क्योंकि उसके मूलमें भेदबुद्धि बनी रहती है। परंतु उन्ही प्राण आदि वस्तुओंके द्वारा भगवान्के लिये जो कुछ किया जाता है, वह सब भेदभावरहित होनेके कारण अपने शरीर, पुत्र एवं समस्त संसारके लिये सार्थक होता है। जैसे वृक्षकी जड़में पानी देनेसे उसका तना, टहनियाँ और पत्ते सब सिंच जाते हैं, वैसे ही भगवान्के लिये किया हुआ कर्म सबके लिये श्रेयस्कर होता है।

गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि ।
यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः ॥
(८ । १६ । ७)

जिन घरोंमें आये हुए अतिथियोंका जलसे भी सत्कार नहीं किया जाता और वे वैसे ही लौट जाते हैं, वे घर निश्चय ही गीदड़ोंके निवासस्थानके सदृश हैं।

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्तते सुखम् ।
नासन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥
पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः ।
यदृच्छयोपपन्नेन संतोषो मुक्तये स्मृतः ॥
(८ । १९ । २४-२५)

जो कुछ प्रारब्धसे मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहनेवाला पुरुष सुखी होता है। परंतु जिसका मन अपने वशमें नहीं है, वह तीनों लोकोंका राज्य पानेसे भी सन्तुष्ट नहीं होता। अतएव वह सुखसे वञ्चित रहता है। धन और भोगोंसे सन्तोष न होना ही जीवके संसारबन्धनमें पड़नेका कारण है। तथा जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें सन्तोष कर लेना मुक्तिका कारण माना गया है।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(९ । १९ । १३-१४)

इस पृथ्वीपर जितने भी धान, जौ आदि अन्न, सुवर्ण, (धन-सम्पत्ति) गौ आदि पशु और स्त्रियाँ है, वे सब प्राप्त हो जायँ तो भी भोगासक्तिके मारे हुए पुरुषके मनको संतुष्ट नही कर सकतीं। उसके मनमें और अधिक भोगोंकी चाह बढ़ती रहेगी। भोगोंकी कामना उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, अपितु घीसे, प्रज्वलित होनेवाली अग्निकी भाँति अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
(१० । १ । ४)

जिनकी समस्त अभिलाषाएँ निवृत्त हो गयी है, वे वीतराग मुनि भी जिसका सदा ही गान करते रहते हैं, जो इस भवरोगको दूर करनेवाली अमोघ ओषधि हैं, और जो कानों तथा मनको अत्यन्त प्रिय लगता है, भगवान् श्रीकृष्णके उस गुणानुवादसे पशुघाती हत्यारेके सिवा दूसरा कौन पुरुष मुँह मोड़ेगा।

साध्वी सुशीलाकी शिक्षाप्रद कहानी

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीतामें मनुष्यको आत्मकल्याणार्थ दैवी सम्पदा धारण करनेके लिये कहा गया है (गीता १६ । ५) । अतः कल्याणकामी मनुष्यको दैवी सम्पदामें बतलाये हुए सद्गुण-सदाचारोंको अमृतके समान समझकर उनका सेवन करना चाहिये । गीतामें सोलहवें अध्यायके आरम्भमें ही तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने सद्गुण-सदाचारोंके साररूप दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

'(१) भयका सर्वथा अभाव, (२) अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, (३) तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और (४) सात्त्विक दान, (५) इन्द्रियोंका दमन, (६) भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं (७) शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोका कीर्तन, (८) स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और (९) इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, (१०) मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, (११) प्रिय और यथार्थ भाषण, (१२) अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, (१३) कर्मोंमें स्वार्थका और कर्तापनके अभिमानका त्याग, (१४) अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, (१५) किसीकी भी निन्दादि न करना, (१६) सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, (१७) इन्द्रियोंका विषयोके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, (१८) कोमलता, (१९) लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और (२०) व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, (२१) तेज, (२२) क्षमा, (२३) धैर्य, (२४) बाहरकी शुद्धि एवं (२५) किसीमें भी शत्रुभावका न होना और (२६) अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन ! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ।'

प्रत्येक भाई-बहिन इन दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षणोंको अपनेमें भलीभाँति धारण करनेका कुछ तरीका जान सकें, इसके लिये यहाँ एक कहानी लिखी जाती है—

प्रयागमें एक ब्राह्मण रहते थे, उनका नाम था देवदत्त । वे बड़े ही विद्वान्, सरलस्वभाव, सदाचारी और ईश्वरभक्त थे । राज्यके अधिकारियोंमें भी उनका बड़ा सम्मान था । उनकी पत्नीका नाम था गौतमी । वह बड़ी ही सरल, सीधी, भोले स्वभावकी तथा अक्षरज्ञानरहित थी । उसको एकसे सौतककी गिनतीतक नहीं आती थी । उसके तीन पुत्र और एक कन्या थी । बड़े लड़केका नाम सोमदत्त, बिचलेका रामदत्त और सबसे छोटेका मोहनलाल था । तीनों ही सुशिक्षित और सदाचारी थे । लड़कीका नाम था रोहिणी । इन सभीके विवाह हो चुके थे । रोहिणीके पतिका देहान्त छोटी उम्रमें ही हो गया तथा उसके कोई सन्तान नहीं हुई, इसलिये वह नैहरमें ही रहती थी । लड़कोंकी पत्नियोंके नाम क्रमशः रामदेवी, भगवानदेवी और सुशीला थे । इनमेंसे पहली दो स्त्रियाँ तो अनपढ़ और मूर्ख थीं, किंतु सुशीला बड़ी विदुषी थी, वह अपने नामके अनुसार ही बड़ी शीलवती थी । वह अत्यन्त शान्तस्वभाव, सद्गुण-सदाचारसम्पन्न, ईश्वरभक्त और पतिव्रता थी ; वह सभी कामोंमें चतुर और सुशिक्षिता थी । वह कटाई-सिलाई करने, कसीदे काढ़ने, कपड़ोंपर बेल-बूटे बनाने, गंजी-मोजे बनाने, सुन्दर लिपि लिखने तथा चित्रकारी आदि शिल्प-विद्यामें भी बड़ी निपुण थी । उसमे त्याग, सेवाभाव, धैर्य और कार्यकुशलता आदि गुण विशेषरूपसे थे । जबसे सुशीला घरमें आयी, तबसे घरमें मानो सुव्यवस्था आ गयी । उसने सभीको निःस्वार्थ सेवासे मुग्ध करके अपने अनुकूल बना लिया । वह सभीके साथ बड़े प्रेमसे यथायोग्य बर्ताव किया करती । बड़ोंका आदर करती, अपनेसे छोटोंपर दया और स्नेह रखती तथा समान वयकी स्त्रियोंसे मैत्री करती थी । घरवाले तो सब उसके काम-काज और शील-स्वभावसे सन्तुष्ट रहते ही थे, मुहल्लेके अन्य स्त्री-पुरुष भी उसके गुणोंसे प्रभावित होकर सदा उसकी प्रशंसा किया करते । सुशीला यद्यपि छोटी उम्रकी और नववधू थी, पर उसके गुणोंकी इतनी ख्याति हो गयी कि दूर-दूरकी स्त्रियाँ उससे सलाह और शिक्षा लेने आया करती थीं ।

पण्डित देवदत्तजी नित्य नियमितरूपसे सन्ध्या गायत्री,

बहुत अच्छी प्रथा है। वहाँ तो नामकरण-संस्कार होनेके बाद वेद और गीताका पाठ, कथा-कीर्तन आदि हुआ करते हैं; धर्मात्मा, भक्त, दानी, परोपकारी और शूरवीर पुरुषोंकी कथाएँ सुनायी जाती हैं, जिससे बड़ी ही अच्छी शिक्षा मिलती है। इसलिये मेरी तो आपसे यही प्रार्थना है कि इन प्रमादके कार्योंको बंद करा दिया जाय।' सुशीलाके इन विनययुक्त वचनोंका उनपर अच्छा असर पड़ा। उन्होंने तुरंत वे सब बंद करके सुशीलाके कहे अनुसार सारी व्यवस्था कर दी।

घरमें और कोई लड़का न होनेके कारण गौतमी उस लड़केसे विशेष प्यार किया करती। उसने उसके हाथों और पैरोंमें काले डोरे बाँध दिये और गलेमें एक झाल्रा पहना दिया, जिसमें व्याघ्रनख, लाख और लोहेकी अँगूठी, ताबीज तथा जरखनख आदि पिरोये हुए थे। थोड़े समय बाद वे डोरे लड़केके हाथ-पैरोंकी कलाइयोंमें कुछ-कुछ धँसकर इस प्रकार बैठ गये कि उनमें निशान पड़ गये तथा उस झाल्रेसे छाती और पीठपर कई जगह निशान पड़ गये। यह देखकर सुशीलाने साससे कहा—'माताजी! बच्चेके हाथ-पैरोंमें ये डोरे क्यों बाँधे गये हैं? इससे तो इसके हाथ-पैर भी कमजोर रह जायँगे और उनमें निशान भी पड़ गये हैं; तथा यह झाल्रा रातको इसके बदनमें गड़ जाता है, इससे भी कई जगह निशान पड़ गये हैं। इनके बाँधनेसे क्या लाभ है?'

गौतमी बोली—'डाकिनी, पूतना आदिके नजरका दोष बचानेके लिये लड़केकी रक्षाके हेतु ये बाँधे जाते हैं।' तब सुशीलाने पूछा—'आपने इन्द्रसेनीको तो ये कभी नहीं पहनाये?' गौतमीने उत्तर दिया—'लड़कियोंकी रक्षा तो भगवान् करते हैं। इसलिये उनके यह सब बाँधनेकी आवश्यकता नहीं।' सुशीलाने हाथ जोड़कर बड़ी ही विनयसे कहा—'माताजी! भगवान् तो सबकी ही रक्षा करते हैं। जो भगवान् इन्द्रसेनीकी रक्षा करते हैं, वही इसकी भी रक्षा करेंगे। इसके लिये हमलोगोंको इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिये; इन सब कार्योंसे तो उलटा भगवान्पर अविश्वास ही प्रकट होता है तथा कोई लाभ भी नहीं दीखता।'

सुशीलाकी ये युक्तियुक्त बातें गौतमीको भी जँच गयीं और उसने बच्चेके गलेसे वह झाल्रा और हाथ-पैरोंके डोरे उसी दिन निकाल दिये।

(२)

कुछ दिनोंके पश्चात् हरद्वारमें कुम्भका मेला लगा। सब लड़कोंने मिलकर पण्डितजीके सामने प्रस्ताव रक्खा कि आपकी अनुमति हो तो सब लोग कुम्भ मेलेपर हरद्वार चलें। इसपर पण्डितजीने कहा—'बहुत ही अच्छा है, हम भी चलेंगे।' फिर क्या देर थी, तुरंत तैयारी हो गयी और घरका प्रबन्ध करके वे समस्त परिवारसहित चल पड़े। चलते समय सुशीलाने सबसे प्रार्थना की—'मेलेमें ठग, चोर, कुटनियाँ और लुटेरे भी आया करते हैं, उन सबसे बहुत सावधान रहना चाहिये। किसी भी अपरिचित स्त्री-पुरुषसे कभी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये, किसीकी दी हुई वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिये और न किसी अपरिचितका विश्वास ही करना चाहिये। यात्रामें खान-पानमें संयम रखना, और सदा धैर्य तथा विवेकसे काम लेना उचित है। किसीके भी सामने कमजोर और डरपोक नहीं बनना, बल्कि धैर्यपूर्वक उत्साह और साहससे काम निकालना चाहिये।'

रास्तेमें सब लोगोंने अयोध्याजी उतरकर स्नान, दर्शन करनेका विचार किया और वे वहाँ जाकर एक धर्मशालामें ठहर गये। सब लोगोंने सरयूमें स्नान करके मन्दिरोंमें जाकर भगवान्के दर्शन किये और फिर धर्मशालामें आ गये। रसोइया धर्मशालाके बाहर चबूतरेपर बैठा था। वहाँ एक ठगने आकर उससे कहा—'मैं तुम्हें एक मसाला देता हूँ, इसे तुम दालमें डाल दोगे तो दाल बहुत बढ़िया बन जायगी और उसको खानेपर सब घरवाले तुम्हारे वशमें हो जायँगे।' रसोइया तो मूर्ख था ही, उसने उससे वह मसाला ले लिया और कुछ दालमें डाल दिया तथा बाकी बचा हुआ पुड़ियामें बाँधकर अलग रख दिया। भोजन तैयार होनेपर सोमदत्त और रामदत्त दोनों भाई, इन्द्रसेन, इन्द्रसेनी और बहिन रोहिणीने भोजन किया। भोजन करते ही वे सब बेहोश हो गये। यह देखकर सुशीलाने निश्चय किया कि अवश्य ही कुछ-न-कुछ गड़बड़ी है, नहीं तो, ये सभी बेहोश कैसे होते।

वह तत्काल रसोईघरमें गयी और देखा कि एक कागजकी पुड़ियामें धतूरेके बीज रक्खे हैं। उसने रसोइयासे पूछा—'आपने आज यह क्या खिला दिया, जिससे खानेवाले सब बेहोश हो गये?' रसोइयाने कहा—'कुछ नहीं।' सुशीला बोली—'कुछ नहीं तो ये बेहोश कैसे हुए? आप सच्ची बात बतला दीजिये; नहीं तो आपपर कानूनी कार्रवाई की जायगी।' यह कहकर सुशीलाने उसको धतूरेके बीज दिखलाये और कहा—'यह क्यों लाये गये हैं?' रसोइया बोला—'एक सज्जन आये थे, वे मुझको बीस रुपये तो दानस्वरूप

भेंट कर गये और यह मसाला दे गये कि इसे दालमें डाल देनेसे दाल बढ़िया हो जायगी और उसको खाकर सब प्रसन्न हो जायँगे। मैंने मसालेको देखा नहीं, कुछ तो दालमें डाल दिया था और कुछ पुड़ियामें रख दिया।'

सुशीलाने तुरंत सारी बातें अपने पतिसे कहीं और शीघ्र उपचार करनेके लिये निवेदन किया। मोहनलालने पण्डितजीसे कहा। सब सुनकर पण्डितजीको बड़ा खेद और आश्चर्य हुआ। उन्होंने चिकित्साके लिये उसी क्षण अच्छे वैद्योंको बुला भेजा और फिर रसोइयाको बुलाकर उसे डाँटा-धमकाया—'तुमने हम सबको मार डालनेका विचार किया था, तुमको पुलिसमें देना चाहिये।' इसपर उसने उनसे क्षमा-प्रार्थना की, तब पण्डितजीने उसको क्षमा करते हुए कहा—'भविष्यमें किसीके साथ ऐसा काम कभी नहीं करना।' इतनेमें वैद्य आ पहुँचे और तत्काल अनुकूल चिकित्सा हो जानेसे सभी लोग बच गये। सबने सुशीलाकी प्रशंसा की।

दूसरे दिन वे वहाँसे चल पड़े। गाड़ी ज्वालापुर पहुँची। बच्चे प्यासे थे, इसलिये सुशीला उन्हें लेकर पानी पिलाने नीचे उतरी। इतनेमें गाड़ी खुल गयी और वह स्टेशनपर रह गयी। घरके लोगोंने जंजीर खींची, पर वह बिगड़ी होनेसे गाड़ी नहीं रुकी। पण्डित देवदत्तजी एवं अन्य सब लोग हरद्वार पहुँचे। शहरमें सब जगह रुकी हुई थी, इसलिये वे गङ्गाजीके किनारे तंबू डालकर उन्हींमें टिक गये; किंतु बालकोंसहित सुशीलाके छूट जानेसे बड़ी चिन्तामें पड़ गये और उसकी खोज करने लगे।

इधर सुशीला घबरायी नहीं, वह बच्चोंको गोदमें लिये पैदल ही चलकर ज्वालापुरसे हरद्वार आ गयी और एक मन्दिरमें जाकर ठहर गयी। उसने विद्वान् पुजारीजीसे अपना सारा हाल संस्कृतमें ही कह सुनाया। पुजारीजीपर उसकी विद्वत्ताका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसको वहाँ ठहरनेके लिये स्थान दे दिया। तब उसने बहुतसे कागज मँगवाकर उनपर अपने ज्वालापुरसे यहाँ आकर मन्दिरमें ठहरनेकी बात लिखी और मन्दिरका पता आदि लिख दिया। पुजारी-जीकी सहायतासे परोपकारी स्वयंसेवकोंद्वारा वे विज्ञापन शहरके प्रधान-प्रधान स्थानोंपर चिपकवा दिये गये तथा पुलिसमें सूचना पहुँचा दी गयी। इससे यह समाचार तुरंत ही सब जगह फैल गया। घरवाले खोज कर ही रहे थे। पता लगते ही मन्दिरमें जाकर उसे ले आये। उसकी इस अद्भुत कार्य-कुशलता और धीरजको देखकर घरवालोंको बड़ी प्रसन्नता हुई।

वहाँ मेलेकी भीड़के कारण उन लोगोंको शुद्ध दूध नहीं मिला, और उनको वहाँ कुछ दिन ठहरना था; अतः दो सौ रुपयोंमें एक गाय खरीदी गयी और वे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। वे रातमें पारी-पारीसे जागकर पहरा दिया करते थे। एक दिनकी बात है, सुशीलाका पहरा था। रातके चार बजे थे। उस समय चोर आया और वह गायको खोलकर ले जाने लगा। सुशीला बड़ी दूरदर्शिका थी। उसने पहलेसे ही तंबूमें एक घण्टा मँगवाकर रख छोड़ा था और घरवालोंको बता रक्खा था कि 'कोई चोर आदि आयेगा या कोई विपत्ति आवेगी तो मैं जोरसे घण्टा बजाऊँगी।' जोरोंसे चिल्लानेपर लज्जा जाती है और सूचना न देनेपर विपत्ति नहीं हटती, चोर धन ले जाता है, इसीलिये सुशीलाने पहलेसे सोचकर यह व्यवस्था की थी। उसने चोरको देख लिया और तुरंत बड़े जोरोंसे घण्टा बजाने लगी। घण्टाकी ध्वनि सुनते ही सब घरवाले चौंक पड़े और सबने एक साथ ही हल्ला किया—'क्या है? क्या है?' इतनेमें चोर भाग गया। बहूकी इस बुद्धिमत्तापर सब बड़े प्रसन्न हुए।

जब कुम्भका पर्व आया, तब वे सब हरकी पैड़ीपर स्नान करनेके लिये चले। अत्यधिक भीड़ होनेके कारण कई यात्री रास्तेमें दबकर मर गये; किंतु बुद्धिमती सुशीला घरवालोंको बड़ी चतुराईके साथ भीड़से निकालती हुई सड़कके किनारे-किनारे चलकर घाटपर ले गयी। गङ्गास्नान करके सब लोग डेरेपर वापस आ गये। फिर एक दो दिन बाद ही वे सब लोग प्रयाग लौट आये और अपने घरपर पहलेकी भाँति रहने लगे।

(३)

एक बार ग्रीष्मकालकी पूर्णिमाका दिन था, सुशीला अपने घरकी छतपर घूम रही थी। पड़ोसके घरकी मालिकन भी अपने घरकी छतपर आयी हुई थी। वह सम्पन्न घरकी विधवा ब्राह्मणी थी। उसके दो लड़के थे। एक १६ वर्षका और दूसरा ३ वर्षका। दोनों घरोंकी छतें बराबर होनेके कारण सुशीलाने सामने जाकर उसको नमस्कार किया। वह बड़ी ही कर्कशा थी। वह बोली—'क्यों री! तू चार अच्छर पढ़ी है, इसीके घमण्डमें मुझे चिढ़ा रही है?' सुशीला बोली—'नहीं जी, मैं तो आपको अपनी माता और सासके समान समझकर नमस्कार करती हूँ।' वह बोली—'ठीक, तब तो तू मुझे चतुराईसे अपने बाप और ससुरकी औरत बनाना चाहती है! तेरे उन निपूते बाप और ससुरकी दाढ़ी जलाऊँ, जो मुझे

अपनी औरत बनाना चाहते हैं।' वह इस प्रकार गालियाँ देने लगी और फिर नीचे उतरकर घरके बाहर निकलकर शोर मचाने लगी। जब राह चलते और अड़ोस-पड़ोसके बहुत लोग इकट्ठे हो गये, तब वह उनसे कहने लगी—'इस छोकरी सुशीलाकी ढिठाई तो देखो, यह मुझे अपने बाप और ससुरकी औरत बनाती है।'

जो लोग सुशीलाके हितैषी थे, वे उसकी नाना प्रकारकी गालियोंको सुनकर सुशीलाके पास गये और कहने लगे कि—'तुम अपने पतिको कहकर इसकी पुलिसमें रिपोर्ट करवा दो। अदालत इससे मुचलका ले लेगी। कोई भी किसीको अनुचित गालियाँ नहीं दे सकता।' इसपर सुशीलाने बड़े विनयके साथ हाथ जोड़कर प्रेमसे उन लोगोंको समझाया—'पुलिसमें जाना भले आदमियोंका काम नहीं है। आप देखिये, भगवान्‌ने चाहा तो थोड़े ही समयमें मैं इनको प्रेमसे अपना लेती हूँ।' उसके इस सरल द्रोहरहित हितैषितापूर्ण निर्वैरताके व्यवहारको देखकर वे सब बड़े प्रसन्न होकर चले गये।

एक दिनकी बात है कि उस कर्कशाका तीन सालका बच्चा घरके बाहर सड़कपर खेल रहा था, उसी समय दो साँड़ लड़ते लड़ते बालकके समीप आ पहुँचे। सुशीलाने यह देख लिया। वह तुरंत दौड़कर उसको अपनी गोदमें उठा लायी और पड़ोसिनके पास जाकर कहा—'अकेले बालकको सड़कपर नहीं छोड़ना चाहिये। दो साँड़ लड़ते आ रहे थे, लड़केको चोट न पहुँचा दें, इसलिये मैं इसे उठा लायी हूँ।' इसपर कर्कशा बोली—'चल री चल। इसे तू क्यों उठा लायी? मैं आप ही ले आती।' सुशीलाने कहा—'मैं ले आयी तो इसमें मेरा क्या बिगड़ गया?' यों कहकर लड़केको उसके पास बिठाकर वह अपने घर लौट आयी।

सुशीलाके नैहरमें एक धनी ब्राह्मण था, उसकी सुशीलापर बड़ी श्रद्धा थी। उसने अपनी बारह वर्षकी कन्याकी सगाईके लिये सुशीलाके पास आदमी भेजा। उस कन्याकी सगाईकी बातचीत इसी कर्कशाके बड़े लड़केके साथ चल रही थी। शहरके एक आदमीने कर्कशासे कहा—'तुम्हारे लड़केकी सगाईके विषयमें पूछ-ताछ करनेके लिये सुशीलाके नैहरका ब्राह्मण उसके पास आया है।' यह सुनकर कर्कशा चौंक उठी और बोली—'वह तो मुझसे लड़ी हुई है और सदा मुझसे दुश्मनी रखती है।' यह कहकर वह सुशीलाके घरके द्वारपर छिपकर खड़ी हो गयी और सुशीला तथा उस ब्राह्मणकी परस्परकी बातचीत गुप्तरूपसे सुनने लगी।

ब्राह्मणने सुशीलासे कहा—'तुम्हारे भाईके मित्रने तुमपर विश्वास करके मुझे यहाँ भेजा है। तुम्हारे पड़ोसमें विधवा ब्राह्मणीके एक सोलह वर्षका लड़का है, उसके साथ उनकी कन्याकी सगाई करनेमें तुम्हारी क्या राय है?' सुशीला सब हाल जानती थी। उसने सोचा, दोनों ही धनी हैं। दोनोंकी ही स्त्रियाँ कर्कशा और कलहप्रिय हैं। यह सोचकर उसने ब्राह्मणसे कहा—'उनके लिये यह सगाई सब प्रकारसे अच्छी है।' ब्राह्मणने पूछा—'लड़केकी माको तो लोग कर्कशा बतलाते हैं।' सुशीला बोली—'आजकलके समयमें स्त्रियोंमें बुद्धि कम होनेके कारण सभी घरोंमें राग-द्वेष और कलह रहता है, इसीसे एक दूसरेकी निन्दा करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। मेरी समझमें तो उनके लिये यह सगाई कर लेनी अच्छी है।' यह सन्देश लेकर ब्राह्मण वहाँसे चला गया।

कर्कशा सारी बात आद्योपान्त सुन रही थी। उसपर सुशीलाके इस बर्तावका बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। वह घरके भीतर सुशीलाके पास चली गयी और विनयसे कहने लगी—'सुशीला! तू धन्य है। मैंने तो तेरे साथ बुरा-ही-बुरा बर्ताव किया। इसपर भी तू तो मेरा हित ही करती रहती है। बहिन! मैं तेरे इस व्यवहारको देखकर मुग्ध हो गयी। यह विद्या तूने कहाँसे सीखी है? क्या मेरा स्वभाव भी तुझ-जैसा हो सकता है? मैं तेरा सङ्ग करना चाहती हूँ। क्या मैं समय-समयपर तेरे यहाँ आ सकती हूँ?' सुशीलाने उत्तर दिया—'क्यों नहीं। यह तो आपका ही घर है। आप यहाँ पधारें, यह तो मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपकी मुझपर बड़ी ही दया और प्रेम है।' वह बड़ी प्रसन्न हुई और समय-समयपर सुशीलाके घर जाने लगी। सुशीलाके सङ्गसे उसपर भी अच्छा असर होने लगा तथा थोड़े ही समय बाद वह भी सुशीलाके समान सुन्दर स्वभाववाली बन गयी।

कर्कशा पड़ोसिनमें ऐसा अद्भुत परिवर्तन देखकर सुशीलाके उन हितैषियोंपर बड़ा अच्छा असर पड़ा, जो पहले उसकी रिपोर्ट पुलिसमें करनेके लिये सुशीलासे अनुरोध करते थे; वे अब सुशीलाके पास आकर कहने लगे—'सुशीला! बड़े आश्चर्यकी बात है? तुमने तो इसको अपने समान ही बना लिया!' सुशीला बोली—'यह सब ईश्वरकी कृपा है।'

उन हितैषियोंने फिर कहा—'धन्य है तुमको। हम जो इस कर्कशाकी पुलिसमें रिपोर्ट करनेकी कहते थे, यह हमारी गलती थी।'

कुछ ही दिनों बाद कर्कशाके लड़केका विवाह निश्चित हुआ, तब वह सुशीलाके घरके सभी पुरुषोंको आग्रह करके विवाहमें ले गयी। घरके सभी पुरुष तीन दिनोंके लिये बारातमें चले गये। इसी बीचमें उस मुहल्लेमें एक बनिये-के यहाँ चोरी हो गयी। अतः उस बनियेको साथ लेकर कोतवाल पण्डितजीके घरमें आ घुसे और बोले कि हम आपके घरकी तलाशी लेने आये हैं। यह सुनकर घरकी सब स्त्रियाँ घबरा गयीं; तब गौतमी बोली—'बहू! पुलिसवाले आये हैं, इनका आना अच्छा नहीं। इन लोगोंको कुछ रुपये-पैसे देकर विदा कर दो।' सुशीलाने कहा—'आप चिन्ता न करें, मैं स्वयं ही सब ठीक कर लूँगी।' फिर सुशीला उस बनियेसे कहने लगी—'क्योंजी! क्या आप हमारे घरमें पुरुषोंकी अनुपस्थितिमें तलाशी करवाकर हमारी बेइज्जती कराना चाहते हैं? क्या आपको अपने चोरीके मालका हमारे घरपर सन्देह है?' बनियेने कहा—'नहीं देवीजी! मैं तो ऐसा नहीं चाहता। मुझे तो ये पुलिसवाले ही यहाँ ले आये।' फिर सुशीलाने निर्भीकतापूर्वक कोतवालसे कहा—'क्यों कोतवालजी! क्या आप हमारे घरकी तलाशी लेने आये हैं?' कोतवाल बोला—'कल रातको इस बनियेके यहाँ चोरी हो गयी; अतः हमलोग तलाशी लेनेके लिये यहाँ आये हैं।' सुशीलाने निर्भयतासे कहा—'बहुत अच्छा! आप मुझे लिखकर दे दीजिये कि मैं अपनी स्वतन्त्रतासे तुम्हारे घरकी तलाशी ले रहा हूँ और यह भी बताइये कि तलाशी लेनेपर कुछ नहीं पाया जायगा तो हमारी इस बेइज्जतीका दावा हम किसपर करें, उसके जिम्मेवार कौन होंगे?' यह सुनकर कोतवाल घबराया और बोला—'यह बनिया ही मुझे यहाँ ले आया है और यहाँ आकर अस्वीकार करता है।' यों बात बनाकर वे सब वहाँसे चल दिये। जब घरके पुरुष विवाहसे लौटे तो इस घटनाको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए तथा सुशीलाका और भी अधिक आदर-सत्कार करने लगे।

(४)

इस प्रकार घरके पुरुषोंके द्वारा सुशीलाका बड़ा आदर-सत्कार होने लगा। सुशीलाके इस बढ़ते हुए आदर-सम्मानने घरकी अन्य स्त्रियोंके मनोंमें ईर्ष्याकी आग जला दी। वे सब उससे मन-ही-मन कुढ़ने लगीं और उसे नीचा दिखानेके लिये उसमें छिद्रान्वेषण करने लगीं; किंतु सुशीलामें तो कोई दोष था ही नहीं; वह तो सबकी सेवा करती और सबके गुणोंका बखान किया करती, किसीके अवगुणोंकी ओर तो वह कभी देखती ही नहीं। इसलिये उन लोगोंको कोई साधन नहीं सूझता था। घरकी स्त्रियोंकी इस मनोवृत्तिको देखकर रसोइया और नौकरने इस परिस्थितिसे लाभ उठानेकी सोची।

एक दिन घरकी सब स्त्रियोंने रसोइया और नौकरके साथ मिलकर सुशीलाको गिरानेके लिये षड्यन्त्र रचा। एक योजना बनायी गयी और उसीके अनुसार देवी रामदेवीने यह झूठी बात फैलायी कि मेरा स्वर्णका कङ्कण चोरी हो गया और मेरा सन्देह सुशीलापर है। घरके पुरुषों-को इस बातपर विश्वास नहीं हुआ। कुछ ही दिन बीतनेपर बहिन रोहिणीने यह झूठा प्रचार किया कि मेरा लहँगा और एक साड़ी कलसे गायब है। तब पुरुषोंको कुछ आश्चर्य हुआ कि रोज-रोज घरमें यह चोरी कैसे होने लगी। जाँच-पड़ताल की गयी, पर कुछ पता नहीं चला। फिर दो-चार दिनों बाद ही भगवानदेवीने कहा कि मेरा सोनेका हार कल रातसे गायब है। घरवालोंने बहुत छानबीन की; किंतु कुछ भी पता नहीं चला। चलता भी कैसे? जिसकी चीज होती, वही उसे छिपाकर रख देती। घरकी सभी स्त्रियोंने अपनी-अपनी चीजोंका सुशीलापर ही सन्देह बतलाया।

वहाँ उसी मुहल्लेमें भक्तिदेवी नामकी एक बुढ़िया स्त्री रहती थी, जिसका नैहर सुशीलाके पिताके पड़ोसमें ही था और सुशीलाकी माके साथ उसका बड़ा प्रेम था।

नौकरसे यह सूचना मिली कि भक्तिदेवी कल अपने नैहर जानेवाली है। इसपर नौकर, रसोइया और सब स्त्रियोंने मिलकर एक जालसाजी रची। जिन चार चीजोंके खोनेकी बात फैलायी गयी थी, वे चारों चीजें रोहिणीने एक थैलीमें रखकर उसे सीकर उस बुढ़िया भक्तिदेवीके पास रसोइयाके हाथ भेजी और साथमें एक चिट्ठी लिखकर दी, जिसमें यह लिखा कि 'माताजीसे सुशीलाका नमस्कार। इस भक्तिदेवीके हाथ यह थैली भेजी जा रही है। इसका किसीको पता नहीं लगना चाहिये।' रसोइयाने भक्तिदेवीके पास जाकर कहा—'लो, सुशीलाने अपनी माके पास यह थैली भेजी है और कहा है कि मेरी माको ही देना, किसी दूसरेको नहीं।' यह कहकर रसोइया घर आ गया।

उसी रात्रिमें रोहिणीने सुशीलाको छोड़कर घरकी उन

सभी स्त्रियों और पुरुषोंको एकत्र करके यह बात कही कि कई दिनोंसे जो अपने घरकी चीजें चोरी हो रही हैं, उनके लिये हमलोगोंका सुशीलापर ही सन्देह है। अपने मुहल्लेमें रहनेवाली बुढ़िया भक्तिदेवी सुशीलाकी मासे विशेष प्रेम रखती है। कल वह अपने नैहर जानेवाली है। उसके साथ सुशीलाने अपनी माके पास शायद कुछ भेजा है। कल ही प्रातःकाल भक्तिदेवी जायगी और अपने घरके आगे होकर रास्ता है ही। तब उसे रोककर पूछना चाहिये और सब चीजें देखनी चाहिये कि सुशीलाने क्या-क्या चीजें भेजी हैं।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही सुशीलाका पति मोहनलाल अपने घरके द्वारपर बैठ गया और भक्तिदेवीकी प्रतीक्षा करता रहा। जब भक्तिदेवी थैली लिये जा रही थी, तब मोहनलालने उसे रोका और कहा—'बुढ़िया माई! क्या लिये जा रही हो?' भक्तिदेवीने कहा—'सुशीलाने अपनी माके पास एक चिट्ठी और एक थैली भेजी है।' मोहनलाल बोला—'उसे नहीं भेजना है, वापस दे दो।' यह कहकर उसने बुढ़ियासे वह थैली और चिट्ठी ले ली और कहा—'अब तुम जाओ।'

इसके बाद मोहनलालने, जहाँ घरके सब पुरुष थे, वहाँ वह थैली और चिट्ठी ले जाकर रख दी और बुढ़ियाने जो बात कही, वह सब भी कह दी। थैलीको खोलकर देखा गया तो जो चार चीजें चोरी हो गयी थीं, वे उसके अंदर मिलीं। फिर जब चिट्ठी खोलकर पढ़ी गयी, तब सब आगबबूले हो गये। मोहनलाल क्रोधमें भरकर घरमें गया और सुशीलाको बड़े बुरे शब्दोंमें डाँटने लगा—'बदमाश! चली जा हमारे घरसे बाहर। तूने ही घरकी सब चीजें चुरायी हैं, तूने जो थैली और चिट्ठी भक्तिदेवीके हाथ अपनी माके पास भेजनेका प्रबन्ध किया था, वह सब पकड़ी गयी। हम किसी हालतमें तुझ-जैसी चोट्टीको घरमें रखना नहीं चाहते। जहाँ तेरी इच्छा हो वहीं चली जा।' सर्वथा मिथ्या और अप्रत्याशित आरोपको सुनकर सुशीला काँप उठी, उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे; उसने बड़े ही करुण शब्दोंमें कहा—'स्वामिन्! आप विश्वास करें, मैंने यह काम नहीं किया है। भगवान् साक्षी हैं। आप शान्त होकर सारी बातें सोचिये। जरा उस बुढ़ियासे तो पूछिये कि उसको थैली और चिट्ठी कौन दे गया था। न मैंने कोई चिट्ठी लिखी और न मैंने कोई थैली ही भक्तिदेवीको दी है। आप उस चिट्ठीके अक्षरोंको तो देखिये कि वे किसके हैं। आपको इसकी पूरी-पूरी जाँच-पड़ताल करनी चाहिये।' पर मोहनलाल तो इस समय क्रोधान्ध था, मेरी पत्नी ऐसा कुकार्य करती है, इससे उसके मनमें बड़ा क्षोभ था। क्रोधमें विवेक नष्ट हो ही जाता है। जाँच-पड़ताल कौन करे—प्रमाण सामने हैं। उसने झुँझलाकर कहा—'तुझे सफाई देते शरम नहीं आती। तूने तो मुझपर अमिट कलङ्क लगा दिया। मेरे मुखपर वह कालिख पोत दी, जो कभी धुल नहीं सकती। मैं तेरा मुँह नहीं देखना चाहता। जा, तुरंत निकल जा यहाँसे।' सुशीलाने गिड़गिड़ाकर बहुत कुछ कहा, पर उसने एक भी नहीं सुनी और उसे घरके बाहर निकाल दिया। इन्द्रसेन उस समय चार वर्षका था और इन्द्रसेनी छः वर्षकी, उनको उनकी दादीने अपने पास रख लिया। षड्यन्त्रकारी रसोइया, नौकर और घरकी स्त्रियोंको अपनी सफलतापर बड़ा आनन्द था। वे हँस रहे थे और उछल-उछलकर कह रहे थे 'हम तो पहले ही जानते थे कि यह इतनी बड़ी-बड़ी बातें बनानेवाली निश्चय ही नीच है, पर इसने तो सबपर जादू ही डाल दिया था, आज सारी पोल खुल गयी!'

ऐसा अनुचित व्यवहार देखकर भी सुशीलाके हृदयमें कोई क्रोध[12] नहीं आया और न कोई[13] प्रतिहिंसाका भाव ही उत्पन्न हुआ। वह किसीपर भी दोष न लगाकर अपने प्रारब्धको कोसने लगी। उसने सोचा—जब मुझ निरपराधिनीके ऊपर कलङ्क लगाकर मेरे पतिदेव ही मुझे त्याग रहे हैं, तब ऐसी हालतमें मेरे जीनेसे ही क्या प्रयोजन है? किंतु शास्त्रोंमें बतलाया है कि स्त्रीके लिये पति ही तीर्थ, पति ही व्रत और पति ही सब कुछ है; ऐसा समझकर मुझे उनके विधानमें ही सन्तुष्ट रहना चाहिये और हर समय धैर्य रखना चाहिये। विपत्ति तो सभी मनुष्योंपर आया ही करती है। समझदार मनुष्यको अपने धीरज और धर्मका कभी किसी भी हालतमें त्याग नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
(२। ५६)

'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

अतः दुःखके आवेशमें आकर जीवनका विनाश करना कोई बुद्धिमानी नहीं है। उससे न इस लोकमें और न परलोकमें ही सुख हो सकता है। बल्कि इस समय जो मुझे घरसे निकाले जानेका दुःख है, आत्महत्या करनेके समय तो इससे भी अधिक दुःख होगा। जो मनुष्य मरनेके लिये नदीमें प्रवेश करता है, उसे उस समय इतना अधिक दुःख होता है कि वह फिर जीनेके लिये बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है। इसी प्रकार मरनेके लिये विष खानेवाला भी पुनः जीनेके लिये विष उतारनेका प्रयास करता है और शरीरपर मिट्टीका तेल छिड़ककर मरनेवाला व्यक्ति तो चिल्ला-चिल्लाकर सिसक-सिसककर मरता है। उसे केवल इस लोकमें ही दुःख होता हो—इतना ही नहीं, मरनेके बाद वह अन्धकारमय नरकोंमें जाकर उससे भी घोर कष्ट और दुर्गतिको प्राप्त होता है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईशावास्य० ३)

'अज्ञान और दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आवृत जो असुरोंके प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ और नरकरूप लोक हैं, आत्माकी हत्या करनेवाले जो कोई भी मनुष्य हों, वे मरकर उन्हीं लोकोंमें बारंबार जाते हैं।'

यही नहीं, उसके नैहर और ससुराल दोनों कुलोंको सदाके लिये घोर कलङ्क लग जाता है। यह मेरे लिये बहुत ही लज्जाकी बात है। उत्तम स्त्रियोंके लिये तो आत्महत्याका संकल्प होना ही कलङ्क है। अतः मैं अपने जीवनको कभी नष्ट नहीं करूँगी। ईश्वरके घरपर न्याय है और मैं सच्ची हूँ। मैं जीती रहूँगी तो एक दिन ऐसा आवेगा कि मेरा यह सब कलङ्क अपने-आप दूर हो जायगा। झूठी बात कहाँतक टिकेगी? मेरी तो बात ही क्या है, भगवान् श्रीकृष्णपर भी मणिकी चोरीका झूठा कलङ्क लग गया था, किंतु वह कायम नहीं रहा। ऐसा विचारकर उसने अपने हृदयमें धीरज धारण किया और वह स्वतः प्राप्त हुए कष्टको सहन करके स्वधर्मपालनरूप तपस्यामें संलग्न हो गयी एवं अपने शरीर-निर्वाहका न्याययुक्त उपाय सोचने लगी।

(५)

सायङ्काल होनेपर वह एक धर्मशालामें जाकर ठहर गयी। वह नित्य-निरन्तर नियमपूर्वक परमात्माका ध्यान करती, जिसके प्रभावसे उसका अन्तःकरण पवित्र होता गया। वह मन-इन्द्रियोंका संयम करके नित्य गीता-रामायणका स्वाध्याय और भगवान्‌के पवित्र नामोंका जप किया करती तथा बिना किसी द्रोह-द्वेषके वह मन-ही-मन अपने पतिदेवके विचार शुद्ध हों, इसके लिये कातर प्रार्थना करती।

उसकी जेबमें घरकी रोकड़के हिसाबके पाँच रुपये थे, उन्हींसे उसने अपने भावी जीवनका कार्यक्रम सोचा। दूसरे दिन, वह चार आनेमें सूआ, पौने दो रुपयोंमें रंगीन सूत, आठ आनेमें अपने लिये आटा, दाल और मसाला, चार पैसेमें दोने-पत्तल तथा दो रुपये सात आनेमें एक बाल्टी और तसला खरीदकर ले आयी। उसने तसलेमें आटा गोंदा और उसे पत्तलपर रख दिया। फिर तसलेको उलटकर उसीपर रोटी सेंक ली। रोटी पत्तलपर रखकर तसलेको धोकर उसीमें दाल पका ली। इस प्रकार अपना भोजन तैयार कर लिया। भोजन करनेके बाद दिनमें उसने सूतके गंजी और मोजे बना लिये, जिनको बाजारमें बेचकर साढ़े तीन रुपये कर लिये। रोज इसी प्रकार वह पौने दो रुपये कमाने लगी, जिसमें बारह आनेमें दोनों समयके भोजनका सामान ले आती और एक रुपया जमा रख लेती। पंद्रह दिनोंमें पंद्रह रुपये हो जानेपर उसने पाँच रुपये मासिक किरायेमें एक घर ले लिया, पाँच रुपयेके रसोईके बरतन और खरीद लायी तथा पाँच रुपयेका सूत ले आयी।

इसके बाद सुशीलाने शहरमें सूचना कर दी कि साड़ी, लहँगा, ओढ़ना, चद्दर, दुपट्टा आदिपर किसीको बेल-बूटे कढ़ाने, दोहे-चौपाई, श्लोक आदि लिखवाने हों तो मेरे घरपर भेज दें। लोग उसके पास भेजने लगे। उसके लिखे हुए बड़े ही सुन्दर और आकर्षक दोहे, चौपाई, श्लोक और बेल बूटे आदिको देखकर लोग उसकी शिक्षा और कारीगरीपर मुग्ध होने लगे। सुशीलाके इस कार्यसे डेढ़ सौ दो-सौ रुपये महीनेकी आय होने लगी। सालभरके बाद उसने एक बड़ा मकान किरायेपर लेकर उसमें एक कन्या-पाठशाला खोल दी, जिसमें बहुत-सी लड़कियोंको बिना शुल्कके ही वह व्याकरण, गीता, रामायण आदि हिंदी-संस्कृतके ग्रन्थ पढ़ाने लगी। वह उनको विद्याके साथ कारीगरीका काम भी सिखाती थी। लड़कियाँ उसके पास जो चीजें तैयार करतीं, उनको वह बाजारमें बिक्री कर दिया करती, जिससे प्रतिमास उसके दो-सौ रुपयोंकी बचत होने लगी। इस प्रकार सालभरमें उसका सब खर्च लगकर उसके पास दो हजार रुपयोंकी बचत हो गयी।

उसके बाद उसने थोड़ी जमीन खरीदकर एक कच्चा घर बना लिया और एक गाय खरीद ली तथा एक नौकर भी रख लिया, जो गायका तथा घरका सब काम-काज कर देता। इस प्रकार करते-करते दूसरे वर्ष उसके पास पाँच हजार रुपये बच गये।

तीसरे वर्ष वह निजका रेशम, सूत और कपड़ा खरीदकर उनपर गीता-रामायणके श्लोक, दोहे, चौपाई और सुन्दर-सुन्दर बेल-बूटे बनाकर सत्यता और न्यायपूर्वक क्रय-विक्रय भी करने लगी तथा दूसरे लोग जो अपने कपड़ोंपर बेल-बूटे, दोहा, चौपाई लिखवाने आते, उनका काम भी करने लगी। उसके सत्य, न्याय, विनय और प्रेमयुक्त व्यवहारका जनतापर बहुत अच्छा असर पड़ने लगा। इस प्रकार व्यापार करते-करते उसके पास पंद्रह हजार रुपये हो गये एवं उसके सब तरहका खर्च लगकर प्रतिमास करीब एक हजार रुपये बचने लगे। इस तरह रुपये बढ़ जानेसे शहरमें उसकी बहुत ही ख्याति हो गयी। फिर वह एक धनी व्यक्ति-की तरह बहुत ही इज्जतके साथ रहने लगी। उसने अपनी जमीनपर एक पक्का मकान भी बना लिया तथा कई आदमी रख लिये और उसका व्यापार खूब चलने लगा। उसके चरित्र और गुण तो सर्वथा शुद्ध, सात्त्विक और आदरणीय थे ही, उसके कार्य-व्यवहारसे भी ख्याति फैल गयी। उसके हृदयमें दीन, दुखी, अनाथ, गरीब, अपाहिज लोगोंके प्रति बड़ी ही दया थी, इस कारण वह उनको आवश्यकतानुसार अन्न-वस्त्र आदिका निष्कामभावसे दान करने लगी। वह नित्य रसोई बनाकर भगवान्‌के भोग लगानेके बाद बिना मन्त्रोंके बलिवैश्वदेव करती और फिर पहले अतिथियोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करती।

(६)

इधर साध्वी सुशीलाको घरसे निकाल देनेके कारण शहरमें उसके सास-ससुर और जेठ-जेठानी आदि सभी लोगोंकी निन्दा होने लगी तथा घरमें आपसकी अनबन और विवेककी कमीके कारण धीरे-धीरे घरकी सम्पत्ति नष्ट होने लगी।

एक दिनकी बात है कि बहिन रोहिणीके पास उसी मुहल्लेकी एक स्त्री आयी और बोली कि आज मुझे पचास रुपयोंकी बहुत ही आवश्यकता है। यदि तुम रुपये दे सको तो मैं तुम्हें उनका दो रुपये प्रतिशत व्याज दे दूँगी। उसे भले घरकी स्त्री समझकर रोहिणीने पचास रुपये दे दिये। वह रुपये लेकर घर चली गयी। कुछ देर बाद ही वह वापस आयी और एक रुपया देकर कहने लगी—'आपने पचास रुपयोंकी जगह इक्यावन रुपये गिन दिये हैं, इसलिये मैं वापस आयी हूँ। अपना एक रुपया ले लें।' इसका रोहिणीपर अच्छा असर पड़ा। उसने रुपया ले लिया और सोचा—यह बड़े घरानेकी अच्छी स्त्री है। पंद्रह दिन ही बीते थे कि उसने वे पचास रुपये और उनका एक महीनेका व्याज एक रुपया रोहिणीको दे दिया। तब रोहिणीने कहा—'आप ये रुपये कुछ दिन और रख सकती हैं।' वह बोली—'मुझे जरूरत होगी, तब ले लूँगी। अभी जरूरत नहीं है।' ऐसा कहकर वह चली गयी।

कुछ दिनोंके बाद वह फिर आयी और बोली—'आज मुझे दो सौ रुपयोंकी आवश्यकता है, उधार दे सकती हैं क्या?' रोहिणीने झट रुपये निकालकर दे दिये। दस दिन बाद ही उस स्त्रीने दो सौ रुपये और उनके एक महीनेके व्याजके चार रुपये, इस प्रकार दो-सौ चार रुपये लौटा दिये। इससे रोहिणीके दिलमें और भी विश्वास जम गया।

कुछ दिनोंके पश्चात् वह फिर एक दिन आयी और रोने लगी। रोहिणीके पूछनेपर उसने कहा—'हमारे कुटुम्बमें विवाह है। क्या करूँ? मेरा सारा गहना हमारे घरवालोंने बन्धक रख छोड़ा है और बिना गहने विवाहमें जानेसे बेइज्जती होती है, अतः आप तीन दिनको विवाहमें पहननेके लिये कृपापूर्वक मुझे अपना गहना दे दें तो हमारी इज्जतकी रक्षा हो जाय।' रोहिणीको उसपर विश्वास था ही, उसने अपना सब गहना निकालकर उसे दे दिया। वह स्त्री गहना लेकर अपने घर चली गयी। किंतु जब वह पाँच दिनोंतक लौटकर नहीं आयी तो रोहिणी उसके घरपर गयी और उसने पूछा—'बहिन! तुम्हारे विवाहका काम हो गया क्या?' उस स्त्रीने कहा—'हमारे यहाँ तो किसीका विवाह था ही नहीं।' रोहिणी बोली—'आपके कुटुम्बमें विवाह था, उसके लिये आप मेरे पास गहना लेने गयी थीं न।' उसने उत्तर दिया—'हमारे न तो कोई विवाह था, न कोई गहनेकी हमें आवश्यकता ही थी। हमारे अपने पास ही बहुतेरे गहने हैं, हम तुम्हारे पास गहनेके लिये क्यों जातीं?' रोहिणी बोली—'आप मेरे पास कई बार गयीं, रुपये-पैसोंका भी आपसमें कई बार लेन-देन हुआ, फिर आज आप इस तरह मेरे सामने झूठी बातें क्यों बोल रही हैं?' उसने कहा—'वाह री वाह! झूठी बातें मैं बोल रही हूँ कि तू। हम तो

स्वयं रुपयोंका ब्याज उपजाते हैं; हमारे तो रुपयोंकी कोई कमी नहीं है, मैं क्यों जाती तुम्हारे पास रुपया लाने ? हमारे यहाँ तो रुपये-पैसोंका काम पड़ता है तो पुरुष ही सब किया करते हैं। हमारे घरके पुरुष यदि ये बातें सुन लेंगे तो तुम्हारी बेइज्जती करेंगे।'

उसकी बातें सुनकर रोहिणीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने घर लौट आयी और दुःखित हृदयसे अपने पिता और भाइयोंके सामने रोने लगी। उसकी बातें सुनकर उसके पिता और भाईने पूछा—'उस स्त्रीको तुमने जो गहना दिया है उसकी कोई लिखा-पढ़ी है? क्या और उस समय कौन हाजिर था?' रोहिणी बोली—'मैंने तो उसके विश्वासपर गहना दे दिया, कोई लिखा-पढ़ी नहीं की और न उस समय वहाँ कोई दूसरा था ही।' पिता और भाइयोंने कहा—'जब उसकी कोई लिखा-पढ़ी और गवाही ही नहीं, तब इसका कोई उपाय नहीं। ऐसा काम तुमको हमसे बिना पूछे नहीं करना चाहिये था।' सब लोग सिर पीटकर रह गये!

एक दिनकी बात है, पण्डित देवदत्तजीके पास एक साधु-वेषधारी ठग आया। पण्डितजीने उसकी बहुत सेवा-शुश्रूषा की। साधुने पण्डितजीसे पूछा—'योग-क्षेम ठीक चलता है न ?' पण्डितजी बोले—'जबसे छोटी बहू घरसे चली गयी, तबसे घरमें कलह-क्लेश रहते हैं। संसारमें हमारी निन्दा होनेसे जीविका भी प्रायः नष्ट हो गयी और सट्टे-फाटकेमें घाटा लग जानेके कारण लड़कोंका व्यापार भी बंद हो गया तथा मोहनलालके व्यापारका कोई संयोग लगा नहीं।' साधुने कहा—'मैं तुमको एक रसायन-विद्या बतला देता हूँ जिससे तुम रोज दो माशा सोना बना लिया करो; पर अधिक लोभ नहीं करना।' साधुवेषधारीने फिर कहा—'अच्छा! तुम बाजारसे चार आनेका संखिया, चार आनेका गन्धक, चार आनेका पारा, एक कुठाली और कुछ कोयला ले आओ।' वे तुरंत ले आये। उस ठगने अपनी झोलीसे चौलाईके पत्ते निकालकर उसके रससे संखिया, गन्धक और पाराके पुट देकर उसको पण्डितजीके हाथसे कुठालीमें डलवा दिया तथा कोयलोंसे कुठालीको भरकर गोइठोंसे आग जला दी, जिससे कोयले जलने लगे। ज्यों-ज्यों कोयले जलते गये, त्यों-त्यों पण्डितजी उसमें और कोयले डालते गये। जो कोयले डाले जा रहे थे, उनमेंसे उस ठगने पण्डितजीकी दृष्टिको बचाकर एक कोयलेके अंदर छेदकर उसमें दो माशा सोना पहलेसे ही भर दिया था। कोयला गिराते-गिराते जब स्वर्णवाला कोयला कुठालीमें पड़ गया, तब उसने और कोयला डालना बंद करवा दिया। संखिया, गन्धक और पारा तो उड़ गया और कोयले जल गये, केवल दो माशा सोना था, वह कुठालीमें रह गया।

स्वर्णको देखकर पण्डितजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। साधुवेषधारी ठग चला गया। उसके जानेके बाद पण्डितजीने संखिया, पारा और गन्धक आदिका काफी स्टाक कर लिया तथा रोज साधुरूपधारी असाधुके कहे अनुसार करने लगे, पर बनता-बनाता कुछ नहीं। एक दिन उसीको घरके सामनेसे जाते देखकर पण्डितजी उसके चरणोंमें गिर गये और उसको घरपर लाकर बड़ी सेवा की। साधुवेषधारीने पूछा—'योग-क्षेम ठीक चलता है न ?' पण्डितजीने कहा—'नहीं। आपने तो मुझसे कोई छिपाव नहीं किया, परंतु मेरे भाग्यकी बात है कि रोज संखिया, पारा और गन्धक फूँकता हूँ, पर होता कुछ नहीं। साधुवेषधारी बोले—'अच्छा! आज हमारे सामने तुम अपने-आप सब विधि करो, कोई गड़बड़ होगी तो हम तुमको बतला देंगे।' जब पण्डितजी भीतरसे सब सामान लाने गये तो बाबाजीने एक कोयलेके अंदर छेदकर दो माशा स्वर्ण उसमें रख दिया। सामग्री तो सब पण्डितजीके पास थी ही, शीघ्र ही लेकर आ गये तथा गन्धक, पारा और संखियाको चौलाईके रसकी भावना देकर कुठालीमें डाला और कुछ कोयला डाल दिया। ज्यों-ज्यों कोयला जलता जाता, त्यों-त्यों पण्डितजी चिमटेसे और कोयलोंको उठा-उठाकर कुठालीमें डालते जाते। वह ठग अलग दूर बैठा देख रहा था। उसने जब देखा कि स्वर्णवाला कोयला भी कुठालीमें शामिल हो गया है तो उसने कहा—'पूरा एक घंटा हो गया है, अब सोना बन जाना चाहिये। तुम उठकर देखो, अब और कोयला मत डालो।' थोड़ी देरमें कोयले सब जल गये। संखिया, पारा, गन्धक सब उड़ गया। केवल दो माशा सोना कुठालीमें रह गया। पण्डितजी सोनेको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'महाराज! अब तो मैं बिल्कुल समझ गया।' तब वह ठग वहाँसे चला गया।

पण्डितजी रोज संखिया, पारा और गन्धक फूँकते रहे, पर बनता-बनाता कुछ नहीं। फिर पाँच-सात दिन बाद वही साधु दरवाजेके आगे सड़कपर आता दिखलायी दिया। पण्डितजी दौड़कर उसके चरणोंमें गिर गये। उसने पूछा—'अब तो गृहस्थीका काम ठीक चलता है न ?' पण्डितजी-

ने कहा—'कुछ नहीं। आपने तो सब बातें बतला दीं, हमारे हाथसे भी कराकर दिखा दिया, परंतु होता कुछ नहीं। न मालूम क्या बात है ? आपके सम्मुख तो आपके प्रभावसे हो जाता है, आप नहीं रहते तब नहीं होता।' वह बोला—'हम रोज-रोज तो आ नहीं सकते। लो, हम एक साथ ही तुम्हारे लिये इतना सोना बना देते हैं कि तुम्हारे जन्मभर काम आवे। तुम्हारे घरमें जितना सोना है, सब ले आओ। सब सोना एक हँडियामें डालकर आगपर चढ़ा दो तथा उस हँडियाको जलसे भर दो और तुम्हारे पास जितना कुछ गन्धक, पारा, संखिया है, वह सब उसमें डाल दो और उसपर मिट्टीकी खाम लगा दो। फिर उस हँडियाके ऊपर एक दूसरी हँडिया जलसे भरकर रख दो। आठ पहर तक उसके नीचे आग लगाते रहो। उसके बाद खोलकर देखोगे तो सोना दुगुना मिल जायगा।'

पण्डितजीने प्रसन्नचित्त हो अपनी स्त्रीका सारा-का-सारा गहना एक हँडियामें भरकर जैसे उसने बतलाया, वैसे ही सब क्रिया की। किंतु ऊपरकी हँडियामें जल कम रहा, अतः वे जल लानेके लिये भीतर गये। पीछेसे बाबाजीने झट हँडियासे सारा गहना निकालकर अपनी झोलीमें रख लिया और उसमें उतने ही वजनके कंकड़-पत्थर भर दिये तथा हँडियाके पहलेकी तरह ही मिट्टीकी खाम लगा दी। इतनेमें ही पण्डितजी जल लेकर आ गये और ऊपर रक्खी हुई हँडियामें जल भर दिया। हँडिया कुछ टेढ़ी हो गयी थी, अतः पण्डितजीने उसको उठाकर सीधी कर दी। उठाते समय उनको हँडिया पहलेकी तरह ही भारी मालूम दी।

बाबाजी दो-तीन घंटे तो बैठे रहे, फिर कहने लगे कि 'कल हम इसी समय आकर हँडियाकी खाम खोल देंगे, तब दुगुना सोना मिल जायगा।' यह कहकर वह चल दिये। दूसरे दिन समयपर पण्डितजी बाबाजीकी प्रतीक्षा करते रहे, किंतु बाबाजी दिनभर नहीं आये। आते कहाँसे, वे तो अपना काम बनाकर चम्पत हो गये थे। तब तीसरे दिन पण्डितजीने स्वयं ही खाम खोली तो उसमें सब कंकड़-पत्थर निकले। पण्डितजीको बड़ा सन्ताप हुआ, उन्होंने सारा हाल अपने घरवालोंसे कहा। सब लोग यह सुनकर दुखी हुए। साधुकी बहुत खोज-खाज की, किंतु उसका कुछ भी पता नहीं लगा। वह साधु थोड़े ही था, वह तो समाजमें सच्चे साधु-संन्यासियोंपर भी सन्देह उत्पन्न करा देनेवाला धूर्तशिरोमणि चोर था!

एक दिनकी बात है, उनके मुहल्लेमें एक लाल कपड़ेवाली एक ठगिनी आयी और उसने वहाँ एक मकान किराये लेकर अपना अड्डा जमा लिया। उसने अपनेको तन्त्र-मन्त्रोंमें सिद्धिप्राप्त योगिनी बतलाया। उसके पास स्त्रियाँ कोई रोग-निवारणके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई धनके लिये, कोई अपने लड़के-लड़कियोंकी विवाह-शादीके लिये—इस प्रकार अनेक कामनाओंको लेकर आने लगीं। वह योगिनी किसीके डोरा, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र बाँध देती और किसीसे टोना कराती। इस प्रकार कराकर वह उनकी कार्य-सिद्धिके लिये उनमेंसे किसीको सालभरकी, तो किसीको छः महीनेकी और किसीको दो महीनेकी अवधि दे दिया करती। इस प्रकारकी धूर्तताद्वारा वह भोली-भाली स्त्रियोंसे गहने, कपड़े और रुपये ठगने लगी।

एक दिन रामदत्तकी स्त्री भगवानदेवी भी उसकी प्रशंसा सुनकर उसके पास पहुँच गयी और कहने लगी—'माताजी! मेरे कोई लड़का नहीं है, इसलिये ऐसा कोई उपाय बतलाओ, जिससे मेरे सालभरमें लड़का हो जाय।' योगिनीने कहा—'एक महीनेके अंदर ही तुम्हारे गर्भ रह जायगा। आनेवाले शनिवारकी रातको मैं तुमसे एक टोना कराऊँगी। तुम उस रातको दस बजे यहाँ आना। टोनेकी सामग्री तो सब हमारे पास मिल जायगी, तुम केवल गहने-कपड़े पहनकर सोलह श्रृंगार करके शनिवारकी रातको मेरे पास चली आना।' भगवानदेवीने वैसा ही किया। वह शनिवारकी रातमें सज-धजकर उसके पास गयी। योगिनीने उसके सब गहने-कपड़े खुलवाकर एक कोठरीमें रखवा दिये और कोठरीको बंद करके ताला लगाकर चाभी भगवानदेवीको सौंप दी। जब रात्रिके ठीक बारह बजे, तब योगिनी सिंदूर, तेल, मिट्टीका बरवा और तिकटी लेकर भगवानदेवीके साथ चौराहेपर गयी। चौराहेपर जाकर उसने तिकटीपर बरवा टिकाकर उसमें तेल और सिंदूर डाल दिया तथा भगवानदेवीको एक मन्त्र बतलाकर कहा—'तुम इस मन्त्रका यहाँ एक घंटे जप करती रहो। रातका समय है, घर सूना है, मैं घरकी रखवालीके लिये जाती हूँ। एक घंटेके बाद इस बरवेको लेकर मेरे पास चली आना।'

योगिनी मकानपर पहुँची और कोठरीके तालेमें दूसरी चाभी लगाकर उसमें जो गहने-कपड़े रक्खे थे, सब लेकर वहाँसे चल दी। जब भगवानदेवी एक घंटेके बाद उसके घरपर आयी तो देखा कि वहाँ योगिनी नहीं है और

कोठरी खुली पड़ी है। कोठरीमें गहने-कपड़े कुछ भी नहीं हैं। यह देखकर वह रोने लगी। वह दुःखित हृदयसे लज्जित होकर अपने घरपर लौट आयी तथा घरवालोंको अपनी सारी दुःखकी कहानी कही। घरवालोंने उसको बहुत फटकारा। इसके बाद उन्होंने योगिनीकी बहुत खोज की, किंतु कुछ भी पता नहीं चला। तब मकान-मालिकसे उसका पता पूछा। मकान-मालिकने कहा—'हमको तो उसने एक महीनेका भाड़ा अग्रिम दे दिया था और हमारे यहाँ तो रोज ही ऐसे मुसाफिर आते-जाते रहते हैं। हमको क्या पता कि वह योगिनी कौन थी और कहाँ गयी ?'

इन सब घटनाओंको देख-सुनकर सोमदत्तकी स्त्री रामदेवीने सोचा—'बहिन रोहिणीका, सासजीका, हमारी देवरानीका सब-का-सब गहना चला गया, केवल मेरा गहना ही शेष बचा है। छोटी बहूके जानेके बाद पैदा-रोजगार सब बंद हो गया है। अब घरवाले मेरे गहनोंको ही बेचकर काम चलायेंगे, और कोई रास्ता नहीं दीखता है।' यह सोचकर वह अपना सारा गहना अपने छोटे भाईके पास नैहरमें रख आयी। उसका नैहर उसी शहरमें दूसरे मुहल्लेमें था। उसका भाई बड़ा बदमाश और बेईमान था, उसकी नीयत पहलेसे ही खराब थी। उसने रामदेवीका सारा गहना बेचकर रुपये अपने कारबारमें लगा लिये। थोड़े दिनों बाद उसने यह झूठा हल्ला फैला दिया कि रातमें चोर आकर ताला तोड़कर सारा माल ले गये। प्रातःकाल होते ही वह रोने लगा। लोग इकट्ठे हो गये। पुलिस भी आ गयी। सारे शहरमें बात फैल गयी, तब रामदेवीको भी अपने भाईके यहाँ चोरी होनेका पता लगा। वह तुरंत दौड़कर भाईके पास गयी और बोली—'भैया ! मेरा गहना तो बच गया है न ?' भाईने झुँझलाकर कहा—'तेरे गहनेके कारण ही तो हमारे घर यह काण्ड हुआ। हमारे पास तो धरा ही क्या था, जो चोर लगते ! हमारे तो जो कुछ था, वह भी तुम्हारे गहनेके साथ चोर ले गये।' रामदेवी फिर बोली—'भैया ! मेरा गहना तो मिलना ही चाहिये।' भाई कुपित होकर कहने लगा—'चल यहाँसे। फिर कभी मुँह मत दिखाना। तेरे कारणसे ही हम बरबाद हो गये।' वह बेचारी दुःखित होकर लौट आयी और सारा हाल अपने ससुरालवालोंको कहा। उन्होंने डाँट-फटकार भी की; पर फिर क्या हो सकता था !

तदनन्तर सब लोगोंने मिलकर यह निश्चय किया कि अपना-अपना खर्च सब अपनी-अपनी कमाईसे चलावें। इसपर सोमदत्त और रामदत्त तो अपनी स्त्रियोंको लेकर अलग रहने लगे और शेष सब एक साथ रहने लगे।

(७)

एक दिन जब सब घरवाले घरमें इकट्ठे बैठे हुए थे; पण्डित देवदत्तजीने सरल हृदयसे कहा—'हमने थोड़ेसे अपराधके कारण छोटी बहूको घरसे निकाल दिया, यह बड़ा भारी अपराध किया। इसी कारण हमारी यह दुर्दशा हुई। वह बड़ी भाग्यशालिनी, बुद्धिमती और उच्च विचारकी स्त्री थी। यदि वह अपने घरमें रहती तो हमलोगोंपर यह सब विपत्तियाँ कभी नहीं आतीं।' अन्तमें सबने यह विचार किया कि हमलोगोंको उसके पास चलना चाहिये। पर लज्जाके कारण किसीकी भी जानेकी हिम्मत नहीं होती थी। किसी प्रकार घरकी यह भीतरी खबर सुशीलाके पास पहुँच गयी। सुशीलाने सोचा—'मेरे घरवाले मेरे पास आना चाहते हैं, पर इसमें मेरा बड़प्पन नहीं है। इसलिये मुझे ही उनके पास चलना चाहिये।' यों सोचकर दूसरे दिन वह स्वयं ही ससुरालमें चली आयी और श्रद्धा, प्रेम, विनय तथा सरलताके साथ सबके चरणोंमें नमस्कार किया। उसको देखकर सब प्रसन्न हुए और साथ ही अपने कृत्यको देखकर दुःखित और लज्जित हुए। सुशीलाने कहा—'मैंने सुना कि आपलोग मेरे पास आनेका विचार कर रहे हैं, यह सुनकर मैं ही आपके पास आ गयी, क्योंकि मैं सबसे छोटी हूँ। इसलिये मेरा ही आपके पास आना उचित है। कभी-कभी मेरे मनमें आपकी सेवाके भाव आते, किंतु आपलोगोंके द्वारा निकाली जानेके कारण यहाँ आनेकी मेरी हिम्मत नहीं हुई; इसलिये आप मेरे अपराधको क्षमा करें।'

पण्डितजीने कहा—'बेटी ! तुम्हारा तो एक मामूली अपराध था, हमलोगोंने बहुत बड़ा अपराध कर डाला।' पण्डितजीको क्या पता कि बहूका कोई अपराध था ही नहीं, वह तो षड्यन्त्र था। घरकी हालत बिगड़ जाने तथा सबपर विपत्ति आ जानेसे षड्यन्त्रकारी स्त्रियोंका पाप काँप गया। उनके मनमें ईर्ष्याके बदले पश्चात्तापकी आग जल उठी। वे सभी सन्तप्त हो गयीं और उन्हें निश्चय हो गया कि हमारी दुर्दशाका सच्चा कारण हमारे द्वारा निर्दोष सुशीलापर किया जानेवाला अत्याचार ही है। उनके सन्तप्त हृदयके तप्ताश्रु उनकी आँखोंसे बहने लगे। तब सोमदत्त और रामदत्तकी स्त्रियोंने हाथ जोड़कर काँपते हुए कण्ठसे अपनी साससे कहा—'छोटी बहूका कुछ भी अपराध नहीं था। हमीं लोगोंने डाहके

कारण इसपर झूठा कलङ्क लगाया था, उसीका हमें यह फल मिला।' तब रोहिणी दुःखित हृदयसे कहने लगी—'छोटी भाभीका तो कुछ भी अपराध है ही नहीं और न बड़ी भाभियोंका ही कोई विशेष अपराध है। सारे षड्यन्त्रको रचनेवाली, घोर अपराध करनेवाली दुष्टा तो मैं हूँ। मैंने ही भाभियोंके कङ्कण, हार, मेरी साड़ी और लहँगा एक थैलीमें भरकर उसे सीकर रसोइयाके हाथ उस बुढ़ियाके पास भिजवाया था, वह चिट्ठी भी मैंने ही लिखी थी और पिताजीके पास झूठी शिकायत भी मैंने ही की थी। इस सारे पापकी जड़ मैं हूँ। आज मैं पश्चात्तापकी आगसे जली जा रही हूँ। पृथ्वी फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊँ। इस निरपराध शुद्ध हृदयकी भाभीसे मैं क्षमा भी किस मुँहसे माँगूँ?'

यह सारी सच्ची बातें सुनकर सुशीलाका मन पिघल गया और वह हाथ जोड़कर विनयपूर्वक सबसे बोली—'जो कुछ भी हुआ, अब आप उन बातोंको हृदयसे भुला दें। मैं तो आपलोगोंके कृत्यको कोई अपराध ही नहीं मानती। फिर क्षमा कैसी?' यह सुनकर उसका पति मोहनलाल फूट-फूटकर रोने लगा और अपने किये हुएपर बार-बार पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—'मैं धोखेसे मारा गया। अब मुझे इसका क्या प्रायश्चित्त करना चाहिये?' सुशीलाने कहा—'पतिदेव! आप किसी बातका विचार न करें। आपलोगोंका किसीका भी कोई दोष नहीं है—यह तो मेरे पूर्वकृत पापोंका फल है। अब आपलोग इन सब बातोंको भुला दें और मुझे पहलेकी तरह ही अपनी दासी समझें। मेरे पास जो कुछ सम्पत्ति है, वह आपकी ही है। आप उस सम्पत्तिको यहाँ मँगवा लें।'

यह सुनकर सब लज्जित हो गये और कहने लगे—'तुम्हारी सब चीजें हम कैसे मँगवायें?' सुशीला बोली—'यह सब तो आपकी ही है, मैं भी आपकी ही हूँ। यह सब तो ईश्वरने हमारे भलेके लिये ही किया था; क्योंकि यदि भगवान् ऐसा नहीं करते तो आज यह सम्पत्ति और हजार रुपये मासिक आयका स्थायी संयोग कैसे बैठता?' यह कहकर सुशीलाने अपनी सारी चल सम्पत्ति अपने आदमियोंद्वारा वहीं मँगवाकर निःस्वार्थभावसे ससुरके चरणोंमें अर्पित कर दी। उसके अन्य सब काम भी ससुरालवालोंकी देख-रेखमें वैसे ही चलते रहे और वह अब ससुरालमें ही रहने लगी। सुशीलाके इस पवित्र व्यवहारको देखकर सब लोग मुग्ध हो गये।

जब खेलकर आते हुए इन्द्रसेन और इन्द्रसेनीने माको बहुत दिनोंके बाद देखा तो वे झट उसके चरणोंमें गिर पड़े। माने उनको उठाकर अपनी छातीसे लगा लिया। रसोइया और नौकर तो अपने भीषण अपराधपर काँप रहे थे और जमीनमें गड़े-से जा रहे थे। उनके शरीरसे पसीना बह रहा था और आँखोंसे पश्चात्तापके गरम-गरम आँसू। उनका मूक पश्चात्ताप देखकर सुशीलाने उन्हें आश्वासन दिया और शान्त किया। आज उन दोनोंका भी जीवन बदल गया!

फिर सुशीलाने कहा—'मैंने सुना है, हमारे दोनों जेठ-जेठानियाँ अलग होकर रहते हैं, किंतु उनका अलग रहना मैं सहन नहीं कर सकती। वे पहलेकी ज्यों ही शामिल होकर रहनेकी कृपा करें।' वे सुशीलाके इस बर्तावको देखकर मुग्ध हो गये, वे 'ना' नहीं कर सके। तदनन्तर सभी शामिल होकर रहने लगे। सुशीलाके प्रभावसे सब सदाचारी और सच्चरित्र बन गये। उनके सम्बन्धमें जो कुछ अपवाद फैला हुआ था, वह सब शान्त हो गया और उनका घर अन्य सब लोगोंके लिये एक आदर्श घर हो गया।

(८)

सुशीला सबके साथ समव्यवहार किया करती। जो कुछ आप खाती-पहनती, वह घरमें सबको समान भावसे देकर खाती-पहनती। उसका खाने, पीने, पहननेमें कोई भेद नहीं था। जो चीज वह अपने पति और बालकोंको खिलाती-पहनाती, वही अपने जेठ-जेठानियों और सास-ससुरको भी दिया करती।

एक दिनकी बात है, वह अपने बच्चे-बच्चीको दाख, छुहारा, बादाम, नौजा, पिस्ता आदि मेवा दे रही थी, इतनेमें ही उन बालकोंके साथ खेलनेवाले बाहरके कुछ बालक आ गये। सुशीलाने अपने बालकोंको न देकर पहले उनको दिया और जो कुछ अपने बालकोंको दिया, उतना ही उनको दिया; किंतु उनमें जो चीज कुछ बढ़िया थी, वह तो बाहरके बालकोंको दी और जो कुछ घटिया थी, वह अपने बालकोंको दी। सुशीलाके इस बर्तावका उसके बच्चोंपर भी बड़ा अच्छा असर पड़ा। उन्होंने अपने हिस्सेका भी आधा भाग उन बाहरके बालकोंको दे दिया। उसके लड़के-लड़की बड़े सुशील थे। सच्ची सुशीला माताके लड़के ऐसे क्यों न होते?

सुशीला अपने पतिकी विशेष सेवा किया करती थी और कभी-कभी अपने पतिके साथ कथा या व्याख्यान सुनने जाया करती तो साथमें उसका लड़का और लड़की भी जाया करते थे।

बालकोंमें स्वाभाविक ही चञ्चलता होती है, किंतु इसके बालक शान्त प्रकृतिके थे। क्योंकि सुशीलाका स्वभाव स्वाभाविक ही चञ्चलतारहित था। वे वहाँ शान्तिपूर्वक चुपचाप बैठकर बड़े ध्यानसे व्याख्यान सुना करते। सुशीला बालकोंको नित्य-नियमपूर्वक अच्छी शिक्षा दिया करती थी। वह कहा करती—'सूर्योदयसे पूर्व उठना, नित्य बड़ोंको प्रणाम करना; झूठ, कपट, छिपाव, हिंसा, चोरी आदि कभी नहीं करना; हमेशा सत्य बोलना; किसीको अपशब्द न कहना; आपसमें लड़ाई, मार-पीट, गाली-गलौज नहीं करना; सूर्यनारायणको नित्य अर्घ्य देना; कोई भी चीज भगवान्‌के अर्पण किये बिना न खाना; सबकी सेवा करना; बाजारकी बनायी हुई चीजें न खाना; बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा आदि मादक वस्तुओंका सेवन न करना; नाटक, सिनेमा, क्लब आदिमें कभी नहीं जाना; कथा-कीर्तन, सत्सङ्गमें शान्तिपूर्वक सुनना; कोई भी चीज मिले, उसे उपस्थित मित्रोंको देकर खाना, बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना और सदा कर्तव्यपरायण रहना चाहिये। कहीं दूसरेके घरपर जायँ तो वहाँ कोई चीज माँगनेकी तो बात ही क्या, उनके देनेपर भी नहीं लेनी चाहिये। बस, अपनेसे जो कुछ बने, दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये, कभी दूसरोंकी सेवाका पात्र नहीं बनना चाहिये।' बच्चोंके लिये कितनी सुन्दर शिक्षा है।

इस प्रकार घरमें नित्य-नियमसे उपदेशकी बातें और कथा-कीर्तन हुआ करता था। इसका बालकों तथा घरवालोंपर बड़ा अच्छा असर पड़ने लगा, और वे सब सुशिक्षित हो गये।

(९)

एक दिन सुशीलाके पिता पण्डित गोविन्दरामने उसको बुलानेके लिये उसके ससुरके पास आदमी भेजकर कहलाया—'हमारी एक प्रार्थना है—सुशीलाको आये बहुत दिन हो गये, अतः एक बार बच्चोंसहित उसको हमारे घरपर भेजें।' बुलावा आनेपर सुशीलाने भी सरलताके साथ निवेदन किया कि—'मुझे माता-पितासे मिले बहुत दिन हो गये, इसलिये आपकी आज्ञा हो तो मैं घर जाकर उनके दर्शन कर आऊँ और आपकी अनुमति हो तो मैं वहाँ कुछ दिन ठहर जाऊँ।' सास और ससुरने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'जा सकती हो; किंतु बहुत अधिक विलम्ब न करना; क्योंकि हमारे दिन तुम्हारे बिना कैसे कटेंगे?' इस प्रकार कहकर विश्वासी पुरुषको साथ देकर उसको नैहर पहुँचा दिया।

सुशीलाने बालकोंसहित वहाँ जाकर माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। माता-पिताने पूछा—'घरपर सब प्रसन्न तो हैं?' सुशीला बोली—'ईश्वरकी कृपासे सब कुशल है; किंतु मैं यहाँ अपने भाई रामलाल और भौजाईको नहीं देखती हूँ, सो क्या बात है?' पण्डित गोविन्दरामजीने कहा—'वह कई दिनोंसे मकान किराये लेकर हमसे अलग ही रहता है; जो कुछ कमाता है, अपने खाने-पीने और मित्रोंकी खातिरमें लगा देता है। हमलोग तो अब बूढ़े हो गये, कमानेकी शक्ति नहीं रही, पहलेकी जायदादको बेचकर ही अपना काम चलाते हैं।' सुशीला बोली—'क्या भाभीके कहनेसे ही भैया अलग हो गये अथवा और कोई कारण है?' माताने कहा—'ना बेटी! वह तो बहुत ही भले घरकी लड़की है। मैं उसको कभी कुछ कह देती तो भी वह नाराज नहीं होती और न कभी रूठती। उसका स्वभाव बड़ा सुशील है, लड़ना तो वह जानती ही नहीं। कोई उसे खोटी-खरी सुना देता तो भी वह उसे हँसकर टाल देती। अब भी वह मेरा पक्ष लेकर समय-समयपर रामलालको समझाया करती है। उसके स्वभाव, सेवा और बिछोहको याद कर-करके मैं रोया करती हूँ। रामलाल भी बहुत ही भला था; किंतु आजकलके उद्दण्ड लड़कोंके सङ्गके प्रभावसे वह हमलोगोंसे अलग हो गया।'

सुशीला बोली—'मा! मैं भाई-भौजाईको समझाकर यहाँ ले आऊँ तो इसमें तुम्हारी क्या राय है?' माताने कहा—'ऐसा हो जाय तो बेटी! हमारा बड़ा सौभाग्य है।'

भाई रामलाल प्रयागमें ही कुछ दूर दूसरे मुहल्लेमें रहते थे। सुशीला अपने कुटुम्बके एक आदमीको लेकर बालकोंसहित भाईके यहाँ गयी। घरमें रामलाल तो थे नहीं, भाभी बैठी थी। सुशीलाको आते देखकर वह उठी और उसने बड़े ही आदर और प्रेमका बर्ताव किया। सुशीलाने भी बालकोंसहित उसके चरणोंमें प्रणाम किया। जब भाभी कुछ संकोच करने लगी, तब सुशीलाने कहा—'आप बड़ी होनेके कारण मेरे तो माके समान हैं, इसमें संकोचकी कौन-सी बात है। बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना बालकोंका कर्तव्य ही है।' भाभी लज्जित होकर बोली—'बहिनजी! आप माताजीके पास आयी हैं, यह मुझे मालूम हो गया था, किंतु दुःखकी बात है कि मैं आपके भाईके डरसे नहीं जा सकी।'

सुशीलाने कहा—'इसके लिये आपको चित्तमें कोई विचार नहीं करना चाहिये । मा तो आपके स्वभाव और सेवाको याद कर-करके भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई आपके वियोगमें रोया करती हैं ।'

इतनेमें ही भाई रामलाल आ गये । सुशीलाने झट उठकर बालकोंसहित भाईके चरणोंमें नमस्कार किया। रामलालने भी सुशीलाके साथ बड़े आदरका बर्ताव किया। कुशल-संवादके बाद सुशीला बोली—'भैया ! आज तुमको माता-पितासे अलग देखकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है ।' रामलालने कहा—'बहिन ! तुम्हारे आनेकी खबर मुझे मिल गयी थी । तुमसे मिलनेकी मेरी बहुत ही इच्छा थी, परंतु मेरे मनमें यह भाव आया कि मैं यदि घर जाऊँ तो कहीं माता-पिता मेरा अपमान न कर दें और तुमको यहाँ घर-पर भी इसीलिये नहीं बुलाया कि शायद वे तुमको यहाँ नहीं भेजेंगे ।' सुशीला बोली—'भैया ! इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, यह तो मेरा ही दोष है कि मैं कल ही तुम्हारा दर्शन नहीं कर सकी । पर भैया ! जब मैं ससुराल गयी थी, तब तो तुम दोनों ही माता-पिताकी सेवा और आज्ञा-पालन खूब किया करते थे । तुम्हारे उन गुणोंको याद करके मुझे विस्मय होता है कि तुम उनसे अलग होकर कैसे रहने लगे ? मेरे व्यवहारकी त्रुटियाँ देखकर तुम तो मुझे शिक्षा दिया करते थे, वे बातें मुझे याद आती हैं ।'

रामलालने कहा—"बहिन ! तुम्हारी बातें सुनकर मुझे लज्जा होती है । मेरे अलग होनेका कारण यह हुआ कि मेरे मित्रगण, जो मेरे पास आया करते, वह माताजी और पिताजीको बुरा मालूम देता । इसे देखकर मेरे मित्रोंको अत्यन्त कष्ट होने लगा और उन्होंने मुझको यह राय दी कि 'तुम सब कुछ माता-पिताके पास छोड़कर उनसे अलग हो जाओ । इसमें तुम्हारी कोई निन्दा नहीं होगी । तुम विद्वान् हो, योग्य हो; तुमको अपनी कमाईसे पेट भरना चाहिये, माता-पिताके धनका आश्रय क्यों लेना चाहिये ।' उनकी इन बातोंमें आकर मैं माता-पितासे अलग हो गया । बहिन ! तुम समझदार हो, जैसा तुम्हारा नाम है, वैसी ही तुम गुणवती हो, अतः मुझे राय दो कि अब मुझे क्या करना चाहिये ?"

इसपर सुशीला बहुत ही कोमल और मृदुलतामरे शब्दोंमें बोली—'भैया ! तुम्हें मैं राय दूँ ? मुझमें जो कुछ अच्छापन दीखता है, वह तो तुम्हारी ही शिक्षाका प्रभाव है । मैं कुछ कहूँगी तो तुमसे सीखी हुई बात ही कहूँगी । मैं जब छोटी थी तभी तुम मुझे यही शिक्षा दिया करते कि सैकड़ों वर्ष भी माता-पिताकी सेवा करके मनुष्य उनका बदला नहीं चुका सकता । माता-पिताकी सेवा ही परम धर्म है और सब उपधर्म हैं ।* आज तुम्हें माता-पितासे अलग देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है । तथा तुम्हारे मित्रोंके सम्बन्धमें तो माता-पिताने जो कुछ भी कहा—वह तुम्हारे हितके लिये ही कहा होगा । जो मित्र माता-पितासे दूर कर दें, उनका सङ्ग किस कामका ? यदि तुम्हारे वे मित्र समझदार होते तो सहज ही मुक्तिके उपायरूप परम कल्याणकारी माता-पिताके सेवाकार्यसे तुम्हें वञ्चित क्यों करते ? इससे तुमको सोचना चाहिये था कि वे ऐसा करके अपना मतलब गाँठना चाहते थे कि तुम्हारा हित । भैया ! माता-पिता तो तुम्हारे वियोगमें तुम्हारे गुण और सेवाको याद करके रोया करते हैं । संसारमें तुम्हारे गुण और आचरणोंकी ख्याति है और अच्छे-अच्छे पुरुषोंके हृदयोंपर तुम्हारा अच्छा प्रभाव अङ्कित है । तुम माता-पितासे अलग होकर रहते हो, इससे उन सज्जनोंपर कैसा बुरा असर होगा और वे जब तुम्हारी निन्दा-अपमान करेंगे, तब उसे तुम कैसे सहन करोगे ? माता-पिताकी सम्पत्तिसे तुम्हें संकोच और घृणा क्यों होनी चाहिये ? माता-पितासे हमलोग कैसे छूट सकते हैं ? हमलोगोंके शरीरमें भी तो जो कुछ है, सब माता-पिताका ही है । मेरी तो राय यह है कि उनके चरणोंमें जाकर उनसे क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये, इसमें विलम्ब

* मनुजीने कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥

(२ । २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता ।'

अतएव—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

(२ । २३७)

'माता-पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता । यही साक्षात् परम धर्म है । इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं ।'

करना उचित नहीं । माता-पिताकी कोई गलती भी हो तो बड़ोंकी गलती कभी माननी ही नहीं चाहिये ।'

इतनेमें भाभी बोल उठी—'बहिनजी ! मुझे तो सास-ससुरसे अलग रहनेमें न तो कोई सुख है और न मेरा मन ही लगता है । समय-समयपर मैं इनसे प्रार्थना भी करती रहती हूँ । पर पता नहीं, विधाताने मुझे उनकी सेवासे क्यों वञ्चित रख छोड़ा है ?' रामलाल बोले—'बहिन ! माता-पिताके बिना बुलाये और बिना उनकी सम्मति लिये जानेमें लज्जा होती है । कहीं वे मेरा अपमान तो नहीं कर देंगे ?' सुशीलाने कहा—'भैया ! उनकी तो सम्मति ही है । वे तो तुम्हारे वियोगमें रोते हैं, उनके पास जानेमें लज्जा किस बातकी ? मेरी समझमें वे तो तुम्हारे जानेसे बहुत प्रसन्न होंगे । और माता-पिताके पास जानेमें अपमानकी कौन-सी बात है ? उनके द्वारा किया हुआ अपमान तो मानसे भी बढ़कर है ।'*

सुशीलाकी उपर्युक्त हितभरी बातें सुनकर रामलाल और उसकी पत्नी दोनों सुशीलाके साथ माता-पिताके पास घर आ गये तथा दोनों अपने कृत्यका अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए उनके चरणोंपर गिरकर रोने लगे ।

माता-पिताने कहा—'बेटा ! आज बड़े सौभाग्यकी बात है, आज हमारा दिन बहुत ही अच्छा है ।' फिर उन्होंने सुशीलासे कहा—'बेटी सुशीला ! तुमने जो आज महत्कार्य किया है, इसको हम आजीवन कभी नहीं भूलेंगे ।' सुशीला बोली—'मा ! तुम क्या कह रही हो ? इसका जो कुछ श्रेय है, वह तो तुमको, पिताजीको और भाईजी-भौजाईजीको ही है । मैं तो निमित्तमात्र ही हूँ । मुझमें भी जो कुछ अच्छापन तुम देखती हो, वह सब भी आपलोगोंकी ही कृपा है ।'

सुशीलाके इस प्रकारके अभिमानरहित व्यवहारको देखकर सब मुग्ध हो गये । सुशीलाके पास दो मोहन मन्त्र थे; उनसे वह कोई भी क्यों न हो, उसको अपने अनुकूल बना लेती थी । वे मन्त्र ये थे—(१) अपने स्वार्थका त्याग करके निष्काम भावपूर्वक सब प्रकारसे उसके हितकी चेष्टा करना और (२) उसके अवगुणोंको भुलाकर उसके गुणोंका वर्णन करना । इन्हींसे उसने अपने भाईके हृदयको भी पलट दिया ।

इसके अनन्तर रामलालने अपने मित्रोंसे प्रेम और विनयपूर्वक प्रार्थना कर दी कि 'मुझको ही कभी अवकाश होगा तो मैं आपके घरपर आकर मिल सकता हूँ, क्योंकि माता-पिताके पास मैं आपका यथोचित सत्कार करनेमें लाचार हूँ ।'

सुशीला पिताके घरपर कुछ दिनोंतक रही, परंतु ससुरालमे अपने प्रति होनेवाले अत्याचारको लेकर किसीकी भी कभी किञ्चित् भी निन्दा-चुगली नहीं की । माता-पिता और भाई-भौजाई उसे खाने-पीने, पहननेके लिये अनेक पदार्थ देते, पर उनके आग्रह करनेपर भी वह नहीं लेती । यदि कभी उनके संतोषके लिये यत्किञ्चित् ले भी लेती तो अनासक्तभावसे ही लेती, उसकी उन पदार्थोंके प्रति किञ्चित् भी आसक्ति या लोलुपता नहीं थी । उसका व्यवहार बड़ा ही त्यागमय और प्रशंसनीय था ।

तदनन्तर ससुरालसे आग्रहपूर्वक बुलावा आनेपर माताको विनय और प्रेमसे समझाकर वियोगके दुःखको प्रकट करती हुई सुशीला विश्वासी पुरुषके साथ अपने ससुराल चली आयी । सुशीलाको घरमें आये देखकर ससुरालके सभी लोग बड़े आनन्दित हुए ।

(१०)

इधर सुशीलाकी लड़की इन्द्रसेनीको द्वादश वर्षकी विवाहके योग्य देखकर उसके सास-ससुरको बड़ी चिन्ता रहा करती थी । अतः एक दिन उन्होंने छोटी बहूसे कहा—'इन्द्रसेनी विवाहके योग्य हो गयी है । तेरे प्रभावके कारण कई लोग अपने साथ सम्बन्ध करना चाहते हैं । तेरी राय किसके साथ सम्बन्ध करनेमें है ?' सुशीलाने अपनी साससे कहा—'इसमें मेरी राय क्या लेनी है ? आप जिसके साथ सम्बन्ध करना उचित समझें, उसीमें हम सबको प्रसन्न रहना चाहिये । मैंने तो आपलोगोंके मुखसे ही यह सुना है कि बालक चाहे गरीब घरका हो, किंतु उसके बल, विद्या, बुद्धि, योग्यता, आचरण, स्वभाव और चरित्र आदि देखने चाहिये । उसके कुटुम्बवालोंके तथा विशेषकर माता-पिताके

---

* किसी कविने कहा है—

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणान्नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥

'जब मनुष्य गुरुजनोंकी कठोर शब्दोंसे युक्त वाणीद्वारा अपमानित किये जाते हैं, तभी महत्त्वको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं । जैसे कि अच्छी श्रेणीके रत्न भी जबतक शाणपर घिसकर उज्ज्वल नहीं किये जाते, तबतक राजाओंके मुकुटोंमे नहीं मढ़े जाते ।'

स्वभाव और आचरण अच्छे होने चाहिये।' यह सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए।

इन्द्रसेनीके प्रारब्ध और माता सुशीलाके प्रभावके कारण सुशीलाके इच्छानुकूल ही घर और बालकका स्वतः संयोग लग गया। पण्डित दामोदर शास्त्रीके सुपुत्र शिवकुमारके साथ इन्द्रसेनीका वाग्दान कर दिया गया। पण्डित दामोदरजीकी सुशीलापर बहुत ही श्रद्धा थी, इसलिये उन्होंने अपनी पत्नी-को विवाहके विषयमें सलाह करने सुशीलाके पास भेजा। घरपर आते ही सुशीलाने उनका यथावत् सत्कार किया। तदनन्तर दामोदरजीकी पत्नीने कहा—'आपके साथ सम्बन्ध होकर विवाह आदर्श होना चाहिये। आपके घरमें तो कुरीतियाँ और फिजूलखर्च होगा ही नहीं, हमलोग भी अपने सुधारके लिये आपकी रायके अनुसार ही करना चाहते है।' इस प्रकार विशेष आग्रह और श्रद्धापूर्वक पूछनेपर सुशीलाने कहा—'बारूद, खेल-तमाशे, सिनेमा-थियेटर, उछाल; अधिक रोशनी आदिमें व्यर्थ खर्च नहीं करना चाहिये। विवाहमें गाली-गलौज, बुरे गीत गाना, चौपड़-ताश खेलना, बहुत-से बाजे बजाना आदि भी नहीं करना चाहिये। विवाह तो अच्छे-अच्छे विद्वानोंको बुलाकर विधि-विधानसे भलीभाँति होना चाहिये, इसमें अधिक भीड़-भाड़ नहीं होनी चाहिये। हमारी ओरसे क्या करना चाहिये सो कृपया आप बतलाइये।'

पण्डित दामोदरजीकी पत्नी बोली—'हमलोग आपको क्या आदेश दें। हमलोग तो आपकी ही शिक्षाके अनुसार चलना चाहते हैं। आपने इस विषयमें कैसा विचार किया है, यह सुननेके लिये हमलोग उत्सुक हैं। यदि उचित समझें तो आप बतलानेकी कृपा करें।'

इसपर सुशीलाने कहा—'हँसी-मजाक, नाच तथा बुरे गीत तो हमारे यहाँ पहलेसे ही बंद हैं। भाँग, तम्बाकू, सुल्फा, गाँजा आदि मादक वस्तु, सोडा-बर्फ, लेमोनेड देना, होटलमें भोजन कराना, पार्टी देना और सेंट आदिसे सत्कार करना शास्त्रविरुद्ध तो है ही, बल्कि सत्कारके नामपर उनका अपमान करना है। शास्त्रके अनुसार हल्दहात आदि करनेके बाद देवताओंकी विधिवत् पूजा कराकर अच्छे-अच्छे विद्वानों-की सम्मतिके अनुसार कन्यादान करनेका विचार है। आप लोगोंका असली सत्कार तो श्रद्धा और प्रेमके व्यवहारसे होता है; उसकी तो हमलोगोंमें कमी है, भोजन तथा पान-सुपारी, लौंग-इलायचीका प्रबन्ध साधारण तौरपर किया गया है। दहेज-धन देनेके लिये तो हमारे पास है ही क्या, हम तो एक अबोध बालिकाको आपकी सेवामें अर्पण करके अपनेको पवित्र करना चाहते हैं। आप-जैसे सरल और त्यागी मनुष्योंके साथ सम्बन्ध हमारे बड़े ही भाग्यसे हुआ है। आपके व्यवहारको देखकर हमलोग सब मुग्ध हो रहे हैं।'

इसके अनन्तर समयपर दोनों ओरसे श्रद्धा, विनय और प्रेमका व्यवहार होते हुए उपर्युक्त पद्धतिके अनुसार बहुत ही प्रशंसनीय, सात्त्विक और आदर्श विवाह सम्पन्न हुआ तथा परस्पर नमस्कार करनेके बाद बरातको विदा किया गया।

सोमदत्त, रामदत्त और मोहनलाल—तीनों भाई सुशीलाके चलाये हुए व्यापार-कार्यको निजमें ही देखा करते और परस्पर सबका बहुत ही अच्छा प्रेममय व्यवहार था। घरमें स्त्रियोंका भी व्यवहार सुशीलाके सम्पर्कसे बहुत ही सुन्दर हो गया था। इस प्रकार कुछ काल बीतनेके बाद सुशीलाका लड़का इन्द्रसेन जब सोलह वर्षका हो गया, तब उसका विवाह भी पण्डित रघुनाथ आचार्यकी पुत्री गायत्रीसे कर दिया गया। वह विवाह भी पूर्वकी भाँति ही बहुत सात्त्विक, आदर्श और प्रशंसनीय हुआ। उसमें भी नाच-गीत, कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची बिल्कुल नहीं की गयी तथा इनकी ओरसे त्यागका व्यवहार रहा। पर श्रीरघुनाथ आचार्यका विशेष आग्रह होनेके कारण उनके सन्तोषके लिये नाममात्रका दहेज लेना पड़ा।

इस प्रकार लड़की और लड़केका विवाह होनेपर सब घरवाले निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक अपने घरमें निवास करने लगे तथा परस्पर बड़े ही त्याग और प्रेमका व्यवहार करने लगे।

(११)

कुछ दिनों बाद पण्डित देवदत्तजीके श्वास-रोगके कारण शरीर दुर्बल हो जानेसे ज्वर हो गया। अनेक आयुर्वैदिक दवा की, किंतु कोई भी लागू न पड़ी। सुशीलाकी रात-दिन विनय और प्रेमपूर्वक की हुई सेवासे देवदत्तजी मुग्ध हो गये और बोले—'बेटी! तुम सर्वदा निर्दोष थी और मैंने तुमको घरसे निकलवा दिया था, वह दुःख मेरे हृदयमें शूलकी तरह चुभता रहता है।' सुशीलाने ननद रोहिणीके द्वारा कहा—'ससुरजी! आपकी तो कोई गलती है ही नहीं। वह सब घटना तो धोखेसे हो गयी। उसका आपको कुछ भी विचार नहीं करना चाहिये। मैं जो आपसे बहुत दिनोंतक अलग रही, इसे मैं अपना ही दुर्भाग्य मानती हूँ। अब इस

विषयमें आप अपनेको हेतु मानकर दुःख करेंगे तो उससे उल्टा मेरे चित्तपर विचार होगा।' यह सुनकर पण्डितजीने कहा—'बेटी! तू विचार मत कर। तेरी बात सुनकर अब मेरे चित्तमें कोई विचार नहीं रहा।'

इसके बाद पण्डितजीकी अवस्था और भी दब गयी। यह देखकर घरवालोंने स्थानको बुहार-झाड़कर साफ किया और फिर पवित्र जलसे धोकर उसपर गोबर तथा गङ्गाजलका चौका लगाया एवं उसपर तिल और सरसों बिखेरकर भगवान्‌का नाम लिखा। फिर उसपर पवित्र बालूकी शय्या बनाकर गङ्गाजीकी रेणुका छिड़क दी और उसपर रामनाम लिखकर मन्त्रोंद्वारा गङ्गाजलसे उसका मार्जन किया। उस बालूपर दर्भ डालकर हाथसे बना हुआ शुद्ध सफेद वस्त्र बिछा दिया। तदनन्तर पण्डितजीका संकेत पाकर सोमदत्तने उनको पवित्र जलसे स्नान कराया और नवीन शुद्ध उत्तरीय तथा अधोवस्त्र पहनाकर उनका यज्ञोपवीत बदल दिया। इसके बाद उनको उस बालुकामयी शय्यापर सुला दिया और हाथसे बनी हुई एक नवीन, शुद्ध, सफेद चद्दर ओढ़ा दी। उनके पास एक नूतन तुलसीवृक्षका गमला रख दिया। गलेमें तुलसीकी माला पहना दी, मस्तकपर चन्दनसे तिलक कर दिया। मस्तकके नीचे बहुत कोमल और हल्की-सी एक गीताकी पुस्तक रख दी। पण्डितजी श्रीविष्णुरूपके उपासक थे, अतः एक छोटी-सी शालग्रामजीकी मूर्ति उनके वक्षःस्थलपर रख दी। फिर पत्र-पुष्प, धूप-दीप आदिसे भगवान्‌की पूजा की गयी और आरती उतारी गयी। इसके बाद सोमदत्तने पण्डितजीको तुलसी और गङ्गाजल पिलाकर गीताके आठवें अध्यायका अर्थसहित पाठ सुनाया। तत्पश्चात् सब मिलकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मुग्ध होकर एक ताल और एक स्वरसे भगवान्‌के नामोंका कीर्तन करने लगे। पण्डितजीके सामने भगवान् श्रीविष्णुका सुन्दर चित्र दीवालपर टँगा हुआ था ही, उसे देखते हुए भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए तथा भगवान्‌के नामोंका कीर्तन सुनते हुए पण्डितजी भगवान्‌के परमधाम सिधार गये।

इस कहानीसे, विशेषकर माता-बहिनोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वे सुशीलाको आदर्श मानकर उसका अनुकरण करें अर्थात् अपने साथ बुराई करनेवालेके साथ भी भलाई करें; बालकोंके साथ वात्सल्यभाव, समानवालोंके साथ मैत्री-भाव और बड़ोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति और विनयभावसे उनकी सेवा करें; निःस्वार्थभावसे उत्तम कार्य करके मान-बड़ाईसे रहित होकर उसका श्रेय दूसरोंको ही देनेके लिये सत्यकी रक्षा करते हुए चेष्टा करें; घोर आपत्ति पड़नेपर भी काम, क्रोध, लोभ, लज्जा, भय आदिके वशमें होकर धैर्य, धर्म, ईश्वरभक्ति तथा जान-बूझकर प्राणोंके त्यागका कभी विचार ही न करें; सास-ससुर, माता-पिता, पति आदि बड़ोंकी तन, मन, धनके द्वारा कर्तव्य समझकर निःस्वार्थभावसे विनय-प्रेमपूर्वक सेवा करें; बालकोंको अपने आचरण और वाणीद्वारा अच्छी शिक्षा दें; बालकोंके विवाहमें कुरीतियाँ और फिजूल-खर्चीका सर्वथा त्याग करें; चोर, बदमाश, ठग, नीच और धूर्तोंसे बचनेके लिये बुद्धि-विवेकपूर्वक कुशलतासे काम लें; बीमारी, मृत्यु और आपत्तिसे ग्रस्त मनुष्योंके हितके लिये उनकी निःस्वार्थ भावसे सेवा करें; विद्या, बुद्धि, बल, तेज और शिल्पज्ञानकी वृद्धिके लिये तत्परतासे यथोचित चेष्टा करें; सबको अपने अनुकूल बनानेके लिये उनके अवगुणोंकी ओर खयाल न करके उनके सच्चे गुणोंका वर्णन करते हुए उनके परमहितकी चेष्टा करें एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, श्रद्धा, प्रेम आदि गुणोंको तथा सत्सङ्ग, स्वाध्याय, कथा, कीर्तन, तीर्थ, सेवा, तप, दान आदि सदाचारोंको अमृतके समान समझकर कर्तव्य और निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक धारण करें।

अमृत-कण

'जीवनका कोई भरोसा नहीं, कमलदलपर जैसे जल स्थिर नहीं रह सकता, वैसे ही यह जीवन है। इसमें अल्पकालके लिये जो सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होता है, वही संसाररूपी समुद्रको तरनेके लिये नौकाका काम देता है।'

'धैर्य जिसका पिता है, क्षमा माता है, शान्ति सदा पत्नी है, सत्य पुत्र है, दया बहिन है, मन-संयम भ्राता है, पृथ्वी शय्या है, दिशा वस्त्र हैं, ज्ञानामृत भोजन है; इतने जिसके कुटुम्बी हैं, बताइये, ऐसे योगीको किसका भय है।' (संकलित)

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४५)

यह तो उषा आयी है, अंशुमाली अभी भी क्षितिजके उस पार ही हैं। किंतु कमलनयन श्रीकृष्णचन्द्र आज इसी समय अपने-आप जग उठे हैं, जगकर जननीसे अपने मनकी एक बात बता रहे हैं—'री मैया ! देख, आज यहाँ नहीं, आज तो एक परम सुन्दर वनमें जाकर वहाँ ही भोजन करनेकी मेरी रुचि हुई है !'—

कस्मिन्नप्यहनि अनुदित एवाहस्करे पुष्करेक्षणो जननीमुवाच । मातरद्य निरवद्यविपिनभोजने भो जनेश्वरि ! विहितलालसोऽस्मि ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अपने नीलमणिका ऐसा प्रस्ताव जननी सहजमें स्वीकार कर लें, यह भी कभी सम्भव है ? जननीको तो अपने पुत्रकी यह अभिलाषा नितान्त अनीतिपूर्ण प्रतीत हुई और वे बड़े वेगसे सिर हिलाकर तथा 'नहीं-नहीं, यह तो होनेकी ही नहीं !'—मुखसे भी स्पष्ट कहकर अपना निर्णय सुना देती हैं—

इति तनयोदितमनयोदितमवगम्य व्रजराजवधूर्जवधूयमानवदनं न न न नेति यदा निजगाद ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने भी हठ पकड़ लेनेके अनन्तर उसे फिर छोड़ देना सीखा जो नहीं है । अनुनय-विनय करते हुए अपने करपल्लवोसे बार-बार जननीका मुख आच्छादन करते हुए उनकी सम्मति ले लेनेके लिये वे तुले बैठे हैं । और जब मैया अपने निश्चयपर अडिग बनी रहती हैं, तब श्रीकृष्णचन्द्र आज एक नयी युक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं; वे मैयाको अपनी शपथ दे देते हैं। बस, जननीको मौन कर देनेके लिये यह अमोघ उपाय है । अनुत्साहपूरित चित्तसे ही हो, पर अब तो जननीको नीलमणिका अनुमोदन करना ही पड़ता है—

शपथेन मुहुरनुनाथ्य तदनुमोदनं कारयामास ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

वन-भोजनकी यह योजना कल वत्सचारण कर लौटते समय ही बन चुकी थी; सखामण्डलमें यह स्थिर हो चुका था कि कल प्रत्येक शिशु अपने घरसे भोज्य-द्रव्य साथ ले आये और सब मिलकर, साथ बैठकर, परस्पर बाँटकर प्रातः कलेवा भी किसी सुरम्यवनमें ही करें । प्रस्ताव श्रीकृष्णचन्द्रका ही था और फिर अविरोध समर्थन सखावर्गका हो, इसमें तो कहना ही क्या है । इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके शत-शत अवरोध-अनुरोधपर भी अविचल रहे और जननीको ही अपना निश्चय बदलना पड़ा । जो हो, व्रजरानी सर्वप्रथम अतिशय शीघ्रतासे अपने चञ्चल पुत्रको शृङ्गार धारण कराने लगती हैं और उधर रोहिणी मैया सुस्वादु सुमिष्ट विविध खाद्यसामग्रीसे छींकोंको पूर्ण करनेमें जुट पड़ती हैं।

वेशविन्यास पूर्ण हुआ और श्रीकृष्णचन्द्र प्राङ्गणमें आकर खड़े हो गये । मैया दौड़कर कुछ मोदक-खण्ड एवं किञ्चित् नवनीत ले आयीं तथा अपने नीलसुन्दरके मुखमें डालने लग गयीं । नीलसुन्दर भी जानते हैं—यदि उन्होंने जननीके इस उपहारको अस्वीकार किया तो फिर वन-भोजनकी सारी योजना धरी रह जायगी । अतः वे खड़े-खड़े ही जननीकी यह भेंट लेने लगे । अवश्य ही अल्प-से-अल्प समयमें ही यह कार्य सम्पन्न हुआ और तब गूँज उठा श्रीकृष्णचन्द्रका शृङ्गनाद । आज उनके सखाओंकी तो अभी नींद भी नहीं टूटी है । यह पूर्ण परिचित शृङ्गध्वनि ही कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट होकर उनको—व्रजपुरके समस्त शिशुओंको जगाती है । वे हड़बड़ाकर उठ बैठे—'अरे ! आज तो कन्नू मैयाकी ही विजय हुई, ऐसा तो कभी नहीं हुआ था,

हम सभी जाते थे तब कन्हैया जागता था, जननीके शत-शत प्रयाससे, हमारे तुमुल कोलाहलसे उसके नेत्र खुलते थे और आज तो वह वनकी ओर चल पड़ा !' शिशु अपने गोवत्सोंको हाँक देनेके लिये दौड़े गोष्ठकी ओर । श्रीकृष्णचन्द्रके गोवत्स तो आज अपने पालकसे भी बहुत पूर्व मानो जाग उठे हैं, वे मूक गोशावक जैसे आजकी व्यवस्थासे पूर्ण परिचित हों, इस शृङ्गनादकी ही प्रतीक्षा कर रहे हों—इस प्रकार ध्वनि होते ही नन्दभवनके तोरणद्वारपर कूदते हुए वे एकत्र हो जाते हैं । वनपथकी ओर अग्रसर होनेका चिरपरिचित सङ्केत उन्हें प्राप्त हो जाता है और वे उधर ही चल पड़ते हैं । आगे-आगे अपार गोवत्सश्रेणी और पीछे उनके पालक व्रजेन्द्रनन्दन गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र वनकी ओर चले जा रहे हैं—

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । १)

श्रीकृष्णचन्द्रका त्रिभुवनमोहन आजका वह वत्सपाल-वेश देखते ही बनता है—

वेणुं वामे करकिशलये दक्षिणे चारुयष्टिं
कक्षे वेत्रं दलविरचितं शृङ्गमत्यद्भुतं च ।
बर्होत्तंसं चिकुरनिकरे वल्गुकण्ठोपकण्ठे
गुञ्जाहारं कुवलययुगं कर्णयोश्चारु बिभ्रत् ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वाम करकिशलय वेणुसे सुशोभित है, दक्षिण करमें सुन्दर यष्टि (छड़ी) है । कक्षमें बेंत एवं पत्रमण्डित अद्भुत शृङ्ग दबाये हुए हैं । अलकावली मोरमुकुटसे मण्डित है । सुन्दर कण्ठदेश गुञ्जाहारसे राजित हो रहा है । कर्णयुगल युग्मकुवलयसे विभूषित हैं ।'

जननीके अगणित रत्नहार, रत्नाभूषणोंमेंसे आज किसी-को श्रीअङ्गपर स्थान नहीं मिला । आज तो श्रीकृष्णचन्द्र वनमें ही रहेंगे । जननीने भी अचिन्त्य प्रेरणावश तदनुरूप ही शृङ्गार धराये हैं । फिर अवकाश ही कहाँ था कि जननी अपने नीलसुन्दरको समस्त शृङ्गार धारण करा सकें । एक क्षणका विलम्ब भी श्रीकृष्णचन्द्रको असह्य जो हो गया था । मैयाका मन भी रह-रहकर इस ओर आकर्षित हो रहा था कि अधिक-से-अधिक छींकोंमें अधिक-से-अधिक भोजनद्रव्य श्रीरोहिणी एवं परिचारिकाएँ भर पायीं कि नहीं । कहीं वनमें सखाओं-को वितरण करते-करते स्वयं नीलमणिके लिये भोज्य-वस्तुओंकी त्रुटि न पड़ जाय—मैयाको तो यह चिन्ता लगी थी । शृङ्गारके विना ही उनके परम सुन्दर साँवरे पुत्रसे सौन्दर्यकी किरणें झरती रहती हैं, रत्नाभरण आज न सही ! बस, अधिक-से-अधिक खाद्य सामग्री वनमें भेजी जा सके, मैयाके लिये यही प्रमुख प्रश्न था । और इसीलिये आज श्रीकृष्णचन्द्रका छींका वहन करने-वाले गोपसेवकोंकी संख्या भी मैयाने बढ़ायी है, बहुत अधिक बढ़ायी है—शृङ्गार-सामग्रीकी नहीं ।

अस्तु, राजसदनकी सीमा पार करते-न-करते सखाओंका समुदाय भी एकत्र होने लगता है । देखते-देखते सहस्र-सहस्र गोपशिशु अपने असंख्य गोवत्सोंको साथ लिये, उन्हें आगे हाँकते हुए आ पहुँचते हैं; श्रीकृष्णचन्द्रके मण्डलमें सम्मिलित हो जाते हैं । प्रत्येकने अपने घरसे छींकोंमें भोजनद्रव्य ले लिये हैं । सभी सुन्दर वेत्र, शृङ्ग एवं वेणुसे विभूषित होकर ही आये हैं । इन शिशुओंके पारस्परिक प्रेमकी, श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति असीम अनुरागकी तुलना ही कहाँ सम्भव है । फिर आजकी मनोवाञ्छित योजना सफल होते देखकर तो इनके सुखका पार नहीं रहा है । आनन्दसिन्धुकी चञ्चल लहरियोंसे स्नात हुए, उनपर नाचते-से हुए ये चले जा रहे हैं अपने प्राणाराम सखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ !

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्
वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । २)

अपने बछड़े उन सबोंने श्रीकृष्णचन्द्रके असंख्य गोवत्सोंमें मिला दिये—

कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् ।
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३)

अपने बछरन लै लै आये । कान्ह के बछरन आनि मिलाये ॥

और फिर स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलकर ऐसे चले जा रहे हैं, जैसे असंख्य मन्मथकी मण्डली श्रीकृष्णचन्द्र-को आवृत किये जा रही हो—

नंद-सुवन सौं मिलि कै चले । लागत सबै मैन से भले ॥

उनके मध्यमें श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा !—उसका तो क्या कहना है !—

तिन मधि मोहन अति सुखदाइक ।
नग जराइ मधि ज्यौं मधिनाइक ॥

किंतु सबको ही आज एक बात अतिशय खल रही है । आज दाऊ भैया साथ जो नहीं चल रहे हैं । उनके अभावमें तो वन-भोजनका रस ही आधा हो जायगा । किसी कारणसे वे तो घरपर ही रह गये—

केनापि हेतुना गृहस्थितिः कुतूहलिनि हलिनि……।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अरे नहीं, उनका आज जन्मनक्षत्र है, उसकी शान्ति, अभिषेक आदिके लिये रोहिणी मैयाने उन्हें बलपूर्वक रोक लिया—

बलदेवस्तु मात्रा जन्मर्क्षशान्तिकस्नानाद्यर्थं गृह एव बलाद्रक्षितः । (सारार्थदर्शिनी)

इतना अवश्य है, चलते समय दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चुपचाप यह संवाद भेज दिया है—

हन्त भोः ! कृष्ण ! त्वया सह क्रीडातृष्णगम्यहं विरुद्धविधिना निरुद्ध एवास्मि ।×××भवता या लीला भावयितुं भाविता सावश्यं भावयितव्या ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

'भैया रे श्रीकृष्ण ! तुम्हारे साथ क्रीड़ाकी लालसा रहनेपर भी दैव मेरे विरुद्ध है और मैं रोक ही लिया गया । किंतु जो लीला तुमने करनेकी सोच रक्खी है, उसे अवश्य सम्पादित करना ।'

बलरामकी यह सम्मति ही उनके अभावको किसी अंशमें पूर्ण कर दे रही है । और फिर तो अचिन्त्य-लीला महाशक्तिने डोरी खींच ली । दाऊ भैया सबके स्मृतिपथसे बाहर चले आये । दूसरे ही क्षण नवीन उत्साहका द्वार खुला । अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्रके दृगञ्चल चञ्चल हो उठे । उल्लासकी फेनोर्मिला लहरी उठी और गोपशिशु उसीमें बह चले । आगे मनोरम वनश्रेणी है । कलिन्दनन्दिनीका मञ्जुल प्रवाह है । श्रीकृष्णचन्द्रका नेतृत्व है । इससे अधिक उद्दीपन और क्या होगा ? गोपशिशु वत्सचारण करते हुए ही बाल्यकौतुकमें संलग्न हो जाते हैं । चलते-चलते जहाँ कहीं भी रुक जाते हैं और वहीं एक-से-एक सुन्दर बाल्यविहार होने लगता है—

चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ।
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३)

पहली क्रीड़ा हुई नीलसुन्दरके श्यामल श्रीअङ्गोंको वन्यसामग्रीसे अलङ्कृत करनेकी, स्वयं भी आभूषित होने-की । सबकी माताओंने यथासाध्य पर्याप्त सजाकर ही पुत्रोंको वनमें भेजा है । श्रीकृष्णचन्द्रने रत्नहार, मणि-भूषण नहीं धारण किये तो क्या ? शिशुओंकी माताओंने तो आज भी उन्हें—बालकोंकी रुचि ऐसे शृङ्गारमें न रहनेपर भी—वैसे ही सजाया है । सदाकी भाँति गोपशिशु अङ्गद, वलय, किङ्किणीजाल, कर्णकुण्डल, मञ्जीर और विविध मणिमय भूषणोंसे सुसज्जित हैं—

केयूरे वलयानि किङ्किणिघटा हारावली कुण्डले
मञ्जीरौ मणिवृन्दबन्धलतिका यद्यप्यमीषां बभुः ।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

गुञ्जा, काच, मुक्ता, स्वर्णमणिनिर्मित आभरणोंसे पुत्रोंकी वेशरचनामें आभीर-सुन्दरियोंने कलाकी इति कर दी है; इतने अल्प समयमें व्रजेश्वरीने भी पुष्पोंसे ही अपने नीलमणिका परम मनोहर शृङ्गार करके ही भेजा है। पर इससे क्या हुआ, शिशुओंके मनके अनुरूप न तो श्रीकृष्णचन्द्र ही सजे और न वे सब ही। व्रजरानी, उनकी माताएँ कहाँ पायेंगी वनस्थलीकी शृङ्गारसामग्री ? भूषणोपयोगी ये छोटे-बड़े वनफल, द्रुमवल्लरियोंके रङ्ग-बिरङ्गे नवपल्लव, मनोहारी पुष्पगुच्छ, विविधवर्ण, चित्र-विचित्र कुसुमोंकी राशि, अभी-अभी झड़े हुए झलमलाते मयूरपुच्छ एवं गैरिक आदि भाँति-भाँतिके वन्यधातु—ये वस्तुएँ व्रजराजमहिषीको, गोप-सुन्दरियोंको कहाँ मिलेंगी ! और मिलें भी तो इनसे विभूषित करनेकी कल्पना ही उनमें कहाँ सम्भव है ? किंतु शिशुओंके मनभावते शृङ्गारद्रव्य तो ये ही हैं। उन्हें तो अपने प्राणप्रतिम सखा कन्हैयाको; स्वयं अपने-आपको इन्हींसे अलङ्कृत करना है। तभी तो समुचित वेशविन्यास होगा ! अन्यथा तो इन आभूषणोंका भार वहन करना मात्र है ! अतः सबसे पहले आज वेशरचनाका ही कार्य हुआ। फलसे, नव-किशलयसे, कुसुम-स्तवकसे, सुमनसे, शिखिपिच्छ एवं वन्यधातुओंसे प्रथम उन सबने मिलकर नीलसुन्दरके अङ्गोंको अलङ्कृत किया और फिर पारस्परिक सहयोग-द्वारा तथा श्रीकृष्णचन्द्रके करपद्मोंसे आहृत वन्य-उपहारोंको ले-लेकर वे सब-के-सब स्वयं भी विभूषित हुए—

फलप्रवालस्तवकसुमनःपिच्छधातुभिः ।
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ४)

इसके अनन्तर उनकी यथेच्छ क्रीड़ा आरम्भ हुई। एकने चुपचाप किसीका छींका कंधेसे उतार लिया, अथवा बगलसे बेंत खींच ली और छिपा दिया। किसी सहगामी दर्शकका सङ्केत पानेपर उसे अपनी वस्तुके अपहृत होनेका भान हुआ और वह ढूँढ़ने चला। वस्तु जाती कहाँ ? अपहरण करनेवालेका ठीक-ठीक अनुमान उसे हो गया और वह दौड़ा उससे अपनी वस्तु छीनने। किंतु समीप पहुँचनेसे पूर्व उसने तो अपहृत वस्तु दूर फेंक दी। शिशु अपनी वस्तु उठा लेनेके लिये लपका पर ले नहीं सका। दूसरे शिशुने उसे उठाकर और भी आगे निक्षिप्त कर दिया। वहाँ पहुँचनेपर तीसरेने और आगे फेंक दिया। वस्तु न पाकर, अपनी हारका अनुभव कर श्रान्त शिशुके नेत्र भरने लगे। फिर तो किसी वयस्क शिशुने अथवा स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने ही हँसते हुए उसकी वस्तु लाकर उसके हाथोंमें दे दी और उसे अङ्कमें भर लिया। उसके तप्त अश्रु एक अनिर्वचनीय सुखके परमशीतल बिन्दुमें परिणत हो गये !

कदाचित् वृन्दाकाननकी सुन्दर शोभा निहारने श्रीकृष्णचन्द्र किञ्चित् दूर चले गये, फिर तो होड़ मची—दौड़कर कौन सबसे पहले श्रीकृष्णचन्द्रको स्पर्श करता है ? 'यह लो मैं पहुँचा' कहते हुए असंख्य शिशु एक साथ दौड़े श्रीकृष्णचन्द्रको स्पर्श करनेके लिये; और उन्हें छूकर, अपने भुजपाशमें बाँधकर सुखसिन्धुमें निमग्न हो गये।

एक समुदायकी लालसा हुई—श्रीकृष्णचन्द्रकी भाँति ही वह वंशी बजाये। उसने अपनी वंशीमें स्वर भरना आरम्भ किया। फिर तो उसका अनुकरण दूसरेने भी किया ही। विभिन्न स्वरनादसे कानन गूँज उठा। और तब श्रीकृष्णचन्द्रने अपने अधरोंपर वंशीको धारण किया। करकिशलय चञ्चल हुए, छिद्रोंपर अङ्गुलियाँ नाचने लगीं। फिर तो अगणित शिशुओंका सम्मिलित वेणुनाद श्रीकृष्णचन्द्रके वंशीरवमें ही सहसा

समा-सा गया। साथ ही शिशुओंको अनुभव हुआ—'कन्नू भैयाकी स्वरलहरीसे जिस मधुकी वर्षा होती है, वह तो अप्रतिम है, हम सबोंके वंशीनादमें सचमुच वह मिला नहीं, वह तो उससे सर्वथा पृथक् रह रहा है, उस मधुप्रवाहमें हमारा नाद प्रस्तर-कण-सा खर-खर कर रहा है। उसमें एकरस होकर मिल सकना तो दूर रहा, हमारा वंशीरव तो उलटे उसकी मधुरिमाको रुद्ध कर दे रहा है।' एक साथ ही शिशुओंने बजाना स्थगित कर दिया और फिर सबने निश्चय कर लिया—'देखो, जब कन्नूकी वंशी बजे, तब हममेंसे कोई भी उस समय उसका अनुकरण न करे। अन्यथा हम सभी इस परम सुखके पूर्ण उपभोगसे वञ्चित रह जायँगे। और बातोंमें कन्नूको हरायें, वह तो हारेगा ही, पर वंशीवादनमें उसकी होड़ करने न जायँ।'

यही परिणाम शृङ्गध्वनिका भी निकला। श्रीकृष्णचन्द्रके शृङ्गसे निर्गत अत्यन्त गम्भीर नादकी समता गोपशिशु न कर सके। तथा पूर्ववत् निर्णय इस सम्बन्धमें भी हुआ। और वेणु, शृङ्ग तो प्रतिदिन ही बजते हैं, बजेंगे ही। आज तो और ही क्रीड़ा हो!

अस्तु, एक दलको अन्य क्रीड़ा सूझी। मधुमत्त भ्रमर गुन-गुन करते उड़ रहे हैं। शिशुओंके इस दलने उनकी ओर देखा, उनकी ध्वनि सुनी और फिर उस 'गुन-गुन'में ही अपना कण्ठ-स्वर मिलाना आरम्भ किया। इतनेमें कोकिलका 'कुहू-कुहू' रव सुन पड़ा और कुछ शिशु कोकिलकण्ठका ही अनुकरण करने लगे।

कतिपय शिशु अतिशय वेगसे दौड़ने लगे। आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंकी सचल छाया देखकर उन्हें नया ही कौतुक हाथ लगा। वे उस छायाका ही अनुसरण करते हुए छायापर अपने चरण रखते हुए चलनेके प्रयासमें प्रबल वेगसे दौड़ चले। आगे सरोवर आ जानेसे उनका मार्ग रुद्ध हो गया। अन्यथा वे न जाने कितनी दूरतक चले जाते। जो हो, सरोवरपर जानेसे एक और सुन्दर क्रीड़ासामग्री मिली। वहाँ हंसोंकी मृदुगति देखकर उनके आनन्दका पार नहीं। वहीं इस मरालकुलकी शोभा निहारनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र भी दौड़े आये। उन्हें अपने समीप आये देखकर उन हंसोंकी विचित्र दशा हुई। वे ग्रीवा उठाकर मृदु मन्दगतिसे अतिशय सुमधुर कूजन करते हुए उनकी ओर ही चल पड़े। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रके उन गोपसखाओंकी चेष्टा भी देखने ही योग्य हुई। पङ्क्तिबद्ध होकर वे बालक ठीक हंसोंकी भाँति ही चलने लगे। श्रीकृष्णचन्द्रका उन्मुक्त हास्य उन्हें उत्तरोत्तर प्रोत्साहित करता गया और हंसकी गतिसे मृदुपादविन्यासकी क्रीड़ा न जाने कितनी देर चलती रही।

किञ्चित् अल्पवयस्क शिशुओंका ध्यान शान्त स्थिर बैठे बक-समूहोंकी ओर गया। वे उनकी मुद्राका ही अनुकरण करने लगे। उनसे कुछ दूर वहीं सरोवर-तटपर वे शिशु भी वैसे ही ध्यानस्थित-से शान्त बैठ गये। उनका यह सुन्दर अभिनय देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासकी सीमा नहीं रही।

वहीं देखते-देखते दल-के-दल मयूर एकत्र होने लगे। उन्हें भी श्रीकृष्णचन्द्रकी अङ्गगन्ध मिली और वे अपनी घ्राणशक्तिसे इस दिव्यातिदिव्य सौरभका सन्धान पाकर सघन वनसे वहाँ चले आये जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र विराजित हैं। वे सचमुच आये ही हैं श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने; क्योंकि उन सबोंने पुच्छका विस्तार किया और लगे नृत्य करने। उनके इस नृत्यसे श्रीकृष्णचन्द्रका मन भी नाच उठता है। केवल मन ही नहीं, शरीर भी। वास्तवमें वे उन नृत्यपरायण मयूरोंके पाद-विन्यासपर, उनके तालबन्धपर उनकी-सी भाव-भङ्गिमाका प्रकाश करते हुए नृत्य करने लग जाते हैं। गोपशिशुओंकी तो क्या चर्चा, श्रीकृष्णचन्द्रका यह नृत्य अतिशय चञ्चल कपिदलको भी मुग्ध कर देता है। द्रुम-

शाखाओंपर अवस्थित, अतिशय शान्ति धारण किये इस कपिसमाजकी भावसमाधि देखने ही योग्य है !

किंतु आखिर तो वह कपिकी जाति ठहरी। एकने भूल कर दी। दर्शनलोभसे ही वह कूदकर निम्नतम शाखापर आ बैठा। और एकके नीचे उतर आनेपर दूसरेके द्वारा अनुकरण अनिवार्य है ही। कपिस्वभावकी शोभा भी इसीमें है। अस्तु, देखते-ही-देखते शत-शत कपिसमूह वृक्षसे नीचे आकर नृत्यपरायण श्रीकृष्णचन्द्रको, मयूर-कुलको आवृत कर लेते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान इस ओर नहीं जाता, वे तो नृत्यमें तन्मय हो रहे हैं। किंतु मयूर भयभीत हो उठे। अपने पुच्छका सङ्कोचकर नृत्यका विरामकर, सब-के-सब तरुशाखाओंपर जा चढ़े। अब तो गोपशिशुओंके रोषका पार नहीं। इस दुष्ट कपिदलने श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य जो बिगाड़ दिया। शिशुओंमें प्रतिशोध लेनेकी भावना जाग्रत् हुई। वे उनकी लम्बी नीचे लटकती पूँछोंको पकड़-पकड़कर खींचने लगे। और जब वे कपि ऊपरकी शाखाओंपर जा चढ़े तो शिशु भी उनके साथ ही वृक्षोंपर चढ़ गये। वे सब वानर-स्वभाववश मुख विकृत करके जब इनको ओर घुड़कने लगे, तब ये सब भी ठीक वैसे ही अपना मुँह फाड़कर, दाँत निकालकर, उलटा उन्हें ही धमकाकर उन्हें पुनः पकड़ लेनेका प्रयास करने लगे। भयभीत कपिसमाज जब इस वृक्षसे उस वृक्षपर कूदकर भागने लगा, तब ये निर्भीक गोपशिशु भी एकसे दूसरे वृक्षपर कूदने लगे। उन्हें बहुत दूर हटाकर ही इन सबोंने विश्राम लिया।

एक ओर कतिपय शिशुओंका अभिनय और भी मनोरम है। आयु छोटी होनेके कारण यह मण्डल न तो वृक्षपर ही चढ़ सका और न अन्य क्रीड़ाओंमें ही इसे सफलता मिली। किंतु इस बार इन्होंने भी बाजी मार ली। सरोवरके समीप उछलते हुए भेकों (मेढकों)की ओर इनकी दृष्टि गयी और ये भी पृथ्वीपर हाथ टेककर वैसे ही फुदकने लगे। ठीक उनकी भाँति ही फुदककर क्षुद्र जल-धाराओंको पार करने लगे। इनकी यह चेष्टा देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके सहित अन्य समस्त गोपशिशु हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

कुछ गोपबालकोंका ध्यान अपने प्रतिबिम्बकी ओर गया। प्रातःकालकी इतनी लम्बी छाया देखकर वे उस प्रतिच्छायासे ही खेलने लगे। बालकोंने अपने हाथ उठाये, प्रतिबिम्बके हाथ भी उठ गये। भला, इतना सुन्दर खेल और क्या होगा ! फिर तो अपने अङ्गोंको विविध भाँतिसे प्रकम्पितकर उसकी प्रतिक्रिया वे छायामें देखने लगे, देख-देखकर आनन्द-मग्न होने लगे। और जब अपनी ही प्रतिध्वनिसे खेलनेका क्रम आरम्भ हुआ तब तो कहना ही क्या है ! तुमुल आनन्द-कोलाहलसे समस्त वनप्रान्तर मुखरित हो रहा है। सहसा इसीकी ओर कुछका ध्यान गया तथा प्रश्नोत्तर आरम्भ हुआ। शिशुने उच्च कण्ठसे पुकारा—'अरे ! तुम कौन हो ?' प्रतिध्वनिने इसकी आवृत्ति कर दी। 'हम तो श्रीकृष्णचन्द्रके सखा हैं।' प्रतिनादने भी यही उत्तर दिया। 'क्या तुम्हारे साथ भी श्रीकृष्णचन्द्र हैं ?' प्रतिशब्द भी ज्यों-का-त्यों लौट आया। 'हाँ हैं।' इसका उत्तर भी यही मिला। किंतु इस उत्तरसे कुछ शिशु रुष्ट हो गये—'मिथ्यावादी कहींके ! श्रीकृष्णचन्द्र तो एक हैं, हमारे साथ हैं, तेरे साथ कहाँ हैं ?' प्रत्युत्तर भी यही प्राप्त हुआ। अब तो शिशुओंके रोषका पार नहीं—'रे ! तू भी कोई असुर प्रतीत होता है, पर स्मरण रख, तेरी भी दशा बक-जैसी होगी !' इसके उत्तरमें भी यही शाप उधरसे भी, वनप्रान्तरके अञ्चलसे भी लौट आया। न जाने कितनी देर यह शापानुग्रहकी क्रीड़ा हुई ! इस प्रकार वनमें वत्सचारण करने आकर श्रीकृष्णचन्द्र आज भी सखाओंके साथ बाल्यलीला-विहारका रसपान करने लगे, स्वयं पानकर, वितरणकर रसमत्त हो उठे—

मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥
यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥
केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन।
केचिद् भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥
विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधुहंसकैः।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥
विकर्षन्तः कीशवालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान्।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥
साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ५-१०)

चलि गये जमुन तट सबहिन के घट, उमगि अनंदित केलि करैं,
बे बछनि चरावत मिलि सब गावत, कुसुम अनेकनि माल धरैं।
इक छींके छोरत इक इक चोरत, पाक विविध विधि खात यहाँ,
इक मोरनि-बोलनि, हंस-कलोलनि, बोलत बोलनि बोल तहाँ ॥
इक कोकिल कूकनि मर्कट हूकनि हूकत जहँ तहँ हास करैं,
इक भौंरनि गुंजनि पहिरत गुंजनि बहिरत कुंजनि स्वाँग धरैं।
इक प्रभुहिं रिझावत, प्रभु सुख पावत, अति प्रवीन गति नृत्त सचैं,
लखि सुर सब तरसत सो सुख बरसत सिसु उर आनद खेल रचैं ॥

ज्ञानी एवं योगीगण जिन्हें निर्विशेष ब्रह्मानन्दस्वरूप मानते हैं, दास आदि भक्तोंके लिये जो परमपुरुष परमेश्वर हैं, मायाश्रित विषयविदूषित नेत्रवाले पुरुषोंके लिये जो नरबालकमात्र हैं, उन्हीं स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ गोपशिशुओंका यह अद्भुत विहार हो रहा है ! पता नहीं, कैसे, किस जातिके राशि-राशि पुण्योंका यह परिणाम गोपशिशुओंको प्राप्त हुआ है !

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ११)

जिन्होंने यम-नियमका सतत साधनकर अपने चित्तको एकाग्र कर लिया है, जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो चुके हैं—इस प्रकारके समाहितचित योगी भी अनेक जन्मोंमें अपार साधनक्लेश वरण करनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रकी चरणधूलिकणिकाका स्पर्श नहीं प्राप्त करते। किंतु वे ही श्रीकृष्णचन्द्र आज इस वृन्दाकाननमें, व्रजवासियोंके दृष्टिपथमें सतत अवस्थित हैं। इन व्रजवासियोंके अपरिसीम सौभाग्यकी बात कौन बताये, कैसे बताये ?

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । १२)

जाके पद-रज-हित तप करि कै, बहुत काल जोगी दुख भरि कै।
प्रेरित चपल चित्त कहुँ भूरि, सो वह धूरि तदपि हू दूरि।
सो साच्छात दगन-पथ रहियै, कवन भाग्य व्रजजनकौं कहियै।

गणपति-वन्दन

दीनबन्धु हे नाथ ! दोष दूषण दुखहारण।
नमो निखिल-खल-दलन सकल-मल-मूल निवारण ॥
जय गजेन्द्र-सम-वदन, मदन-दाहक-हर-नन्दन।
जय जग-वन्दित-नन्दिकेश-सुत दुःखनिकन्दन ॥
जय षटमुख, गणपति, करिवदन, सुत भवानि हे जयति जय।
मम भक्ति बढ़ै तव चरणमें, भक्त होंहि निर्भय सदय ॥

—श्रीरूपनारायण चतुर्वेदी

सत्सङ्ग-माला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्कसे आगे]

(६४) रोज सबेरे, रात्रिको सोनेके पहले, मध्य रात्रिमें जगनेपर और सबेरे उषाकालमें उठकर नीचे लिखी क्रिया करे। हो सके तो इस प्रकार आसन जमावे। एकान्तमें पहले कुशासन, उसपर मृगचर्म और उसके ऊपर ऊनका आसन, और उसके ऊपर सूती कपड़ेका आसन लगावे। ऐसा न हो सके तो जहाँ जैसा साधन हो उसीके ऊपर एकान्तमें बैठे। और पद्मासन या वैसा ही सुलभ आसन लगावे, सीधा होकर बैठे, आँखें बंद कर ले, और मनसे कहे कि किसी प्रकारका विचार किये बिना भगवान्‌का दर्शन करनेकी बाट जोहते हुए एक चित्तसे बैठना है। तुझे कोई खास जरूरी काम हो तो उसे पहले ही कर ले। इस प्रकार मनको सावधान करके आँखें मीचे। यदि अन्धकार दिखलायी दे तो आँखें बंद किये बैठा हुआ अन्धकारको देखता रहे। यदि मन किसी विचारमें लगना चाहे तो उसे रोके। जिस प्रकार किसीकी बाट जोहता हुआ मनुष्य एक चित्तसे टकटकी लगाकर देखता है उसी प्रकार आँखें बंद किये भगवान् अभी ही प्रकट होंगे, इसी एक उत्सुकतासे अन्धकारको देखा करे। इस प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे वह अन्धकार दीखना बंद हो जायगा और अनेकों प्रकारके दृश्य दिखलायी देने लगेंगे—जैसे विपुल तेज, चन्द्र, तारा, आकाश, बिजली, वर्षा, सूर्य आदि ज्योति इत्यादि। परंतु यह न समझे कि यह जो कुछ दिखलायी देता है, सो परमात्मा है। यह बिल्कुल पक्की बात है कि जो कुछ दिखलायी देता है वह परमात्मा नहीं। ऐसा करते-करते यदि साधक सगुण साकार परमात्माका उपासक होगा तो जिस रूपमें उसकी श्रद्धा होगी, वही रूप धारण करके भगवान् उसे दर्शन देंगे। और यदि वह निराकार निर्गुणका उपासक होगा तो उसे आत्मदर्शन होगा और उसकी समाधिमें स्थिति हो जायगी। उपासकको साकार परमात्माके आकारका दर्शन होता है, उसमें आकार भगवान् नहीं है; बल्कि आकार धारण करनेवाला भगवान् है। जिस प्रकार कपड़ा पहननेवाला राजा होता है, परंतु कपड़ा राजा नहीं होता। उसी प्रकार रूप परमात्मा नहीं है। बल्कि रूपधारी परमात्मा है।* इसलिये रूपका अनादर न करके रूपके साथ रूपमें रहनेवाले अरूप परमात्मामें लीन होना चाहिये। यह अभ्यास जीवके अनेक जन्मका अन्त करनेवाला अन्तिम अभ्यास है, अतः इसमें जल्दीबाजी नहीं करनी चाहिये। धीरज रखकर प्रतिदिन शान्तिसे करते जाना चाहिये। प्रयत्न करते रहनेसे भगवान्‌की कृपासे समय आनेपर फल मिलेगा।

इस क्रियाके करते समय किसी भी अङ्गको दबावे नहीं नाक या कानको न दबावे। स्वाभाविक रीतिसे शान्त चित्तसे मुँह और आँखें बंद करके बैठे। बैठनेका समय धीरे-धीरे बढ़ावे। जल्दबाजी न करे। आज पाँच मिनट तो महीनेभर बाद दस मिनट—इस प्रकार बढ़ावे। एक ही ध्यान रक्खे कि मनमें तरङ्गें न उठने पावें। उठें तो तुरंत रोक दे। इस क्रियाको करनेवाला गृहस्थ हो तो विषयभोगको कम करे। खाने-पीनेमें गरम मसाला, मिर्चा, भारी भोजन न करे। सात्त्विक आहार करे और वह भी अधिक परिमाणमें नहीं। इस क्रियामें बैठनेके पहले, यदि पाखाना-पेशाबकी हाजत हो तो हो आवे। इस क्रियाके करनेकी जिसे इच्छा हो उसे बहुत श्रमवाला व्यावहारिक काम नहीं करना चाहिये। मन चिन्तारहित और प्रसन्न होना चाहिये। मन कामनारहित भगवान्‌के प्रति भक्तियुक्त होना चाहिये। दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे बैठनेका समय बढ़ता जायगा वैसे-वैसे ही मनकी शक्तियाँ भी धीरे-धीरे बढ़ेंगी। दूरकी बात सुन पड़ेगी, दूरकी वस्तु दीख सकेगी, मनकी इच्छाएँ पूर्ण होंगी। दूसरे अपने अधीन रहेंगे। वाक्-सिद्धि प्राप्त होगी। सङ्कल्प-सिद्धि होगी। पर इन सबोंमें यदि मन ललचाया तो जान लो कि पतन हो गया। ये सब भगवान्‌के मार्गमें विघ्न हैं, इसलिये इनका आदर न करे। अहङ्कार न करे। तमाशा करके लोकमें नाम कमानेकी इच्छा न करे। इनको अलग छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये और मनको शान्त रखना चाहिये। बाहर तो लोक तथा जगत्‌से मन सदा शान्त रहे, और भीतर कामनाएँ न रहनेसे मन शान्त रहे। इस प्रकार सदा शान्त मन रहे। इस बातको सदा लक्ष्यमें रखकर अभ्यास करते जाना चाहिये।

---

* वस्तुतः साकार भगवान्‌के रूपमें और भगवान्‌में कोई अंतर नहीं है। दोनों ही सच्चिदानन्द तथा एक हैं।

इससे समयानुसार जगत् सिनेमाके दृश्यों-जैसा जान पड़ेगा और परमात्माका दर्शन होगा ।

इस अभ्यासके करते समय सदा सीधा होकर बैठना चाहिये, नहीं तो नींद आयेगी । इस अभ्याससे क्रोध कम होगा । इन्द्रियोंके भोग नीरस लगेंगे । व्यवहारकी बातें कम रुचिकर होंगी । शान्ति अधिक रहेगी । इस अवस्थामें जब साधक बैठे, तब यदि मन दूसरी कोई बात न सुने, दूसरा कुछ न दीखे, दूसरी बात न जाने और दूसरा कुछ न विचारे तो समझना चाहिये कि साधन परिपक्व होता जा रहा है । अभ्यास करनेके बाद उठनेपर पता लगेगा कि मन दूसरी बात सुनता, देखता, जानता या विचारता था या नहीं । धैर्य धारण करके इस अभ्यासमें लगे रहना चाहिये ।

(६५) अब जाग्रत् अवस्थाके दूसरे मनके लिये अभ्यास बतलाता हूँ । इस प्रकार रहो कि मनमें सदा प्रसन्नता बनी रहे । शरीरमें चित्त रहता है । वह शरीरसे बाहर चला जाय तो कहा जाता है कि मनुष्य मर गया । शरीरमें चित्त रहते समय यदि कोई अंट-संट बोलता या बर्तता हो तो लोग कहते हैं कि उसका चित्त खिसक गया है, वह पागल जान पड़ता है । अब तीसरे प्रकारके ऐसे लोग हैं कि जिनका चित्त किसीके कुछ कहनेपर या विपत्तिमें या कामनामें एक बार अपनी जगह छोड़कर खिसक जाता है, और फिर पीछे ठिकाने आ जाता है । ऐसे लोग संसारी कहलाते हैं । जब चित्त अपनी जगह छोड़कर खिसक जाता है उस अवस्थामें मनुष्य जो कुछ बोलता है वह दुःखदायी होता है । खिसके हुए चित्तकी स्थितिमें ही क्रोध, शोक, हर्ष, विषाद, चिन्ता, तिरस्कार, अपमान और दुःख होता है । इन सारे द्वन्द्वोंका अनुभव करते हुए चित्तमें जब शान्ति और समझ आती है, तब वह अपने स्थानपर आता है और इन सबके लिये उसे परिताप होता है । अब रही चौथी अवस्था, जिसमें चित्त चाहे जो कुछ भी हो परंतु अपने स्थानको नहीं छोड़ता, और सदा स्थिर रहता है, शान्त रहता है, दृढ़ रहता है । यह चित्तकी स्थितप्रज्ञ अवस्था है, यह उसकी समाहित अवस्था है । गीतामें कहा है कि जिसके चित्तकी अवस्था सुख-दुःखमें, मान-अपमानमें, शीत और उष्णमें तथा दूसरे द्वन्द्वोंमें सदा शान्त रहती है उसको परमात्मा नित्य समीप भासते हैं । इसलिये यही एक लक्ष्य रखना चाहिये कि मन शान्त रहे । जगत्‌में चाहे जो हो; जिनको अपने आत्मीय समझते हैं उनको चाहे जो हो, परंतु मनको सदा प्रसन्न रखना चाहिये । इसका नाम है 'जाग्रत्-समाधि' । सारे जगत्‌का नाश हो जाय, तो चित्त ऐसा है कि उसे नया बना सकता है । क्योंकि जगत् तो किसीके चित्तकी ही सृष्टि है । चित्त कर्ता है, जगत् कार्य है । कार्यकी अपेक्षा कर्ताकी कीमत अधिक है । कार्यका नाश हो जाय तो कर्ता दूसरा कार्य खड़ा कर देगा । परंतु कर्ताका नाश हो जाय तो कार्य किस प्रकारसे हो सकेगा ? इसलिये जगत्‌में सम्पत्ति, शान्ति और आनन्दकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि प्रत्येक उपायसे चित्तको नित्य शान्त तथा क्रोध, उद्वेग और शोकसे रहित बनाये रहे ।

जगत्‌में बड़े-से-बड़ा वह है कि जिसका मन चलायमान नहीं होता । क्रिया जो कुछ भी करो, पर करो स्वस्थ मनसे, स्वस्थ मनसे शुभ ही क्रिया होती है । जगत् रणक्षेत्र है । उसमें चित्त योद्धा है । जो चित्त जगत्‌के आघात और प्रलोभनोंसे अपनी जगहको छोड़कर भाग जाता है वह हारा हुआ और मारा हुआ है, और इसलिये सदा दुखी रहता है । और जो सदा अडिग, अचल और जाग्रत् रहता है वह सदा अपने समीप रहनेवाले परमात्माकी कृपासे नित्य आनन्दित रहता है । जो चित्त जगत्‌के आन्दोलनसे हार मानकर जड बन जाता है वह नगण्य है । इसलिये वह तो नाशको प्राप्त होता है । अतएव प्रतिदिन यह अभ्यास करो, जिससे चित्त स्वस्थ, शान्त तथा सदा प्रसन्न रहे । कायर होकर दूर न भागे और योद्धाके समान बीचमें खड़े रहकर आघातको सहता हुआ जो अडिग डटा रहे, वह शूरवीर है । जो घरमें बैठा रहता है, जो रणक्षेत्रसे डरकर भाग जाता है, वह शूरवीर नहीं । तुम युद्धका प्रसङ्ग खड़ा मत करो, युद्धका प्रसङ्ग तैयार मत करो । शूरवीर बिना कारणके युद्ध खड़ा नहीं करते, परंतु युद्ध आ पड़नेपर उसका स्वागत करते हैं । उसी प्रकार तुम भी जगत्‌में रहते हुए जो प्रसङ्ग आ पड़ें, उनमें धीर, शान्त और प्रसन्न चित्तसे खड़े रहकर कर्तव्य-कर्म करनेके अभ्यासी बनो । इस प्रकारका अभ्यासी काञ्चन-कामिनीके कारण स्वधर्मसे चलायमान नहीं होता, परुष वचन सुनकर क्रोध नहीं करता, अपमानसे अस्वस्थ नहीं होता, लोभसे धर्मका त्याग नहीं करता । दुःखमें उसका धैर्य और उद्यम कम नहीं होता । वह सदा उद्यमी, सदा स्वस्थ और सदा भगवान्‌में लीनचित्तवाला होता है ।

(६६) शरीरमें अन्तःकरण ही शरीरको क्रिया करनेके लिये प्रेरित करता है और शक्ति प्रदान करता है । अन्तःकरणमें यह शक्ति निजी नहीं होती, बल्कि उसे यह शक्ति परमात्मासे मिलती है । परमात्मा कहें या आत्मा—वह सबके शरीरमें है । अन्तःकरणमें

दो शक्तियाँ हैं—इच्छाशक्ति और प्राणशक्ति। अन्तःकरणमें इच्छा ज्ञानके अधीन होती है। सबको सुखकी इच्छा होती है। वह सुख किस वस्तुमें है, क्या करनेसे मिलेगा, यह निश्चय करना उसके ज्ञानके अधीन है। पहले चित्त यह जानता है कि अमुक वस्तुमें सुख है। यह जानकारी उसे देखने, सुनने, बाँचने आदिसे होती है। अमुक विषयमें सुख मिलेगा यह जानकर ही वह मनसे उसका चिन्तन करता है। चिन्तन करनेसे उस वस्तुके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति उत्पन्न होनेसे उसके लिये इच्छा होती है। इच्छा होनेपर प्रयत्न होता है। प्रयत्न करते समय यदि विघ्न आते हैं तो उनका प्रयत्नके द्वारा ही नाश करता है। और जिनका नाश नहीं हो सकता उसके प्रति क्रोध होता है। क्रोध होनेपर मोह होता है। मोह होनेपर बुद्धिमें भ्रम पैदा होता है। इस कारण बुद्धि सारासार, लाभ-हानि आदिका निश्चय नहीं कर सकती। मतलब यह है कि बुद्धि अपनी जगहसे खिसक जाती है, और उस खिसकी हुई बुद्धिवालेका नाश हो जाता है। इस सारे क्रमको देखते हुए जीव जिसके संसर्गमें आकर जैसा संस्कारवाला होता है वैसा करनेकी उसकी बुद्धि होती है। इसीलिये जिसके-जिसके सम्पर्कमें इन्द्रियोंके द्वारा मन आता है वैसे-वैसे संस्कार चित्तमें जमा होते जाते हैं। अतएव जिसको जैसा होना हो, वैसा संस्कार जिससे मिले, उसके संसर्गमें आना चाहिये। मनुष्य व्यसनी होनेके पहले व्यसनीके संगमें, व्यसनसे आनन्द होता है—ऐसी बातें करनेवालोंके संगमें आता है। इन सब बातोंसे उस व्यसनके प्रति उसके मनमें प्रीति उत्पन्न होती है और उसके बाद क्रिया होती है। सारी क्रियाओंके लिये यह मिसाल है। विषयोंमें जीव रचा-पचा रहता है, इसका कारण यह है कि विषयोंमें सुख है, इस बातको बतानेवाला साहित्य वह देखता है, बाँचता है, सुनता है और जानता है। इस प्रकारके संस्कार अनन्त जन्मोंके अन्तःकरणमें भरे हैं। भोगोंमें दुःख है जन्म-मरण है—आदि जानकर उनसे मनको मोड़ना, उन सारे संस्कारोंका नाश करना, उनसे विरुद्ध संस्कार जहाँसे मिलें उन्हें लेना चाहिये।

एक ओर भोग हैं, जिनसे जन्म-मरण, सुख-दुःख आदिका चक्र चालू रहता है। दूसरी ओर भोगका त्याग है, जिससे मोक्ष मिलता है। यह मोक्ष भोगके त्याग, सच्चे ज्ञानके बिना नहीं मिलता। मनुष्य जो उपवास करता है या व्रत-नियम लेकर भोग-त्याग करता है, वह थोड़े समयके लिये होता है। अन्तःकरणमें—मनके भीतर तो भोगके सुखका रसास्वाद बना ही रहता है। समय आनेपर विशेष वेगपूर्वक वह भभक उठता है। जबतक भोगोंके लिये मनके अंदरसे रस नहीं चला जाता, तबतक भोगोंका त्याग नहीं होता। वह रस कब जाता है? जब कि आत्मा या परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। बालक लकड़ीके घोड़ेके उपयोगका आनन्द तभीतक मानता है जबतक वह सच्चे घोड़ेकी सवारी नहीं जान लेता। सच्चे घोड़ेका सवार होनेपर तो वह लकड़ीके घोड़ेको याद भी नहीं करता। इसी प्रकार आत्मसुखका स्वाद प्राप्त होनेपर मन भोग-सुखका त्याग कर देता है। यह आत्म-सुख सत्सङ्ग, विचार, वैराग्य और भगवान्‌की भक्तिके बिना कभी नहीं मिलता। इसलिये नित्य ही इनका सेवन करना चाहिये।

(६७) अन्तःकरणमें प्राण और इच्छा दोनों रहते हैं। प्राणसे क्रिया करनेमें बल मिलता है, और इच्छासे यह मालूम होता है कि वह क्रिया कैसे करनी चाहिये। यह अन्तःकरणका खोखला, जिसमें प्राण और इच्छा दोनों रहते हैं, तीन गुणोंवाला होता है—सत्त्व, रज और तम। किसी भी जीवका अन्तःकरण—चींटीसे ब्रह्मापर्यन्त सभीका इन तीनों गुणोंसे युक्त होता है। किसीमें सत्त्व अधिक होता है, रज और तम थोड़ा। किसीमें रज अधिक होता है, सत्त्व और तम थोड़ा। और किसीमें तम अधिक होता है, और रज सत्त्व थोड़ा। परंतु प्रत्येकमें होते ये अवश्य हैं। आहार, सङ्ग और संसर्गसे ये गुण प्रवेश करते हैं। ये तीनों गुण क्या-क्या क्रिया करते हैं, और इन तीनों गुणवालोंको क्या-क्या रुचता है, यह बात गीतामें कही गयी है। गुण तो ये तीनों सभीमें होते हैं परंतु जिसमें जो विशेष गुण होता है वह अपने अनुकूल क्रिया करता है। फिर इस गुणोंकी विशेषता नित्य, सब समय एक-सी नहीं होती। एक ही व्यक्तिमें कभी सत्त्व गुण विशेष झलकता है, कभी रजोगुण और कभी तमोगुण। इस चित्तको वश करनेका कोई दूसरा साधन जगत्‌में नहीं है, यह स्वतन्त्र है। यह चित्त स्वयं अपने-आप ही अपने प्रयत्नसे ही शान्त होता है। चित्तमें तीन गुण होते हैं। उनमें तमोगुणको रजोगुणसे शान्त करना चाहिये। यानी रजोगुणसे युक्त सत्कर्मों और धार्मिक क्रियाओंसे दबाना चाहिये। रजोगुणको सत्त्वगुणसे शान्त करे, और सत्त्वगुणको निर्गुणसे शान्त करे। ये सारी क्रियाएँ अपने-आपमें शान्त होती हैं—(१) सदाचारका पालन करना, (२) सत्सङ्ग करना, (३) धर्म-कर्म और भगवान्‌के निमित्त कर्म करना, (४) सात्त्विक आहार, सद्‌ग्रन्थोंका वाचन, सात्त्विक स्थानका

सेवन, एकान्तवास और सत्पुरुषोंके सहवासमें रहना, (५) भगवान्‌की भक्ति करना और भगवान्‌के अनन्यशरण होना।

विवेक, विचार, भोग-त्याग, कर्मफल-त्याग और सत्य तथा प्रिय वाणीका सेवन—इन सबको करते-करते यह चित्त भगवान्‌में लीन होता है।

(६८) दो अभ्यास बतलाता हूँ, इन दोनोको सिद्ध करनेके लिये प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये—

१—सत्य बोलना और मीठा बोलना।

२—कभी क्रोध नहीं करना। घबराना नहीं। क्रिया जो कुछ भी करो, पर करो शान्तचित्तसे, प्रसन्न मनसे। मतलब यह कि इस प्रकार बर्तना चाहिये कि मन सदा प्रसन्न रहे, सदा शान्त रहे। प्रतिदिन ध्यान रखो कि मन प्रसन्न और शान्त तो है? बोलनेके पहले यह देख लो कि जो कुछ बोलते हो वह सत्य और प्रिय तो है? यह अभ्यास सहज ही नहीं सिद्ध होता है। अनेक वर्षोंके प्रयत्नसे सिद्ध होगा। परंतु इसके सिद्ध किये बिना छुटकारा नहीं। इसलिये खूब धीरज और लगनके साथ इस अभ्यासको सिद्ध करनेका यत्न करना चाहिये।

(६९) जैसा सङ्ग वैसा मन। इसलिये शान्त, सदाचारी और ज्ञानी भक्तका सङ्ग करना चाहिये। वैसा व्यक्ति न मिले तो भगवान्‌के अवतारकी कथाओंके ग्रन्थोंको बाँचना चाहिये। ज्ञान और भक्तिके ग्रन्थोंको बाँचना चाहिये। विषयवासनाको निर्मूल करनेवाली पुस्तकोंको बाँचना चाहिये। जैसा बाँचोगे वैसा ही आचरण करनेकी बुद्धि होगी। जगत्‌की अनित्यता और आत्मा—परमात्माकी नित्यताको प्रयत्न करके बुद्धिमें उतारना है। मन सुखकी इच्छामें दुःखसे भरपूर जगत्‌के भोगोंकी ओर फँसा है। उसमेंसे उसे पीछे लौटाकर परमात्मा, जो आनन्दका भण्डार है, उसमें लगाना है। इस कार्यमें समर्थन प्रदान करनेवाले पुरुषोंका सङ्ग तथा पुस्तकोंका वाचन करना चाहिये। इसके विरुद्ध दूसरे सङ्गोंका त्याग करना चाहिये।

(७०) इच्छासे जन्म-मरण है। इच्छासे देहकी प्राप्ति है। चित्त भोगकी इच्छा करता है। शरीरके बिना भोग भोगा नहीं जा सकता। इसलिये जैसे भोगकी इच्छा की जायगी उसीके अनुकूल भोग भोगनेवाले शरीरकी प्राप्ति होगी। इसलिये जीवनमें इच्छाओंको शान्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके तीन अभ्यास हैं—पहला, मनको निर्विचार, निःसङ्कल्प अवस्थामें बैठानेका अभ्यास—प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदिके द्वारा करना। यह अभ्यास स्वतन्त्र नहीं है। इस अभ्याससे उठनेके बाद मन इच्छाएँ करने लगता है। और इस अभ्यासकी विलक्षणता यह है कि इससे इच्छाको झट सिद्ध करनेकी शक्ति आ जाती है। इसलिये यह मार्ग देखनेमें तो रोचक है, पर भयङ्कर है। और स्वतन्त्ररूपसे इच्छात्याग या मोक्षकी प्राप्तिके लिये सीधा मार्ग नहीं है। दूसरा मार्ग है निष्कामभक्तिका। भगवान् जो अखिल विश्वके कर्ता, नियन्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् आदि गुणोंसे युक्त हैं, उनके निराकार या साकाररूपकी उपासना करके, उनके सिवा अन्य सारी इच्छाओंका त्याग करके, उन्हींको ही प्राप्त करनेकी इच्छासे, मनसे इसके सिवा अन्य सारी इच्छाओंके त्यागकी धीरे-धीरे चेष्टा करनी चाहिये। यह मार्ग विशेष सहज है। इसमें आनेवाले विघ्नोंको उसके उपास्यदेव नष्ट कर देते हैं। इस मार्गमें एक बार पड़ जानेवाले चित्तको उसका इष्ट अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस मार्गद्वारा चित्त इच्छारहित होकर परमपदमें प्रवेश करता है। तीसरा मार्ग है—विचारमार्ग, जिसको ज्ञानमार्ग कहते हैं। इसमें वैराग्यकी, तीव्रबुद्धिकी तथा तपकी विशेष आवश्यकता होती है। मैं वही सत्य और अविनाशीपद-स्वरूप परब्रह्म हूँ, और जो कुछ है या होगा, वह सब नाशवान्, मिथ्या और मायामय है और इस कारण दुःखरूप है, इसलिये उसकी इच्छाका त्याग करके इच्छारहित मनसे निःसङ्कल्प हो रहना चाहिये। यह अभ्यास उपर्युक्त दोनोंसे भी सहज जान पड़ता है, पर है बहुत कठिन। और इस मार्गमें चलनेवाले कब छुट जायँ, कब बेहाल हो जायँ, यह बात समझमें नहीं आती। इस कालमें उत्तम-से-उत्तम यह है कि पहले और अन्तिम मार्गको गौणरूपसे यानी साधनके रूपमें उपयोग करके मध्यमार्गको मुख्यरूपमें माने, और भक्ति, ईश्वरका ध्यान और ईश्वरका ज्ञान—इन तीनोंके साथ भक्तिमार्गका साधन करे।

तुमको जो मार्ग अच्छा लगे, उसमें चलनेकी चेष्टा करो। पर करोड़ों उपाय करनेपर भी भोगकी इच्छाका त्याग किये बिना—सुखकी इच्छाको त्यागे बिना—अखण्ड शान्ति, अखण्ड आनन्द, मोक्षकी प्राप्ति होगी ही नहीं। सारे शास्त्रोंका लक्ष्य इच्छात्यागके रहस्यमें है। इच्छात्याग और मनकी शान्ति—दोनों परस्पर सम्बन्धवाले हैं, अतः साथ ही सिद्ध होते हैं। इच्छा और व्याकुलता दोनोंका त्याग किये बिना करोड़ों खर्च करनेपर भी मनको

सच्ची शान्ति या सच्चा सुख अथवा आनन्द नहीं मिलेगा।

(७१) ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं, इसे पक्का समझो। ज्ञान यानी यथार्थज्ञान। यह यथार्थज्ञान तभी होता है जब चित्त निर्मल होता है। निर्मल चित्तमें जो ज्ञान स्फुरित होता है वह यथार्थ-ज्ञान कहलाता है। फलकी इच्छाके बिना दान, तप, पुण्य, कर्म और उपासना—ये सब चित्तको निर्मल करनेके साधन हैं। चित्तको मलिन बनानेवाली तो इच्छा है। और चित्तको निर्मल बनानेवाला इच्छाका त्याग है। इच्छाके त्यागके बिना लाखों अन्य उपायोंसे चित्त निर्मल नहीं होता, और चित्तके निर्मल हुए बिना करोड़ों अन्य उपायोंसे सच्चा ज्ञान नहीं होता। सच्चा ज्ञान निर्मल चित्तमें कहीं से होता है, यह जानना चाहिये। कोई कहेंगे ज्ञान पुस्तकमें लिखा है। दुनियामें जो पुस्तकें लिखी गयी हैं, वे बुद्धिसे लिखी गयी हैं। बोलनेवाली और लिखनेवाली तो बुद्धि ही न है ? और वह बुद्धि जड है न ? परंतु वह बुद्धि भगवत्स्वरूप आत्माके पास रहकर उसके द्वारा ही सब कुछ जानती है। आत्मा ज्ञानका खजाना है, ज्ञानस्वरूप है। आत्मामें अखिल जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है। इस आत्मासे ही ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रकार निर्मल शीशा वस्तुको यथार्थरूपमें दिखला देता है उसी प्रकार निर्मल चित्तमें आत्मा यथार्थतः प्रकाशित होता है। आत्मा कल्पवृक्ष है, आत्मा चिन्तामणि है, आत्मा कामधेनु है। निर्मल चित्तमें जो-जो कल्पनाएँ होती हैं उन्हें आत्मा सिद्ध कर देता है। परंतु उसी निर्मल चित्तसे कामनाओंको सिद्ध करने जाते ही, इच्छाओंके खड़े होते ही चित्तकी निर्मलता मिट जाती है, वह मलिन हो जाता है, और उसकी शक्ति नाश हो जाती है। इसलिये शुद्ध चित्तमें इच्छाओंको उठने न देना और शुद्ध चित्तको आत्माके समीप रखना बन पड़े तो यथार्थज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है, और उस ज्ञानके उदयके साथ ही मुक्ति प्राप्त होती है।

ज्ञान दो प्रकारका है। एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। निर्मल चित्तवालेको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वह जगत्को और अपनेको यथार्थरूपमें समझता है। समस्त कामनाओंका त्याग करके या तो भगवान्की उपासना करनेसे या ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी सेवासे ज्ञान प्राप्त होता है। सद्गुरुकी सेवा करनेसे गुरु महाराज प्रत्यक्ष बोध प्रदान करते हैं। इन दोनों उपासनाओंके सिवा तीसरा मार्ग नहीं है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। गुरुकी उपासना भी परमात्माके ही रूपमें करनी पड़ती है। गुरुके हाड़-मांसके शरीरमें रहनेवाले चैतन्यदेवकी ही उपासना करनी पड़ती है। भगवान्में भी मूर्ति रहनेवाले चैतन्यदेवकी ही उपासना करनी पड़ती है। आपाततः रीति कुछ जुदी है। इन दोनोंमें निष्काम सेवा करनेवालेको, अथवा मोक्षकी इच्छासे सेवा करनेवालेको अपने आत्मामें ही कालक्रमसे ज्ञान स्फुरित होता है। उसे ऐसा मालूम होता है कि कोई भीतरसे कह रहा है। इस प्रकारसे उपासना करनेवालोंको उपास्यदेव बलात् शुद्ध ज्ञान प्रदान कर मुक्ति देता है। इसलिये जो कुछ कर्म या उपासना, दान-पुण्य, भजन-कीर्तन या तप आदि करे, वह फलकी इच्छासे रहित भगवान्की प्राप्ति या मुक्तिकी प्राप्तिके निमित्त करे। ऐसा करते रहनेपर कालक्रमसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी। किया हुआ कार्य असफल नहीं होता। निष्काम उपासना अवश्य ही मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये करनेमें लग जाओ और धीरज धरकर प्रयत्न तथा ध्यानसे उसीमें लगे रहो।

(७२) अप्रसन्न चित्त होते ही बुद्धि अपनी जगहसे खिसक जाती है। भ्रमित हो जाती है। बुद्धि अपने सन्तुलनको खो देती है। सारासारका विचार नहीं रह जाता। न बोलने योग्य बातें बोल बैठता है, न करने योग्य काम कर बैठता है। यह सब अप्रसन्न चित्तसे होता है, तो फिर चित्तको सदा प्रसन्न कैसे रक्खा जाय ? चित्तको अप्रसन्न करनेवाले मनुष्य मिलेंगे ही, ऐसे प्रसङ्ग आवेंगे ही, चित्त अप्रसन्न हो ऐसी बातें होंगी ही। चित्तको अप्रसन्न करनेवाले संयोग किसीको न प्राप्त हुए हों, क्या ऐसा कहीं हुआ है ? शीत-घाम, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मरण, जरा और व्याधि, सबका आना-जाना होगा ही। इन द्वन्द्वोंके बीच चित्त किस प्रकार प्रसन्न रह सकता है ? इसीके लिये शास्त्रोंका अभ्यास और सत्सङ्ग है। इतना ही जाननेके लिये है। शास्त्र और संत कहते हैं कि अनुकूल और प्रतिकूल तो होते ही रहेंगे। पर उन सबसे तुम असङ्ग हो। तुम आत्मा हो। उनका तुमपर कोई असर नहीं है, उनका असर तो शरीरपर है। तुम तो नित्य-मुक्त, शुद्ध-बुद्ध, निर्मल आत्मा हो, अविनाशी हो, निर्विकार हो। चित्तमें यह ज्ञान जिस परिमाणमें बसेगा उसी परिमाणमें चित्तमें प्रसन्नता रहेगी। आत्मज्ञानके बिना चित्तमें नित्य प्रसन्नता रहती ही नहीं। गीता और सांख्यदर्शन तथा दूसरे शास्त्र बतलाते हैं कि 'मैं असङ्ग हूँ, आत्मा हूँ'—यह दृढ़ निश्चय किये बिना सच्ची प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दकी आशा करना व्यर्थ है।

(७३) विचारसागर या पञ्चीकरण घोखकर बोलनेसे कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। अथवा वेदान्तकी पुस्तकोंको बाँचकर कण्ठाग्र करके बोलनेसे कोई ज्ञानी नहीं बन सकता। इस लोक या परलोककी कोई भी कामना जिसके चित्तको आकर्षित नहीं कर सकती, वही ज्ञानी है। जिसका चित्त कामनारहित होनेके कारण निर्मल और शान्त है, जिसकी सारी आशा-तृष्णा शान्त हो गयी है, वह ज्ञानी है। ज्ञानीमें मान नहीं होता, दम्भ नहीं होता, उसमें अहिंसा, क्षमा, सरलता सदा रहती है, गुरुजनकी उपासना होती है, पवित्रता होती है, स्थिरचित्त होता है, मनोनिग्रह होता है, इन्द्रियोंके भोगोंके प्रति वैराग्य होता है, अहङ्कारका अभाव होता है, जन्म मृत्यु-जरा-व्याधिके कारण शरीरमें और संसारमें जो दुःख और दोषोंको बारंबार देखता है, पुत्र-स्त्री और घर आदिमें जिसकी आसक्ति नहीं है, अच्छे और बुरे संयोगोंमे जिसका चित्त स्थिर और शान्त रहता है, भगवान्‌में निष्काम भक्ति होती है, एकान्त सेवन होता है, जनसमुदायमें जिसे प्रीति नहीं होती है, जिसमें आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान वास करता है, ऐसे ज्ञानीके लक्षण गीताके तेरहवें अध्यायमें कहे गये हैं। इनको साधक अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करे। चित्तके भोगमें आकर्षणका ही नाम जन्म-मरण है, और चित्तको परमात्मामें लीन करनेका नाम मोक्ष है। इसलिये प्रत्येक उपायसे चित्तको भोगसे खींचकर परमात्मामें लगाओ। इस अभ्याससे सच्ची शान्ति, सुख, आनन्द और मुक्तिकी प्राप्ति होगी।

(७४) अब चित्तके शान्त होनेका उपाय बतलाता हूँ। जहाँ प्राकृतिक वातावरण हो, जहाँ बैठकर महापुरुषोंने तप किया हो, ऐसे नदी, तालाब, सरोवर, समुद्र, पर्वत आदिके समीप तीर्थस्थानोंमें जाना चाहिये। वहाँ जानेपर वहाँके उपद्रवरहित वातावरणसे चित्तमें शान्ति आवेगी। वहाँ जाकर भी खाने-पीने और भोग-विलासमें समय नहीं लगाना चाहिये। वहाँ जाकर दान-पुण्य, सत्सङ्ग, भगवन्नाम-का जप आदि करे। भोगका त्याग करे। ब्रह्मचर्यका पालन करे। भारी भोजन न करे। हो सके तो फलाहार या एक वक्त भोजन करे। इस प्रकारका किया हुआ तीर्थसेवन मनको शान्त करके मोक्षके मार्गमें ले जाता है।

दूसरे, किसी-न-किसी इष्टदेवकी उपासना करे। बेकार समयमें, घूमते-फिरते और काम करते सदा इष्टदेवके नामका जप करे और प्रतिदिन नियमित बैठकर भी करे। भगवत्कथा-का श्रवण करे, कीर्तन करे। भगवान्‌की मूर्तिका प्रेमसे दर्शन करे। प्राणिमात्रके प्रति प्रीति और दया रक्खे। भगवान्‌के मन्दिरको झाड़ना-बुहारना, साफ-सुथरा रखना, हो सके और शक्ति हो तो नया मन्दिर बनवाना, पुरानेकी मरम्मत कराना। यदि यह न हो सके तो दूसरे जो ऐसा काम करते हों उसमें सहायता करना। ऐसा काम करना कि जिससे प्राणिमात्रको सुख पहुँचे। दूसरे करते हों उसमें मदद करना। जिसका सम्पर्क हो प्रसन्न चित्तसे उसके साथ काम करे, हँसकर अलग हो, किसीको धोखा न दे। किसीका कुछ ले नहीं। मीठी और सत्यवाणी बोले। सबको या तो भगवत्-स्वरूप जाने या आत्मस्वरूप। किसीका तिरस्कार न करे, किसीका अपमान न करे। जो बन पड़े, सो दे डाले। जितनी बन पड़े, भलाई करे। काम-धंधा अपने धर्मानुसार करता रहे और भगवान्‌का भजन करता रहे। देव, ब्राह्मण, गाय, गुरु, पूज्यजन, रोगी, बालक और आश्रित लोगोंका सम्मान करे और उनको सन्तोष दे। गुणोंको अपनेमें उतारे। सद्गुणसे सुख होता है और दुर्गुणसे दुःख होता है। चित्तकी शान्ति ही सुख है। चित्तकी अशान्ति ही दुःख है। इसलिये प्रत्येक उपायसे अपने दुर्गुणको निकालकर सद्गुणको धारण करे। इसीसे सच्ची शान्ति होगी।

(७५) शास्त्र, पुराण तथा वैसे ही दूसरे धार्मिक ग्रन्थ या इतिहास बाँचे। उनमे लिखी बातें सच्ची हैं या झूठी, इसका विचार और चर्चा करने न बैठे। केवल उनका सार ग्रहण करे। उनमें जो लम्बा वर्णन लिखा है सो सार समझानेके लिये ही। कुछ बातें तो ऐसी होती हैं जो सच्ची नहीं जान पड़तीं। कितनी ही बातें ऐसी होती हैं जिनसे देवताओंमें अश्रद्धा उत्पन्न होती है। तुमको तो इन सबमें इतना ही जानना है कि ऐसे-ऐसे सामर्थ्यवाले और तपके भण्डार देवता तथा देवता-जैसे दूसरे लोग भी चले गये तो मेरी क्या गिनती है? जिसने जन्म लिया है वह तो मरेगा ही। जो माया है वह अदृश्य होगी ही। जिसका संयोग है उसका वियोग होना ही है। यह सब तो होता ही रहेगा। सब ही निर्मित है। सिनेमाका फिल्म जिस प्रकार निश्चित है और पर्देके ऊपर कुछ नहीं होनेपर भी उसमें नदी, जंगल, पहाड़, शहर और प्राणिमात्र दिखलायी पड़ते हैं, बोलते, चलते-फिरते और काम करते दीख पड़ते हैं, वे सब जिस प्रकार असत्य हैं और वहाँ सफेद पर्देके सिवा सच्चा कुछ भी नहीं है; उसी प्रकार यह जगत् परमात्मारूपी पर्देके ऊपर चेष्टा

करता दीख पड़ता है, पर वह मिथ्या है। नाशवान् है। वास्तविक तो परमात्मा है। जगत् जो दीख पड़ता है वह तो दीखता ही रहेगा। वह रुकेगा नहीं, सदा चलता ही रहेगा। सब निश्चित है। जो कुछ होनेवाला है सब निश्चित है। इसलिये मनको शान्त कर, भटकना छोड़कर देखा करो कि 'मैं आत्मा हूँ, जगत्से असङ्ग हूँ, परमात्माका अंश या तद्रूप हूँ।' इसका अभ्यास करते हुए सदा आनन्दमें रहनेका अभ्यास करो।

वेदोंके चार तत्त्व

(लेखक—श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी डाँगी)

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसके निर्माणद्वारा मानव-समाजपर अनुपम उपकार किये हैं। यों तो उनका कहना है कि 'मैंने यह रघुनाथ-गाथा 'स्वान्तः-सुखाय' प्रकट की है। परंतु उनके 'स्वान्तः' को सम्पूर्ण भारतवर्षका हृदय ही समझना चाहिये। जब हमारे देशके निवासी वेदके तत्त्वोंको भूल गये थे और घोर कलिकालके वशमें होकर दुराचारपरायण हो रहे थे, तब उन्होंने हमको राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नका मूर्तिमान् स्वरूप बतलाकर वेदोंके चारों तत्त्वोंका संरक्षण किया।

बालकाण्डमें ज्ञानी मुनियोंके द्वारा दशरथजीके प्रति जो वचन कहे गये हैं वे हमारे कथनको प्रमाणित करते हैं।

धरे नाम गुरु हृदय बिचारी। बेद-तत्त्व नृप तव सुत चारी॥

अर्थात् गुरु महाराज वशिष्ठजीने मनमें अच्छी तरहसे विचार करके ही चारों नाम रक्खे हैं। हे राजन्! तुम्हारे चारों ही पुत्र वेदोंके चार तत्त्व मूर्तिमान् स्वरूप धारण करके आये हैं। अब हमें विचार करना है कि ज्ञानी मुनियोंके इन वचनोंमें किस प्रकार परम सत्य भरा हुआ है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और कर्म—ये चारों ही वेदतत्त्व हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र ज्ञानस्वरूप हैं, जिनके दिव्य प्रकाशमें सब तत्त्व अपना-अपना कार्य ठीक तरहसे कर सकते हैं। क्योंकि वे परमकुशला कौसल्याके सुपुत्र हैं। परम श्रेष्ठ मैत्रीकी आदर्शरूपिणी नारी महारानी सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्नके रूपमें भक्तितत्त्व और कर्मतत्त्वको उत्पन्न किया है। भरतजी वैराग्यके जाज्वल्यमान प्रतीक हैं। आलस्य ही हमारा शत्रु है। जिसका नाश करनेवाले कर्मतत्त्वरूप शत्रुघ्न इन वैराग्य-स्वरूप भरतजीके अनुशासनमें ही रहते हैं, तथा हमारा भरण-पोषण और संरक्षण होता है। अगर हमारा कर्म वैराग्यके साथ न रहे तो वह शैतानका कर्म है। और वैराग्यमें कर्मको अपने साथ नहीं रक्खा तो वह हैवानोंका वैराग्य है। परंतु भरत-शत्रुघ्न निरन्तर साथ हैं। इसलिये वे मानवताकी स्थापनामें सफल हो सके।

लक्ष्मणजी उपासना-भक्तिके आदर्श प्रतीक हैं। यह उपासना-भक्ति ज्ञानस्वरूप भगवान्का क्षणभर भी साथ नहीं छोड़ती। इसीलिये मानवताका संरक्षण हो सका। ज्ञानहीन भक्ति हैवानियत है और भक्तिहीन ज्ञान शैतानियत है। हमारे राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न इस विश्वके विचित्र चित्रकूटपर जब एक साथ मिलते हैं, तब मानवता अपने सम्पूर्णरूपमें प्रस्फुटित होती है। और वहींपर ज्ञान भक्तिरूप राम-लक्ष्मणको अपने हृदयमें बसाकर जब भरतजी वैराग्यपूर्ण कर्मकी घोषणा करते हैं तभी अयोध्याके राज्य चलानेमें समर्थ होते हैं। उसी प्रकार ज्ञान-भक्तिस्वरूप राम-लक्ष्मण वैराग्य-कर्मरूप भरत-शत्रुघ्नको अपने दिलमें मजबूत कर लेते हैं। तभी वे सफलतापूर्वक राक्षसोंका संहार कर सकते हैं। अगर ज्ञान और भक्तिमें वैराग्यपूर्ण कर्मका मिश्रण नहीं हो तो मङ्गलकार्य अधूरा ही रहेगा।

यों तो इन चारों तत्त्वोंको हम अलग-अलग कह सकते हैं, पर सचमुच इन्हें हम अलग-अलग कर नहीं सकते। क्योंकि वे अलग-अलग रह नहीं सकते। मिठाई खायी तो उसके रंगरूप, उसके वजन, उसकी लम्बाई-चौड़ाई और उसकी सुगन्ध-मधुरता ये सब अलग-अलग कहे जानेपर भी पेटमें एक साथ पहुँच जाते हैं। यह कैसे हो सकता है कि मिठाईका रंगरूप तो खा लिया जाय और उसका वज़न रहने दें। उसके सुगन्ध माधुर्यका तो उपभोग ले लिया जाय और उसकी लम्बाई-चौड़ाई छोड़ दें। इसीलिये भगवान्ने कहा है कि मैं सूर्यवंशमें अपने सम्पूर्ण अंशोंके साथ मनुष्यावतार धारण करूँगा। हमने देखा कि ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और कर्म ये वेदोंके चारों तत्त्व ही भारतवर्षको सगुण साकाररूपमें प्राप्त हो गये। जहाँ

निर्मल ज्ञान होगा, शुद्ध-भक्ति वहाँ अवश्यम्भावी है। और उसी प्रकार जहाँ शुद्ध वैराग्य होगा वहाँ शुद्ध कर्म जरूर ही होगा । वैराग्यमें कर्म नहीं छूटता । कर्मका राग छूटता है। उसी प्रकार ज्ञानमें भक्ति नहीं छूटती, भक्तिका दम्भ छूटता है।

आइये, हम सब वेदोंके इन चारों तत्त्वोंको एक साथ जीवनमें उतारकर दशरथजीके चारों पुत्रोंकी सच्ची आराधना-साधना करें जिसमें कि हमारे देशमें सच्चा रामराज्य आ जाय । हम आज नाम तो रामका लेते हैं और काम हरामका करते हैं। आज हमारा शत्रुघ्न भरतके अनुशासनमें नहीं चलता । आज हमारा लक्ष्मण रामको भूल गया है । इसीलिये कहींपर भी सीताके दर्शन नहीं होते । सीताके समान शान्ति हमें तभी मिलेगी जब हमारी भक्ति और कर्म ज्ञान-वैराग्यके अनुशासनमें रहेंगे । और हमारे ज्ञान-वैराग्य भक्ति-कर्मको अपने साथ बनाये रक्खेंगे । ईश्वर करे ! हम अपने अन्तःकरणचतुष्टयको वेदोंके इन चारों तत्त्वोंसे परिपूर्ण बना लें जिससे कि हमारा मन रामकी ओर लक्ष्य करके सच्चा लक्ष्मण बने और हमारी बुद्धि तरह-तरहके विकृत प्रलोभनोंमें न फँसकर भरतके समान वैराग्यकी ओर बढ़े। हमारा चित्त रामके प्रकाशसे प्रकाशित होकर सच्चा ज्ञान प्राप्त करे और हमारा अहङ्कार शत्रुघ्न बनकर अपनी सेवाओंको सबके लिये समर्पित करे। तभी हम सब तरहसे स्वस्थ, सुखी और शान्त बन सकेंगे । दुनियामें शान्तिस्थापनाका सामर्थ्य वेदोंके इन चार तत्त्वोंकी प्रतिष्ठामें ही सन्निहित है जिसको हमें प्रयत्नपूर्वक जाग्रत् करना पड़ेगा ।

रासलीलाका रहस्य

(लेखक—श्रीहबुबुर रहमान साहब)

कितने आश्चर्यकी बात है कि जो भारत-भूमि ब्रह्मविद्याका स्रोत और वेदान्तादि शास्त्रोंकी आदिप्रकाशिका है, जहाँ व्यास और पतञ्जलि-जैसे अध्यात्मवादी महात्मा सूर्य बनकर ऐसे चमके कि उनकी किरणोंकी दीप्तिसे अन्धकार-युक्त हृदयपटल भी जगमगा उठे, जहाँकी गीता कर्म करते हुए भी फलबद्ध न होनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रही है, वहींके कुछ 'भारतीय नामधारी' लोग आज विदेशी वातावरणसे प्रभावित होकर महाराज श्रीकृष्णकी रासलीलाको भी विवादग्रस्त समझने लगे हैं ! मुझे इस लीलाके किसी विशिष्टरूपमें मानने या न माननेसे कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। मेरा ध्यान तो इस ओर केवल इस कारण आकृष्ट हुआ कि यदि इस प्रकारके आध्यात्मिक महत्त्वपूर्ण चमत्कारोंको केवल बाह्यदृष्टिके आधारपर 'प्राचीन रूढिवाद' या असम्भव कहकर ठुकरा दिया जाय, तो सारा अध्यात्मवाद (Spiritualism) और अनासक्तियोग ही समाप्त हो जाता है और यह प्रत्यक्षकृत निश्चित सिद्धान्त है कि बिना आध्यात्मिक आश्रय या अद्वैतानुसारिणी समताके समाजमें पारस्परिक, पूर्ण और अखण्डित सहानुभूति नहीं पैदा हो सकती और बिना इस 'अकृत्रिम सहानुभूति'के किसी भी नैतिक शैलीका अवलम्बन संसारयात्राके लिये कल्याणप्रद नहीं हो सकता, अतः न केवल अध्यात्मवादकी 'रक्षा', अपितु संसार-यात्राको 'सुखप्रद' बनानेके लिये, नैतिक दृष्टिसे भी इस विषयपर ध्यान देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है और केवल मेरा ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्रेम और भक्ति-मार्गी तत्त्वान्वेषीका कर्तव्य है कि वह उक्त लीलाकी आध्यात्मिकता स्फुट करनेका प्रयत्न करे। अतः हिंदुस्तानके प्रसिद्ध अध्यात्मवाद या सूफ़ीमतके प्रेमी और नीति-धुरन्धरोंकी सेवामें भी निम्नस्थ विचारावलीका अर्पण करना अयोग्य न होगा ।

संस्कृत भाषामें उपमा और रूपकादि अलङ्कारोंकी अधिकता होनेके कारण किसी हदतक यह कहनेका अवसर अवश्य हो सकता है कि 'रासलीलाके श्रीकृष्ण और गोपियोंका अर्थ मनुष्य और उसकी वासनाएँ हैं, जो उसे तरह-तरहके नाच नचाया करती हैं इत्यादि..........।' इस प्रकारकी भाव-परिवृत्ति या खींचातानीसे जिन लोगोंको शान्ति हो जाती है, वे शान्त रहें; मुझे उनसे कोई सम्बन्ध नहीं; परंतु मेरे विचारमें यह प्रकरण-विरोधी व्याख्या उस जन-समुदायके लिये पर्याप्त नहीं है, जो अन्तर्निलीन भावान्वेषी और मार्मिक वस्तुका अभिलाषी है और जो व्यासजीके सीधे-सादे शब्दोंसे हटना नहीं चाहता और न इसीको माननेके लिये तैयार है कि व्यास भगवान् 'काल्पनिक कथाओंके रूप'में अपना उपदेश किया करते थे तथा जिनकी धारणा

है कि इस लीलामें यदि मनुष्यके लिये कोई महत्त्वपूर्ण विशेष उपदेश अन्तर्हित नहीं है, तो यह चीज श्रीकृष्ण-जैसे योगिराजके साथ सम्बद्ध ही कैसे हो गयी ? और न केवल उनसे सम्बद्ध हुई, प्रत्युत अबतक श्रद्धाकी दृष्टिसे देखी जाती है। इसके अतिरिक्त न केवल मेरे अपितु समस्त सहृदय संसारके अन्तस्तलमें यह अटल धारणा अङ्कित है कि कर्मकाण्ड या प्रवृत्तिमार्गके अतिरिक्त ईश्वरप्राप्तिका एक असाधारण मार्ग—भक्ति या प्रेम अर्थात् 'इश्क़ी रास्ता' भी है जिसके अग्रसर वल्लभ, तुलसी और सूर इत्यादिके चित्ताकर्षक चरित्र अबतक लोगोंके हृदयोंपर अलौकिक राज्य कर रहे हैं। अतः मैं हज़रत, मिर्ज़ा मज़हर, जानजाना साहिबके निम्नलिखित सिद्धान्तानुसार मुस्लिम जनताके सामने भी स्वतन्त्रतापूर्वक उन्हींके शब्दोंमें कह सकता हूँ कि—'समस्त मार्गोंके जानकार होनेपर भी कृष्णजीकी अपनी प्रधान पद्धति मन्दिर और मस्जिदसे 'अलग' केवल 'प्रेम-पद्धति' ही थी, इस कारण प्रेम-मार्गिक असाधारण भक्तिकी अलौकिक आकर्षण-शक्ति और उसके अनिवार्य चमत्कारोंपर ध्यान देनेके पश्चात् मेरा पूर्णप्राय विचार है कि यदि वास्तविक गोपियाँ ही अपने अलौकिक प्रेमद्वारा श्रीकृष्णपर मोहित होकर रासलीलाका कारण हुई हों, तो भी किसी वादीके विवादका कोई अवसर नहीं हो सकता।'

इस संक्षिप्त भूमिकाके पश्चात् निवेदन है कि महाराज श्रीकृष्ण योगिराज थे, इस कारण उनकी 'रासलीला'का 'रहस्य' जाननेके लिये यौगिक ज्ञानसे परिचित होनेकी आवश्यकता है। इस सम्बन्धमें मुझे केवल यह कहना है कि इस बातको सभी सहृदयजन जानते हैं कि मनुष्य 'वैयक्तिक' और 'सामष्टिक' दोनों दृष्टियोंका स्रोत है और यही कारण है कि इसके आचरण और सङ्कल्पोंमें भी इन दोनों दृष्टियोंकी पूरी झलक दिखायी देती है। कौन नहीं जानता कि जब मनुष्यपर वैयक्तिकता या अत्यन्त स्वार्थपरताका भूत सवार हो जाता है, तब अपने लाभके लिये उस पुत्रतकके प्राणान्तके लिये तैयार हो जाता है, जिसे उसने अपना ही रक्त और पसीना एक करके स्वयं ही पाला और पोसा था। इसके विपरीत कभी दूध पीते, किसी दूसरेके भी बुभुक्षित और तृषित बालकको दुःखसे बिलबिलाता देख, उसी मनुष्यका हृदय विदीर्ण हो जाता है। 'उसकी भूख' 'इसकी भूख' और 'उसकी प्यास' 'इसकी प्यास' हो जाती है। और इस समानता और ऐक्यके उमड़े हुए स्रोतमें वैयक्तिक भित्तियाँ कम्पायमान और स्खलितप्राय हो जाती हैं; यहाँतक कि वही अपने पुत्रके प्राणान्तका इच्छुक मनुष्य, उस विपत्तिग्रस्त दुःखित बालकके सुखके लिये, उस द्रव्यके व्यय करनेमें भी कोई कमी नहीं करता, जिसके लिये स्वयं अपने ही अंश-स्वरूप पुत्रसे लड़नेके लिये तैयार हो गया था। सारांश यह कि अपनेको 'अन्य' मानकर दुत्कारने और अन्यको अपना समझकर गले लगानेकी लालसा मानुषी प्रकृतिमें विद्यमान है। स्फुट है कि इनमेंसे पहलीका 'स्रोत' वैयक्तिक दृष्टि या स्वार्थपरता है और दूसरेका 'आधार' वह सर्वव्यापी आन्तरिक 'अहंभाव'का 'अन्तर्निहित ज्ञान' है, जिसकी प्रेरणासे मनुष्य समय-समयपर दूसरोंपर बलि-प्रदान होता हुआ दिखायी देता है। बस, इन दोनों दृष्टियोंमेंसे साधारणजन तो पहलीहीको अभीष्ट समझकर उसीपर टिक जाते हैं, परंतु योगी या सूफ़ी इस स्वप्नवत् वैयक्तिकतासे उन्नत हो जाता है और उस जाग्रत् अवस्थाका अनुभव करता है जहाँ यह वैयक्तिकता आत्मस्वरूपमें लय होकर अलक्षित हो जाती है। इस सारे लेखका अभिप्राय यह है कि योगी या वलीकी स्थिति सामान्य धार्मिकोंसे भिन्न हो जाती है। गीता भी कहती है—'सर्वत्र समदर्शी योगी सर्वभूतोंमें अपनेको और अपनेमें सर्वभूतोंको स्थित देखता है'[1] इत्यादि। गीताका यह और दूसरे श्लोक स्पष्ट रीतिसे स्फुट कर देते हैं कि योगकी अवस्था सर्वसाधारणसे प्रतिकूल हो जाती है। इस अवस्था-विशेषके विवरणके अनन्तर, अब मैं रासलीलाकी शाब्दिक और मर्मस्पर्शी विवेचनाको भी आवश्यक समझता हूँ, जिससे हिंदू-शास्त्रानुसार उसका वास्तविक अर्थ श्रीकृष्णभक्तोंके सामने स्फुट हो जाय। इस सम्बन्धमें निवेदन है कि हमारे भ्रातृगणोंका अपने धार्मिक ग्रन्थोंके आधारपर यह सिद्धान्त है कि उक्त लीलाके दर्शन, पठन और श्रवणादिसे निर्वाण अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा उनका प्राचीन साहित्य यह भी उपदेश करता है कि मोक्ष वस्तुतः काल्पनिक—सांसारिक प्रपञ्चसे छूटकर ब्रह्ममें लीन हो जानेका नाम है और उसकी प्राप्ति ब्रह्मज्ञानके बिना सम्भव नहीं। इन विचारोंके अस्तित्वमें प्रत्येक तत्त्वान्वेषीका कर्तव्य है कि वह रासलीलाके ऐसे 'अर्थ' की अन्वेषणा करे जिसमें उपर्युक्त मोक्षादि विचारोंके साथ-साथ चलनेकी पूरी सामर्थ्य और योग्यता विद्यमान हो। इस कार्यके लिये सबसे प्रथम अवतारवादके सिद्धान्तपर ध्यान

१. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६। २९)

देनेकी आवश्यकता है । अतः संक्षेपतः निवेदन है कि प्राचीन आर्य-तत्त्वान्वेषियोंने ईश्वरावतारको निम्नरीतिसे समझा है—

उस जगदाधार ब्रह्मकी शक्तियाँ जड और चेतन हर एकमें अपना प्रकाश करती हैं; इनकी पारस्परिक मात्रा या न्यूनाधिक्य समझनेके लिये इनकी सोलह कलाएँ (दर्जे) मानी गयी हैं; इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि इस लौकिक सृष्टिमें ईश्वरीय कलाओंमेंसे एकसे लेकर आठतक ही सामान्य जनोंमें प्रकट हो सकती हैं । इसके पश्चात् अवतारकी भूमि आ जाती है, जहाँपर सामान्य जीवकी पहुँच नहीं हो सकती । निष्कर्ष यह है कि नवींसे लेकर सोलहवींतक जितनी भी कलाएँ किसी पुनीत सत्तामें आविर्भूत होती हैं उसको पारिभाषिक भाषामें अवतार, ईश्वर या ब्रह्मांश कहा जाता है । अवतारकी इस विवेचना और रासलीलाकी उपर्युक्त मोक्षसम्बन्धी अन्वेषणाका ध्यान रखते हुए इस लीलाकी शाब्दिक समीक्षा निम्नरीतिसे होनी चाहिये—

'रास-लीला' शब्द मिश्रित है रास और लीलासे, पहला शब्द 'रास' रस शब्दसे 'तस्येदम्' सूत्रसे 'इदमर्थ'में 'अण्' प्रत्यय करनेसे बनता है और तैत्तिरीय उपनिषद्के वाक्य—'रस ब्रह्म है'[1] के अनुसार 'रस' शब्दका अर्थ 'ब्रह्म' है; अतः रास शब्दका अर्थ हुआ ब्रह्मका 'पूर्णकलात्मक' औपाधिक प्रादुर्भाव' और यह प्रादुर्भाव प्रधानतया महाराज श्रीकृष्णहीमें विद्यमान था; इसी कारण रास शब्दका वास्तविक 'अर्थ' औपाधिक पूर्ण ब्रह्म अर्थात् महाराज श्रीकृष्ण ही हैं । अब उस शब्दके द्वितीय अंश 'लीला' शब्दपर ध्यान दीजिये, 'लीला' शब्द भी 'ली' और 'ला' से मिश्रित है । 'ली' धातुका अर्थ 'लय' होना और 'ला' का अर्थ है 'लेना' । दोनों शब्दोंका पूर्ण अर्थ—'लियं लातीति लीला' अर्थात् तन्मयता या तद्रूपता प्राप्त करानेवाली 'क्रिया-विशेष' हुआ और 'रासलीला' शब्दका प्रसङ्गयुक्त अर्थ हुआ पूर्णावतार महाराज श्रीकृष्णमें लय करानेवाली क्रिया अथवा 'योगात्मक चमत्कारविशेष' । सारांश यह कि इसी रासलीलाके द्वारा लीलात्मक-कृष्ण-रूपधारी ब्रह्मने ब्रजाङ्गनाओंको आत्मस्वरूपमें लय करके परमपदतक पहुँचा दिया ।

गोपियाँ श्रीकृष्णचन्द्रमें ध्यानावस्थित होकर तल्लीनतातक कैसे पहुँचीं, इसका विवरण निम्नलेखानुसार है—

पुराणग्रन्थोंके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका प्रेम उच्चकोटिक पूर्णासक्ति या प्रेमकी अन्तिम अवस्थातक पहुँच गया था और इस अवस्थाका अनिवार्य परिणाम यह है कि प्रेमीका चित्त प्रियतमके अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक वासनाओं (चित्तवृत्तियों) से शून्य होकर सर्वथा उसीमें समा जाय; क्योंकि पूर्णासक्तिका अभिप्राय ही यह है कि प्रेमीके चित्तमें अपने अभीष्टकी प्राप्तिके लिये पूर्ण अभिलाषा अर्थात् आकाङ्क्षा उत्पन्न हो जाय और आकाङ्क्षा उस समयतक पूर्ण नहीं कही जा सकती, जबतक कि चित्त पूर्णरूपसे एकाग्र होकर अपनी सम्पूर्ण ध्यान-शक्ति केवल एक ही ध्येयमें न लगा दे; और जब चित्तका पूर्ण ध्यान एक ही ध्येयमें लग गया, तब फिर उसमें उस प्रियतमके अतिरिक्त और किसी पदार्थका स्थान ही कहाँ रह गया ? अतः यह नितान्त सत्य है कि पूर्णानुरागमें प्रेमीका चित्त प्रियतमके अतिरिक्त समस्त सांसारिक वृत्तियोंसे सर्वथा शून्य हो जाता है । महामना भवभूति भी मालतीके विरहमें माधवकी अवस्थाको चित्रित करते हुए तन्मयताहीका दृश्य प्रदर्शित कर रहे हैं—

'मैं[1] उस (मालती) को इधर-उधर, आगे-पीछे, भीतर-बाहर और चारों ओर देख रहा हूँ, उस अवस्थामें जब कि विकसित मुग्ध स्वर्ण-कमलके सदृश उसके आनन्दमें स्थित आँखें मेरी आसक्तिवश (मुझे देखनेके लिये) तिरछी हो गयी थीं ।'

और यही भाव अरबीके इस वाक्यका है कि पूर्णासक्ति[2] एक देदीप्यमान अग्नि है, जो प्रियतमके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थोंको भस्म कर देती है ।

योगदर्शन भी कहता है कि जिस तरह बिल्लौर मणि[3] अपने समीप स्थित वस्तुसे प्रभावित होकर उसीके रंग-रूपमें रँग जाती है, उसी तरह वह चित्त, जो संसार और तद्गत-पदार्थोंसे शून्य होकर स्वच्छ हो जाता है, जिस वस्तुकी ओर ध्यान देता है उसीके रूपमें ढल जाता है । फ़ारसी-साहित्यमें भी इसी अवस्थाका चित्र चित्रित है—'जब मैं[4] सिरसे पैरतक तेरी अभिलाषामें खुद ही व्यय हो गया, तब कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहा जिसकी अभिलाषा करूँ ।'

---

१. रसो वै सः ।

१. पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चा-
दन्तर्बहिः परित एव विवर्तमानाम् ।
उद्बुद्धमुग्धकनकाब्जनिभं वहन्ती-
मासक्तितिर्यगपवर्तितदृष्टि वक्त्रम् ॥

२. अल्इश्को नारुन्, यहरुको मासिवल्महबूब ।

३. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः । (१ । ४१)

४. चूँ मनजे सरतापाय खुद सरफ़े तमन्नायत
शुदम् हेचम् नमांदा ताजनम् हर्फ़े तमन्नाये दिगर ।

इस पूर्ण एकाग्रता या सामाधिक संसारमें जब प्रियतम और प्रेमीके बीचका पर्दा उठ जाता है, तब प्रेमी 'वह प्रेमी' और प्रियतम 'वह प्रियतम' नहीं रहता। उस समयकी अवस्था वाक्शक्तिसे परे हो जाती है। उर्दू साहित्यकी भावना भी इस सम्बन्धमें अपना यही विचार प्रदर्शित कर रही है—

'कहूँ क्या कि ख़िलवते ख़ासमें जो हिजाब बीचसे उठ गया।
न वह तुम रहे, न वह हम रहे, जो रही सो बेख़बरी रही॥

इस पद्यके उत्तरार्धसे प्रकट होता है कि उच्चकोटिक प्रेमीका आन्तरिक ध्येय वास्तवमें प्रियतमका अस्थिपिञ्जररूपी कलेवर नहीं होता, अपितु उसकी दृष्टिका अन्तिम और आभ्यन्तरीय केन्द्र 'ऐसे' और 'वैसे'की सीमासे बाहर—वह मूक कर देनेवाली—अलौकिक और प्रकाशात्मक छटा होती है जिसके आविर्भावकी ओर पद्यके उत्तरार्ध—'न वह तुम रहे, न वह हम रहे' में परामर्श किया गया है; और स्फुट है कि यह वही अखण्ड सौन्दर्य-सूर्य है, जिसकी किरणोंसे समस्त सांसारिक चन्द्रवदनोंके आनन चमक रहे हैं और जो सबसे परे और निर्लिप्त होनेपर भी सबको प्रकाशित कर रहा है। जैसा कि श्रुति भी कहती है कि[1] यह सब (जगत्) उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है अपि च[2] यही उस (ईश्वर) का परम आनन्द है। अन्य सर्वभूत इसी आनन्दकी आंशिक मात्रासे जीवित रहते हैं। उर्दू-कविताके चमकीले मोतियोंमें भी इसी श्रुति-सिद्धान्तकी रोशनी जगमगा रही है। यथा—

'उसीकी शोख़ी[3] शरारमें[4] है, उसीकी गर्मी चुनार[5] में है।
वह आब[6] हर सब्ज़ाज़ारमें[7] है, वह लाला[8] हर कोहसार[9] में है॥'

अनुरागके इसी पवित्र, भौतिक वासनारहित उच्चकोटिक-पदके लिये अरबी-साहित्यका वाक्य है—'अनुराग तो ब्रह्मप्राप्तिकारक एक अग्नि है।' कुछ लोगोंने एक पग और आगे बढ़ाया और बोल उठे—'इश्क़ अर्थात् अनुराग तो वही अल्लाह है, वही अल्लाह वही अल्लाह[10]' और यही अनुरागरागिनी पाश्चात्य कवियोंने इस प्रकार गायी है कि 'अनुराग ब्रह्म है' और 'ब्रह्म' अनुराग[11]। उपर्युक्त सहृदय तत्त्वदर्शियोंके अनुभवके अतिरिक्त प्रियतम और प्रेमीकी उक्त एकरूपताका रहस्य हर व्यक्ति खुद अपनी ही सत्तामें देख सकता है। मेरा अभिप्राय यह है कि सांसारिक जीव, शारीरिक वासनाधार अपनी 'देह' पर आसक्त होकर उससे ऐसा संसक्त हो गया, जैसा कि बीजोत्पन्न वृक्ष, कलमी वृक्षसे 'बँध' जाता है और जीव भी, उसी तरह शारीरिक रंग-रूप और गुणोंमें डूबकर शरीर हो गया है, जैसे कि बीजोत्पन्न या कटा पेड़ कलमी पौधेसे बँधकर 'कलमी' हो जाता है। तार्किक जनोंके लिये विशिष्ट विवरण यह है कि प्रायः समस्त धर्मों और तत्त्वदर्शी विद्वानोंने जीवात्माको अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् एक 'निराकार' और 'अभौतिक' द्रव्य माना है और वर्तमान प्रत्यक्षवादी भौतिक विज्ञानने यह भी सिद्ध कर दिया है कि जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, उसमें उतनी ही अधिक विचित्र शक्ति भी होती है जैसा कि वायु, वाष्प, अग्नि और विद्युत् इत्यादि सूक्ष्म-वस्तुओंके आश्चर्यजनक विकासोंसे दिन प्रतिदिन प्रकटित होता रहता है। अतः सबसे अधिक और अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् अभौतिक जीवात्मामें शक्ति भी आत्यन्तिकी ही होनी चाहिये, फिर क्या कारण कि किसी एक भी जीवधारी व्यक्तिमें उस आत्यन्तिकी शक्तिके दर्शन नहीं होते? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नका उत्तर उस समयतक नहीं हो सकता जबतक कि देह और जीवकी प्रेमात्मक पूर्ण एकता स्वीकार न कर ली जाय। अतः देह और जीवकी निम्नाङ्कित प्रेम-कहानियोंपर ध्यान दीजिये—

विशुद्धानुरागके पारङ्गत अनुरागियों और सहृदय तत्त्वदर्शियोंने देखा है कि पूर्णानुरागमें ध्यानोद्रेकके कारण प्रेमी प्रियतममें लीन होकर नितान्त तद्रूप हो जाता है। न केवल उसमें प्रियतमके गुण ही आ जाते हैं अपितु दोनोंके बीचसे भेदोत्पादक कल्पित पर्दा उठ जाता है और अवस्था विशेषमें उनकी आकृतितक एक-सी दिखायी देने लगती है। इस विषयमें शास्त्रीय प्रमाणान्वेषीजन गर्गसंहितालिखित यह रहस्यमयी घटना पढ़ सकते हैं कि गर्म दूध तो पियें राधिकाजी और छाले पड़ें महाराज श्रीकृष्णके चरणोंमें। इसी तरह भृङ्गी-कीटका दूसरे कीड़ेको पकड़कर भयजनित ध्यानद्वारा अपना-सा बना लेना भी उक्त तद्रूपताहीका पोषक है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य-जन्म या देहको सबसे 'अधिक श्रेष्ठ' केवल इस कारण माना गया है कि इसके द्वारा पुण्यकर्म करके मनुष्य अपने अभीष्ट ध्येय अर्थात् परमपद तक पहुँच जाता है और यह अटल नियम है कि जिस पदार्थसे किसीकी कामनापूर्ति

१. तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति।

२. एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। (बृहदारण्यकोपनिषद्)

३. चञ्चलता, ४. स्फुलिङ्ग, ५. औषधनामी लताविशेष जो रात्रिमें अग्निकी तरह चमकती है, ६. पानी, ७. हरित-स्थली, ८. पुष्पविशेष, ९. पर्वतप्रदेश।

१०. अल्इश्क़ो नारुन् वासिलुन्‌इलज़ाते रब्बिल्‌आलमीं अल्इश्क़ो हुवल्लाहो हुवल्लाहो हुवल्लाह।

११. God is love love is God.

या लाभ होता है, उससे उसका प्रेम हो जाता है। अतः अपनी पदोन्नतिका अभिलाषी 'जीव' शरीरका प्रेमी बन गया; कारण कि उसीके द्वारा कर्म करके वह उन्नत हो सकता था। बस, उसका यह प्रेम पूर्णानुरागके उस दर्जेपर पहुँच गया, जहाँ प्रेमी और प्रियतम 'दो' नहीं रहते। यही कारण है कि चोट तो लगती है शरीरके और व्यथित होकर 'हाय' करता है जीव। ठीक उसी तरह कि गर्म दूध तो पियें राधिकाजी और छाले पड़ें कृष्णजीके; या यह कि फ़स्द तो खोली गयी मजनूके और खून निकला कलेवर-लैलासे; यह इसलिये कि दोनोंके मध्यसे भेद-भाव उठ गया था, जैसा कि निम्नस्थित पद्यसे भी सिद्ध होता है—

अजीब दर्दका दोनों तरफ असर फैला।
वह कह रही थी अनल्कैस[1] वह अनल्[2] लैला॥

इसके विपरीत यदि देह और जीवमें उपर्युक्त प्रेमात्मक एकता न मानी जाय तो फिर शरीरके दुःखसे जीवका 'हाय' करना तो एक ओर, शरीर और शारीरिक (जीव) का सम्बन्ध ही असम्भव हो जायगा; क्योंकि शरीर साकार, जीव निराकार; शरीर जड और जीव चेतनादि विरोधी गुणोंसे विशिष्ट है। भला कभी विरोधी पदार्थ भी बिना स्वार्थ परस्पर दृढ़ संसक्त होकर एक हो सकते हैं, जैसे कि देह और जीव? अतः स्पष्ट हो गया कि दैहिक प्रेमोद्रेकमें जीव उसी तरह स्वगुण-विरक्त होकर देह हो गया है, जैसे कि कलमी पौधेसे बँधकर 'कटा पेड़' भी कलमी हो जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्तिमें उपर्युक्त जीवकी आत्यन्तिकी शक्ति दिखायी नहीं देती अपि तु साधारणतया दैहिक और भौतिक शक्तिहीके दर्शन होते हैं। परंतु जो व्यक्ति योगक्रियाद्वारा शरीरानन्दसे निकलकर 'आत्मानन्द' में डूब जाता है, वह जीवात्मासे 'पूर्णात्मा' होकर अपनी 'अन्तर्निलीन' अलौकिक शक्ति पुनः प्राप्त कर लेता है और उसीसे समय-समयपर योगकी उन चमत्कारात्मक सिद्धियोंका आविर्भाव होने लगता है जिनका विवरण योगदर्शन-जैसे दर्शन ग्रन्थके विभूतिपादमें सविस्तर विद्यमान है। और यदि मनुष्यके जीवमें उपर्युक्त अलौकिक शक्ति पहलेसे मौजूद मानी ही न जाय, तो अब कहाँसे आकर उक्त चमत्कारकारिणी हो जाती और विभूतिपादका निर्माण भी कैसे युक्तिसङ्गत हो सकता? इस स्थानपर यह विचार उत्थित होना सही नहीं कि पूर्णानुरागमें हर प्रेमी अपने प्रियमें लीन होकर ईश्वर-प्राप्ति या परमपदतक पहुँच जाता है; क्योंकि यह पदवी उसीकी है जो शारीरिक सीमासे परे अलौकिक निराकार समुद्रमें मग्न हो चुका है। अर्थात् जिसकी आँखने साकारके मूलमें भी निराकारका ही रहस्यमय नाटक देखा है या यह कि गोपियोंकी भाँति जिसकी लव किसी ऐसे योगेश्वर या पूर्णावतारसे लगी हो, जिसके शरीरसे भी सूर्यकान्तमणिकी तरह रूपादि शारीरिक सम्पर्क-शून्य, लोक-प्रकाशक, अलौकिक भुवन-भास्करकी किरणें निकल रही हों, और स्फुट है कि हर प्रेमीका प्रेम ऐसी सत्तासे नहीं होता। इसलिये जो व्यक्ति किसी अध्यात्मविरोधी, आहङ्कारिक, वासनारत, 'दुर्गुण-समुदायाधार-कलेवर'से प्रेम करके उसके शरीरहीको अपना वास्तविक ध्येय बनायेगा, उसमें भी अनिवार्यतया उसके वह दुर्गुण ही सन्निविष्ट हो जायँगे और स्पष्ट है कि इन दुर्गुणोंको ईश्वरप्राप्तिसे क्या सम्बन्ध?

गोपियों और श्रीकृष्णके प्रेम-सम्बन्धमें मुझे यह और निवेदन करना है कि यह तो सब जानते हैं कि गोपियोंका श्रीकृष्णसे प्रेम था। पर प्रश्न यह है कि वह श्रीकृष्णको क्या देखती थीं? इसका उत्तर स्वयं उन्हींके श्रीमुखसे श्रवण कीजिये—'यह[1] निश्चित है कि आप यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं, प्रत्युत आप तो समस्त जीवोंमें अन्तरात्माके साक्षी—देखनेवाले हैं।' गोपियोंके इस वाक्यसे सिद्ध होता है कि वे श्रीकृष्णको वही सर्वव्यापी परमात्मा या 'वास्तविक सत्ता' समझती थीं जिसकी व्याख्यासे गीताके अध्याय परिपूर्ण हो रहे हैं।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि जब गोपियाँ असीम और अपरिमित निराकार ज्योतिसे परिचित हो चुकी थीं, तब फिर कृष्णकलेवरकी खोजमें जंगलोंकी खाक छाननेका क्या प्रयोजन था? इसका उत्तर यह है कि श्रीकृष्णकी 'सामष्टिक' और अपरिमित आत्मसत्तासे आँख लड़ते ही उनकी आँखोंमें कुछ ऐसी सामष्टिक और व्यापक अभेदता समा गयी कि वह साकारमें निराकार और निराकारमें साकारका तमाशा देखने लगी थीं। इसके अतिरिक्त व्यापक और निराकारात्मक खिड़की खुल जानेपर भी इस संसारमें प्रायः शारीरिकताका ही अधिकार रहता है। कारण कि स्थिरतामूलक निरन्तर अर्थात् लगातार दर्शन शरीरका ही हो सकता है और यही कारण है कि प्रायः निर्गुणाभिलाषियोंने भी निराकारतापर पूरा क़ाबू न पाकर इस दृश्यमान शरीरको ही तत्त्वज्ञताका जीना बनाया है जैसा कि किसी प्रेममार्गी महात्माको किसी सौन्दर्यमय-

१. मैं मजनू हूँ। २. मैं लैला हूँ।

१. न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

आननके दर्शनमें निमग्न देखकर किसी स्थूलदर्शी कर्मकाण्डीने प्रश्न किया कि, 'यह क्या है?' उत्तर मिला कि 'भुवन-भास्करका 'बिम्ब' देख रहा हूँ परंतु पानीकी थालीमें।'[1] अब किञ्चिन्मात्र इस ओर भी ध्यान देनेकी आवश्यकता है कि गोपियोंका उक्त प्रेम कोई सामान्य प्रेम नहीं था, प्रत्युत उसके अन्तस्तलमें योगके पवित्र और उच्चतम नियम स्वयं अपना कार्य सम्पादन कर रहे थे। देखिये चित्तमें आनेवाली वृत्तियों अर्थात् 'खयालों' के रोकनेको योगदर्शनमें योग कहा गया है,[2] और इन वृत्तियोंको रोकनेकी दो[3] युक्तियाँ बतायी गयी हैं। प्रथम—सांसारिक पदार्थोंकी सतर्क अस्थिरता और अवास्तविकता देखकर उनसे चित्तका विरक्त और 'विपरीत' हो जाना। द्वितीय—जिस प्रेरणाने इन पदार्थोंसे चित्तको उदासीन कर दिया है, उससे दृढ़ सम्पर्ककारक साधनोंका निरन्तर प्रयोग करना अर्थात् ध्येयके ध्यानमें मग्न हो जानेका 'अभ्यास'। उक्त साधनोंमेंसे महाराज पतञ्जलिने अभीष्ट पदार्थके ध्यान[4] और सांसारिक वासनाओंसे विरक्त किसी पूर्णात्माके चित्तसे सम्पर्कका[5] भी वर्णन किया है, अपिच यह भी कहा है कि—जिसे तीव्र[6] संवेग अर्थात् योगकी धुन होती है, उसको योगमें शीघ्र सफलता होती है। एवं एकाग्रता अर्थात् एक ही खयालमें निमग्नताको बीमारी, सुस्ती और अधीरता इत्यादि योगविरोधी पदार्थोंका प्रतिबन्धक सिद्ध किया गया है।[7] ध्यानद्वारा, किसी विशेष पदार्थ या प्रदेशमें चित्तके बाँधने अर्थात् लगानेको 'धारणा' कहते हैं।[8] यही धारणा जब निरन्तर और लगातारपसे होने लगती है तो उसका नाम ध्यान हो जाता है[9] और जब ध्यानी अपने ध्येयमें पूर्ण मग्नता द्वारा ध्येयस्वरूप होकर स्थित हो जाता है, तब यह अवस्था योगकी अन्तिम कक्षा अर्थात् समाधि[10] कहलाती है। अब योगके इन मौलिक नियमोंको ध्यानमें रखते हुए गोपियोंकी प्रेमावस्थापर दृष्टि डालिये तो विदित हो जायगा कि ये समस्त नियम उनके 'प्रेम-योग' में बिना किसी प्रयत्नके स्वयं ही विद्यमान हो रहे थे। अतः कोई कारण नहीं कि गोपियोंके हृदयमें दुनियासे पूर्ण उदासीनता मानकर, उनको सम्पूर्ण वैराग्यवती न स्वीकार किया जाय तथा श्रीमद्भागवतके अवलोकनसे ज्ञात होता[11] है कि श्रीकृष्णजीका तनिक सम्पर्क भी गोपियोंके चित्तसे इतर समस्त वासनाओंको विस्मृत करा चुका था, जो पूर्ण-वैराग्यका प्रकाशमान प्रमाण है।

द्वितीय वस्तु अर्थात् अभीष्ट पदार्थके ध्यानका 'अभ्यास' तो इस सम्बन्धमें पूर्ण प्रेमीके लिये कुछ कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। कारण कि प्रेमीसे अधिक प्रियतमके ध्यानमें कौन मग्न हो सकता है? अब रहा अभीष्ट पदार्थका ध्यान और पूर्णात्मा-वीतराग-विषयकसे गाढ़तर सम्बन्ध, तो इन दोनों साधनोंकी पूर्ति तो गोपियोंने श्रीकृष्णके ध्यानद्वारा ही कर ली थी, क्योंकि श्रीकृष्ण गोपियोंके अभीष्ट ध्येय भी थे और योगेश्वर होनेके कारण पूर्ण वैराग्यकी मूर्ति भी। अब अवशिष्ट रही तल्लीनता या निमग्नता, सो वह अनुरागीसे बढ़कर और किसीमें हो ही नहीं सकती और गोपियोंका केवल श्रीकृष्णके ही ध्यानमें प्रधानतया मग्न रहना, योगविघ्नोंकी निवृत्तिके लिये भी पर्याप्त था 'तुमहीमें 'असु' अर्थात्[12] चित्त रखनेवाली गोपियाँ' इस गोपीगीतसे स्पष्टतया यह भी विदित हो जाता है कि गोपियोंने श्रीकृष्णमें 'चित्त' लगाकर 'धारणा' नामक योगके दर्जेको भी प्राप्त कर लिया था। कारण कि 'असु' शब्दका अर्थ[13] चित्त भी है और चित्तको किसी स्थान या वस्तुमें रखना अर्थात् बाँध देना ही धारणा है और यही धारणा उन्नत होकर ध्यान और ध्यानसे उच्च होकर 'समाधि' हो जाती है; फिर क्या कारण कि सासारिक वासनाओंसे उदासीन गोपियाँ, इस प्रेम-योगकी पूर्ति करनेपर भी श्रीकृष्णमें लीन होकर परमपदतक न पहुँचें? यह है गोपियोंकी तात्त्विक धर्मपरायणता, निष्कपट प्रेम और उनकी ब्रह्मलीनताकी व्याख्या और यही मूल है उस अनुरागात्मक चमत्कारकी, जिसको दुनिया आजतक रासलीलाके नामसे याद करती है।

(लेखक महोदयके लंबे लेखको स्थानाभावसे कुछ छोटा कर दिया गया है। इसके लिये वे कृपया क्षमा करें। सम्पादक)

---

१. चश्मये आफ्तावरा बीनम्, लेकदरतश्तेआवर्मावीनम्॥ २. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (यो० १ । २)। ३. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (यो० १ । १२)। ४. यथाभिमतध्यानाद्वा (यो० १ । ३९)। ५. वीतरागविषयं वा चित्तम् (यो० १ । ३७)। ६. तीव्रसंवेगानामासन्नः (यो० १ । २१)। ७. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः (यो० १ । ३२)। ८. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (यो० ३ । १)। ९. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (यो० ३ । २)। १०. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (यो० ३ । ३)। ११. इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ (श्रीमद्भा० १० । ३१ । १४)। १२. त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते (श्रीमद्भा० १० ३१ । १)। १३. शब्दार्थचिन्तामणि (पृ० २२६)।

दूसरोंके हृदयको जीतनेका उपाय

(लेखक—श्रीशिवकण्ठलालजी शुक्ल 'सरस' एम० ए०)

प्रायः यह देखनेमें आता है कि जब हम दूसरोंको अपनी विचारधारामें बहाना चाहते हैं या उनकी राय बदलना चाहते हैं, तब बुद्धितत्त्वके आधारपर तर्क-वितर्कका अधिक सहारा लेते हैं । मानव-मनकी भावनाओं और अनुभूतियोंकी लेशमात्र भी चिन्ता न करके तर्कशास्त्रके शुष्क धरातलपर उतर आते हैं । इस बातपर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता कि भावनाओं और अनुभूतियोंका क्या स्थान है । सीधे अनावश्यक वाद-विवादको छेड़ देते हैं । अपने दृष्टिकोणको सरल, स्पष्ट, मधुर और हृदयग्राही बनानेकी अपेक्षा हम दूसरोंके दृष्टिकोणकी कटु आलोचना करने लगते हैं । हमें चाहिये कि हम अपने विचारोंकी व्याख्या, उनकी उपयोगिता तथा उससे अन्य लोगोंके सम्बन्ध आदि बातोंको आकर्षक ढंगसे रक्खें । पर हम ऐसा न करके दूसरोंके विचारोंपर ही अनुचित ढंगसे प्रहार करना प्रारम्भ कर देते हैं । विचारोंकी झोंकमें गँवारू ढंगसे कह उठते हैं कि वह गुमराह है । इस प्रकार उसके आत्मसम्मान और आत्मगौरवकी भावनाओंपर कठोर प्रहार करने लगते हैं । जिससे शीघ्र ही द्वेषपूर्ण घृणा उत्पन्न हो जाती है और आपसमें अनुचित और तीक्ष्ण शब्दोंका आदान-प्रदान होने लगता है । इस प्रकार न तो हम दूसरोंके दृष्टिकोणको बदल पाते और न उनको अपना मित्र ही बना पाते । वरं उनके पूर्व विचारोंको और दृढ़ करके उन्हें अपना शत्रु बना लेते हैं ।

इस प्रकारकी असफलताका कारण स्पष्ट है । मूल कारण यह है कि हम यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि मनुष्य तर्कशास्त्रकी सृष्टि नहीं है । मनुष्य अनुभूतियों और भावनाओं, विचारों और इच्छाओं, द्वेष और घृणा, अभिमान और अहंभाव, भय और आदर, शक्ति और सम्मानका अनुगामी है । वह तर्कशास्त्रके वशीभूत कभी नहीं हो सकता । हमें सदैव ध्यान रखना चाहिये कि वे लोग मनुष्य हैं, देवता नहीं हैं । उनके विचार और भावनाएँ शिलाखण्डपर लिखे अक्षर नहीं हैं । हममेंसे प्रत्येक अपनेको बुद्धिमान्, विचारवान् तथा तर्कशास्त्री होनेका दावा करता है और उसीके अनुसार प्रयत्न भी करता है; परंतु जब वही बात प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है, तब हमें ज्ञात होता है कि हमारे प्रदर्शनमें बुद्धितत्त्वकी अपेक्षा पूर्व निर्मित धारणाएँ तथा कल्पनाएँ अधिक कार्य करती हैं । तर्कना हमारे साथ कार्य करनेमें असमर्थ सिद्ध होती है ।

तर्क-वितर्कसे विजय कम होती है । वह अधिकतर व्यर्थ सिद्ध होता है । यदि कभी विजय भी हो जाय तो वह विजय पराजयसे भी गयी-बीती होगी । मान लिया कि हमने किसीको अपने तर्क-बलसे कोई बात मनवा दी और उसने स्वीकार भी कर ली । पर विश्वास रखना चाहिये कि यह उसकी मान्यता बाहरी तथा क्षणस्थायी है । उसके विचारोंमें कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हो सकता । वह हमारी आश्चर्यजनक प्रभावशालिनी तर्कनाके सामने ठहर न सके, वचनबद्ध भी हो जाय और आत्मसमर्पण भी कर दे । यह सब कुछ होनेपर भी हृदय अपनी पूर्वदशामें ही बना रह सकता है । इससे हृदय नहीं बदल सकता ।

यह स्वाभाविक बात है कि हम उन्हीं बातोंमें विश्वास करना अधिक पसंद करते हैं, जिनमें बहुत पहलेसे विश्वास करते आ रहे हैं । हम इस बातकी बहुत कम परवा करते हैं कि हमारा विश्वास तर्कपूर्ण है या तर्कहीन । मानव मन अपनी स्मृतियोंसे स्नेह करता है । जो विचार हमारे मस्तिष्कमें घर कर चुके हैं, उनके प्रति सम्मानकी भावना अवश्य बढ़ती जाती है । उन विचारोंसे हमें ममता और मोह होता है । अतः उनका अपहरण हमारे लिये असह्य होता है । जब हमें यह ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति हमें लूटना चाहता है, तब हृदय व्याकुल हो उठता है । हम यह कभी भी सुननेको तैयार नहीं होंगे कि हमारे विचार निरर्थक हैं । जब कोई हमारे विचारोंपर प्रहार करना चाहता है, तब हम पूर्ण शक्तिके साथ उनकी रक्षा करते हैं । दूसरोंके द्वारा जितना ही इस बातका प्रयत्न किया जाता है कि हमारे विचार ठीक नहीं हैं, उतना ही हम अपने विश्वासोंमें दृढ़ होते जाते हैं । यही है मानव-स्वभाव । यह बात हमारे साथ, आपके साथ और सबके साथ है । तर्क-वितर्क, खण्डन-मण्डनसे भेदभाव अधिक बढ़ता है । इसमें घृणाके कारण ऐसा अन्तर पड़ जाता है कि उसको भरना कठिन हो जाता है । ऐसी अवस्थामें दूसरोंपर वास्तविक विजय कभी सम्भव नहीं हो सकती ।

यदि हम तर्क-वितर्क, वाद-विवाद तथा खण्डन-मण्डन आदिको त्यागकर मैत्रीपूर्ण ढंगसे दूसरोंके विचारोंके प्रति प्रेम तथा सम्मान प्रकट करें तो सफलताके संयोग अधिक प्राप्त होते हैं । यदि हम किसीको प्रेम और सहानुभूतिके साथ सन्तुष्ट कर सकें या कोई बात मनवा सकें तो निस्सन्देह हम उसके वास्तविक शुभचिन्तक तथा सच्चे मित्र बन

जायँगे । उसका हममें विश्वास होगा । और कुछ नहीं तो कम-से-कम वह हमारी बात ध्यानपूर्वक अवश्य सुनेगा। उसके विचारोंको निरर्थक और दोषयुक्त बतलानेकी अपेक्षा यदि हम प्रेम तथा सौहार्दके साथ अपने सुलझे विचारोंसे उसको प्रभावित करते हुए उसके हृदयको छूनेका प्रयत्न करें तो यह निश्चय है कि वह हमारी ओर आकर्षित होने लगेगा।

विरोध, तर्क-वितर्क, कटु आलोचना तथा बालकी खाल निकालनेसे हम किसीको अपना मित्र नहीं बना सकते। सच्चे मित्र इस ढंगसे प्राप्त नहीं होते । वह दूसरा मार्ग ही है । वह मार्ग प्रेम और सहानुभूतिका है जिसपर सब ओर मित्र-ही-मित्र दिखायी पड़ते हैं। प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक बात है । यदि आप किसीको गाली देंगे तो बदलेमें गाली खायँगे । यदि आप किसीको मूर्ख कहेंगे तो आपको भी मूर्ख कहा जायगा । आप आलोचना करेंगे तो आपसे प्रत्यालोचना अवश्य मिलेगी । इसी प्रकार यदि आप प्रेम करेंगे तो अवश्य प्रेमका प्रतिदान होगा। जैसा बोयेंगे, वैसा काटेंगे । यह सीधी-सी बात है ।

प्रेम ही महान् शक्ति है, जो प्रत्येक दशामें जीवनको आगे बढ़ानेमें सहायक होती है । हमें सदैव सहनशील बनना तथा धैर्यका सहारा लेना चाहिये । मतवैभिन्न्यके चक्करमें हमें नहीं पड़ना चाहिये । प्रत्येककी बातको शान्तिसे सुननेका स्वभाव होना चाहिये । कट्टरता और कायरताको त्यागकर प्रत्येकको सच्चे हृदयसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिये । दूसरोंकी कटु आलोचनाको छोड़ देना चाहिये । विश्वास रखिये कि आपकी प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण सच्ची बातोंको सुननेके लिये दुनिया विवश होगी।

सच्ची मान्यता प्रेमके द्वारा ही हो सकती है। बिना प्रेमके मान्यता कृत्रिम होगी। शेक्सपियरके अनुसार कहना अनुचित न होगा कि बिना प्रेमके किसीके विचारोंमें परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । विचार तर्क-वितर्ककी सृष्टि नहीं है । विचारधारणा तथा विश्वास बहुकालके सत्सङ्गसे बनते हैं । अधिक समयकी संगतिका ही परिणाम प्रेम है। इसलिये विचारधारणा अथवा विश्वास प्रेमका विषय है ।

अतः यदि हम दूसरोंपर विजय प्राप्त करके उनको अपनी विचारधारामें बहाना चाहते हैं, उनके दृष्टिकोणको बदलकर अपनी बात मनवाना चाहते हैं तो हमें सच्चे प्रेमका सहारा लेना चाहिये । तर्क और बुद्धितत्त्व हमें आगे नहीं बढ़ा सकते। वास्तवमें प्रेम ही वशीकरणका मूल मन्त्र है।

भक्त-गाथा

भक्त विमलतीर्थ

पण्डित विमलतीर्थ नैष्ठिक ब्राह्मण थे। बड़ा सदाचारी, पवित्र कुल था इनका। त्रिकाल सन्ध्या, अग्निहोत्र, वेदका स्वाध्याय, तत्त्वविचार आदि इनके कुलमें सबके लिये मानो स्वाभाविक कर्म थे । सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, नम्रता, अस्तेय, अपरिग्रह और सन्तोष आदि गुण इस कुलमें पैतृक सम्पत्तिके रूपमें सबको मिलते थे। इतना सब होनेपर भी भगवान्के प्रति भक्तिका भाव जैसा होना चाहिये, वैसा नहीं देखा जाता था। पण्डित विमलतीर्थ इस कुलके एक अनुपम रत्न थे। इनकी माताका देहान्त लड़कपनमें ही हो गया था। ननिहालमें बालकोंका अभाव था, अतः यह पहलेसे ही अधिकांश समय नानीके पास रहते थे। माताके मरनेपर तो नानीने इनको छोड़ना ही नहीं चाहा, ये वहीं रहे । इनके नाना पण्डित निरञ्जनजी भी बड़े विद्वान् और महाशय थे । उनसे इनको सदाचारकी शिक्षा मिलती थी तथा गाँवके ही एक सुनिपुण अध्यापक इन्हें पढ़ाते थे । इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। कुलपरम्पराकी पवित्र विद्याभिरुचि इनमें थी ही । अतएव इनको पढ़ानेमें अध्यापक महोदयको विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता था । ये ग्रन्थोंको ऐसे सहज ही पढ़ लेते थे जैसे कोई पहले पढ़े हुए पाठको याद कर लेता हो । यज्ञोपवीत नानाजीने करवा ही दिया था, इसलिये ये त्रिकाल सन्ध्या करते थे। नित्य प्रातःकाल बड़ोंको प्रणाम करते, उनकी श्रेष्ठ आज्ञाओंका कुतर्क-शून्य बुद्धिसे परंतु समझकर भलीभाँति पालन करते और सहज ही सबके स्नेहभाजन बने हुए थे ।

विमलजीकी नानी सुनन्दादेवी परम भक्तिमती थी। उसने अपने पतिकी परमेश्वरभावसे सेवा करनेके साथ ही परम पति, पतिके भी पति भगवान्‌की सेवामें अपने जीवनको लगा रक्खा था। भगवान्‌पर और उनके मङ्गल-विधानपर उसका अटल विश्वास था और इसलिये वह प्रत्येक स्थितिमें नित्य प्रसन्न रहा करती थी। इस प्रकारकी गुणवती पत्नीको पाकर पण्डित निरञ्जनजी भी अपनेको धन्य मानते थे। नन्दादेवी घरका सारा काम बड़ी दक्षता तथा सावधानीके साथ करती। परंतु इसमें उसका भाव यही रहता कि यह घर भगवान्‌का है, मुझे इसकी सेवाका भार सौंपा गया है। जबतक मेरे जिम्मे यह कार्य है, तबतक मुझे इसको सुचारुरूपसे करना है। इस प्रकार समझकर वह समस्त कार्य करती; परंतु घरमें, घरकी वस्तुओंमें, कार्यमें तथा कार्यके फलमें न उसकी आसक्ति थी, न ममता। उसकी सारी आसक्ति और ममता अपने प्रभु भगवान् नारायणमें केन्द्रित हो गयी थी। इसलिये वह जो कुछ भी करती, सब अपने प्रभु श्रीनारायणकी प्रीतिके लिये, उन्हींका काम समझकर करती, इससे काम करनेमें भी उसे विशेष सुख मिलता था। शुद्ध कर्तव्यबुद्धिसे किये जानेवाले कर्ममें भी सुख है, परंतु उसमें वह सुख नहीं है जो अपने प्राणप्रिय प्रभुकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले कर्ममें होता है। उसमें रूखापन तो कभी होता ही नहीं, एक विशेष प्रकारके रसकी अनुभूति होती है जो प्रेमीको पद-पदपर उल्लसित और उत्फुल्लित करती रहती है और वह नित्य-नूतन उत्साहसे सहज ही प्राणोंको न्योछावर करके प्रभुका कार्य करता रहता है; परंतु इस प्रकारके कार्यमें जो उसे अप्रतिम रसानुभूति मिलती है उसका कारण कर्म या उसका कोई फल नहीं है, उसका कारण है प्रभुमें केन्द्रित आसक्ति और ममत्व। प्रभु उस कार्यसे प्रसन्न न हों और किसी दूसरे कार्यमें लगाना चाहें तो उसे उस पहले कार्यको छोड़कर दूसरेके करनेमें वही आनन्द प्राप्त होगा जो पहलेको करनेमें होता था। सुनन्दाका इसी भावसे घरवालोंके साथ सम्बन्ध था और इसी भावसे वह घरका सारा कार्य सँभालती तथा करती थी। आज मातृहीन विमलको भी, सुनन्दा इसी भावसे हृदयकी सारी स्नेह-सुधाको उँडेलकर प्यार करती और पालती-पोसती है कि वह प्रियतम प्रभु भगवान्‌के द्वारा सौंपा हुआ सेवाका पात्र है। उसमें नानीका बड़ा ममत्व था, पर वह इसलिये नहीं था कि विमल उसकी कन्याका लड़का है, वरं इसलिये था कि वह भगवान्‌के बगीचेका एक सुन्दर सुमधुर फलवृक्ष है, जो सेवा-सँभालके लिये उसे सौंपा गया है। नानीके पवित्र और विशद स्नेहका विमलपर बड़ा प्रभाव पड़ा और विमलकी मति भी क्रमशः नानीकी सुमतिकी भाँति ही उत्तरोत्तर विमल होती गयी। उसमें भगवत्परायणता, भगवद्विश्वास, भगवद्भक्ति और शुभ भगवदीय कर्मके मधुर तथा निर्मल भाव जाग्रत् हो गये। वह नानीकी भगवद्-विग्रहकी सेवाको देख-देखकर मुग्ध होता, उसके मनमें भी भगवत्सेवाकी आती। अन्तमें उसके सच्चे तथा तीव्र मनोरथको देखकर भगवान्‌की प्रेरणासे नानीने उसके लिये भी एक सुन्दर भगवान् नारायणकी प्रतिमा मँगवा दी और नानीके उपदेशानुसार बालक विमल बड़े भक्तिभावसे भगवान्‌की पूजा करने लगा।

विमलतीर्थजीके विमल वंशमे सभी कुछ विमल तथा पवित्र था। भगवद्भक्तिकी कुछ कमी थी—वह यों पूरी हो गयी। कर्मकाण्ड, विद्या तथा तत्त्व-विचारके साथ जिसमें नम्रता तथा विनय होती है, वह अन्तमें विद्या तथा तत्त्वके परम फल श्रीभगवान्‌की भक्तिको अवश्य प्राप्त करता है। परंतु जहाँ कर्मकाण्ड, विद्या एवं तत्त्वविचार अभिमान तथा घमंड पैदा करनेवाले होते हैं वहाँ परिणाममें पतन होता है। वस्तुतः जो कर्म, जो विद्या और जो विचार भगवान्‌की ओर न ले जाकर अभिमानके

मलसे अन्तःकरणको दूषित कर देते हैं, वे तो कुकर्म, अविद्या और अविचाररूप ही हैं। विमलतीर्थके कुलमें कर्म, विद्या और तत्त्वविचारके साथ सहज नम्रता थी—विनय थी और उसका फल भगवान्‌में रुचि तथा रति उत्पन्न होना अनिवार्य था। सत्कर्मका फल शुभ ही होता है और परम शुभ तो भगवद्भक्ति ही है। नानी सुनन्दाके सङ्गसे विमलतीर्थकी विमल कुलपरम्पराके पवित्र फलका प्रादुर्भाव हो गया! नाना-नानीने बड़े उत्साहसे पवित्र कुलकी साधुस्वभावा सुनयनादेवीके साथ विमलतीर्थका विवाह पवित्र वैदिक विधानके अनुसार कर दिया। सुलक्षणवती बहू घरमें आ गयी। वृद्धा सुनन्दाके शरीरकी शक्ति क्षीण हो चली थी, अतएव घरके कार्यका तथा नानीजीके ठाकुरकी पूजाका भार सुनयनाने अपने ऊपर ले लिया। वृद्धा अब अपना सारा समय भगवान्‌के स्मरणमें लगाने लगी। निरञ्जन पण्डित भी बूढ़े हो गये थे। पर उनका स्वभाव बड़ा ही सुन्दर था। उन्होंने अपना मन भगवान्‌में लगाया। कुछ समयके बाद वृद्ध दम्पतिकी भगवान्‌का स्मरण करते-करते बिना किसी बीमारीके सहज ही मृत्यु हो गयी। विमल और सुनयना यों तो नाना-नानीकी सेवा सदा-सर्वदा करते ही थे, परंतु पुण्यपुञ्ज दम्पतिने बीमार होकर उनसे सेवा नहीं ली। अब विमलतीर्थ ही इस घरके स्वामी हुए। पति-पत्नीमें बड़ा प्रेम था, दोनोंके बहुत पवित्र आचरण थे। दोनों ही भक्तिपरायण थे। विमल अपने भगवान्‌की पूजा नियमित रूपसे प्रेमपूर्वक करते थे और सुनयनादेवी नानी सुनन्दाके दिये हुए भगवान्‌की पूजा करती थी। यों पति-पत्नीके अलग-अलग ठाकुरजी थे। पर ठाकुर-सेवामें दोनोंको बड़ा आनन्द आता था। दोनों ही मानो होड़-सी लगाकर अपने-अपने भगवान्‌को सुख पहुँचानेमें संलग्न रहते थे। दोनोंमें ही विद्या थी, श्रद्धा थी और सात्त्विक सेवा-भाव था।

विमलतीर्थके तीन बड़े भाई थे। वे भी बहुत अच्छे स्वभावके तथा शुभकर्मपरायण थे। छोटे भाई विमल अब एक प्रकारसे उन लोगोंके मामाके स्थानापन्न थे। चारोंमें परस्पर बड़ी प्रीति और स्नेह-सौहार्द था। प्रीतिका नाश तो स्वार्थमें होता है; इनका स्वार्थ विचित्र ढंगका था। ये परस्पर एक-दूसरेका विशेष हित करने, सुख पहुँचाने और सेवा करनेमें ही अपना स्वार्थ समझते थे। त्याग तो मानो इनकी स्वाभाविक सम्पत्ति थी। जहाँ त्याग होता है, वहाँ प्रेम रहता ही है और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ आनन्दको रहने, बढ़ने तथा फूलने-फलनेके लिये पर्याप्त अवकाश मिलता है। दोनों परिवार इसीलिये आनन्दपूर्ण थे। नामके ही दो थे। वस्तुतः कार्यरूपमें एक ही थे।

विमलतीर्थजीके मनमें वैराग्य तो था ही। धीरे-धीरे उसमें वृद्धि होने लगी। भगवान्‌की कृपासे उनकी धर्मपत्नी इसमें सहायक हुई। दोनोंमें मानो वैराग्य तथा भक्तिकी होड़ लगी थी। ऐसी सात्त्विक ईर्ष्या भगवत्कृपासे ही होती है। इस ईर्ष्यामें एक-दूसरेसे आगे बढ़नेकी चेष्टा तो होती है, परंतु गिरानेकी या रोकनेकी नहीं होती। बल्कि परस्पर एक-दूसरेकी सहायता करनेमें ही प्रसन्नता होती है। शक्ति गिरानेमें नहीं, बढ़ने और बढ़ानेमें लगती है। यही शक्तिका सदुपयोग है।

आखिर उपरति बढ़ी, दोनों भगवान्‌के ध्यानमें मस्त रहने लगे। एक दिन भगवान्‌ने कृपा करके सुनयना-देवीको दर्शन दिये और उसी दिन भगवदाज्ञासे वे शरीर छोड़कर भगवान्‌के परमधाममें चली गयीं। विमलतीर्थ-जीको इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। होड़में पत्नीकी विजय हुई। उसने भगवान्‌का साक्षात्कार पहले किया। विमलतीर्थजीके लिये यह बड़े ही आनन्दका प्रसङ्ग था। इस सात्त्विक होड़में हारनेवालेको जीतनेवालेकी जीतपर जिस अलौकिक सुखकी अनुभूति होती है, जगत्‌के स्वार्थी मनुष्य उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। अस्तु!

अब विमलतीर्थ सर्वथा साधनामें लग गये। वे वनमें जाकर एकान्तमें रहने लगे और अपनी सारी विद्या-बुद्धिको भूलकर निरन्तर भगवान् श्रीनारायणके मङ्गलमय ध्यानमें ही रत रहने लगे। धीरे-धीरे भगवान्के दिव्य दर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ी और एक दिन तो वह इतनी बढ़ गयी कि अब क्षणभरका विलम्ब भी असह्य हो गया। जैसे अत्यन्त पिपासासे व्याकुल होकर मनुष्य जलकी बूँदके लिये छटपटाता है और एक क्षणकी देर भी सहन नहीं कर सकता, वैसी दशा जब भगवान्के दर्शनके लिये भक्तकी हो जाती है तब भगवान्को भी एक क्षणका विलम्ब असह्य हो जाता है और वे अपने सारे ऐश्वर्य-वैभवको भुलाकर उस नगण्य मानवके सामने प्रकट होकर उसे कृतार्थ करते हैं। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीनारायण विमलतीर्थको कृतार्थ करनेके लिये उनके सामने प्रकट हो गये। वे चकित होकर निर्निमेष नेत्रोंसे उस विलक्षण रूपमाधुरीको देखते ही रह गये। बड़ी देरके बाद उनमें हिलने-डोलने तथा बोलनेकी शक्ति आयी। तब तो आनन्द-मुग्ध होकर वे भगवान्के चरणोंमें लोट गये और प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण-पद्मोंको पखारने लगे। भगवान्ने उठाकर बड़े स्नेहसे उनको हृदयसे लगा लिया और अपनी अनुपम अनन्य भक्तिका दान देकर सदाके लिये पावन बना दिया!

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

स्वाधीनताका स्वरूप और सुख

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

हमारी स्वाधीनताके तीन वर्ष पूरे हो गये, फिर भी हमें अपनी स्वतन्त्रताका सच्चा सुख क्यों नहीं मिलता। इसके अनेक कारण बतलाये जाते हैं और उन कारणोंको लेकर लोग परस्पर दोषारोपण करते रहते हैं। पर विचार करनेपर पता लगता है कि सुख न होनेका वास्तविक कारण अज्ञान है। हम जानते ही नहीं कि स्वाधीनता किसे कहते हैं। जबतक हम असली स्वाधीनताको नहीं पहचानेंगे, हमको उसका आन्तरिक सुख नहीं प्राप्त होगा।

यह असली स्वाधीनता क्या है? इसका क्या महत्त्व है? यही तो हम भी जानना चाहते हैं। हम स्वाधीनता क्यों चाहते हैं? बाबा तुलसीदासजी लिख गये हैं—

'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'

जब पराधीनतामें सपनेमें भी सुख नहीं मिलता तो स्वाधीनताका मतलब ही है सुख दिलानेवाली वस्तु। पर सुख है क्या वस्तु?

एक फ्रेंच महापुरुषने कहा है कि 'वही मनुष्य संसारमें सुखी है जिसे भगवान्ने एक रोटीका टुकड़ा खानेको दिया है, पर जिस टुकड़ेके लिये उसे ईश्वरको छोड़कर और किसीको धन्यवाद देनेकी आवश्यकता नहीं होती।' सचमुच वह व्यक्ति बड़ा भाग्यशाली है, जो चाहे एक टुकड़ा ही रोटी क्यों न पाता हो, पर किसीका आश्रित न हो। यदि स्वाधीनताका अर्थ स्वावलम्बी बनना है तो आज हममेंसे कितने भारतीय अपनी स्वतन्त्रताके बाद स्वावलम्बी बननेकी सोच रहे हैं? जिसे देखिये, वह या तो नौकरी या अधिकारके पीछे पागल है या जल्दी-से-जल्दी अधिक-से-अधिक चोरी करके धनी बन जाना चाहता है। शीघ्र सफलताके लिये आज हम जितने उतावले हैं, उतने पहले कभी न थे। हमें सब कुछ चाहिये तथा जल्दी-से-जल्दी चाहिये और इसी जल्दबाजीका परिणाम है कि हम अपनी वासनाओंके दास बनते चले जा रहे हैं।

जिसे भी संसारका लेशमात्र सुख भोगना हो उसे 'कौवेट'का कथन ध्यानमें रखना चाहिये—

'मानव अपने साधनोंकी महानतासे नहीं पर अपनी इच्छाओं अथवा कामनाओंकी लघुतासे ही स्वतन्त्रता प्राप्त करता है।'

कौवेटका मतलब यह है कि जीवनमें स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि हमारी आवश्यकताएँ कम-से-कम हों। हमको वासना, लोभ तथा तृष्णा न सताती रहे और हम यह ध्यानमें रक्खें कि स्वतन्त्र-जीवनमें जहाँ स्वावलम्बन आवश्यक है, वहीं पड़ोसीपर भरोसा करना, समाजके साथ मिलकर चलना और समाजपर अवलम्बित रहना भी आवश्यक है। वर्डस्वर्थ नामक प्रसिद्ध अंग्रेज कविने लिखा है कि स्वतन्त्र व्यक्तिके लिये 'मर्दानगीके साथ दूसरोंपर निर्भर करना तथा मर्दानगीके साथ आत्मनिर्भर करना आवश्यक है।' सारांश यह कि जो व्यक्ति अपने जीवन-से उच्छृङ्खलता निकालकर तथा आवश्यकताएँ कम-से-कम बनाकर जीवन-यापन करता है, उसीको वास्तवमें स्वतन्त्रता-का सुख मिल सकता है और वही उसे भोग सकता है।

स्वतन्त्रता अपने मनमें होती है। उसका बाहरी आडम्बर बहुत छोटा होता है, पर मनके भीतर वह तभी पैदा होती है जब हम उसे पैदा करना जानते हैं। कामना और लोभ हमारे मनको इतना गुलाम बनाये हुए हैं कि सुबुद्धि हमारे निकट भी नहीं फटक पाती। शेस्टनने लिखा है कि 'चाहे गरीब हो या अति धनी, दोनोंको ही स्वाधीनताका पूरा सुख मिल सकता है, यदि दोनों एक बात सीख जावें और वह बात है अपनी आवश्यकताओंको अपनी-आपकी मर्यादाके भीतर रखना। जो आदमी यह करना जानता है, वह जीवनका सब सुख प्राप्त कर सकता है। हमारी समझमें आज हम भारतीय यदि अपनी आध्यात्मिक, भौतिक तथा मानसिक स्वाधीनताको नहीं भोग सकते तो उसका कारण हमारी तृष्णा, लोभ तथा मोह है। इन्हींके वशीभूत होकर हम न तो देशके कामके रह गये और न शासनके ही।

अपना गुण

मानव-जीवनके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश हमने 'हीजेलेमान' का पढ़ा है। वे लिखते हैं—

'ऐ युवक! अपने चारों ओर लोगोंको छल और अविश्वासके द्वारा धनी होने दो। तुम दरिद्र बने रहो। दूसरोंको भीख माँगकर समाजमें शक्ति तथा अधिकार प्राप्त करने दो, तुम बिना इनके रहो। तुम्हारी आशाएँ निराशाओंमें परिणत हो जायँ, पर दूसरोंके समान चापलूसी करके कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा मत करो। अपने गुणोंकी चादर ओढ़े हुए सच्चा साथी ढूँढ़ो और ईमानदारीसे रोटी कमाओ। यदि ऐसा जीवन बिताते हुए तुम बूढ़े हो गये और कोई सांसारिक सम्मान तुमको न मिला तो कोई चिन्ताकी बात नहीं, तुम शान्तिसे मर सकोगे।'

जो ऐसी मृत्यु चाहता हो, वही वास्तवमें सच्ची स्वाधीनता जानता है और उसका सुख भोग सकता है। जिसने स्वाधीनताको अधिकार, पद, सम्मान तथा अधिकारके दुरुपयोगका साधन समझा है, वह इसका सुख न तो स्वयं भोग सकता है और न किसी दूसरेके भोगनेमें सहायक हो सकता है। स्वार्थी तथा पदलोलुप लोगोंने हमारी नवप्राप्त स्वाधीनताको विषैला कर रक्खा है। इनके कारण न तो हम उसका सुख ठीकसे भोग पाते हैं, न समझ ही पाते हैं!

स्वाधीनता बड़ी भारी वस्तु है। बिना इसके मानवका विकास नहीं हो सकता। इसके बिना राष्ट्रकी आत्मा चेत नहीं सकती। बिना इसके देशका नैतिक स्तर ऊँचा नहीं हो सकता और 'पार्क गौडविन'ने सत्य लिखा है कि मानव-जीवनके लिये

सबसे अधिक कल्याणकर कार्य तभी हो सकते हैं, जब जनता स्वतन्त्र हो जाय।

यहाँतक तो बात समझमें आ गयी, पर सवाल यह है कि मानवका कल्याण है किस बातमें ? किस काममें ? स्वाधीनताका अर्थ है पराधीन न रहना। पर ऐसी स्वाधीनतासे क्या लाभ, जिससे हम अपनी वासनाओंके ही अधीन हो गये। दूसरोंसे पद तथा अधिकारकी आशाकी टकटकी लगाये बैठे रहे ! महत्त्वाकाङ्क्षाएँ निस्सीम होकर मानवको संसारका गुलाम बना देती हैं। दत्तात्रेयका वचन है—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

जिसने आशाको दासी बना लिया है, वह संसारको अपना दास बना सकता है, पर आशाको दासी वही बना सकता है जो सत्य और सुखका रहस्य जानता है। सत्य और सुखका रहस्य जाननेवाला ही संसारमें सफल जीवन बिता सकता है तथा सुखी प्राणी हो सकता है और अपनी स्वाधीनताका आनन्द उठा सकता है। जबतक हम वास्तविक सुखको नहीं पहचानेंगे, हमको अपनी स्वाधीनताका आनन्द न प्राप्त होगा। आज अपने अज्ञानके कारण ही हम भटक रहे हैं। पर न तो सुख पा रहे हैं, न चैन।

सुख तथा सत्यकी एक बहुत अच्छी परिभाषा हमें 'मार्क्स आरलियस' बतला गये हैं। पाठक इस परिभाषाकी प्रत्येक पङ्क्ति ध्यानपूर्वक पढ़ें और आजसे ही इसके अनुकूल काम करनेका संकल्प करें।

जीवनमें तुम्हें किस वस्तुसे सच्चा लाभ होता है ? न्याय, सत्य, स्फटिक-जैसी बुद्धि और धैर्य इनके सिवा और चाहिये ही क्या ? अपने मनको स्वच्छ रखनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। बुद्धिमान् बनना हरेक मनुष्यके अपने हाथमें है। ललाट-लेखको शायद तुम बदल नहीं सकते, किंतु इष्ट और अनिष्टको समान भावसे देखना तुम्हारे अपने हाथमें है। यदि सुख पानेका और कोई तरीका तुम्हें सूझे, तो अवश्य उसका प्रयोग करो। आध्यात्मिक तत्त्व ही सबसे ऊँचा है। विचारोंको वशमें रक्खो, इन्द्रियोंका निग्रह करो, ईश्वरपर श्रद्धा रक्खो और सदा परहित-रत रहो ! शेष सब विषयोंको तुच्छ समझो ! मनको इधर-उधर न भागने दो। नहीं तो, पीछे उसके वेगका रोकना असम्भव हो जायगा। सब दुःखोंका निवारण इसीमें है। धन, दौलत, कीर्ति—यह सब वृथा हैं।

सत्यको छोड़कर प्राप्त की हुई वस्तुसे आनन्द नहीं मिल सकता। जिस वस्तुसे तुम्हारे गौरवपर बट्टा लगता हो, उससे दूर रहो। घृणा, विरोधभाव, ढोंग इत्यादिको छोड़ो। उनकी खोजमें मत पड़ो। जिस भोगको तुम दूसरोंसे छिपकर दीवार या परदेकी आड़में भोगते हो, उससे सच्चा आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? हृदयस्थित ईश्वर जिसकी अनुमति देता है उसी धर्मके अनुयायी बनो। उस सत्य मार्गपर चलनेवालेको कभी ग्लानि नहीं होगी। उसे संन्यास ग्रहण करके वनमें जानेकी आवश्यकता नहीं। उसे अपने आसपास बन्धुजनोंकी भीड़ लगाये रखनेकी भी आवश्यकता नहीं। वह हर्ष, शोक, इच्छा, द्वेषोंसे विमुक्त और निश्चिन्त रहता है। ज्ञानी मनुष्य कालसे भी नहीं डरता। प्राणोंकी उसे परवा नहीं रहती। शरीरधर्मका पालन करते हुए जैसे वह मलत्याग करता है, वैसे ही खुशी-खुशी प्राण छोड़ देता है।

पर उपकार सरिस नहिं धर्मा

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

(१)

श्यामगढ़का राजा श्यामसिंह चाहता था—नामवरी; परंतु कीर्तिकारी गुण उसमें नहीं थे। रामगढ़का राजा रामसिंह था गुणवान्। उसका नाम देशके कोने-कोनेमें फैलने लगा। श्यामसिंहको ईर्ष्या हुई। उसने अकारण रामसिंहपर चढ़ाई कर दी।

रामसिंहने विचार किया—'यदि मैं सामना करता हूँ तो बेकार हजारों आदमी मारे जायँगे। उनके बच्चे अनाथ हो जायँगे। उनकी स्त्रियाँ मुझे शाप देंगी। युद्ध नाना व्याधियोंकी जड़ है।' रामसिंह रातको महलसे निकल गया और एक पहाड़की गुफामें जा बैठा। श्यामसिंहने बिना मार-काटके महलपर अधिकार कर लिया।

प्रातः गद्दीपर बैठकर श्यामसिंहने दरबार किया और यह घोषणा की—'जो कोई रामसिंहको पकड़ लायेगा उसे एक लाख रुपया इनाम दिया जायगा।'

(२)

जिस जंगलमें राजा रामसिंह छिपे थे, वहाँ दो भाई लकड़ी काटने गये। वे लोग लकड़ी बेचकर ही जीवन-निर्वाह किया करते थे। बड़े भाईका नाम था जंगली, छोटेका नाम था मंगली। जाति चमार। अत्यन्त गरीब। घरमें दोनोंकी औरतें थीं, एक-एक बच्चा भी। कठिन कलेसमें जान थी। जिस गुफामें राजा साहब छिपे बैठे थे, उसीके पासवाले वृक्षपर वे दोनों भाई लकड़ी काटने लगे।

मंगली बोला—'धत् तेरी तकदीरकी! कहीं अभागा रामसिंह ही मिल जाता तो पकड़ ले जाता। एक लाख मिलते। सात पुस्तका दलिद्दर दूर हो जाता।'

बड़ा भाई जंगली बोला—'क्या बकता है? ऐसे दयावान्, धरमवान् और मिहरबान राजाके लिये तेरे ऐसे कमीने विचार? लानत है। तुझे देखकर नरक भी नाक सिकोड़ेगा!'

मंगलीने कहा—'मिल जाता अभागा तो मैं तो ले जाता। आखिर कोई तो ले ही जायगा? मैं ही क्यों न इनाम मारूँ?'

जंगलीने उत्तर दिया—'अगर हमारा राजा हमें मिल भी जाय, तो भी हम उन्हें वहाँ न ले जायँ। रुपया कितने दिन चलेगा? लेकिन हमारी बदनामी एक अमर कहानी बन जायगी। राम राम! ऐसी बात सोचना भी पाप है। न मालूम श्यामसिंह क्या बरताव उनके साथ करे? मार ही डाले तो?'

मंगली—कल मरता हो तो आज मर जाय। मेरे लिये उसने क्या किया? श्यामसिंह उसे पातालसे खोज निकालेगा। तुम्हारे छोड़ देनेसे वह बच नहीं जायगा। मुझीको मिल जाता—फूटी तकदीरवाला! मार देता एक लाखका मैदान! टूट जाती गलेकी फाँसी!

जंगली—नहीं नहीं! राम राम! शिव शिव! भगवान् उनकी रक्षा करें। वे फिर हमारे राजा होंगे।

(३)

यह बातचीत सुनकर राजा रामसिंह गुफासे बाहर निकलकर उस पेड़के पास चले आये। उनको देखकर दोनों भाई अचकचा गये।

राजा—मुझे ले चलो।

जंगली—नहीं महाराज! ये लड़का पागल है। इसकी बातोंपर कान मत दीजिये।

राजा—अगर मेरी जानके द्वारा किसीकी भलाई हो जाय तो क्या हर्ज है ? पर उपकार सरिस नहिं धर्मा । मुझे ले चलो ।

मंगली गुमसुम खड़ा राजाको देखने लगा ।

जंगली—हम अपनी जान देकर आपकी जान बचायेंगे—महाराज !

राजा—अच्छा तो मैं खुद ही राजा श्यामसिंहके पास जाता हूँ । कह दूँगा कि इस लकड़हारेने मुझे गुफामें छिपा दिया था ।

जंगली हँसा । बोला—'यह काम भी आप न कर सकेंगे—राजा साहब ! जो दूसरेकी भलाई किया करता है, उससे दूसरेकी बुराई हो ही नहीं सकती ।'

बातचीत सुनकर चार राहगीर वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने राजाको पहचान लिया और पकड़ लिया । जंगली भी रोता हुआ पीछे-पीछे चला । लकड़ी लेकर मंगली घर चला गया । मंगलीने मनमें कहा—'धत् तेरी तकदीरकी । जालमें आकर चिड़िया उड़ गयी ।'

(४)

श्यामसिंह—शाबास ! तुमलोग पकड़ लाये ? किसने पकड़ा ?

एक *बोला*—मैने !

दूसरा *बोला*—मैने !

तीसरा बोला—मैने !

चौथा बोला—मैंने !

श्यामसिंह—सच कहो किसने पकड़ा ?

चारों—सच कहते हैं—हमने !

रामसिंह—आप बिल्कुल सच बात जानना चाहते हैं ?

श्यामसिंह—जी हाँ !

रामसिंह—मुझे इन चारमेंसे किसीने नहीं पकड़ा ।

श्यामसिंह—फिर किसने पकड़ा ?

रामसिंह—वह जो कोनेमें कुल्हाड़ी लिये लकड़हारा खड़ा है, उसीने पकड़ा है । उसे इनामका एक लाख दीजिये ।

श्यामसिंहने इशारेसे जंगलीको अपने पास बुलाया ।

श्यामसिंह—सच कहो । मामला क्या है ?

जंगलीने आरम्भसे अन्ततक सारा किस्सा सच्चा बयान कर दिया ।

श्यामसिंहने कहा—'इन चारोंपर सौ-सौ जूते फटकार कर दरबारसे निकाल दिया जाय ।'

सिपाही लोग झपटे । चारोंको मार-पीट बाहर कर दिया । एक लाख रुपये देकर जंगलीको भी विदा कर दिया गया ।

(५)

श्यामसिंहने गद्दीपरसे कूदकर रामसिंहको छातीसे लगा लिया । फिर बोले—'जैसा सुना था—वैसे ही आप निकले । परोपकारके लिये अपनी जान भी खतरेमें डाल दी ? मैं सात जनम भी आपके चरण-रजकी समानता नहीं कर सकता । अपना राज्य लीजिये, अपना महल लीजिये और खजाना सँभालिये । मैंने आपकी परीक्षा कर ली । आप नामवरीके योग्य हैं ।'

तीन दिन मिहमानी खाकर राजा श्यामसिंह अपनी सेना लेकर अपने देशको चला गया ।

गद्दीपर बैठकर राजा रामसिंहने दरबारमें कहा—

'अपने शत्रुको मत मारो । उसमें भी जीवात्मा है । किसी उपायसे शत्रुताको मार डालो । बस—शत्रुको मानो जीत लिया ।'

आराध्य

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी०ए०, एल्-एल्०बी०)

(१)

तुम मुझसे दूर नहीं। मनमें बसे हो; आँखोंमें भरे हो।
ऐसा लगता है, मेरी पहुँचके भीतर हो; हाथ बढ़ाते ही पकड़ लूँगा।
इतने स-छवि हो उठे हो मेरे निकट !!
पर हाथ बढ़ाते ही—
ओझल नहीं होते; और चमक उठते हो,
पर अँगुलियोंके छोरसे तनिक दूर,—हाँ, तनिक ही दूर।
एक बार, दो बार, बार-बार कहानी एक-सी ही रही।

(२)

मेरे पास सब कुछ है—वह सब कुछ, जिसकी दुनियाँमें कीमत है।
दुनियाँके लिये उस सबमें सौन्दर्य है और है सुख। उसकी विकृति तो मेरी ही एकान्त अनुभूति है !!
तुम मेरे पास हो, फिर भी मेरे पास नहीं। पास होते हुए भी पहुँचसे, पकड़से दूर।
मेरी चाह है, ललक है—तुममें सान्निध्यकी।
उसके लिये मैं सब कुछ सदैव छोड़नेको प्रस्तुत रहता हूँ।
पर वही प्राप्त नहीं।
सब मुझसे अधिकाधिक लिपटे जा रहे हैं, पर मैं तो तुम्हारा स्पर्श चाहता हूँ।

(३)

ये सब मुझे भरमा सकते हैं, पर भुला नहीं।
मैं तुम्हें भूल नहीं पाता।
और—भूलूँगा भी नहीं।
मुझे कीर्ति नहीं चाहिये; वैभव नहीं चाहिये, यदि इसका अर्थ तुमसे दूर रहना है।
मैं इन सबको अपने पैरोंकी जंजीर न होने दूँगा। ये मेरी प्रगति न रोक पायेंगे।
मैं तो चलूँगा—चलता रहूँगा, जबतक तुम्हें गोदमें न भर लूँ।
और यदि कभी भी यह सुखद घड़ी न आयी,
तो—
चलता रहूँगा, चलता रहूँगा—क्यारियाँ रौंदते, झाड़ियाँ रौंदते,
तुम्हारी ओर, तुम्हें ही पकड़ने, मुस्कुराते या पैरोंमें काँटोंकी चुभन लिये, कंकड़ोंकी हूक लिये,
जबतक जीवनकी धड़कन है;
मेरा अस्तित्व है।

कामके पत्र

(१)

मान-बड़ाईसे बचिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र मिला। आपका यह लिखना ठीक है कि 'यदि लोगोंका उपकार होता हो तो अपनेको सम्मान स्वीकार करनेमें भी क्यों असम्मत होना चाहिये। बिना श्रद्धाके कोई भी मनुष्य हमारे बतलाये हुए मार्गपर चलता नहीं और श्रद्धा होनेपर सम्मान स्वाभाविक हो ही जाता है। यदि उस सम्मानमें हमारी कोई आसक्ति नहीं है तो फिर हमें उसमें क्या हानि है और क्यों हमें उसका विरोध करना चाहिये ?' इसका उत्तर यह है कि यदि आपका मन सर्वथा अनासक्त हो गया है तब तो आपके लिये कोई हानि नहीं है, परंतु उसमें भी लोकसंग्रहकी दृष्टिसे तो हानि है ही। मान लें, आप अनासक्त हैं पर सब लोग तो अनासक्त नहीं हैं; आपकी देखा-देखी उन सम्मान चाहनेवाले लोगोंको मान प्राप्त करनेमें सुविधा होगी, वे इससे अनुचित लाभ उठाना चाहेंगे और फलतः उनका पतन होगा। इस दृष्टिसे भी मानका स्वीकार करना अनुचित है। परंतु असल बात तो दूसरी ही है। मान-बड़ाईकी वासना इतनी सूक्ष्मरूपसे मनमें रहती है कि बहुत बार तो उसके अस्तित्वका प्रत्यक्ष पता ही नहीं लगता। कई बार मन ऐसा धोखा देता है कि कर्तव्य और धर्मके सुन्दर सुनिर्मल स्वरूपमें वह मोहको लाकर सामने खड़ा कर देता है और मनुष्य उसके वशमें होकर भगवान्‌के बदले मायाकी गुलामीमें लग जाता है। वह समझता है, मैं सेवा कर रहा हूँ, लोकोपकार कर रहा हूँ, और करता है तुच्छ मान-बड़ाईका दासत्व। ऐसा भी देखा गया है कि 'अमुक व्यक्ति जरा भी सम्मान नहीं चाहता, कितना बड़ा त्यागी संत है' लोगोंके द्वारा इस प्रकार समझे जाने तथा कहलानेके लिये मनुष्य मिलते हुए सम्मानका तिरस्कार कर देता है। असलमें अपना मन ही इस रहस्यको जान सकता है। पर मान-बड़ाईकी प्राप्तिमें यदि मनमें हर्ष होता हो तो जान लेना चाहिये कि मान-बड़ाईमें आसक्ति और कामना है, चाहे वह ऊपरसे न प्रतीत होती हो।

पर लोकोपकारके नामपर मान-बड़ाईका स्वीकार करना तो अधिकांशमें धोखेकी ही चीज है। मेरी तो ऐसी ही समझ है। आपकी स्थिति किस प्रकारकी है, मैं नहीं जानता; परंतु आपकी बातोंमें मुझे तो धोखा अवश्य मालूम होता है। इसीलिये मैं आपसे पुनः सावधान रहनेके लिये नम्र अनुरोध करता हूँ। लोगोंमें भजन-सत्सङ्गका प्रचार हो यह बहुत अच्छी बात है; परंतु उसका साधन 'आपका सम्मान' हो, यह आवश्यक नहीं है बल्कि यह हानिकारक है। और इसका परिणाम भजन-साधनको प्रायः घटानेवाला ही होगा, ऐसी मेरी धारणा है। जो लोग सभाओंमें मानपत्रादि स्वीकार करते हैं, आनन्दका आस्वादन करते हुए अपने मुँहपर अपनी मिथ्या प्रशंसाके गीत, काव्य और भाषण सुनते हैं और उसमें रसका अनुभव करते हैं, वे तो निश्चय ही अपने हाथों अपनी हानि कर रहे हैं। आप यह निश्चय मानिये कि मुँहपर बड़ाई करनेवालोंकी अधिकांश बातें अत्युक्तिपूर्ण और मिथ्या होती हैं। ऐसी प्रशंसाको सुनकर जो लोग अपनेको बड़ा मान लेते हैं वे वस्तुतः बुद्धिहीन हैं। सच्ची बात तो यह है कि हमारी निन्दा करनेवालोंमें लगभग आधेसे अधिक सच्ची निन्दा करनेवाले और फलतः हमें लाभ पहुँचानेवाले होते हैं। जो लोग प्रशंसा सुनकर तनिक भी हर्षके विकारसे ग्रस्त नहीं होते और निन्दा सुनकर धीरताके साथ

गहराईसे आत्मनिरीक्षण करने लगते हैं, वे ही सच्चे बुद्धिमान् साधक हैं। ×××× शेष भगवत्कृपा।

(२)

भगवान्में विश्वास करके स्वस्थ हो जाइये

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी स्थिति अवश्य शोचनीय है; परंतु निराश होने-जैसी कोई बात नहीं है और इस बातको लेकर आत्महत्या करनेका विचार तो सर्वथा ही अनुचित है। प्रथम तो आत्महत्या स्वयं एक महापाप है। आत्महत्या दुःखसे छुटकारा पानेका साधन नहीं, बल्कि दुःखरूपी ग्रन्थका एक बड़ा अध्याय और भी बढ़ानेवाला है। आत्महत्या करनेवालेको परलोकमें भीषण यन्त्रणा और अशान्तिका भोग करना पड़ता है। दूसरे, यह बात भी ऐसी नहीं है कि जिसके लिये यहाँतककी बात सोचना आवश्यक हो।

आजकल लड़कोंके और लड़कियोंके पूर्ण तरुण अवस्था होनेके पश्चात् विवाह होते हैं। स्कूल-कॉलेज और छात्रावासोंके अनियन्त्रित ही नहीं, बल्कि मन-इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाले वातावरणमें उन्हें रक्खा जाता है। गंदे श्रृङ्गारसे पूर्ण सिनेमा आदि देखे-सुने जाते हैं और कहीं-कहीं युवक-युवतियोंकी साथ-साथ पढ़ाई होती है। ऐसी अवस्थामें जीवन सर्वथा निर्दोष रहे, अपरिपक्व-बुद्धि तरुणोंमें कोई बुरी आदत न आ जाय, यह सोचना भी एक प्रकारसे पागलपन है। अरण्यवासी आचार्य-ऋषियोंके तपःपूत आश्रमोंमें सुनियन्त्रित कठोर नियमोंसे आबद्ध संयमपूर्ण जीवनमें भी 'व्रतसे स्खलन न हो जाय', इसके लिये सावधानी रखनी पड़ती थी। तब आजकलके छात्रोंमें बुरी आदतोंका आ जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पर आपने जो स्थिति लिखी है उससे यह मालूम होता है कि आपको सन्देह हो गया है। वास्तवमें आपमें वह रोग नहीं है, जिसकी आप सम्भावना करते हैं। मेरे एक परिचित नवयुवक, जिन्होंने सर्वथा अपनेको इस रोगसे ग्रस्त मान लिया था, इस समय चार संन्तानोंके पिता हैं। अतएव आपको संदेह नहीं करना चाहिये और पिता-माताके इच्छानुसार विवाह कर लेना चाहिये। विवाह होनेपर, आशा है, आपकी शिकायतें दूर हो जायँगी। इस बीचमें आप प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रका जप कीजिये। पवित्र धर्मग्रन्थोंका अध्ययन कीजिये और रात्रिके समय एकान्तमें मत सोइये। मनमें बार-बार ऐसा निश्चय कीजिये 'मैं नीरोग हूँ', 'मुझमें अमुक रोग बिलकुल नहीं है।' 'मैं स्वस्थ हूँ।' 'कोई भी बुरे विचार और बुरी आदत मुझमें नहीं रह सकती; क्योंकि सर्वशक्तिमान्, नित्य निरामय भगवान्ने मुझको अपना लिया है।' 'मैं उनका हो गया हूँ।' 'उनके संरक्षणमें हूँ।'

इस प्रकार प्रयत्न कीजिये। आशा है आप बहुत शीघ्र अपनेको स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीरका पायेंगे। भगवान्में और अपने आत्मामें श्रद्धा रखिये और स्वस्थ हो जाइये। विशेष भगवत्कृपा।

(३)

भगवान्के सामने निर्दोष रहें

प्रिय बहिन, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके पतिदेव आपके चरित्रपर मिथ्या सन्देह करते हैं और इससे आपको बड़ा दुःख है। सो तो ठीक ही है। निर्दोषके प्रति दोषारोपण होनेपर उसे स्वाभाविक ही बहुत दुःख होता है, पर उसे विश्वास रखना चाहिये कि वह यदि भगवान्के दरबारमें निर्दोष है तो उसको वस्तुतः कोई भी दोषी नहीं बना सकता। मनुष्यको ऐसा कोई भी दोषयुक्त कार्य कभी छिपकर भी नहीं करना चाहिये जिससे भगवान्की दृष्टिमें वह दोषी सिद्ध हो। बाहरसे कोई बहुत भला आदमी बना रहे, सब लोग उसे भला समझें और उसके मनमें दोष भरे हों, उसका भीतरी जीवन अपराधोंसे कलुषित हो

तो उसके बाहरके मैलेपनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वह अपने-आपको धोखा देता है। भगवान् तो धोखा खा नहीं सकते। पर जो किसी पूर्वजन्मके कर्म-फलके भोगरूपमें यहाँ दोषी, अपराधी, कलङ्की कहलाता है पर वस्तुतः उसमें दोष नहीं है, अन्तरसे परम पवित्र है, तो वह यहाँ चाहे जितना बदनाम हो जाय, भगवान् उसे कभी दोषी नहीं मानते, और उसीका महत्त्व है। आप अलग रहने या अन्य किसी प्रकारसे कुछ करनेका कभी विचार न करें। सच्चे प्रेम, श्रद्धा तथा लगनके साथ पतिदेवकी सेवा करती रहें, उनके अनुकूल चलती रहें, अपने व्यवहार-बर्तावसे उनके हृदयपर अपनी भलाईका प्रभाव डालें। साथ ही इस कलङ्कभञ्जनके लिये मन-ही-मन कातर तथा आर्तभावसे भगवान्‌से प्रार्थना भी करती रहें। कुछ ही समय बाद आपके पतिदेवका मन आपके प्रति शुद्ध हो जायगा। आपकी आभ्यन्तरिक शुद्धि तथा व्यावहारिक सच्ची सेवाका असर पड़े बिना रहेगा ही नहीं। धैर्य रक्खें और पवित्र चित्तवृत्ति, बुद्धिमानी, दृढ़ आस्था, भगवद्विश्वास, श्रद्धा, नम्रता, सेवाभाव तथा सरल निष्कपट मधुर व्यवहारके द्वारा अपना प्रभाव-विस्तार करती रहें। वे कैसे मानते हैं, इसकी ओर दृष्टि न रखकर अपने चरित्रकी पवित्रता और सेवाभावपर विशेष ध्यान रक्खें। अपने-आप ही धीरे-धीरे उनका चित्त आपके प्रति अनुकूल होता जायगा।

संसारमें झूठे कलङ्क भी लग जाया करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णपर भी मणि चुरानेका लोगोंने सन्देह कर लिया था। इसलिये घबराइये नहीं। किसी भी हालतमें सत्य और पवित्र चरित्रसे च्युत मत होइये। अन्तमें सत्यकी विजय होगी ही। आँधी आयी है, सो निकल जायगी। फिर वही निर्मल प्रकाश होगा, फिर वही यथार्थ दृष्टि होगी और उसमें सुखकी अनुभूति होगी।

सबसे आवश्यक वस्तु है भगवद्विश्वास। आप उसीका आश्रय लेकर भगवान्‌से प्रार्थना करती रहें। प्रार्थनामें बड़ी शक्ति है। उससे भगवत्कृपाकी अनुभूति होती है और भगवत्कृपा समस्त प्रतिकूलताओंको सहज ही अनुकूल बना देती है—

जा पर कृपा राम कर होई। ता पर कृपा करहिं सब कोई॥
गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

आपके मनमें भगवत्प्रेम है और प्रभुकी समीपता प्राप्त करनेके लिये आप व्याकुल हैं सो यदि ऐसी बात है तो आपका बड़ा ही सौभाग्य है। सब कुछ खोकर भी मनुष्य यदि भगवत्प्रेम प्राप्त कर ले और प्रभुकी सन्निधि प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो जाय तो जानना चाहिये कि उसका जीवन सफल हो गया। पर ऐसा माननेमें बहुत बार भ्रम होता है। मनुष्यके मनमें व्याकुलता होती है सांसारिक अनुकूलताकी प्राप्तिके लिये, और वह मान बैठता है भगवान्‌की समीपताके लिये। जिस भाग्यवान्‌के चित्तमें भगवान्‌के लिये जब यथार्थ व्याकुलता जाग्रत् हो जाती है तब भगवान् उससे अलग नहीं रह सकते। जब क्षणमात्रका विलम्ब वस्तुतः असह्य हो जाता है तब क्षणमात्र बीतनेके पहले ही प्रभु उसके पास पहुँच जाते हैं। आपके मनमें प्रभुके लिये जितना भी प्रेम और जितनी भी व्याकुलता है, वही बहुत सौभाग्य है! आप इस प्रेम तथा व्याकुलताको बढ़ाइये पर इस बातको याद रखिये और आपके लिखनेके अनुसार आप यह भूल भी नहीं रही हैं कि आर्य-स्त्रीके लिये भगवान्‌की प्राप्ति पतिरूप परमेश्वरके द्वारा ही होती है। पति कितनी ही उपेक्षा करें, आप उपेक्षा न करें। आर्य-स्त्री पतिके द्वारा परित्यक्ता होनेपर भी पतिकी मङ्गलकामना करती है और इसीमें अपना सौभाग्य समझती है। आप भी इसी आदर्शका अनुकरण कीजिये।

आपको विद्यासे बहुत अनुराग है, सो बड़े

आनन्दकी बात है, विद्या वस्तुतः बड़ी ही उत्तम वस्तु है। असली विद्या तो अध्यात्मविद्या है जिसके द्वारा भगवान्की पहचान होती है। ········शेष भगवत्कृपा।

(४)

मृत्युपर शोक नहीं करना चाहिये

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। कुछ दिनों पूर्व तुम्हारा लिखा एक कार्ड मिला था।········उस दिन अकस्मात् श्री········के पत्रसे भाई········की बीमारीका समाचार मिला और तीसरे ही दिन उनके शरीर-त्यागका समाचार मिल गया! शरीरके सम्बन्धको लेकर लौकिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह बड़ी ही दुःखद घटना प्रतीत होती है। मेरे प्रति उनका जो प्रेमभाव था, उसकी इस समय तीन दिनोंसे बहुत ही स्मृति हो रही है। उनके-जैसे सरल हृदय निष्कपट पुरुष इस युगमें बहुत ही थोड़े हैं। उनमें कई आदर्श गुण ऐसे थे जिनकी स्मृति और अनुशीलनसे जीवनमें पवित्रताका सञ्चय हो सकता है। सत्सङ्गी भाइयोंमें उनके-जैसे दम्भ और मत्सरसे रहित श्रद्धालु पुरुष विरले ही हैं। उनके-जैसे पुरुषका हमलोगोंके बीचसे उठ जाना अवश्य ही मर्मभेदी है और ऐसी अवस्थामें चित्तका शोकाकुल होना स्वाभाविक ही है, परंतु भैया! शरीरका यह परिणाम अवश्यम्भावी है। दो दिन आगे-पीछे सबकी यही गति होनेवाली है। हमलोगोंको शोक होता है ममत्व और स्वार्थवश। जिसमें ममत्व नहीं होता या किसी स्वार्थसाधनकी तनिक भी आशा नहीं होती, उसके वियोगमें दुःख नहीं होता। शत्रुभाव होनेपर तो मनुष्यको उसकी मृत्युमें द्वेषवश सुख होता है। पुत्रशोकसे व्याकुल राजा चित्रकेतुको समझानेके लिये नारदजीने जब राजपुत्रके आत्मासे अनुरोध किया तब उस आत्माने राजासे कहा कि 'तुम मेरे लिये क्यों शोक कर रहे हो? मैं अपने कर्मवश देव-मनुष्य, पशु-पक्षी आदि विविध योनियोंमें भटका करता हूँ। वहाँ किस योनिमें तुम लोग मेरे माता-पिता होते हो। मेरे मर जानेपर तुम्हें मुझे पुत्र समझकर शोक हुआ है, उसके बदले मुझे तुम शत्रु समझकर हर्ष क्यों नहीं मानते? क्योंकि ये शत्रु-मित्र और पिता-पुत्रके सम्बन्ध तो बदलते ही रहते हैं। शरीरके सम्बन्धसे ही ममत्वके कारण दुःख-सुख होता है। आत्मा सङ्गरहित, पुत्र-पिता और शत्रु-मित्रादि भावसे रहित और नित्य है, वह सुख-दुःखादि कुछ भी नहीं भोगता। तुमलोग मुझे अपना पुत्र क्यों समझते हो, मेरा तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।'

भाई! यहाँके सभी सम्बन्ध आरोपित हैं। अपना-अपना कर्मफल भोगनेके लिये जीव विविध योनियोंमें आते हैं, और कर्मफल भोगकर चले जाते हैं। इसमें शोककी वास्तवमें कोई बात नहीं है। फिर········की मौत जैसी परिस्थितिमें हुई है, वह तो ईर्ष्या उत्पन्न करनेवाली है। मृत्युका ऐसा सुअवसर किसको कब मिलता है। पुण्यभूमि ऋषिकेशमें ब्रह्मद्रवरूपा भगवती भागीरथीके पावन तटपर भक्तोंसे घिरे हुए, भगवन्नाम-कीर्तन और श्रीगीताजीकी पतितपावनी ध्वनिको कर्णपथसे हृदयमें धारण करते हुए और सच्चे महात्मा पुरुषोंके आश्रयमें शरीर-त्यागका सौभाग्य सहज ही किसको मिलता है? यह तो भाई श्री····के पुण्यपुञ्जका प्रभाव और उनकी जीवनमयी सत्सङ्गति और भगवच्छरणागतिका दुर्लभ फल है। ऐसी मृत्यु चाहनेपर नहीं मिलती। जब अभिमन्युके निधन होनेपर पाण्डव-परिवार शोकसागरमें डूबने लगा, श्रीसुभद्राजीकी दशा शोचनीय हो गयी तब श्रीभगवान्ने उनसे कहा था—

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं वीरजा वीरबान्धवा।
मा शुचस्तनयं भद्रे! गतः स परमां गतिम्॥

तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च।
सन्तो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रकः॥
(महा० द्रोण० ७७ । १६-१७)

ये चान्येऽपि कुले सन्ति पुरुषा नो वरानने।
सर्वे ते तां गतिं यान्तु ह्यभिमन्योर्यशस्विनः॥
(महा० द्रोण० ७८ । ४१)

'हे भद्रे! तुम वीरमाता हो, वीरपत्नी हो, वीरपुत्री हो और वीरकी बहिन हो। तुम्हारा पुत्र परमगतिको प्राप्त हुआ है, उसके लिये शोक न करो। तुम्हारे पुत्रको वही दुर्लभ गति मिली है जिसको संतगण तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और प्रज्ञासे प्राप्त करना चाहते हैं। मैं तो यह चाहता हूँ कि हमारे कुलमें और भी जो लोग हैं, सब इसी यशस्वी अभिमन्युकी गतिको प्राप्त करें।'

अतएव········का आदर्श मरण देखकर, भैया! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। माताजीको मेरा सादर यथायोग्य कहकर मेरी ओरसे उन्हें समझाना चाहिये। उन्हे अपने मनमें इस बातका गौरव करना और अपना सौभाग्य समझना चाहिये कि वे इस प्रकारकी दुर्लभ मृत्यु पानेवाले पुण्यशील पतिकी धर्मपत्नी हैं। पतिके सुखमें सुखी होनेवाली पत्नीको पतिकी शुभगति होने जानकर प्रसन्न ही होना चाहिये। जिस बातमें पतिकी आत्माको सुख हो, उसका कल्याण हो, वह बात देखनेमें परम दुःखप्रद होनेपर भी प्रेमके कारण पत्नीके मनमें सुख उपजानेवाली होनी ही चाहिये। पतिव्रता अपना सुख नहीं चाहती, वह पतिको सुखी देखकर ही सुखी होती है, चाहे पतिका वह सुख लौकिक दृष्टिसे अपने लिये कितना ही दुःखजनक माना जाता हो।

भैया! वियोग और संयोगमें जो दुःख और सुख होता है, वह अपने ही लिये होता है। हम वियोगमें अपनेको किसी लाभसे वञ्चित और संयोगमें लाभसे समन्वित समझते हैं, इसीसे हमें दुःख-सुखकी प्रतीति होती है। हमें उस जीवके सुख-दुःखका उतना खयाल नहीं होता। पर प्रेममें इस खयालकी बड़ी आवश्यकता है। फिर एक बात यह भी खयालमें रखनेकी है कि अनित्य वस्तुका नित्य संयोग असम्भव है। यह तो भगवान्‌की लीला है। हम सब उसके इस जगन्नाटकमें लीलापात्र हैं। घर स्टेज है, इसमें अभिनेताओंको अपना-अपना पार्ट करना है। यहाँ अपना कौन है। नये-नये सीन आयेंगे ही, यह समझकर शोकको नष्ट करना चाहिये। जब आत्मा अविनाशी है और शरीर क्षणभङ्गुर है ही तब शोक कैसा? तुम गीता पढ़ते हो। तुम्हारी सत्सङ्गमें प्रीति है। अभी घरके मोहमें आसक्त भी नहीं हो। इससे सम्भव है तुमको शोक कम होगा। परंतु माताजीका शोक सहज नहीं है। मेरा तुमसे यह अनुरोध है कि तुम अब यथासाध्य सभी प्रकारसे माताजीको सन्तुष्ट रखनेकी चेष्टा करना। तुम्हारा प्रत्येक बर्ताव उनके दुःखानलमें शीतल जलकी धारा बहानेवाला होना चाहिये। भूलकर भी ऐसा कोई व्यवहार न कर बैठना, जो शोककी आगमें आहुतिका काम दे। तुम्हारा परम कल्याण मेरी समझसे अब माताजीके चित्तको सन्तोष पहुँचानेमें ही है। इसीको भगवत्सेवा समझकर करना चाहिये।

भैया! संसार अस्थिर है, यहाँ सभी कुछ जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिशील है। इस अस्थिर, अनित्य और दुःखालयमें स्थिरता, नित्यता और सुख कहाँ है? इसमें जो आनन्द है वह तो नित्य, सनातन, अचल, अनन्त श्रीभगवान्‌के आनन्दरूपको लेकर ही है। उसे पानेपर फिर दुःखका स्वप्नमें भी लेश नहीं रहता और उसकी प्राप्ति न होनेतक लौकिक दृष्टिसे ऊँची-से-ऊँची अवस्थामें भी चित्तमें दुःखका दावानल धधकता रहता है। इसीसे श्रीभगवान्‌ने घोषणा की है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

माताजीको धीरज बँधाना, समझाना और सेवाद्वारा उनके दु:खको हल्का करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम भी मनमें साहस, धैर्य रखना। विवेक और भगवच्छरणागतिके भावोंसे चित्तको क्षोभरहित बनाये रखनेका प्रयत्न करना।

मैं तुम्हें लिखनेको तो बहुत लिख गया। परंतु········की स्मृतिसे मेरा चित्त भी विगलित हुआ जा रहा है। काशीमें मेरे तो वे एक बड़े भारी आधार थे; परंतु इस स्मृतिसे क्या होता है।

(५)

भविष्यके लिये शुभ विचार कीजिये

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी पारिवारिक स्थितिसे आपको असन्तोष है, पिताजीके व्यवहारसे आपको क्षोभ होता है और आप आवेशमें आकर गृह-त्यागका और कभी-कभी देह-त्यागका विचार करते हैं। सो मेरी समझसे आपको ऐसा विचार भूलकर भी नहीं करना चाहिये। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है जिसके मनकी ही सब बातें होती हों। भगवान्का मङ्गल विधान मानकर प्रतिकूलतामें अनुकूलताका अनुभव करनेसे ही चित्तमें शान्ति हो सकती है। जहाँ आप भगवान्के मङ्गल विधानमें विश्वास करने लगेंगे, वहीं लौकिक परिस्थिति भी बदलने लगेगी। प्रतिकूल भी अनुकूल होने लगेंगे। पर वे न भी होंगे, तो भी आपका क्षोभ तो मिट ही जायगा। भावी जीवनको सङ्कटमय न देखकर सुखमय देखनेका सङ्कल्प कीजिये। जो मनुष्य रात-दिन दु:ख, क्लेश, सङ्कट और असफलताका चिन्तन करता है, वह क्रमशः दुखी, क्लेशित, सङ्कटापन्न और असफल ही होता है। मनुष्यकी अपनी जैसी दृढ़ भावना होगी, वैसी ही परिस्थितिका निर्माण होगा और अन्तमें वह वैसा ही बन जायगा। आपके भगवान् सर्वसमर्थ हैं, आपके परम सुहृद् हैं, उनकी कृपापर विश्वास करके भविष्यको अत्यन्त उज्ज्वल तथा सुखमय देखनेका अभ्यास कीजिये। ध्रुव, प्रह्लाद, भरत आदिके इतिहासको याद कीजिये। भगवान्की कृपासे क्या नहीं हो सकता और उनकी कृपा आपपर अपार है। इस बातपर विश्वास कीजिये। भगवान्ने अपनेको स्वयं समस्त प्राणियोंका सुहृद् बतलाया है। आप घबराइये नहीं। मनमें जो देहत्याग आदिके असत् विचार आते हैं इनको निकालकर मनमें बार-बार ऐसे विचार लाइये कि आप सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर अकारण प्रेमी भगवान्के परम प्यारे हैं। उनकी कृपा-सुधाधारा निरन्तर आपपर बरस रही है। आप उनके लाड़ले पुत्र हैं। उनकी कृपासे आपकी सारी विपदाएँ, सारी अड़चनें स्वत: ही दूर हो जायँगी। उनकी घोषणा है—'तुम मुझमें चित्त लगा दो, मेरी कृपासे सारी कठिनाइयोंसे तर जाओगे।' आपकी प्रत्येक स्थितिसे वे परिचित हैं और सदा आपके कल्याण-साधनमें लगे हैं। उनकी कृपाशक्तिके सामने, आपपर विपत्ति डालनेवाली कोई भी शक्ति कुछ भी नहीं कर सकेगी। आपकी वे सब प्रकारसे वैसे ही रक्षा करेंगे, जैसे स्नेहमयी माता बच्चेकी रक्षा करती है। आप किसी प्रकार भी निराश, उदास और विषादग्रस्त मन होइये। भविष्यको सङ्कटापन्न और अन्धकारमय देखनेका अर्थ है, भगवान्की कृपापर विश्वास न करना। आप जप-कीर्तन तथा भजन करते हैं सो बड़ी अच्छी बात है पर जप-कीर्तन और भजनका प्राण तो भगवान्पर विश्वास है। विश्वासहीन भजन निष्प्राण होता है। घरवाले यदि आपके भजन-कीर्तनसे नाराज हैं तो मन-ही-मन भजन कीजिये। मन-ही-मन करनेको कोई भी नहीं रोक सकता। शेष भगवत्कृपा।

(६)

भगवद्भक्तिसे हानि नहीं होती

प्रिय बहिन ! आपका पत्र मिला । आप लड़कपनसे ही यथाशक्ति पूजन-पाठ तथा जप करती हैं । आपके दो पुत्र चले गये । अब तीसरा बच्चा हुआ है । पर आपकी माताजी कहती हैं कि 'इस पूजा-पाठके कारण ही पहले बच्चे मर गये थे । तुम्हारे पूजा-पाठसे इस बच्चेका भी अनिष्ट हो जायगा ।' सो यह उनका भ्रम है । भलेका फल कभी बुरा नहीं हो सकता । भगवान्‌की भक्ति, भगवान्‌के नाम-जप तथा अपने घरमें भगवान्‌की पूजा करनेका सभीको अधिकार है । स्त्री हो या पुरुष—यह सभीके लिये मङ्गलकारी कार्य है । भगवान्‌की भक्तिसे पुत्रोंके मरनेका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण सब प्रारब्धके फल हैं । भगवद्भक्तिसे तो सकामभाव होनेपर ये प्रारब्धके विधान उलटे टल सकते हैं । न टलें तो भी अमङ्गल तो होता ही नहीं । मनुष्य-जीवनकी सफलता ही भगवान्‌की भक्तिमें है । आपको बड़ी नम्रता, विनय तथा सेवा करके माताजीको यह बात समझानी चाहिये । विवाद-झगड़ा कभी नहीं करना चाहिये ।

फिर भी यदि माताजीको इससे बहुत ही दुःख होता हो तो आप धीरे-धीरे अपने भक्तिके भावको मनके अंदर ले जाइये । मनसे आप भगवान्‌को याद करेंगी, उनकी मानसिक पूजा करेंगी तो उससे कोई आपको रोक नहीं सकता । न किसीको पता ही लग सकता है । फिर किसीकी नाराजीका कोई प्रश्न ही नहीं रह जायगा । और असलमें जितना महत्त्व मानसिक भावोंका है, उतना बाहरी पूजाका है भी नहीं । पर इसका यह अर्थ नहीं मानना चाहिये कि मैं बाहरी पूजाका निषेध करता हूँ । बाहरी पूजा भी अवश्य करनी चाहिये परंतु भीतरीके साथ-साथ । और जहाँ-कहीं उससे कोई उपद्रव खड़ा होता हो, (चाहे वह किसीकी भूलसे हो) वहाँ तो ज्यादा अभ्यास भीतरीका ही करना चाहिये ।

अन्तमें आपकी माताजीसे भी मेरी प्रार्थना है कि वे इस वहमको छोड़ दें । भगवान्‌की भक्ति और पूजा स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं और भगवान्‌की भक्ति-पूजासे लोक-परलोकमें कल्याण ही होता है । उसको रोकना, भक्ति करनेवालेका विरोध करना पाप है और उससे परिणाममें दुःख होता है । घरवालोंका तो यह परम धर्म होना चाहिये कि वे समझाकर, विनय करके, सेवा करके सभी घरवालोंको भगवान्‌की भक्तिके मार्गमें लगावें । वही सच्चा घरका मित्र, बन्धु और हितैषी है जो अपने घरवालों, मित्रों और बन्धुओंको भगवान्‌की ओर लगाता है—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान तें प्यारो ।
जासों होय सनेह राम-पद एतो मतो हमारो ॥

शेष भगवत्कृपा ।

श्रीमान् लाल साहेब श्रीशरणसिंहजीने गीताकी टीकाके सम्बन्धमें श्रीजयदयालजी गोयन्दकाको पत्र लिखा था, उसका उत्तर श्रीजयदयालजीने निम्नलिखित रूपसे दिया था, जो उनके इच्छानुसार प्रकाशित किया जाता है । 'आपने कहा तुम अपनी टीकापर ऐसा चिह्न बना दो जिसमें तुम्हारे समाजकी टीका मालूम हो सो यह चिह्न तो उसपर अपने-आप ही बना है । टीकाकारके स्थानपर मेरा नाम है ही और भूमिकामें सब कुछ लिख दिया है ही ।' इसपर भी कोई न समझें तो उनको समझानेका काम आपका है ।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस समय समस्त विश्वमें हाहाकार मचा है। सब ओर अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, कलह, कलुष, संग्राम और संहार बढ़ रहे हैं। धर्म तथा ईश्वरके प्रति बढ़नेवाली अश्रद्धासे मनुष्य पिशाच हुआ चला जा रहा है। इसीसे आधिदैविक दुःख भी बढ़ रहे हैं। भूकम्प, बाढ़, अवर्षा, अकाल, अन्नकष्ट, व्याधि आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। पता नहीं, ये उपद्रव कितने और बढ़ेंगे। ऐसी दशामें इस विपत्तिसे त्राण पानेके लिये श्रीभगवान्‌का आश्रय ही एकमात्र उपाय है। भगवदाश्रयके लिये भगवन्नामका आश्रय आवश्यक है। भगवन्नामसे ऐसा कौन-सा विघ्न है जो नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है जो नहीं मिल सकती। प्रतिबन्धक प्रबल होनेपर देर भले ही हो जाय, परंतु नामका अमोघ फल तो होगा ही। इस घोर कलियुगमें तो जीवोंके लिये भगवन्नाम ही एकमात्र अवलम्बन है। अतएव भारतवर्ष तथा समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये तथा साधकोंके परम लक्ष्य एवं मानव-जीवनके परम ध्येय भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबको भगवन्नामका जप-कीर्तन करना चाहिये। 'कल्याण' के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक तथा सभी पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं। प्रतिवर्षकी भाँति गतवर्ष २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी। प्रसन्नताकी बात है कि चार सौसे अधिक स्थानोंसे सहस्रों नर-नारियोंने करोड़ों मन्त्रोंका जप किया है। स्थानोंकी सूची और मन्त्र-संख्या आगामी अङ्कमें प्रकाशित की जायगी। हम इन सभी जापकोंके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं।

इस वर्ष भी अपने देशके, धर्मके तथा विश्वके कल्याणके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करके 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंको नाम-जप करना-कराना चाहिये। गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की जाती है। आगामी कार्तिक शुक्ला १५ से जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ल १५ तक हो। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्‌का नाम इतना प्रभावशाली होनेपर भी इसका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे करवायें। नियमादि सदाकी भाँति हैं।

यह आवश्यक नहीं कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न

हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है । किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं । भगवन्नामका जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है । भगवन्नामकी शरणागति अमोघ है और वह महान् भयसे तारनेवाली होती है ।

जो लोग जपका नियम करें-करावें, वे नीचे लिखे अनुसार जोड़कर सूचना भेजनेकी कृपा करें ।

मेरा तो विश्वास है कि यदि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो शीघ्र ही हमारी प्रार्थनासे भी बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है । अतएव सबको इस महान् पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये ।

१. जप किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, इस नियमकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ को समझनी चाहिये । उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत उत्तम है ।

२. सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

३. प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये ।

४. सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें । जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं । सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल अपना नाम और पता लिख भेजें ।

५. संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं । उदाहरणार्थ—यदि ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिन मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है । जिसमें भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद कर देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं । जिस दिनसे जो भाई जप करें उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब भी इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये ।

६. संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है ।

७. सूचना भेजनेका पता—नाम-जप-विभाग 'कल्याण' कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—हनुमानप्रसाद पोद्दार
कल्याण-सम्पादक

रसना साँपिनि, बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम ।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम ॥
राम नाम रति, राम गति, राम नाम बिस्वास ।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल, चहुँ दिसि तुलसीदास ॥

प्रकाशित हो गयी ! *तीन नयी पुस्तकें !!*

पातञ्जलयोगदर्शन

हिंदी-व्याख्यासहित

(व्याख्याकार—श्रीहरिकृष्णदास गोयन्दका)

आकार २०×३०-१६ पेजी, सचित्र, पृष्ठ १७६, मूल्य ।।।), डाकव्यय ।=); सजिल्द १), डाकव्यय ।।)

इसमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन सम्पूर्ण मूल, उसका शब्दार्थ एवं प्रत्येक सूत्रका दूसरे सूत्रसे सम्बन्ध दिखाते हुए उन सूत्रोंकी सरल भाषामें व्याख्या की गयी है। साथ ही विषय-सूची तथा अकारादिक्रमसे सूत्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दी गयी है। योगसूत्रोंका अभिप्राय समझनेके लिये यह पुस्तक बड़ी उपादेय है।

भगवान्पर विश्वास

(सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार)

आकार २०×३०-१६ पेजी, पृष्ठ ६४, मूल्य ।) चार आनामात्र।

यह पुस्तिका अमेरिकाके 'यंगमेन्स क्रिश्चियन असोसियेशन' के द्वारा प्रकाशित The Practice of the Presence of God पुस्तिकाके आधारपर लिखी गयी है। इसमें फ्रांसके भगवद्भक्त भाई लारेंसके चार सम्भाषण और पंद्रह पत्रोंका भावानुवाद है, जो 'कल्याण'में क्रमशः छप चुका है। पहले इनका नाम निकोलस हरमन था। भगवान्के प्रति अटूट श्रद्धा, भक्ति, रति और विश्वासके फलस्वरूप इनका जीवन उत्तरोत्तर उन्नत होता गया; अन्तमें ये परम संतकी कोटिमें पहुँच गये एवं भाई लारेंसके नामसे प्रख्यात हुए। इसमें उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटनाओंका उल्लेख है। भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास बढ़ानेमें यह पुस्तिका अच्छी सहायता कर सकती है।

प्रार्थना

आकार २०×३०-१६ पेजी, पृष्ठ ५६, सचित्र, मूल्य =) तीन आनामात्र।

इस पुस्तिकामें २१ गद्यमय प्रार्थनाओंका संग्रह है, जिनमेंसे कुछ 'कल्याण'में प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इनमें लेखकके हृदयके सच्चे उद्गार हैं। ये उद्गार बहुत ही भावपूर्ण और सुन्दर हैं। साधकोंको भगवान्के प्रति नित्य किस प्रकार अपनी सरल भाषामें सच्चे हृदयसे करुणाभावपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये, यह इस पुस्तिकासे सीखने योग्य है।

—व्यवस्थापक, गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याणके पाठकोंसे विनीत प्रार्थना

इधर कुछ समयसे हमलोग पुराने हस्तलिखित शास्त्रीय ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयत्न कर रहे हैं, वह इसलिये कि इन ग्रन्थोंकी रक्षा हो। बहुत-से स्थानोंमें आजकल पुराने ग्रन्थ असावधानी तथा रक्षाकी सुव्यवस्था न होनेके कारण नष्ट हो रहे हैं। अतएव हमारी 'कल्याण'के प्रत्येक पाठकसे प्रार्थना है कि वे वेद-वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र और धर्मशास्त्र आदि विषयोंके संस्कृत, हिंदी, बंगला ग्रन्थ पुराने कागजों-पर या ताड़पत्रोंपर लिखे हुए संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें। व्रजभाषाका अमुद्रित साहित्य किन्हींके पास हो तो वे भी भेजनेकी कृपा करें। खर्च हम देंगे और यदि कोई सज्जन उचित मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जायगा।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

श्रीहरिः

विश्वानन्दकदम्बसंपदमतिस्निग्धं तमालद्युतिं
दृष्ट्वा निर्भरविभ्रमं घन इति त्वां संगता विद्युतः ।
त्वद्रूपामृतसिन्धुसंगमवशात् प्राप्याम्बरप्रच्यवं
चाञ्चल्यात् किमु नन्दनन्दन भवत्पीताम्बरत्वं दधुः ॥

(श्रीमधुसूदन सरस्वती)

नन्दनन्दन ! सम्पूर्ण आनन्दराशिको अपने कलेवरमें एकत्र किये हुए, अत्यन्त स्निग्ध, तमालके समान श्यामवर्ण एवं पूर्ण विलास (हाव-भाव) से युक्त तुम्हारे श्रीविग्रहको बादल समझकर विद्युन्माला उससे लिपट गयी । किंतु चञ्चलतावश तुम्हारी रूप-माधुरीके अमृतसिन्धुमें गोता लगानेके कारण वह आकाशरूप अपने आश्रयसे च्युत हो गयी । इसीलिये क्या वह पीताम्बर बनकर सदाके लिये तुम्हारी शरण पा गयी ? (सच है, आश्रयहीन होकर तुमसे मिलनेपर ही तुम्हारा सर्वोत्तम आश्रय प्राप्त होता है और तुम्हारा दुर्लभ आश्रय पा लेनेपर दूसरे किसी आश्रयकी अपेक्षा नहीं रहती । क्योंकि सारे आश्रयोंके परम आश्रय तुम्हीं तो हो । आकाश भी तुम्हारे ही आश्रित है !)
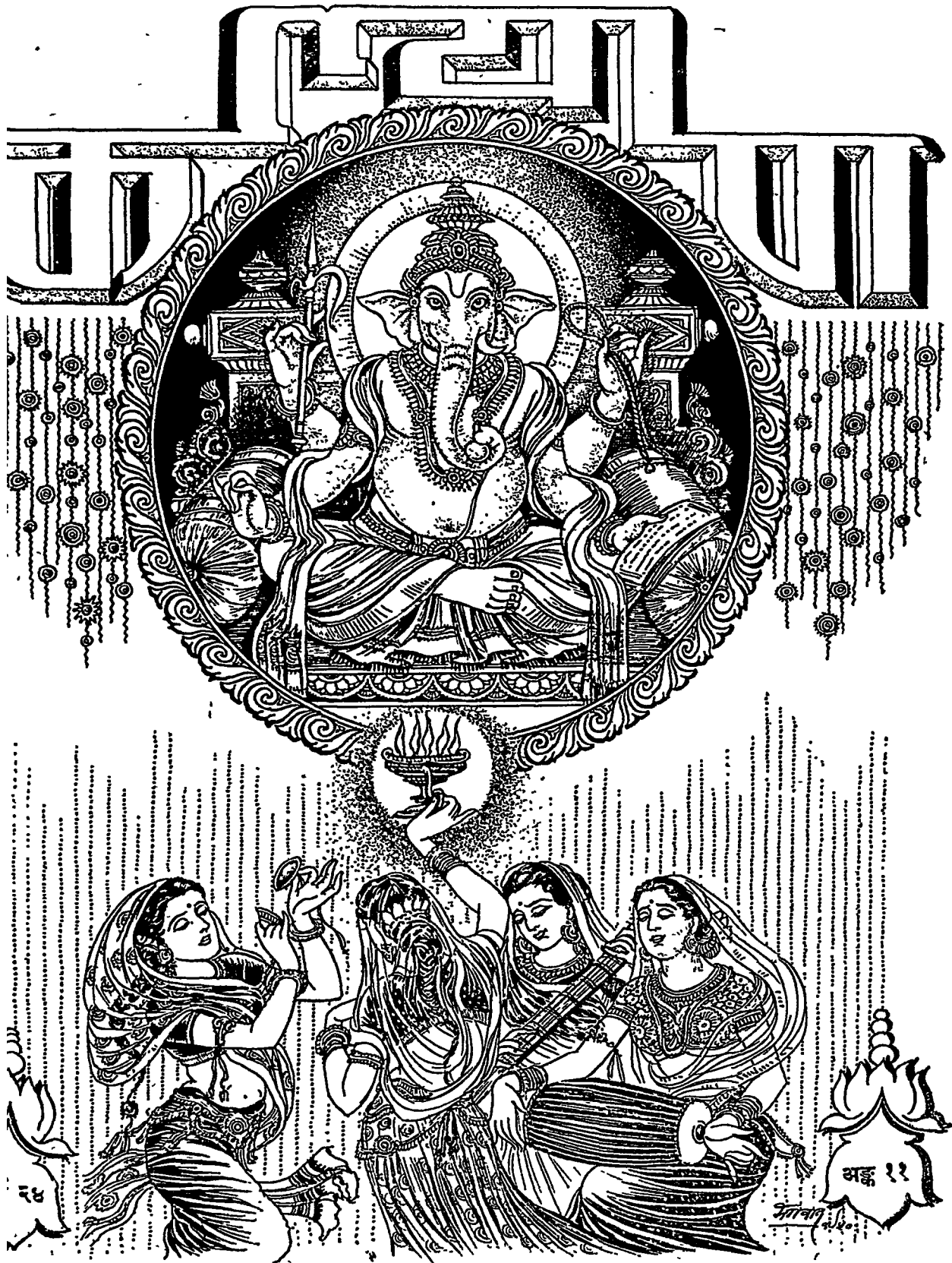
२४
अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २००७, नवम्बर १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥–) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

कृपालु और प्रेमी ग्राहकों तथा पाठकोंसे प्रार्थना

यह चौबीसवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क प्रकाशित हो जानेपर इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा। पचीसवें वर्षका पहला अङ्क (विशेषाङ्क) 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' होगा। भारतीय वाङ्मयमें पुराण-साहित्यका विशेष महत्त्व है। पुराणोंमें स्कन्दपुराण प्रधान है। इसमें तीर्थ, देवता, पर्व और मासादिके माहात्म्यके प्रसङ्गमें भगवान्‌के तत्त्व, स्वरूप, रहस्य, लीला, महत्त्व और चरित्रोंको लेकर बड़ी सुन्दर-सुन्दर कथाएँ दी गयी हैं। परंतु यह पुराण बहुत बड़ा है और मूल संस्कृतमें है, इस कारण सर्वसाधारण इसके लाभसे प्रायः अभीतक वञ्चित ही है। इसीलिये इसके विशेष-विशेष उपयोगी स्थलोंको चुन-चुनकर उनका सरल सुन्दर हिंदी अनुवाद इस अङ्कमें देनेका प्रयत्न किया गया है। अतः इस अङ्कमें बहुत ही रोचक, शिक्षाप्रद तथा लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली अनेकों सुरुचिपूर्ण सुन्दर ऐसी कथाएँ रहेंगी, जिनके पढ़नेमें बालक, वृद्ध, युवा सभी नर-नारियोंका मन लगेगा और उनका उपकार होगा।

साथ ही, इसमें भगवान् विष्णु, भगवान् शङ्कर, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण आदिके तथा भक्तोंके एवं अन्यान्य कथा-प्रसङ्गोंके सैकड़ों सादे, इकरंगे तथा बहुरंगे सुन्दर चित्र दिये जायँगे। जिससे यह अङ्क और भी सुन्दर, सुगम, सुबोध और विशेष आकर्षक तथा संग्रहणीय हो जायगा। इसमें पृष्ठ-संख्या लगभग ८०० होगी। यदि एक अङ्कमें संक्षिप्त स्कन्दपुराणकी पूरी सामग्री नहीं जा सकेगी तो अगले कुछ अङ्कोंमें वही और दी जायगी। उसके बादके अङ्कोंमें सदाकी भाँति पारमार्थिक विविध विषयोंपर अनुभवी तथा विद्वानोंके लेख रहेंगे। वार्षिक मूल्य ७॥) रक्खा गया है। इसमें 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' (विशेषाङ्क) मिलेगा और ग्यारह महीनोंतक प्रतिमास एक-एक साधारण अङ्क मिलता रहेगा।

अबतकके प्रकाशित 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनके लिये पहलेसे रुपये भेजकर ग्राहक नहीं बन जानेवालोंको निराश ही रहना पड़ा है। उन विशेषाङ्कोंके लिये अबतक हमारे पास बड़ी आग्रहपूर्ण माँगें आती हैं; परंतु अङ्क न होनेसे हमें सबको निराशापूर्ण उत्तर लिखना पड़ता है। अतएव नये-पुराने जिन सज्जनोंको ग्राहक बनना हो, वे मनीआर्डरसे ७॥) रुपये तुरंत भेजनेकी कृपा करें जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित हो जाय। मनीआर्डर-फार्म दसवें अङ्कके साथ भेजा जा चुका है।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं। अतएव सब पत्र-व्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय और मनीआर्डरके कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। मनीआर्डर-कूपनमें ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये तथा नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रवन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये, और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग।

सजिल्द विशेषाङ्क चाहनेवालोंको १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये। इस वर्ष जिल्दों-की जुजबन्दीकी सिलाईकी व्यवस्था की गयी है।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये।

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजना चाहें, वे पूरी बीमा वेंचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्डपत्रसे रुपये न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'की नहीं होगी।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

भूल-सुधार

'कल्याण' की आठवीं संख्यामें 'भक्त-गाथा' शीर्षकमें श्रीश्रीमहाप्रभु श्रीहितहरिवंशचन्द्रजीका जीवनचरित्र छपा है, उसमें पृष्ठ १३१५ में माघ शुक्ला एकादशीको उनके जन्म होनेकी बात छपी है, उसे 'माघ'के बदले 'वैशाख' पढ़ना चाहिये। और पृष्ठ १३१८ में 'सं० १६०७ वि० शारदीयपूर्णिमाके दिन आपने निकुञ्जलीला-में प्रवेश किया' छपा है। इसमें संवत् १६०७ की जगह १६०९ होना चाहिये। पाठक कृपया इन दोनों भूलोंको सुधार लें।

एक प्रार्थना

आजकल कल्याण-सम्पादकके तथा मेरे व्यक्तिगत नामसे आनेवाले पत्रोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। मेरे कई साथी पत्रोंका उत्तर लिखते रहते हैं एवं कुछका उत्तर मैं स्वयं लिखता हूँ, इतनेपर भी सब पत्रोंका उत्तर नहीं लिखा जाता। शङ्काओंके लंबे-लंबे पत्र आते हैं, जिनके उत्तरमें बहुत समय लगता है। अतएव समस्त महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे आवश्यक कार्य होनेपर ही मुझे पत्र लिखें एवं किसी पत्रका उत्तर न पहुँचे तो कृपया अप्रसन्न न हों तथा मेरी विवशता देखकर क्षमा करें।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

देशके सर्वमान्य विद्वानों, महानुभावों तथा पत्र-पत्रिकाओंके द्वारा प्रशंसित, हमारे महान् देशकी विश्वकल्याणकारिणी सर्वगुणसम्पन्न संस्कृतिके आदरणीय स्वरूपका दिव्य दर्शन करानेवाले 'कल्याण' के हिंदू-संस्कृति-अङ्ककी कुछ प्रतियाँ अभी शेष हैं। जिनको पूरे वर्षके अङ्क लेने हों वे ७।।) तथा जिनको केवल हिंदू-संस्कृति-अङ्क लेना हो वे ६।।) कृपया मनीआर्डरसे शीघ्र भेज दें। मनीआर्डर-कूपनमें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के लिये रुपये भेजे जा रहे हैं यह स्पष्ट लिख दें। जो सज्जन वी० पी० से मँगवाना चाहें वे पत्रद्वारा आदेश देनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

छवि-माधुरी

नंदनँदनसों हेत कहा है मोहि न कहि समुझावै।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ | गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २००७, नवम्बर १९५० | संख्या ११
पूर्ण संख्या २८८

छबि-माधुरी

क्यों री ! तू घरी घरी यहाँ आवै ?
नंद-नँदनसों हेत कहा है मोहि न कहि समुझावै ॥
दीपक बार द्वार मंदो करि फिरि वारनकौं धावै ।
हिय अँधियारो उजारौ चाहै ता दीपक मन लावै ॥
मनि-माला आँगनमें लै करि तोरि डारि बगरावै ।
बीनन मिस मोहन अवलोकत या विधि पहर वितावै ॥
कहत जसोदा सुनौ सखी री ! जिन बरजौ याहि भावै ।
रामकृष्ण गिरधरन छबीलो इनहिं निरखि सचु पावै ॥

कल्याण

याद रक्खो—जगत्‌में जितने भी चराचर प्राणी हैं, सबके अंदर आत्मा तथा अन्तर्यामी रूपसे भगवान् विराजमान हैं। भगवान् ही उन सब रूपोंमें प्रकट हैं। अतएव उनकी सेवा करना, उन्हें सुख पहुँचाना और उनका हित करना तुम्हारा धर्म है।

याद रक्खो—यदि तुम जगत्‌के प्राणियोंसे द्वेष-द्रोह करते हो, कठोर वचन कहकर उन्हें मर्म-पीड़ा पहुँचाते हो, क्रोध तथा अभिमानके वश होकर उनका अपमान-तिरस्कार करते हो एवं कामना और लोभके फंदेमें पड़कर उनका स्वत्व हरण करते हो तो तुम्हारे बाहरी पूजन और दानसे भगवान् कभी प्रसन्न नहीं होंगे।

याद रक्खो—यदि तुम छल-कपट करके लोगोंका धन लूटते हो, मीठे बोलकर दूसरोंको धोखा देते हो, अपने अधिकार तथा शक्तिका प्रयोग करके गरीबों और असहायोंको दबाते हो तो तुम्हारे बाहरके आडम्बरसे भगवान् कभी प्रसन्न नहीं होंगे।

याद रक्खो—तुम यदि अनाथों और असमर्थोंको डराकर या फुसलाकर अनुचित लाभ उठाते हो; सत्ता, वैभव और पदके प्रभावसे गरीब पड़ोसियोंके घर-द्वार छीनते हो एवं अधिकारियोंके साथ षड्यन्त्र करके सरल हृदयके लोगोंको ठगते हो तो तुम्हारी पद-मर्यादा, नेतागिरी या थोथे धर्मात्मापनसे भगवान् कभी प्रसन्न नहीं होंगे।

याद रक्खो—यदि तुम विधवाओंके धनको धोखेसे हड़प जाते हो, उनका अपमान-तिरस्कार करते हो, उनके साथ बुरा व्यवहार करते हो और उनको मीठी-मीठी बातोंमें फँसाकर धर्मच्युत करते हो, तो भगवान् तुम्हारे तिलक-मालाओं, खादीके कपड़ों या सेवकके स्वाँगसे प्रसन्न नहीं होंगे।

याद रक्खो—यदि तुम अपने मनमें दम्भ-दर्प, वैर-विरोध, क्रोध-हिंसा, अभिमान-गर्व, छल-कपट और राग-द्वेष आदिको भी रखते हो और ऊपरसे साधु सजे रहते हो तो भगवान् तुम्हारी उस कृत्रिम साधुतासे और तुम्हारी उपदेशभरी शास्त्रवाणीसे प्रसन्न नहीं होंगे।

याद रक्खो—भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किसी बाहरी आडम्बरकी, वेशभूषाकी, बोलचालके ढंगकी, उपदेश-आदेश देनेकी, किसी प्रकारका स्वाँग बनानेकी और साधु सजनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये तो चाहिये—निर्मल मन जिसमें अहिंसा, सत्य, अलोभ, सन्तोष, दया, अस्तेय, अमानिता, अदम्भिता, वैराग्य, प्रेम, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, नम्रता, उदारता, मधुरता, गम्भीरता, धीरता, सहिष्णुता, शुचिता, श्रद्धा, धर्मभीरुता, क्षमा और ऋजुता आदि दैवी गुण भरे हों और सबसे प्रधान रूपमें चाहिये—भगवान्‌के प्रति मनमें अहैतुकी विशुद्ध भक्ति।

याद रक्खो—मानव-जीवन बहुत थोड़े कालके लिये प्राप्त हुआ है और प्राप्त हुआ है भगवान्‌को प्रसन्न करके उनको प्राप्त करनेके लिये। यदि यह कार्य इस जीवनमें न बन पड़ा और विषय-विलासमें ही जीवन बीत गया तो उससे केवल जीवनकी व्यर्थता ही नहीं होगी, महान् पापका संग्रह भी होगा, जो अनन्तकाल-तक दुःख देता रहेगा।

'शिव'

श्रीमद्भागवतकी कुछ सुधा-सूक्तियाँ

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा॥
(१०।१।१६)

भगवान् वासुदेवकी कथाके लिये उठाया हुआ प्रश्न तीन पुरुषोंको पवित्र करता है—वक्ताको, प्रश्नकर्ताको और श्रोताओंको। ठीक उसी तरह जैसे भगवान्‌के चरणोंसे निकली हुई गङ्गाजी तीन पीढ़ियोंका उद्धार कर देती हैं।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥
व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः॥
(१०।१।३८-४०)

वीरवर! जो जन्म लेते हैं उनके शरीरके साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। आज हो या सौ वर्षके बाद, प्राणियोंकी मृत्यु निश्चित है।

जब शरीरका अन्त हो जाता है, तब जीव अपने कर्मके अनुसार विवश होकर दूसरे शरीरको ग्रहण करके अपने पहले शरीरको छोड़ देता है।

जैसे चलते समय मनुष्य एक पैरको स्थिर करके ही दूसरेको आगे बढ़ाता है और जिस प्रकार जोंक किसी अगले तिनकेको पकड़ लेती है तब पहलेके पकड़े हुए तिनकेको छोड़ती है, उसी प्रकार जीव भी अपने कर्मके अनुसार किसी शरीरको प्राप्त करके ही पहले शरीरको छोड़ता है।

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्॥
स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥
येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥
(१०।२।३०-३२)

कमलनयन माधव! आप समस्त प्राणियों तथा पदार्थोंके परम आश्रय हैं, आपमें कुछ विरले ही लोग पूर्ण एकाग्रतापूर्वक अपना चित्त लगा पाते हैं; परंतु जो महापुरुषों एवं संतोंद्वारा अपनाये हुए आपके चरणरूपी जहाजका आश्रय लेते हैं, वे उसके द्वारा महान् भवसागरको भी बछड़ेके खुरके समान करके अनायास ही लाँघ जाते हैं।

परम प्रकाशमय परमात्मन्! आपके भक्तजन सम्पूर्ण जगत्‌के निष्कपट प्रेमी अकारण हितैषी होते हैं, वे स्वयं इस भयङ्कर एवं दुस्तर संसार-सागरको पार करके औरोंके कल्याणके लिये भी यहाँ आपके चरणकमलोंकी नौका स्थापित कर गये हैं। वास्तवमें संतजनोंपर आपकी अपार कृपा है। आप उनके लिये अनुग्रहस्वरूप हैं।

कमलनयन! जो लोग आपके चरणकमलोंकी सादर शरण नहीं लेते तथा आपके प्रति भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको झूठे ही मुक्त माननेवाले हैं, वस्तुतः तो वे बन्धनमें ही हैं। वे यदि बड़ी तपस्या और साधनाका कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति॥
(१०।३।२७)

प्रभो! यह मरणधर्मा जीव मृत्युरूपी विकराल सर्प-

से भयभीत हो सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरोंमें भागता फिरा, परंतु कहीं भी निर्भय स्थल न पा सका। आज बड़े भाग्यसे आपके चरणकमलोंकी शरणमें आकर यह सुखकी नींद सो रहा है। अब तो स्वयं मृत्यु ही इससे दूर भागती है।

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः॥
(१०।१०।८)

यद्यपि कुलीनताका अभिमान आदि भाव भी रजोगुण ही है तथापि वैभवके मदसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा रजोगुण नहीं है, जो सेवनीय प्रिय विषयोंके सेवनमें लगे हुए पुरुषकी बुद्धिको तत्काल भ्रष्ट करनेवाला हो। क्योंकि जहाँ वैभव है; वहाँ स्त्री, जुआ और मदिराका भी दौरदौरा है।

देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम्।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥
देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च।
मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा॥
(१०।१०।१०-११)

'भूदेव' 'नरदेव' और 'देव' आदि नाम धारण करनेवाला शरीर भी अन्तमें कीड़ा, विष्ठा या राख बन जाता है, उस शरीरके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंसे द्रोह करनेवाला मनुष्य अपना कौन-सा स्वार्थ समझता है। क्योंकि उस भूतद्रोहसे तो नरककी ही प्राप्ति होगी।

सोचो तो सही, यह शरीर किसकी सम्पत्ति है? अन्न देकर पालनेवालेकी या गर्भाधान करनेवाले पिताकी अथवा जन्म देनेवाली माताकी, या माताके भी पिता—नानाकी सम्पत्ति है। अथवा जो बलपूर्वक इसे काममें लगाता है, उस बलवान् पुरुषकी, अथवा दाम देकर जो इसे खरीद लेता है उसकी सम्पत्ति है। अथवा हम इसे अग्निकी सम्पत्ति समझें, क्योंकि एक दिन चिताकी आग इसे जलाकर खाक कर देगी। अथवा जो इसे नोच-चोंथकर खा जानेकी आशा लगाये रहते हैं; उन कुत्ते, सियार आदिकी ही यह सम्पत्ति है?

असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम्।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते॥
यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम्।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः॥
(१०।१०।१३-१४)

जो दुष्ट वैभवके मदसे अन्धे हो रहे हैं, उनकी आँखोंमें ज्योति जगानेके लिये दरिद्रता ही सबसे बड़ा अञ्जन है। क्योंकि दरिद्र होनेपर ही वह यह देख पाता है कि अन्य सब प्राणी भी मेरे ही समान हैं।

जिसके शरीरमें एक बार काँटा गड़ जाता है, वह नहीं चाहता कि किसी भी प्राणीको काँटा गड़नेकी व्यथा सहन करनी पड़े। क्योंकि वह उस पीड़ाको तथा उससे होनेवाले विकारोंको समझकर, सब जीव एक समान हैं, यह अनुभव करने लगता है। जिसे कभी काँटा गड़ा ही नहीं, वह इस प्रकार दूसरेको होनेवाली पीड़ाका अनुमान नहीं कर पाता।

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम्।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः॥
(१०।१०।१८)

जिन महात्माओंके चित्तमें सबके प्रति समानभाव है, जो भगवान्‌के चरणारविन्दोंकी ही स्पृहा रखते हैं, उन्हें दुर्गुणोंके खजाने और धनके मदसे मतवाले पुरुषोंसे क्या प्रयोजन है? वे तो उनकी उपेक्षाके ही पात्र हैं।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥
(१०।१०।३८)

भगवन्! मेरी वाणी आपके गुणानुवादमें लगी रहे। मेरे कान आपकी कथामें संलग्न हों। मेरे हाथ आपकी सेवाके कार्यमें और मन चरणोंके चिन्तनमें तत्पर हों, मेरा मस्तक आपके निवासभूत जगत्‌को नमस्कार करनेके

लिये झुका रहे तथा मेरे नेत्र आपके स्वरूपभूत संतजनोंके दर्शनमें संलग्न रहें।

> ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
> जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
> स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
> र्येप्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥
> श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
> (१०।१४।३-४)

प्रभो! जो ज्ञानके लिये प्रयास छोड़कर सत्सङ्गमें लगे रहते हैं और उपयुक्त स्थानपर स्थित रहनेके कारण संतोंके मुखसे निकलकर स्वतः कानमें पड़नेवाली आपकी कथावार्ता सुनकर उसे शरीर, मन, वाणीद्वारा सादर नमस्कार करते हुए जीवन विताते हैं, उन भक्तोंद्वारा आप जीत लिये जाते हैं। यद्यपि आप अजित हैं, त्रिलोकीमें कोई आपको जीत नहीं सकता। तथापि वे भक्तजन आपको अपने वशमें कर लेते हैं।

भगवन्! जो लोग कल्याणकी वर्षा करनेवाली आपकी भक्तिकी उपेक्षा करके केवल बोधकी प्राप्तिके लिये क्लेश उठाते हैं, उन्हें केवल क्लेश ही हाथ लगता है। दूसरा कुछ नहीं हाथ आता। ठीक वैसे ही, जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको सिर्फ कष्ट ही उठाना पड़ता है, चावल हाथ नहीं लगता।

> तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
> भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
> येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
> भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
> (१०।१४।३०)

अतः हे नाथ! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा पशु-पक्षियोंके जन्ममें भी ऐसा महान् सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर आपके नव किसलयदलके समान कोमल चरणोंका सेवन किया करूँ।

> तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
> तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
> (१०।१४।३६)

श्रीकृष्ण! ये राग आदि दोष तभीतक चोरके समान हैं, तभीतक यह गृह भी कारागार है और तभीतक मोह भी चरणोंकी बेड़ी है, जबतक मनुष्य आपके नहीं हो जाते।

> समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
> महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः।
> भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
> पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥
> (१०।१४।५८)

जो लोग परम पवित्र कीर्तिवाले भगवान् श्रीकृष्णके पाद-पल्लवरूपी नौकाका, जो महात्मा पुरुषोंका परम आधार है, आश्रय ले लेते हैं, उनके लिये यह भवसागर बछड़ेके खुरके गड्ढेके समान हो जाता है। उन्हें पद-पदपर परमपदका साक्षात्कार होता रहता है। विपत्तियोंका स्थान यह संसार उन्हें कभी नहीं होता।

> तव कथामृतं तप्तजीवनं
> कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
> श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
> भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
> (१०।३१।९)

प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण! तुम्हारी लीलाकथा अमृतस्वरूप है, विरहसन्तप्त प्रेमीजनोंके लिये तो यह जीवन ही है। बड़े-बड़े ज्ञानी विद्वानोंने इसका गायन किया है। आपकी कथा समस्त पाप-तापको मिटानेवाली है। श्रवणमात्रसे सबका परम मङ्गल करनेवाली है। यह परम सुन्दर, परम मधुर है, साथ ही परम विस्तृत भी है। जो लोग आपकी इस लीलाकथाका गान करते हैं, वे ही इस संसारमें सबसे बड़े दाता हैं, सबसे अधिक दान करनेवाले हैं।

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥
(१० । ४७ । २४)

दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम तथा दूसरे-दूसरे विविध शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति प्राप्त होती है।

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ ॥
(१० । ४८ । ११)

भगवान् श्रीकृष्णको आराधनाद्वारा प्रसन्न कर लेना बहुत कठिन है। वे सर्वेश्वरोंके भी ईश्वर हैं। ऐसे भगवान्‌को अपनी सेवासे सन्तुष्ट करके जो उनसे मनको प्रिय लगनेवाले भोग माँगता है, वह निश्चय ही दुर्बुद्धि है। क्योंकि विषयसुख अत्यन्त तुच्छ है, नश्वर है।

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्
भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥
(१० । ४८ । २६)

प्रभो ! आप भक्तोंके प्रियतम, सत्यवक्ता, अकारण-हितैषी और कृतज्ञ हैं, कौन ऐसा मनुष्य होगा जो बुद्धिमान् होकर भी आपको छोड़कर दूसरे किसीकी शरणमें जायगा। आप अपना भजन करनेवाले प्रेमी भक्तोंकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं। इतना ही नहीं, जिसकी वृद्धि अथवा हानि नहीं होती, जो सदा एकरस है, उस अपने आत्माका भी आप दान कर देते हैं।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥
(१० । ४८ । ३१)

केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं है, केवल मृत्तिका और शिला आदिकी बनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। उनकी तो बहुत दिनोंतक श्रद्धापूर्वक सेवा की जाय तब वे पवित्र करते हैं; परंतु संतपुरुष तो अपने दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं। अतः वे ही श्रेष्ठ तीर्थ एवं देवता हैं।

नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित् केनचित् सह।
राजन् स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥
(१० । ४९ । २०)

राजन् ! इस संसारमें कभी किसीके साथ भी अधिक कालतक सहवास नहीं रहता। जब अपने इस शरीरके साथ भी सदा संयोग नहीं रह पाता, तब स्त्री-पुत्र आदिके साथ तो रह ही कैसे सकता है।

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
(१० । ४९ । २१)

जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्यका फल भोगता और अकेला ही पापजनित क्लेशका उपभोग करता है।

नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि ॥
हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥
(१० । ६४ । ३३-३४)

मैं हालाहल विषको विष नहीं मानता, क्योंकि उसके उतारनेका उपाय है। वास्तवमें तो ब्राह्मणका धन ही विष बताया गया है, क्योंकि उसके द्वारा होनेवाले सर्वनाशसे बचनेका इस भूतलपर कोई उपाय नहीं है। लौकिक विष केवल खानेवालेको मारता है तथा लौकिक अग्नि जलसे बुझायी जा सकती है, परंतु ब्राह्मणका धनरूपी विष एवं अग्नि तो समूचे कुलको समूल भस्म कर डालती है।

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥
(१० । ६४ । ३९)

जो अपनी या दूसरेकी दी हुई ब्राह्मणकी आजीविका

हर लेता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है।

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया॥
(१०।८४।१२)

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, वाणी और मन—इन सबके अधिष्ठाता देवता उपासना करनेपर भी पापका पूर्णतः नाश नहीं करते। क्योंकि उनकी उपासनासे भेद-बुद्धिको प्रश्रय मिलता है, परंतु ज्ञानी महापुरुष तो घड़ी-दो-घड़ीकी सेवासे भी सारे पाप-ताप हर लेते हैं।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
(११।२।२९)

जीवोंके लिये क्षणभङ्गुर होनेपर मनुष्यशरीरका मिलना बहुत कठिन है, उसमें भी भगवान्‌के भक्तोंका दर्शन होना तो मैं और भी दुर्लभ मानता हूँ।

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्-
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥
(११।२।३३)

राजन्! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि इस जगत्‌में भगवान् अच्युतके चरणकमलोंकी नित्य-निरन्तर उपासना ही निर्भय पद है, आत्यन्तिक कल्याणका आश्रय है। जो लोग देह-गेह आदि अनित्य वस्तुओंमें आत्मभाव करके संसारमें फँसे हुए हैं अतएव जिनकी बुद्धि उद्वेगमें पड़ी हुई है, उनके लिये भी भगवच्चरणारविन्दोंकी उपासना ही परम आश्रय है, क्योंकि वहाँ भयका सर्वथा नाश हो जाता है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(११।२।३६)

शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे अथवा अनुगत स्वभावसे मनुष्य जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है, इस भावसे उन्हें समर्पित कर दे।

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, समस्त जीव, दिशा, वृक्ष आदि, नदियाँ, समुद्र तथा अन्यान्य जितने भी भूतसमुदाय हैं, वे सब श्रीहरिके शरीर हैं—ऐसा मानकर अनन्यभावसे सबको प्रणाम करे।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
(११।२।४२)

जो भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है उसको भगवान्‌में अनुराग, भगवत्तत्त्वका अनुभव और संसारसे वैराग्य—ये तीनों चीजें एक साथ प्राप्त होती रहती हैं, जैसे भोजन करनेवाले मनुष्यको एक-एक ग्रासके साथ सन्तोष, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति—इन तीनोंकी प्राप्ति होती रहती है।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(११।२।४५)

जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपना भगवद्भाव देखता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको सर्वात्मा भगवान्‌में स्थित समझता है, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।

न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
(११ । २ । ५३)

जो तीनों लोकोंके वैभवके लिये भी कभी भगवान्‌की याद नहीं भुलाता, भगवन्मय अन्तःकरणवाले देवता और ऋषि-मुनि भी जिन्हें ढूँढ़ा करते हैं, उन भगवच्चरणारविन्दोंसे जो आधे पलके लिये भी अपना मन नहीं हटाता, वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥
(११ । ५ । १५)

दूसरोंके शरीरोंमें जो अपने ही आत्मारूप भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, उनसे द्वेष रखते हुए जो लोग इस मृतक-तुल्य शरीर तथा इसके सम्बन्धियोंमें आसक्त रहते हैं, वे नरकमें गिरते हैं ।

हिंदू-संस्कृतिका प्राण परमेश्वर

(लेखक पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

आजतक संसारमें कितनी ही संस्कृतियाँ उत्पन्न तथा विलीन हुईं, पर सब प्राचीन संस्कृति हिंदू-संस्कृति अमर है । हिंदू-संस्कृति-भारतीय संस्कृति सर्वतोभावेन परमात्मामें परिनिष्ठित होनेके कारण तथा जगत्पिता परमेश्वरसे संरक्षित होनेके कारण सर्वथा सनातन संस्कृति है । आजके विद्वानोंसे यह बात छिपी नहीं कि किसी समय सारे संसारमें भारतीय संस्कृतिका बोलबाला था । सात दिन, १२ मास, ३० दिनके महीने, विवाह आदि रिवाज अङ्कोंका हिसाब, सोने चाँदी आदिकी बहुमूल्यता, सभी मानते हैं, यह हिंदू-संस्कृतिकी ही देन तो है । अमरीकाकी स्त्रियोंमें पहले सती होनेकी चाल थी, मरनेपर दाह-संस्कार किया जाता था । गणेश, पूजन, नाग पूजन तथा ग्रहण स्नान भी होते थे । ये रेड इण्डियन भी मुख्यतः चार युग मानते हैं और भारतीय ढङ्गसे ही गिनती लिखते हैं । आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्डमें भी बहुतसे हिंदू-संस्कृतिकी परिचायिक चिह्न मिले हैं । जापानमें तो सूर्य-पूजन पितृ-पूजन तथा कुछ अंशोंमें भारतीयोंसी वर्ण-व्यवस्था भी प्रचलित है । अफ्रीका तथा यूरोपकी भी वही दशा है । पर आज काल-प्रभावसे सर्वत्र धर्मका लोप हो गया । फिर भी हिंदू-संस्कृति भारतमें जीवित है और धर्म सनातन होनेसे जीवित रहेगी । भारत विराट् पुरुषका हृदय है । हृदयकी गति बिगड़ जानेसे मृत्यु प्रलय ही होगी । यही कारण है कि धर्म-रक्षाके लिये परमात्माका सर्वदा यहीं आविर्भाव होता है । यह कहना कि भगवान्‌का यहाँ अवतार बतलाना स्वार्थ है—सचमुच कोरा अज्ञान है । कोई भी वस्तु अपने उपयुक्त देशकालमें ही उत्पन्न होती है । भारतवर्ष तथा भारतीय हिंदू कुछ ऐसी ही विलक्षणतायें लिये हुए रहे हैं जिससे बाध्य होकर भगवान् यहीं अवतीर्ण हुए हैं और होंगे । इसके अतिरिक्त भगवान्‌का ध्यान भी तो हृदयमें ही होता है, फिर हम कह आये हैं कि यह भारत भूमि परम विराट् पुरुषका हृदय है ।

'हिंदू-संस्कृति ही आर्य संस्कृति है । यह बड़ी व्यापक संस्कृति है । सारे संसारके जीव मात्रको ही इसमें स्थान है । पर सबोंका स्थान निश्चित है । आज भारतकी दशा बड़ी विचित्र हो रही है । यहाँके निवासी ही इस संस्कृतिपर कुठाराघात कर रहे हैं, और यह कहते हुए शर्माते नहीं कि हम भारतीय-संस्कृतिकी रक्षा कर रहे हैं । वे जोशमें आकर होश खो रहे हैं । हमें ध्यान रखना चाहिये कि यदि हम सुखसे जीना चाहते हैं, दूसरोंको भी जिलाना चाहते हैं तो ईश्वर तथा धर्मसे अनुरञ्जित इस अमियधाराका प्रचार करें । इसीसे पुनः सारे संसारके हृदयमें शान्ति होगी—सुख होगा, अन्यथा आजकी वैज्ञानिक उन्नतिमें जो हमारे पूर्वजोंको पूर्णतः परिज्ञात था, केवल अशान्ति ही मिलेगी । फिर तो 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' प्रसिद्ध ही है ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी दिव्यलीला

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

वृन्दावन-नवयुवराज नन्दनन्दन श्यामसुन्दरने श्रीमद्वृन्दारण्य धाममें गोचारणके लिये प्रवेश किया। जिस परम-पावन धाममें तरु-लता-गुल्मादि भी वेणु-च्छिद्रनिर्गत शब्दब्रह्मरूपमें परिणत भगवदीय अधर-सुधाका पानकर कुड्मलपुष्प-स्तबकरूप रोमाञ्चोद्गमछद्मसे तथा मदधारारूप हर्षाश्रुविमोकसे अपने दुरन्त भावका व्यक्तीकरण कर रहे हैं, जिस धाममें प्रेमातिशयसे प्रभुपादपद्माङ्कित व्रजभूमिगत ब्रह्मादिके वन्द्य रजके स्पर्शके लिये आज भी समस्त तरु-लताएँ विनम्र हो रही हैं, उस धामकी महिमा किन शब्दोंमें व्यक्त की जाय ? सरित्-श्रेष्ठ श्रीयमुनाजीके तटपर श्यामतमाल, कदम्ब आदि वृक्ष माधवी, लवङ्गादि विविध लताओंसे परिवेष्ठित हैं। शुभ कल्पवृक्षोंके अरण्यमें चतुरचूडामणि व्रजवननवयुवराज ग्वालबालोंसमेत सुरभि-वृन्दको हरी-हरी दूर्वाएँ नोच-नोचकर खिलाते हैं। जिस समय गौएँ इधर-उधर बिखर जातीं, उस समय मोहनकी मोहिनी मुरली बजती। नयनाभिराम घनश्यामकी मोहिनी मुरलीकी मधुर धुन सुनते ही गौएँ दौड़ पड़तीं और समीप आकर कन्हैयाके परम कमनीय माधुर्यका अनिमीलित नयनपुटोंसे पान करने लगतीं। श्यामसुन्दर भी उन्हें पुचकार-पुचकारकर सहलाने लगते। इस प्रकार मङ्गलमय दिनकी कुछ घटिकाएँ बीत गयीं, ग्वालबालोंसमेत व्रजेन्द्रनन्दनको भूख लगी। श्रीव्रजराज-कुमार एक सुन्दर मणिमय चबूतरेपर ग्वालबालोंसमेत विराज गये। अपनी-अपनी पोटली खोली, कमलके सुन्दर हरे-हरे पत्तोंपर सुन्दर-मधुर-मनोहर विविध भाँतिके पक्वान्न, मिष्टान्न रखकर सभी लोग खाने लगे। बीच-बीचमें बालचापल्ययुक्त क्रीडाएँ भी होती जाती थीं। ग्वालबाल श्यामसुन्दरके दिव्य मङ्गलमय मुखचन्द्रकी सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाका पान कर रहे थे और श्रोत्रपुटोंसे वेणुगीतपीयूषका, व्रजकिशोरके दिव्य वचनामृतका पान-कर प्रेमविभोर हो रहे थे। भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौकुमार्य आदि दिव्य गुणगणोंने उनका अपना-पन हर लिया। किसी ग्वालबालने कहा—

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।
प्रयान्ति मम गात्राणि श्रोत्रतां किमु नेत्रताम्॥

'प्यारे श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन जब मेरे सामने आकर अपनी प्यारी बातें सुनाते हैं, तब मैं नहीं जानता कि मेरा शरीर स्वयं श्रोत्र हो जाता है या नेत्र।'

इस मङ्गलमयी दिव्य क्रीडाको देखकर ब्रह्माको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि यदि श्रीकृष्णचन्द्र अनन्य, अखण्ड, अव्यक्त, पूर्ण परब्रह्मके अवतार होते, तो क्या गोपबालोंके साथ गँवारों-जैसी इस प्रकारकी क्रीड़ा करते और गोपबालोंका जूठन खाते ? अन्ततोगत्वा ब्रह्मा भगवान्‌की अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ताका परीक्षा करने चले। उन्होंने बछड़ोंको चुरा लिया। ढूँढ़नेपर भी जब ग्वालबालोंको अपने बछड़े नहीं मिले, तब वे घबराये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने ग्वालबालोंसे कहा—'भैया ! तुम यहीं ठहरो, मैं ढूँढ़ लाता हूँ।' भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ढूँढ़ने चले। उस समय उनकी अमित शोभा हो रही थी। एक हाथमें मिसरी-माखन और दूसरे हाथमें मुरली एवं लकुटी शोभायमान थी। भगवान्‌ने ब्रह्माका सारा कौतुक जान लिया और अपनेको ही बछड़ोंके रूपमें बना डाला। उनके लिये यह कोई असम्भव नहीं, क्योंकि भगवान् 'कर्तुमकर्तुम् और अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं।' इधर ब्रह्माने ग्वालबालोंको भी चुरा लिया। भगवान्‌ने कहा कि 'अच्छा ब्रह्मा ! मैं तुम्हारी शक्ति देखता हूँ।' भगवान्‌ने अपने-आपको ही समस्त ग्वालोंके रूपमें भी बना लिया।

श्रीमद्वृन्दारण्य धाममें सन्ध्या होने आयी। काषाय-वस्त्र धारण किये यतिराज भगवान् भास्कर अस्ताचलको प्रस्थान करने लगे। पक्षिवृन्द अपने-अपने घोंसलोंमें जाने लगे, भगवान् श्रीकृष्णने भी ग्वालबालों एवं बछड़ों-समेत घरकी ओर प्रस्थान किया। उस समय बछड़ोंके

गलेमें पड़ी हुई सुवर्णकी घण्टियोंसे टन-टनकी मधुर ध्वनि निकल रही थी। आकाश और श्रीकृष्णचन्द्रका मङ्गलमय मुखचन्द्र धेनुरेणुसे धूसरित हो उठा। सभी ग्वालबाल अपने-अपने घर पहुँचे। माताएँ अपने-अपने बच्चोंकी प्रतीक्षामें खड़ी थीं। उनके स्तनोंसे दुग्ध-स्राव हो रहा था। बच्चोंको देखते ही माताओंने उन्हें गोदमें उठा लिया और लगीं स्तनपान कराने। यद्यपि व्रजदेवियोंने अपने पुत्रोंसे व्यतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णको नहीं समझा था, तथापि आज-जैसा वात्सल्य-स्नेह उनमें कभी नहीं हुआ। अस्तु, माताओंने बड़े प्रेमसे बच्चोंको खिला-पिलाकर शयन करा दिया। रात्रि बीती। सूर्योदय हुआ। माताओंने अपने पुत्रोंको जगाया। उनके मुँह-हाथ धोये। स्नान कराया, सुन्दर दिव्य वस्त्राभूषणोंसे उनका शृङ्गार किया और कन्हैयाके साथ गोचारणके लिये उन्हें पुनः श्रीवृन्दारण्य धाममें भेज दिया। इधर ब्रह्माने समझा कि ग्वालोंसहित श्रीकृष्ण बहुत व्यग्र होंगे। उनके मनमें इस व्यग्रताको देखनेकी उत्सुकता हुई। ब्रह्मा आये। श्रीवृन्दारण्यधाममें देखा—वही रसिकमण्डली, वही ग्वालबाल, वही वेणुवादन और वही बछड़े। झट ब्रह्मा कन्दरामें गये, जहाँ उन्होंने ग्वालबालों और बछड़ोंको चुराकर छिपाया था। वहाँ उन सबको ज्यों-का-त्यों पाया। बाहर निकले, वही सखामण्डली, वही अनुपम दृश्य। अब ब्रह्माका होश ठिकाने आया। उन्हें भगवान्की अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ताका ज्ञान हुआ। ब्रह्माने भगवान्को साष्टाङ्ग प्रणामकर कहा—'अशरण-शरण, अनाथनाथ, अकारण-करुणा-वरुणालय विभो! यद्यपि मैंने आपकी कौतुकपूर्ण लीलामें विघ्न डाला, आपके बछड़ों और ग्वालबालोंका हरण करके बड़ा ही अपराध किया, तथापि प्रभो! जैसे अम्बा गर्भगत शिशुके पैर फटकारनेको अपराध नहीं मानती, वैसे ही आप भी मेरे ऐसे कर्मोंपर ध्यान न दें। प्रभो! सम्पूर्ण विश्व ही आपके उदरमें है, फिर गर्भगत शिशुके समान ही प्राणियोंके अपराधोंको क्षमा करना क्या आपको उचित नहीं है—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

प्रभुने क्षमा कर दी।

कृपालु भगवान्ने प्राणिकल्याणार्थ सरल-से-सरल उपाय शास्त्रोंद्वारा बतला रक्खे हैं। पत्र-पुष्प-फल-जल-नमस्कारसे ही प्रभु प्रसन्न हो सकते हैं। कुछ भी न हो तो केवल मनसे ही पूजन-स्मरण करे और वह भी न बने तो भाव-कुभाव जिस किसी भी तरह भगवन्नामके संकीर्तन या जपसे ही परमगति प्राप्त हो सकती है। भगवान्का मङ्गलमय नाम अति सुगम है। जिह्वा अपने वशकी है, फिर भी लोग नरकमें जाते हैं, यही बड़ा आश्चर्य है—

सुगमं भगवन्नाम जिह्वा स्ववशवर्तिनी।
तथापि नरकं यान्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

अस्तु, निःसंकोच और निर्भय होकर भगवान्का संकीर्तन और भगवन्नामका जप किया जाय, तो सहजमें ही प्रभु अनन्तानन्त जन्मोंके अपराधोंको भूल जायँगे और उन्हें अपनी करुणापरवशताके कारण प्रसन्न होना ही पड़ेगा। पर याद रहे, भगवन्नाम-संकीर्तन अथवा जपके साथ-साथ स्वधर्मानुष्ठान एवं पापपरिवर्जनकी बड़ी आवश्यकता है। अन्यथा जैसे कुपथ्यसेवनसे उत्तमोत्तम ओषधियाँ—वसन्तमालती, चन्द्रोदय, मृगाङ्क आदि अकिंचित्कर ठहरती हैं, वैसे ही स्वधर्मत्याग, पापाचार और दुराचारसे भगवन्नामका अमित प्रताप भी अकिंचित्कर हो जाता है। इसलिये असत्कर्मोंसे बचकर स्वधर्मानुष्ठानकी बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रकार ईश्वरपरायणता और स्वधर्मानुष्ठानसे विश्व सुख-शान्ति प्राप्तकर निःश्रेयसका भी भागी बन सकता है।

गीताके प्रति

अर्जुन ! तेरे पाद-पद्मपर बलि बलि जाऊँ, गुण-कीर्तन कर बार बार मैं हर्ष मनाऊँ ।
तू न मचलता रणक्षेत्रमें तो क्या होता, ज्ञान-राशिका फूट न पड़ता गीता-सोता ॥ १ ॥

रवि-किरणें तो त्रिभुवनमें सम रूप उतरतीं, सूर्यकान्तमणि सम्मुख पाकर दिव्य निखरतीं ।
मुखसे निःसृत शब्द व्योममें छा जाता है, शब्द-ग्राहक यन्त्र किन्तु सुख पहुँचाता है ॥ २ ॥

योगेश्वरकी विपुल ज्ञान-गरिमा-गहराई, उनके छद्म-नीति-कौशलकी गहन पढ़ाई ।
अर्जुन ! तू यदि श्रीहरिका उपकरण न बनता, कौन ज्ञान-विज्ञान-तन्तुसे ताना तनता ? ॥ ३ ॥

विश्व-वीथियोंमें जब जीवन-नैया डोले, धैर्य, पराक्रम, सद्विचार, कोई आकर खो ले ।
अङ्ग-अङ्ग अवसन्न हुआ, मन डूब रहा हो, जीवल-आशासे भी जीवन ऊब रहा हो ॥ ४ ॥

शस्त्रोंकी झङ्कार न कोई आश्वासन दे, शास्त्र-विवेचन कुण्ठित-सा हो मति विभ्रम से ।
जीर्ण-शीर्ण उस जीवनपर को कब कोई सीता ?, प्राप्त न होती सूचि-सरिस 'श्रीभगवद्गीता' ॥ ५ ॥

कर्म, अकर्म, विकर्म-मर्मकी जब उलझन हो, सांख्य, योग, संन्यास तत्त्वमें जब अनबन हो ।
निर्णय देती पञ्च बनी गीताकी रानी, विलग करे यह दूध-दूध पानी-का-पानी ॥ ६ ॥

मानवको निष्काम-कर्म ही रखता न्यारा, राग-द्वेषमय मानस सो पंकिल है सारा ।
पद्म-पत्र सम जीवन-ह्रदमें रहे असंगा, स्थितप्रज्ञ बन खेल खेल लेवे बहुरंगा ॥ ७ ॥

जीवन तो मृदु-सेज नहीं; कर्मोंकी नगरी, द्वंद्वातीत; विमत्सर होकर भर ले गगरी ।
अपनी उज्ज्वल ध्येय-ध्वजा फहराता जा तू, शूल मिलें पग-पगपर, फूल बिछाता जा तू ॥ ८ ॥

नश्वर काया; नश्वर माया; भ्रम क्यों आया, अविनाशी, कूटस्थ, अचल तू कब था जाया ।
मिथ्या जन्म-मरण-परिभाया, मिथ्या तन-मन, मिथ्याको भी तथ्य मानता ! महाविडम्बन ॥ ९ ॥

अन्न-प्राण-मन-ज्ञान-कोषमें लिपट रहा है, इनका तो निर्माता होकर चिपट रहा है ।
शिव, सुन्दर और सत्यरूप अपनेको जानो, अपनी ही रचना, अपनी ही उलझन मानो ॥ १० ॥

मरण-भीत को सञ्जीवन-रस गीता देती, मोह-शोककी सकल उपाधी यह हर लेती ।
शिवा-प्रताप-हकीकतने गीता अपनाई, आततायियोंको पछाड़ मर्यादा लाई ॥ ११ ॥

दया-दानकी करुण-भावनामें हम भूले, न्याय, दण्ड, सम्मान-भाव भी हियमें फूले ।
कायर, कृपण, पदाहत होकर जीवन कैसा, है अस्वर्ग्य, अनार्यजुष्ट अपमानित-जैसा ॥ १२ ॥

वीतराग, निष्ठासे गीता-गाथा सुनकर, श्रीहरि-अर्जुनके निर्णय-मुक्ता चुन-चुन कर ।
अपने देश-समाज-ध्वजाको फिर लहराएँ, अर्जुन-सम कटिबद्ध हुए निज धर्म निभाएँ ॥ १३ ॥

श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भागवतमें वर्णित नवधा भक्तिके आदर्श श्रीप्रह्लादजी थे। जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि तुमने गुरुजीसे इतने कालतक जो कुछ पढ़ा है, उन पढ़े हुए पाठोंमें जिसको तुम सबसे श्रेष्ठ समझते हो, उसे सुनाओ; तब श्रीप्रह्लादजीने कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(भागवत० ७।५।२३-२४)

'भगवान् श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देनेका भाव—यह नौ प्रकारकी भक्ति है। यदि मनुष्यके द्वारा इस तरह यह नौ प्रकारकी भक्ति भगवान् श्रीविष्णुके प्रति की जाय तो मैं उसको निश्चय ही उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

श्रीप्रह्लादजीके द्वारा कथित नवधा भक्तिके ये सारे-के-सारे प्रकार परम प्रेमी अनन्य भक्त श्रीभरतजीमें प्राप्त होते हैं। भरतजी सदाचार-सद्गुणसम्पन्न, ज्ञानवान्, विरक्त, त्यागी एवं भगवान्‌के अनन्य विशुद्ध निष्काम प्रेमी भक्त थे। श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें उनकी महिमाका जगह-जगह मुक्तकण्ठसे गान किया है। श्रीरामचरितमानसमें जहाँ भी भरतजीका चरित्र आया है, उसको पढ़नेसे यदि पाठकके हृदयमें थोड़ा भी प्रेम हो तो उसका हृदय गद्गद हो जाता है और अश्रुपात होने लगते हैं। भरतजीकी महिमाके वर्णनमें श्रीतुलसीदासजीने स्वयं कहा है—

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह मम मलिन जनेषु॥

× × ×

भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥

× × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥

× × ×

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

श्रीजनकजी तो भरतजीके चरित्र, गुण, भक्ति और प्रेमभावको देखकर मुग्ध ही हो गये। चित्रकूटमें वे अपनी पत्नी रानी सुनयनासे कहते हैं—

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव बंध बिमोचनि॥
धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥
बिधि गनपति अहिपति सिव सारद। कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद॥
भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥

× × ×

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥

× × ×

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

भरतजी महाराज प्रेममयी भक्तिके अगाध सागर थे, या यों कहिये कि वे साक्षात् प्रेमकी मूर्ति थे। जहाँ-कहीं भरतजीका चरित्र देखते हैं, वहीं प्रेमका समुद्र लहराता दीखता है। इसके सिवा, वे सद्गुण-सदाचारमें भी अद्वितीय थे। जिनके गुण, चरित्र, स्वभाव और प्रेमको देखकर श्रीरामचन्द्रजी भी मुग्ध हो गये। वे कहते हैं—

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥
करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात॥

भरतजीकी महिमा कहाँतक बतलायी जाय? उनकी महिमा रामायणमें भरी पड़ी है। यहाँ तो केवल संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये अधिक प्रमाण उद्धृत नहीं किये गये।

अब, भक्तिके उपर्युक्त नौ प्रकार श्रीभरतजीके जीवन-चरित्रमें जिस प्रकार घटित हुए हैं, इसका महाभारत, पद्मपुराण, रामायण आदि ग्रन्थोंके आधारपर कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) श्रवण-भक्ति

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके द्वारा कथित भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यसे पूर्ण अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी कथाओंका श्रवण करके प्रेममें मुग्ध हो जाना श्रवणभक्तिका स्वरूप है।

ये लक्षण श्रीभरतजीमें प्रत्यक्ष दीखते हैं। श्रीभगवान्‌के गुण, चरित्र, प्रेम और प्रभावको सुन-सुनकर भरतजी मुग्ध होते थे। जिस समय हनुमान्‌जी भगवान्‌का विजय-संदेश सुनाने भरतजीके पास नन्दिग्राममें पहुँचे, तब हनुमान्‌जीके द्वारा इस शुभ संदेशके सुनते ही भरतजीकी बड़ी ही अद्भुत दशा हो गयी।

उस अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥

× × ×

मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥

वाल्मीकीय रामायणमें भरतजी हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम्।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम्॥
(वा० रा० युद्ध० १२६। १)

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको उस महान् वनमें गये बहुत-से वर्ष व्यतीत हो गये, किंतु उसके बाद आज ही मैं मेरे स्वामीका प्रीतिकारक कीर्तन (संदेश) सुन रहा हूँ।'

ऐसा ही श्लोक कुछ पाठभेदसे अध्यात्मरामायणमें भी मिलता है। इसके बाद वहाँ बतलाया है—

एवमुक्तोऽथ हनुमान् भरतेन महात्मना॥
आचचक्षेऽथ रामस्य चरितं कृत्स्नशः क्रमात्।
श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतो मारुतात्मजात्॥
(युद्ध० १४। ५५-६१)

'इसके पश्चात् महात्मा भरतजीके इस प्रकार कहनेपर हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीका क्रमशः संपूर्ण चरित्र सुना दिया। पवनकुमार हनुमान्‌जीसे वह सब चरित्र सुनकर श्रीभरतजीको अत्यन्त आनन्द हुआ।'

उस समयकी भरतजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं—

ततः स वाक्यैर्मधुरैर्हनूमतो निशम्य हृष्टो भरतः कृताञ्जलिः।
उवाच वाणीं मनसः प्रहर्षिणीं चिरस्य पूर्णः खलु मे मनोरथः॥
(वा० रा० युद्ध० १२६। ५५)

'इसके अनन्तर, हनुमान्‌जीके उन मधुर वचनोंको श्रवण करके भरतजी बड़े ही प्रसन्न हुए। वे हाथ जोड़कर मनको अतिशय हर्षित करनेवाली वाणी बोले—'अहो! आज मेरा बहुत दिनोंका मनोरथ पूर्ण हो गया!'

जिस समय भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक हो जानेपर सब भाई अयोध्यामें सुखपूर्वक निवास करने लगे, उस समय जब कभी भरतजी और शत्रुघ्नजी हनुमान्‌जीसहित उपवनमें जाया करते तब श्रीहनुमान्‌जीसे भगवान्‌के गुणानुवाद सुना करते। उस वर्णनसे इनका कथा-श्रवणमें अत्यन्त अनुराग और तज्जन्य आह्लाद, मुग्धता आदि प्रत्यक्ष प्रकट हो रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

भरत सत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपबन जाई॥
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥
सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥

(२) कीर्तन-भक्ति

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्यका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीरमें रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदयकी प्रफुल्लता, मुग्धता आदिका होना कीर्तन-भक्तिका स्वरूप है।

ये लक्षण भी भरतजीमें मिलते हैं। जिस समय भरतजी शृङ्गवेरपुर पहुँचकर गङ्गातटपर ठहर गये, उस समय वहाँ उनके पास गुह आया तो उसने—

दृष्ट्वा भरतमासीनं सानुजं सह मन्त्रिभिः।
चीराम्बरं घनश्यामं जटामुकुटधारिणम्॥
राममेवानुशोचन्तं रामरामेति वादिनम्।
ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति चाब्रवीत्॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ८। २०-२१)

'मेघके समान श्याम शरीरवाले, चीर-वस्त्र पहने, जटाका मुकुट धारण किये हुए तथा श्रीरामका ही स्मरण-चिन्तन

करते हुए और 'राम राम'—इस प्रकार कहते हुए एवं मन्त्रियोंके साथ बैठे हुए छोटे भाई शत्रुघ्नजीसहित भरतजी-को देखकर पृथ्वीपर माथा टेककर प्रणाम किया और कहा कि 'मैं गुह हूँ।'

इसके पश्चात् भरतजी प्रयाग गये तो वहाँ भी भजन-कीर्तन करते हुए ही गये। श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रवेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

जिस समय भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हुए श्रीभरतजी नन्दिग्राममें निवास करते थे, उस समय वे मुनियोंकी भाँति अपना समय विताया करते थे। वहाँ वे प्रेममें मुग्ध होकर भगवान्‌के नामका जप और उनके गुण तथा चरित्रोंकी अमृतमयी कथाका वर्णन भी किया करते थे। श्रीरामचरित-मानसमें बतलाया है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

पद्मपुराणके पातालखण्डमें भी आता है कि—

गर्तशायी ब्रह्मचारी जटावल्कलसंयुतः।
कृशाङ्गयष्टिर्दुःखार्तः कुर्वन् रामकथां मुहुः॥
(१।३०)

'उन दिनों भरतजी जमीनमें गड्ढा खोदकर उसीमें सोया करते थे। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए मस्तकपर जटा और शरीरपर वल्कल वस्त्र धारण किये रहते थे। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे बार-बार श्रीरामचन्द्र-जीकी कथा कहते हुए वियोगके दुःखसे आतुर रहते थे।'

वहाँ नन्दिग्राममें भरतजीके पास जब हनुमान्‌जी पहुँचे तब वे देखते हैं—

कथयन्तं मन्त्रिवृद्धान् रामचन्द्रकथानकम्।
तदीयपदपाथोजमकरन्दसुनिर्भरम्॥
(पद्म० पाताल० २।१२)

'भरतजी अपने वृद्ध मन्त्रियोंसे श्रीरामचन्द्रजीकी कथाएँ कह रहे हैं, जो कि उनके चरणकमलोंके मकरन्दसे अत्यन्त भरपूर हैं।'

उस समय तपस्यासे कृश हुए विरक्त भरतको भगवान् श्रीरामकी विरह-व्याकुलताभरी विह्वलताकी अवस्थामें निमग्न तथा भगवान्‌के नामका जप करते हुए देखकर हनुमान्‌के भी आनन्दकी सीमा नहीं रही। श्रीहनुमान्‌जीकी उस अवस्थाका वर्णन श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥
देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥

इस प्रकार श्रीभरतजीके भगवन्नामजप और गुणादिके कीर्तनका बड़ा ही सुन्दर प्रकरण मिलता है। हमलोगोंको उचित है कि जिस प्रकार प्रेमी भक्त भरतजी प्रेममें मग्न होकर जप तथा कथा-कीर्तन किया करते थे, उसी प्रकार हम भी उनका अनुकरण करें।

(३) स्मरण-भक्ति

प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यका प्रेममें मुग्ध होकर मनन करना और इस प्रकार मनन करते-करते भगवान्‌के स्वरूपमें तल्लीन हो जाना स्मरणभक्तिका स्वरूप है। भरतजीमें ये लक्षण भी मिलते हैं। भगवान् श्रीरामका बारंबार चिन्तन करनेका तो उनका स्वभाव ही था। वे सदा सर्वगुणसम्पन्न भगवान् श्रीरामके अद्भुत रूप-लावण्यसंयुक्त स्वरूपका विशेषरूपसे चिन्तन किया करते थे। वे अयोध्यामें रहते हुए तो भगवान्‌का चिन्तन करते ही थे, किंतु जब भगवान्‌को अयोध्या लौटा लानेके लिये चित्रकूट गये तब रास्तेमें भी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए ही चले और चित्रकूटमें तो वे साक्षात् भगवान् श्रीरामका दर्शन कर ही रहे थे। तदनन्तर जब भरतजी चित्रकूटसे अयोध्या लौटे तब रास्तेमें उनके गुण, चरित्र और स्वरूपका मनन करते हुए ही आये। एवं नन्दिग्राममें आकर तो उन्होंने अपना अधिक समय चिन्तनमें ही विताया।

अध्यात्मरामायणमें भरतजीके अयोध्या-निवास-कालका वर्णन करते हुए लिखा है—

अवसत्स्वगृहे तत्र राममेवानुचिन्तयन्।
वसिष्ठेन सह भ्रात्रा मन्त्रिभिः परिवारितः॥
(अयोध्या० ७।११३)

'वहाँ (अयोध्यामें) अपने घरमें गुरु वसिष्ठजी और भाई शत्रुघ्नके साथ एवं मन्त्रियोंसे घिरे हुए भरतजी श्रीरामचन्द्रजीका ही स्मरण करते हुए रहने लगे।'

चित्रकूटके मार्गमें भरतजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए बतलाया है—

इत्यद्भुतप्रेमरसाप्लुताशयो विगाढचेता रघुनाथभावने ।
आनन्दजाश्रुस्नपितस्तनान्तरः शनैरवापाश्रमसन्निधिं हरेः ॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९ । ४)

'जिनका हृदय इस प्रकार अद्भुत प्रेमरससे भरा है, मन श्रीरघुनाथजीकी भावनामें डूबा हुआ है तथा वक्षःस्थल आनन्दाश्रुओंसे भीगा हुआ है, वे भरतजी धीरे-धीरे श्रीहरिके आश्रमके निकट पहुँचे ।'

तथा—

भरतस्तु सहामात्यैर्मातृभिर्गुरुणा सह ।
अयोध्यामगमच्छीघ्रं राममेवानुचिन्तयन् ॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९ । ६९-७०)

'भरतजी अपने मन्त्रियों, माताओं और गुरु वसिष्ठजीके साथ श्रीरामचन्द्रजीका ही चिन्तन करते हुए शीघ्रतासे अयोध्याको लौट चले ।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनि सहिसुर गुर भरत भुआरू । राम बिरहँ सबु साजु बिहारू ॥
प्रभु गुन ग्राम गनत मन माहीं । सब चुपचाप चले मग जाहीं ॥

नन्दिग्राममें निवास करते हुए भरतजी अपने मन्त्रियोंसे कहते हैं—

दुर्भगस्य मम प्राप्तं स्वाघमार्जनमादरात् ।
करोमि रामचन्द्राङ्घ्रि स्मारं स्मारं सुमन्त्रिणः ॥
(पद्म० पाताल० २ । ४०)

'मन्त्रिगण ! मुझ अभागेके लिये अपने पापोंके प्रायश्चित्त करनेका यह अवसर प्राप्त हुआ है । अतः मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका निरन्तर आदरपूर्वक स्मरण करते हुए अपने दोषोंका मार्जन करूँगा ।'

उस समय हनुमान्जीने—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम् ॥
मलपङ्कविदिग्धाङ्गं जटिलं वल्कलाम्बरम् ।
फलमूलकृताहारं रामचिन्तापरायणम् ॥
यं त्वं चिन्तयसे रामं तापसं दण्डके स्थितम् ।
अनुशोचसि काकुत्स्थः स त्वां कुशलमब्रवीत् ॥
(अध्यात्म० युद्ध० १४ । ५१, ५२, ५५)

'अति दीन और दुर्बल अवस्थामें, आश्रममें निवास करते हुए, अत्यन्त मलिन शरीरवाले, जटाजूट और वल्कल वस्त्र धारण किये हुए तथा फल-मूलादिका भोजन करके भगवान् श्रीरामके ध्यानमें तत्पर हुए भरतजीको देखा और कहा—'भरतजी ! आप जिन दण्डकारण्यवासी तपोनिष्ठ भगवान् श्रीरामका चिन्तन करते हैं तथा जिनके लिये आप इतना अनुताप करते हैं, उन ककुत्स्थनन्दन श्रीरामने आपको अपनी कुशल कहला भेजी है ।'

वहाँ भरतजी समय-समयपर भगवान्के गुण, चरित्र और प्रभावसे संयुक्त स्वरूपको याद करते हुए विरह-व्याकुलतामें मुग्ध हो जाया करते थे । परंतु साथ-साथ उनको भगवान्के विरदपर यह पूरा विश्वास था कि भगवान् मुझे अवश्य मिलेंगे । इस आधारपर वे क्षण-क्षणमें भगवान्की प्रतीक्षा किया करते थे । उन्हें भगवान्के दर्शनमें विलम्ब असह्य था, अतः वे विरह-व्याकुलतामें निमग्न हुए मन-ही-मन करुणाभावसे विलाप किया करते थे । इस विषयमें श्रीतुलसीदासजीने उनके विलापका बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है । वे कहते हैं—

भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार ।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार ॥
रहेउ एक दिन अवधि अधारा । समुझत मन दुख भयउ अपारा ॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ । जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी । राम पदारबिंदु अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा । ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी । नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई । मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई ॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना । अधम कवन जग मोहि समाना ॥
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥

भगवान् श्रीरामके वियोगमें उनकी आशा-प्रतीक्षा करते हुए भरतजी किस प्रकार उनके गुण और स्वभावका चिन्तन करनेमें अपना समय बिता रहे हैं, यह ध्यान देनेयोग्य है !

(४) पादसेवन-भक्ति

श्रीभगवान्के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपकी धातु आदिकी मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस-मूर्तिके मनोहर चरणोंका तथा उनकी चरण-रज और चरण-पादुकाओंका श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत्प्रेममें मग्न हो जाना 'पाद-सेवन' कहलाता है ।

ये लक्षण भी भरतजीमें मिलते हैं । पाद-सेवन भक्तिके

तो भरतजी आचार्य ही हैं। यद्यपि लक्ष्मीजी सदा ही भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें रत हैं, किंतु चरणोंके ही समान चरण-पादुकाओंकी भी सेवा-पूजा करनेकी शिक्षा तो हमें भरतजीसे ही मिलती है। इसके सिवा, चरण-रजका आदर भी जैसा भरतजीने किया, वैसा किसीने किया हो, इसका कोई उल्लेख वाल्मीकीय रामायणकालसे पूर्व कहीं देखनेमें प्रायः नहीं आता।

चित्रकूटके लिये प्रस्थान करनेके पूर्वसे ही भरतजीके हृदयमें जो भगवान्‌के चरणकमलोंमें अनन्य भक्ति तथा चरणोंके दर्शन और सेवनकी लालसा विद्यमान थी, वह अलौकिक और प्रशंसनीय है। वे जब अयोध्यासे चित्रकूट गये तब रास्तेमें जहाँ-कहीं भगवान्‌की चरण-रज मिली, वे उसका बड़े ही आदर-सम्मानपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे सिर और आँखोंपर लगाकर मुग्ध हो गये। भरतजी महाराज श्रीरामचन्द्र-जीकी चरण-सेवाके हेतु ही उनको चित्रकूटसे अयोध्या लौटनेका आग्रह करते रहे। किंतु जब भगवान्‌ने किसी प्रकार भी अयोध्या जाना स्वीकार नहीं किया, तब उन्होंने चरण-सेवाके अनुरूप चरण-पादुका प्रदान करनेकी प्रार्थना की। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवान्‌के द्वारा दी हुई चरणपादुकाओं-को अपने मस्तकपर धारण करके उनको ही अपनी अवधिका आधार बनाया तथा वे चित्रकूटसे लौटते समय मार्गमें भी चरण-पादुकाओंका ही मनन करते हुए नन्दिग्राम पहुँचे। वहाँ आकर भरतजी चरणपादुकाओंको राज्यसिंहासनपर स्थापन करके राज्यका सारा कार्य उन्हींको निवेदन करके किया करते थे। वे चरणपादुकाओंको ही अपने जीवनका आधार मानते और बहुत ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका पूजन किया करते। वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणमें तो यहाँतक दिखलाया है कि जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अयोध्या लौटे, तब भरतजी चरण-पादुकाओंको मस्तकपर धारण करके उनके सामने गये। धन्य है, भरतजीकी चरण-सेवा-भक्तिको!

श्रीभरतजी कहते हैं—

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥
(वा० रा० अयोध्या० ९८। ९)

'जबतक मैं राजाके उपयुक्त चिह्नोंसे युक्त भाईके चरणोंको सिरसे प्रणाम न कर लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

श्रीरामचरितमानसमें लिखा है—

चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥

तथा—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

अध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलान्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुगः॥
अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥
(अयोध्या० ९। २-३)

'भरतजीने वहाँ सब ओर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वज्र, अङ्कुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मङ्गलमय चरण-चिह्न देखे। उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्नके सहित वे उस चरण-रजमें लोटने लगे और मन-ही-मन कहने लगे—'अहो! मैं परम धन्य हूँ! जो आज श्रीरामचन्द्रजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे सुशोभित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरण-रजको ब्रह्मा आदि देवगण और सम्पूर्ण श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं।'

जब चित्रकूटमें अनेक आग्रह करनेपर भी भगवान् श्रीराम अयोध्या चलनेको तैयार न हुए तब भरतजीने कहा—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥
……………………………………
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन॥
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद्बहिः।
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप॥
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम।
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥
(वा० रा० अयोध्या० ११२। २१,२३,२६)

'आर्य! आप इन दोनों सुवर्णभूषित पादुकाओंपर अपने चरण रखें। ये ही सम्पूर्ण जगत्‌के योग-क्षेमका निर्वाह करेंगी। वीर रघुनन्दन! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका भोजन करूँगा। हे परन्तप! आपके आनेकी बाट जोहता हुआ नगरसे बाहर ही रहूँगा। इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरण-पादुकाओं-

पर ही रहेगा । रघुनाथजी ! चौदहवाँ वर्ष पूरा होनेके बाद यदि पहले ही दिन मुझे आपका दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा ।'

अध्यात्मरामायणमें भी भरतजी कहते हैं—

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते ।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव ॥
(अयोध्या० ९ । ४९)

'राजेन्द्र ! आप मुझे राज्य-शासनके लिये अपनी जगत्पूज्य चरण-पादुकाएँ दीजिये । जबतक आप लौटेंगे, तबतक मैं उन्हींकी सेवा करता रहूँगा ।'

इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयोः ।
रामस्य ते ददौ रामो भरतायातिभक्तितः ॥
गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते ।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः ॥
भरतः पुनराहेदं भक्त्या गद्गदया गिरा ।
नवपञ्चसमान्ते तु प्रथमे दिवसे यदि ॥
नागमिष्यसि चेद्राम प्रविशामि महानलम् ।
(अध्यात्म० अयोध्या० ९ । ५०—५३)

'ऐसा कहकर भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दो दिव्य पादुकाएँ (खड़ाऊँ) पहना दीं । श्रीरामचन्द्रजीने भरतका भक्तिभाव देखकर वे खड़ाऊँ भरतजीको दे दीं । भरतजीने वे रत्न-जटित दिव्य पादुकाएँ लेकर फिर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें बार-बार प्रणाम किया । तदनन्तर वे भरतजी गद्गद-वाणीसे इस प्रकार बोले—रामजी ! यदि चौदह वर्षके व्यतीत होनेपर आप पहले दिन ही अयोध्या न लौटे तो मैं महान् अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं । सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ॥

महाभारतमें बतलाया है—

विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा ।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके ॥
(वन० २७७ । ३९)

'पिताके वचनोंका पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा विदा किये हुए भरतजी नन्दिग्राममें आ गये और उन श्रीरघुनाथजीकी पादुकाओंको सामने रखकर समस्त राज्यका पालन करने लगे ।'

वाल्मीकीय रामायणमें वर्णन आता है कि भरतजी नन्दिग्राममें जाकर बड़े-बूढ़ोंसे इस प्रकार बोले—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥
(वा० रा० अयोध्या० ११५ । १४)

'मेरे भाई श्रीरामने मुझे उत्तम धरोहरके रूपमें यह राज्य दिया है और इसके योगक्षेमके सञ्चालनके लिये ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ दी हैं ।'

फिर प्रजामण्डलसे कहने लगे—

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥
(वा० रा० अयोध्या० ११५ । १६)

'ये पादुकाएँ आर्य श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी प्रतिनिधि हैं, अतः इनपर शीघ्र ही छत्र धारण करो । मेरे गुरु श्रीरामचन्द्रजीकी इन पादुकाओंसे ही राज्यमें धर्म स्थापित होगा ।'

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥
तदा हि यत्कार्यमुपैति किञ्चि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥
(वा० रा० अयोध्या० ११५ । २३-२४)

'तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ पादुकाओंका अभिषेक करके और स्वयं सर्वदा उनके अधीन होकर श्रीमान् भरतजी उस समय राज्यका पालन करने लगे । उस समय जो कोई भी कार्य उपस्थित होता तथा जो कुछ भी श्रेष्ठ बहुमूल्य भेंट आती, वह सब भरतजी पहले पादुकाओंको निवेदित करके फिर उसका यथावत् प्रबन्ध कर देते ।'

श्रीहनुमान्‌जीने नन्दिग्राममें आकर—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम् ।
जटिलं मलदिग्धाङ्गं भ्रातृव्यसनकर्शितम् ॥
फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम् ।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम् ॥
नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम् ।
पादुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुन्धराम् ॥
(वा० रा० युद्ध० १२५ । ३०—३२)

—देखा कि 'भरतजी कृश और दीन हैं तथा आश्रम बनाकर रहते हैं । उनकी जटाएँ बढ़ी हुई हैं, शरीरपर मैल जम गया है, भाईके वनवासके दुःखने उन्हें बहुत ही कृश कर दिया है, फल-मूल ही उनका भोजन है, वे इन्द्रियोंका दमन करके तपस्यामें लगे हुए हैं और धर्मका आचरण करते हैं । उनके मस्तकपर जटाओंका भार है और शरीरपर वल्कल तथा मृगचर्मके वस्त्र हैं । उनका जीवन बहुत नियमित और अन्तःकरण भगवान्के ध्यानसे विशुद्ध है; वे ब्रह्मर्षिके समान तेजस्वी भरतजी श्रीरघुनाथजीकी पादुकाओंको आगे रखकर पृथ्वीका शासन कर रहे हैं ।'

महाभारतमें भी आया है कि—

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम् ॥
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने ।
(वन० २९१ । ६२-६३)

'वनवाससे लौटकर उन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने नन्दिग्राममें आकर चीर-वस्त्र पहने हुए और मैल जमे हुए शरीरवाले भरतको पादुकाओंको आगे रखकर आसनपर बैठे हुए देखा ।'

श्रीरामचन्द्रजीको आते देखकर वे बड़े ही प्रसन्न हुए और—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः ॥
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम् ।
शुक्ले च वालव्यजने राजार्हे हेमभूषिते ॥
....
प्रत्युद्ययौ तदा रामं महात्मा सचिवैः सह ।
(वा० रा० युद्ध० १२७ । १७-१८, २०)

'धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रख लीं । तथा श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र और राजाओंके योग्य सोनेसे मढ़े हुए दो सफेद चँवर भी ले लिये । उस समय वह महात्मा भरत मन्त्रियोंके साथ श्रीरामजीकी अगवानीके लिये शीघ्र ही चल पड़े ।'

अध्यात्मरामायणमें भी लिखा है कि—

भरतः पादुके न्यस्य शिरस्येव कृताञ्जलिः ।
शत्रुघ्नसहितो रामं पादचारेण निर्ययौ ॥
(अध्यात्म० युद्ध० १४ । ७५-७६)

'श्रीरघुनाथजीसे मिलनेके लिये भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजी सिरपर भगवान्की पादुकाएँ रखकर हाथ जोड़े हुए पैदल ही चले ।'

इस प्रकार चरणपादुकाओंको चरणोंके तुल्य समझकर सेवा करनेका भाव, कथा या चरित्र भरतजीसे पूर्व कहीं देखनेमें नहीं आता । अतः हमलोगोंको भरतजीको आदर्श मानकर भगवान्के चरण, चरण-पादुका और चरण-रजकी सेवा करनी चाहिये ।

(५) अर्चन-भक्ति

धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटके रूपमें देखे हुए अथवा श्रीभगवान्के भक्तोंसे सुने हुए भगवान्के स्वरूपका बाह्य सामग्रियोंसे तथा भगवान्की मानसिक मूर्तिका मानसिक सामग्रियोंसे एवं उनके साक्षात् विग्रह और चरणोंका नानाविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवन-पूजन करना और उनके तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावको समझ-समझकर प्रेममें मुग्ध होना—'अर्चन-भक्ति' है ।

ये लक्षण भी भरतजीमें विद्यमान थे । साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी प्रेमपूर्वक पूजा करनेकी तो बात ही क्या, भगवान्की अनुपस्थितिमें भरतजी मनसे भगवान्को आसनपर स्थापन करके मनसे ही उनकी सेवा-पूजा किया करते थे । जब भरतजी महाराज भरद्वाजजीके आश्रममें गये तब वहाँ भरद्वाजजीने भरतजीके आतिथ्य-सत्कारमें सिद्धियोंसे राजमहलकी रचना करके भरतजीके लिये राजाओंके योग्य एक सिंहासनकी स्थापना की थी । किंतु भरतजी उस सिंहासनपर नहीं बैठे, बल्कि उसे साक्षात् भगवान् श्रीरामका सिंहासन मानकर स्वयं मन्त्रीके स्थानपर स्थित हो रातभर चँवर डुलाते हुए ही भगवान्की सेवा करते रहे । श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥
(वा० रा० अयोध्या० ९१ । ३८-३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राज्यसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे । तथा उनमें राजाकी भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की । 'सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं' ऐसा मानकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की । फिर अपने हाथमें चँवर ले वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे ।'

भरतजीने इस प्रकार सेवा-पूजा करते हुए ही वह रात्रि व्यतीत की। कैसी अनोखी सेवा-पूजा है!

जब भरतजी नन्दिग्राम आये तब वहाँ राज्यसिंहासनपर भगवान्‌के स्थानमें भगवान्‌की चरण-पादुकाओंको स्थापित करके उनकी पत्र-पुष्प, गन्ध आदिके द्वारा शास्त्रविधिके अनुसार पूजा किया करते थे।

अध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः॥
पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः।
राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः॥
राजकार्याणि सर्वाणि यावन्ति पृथिवीतले।
तानि पादुकयोः सम्यङ् निवेदयति राघवः॥
(अयोध्या० ९। ७१-७२-७४)

'वहाँ एक सिंहासनपर उन दोनों पादुकाओंको रखकर वे नियमित व्रतवाले भरतजी श्रीरामचन्द्रजीके समान ही उनकी नित्य भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और अक्षत आदि समस्त राजोचित सामग्रीसे पूजा करनेके अनन्तर पृथ्वीके प्रतिदिन जितने भी राजकार्य होते, उन सबको वे रघुश्रेष्ठ भरतजी पादुकाओंके सामने भलीप्रकार निवेदन कर दिया करते थे।'

इसी प्रकार पद्मपुराणमें भी आता है कि—

रामस्य पादुके राज्यमवाप्य भरतः शुभे।
प्रत्यहं गन्धपुष्पैश्चापूजयत्कैकयीसुतः॥
तपश्चरणयुक्तेन तस्मिंस्तस्थौ नृपोत्तमः।
(उत्तर० २६९। १९०-१९१)

'कैकेयीनन्दन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी उन मङ्गलमयी पादुकाओंको राज्यसिंहासनपर स्थापित करके नित्य गन्ध-पुष्प आदिसे उनकी पूजा किया करते और इस प्रकार वे नृपश्रेष्ठ भरतजी उस नन्दिग्राममें तपस्यामें संलग्न होकर रहने लगे।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥

भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा तो शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर मिलती है, किंतु भगवान्‌के स्थानमें चरणपादुकाओंको रखकर उनकी भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पूजा करना—इस शिक्षाके प्रवर्तक आचार्य तो श्रीभरतजी ही हुए। धन्य है उनकी इस अलौकिक अर्चन-भक्तिको!

चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अयोध्या आ रहे थे, तब तो भरतजीने प्रत्यक्ष ही विमानपर स्थित श्रीरामचन्द्रजीका अर्घ्य-पाद्यादिसे विधिपूर्वक पूजन किया।

प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत्॥
(वा० रा० युद्ध० १२७। ३५)

'भरतजी प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर उन्होंने विमानमें विराजमान श्रीरामजीकी विधिपूर्वक अर्घ्य-पाद्य आदिसे पूजा की।'

इस प्रकार रामचरित्रोंमें यत्र-तत्र भरतजीके द्वारा पूजा करनेके अनेक स्थल मिलते हैं। हमलोगोंको भी भरतजीको आदर्श मानकर भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेमें तत्परतापूर्वक लगना चाहिये।

(६) वन्दन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान्‌के नाम, भगवान्‌की धातु आदिकी मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्तिको एवं भगवान्‌के साक्षात् चरणोंको शरीर अथवा मनसे श्रद्धा-सहित प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेममें मुग्ध होना 'वन्दन-भक्ति' है। ये लक्षण भी भरतजीमें पूर्णतया विद्यमान थे। भरतजीकी वन्दन-भक्तिके विषयमें तो कहना ही क्या है, वे जब महाराज श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये विदा हुए, तब रास्तेमें उनको नमस्कार करते हुए ही गये और चित्रकूटमें पहुँचकर तो वे दण्डकी भाँति भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े तथा करुणाभावसे विह्वल हो गये। श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥

× × ×

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

× × ×

सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय पद पदुम परागा॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए॥

श्रीअध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित्स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः॥
इत्युक्त्वा चरणौ भ्रातुः शिरस्याधाय भक्तितः।
रामस्य पुरतः साक्षाद् दण्डवत्पतितो भुवि॥
(अयोध्या० ९। २५-२६)

'मेरी माताका जो कुछ अपराध है, उसे भूल जाइये और हमलोगोंकी रक्षा कीजिये।'—ऐसा कहकर भरतजीने भाई श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको भक्तिपूर्वक मस्तकपर रख लिया और साक्षात् श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख दण्डके समान पृथ्वीपर गिर पड़े।'

चित्रकूटसे वापस आते समय भी भरतजी भगवान्‌को प्रणाम करके दुःखित हृदयसे ही आये हैं। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥

× × × ×

प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम रजाई॥

जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनसे लौटकर अयोध्या आये तब भरतजी उनके चरणोंमें लिपट गये; यद्यपि भरतजी उन चरणोंको छोड़ना नहीं चाहते थे, पर भगवान्‌ने बलपूर्वक उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। उस समय भरतजीने सीताजीको भी प्रणाम किया और अपनेको अपराधी मानकर उनसे अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की।

श्रीवाल्मीकीय रामायणका वर्णन है—

ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्॥
आरोपितो विमानं तद्भरतः सत्यविक्रमः।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परंतपः।
अथाभ्यवादयत्प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत्॥
(वा० रा० युद्ध० १२७। ३७, ३९, ४१)

'तत्पश्चात् भरतजीने विमानके अग्रभागमें विराजमान भाई श्रीरामको देखा और जिस प्रकार लोग मेरुपर्वतस्थ दीखते हुए सूर्यको नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार उस समय श्रीरामको विनयपूर्वक प्रणाम किया। भगवान् श्रीरामने सत्यपराक्रमी भरतजीको उस विमानपर चढ़ा लिया। भरतजीने श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचकर प्रसन्नचित्त हो पुनः प्रणाम किया। तदनन्तर भाई लक्ष्मणसे मिलकर फिर परंतप भरतजी-ने सीताजीको अपना नाम उच्चारण करके प्रेमसे अभिवादन किया।'

प्रायः ऐसा ही वर्णन अध्यात्मरामायणमें भी आया है। वहाँ बतलाया है—

आरोपितो विमानं तद्भरतः सानुजस्तदा।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं नाम कीर्तयन्।
अभ्यवादयत प्रीतो भरतः प्रेमविह्वलः॥
(युद्ध० १४। ८३, ८५)

'उस समय भगवान् श्रीरामने भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजीको उस विमानपर चढ़ा लिया; श्रीरामचन्द्रजीके निकट पहुँचनेपर भरतजीने अति आनन्दित हो उन्हें पुनः प्रणाम किया। फिर प्रेमसे विह्वल हुए भरतजीने लक्ष्मणजीसे मिलकर श्रीसीताजीको अपना नाम उच्चारण करते हुए प्रेमपूर्वक प्रणाम किया।'

उस समयकी भरतजीकी अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हुए पद्मपुराणमें भी बतलाया है—

दृष्ट्वा समुत्तीर्णमिमं रामचन्द्रं स तैर्युतम्।
हर्षाश्रूणि प्रमुञ्चंश्च दण्डवत्प्रणनाम ह॥
उत्थापितोऽपि च भृशं नोदतिष्ठद्रुदन्मुहुः।
रामचन्द्रपदाम्भोजग्रहणासक्तबाहुभृत्॥
पतिव्रतां जनकजाममन्यत ननाम च॥
मातः क्षमस्व यदघं मया कृतमबुद्धिना।
(पद्म० पाताल० २। २९, ३१, ३७-३८)

'उन सहायकोंसहित श्रीरामचन्द्रजीको भूमिपर उतरे देख वे भरतजी हर्षके आँसू बहाते हुए उनके सामने दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये। आरम्भमें भगवान्‌के बारंबार उठानेपर भी वे उठे नहीं, अपि तु अपने दोनों हाथोंसे श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंको पकड़कर लगातार फूट-फूटकर रोते रहे। तत्पश्चात् पतिव्रता जनककिशोरीका दर्शन करके भरतजीने उन्हें सम्मानपूर्वक प्रणाम किया और कहा—'मा! मुझ मूर्खके द्वारा जो अपराध हो गया है, उसे क्षमा करना।'

श्रीरामचरितमानसका वर्णन इस प्रकार है—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

प्रेम और विनयकी क्या ही सुन्दर अवस्था है! भरतजी प्रेम और विनयकी तो मूर्ति ही थे। वन्दन करना तो उनका स्वभाव बन गया था। जब कभी वे भगवान्‌से मिलते, तभी उन्हें नमस्कार किया करते थे। उनकी यह आदर्श वन्दन-भक्ति हमलोगोंके लिये सदा अनुकरणीय है।

(७) दास्य-भक्ति

श्रीभगवान‌के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावको समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना तथा प्रभुको स्वामी और अपनेको सेवक समझना 'दास्य-भावरूप-भक्ति' है।

यह भाव तो भरतजीमें पद-पदपर पाया जाता है। यह तो उनका मुख्य भाव है। जब भरतजी ननिहालसे अयोध्या लौट आये तब कैकेयीसे कह दिया कि मैं श्रीरामचन्द्रजीको लौटाकर उनका दास होकर उनकी सेवा करूँगा; बादमें गुरु वसिष्ठजी और मन्त्रियोंने उनको राज्य देनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उनके उत्तरमें भरतजीने यही कहा कि 'मैं इसमें आपका और अपना किसीका भी हित नहीं देखता। मैं तो अपना हित उनकी सेवामें ही समझता हूँ।' भरतजीके इस भावको सुनकर सब मुग्ध हो गये। इसी भावको लेकर भरतजी रामचन्द्रजी महाराजको लाने अयोध्यासे चित्रकूटके लिये विदा हुए। मार्गमें जहाँ-कहीं वे ठहरे, उनके बर्ताव और वार्तालापसे यही भाव झलकता था। चित्रकूटमें भी उनकी प्रत्येक क्रियामें दास्यभाव टपकता था; क्योंकि वे दास्यभावकी एक जीती-जागती मूर्ति ही थे। उन्होंने आजीवन भगवान् श्रीरामकी सेवा और उनकी आज्ञाके पालनको ही अपना सर्वोत्तम परम धर्म मान रक्खा था और इसीमें वे अपना परम कल्याण समझते थे। उनकी दृष्टिमें भगवान् श्रीरामकी सेवासे बढ़कर और कोई दूसरा काम ही नहीं था। भगवान्‌की कठिन-से-कठिन आज्ञा उनके लिये सहर्ष शिरोधार्य थी। भरतजी अपने स्वामीको संकोचमें डालना पाप समझते थे। भगवान् श्रीरामकी आज्ञाके पालनार्थ ही उन्होंने चौदह वर्षतक उनका वियोग सहन किया। राज्यका काम करते हुए पद-पदपर उनका श्रीरामके प्रति सेवाभाव चमकता था। चौदह वर्षके पश्चात् भगवान्‌के वापस आनेपर भरतजी उनका राज्य उनके चरणोंमें समर्पित करके आजीवन उन्हींकी सेवा और आज्ञापालनमें लगे रहे। कभी नगरसे बाहर जाना होता तब वहाँ भी उनकी सेवा करना और अपने हितके लिये उपदेशकी बातें पूछते रहना इनका मुख्य काम था। इस प्रकार भरतजीने आजीवन प्रधानतया दास्यभावमें ही अपना समय बिताया।

उनकी सेवा, आज्ञापालन और प्रेमके भावोंसे भगवान् स्वयं मुग्ध थे। इस विषयमें उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। प्रेम और विनयपूर्वक सेवाभावके लिये भरतजी परम आदर्श हैं। यद्यपि भरतजीके सारे ही आचरण दासभावके द्योतक हैं, तथापि कई स्थलोंमें तो दासभावकी ही प्रधानता है। अब नीचे कुछ प्रमुख प्रमाणोंके द्वारा उनके दासभावका दिग्दर्शन कराया जाता है—

माता कैकेयीके प्रति भरतजीके वचन हैं—

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना॥
(वा० रा० अयोध्या० ७३। २७)

'मैं श्रीरामको लौटा लाऊँगा और उन देदीप्यमान तेजस्वी महापुरुषका दास बनकर सुस्थिर—शान्तचित्तसे जीवन व्यतीत करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें भी आता है कि—

गच्छाम्यारण्यमद्य स्थिरमतिरखिलं दूरतोऽपास्य राज्यम्।
रामं सीतासमेतं स्मितरुचिरमुखं नित्यमेवानुसेवे॥
(अयोध्या० ७। ११४)

'मैंने निश्चय कर लिया; मैं सम्पूर्ण राज्यको सर्वथा छोड़कर आज ही वनको जाऊँगा और मधुर मुसकानसे जिनका मुखारविन्द अति शोभित हो रहा है, उन श्रीराम और सीताकी नित्यप्रति सेवा करूँगा।'

भरतजी गुरु वसिष्ठजी तथा मन्त्रियोंसे कहते हैं—

हित हमार सियपति सेवकाईं। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाईं॥

मार्गमें गुहके प्रति कहते हैं—

अहं रामस्य दासा ये तेषां दासस्य किङ्करः।
यदि स्यां सफलं जन्म मम भूयान्न संशयः॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ८। ३३)

'जो लोग भगवान् श्रीरामके दास हैं, उनके दासोंका अनुचर भी यदि मैं हो जाऊँ तो निस्सन्देह मेरा जन्म सफल हो जाय।'

कैसा सुन्दर दास-भाव है!

चित्रकूटमें जाकर भरतजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

अहमप्यागमिष्यामि सेवे त्वां लक्ष्मणो यथा।
नो चेत्प्रायोपवेशेन त्यजाम्येतत्कलेवरम्॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९। ३९)

'(अच्छा, यदि आप वनसे नहीं लौटना चाहते तो मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे) मैं भी वनमें चलकर लक्ष्मणके

समान ही आपकी सेवा करूँ, नहीं तो मैं अन्न-जल छोड़कर इस शरीरको त्याग दूँगा ।' भगवान्‌की सेवाके लिये भरतजीका कितना आग्रह है !

किंतु भगवान्‌के स्वभावको यादकर भरतजी फिर कहने लगे—

अब करुनाकर कीजिअ सोई । जन हित प्रभु चित छोभु न होई ॥
जो सेवकु साहबहि सँकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची ॥
सेवक हित साहिब सेवकाई । करै सकल सुख लोभ बिहाई ॥

भगवान्‌के अयोध्या लौट आनेपर जब कभी भरतजी उनके साथ किसी उपवन या अमराईमें जाते थे, तो वहाँ भी सेवा ही करते रहते । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना । सुनहु नाथ प्रनतारति हरना ॥
करउँ कृपानिधि एक ढिठाई । मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई ॥

× × × ×

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई । गए जहाँ सीतल अवँराई ॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई । बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥

इस प्रकार भरतजी नित्य भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहे । धन्य है भरतजीके इस आदर्श सेवाभावको ! भरतजीके चरित्रका भलीभाँति मनन करके उनके सेवाभावको आदर्श बनाकर हमें उनका अनुकरण करना चाहिये ।

(८) सख्य-भक्ति

श्रीभगवान्‌के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाको समझते हुए परम विश्वासपूर्वक मित्रभावसे उनकी रुचिके अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना तथा उनके गुण, रूप और लीलापर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना 'सख्य-भावरूप भक्ति' है ।

भरतजीके आचरण और भावोंसे केवल सखाभाव नहीं मिलता; किंतु अन्य भावोंके साथ-साथ सखाभाव भी झलकता है । जैसे, वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि संमतः ।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥
(वा० रा० अयोध्या० ७२ । ३२)

भरतजी मातासे कहते हैं—'जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं तथा जिनका मैं प्रिय दास हूँ, उन सरल स्वभाव श्रीरामचन्द्रजीका पता शीघ्र बतलाओ ।'

चित्रकूटमें भरतजीने भगवान् श्रीरामसे प्रार्थना करते हुए कहा है—

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया ।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥
(वा० रा० अयोध्या० १०२ । १२)

'इन मन्त्रियोंके साथ सिर झुकाकर मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ, मुझपर आप दया करें ।'

उपर्युक्त श्लोकोंमें शिष्य, दास, पिता—इन सब शब्दोंके साथ 'बन्धु' और 'भ्राता' शब्द भी हैं, जो कि सख्य-भावके द्योतक हैं । तथा 'भ्राता' शब्दके साथ ही 'बन्धु' शब्दका अलग प्रयोग करना तो सखाभावको स्पष्ट सिद्ध करता है । अतएव भरतजीका भाई, दास, शिष्य आदि भावोंके साथ-साथ सखाभाव भी था । भ्रातृत्वके भावमें भी बराबरीका भाव होनेके कारण सखाभाव टपकता है । तुलसी-कृत रामायणको देखनेसे भी यह बात सिद्ध होती है । भरतजीके ही वचन हैं—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी । पूज्य परम हित अंतरजामी ॥

× × ×

सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि ।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि ॥

इन चौपाई-दोहोंमें प्रभु, पिता, माता, गुरु, स्वामी, पूज्य, हितू आदि शब्दोंके साथ 'सुहृद्' शब्दका प्रयोग किया गया है, जो कि इनसे अपना भिन्न अर्थ रखता है । अतएव यहाँ 'सुहृद्' शब्द सखाभावका ही द्योतक है । निस्सन्देह भरतजीका श्रीराममें प्रधानतया दासभाव होते हुए भी भ्रातृत्व और प्रेमके नाते मित्रभाव भी था ।

भगवान् श्रीरामके बर्तावसे भी भाइयोंके साथ सखाभाव प्रकट होता है । वनगमनके पूर्व राजतिलककी तैयारीके समय श्रीरामचन्द्रजी महाराज राज्यमें सब भाइयोंका समान अधिकार मानते हुए कहते हैं—

जनमे एक संग सब भाई । भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनबेध उपबीत बिआहा । संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई । हरउ भगत मन कै कुटिलाई ॥

इससे सब भ्राताओंके साथ श्रीरामका मित्रताका भाव झलकता है । लक्ष्मणके प्रति तो मुख्यतया 'सखा' शब्दका प्रयोग मिलता है । वनमें साथ जानेको तैयार हुए लक्ष्मणसे भगवान् कहते हैं—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे रतः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे॥
(वा० रा० अयोध्या० ३१ । १०)

'लक्ष्मण ! तुम मेरे परम स्नेही, धर्मपरायण, धैर्यसम्पन्न और सदा सन्मार्गपर चलनेवाले हो। तुम मुझे प्राणोंके समान प्रिय एवं मेरे अधीन, आज्ञापालक और सखा हो।'

इसके अतिरिक्त, पद्मपुराणके पातालखण्डमें एक श्लोक मिलता है, जिसमें भगवान् श्रीरामने प्रेममें विह्वल होकर भरतके प्रति पाँच बार 'भाई' शब्दका उच्चारण किया है। इसमें भरतजीके प्रति भगवान्‌का बराबरीका तथा आदर और प्रेमका भाव सन्निहित है, इससे यह सखाभावका ही द्योतक है।

यानादवततताराशु विरहक्लिष्टमानसः।
भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भ्रातर्भ्रातर्वदन्मुहुः॥
(पद्म० पाताल० २ । २८)

'निकट आनेपर भगवान् श्रीरामका हृदय विरहसे कातर हो उठा और वे 'भैया ! भैया भरत !' इस प्रकार कहते तथा बारंबार 'भाई ! भाई !! भाई !!!' की रट लगाते हुए तुरंत ही विमानसे उतर पड़े।'

तुलसीकृत रामायणमें भी भरतजीके प्रति भगवान्‌के द्वारा सम्मानपूर्वक बराबरीका व्यवहार किये जानेकी बात आयी है। श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥

—इस व्यवहारसे भगवान्‌का भरतके प्रति सखाभाव स्पष्ट प्रकट होता है।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी महाराजके बर्तावमें तो कई जगह ही भरतके प्रति आदर-सम्मान, बराबरी और प्रेमका व्यवहार पाया जाता है, जिससे स्पष्ट ही सखाभाव झलकता है। जैसे, जब-जब भरतजी नमस्कार करते, तभी भगवान् उन्हें हृदयसे लगा लिया करते। भगवान्‌का यह बर्ताव सखा-भावका ही परिचायक है।

(९) आत्मनिवेदन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमाको जानकर ममता और अहंकाररहित होकर सब कुछ भगवान्‌का ही समझते हुए तन-मन-धन-जनसहित अपने-आपको तथा सम्पूर्ण कर्मोंको श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक भगवान्‌को समर्पण कर देना 'आत्मनिवेदन-भावरूप भक्ति' है।

भरतजीमें आत्मनिवेदनका भाव भी कम नहीं था; क्योंकि वे अपनेको भगवान्‌के अर्पित ही समझते थे। तुलसीकृत रामायणमें भरतजी विलाप करते हुए कैकेयीके सामने पिताको लक्ष्य कर कहते हैं—

चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥

इसी प्रकार अध्यात्मरामायणमें भी कहा है—

हा तात क्व गतोऽसि त्वं त्यक्त्वा मां वृजिनार्णवे॥
असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः।
(अयोध्या० ७ । ६६-६७)

'हा तात ! मुझे दुःखसमुद्रमें छोड़कर आप कहाँ चले गये ? हाय ! महाराज रामको मुझे समर्पण किये बिना ही आप कहाँ चले गये ?'

भरतजीके इस पश्चात्तापसे यह सिद्ध होता है कि वे अपने-आपको श्रीरामके समर्पित ही समझा करते थे।

इसके अतिरिक्त, भरतजी 'जो कुछ भी राज्य और धन है, वह सब श्रीरघुनाथजी महाराजका ही है, मैं भी उनका ही हूँ, अतः इन सबको उनके समर्पण करके उनकी सेवा करूँगा' इस भावको हृदयमें रखकर चित्रकूट गये। वहाँ उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको लौटानेकी अनुनय-विनयपूर्वक बहुत चेष्टा की, परंतु श्रीरामचन्द्रजीने किसी प्रकार भी वापस लौटना स्वीकार नहीं किया और भरतको ही राज्यशासनके लिये बाध्य किया। 'महाराज रामकी आज्ञा-पालन करना ही तुम्हारा परम धर्म है'—गुरु वसिष्ठजीकी ऐसी सम्मति होनेके कारण भरतजीने भगवान्‌के स्थानमें भगवान्‌की चरणपादुकाओंको आश्रय बनाकर उनके प्रति ही समस्त राज्यको और अपने-आपको समर्पण कर दिया। चौदह वर्षकी अवधि बीतनेपर भगवान्‌के अयोध्या पधारनेपर धरोहररूपसे रक्खा हुआ भगवान्‌का राज्य भगवान्‌को सौंप दिया और अपना शरीर भी भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दिया। भरतजी भगवान्‌की शरणमें ही अपना परम कल्याण मानकर आजीवन उनकी आज्ञाका पालन करते रहे। राज्यके किसी भी पदार्थकी तो बात ही क्या, अपने शरीरमें भी वे अपना अधिकार नहीं समझते थे। वे केवल भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व मानकर केवल उन्हींपर निर्भर रहा करते थे। इसके लिये रामायण आदि सब शास्त्र प्रमाण हैं। इस विषयमें नीचे कुछ प्रमाणोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

भरतजी भरद्वाजजीसे कहते हैं—

मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि ।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः ॥
अतो गत्वा मुनिश्रेष्ठ रामस्य चरणान्तिके ।
पतित्वा राज्यसम्भारान् समर्प्यात्रैव राघवम् ॥
....
नेष्येऽयोध्यां रमानाथं दासः सेवेऽतिनीचवत् ॥

(अध्यात्म० अयोध्या० ८ । ४९—५१)

'स्वामिन् ! महाराज रामके रहते हुए मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है ? मुनिश्रेष्ठ ! मैं तो सदा ही श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ । अतः मुनिनाथ ! मैं श्रीरामके पास जाकर उनके चरण-कमलोंमें पड़कर यह सारी राजपाटकी सामग्री उन्हें यहीं सौंपकर लक्ष्मीपति श्रीरामको अयोध्या ले आऊँगा और अति तुच्छ दासकी भाँति उनकी सेवा करूँगा ।'

आत्मसमर्पणका भाव व्यक्त करते हुए भरतजी श्रीरामचन्द्रजीसे कह रहे हैं—

कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी । बोले पानि पंकरुह जोरी ॥
नाथ भयउ सुखु साथ गए कौ । लहेउँ लाहु जग जनमु भए कौ॥
अब कृपाल जस आयसु होई । करौं सीस धरि सादर सोई ॥
सो अवलंब देव मोहि देई । अवधि पारु पावौं जेहि सेई ॥

नन्दिग्राममें निवास करते समय वे मन्त्रियोंसे बता रहे हैं —

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम् ॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥

(वा० रा० अयोध्या० ११५ । १९-२०)

'श्रीरामचन्द्रजीका समागम होते ही उन महापुरुषकी सेवामें यह राज्य समर्पित कर देनेपर मेरा भार उतर जायगा और मैं उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा । मेरे पास धरोहरके रूपमें रक्खी हुई इन उत्तम पादुकाओंको, इस राज्यको और अयोध्याको भी श्रीरामकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके पापोंसे मुक्त होकर विशुद्ध हो जाऊँगा ।'

तदनन्तर, भगवान्‌के अयोध्या लौटनेपर भरतजीने क्या किया, सो बतलाते हैं—

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम् ।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित् ॥
अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः ।
एतत्ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया ॥
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः ।

(वा० रा० युद्ध० १२७ । ५३—५५)

'फिर धर्मात्मा भरतजीने स्वयं ही हाथमें उनकी पादुकाएँ लेकर महाराज श्रीरामचन्द्रजीके पैरोंमें पहना दीं । उस समय भरतजीने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे निवेदन किया कि मेरे पास थाती रक्खा हुआ आपका यह समस्त राज्य आज मैंने आपको वापस सौंप दिया है, आज मेरा जन्म सफल हो गया एवं मेरा मनोरथ पूरा हुआ ।'

अध्यात्मरामायणमें भी लगभग इसी तरहका प्रसङ्ग आया है—

भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते ।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः ॥
राज्यमेतन्न्यासभूतं मया निर्यातितं तव ।
अद्य मे सफलं जन्म फलितो मे मनोरथः ॥

(युद्ध० १४ । ९३-९४)

'तत्पश्चात् भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीकी उन भलीभाँति पूजा की हुई पादुकाओंको भक्तिपूर्वक श्रीरामके ही चरणोंमें पहना दिया और कहा—प्रभो ! मुझे धरोहररूपसे दिये हुए आपके इस राज्यको मैं पुनः आपको ही सौंपता हूँ; आज मेरा जन्म कृतार्थ हो गया और मेरी सारी मनःकामनाएँ पूरी हो गयीं ।'

महाभारतमें भी बतलाया है कि—

तस्मै तद्भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम् ।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा ॥

(वन० २९१ । ६५)

'भरतजीने वह धरोहररूपमें रक्खा हुआ राज्य वनसे लौटकर आये हुए उन श्रीरामचन्द्रजीको बड़े ही हर्षसे अत्यन्त सत्कारपूर्वक सौंप दिया ।'

वस्तुतः भरतजीका समस्त जीवन ही मूर्तिमान् आत्म-समर्पण है । उनके सारे कार्य श्रीरामके लिये ही होते थे । रामकी प्रीति और प्रसन्नता ही उनके जीवनका मुख्य तथा नित्य लक्ष्य था । इसीसे भरद्वाज मुनिने कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरें देह जनु राम सनेहू ॥

इतना सब होनेपर भी भरतजी अपनेमें कोई गुण नहीं देख पाते । वे अपनेको विषयी, कपटी, कुटिल ही मानते हैं

असलमें आत्मनिवेदन वही सच्चा है, जहाँ निवेदनका अभिमान भी नहीं है। सब कुछ सहज ही समर्पित है और माना जाता है कि कुछ भी नहीं है। भरतजी ऐसे ही हैं।

भरतजीकी इस विलक्षण आत्मनिवेदन-भक्तिको आदर्श बनाकर चलनेवाले पुरुष धन्य हो सकते हैं।

उपसंहार

ऊपर भक्तिके नौ प्रकार बतलाये गये हैं, उनको तीन भागोंमें बाँट लेना चाहिये। पहली तीन—श्रवण, कीर्तन और स्मरण भक्ति तो परोक्षमें यानी उपास्यदेवकी अनुपस्थितिमें की जाती हैं और दूसरी तीन—पादसेवन, अर्चन और वन्दन भक्ति पूर्णतया तो भगवान्‌के साक्षात् मिलनेपर ही होती हैं, किंतु भगवान्‌की अनुपस्थितिमें मनके भावसे उनको प्रत्यक्ष मानकर भी इनका अनुष्ठान किया जाता है।

ये छः भक्ति तो क्रियारूप हैं। शेष तीन—दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन भक्ति भावरूप हैं, क्योंकि उनमें भावके अनुसार क्रिया होनेपर भी प्रायः भावकी ही प्रधानता रहती है। भक्तिमें प्रेम-भाव तो एक व्यापक वस्तु है, उसका सम्बन्ध तो सभी प्रकारकी भक्तियोंके साथ है। इसलिये क्रियारूप भक्तिके साथ भावका संयोग होनेपर वह भी भावरूप हो जाती है।

बहुत-से भक्तगण श्रवणको सत्सङ्ग, कीर्तनको भजन और स्मरणको ध्यानका रूप देते हैं; क्योंकि इन तीनोंका उनके साथ परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये इन तीनोंको एक समूहमें बाँधकर बतलाया गया है। इनमें भी वृक्षके मूलमें जल सींचनेकी भाँति सत्सङ्ग भजन-ध्यानका पोषक है। इन तीनोंमेंसे एकका अनुष्ठान करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जैसे कि श्रवणसे परीक्षित् आदि, कीर्तनसे नारद आदि और स्मरणसे ध्रुव आदि परमात्माको प्राप्त हो गये; फिर तीनोंके एक साथ अनुष्ठान करनेसे परमात्माको प्राप्त होनेमें तो कहना ही क्या है।

इसी प्रकार पादसेवन, अर्चन और वन्दन—इन तीनोंको एक दूसरे समूहमें बाँधा गया है; क्योंकि भगवच्चरणोंकी सेवा, पूजा और नमस्कार—ये तीनों ही चरणोंसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं। इन तीनोंमेंसे भी एकके सेवनसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, जैसे कि पादसेवनसे केवट आदि, अर्चनसे पृथु आदि और वन्दनसे अक्रूर आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये; फिर एक साथ तीनोंके सेवनसे भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसी तरह दास्यभाव, सख्यभाव और आत्मनिवेदन-भाव—ये तीनों भावरूपसे अनुष्ठान करने योग्य हैं, इसी कारण इन तीनोंकी एकता है। ये तीनों भाव एक साथ भी रह सकते हैं और अलग-अलग भी। इन तीनोंमेंसे किसी एक भावसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, जैसे कि दासभावसे हनुमान् आदि, सखाभावसे अर्जुन आदि और आत्मनिवेदनभावसे बलि आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं; फिर सब भावोंसे उपासना की जानेपर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

अतएव हमलोगोंको श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावपूर्वक बड़े ही उत्साहके साथ तत्परतासे भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये।

तुलसी-जयन्तीके पुनीत पर्वपर

(रचयिता—श्रीरामभरोसे गुप्त, 'राकेश', साहित्यरत्न)

बरसाते रहो सुधा-बूँद सदा,
वन श्याम कवे घन-पावसके !
हरते रहो दिव्य-दिवाकर नित्य
जड़-अंध कवीस अमावसके !!
पिलाते रहो सदा भक्ति-सुरा
पे अगाध समुद्र महारसके !
मिटाते रहो मद-मत्सर-मोह,
मराल बनो मम मानसके !!

समयका मूल्य और सदुपयोग

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीपरमात्माकी इस विचित्र सृष्टिमें मनुष्य-शरीर एक अमूल्य एवं विलक्षण वस्तु है । यह उन्नति करनेका एक सर्वोत्तम साधन है । इसको प्राप्त करके सर्वोत्तम सिद्धिके लिये सदा सतत चेष्टा करनी चाहिये । इसके लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है—ध्येय निश्चय करनेकी । जबतक मनुष्य जीवनका कोई ध्येय—उद्देश्य ही नहीं बनाता, तबतक वह वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य ही नहीं; क्योंकि उद्देश्यविहीन जीवन पशु-जीवनसे भी निकृष्ट है । किंतु जैसे मनुष्य-शरीर सर्वोत्तम है, वैसे ही इसका उद्देश्य भी सर्वोत्तम ही होना चाहिये । सर्वोत्तम वस्तु है परमात्मा । इसलिये मानव-जीवनका सर्वोत्तम ध्येय है—परमात्माकी प्राप्ति । जिसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

इस परमात्माकी प्राप्तिके लिये सबसे पहला और प्रधान साधन है 'जीवनके समयका सदुपयोग ।' समय सर्वथा अमूल्य वस्तु है । जगत्के लोगोंने पैसोंको तो बड़ी वस्तु समझा है किंतु समयको बहुत ही कम मनुष्योंने मूल्य दिया है । पर वस्तुतः विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि समय बहुत ही विशेष मूल्यवान् वस्तु है । विचार कीजिये—अपना समय देकर हम पैसे प्राप्त कर सकते हैं, पर पैसे देकर समय नहीं खरीद सकते । अन्तकालमें जब आयु शेष हो जाती है तब लाखों रुपये देनेपर भी एक घंटे समयकी कौन कहे, एक मिनट भी नहीं मिल सकता । समयसे विद्या प्राप्त की जा सकती है, पर विद्यासे समय नहीं मिलता । समय पाकर एक मनुष्यसे कई मनुष्य बन जाते हैं अर्थात् बहुत बड़ा परिवार बढ़ सकता है, पर समस्त परिवार मिलकर भी मनुष्यकी आयु नहीं बढ़ा सकता । समय खर्च करनेसे संसारमें बड़ी भारी प्रसिद्धि हो जाती है पर उस प्रसिद्धिसे जीवन नहीं बढ़ सकता । समय लगाकर हम जमीन-जायदाद, हाथी-घोड़े, धन-मकान आदि अनेक चल-अचल सामग्री एकत्र कर सकते हैं पर उन सम्पूर्ण सामग्रियोंसे भी आयु-वृद्धि नहीं हो सकती ।

यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है कि ये रुपये, विद्या, परिवार, प्रसिद्धि, अनेक सामग्री आदिके रहते हुए भी जीवनका समय न रहनेसे मनुष्य मर जाता है, किंतु उम्र रहनेपर तो सर्वस्व नष्ट हो जानेपर भी मनुष्य जीवित रह सकता है । इसलिये जीवनके आधारभूत इस समयको बड़ी ही सावधानीके साथ सदुपयोगमें लाना चाहिये, नहीं तो यह बात-ही-बातमें नष्ट हो जायगा । क्योंकि यह तो प्रतिक्षण बड़ी तेजीके साथ नष्ट हुआ जा रहा है । रुपये आदि तो जब हम खर्च करते हैं, तभी खर्च होते हैं, नहीं तो तिजूरीमें पड़े रहते हैं पर समय तो अपने-आप ही खर्च होता चला जा रहा है, उसका खर्च होना कभी बंद होता ही नहीं । तथा अन्य वस्तुएँ तो नष्ट होनेपर भी पुनः उत्पन्न की जा सकती हैं, पर गया हुआ समय किसी प्रकार भी लौटाया नहीं जा सकता । अतः हमें उचित है कि बचे हुए समयको निरर्थक नष्ट न होने देकर अति कृपणके धनकी तरह उसकी कीमत समझकर उसे ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगावें ।

प्रथम श्रेणीका सर्वोत्कृष्ट काम है—पारमार्थिक पूँजीका संग्रह । दूसरी श्रेणीका है—सांसारिक निर्वाहके लिये न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन । इनमेंसे दूसरी श्रेणीके काममें लगाया हुआ समय भी भाव सुधर जानेपर पहली श्रेणीमें ही गिना जा सकता है । इसका हमें विभाग कर लेना चाहिये, जैसे कि भगवान्ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

(गीता ६ । १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

इस श्लोकमें अवश्य करनेकी चार बातें बतलायी हैं—१. युक्ताहारविहार, २. शरीर-निर्वाहार्थ युक्तचेष्टा, ३. यथायोग्य सोना और ४. यथायोग्य जागना। पहले विभागमें शौच-स्नान, घूमना, व्यायाम, खान-पान, औषध-सेवन आदि शरीरको सशक्त और स्वस्थ रखनेके लिये चेष्टा करना बतलाया गया है। दूसरा विभाग है जीविका पैदा करनेके लिये, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदिके लिये अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार न्याययुक्त कर्तव्यकर्मोंका पालन करना बतलाया गया है। तीसरा विभाग है—शयन करनेके लिये, इसमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। अब चौथा प्रमुख विभाग है—जगनेका, जिसमें मोहनिद्रासे जगकर परमात्माको प्राप्त करनेके लिये कहा गया है। इस श्लोकमें 'अवबोध' का अर्थ रात्रिमें छः घंटे सोकर अन्य समयमें जगते रहना और प्रातः-सायं दिनभरमें छः घंटे साधन करना है। 'अवबोध' से यहाँ मोहनिद्रासे जगकर परमात्माकी प्राप्ति करनेकी बातको प्रधान समझना चाहिये। श्रीशंकराचार्यजीने भी कहा है—'जागति को वा सदसद्विवेकी।'

अब इसपर विचार कीजिये। हमारे पास समय है चौबीस घंटे और काम हैं चार। तब समान विभाग करनेसे एक-एक कार्यके लिये छः-छः घंटे मिलते हैं। उपर्युक्त चार कामोंमेंसे आहार-विहार और शयन—ये दो तो खर्चके काम हैं और व्यापार तथा अवबोध (साधन करना)—ये दो उपार्जनके काम हैं। इस प्रकार खर्च और उपार्जन—दोनोंके लिये क्रमशः बारह-बारह घंटे मिलते हैं। इनमें लगानेके लिये हमारे पास पूँजी हैं दो—एक समय और दूसरा द्रव्य; जिनमेंसे द्रव्य तो लौकिक पूँजी है और समय अलौकिक पूँजी है। आहार-विहारमें तो द्रव्यका व्यय होता है और शयनमें समयका। इसी प्रकार जीविका और अवबोध (साधन करने) में केवल समयका व्यय होता है। किंतु अलौकिक पूँजी समयका तो चारोंमें ही व्यय होता है। अब हमें सोचना चाहिये कि अलौकिक पूँजीको खर्च करके तो अलौकिक लाभ ही प्राप्त करने योग्य है। साधारणतया आहार-विहार और जीविकाके कार्यसे हम लौकिक लाभ ही उठाते हैं तथा शयनमें तो श्रम दूर करनेके सिवा कोई विशेष लाभकी बात दीखती ही नहीं। परन्तु ये ही सब कर्म यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो सर्वोत्तम अलौकिक लाभप्रद हो सकते हैं।

यहाँ एक बात और समझनेकी है कि यदि साधन भी सकामभावसे किया जाता है तो वह समय भी लौकिक लाभ ही देनेवाला होता है, और निष्कामभावसे करनेपर वही साधन अलौकिक लाभ देनेवाला हो जाता है। हमें सभी काम निष्कामभावसे ही करने चाहिये।

अभिप्राय यह कि हमें अवबोध—मोहनिद्रासे जगकर परमात्माकी ओर ही अपनी सब क्रियाओंका लक्ष्य बना लेना चाहिये। इससे हमको जो अबतक केवल सांसारिक लौकिक लाभ ही हो रहा था, उसकी जगह अलौकिक लाभ होने लगेगा और इस प्रकार हम लौकिक पूँजीको भी अलौकिक पूँजी बना सकेंगे।

यह बात तो ऊपर कही ही जा चुकी कि आहार-विहार और शयन—ये दोनों खर्चके काम हैं, इनमें भी आहार-विहारमें तो द्रव्यका खर्च है और शयनमें जीवनका। इसी प्रकार जीविका और अवबोध—ये दोनों उपार्जनके काम हैं, इनमें आजीविकामें द्रव्यका उपार्जन होता है और अवबोधमें नित्य जीवनका उपार्जन। अतः मनुष्यको चाहिये कि नित्य जीवनके उपार्जनका समय, जो कि अलौकिक है, द्रव्योपार्जनके साधन—आजीविकाके कार्यमें न लगावे। प्रत्युत उसमें भी

निष्कामभाव और भगवत्स्मृतिको सम्मिलित करके उसे नित्य जीवनके उपार्जनका साधन बना ले। तथा शयनमें जीवनका खर्च और अवबोधमें नित्य जीवनका उपार्जन होता है। इसलिये जितना सम्भव हो द्रव्यके खर्चके कारणभूत आहार-विहारमेंसे और जीवनके खर्चके कारण-भूत शयनमेंसे समय निकालकर नित्य जीवन—अवबोध (साधन करनेमें) समय लगावे।

भाव यह है कि शौच-स्नान आदिमें यदि पाँच घंटेसे ही काम चल जाय तो सात घंटे निष्काम कर्मोंमें लगावे और यदि शौच-स्नानादिमें चार घंटेसे ही काम चल जाय तो आठ घंटे निष्कामभावसे द्रव्योपार्जनमें लगावे। इसी तरह सोनेमें यदि पाँच घंटेसे ही काम चल जाय तो सात घंटे भजन-ध्यान, जप, स्वाध्याय-सत्सङ्ग, पूजा-पाठ आदि पारमार्थिक उपार्जनमें लगाने चाहिये और यदि शयनमें चार घंटेसे ही काम निकल जाय तो आठ घंटे भजन-ध्यानादिमें अवश्य लगाने चाहिये। तात्पर्य यह कि आय अधिक और व्यय कम होना चाहिये। अर्थात् हो सके जितना समय निद्रासे निकालकर लगाया जाय भजनमें और खान-पानादिसे समय निकाल-कर लगाया जाय निष्कामभावपूर्वक आवश्यक काम-काजमें।

क्योंकि काम-काज करते समय भी यदि निष्काम भाव रखकर भगवद्-आज्ञासे न्यायपूर्वक कर्तव्य पालन किया जाय तो वह समय भी भजनमें ही लगा समझा जा सकता है तथा खान-पानादि भी केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही किया जाय तो वह भी एक तरहसे भजन ही है एवं निद्रा भी उसी उद्देश्यसे ही ली जाय तो वह भी भजन-में ही सम्मिलित हो जाय। इनमें भी साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान तो करते रहना ही चाहिये। इस प्रकार उद्देश्य एक बन जानेपर तो सभी कार्य भगवत्प्राप्ति करानेवाले हो जाते हैं।

जैसे किसी नदीके बहुत बड़े प्रवाहको भी जब नहरें निकालकर अनेक शाखाओंके रूपमें विभिन्न कर दिया जाता है तब वह बहुत बड़ा प्रवाह भी अपने एकमात्र अन्तिम लक्ष्य समुद्रतक नहीं पहुँच पाता और पृथ्वीपर ही इधर-उधर बिखरकर समाप्त हो जाता है। किंतु किसी नदीका एक साधारण प्रवाह भी यदि अपने लक्ष्य समुद्रकी ओर एक ही रूपसे चलता रहता है तो अन्यान्य छोटे-छोटे निर्झर आदिकी अनेक शाखाओंके प्रवाह भी उसीमें आकर सम्मिलित होते रहते हैं और वही बहुत बड़ा प्रवाह बनकर अपने गन्तव्य लक्ष्य समुद्रतक पहुँच जाता है।

इसी प्रकार उद्देश्य अनेक होनेपर अर्थात् कोई निर्धारित लक्ष्य न होनेपर या केवल लौकिक लक्ष्य होनेपर बड़े-बड़े कार्य और परिश्रम भी कुछ वास्तविक कार्यकी सिद्धि नहीं कर सकते, किंतु ध्येय एक और केवल पारमार्थिक होनेपर साधारण-से-साधारण क्रियाएँ भी बहुत कुछ कर सकती हैं। क्योंकि जिसका लक्ष्य भक्त ध्रुवकी तरह ध्रुव यानी अटल है, वही निर्बाधरूपसे और शीघ्र सिद्धि लाभ कर सकता है। उसके मार्गमें कोई भी विघ्न-बाधाएँ नहीं आतीं; जो आती हैं, वे भी सहायक ही हो जाती हैं।

संसारमें मनुष्यों और पदार्थोंको तीन मार्गोंमें ही बाँटा जा सकता है—द्वेषी, प्रेमी और उदासीन। ध्रुवजीको उनसे द्वेष रखनेवाली माता सुरुचिने भी यही उपदेश दिया कि इस पदको प्राप्त करनेके लिये तुम भगवान् विष्णुकी आराधना करो और उनसे प्रेम करने-वाली माता सुनीतिने भी इसीका समर्थन किया तथा उदासीन श्रीनारदजीने भी अन्तमें श्रीविष्णु-भक्तिका ही उपदेश दिया। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधना, तपस्याका लक्ष्य ध्रुव है, अटल है, उसके लिये कोई बाधक नहीं; द्वेषी, प्रेमी या उदासीन—सभी उसके सहायक ही बन जाते हैं।

किंतु हिरण्यकशिपुकी भाँति जिसका लक्ष्य पारमार्थिक नहीं, उसकी क्रियाएँ बलवती होनेपर भी वास्तविक

सिद्धि नहीं दे सकतीं। ब्रह्माजीने स्वयं बतलाया कि हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष-जैसी तपस्या सृष्टिमें अभीतक किसीने नहीं की। हजारों वर्षोंतक ऐसी कठोर तपस्या करनेपर भी उनका लक्ष्य पारमार्थिक न होनेसे वास्तविक सिद्धि नहीं हुई, उनके विरोधी और उदासीन व्यक्तियों-की तो बात ही क्या, सहायक भी छिन्न-भिन्न हो गये।

अतः मनुष्यको उचित है कि अपना लक्ष्य एक परमात्माको बनाकर सावधानीके साथ तत्परतापूर्वक यथोक्त रीतिसे कर्तव्य कर्म करता रहे। ऐसा करनेपर वह अनायास ही परम ध्येयकी सिद्धि कर सकता है। आवश्यकता है सजग रहनेकी—सावधानीकी। मनुष्यको हर समय जागरूक होकर इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि मन, इन्द्रियों और शरीर आदिकी चेष्टा कहीं संसारको मूल्यवान् समझकर न होने लग जायँ अर्थात् संसार लक्ष्य न बन जाय; इस प्रकार हर समय एक लक्ष्यसिद्धिकी जागृति बनी ही रहनी चाहिये।

लक्ष्य स्थिर करके चलनेवालेके लिये निम्नलिखित दो बातोंमेंसे किसी एकको भलीभाँति समझ लेने और निरन्तर स्मरण रखनेकी तो बहुत ही आवश्यकता होती है। दोनों रहें तब तो कहना ही क्या है। एक तो यह कि हमें पहुँचना कहाँ है और दूसरी यह कि उसका मार्ग कौन-सा है। जैसे हमें किसी पहाड़पर एक देवमन्दिरमें जाना है तो पहले वह दीख जाय कि वहाँ जाना है तो फिर हम उस दिशाकी ओर दृष्टि करके चलते रहें अथवा मन्दिर न दीखनेपर भी हमें केवल रास्ता मिल जाय कि इस रास्तेसे इस प्रकार पहाड़पर स्थित देवमन्दिरमें पहुँचा जा सकता है तो हम केवल रास्तेके आधारपर ही चल सकते हैं।

पहले लक्ष्यके स्वरूपको समझना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्ति क्या है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६। २२)

अर्थात् उसकी प्राप्ति होनेपर उससे बढ़कर अन्य कोई लाभ होता है, ऐसी मान्यता उसके मनमें रह ही नहीं सकती और जिसमें स्थित हो जानेपर बड़े भारी दुःखसे भी कभी विचलित किया ही नहीं जा सकता यानी कैसा भी कष्ट क्यों न प्राप्त हो, हमारे परम आनन्दमें कभी कमी आ ही नहीं सकती, तो फिर दुःख तो वहाँ रह ही कैसे सकता है, दुःखका तो वहाँ आरम्भ ही नहीं हो सकता, क्योंकि सुखमें कमी आनेसे ही दुःखके आनेकी गुंजाइश रहती है और सुखकी कभी किञ्चित् भी कमी वहाँ रहती नहीं। उस स्थितिमें हर समय समता बनी रहती है, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय, उद्वेग आदि भाव अन्तः-करणमें कभी हो ही नहीं सकते। कर्म, क्लेश, विकार, अज्ञान, संशय, भ्रम आदि दुःख और दुःखोंके कारणोंका सदाके लिये विनाश हो जाता है। यह है वस्तुस्थिति; यही प्राप्तव्य है और यही गन्तव्य लक्ष्य है।

दूसरा है मार्ग। मार्ग क्या है? हम कोई भी काम करें, वह होना चाहिये शास्त्रविहित और हमारे लिये विशेषरूपसे निर्धारित किया हुआ। उस कामको राग-द्वेषरहित होकर भगवदाज्ञा मानकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवच्चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक करते रहें।

लक्ष्य और मार्ग स्थिर कर लेनेपर भी साधकके लिये एक बहुत बड़ी आवश्यकता है—भगवान्पर भरोसा रखनेकी। हृदयमें यह विश्वास सुदृढ होना चाहिये कि 'मेरा यह कार्य अवश्य ही सिद्ध होगा क्योंकि मुझपर भगवान्की बड़ी भारी कृपा है।' भगवान्के मार्गपर चलनेवालेके लिये बड़े भारी आश्वासनकी बात तो यह है कि इसमें घाटा (नुकसान) कभी होता ही नहीं—

तुलसी सीताराम कहु दृढ़ राखहु बिस्वास ।
कबहूँ बिगरे ना सुने रामचंद्रके दास ॥

इसलिये हमें परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी ओर बड़े जोरोंसे उत्साहपूर्वक लग जाना चाहिये । क्योंकि समय है बहुत थोड़ा और काम है बहुत अधिक । संसारके भोगोंका तो कोई अन्त ही नहीं है—

दुनियाके जो जो हैं मजे हरगिज कम न होंगे ।
पर अफसोश यह है कि इक दिन हम न होंगे ॥

—तब फिर हमारा कौन होगा ? अतएव—

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

'कल्याणके लिये अतिशीघ्र यत्न करे और मृत्युपर्यन्त कहीं भी मार्गसे च्युत न हो, इसके लिये सदा सावधान रहे; क्योंकि विषय-पदार्थ तो सर्वत्र ही उपलब्ध हो जाते हैं ।'

इस भगवद्वाक्यके अनुसार शीघ्रता करनी चाहिये; क्योंकि अन्य सब वस्तुएँ और बातें तो सभी जगह मिल जायँगी, पर भगवत्प्राप्तिका सुअवसर तो केवल इस मानव-शरीरमें ही है ।

श्रीभर्तृहरिने कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

'जबतक यह शरीर स्वस्थ है, और जबतक वृद्धावस्था दूर है तथा जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है एवं जबतक आयुका क्षय नहीं हुआ है, तभीतक समझदार मनुष्यको आत्मकल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, अन्यथा घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेके लिये परिश्रम करनेसे क्या लाभ !'

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४६)

शशाङ्कशेखरकी दृष्टि निमेषशून्य हो गयी है; सुरेन्द्रकी, सुर-समुदायकी तो बात ही क्या । श्रीकृष्णचन्द्रका बाल्यविहार प्रत्यक्ष हो जानेपर किसे आनन्दमुग्ध नहीं कर देता ! इस रसमन्दाकिनीकी धारा किसे आत्मसात् नहीं कर लेती ! हाँ, एक वर्ग ऐसा अवश्य है, जिसकी आँखें इस स्रोतका स्पर्श पाकर शीतल नहीं होतीं, अपितु और भी जलने लगती हैं । इसकी ऊर्मियोंमें ही निरन्तर अवगाहन करते रहनेकी, इन्हींमें मिल जानेकी लालसा उस वर्गके प्राणियोंमें उदय नहीं होती; इसके बदले वहाँ तो इस प्रवाहको समूल विलुप्त कर देनेका ही भाव जाग उठता है । वह वर्ग है असुर-सिरमौर मधुपुर-सम्राट् कंसका । और इस वर्गका ही एक विशिष्ट सदस्य अघासुर अपने अधीश्वर-से प्रेरित हो यहाँ आज वृन्दावनमें आया है । श्रीकृष्णचन्द्रका, गोपशिशुओंका स्वच्छन्द, सुखमय विहार देख रहा है; ज्यों-ज्यों देखता है, उसके हृदयका उत्ताप बढ़ता जाता है; श्रीकृष्णचन्द्रकी, उनके सखाओंकी यह सुखक्रीड़ा उसके नेत्रोंके लिये असह्य बनती जा रही है । यह वही अघासुर है, जिसके बलकी छाप समस्त सुरसमुदायपर अङ्कित है, अमृतपानसे अमर बन जानेपर भी देवसमाज जिससे नित्य सशङ्कित है, अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये जिसके निधनकी नित्य प्रतीक्षा करता रहता है—कब वह शुभ क्षण उपस्थित हो, अघका अन्त हो जाय, और सुधापान व्यर्थ हो जानेकी सम्भावना जाती रहे !—

अथाघनामाभ्यपतन्महासुर-
स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः
पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥

(श्रीमद्भा० १० । १२ । १३)

तदनंतर अघनामा दुष्ट । आयौ सुख देखि सक्यौ न नष्ट ॥

× × ×

जाके डर सुर थरथर डरैं । जदपि अमृत पान हू करैं ॥
तदपि कहँ जब लौं अघ जीवै । तब लगि व्यर्थ अमीको पीवै ॥

इस समय गोपशिशुओं एवं श्रीकृष्णचन्द्रमें दौड़की होड़ लगी है । इससे पूर्व तो बालकोंने किञ्चित् दूर चले गये श्रीकृष्णचन्द्रको सर्वप्रथम स्पर्श करनेकी परस्पर बाजी लगायी थी—

धावत कहत अमी जनु बरसै । तेइ राजा जु प्रथम ही परसै ॥
बन सोभा कौं लखन हित कृष्न दूरि जब जात ।
तब सब बालक दौरि कह प्रथम प्रथम हम तात ॥

और अब श्रीकृष्णचन्द्रको पराजित कर देनेकी योजना बनी है । सचमुच विजय भी शिशुओंकी ही हुई । 'अरे भैयाओ ! देख लो, कनूँकी गति तेज है या हमारी'—कहकर बालक दौड़े । उनके साथ ही श्रीकृष्णचन्द्र भी बड़े वेगसे भगे; किंतु शिशु थोड़ी दूरमें ही उनका अतिक्रमण कर गये, श्रीकृष्णचन्द्र सबसे पीछे रह गये—

कृष्णस्तरस्वी किमहो वयं वा
जानीत भो भ्रातर ! इत्युदीय ।
धावन्त एते त्वरयापि यान्तं
श्रीकृष्णमारादतिचक्रमुस्तम् ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रुतियाँ जिनके लिये सङ्केत करती हैं—वे परमेश्वर अचल हैं, तथापि मनसे भी अधिक तीव्र गतियुक्त हैं, 'अनेजदेकं मनसो जवीयः' वे अन्य समस्त दौड़नेवालोंको स्वयं स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं, 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'—उनका इस प्रकार गोपशिशुओंके पीछे दौड़ना और फिर पराजित हो जाना कितना आश्चर्यमय है ! बलिहारी है परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके इस बाल्यलीला-विहारकी !

अस्तु, गोपशिशु दैवक्रमसे दौड़ रहे हैं उस दिशामें ही, जिधर, जिस ओर अघासुर आकर बैठा है, इनके उच्छलित सुखको देखकर मन-ही-मन वह जल रहा है । इतना ही नहीं, उसके अन्तस्तलमें परिशोध लेनेकी भी भीषण ज्वाला जल उठी है । यह अघासुर बकी (पूतना) एवं बकदैत्यका अनुज जो ठहरा ! चतुर कंसने इसीलिये तो इसे उकसाकर भेजा है । अचिन्त्यलीलामहाशक्तिके प्रभावसे ही अबतक अघका रोष मनमें ही सीमित रहा था; आज श्रीकृष्णचन्द्रके, उनके प्राण सखाओंके दर्शन होते ही वह आग भड़क उठी है । वह सोच रहा है—आह ! इस कृष्णवर्ण शिशुने ही, समस्त गोपबालकोंका नेतृत्व करनेवाले इस काले-कलूटे नन्दपुत्रने ही तो मेरी सहोदरा बहिन बकीके, मेरे सहोदर भ्राता बकके प्राण लिये हैं, फिर भी मेरे जीवित रहते यह बालक जीवित बचा है, आनन्दविहार कर रहा है । नहीं-नहीं, पर्याप्त विलम्ब हो चुका, बस, अब इसे मैं उसी पथका पथिक बना दूँ—वहीं भेज दूँ, जहाँ मेरी लाड़िली बहिन गयी है, मेरे प्रिय भैया गये हैं । इसने तो मेरे दो सुहृदोंके ही प्राण लिये, मैं इसके समस्त मण्डलको ही नष्ट कर दूँगा । इसके साथी गोपशिशु भी इसका ही अनुसरण करें, ये असंख्य गोवत्स भी इस नन्दपुत्रका ही अनुगमन करें । मेरे मृत सुहृदोंको पिण्डदान मैंने नहीं किये । पर आज सर्वोत्तम अवसर उपस्थित हुआ है । यह नन्दपुत्र, ये गोपशिशु, ये असंख्य गोवत्स—ये ही सब मरकर, मेरे द्वारा मृत्युमुखमें समर्पित होकर तिलोदकरूप बन जायँगे, मेरे सुहृदोंके अनुरूप पिण्डसामग्री तो ये ही हैं; इनसे ही मेरे भाई-बहिनकी पूर्ण तृप्ति होगी । और फिर तो समस्त व्रज भी उजड़ जायगा ही, मेरे महाराज कंसके शत्रु सम्पूर्ण व्रजवासी अपने-आप समाप्त हो जायँगे ! उनके प्राण तो उनकी संतति हैं—यह नन्दतनय, ये बालक, ये गोशावक हैं । इन्हें मैं अभी-अभी विनष्ट किये दे रहा हूँ । फिर जब प्राण नहीं रहेंगे तो शरीर रहा न रहा । उस

निष्प्राण शरीरसमूहकी क्या चिन्ता ? व्रजपुरवासियोंमें फिर धरा ही क्या है ?—कंस महाराजका परम अभिलषित आज मैं उन्हें भेंट चढ़ाऊँगा ।'—

दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः
कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः ।
अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयो-
र्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये ॥
एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः
कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः ।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता
प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । १४-१५)

अपने उपर्युक्त निश्चयको अघासुरने तुरंत क्रियाका रूप देना भी आरम्भ किया । देखते-ही-देखते उस दुष्टने योजन-परिमित दीर्घ, एक महापर्वत-सदृश स्थूल, परम आश्चर्यमय, प्रकाण्ड अजगरका शरीर धारण कर लिया । उस महासर्पका मुख तो सचमुच एक प्रसारित गिरिगह्वरके समान प्रतीत होने लगा । निम्न ओष्ठ धरासे जा सटा । ऊर्ध्व ओष्ठ मेघोंका स्पर्श करने लगा । जबड़े कन्दरा-से बन गये । दन्तसमूह पर्वतशृङ्ग-से दीखने लगे । मुखविवरका अन्तर्भाग घोर अन्धकारसे पूर्ण हो गया । जिह्वा विस्तृत अरण्यसरणी (सड़क) सी बन गयी । दीर्घ श्वास कर्कश वायुके प्रवाह-सा बह चला । नेत्र दावानलके समान प्रज्वलित हो उठे । ऐसे इस महाभयंकर अजगररूपसे ही सपरिकर श्रीकृष्ण-चन्द्रको ग्रास बना लेनेकी दुरभिसन्धि लेकर अघासुर वहीं उस वन-पथमें लेट गया—

इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः
स योजनायाममहाद्रिपीवरम् ।
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा
पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः ॥
धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो
दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः ।
ध्वान्तान्तरास्यो विततध्वजिह्वः
परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । १६-१७)

इमि निश्चय करि सो सुरहंता । भयो महाबपु सरप तुरंता ॥
हरि कहँ असन हेतु मति मंदा । अद्भुत बपु सब दुखकी कंदा ॥
जोजन भरि तन पुष्ट कठोरा । गिरि सम तुंग भयानक घोरा ॥
मुख जनु गुहा समान पसारा । भूतल अधर एक तिन डारा ॥
उत्तर अधर जलद सों लागा । दाढ़ मनो गिरि शृंग बिभागा ॥
भीतर अंधकार अति भारी । रसना मनहु पंथ अनुहारी ॥
× × × ×
नैन हुतासन कुंड तरेरत दुष्ट है ।
छाँड़तु स्वाँस प्रचंड महाबल पुष्ट है ॥

इधर गोपशिशु भी दौड़कर, श्रीकृष्णचन्द्रको बहुत पीछे छोड़कर अघासुरके सामने, उसके सन्निकट आ गये । उनकी दृष्टि भी उस महासर्पपर आ पड़ी; किंतु सरलमति शिशु अघकी प्रवञ्चनाको क्या जानें ! उन सबोंने तो उस अजगर-शरीरको कुछ और ही समझा । उन्हें प्रतीत हुआ—अहा ! यह तो वृन्दा-काननकी एक परम अद्भुत शोभा सामने आ गयी—

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम् ।
(श्रीमद्भा० १० । १२ । १८)

देखि अघासुर रूप मान्यो व्रज सोभा मनहुँ ।
अजगर तुंग कुरूप महा भयंकर काल सम ॥

इतना ही नहीं, उन निष्पाप शिशुओंने तो कौतुकवश उसकी उत्प्रेक्षा भी आरम्भ कर दी, अजगरके प्रसारित मुखसे वे उस अपनी धारणागत शोभाकी तुलना करने लगे—

व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । १८)

मानो वाग्वादिनी उन बालकोंके कण्ठकी ओटसे परम सत्यका सङ्केत देनेके लिये चञ्चल हो उठीं; पर श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने सुरसुन्दरीके इस प्रत्येक प्रयासको ही उलट दिया, लीलानिर्वाहके अनुरूप आचरण डालकर, उपमेयको उपमान बनाकर

ही व्यक्त होने दिया—इस प्रकार बालक परस्पर चर्चा करने लगे। सबसे आगेवाले शिशुने पश्चाद्वर्ती साथियोंसे कहा—'अरे भैया! बताओ तो सही, हम-लोगोंके सम्मुख प्रकाण्ड निश्चल प्राणिविशेषके समान जो एक कोई वस्तु है, वह हम सबको निगल जानेके उद्देश्यसे अजगरके बाये हुए मुख-जैसा प्रतीत होता है या नहीं?' बालकके इस कथनका समर्थन तो होना ही है। क्रमशः इस उक्तिके सुन्दर प्रमाण अन्य शिशुओंने दे डाले। वे बोले—'भैया! तुम सर्वथा सत्य कह रहे हो; यह देखो न, रविरश्मियोंसे अरुणित हुआ मेघमण्डल ठीक-ठीक अजगरके ऊर्ध्व ओष्ठ-सा प्रतीत हो रहा है। और फिर उन्हीं रक्तवर्ण मेघोंकी प्रतिच्छाया पड़कर भूमि ऐसी रक्ताभ बन रही है, मानो उस महासर्पका निम्न ओष्ठ हो। वाम एवं दक्षिण पार्श्वकी कन्दराएँ जबड़ोंकी होड़ कर रही हैं, यह उन्नत शिखरश्रेणी उसके दन्तसमूह-जैसी बन गयी है। यह सम्मुखवर्ती सुविस्तृत वनपथ अजगरकी रसनाके समान प्रतीत हो रहा है, गिरिशृङ्गोंका मध्यवर्ती अन्धकार उसके मुखविवरका आन्तरिक शून्यभाग-सा जान पड़ रहा है। अरे और भी देखो! दावाग्निके सम्पर्कसे उष्ण एवं कर्कश वायु अजगरके श्वास-जैसी बन गयी है, वनवह्निसे संदग्ध हुए वन्य जन्तुओंकी दुर्गन्ध भी ठीक ऐसी लग रही है, मानो उसके उदरकी आमिषगन्ध हो—

अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम्।
अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा॥
सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद्घनम्।
अधराहनुवद् रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम्॥
प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे।
तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत॥
आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जत।
एषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम्॥
दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद् भाति पश्यत।
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत्॥

(श्रीमद्भा० १० । १२ । १९–२३)

अहो मित्र देखहु एहि आई। अहै जंतु कोउ कै गिरि भाई॥
नाथ नाथ करुनानिधि देवा। काल मनहु यह करिहि कलेवा॥
सखा जंतु सो लगै कि नाहीं। रह्यो पसारि बदन तौ चाही॥
बालन सहित हमै किन खाई। बाइ रह्यो मुख सरिस लखाई॥
निश्चय रवि कर अरुन समूहा। घन सो परसि लगत धर व्यूहा॥
तेहि प्रति छाया थिर सब ठामू। लगत ओठ सम सुंदर धामू॥
सव्यासव्य नगोदर माहीं। सृक्कनि दोइ सरिस सम छाहीं॥
तुंग शृंग राजो इमि राजत। द्विज सोभा सम सुंदर भ्राजत॥
पथ यह सुभग देखिये कैसो। रसना सरिस लगन लखु जैसो॥
शृंग मध्य तम अतिसै भारी। जनु मुख मध्य अहै अँधिआरी॥
दाद उष्ण खर बात यह भासत स्वास समान।
सखा लखो यह सर्प-सो जान्यो जात प्रमान॥
जर्यो सत्त्व दावा महँ कोऊ। ता सम दुष्ट गंध यह जोऊ॥

इस प्रकार कहते हुए गोपशिशु उसी दिशामें अग्रसर होते चले गये, अघके और भी निकट जा पहुँचे! अचानक किञ्चित् वयस्क एक बालक सबका ध्यान उस ओर ही आकर्षित कर बोल उठा—'अच्छा मित्रो! कदाचित् यह सचमुच ही अजगर हो और इस अजगरके मुखमें हम सभी प्रविष्ट हो जायँ तो यह क्या हमें ग्रास कर लेगा?—

अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टान्।

किन्तु सखा-मण्डलसे इसका उत्तर प्राप्त होनेमें भी तनिक विलम्ब नहीं हुआ। एक परम चञ्चल छोटेसे बालकने ही समाधान कर दिया—

अयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति।
क्षणादनेनेति ....॥

'यदि यह ऐसा करेगा तो कनू भैयाके द्वारा बककी भाँति क्षणमें ही मार दिया जायगा।'

ग्रसै हमैं तो बक गति पैहैं।

फिर तो शिशुओंके मुखपर एक नवीन उत्साहकी लहर नाच उठी। इस पुरोवर्ती गिरिकन्दरमें प्रवेश करनेकी, इस नये सुन्दर कौतुकसे मनोरञ्जन करनेकी वासना भला, किस बालकको न होगी! समस्त शिशु एक साथ समान उत्कण्ठाकी डोरीमें बँधकर खिंचने

लगे। पर्वत-गुहाके अन्तर्भागमें प्रविष्ट होकर क्रीड़ा करनेकी लालसासे सबने प्रथम तो अविलम्ब अपने गोवत्ससमूह अघके विशाल मुखमें हाँक दिये; गोवत्स-राशि सुरसरि-धाराकी भाँति अघरूपी गिरिदरीमें प्रविष्ट होने लगी। यह हो जानेके अनन्तर प्रत्येक शिशुने ही एक बार अपने प्राणाधिक प्रिय सखा श्रीकृष्णचन्द्रके कमनीय मुखारविन्दकी ओर दृष्टि डाली। दृष्टि पड़ते ही अन्तरका आनन्द बड़े वेगसे उच्छ्वसित हो उठा; सबके मुख उज्ज्वल हास्यसे आलोकित हो उठे। इसके पश्चात् तो विलम्ब क्यों हो, देखते-ही-देखते वे सब-के-सब हँसते, करताली देते अघके मुखमें जा घुसे—

···बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । २४)

अब कहीं श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। इससे पूर्व तो वे न जाने कौनसे लीला-राज्यमें मन-ही-मन विचरण कर रहे थे, अपने अनन्त ऐश्वर्यपर बाल्यावेशकी चादर डाले, उसे आवृत किये, परम मनोहर बाल्यलीलाविहारके सुखसिन्धुमें संतरण कर रहे थे, तटसे अत्यन्त सुदूर कहाँ-से-कहाँ बहते जा रहे थे। किंतु सहसा चादरके एक छिद्रसे झाँककर उनकी सर्वज्ञता-शक्तिने अघासुरकी उपस्थितिको उसकी दुरभिसन्धिको देख लिया और श्रीकृष्णचन्द्र अपने सर्वान्तर्यामी स्वरूपमें अवस्थित हो गये। उपस्थित तो वे पहले भी थे ही, नहीं-नहीं नित्य हैं ही। उन्होंने तो खेलनेके उद्देश्यसे बाल्यभावके दुकूलद्वारा उसे ढँक रक्खा था। बस, दुकूलको तनिक-सा हटा लिया और वह स्वरूप व्यक्त हो गया। अस्तु, अब सर्वभूतहृत्स्थित श्रीकृष्णचन्द्रने सब कुछ जान लिया; कालका व्यवधान वहाँ कहाँ ? उन्होंने तो क्षणभर पूर्व शिशुओंके द्वारा की हुई उत्प्रेक्षाएँ भी सुन लीं, शिशु परस्पर भ्रमपूर्ण आलाप कर रहे हैं, प्रकृत अजगरको ये सब वृन्दाकानन-की शोभा मान रहे हैं, सत्य इनके लिये असत्य बन रहा है, और वास्तवमें तो यह अजगर भी नहीं, अघासुर है—ये सब बातें प्रत्यक्ष हो गयीं। और अब पहले तो उन्हें अपने सखाओंको अघके मुखमें प्रविष्ट होनेसे रोकना जो है। मानो लीलाप्रवाह क्षणभरके लिये पीछेकी ओर लौट आया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रने गोपशिशुओंको निवारण करनेका निश्चय किया—

इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं
श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते ।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः
स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । २५)

स्नेह एवं आर्तिमिश्रित स्वरमें श्रीकृष्णचन्द्र पुकार उठे—

मा विशत मा विशत भो व्यालोऽयं व्यालोऽयमिति।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'भैयाओ हो! मत घुसो, मत घुसो; यह सर्प है, सर्प है!' किंतु इतनेमें तो शिशु अघके उदरमें प्रविष्ट हो चुके!

तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरम्।

और प्रवेश करते ही विषकी ज्वालासे उनकी समस्त इन्द्रियवृत्ति विलुप्त हो गयी, श्रीकृष्णचन्द्रमें आकर एकाकार हो गयी। इस अवस्थामें उनकी पुकारको कोई सुने भी तो कौन सुने ?—

आननप्रवेशमात्रेणैव विषज्वालया लयारूढ-सकलेन्द्रियाः कृष्ण एवासन् कैः श्रोतव्यं तद्वचनम्।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इस ओर गोशावक, गोपशिशुके मुखमें प्रविष्ट हो जानेपर भी अघने उन्हें निगल नहीं लिया।

परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः···

निगले कैसे ? वह तो अपने स्वजनोंका वध स्मरण कर प्रतिशोध लेनेकी भावनासे वक-शत्रु श्रीकृष्णचन्द्रके भी अपने मुखमें प्रविष्ट हो जानेकी प्रतीक्षा जो कर रहा है—

......वकारिवेशनं हलस्वकान्तसरणेन रक्षसा ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । २६)

सबको अभयदान करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र इस घटनाको देख रहे हैं। केवल द्रष्टारूपसे देखभर रहे हों, यह बात नहीं। उन सर्वचिन्ताहारी श्रीहरिको तो इस समय भारी चिन्ता लग रही है। वे सोच रहे हैं—'आह! एकमात्र मैं ही जिनका रक्षक हूँ, वे दीन गोपशिशु मेरे हाथसे निकलकर, मेरे संरक्षणसे बाहर जाकर मृत्युकी जठराग्निमें आहुति बन गये!'—उनके अनन्त पारावारविहीन कृपासिन्धुको उद्वेलित कर देनेके लिये यह स्पन्दन कम नहीं, बहुत-बहुत पर्याप्त है। सचमुच श्रीकृष्णचन्द्र अपने सहचरोंको इस प्रकार विपन्न देखकर अपनी ही कृपाकी ऊर्मियोंमें बह चलते हैं। साथ ही अनन्त लीलामयको अतिशय विस्मय भी हो रहा है—'ओह! दैवकी कैसी विचित्र लीला है, इन गोपशिशुओंके प्रारब्धकी कितनी विचित्र परिणति है!'—

तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो
ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान्।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान्
घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । २७)

अखिललोक भय नासक जोई। लखि बालक बिसमय कर सोई॥
दैव प्रबल गति कहि यदुनंदा। निज जन सोच करत सुखकंदा॥
जठरानलकी ग्रासु, भए बाल बछरा सकल।
यह बिचारि चित आसु, करुनाकर जान्यों अहेत॥

जो सत्यसंकल्प हैं, जिनके दिव्य चिन्मय मानसतलमें किसी भी संकल्पका उन्मेष होते ही वह तत्क्षण संघटित हो जाता है, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र इस समय अपने सखाओंकी प्राणरक्षाके लिये संकल्प-विकल्पके स्रोतमें बहे-से चले जा रहे हैं। उनके लिये एक समस्या-सी बन गयी है—

कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं
न वा अमीषां च सतां विहिंसनम्।

'अब करना क्या चाहिये? इस दुष्ट अघका जीवन न रहे और इन सरलमति गोपशिशुओंकी भी हत्या न हो?'

ये दोनों बातें एक साथ कैसे सम्पन्न हों—श्रीकृष्णचन्द्र इस समस्यामें व्यस्त हो रहे हैं। वास्तवमें तो यह भी ऐश्वर्यसंपुटित लीलाकी एक लहरीमात्र ही है। अन्यथा जो सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा हैं, उनके लिये क्या तो उलझन है और क्या सुलझन। जो हो, श्रीहरि—दुष्टोंके प्राणहारी श्रीकृष्णचन्द्र पुनः-पुनः इस प्रश्नपर सम्यक् रीतिसे विचार करते हैं। और जब स्वयं अशेषदृग् ही उपाय निर्धारण करने चले हैं तब उपाय क्यों नहीं मिले? उनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने तो लीलाक्रम निर्धारित कर ही रक्खा है। श्रीकृष्णचन्द्र बस, उस क्रमकी ओर देख लेते हैं; उन्हें भी अघके मुखमें प्रविष्ट हो जाना चाहिये, यही अग्रिम क्रम है, यही उपाय है।—श्रीकृष्णचन्द्र यह जान लेते हैं। इसका अनुसरण भी उन्हें करना ही है, वे करते ही हैं। देखते-ही-देखते वे अघासुरको परम अभिलषितका दान करते हुए उसके मुखविवरमें स्वयं भी घुस जाते हैं—

द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य त-
ज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । २८)

करि विचार सर्बज्ञ सुजाना। अहि मुख पैठे कृपानिधाना॥
परम पुरुष भक्तन सुखदाता। दीनबंधु सरनागत त्राता॥

अन्तरिक्ष देवोंके हाहाकारसे पूर्ण हो उठता है। देवोंमें यह साहस नहीं कि अघासुरके समक्ष वे स्वतन्त्रभावसे आकाशमें अवस्थित भी हो सकें। इसीलिये वे अपनेको मेघसमूहोंमें छिपाये रखकर ही श्रीकृष्णचन्द्रकी लीला देख रहे थे। पर जब श्रीकृष्णचन्द्र ही अघासुरके ग्रास बन गये, उसके मुखमें प्रविष्ट हो गये, तब फिर अघासुरके हाथ देवजगत्का विनाश अवश्यम्भावी है ही। अमरमण्डल इसलिये ही चीत्कार कर उठा—

तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः ।

और इधर राक्षस गुप्तचरोंने विद्युत्-वेगसे दौड़कर मधुपुरके अधीश्वर कंसको घटनाकी सूचना दे दी, सपरिकर नन्दपुत्र अघासुरके मुखमें समा गये। यह समाचार क्षणोंमें ही अघके सुहृद् कंस आदि राक्षसवर्गको प्राप्त हो गया। फिर तो मधुपुरका राजसदन राक्षसोंके आनन्द-कोलाहलसे गूँज उठा——

जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १२ । २९)

अमरवृन्दका आर्तनाद, असुरवर्गकी आनन्दध्वनि— दोनों ही अघके मुखमें प्रविष्ट श्रीकृष्णचन्द्रके कर्णरन्ध्रोंमें जा पहुँचीं। उन्होंने सब सुन लिया। वे क्यों नहीं सुनते? जैसे वहाँ उनके समीप काल-व्यवधान नहीं, वैसे देश-व्यवधान भी नहीं। साथ ही वे तो नित्य अव्यय—सर्वथा क्षय-रहित हैं। अघासुरकी विषज्वाला उन्हें दग्ध नहीं कर सकती। वे वहाँ भयानक विषकी अग्निमें भी वैसे ही शीतल शान्त अक्षुण्ण बने हैं, अघकी अग्रिम चेष्टाकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्हें अधिक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती; क्योंकि उनके मनमें सुरसमुदायके हाहाकार एवं असुरोंकी हर्षध्वनिके क्रमको बदल देनेकी, राक्षसकुलमें चीत्कारका झंझावात एवं विबुधवृन्दमें आनन्दरवका प्रबल प्रवाह प्रवाहित करनेकी इच्छा जाग्रत् हो गयी। और इस इच्छाकी ही प्रतिच्छाया मानो अघपर पड़ गयी; वह गोपशिशु, गोवत्सके सहित श्रीकृष्णचन्द्रको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके अभिप्रायसे अपना मुखविवर संवरण करने चला, नीचे और ऊपरके ओठोंको सटाकर मुख मूँद लेनेके लिये उद्यत हुआ। बस, श्रीकृष्णचन्द्र इसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। फिर तो, उनकी ओरसे भी समयोचित चेष्टा आरम्भ हो गयी। अघके अधरोष्ठ किञ्चिन्मात्र स्पन्दित होते-न-होते श्रीकृष्णचन्द्रने अत्यन्त स्थूल एवं सुदीर्घ शरीर धारण कर लिया; इतना विशाल शरीर कि अघासुरके गलेका वह प्रकाण्ड छिद्र सर्वथा सब ओरसे अवरुद्ध हो गया। क्षणार्द्ध बीतनेसे भी बहुत पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र सहसा इतने बढ़ गये——

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम् ।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ॥

(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३०)

परिणाम यह हुआ कि उस प्रचण्डकाय दैत्यका कण्ठ रुद्ध हो गया, नेत्र बाहर निकल आये। वह अतिशय व्याकुल होकर छटपट करने लगा। श्वास बाहर आनेका मार्ग तो रुक चुका। प्राणवायु शरीरमें ही सञ्चित होने लगी; सम्पूर्ण शरीर वायुपूरित हो उठा। किंतु प्राणोंको तो बाहर निकलना ही है, कोई-न-कोई मार्ग चाहिये ही। अन्तमें उन्हें दशम द्वार ही मिला। अघासुरके प्राण उसके ब्रह्मरन्ध्रका भेदन कर तत्क्षण बाहर निकल गये—

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो
मूर्धन् विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहिः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३१)

अति दीरघ बपु बढ़े कृपाला। असुर स्वास रुकिगो तेहि काला ॥
भ्रमै प्रान व्याकुल दिबुधारी। उलटे नयन गिरे भू भारी ॥
पवन रह्यो रुकि छिद्र न पावा। दसम द्वार छिदि बाहर आवा ॥

बल बिपुल उक्लाढ, भुज अंग जब बाढ,
खल परेिय हिय गाढ, सहि सकै किमि भार।
रुकि स्वाँस परचंड, हति तेज उदंड,
सिर फूट सत खंड, सठ है गयौ छार ॥

प्राणोंके साथ ही अघासुरकी इन्द्रियाँ भी बाहर आ गयीं——समस्त इन्द्रिय-शक्ति विलुप्त हो गयी। यह हो चुकनेके अनन्तर व्रजेन्द्रचन्द्रकी मधुस्निग्ध दृष्टि मृतप्राय शिशुओंपर, गोवत्सोंपर पड़ी। उस अमृतवर्षिणी दृष्टिके स्पर्शमात्रकी देर थी, शिशु एवं गोवत्सोंमें नवजीवन सञ्चारित हो गया। अब

श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ क्यों रुकें ? सबको साथ लिये वे मुखविवरके द्वारसे बाहर चले आये—

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु
प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३२)

इस प्रकार अत्यन्त अधम अघदैत्यका उद्धार हुआ। उसे क्या गति मिली, उसकी चरम परिणति कैसी हुई—यह भी उसी क्षण स्पष्ट हो गया। उस महास्थूल सर्प-कलेवरसे एक परम अद्भुत, परमोज्ज्वल ज्योति निर्गत हुई थी। अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको आलोकित करती हुई, श्रीकृष्णचन्द्रके बाहर आ जानेकी प्रतीक्षा लिये, आकाशमें ही वह अवस्थित रही। तथा जैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र बाहर आये, वैसे ही वह उनके महामरकतश्यामल श्रीअङ्गोंमें विलीन हो गयी। किसी गुप्त अस्पष्ट रूपसे नहीं, समस्त स्वर्वासी देवोंके प्रत्यक्ष देखते हुए ही—

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं मह-
ज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद् दिशो दश।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३३)

निकसि ज्योति अंबरमें गई। दामिनि-सी फिरि ठाढ़ी भई ॥
जब लगि नंद-सुवन गोविंद। बछरा अरु ब्रज-बालक-बृंद ॥
अमृत-दृष्टि करि सींचि जिवाई। लै आये बाहिर इहि भाई ॥
तब लौं रही गगनमें जोति। सब दिसि जगमग जगमग होति॥
उलका ज्यौं तहँ तें उलटानी। आनँद भरि हरि-माँझ समानी ॥

कर्तव्य-पालनसे संस्कृतिकी रक्षा

आजकल अपनेको हिंदू संस्कृतिके रक्षक समझनेवाले बहुतसे भाइयोंमें वर्णाश्रम-व्यवस्थाके बारेमें झगड़ा चल रहा है। कोई कहता है कि इसको रहना चाहिये, तो कोई कहता है इसे नहीं रहना चाहिये। कोई कहता है कि सारे अनर्थका मूल यही है, तो कोई कहता है कि इसीने नाना प्रकारके बाहर-भीतरसे होनेवाले आघातोंसे हमारी रक्षा की है। पर समझदार व्यक्तियोंको इस झगड़ेमें न पड़कर सच्चे दिलसे अपना कर्तव्य पूरा करनेमें लग जाना चाहिये। झगड़ा होता ही तभी है जब कि हम अपना निश्चित कर्तव्य करनेमें तो प्रमाद करते हैं पर अपने क्षुद्र स्वार्थको नहीं छोड़ना चाहते; अपने सुख-आराम तथा पूजा प्रतिष्ठाको ही जीवनका लक्ष्य समझकर किसी-न-किसी प्रकार बनाये रखना चाहते हैं! क्या ही अच्छा होता यदि हममेंसे जो अपनेको ब्राह्मण समझते हैं, वे अपने ब्रह्मकर्म (गीता अध्याय १८ श्लोक ४२)में कर्तव्यबुद्धिसे लगे रहें; जो अपनेको क्षत्रिय समझते हैं, वे कर्तव्यबुद्धिसे अपने क्षात्रकर्म (गीता अध्याय १८ श्लोक ४३) में लगे रहें और जो अपनेको वैश्य समझते हैं, वे भी अपने निजी कर्म (गीता अध्याय १८ श्लोक ४४) में लगे रहें। ऐसा करनेमें हम यदि विचारपूर्वक देखेंगे तो हमारे मार्गमें आनेवाली रुकावटें बाहरसे नहीं आतीं जिनके लिये हमें झगड़ना पड़े, बल्कि हमारे प्रमादके कारण हमारे ही अन्दरसे आया करती हैं। अतएव हमें औरोंको दोषी न ठहराकर अपनेको ही दोषी समझना चाहिये। ऐसा समझते हुए यदि हम इस झगड़ेमें अपना समय और शक्ति व्यर्थ ही नष्ट न कर अपना-अपना कर्तव्य करनेमें जुट जायँ तो समस्या अपने आप सुलझ जायगी। रहनेवाली चीज रहेगी और जानेवाली चीज जायगी। कालचक्र स्वयं ही स्थितिको सँभाल लेगा। केवल इसी तरह हमारी पवित्र हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा भी हो सकेगी। पर ऐसा न करके यदि हम प्रमादवश अपने कर्तव्यकी अवहेलना करते हुए केवल अपने क्षुद्र स्वार्थोंको ही सुरक्षित रखना चाहेंगे और सारा दोष औरोंके मत्थे मढ़ेंगे तो समस्या सुलझनेके बजाय और भी उलझती जायगी और हम स्वयं ही अपनी संस्कृतिको लोप करनेके भागी बनेंगे!

—हिंदू-संस्कृतिका एक प्रेमी

भगवान्‌के चार व्यूह

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०)

ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और ओज नामक षड्गुणोंसे सदा सम्पन्न श्रीभगवान् इस चराचर विश्वकी सृष्टि करते समय ऐश्वर्य एवं वीर्यको प्रकट करते हुए तथा अन्य चार गुणोंका निगूहन करते हुए प्रद्युम्न रूप धारण करते हैं। इनका वर्ण कुछ-कुछ पीला होता है। शास्त्रमें इनके वर्णकी उपमा जुगनूकी कान्तिसे दी गयी है। ये रक्ताम्बरधारी हैं। चतुर्भुज हैं। अभय, शङ्ख, बाणपञ्चक एवं शार्ङ्ग इनके चारों हाथोंमें हैं। इनकी ध्वजापर मकरका चिह्न है। ऐश्वर्यसे जगत्‌की रचना करके वीर्यसे धर्मका प्रवर्तन करते हैं। ये मनस्तत्त्वके अधिष्ठाता हैं।

शक्ति और ओजको प्रकट करते हुए तथा अन्य चारों गुणोंका निगूहन करते हुए श्रीभगवान् जगत्‌की रक्षा करनेके लिये अनिरुद्ध रूप धारण करते हैं। इनका वर्ण नीला है। शुक्लाम्बरधारी हैं। चतुर्भुज हैं। अभय, शङ्ख, खेट और खड्ग इनके चारों हाथोंमें हैं। शक्तिसे जगत्‌का पालन करके ओजसे आत्मतत्त्वका विस्तार करते हैं। इनकी ध्वजापर मृगका चिह्न है। ये अहङ्कार-तत्त्वके अधिष्ठाता हैं।

ज्ञान और बलको प्रकट करते हुए तथा अन्य चार गुणोंका निगूहन करते हुए श्रीभगवान् जगत्‌का अस्त करनेके लिये संकर्षण रूप धारण करते हैं। इनका वर्ण पद्मरागके समान लाल है। नीलाम्बरधारी हैं। चतुर्भुज हैं। अभय, शङ्ख, मूसल और हल इनके चारों हाथोंमें हैं। इनकी ध्वजापर तालका चिह्न है। ज्ञानसे शास्त्रीय सिद्धान्तका प्रसार करते हैं एवं अन्तमें बलसे जगत्‌का संहार। ये जीवोंके अधिष्ठाता हैं।

उपासनाके समय षड्गुणसम्पन्न श्रीभगवान्‌को भी जब व्यूहोंमें सम्मिलित करते हैं तब उनका नाम वासुदेव किंवा व्यूह-वासुदेव होता है। इनका वर्ण चन्द्रगौर है। पीताम्बरधारी हैं। चतुर्भुज हैं। अभय, शङ्ख, गदा, चक्र इनके चारों हाथोंमें हैं। इनकी ध्वजामें गरुड़ हैं।

उपर्युक्त चारों रूप बड़े नयनाभिराम हैं। सभी वनमाला, श्रीवत्स, कौस्तुभ, किरीट, हार, केयूर, नूपुर, मकर, कुण्डल, तिलक आदिसे विभूषित हैं। युगपत् उपासनामें वासुदेव पूर्वमें, संकर्षण दक्षिणमें, प्रद्युम्न पश्चिममें और अनिरुद्ध उत्तरमें प्रतिष्ठापित होते हैं।

विग्रह और परिधानके वर्णोंमें भिन्नताके कारण ये सभी अपनी-अपनी विशेषताओंसे विशिष्ट हैं, तथापि शस्त्र-पार्थक्यसे वह विशेषता और भी विशद हो जाती है। नीचेके कोष्ठकसे शस्त्र-धारण-क्रम स्पष्ट हो जायगा—

मूर्तिनाम	ऊर्ध्वदक्षिण कर	ऊर्ध्ववाम कर	अधोवाम कर	अधोदक्षिण कर
वासुदेव	अभयमुद्रा	शङ्ख	गदा	चक्र
संकर्षण	,,	,,	मूसल	हल
प्रद्युम्न	,,	,,	बाणपंचक	शार्ङ्ग
अनिरुद्ध	,,	,,	खेट	खड्ग

अन्य व्यूह

वासुदेवसे तीन अन्य रूप होते हैं—केशव, नारायण और माधव। केशव स्वर्णाभ हैं और चार चक्र धारण करते हैं। नारायण श्यामवर्ण हैं और चार शङ्ख धारण करते हैं। माधव इन्द्रनीलके समान वर्णवाले हैं और चार गदा धारण करते हैं।

संकर्षणसे तीन अन्य रूप होते हैं—गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन। गोविन्द चन्द्रगौर हैं और चार शार्ङ्ग धारण करते हैं। विष्णु पद्मकिञ्जल्कवर्ण हैं और चार हल धारण करते हैं। मधुसूदन अब्जवर्ण हैं और चार मूसल धारण करते हैं।

प्रद्युम्नसे तीन अन्य रूप होते हैं—त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर। त्रिविक्रम अग्निवर्ण हैं और चार खड्ग धारण करते हैं। वामन बालसूर्याभ हैं और चार वज्र धारण करते हैं। श्रीधर पुण्डरीकवर्ण हैं और चार पट्टिश धारण करते हैं।

अनिरुद्धसे तीन अन्य रूप होते हैं—हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर। हृषीकेश तडिदाभ हैं और चार मुद्गर धारण करते हैं। पद्मनाभ सूर्याभ हैं और शङ्ख-चक्र-गदा-धनुष-खड्ग धारण करते हैं। दामोदर इन्द्रगोपवर्ण हैं और चार पाश धारण करते हैं।

सत्सङ्गमाला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

(गताङ्कसे आगे)

(७६) संसारका अनुभव तो चित्त करता है। सुख-दुःख, जन्म-मरण सबका चित्तको ही अनुभव है। यह चित्त शस्त्रोंसे नहीं मरता। विष देनेसे नहीं मरता। पानीमें डूबता नहीं। आगमें जलता नहीं। किसी लौकिक उपायसे नहीं मरता। शरीरके मरनेपर भी यह नहीं मरता। एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। इस प्रकार लाखों शरीरोंको धारण करता और त्याग करता है। पर वह थकता नहीं, और जहाँ जाता है वहीं नया बन जाता है। इस स्थूल शरीरके द्वारा यह भोग भोगता है। चित्तकी खूराक हैं इच्छाएँ। जैसी इच्छाएँ होती हैं वैसे ही उसका विस्तार बढ़ता है। इच्छाओंको भोगनेके लिये उनके अनुरूप देह धारण करता है। भोग भोगते थकता नहीं। तृप्ति होती ही नहीं। सुखके लिये भोगकी इच्छा करता है, और भोगको पाकर तथा भोगकर सुखके बदले दुःख पाता है। अब यदि इच्छा करना छोड़ दे तो इस भूलभुलैयासे छूट जाय, नहीं तो, करोड़ों उपायोंसे यह चित्त मरनेवाला नहीं है। और जबतक चित्त मरता नहीं, तबतक सच्ची शान्ति नहीं होती। परमात्मारूपी सागरमें चित्तरूपी बुद्बुदा फूलता-फलता है। उसमें इच्छाओंका गोटा भरा है। इच्छाएँ चली जायँ तो वह परमात्मामें, अखण्ड आनन्दमें समा जाय। और इच्छाएँ खड़ी होती रहेंगी तो शरीर धारण करता ही रहेगा। सुख-दुःख, जन्म-मरण होते ही रहेंगे।

सांख्य, योग, वेदान्त और भक्तिमार्ग तथा दूसरे जो भी मार्ग हों, सब चित्तसे इच्छाओंका त्याग करानेके लिये ही हैं। बड़े-से-बड़े देवताका शरीर क्यों न हो, उसमें इच्छाएँ हुईं कि सुख-दुःखका रगड़ा चालू हुआ। देवता, दैत्य, मनुष्य तथा प्राणीमात्रको सुख-दुःख तो होते ही रहेंगे। तुम जिस लोकमें भी जाकर शरीर धारण करोगे, वहीं सुख-दुःख-का रोना-पीटना तुम्हारे साथ ही पहुँचेगा। शरीरका अर्थ है सुख-दुःखका अनुभव करानेवाला चोला। और जबतक यह चित्त नामका लिङ्गशरीर इच्छा-त्यागके द्वारा छूटता नहीं, तबतक जन्म-मरण नहीं मिटता। इसलिये प्रत्येक उपायसे इच्छा त्याग करनेका अभ्यास करो। ऐसा अभ्यास करो कि चित्तमें सङ्कल्प न उठे और वह शान्त बैठा रहे। यह कार्य कठिन है। अतिशय कठिन है, परंतु इसके किये बिना छुटकारा नहीं। विचित्रता तो यह है कि सङ्कल्पके बिना चित्त बैठा रहे और थोड़े समयके बाद उठ खड़ा हो तो उसका सङ्कल्प निःसङ्कल्पतासे उत्पन्न हुई शक्तिके परिमाणमें फलीभूत हो जाता है। जोर पकड़ता है और उसका वेग बढ़ता है। इसलिये वह बहुत दुःखदायी है। योगी, तपस्वी भक्त यहाँ पहुँचकर अटक जाते हैं। बहुत दिनोंतक सङ्कल्परहित रहनेपर चित्तका सङ्कल्प सिद्ध हो जाता है। उसको सिद्धि कहते हैं। यह सिद्धि साधककी सच्ची दुश्मन है, उसको मार्गसे हटानेवाली है और मोक्षके मार्गमें पूरी विघ्नरूप है; इसलिये इसका त्याग करना चाहिये। इस सिद्धिके बलसे चमत्कार करनेवाले, आशीर्वाद और शाप देनेवाले, तमाशा दिखलानेवाले—सभी पामर इच्छाओंके दास, ईश्वरीय मार्गसे भ्रष्ट हुए दयाके पात्र हैं।

(७७) एक ओर है प्रकृति, दूसरी ओर हैं परमात्मा। बीचमें जीव है। जीव प्रकृतिसे ललचाता है और यह समझकर कि उससे शाश्वत सुख, शान्ति और आनन्द मिलेगा, प्रकृतिके भोगोंको भोगता है। उनको भोगनेपर जब सुख, शान्ति और आनन्द नहीं मिलता तब वह उससे मुँह फेरकर परमात्माकी ओर मुड़ता है, और वहाँ ठीक न लगनेपर फिर प्रकृतिकी ओर मुड़ता है। इस प्रकार जीवकी गति इधर-से-उधर, और उधर-से इधर हुआ करती है। प्रकृतिको छोड़कर परमात्माकी सेवा करनेवाले साधक चार प्रकारके होते हैं। पहले दुखी—जो प्रकृतिसे दुखी होकर उस दुःखसे छूटनेके लिये परमात्माकी शरण लेते हैं। दूसरे जिज्ञासु—जो समस्त प्रकृतिको दुःखरूप जानकर उससे छूटनेके और भगवत्प्राप्तिके अभ्यासमें लगे हुए हैं। तीसरे हैं अर्थी—जो यह समझते हैं कि परमात्मासे अमुक प्रकारकी वस्तुको प्राप्तकर मैं सुखी हो जाऊँगा। इसलिये उस वस्तुके लिये वे परमात्माकी उपासना करते हैं। और चौथे हैं ज्ञानी—ज्ञानीको यह निश्चय हुआ रहता है कि प्रकृतिके भोग नाशवान्, मिथ्या और दुःखदायी हैं। इसलिये उनकी इच्छामात्रका त्याग करके वे निरन्तर परमात्माकी भक्ति करते रहते हैं। दुखी और अर्थी दुःखके निवारण और अर्थकी प्राप्तिके लिये

परमात्माको भजते हैं, और यथार्थ भक्तिके द्वारा सफल-मनोरथ होते हैं; परंतु परमात्माकी कृपासे दुःखकी निवृत्ति और अर्थकी प्राप्ति होनेके कारण वे परमात्माके संसर्गी, प्रेमी और शरणागत हो जाते हैं। और इससे वे दोनों ही प्रकारके जीव पीछे अत्यन्त श्रद्धासे परमात्माकी निष्काम सेवा करते हैं, और अन्तमें परमात्माको पाते हैं। क्योंकि दुःखकी निवृत्ति और अर्थ (भोगके साधनों) की प्राप्तिमें वे परमात्माके सिवा अन्य किसी आधारको नहीं जानते-देखते। इसलिये उनकी परमात्मामें विशेष दृढ़ भक्ति होती है।

(७८) लड़के लट्टू फिराते हैं। तुमने कभी लट्टू फिराया है? कभी देखा है? नहीं देखा है तो देख लेना। लट्टू हाथमें लेकर उसमें डोरी लपेटकर लड़का फेंकता है। लड़केके हाथसे लट्टू छूट जाता है। परंतु उस लकड़ीके लट्टूमें पैठी हुई शक्ति उस लट्टूको धुरीपर गोल चक्कर कराती हुई नचाती है। आगे-पीछे घुमाती है, ऊँचा-नीचा करती है। लड़केकी शक्ति किस प्रकार लट्टूमें पैठी और पहले ऐसे फिरना, तब वैसे फिरना—यह सारी विधि उसके भीतर कैसे आयी? यह सब बातें फिरानेवाला नहीं जानता। उसी प्रकार यह ब्रह्माण्डरूपी लट्टू परमात्माके द्वारा प्रविष्ट करायी हुई शक्तिके द्वारा फिर रहा है। निश्चित नियम और गतिसे ब्रह्माण्डरूपी लट्टू फिरा करता है, रुकता नहीं; कुछ समझमें नहीं आता। प्रतिदिन ये तारा, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य सभी बिना गिरे कैसे घूमा करते हैं? कौन इनको घुमाता है? सारे प्राणी रात-दिन जीवन-पथमें किसी-न-किसी प्रवृत्तिमें लगे रहते हैं, मृत्युपर्यन्त कभी उन्हें अवकाश नहीं मिलता। और तुम भी तो उन्हींमेंसे एक हो न? तुम जरा-सा खड़े रहो। विचार करके देखो, तुम यह सब क्या कर रहे हो? तुम्हारा ध्येय क्या है? तुम किधर जा रहे हो? तुम्हारा मार्ग तुम्हें ध्येयकी ओर ले जा रहा है या तुम जहाँके तहाँ गोल चक्कर लगा रहे हो? देखो और विचारो। ध्येय और ध्येयके मार्गका निश्चय करो, और उसी रास्तेसे जानेके लिये पूरा प्रयत्न करो। तुम चिर कालतक प्रयत्न करते-करते मञ्जिलको पार करके ध्येयको प्राप्त करोगे। प्राणीमात्रका ध्येय तो अखण्ड आनन्द है। उसे प्राप्त किये बिना तुम्हें शान्ति नहीं मिलेगी। शेष सब कुछ तो दृश्य है, वह तो लट्टूके समान घूमता ही रहेगा। रोकनेसे वह रुकनेवाला नहीं। केवल तुम जो इस दृश्यसे अलग हो, इस प्रवाहसे किनारे जाकर परमात्माकी भक्ति करके उसे प्राप्त करो।

(७९) जिसके चित्तमें कभी विकार नहीं होता वह सदा मुक्त है। चित्त सदा प्रसन्न रहे, ऐसा अभ्यास करो। इस अभ्यासके लिये जिनसे चित्त अप्रसन्न होता हो उन सबका त्याग करो।

१. अत्यधिक अयुक्त परिश्रम करनेसे चित्त अप्रसन्न होता है। इसलिये कभी ऐसा परिश्रम नहीं करना चाहिये जिससे विशेष थकावट आ जाय।

२. दूसरेकी अनुमतिके बिना, दिये बिना, मेहनतके बिना और अधिकारके बिना मुफ्तमें किसीकी चीज लेनेसे चित्त अप्रसन्न होता है। इसलिये ऐसी चीज कभी न लो। यदि कोई कहता है कि बिना मेहनतके प्राप्त करनेसे चित्त राजी रहता है तो वह भूल है। चित्तका राजी होना और चित्तका प्रसन्न होना, ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं। जिसके परिणाममें चित्तमें ग्लानि और चिन्ता न हो और प्रसन्नता मिले, उसे ही सच्ची प्रसन्नता जाननी चाहिये।

३. दूसरेको दुःख देनेसे चित्त अप्रसन्न होता है, इसलिये इसका त्याग करो।

४. सत्य और प्रिय वाणीसे, दान देनेसे, दया करनेसे, इन्द्रियों और मनका निग्रह करनेसे, दूसरेको मान देनेसे और हरिका भजन करनेसे चित्त प्रसन्न होता है, अतएव इन सबका आचरण करो।

५. किसीका अपमान करनेसे चित्त अप्रसन्न रहता है, इसलिये उसका त्याग करो।

६. गरिष्ठ पदार्थ विशेषरूपमें खानेसे चित्त खिन्न होता है, इसलिये उनका त्याग करो।

७. बेकार बोलनेसे, व्यर्थ वाद-विवाद करनेसे, किसीके साथ वैर करनेसे, किसीका अहित करनेसे, चोरी, दुराचार, झूठ, दुर्व्यसन और दुर्जनका संग करनेसे चित्त अप्रसन्न रहता है, इसलिये इनका त्याग करना चाहिये।

८. उद्यमहीन रहनेसे, स्त्रीका विशेष सहवास करनेसे और विशेष प्रसङ्ग या आवश्यकताके बिना दूसरेका अन्न खानेसे चित्त अप्रसन्न रहता है, इसलिये उसका त्याग करो।

(८०) शरीरमें क्रिया मात्रका करनेवाला, सारे अनुभवोंका करनेवाला, एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेवाला चित्त ही है। इस चित्तमें तीन गुण हैं। चाहे चींटीका शरीर हो या देवताका, प्रत्येक शरीरधारीके चित्तमें तीनों गुण बसे होते हैं। न्यूनाधिक हो सकते हैं।

तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । तमोगुणप्रधान चित्तको आलस्य, तन्द्रा, अज्ञान, क्रोध आदि होते हैं । रजोगुणप्रधान चित्त कर्ममें रचा-पचा रहता है, और सत्त्वगुणप्रधान चित्तमें सुख, शान्ति और ज्ञान आदि प्रकट होते हैं । चित्तमें रहनेवाले ये तीनों गुण कम-ज्यादा हो सकते हैं । रजोगुणके सेवनसे तमोगुण कम होता है । सत्त्वगुणके सेवनसे रजोगुण कम होता है । और सत्त्वगुण निष्कामभावके आचरणसे कम होकर निर्गुणताको प्राप्त होता है । अतएव सुख, शान्ति और ज्ञान तथा इनके द्वारा मोक्षकी इच्छा रखनेवालेको चाहिये कि सात्त्विकताको बढ़ानेवाली वस्तुओंका सेवन करे । सत्त्वगुणके बढ़ानेवाले ही आहार और संसर्गका सेवन करे । निष्काम भक्ति और सत्सङ्ग सत्त्वगुणको बढ़ाकर अन्तमें निर्गुण बनाकर मोक्ष प्रदान करते हैं । तमोगुण और रजोगुणको दबाकर चित्तमें सत्त्वगुणकी वृद्धि किये बिना, सात्त्विक नियमित आहार-विहार, और सत्सङ्गके बिना, परमात्माकी निष्काम भक्ति किये बिना, सत्य, तप, दया और दानका सेवन किये बिना एवं मन तथा इन्द्रियोंका निग्रह किये बिना कभी परम पदकी प्राप्ति नहीं होगी ।

(८१) चित्तको जगत्‌मेंसे खींचकर परमात्मामें लगानेका नाम योग है । योगका अभ्यास करनेवालेका आहार नियमित होना चाहिये, सात्त्विक होना चाहिये । जिससे चित्तमें विक्षेप हो, वैसा काम नहीं करना चाहिये । अधिक आहार तथा रजोगुणी और तमोगुणी आहारसे चित्तमें विक्षेप होता है, अतएव उनका त्याग करना चाहिये । ऐसा भूखा भी नहीं रहे कि चित्त भूखमें ही लगा रहे और विक्षिप्त रहे । काम भी वैसा ही और उतना ही करे जितना उकताये बिना प्रसन्नचित्तसे हो जाय । बहुत जागरण भी न करे । बहुत नींद भी न ले । विशेष सोनेसे तमोगुण बढ़ता है और चित्त अप्रसन्न होता है, बहुत जागरण करनेसे भी चित्त विक्षेपको प्राप्त होता है । अतएव दुःखका नाश करनेवाली भगवत्प्राप्तिके योगकी साधना करनेवालेको चाहिये कि चित्तपर दृष्टि रक्खे, और जिसमें चित्त सदा प्रसन्न रहे उसी हिसाबसे सारी क्रियाएँ करे ।

(८२) तुमको लोग प्रमुख बनावें, मान प्रदान करें, तुम्हें राजा-महाराजाकी ओरसे मान मिले, और खिताब मिले, लोगोंमें तुम्हारी वाहवाही हो । सब यह कहें कि 'आप हमें ज्ञान दीजिये, हमें मार्ग दिखाइये, हमारी सँभाल रखिये, हम आपसे सनाथ हो गये हैं, आपके बिना हमारी कोई गति नहीं है' तुमको फूलोंकी माला पहनायी जाय, लोग तुम्हारा पैर छुएँ, तुम्हें भगवान्-जैसा या भगवान् ही समझें—यह सब हो तो इससे फूल मत जाना । यह सारा आकर्षण तुम्हारे पतनके लिये है । तुम तो भगवान्‌के नियुक्त किये हुए उनके नौकर हो । यश मिले तो वह उसका है । तुम्हारे हृदयमें बैठा हुआ जो तुम्हें प्रेरित करता है और कार्य करनेकी शक्ति प्रदान करता है, वही दूसरेमें है । तुम अपनेमें दूसरेसे कोई विशेषता मान लोगे तो वही तुम्हारा पतन है । जैसे तुम्हारा शरीर पञ्चभूतोंका है, उसी प्रकार दूसरोंका भी है । जिस प्रकार तुम्हारा आत्मा भगवत्-स्वरूप है उसी प्रकार सबका है । तुममें यदि कोई विशेषता दीख पड़ती है, तो वह चित्तकी निर्मलताको लेकर है । वह निर्मलता तो भगवान्‌की दयासे भगवान्‌की प्रसादी है । भगवान्‌की दी हुई है । दूसरे लोग मान दें तो उससे फूल मत जाओ । जिसके लिये वे मान देते हैं वह बुद्धिकी शक्ति, शरीरकी शक्ति या लक्ष्मी अथवा वैभव—चाहे जो कुछ हो सब भगवान्‌के दिये हुए हैं । भगवान्‌के ही हैं । इसलिये उनको अपना समझकर हर्षाओ मत और फूलो मत । तुम और तुम्हारा सब कुछ भगवान्‌का है, यह बात न भूलो । और तुम्हें भगवान्‌को प्राप्त करना है, इसलिये उनके मार्गको न भूलो । बीचमें रह जानेके लिये अनेकों प्रलोभन और दयाके पात्र मिलेंगे; परंतु वे सब भरमानेवाले हैं, इसलिये स्थिर चित्तसे भगवान्‌की ओर बढ़े जाओ । रुको मत । प्रमाद मत करो, गर्व मत करो और भगवान्‌को न भूलो ।

(८३) आशीर्वादके द्वारा यदि कोई धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, राज्य, लक्ष्मी, पुत्र, स्त्री या जगत्‌की किसी दूसरी वस्तुको प्रदान करनेको कहता हो तो उसको तुम बड़ा न मानो । ये सारी वस्तुएँ जगत्‌की माया हैं । यदि कोई स्थलके समान ही जलके ऊपर चल सके तो उसे तुम बड़ा न मानो । जो आकाशमें मनकी गतिसे उड़ सके तो उसको बड़ा न मानो । जो जमीनमें दीर्घकालतक गड़ा रह सके, उसको बड़ा न मानो । जो विष खा ले और मरे नहीं उसको बड़ा न मानो । जो आगमें चले और जले नहीं, उसको बड़ा नहीं मानो । जिसे काट डालो और वह जीवित हो जाय, उसे बड़ा न मानो । जो बहुत खा सके या जो बहुत दिनोंतक अनशन कर सके, उसको तुम बड़ा न मानो ।

जो मुर्देको जिला दे जीवितको मुर्दा बना दे, जो यह तथा इससे अधिक चमत्कार करे, उसे तुम बड़ा न मानो । कुंकुम निकाले, पैसा निकाले, वर्षा बरसावे, अकाल डाले और इसी प्रकारके अनेक पाखण्ड कर सके, यदि ऐसा आदमी हो तो उसे बड़ा न मानो । ये सारे तन्त्र, मन्त्र, ओषधि, उपासना, योग और क्रियाके द्वारा साध्य हैं । मायाके विलास हैं, और इन सबका प्रदर्शन करनेवाला वासनाका दास कोई पामर होता है । कोई धनके, कोई यशके, कोई भोगके तो कोई बड़प्पनके, तथा कोई दूसरी किसी इच्छाके दास होते हैं । बड़ा तो वह है कि जिसने आशा और इच्छामात्रका त्याग कर दिया है, जिसने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, जिसने जगत्से मनको मोड़कर उसको नित्य भगवान्में जोड़ दिया है, जिसने काम और क्रोधका त्याग कर दिया है, जिसका मन सदा शान्त और प्रसन्न रहता है, जिसका मन प्राणिमात्रके प्रति प्रेमवाला होता है, जो प्राणिमात्रको भगवत्स्वरूप जानकर उस हिसाबसे बर्तता है, जो तमाम सचराचरको भगवान्में और भगवान्को सचराचरमें देखता है, जिसने अपने आत्माको भगवान्के रूपमें पहचाना है, जिसका कोई वैरी नहीं है, जो प्राणिमात्रका हितैषी मित्र है, और जिसका मन सदा भगवान्में रमता है । अतएव मायामें, सिद्धिमें, चमत्कारमें न फँसो । भगवान्मे मनको पिरो दो, भगवान्में लीन हो जाओ ।

(८४) संसारके प्राणी या पदार्थोंका सेवन करनेसे जीवको आनन्द नहीं होता । जिस प्रकार काठका बनावटी पक्का आम दूरसे सच्चे पक्के आमके-जैसा दिखलायी देता है, परंतु अनुभव करनेपर वह मिथ्या सिद्ध होता है, क्योंकि वह खानेमें नहीं आता, उसमें रस नहीं होता, उसी प्रकार जगत्के प्राणी या पदार्थोंका सेवन करनेपर उससे जीवको आनन्द नहीं होता । जो नाशवान् है, विकारी है और जिसके सेवनसे जीवको आनन्द नहीं होता, वह मिथ्या है । जीवको विषय-भोगसे आरम्भमें हर्ष होता है, पर परिणाममें चिन्ता, ग्लानि, श्रम और दुःख ही होता है, इसी प्रकार तमाम जगत्के प्राणी और पदार्थके सेवनसे होता है, इसलिये वह त्याज्य है । आनन्द है परमात्मामें; जीवको भूख है आनन्दकी; वह जगत्में भटकता है आनन्द-के लिये । परंतु उसे मिलता है आनन्दके बदले दुःख । परमात्माकी शरण लिये बिना, परमात्मामें मनको लीन किये बिना, जीवकी आनन्दकी भूख कोटि-कोटि उपायोंसे भी मिटनेवाली नहीं है ।

(८५) तुम अपना इष्टदेव निश्चित कर लो । परमात्मा तो एक है, व्यापक है; परंतु उसके सगुण स्वरूप भक्तकी रुचिके अनुसार अनेक हैं । जिसको जिसमें—जिस सगुण स्वरूपमें विशेष प्रेम हो उसको उसीके नामका जप करना चाहिये और उसीकी मूर्तिका ध्यान करना चाहिये । जप नित्य नियमितरूपसे करे । जपको बारंबार बदले नहीं । जिस एक जपको निश्चित कर ले, उसीको प्रतिदिन जपे । यदि किसी समय दूसरे नाम भी जपे जायँ तो कोई हानि नहीं । जैसे कि तुमने श्रीकृष्णको अपना इष्टदेव निश्चित कर लिया, और 'श्रीकृष्णः शरणं मम'—इस मन्त्रको निश्चित कर लिया । तब इसके जपकी माला तुम्हें रोज फेरनी चाहिये । और श्रीकृष्णकी पूजा-अर्चना और ध्यान आदि करते हुए भी शङ्कर, गणेश, देवी, हनुमान्, सूर्य या दूसरे जो भी कोई देवी-देवता हों, उनके नाम भी प्रसङ्ग आनेपर प्रेमसे लेने चाहिये और उन सभी देवी-देवताओंको प्रेमसे प्रणाम करना चाहिये । जो परमात्मा श्रीकृष्णके रूपमें है वही शङ्कर, गणेश आदिमें भी व्यापक है । मूर्ति तो आधार है, शेष पूज्य और प्राप्त करनेकी वस्तु तो मूर्तिमें व्यापक भगवान् है । साधक जैसे-जैसे निष्कामभावसे जप करता है, जैसे-जैसे मूर्तिका पूजन, ध्यान आदि निष्कामभावसे करता है, वैसे-वैसे उसके राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि धीरे-धीरे अपने आप मिट जाते हैं । साधक तो लगा रहे । पहले तो जप-ध्यानसे पूर्वके पाप नाशको प्राप्त होते हैं । पश्चात् उस जप-ध्यानके प्रभावसे राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि मल नाश हो जाते हैं । इसलिये भाई ! लगे रहो, श्रद्धापूर्वक लगे रहो । भलीभाँति नित्य नियमित जप करो । गृहस्थाश्रमी प्रतिदिन ६ घंटा जप करे तो अच्छा जप करनेवाला कहलायगा । और जिसको आजीविकाकी चिन्ता नहीं, वैसे साधु-संन्यासी आदि प्रतिदिन १२ घंटा जप-ध्यान करें तो वह अच्छा जप कहला सकता है । जिस किसीको अपने जपकी बात कहनेसे सुननेवाला उस जपके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करता है, और मनको जपसे डिगाता है । जप भगवान्के किसी भी नामका हो, उससे तुम्हारा कल्याण होगा ही, यह निश्चय मानो । श्रद्धा और भाव फल प्रदान करेंगे । इसलिये कमर कसकर लग जाओ । किये बिना मिलता नहीं । खाये बिना भूख

मिटती नहीं । चले विना गाँव आता नहीं । इसी प्रकार भजन किये विना भगवान् नहीं मिलते ।

(८६) संगसे प्रीति होती है । संगमें रहे और उसके प्रति राग न हो यह सम्भव नहीं । मायिक पदार्थका संग करोगे तो उसमें राग होगा और उससे दुःख होगा । अतएव तुम गृहस्थाश्रमी हो या साधु, पर जगत्के प्राणी और पदार्थोंका, मायिक लोगोंका संग न करो, अथवा उतना ही करो जितना आवश्यक हो । संग तुम्हारे मनको उसके प्रति आकर्षण करके विह्वल बनाता है । तुम समझते हो कि माया क्या करेगी ? मायाके बीचमें रहकर यह कहना कि 'मैं मायाको जीत लूँगा' तुम्हारी भूल है—मिथ्या बकवास है । तुम्हें एक दृष्टान्त बताता हूँ । एक स्त्री है । थोड़ी देरतक तुम उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गको देखो । थोड़े ही समयमें राग उत्पन्न हो जायगा, और धीरे-धीरे तुम्हारा मन उसकी कामना करने लगेगा । ऐसी ही सबकी बात है । इसलिये जगत्में सुखकी कामना रखनेवालोंको जहाँतक बने, एकान्त सेवन करना चाहिये । कभी प्रसङ्ग आ जाय तो उसके लिये जितना आवश्यक हो, बस उतना-सा ही जगत्का संग करे । जिस प्रकार किसी गंदी जगहपर जाते समय हम नाकपर कपड़ा डालकर जल्दीसे वहाँसे निकल जाते हैं, जैसे किसी काजल या कच्चे रंगकी कोठरीमें जानेपर दाग न लग जाय, इसका ध्यान रखकर सावधानीसे कपड़ेकी ओर नजर रखकर चलते हैं, उसी प्रकार जगत्के मायिक प्राणी और पदार्थोंके संगमें ईश्वरकी ओर दृष्टि रखकर, ईश्वरकी शरण लेकर उनका जितना संग आवश्यक हो, बस, उतना ही बहुत सावधानीसे करना चाहिये । नहीं तो समझ लो कि, अधःपात हो गया ।

तुम परस्त्रीके संग गाते हो, नाचते हो, कूदते हो, एकान्तमें बातें करते हो, सोते-बैठते हो—अरे मूर्ख ! यह तुम्हारे कल्याणके विनाशका मार्ग है । तुम समझते हो कि इससे तुम्हारा क्या होता है ? अरे मूर्ख ! तुम्हारी अपेक्षा अनेकों गुना अधिक शक्तिवाले मायाके मोहसे मार्गभ्रष्ट होकर धूलमें मिल गये । फिर तुम्हारी क्या गिनती ? मायिक पदार्थोंमें एक विशेषता यह है कि जैसे ही प्रेमसे तुमने उनकी ओर देखा या सुना कि तुम फँसे और फँसनेपर धीरे-धीरे ऐसे गहरे गढ़ेमें गिरोगे कि जहाँसे निकलना बहुत ही कठिन होगा । माया और मायाके पदार्थ दोनोंहीसे डरकर चलो । उनसे बचनेके लिये ईश्वरकी शरण लो । तुममें, तुम्हारी बुद्धिमें कोई विशेष शक्ति नहीं कि जो तुम्हें मायासे बचा दे । यदि तुममें शक्ति है तो वह भगवान्की दी हुई है । भगवान्की शक्तिसे तुम मायासे अलग रहकर भगवान्को पा सकोगे । इसलिये सर्वभावसे भगवान्की शरण लो, अपनी शक्तिके मिथ्या अभिमानको तुम छोड़ दो । अपने मनको भगवान्में लगाओ । अपनी बुद्धि भगवान्को सौंप दो । भगवान् दीनदयालु हैं, वे तुम्हारा उद्धार करेंगे ।

(८७) शरीरकी सारी क्रियाओंका कर्ता तो मन ही है न ? इस चित्तमें जैसे संस्कार और जैसी प्राणशक्ति होती है, उसी हिसाबसे क्रिया होती है । बराबर विचार कर देखो । ये संस्कार दो प्रकारके होते हैं—एक 'द्रव्य-संस्कार' और दूसरा 'भाव-संस्कार' । खान-पानके द्वारा जो संस्कार उत्पन्न होकर चित्तको प्रभावित करते हैं वह 'द्रव्य-संस्कार' है । और इन्द्रियोंके तथा मनके अनुभवद्वारा चित्तमें जो संस्कार-भावना जाग्रत् होती है वह 'भाव-संस्कार' है । मनुष्य चाहे कितना ही शान्त या चतुर हो, पर उसको कड़ी भाँग या शराब पिला दिया जाय तो उसके द्रव्य-संस्कारका मनपर असर होते ही वह मनुष्य चाहे जैसे बकने लगेगा और विपरीत आचरण करने लगेगा । उसी प्रकार यदि कोई बुरे संस्कारवाला, मन्द आचरणवाला, व्यसनी और दुर्गुणसे भरा मनुष्य हो और उसके सहवासमें अच्छा आदमी बहुधा आवे तो उस दुर्गुणीके सहवाससे अच्छे आदमीके चित्तपर बुरा असर पड़ेगा, और उसका जीवन बदल जायगा । मतलब यह है कि खान-पान आदिसे और संगसे मनुष्यके मनके ऊपर विशेष असर पड़ता है, और इस असरसे पूरा मनुष्य बदल जाता है । अतएव मुमुक्षुको चाहिये कि खान-पानके पदार्थोंपर विशेष ध्यान रक्खे । ऐसे पदार्थ खाने-पीने चाहिये कि जिससे चित्त सदा शान्त स्थितिमें अपनी जगहपर रहकर सारा काम करे । आत्मारूपी कल्पवृक्षकी छायामें रहकर चित्त काम करता है तो उसकी अवस्था शान्त और समाहित होती है, और उसमें वह सदा सुख और आनन्दका अनुभव करता है । खान-पानकी वस्तुओंके ऊपरी गुण-दोषके उपरान्त उन वस्तुओंका धर्मसे या अधर्मसे, प्रेमसे या तिरस्कारसे किस प्रकार उपभोग किया जाता है, उसका भी संस्कार चित्तपर प्रभाव डालता है । इसलिये भाई ! पहले तो तुम्हारे खान-पानके पदार्थ सात्त्विक और चित्तको शान्त रखनेवाले होने चाहिये और फिर वे धर्मसे प्राप्त और शान्त तथा प्रेमी हृदयवालेके द्वारा तैयार किये

हुए होने चाहिये । साथ ही शान्त अवस्थामें भोजन किया जाना चाहिये । इससे तुम्हारा चित्त शान्त रहेगा । कहा जाता है कि जीवको सारे जीवनमें चित्तकी शान्ति ही एक ऐसी वस्तु है, जिसे प्राप्त करना है । दूसरी रही परायेके सहवाससे पड़े हुए चित्तपर बुरे संस्कार । इसके लिये बहुत ही सावधान रहना चाहिये ।

किसी सम्प्रदायमें दूसरेके—परायेके स्पर्शसे स्नान करना पड़ता है । वह सम्प्रदायवाला देहके स्पर्शको स्पर्श मानता है और देहको स्नान कराता है । यह बहुत ही साधारण बात है । विशेष आवश्यक यह है कि नित्य अपने समाहित चित्तको अछूता रखना चाहिये । दूसरेकी मलिनता उसका स्पर्श न करने पाये । अपना चित्त सदा शान्त, निर्मल और समाहित रहे । संसारमें रहते हुए, व्यवहार करते हुए, बहुतोंके संसर्गमें आते हुए अपना चित्त दूसरोंके विजातीय संस्कारोंसे अपवित्र तो नहीं हो रहा है, इसका ध्यान रक्खे । दूसरोंकी अपवित्रतासे उसमें रजोगुण, तमोगुणके संस्कार प्रवेश करते हैं । अपने चित्तको आत्माकी छायासे बाहर खींचकर अनेक विपत्तियोंमें डालना है । इसलिये विजातीय खान-पानसे तथा विजातीय संस्कारवाले जीवोंसे अपना चित्त अपवित्र न हो, इसपर विशेष ध्यान रक्खो । और अपवित्र हो तो स्नान कर लो । इस स्नानमें चित्तको स्नान कराना होता है । भगवान्के नामका एकाग्रचित्तसे कम-से-कम तीन घंटेतक जप, प्रार्थना और निर्विचार अवस्थामें बैठकर चित्तको भगवान्में लगाना, यही चित्तका स्नान है । सारांश यह है कि चित्तकी भगवान्‌रूपी निर्मल सरोवरमें डुबकियाँ लगाना, उसमें डुबो देना—यही चित्तका स्नान है । चित्तकी सहज अवस्था निर्मल अवस्था है । उसमें खान-पानके संसर्गसे संस्कार पड़ता है और उससे वह मलिन होता है । यह मलिनता भगवत्-सरोवरमें स्नान करनेसे मिटती है ।

इस अभ्यासके करनेवालेको चाहिये कि वह नित्य चित्त-पर दृष्टि रक्खे । यह 'अस्पर्श्य योग' कहलाता है । चित्तके ऊपर परमात्माका ही संस्कार पड़े, दूसरा कोई मलिन संस्कार न पड़े, इसका ध्यान रखना पड़ता है । जगत्में जो तुम्हारे सम्पर्कमें आवेगा वह अपने संस्कार तुम्हारे चित्तपर डालनेका सहज प्रयत्न करेगा । इसमें जिसके संस्कार बलवान् होंगे, वह दूसरेपर असर डालेगा । इस प्रकार एक चित्तका दूसरे चित्तको अपने संस्कारके अनुसार बनानेका काम हमारे अनजाने, जगत्में सतत चला करता है । इसे 'चित्तयुद्ध' कहते हैं । हारा हुआ चित्त दूसरे जीते हुए चित्तकी अधीनता स्वीकार करके उसके संस्कारको ग्रहण करता है । इस प्रकार जगत्‌रूपी सागरमें अनेक चित्तोंका युद्ध चला ही करता है । अनेकों चित्त कामना और जन्म-मरण आदिके भँवरमें गोता खाया करते हैं । जो चित्त दुर्गका आश्रय लिये बिना, दृढ़ स्थिर आश्रयके बिना युद्ध करता है वह शीघ्र ही हार जाता है । और इधर-उधर दौड़-भाग किया करता है । परंतु जिसके चित्तको स्थायी आश्रय, आधार होता है वह जमकर खड़ा रहता है । इस जगत्में स्थिर स्थायी तो एक भगवान् हैं, उनके सिवा सब कुछ अस्थिर है । अतएव चित्तको भगवान्के आश्रयमें रखकर जगत्के अनेकोंके चित्तके मलिन संस्कार न पड़ने दे और उसे सदा भगवान्में डुबाये रक्खे । भगवत्-रूपी जलसे उसे नित्य स्नान कराता रहे तो चित्त निर्मल रहेगा ।

भगवान्में चित्तको जोड़नेका नाम 'योग' है । भगवान्में चित्तको रोककर रखना 'भक्ति' है । कोटि-कोटि जन्मके प्रयाससे यही साधना करनी है कि जिससे चित्त संसारकी कामना छोड़कर भगवान्में लीन हो जाय । भगवान्में जब चित्त सदाके लिये लीन हो जाता है तो उसका नाम 'मुक्ति' है । चित्तको दूसरोंके चित्तके मलिन संसर्गमें रखनेसे वैसी ही कामना जाग्रत् होती है । जिस चित्तमें जगत्के सुखकी इच्छा हो उसे मलिन जानना चाहिये और जिस चित्तमें भगवान्के लिये तड़प हो उसे निर्मल जानना चाहिये । ऐसा समझकर ही मलिन चित्तवालेसे संसर्ग करे, और जितना संसर्ग हो, उसी हिसाबसे चित्तको भगवत्-सरोवरमें स्नान कराकर शुद्ध कर ले, यही सच्ची शुचिता है । इसे 'अस्पर्श्य योग' कहते हैं । मनमें राग-द्वेष स्फुरित हो और कामनाएँ जागें तो तुरंत भगवत्-नामके जप, ध्यान आदिके द्वारा भगवत्-जलमें मनको स्नान कराकर शुद्ध कर ले । चित्तको निर्विकार रखना भी चित्त-स्नान है । इस प्रकार निर्विचार न रहे तो मुखसे भगवान्के नामका जप करे और चित्तमें अन्य कोई विचार न आने देकर भगवान्का ध्यान करे, इसे भी चित्त-स्नान कहते हैं । जिस प्रकार प्रतिदिन दातुन करना, शौच जाना, स्नान करना और खाना आदि आवश्यक है, उसी प्रकार प्रतिदिन चित्त-स्नान भी आवश्यक है । बहुत सावधान रहनेपर भी चित्तमें मलिनता आ ही जाती है । अतएव प्रतिदिन भगवान्का नाम-जप करते हुए सङ्कल्परहित होकर चित्त-स्नान करना चाहिये ।

प्रेम-साम्राज्य

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

अपने लिये ही प्रियतमको चाहना मोह है और प्रियतमके लिये ही अपनेको चाहना प्रेम है। मोहका कार्य अन्धकारमें होता है, प्रेमका कार्य प्रकाशमें चलता है। अज्ञानकी सीमातक ही प्राणी मोहके वशीभूत होता है, ज्ञानकी सीमासे वह प्रेमी होने लगता है। मोहीको जो कुछ मिलता है उसे वह अपना मानता है, प्रेमीको जो कुछ मिलता है उसे वह प्रियतमका ही जानता है। मोही जो कुछ करता है, सुख-प्राप्तिके लिये करता है और प्रेमी जो कुछ करता है, शान्ति-प्राप्तिके लिये करता है। मोही अपनी इच्छापूर्तिमें रस लेता है पर प्रेमी अपनी इच्छा-निवृत्तिमें परम तृप्तिका अनुभव करता है। मोही प्रेमपात्रको अपने अनुकूल पाकर अपना सौभाग्य मानता है, पर प्रेमी अपने प्रेमपात्रके अनुकूल होकर अपने-आपको सौभाग्यशाली समझता है। मोह-दृष्टिसे यह संसार सत्य प्रतीत होता है, पर प्रेमकी दृष्टिमें नितान्त मिथ्या है। मोही असत्यको सत्य मानता है, पर प्रेमी असत्यके पीछे सत्यको जानता है।········मोह मदिरा है जिसने जगत्के प्राणियोंको अपने नशेसे पागल बना दिया है; संसारमें प्रेम अमृत है, जिसका पान कर मानव इस नश्वर जीवनके द्वारा मृत्युकी सीमाके पार अविनाशी जीवनका दर्शन करता है। जीवनमें सर्वस्वको सार्थक करनेवाला परमोत्कृष्ट तत्त्व पवित्र प्रेम ही है। इसे पा जाना ही पूर्णताकी सिद्धि है।

यदि तुम प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमी हो तो सावधान रहकर अपनी योगसिद्धिके लिये केवल प्रेमको ही देखो और प्रेमपथमें जो कुछ भी दीख पड़े उससे विचलित और मोहित होना उचित नहीं है। प्रेम तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं लेता है और न अपने अतिरिक्त तुम्हें कुछ सांसारिक वस्तु देकर भ्रमित ही करता है। यदि तुम प्रेमके परिपूर्ण होनेके अतिरिक्त संसारका कुछ चाहते हो तो प्रेमसे दूर ही रहोगे और मोहासक्तिसे कामनाओंके जालमें जगत्की असार वस्तुओंको ही समेटते रहोगे। प्रेम सर्वथा उज्ज्वल और निष्कलंक है, इसे निष्काम होकर ही पा सकते हो। प्रेमके पथमें चलते हुए जो कुछ तुम्हारे पास सुन्दर वस्तु होगी या जो कुछ भी तुम्हें प्रिय होगा, उसका दान करनेसे ही तुम्हारी प्रगति होगी और उसका उपभोग करनेसे गतिरोध होगा। प्रेमी यदि लेता है तो किसीका दिया हुआ दुःख लेता है और देता है तो अपने अधिकारका सुख देता है। तुम दुःख लेकर तपस्वी बनोगे और सुख देकर त्यागी हो सकोगे। तपस्वी और त्यागी होकर ही तुम प्रेमको ग्रहण कर सकते हो। इस मन्त्रको कभी नहीं भूलना चाहिये कि सब कुछ खो देनेपर ही तुम प्रेमकी अनन्त समृद्धिके अन्तस्तलमें निवास करोगे। तुम विशुद्ध प्रेम-साम्राज्यमें प्रवेश पानेके लिये यह योग्यता प्राप्त कर लो, जिससे सम्मानके सर्वोच्च सिंहासन और अपमानके तलपर स्थित सूलीको समान दृष्टिसे देख सको। तुम्हें सर्वाङ्गसुन्दर बनानेके लिये प्रेम-राज्यकी शक्तियोंद्वारा बहुत ही कोमलतापूर्वक तुम्हारा श्रृङ्गार होगा, पर कहीं कुछ भी कुरूपता रह जानेपर उपेक्षाके तीखे झिटकेसे सारा श्रृङ्गार बिगाड़ दिया जायगा, फिर नवीन विधिसे सँवारा जायगा।····पवित्र प्रेम मनुष्यको आत्मदानी बनाता है। आत्मदानके आनन्दसे ही प्रेमकी महत्ताका दर्शन होता है और प्रेमके हृदय—परमात्माके योगसे ही आनन्दकी महत्ता अनुभूत होती है। एक पवित्र प्रेमके अतिरिक्त तुम्हारे पास और तुम्हारा कुछ भी नहीं

रहना चाहिये; अपने प्रियतम प्रभुसे तुम सब कुछसे अलग होकर ही मिल सकोगे। किसी दूसरेके रहते हुए वह अद्वैत, आनन्दस्वरूप तुमसे छिपा ही रहेगा। यदि तुम सच्चे प्रेमी हो तो संसारकी सर्वस्व सुखद सम्पत्ति पाकर भी तुम्हारे हृदयमें अपने प्रियतमके योगकी तरस बनी रहेगी।

पवित्र प्रेममें प्रेमास्पदका ऐसा स्मरण होता रहता है कि फिर स्मरण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। सच्चा स्मरण वही है जिसमें अन्य सब कुछका विस्मरण रहे। सच्चे प्रेममें तो प्रियतमके लिये ही संग्रह, त्याग, जीवन और मरण—सब कुछ है। समस्त बन्धनों और व्याधियोंका मूल सांसारिक वस्तुओंके प्रति मोह है। इनसे मुक्ति पानेका साधन त्याग है, त्यागका मूल पवित्र प्रेम है।

जो व्यक्ति परमेश्वरसे प्रेम करना चाहते हैं और अपने सांसारिक प्रिय सम्बन्धियोंकी थोड़ी प्रतिकूलता, अवज्ञा होनेपर ही असन्तुष्ट हो जाते हैं, क्रुद्ध होकर कठोरतापूर्वक कटु शब्दका प्रयोग करते हैं वे पवित्र प्रेमसे बहुत दूर हैं। जो व्यक्ति भय या लोभसे किसीसे स्नेह करते हैं या भय तथा लालच दिखाकर स्नेह चाहते हैं, वे पवित्र प्रेमकी सीमाका प्रवेश-पत्र ही नहीं पा सकते हैं। जो व्यक्ति स्वर्गके लोभ और नरकके दुःख-दण्डसे भयातुर होकर भगवान्‌की आराधना करते हैं वे भी सच्चे प्रेमी नहीं हैं। जो व्यक्ति अपने प्रेमास्पद प्रभुकी उपासनाके बदलेमें किसी प्रकारकी सिद्धि चाहते हैं और मिलनेपर उसका प्रदर्शन करते हैं वे पवित्र प्रेमकी उच्च और विशाल भूमिसे नीचे उतर आते हैं। प्रेमके लिये जो व्यक्ति वियोग-वेदना, अपमान-निन्दा और कटुशासन आदिके दुःखको सहर्ष स्वीकार नहीं कर पाते हैं, वे भी प्रेम-पथमें प्रगतिशील नहीं हो सकते हैं।

जो एकान्त और भीड़में अपने उपास्यदेवका स्मरण नहीं भूलते हैं, दूसरोंके प्रति सदा शान्तिपूर्वक सद्‌बर्ताव करते हैं, जिनके हृदयमें सभी प्राणियोंके प्रति दया करनेका स्वभाव सहज हो गया है, जो अपनेसमेत सब कुछ परमात्माका ही और सभी भूतप्राणियोंको प्रत्येक दशामें परमात्मामें ही सुरक्षित देखते हैं और जो कुछ परम प्रभुके अर्पण कर पाते हैं उतनेको ही सार्थक समझते हुए, जो कुछ उनकी सेवामें अर्पण नहीं कर पाते उतनेको निरर्थक मानते हैं, वे ही पवित्र प्रेमके कृपापात्र हैं। अभीतक तुमने जो कुछ भी किया है उससे यदि तुम पवित्र प्रेम नहीं प्राप्त कर सके तो यह निश्चित है कि तुम्हें और कुछ करना है और तबतक करना है जबतक प्रेमास्पद प्रभुसे अभिन्न बनानेवाला पवित्र प्रेम प्राप्त न हो जाय। वह जीवन निरर्थक है जिसके साथ पवित्र प्रेरणा नहीं होती, वह प्रेरणा अन्धी है जिसके साथ यथार्थ ज्ञान नहीं होता, वह ज्ञान पङ्गु है जिसके साथ तदनुसार प्रयत्न या श्रम नहीं होता और वह प्रयत्न या श्रम निस्सार है जिसके साथ पवित्र प्रेम नहीं होता। केवल शुद्ध हृदयमें ही प्रेम प्रतिबिम्बित मिलता है।

प्रेमके भक्त होनेपर तुम अधिक-से-अधिक दुःखोंको सरलतापूर्वक सह लोगे पर किसीको दुःख देना तुम्हें सह्य न होगा। प्रेममें ऐसी अद्भुत शक्ति है कि प्रेमी प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहते हुए मृत्युतकका आलिङ्गन कर लेता है पर किसीको कष्ट नहीं देता। सांसारिक पदार्थोंमें जितना ही अनासक्तिका भाव दृढ़ होगा उतनी ही तुममें प्रगाढ़ प्रेमकी स्थिति होगी और जितनी ही अधिक निष्कामता होगी, उतनी ही उच्च परितृप्तिका अनुभव होगा।

परम प्रकाशक

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

(गीता १५ । १२)

'मिस्रकी भाँति यहाँके लोग भी पहले सूर्यकी उपासना करते थे !' मि० हर्वर्टको अमेरिकामें पुरातत्त्व-विभागकी खुदाइयोंमें पहली सूर्यमूर्ति मिली थी । उन्होने हाथ मैला होनेकी चिन्ता नहीं की । जैसे ही मूर्ति स्पष्ट हुई, गड्ढेमें उतर गये और उसपर लगी मिट्टी हाथसे ही छुड़ाने लगे । 'ठीक मिस्र-जैसी मूर्ति है । नीचे रथ मिलेगा और सात घोड़े !' विशाल मूर्तिका केवल ऊपरी भाग दिखायी पड़ रहा था । शेष भाग अब भी भूमिमें ही ।

'ये के आदिम निवासी 'रामसीतव' उत्सव मनाते हैं, मनुष्य-शरीर और हाथीके मुखवाले देवताकी पूजा करते हैं !' वे एक मोटी पुस्तक उलट रहे थे । पुरानी मूर्तियोंके चित्र विवरणके साथ उसमें एकत्र थे । 'ठीक यही मूर्ति है । यह तो दक्षिण भारतके गुफा-मन्दिरकी सूर्यमूर्ति है ! चाहे मिस्रसे इसकी पूजा भारतमें आयी हो, चाहे भारतसे मिस्रमें गयी हो, पर अमेरिकामें यह भारतसे आयी यह निश्चित-प्राय है !' वे बार-बार नीचे देखते जाते थे । मूर्तिकी प्रतीक्षा उनके मनमें उससे कहीं प्रबल थी, जितनी किसी कंगालको रत्न खोदते समय होती ।

'कितनी सुन्दर है यह मूर्ति !' चित्रमें विशाल मूर्तिकी वह भव्यता कहाँ आ सकती है । 'कितने कुशल होंगे वे कलाकार; कितनी परिमार्जित होगी उनकी रुचि !' मूर्ति बाहर आ गयी थी । जैसे-जैसे वह स्वच्छ होती जा रही थी, वह प्राचीन कलाका प्रेमी मुग्ध होता जा रहा था । भगवान् भास्करकी वह गम्भीर प्रसन्नमुद्रा—जैसे वे सम्पूर्ण लोकोंको अपने आशीर्वादसे सन्तुष्ट कर रहे हों; दृष्टि वहाँ रुक गयी ।

'इतने उच्च मस्तिष्क, इतने कलानिपुण व्यक्ति क्या मूर्ख थे ?' आज ऐसी कुशलता मनुष्यकी कोमल अँगुलियोंमें कहाँ है कि वह अपनी भावनाको इतने स्पष्ट रूपमें मूर्त कर सके । इतनी परिमार्जित सार्वभौम भावना भी उसके पास कहाँ है । 'भारतसे अमेरिका—क्या केवल भय या भावुकता ही इस मूर्तिको ले आयी है ?' वैज्ञानिकके मनमें सन्देह हो रहा था कि इतने उन्नत मस्तिष्क केवल अन्धश्रद्धावश युगोंतक कोई उपासना या क्रिया कैसे चला सकते हैं ।

'कितनी भव्य कल्पना है !' अनेक बार उसने सूर्यके रथके घोड़ों, बिना हाथ-पाँवके सारथी और भगवान् सूर्यकी भव्य मूर्तिका चित्र देखा था । अपनी मिस्र देशकी यात्रामें जबसे उसने यह मूर्ति देखी, अत्यन्त प्रभावित हुआ । कौन जाने जन्मान्तरके संस्कार इसी विग्रहकी प्राप्तिकी प्रतीक्षा-में उसमें सुप्त नहीं थे । 'हिंदुओंका यह प्रत्यक्ष देवता क्या प्रसन्न और अप्रसन्न भी होता है ?' आज उसे केवल कला-की भव्यता सन्तुष्ट नहीं कर रही है ।

'मैं स्वयं परीक्षा करूँगा !' निश्चयमें बल हो तो साधन स्वतः मिल जाते हैं, पुस्तकालयकी खोज हुई । भारतीय उपासना-प्रणालीके सम्बन्धमें पढ़ा गया । अन्तमें धूप, कर्पूर, रक्त चन्दन और कनैरके पुष्प लेकर वह अमेरिकन पूजा करनेको प्रस्तुत हुआ । उसने कपड़े उतार दिये । केवल हाफ पैंट पहनकर धूपमें दस मिनट खड़ा रहा । थर्मामीटर-से शरीरकी उष्णता पहले माप ली गयी थी । धूपमेंसे लौटते ही माप ली गयी । 'प्रकाशके देवता, मेरे लिये तू अपना ताप कम कर !' दूसरी बार उसने थोड़ा-सा पानी धारासे गिराया, चन्दन छिड़का, दोनों हाथमें लेकर पुष्प डाल दिये और धूप जलाकर स्थिर खड़ा हो गया ।

'देवता ! देवता !!' वह तो प्रसन्नतासे नाच रहा है । यह कैसे सम्भव हुआ कि दूसरी बार पंद्रह मिनट धूपमें रहने-पर भी ताप-मापक वही शरीर-ताप बता रहा है, जो धूपमें जानेसे पूर्व था । 'देवता, हमे क्षमा कर ! मैं तेरी पूजा सीखूँगा और तुझे प्रसन्न करूँगा । हमने तुझे इतने दिनोंतक छोड़ दिया, तू हमपर रुष्ट मत हो !' हाथ जोड़कर वे सूर्यसे प्रार्थना करने लगे ।

मि० हर्वर्टकी माता रेड इंडियन वंशकी थीं और पिता तो जर्मन थे ही । वे अपनेको 'आर्य' मानते हैं । 'आर्योंका मूल स्थान चाहे जो हो वे भारतसे ही यूरोपमें गये । उनका मूलस्थान भारत नहीं है, इतिहासमें इसका कोई प्रमाण नहीं ।'

वे अपनी इस मान्यतापर बहुत दिनोंसे दृढ़ हैं। प्रत्येक नवीन खोजने उनकी धारणा पुष्ट ही की है। 'आर्योंमें आदिकालसे सूर्यकी उपासना चली आती है !' अबतक वे यही मानते थे कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि, मेघ, विद्युत्, पवनकी शक्ति देखकर भयवश आदि मानवने इन्हें देवता मान लिया। आज जो नवीन रहस्योद्घाटन हुआ है……।

'भगवान् सूर्य जगत्साक्षी हैं! समस्त ज्ञानके वे मूल हैं। विश्वका सम्पूर्ण इतिहास उनके लिये वर्तमान-जैसा है। उनमें संयमसे मनुष्य लोकदर्शी हो जाता है।' आज अन्वेषक-को पता नहीं क्या-क्या पुस्तकोंमें मिल रहा है। वह भारतीय साहित्यकी सूर्यसम्बन्धी मान्यताओंका अध्ययन करने बैठा है। अंग्रेजी ग्रन्थोंसे जो जाना जा सकता है, वह बहुत थोड़ा लगा उसके लिये।

'मैं भारत जाऊँगा !' आराधना, ज्ञान, आचारके क्षेत्रमें भारत सदा विश्वगुरु रहा है। भारत आये बिना सूर्यकी उपासना सीखी नहीं जा सकती। एक सच्चा अन्वेषक अपने मार्गपर ही था। विश्व-इतिहासके ज्ञानके लिये कंकड़-पत्थरों-का अन्वेषण छोड़कर जिसने विश्वको जन्मसे अबतक देखा है, उसीसे वह ज्ञान प्राप्त करना मार्ग-च्युति तो है नहीं। आप उसके उद्देश्यको सकाम कहेंगे, पर था वह सच्चा। उसी दिन भारतीय दूतावासमें वह अपना परिचय-पत्र लेकर 'यात्रानुमति' (पासपोर्ट) लेने पहुँच गया।

× × ×

[२]

'ऐसा लगता है कि हमारी घड़ियाँ ठीक काम नहीं कर रही हैं।' पृथ्वीको छोड़े लगभग चौदह घंटे हो गये। केवल दो घंटेमें राकेट चन्द्रमापर उतर जाना चाहिये। दिग्दर्शक यन्त्र काम देना कबका बंद कर चुका है, पर यात्रा-की दिशा बदली हो, इसका कोई कारण नहीं है। ग्रेमिकोने दूरदर्शकपर दृष्टि लगाकर ध्यानसे देखा 'चन्द्रमा तो अभी उतनी ही दूर दीख पड़ता है, जितनी दूर वह दिखायी पड़ा था।' राकेट दिनमें दो बजे यूराल पर्वतकी उस उच्च प्रयोग-शालासे छोड़ा गया। पूर्णिमा होनेके कारण ठीक ६ बजे चन्द्रमा-का पूर्ण बिम्ब क्षितिजपर उदित हुआ। गणितके अनुसार प्रातः ही ये लोग चन्द्रभूमिपर होंगे।

'घड़ीकी सेकेंडकी सुई ठीक चल रही है। उसमें कोई दोष नहीं।' लूशियो अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ। शीघ्रतापूर्वक दूरदर्शकके पास पहुँचा। 'दो घंटेमें सूर्यका प्रकाश फैल जायगा। चन्द्र अदृश्य हो जायगा। कुछ पता नहीं, हम कहाँ जा रहे हैं।' राकेट परमाणु-शक्तिसे शब्दकी गतिसे जा रहा है, इसकी यात्रियोंको केवल स्मृति है। उनको भीतर न तो कोई गति जान पड़ती है और न कोई असुविधा।'

'हम पृथ्वीसे बहुत दूर आ चुके' ग्रेमिकोने नीचेके यन्त्र-मे देखकर बताया। 'केवल आकाशमें एक नन्हें बिन्दु-सी है हमारी भूमि। हम उसे खो देंगे शीघ्र ही। चिन्ता नहीं, हमारा राकेट लौटानेपर सीधा प्रयोगशालामें ही पहुँचे ऐसी व्यवस्था मार्शल पर्ल्कीने कर ली होगी।'

'मुझे भूख लगी है।' मोटे शरीरका लिस्टोवस्क चुप-चाप दोनोंकी बातें सुनता रहा। 'चलो पहिले जलपान करो। हमारे पास पर्याप्त फल और मक्खन है। दो-चार दिन चले चलना हो तो भी कुछ हानि नहीं। मेरी बड़ी मुर्गीने अंडे देने प्रारम्भ कर दिये हैं और यदि चन्द्रमा न मिला तो मैं इस मनहूस 'कैवस' को बाहर फेंक दूँगा।' बिना दूसरोंकी चिन्ता किये बोलते जाना उसका स्वभाव है।

'तुम 'कैवस' की रोटियोंसे इतनी ईर्ष्या क्यों करते हो।' लूशियो लौट आया और उसने उस बड़े झबरे कुत्ते-को पुचकारा। खिड़कियाँ नहीं हैं और होतीं भी तो उनको खोला नहीं जा सकता था। चन्द्रमापर उतरते ही यह प्यारा जानवर हमारा अच्छा मित्र सिद्ध होगा।' वे अपने साथ कुत्ता, दो बिल्लियाँ, कुछ मुर्गियाँ, खरगोश, चूहे तथा फलों और फूलोंके थोड़े बीज ले आये थे। कुत्तेके अतिरिक्त सबको चन्द्रमापर छोड़ देना था। लिस्टोवस्कको कुत्तोंसे कुछ चिढ़ है। वह इस बातपर झगड़ चुका है कि पृथ्वीपर कुत्तोंकी कमी नहीं है जो इस झबरेको लौटाकर ले जाया जाय।

'हम चाहें तो लौट सकते हैं।' ग्रेमिको सबसे अधिक उदास था। यन्त्रके पाससे आकर अपनी कुर्सीपर वह गिर-सा पड़ा। 'कौन कह सकता है कि अमेरिकन हमारे फिर लौटनेतक सफल न हो जायँगे।' वह कुछ सोचने लगा। चन्द्रमापर पृथ्वीका जो राष्ट्र अधिकार कर लेगा, पृथ्वी उसी-की हो जायगी। चन्द्रमाको केन्द्र बनाकर वहाँसे राकेट फेंक-कर चाहे जिस देशको वह नष्ट कर सकेगा। अमेरिका चन्द्र-लोक-विजयकी वर्षों पूर्वसे योजना बना रहा है। उसकी समस्त योजनाएँ पूर्ण हो चुकीं। अब वहाँके पत्रोंपर प्रतिबन्ध लग

गया है कि इस सम्बन्धके समाचार न छापे जायँ । धूर्त अमेरिकन पत्र विश्वका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करनेके लिये अब 'मङ्गलग्रहकी यात्रा' की बातें करने लगे हैं। रूस भला असावधान कैसे रहता। उसने सब बातें गुप्त रक्खीं। उसका राकेट यात्रामें है, यह भी विश्वके लोग जान न सकें, ऐसी व्यवस्था हुई है। अब यदि यह राकेट असफल लौटे तो अमेरिकनोंको अवकाश मिल जायगा।

'हो सकता है कि मेरा अनुमान ठीक हो।' ग्रेमिकोने न तो फलोंकी ओर देखा और न मक्खनकी ओर। वह एक दूसरी टेबिलके पास जा बैठा और कुछ शीशे निकालने लगा। 'कितनी भयंकर बात होगी।' उसकी मुद्रा और शब्दने साथियोंको डरा दिया। वे उसीकी ओर देखने लगे।

'लूशियो! राकेट लौटाओ, कोई लाभ नहीं आगे जानेसे।' वह यन्त्रपर मस्तक झुकाये-झुकाये ही चिल्लाया। 'यह देखो, चन्द्रमाकी किरणें सूर्यकी किरणोंसे भिन्नता रखती हैं।' एक ओर अरुणोदयकी लालिमा थी और दूसरी ओर चन्द्रविम्ब लुप्त होने जा रहा था। इस समय भी चन्द्रमा इतनी दूर! ग्रेमिकोकी प्रशंसा करनी होगी, वह डूबते हुए चन्द्र और उदित होते सूर्यकी किरणोंको एक साथ यन्त्रपर शीशेसे डालकर देखनेमें समर्थ हुआ था।

'क्या हुआ?' लूशियोने बैठे-बैठे ही पूछा।

'चन्द्रमाकी शीतल किरणें सूर्यकी किरणोंसे भिन्न हैं, यह बात आजतक किसीने क्यों नहीं देखी?' ग्रहोंकी दूरीका ज्ञान किरणोंके रंग-विश्लेषणसे वैज्ञानिक करते हैं। सभी ग्रहोंकी किरणोंमें कोई मौलिक भेद भी है, यह वे नहीं मानते। 'हमने पढ़ा है कि पृथ्वी गोल है पर आज देखा है कि वह नतोदर है। जान पड़ता है, चन्द्रमाके सम्बन्धमें भी हम धोखेमें ही हैं। हिंदुओंका ही गणित ठीक लगता है। चन्द्रमा पृथ्वीका सबसे दूरस्थ ग्रह है।' ग्रेमिकोके यन्त्र ऐसे न थे कि पूरा विश्लेषण हो सके। राकेटमें आने योग्य सामग्री ही तो आवेगी। उसने राकेटका मुख पृथ्वीकी ओर करनेके लिये चालक यन्त्रपर हाथ रक्खा।

× × ×

[३]

'दौड़ो! दौड़ो!!' वृद्ध सहसा चिल्ला पड़े। 'अग्नि बढ़ती जा रही है।'

सचमुच अग्नि बढ़ती जा रही थी। जंगलकी दावाग्नि, वह क्या घड़ों और बाल्टियोंसे बुझायी जा सकती है। झोपड़ियोंसे कुछ काले-काले, जीर्ण मैले वस्त्र लपेटे मनुष्य निकले कुल्हाड़ियाँ लेकर, पर दौड़नेके बदले वे खड़े हो गये। अग्नि बढ़ चुकी थी। नवीन अग्नि लगाकर लकड़ियाँ काटकर दावाग्निका मार्ग रोकनेका समय नहीं रह गया था।

'ड्राइवर जल्दी करो!' बेचारे वृद्ध रुस्तमजी भागे मोटरकी ओर। कहाँ इस वनमें आ फँसे। क्या आवश्यकता थी स्वयं जंगल देखनेकी। कागज बनानेकी मिल न खोलनेसे ही क्या हानि होती। मिलोंके लिये जो जंगल खरीदे जाते हैं, सभीको तो वे स्वयं नहीं देखते। यह नया मैनेजर बड़ा मूर्ख है। उसीने हठ करके साथ लिया उन्हें। कहाँ वे माला फेरने और दिनमें तीनों समय हवन करनेवाले और कहाँ यह खटपट। मनमें सब बातें आयीं और गयीं। माला एक ओर गिर पड़ी। साथ लाया हवन-कुण्ड पड़ा रहा। प्राणोंपर आ बनी हो तो यह सब कौन स्मरण रक्खे। किसीको डाँटनेका समय नहीं था। मैनेजर पहले मोटरमें दौड़ आया था।

'कोई रास्ता बचा नहीं!' ड्राइवरको अपने प्राण क्या प्रिय नहीं हैं? उसने इधर-उधर देखा और हताश खड़ा रहा।

'ये सब क्या कर रहे हैं। इन्हें मोटरके लिये रास्ता बनानेको कहो!' सेठजीने चिल्लाकर कहा। वे स्वयं उन जंगलियोंकी ओर दौड़े। वे सब एक झोपड़ीके सामने इकट्ठे हो गये थे और एक बूढ़ेसे झगड़ रहे थे। बूढ़ा पता नहीं क्यों रुष्ट हो रहा था। 'मैं सबको सौ-सौ रुपये दूँगा! मेरी मोटर निकाल दो।' किसीने देखातक नहीं सेठजीकी ओर। वे उस बूढ़ेके हाथ जोड़ रहे थे, रो रहे थे और औरतें कदाचित् उसे गालियाँ दे रही थीं।

'ये सब पापी हैं, देवताकी पूजाके समय सबने कंजूसी की। अब देवता इन्हें भस्म कर देगा।' बूढ़ेकी दृष्टि वृद्ध पारसी सेठपर पड़ गयी थी। वह उनके पास आ गया। औरतोंने सेठके पैरोंपर छोटे बच्चे रखने और रोनेका क्रम प्रारम्भ किया। उनकी बात समझमें आवे, ऐसी नहीं थी। मैनेजर और ड्राइवर दूरसे ही इस दृश्यको देख रहे थे। वे कभी इधर देखते और कभी अग्निकी ओर।

'मंगूने केवल चार पैसे दिये और बदलूने दो आने। दोनोंको उसी दिन ताड़ी पीनी थी। सब पापी हैं। सब जलेंगे। अब मेरे पास आनेसे क्या लाभ। मैं कुछ नहीं करूँगा।' बूढ़ा कहता जा रहा था। जैसे अग्नि आवेगी तो

उसे छोड़ देगी। जिस अतिथिसे वह इतनी शिकायतें कर रहा है, उसे भी अग्निसे भय है, इसका उसे ध्यानतक नहीं आया।

'तुम मुझे बचाओ! मेरी मोटर निकाल दो!' सेठने देखा कि यदि बूढ़ा मान जाय तो सब इसकी बातें मान लेंगे। सब किस प्रकार मोटरके लिये मार्ग बना सकेंगे, सम्भवतः इसका उत्तर उनके पास भी नहीं था। 'मैं यह सब रुपये तुम्हें दूँगा। जितने माँगोगे, उतने और दूँगा!' नोटोंका बड़ा बंडल निकालकर हाथमें लिया उन्होंने।

'तुम्हारे ये कागज हमें नहीं चाहिये!' बूढ़ेने मुख फिरा लिया। 'इनसे पूछो, ये देवताकी पूजा करने कहें तो मैं तुम्हें बचा दूँगा—सबको बचा दूँगा।'

'मैं दूँगा तुम्हारी पूजाको रुपये। जितने चाहो, उतने रुपये। बचाओ।' समय नहीं था यह सोचनेका कि यह कंकाल वृद्ध इस महानलसे कैसे बचावेगा।

'तुम पैसे दोगे?' एक बार उसने सेठजीके मुखकी ओर स्थिर नयनोंसे देखा। 'नहीं, तुम्हारे पैसेसे देवता पूजा नहीं लेगा।' दृष्टि नीची कर ली उसने।

'हत्यारे, क्यों सबको भूननेपर तुला है? ले, पैसे ले।' स्त्रियोंने पीतल और कासेके आभूषण शरीरसे नोच-नोचकर फेंकने प्रारम्भ किये वृद्धके सम्मुख। 'बाबा, यह रहे पैसे और यह रहा दाना।' पुरुषोंको झोपड़ियोंमें जो मिला, उठा लाये दौड़कर। अग्निका ताप अब अनुभव होने लगा था।

'यह सब उठा लो अपना-अपना।' वृद्ध द्रवित हो गया। 'पूजामें जो चन्दा लगेगा, उसमें कंजूसी मत करना।' उसने एक कलशी उठायी और पासके झरनेकी ओर मुड़ गया।

'वह गया। देवता मान जायगा।' लोग अपने अन्न और आभूषण उठाकर ले जाने लगे। औरतोंका चिल्लाना बंद हो गया, पर वे अब भी बूढ़ेको कोसती जा रही थीं 'कितना खूसट है यह कलूटा!' वृद्ध सेठकी समझमें कुछ नहीं आ रहा था। अग्नि बढ़ी आ रही है। बूढ़ा अकेला कैसे बुझा लेगा उसे? ये सब क्यों आश्वस्त हो गये। वे बूढ़ेके पीछे चले।

'देवता! देवता! लौट जा! हम तेरी पूजा करेंगे!' बूढ़ेने स्नान किया, कलशी मली और फिर जल भरा। उसे कोई उतावली नहीं जान पड़ती। वह स्थिर पदोंसे अग्निकी ओर बढ़ता जा रहा है। ताप असह्य होनेसे सेठजीको कुछ दूर रुकना पड़ा। बढ़ी आती लपटोंमें इस प्रकार स्वयं जाना कोई बुद्धिमानी नहीं थी। बूढ़ेने न तो मन्त्र पढ़ा कोई और न कोई विधि की। वह तो अपनी प्रार्थना इस प्रकार कह रहा है, जैसे सम्मुखके व्यक्तिसे बातें कर रहा हो। कलशीके जलके छींटे अग्निकी ओर फेंकता वह गोल मण्डल बनाता आगे जा रहा है।

'क्या जादू है इसमें!' जैसे अग्निदेव उन शब्दोंको समझते हैं। छींटोंके साथ लपटोंका प्रवाह पीछे लौट रहा है। वायु प्रचण्ड है, सम्मुख ईंधन है और अग्निकी लपटें लौट रही हैं। एक वन्य असभ्य मानव जैसे उनपर शासन कर रहा हो।

'तुम मोटर लेकर चले जाना!' सेठजीका भाव सहसा बदला। वे मैनेजरके पास लौटे। 'मैं इस बूढ़ेके पास रुकूँगा।' आदेश देकर वे फिर उसी ओर जाने लगे।

'उसने अग्निको बाँध दिया! देवता मान गया।' झोपड़ेके सम्मुख वे जंगली स्त्री-पुरुष पुकार रहे थे।

× × ×

[४]

'हमारा राकेट अपने स्थानपर नहीं पहुँच सका। पता नहीं क्यों वह फट गया और हम पैराशूटसे कूद सके।' उन्हें बताया गया था कि लक्ष्यच्युत होनेपर वे कूदनेको प्रस्तुत रहें। *अग्नि लगकर राकेट फट जायगा, यह संचालकोंने व्यवस्था कर दी थी।* एक साधुसे कुछ भी छिपानेकी आवश्यकता नहीं थी। उनके पास न परिचय-पत्र थे और न यात्रानुमति-पत्र। इस अपरिचित देशमें बहुत कुछ सहायता और सुविधा अपेक्षित थी उनको। यही क्या कम कुशल हुई कि जीवन बच गया।

'तुम चन्द्रमापर जाना चाहते हो।' साधु तनिक हँस पड़े। 'उस अमृत क्षेत्रको भी तुम संग्राम, संघर्ष और मृत्युका केन्द्र बनाना चाहते हो! देवता उसकी रक्षा करते हैं।'

'चन्द्रमापर जीवन रह सकता है।' तीनों रूसियोंमें एक मोटा, दूसरा लंबा और तीसरा नाटा है। नाटी आकृतिके व्यक्तिने ही पूछा था।

'वह अमृत-केन्द्र है! वहाँ जाकर कोई मरेगा नहीं; पर वहाँसे लौटेगा कि नहीं, कहा नहीं जा सकता।' वाणी गम्भीर हो गयी।

'तो वहाँ हम जीवित रह सकते हैं।' पता नहीं क्यों नाटे व्यक्तिको भारतीय धारणामें आज विश्वास हो गया है।

'परंतु वहाँ आसुर मनुष्य पहुँच सकेगा, इसकी कोई आशा नहीं।' साधुको स्मरण आया कि असुर स्वर्गपर आधिपत्य करनेमें अनेक बार सफल हुए, पर वे कभी भी चन्द्रलोकके अधिपति न हो सके।

'चन्द्रमाका प्रकाश ?'

'चन्द्रमामें प्रकाश तो तुम मानते ही नहीं हो।' फिर मन्दस्मित आया 'किंतु चन्द्रमामें प्रकाश है और वही प्रकाश है जो समस्त लोकोंको प्रकाशित करता है।'

'आप लोग!' लाल रंगका उत्तरीय, लाल धोती, रक्त-चन्दनका तिलक और कमलगट्टेकी माला लिये कुटियामें एक विचित्र व्यक्तिने प्रवेश किया। वह द्वारपर ठिठक-सा गया।

'ये भी तुम्हारी भाँति जिज्ञासु हैं।' साधुने भीतर आनेका सङ्केत किया। वे बड़ी नम्रतासे आकर प्रणाम करके भूमिपर ही बैठ गये। 'ये लोग रूससे चन्द्रमाको ढूँढ़ते आये हैं, जैसे तुम अमेरिकासे सूर्यको ढूँढ़ते हुए आ पहुँचे हो।'

'यह पूरा रेड-इंडियन हो गया है।' एक रूसीने धीरेसे दूसरेके कानमें व्यंग किया। उनमें ईर्ष्या जाग्रत् हो गयी थी।

'भारतमें सौर-सम्प्रदाय लुप्तप्राय हो चला है। तुम भाग्यवान् हो, जो उसकी परम्परागत उपासना प्राप्त कर सके।' साधु आगन्तुकके प्रति अधिक आकृष्ट जान पड़े। 'इनसे पूछो कि ब्रह्माण्डमें कितने सूर्य हैं।' नाटे रसियनकी ओर सङ्केत हुआ।

'हमारी आकाशगङ्गाका प्रत्येक तारा एक सूर्य है। हमारा सूर्य अपने सम्पूर्ण नक्षत्रों एवं ग्रहोंके साथ उसीमें एक तारा है। इन सूर्योंकी परस्पर दूरी करोड़ों प्रकाश वर्ष है।' ग्रेमिको खगोल शास्त्रका पण्डित है। उसे बोलनेका अवकाश मिला था। 'प्रकाशकी गति एक सेकेंडमें ही कई लाख मील है। एक वर्षमें वह जितनी दूर जाय, वह दूरी एक प्रकाश वर्ष कही जायगी। दूरदर्शकमें इसके पीछे और भी नीहारिका-मण्डल क्रमशः दीखते हैं। वे कितने हैं, कोई नहीं जानता, सम्भवतः जान भी नहीं सकता। सब आकाशगङ्गा हैं। सबमें अनन्त-अनन्त तारे हैं। प्रत्येक तारा सूर्य है।' वह जानता था कि साधुको पूरी बात समझानी पड़ेगी।

'मैं अपने ब्रह्माण्डके इन प्रत्यक्ष भगवान् नारायणको ही जानना और सन्तुष्ट करना चाहता हूँ।' बिना विचलित हुए उस रक्ताङ्ग, रक्त-वस्त्र साधकने मस्तक झुकाया। ये बातें उसे ज्ञात न हों, ऐसा नहीं है। वह भी इस विद्याका कभी जिज्ञासु रहा है; किंतु आज वह साधक है। निष्ठाका महत्त्व जान चुका है।

'सेठजी पधारें!' पारसी होनेपर भी वृद्ध सेठ श्रद्धालु हैं। वे जब कभी उड़ीसामें अपने कारखानोंको देखने आते हैं, यहाँ होकर ही लौटते हैं। 'आज आप अधिक खिन्न जान पड़ते हैं।' भारतीय साधुकी झोपड़ी कोई पाश्चात्य कार्यालय तो है नहीं कि वहाँ मिलनेवाले बारी-बारीसे मिलेंगे। यहाँ तो जो पहुँचे, सभीके लिये समान रूपसे द्वार खुला है।

'मैंने जीवनभर अग्निदेवकी पूजा की।' सेठजीने दूसरे लोगोंकी उपस्थितिकी चिन्ता नहीं की। साधुके पास तो लोग बैठे ही रहेंगे। 'व्यर्थ-सी है मेरी पूजा! मेरी कोई भेंट वे स्वीकार करते हैं, यह जान नहीं पड़ता।' उस जंगली वृद्धने अपने देवताकी पूजामें उनका पैसा लेना अस्वीकार कर दिया, यह वे कैसे भूल सकते हैं।

'सब-के-सब एक ही भूल करते हैं।' महात्माने एक बार सभी उपस्थितोंकी ओर दृष्टि घुमायी। 'तुम समझते हो, यह स्थूल अग्नि ही अग्नि है। यह मानते हैं कि वह तेजोगोलक ही सूर्य है। ये लोग चन्द्रमाके प्रकाशको ही पृथक् कर रहे हैं। लकड़ी जल जानेके पश्चात् अग्नि कहाँ रहते हैं? अग्निमें जिस हिरण्य गौर सर्वव्यापकका प्रकाश है, उस दिव्य तेजस्को तुम अपनी श्रद्धा प्रदान करो! सूर्यमण्डलमें जो शशिवर्ण चतुर्भुज श्रीनारायण हैं, उन्हींसे तो अनन्त-अनन्त सूर्य प्रकाश पाते हैं। उनको छोड़कर केवल स्थूल गोलककी आराधना कैसे पूर्ण होगी। चन्द्रमामें जो इन्दीवराभ श्यामताका रूप लिये बैठा है वही तो उस शीतल प्रकाशका मूल है। उसे छोड़कर कहीं प्रकाशका विश्लेषण हो सकता है?'

'सर्वव्यापक अग्निको विश्वके परम प्रकाश-तत्त्वको उस वृद्धने अपने विश्वास और प्रेमसे सम्बोधित किया था।' पारसी सेठ सोचने लगे थे।

'समस्त सूर्योंके प्रकाशक एक ही हैं और वे आदित्य-मण्डलगत भगवान् नारायण हैं।' अमेरिकन साधक अपनी निष्ठाके अनुरूप अर्थ करनेमें लगे थे।

'प्रकाशकी चरम सीमा नीली होती है। प्रकाशका केन्द्र नीला होता है। सम्भवतः यह साधु हमसे चन्द्रमाकी नीलिमासे प्राप्त प्रकाशका विश्लेषण करनेको कह रहा है।' ग्रेमिको अपनी भाषामें अपने लंबे साथीको समझा रहा था।

मध्याह्न कृत्यका समय होनेसे साधुने सबको विदा दी। जब वे लोग द्वारसे निकल गये, साधु बार-बार गाते रहे—

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

भक्त-गाथा

ठाकुर मेघसिंह

ठाकुर मेघसिंह जागीरदार थे। रियासत बहुत बड़ी तो नहीं थी; परंतु नितान्त क्षुद्र भी नहीं थी। अच्छी आमदनी थी। ठाकुर साहेब अक्षरोंकी दृष्टिसे बहुत विद्वान् नहीं थे, पर वैसे यथार्थ दृष्टिमें वे विद्वान् थे। विद्या वही, जो मनुष्यको सच्चे मार्गकी ओर ले जाय। जो विद्या मनुष्यको विपथगामिनी बनाकर भीषण नरकानलमें जलनेको बाध्य करती है; जिसके द्वारा जीवन अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके भयानक तूफानमें पड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वह तो साक्षात् अविद्या है, प्रत्यक्ष तम है। ऐसी विद्यासे तो बचना ही चाहिये। ठाकुर मेघसिंह उस विनाशकारिणी विद्यासे बचे थे। उनकी विद्याने उनके जीवनको सब ओरसे प्रकाशमय बना रक्खा था, इससे उनका प्रत्येक कार्य मानव-जीवनके परम लक्ष्यको सामने रखकर ही होता था।

ठाकुरसाहेबकी प्रजाप्रियता और न्यायसे सभी लोग प्रसन्न थे। उनका प्रत्येक न्याय प्रजावत्सलता और सर्वहितकी दृष्टिसे दयापूर्ण ही होता था। उन्हें बड़े-से-बड़ा त्याग करनेमें भी किसी कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता था। भगवान्के मङ्गलविधानपर अटल विश्वास होनेके कारण उन्हें किसी भी अवस्थामें कोई उद्वेग या विषाद नहीं होता था। जहाँ विषाद या उद्वेग है, वहाँ निश्चय ही भगवान्पर अविश्वास है। ठाकुरसाहेब नित्य प्रसन्नमुख तथा प्रसन्नमन रहते थे। भगवान्का स्मरण तो उनके जीवनमें श्वास-क्रियाकी भाँति अनिवार्य हो गया था। वे नित्य प्रातःकाल सूर्योदयसे एक पहर पूर्व उठते ही सबसे पहले भगवान्का ध्यान करते। तदनन्तर शौच-स्नानसे निवृत्त होकर सन्ध्या करते, गायत्रीका जप करते, गीता-विष्णुसहस्रनामका पाठ करते और फिर भगवन्नाम-जपमें लग जाते थे। जपके समय भी उनका मानस-ध्यान तो चलता ही था। मध्याह्नके समय उनकी पूजा समाप्त होती। तब अभ्यागत अतिथियोंको स्वयं अपने सामने भोजन करवाकर भगवत्प्रसादरूपमें स्वयं भोजन करते। इसके बाद अपनी रियासतका काम देखने कचहरीमें जाकर विराजते और बड़ी धीरता तथा बुद्धिमत्तासे सारा कार्य सँभालते तथा झगड़ोंको निपटाते। उस समय भी उनका भगवत्-स्मरण अखण्ड चलता ही रहता। वे भगवच्चिन्तन करते हुए भी समस्त कार्य करते।

संसारमें सब तरहके मनुष्य होते हैं; ठाकुरसाहेबकी पवित्र जीवनचर्या और उनका साधु-स्वभाव भी किसीके लिये ईर्ष्या और द्वेषका कारण बन गया। तमसाच्छन्न हृदयकी कुटिलतासे दृष्टि बदल जाती है। फिर उसे अच्छेमें बुरे, देवतामें राक्षस, साधुमें असाधु और सत्यमें मिथ्याके दर्शन होते हैं। बुद्धि बिगड़नेपर क्रियाका बिगड़ना स्वाभाविक ही है। इसी स्वभावविपरीतताका शिकार ठाकुरसाहेबका ही एक सेवक हो गया। वह जातिका चारण था और उसका नाम था भैरूँदान। वह ठाकुरका बड़ा विश्वासी था और पहले उसके व्यवहारमें भी कोई दोष नहीं था; परंतु किसी दैव-दुर्विपाकसे उसका मन बिगड़ गया और मन-ही-मन वैरबद्ध-सा होकर वह ठाकुरसाहेबको मारनेकी बात सोचने लगा। एक दिन ठाकुरसाहेबको कचहरीमें देर हो गयी थी। रात्रिका पहला पहर था। कृष्ण पक्ष था। बाहर सब ओर अँधेरा छाया था। उसीमें ठाकुरसाहेब निकले और कुछ दूरपर स्थित अपने रनिवासकी ओर जाने लगे। भैरूँदान उनके साथ था। पापबुद्धिने जोर दिया, भैरूँदानने कटार निकाली, एक बार हाथ काँपा; परंतु पापकी प्रेरणासे पुनः सावधान होकर उसने अँधेरेमें अपने साधुस्वभाव स्वामीपर वार कर दिया! परंतु भगवान्का विधान कुछ और था, उसी क्षण सामनेसे दौड़ता हुआ एक साँड़ आया। ठाकुर तो आगे बढ़ गये और उसका एक सींग भैरूँदानकी छातीमें लगा। कटार हाथमें लिये भैरूँदान गिर पड़ा, हाथ उलट गया था, इससे कटार जाकर नाकपर लगी, नाकका अगला हिस्सा कट गया। भैरूँदान चिल्लाया। क्षणोंमें यह घटना हो गयी। ठाकुरसाहेब समीप ही

थे। चिल्लाहट सुनकर लौटे। साँड़ तो आगे निकल गया था। इन्होंने जमीनपर पड़े हुए भैरूँदानको उठाया। वह छातीपर लगी सींगकी चोटसे तथा नाककी पीड़ासे बेहोश हो गया था। ठाकुरसाहेबने पुकारकर रनिवाससे नौकरोंको बुलाया। भैरूँदानको उठाकर वे रनिवासमें ले गये। बाहर चौपालमें चारपाई डलवाकर उसे सुलवा दिया। दीपक आ ही गया था। देखा तो उसकी मुट्ठीमें खूनसे भरी तेजधार कटार है और नाकसे खून बह रहा है। मुट्ठी ऐसी जकड़ गयी थी कि कटार उसमेंसे गिरी नहीं। ठाकुर यह दृश्य देखकर अचरजमें पड़ गये। उन्हें साँड़के द्वारा गिराये जानेका तो अनुमान था, पर मुट्ठीमें कटार रहने तथा नाकके कटनेका पूरा रहस्य वे नहीं जानते थे। यद्यपि उन्होंने अँधेरेमें भैरूँदानको अपनेपर वार करते हुए-से देखा था। लेकिन इस रहस्यको जाननेकी चिन्तामें न पड़कर वे उसे होशमें लानेका यत्न करने लगे। मुट्ठी खोलकर कटार निकाली। नाक धोयी, उसपर चूना लगाया। छातीपर कोई दवा लगायी और सिरपर पानी डालकर स्वयं हवा करने लगे। घरके नौकरोंके सिवा और कोई वहाँ था नहीं; इसलिये ठकुराइन भी वहाँ आ गयी थीं। वह भी हवा करने लगीं। इस सेवा और उपचारसे भैरूँदानको भीतरी होश तो जल्दी हो गया; परंतु छातीकी पीड़ाके मारे उसकी आँखें नहीं खुलीं, वह वैसे ही पड़ा रहा। इधर ठकुराइनने एक प्रसङ्ग छेड़ दिया और उनमें नीचे लिखी बातें हुईं—

ठकुराइन—चारणजीकी छातीमें साँड़के सींगसे चोट लग गयी, यह तो होनीकी बात है, पर इन्होंने अपने हाथमें कटार क्यों ले रक्खी थी। कहीं आपपर वार करनेका तो इनका मन नहीं था?

ठाकुरसाहेबने भैरूँदानको अपने ऊपर वार करते-से देखा था; परंतु उनके साधु मनने उसपर कोई संदेह नहीं आने दिया। उन्होंने अनुमान किया कि अँधेरेमें मेरी रक्षाके लिये ही इन्होंने कटार हाथमें ले रक्खी होगी। अब तो इनके मनमें कोई बात थी ही नहीं; परंतु ठकुराइनके प्रश्नसे उनकी फिर कुछ जागृति-सी हुई, पर सन्देहशून्य पवित्र मनमें सन्देह क्यों होता। उन्होंने कहा—

"तुम पगली तो नहीं हो गयी? भैरूँदान मेरा अति विश्वासी साथी है। 'यह मेरे ऊपर कटार चलावेगा' इस प्रकारका सन्देह करना भी पाप है। सम्भव है, इसने मेरी रक्षाके लिये कटार हाथमें ले रक्खी हो।"

ठकुराइन—आपकी रक्षाकी वहाँ क्या आवश्यकता थी। मेरे पापी मनमें तो यही जँचती है कि चारणके मनमें बुराई थी पर भगवान्‌ने आपकी रक्षा की।

ठाकुर—देखो, मेरी समझसे तो तुमको ऐसा नहीं सोचना चाहिये। किसीपर भी सन्देह करना पाप है। फिर भला, तुम तो यह जानती ही हो कि हमलोगोंको जो कुछ भी भोग प्राप्त होते हैं, सब हमारे श्रीगोपाल-जीकी देख-रेखमें तथा उन्हींके विधानके अनुसार होते हैं। वे परम मङ्गलमय हैं, अतएव उनके विधान भी मङ्गलमय हैं। यदि कटार लगती तो भी उनके मङ्गलविधानसे ही लगती। न लगी तो भी मङ्गलविधानसे ही। मैं तो समझता हूँ कि भैरूँदानको जो चोट लगी है, इससे भी इसका कोई मङ्गल ही हुआ है। मुझे मारनेका प्रयास यह क्यों करता? यदि किया है तो उसमें मेरे किसी पूर्वकर्मके कारण कोई प्रेरणा इसके मनमें हुई होगी। यदि यह भी नहीं है और सचमुच इसके मनमें कोई दुर्भाव ही आया है तो मङ्गलमय भगवान्‌के मङ्गलविधानसे इस चोटके द्वारा उसका प्रायश्चित्त हो गया। इसे जो आगे भीषण नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती, उसका यहीं थोड़ी-सी चोटमें ही भुगतान हो गया। मुझे तो पूरा विश्वास है कि भगवान् सबका मङ्गल ही करते हैं। मैं अपने भगवान्‌से कातर प्रार्थना करता हूँ 'दयामय प्रभु! भैरूँदान मेरा परम विश्वासी है। मेरे मनमें कभी किसी प्रकार भी किसीकी या इसकी बुराई करनेकी कोई भावना न आयी हो तो इसकी पीड़ा अभी शान्त हो जाय और इसके मनमें यदि कोई दुर्भावना आयी हो तो उसका भी समूल नाश हो जाय। यह यदि इसके किसी पापका फल हो तो नाथ! वह फल मुझको

भुगता दिया जाय और इसकी शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा और उसके कारणोंका विनाश हो जाय।'

यों प्रार्थना करते-करते ठाकुरसाहेबकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। उनकी इस दशाको देखकर तथा उनके पवित्र भावोंसे प्रभावित होकर ठकुराइनका हृदय भी द्रवित हो गया। उसने भी रोते हुए भगवान्से प्रार्थना की—'नाथ! मैंने जो चारणजी-पर सन्देह किया, इस पापके लिये मुझे क्षमा कीजिये और चारणजीको शीघ्र पीड़ासे मुक्त कर दीजिये।'

भैरूँदानको भीतरी होश था ही। उसने यह सारी बातें सुनीं—ज्यों-ज्यों सुन रहा था, त्यों-ही-त्यों उसका मन बदलता जा रहा था और उसके मनमें अपनी करनीपर पश्चात्ताप हो रहा था। पश्चात्तापकी आगसे उसका हृदय कुछ शुद्ध हो गया। फिर जब ठाकुर-साहेबने भगवान्से प्रार्थना की, तब तो उसका हृदय सर्वथा निर्मल हो गया और क्षणोंमें ही उसकी छातीकी पीड़ा भी सर्वथा शान्त हो गयी! उसने आँखें खोलीं और उठकर वह ठाकुरसाहेबके चरणोंमें लोट गया। ठाकुरसाहेब इस बीच भगवान्के ध्यानानन्द-सुधासागरमें डूब गये। उन्हें बाहरकी कोई सुधि नहीं थी। ठकुराइन भी भावावेशमें बेसुध थीं। कुछ देर चारण दोनोंके चरणोंमें लोटता रहा। जब भगवत्प्रेरणासे ठाकुर-ठकुराइनको बाह्य चेतना हुई, तब उन्होंने अपने चरणोंपर पड़े भैरूँदानको अश्रुओंसे चरण पखारते पाया। ठाकुरने उसको उठाकर हृदयसे लगा लिया।

भैरूँदानने अपनेको छुड़ाते हुए रोकर कहा—मालिक! मेरे-जैसा महापापी मैं ही हूँ। आप मुझ पापीका स्पर्श मत कीजिये। मैं नरकका कीड़ा महा-पामर व्यर्थ ही आपमें दोष देखकर आपको मारने चला था। भगवान्ने बड़ी दया की जो साँड़के रूपमें आकर मेरे नीच आक्रमणसे आपको बचा लिया। आपको क्या, उन्होंने नाक कटाकर उचित शिक्षा दी एवं मुझको बचा लिया और ऐसा बचाया कि मेरे पाप-पादपके मूलका ही उच्छेद कर दिया। यह सब आपकी सहज साधुता और भगवत्प्रीतिका चमत्कार है। मेरा मन पश्चात्तापकी आगसे जल रहा है। मैं इसका समुचित दण्ड चाहता हूँ। तभी मुझे तृप्ति होगी।

ठाकुरसाहेबने हँसते हुए कहा—भैरूँदान! तुम जरा भी चिन्ता न करो। तुम मुझे जैसे पहले प्यारे थे, अब उससे भी बढ़कर प्यारे हो। तुम्हारे इस आचरणने मेरे भगवद्विश्वासको और भी बढ़ाया है। इसलिये मैं तो तुम्हारा बड़ा उपकार मानता हूँ और अपनेको तुम्हारा ऋणी पाता हूँ। जिस किसी भी निमित्तसे भगवान्में विश्वास उत्पन्न हो और बढ़े, वह निमित्त देखनेमें यदि असुन्दर भी हो, तो भी वस्तुतः बड़ा ही सुन्दर, श्रेष्ठ तथा वन्दनीय है। तुम इसमें निमित्त बने। इसलिये तुम मेरे परम हितकारी बन्धु हो। तुम दण्ड चाहते हो; अच्छी बात है। मैं दण्ड देता हूँ, तुम्हारे शरीरको ही नहीं; तन-मन-वचन तीनोंको देता हूँ। जब तुम चाहते हो तब उसे सानन्द ग्रहण तो करोगे ही। हाँ, यदि तुम ग्रहण करोगे तो मुझको और भी ऋणी बना लोगे। दण्ड यह है कि शरीरसे किसीका कुछ भी बुरा न करके सदा भगवद्-भावसे सबकी सेवा किया करो, वचनसे किसीको कभी कठोर वाणी न कहकर सत्य, हितकर, मधुर और परिमित वाणीसे तथा भगवन्नाम-गुणादिके दिव्य कीर्तन-गायनसे सबको सुख पहुँचाया करो और मनसे द्रोह, दम्भ, काम, क्रोध, लोभ, विषाद और जगच्चिन्तनरूपी विषसमूहको निकालकर प्रेम, सरलता, सचाई, प्रसन्नता, सन्तोष और नित्य भगवच्चिन्तनादिकी अमृतधाराके द्वारा सबका मङ्गल किया करो और यह सब भी किया करो केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही। यही यथार्थ त्रिदण्ड है। जो इनको धारण करता है, वही त्रिदण्डी है। तुम इन तीनों दण्डोंको धारण कर सदाके लिये त्रिदण्डी बन जाओ। मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानूँगा।

इन सारी बातोंके होनेमें ठाकुरसाहेबकी भगवत्स्मृति नित्य अक्षुण्ण बनी रही। कहना नहीं होगा कि भैरूँदान-का जीवन ही पलट गया और ठाकुर मेघसिंहजीके बर्ताव

और सङ्गसे वह परम साधुताको प्राप्तकर नित्य भगवद्विश्वासी बन गया ।

ठाकुर मेघसिंहके एक ही कुमार था—सज्जनसिंह । सोलह वर्षकी उम्र थी । शील, सौन्दर्य और गुणोंका वह भण्डार था । अभी तीन ही महीने हुए उसका विवाह हुआ था । भगवान्‌के विधानसे वह एक दिन घोड़ेसे गिर पड़ा और उसके मस्तकमें गहरी चोट आयी। थोड़ी देरके लिये तो वह चेतनाशून्य हो गया, परंतु कुछ ही समय बाद उसको चेत हो आया । यथासाध्य पूरी चिकित्सा हुई पर घावमें कोई सुधार नहीं हुआ । होते-होते घाव बढ़ गया और उसका जहर सारे शरीरमें फैल गया । अब सबको निश्चय हो गया कि सज्जनसिंहके प्राण नहीं बचेंगे । सज्जनसिंहसे भी यह बात छिपी नहीं रही । उसके चेहरेपर कुछ उदासी आ गयी। ठाकुर मेघसिंह पास बैठे विष्णुसहस्रनामका पाठकर रहे थे । उसे उदास देखकर उन्होंने हँसते हुए कहा—'बेटा ! तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है । अभी तुम मेरे पुत्र हो, मेरी जागीरके मालिक हो, तुम्हें मेरे कुँअरका पद मिला है । यह सब तुम्हारे गोपालजीके मङ्गल-विधानसे ही हुआ है । अब उन्हींके मङ्गलविधानसे तुम साक्षात् उनके पुत्र बनने जा रहे हो । अब तुम्हें उनके कुँअरका पद मिलेगा और तुम दिव्यधामकी जागीरीके अधिकारी बनोगे । यह तो बेटा ! हर्षका समय है । तुम प्रसन्नतासे जाओ, मङ्गलमय प्रभुसे मेरा नमस्कार कहना और यह भी कहना कि 'मेघसिंहके आपके धाममें तबादिलेकी भी कोई व्यवस्था हो रही है क्या ? मुझे कोई जल्दी नहीं है, क्योंकि मुझे सदा तो चाकरीमें रहना है, चाहे जहाँ रक्खें परंतु इतना अवश्य होना चाहिये कि आपकी चाकरीमें हूँ, मुझे इसका स्मरण सदा बना रहे ।'

'बेटा ! यहाँके संयोग-वियोग सब उन लीलामयके लीलासंकेतसे होते हैं और होते हैं हमारे मङ्गलके लिये। इस बातका जिसको पता है वह न तो दुःखके संयोग-से दुखी होता है, न सुखके वियोगसे । उसे तो सभी समय सभी संयोग-वियोगोंमें, सभी दुःख-सुखोंमें सदा अखण्ड सुख, अखण्ड शान्ति और अखण्ड तृप्तिका अनुभव होता है । तुम भगवान्‌के मङ्गल संकेतसे ही यहाँ आये और उनके मङ्गल संकेतसे मङ्गलमयकी चरणधूलि प्रत्यक्ष प्राप्त करने जा रहे हो । इसमें जरा भी सन्देह मत करो । संशयवान्‌का ही पतन होता है । विश्वासी तथा श्रद्धालु तो हँसते-हँसते प्रभुके धाममें चला जाता है । तुम श्रद्धाको दृढ़ताके साथ पकड़ रक्खो, विश्वासको जरा भी इधर-उधर मत होने दो । यहाँसे जाकर तुम वहाँ उस अपरिसीम अनन्त आनन्दको प्राप्त करोगे कि फिर यहाँकी सभी सुखकी चीजें उसके सामने तुम्हें तुच्छ दिखायी देंगी । रही कुँअरानीकी बात सो उसकी कोई चिन्ता मत करो । वह पतिव्रता है । यहाँ साधुभावसे जीवन बिताकर वह भी दिव्यधाममें तुम्हारे साथ ही श्रीगोपालजीकी चरणसेविका-का पद प्राप्त करेगी । बेटा ! विषयोंका चिन्तन ही पतनका हेतु होता है, फिर स्त्री-पुरुषके विषयी जीवनमें तो प्रत्यक्ष विषय-सेवन होता है । प्रत्यक्ष नरकद्वारोंमें अनुराग हो जाता है । अतएव वह पतनका निश्चित हेतु है । भगवान्‌ने दया करके उन नरकद्वारोंकी अनुरक्ति और सेवासे कुँअरानीको मुक्त कर दिया है । वह परम भाग्यवती और साध्वी है । इसीसे इसपर यह अनुग्रह हुआ है । वह तपोमय जीवन बितायेगी और समयपर भगवान्‌के दिव्यधाममें तुमसे आ मिलेगी । तुम्हारी माता-को तो भगवान्‌के मङ्गलविधानपर अखण्ड विश्वास है ही। उसे तो सर्वत्र सर्वथा मङ्गल ही दीखता है । बेटा ! तुम सुखसे यात्रा करो। स्वयं हँसते-हँसते और सबको हँसाते-हँसाते हुए जाओ । जब सबको यह विश्वास हो जायगा कि तुम वहाँ जाकर यहाँकी अपेक्षा कहीं अनन्तगुनी विशेष और अधिक सुखकी स्थितिको प्राप्त करोगे तब तुम्हारे वियोगमें दुःखका अनुभव होनेपर भी सच्चे प्रेम-के कारण तुम्हारे सुखसे वे सभी परम सुखी हो जायँगे। पर यह विश्वास उन सबको तभी होगा जब तुम विश्वास करके हँसते-हँसते जाओगे ।'

ठाकुरकी इन सच्ची बातोंका सज्जनसिंहपर बड़ा प्रभाव पड़ा । उसका मुखमण्डल दिव्य आनन्दकी निर्मल ज्योति-से उद्भासित हो उठा । उसके ओठोंपर मधुर हँसी छा

गयी, उसका ध्यान भगवान् गोपालजीके मधुर श्रीविग्रहमें लग गया। और उसके मुखसे भगवन्नामका उच्चारण होने लगा। फिर देखते-ही-देखते ब्रह्माण्ड फटकर उसके प्राण निकलकर दिव्यधाममें पहुँच गये।

ठाकुर, ठकुराइन, कुँअरानी, सभी वहाँपर उपस्थित थे। परंतु सभी आनन्दमग्न थे। मानो अपने किसी परम प्रिय आत्मीयको शुभ आनन्दमय स्थानकी शुभ यात्रामें सहर्ष सोत्फुल्ल हृदयसे विदा दे रहे हों।

× × × ×

ठाकुर, ठकुराइन और कुँअरानी तीनोंने ही अपने जीवनको और भी वैराग्यसे सुसम्पन्न किया। भगवत्-रंगमें विशेषरूपसे रँगा और अन्तमें यथासमय इस अनित्य मर्त्यलोकसे सदाके लिये छूटकर भगवद्धाममें प्रयाण किया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

कामके पत्र

(१)

कुछ जानने योग्य बातें

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र यथासमय मिल गया था; उत्तरमें देरी हो गयी, आशा है आप कोई विचार नहीं करेंगे। आपने बहुत लंबी प्रश्नावली भेजी है, उसके विषयमें मैं अपने विचार नीचे निवेदन करता हूँ—

१—इस बातको पूरा समझ लेना तो सृष्टितत्त्वको ही जान लेना है। पत्र-व्यवहारद्वारा इसे न तो हर कोई समझा सकता है, न हर कोई समझ सकता है। तथापि इतना तो समझ ही सकते हैं कि जब सब कुछका नाम ही संसार है और वह जबतक नहीं रचा गया था तब कुछ नहीं ही होना चाहिये। यह 'कुछ नहीं' ही सबका मूल कारण या प्रकृति है। जिस प्रकार सुषुप्ति या मूर्च्छामें किसी प्रकारका विशेष ज्ञान न रहनेसे वह मृत्युकी-सी अवस्था होती है तथा जाग्रत् और स्वप्न विशेष ज्ञानके कारण जीवन कहे जाते हैं, उसी प्रकार उस समय अव्यक्त प्रकृति निर्विशेषरूपमें होनेसे मृत्युसे व्याप्त कही गयी है। जब वह कार्योन्मुख हुई तब मानो सजीव होने लगी।

२—वेदोंके दो भाग हैं—'संहिता' और 'ब्राह्मण' या 'आरण्यक'। आर्यसमाजी महानुभाव केवल संहिता-भागको श्रुति मानते हैं और सनातनधर्मी दोनों भागोंको। श्रीनारायण स्वामीजी आर्यसमाजी हैं। इसीसे उन्होंने ब्राह्मण-उपनिषदादिको मुख्य प्रमाण नहीं माना है। उपनिषदोंमें ईश और मुण्डकके सिवा और सब प्रायः ब्राह्मण और आरण्यकोंसे ही लिये गये हैं। अतः आर्यसमाजी सज्जन उनके संहितानुकूल अंशको ही प्रमाण मानते हैं।

३—द्वैतवादी ईश्वरको विभु और जीवको अणु मानते हैं। दोनों चेतन हैं, किंतु जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है तथा ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्। ईश्वर एक है और जीव अनन्त हैं। ईश्वर सूर्य-प्रकाशके समान सर्वव्यापक है और जीव दीपज्योतिके समान सङ्कुचित है। जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश और दीपककी ज्योति एक स्थानपर रह सकते हैं, उसी प्रकार जीव और ईश्वर भी एक ही अन्तःकरणमें रह सकते हैं। (द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः) तथा जैसे दीवारोंसे घिरे हुए घरमें सूर्यप्रकाशकी सत्ता रहनेपर भी प्रधानता दीपकके प्रकाशकी ही रहती है, किंतु दीवार गिरा दी जायँ तो दीपप्रकाश सूर्यप्रकाशमें लीन हो जाता है, उसी प्रकार जबतक अज्ञानवश देहादिका अभिमान बना हुआ है, तब-तक अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे भगवान्‌की सत्ता रहते हुए भी जीवभावकी ही प्रधानता रहती है, किंतु जब ज्ञानोदय होनेपर देहाभिमान गलित हो जाता है तब जीवभाव भी भगवद्भावमें विलीन हो जाता है।

४—जीव ईश्वरका अंश उसी प्रकार है जैसे अग्निका अंश चिनगारी अथवा जलका अंश सीकर है। ऊपर जो जीवको दीप-ज्योतिके समान बताया है, वह ज्योति भी वास्तवमें व्यापक तेजस्तत्त्वका अंश ही है।

५—'सन्ध्या' शब्दसे यहाँ नित्य कर्मान्तर्गत सन्ध्योपासन अभिप्रेत है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र स्वयं साक्षात् भगवान् होते हुए भी आचरण तो आदर्श मनुष्यके समान ही करते थे। अतः उनका समयपर सन्ध्योपासन करना उचित ही है। उस समय वे भी हमारी तरह श्रीविष्णु,

रुद्र, ब्रह्मादिका ध्यान अथवा स्वरूपचिन्तन करते थे।

६-संख्यासे जो जप किया जाता है, वह अनुष्ठान-रूप होता है। उसका चित्तशुद्धिके अतिरिक्त और भी विशेष फल हो सकता है। इसके सिवा संख्यासे तो निश्चित जप हो जाता है, बिना संख्याके हर समय जप करनेसे कभी होता है कभी नहीं होता। अतः जितना अवकाश मिल सके, उसके अनुसार कुछ जप तो स्नानादिसे शुद्ध होकर आसनपर बैठकर नियमित संख्यामें करना ही चाहिये। शेष समय जो मन-ही-मन संख्या-हीन जप किया जाता है, उसे नामस्मरण कहते हैं। वह भी बहुत ही उपयोगी है और अवश्य करना चाहिये।

७-'शिव' का नाम शिव क्यों है—यह तो शिव ही जानें। मैं इस विषयमें क्या लिखूँ? हाँ, शिव कल्याणका वाचक है। शिव कल्याणमय हैं। इसलिये 'शिव' नाम हो सकता है।

८-मलादित्याग करते समय भगवत्स्मरण रखना तो ठीक है, किंतु यदि नित्यपाठकी दृष्टिसे समयका सदुपयोग करनेके लिये गीतापाठ किया जायगा तो वह अनुचित होगा। क्योंकि पाठ एक नियमित तथा पवित्र कर्म है, उसे विधिवत् ही करना चाहिये।

९-यदि बिछौनेको बार-बार धूप या हवा लगाते रहेंगे तो खटमल नहीं पड़ेंगे। खटमल पड़ जानेपर भी धूपमें डालने या झाड़नेसे निकल जायँगे। उन्हें स्वयं मारना नहीं चाहिये।

१०-चींटियोंद्वारा पकड़े हुए कीड़ेको छुड़ा देना ही उचित है, क्योंकि उस समय प्रत्यक्ष रूपसे तो कीड़ेको ही अधिक कष्ट है, चींटियाँ दूसरी चीज खाकर रह सकती हैं।

११-कब्जियतमें शाक उपयोगी है—इसका आशय तो भाजी या तरकारीसे ही है। पञ्चसकार चूर्णमें जो पाँच चीजें—सौंफ, सनाय, शिवा, सोंठ और सैंधव लिखी हैं, वे ही पड़ती हैं। किंतु यह चूर्ण नित्य नहीं खाना चाहिये, जब विशेष कब्जियत हो तभी खाना चाहिये। भोजनके बाद तुरंत शौच जाना ठीक नहीं है। यदि आप भोजनके पहले शौच हो आया करें तो सम्भव है आपकी यह आदत छूट जाय। कब्जियतके कारण अनेक होते हैं, मालूम नहीं आपको क्यों रहती है। वस्तुओंकी अनुकूलता-प्रतिकूलताका निर्णय आपको अपने अनुभवसे कर लेना चाहिये; सब चीजें सबके लिये समान नहीं रहतीं।

१२-जीवोंकी हिंसा जान-बूझकर कभी नहीं करनी चाहिये, यदि अपना स्वाभाविक कर्म करते हुए अनिवार्य रूपसे किसी जीवको कष्ट पहुँचता हो तो उसमें लाचारी है। खेतीमें आप तो हल जोतते हैं, उसके कारण यदि कोई जीव मर जायँ तो आप क्या कर सकते हैं। उसी प्रकार अनाजमें घुन आदि लग जाय और आपको उसे खाना है तो धूपमें डालना ही होगा। इससे कुछ मरेंगे, कुछ कहीं अन्यत्र अपना स्थान ढूँढ़ लेंगे। आप हिंसाके लिये तो हिंसा नहीं करते। फिर भी जहाँतक हो जीवोंको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचे, इस दृष्टिसे आप जितना त्याग कर सकें उतना अवश्य करना ही चाहिये।

१३-चोरको पकड़ लेनेपर छोड़ देना साधुता है और सरकारके हवाले कर देना नीति है। आपमें यदि वस्तुओंका राग नहीं है तो छोड़ देना अच्छा है। और यदि लोकसंग्रहकी भावना अधिक है तो उसे दण्ड दिलाना अच्छा है। साधन-साम्राज्यमें तो लोकसंग्रहीसे साधुका दर्जा ऊँचा है ही।

१४-ऐसी अवस्थामें माता-पिता या चोरका सुख न देखकर हित देखना होगा। यदि आपके सच बोलनेसे उनका हित होता हो, भले ही बाह्य दृष्टिसे उन्हें हानि उठानी पड़े, तो आपको सच्ची बात कह देनी चाहिये। यदि हिताहितका कोई प्रश्न न हो तथा मौन रहनेसे काम चल जाय तो चुप हो जाना चाहिये। और यदि सच्ची बात कहनेसे उनका अहित होता हो तो संयमित तथा विवेकसम्मत मिथ्याभाषणके द्वारा अपना अहित करके भी उनका निश्चित हित करना चाहिये। ऐसा अवसर प्रायः आता नहीं, केवल एक पक्षान्तर प्रदर्शित करनेकी दृष्टिसे ही ऐसा कह दिया है।

१५-पवित्रता-अपवित्रताका विचार सबका समान नहीं होता। किसी-किसी देशमें तो बायें हाथका स्पर्श ही अपवित्र माना जाता है। चौकेका नियम मानने-वाले, भोजन करनेवाले मनुष्यकी स्पर्श की हुई वस्तु-को अपवित्र ही मानते हैं, भले ही वह दूसरे हाथसे

स्पर्श करे; किंतु जिनमें ऐसा विचार नहीं है, वे लोग आपसके भोजनमें बायें हाथद्वारा परोसी हुई चीज भी खा लेते हैं। यह बात आचारदृष्टिसे तो विरुद्ध ही है, किंतु व्यवहारमें होता ऐसा भी है।

१६—स्त्रीको समझाने और स्नेहबुद्धिसे डाँटने-डपटनेके सिवा और क्या दण्ड दिया जा सकता है। इससे आगे तो यही है कि आप उसकी कोई बुरी आदत छुड़ानेके लिये अनशन या इसी प्रकारका कोई दूसरा तप करें, जिससे आपकी सहानुभूतिवश वह पश्चात्ताप करे और फिर वैसा न करे। स्त्रीको पीटना या कष्ट देना तो पतिके लिये सर्वथा अनुचित है और न इससे उसका सुधार हो सकता है। उसके सुधारका उपाय तो सच्चा प्रेम या स्वयं तपस्या करना है।

१७—यदि शरीरमें राग नहीं है तथा भगवद्विधानमें पूर्ण विश्वास है तो शरीरकी ओषधि न करनेमें भी आपत्ति नहीं है। किंतु यदि रोगके कारण भजन एवं कर्तव्यपालनमें बाधा पहुँचती है तो अवश्य ओषधि करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चित्त शान्त रहे और भगवन्निष्ठा बढ़े, वैसा ही करना चाहिये। असलमें न तो औषधसेवन करनेमें राग होना चाहिये और न न करनेमें ही। जैसा जहाँ कर्तव्य हो वैसा करना चाहिये।

१८—पुस्तकोंको समय-समयपर धूप दिखाते रहनेसे तथा उनको उलट-पलट करते रहनेसे कीड़ोंसे रक्षा हो सकती है।

१९—'ॐ रां रामाय नमः'—इसमें 'ॐ' और 'रां' के अनुस्वारका उच्चारण मकारके समान करना अधिक उपयुक्त है।

२०—'धातु' शब्दसे वहाँ वीर्य ही अभिप्रेत है। मलोत्सर्ग-में जोर लगानेसे उसी समय मूत्रेन्द्रियद्वारा वीर्यपात हो जाता है। क़ब्जियत दूर करनेके लिये तीन सेर जल पीना आवश्यक है, यह ठीक है। किंतु जलके विषयमें सबसे अच्छा नियम यही है कि जब प्यास लगे तभी पी लिया जाय। अधिक जल पीनेके तो पक्षमें भी विद्वानोंकी सम्मतियाँ हैं और विपक्षमें भी।

२१—यह प्रतापभानुने जो झूठ बोला है वह किसी स्वार्थ या लोभदृष्टिसे नहीं, बल्कि नीतिकी दृष्टिसे अपनेको छिपाया है। राजा या पुलिसके लोग दूसरोंकी वास्तविकताको जाननेके लिये इस प्रकार मिथ्याभाषण कर सकते हैं, क्योंकि इस मिथ्याभाषणमें कोई स्वार्थसिद्धि या राग-द्वेषकी भावना नहीं होती, केवल वास्तविकताका निश्चय करना ही होता है। नाटकका पात्र राजा न होनेपर भी जैसे अपनेको राजा कह देता है, उसी प्रकार यह प्रतापभानुका असत्य भाषण है।

२२—'भवितव्यता' जो कुछ होनेवाला हो उसे कहते हैं। दैव या प्रारब्ध भी उसीको कहा जा सकता है। किंतु इनमें कुछ अन्तर अवश्य है। 'प्रारब्ध' उन कर्मोंको कहते हैं जो फल देनेको उन्मुख हो गये हैं, उनका फल सुख या दुःखके रूपमें प्राप्त होता है। उन सुख-दुःखभोगके लिये जो कर्मोंको प्रवृत्त करता है, उसका नाम 'दैव' है तथा वह दैव भोगप्राप्तिके लिये जो परिस्थिति उपस्थित करता है, उसे 'भवितव्यता' कहते हैं। प्रतापभानुके सामने यह परिस्थिति किस कर्मका फल भोगनेके लिये आयी, यह मैं कैसे बता सकता हूँ। उसके प्राक्तन सम्पूर्ण कर्मोंका सम्बन्ध मुझे मालूम थोड़े ही है।

२३—सुमेरु पर्वत दिव्यलोककी चीज है। इस लोकमें उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

२४—आजकलका भूगोल केवल स्थूलदृष्टिके अनुभवपर अवलम्बित है और पुराणोंका भूगोल योगदृष्टिसे अनुभव किया हुआ है। जिस प्रकार जलमें रहनेवाले जीव हमारे नगरादिकी कल्पना भी नहीं कर सकते, उसी प्रकार केवल स्थूलदृष्टिसे उस भूगोलका ज्ञान नहीं हो सकता। योगदर्शन-में कहा है—सूर्यमें संयम करनेसे भुवनोंका ज्ञान होता है। अतः यह भुवनकोशका प्रत्यक्ष योगदृष्टिका ही विषय है।

२५—रामचरितमानसके प्राचीन विश्रामस्थान महात्माओं-के स्वानुभवपर अवलम्बित हैं, उनका विशेष फल होता है। अतः पुण्यपाठकी दृष्टिसे तो उन्हें ही रखना उचित है। यों निष्काम भावसे किसी भी प्रकार पाठ कर सकते हैं।

२६—बद्धकोष्ठताकी बीमारी जल्दी जानेवाली नहीं होती। इसके लिये मुझे कोई रामबाण उपाय भी मालूम नहीं है। यदि आप अनुकूल आहार, चोकर मिले आटेकी रोटीका सेवन, आसन, व्यायाम और प्राकृत चिकित्सा आदि बहुत दिनोंतक करें तो सम्भव है कुछ लाभ हो जाय। शौच-

शुद्धिके लिये उष:पान अर्थात् सवेरे उठते ही जल पीना बहुत उपयोगी है। इसके सिवा जब विशेष रूपसे कब्ज हो तब उपवास करना या एनिमा लेना चाहिये। नौली और गणेश-क्रियासे भी शौचशुद्धिमें सहायता मिलेगी। रात्रिको ईसबगोल-की भूसी लेना भी अच्छा है। भोजनके समय यदि पेट भारी हो तो पहले शौच हो आइये, तब खाइये। सोनेके समय गुड़ और हरीतकीका प्रयोग भी अच्छा है।

२७—गायत्रीमन्त्रका अर्थ इस प्रकार है——ॐ भू: भुव: स्व:——इनमें 'ॐ' परमात्माका प्रतीक या शब्दमयी मूर्ति है। भू: सत्, भुव: चित् और स्व: आनन्दके द्योतक हैं।

इसके आगे गायत्रीमन्त्र आरम्भ होता है। ये प्रणव और व्याहृति उसके साथ अलगसे जोड़ दिये जाते हैं। इनके सहित ही गायत्री जपनेका नियम है——तत् (उस) सवितुर्देवस्य (सविता अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करनेवाले देवताके) वरेण्यम् (प्रशंसनीय) भर्ग: (तेजको) धीमहि (ध्यान करते हैं) य: (जो) न: (हमारी) धिय: (बुद्धियोंको) प्रचोदयात् (प्रेरित करता है)।

इन सबका भावार्थ यह है कि ॐ जिसका प्रतीक है और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है तथा जो हमारी बुद्धियोंको अन्तर्यामीरूपसे प्रेरित करता है, उस जगदुत्पादक देवके वरणीय (आदरणीय) तेजका हम ध्यान करते हैं।

२८—डाक्टरी दवाओंमें प्राय: मद्य-मांसादि अपवित्र वस्तुएँ सम्मिलित रहती हैं, इसलिये साधकोंको उनका सेवन नहीं करना चाहिये। इसके सिवा वे भारतीयों-की प्रकृतिके उतनी अनुकूल भी नहीं हैं।

२९—'क्षोभ' का अर्थ है उत्तेजना। 'समीचीन' ठीक या सम्यक्को कहते हैं। 'तात' एक प्रियतासूचक सम्बोधन है, जिसका प्रयोग पूर्वकालमें अपनेसे बड़ोंके लिये भी होता था और छोटोंके लिये भी। किंतु अब यह प्रचलित नहीं है। 'नैर्घृण्य' निर्दयताको कहते हैं।

३०—कठपुतली क्रियासे नहीं बना जाता, भावसे बनना होता है। आपको मन मिला है यह ठीक है; परंतु वह मन किसने दिया है और उसका प्रेरक कौन है? यदि यह भाव दृढ़ हो जाय कि वह तो प्रभुकी देन है और वे ही उसके प्रेरक हैं, तो अपने कर्तापनका अभिमान गल जायगा। कर्तृत्वा-भिमानके गलनेसे भोक्तृत्व भी नहीं रहेगा और भोक्तृत्व न रहनेसे स्वार्थ एवं भोगेच्छा भी नहीं रहेगी। इस प्रकार स्वार्थ एवं भोगेच्छाके शान्त होनेपर तो स्वत: ही मनका शमन हो जायगा और कोई भी शास्त्र-विपरीत आचरण नहीं होगा। अत: कठपुतली बननेमें किसी प्रकारकी मनमुखी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मनमुखी प्रवृत्ति तो तभी होती है जब हम या तो मनमें ही अपनेको आरोपित कर देते हैं या मनको अपना यन्त्र मानकर स्वयं कर्ता-भोक्ता बने रहते हैं।

३१—वैकुण्ठादि भगवद्धाम भगवत्-लीलाके नित्य दिव्य स्थान हैं। वहाँ जो अभिमान एवं क्रोधादि आते हैं वे भगवदिच्छासे केवल भगवत्-लीलाकी पूर्तिके लिये आते हैं। भगवान् लोककल्याणके लिये सभी प्रकारके भावोंको स्वीकार करते हैं; क्योंकि किसी-न-किसी प्रयोजनसे उन्होंने ही तो इन्हें उत्पन्न किया है। यदि सनकादिके शापकी लीला न होती तो हमें भगवान्के अवतारचरित्र पढ़ने-सुननेको कैसे मिलते। अत: संसारी जीवोंको उद्धारकी सामग्री समर्पित करनेके उद्देश्यसे उन्हींकी प्रेरणासे ऐसी लीलाएँ होती हैं।

३२—इन श्लोकोंकी जैसी व्याख्या 'गीतातत्त्वाङ्क'में की गयी है, साधारणतया वह समझमें आने योग्य ही है। उससे अधिक तभी समझाया जा सकता है, जब यह माळूम हो कि आपकी समझमें उस व्याख्याकी क्या बात नहीं आयी। ऐसा विचार मिलनेपर ही ठीक हो सकता है। आप अपने आस-पास रहनेवाले किसी विद्वान्से इसे समझनेका प्रयत्न करें।

३३—सृष्टि-चक्रका कोई ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता कि सर्वदा ऐसा ही होता है। यदि इस शङ्काका यह समाधान किया जाय कि कल्पके प्रत्येक त्रेतायुगमें अवतार होता है तो ऐसी शङ्का भी की जा सकती है कि जैसे एक बार सत्ययुगके आरम्भमें ब्रह्माजीने सृष्टिरचना की थी, उसी प्रकार क्या प्रत्येक सत्ययुगके आरम्भमें सृष्टिरचना होती है? अत: ऐसा कोई नियम नहीं है कि युगपरिवर्तनके चक्रमें प्रत्येक चतुर्युगीका प्रवाह एक-जैसा ही चले। तात्पर्य केवल इतना ही है कि रामावतार तथा अन्यान्य प्रधान घटनाएँ प्रत्येक कल्पमें होती रहती हैं। वे किसी निश्चित त्रेतायुगमें

ही होती हों ऐसा नियम नहीं है। गत त्रेतामें श्रीरामावतार हुआ था—यह तो ठीक ही है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

विकार क्या है ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आपको मेरी बातोंसे सन्तोष होता है, यह आपका प्रेम है। आपके प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें नीचे लिख रहा हूँ—

(१) आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों तत्त्व प्रकृत अवस्थामें शुद्ध और विकृत अवस्थामें अशुद्ध हैं। जब प्रकृतिमें वैषम्यके कारण क्षोभ होता है, तब वह महत्तत्त्व अहङ्कार आदिके रूपमें परिणत होने लगता है। यह विपरिणाम ही विकार है। इस प्रकार कार्यावस्था ही विकृतावस्था है और कारणावस्था प्रकृतावस्था है। आकाश आदि पञ्चभूत भी विकार ही हैं। अतः वे अशुद्ध ही कहे जायँगे। जब कारणावस्थामें स्थित होंगे, उस समय इनका यह वैकारिक रूप विलीन हो जायगा। प्रत्येक कार्य अपने कारणमें विलीन होकर अन्ततोगत्वा साम्यावस्थामें स्थित प्रकृतिमात्र रह जाती है; फिर वह प्रकृति भी परमात्मासे अभिन्न रहती है। यही आत्यन्तिक प्रलय है। इस दृष्टिसे आकाश आदिको अपने विशुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति प्रलयकालमें ही होती है। अपेक्षाकृत पृथ्वीसे जल, जलसे अग्नि, अग्निसे वायु और वायुसे आकाश अधिक शुद्ध है। अतः पृथ्वीकी शुद्धि जलसे, जलकी शुद्धि अग्निसे, अग्निकी वायुसे और वायुकी आकाशसे होती है। यह तो हुई दार्शनिक दृष्टि।

व्यवहार-दृष्टिसे पृथ्वी वहीं अशुद्ध होती है, जहाँ मल, मूत्र, थूक, जूठन, शव, मद्य, मांस, हड्डी आदि अपवित्र वस्तुएँ पड़ी हों। उन्हें बुहारकर साफ कर दें। गंदी चीजें दूर हटा दें। और स्थानको झाड़-बुहारकर गोबर और जलसे लीप दिया जाय तो वहाँकी भूमि शुद्ध हो जाती है। पक्की जमीन हो तो उसे जलसे धोकर शुद्ध किया जा सकता है। जल यदि बहता हुआ है तो शुद्ध है। नदी, कुआँ और तालाब आदिका जल शुद्ध है। तालाब आदिमें भी बहुत थोड़ा जल हो तो वह ग्राह्य नहीं है। अच्छे बर्तनमें रक्खे हुए जलमें भी यदि कोई अपवित्र वस्तु पड़ जाय या कोई जीव मर जाय तो वह अशुद्ध एवं अग्राह्य हो जाता है। जलके आन्तरिक दोषको दूर करनेके लिये उसे छान लेना तथा औटा लेना चाहिये। अग्नि चिताकी ही अशुद्ध मानी गयी है, अन्यत्रकी अग्नि वायुके स्पर्शमात्रसे शुद्ध है। घनी आबादीकी वायु अशुद्ध होती है, क्योंकि उसमें गंदे नाले तथा मल-मूत्रादिकी दुर्गन्ध मिली रहती है। खुले स्थान या मैदानमें, नदीके किनारे अथवा वाटिकामें फूलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली वायु शुद्ध मानी गयी है। होम या धूपके धूमसे भी वायुकी शुद्धि मानी गयी है। आकाश किसी बाह्यदोषसे दूषित नहीं होता, अतः वह नित्य शुद्ध है।

वैदिक सिद्धान्त तो यही है कि आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल तथा जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई है—'आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी।' देखनेमें भी यही आता है कि सूर्यके अधिक तापसे वर्षा होती है। गर्मीके बाद वर्षा होनेका यही रहस्य है। शरीरमें ज्वर होनेपर पसीना निकलता है तब ज्वर शान्त हो जाता है। वह गर्मी जलरूपमें परिणत होकर निकलती है। अतः जल एक स्वतन्त्र तत्त्व है। हाइड्रोजन और ऑक्सीजनके योगसे जल बनता है। यह वैज्ञानिकोंका मत हो सकता है; उनके मतपर हम कोई आलोचना नहीं करना चाहते। परंतु अपने यहाँके शास्त्रीय सिद्धान्तपर अनास्था प्रकट करनेका मुझे कोई कारण दिखायी नहीं देता। 'आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा।' यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। सूर्यसे वृष्टि और वृष्टिसे अन्न—यह सब जानते हैं। इससे भी तेजस्तत्त्वसे जलतत्त्वकी उत्पत्ति सिद्ध होती है।

(२) भगवान्‌के नामका स्मरण और कीर्तन ही एक ऐसा परम पवित्र कार्य है, जो सदा और सब अवस्थाओंमें किया जा सकता है; उससे दोष तो कभी होता ही नहीं, सदा परम लाभ-ही-लाभ होता है।

(३) मूत्र-त्यागके समय भी जल ले जाना चाहिये और पेशाब कर लेनेके बाद ऊपरकी खाल हटाकर उसे अच्छी

तरह धो देना चाहिये। फिर हो सके तो मिट्टी लगाकर, नहीं तो केवल जलसे ही हाथ धोना तथा जिस पात्रमें जल ले गये हों, उस पात्रको भी माँज-धोकर शुद्ध कर लेना चाहिये। जल ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं, जो उपलब्ध न हो सके। यात्राके समय सदा साथमें लोटा-डोर रखना चाहिये। कभी जलके विना भी मूत्र-त्यागका अवसर आ जाय तो मूत्रत्यागके पश्चात् इन्द्रियको सूखी मिट्टी या बालूसे सुखा देना चाहिये। तथा बालू-मिट्टीसे ही हाथ साफ कर लेना चाहिये। इतनेपर भी जो सूक्ष्म अशुद्धि रह जाती है, उसीके कारण सुबह-शाम वस्त्र बदलकर सन्ध्योपासना की जाती है। मूत्रत्यागके पश्चात् कुल्ला भी अवश्य करना चाहिये। मल-मूत्रके समय मुखमें भी कुछ विकृति देखी जाती है; इसीसे थूक या लारकी मात्रा कुछ बढ़ जाती है; अतः मूत्रत्यागके बाद हाथ धोकर खूब कुल्ला करके मुँह साफ कर लेना चाहिये। चेष्टा करनेपर कुल्ला करने या हाथ धोनेके लिये जल प्रायः मिल ही जाता है।

(४) मलत्याग करनेके पश्चात् गुदाका जितना भाग बाहरसे धोना सम्भव हो उसे प्रयत्नपूर्वक साफ कर देना चाहिये। जो भाग अधिक अंदर है, उसमें मल रहनेपर भी बाह्य शुद्धिमें अन्तर नहीं पड़ता। वास्तवमें तो स्वस्थ मनुष्य जब मल त्याग करता है तब प्रायः मल बँधा हुआ गिरता है; अतः वह कहीं लगता नहीं, केवल गुदाद्वारपर ही कुछ लगता है, अतः धोनेपर वह ठीक ही हो जाता है।

मल-मूत्र शरीरमें वहीं है, जहाँ उसका स्थान है। अंदर उसके होते हुए भी हम बाहरसे नहा-धोकर शुद्ध हो सकते हैं। बाह्य शुद्धिसे सम्पन्न होनेपर पूजा-पाठका अधिकार हो जाता है। अन्तःशुद्धि तो भावसे होती है। आपके मनमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अहङ्कार आदि दोष न हों और दया, सत्य, प्रेम, परोपकार, क्षमा, सरलता आदिके भाव बढ़ने लगें तो समझना चाहिये कि आप भीतरसे भी शुद्ध हैं। शरीरके भीतर केवल मल-मूत्र ही नहीं, अस्थि, मज्जा, मेद, रक्त, पीव, कफ, पित्त आदि बहुतसे दूषित और अपवित्र पदार्थ हैं, इन सबका समुदाय ही तो शरीर है। 'मलायत्तं बलं पुंसाम्' इस वैद्यकके वचनानुसार मनुष्यका बल मलके ही अधीन है। यदि आप जुलाब लेकर सारा-का-सारा मल गिरानेका प्रयत्न करें तो आपके लिये उठकर खड़ा होना भी कठिन हो जायगा। बाह्य शुद्धि या शौचाचारका फल यही है कि शरीरगत दोषोंपर भी दृष्टि जाय और फिर इस शरीरको दोषका आगार समझकर इसकी ओरसे राग और ममता हट जाय। इसमें आसक्ति न रहे। देहासक्तिसे छूटनेपर मनुष्य आध्यात्मिक मार्गमें शीघ्र उन्नति कर सकता है।

(५) छूआछूतका विचार भी शास्त्रीय है। कौन पवित्र है कौन अपवित्र? किसका स्पर्श करना चाहिये किसका नहीं? इसपर शास्त्रोंमें विशद विवेचन मिलता है। शास्त्रकार महर्षियोंने इसको माना और महत्त्व दिया है, अतः हमें भी मानना चाहिये; क्योंकि कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें शास्त्र ही प्रमाण हैं। मक्खियाँ भी अशुद्ध हैं, अतएव उन्हें उड़ा दिया जाता है। अस्पतालोंमें जालीदार किवाड़ लगते हैं, जिससे मक्खियाँ न पहुँचें। मच्छरोंसे बचनेके लिये मसहरी लगायी जाती है। बिल्लीको भगाया जाता है। चूहोंको चूहेदानीमें पकड़कर घरसे दूर छोड़नेकी चेष्टा की जाती है—यह सब इसीलिये होता है कि हम इनके स्पर्शसे बचें। ये हमारे भोजन और वस्त्रको अपने स्पर्शसे दूषित न करें। इतनेपर भी उनसे जो स्पर्श हो जाता है, उसके लिये हम विवश हैं। वहाँ विवश हैं, इसलिये सर्वत्र विवश हों, जान-बूझकर छूआछूतका विचार ही छोड़ दें—ऐसा मानना भ्रम है।

गाड़ीमें, मेलेमें, जहाज या नावपर तथा लंबी बिछी हुई दरी आदिपर बैठे हुए मनुष्य एक-दूसरेसे छू जाते हैं, ऐसे स्थानोंपर शरीर-स्पर्शका दोष शास्त्रकारोंने भी नहीं माना है। वहाँ छूट दी गयी है। परंतु जहाँ ऐसी विवशता नहीं है; वहाँ तो इनका विचार रखना ही चाहिये। यह विचार किसीको ऊँच-नीच समझनेके कारण नहीं है। जैसे रजस्वला-दशामें माता, बहिन और स्त्री भी स्पर्शके योग्य नहीं रहती; परंतु अस्पृश्य होकर भी वह नीच नहीं समझी जाती। इसी प्रकार 'अस्पृश्य'

मानी हुई जातियाँ अपने जन्मगत तथा संस्कारगत दोषोंके कारण अस्पृश्य हैं; पर वे नीच नहीं हैं। सब अपने ही भाई हैं। अपने ही शरीरके अङ्ग हैं। हम पैर आदिको छूकर हाथ धोते हैं और मस्तकको छूकर पवित्र मानते हैं। पर दोनोंमें आत्मभाव सम है। इसी प्रकार अस्पृश्य भाइयोंके साथ भी आत्मभाव समान रखकर उनकी सुख-सुविधा एवं मान-मर्यादाका ध्यान हमें अवश्य रखना ही चाहिये; परंतु अकारण स्पर्श नहीं करना चाहिये। यह शास्त्रकी मर्यादा है। इसके पालनसे सवर्णों और अस्पृश्योंका भी कल्याण है।

मिठाई आदि जो बाजारी दूकानोंपर बिकती हैं, वे किसी भी दृष्टिसे खानेयोग्य नहीं हैं। वे अस्वास्थ्यकर होती हैं और स्पर्शदोषसे दूषित भी। विचारवान् लोग दूकानकी चीजें नहीं खाते। साग-सब्जी, अनाज आदि कच्ची चीजें घरमें आनेपर पुनः उनका संस्कार होता है; अतः उन्हें बाजारसे लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। कलम, दावात, कुर्सी, मेज, बर्तन आदि भी धोयी जा सकती हैं; अतः उनका स्पर्श-दोष अकिञ्चित्कर है। धर्मग्रन्थ, जहाँतक हो सके, अशुद्ध हाथोंसे नहीं छूना चाहिये। बाहरसे आनेवाली पुस्तकें एक बार तो अनेक प्रकारके लोगोंसे छूई जाती हैं, परंतु घरमें आनेपर इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि अशुद्ध हाथोंसे न छूई जायँ। अपनी बुद्धि, विवेक तथा शक्तिके अनुसार स्पर्शदोषसे बचनेका प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। विवशताकी दशामें वह उत्तरदायी नहीं है।

(६) चमड़ेका बटुआ रखना आधुनिक फैशन ही है, इसे नहीं रखना चाहिये। रखते हैं तो यह आदर्श नहीं है। चमड़ा छूनेके बाद बिना हाथ धोये पवित्र वस्त्रपर तथा खाने-पीनेकी वस्तुओंपर हाथ नहीं लगाना चाहिये। जूतेके लिये भी यही बात है। दूसरे, चमड़ेके लिये गौ-बछड़े आदि जीवोंकी बड़ी हत्या होती है। इसलिये भी चमड़ेका व्यवहार नहीं करना चाहिये। आचार-विचार ठीक रखनेके लिये सत्सङ्ग तथा सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिये। अनजानमें जो भूलें हुई हैं, उनके दोषसे बचनेके लिये भगवन्नाम-जप करना चाहिये। गङ्गा-स्नान भी पवित्र करता है।

(७) जब दोनों अपना स्वार्थ छोड़कर एक-दूसरेको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करें तब जीवन प्रेममय और सुखमय हो सकता है। आप चेष्टा करें कि मुझे सुख मिले या न मिले, स्त्रीको सुख पहुँचाना है। जब स्त्रीको आपका यह भाव मालूम हो जायगा तब वह भी इसी प्रकार आपके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देगी।

(८) बाजारका दूध आजकल प्रायः अविश्वसनीय है। घर गाय हो अथवा सामने दूध दुहा लिया जाय तभी शुद्ध दूध मिल सकता है।

(९) मनुष्ययोनि ही कर्मक्षेत्र है। मनुष्य ही नूतन कर्म करनेका अधिकारी है। उसीके किये हुए शुभाशुभ कर्म सुख-दुःखरूप फल देनेवाले हैं। अन्य जीव तो अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगते हैं। आज जो पशु-पक्षी आदि योनियोंमें हैं, वे अपने मानव-जन्ममें किये हुए कर्मोंका ही फल भोग रहे हैं। उनके द्वारा कोई नवीन कर्म नहीं बनता। किसी भी जीवको तबतक नहीं मारना चाहिये, जबतक कि उसके द्वारा अनेक निर्दोष जीवोंके लिये प्राण-संकटका भय न हो। खेती नष्ट करनेवाले पशुको भगा देना चाहिये, मारनेकी आवश्यकता नहीं। मनुष्यको यह अधिकार है कि वह अपनी जीविका तथा अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न करे। इस प्रयत्नमें वह दूसरे जीवोंको दूर हटा सकता है। परंतु किसी जीवकी हिंसा न करे। खानेके लिये किसी प्राणीका कभी भी वध न करे। मत्स्य, मांस और मद्य आदिका सर्वथा त्याग कर दे।

इस समय जो कर्म शुभ या अशुभ हमारेद्वारा होते हैं वे स्वतन्त्र कर्म हैं। उन्हींको 'क्रियमाण' भी कहते हैं। ये कर्म समाप्त होनेके बाद सञ्चितकी श्रेणीमें आ जाते हैं। इस सञ्चित राशिमेंसे कुछ कर्म छाँटकर फल भुगतानेके लिये पृथक् किये जाते हैं। उन्हींका नाम 'प्रारब्ध' है। जैसे एक आदमीने चार अपराध किये हैं। वे चारों सञ्चितमें हैं। जब जिस अपराधका दण्ड उसको दिया गया, उस समय वही अपराध उसके लिये प्रारब्ध बन गया। प्रारब्ध-कर्मके अनुसार ही शरीर, धन, आयु और सुख-दुःख आदि भोग प्राप्त होते हैं।

(१०) सन्तान प्रारब्धवश होती है—यह मान लेने-

पर भी सदा ही भोगपरायण रहनेकी प्रेरणा कैसे मिलती है? 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्' वीर्य-धारण-से ही जीवन सुरक्षित रहता है। अधिक भोगासक्त मनुष्य क्षयके शिकार होकर शीघ्र ही कालके गालमें चले जाते हैं, अतः स्त्री-प्रसङ्ग ऋतुकालमें एक या दो बार किसी नियत दिनको करना चाहिये। फिर महीनेभर अखण्ड ब्रह्मचर्य। इसमें भोग और संयम दोनों निभ सकते हैं। संयमके द्वारा मनुष्य पारमार्थिक साधन—भगवत्प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सकता है। मानव-शरीर केवल भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। इसके द्वारा मोक्ष अथवा भगवान्‌को पा लेनेमें ही इसकी सच्ची सार्थकता है। स्त्रीकी प्राप्तिमात्र प्रारब्धका फल है। अधिक सम्भोग अथवा संयम नूतन कर्म हैं। सम्भोगसे हानि और संयमसे लाभ प्रत्यक्ष है। अतः सम्भोग-से विरत होनेका अभ्यास करना चाहिये। कामकी प्रबल इच्छा होनेपर अपनी स्त्रीके साथ न्यायतः सम्भोग कर सकते हैं, पर चेष्टा रखनी चाहिये कि कामेच्छा उत्तरोत्तर कम होती रहे और भगवान्‌को प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़े। अनर्गल स्त्री-सहवासादि करना अनाचार है और अनेकों रोगोंका कारण है। काम-क्रोध प्रबल शत्रु हैं। भगवान्‌ने गीतामें कामको शत्रु बताकर उसे मारनेकी स्पष्ट आज्ञा दी है। इसको मारनेका शस्त्र है ज्ञान, अपने स्वरूप-का स्मरण। मैं आत्मा हूँ, परमात्मासे अभिन्न हूँ। मुझपर क्षुद्र काम-क्रोध शासन करें—यह लज्जाकी बात है। मेरी शक्ति अमोघ है। मनसे काम-क्रोधको निकालना ही होगा। विषय क्षणभङ्गुर हैं, नाशवान् हैं; मनुष्यके तेज और विवेक-का नाश करनेवाले हैं, अतः इनसे बचना चाहिये। भगवान् परम सुन्दर हैं, सुखद हैं, नित्य हैं, मधुर हैं, वहाँ नित्य आनन्द है; इसलिये मनको उन्हींमें लगाना चाहिये। ऐसा निश्चय कर अभ्यास और वैराग्यका अवलम्बन करके मनको भगवान्‌के चिन्तनमें लगाते। मनमें 'राम' के आते ही 'काम' भागकर अन्यत्र चला जायगा। फिर भक्तवत्सल भगवान्‌के स्वरूप-चिन्तनका निरतिशय आनन्द उठाते रहिये। भगवान्‌की कृपा सत्वर है। आप यदि उन्हें पाने-का अभ्यास करेंगे तो भगवत्कृपा और बढ़ेगी तथा भगवान् स्वयं आपके पास आ जायँगे।

(११-१२) भगवान्‌से मिलनेकी इच्छा सदा बढ़ाते रहें; इससे चिन्तन बढ़ेगा। फिर भगवान्‌के लिये व्याकुलता होगी और भगवान् आपके स्नेहपाशमें खिंचकर आ जायँगे। श्रीकृष्ण अपनी ओर खींचते भी हैं और भक्तकी ओर खिंच भी आते हैं। इस प्रकार उभयतः आकर्षणके कारण ही वे 'कृष्ण' हैं। जब भगवान् अपना लेंगे तब उनके स्पर्शका सुख नित्य निरन्तर होता रहेगा।

(१३) भगवान्‌का स्वरूप चिन्मय है, दिव्य है; अतः उसमें पार्थिव शरीरकी भाँति कोई विकार नहीं है। इसके सिवा उनमें नित्य किशोरावस्था है। किशोरावस्थामें मूँछ होती ही नहीं। हमारा शरीर वैसा नहीं है; अतः हमें मूँछ मुड़ाकर वैसा बननेकी आवश्यकता नहीं।

(१४) भगवत्-मिलनका सुख भगवान्‌की कृपासे ही साध्य है। आप भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ाइये, फिर भगवान् आपसे दूर नहीं रह सकते। शेष भगवत्कृपा।

श्रीभगवन्नाम-जप

गताङ्कमें श्रीभगवन्नाम-जपके लिये 'कल्याण' के पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की गयी थी। आशा है, उन्होंने कार्य आरम्भ कर दिया होगा। जगत्‌में इस समय जो भयानक विपत्ति आयी हुई है, उसके निवारणका एकमात्र उपाय भगवच्छरणागति ही है और श्रीभगवन्नाम-जप उसका एक प्रधान और सर्वसुलभ अङ्ग है। अतएव इस बार विशेषरूपसे प्रयत्न होना चाहिये।

गतवर्ष ४१५ स्थानोंसे जपकी सूचना मिली और १३६९०६८०० मन्त्रोंका जप हुआ। मन्त्रोंकी नाम-संख्या २,१९०५०८८०० होती है। इस नाम-जपमें जिन महानुभावों और महिलाओंने स्वयं भाग लिया और दूसरोंको प्रेरित किया, हम उन सबके हृदयसे कृतज्ञ हैं और आशा करते हैं कि इस बार वे और भी अधिक चित्त लगाकर इस कार्यमें हमारी सहायता करेंगे। जिन ४१५ स्थानोंसे सूचना मिली है, उनकी नामावलि निम्नलिखित है—

अड़ियलपुर, अम्बारी पो० निमी, अम्बाला, अमरौधा,

अमृतसर, अरवा पो० नगरा, अरियालूर (त्रिचनापल्ली), अराँई, अल्मोड़ा, अल्लेपी, अलवर, अष्टी, अस्तरंग, असवा, अहमदनगर, अहमदाबाद, अंकलेश्वर, आइचक, आगरा, आथर, आबू, आर० एस० पुरम् (कोयम्बटूर), आलमेल, इटारसी, इटावा, इसानगर, इन्दौर, उमरदा, उमल्ला, उमाला, ऊना, ऋषिकेश, औरंगाबाद, कछाड़ी, कटरा, कठौनिया, कप्तानगंज, कमलपुर पो० करहल, करई, करवाड़, करही, कराड, कल्याणपुर, कसिया, कादरगंज, कानपुर, कापड़गंज, कुचेरा, कुण्डम, कुमारबारजितपुर, कुल्गोड़, कुंजलपुर, कुंवरा पो० नादघाट, कूँडन, कृष्णनगर, केसावे, केहमली, कोटा, कोटाबोम्बाली, कोयम्बटूर, कोल्हिया कालरी, कोलगढ़ स्टेट, कंडी, खलकलाट, खरगडीह, खाचरोद, खामगाँव, खुर्जा, खेराल्ड, खोपिरा, खोरना, खण्डवा, गगवाना, गढ़गाँव-बेड़ो, गर्च, गरौली राज्य, गाजियाबाद, गिरिडीह, गिरौरा, गुजपुरवा, गुजरा, गुरुदासपुर, गोड्डा, गोण्डल, गोपालगंज, गोरखपुर, गोहाड़, गंगापुर, गंज भड़सारा, गंटूर, गंडाव कोयर, घाटमपुर, घोसी, चकौध, चतरा, चत्रा, चानन्द, चालीसगाँव, चासनियाकलाँ, चितराव, चीरी, चीरी पो० भरथू, चौबटिया चंदरासाकलाँ, चाँदवाली, छजईपुर, छतेनी, छाजरपुर, छितही, ज्वालापुर, जगदलपुर, जब्बोवाल, जबलपुर, जम्मू, जमालपुर, जयपुर, जयहरीश्वास, जसपुरनगर, जाबरा, जोरावरडीह, झगरपुर, झबरा, झालदा, झालरापाटन, झालोद, झांडोली, टेटियाबम्बर, डभोई, डालमियानगर, डूँगरगढ़, डेहरी, डेहरीवाल, डौंड़ी, तमूरिया, तरवारा, तरंगा, तालणागीर, तासगाँव, तिलई बम्हनी, तिसवरासूर्यपुर, तुकीकोरिम, तेघरा, तंजौर, तुंडी, थटिया, दिल्ली, दुगोड़ी, दुदौड़, देवलथल, देवलाली कैम्प, देवली, देहरादून, दौलतगढ़, धमतरी, धाता, धारवाड़, धूल्कोड, धूलिया, धोलका, नकहरा, नगलासींगगनका पो० आगरा, नजविद, नयी दिल्ली, नरॉव, नवली, नवादा, नागपुर, नागशंकर, नासिक, नासिरगंज कोठार, निमियाँ, नीरपुर, नीरवती, नुरकी, नेवसा पो० रत्नपुर, नैनीताल, नौगॉव, प्यारेपुर, पड़रौना, पड्डावडलापुडी, पताही, पमारू (कृष्णा), पलोहा बड़ा, पसुम्भरू, पातेपुर, पातोड़ा, पादरा, पाराडोल, पिथोरा, पीसाझोड़ी, पुसागढ़, पूना, पेटलाद, पैनल, पोपड़ा, पोल्लूर, पंचोली, पाडो, फतेहपुर, फत्तेपुर, फर्रुखाबाद, फिरोजाबाद, फुलवरिया, फुलाढ़, फूलसाध, फैजाबाद, बछवल, बड़कुजहाला, बड़ौदा, बदलपुरा, बदायूँ, बदौसा (बाँदा), बनारस, बनियापुर, बनेड़ा, बनौला, बम्बई, बरेली, बरोरह, बल्देव, बलिया, बल्लोपोडा, बहादुरपुरजट, बाढोनाबाजार, बामलास, बालनगीर, बालौद, बावल, बार्शी, बिक्रम, बिजोलिया, बितिया, बिलग्राम, बिलासपुर, बिसकोहर, बिसनगर, बिसौली, बीकानेर, बेलगाँव, बेलसर, बेलापुर, बेलौर, बैजवाड़ा, बोधनी, बोरझाड़, बौसी, बंगलौर, बंचारी, बाँदा, बाँस, भगवानपुर, भरथीपुर, भरसर, भारथू, भावनगर, भालावली, भीखापुरा, भोपाल, भोंकर, भोंरासो, मकडाई, मगरवारा, मझिराई, मड़राक, मणिपुर दहिला, मदरास, मथुरा, मनासा, मनोहर थाना, मनौरी, मरदानपुर, मरुमतरा, मलसियाँ, महाड़, महिसा, महुगाँवबनाही, महुली, महेशपुर, महोली, माधोनगर, मारवाड़ जंक्शन, मारिशस, माहद, मिर्जापुर, मिर्जापुर, मिर्जापुर पो० मझौली, मिश्रवलिया, मुजफ्फरपुर, मुरादाबाद, मुरैना, मेरठ, मैठा, मैसूर, मैहकर, मोटी तम्बाड़ी, मोहगाँव, मंगलगढ़, मुँगेली, यवतमाल, यसउली, यारपुर, रघुनाथपुर, रण्डौल, रतनगढ़, रतनपुर, रहथुआ, राजकोट, रानीपुररोड, रामचन्द्रपुर, रामनगर, रामपुर, रामपुरा, रायचूर, रायपुर, रायबरेली, रायसेन, रायसेना, रितपुर, रुड़की, रुपौल, रूपानीपुरा, रूरूगंज, रैयाँ, रोयापेट्टा, रोंसरा, रौन, राँची, लखनऊ, लखीमपुर, ललितपुर, लावनी, लिनौली, लिलिआ, लुधियाना, वारसलीगंज, वारानगर, विजगापट्टम, विनैका, विरमगाम, विराटनगर, विराटनगर, वीरमगाँव, वीरनगर, वीरवारम, वृद्धाचलम्, वेनीगंज, शमसाबाद, शहजादपुर, शाजापुर, शाहबाद, श्रीनगर, शेडुभार, शेरपुर बड़ा, शोलापुर, शौपुरकलाँ, सकरबोगा, सक्ति, सड़रा, सतेढ़, सनिगवाँ, समराला, समस्तीपुर, सरायपुख्ता, सरावाँ, सहसपुर, सहारनपुर, सागर, साणथली भुरवली, सानी, सारीपट्टी, सालीचौकारोड, सालेकसा, सिनहापाली, सिपरही मठिया, सिरसी, सिहावा, सिहोरा, सीकर, सीतारामपुर, सीरीथारी, सुजानपुर, सुधारणासमिति पो० आरकोट, सुंनखेड़ा, सुमेरगंज, सुरली पो० हरिहरपुर, सुल्तानपुर, सुल्तान बाजार, सूरत, सेगाँव, सोयंदेव, सोरूपेटा, सोलापुर, सोहरौना खड्डा, सौधामी, सोंई, सोंधेमऊ, सौसी, हरदी, हरदोई, हरलोली, हरिहरपुर, हल्द्वानी, हसुवा, हाथरस, हेवसर, हैदराबाद (दक्षिण), होड़ल, होतीपुरा पो० दतिया, होलागढ़, होशियारपुर, होशङ्गाबाद।

नाम-जप-विभाग—**'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर**

गीता-डायरी सन् १९५१ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, मूल्य अजिल्द ॥=), कपड़ेकी जिल्द ।॥) मात्र ।

इसमें अठारहों अध्याय सम्पूर्ण गीता, हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और गुजराती तिथियाँ, सूर्योदय-सूर्यास्तका समय तथा मुख्य-मुख्य त्योहारोंका संकेत किया गया है।

इस वार प्रारम्भमें मिति, वार, घड़ी और नक्षत्रसूचक तिथिपत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कलेण्डर, प्रार्थना और जीवन-सुधारके लिये संत-महात्मा और शास्त्रोंके अनेक मनन करने योग्य उपदेश, दैनिक वेतन और मकान भाड़ेका नकशा, रेलयात्रा, डाक, तार, इन्कमटेक्स आदिके विषयमें खास-खास जाननेयोग्य वातें, माप-तौलकी सूची, अनुभूत घरेलू प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षाके सप्त सूत्र एवं अन्तमें जरूरी बातें नोट करनेके लिये कुछ सादे पृष्ठ भी दिये गये हैं।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १), दोके लिये १।॥), तीनके लिये २॥), छःके लिये ४॥=) और बारहके लिये ८॥=) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १=), दोके लिये २-), तीनके लिये ३), छःके लिये ५॥) और बारहके लिये १०॥=) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकोंके नये संस्करण

मानस-रहस्य—(ले० श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) पृष्ठ ५१२, रंगीन चित्र, मूल्य १।)

कवितावली—(गो० तुलसीदासजीकृत) हिन्दी अनुवादसहित, पृष्ठ २२४, रंगीन चित्र, मूल्य ॥-)

भगवच्चर्चा भाग १-(यह 'तुलसीदल' नामक पुस्तकका ही नया नाम है) मूल्य ॥), सजिल्द ॥=)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी विरचित

श्रीरामचरितमानस [सटीक—मोटा टाइप]

टीकाकार—हनुमानप्रसाद पोद्दार; आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ १२००, चित्र बहुरंगे ८, कपड़ेकी जिल्द, संस्करण तीसरा, मूल्य ७॥) मात्र ।

लगभग चार सालसे इस पुस्तकके पुनर्मुद्रणके लिये रामायणप्रेमी महानुभावोंका बड़ा आग्रह था, परन्तु अनेक कठिनाइयोंके कारण यह शीघ्र न छापी जा सकी। श्रीरघुनाथजीकी कृपासे अब यह छपकर तैयार हो गयी है।

इस पुस्तकका वजन लगभग ढाई सेर है, अतः एक प्रतिके लिये डाकखर्चसहित ९=), दोके लिये १८) और तीनके लिये २७) मनीआर्डरसे भेजने चाहिये। दो प्रतिसे अधिक मँगानेवालोंको रेलपारसलसे मँगानेमें बचत हो सकती है। वे लोग पुस्तकोंके मूल्यके साथ ।) चार आना प्रति-पुस्तक पैकिंगखर्च और ।=) बिल्टी भेजनेका रजिस्ट्रीखर्च जोड़कर भेजनेकी कृपा करें।

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने शहरके विक्रेतासे माँगिये

इससे आपको शायद पैसे और समयकी बचत हो सकती है—

—परंतु इधरमें हमारे पास बहुत-से ऐसे पत्र आते हैं कि पुस्तक-विक्रेता लोग हमारी पुस्तकें छपे दामोंसे बहुत अधिक मूल्यपर बेचते हैं। इस सम्बन्धमें ग्राहकोंसे हमारा निम्नलिखित निवेदन है कि पुस्तक-विक्रेताओंको एक साथ ५०) की पुस्तकें मँगानेसे हम छपे दामोंपर १५ प्रतिशत कमीशन देते हैं। रेलभाड़ा उनका लगता है। ग्राहकगण इसको समझते हुए पुस्तक-विक्रेताओंसे उचित मूल्यपर पुस्तकें खरीदें। यदि उनके वहाँके पुस्तक-विक्रेतासे उचित मूल्यपर पुस्तकें न मिल सकें तो कई ग्राहक एक साथ मिलकर यहाँसे पुस्तकें रेलपारसलसे मँगवा लें तो भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है। परंतु ग्राहकोंको यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि कमीशन केवल पुस्तक-विक्रेताओंको ही मिलता है, ग्राहकोंको नहीं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ज्ञानी

कोऊ चाहत मुक्तिकौं कोऊ मुक्तशरीर ।
भोग मोच्छ दोऊ तजै ते बिरले मतिधीर ॥
चाह न जीवन मरनकी तजै पदारथ चार ।
ना कछु तजै न संग्रहै ते बिरले संसार ॥
लाभ न जाकै होन तैं, मिटे नहीं कछु हानि ।
धन्य तात वे संत जन सुखी रहत यह जानि ॥
छीन दृष्टि जग सैं भई इन्द्रिय तजै विकार ।
ना कछु गहै न तजि सकै छीन भयो संसार ॥
अस्तुति निंदा सब तजै हरख सोक कछु नाहिं ।
मुक्त महासुखमें रहै लेन दैन के माहिं ॥
काम न सुंदर नारि लखि मृत्यु देखि भय नाहिं ।
ज्ञानी हरष विषाद तजि रहै अचल सुख माहिं ॥
सुख दुख संपति विपति सम सत्रु मित्र कछु नाहिं ।
ज्ञानी गुन-औगुन तजै समदरसी सब माहिं ॥

(अष्टावक्र)
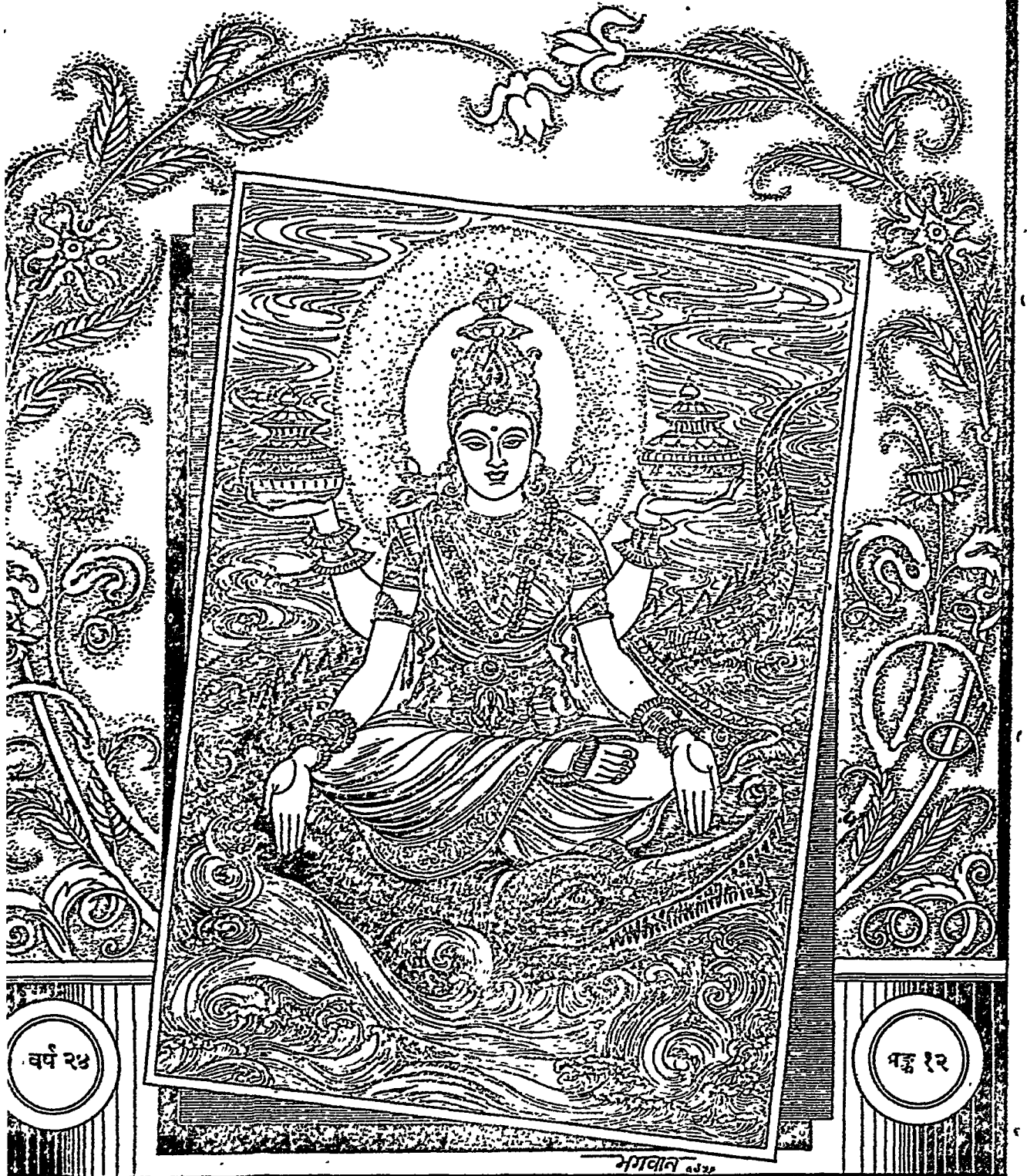
कल्याण
वर्ष २६
अङ्क १२
भगवान

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २००७, दिसम्बर सन् १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुराने और नये ग्राहक महानुभावोंसे प्रार्थना

यह चौबीसवें वर्षका अन्तिम बारहवाँ अङ्क है । इस अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है । पचीसवें वर्षका पहला अङ्क (विशेषाङ्क) संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क होगा । यह विशेषाङ्क बहुत ही सुन्दर, रोचक, शिक्षाप्रद, लोक-परलोकमें हित करनेवाले उपदेशोंसे पूर्ण, सुन्दर-सुन्दर कथाओं और इतिहासोंसे युक्त तथा धार्मिक दृष्टिसे भी अत्यन्त कल्याणकारक होगा । इसमें भगवान् श्रीशङ्कर, भगवान् श्रीविष्णु, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीसूर्य, भगवती शक्ति आदिके तथा भक्तों एवं अन्यान्य कथाप्रसङ्गोंके सैकड़ों सादे, इकरंगे और बहुरंगे मनोहर एवं दर्शनीय चित्र रहेंगे । वार्षिक मूल्य डाक-महसूलसहित ७॥) होगा ।

यह 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' आगामी जनवरीके द्वितीय सप्ताहतक प्रकाशित होकर ग्राहकोंकी सेवामें भेजा जाने लगे, ऐसी व्यवस्था की जा रही है ।

अबतकके प्रकाशित 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनके लिये पहलेसे रुपये भेजकर ग्राहक नहीं बन जानेवालोंको निराश ही रहना पड़ा है । यह विशेषाङ्क भी विशेष महत्त्वपूर्ण होगा । छप भी रहा है गतवर्षकी अपेक्षा कम संख्यामें तथा छपाईका काम भी शीघ्रतापूर्वक हो रहा है । अतः ग्राहकोंको रुपये मनीआर्डरसे तुरंत भेजकर अपना विशेषाङ्क सुरक्षित करवा लेना चाहिये । मनी-आर्डर फार्म दसवें अङ्कमें भेजा जा चुका है ।

विशेषाङ्ककी वी० पी०से प्रतीक्षा करनेवाले ग्राहकोंमेंसे सबको अङ्क मिलना बहुत कठिन है; क्योंकि तबतक अङ्कोंके समाप्त हो जानेकी सम्भावना है ।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं । अतः सारे पत्रव्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय तथा मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये ।

पत्रव्यवहारमें और रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नम्बर जरूर लिखनेकी कृपा करें । नम्बर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें ।

ग्राहक-नम्बर न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा । इससे आपकी सेवामें विशेषाङ्क नये नम्बरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नम्बरकी

वी० पी० दुबारा जायगी। ऐसा भी सम्भव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उसके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें, आपसे प्रार्थना है कि, आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न करें और प्रयत्न करके नये ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेका कष्ट करें। इस कृपाके लिये 'कल्याण' आपका आभारी होगा।

जिन महानुभावोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक मनाहीका एक कार्ड अवश्य लिख दें। ऐसा करनेसे उनके सिर्फ तीन पैसे खर्च होंगे, पर 'कल्याण' कई आने डाकखर्चके नुकसान तथा समयके अपव्ययसे बच जायगा।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग।

सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये। इस वर्ष जिल्दोंकी जुजबन्दीकी सिलाईकी व्यवस्था की गयी है। अङ्क जानेमें देर हो सकती है।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये।

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजना चाहें, वे पूरी बीमा बँचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्ड पत्रसे रुपये न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'की नहीं होगी।

'महाभारताङ्क' समाप्त हो गया। रुपये न भेजें

'महाभारताङ्क' की थोड़ी-सी प्रतियाँ थीं, पर माँग इतनी अधिक आ गयी कि सबकी माँगकी पूर्तिके लिये जरा भी गुंजाइश नहीं रही। जिल्द बँधे हुए जितने अङ्क थे, सब भेजे जा चुके। अब ज्यों-ज्यों जिल्द बँधते जायँगे, त्यों-ही-त्यों जिनके रुपये जमा हैं, उनके नाम क्रमानुसार अङ्क भेजे जाते रहेंगे। पर यदि अङ्क समाप्त हो गये तो रुपये सादर क्षमाप्रार्थनासहित लौटा दिये जायँगे। अब कोई भी सज्जन कृपया महाभारताङ्कके लिये माँग न लिखें, न रुपये ही भेजें। अब आनेवाले मनी-आर्डर लौटाये जा रहे हैं।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

हरि-रस-माती गोपी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर पौष २००७, दिसम्बर १९५० { संख्या १२
पूर्ण संख्या २८९

हरि-रस-माती गोपी

सखी वह गई हरि पै धाइ ।
तुरतहीं हरि मिले ताकौं, प्रगट कही सुनाइ ॥
नारि इक अति परम सुंदरि, वरनि कापै जाइ ।
पान तैं सिर धरे मटुकी, नंद गृह भरमाइ ॥
लेहु लेहु गुपाल कोऊ, दह्यौ गई भुलाइ ।
सूर प्रभु कहुँ मिलैं ताकौं, कहति करि चतुराइ ॥

—सूरदासजी

याद रक्खो—तुम अकेले आये हो और अकेले ही जाओगे। यहाँकी न तो कोई चीज तुम्हारे साथ जायगी और न कोई आत्मीय-स्वजन ही जायगा।

याद रक्खो—आज घरमें तुम्हारी बड़ी आवश्यकता है। तुम भी ऐसा मानते हो कि मुझसे ही सारा काम चलता है, मेरे न रहनेपर काम कैसे चलेगा। पर तुम्हारे मरते ही कोई-न-कोई व्यवस्था हो जायगी और कुछ दिनों बाद तो तुम्हारे अभावका स्मरण भी नहीं होगा।

याद रक्खो—जैसे आज तुम अपने पिता-पितामह आदिको भूल गये हो और अपनी स्थितिमें मस्त हो, ऐसे ही तुम्हारी सन्तान भी तुम्हें भूल जायगी।

याद रक्खो—तुम व्यर्थ ही आसक्ति तथा ममताके जालमें फँस रहे हो और मानव-जीवनके असली ध्येयको भूलकर, जिससे एक दिन सारा सम्बन्ध छूट जायगा और कभी उसकी याद भी नहीं आवेगी, उसीमें मनको फँसाकर, जीवनको अधोगतिकी ओर ले जा रहे हो।

याद रक्खो—तुम पहले कहीं थे ही, वहाँ तुम्हारे माता-पिता, घर-द्वार, पत्नी-पुत्र आदि भी होंगे ही। आज तुम्हें जैसे उनकी याद ही नहीं है, वे किस हालतमें कहाँ हैं, इसका पता लगानेकी भी कभी चिन्ता मनमें नहीं होती, वैसे ही यहाँसे चले जानेपर दूसरे जन्ममें यहाँके सब कुछको भूल जाओगे।

याद रक्खो—सम्बन्ध अनित्य और काल्पनिक होनेपर भी जबतक तुम्हारी इसमें ममता और आसक्ति है, तबतक तुम्हारी कामना-वासना नहीं मिट सकती एवं जबतक कामना-वासना रहेगी, तबतक दुष्कर्म भी बनते ही रहेंगे और जबतक दुष्कर्म बनेंगे, तबतक सुखका भी मुख कभी भी नहीं दीखेगा।

याद रक्खो—जबतक तुम यह सोचते रहोगे कि अमुक परिस्थिति आनेपर भगवान्का भजन करूँगा, तबतक भजन बनेगा ही नहीं, परिस्थितिकी कल्पना बदलती रहेगी। अतएव तुम जिस परिस्थितिमें हो, उसीमें भजन आरम्भ कर दो। भजन होने लगनेपर परिस्थिति आप ही उसके अनुकूल हो जायगी।

याद रक्खो—भजनमें मन लगनेपर संसारके बन्धन स्वयमेव शिथिल हो जायँगे। भगवान्में ममता और आसक्ति हो जायगी, तब घर-परिवार, धन-सम्पत्ति, यश-मान आदिकी हथकड़ी-बेड़ियाँ अपने-आप कट जायँगी। फिर इसके लिये कोई अलग प्रयास नहीं करना पड़ेगा।

याद रक्खो—जगत्से भागनेकी चेष्टा करोगे, इसे छोड़ने जाओगे तो और भी जकड़ोगे। इसे छोड़नेका प्रयत्न छोड़कर भगवान्में लगनेका—सब प्रकारसे लगनेका प्रयत्न करो। भगवान्की रूप-माधुरीकी जरा-सी झाँकी मिलते ही भोगोंके रूप-सौन्दर्यका—सुख-विलासका स्वप्न तत्काल भङ्ग हो जायगा। फिर इस ओर झाँकनेको भी मन नहीं करेगा।

याद रक्खो—मानव-जीवन अजगरोंकी भाँति लम्बे कालतक नहीं रहता। फिर इस समय तो बालक तथा तरुण भी सहसा मृत्युके शिकार हो जाते हैं। अतएव बुढ़ापेकी प्रतीक्षा न करके तुरंत भजनमें लग जाओ। यह अवसर हाथसे निकल गया तो पीछे सिवा पछतानेके कोई भी उपाय नहीं रह जायगा।

याद रक्खो—भगवान्ने तुमपर कृपा करके संसार-सागरसे तरने और भगवान्का प्रेम प्राप्त करनेके सारे साधन सुलभ कर दिये हैं। इन साधनोंको पाकर भी यदि तुम असावधान रहोगे और इनसे लाभ नहीं उठाओगे तो तुम्हारे समान मूर्ख और कौन होगा?

'शिव'

जीवनकी सफलताके लिये अनुपम शिक्षा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
(गीता १३। ८)

इस श्लोकके भावको हृदयङ्गम करानेके लिये नीचे एक कहानीकी कल्पना की जाती है।

अवन्तिकापुरीका राजा विष्वक्सेन बड़ा ही धर्मात्मा था। उसका राज्य धन-धान्यसे परिपूर्ण था। प्रजा उसकी आज्ञामें थी। उसके यहाँ किसी भी पदार्थकी कमी नहीं थी, किंतु उसके कोई सन्तान नहीं थी। वह एक बड़े सद्गुणसम्पन्न सदाचारी और विरक्त महात्मा पुरुषके पास जाया करता था और उन महात्माकी सेवा-शुश्रूषा किया करता था।

एक दिन महात्माने पूछा—तुम बहुत दिनोंसे हमारे पास आते हो, तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है?

विष्वक्सेनने कहा—मेरे यहाँ किसी भी चीजकी कमी नहीं है। आपकी कृपासे मेरा राज्य धन-धान्यसे पूर्ण है, पर मेरे कोई पुत्र नहीं है, यही एक अभाव है। आप कृपापूर्वक ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मुझे एक बहुत उत्तम पुत्रकी प्राप्ति हो।

महात्माने कहा—तुम पुत्र-प्राप्तिके लिये विष्णुयाग करो। भगवान् उचित समझेंगे तो तुम्हें पुत्र दे सकते हैं।

राजा विष्वक्सेनने महात्माके कथनानुसार यथाशास्त्र विष्णुयागका अनुष्ठान किया। उस यज्ञके फलस्वरूप उसकी स्त्रीके गर्भ रह गया और दस महीनेके पश्चात् उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक बहुत ही सुन्दर और बुद्धिमान् था, मानो कोई योगभ्रष्ट हो। उसके पैदा होनेपर राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार उसके जातकर्मादि संस्कार कराये और उसका नाम रक्खा 'जनार्दन'। कुछ बड़े होनेपर जनार्दनको घरपर ही अध्यापक बुलाकर विद्याभ्यास कराया गया। कुशाग्रबुद्धि होनेके कारण जनार्दन शीघ्र ही विद्यामें पारङ्गत हो गया। वह संस्कृत आदि भाषाओंका एक अच्छा विद्वान् हो गया। वह सब लड़कोंके साथ बड़ा प्रेम करता। किसीके साथ भी कभी लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज नहीं करता। वह स्वाभाविक ही सीधे सरल स्वभावका, सद्गुण-सदाचारसम्पन्न और मेधावी था।

एक दिन राजा विष्वक्सेन महात्माजीके पास गया तो अपने पुत्रको भी साथ ले गया। राजाने महात्माके चरणोंमें अभिवादन किया, यह देखकर लड़केने भी वैसे ही प्रणाम किया।

राजाने कहा—महाराजजी! आपने जो अनुष्ठान बतलाया था, उसके फलस्वरूप आपकी कृपासे ही मेरे यह बालक पैदा हुआ है। अतः इसको कुछ शिक्षा देनेकी कृपा करें।

महात्मा बोले—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना।'

फिर महात्माजीने उस लड़केके हाव भावको देखकर कहा कि 'यह लड़का योगभ्रष्ट पुरुष प्रतीत होता है। अतः यह आगे चलकर बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बन सकता है।'

यह सुनकर राजा अपने घरपर चला आया और अपनी पत्नी, मन्त्रिगण तथा सेवकोंको एकान्तमें बुलाकर सारी बातें उन्हें बतलायीं एवं समझा दिया कि इस लड़केको सदा-सर्वदा ऐशो-आराम और स्वाद-शौकीनीके ही वातावरणमें रखना चाहिये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातोंसे इसे सर्वथा दूर रखना चाहिये। इस बातका पूरा ध्यान रक्खा जाना चाहिये कि जिससे कोई भी वस्तु इसके भक्ति-विवेक-वैराग्यका कारण न हो जाय।

आज्ञानुसार सारी व्यवस्था हो गयी। किंतु जनार्दनके अन्तःकरणमें जो पूर्वजन्मके प्रबल संस्कार भरे थे, वे कैसे रुक सकते थे। इसके सिवा, उसके हृदयपर महात्माजीकी शिक्षाका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। जनार्दन अपने समान आयुवाले लड़कोंके साथ खेलता था; किंतु उसका मन खेल-तमाशों और भोग-आराममें कभी लगता नहीं था। वह जब कभी पर्यटनके लिये बाहर जाता तब राजाके सिखाये-समझाये हुए बुद्धिमान् मन्त्री विद्यासागर सदा उसके साथ रहते थे।

जब जनार्दनकी अठारह वर्षकी आयु हो गयी तब उसका विवाह कर दिया गया और वह अपनी पत्नीके साथ रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसकी स्त्री गर्भवती हुई। जब सन्तान होनेका समय आया तब दिनमें स्त्रीको बड़ा कष्ट हुआ। उसी रातमें लड़का पैदा हुआ; उस समय जनार्दन अपनी स्त्रीके पास ही था। प्रसव-कष्टको देखकर वह बहुत ही घबराया। जेर और मैलेके साथ बच्चेका पैदा होना देखकर उसे बड़ी ही ग्लानि हुई और उसीके साथ सहज ही वैराग्यका भाव भी हुआ।

सवेरा होनेपर मन्त्री आ गये। सब घरवाले एकत्र हुए। रात्रिमें जनार्दनकी पत्नीकी प्रसव-वेदनाका हाल सुनकर सबको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने वैद्योंको बुलाकर दिखलाया। वैद्योंने कहा—'कष्ट तो लड़केको काफी हुआ, पर कोई चिन्ताकी बात नहीं है।'

तब जनार्दनने मन्त्री विद्यासागरसे पूछा—मन्त्रीजी! पैदा होते ही लड़का बहुत चिल्लाया और तड़फड़ाया; ऐसा क्यों हुआ?

विद्यासागर बोले—जब बच्चा गर्भमें रहता है, तब सब द्वार बंद रहते हैं और जब वह बाहर निकलता है, तब एक बार उसे बहुत कष्ट होता है।

जनार्दन—यह जेर और मैला क्यों रहता है?

विद्यासागर—यह सब गर्भमें इसके साथ रहते हैं।

जनार्दन—तब तो गर्भमें बड़ा कष्ट रहता होगा।

विद्यासागर—इसमें क्या सन्देह है। गर्भकष्ट तो भयानक होता ही है।

जनार्दन—गर्भमें यह कष्ट क्यों होता है?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके पापोंके कारण।

जनार्दन—पूर्वजन्म क्या होता है?

विद्यासागर—जीव पहले जिस शरीरमें था, वह इसका पूर्वजन्म था। वहाँ इसने कोई पाप किया था, उसीके कारण इसको विशेष कष्ट हुआ।

जनार्दन—पाप किसे कहते हैं?

विद्यासागर—झूठ बोलना, कपट करना, चोरी करना, परस्त्री-गमन करना, मास-मदिरा खाना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना आदि जिन आचरणोंका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है, वे सभी पाप हैं।

जनार्दन—शास्त्र क्या होते हैं?

विद्यासागर—श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि धर्मग्रन्थ शास्त्र हैं।

जनार्दन—अपने घरमें ये हैं?

विद्यासागर—नहीं।

जनार्दन—तो मँगा दो, मैं पढ़ूँगा।

मन्त्री विद्यासागर चुप हो रहे। उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मन्त्रीकी उपर्युक्त बातोंको सुनकर जनार्दनका चित्त उदास-सा हो गया। वह गर्भ और जन्मके दुःखको समझकर मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—'अहो! कैसा कष्ट है!' उसका प्रफुल्ल मुखकमल कुम्हला गया। उसके मुखपर विषादकी रेखा प्रत्यक्ष दिखायी देने लगी। यह देखकर राजाने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रीवर! राजकुमारका चेहरा उदास क्यों है?'

विद्यासागरने कहा—लड़का पैदा हुआ है, इससे इसके चित्तमें कुछ ग्लानि-सी है।

राजा बोला—लड़का होनेसे तो उत्साह और प्रसन्नता होनी चाहिये। फिर उन्होंने जनार्दनसे पूछा—'तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है?'

जनार्दन—ऐसे ही है।

राजा विष्वक्सेनने फिर मन्त्रीको आदेश दिया कि इसे हवाखोरीके लिये ले जाओ और चित्तकी प्रसन्नताके लिये बाग-बगीचोंमें घुमा लाओ।

विद्यासागरने वैसा ही किया। बढ़िया घोड़े जुती हुई एक सुन्दर बग्गीमें बिठलाकर वह उसे हवाखोरीके लिये शहरके बाहर बगीचोंमें ले गया। शहरसे बाहर निकलते ही जनार्दनकी एक गलित कुष्ठीपर दृष्टि पड़ी, उस कुष्ठग्रस्त मनुष्यके हाथकी अङ्गुलियाँ गिरी हुई थीं; पैर, कान, नाक, आँख बेडौल थे। वह लँगड़ाता हुआ चल रहा था।

जनार्दनने पूछा—मन्त्रीजी! यह क्या है?

विद्यासागर—यह कुष्ठ रोगी है।

जनार्दन—इसकी ऐसी हालत क्यों हो गयी?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके बड़े भारी पापोंके कारण।

जनार्दन—क्या मेरी भी यह हालत हो सकती है?

विद्यासागर—परमात्मा न करे, ऐसा हो। आप तो पुण्यात्मा हैं।

जनार्दन—हो तो सकती है न?

विद्यासागर—कुमार! जो बहुत पापी होता है, उसीके यह रोग होता है। आपके विषयमें मैं कैसे क्या कहूँ। इतना

अवश्य है कि आपके भी यदि पूर्वके बड़े पाप हों तो आपकी भी यह दशा हो सकती है ।

जनार्दन—इन भारी-भारी पापोंका तथा उनके फलोंका वर्णन जिन ग्रन्थोंमें हो, उन ग्रन्थोंको मेरे लिये मँगवा दीजिये । मैंने पहले भी आपसे कहा ही था । अब शीघ्र ही मँगा दें ।

विद्यासागर—आपके पिताजीका आदेश होनेपर मँगवाये जा सकते हैं ।

इतनेहीमें आगे एक दूसरा ऐसा मनुष्य मिला, जिसके शरीरपर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं, बाल पककर सफेद हो गये थे, अङ्ग सूखे हुए थे, आँखोंकी ज्योति मन्द पड़ गयी थी, कमर झुकी थी, वह लकड़ीके सहारे कुबड़ाकर चल रहा था, उसके हाथ-पैर काँप रहे थे एवं बार-बार कफ और खाँसीके कष्टके कारण वह बहुत तंग हो रहा था । उसको देखकर राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—यह एक नब्बे वर्षका बूढ़ा आदमी है ।

जनार्दन—जब मैं नब्बे वर्षका हो जाऊँगा, तब क्या मेरी भी यही दशा होगी ?

विद्यासागर—कुमार ! आप दीर्घायु हों । मनुष्य जब वृद्ध होता है तब सभीकी यह दशा होती है ।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दनको बड़ी ही चिन्ता हुई कि मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है । इस प्रकार व्याधि तथा जरासे पीड़ित पुरुषोंको देखकर राजकुमारके मनमें शरीरकी स्वस्थता और सुन्दरतापर अनास्था हो गयी ।

तदनन्तर लौटते समय रास्तेमें श्मशानभूमि पड़ी । वहाँ एक मुर्दा तो जल रहा था और एक दूसरे मुर्देको कितने ही लोग 'रामनाम सत्य है' पुकारते हुए मरघटकी ओर लिये आ रहे थे और कुछ मनुष्य उनके पीछे रोते हुए चल रहे थे ।

कुमारने पूछा—यह कौन स्थान है ?

विद्यासागर—यह श्मशान-भूमि है ।

जनार्दन—यहाँ यह क्या होता है ?

विद्यासागर—जो आदमी मर जाता है, उसे यहाँ लाकर जलाया जाता है ।

जनार्दन—यह जुलूस किसका आ रहा है ? जुलूसके पीछे चलनेवाले लोग रोते क्यों हैं ?

विद्यासागर—मालूम होता है, किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, उसके घरवाले श्मशानभूमिमें उसके शवको ला रहे हैं । ये रोनेवाले लोग उसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं ।

जनार्दन—मृत्यु किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—इस शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणका निकल जाना 'मृत्यु' है । जब आदमी मर जाता है तब उसके शरीरको शव कहा जाता है और फिर घरवाले उसे यहाँ लाकर जला देते हैं । एवं फिर वापस घर चले जाते हैं ।

जनार्दन—तो फिर ये रोते क्यों हैं ?

विद्यासागर—मालूम होता है, मरनेवालेका इन सबके साथ बहुत प्रेम रहा है । अब वह पुरुष सदाके लिये इनसे बिछुड़ गया है, इस बिछोहके दुःखसे ये घरवाले रो रहे हैं ।

जनार्दन—क्या हम भी एक दिन मरेंगे ?

विद्यासागर—कुमार ! ऐसा न कहें । परमात्मा आपको सौ वर्षकी आयु दें ।

जनार्दन—जो भी कुछ हो, पर आखिर एक दिन तो मरना ही होगा न ?

विद्यासागर—कुमार ! एक दिन तो सभीको मरना है । जो पैदा हुआ है, उसका एक दिन मरना अनिवार्य है ।

मन्त्रीके वचन सुनकर राजकुमार चिन्तामग्न हो गया । तदनन्तर आगे चलनेपर मार्गमें एक विरक्त महात्मा दिखलायी पड़े । राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—यह एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं ।

जनार्दन—जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—जिन्होंने भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है ।'

जनार्दन—कल्याण किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—विवेक-वैराग्य और भजन-ध्यान आदिके साधनोंद्वारा होनेवाली परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्तिको 'कल्याण' कहते हैं । कल्याणप्राप्त मनुष्यको ही 'जीवन्मुक्त महात्मा' कहते हैं । वह सदाके लिये परमात्माको प्राप्त हो जाता है और फिर वह लौटकर जन्म-मृत्युरूप असार संसारमें नहीं आता । ऐसे ही पुरुषका वस्तुतः संसारमें जन्म लेना धन्य है ।

जनार्दन—क्यों मन्त्री महोदय, क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ ?

विद्यासागर—क्यों नहीं, जो हृदयसे चाहता है, वही वन सकता है। किंतु आप अभी बालक हैं, आपको तो संसारके सुख-विलास और भोग भोगने चाहिये। यह तो शेष कालकी बात है।

जनार्दन—तो क्या जवान अवस्थामें आदमी मर नहीं सकता ? अभी रास्तेमें जो जुलूस जाता था, उसके विषयमें तो आपने बतलाया था न कि यह जवान लड़का मर गया है ?

विद्यासागर—मर सकता है। पर पूर्वके कोई बड़े भारी पाप होते हैं तभी मनुष्य युवावस्थामें मरता है।

जनार्दन—तो क्या मेरे युवावस्थामें न मरनेकी कोई गारंटी है।

विद्यासागर—गारंटी किसीकी भी नहीं हो सकती। मरनेमें प्रधान कारण प्रारब्ध ही है।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दन बहुत ही शोकातुर हो गया और मन-ही-मन विचारने लगा कि मेरा जल्दी-से-जल्दी कल्याण कैसे हो।

वह घरपर आया। उसके चेहरेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक उदासी देखकर राजा विष्वक्सेन चिन्ता करने लगा। तीसरे दिन फिर राजकुमारकी वही अवस्था देखकर विष्वक्सेनने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्री ! मैं देखता हूँ, राजकुमारका चेहरा नित्य मुरझाया हुआ रहता है, इसपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। ऐसा क्यों हो गया ?'

विद्यासागर—राजन् ! क्या कहा जाय ? तीन दिन हो गये, जबसे कुमारके पुत्र हुआ है, तभीसे इनकी यही अवस्था है।

राजाने मन्त्रीसे पुनः कहा—इसको खूब सुख-विलास और विषयभोगोंमें लगाओ। इसके साथी मित्रोंको समझाकर उनके साथ इसको नाटक-खेल और कौतुक-गृहोंमें ले जाओ। खानेके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ और मेवे-मिष्टान्न दो। सुन्दर-सुन्दर चित्ताकर्षक दृश्य दिखाओ। इत्र, फुलेल आदि इसके सिरपर छिड़को। नृत्य-वाद्य आदिका आयोजन करके इसके मनको राग-रंगमें लगाओ।

मन्त्रीने राजाके आज्ञानुसार सारी व्यवस्था की; किंतु सब निष्फल ! राजकुमारको तो अब संसारकी कोई भी वस्तु सुखदायक प्रतीत नहीं होती थी। उसे सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और अत्यन्त रूखे प्रतीत होते थे। भोगोंमें ग्लानि हो जानेसे वे त्याज्य प्रतीत होते। भोगोंका सेवन राजकुमारको एक महान् झंझट-सा प्रतीत होता। इत्र, फुलेल आदि उसे पेशावके तुल्य मालूम होते। पुष्पोंकी शय्या, पुष्प और मालाएँ तथा चन्दन उसे वैसे ही नहीं सुहाते जैसे कि कफ-खाँसीके रोगीको गीले वस्त्र। वीणा-सितारका बजाना-सुनना उसके कानोंको एक कोलाहल-सा प्रतीत होता। नाटक-खेल, कौतुक-तमाशे व्यर्थके झंझट दीखने लगे। बढ़िया-बढ़िया फल, मेवे, मिष्टान्न आदि पदार्थ ज्वराक्रान्त रोगीकी तरह अरुचिकर और बुरे मालूम देने लगे। शरीर और विषयोंमें उसका तीव्र वैराग्य होनेके कारण संसारका कोई भी पदार्थ उसे सुखकर नहीं प्रतीत होता। उसका कहीं किसी भी विषयमें कोई भी आकर्षण नहीं रह गया था।

उसके मुखमण्डलकी विशेष विषण्ण तथा चिन्तायुक्त उदासीन मुद्राको देखकर राजाने पूछा—'तीन दिन हुए, जबसे तुम्हारे लड़का पैदा हुआ है, मैं तुम्हारे मुखको ग्लानियुक्त और चिन्तामग्न देख रहा हूँ, इसका क्या कारण है ? हर्ष और उत्साहके अवसरपर यह ग्लानि और चिन्ता कैसी ?'

जनार्दनने कहा—पिताजी ! आपका कहना सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है। जब लड़का पैदा हुआ तो गंदी झिल्ली और मलसे संयुक्त उसकी उत्पत्तिको देखकर तथा उसके अत्यन्त दुःखभरे रुदनको सुनकर मुझे बहुत ही दुःख और आश्चर्य हुआ, तब मैंने बड़े ही आग्रहसे मन्त्रीजीसे पूछा। मन्त्रीजीने बतलाया कि 'इसे यह कष्ट इसके पूर्वजन्मके पापोंके कारण हुआ है।' यह सुनकर मुझे यह चिन्ता हुई कि यदि मैं, झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, हिंसा, मांस-मदिरा आदिके सेवनरूप पाप करूँगा तो मुझे भी इसी तरह गर्भवास और जन्मका दुःख भोगना पड़ेगा।

राजा विष्वक्सेनने कहा—यह सब झूठ है, कपोल-कल्पना है। मरनेके बाद फिर जन्म होता ही नहीं। तदनन्तर राजाने झिड़ककर मन्त्रीसे कहा—'क्योंजी ! क्या तुमने ये सब बातें इससे कही थीं ?'

मन्त्री काँपता हुआ बोला—सरकार ! मुझसे कही गयी।

जनार्दन कहने लगा—आपकी आज्ञासे मन्त्रीजी मुझे हवाखोरीके लिये शहरसे बाहर ले गये थे तब मैंने मार्गमें एक कुष्ठरोगीको देखा। उसे देखकर मैं उदास हो गया और मैंने इनसे पूछा, तब पता लगा कि पूर्वके बड़े भारी पापोंके कारण यह रोग होता है।

राजा बोला—पाप कोई चीज नहीं है। यह तो इस मन्त्री-जैसे मूर्खोंकी कल्पना है। तुमने जिस कुष्ठीको देखा है, वह वैसा ही जन्मा है और वैसा ही रहेगा। तुमसे उसकी क्या तुलना ? तुम जैसे हो, वैसे ही जन्मे थे और वैसे ही रहोगे।

फिर राजाने कुपित होकर मन्त्रीसे कहा—तुम्हारी बुद्धिपर बड़ी तरस आती है, तुमने इस लड़केको क्यों बहका दिया ?

मन्त्री बोला—सरकार ! इस विषयमें मैं जैसा समझता था, वैसा ही मैंने कहा।

जनार्दनने फिर कहा—उसके बाद रास्तेमें मुझे एक अत्यन्त दुखी बूढ़ा आदमी दिखायी दिया। मैंने पहले कभी वैसा आदमी नहीं देखा था। जानकारीके लिये मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि यह वृद्ध है, और जब मनुष्य बहुत बड़ी आयुका हो जाता है तब सभीकी ऐसी ही दशा होती है। यह देखकर मुझे चिन्ता हुई कि एक दिन मेरी भी यही दशा होगी।

राजा बोला—नहीं, कभी नहीं। जो वृद्ध होते हैं, वे वृद्ध ही रहते हैं और जो जवान होते हैं, वे जवान ही रहते हैं।

राजाने फिर क्रोधमें भरकर मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें यही सब शिक्षा देनेके लिये ही यहाँ नियुक्त किया गया था ?

मन्त्री बोला—राजकुमारके पूछनेपर मेरी जैसी जानकारी थी, वैसा ही मेरेद्वारा कहा गया।

राजाने कहा—धिक्कार तुम्हारी जानकारीको। क्या ये सब बातें बालकोंको कहनेकी होती हैं ?

फिर जनार्दन कहने लगा—पिताजी ! उसके बाद हम जब भ्रमण करके वापस लौट रहे थे तो मैंने देखा कि बहुतसे आदमी एक मरे हुए आदमीको जला रहे हैं और सब उसके चारों ओर खड़े हैं। उसी समय मैंने देखा कि नगरसे एक जुलूस वहाँ आ रहा है, चार आदमियोंने एक किसी चीजको कन्धोंपर उठा रक्खा है, कुछ लोग 'रामनाम सत्य' चिल्ला रहे हैं और उसके पीछे-पीछे कुछ आदमी रोते चले आ रहे हैं। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मन्त्रीजीसे पूछनेपर इन्होंने बतलाया कि 'किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है। इसके घरवाले इसे श्मशानभूमिमें ला रहे हैं और ये रोनेवाले लोग इसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं। ये लोग इसके वियोगमें दुःखके कारण रो रहे हैं।' इस दृश्यको जबसे मैंने देखा, तबसे मुझे मृत्युकी चिन्ता लग रही है। मैं समझता हूँ कि जब मेरी मृत्यु होगी तब मेरी भी यही दशा होगी।

विष्वक्सेन बोला—इस पागल मन्त्रीकी बातपर तुम्हें ध्यान न देना चाहिये। जवान आदमीकी कभी मृत्यु हो ही नहीं सकती। इन्होंने जो कुछ कहा है, सब बेसमझीकी बात है।

फिर उसने मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें हमारे लड़केको इस प्रकार बहकाना उचित था ? तुमने सचमुच मुझे बड़ा धोखा दिया !

विद्यासागरने हाथ जोड़कर कहा—सरकार ! पूछनेपर जो बात उस समय समझमें आयी, वही कही गयी।

जनार्दनने कहा—उसके बाद जब हमलोगोंने लौटकर शहरमें प्रवेश किया तब एक गेरुआ वस्त्रधारी पुरुष मिले। पूछनेपर मन्त्रीजीने बतलाया कि 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं। इन्होंने भजन-ध्यान और सत्सङ्ग-स्वाध्याय करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है, जिससे इन्हें हर समय परम शान्ति और परम आनन्द रहता है। ये भगवान्के परम धाममें चले जायँगे और फिर लौटकर कभी दुःखरूप संसारमें नहीं आयेंगे। वहीं नित्य परम शान्ति और परम आनन्दमें मग्न होकर रहेंगे। इन्हींका जन्म धन्य है।' उसी समयसे मेरे मनमें बार-बार ऐसा आता है कि क्या कभी मैं भी ऐसा बन सकूँगा। पूछनेपर पता लगा कि यह सब बातें श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें लिखी हैं। अतः मैंने इन पुस्तकोंको मँगानेके लिये मन्त्रीजीसे कहा था, किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं आपके पिताजीका आदेश लेकर ही मँगा सकता हूँ।' अतएव पिताजी ! अब ये पुस्तकें मुझे शीघ्र मँगा दीजिये।

विष्वक्सेन बोला—बेटा ! ये सब पुस्तकें तुम्हारे देखने लायक नहीं हैं।

राजाने फिर मन्त्रीसे कहा—मालूम होता है, तुमने इन पुस्तकोंके नाम बतलाकर लड़केका मस्तक बिगाड़ दिया। तुम्हारी ही शिक्षाका यह फल है, जो मेरा यह सुकुमार सुन्दर राजकुमार इतनी छोटी उम्रमें ही संसारके विषय-भोगोंसे विरक्त होकर रात-दिन वैराग्य और ज्ञानकी चिन्तामें डूबा रहता है। मैंने जिस उद्देश्यसे तुमको नियुक्त किया था, उसका विपरीत परिणाम हुआ। तुम मेरे यहाँ रहनेयोग्य नहीं। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं जा सकते हो।

विद्यासागर हाथ जोड़कर बोला—सरकार ! मेरी बेसमझीके कारणसे ही यह सब हुआ । लड़केने जो कुछ पूछा, मैंने अपनी समझके अनुसार ठीक-ठीक कह दिया, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें ।

विष्वक्सेनने कहा—आग लगे तुम्हारी ऐसी समझपर ! मेरा तो बसता हुआ घर ही तुमने उजाड़ दिया । मेरे यहाँ अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं । यह कहकर उसको मन्त्री-पदसे हटा दिया ।

जनार्दन बोला—पिताजी ! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? इसमें मन्त्रीजीका कुछ भी दोष नहीं है । इन्होंने तो जो कुछ कहा, उचित ही कहा और वह भी मेरे पूछनेपर ही कहा । मुझमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका लेशमात्र भी नहीं है । हाँ, मैं चाहता हूँ कि मुझे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी प्राप्ति हो जाय तो मैं भी जीवन्मुक्त महात्मा बनकर अपने आत्माका उद्धार कर लूँ । धन्य है उन पुरुषोंको, जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर परमात्माके भजन, ध्यान, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें अपना जीवन बिताकर अपने आत्माका कल्याण कर लिया है । आप मुझे आशीर्वाद दें, जिससे इस शरीर और संसारसे विरक्त होकर मेरा मन नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगा रहे ।

इसपर राजा विष्वक्सेनने राजकुमार जनार्दनको इसके विरुद्ध बहुत कुछ समझाया, परंतु उसके एक भी नहीं लगी । क्योंकि राजकुमार योगभ्रष्ट पुरुष तो था ही, मन्त्रीकी शिक्षाने भी उसके हृदयमें विशेष काम किया था । राजकुमार वैराग्यके नशेमें चूर हो गया । वह अहङ्कार और ममतासे रहित होकर संसारसे उपरत रहता हुआ परमात्माकी खोजमें जीवन बिताने लगा ।

कुछ दिनों बाद जब उसे तीव्र वैराग्य और उपरति हो गयी, तब वह सहज ही राज्यकी ओरसे सर्वथा बेपरवाह होकर उन महात्माजीके पास चला गया, जिनसे बाल्यावस्थामें उसने यह श्लोक सुना था—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
(गीता १३ । ८)

इस श्लोकका भाव राजकुमार जनार्दनमें अक्षरशः संघटित था । उसने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लिये महात्माजीसे प्रार्थना की । तब महात्माजीने उसको आश्वासन देते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा दी । उन्होंने कहा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
(गीता १३ । ९-११)

अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इन्हींमें उसकी विशेष आसक्ति होती है । इन्द्रियोंके शब्दादि साधारण विषयोंमें वैराग्य होनेपर भी इनमें छिपी आसक्ति रह जाया करती है, इसलिये मनुष्यको 'आसक्तिका सर्वथा अभाव' करना चाहिये ।

यहाँ 'अनभिष्वङ्ग'का अर्थ है—'ममताका अभाव ।' ममत्वके कारण ही मनुष्यका स्त्री-पुत्रादिसे घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है । उससे उनके सुख-दुःख और लाभ-हानिसे वह स्वयं सुखी-दुखी होता रहता है । ममताके अभावसे ही इसका अभाव हो सकता है । इसलिये मनुष्यको इन सब पदार्थोंसे ममताका अभाव करना चाहिये ।

अनुकूल व्यक्ति, क्रिया, घटना और पदार्थोंका संयोग तथा प्रतिकूलका वियोग सबको 'इष्ट' है । इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलका संयोग 'अनिष्ट' है । इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट'के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस सम रहना—इसको 'इष्ट और अनिष्टकी उपपत्तिमें समचित्तता' कहते हैं ।

भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करने योग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्ययोग' है । इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्का ही भजन, ध्यान करते रहना ही 'अनन्ययोगके द्वारा भगवान्में अव्यभिचारिणी भक्ति करना' है ।

इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमें न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्‌का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्काम-भावसे निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, वह सब भगवान्‌के लिये ही होती है।

साधकको सदा विविक्त देशका सेवन करना चाहिये। जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़-भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जहाँके जल-वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं; तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

साधकका कभी भी प्रमादी और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम नहीं होना चाहिये। यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी और विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उनमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' पद नहीं समझना चाहिये।

आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है, उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्म-ज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्द-घन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

इस प्रकार उपदेश देकर महात्माजी चुप हो गये। राजकुमार पात्र तो था ही, महात्माजीकी शिक्षाके अनुसार साधन करनेसे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इधर दूसरे दिन प्रातःकाल जब राजा उठा तब पता लगा कि राजकुमार आज रातमें महलसे निकलकर कहीं चला गया। इधर-उधर चारों ओर बड़ी खोज करायी गयी, किंतु कहीं भी पता नहीं लगा। तब राजा विष्वक्सेन बहुत दुःखित हो गया।

कुछ दिनों बाद राजा उन महात्माजीके दर्शन करने गया, जिनके बतलाये हुए अनुष्ठानसे राजकुमार उत्पन्न हुआ था। राजाने महात्माजीको साष्टाङ्ग अभिवादन किया और कहा—'महाराजजी! आपने मुझको जो लड़का दिया था, वह कई दिनोंसे लापता हो गया है।'

महात्माजीने कहा—क्या तुमको पता नहीं, वह तो कई दिनोंसे मेरे पास है। वह सदा-सर्वदा ज्ञान-ध्यानमें निमग्न रहता है। उसने तो अपने जीवनको सफल बना लिया। मैंने तो तुमसे पहलेसे ही कहा था कि यह लड़का एक बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बननेवाला है, वही बात आज प्रत्यक्ष हो गयी। राजन्! तुम्हारा जन्म भी धन्य है, जो तुमने ऐसे पुत्रको जन्म दिया और यह लड़का तो सौभाग्यशाली है ही।

राजकुमारकी इतनी शीघ्र और आशातीत उन्नति सुनकर और फिर उसकी स्थितिको प्रत्यक्ष देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसे जो पुत्रके घरसे निकल जानेका दुःख था, वह सब शान्त हो गया। उसने अपना बड़ा सौभाग्य समझा।

तदनन्तर राजाने महात्माजीसे प्रार्थना की कि मुझे ऐसा कोई उपदेश करें, जिससे शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाय। इसपर महात्माजीने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—

अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' यानी इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना है।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहं' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्म वस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है।

जन्मका कष्ट सहज नहीं है। पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश सहन करने पड़ते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्यु-कालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। इस अशक्त अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

यों तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुतः संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसमें ये चारों दोष न हों। जड़ मकान एक दिन बनता है, यह उसका जन्म हुआ; कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ; पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया, अब मरम्मत नहीं हो सकती। फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी। छोटी-बड़ी सभी चीजोंकी यही अवस्था है। इस प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर उनसे वैराग्य करना चाहिये।

महात्माजीके इस सुन्दर उपदेशको सुनकर राजा अपने राजमहलपर लौट आया और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न करने लगा। इससे थोड़े ही समयमें राजाको शरीर और संसारसे तीव्र वैराग्य हो गया। तब रानीको साथ लेकर राजा पुनः महात्माजीके पास गया और बोला—'आपके उपदेशसे मुझे बहुत लाभ हुआ। अब मेरी यह इच्छा है कि जनार्दनका युवराजपदपर अभिषेक करके मैं भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमें ही अपना शेष जीवन बिताऊँ।' इसपर महात्माजीने जनार्दनको बुलाकर कहा—'वत्स! तुम राज्यका कार्य करो, अब तुम्हें कोई भय नहीं है। अतः अब अपने पिताजीको अवकाश दो, जिससे ये भी भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण करें।'

जनार्दन नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित था ही, वह बड़ी प्रसन्नतासे पिताके आज्ञानुसार राज्यकार्य करने लगा। अब रानीके सहित राजा विष्वक्सेन समय-समयपर महात्माजीका सत्सङ्ग करने लगा और उनके बतलाये हुए साधन-के अनुसार तत्परतासे चेष्टा भी करने लगा।

एक दिन राजा विष्वक्सेनने महात्माके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे विनय और करुणाभावपूर्वक प्रार्थना की—'महाराजजी! मुझे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मेरी भी स्थिति जनार्दनकी भाँति नित्य-निरन्तर अटल हो जाय।'

तब महात्माजीने जो शिक्षा विस्तारपूर्वक जनार्दनको दी थी, वही राजाको भी दी। महात्माजीकी शिक्षा सुनकर राजा और रानी—दोनोंने श्रद्धा और प्रेमपूर्वक बड़ी लगनके साथ उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप राजा और रानी दोनोंको ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी शरीर और संसारसे विरक्त राजकुमार जनार्दनकी भाँति ऊपर बतलाये हुए साधनके अनुसार अपने बचे हुए जीवनको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें लगाकर सफल बनावें।

भगवद्भजनका स्वरूप

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीभगवान् कहते हैं—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।'

—इस भगवद्वचनके अनुसार हमें तुरंत भगवद्भजनमें लग जाना चाहिये । श्रीभगवान्ने इस श्लोकार्धमें बतलाया कि 'अनित्यम् असुखम् इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व ।' अनित्य कहनेका तात्पर्य यह कि देर न करो, क्या पता है—

दम आया न आया खबर क्या है ?
दम आया न आया खबर क्या है ?

यदि अभी श्वास बंद हो जाय तो फिर कुछ भी न हो सकेगा । विचारी हुई बातें सब वैसी-की-वैसी ही रह जायँगी, सब गुड़ गोबर हो जायगा । क्योंकि शरीर क्षणभङ्गुर है, यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, प्रतिक्षण बड़ी तेजीसे जा रहा है और जा रहा है उस मृत्युकी ओर, जिसको कोई नहीं चाहता । वही मृत्यु प्रतिक्षण समीप आ रही है । प्रतिघंटा ९०० श्वास जा रहे हैं, २४ घंटोंमें २१६०० श्वास चले जाते हैं । जरा इस ओर ध्यान देना चाहिये । खर्च तो यह हो रहा है और कमाई क्या कर रहे हैं ? किस बातकी प्रसन्नता है ?

छः सो सहस इकीस दम जावत हैं दिन रात ।
एतो टोटो ताहि घर काहेकी कुसलात ॥

दूसरा पद कहा है—'असुखम्' यानी यहाँ इस लोकमें सुख नहीं है । यह लोक सुखरहित है । इतनी ही बात नहीं है, भगवान् तो कहते हैं कि 'दुःखालयमशाश्वतम्' । दुःखालय है । किंतु हम तो इसमें ठीक इसके विपरीत सुख ढूँढ़ते हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है । जैसे कोई आदमी विद्यालयमें धोती जोड़ा आदि कपड़ा खोजे, औषधालयमें मिठाईका भाव पूछे, ऐसे ही हम इस दुःखालयमें सुख ढूँढ़ रहे हैं । इस संसारमें सुखकर वस्तुएँ मानी जाती हैं—धन, स्त्री, पुत्र, घर और भोग । इन सबमें विचार करके देखें तो वास्तवमें सुख है ही नहीं, आदि-अन्तमें सर्वत्र दुःख-ही-दुःख है ।

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि हमें वही वस्तु सुख दे सकती है, जिसका हमारे पास अभाव है और हम जिसे चाह रहे हैं । उसके लिये चाहना जितनी ही बलवती होगी, उतना ही उस वस्तुके मिलनेपर सुख अधिक होगा । अभाव रहते हुए भी यदि उसके अभावका अनुभव नहीं है यानी उसके लिये छटपटाहट नहीं है तो वह वस्तु प्राप्त होकर भी हमें सुखी नहीं बना सकती । अतः धन आदि पदार्थोंसे सुख प्राप्त करनेके लिये पहले धनके अभावका दुःख अत्यावश्यक है । यह तो हुआ उनसे होनेवाला पहला दुःख । फिर वे धनादि पदार्थ मनोरथके अनुसार प्रायः मिलते नहीं हैं । यह हुआ दूसरा दुःख । मिल भी जायँ तो हमसे दूसरेको अधिक मिल जाते हैं तो वह एक नया दुःख खड़ा हो जाता है और मिलनेपर उसके नाशकी आशङ्का बनी ही रहती है, जो महान् चिन्ताका कारण है । एवं होकर नष्ट हो जानेपर तो बहुत ही कष्ट भोगना पड़ता है । उस समय जो दुःख होता है, वह उसके अभावके समय नहीं था । श्रीपतञ्जलिने कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं ।'

मायाकी मोहिनी वृत्तिसे ही यह अनुभव होता है कि धनादि पदार्थोंके इतने रूपमें प्राप्त हो जानेपर हम बहुत सुखी हो जायँगे। ऐसी आशा और कथन तो हम सुनते आ रहे हैं पर अभीतक ऐसा संसारी मनुष्य कोई नहीं मिला जो कि यह कह दे कि हम पूर्ण सुखी हो गये हैं, प्रत्युत यह कहते तो प्रायः सभी देखे जाते हैं कि 'हम तो पहलेसे भी अधिक दुखी हैं।' कहा भी है—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति॥

'जबतक समुद्रको पार करनेकी तरह एक दुःखका अन्त नहीं होता कि उसी बीचमें दूसरा दुःख आ धमकता है; ठीक ही तो है, अभावोंमें तो अनर्थोंकी बहुलता होती ही है।'

एक वस्तुके अभावका अनुभव होनेपर उसकी पूर्तिके लिये चेष्टा करते हैं, किंतु प्रायः उसकी सिद्धि होती नहीं; कहीं दैवसंयोगसे हो भी जाती है तो फिर उसमें कई अन्य नये-नये अभावोंकी सृष्टि होने लगती है, जिनकी कि पहले कभी सम्भावना ही नहीं थी। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

'विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले जितने भी सांसारिक सुख हैं, सब-के-सब ही दुःखयोनि यानी दुःखोंकी प्रसवभूमि—दुःखोंको पैदा करनेवाली हैं; एवं उत्पत्ति और विनाशसे संयुक्त हैं, अतः हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमता।'

विचार करके देखा जाय तो किसी भी सांसारिक प्राणीको अपनी परिस्थितिमें पूर्ण सुख और सन्तोष नहीं है, क्योंकि वह उससे भी और अधिक सुखके लिये सदा लालायित तथा प्रयत्नशील रहता है। शास्त्रमें बतलाया है—

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
तत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः॥

किसी राजस्थानी कविने भी बड़ा ही सुन्दर कहा है—

ना सुख काजी पण्डिताँ ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजाँ ही आवसी तृष्णा-रोग गयाँ॥

तीसरी बात कहते हैं कि 'इमम् लोकम् प्राप्य'। यहाँ 'इमम् लोकम्'—इन पदोंसे संकेत है मनुष्य-शरीरकी ओर; भगवान् कहते हैं कि इस मानव-शरीरको प्राप्त करके तो मेरा भजन ही करना चाहिये, क्योंकि—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

अतएव इस मानवदेहको प्राप्त करके तो केवल भगवद्भजन ही करना चाहिये, क्योंकि दूसरे-दूसरे काम तो अन्यान्य शरीरोंमें भी हो सकते हैं। पर भजनका अवसर तो केवल इसी शरीरमें है। देवादि शरीरोंमें तो भोगोंकी भरमार है तथा वहाँ अधिकार न होनेसे भी भजन कर नहीं सकते; और नरकोंमें केवल पापोंके फलोंका भोग होता है, वहाँ नया कर्म करनेका न अधिकार है और न उनको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान ही है। इसी प्रकार अन्य चौरासी लाख योनियोंमें भी कर्तव्याकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, तथा साधन-सामग्री नहीं और अधिकार भी नहीं। अधिकार, ज्ञान और सामग्री—ये तीनों केवल इस मानव-शरीरमें ही हैं। (कहीं-कहीं पशु-पक्षी आदिकोंमें जो भगवद्भक्ति आदि देखनेमें आती हैं तो वे अपवादस्वरूप ही हैं।)

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

इस कथनपर हमें ध्यान देकर विचार करना चाहिये। जो मनुष्य-शरीर पाकर साधन नहीं करते, वे कहते हैं—'यह कलियुग है। समय बड़ा बुरा है। इस समय चारों ओर पाप-ही-पापका प्रचार हो रहा है, सत्य, अहिंसा आदि धर्मोंका पालन तथा भगवद्भजन हो ही नहीं सकता। यह कलिकाल बड़ा विकराल युग है, सबकी बुद्धि अधममें लग रही है, क्या करें, समयकी बलिहारी है। जब सब-का-सब वायुमण्डल ही बिगड़ा हुआ है तब एक मनुष्य क्या कर सकता है। यदि हम समयके अनुसार न चलें तो निर्वाह होना कठिन है और उसके अनुसार चलें तो पारमार्थिक साधन नहीं बन पाता।' किंतु इसपर हमें विचार करना चाहिये; क्या हम सचमुच समयके अनुसार चलते हैं? कभी नहीं। जब शीतकाल आता है तब गर्म कपड़े बनवाते हैं, आग आदिका यथोचित प्रबन्ध करते हैं, घरमें कमरा बंद करके रहते हैं—क्या यह समयके प्रतिकूल चलना नहीं है? ऐसे ही गर्मीके दिनोंमें ठंडे जल आदिका प्रयोग करते हैं, गर्मीसे बचनेके लिये सतत सावधान रहते हैं और वर्षामें भी यथायोग्य उपायोंसे उससे भी त्राण पानेकी चेष्टा करते ही रहते हैं। अर्थात् सभी समय शरीरकी प्रतिकूलताके निवारण, उससे रक्षा एवं शरीरके अनुकूल सामग्री जुटानेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। इसी प्रकार हमें कलिकालसे आध्यात्मिकताको बचानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जैसे शरीरकी रक्षा न करनेपर शरीरका नाश हो जाता है, ऐसे ही आध्यात्मिक जीवनकी रक्षा न करनेसे उस लाभसे सर्वथा वञ्चित रहनेके लिये बाध्य होना पड़ेगा।

अतः समयको दोष देना मिथ्या है, क्योंकि इसमें भगवद्भजनका मूल्य बहुत मिलता है, बड़े सस्तेमें मुक्ति मिल जाती है, जैसी कि दूसरे युगोंमें सम्भव नहीं थी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

इसलिये बिना प्रयास ही जिसमें संसारसमुद्रसे पार पहुँचा जा सके, ऐसे कलियुगको दोष देना सरासर भूल है।

इसी प्रकार जिन कर्मोंके फलस्वरूप मुक्तिका साधनरूप मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, उन कर्मोंको दोष देना भी मिथ्या है। क्योंकि—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा॥

ईश्वरने भी बड़ी भारी कृपा कर दी कि जिससे कर्मोंका सब सम्बन्ध जुटाकर यानी इस समय मानव-शरीरके योग्य कर्म न रहनेपर भी मानव-शरीर देकर आत्मोद्धारके लिये सुअवसर दे दिया। एक राजस्थानी कविने कहा है—

करुणाकर कीन्ही कृपा दीन्ही नरवर देह।
ना चीन्ही कृतहीन नर खल कर दीन्ही खेह॥

'करुणानिधि भगवान्ने कृपा करके श्रेष्ठ मनुष्यशरीर दे दिया, परंतु मूर्ख और कृतघ्न मनुष्यने उस शरीरको पहचाना नहीं, प्रत्युत उसे यों ही मिट्टीमें मिला दिया।'

ऐसे अकारण कृपालुको यह कहकर कि 'क्या करें, भगवान्ने हमें ऐसा ही बना दिया, उन्होंने हमको संसारी बनाकर घरके काम-धंधोंमें फँसा दिया, कैसे भजन करें, भगवान्की मर्जी ही ऐसी है, वे कराते हैं तभी हम ऐसा करते हैं'—इत्यादि दोष देना मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य उद्योग तो स्वयं करता नहीं और दोषारोपण करता है दूसरोंपर, तथा आप रहना चाहता है निर्दोष। ऐसे काम कबतक चलेगा—'कैसे निवहै रामजी रुई लपेटी आग?'

अतः विवेकपूर्वक विचार करके अपनी वास्तविक

उन्नतिके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतासे खूब उत्साह-के साथ लग जाना चाहिये।

भगवान्‌ने चौथी बात कही है—'माम् भजस्व।' मुझको भजो। अब विचारना यह है कि भगवान् क्या है और भगवान्‌का भजन क्या है। आजतक जैसा देखा, जैसा सुना और पढ़ा तथा उसके अनुसार भगवान्‌का साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि जैसा स्वरूप समझा, वही भगवान् है। और इस प्रकारके भगवान्‌के स्वरूपको सर्वोपरि तथा परम प्रापणीय समझकर एकमात्र उनके शरण हो जाना ही भजन है अर्थात् जिह्वासे भगवान्‌के नामका जप, मनसे उनके स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उनका निश्चय करना; तथा शरीरसे उनकी आज्ञाओंका पालन करना; एवं सब कुछ उन्हींके समर्पण कर देना; और उनके प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना; यह है भगवद्भजन।

अब भगवद्भजनरूप शरणागतिके उक्त चारों प्रकारोंका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है।

भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करते हुए उनके परम पावन नामका नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे परम श्रद्धापूर्वक जप करना और उन्हीं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन, चिन्तन, श्रवण और कथन करते रहना एवं चलते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते हर समय भगवान्‌की स्मृति रखना—यह शरणका पहला प्रकार है।

दूसरा प्रकार है—भगवान्‌की आज्ञाओंका पालन करना। इसमें केवल इस बातकी ओर ध्यान देना है कि कहीं मन इन्द्रियोंके और शरीरके कहनेमें आकर केवल उनकी अनुकूलतामें ही न लग जाय; वल्कि यह विचार बना रहे कि भगवान्‌की आज्ञा क्या है—और यही विचारकर काम करता रहे। भगवदाज्ञा क्या है? और वह कैसे प्राप्त हो? इसका उत्तर यह है कि एक तो श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे भगवान्‌के श्रीमुखके वचन हैं ही। दूसरे भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके वचन भी भगवदाज्ञा ही हैं क्योंकि जिस अन्तःकरणमें स्वार्थ और अहङ्कार नहीं रहा, वहाँ केवल भगवान्‌की आज्ञासे ही स्फुरणा और चेष्टाएँ होती रहती हैं। तीसरे उन महापुरुषोंके आचरण ही हमारे लिये आदर्श हैं, क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

चौथे, साधकके अपने राग-द्वेषरहित अन्तःकरण-की स्फुरणा भी भगवदाज्ञा समझी जा सकती है। पाँचवें, कोई भी मनुष्य अपने स्वभावके अनुकूल ही आज्ञा देता है, अतः उन परम दयालु प्रभुके स्वभावको समझना चाहिये कि श्रीभगवान् आज्ञा देंगे तो अपने स्वभावके अनुसार ही तो कहेंगे, क्योंकि वे सर्वसुहृद् हैं। इससे जिस कार्यमें अपने स्वार्थका त्याग और जीवमात्रका परम कल्याण हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो, वह श्रीभगवान्‌की आज्ञा है। इस प्रकार उनकी आज्ञाका रहस्य समझकर उसके अनुकूल चलनेमें कभी कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये, बल्कि उसीको अपना परम धर्म समझकर उसीके अनुसार प्राणपर्यन्त चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'

तीसरा प्रकार है—सर्वस्व प्रभुके समर्पण कर देना। वास्तवमें तो सब कुछ है ही भगवान्‌का। क्योंकि न तो हम जन्मके समय कुछ साथ लाये और न जाते समय कुछ ले ही जायँगे; तथा न यहाँ रहते हुए भी किसी भी वस्तु तथा शरीरादिकोंको हम अपने मनके अनुसार चला

ही सकते हैं। इससे यह बात स्पष्ट समझमें आती है कि हमारा कुछ भी नहीं है, सब कुछ केवल भगवान्‌का ही है और उन्हींके अधीन है। फिर भी हमने उन सबमें भ्रमसे जो अपनापन बना रक्खा है, उसे उठा लेना है।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

चौथा प्रकार है—भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न रहना। उसमें भी अनुकूलतामें तो प्रसन्नता रहती ही है, प्रतिकूलतामें वैसी नहीं रहती। वास्तवमें तो अनुकूलतामें जो प्रसन्नता रहती है, वह भगवद्विधान मानकर होनेवाली प्रसन्नता नहीं है, वह तो मोहपूर्वक है। भाव यह कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणकी अनुकूलताको लेकर जो प्रसन्नता होती है, वह मोहजनित है। उसे विवेकके द्वारा हटाकर 'भगवान्‌ने ही यह विधान किया है और यह मेरे लिये परम मङ्गलमय है'—इस प्रकार समझनेपर जो प्रसन्नता होगी, वही भगवान्‌के नाते होगी। फिर प्रतिकूलतामें भी दुःखकी बात नहीं रह जायगी। इस प्रकार भगवान्‌का विधान मान लेनेपर अनुकूल-प्रतिकूल सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की स्मृति बढ़ती रहेगी, क्योंकि वह परिस्थिति भगवान्‌की ही बनायी हुई है; यह प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर फिर मनुष्य भगवान्‌को कैसे भूल सकेगा। ऐसा हो जाय तभी यह समझा जा सकता है कि हमने सभी अवस्थाओंको भगवान्‌का विधान समझा है।

विचारकर देखनेसे मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी प्रतिकूल घटनामें एक लाभ और अधिक है। अनुकूल घटनासे पुण्य क्षीण होते हैं और प्रतिकूल घटनासे पाप नष्ट होते हैं। तथा पापोंका विनाश ही हमारे लिये हित है एवं पुण्योंका विनाश ही हमारे लिये अहितकर है। दूसरी बात यह है कि प्रतिकूलतामें ही मनुष्यका विकास होता है, अनुकूलतामें तो उन्नतिकी रुकावट होती है। अतः प्रभु जितनी ही प्रतिकूलता भेजते हैं, उतना ही वे हमारा परम हित कर रहे हैं। बच्चेके जैसे मैला लग जाता है तब मा उसे धोती है तो बालकको वह स्नान कराना बुरा लगता है, वह रोता है, चिल्लाता है, किंतु मा उसकी चाहकी कोई परवा न करके उसे साफ कर ही देती है। ऐसे ही पापोंका विनाश करनेमें प्रभु हमारी सलाह न लेकर हमारे रोने और चिल्लानेकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर हमें शुद्ध कर ही देते हैं। और जैसे सुनार जिस सोनेको अपनाना चाहता है, उसको अधिक साफ करता है, ऐसे *ही प्रभु जिस भक्तको पूर्वपापोंके अनुसार अधिक* कष्ट देते हैं तो उसे यह समझना चाहिये कि अब प्रभु मुझे अपना रहे हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष ही मेरे पापोंका विनाश कर रहे हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति॥

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, धीरे-धीरे उसका समस्त धन हर लेता हूँ। तथा उसका बन्धु-बान्धवोंसे वियोग कर देता हूँ, जिससे वह दुःखपूर्वक जीवन धारण करता है।'

एक बात और विचारनेकी है। भगवान् जब हमारे मनकी सुन लेते हैं अर्थात् हमारे अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं तब हमें संकोच होना चाहिये कि कहीं भगवान्‌ने हमारा मन रखकर हमारे लिहाजसे तो ऐसा नहीं कर दिया है। यदि हमारा मन रखनेके लिये किया है तो यह ठीक नहीं होगा। क्योंकि मन माफिक करते-करते तो बहुत-से जन्म व्यतीत कर दिये, अब तो ऐसा नहीं होना चाहिये। अब तो वही हो, जो भगवान् चाहते हैं। बस, भक्तकी यही चाह रहती है। अतः वह भगवान्‌के विधानमात्रमें परम प्रसन्न रहता है, फिर चाहे वह विधान मन, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल हो या अनुकूल। क्योंकि केवल प्रभुका विधान मानकर चलनेपर तो अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें परम मङ्गल-

ही-मङ्गल भरा है। अतः वह अपना मनोरथ भगवान्‌से अलग नहीं रखता, भगवान्‌की चाहमें ही अपनी चाह-को मिला देता है।

इस प्रकार भगवान्‌का चिन्तन, भगवदाज्ञापालन, सर्वस्व भगवत्समर्पण और भगवद्विधानमें परम प्रसन्न रहना ही भगवद्भजन है।

अतएव हम सबको चाहिये कि बहुत शीघ्र भगवद्भजनके ही परायण हो जायँ। ऐसे परायण हो जायँ कि भगवान्‌का भजन करते-करते वाणी गद्गद हो जाय, चित्त द्रवित हो जाय, मन भगवान्‌में ही लग जाय। फिर भजन करना न पड़े, स्वाभाविक ही होने लग जाय, तभी भजन भजन है, नहीं तो भजनकी नकल है; क्योंकि जो भजन किया जाय, वह नकली होता है और जो स्वतः बनने लग जाय, वह असली होता है। न होनेसे तो भजनकी नकल भी बड़ी अच्छी है, नकलसे भी आगे जाकर असली बन सकता है। इसलिये—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४७)

एक दिन यही अघदैत्य शङ्खासुरका पुत्र था; देखनेमें अत्यन्त सुन्दर था। कामदेव-जैसी शोभा इसके अङ्गोंसे झरती रहती थी। पर था यह अतिशय अभिमानी। रूपके गर्वने इसे अंधा बना दिया था। बाह्य सौन्दर्यके अभावमें भी कोई आदरणीय, वन्दनीय हो सकता है—यह विवेकशक्ति यौवनके उन्मादने हर ली थी। ऐसे रूपमदोद्धत युवक असुरको अष्टावक्र मुनिकी आकृति देखकर हँसी न आवे, यह भी कभी सम्भव है? मुनिपर दृष्टि पड़ते ही वह हँस पड़ा। उसकी विकट हँसी मलयाचलशृङ्गोंमें प्रतिनादित हो उठी, मानो चन्दन वनसे नित्य शीतल मलयगिरिके अन्तस्तलमें भी इस महदपराधसे रोपका आविर्भाव हो गया हो, और वह महीधर गरज उठा हो! अष्टावक्रका ध्यान तो उस ओर था ही नहीं, वे तो अपनी धुनमें अपने टेढ़े-मेढ़े शरीरकी स्वाभाविक वङ्किम गतिसे नीची दृष्टि किये चलते जा रहे थे। सहसा कानोंमें घृणाभरी ध्वनि आयी—'अरे, यह महाकुरूप है!' फिर तो मुनिके नेत्र ऊपर उठ गये। इस उक्तिका लक्ष्य कौन है, यह समझते उन्हें देर नहीं लगी। उनकी आँखें लाल हो आयीं। उनके-जैसे वीतराग मुनिजनोंमें भी क्रोधका अवकाश है, यह कल्पना नितान्त निरर्थक है। उनका यह क्षोभ तो—स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्य-लीला महाशक्तिने सुदूर भविष्यकी भगवदीय लीलाका आयोजन करने जाकर मुनिके मनको अपना यन्त्र बना लिया—इसका एक निदर्शनमात्र है। जो हो, अन्तरका यह रोष वाग्वज्र बनकर बाहर निकला। मुनिश्रेष्ठ अष्टावक्र बोल उठे—

.................त्वं सर्पो भव दुर्मते।
कुरूपा वक्रगा जातिः सर्पाणां भूमिमण्डले॥

'रे दुष्टबुद्धि, जा, सप बन जा। भूमण्डलपर सर्पोंकी जाति ही कुरूप एवं कुटिल गतिवाली होती है।'

शङ्खासुर-तनयके रूपगर्वको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये इतना पर्याप्त था। तत्क्षण ही वह मुनिके चरणोंमें लोट गया। अब अग्रिम कृपाप्रसाद प्राप्त होनेमें विलम्ब क्यों हो? अष्टावक्रने प्रच्छन्न अनुग्रहकी सूचना दे

दी—'जिस दिन कोटिकन्दर्पलावण्य श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हारी उदरदरीमें प्रवेश करेंगे, उस दिन तुम्हारी सर्पयोनि छूट जायगी ।'

कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीकृष्णस्तु तवोदरे।
यदा गच्छेत् सर्परूपात्तदा मुक्तिर्भविष्यति॥

इस प्रकार शङ्खासुर-पुत्रके सर्पकलेवरका आरम्भ हुआ। पर आगे चलकर किसी अचिन्त्य कारणवश पुनः उसमें असुरोंकी मायाशक्ति जाग्रत् हो उठी, यथेच्छ रूप धारण करनेकी क्षमता आ गयी और अघ दैत्यके रूपमें वह कंसका विशिष्ट परिकर बना। अवश्य ही सर्पाभिनिवेश उसमें निरन्तर जाग्रत् रहा। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं; अतीतकी घटनाको वह सर्वथा भूल चुका था। मुनिके शापकी, वरदानकी उसे विस्मृति हो गयी थी। नामके अनुरूप ही चेष्टाशील होकर वह अघासुर अपने पापोंका घड़ा भर रहा था। और अन्तमें तो अपने त्राताको ही सदलबल वह मुखका ग्रास बना बैठा। फिर भी परिणाम जितना सुन्दर हुआ, उसका तो कहना ही क्या है—

मुनि दुर्लभ गति दीन, प्रभु परसै कौ फल मिल्यौ।

मुनिकी बात मिथ्या होनेकी ही नहीं थी। सत्य होकर ही रही। अस्तु,

जब श्रीकृष्णचन्द्र अघासुरके मुखसे बाहर निकल आये, फिर तो देववर्गके आनन्दका क्या कहना है! अपना इतना महान् कार्य करनेवाले—अघ-जैसे दैत्यका विनाश कर अभयदान देनेवालेके प्रति उन अन्तरिक्षवासियोंका हृदय न्यौछावर हो गया। उनके अन्तरका भाव-प्रवाह विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होने लगा। आनन्दविह्वल हुए देववृन्दने नन्दनकाननके अतिशय सुरभित कुसुमोंकी अञ्जलि भर-भरकर अजस्र सुमन-वृष्टि आरम्भ की। अप्सराएँ छम-छम करती नृत्य करने लगीं। गन्धर्वोंके सुमधुर कण्ठकी स्वरलहरी, विद्याधरोंके वाद्ययन्त्रकी मनोहारिणी झङ्कृति सर्वत्र परिव्याप्त हो उठी। विप्रकुलका भक्तिपूरित स्तवन, भगवत्पार्षदोंका 'जय-जय' निनाद गगनके कण-कणको मुखरित करने लगा। जिनके पास जो वस्तु थी, जो कला थी, उसकी भेंट समर्पित कर वे श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने लगे—

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३४)

लखि प्रभु चरित देव हरषाने।
बरषि सुमन हिय अति सुख माने॥
गान करहिं गंधर्व प्रवीने।
अप्सर करहिं नृत्य रस भीने॥
बिबिध भाँति के बजे बधाए।
द्विजवर करत बिनय मन लाए॥
शंख शब्द जय शब्द अनेका।
दुंदुभि सुबर एक तें एका॥

भेरीका 'भम् भम्' रव, पटहपर निरन्तर आघात-जनित घोर शब्द, डिण्डिमका अति प्रचण्ड घोष, अविरल दुन्दुभिनाद, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर प्रभृतिका सम्मिलित गान, ऋषियोंका स्तोत्रपाठ—ये सभी परस्पर ऐसे मिल गये कि कुछ क्षण तो देवसमुदायकी श्रोत्रशक्ति अन्य किसी भी शब्दको ग्रहण करनेमें सर्वथा कुण्ठित हो गयी—

भेरीभाङ्काररावैः पटुपटहघनाघातसंघातघोरै-
रुच्चण्डैर्डिण्डिमानां ध्वनिभिरविरलैर्दुन्दुभीनां प्रणादैः।
गानैर्गन्धर्वविद्याधरतुरगमुखप्रेयसीनां मुनीनां
स्तोत्रैःशब्दान्तरेपु क्षणमिव बधिराःस्वर्गिणस्ते बभूवुः॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

सचमुच अमरनगरी मानो इस प्रमोद-प्रवाहमें निमग्न होकर मत्त हो उठी—

मत्तेवासीदमरनगरी सागरीयप्रमोदैः।

अमरावतीका यह आनन्दोच्छ्वास जनलोक, महर्लोक, तपोलोकको मुखरित करते हुए सत्यलोकको

स्पर्श करने लगा। जगत्स्रष्टा पितामहकी सृजन-समाधि टूटी। आठों कर्णरन्ध्र देवोंके इस तुमुल आनन्द-कोलाहलसे पूर्ण हो उठे। पितामहके आश्चर्यका पार नहीं। अकस्मात् विबुधवृन्दकी इस आनन्दद्युतिके कारणका अनुसन्धान पानेके लिये वे चञ्चल हो उठे। परम अद्भुत स्तव-पाठ, सुमनोहर वाद्यवादन, रमणीय सङ्गीत-स्वर, जय-जयका विपुल नाद—इन सबसे सब ओर संपुटित महामहोत्सव एवं मङ्गलध्वनि, तथा यह भी अपने धामके अत्यन्त सन्निकट देशमें ही हो—फिर पद्मयोनि स्थिर कैसे बैठे रहें? वे तुरंत वहाँसे नीचे उतर आये, सबसे अलक्षित रहकर ही नीचे उतरे। पर आ पहुँचे वहीं, उसी आकाशमें, जहाँ—जिसके अञ्चलमें वृन्दाविपिनविहारीके अघासुर-उद्धारका कौतुक अभी-अभी सम्पन्न हो चुका है। आते ही स्रष्टाको कारण ज्ञात हो जाता है तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी ऐसी महिमा प्रत्यक्ष निहारकर उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती—

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद्
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३५)

अत्यन्त कलुषपूर्ण महाघृणित जीवन, एकमात्र परपीड़नका ही व्रत निभानेवाले अघासुरको ऐसी योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ गति मिली! क्षणोंमें ही तो उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु श्रीचरणोंका स्पर्श प्राप्त हो गया, समस्त कल्मषराशि ध्वस्त हो गयी और अभक्तोंके लिये सुदुर्लभ सौभाग्य—भगवत्सारूप्य गतिकी प्राप्ति हो गयी! किसे विस्मय नहीं होगा? पर वास्तवमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं। जो सर्वस्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वावतारावतारी हैं, उन स्वयं भगवान् नरबालकलील श्रीकृष्णचन्द्रके लिये ऐसी अयाचित कृपाका दान सर्वथा सम्भव है—

नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः ।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३८)

जिनके श्रीविग्रहकी मानस-प्रतिमाको ही केवल एक बार क्षणकालमात्रके लिये हृदयमें धारण कर लेनेके कारण न जाने कितनोंको परमभक्तजनोचित गतिकी प्राप्ति हो चुकी है, जिनकी मानसिक मूर्तिमें अपनी भावनासे कल्पित, ध्यानपथमें क्षणमात्रके लिये उतरी हुई प्रतिकृतिमें ही ऐसी सुदुर्लभ गति दे देनेकी सामर्थ्य है, वे श्रीकृष्णचन्द्र, नित्यसिद्ध परमानन्दघनविग्रह व्रजेन्द्र-नन्दन, स्वरूपानन्दास्वादनपरायण मायातीत श्रीहरि जब स्वयं उस अघासुरके मुखविवरमें प्रविष्ट हो गये, तब फिर अवशिष्ट ही क्या रहा? स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रको ही मुखमें धारण करनेवाले अघको यदि ऐसी परम सुन्दर गति मिले तो इसमें क्या आश्चर्य है? कुछ भी विचित्रता नहीं—

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३९)

जो अखिलेस परावर स्वामी । सकल नियंता अंतरजामी ॥
माया मनुज तोक तनु धारी । कर्‍यो कर्म निज जन हितकारी ॥
नहि आचरज मानियहु कबहू । भयो अघासुर पावन अजहू ॥
महा अघी पाँवर सब भाँती । परसि अंग लहि सुगति सुहाती ॥
प्रतिमा जासु मनोमइ कोऊ । ध्यान करै कैसो किन होऊ ॥
लहै सुगति सो बिनहि प्रयासा । कंचन बपु सुत से अनयासा ॥
सदा नित्य सुख प्रभु भगवंता । सो प्रख्यात तोक श्रीकंता ॥
तासु अंग परसत भा पावन । महा अघी यह देव सतावन ॥
तौ आचरज कहा एहि माहीं । नाम लेत अघ कोटि नसाहीं ॥

और तो क्या, अघका वह महामलिन शरीर भी व्रजराजनन्दनकी सेवाका उपकरण बना। ऋषि-महर्षि केवल क्षणभरके लिये ध्यानपथमें ही जिनकी चरणरज-कणिकाका स्पर्श पानेके लिये लालायित रहते हैं, वे

श्रीकृष्णचन्द्र अघके उस सर्पकलेवरमें बहुत दिनोंतक सखाओंके साथ क्रीड़ा करते रहे, श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणप्रिय सखाओंके खेलनेके लिये वह सर्प-शरीर शुष्क होकर गुफा-सा बन गया, वृन्दावनमें उन शिशुओंको विहारके उपयुक्त मानो एक परम सुन्दर अद्भुत गिरि-कन्दरा प्राप्त हो गयी—

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम्॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३६)

हे नृप अजगर चर्म सुखाना। व्रज बालन कहँ खेल सुथाना॥
क्रीडा हेतु महा बिल मानी। खेलहि बालक अति सुख मानी॥

किंतु सर्पगुफाकी क्रीड़ा आज अभी आरम्भ नहीं हुई। यह तो आजसे एक वर्षके अनन्तर प्रारम्भ होगी। ऐसी क्रीड़ा तभी सम्भव है जब श्रीकृष्णचन्द्रके सखा उनके साथमें हों। पर सखामण्डली तो आज अभी कुछ घड़ीके अनन्तर ही ठीक एक वर्षके लिये विश्राम करेगी, वर्षव्यापी निद्रासुखका अनुभव करने जायगी, सदाकी भाँति आज सन्ध्या-समय शिशुओंका व्रजप्रवेश नहीं होगा, अघासुर-उद्धारकी इतनी बड़ी घटनाकी गन्धतक किसी भी व्रजगोप. गोपसुन्दरीको एक वर्षके लिये न मिलेगी। गोपशिशु श्रीकृष्णचन्द्रकी इस कौमारलीला—अघमोक्षणकी चर्चा व्रजमें करेंगे अवश्य, पर करेंगे उस समय जब बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्ण-चन्द्रकी आयुका पौगण्ड आयेगा। आजकी घटित घटनाको वे सब एक वर्षके पश्चात् व्रजमें जाकर सुनायेंगे; और ऐसे सुनायेंगे मानो उस दिन ही अभी-अभी अघका विनाश हुआ हो, आज ही अघको सदाके लिये विदा कर वे सब सन्ध्यासमय व्रज लौटे हों; इतनी नवीन घटना हो—

एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३७)

यह कुमार वय कृत हरि करमा। अहि मोचन रक्षन जन धरमा॥
कृत कुमार वय कर्म सब अहि मोचन प्रभु कीन।
सो पौगंड विषे कह्यो लरिकन्ह अबहि नवीन॥

इसी एक वर्षमें—श्रीकृष्णचन्द्रके कौमार-पौगण्डके मध्यकालमें विश्वको चमत्कृत कर देनेवाली ब्रह्ममोहन-लीला होगी। और अब उसीकी प्रस्तावना करने श्रीकृष्णचन्द्र तरणितनया श्रीयमुनाके प्रवाहकी ओर चल पड़ते हैं। इसी समय श्रीकृष्णचन्द्रके स्तवनसे—ऐश्वर्य-कीर्तनसे अपने आपको कृतार्थ कर लेनेके लिये गिराधिदेवी गोपशिशुओंके कण्ठका आश्रय ग्रहण करती हैं, अपनी अमित शक्ति वहाँ भर देती हैं। पर शिशुओं-के अन्तस्तलसे अनर्गल प्रवाहित सख्यरसकी प्रबल धारामें सुरसुन्दरीके भाव कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। वे सब तो अपनी धुनमें अपने भावसे अपने कोटि-कोटि प्राणप्रतिम सखा कन्हैया भैयाके बल-वीर्यकी प्रशंसा करना चाहते हैं, कर रहे हैं, करते अघाते नहीं और सरस्वती उनके गीति-प्रवाहमें श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य बिखेरने लगती हैं। इसीलिये रह-रहकर बालकों-के मुखसे रससिक्त ऐश्वर्यकणके कुछ छींटे भी गिर ही जाते हैं। शिशु ही तो ठहरे। वे सब कितनी बार देख चुके हैं, जननी यशोदाके समक्ष उनकी माताएँ किस भाँति उनके नीलमणिकी प्रशंसा करती हैं। उस प्रणालीका अनुकरण तो इनके लिये स्वाभाविक है, वे करेंगे ही। और वहीं हंसवाहिनीको अवकाश भी मिल ही जाता है। जो हो, परमानन्दमें विभोर, श्रीयमुनाकी ओर अग्रसर होते हुए बालक अपने कन्हैया भैयाकी कीर्ति परस्पर एक दूसरेको सुना रहे हैं—

धन्य कान्ह, धनि नंद, धन्य जसुमति महतारी।
धन्य लियौ अवतार, कोखि धनि जहँ दैतारी॥
गिरि-समान तन अगम अति, पन्नगकी अनुहारि।
हम देखत पल एक मैं मार्‍यौ दनुज प्रचारि॥

और श्रीकृष्णचन्द्र? ओह! जय हो लीलामयकी लीलाकी! वे तो अघासुर-विजयका सम्पूर्ण श्रेय अपने सखाओंको ही देते जा रहे हैं—

हरि हँसि बोले बैन, संग जौ तुम नहिं होते?
तुम सब कियौ सहाइ, भयौ तब कारज मोंते॥

सुख किस ओर ?

(लेखक—श्रीब्रह्मानन्दजी)

संसारमें जितने भी भौतिक पदार्थ मनुष्यको उसके उपयोगके लिये मिले हैं, उनकी एक परिमित मात्रा ही उसे अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये काममें लानी है। यदि किसीके पास अपनी आवश्यकताओंसे अधिक जमा हो जाय तो उसे वहाँ लगा देना चाहिये, जहाँ उसकी कमी हो, जहाँ उसकी आवश्यकता हो; क्योंकि सारा मनुष्य-परिवार तो एक ही है। किसीकी आवश्यकता-को पूरा करनेके लिये उस वस्तुको लगा देना वास्तवमें अपनेको ही देना है। हमारा आत्मा हमारे ही व्यक्तिगत शरीर और हमारे ही परिवारतक सीमित नहीं है; बल्कि सारा जगत् उसका विराट्-शरीर है। अतएव किसी 'और' को देना वास्तवमें अपनेको ही देना है। यही हमारे पास अपनी साधारण आवश्यकताओंसे अधिक एकत्रित हुई वस्तुओंका सदुपयोग है।

औरोंको भी यदि हम अपने ही समझते हुए उनके सुख-दुःखमें भाग लेते हैं तथा अपने तन, मन, धनसे आवश्यकतानुसार उनकी सहायता करते हैं तो हम अपनेको ही विस्तीर्ण करते हैं—फैलाते हैं, सीमासे असीमकी ओर प्रगति करते हैं; पञ्चभूतोंकी बनी इस साढ़े तीन हाथकी काल-कोठरीके कैदखानेसे अपनेको मुक्त कर उस असीम साम्राज्यके मालिक बन जाते हैं जिसमें सबको ध्वंस करनेवाला बली काल भी सदाके लिये समा जाता है। अपनेको मिली हुई वस्तुओंका सर्वात्मभावपूर्वक इस प्रकार सदुपयोग करना ही परम आनन्दके, परम शान्तिके, सच्चे सुखके उस अखण्ड और एकच्छत्र साम्राज्यको जीत लेनेका सनातन रहस्य है।

पर इसके विपरीत यदि हम अपने ही पास वस्तुओंका संग्रह (यहाँतक कि अनीति-अन्यायसे भी) करते जाते हैं तो हम अपना ही दम घोंटनेवाली सीमा बाँधते जाते हैं, लोहेके सींखचोंमें अपनेको ही जकड़ते हुए स्वयं अपने ही हाथों अपनी हत्या कर डालते हैं। सुख-शान्ति ढूँढ़ने जाकर दुःख तथा अशान्तिके अतल गर्तमें गिर पड़ते हैं। यही है महामोहका निश्चित परिणाम! अवश्य मिलनेवाला अन्तिम फल!

आखिर हम ऐसा करते ही क्यों हैं? वह कौन-सी भावना है जो इस अनर्थके मूलमें काम करती है? अपने पास आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंको संग्रह करनेका एक कारण तो यह है कि हम समझते हैं कि हमारे आसपासके अभावग्रस्त निर्धनलोग हमें धनी समझेंगे, बाबूजी कहेंगे, हमारा सत्कार करेंगे, समाजमें हम प्रतिष्ठित समझे जायँगे और हमारा झूठ भी सत्यके भाव बिकने लगेगा! पर जरा हम विचार करके देखें तो हम इस प्रकार सर्वनाशके मूल अहङ्कारको ही बढ़ावा दे रहे हैं। सबके साथ घुल-मिल जानेके, सबके साथ एकीभूत हो जानेके सर्वव्यापक, अनन्त और असीम हो जानेके विलक्षण सुखको पानेके बजाय सब ओरसे अपनेको समेटकर सबसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर क्रमशः अपनेको सङ्कुचित करते हुए हम दुःखोंका ही आवाहन करते हैं! अहंता-ममताका यह भूत हमारे ऊपर सवार होकर हमें प्रकाशसे अन्धकारकी ओर, जीवनसे मृत्युकी ओर, आनन्दसे दुःखकी ओर तथा मुक्तिसे बन्धनकी ओर ले जाता है! जो सबके साथ एकत्व स्थापित करता है; सर्वात्मभावसे प्रेरित होकर सबका अपना बनना चाहता है वह अपना आधार विस्तृत करता जाता है। विस्तृत आधारपर ठहरी हुई कोई चीज गिरती नहीं। पर जो अपनेको औरोंसे समेटते हुए, सिकोड़ते हुए, अलग करते हुए, अपने आधारको घटाते-घटाते एक बिन्दु (Point) मात्र कर डालता है वह आवश्यक, अनावश्यक पदार्थोंके संग्रहसे पोषण पाये हुए अपने अहंरूपी सिरके भारी हो जानेके कारण गिर पड़ता है। इस प्रकार बोझल चोटी (Top.heavy) हो जानेसे यही परिणाम हो सकता है।

हमें इस बातका या तो ज्ञान ही नहीं होता या हम इसे जाननेके कष्टसे बचना चाहते हैं कि जिन अभाव-ग्रस्त निर्धन लोगोंमें (जिनको निर्धन बनानेका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कारण हम भी हैं) बड़े कहलाकर हम पूजा-प्रतिष्ठा चाहते हैं, उनमें बहुत-से तो ऊपरसे भले ही हमारा सम्मान करते हुए प्रतीत हों पर उनके अंदर हमारे प्रति विद्वेषकी अग्नि सुलग रही होती है ! हम उनकी सहानुभूति खो बैठते हैं ! यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है ! बिना एक दूसरेकी सहानुभूतिके कोई किसी बातमें कितना ही बड़ा क्यों न हो, दीर्घकालतक सुखी नहीं रह सकता। हम उनकी सहानुभूति ही नहीं खो बैठते, बल्कि अवसर मिलते ही उनमेंसे बहुत-से तो हमें भूमिसात् कर देनेके लिये, मिटा देनेके लिये तैयार हो जाते हैं ! इस प्रकार हम धनके साथ-साथ अपने शत्रु भी पैदा करते जाते हैं जिनके कारण हमें रात-दिन भयभीत रहना पड़ता है ! धनिकोंके तो अपने ही घरके लोग अपने नहीं होते। उनके साथ उनके घरके लोगोंका जो प्रेम और सहानुभूति होती है, उसकी बुनियाद गहरी नहीं होती. ऐसा प्रायः देखनेमें आता है। ऐसे अभागे लोग क्या सच्चे सुखकी गोदमें बैठ सकते हैं?

दूसरा कारण अपने पास औरोंकी अपेक्षा अधिक संग्रह करनेका यह हुआ करता है कि हम इन्द्रिय-भोगोंको ही एकमात्र सुखका हेतु समझकर उन्हें बटोरने लगते हैं। कुछ लोगोंपर तो बटोरनेका यह भूत इस हदतक सवार हो जाता है कि उन्हें नीति-अनीतिसे बटोरे हुए इन भोगोंके एक अल्प अंशको भी भोगनेकी फुरसत नहीं ! उन्हें खाने-सोनेतककी भी फुरसत नहीं होती ! अपने प्रेमीजनोंसे (यदि कोई सच्चा प्रेमी हुआ तो) मिलनेका अवकाश नहीं मिलता। सत्सङ्ग-स्वाध्यायकी तो बात ही दूर रही। वे तो तृष्णाकी अग्निमें जलते हुए बटोरते ही जाते हैं ! तृष्णाकी इस अग्निने मनकी शान्ति (Peace of mind) को तो जला ही डाला, इसके साथ-साथ भोग भोगनेवाले इस शरीरपर भी इसका घातक प्रभाव पड़ता है।

और यदि किसीने भोगको ही अपने जीवनका लक्ष्य बनाया तो उसकी भी एक हद होती है। हदसे अधिक करनेपर भोग भोगनेकी क्षमता ही नष्ट हो जाती है। इन्द्रियाँ निर्बल और निस्तेज हो जाती हैं; मन बेकाबू हो जाता है; बुद्धिका नाश हो जाता है; शरीर नाना प्रकारके भयङ्कर रोगोंका शिकार बन जाता है। सुखके लिये तरसते-तरसते सुखकी वासना लेकर समयसे पहले ही कालका ग्रास बन जाना पड़ता है। और यदि ऐसा होनेसे पहले ही दैव-विधानसे हमारा धन, हमारे सुखके साधन हमसे छिन जाते हैं तो अकस्मात् हमारे ऊपर वज्र-सा टूट पड़ता है ! इस प्रकार सब तरहसे सुखके बदले दुःख ही पल्ले पड़ता है। जो सुख अपनेको पहले मिला था, वह भी हम खो बैठते हैं ! पर इसके स्थानपर यदि हम अपनी आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंको औरोंकी आवश्यकताओंको पूरा करनेमें लगा दें तो हमारा हृदय उदार होकर हमें अपने अंदरके अक्षय सुखके खजानेका पता लग जाय; उनके प्रेम और सहानुभूतिको पाकर हम सुखसे रहने लगें और भोगोंमें अति न कर सादा जीवन बितानेसे हमारा स्वास्थ्य भी बना रहे। जिस सुखको हम भोगोंकी प्रचुरतासे प्राप्त करनेकी आशा करते हैं वह तो हमें औरोंके साथ अपने खोये हुए सम्बन्धको पुनः स्थापित करनेसे अनायास ही मिलने लगता है। इस सत्यको हमें देर-सबेर जानना ही होगा। यदि हम ऐसा न करके औरोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करते हुए विपरीत दिशामें जाने लगें तो सारे विश्वको एक सूत्रमें ग्रथित करनेवाले विश्वनियन्ता भगवान्की विश्वशक्तिका कठोर आघात हमारी घोर मोह-निद्राको भंग कर देगा और हमें नतमस्तक होकर उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा ! मेरे पास-पड़ोसके लोग कठिन परिश्रम करनेपर भी जीवनकी मौलिक आवश्यकताओंको

पूरा न कर सकें और मैं आवश्यक-अनावश्यक पदार्थोंके प्रचुर संग्रहमें ही अपना सुख समझूँ, यह विषम स्थिति भला कबतक रह सकती है ? परस्पर आदान-प्रदानसे ही जगत्का व्यवहार—जगच्चक्र चला करता है। मैं केवल लेने-ही-लेनेका व्यापार करूँ और किसी-न-किसी रूपमें भी देना अपना कर्तव्य न समझूँ, अपने ही परम हितका साधन न समझूँ तो मेरे सुख-स्वप्नको कठोरतापूर्वक भी नष्ट करके मुझे ठीक रास्तेपर लानेवाली विश्वकी ओटमें काम कर रही विश्वात्माकी वह प्रचण्ड शक्ति किसी भी प्रकार भुलायी नहीं जा सकती ! वह अपना काम करके ही रहेगी।

येन सर्वमिदं ततम्

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चटर्जी)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके मुखकमलसे निकले हुए जितने महावाक्य हैं उनमें 'येन सर्वमिदं ततम्' अन्यतम है। ये शब्द सहज और सरल हैं। इनका अर्थ भी सरल है—येन=जिसके द्वारा; इदम्=यह; सर्वम्=सम्पूर्ण (जगत्); ततम्=व्याप्त है। अतः इस वाक्यका अर्थ हुआ—'जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।'

अब इस सरल अर्थपर यह प्रश्न होता है कि किसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ? सम्पूर्ण जगत्को जो व्याप्त किये हुए है वह कौन है ? कैसे उसका अनुसन्धान किया जाय ? उसको कौन जानता है ? इन प्रश्नोंका उत्तर सरल नहीं दिखायी देता। यदि यह भलीभाँति ज्ञान हो जाय कि वह कौन है, तो जिज्ञासु मनुष्यकी अधिकांश शंकाएँ सहज ही दूर हो जायँ। उसका पता लगानेके लिये हमें श्रीगीताका ही आश्रय लेना है और प्रति अध्यायमें इन शब्दोंका अन्वेषण कर उनपर ध्यानपूर्वक विचार करना है।

इनका प्रथम प्रयोग हुआ है द्वितीय अध्यायमें। इस अध्यायके १७ वें श्लोकमें श्रीभगवान् भक्त अर्जुनसे कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

'उसको तू 'अविनाशी' जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस अविनाशीका कोई भी नाश नहीं कर सकता।'

तो यहाँ यह ज्ञात हुआ कि सम्पूर्ण जगत्को जो परिव्याप्त किये हुए है वह नाशरहित है; भूत, भविष्य, वर्तमान—कोई काल ऐसा नहीं है जब कि वह न हो, अर्थात् वह कालातीत है; परंतु श्रीमन् मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—

विनाशो देशतः कालतो वस्तुतेन वा परिच्छेदः, सोऽस्य अस्तीति विनाशि परिच्छिन्नं, तद्विलक्षणम् 'अविनाशि', सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यम्।

भावार्थ यह कि 'जो देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है, सीमित नहीं है, वह 'अविनाशी' है, केवल नाशरहित कहना पर्याप्त नहीं।'

यहाँसे आगे बढ़कर अष्टम अध्यायके २२ वें श्लोकमें मिलता है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

श्रीभगवान् कहते हैं,—'हे अर्जुन ! जिसके अन्तर्गत सब भूत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्य है।' इस श्लोकसे जिसको हम ढूँढ़ रहे हैं उसका इतना परिचय मिला कि वह (१) परम पुरुष है; (२) सब भूत उसके अन्तर्गत हैं; (३) उसीसे जगत् व्याप्त है और (४) वह भक्तिसे प्राप्य है। तात्पर्य यह कि जिससे ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है वही परमात्मा है और वही सब भूतोंका कारण है, क्योंकि सब उसीमें अवस्थित हैं; कार्यमात्र कारणके ही अन्तर्गत होता है। और अनन्य भक्तिसे—जिस भक्तिका दूसरा कोई विषय नहीं है—वह परम पुरुष प्राप्य है।

इसी यात्रामें अध्याय ९ श्लोक ४ में श्रीभगवान्की वाणी यों सुननेमें आती है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

'अपने अतीन्द्रिय स्वरूपद्वारा मैं समग्र चराचरको

व्याप्त किये हुए हूँ; स्थावर-जङ्गम समस्त भूत मुझमें स्थित हैं, परंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ।'

यहाँ दो बातोंपर ध्यान देना है । प्रथम यह कि यहाँ भगवान्ने 'प्रथम पुरुष' छोड़कर 'उत्तम पुरुष'का व्यवहार किया है और कहते हैं कि मेरेद्वारा सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है । यहाँ 'जिसके द्वारा' ऐसा नहीं कहते हैं । सुतरां यह निश्चय है कि श्रीकृष्ण वासुदेव ही सब जगत्को परिपूर्ण किये हुए हैं । दूसरी बात यह जो श्रीमधुसूदन सरस्वती अपनी टीकामें लिखते हैं—

त्वया वासुदेवेन परिच्छिन्नेन सर्वं जगत् कथं व्याप्तं प्रत्यक्षविरोधादिति नेत्याह—अव्यक्ता सर्वकरणागोचरीभूता स्वप्रकाशाद्वयचैतन्यसदानन्दरूपा मूर्तिर्यस्य तेन मया व्याप्तमिदं सर्वं न त्वनेन देहेनेत्यर्थः ।

अर्थात् 'आप वासुदेव परिच्छिन्न जीव हैं; आपसे सब जगत् कैसे परिव्याप्त हो सकता है ? यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।' इस प्रश्नके उत्तर जैसे भगवान् कहते हैं—'अव्यक्तमूर्तिना'—अर्थात् सब इन्द्रियोंके अगोचर, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, चैतन्य और सदानन्दस्वरूप जो मेरी मूर्ति है, उस मूर्तिसे मैंने जगत् व्याप्त कर रक्खा है, मेरी इस व्यक्त मूर्तिसे नहीं ।' अतः लेखके प्रारम्भमें जो प्रश्न किया गया था—'जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है वह कौन है ?' उसके उत्तरमें स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं अविनाशी, परम पुरुष अपनी अव्यक्त मूर्तिसे समग्र ब्रह्माण्डको व्याप्त करके विद्यमान हूँ और समग्र भूत मुझमें स्थित हैं ।'

इसी तथ्यका भगवान्ने अध्याय १३ श्लोक १३ मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । ज्ञेय पदार्थका विषय अर्जुनको समझाते हुए वे कहते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

'वह (आत्मा) सब ओर, हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर, मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है तथा समस्त संसारको व्याप्त कर स्थित है ।' एक महात्मा इस श्लोकपर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति जितने प्रकार प्राणी हैं, उनके हस्त, पद, नयन, मस्तक, मुख और श्रवणादि इन्द्रियगण जो सचेतन भावसे अपनी-अपनी क्रियाएँ करते हैं, इसका कारण वे ही हैं, वे ही यह देह-इन्द्रियादि एवं समस्त जगत्में अनुस्यूत भावसे अवस्थित हैं । लोहा जैसे अग्निका संयोग पाकर प्रज्वलित भावसे प्रकाशित होता है, तुमलोगोंके मन, बुद्धि और इन्द्रियगण भी उसी प्रकार उनके साथ लिपटे रहनेके कारण भीतर-ही-भीतर प्रकाश पाते हैं—चेतन होते हैं—और चेतन होकर नियमित भावसे अपना-अपना कार्य निष्पन्न करते हैं । कहना यह है कि जगदीश्वर न केवल सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त किये हुए हैं, परंतु अन्तर्यामीरूपसे *जीव और जडके अन्तर रहकर सबको नियन्त्रित भी करते हैं ।*

(२)

अब हमारे प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके *शरणागत शिष्य अर्जुनके वाक्योंमें* हमको जो प्रकाश प्राप्त होता है उसपर विचार करना है । एकादश अध्यायके ३६ से ४० श्लोकोंमें अर्जुनने भगवान्की महिमामे एक अति उच्चस्तरके स्तोत्रका पाठ किया । इसीको 'विष्णुपञ्जर-मन्त्र' भी कहते हैं । उसमें हमको सबसे पहले ये शब्द मिलते हैं—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

अर्जुन कहते हैं—हे अनन्तरूप ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आधार हैं, आप ज्ञाता और ज्ञेय हैं, आप परमधाम हैं और यह जगत् आपसे व्याप्त है ।

४० वें श्लोकमें अर्जुन पुनः कहते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

'हे सर्वात्मन् ! मैं आपको सम्मुखसे, पश्चात् भागसे और सब ओरसे नमस्कार करता हूँ; हे अनन्त पराक्रमशाली ! आप यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप सर्वस्वरूप हैं ।'

यहाँ शब्द कुछ भिन्न हैं, परंतु मर्म वही है—जगत् आपसे व्याप्त है । उसके साथ अब यह भाव युक्त हुआ है कि वे ही सर्वस्वरूप हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इस वाक्यको कठोपनिषद्मे वर्णित तत्त्वका दिग्दर्शन कहें तो अप्रासंगिक न होगा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ० २ । २ । ९-१०)

अर्थात् 'जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट एक ही अग्नि और एक ही वायु नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, वैसे ही सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपोंमें उन्हींके-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी वही स्थित है।'

(३)

हमारे प्रश्नोंके उत्तरमें एक बार और श्रद्धा भक्तिसहित भगवान् श्रीकृष्णके एक गहन महावाक्यको सुनकर इस लेखका उपसंहार किया जायगा। अध्याय १८, श्लोक ४६ में भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उसको अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।'

अबतक तो जगत् परिव्याप्त करनेवालेका पता लगाया जाता था, अब उसके साथ यह समस्या उपस्थित है कि जगत्की उत्पत्ति करनेवाला कौन है? दोनों क्रियाओंका एक ही कर्ता है या भिन्न भिन्न? भगवान्ने जब एकवचन प्रयोग करके कहा कि 'उसको' पूजकर, तो यह सिद्धान्त निश्चय है कि दोनों कार्योंका कर्ता एक ही है। एक ओर वे अपने कार्यके कर्ता हैं—सृष्टिकी रचना करते हैं और उसमें अनुप्रविष्ट होकर अधिष्ठान करते हैं; और दूसरी ओर वे ही हमारे कार्यके फलदाता हैं। यदि हम अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुयायी कर्मोंके द्वारा उनकी उपासना करें तो हमारे कर्मोंका फल वे ही प्रदान करेंगे। इन बातोंके विश्लेषणसे यह ज्ञात होता है कि यह श्लोक श्रीगीतारत्न-भण्डारकी कुंजी है। ध्यानपूर्वक इसकी पुनः पुनः आवृत्ति करनेसे इसके गम्भीरतम भावोंके चिन्तन और मननसे और इसके मार्मिक अर्थोंके ग्रहणसे, गीताशास्त्रका मूल उद्देश्य उद्घाटित हो सकता है। अतएव इस श्लोकके पदोंका पृथक् पृथक् अध्ययन करना चाहिये जिससे सारा गूढ़ रहस्य स्पष्ट हो जाय।

यहाँपर श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी विचारधारापर अवश्य ध्यान देना चाहिये। उन्होंने लिखा है—

यतो मायोपाधिकचैतन्यानन्दघनात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानान्निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयीस्वप्नरथादीनामिव भूतानां भवनधर्मकानामाकाशादीनां येन चैकेन सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वमिदं दृश्यजातं त्रिष्वपि कालेषु ततं व्याप्तं स्वात्मन्येवान्तर्भावितं कल्पितस्याधिष्ठानातिरेकात्। तमन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादादैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दति मानवः देवादिस्तूपासनामात्रेणेति भावः।

अर्थात्—यतः=जिससे अर्थात् मायोपाधिक चैतन्यानन्दस्वरूप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत्का उपादान और निमित्त कारणस्वरूप जिस अन्तर्यामीसे; भूतानाम्=भवन-धर्मक अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील आकाशादिकी; प्रवृत्तिः=स्वप्नकालमें रथादिकी तरह मायामयी उत्पत्ति होती है; येन=सत्स्वरूप और स्फुरणस्वरूप जिसके द्वारा; सर्वम् इदम्=यह सम्पूर्ण दृश्यपदार्थसमूह; ततम्=भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें परिव्याप्त हैं अर्थात् जिसके स्वरूपमें ही यह सब अन्तःस्थित है, जिसके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है, क्योंकि कल्पित पदार्थ भी अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं है। 'यतः' और 'येन' कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे जगत् कारणका उपादानभाव और निमित्तभाव दोनों व्यक्त हुए हैं, वैसे ही उसका एकत्व भाव भी प्रकट हुआ है। तम्=उस अन्तर्यामी भगवान्को; स्वकर्मणा=प्रत्येक वर्णाश्रमके लिये जो स्वतन्त्र भावसे कर्म नियत हैं उनके द्वारा; अभ्यर्च्य=पूजकर, उनके प्रसादसे; सिद्धिम्=एकात्मज्ञाननिष्ठाकी योग्यता जो सिद्धि है जिसको अन्तःकरणकी शुद्धि कहते हैं उसको; विन्दति=लाभ करता है; मानवः=मनुष्य; मनुष्य ही इस तरह (स्व स्व अधिकारानुरूप कर्मके द्वारा ईश्वरकी पूजाके प्रसादसे चित्तशुद्धि प्राप्तकर) उसको लाभ करता है, परन्तु देवता प्रभृति केवल उपासनाके द्वारा ही उसे प्राप्त करते हैं; 'मानवः' प्रयोग करनेका यही अभिप्राय है।

सारांश यह है कि मायाधीश अपनी मायासे जगत्-प्रपञ्च रचकर उसमें अनुप्रविष्टपूर्वक विराजते हैं। वे ही जगत्स्रष्टा परमेश्वर परमात्मा हैं; वे ही हमारे उपास्य देवता हैं। उनकी उपासनासे हमें अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा ही उनकी अर्चना शास्त्रविहित विधि है। अवश्य ही ये कर्म निष्काम हैं जो कि श्रीगीताका प्रतिपाद्य विषय है।

इस श्लोकमें जिस सिद्धिकी आशा भगवान् दे रहे हैं, वह 'अपरा' सिद्धि है। इसकी प्राप्तिका फल ४९वें श्लोकमें वर्णित है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

व्याख्या—जो कर्मफलादिमें वा पुत्र-कलत्रमें आसक्त न हो, जिसने विषयसे प्रत्याहार किये हुए अन्तःकरणको वशमें कर लिया हो, जो देह, जीवन वा भोग्य पदार्थोंमें कामना-वासना न रखता हो, जिसका काम्यकर्म पूर्णतया त्याग हो गया हो (इसीको भगवान्‌ने अध्याय १८ के आरम्भमें 'संन्यास' कहा है), वह विचारपूर्वक सम्पादन किये हुए ब्रह्म विषयका ज्ञानरूप नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त करता है।

यह 'परा' सिद्धि है और यहाँ इसकी केवल प्राथमिक अवस्थाका निर्देश है। इसके उपरान्त जिस तपस्यासे नैष्कर्म्य-लब्ध पुरुष परम पद प्राप्त होता है, उसका भगवान्‌ने क्रमसे वर्णन किया है। यथा—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(१८ । ५०—५५)

इन श्लोकोंका यथार्थ अर्थ तो वही जानते हैं जिन्होंने इनपर यत्नशील होकर आचरण किया हो। गीता योगशास्त्र है। ये श्लोक उस शास्त्रके योगसूत्र हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है कि योगयुक्त होनेके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ।'
(योग० १ । १४)

'वह अभ्यास दीर्घकाल, निरन्तर श्रद्धासहित करते-करते क्रमशः दृढ़भूमिमें स्थित होता है।' उसी प्रकार जो साधक इन श्लोकोंपर निरन्तर श्रद्धासहित आचरण करता है, उसको पहले परा भक्ति प्राप्त होती है। परा भक्तिसे तत्क्षण तत्त्वज्ञान प्रस्फुटित होता है और तत्त्वज्ञान होते ही वह उस अनिर्वचनीय ब्रह्मतत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है—

येन सर्वमिदं ततम् ।

(४)

अन्तमे योगिराज श्रीअरविन्दने इस श्लोक (१८ । ४६) की व्याख्या करते हुए जो गम्भीर निबन्ध लिखा है, वह प्रणिधान करने योग्य है। उसमें सम्पूर्ण गीताशास्त्रमें प्रतिपादित साध्य-साधनपर एक विहङ्गम दृष्टिकी रेखा है—

The Gītā's philosophy of life and works is that all proceeds from the Divine Existence, the transcendent and universal spirit. All is a veiled manifestation of the Godhead, Vāsudeva, *yataḥ pravṛttirbhūtānām yen sarvamidam tatam*, and to unveil the Immortal within and in the world, to dwell in unity with the soul of the universe, to rise in consciousness, knowledge, will, love, spiritual delight to oneness with the supreme Godhead, to live in the highest spiritual nature with the individual and natural being delivered from shortcomings and ignorance and made a conscious instrument for the works of the divine Śakti is the perfection of which humanity is capable and the condition of immortality and freedom. But how is this possible when in fact we are enveloped in natural ignorance, the soul shut up in the prison of ego,......mastered by the mechanism of Nature, cut off from our hold on the reality of our own secret spiritual force? The answer is that all this natural action contains the principle of its own evolving freedom and perfection. A Godhead is seated in the heart of every man and is the Lord of this mysterious action of Nature. And although this spirit of the Universe, this One who is all, seems to be turning us on the wheels of the world

as if mounted on a machine by the force of Māyā, shaping us in our ignorance by some skilful mechanical principle. Yet is this spirit our own greatest self and it is according to the real idea, the truth of ourselves t'at, birth after birth, as our opened eyes will discover, we are progressively shaped by this spirit within us in its all-wise omnipotence. This machinery of ego, this tangled complexity of the three Guṇas,—mind, body, life—emotion, desire, thought—interaction of pain and pleasure, sin and virtue—myself and others—is only the outward imperfect form taken by a higher spiritual Force in me which pursues the progressive self-expression of the reality and greatness I am secretly in spirit and shall overtly become in nature.

जीवन और कर्मके विषयमें गीताका सिद्धान्त यह है कि सबका प्रादुर्भाव एक सर्वोपरि एवं सार्वभौम तत्त्वात्मक भागवत-सत्तासे है। सब कुछ भगवान् वासुदेवकी ही सावरण अभिव्यञ्जना है (यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्)। अन्तःस्थ एवं विश्वस्थ इस अमरतत्त्वको प्रकट करना, विश्वात्माके साथ एकात्मता स्थापित करना, भगवान्‌के साथ चेतना, ज्ञान, इच्छा, प्रेम और आध्यात्मिक सुखमें एकता प्राप्त करना तथा भागवती शक्तिके कार्य-सम्पादनार्थ साधनभूत एवं त्रुटियों और अज्ञानसे मुक्त सहजस्वरूप जीवके साथ उच्चतम आध्यात्मिक स्वरूपमें अवस्थित होना ही वह पूर्णत्व है जो मानवताके लिये अभिगम्य तथा अमरत्व और मुक्तिकी आधारशिला है; परंतु वस्तुतः स्वाभाविक अज्ञानमें हमारे आ‌वृत होते हुए, अहंकारके पिंजरेमें आत्माके बंद होते हुए, प्रकृतिसे नियन्त्रित होकर अपनी ही गुप्त आध्यात्मिक शक्तिकी सत्यतापर विश्वासके स्वामित्वसे वञ्चित होते हुए यह स्थिति सम्भव कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकारकी प्रत्येक स्वाभाविक क्रियामें उसकी अपनी मुक्ति एवं पूर्णत्वके विकासका बीज निहित है। प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें भगवान् आसीन हैं; वे ही प्रकृतिकी इस रहस्यमयी क्रियाके विभु हैं। और यद्यपि यह विश्वात्मा, यह सर्वरूप मायाके द्वारा हमें यन्त्रारूढ़की भाँति संसारचक्रपर घुमाता हुआ-सा प्रतीत होता है, तथापि यही परमात्मतत्त्व हमारा उच्चतम स्वरूप है, और वास्तविक तथ्यके अनुसार हमारे विषयमें—जैसा कि हम जन्म-जन्मान्तरमें देखते जायँगे—सच्चा ज्ञान यही है कि अपने अन्तःस्थ इस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् आत्माके द्वारा हमारी सदा उन्नति होती जा रही है। यह अहंकारका जाल, यह मन, शरीर, जीवन, भाव, इच्छा, विचार—सुखदुःखात्मक संघर्ष, पाप, पुण्य—मैं और पराये आदि त्रिगुणोंके जटिल प्रपञ्च, सभी मुझमें स्थित एक उच्चतर आध्यात्मिक शक्तिके बाह्य और अपूर्ण रूपमात्र हैं। यही शक्ति मेरी उस वास्तविकता तथा महत्ताका निरन्तर अधिकाधिक विकास किया करती है जो प्रच्छन्नरूपसे मेरी आत्मामें अधिगत है और प्रकटरूपसे मेरे प्राकृतिक स्वरूपमें मूर्त्त होगी।

प्रार्थना

(रचयिता—महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल, 'सिरस', साहित्यरत्न)

विद्या-बुद्धि सों सबल, ते अबल धन सों हैं, धन, धी के बली वश-माया-बल पाऊँ मैं।
राजा-राग-रंग-रँगे, रंकता की शंक करैं, राज्य-अंगभंग-भय-चक्रवर्ति गाऊँ मैं॥
सुख सों, अधिक दुख दवे दीन दुखित वे, योगी सिद्धि-हेतु भ्रमैं, भ्रमी के न धाऊँ मैं।
'सिरस' सो जाचक अजाचक कियो है जिन, राम सों बड़ो है कौन ताके पास जाऊँ मैं॥
वासना-विषय-वीची उठतीं उतंग-बहु, परिकै प्रवाह इतै उत धाइयतु है।
पातो नाहिं पार, परिवार-पोतहू कौं पाय, हाय, दुख दूनो सगो संग लाइयतु है॥
करम कौं कोप है करोरन कौं जन्म जुरो, परतो न कम कबौं, बड़ो जाइयतु है।
प्रभु-गुन-गान सों 'सिरस' ह्व सरस भयो, चंदन-सुगन्ध, निंब मैं हूँ पाइयतु है॥

सत्सङ्ग-माला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्कसे आगे]

(८८) शरीर (स्थूल) तो जड है, विकारी है, नाशवान् है और आत्मा चेतनस्वरूप, सदा निर्विकार, नित्य और अविनाशी है; फिर यह संसारका गड़बड़झाला किसको लेकर है !—चित्तको लेकर । चींटीसे लेकर ब्रह्मातक सब शरीरोंके चित्त त्रिगुणमय होते हैं । उनमें किसीमें सत्त्वगुण अधिक, किसीमें रजोगुण अधिक और किसीमें तमोगुण अधिक होता है । पर ऐसा कोई चित्त नहीं जिसमें गुण न हो । इन तीन गुणोंवाले जीवोंके कल्याणके लिये तीन श्रेयके मार्ग शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं—कर्ममार्ग, उपासनामार्ग और ज्ञानमार्ग । जिस प्रकार चित्तमें तीन गुणोंमें एक मुख्य होता है और दो गौण होते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक साधकको अपने कल्याणके लिये कर्म, उपासना और ज्ञानमेंसे एकको मुख्य और दूसरे दोनोंको गौणरूपसे निश्चय करना चाहिये । इन तीनों मार्गोंसे सांसारिक सुख या किसी प्रकारकी कामनाकी प्राप्ति चाहनेवाला मनुष्य संसारके चक्रसे छूट नहीं सकता । परंतु निष्कामभावसे केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये इन तीनों मार्गोंका सेवन करनेवाला साधक प्रभुको प्राप्त करता है । क्रियाका स्वरूप वही रहता है परंतु जिस आशयसे क्रिया होती है उसी हिसाबसे फल मिलता है । जो चित्त कर्म, उपासना और ज्ञानका सेवन करके जगत्के सुखकी इच्छा करता है उसे उसकी प्राप्ति होती है और जो भगवान्की इच्छा करता है, मोक्षकी इच्छा करता है उसे वह मिलता है । जैसी इच्छा वैसा फल । तब यह प्रश्न होता है कि समान परिश्रमके होते हुए भी फलमें इतना अन्तर है तो सब लोग मोक्षकी या भगवान्की इच्छा क्यों नहीं करते ! इसका कारण यह है कि जीवको इन्द्रियजनित सुख प्रत्यक्ष है, अतएव वह उसकी सहज ही इच्छा करता है । भोग-सुख प्रत्यक्ष है, परंतु वह परिणाममें दुःखरूप है, यह बात जैसे-जैसे विचारद्वारा मनुष्यकी समझमें आती है वैसे-ही-वैसे उसके प्रति उसे अरुचि हो जाती है । जबतक इन्द्रियोंके भोगोंमें रुचि है और रस मिलता है तबतक मनकी इच्छाएँ दूर नहीं होतीं । भोगकी इच्छासे ही चित्त एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करता है, अनेकों कर्मोंको करता है और उनसे दुःख, क्लेश और चिन्ता आदि भोगता है । अपने व्यक्तिगत अनुभव, विचार और सत्सङ्गके बिना चित्त भोगकी इच्छाओंको नहीं छोड़ता । भगवान्की शरण लेनेसे, भगवान्की भक्ति करनेसे, संतजनोंके सहवाससे और विचारसे भोगनेकी इच्छा धीरे-धीरे शान्त होती है । इसलिये भाई शान्तिसे, धीरजसे लगे रहो । चित्तमेंसे इच्छामात्रका नाश हुए बिना जन्म-मरणके चक्करसे जीव नहीं छूट सकता ।

(८९) चित्त जिसकी लालसा करता है उसे पाता है । जगत्में दो हैं—एक भोग-पदार्थ और दूसरे भगवान् । चित्त भोगका चिन्तन करता है तो भोग मिलता है । भगवान्का चिन्तन करता है तो भगवान् मिलते हैं । चित्त भोगका या भगवान्का चिन्तन क्यों करता है ? इसका उत्तर यह है कि शाश्वत सुखके लिये, अखण्ड आनन्दके लिये । जो सुख या आनन्द अखण्ड नहीं है, बल्कि परिणाममें श्रम, क्लेश, भय, चिन्ता और दुःख प्रदान करता है उसको उसी प्रकार ठीक-ठीक जान लेनेपर चित्त उसकी इच्छा नहीं करता । जगत्के अनेकों संस्कार चित्तको भुलावेमें डालते हैं, उनसे कभी चित्तमें भोगकी इच्छा जाग्रत् होती है, और फिर भोगके प्रति इच्छाका अभाव होकर भगवान्की इच्छा जाग उठती है । इस प्रकार चित्तका गड़बड़-घोटाला चला ही करता है । चित्तका यह भ्रम चिरकालसे है, इसलिये यह सहज ही दूर नहीं होता ।

चित्त एक बार सोचता है कि भोगकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, भोगका चिन्तन भी नहीं करना चाहिये, केवल भगवान्की ही चाह करनी चाहिये । इस प्रयत्नमें उसकी परीक्षाएँ होती हैं । उसके सामने अनेकों भोग आकर खड़े हो जाते हैं । उसीकी इन्द्रियाँ उनको भोगनेके लिये उसे ललचाती हैं । इस अवस्थामें यदि उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई होती है तो दीर्घकालसे हठपूर्वक भोगमेंसे रुचि हटाकर भगवान्में रुचि रखनेवाला मन भगवान्को छोड़कर भोगमें फँस जाता है । और एक बार भोगमें पड़ा हुआ मन सहज ही नहीं निकलता । तपस्वी विश्वामित्र तथा दूसरे अनेकों तपस्वी जिन्होंने भोगमात्रका त्याग कर दिया था, सहज ही भोगमें फँस गये । हठपूर्वक भोगसे हटाया हुआ मन भोगके लिये प्रबल आकर्षण होनेपर तुरंत ही उसमें फँस जाता है ।

अतएव भोगका त्याग करनेके लिये भगवान्की शरण लेनी चाहिये । भगवान्की प्राप्ति करनेके लिये और भोगकी इच्छाका त्याग करनेके लिये जो भगवान्की शरण लेते हैं उनकी रक्षा भगवान् स्वयं करते हैं । इसी कारण भगवान्का भक्त भोगका सहज ही त्याग करके आसानीसे भगवान्को पा लेता है । क्योंकि भक्तका चित्त भोगका त्याग करनेके लिये अपने बलका भरोसा नहीं करता । बल्कि उन भगवान्का बल ही उसका आधार होता है कि जिसका बल अपार है । और जो भगवान्की शरण न लेनेवाले हठयोगी, विचारशील तथा अन्यान्य साधक चित्तकी भोगेच्छाको छुड़ानेकी चेष्टा करते हैं, वे अपने ही अल्प बलका भरोसा करते हैं, और इसी कारण उनकी चेष्टा निष्फल हो जानेकी अधिक सम्भावना होती है । इसलिये मोक्षकी कामना करनेवालोंको चाहिये कि भगवान् जो सर्वत्र व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबके आधार, दयालु और भक्तवत्सल हैं, उनकी शरण लेकर उनकी ही प्रार्थना करके, उन्हींकी दयाके द्वारा मुक्ति पानेके लिये प्रयत्न करे ।

(९०) शरीरमें चित्त है । चित्तके द्वारा ही जीव सुख-दुःखका अनुभव करता है, चित्त ही इच्छाएँ करता है । क्लेश, भय, चिन्ता, क्रोध, लोभ, द्वेष सबका करनेवाला चित्त ही है । इन सभी चित्तके भावोंका समावेश दोमें होता है—कामना और घबराहट । कामना और घबराहटसे चित्त अपनी जगहको छोड़कर इधर-उधर भटकता है । चित्तका आश्रय आत्मा है । आत्मा नित्य, अविकारी, अविनाशी, अनादि और आनन्दस्वरूप है । यदि चित्त शुद्ध आत्माके आश्रयमें रहे तो उसको शान्त, सुखस्वरूप और आनन्दस्वरूपका अनुभव हो । परंतु उसमें कामना और घबराहट जाग्रत् होती है, इससे वह आत्माके आश्रयको छोड़कर जगत्की ओर दौड़-धूप करता है, और इसीसे अपार दुःखका अनुभव करता है । जबतक आत्माके आश्रयमें रहता है तबतक अखण्ड सुख रहता है, और उसको त्याग करनेसे अपार दुःख होता है, इसलिये यह विचारना चाहिये कि ऐसा होते हुए भी कारण क्या है जो चित्त आत्माका आश्रय त्यागकर जगत्की ओर भटकता है । चित्तमें किसकी कामना जाग्रत् होती है ? किससे जाग्रत् होती है ? इस चित्तमें संस्कार भरे हैं और वे संस्कार सङ्गसे प्रविष्ट हुए हैं । चित्तको कामना तो सुखकी ही है । परंतु वह सुख किससे किस प्रकार मिलेगा, इसका निर्णय उसमें दूसरोंको देखने, सुनने, जानने और अनुभव करनेसे प्रविष्ट हुए संस्कार करते हैं । स्त्रीसे सुख मिलेगा, धनसे सुख मिलेगा, विद्यासे सुख मिलेगा, भोगसे सुख मिलेगा, यशसे सुख मिलेगा, राज्यसे सुख मिलेगा, ऐश्वर्यसे सुख मिलेगा, स्वर्गसे सुख मिलेगा, लोक-परलोक या उनके आधिपत्यसे सुख मिलेगा, ऐसे अनेकों संस्कार चित्तमें सङ्गके द्वारा घुसे हुए हैं । वे संस्कार चित्तको आत्मासे विमुख करके उन-उन इच्छाओंके लिये प्रयत्न करनेकी प्रेरणा करते हैं । और इच्छा पूरी करनेके लिये आत्मासे दूर होकर उसने जैसे ही इच्छा पूरी की कि तुरंत चित्त आत्माके आश्रयमें आकर खड़ा हो जाता है, क्योंकि सुख तो आत्मामें ही है । इसी कारण आत्माके आश्रयमें आते ही उसे सुखका अनुभव होता है । इस प्रकार आत्माके आश्रयसे इच्छित वस्तु मिलनेसे उसे सुखका अनुभव हुआ । यह सुख मिला आत्मासे ही पर इससे चित्तने जाना कि अमुक वस्तुसे मुझे सुख मिला है । यह बिल्कुल भूल है । जिस प्रकार राजाके द्वारा किसी कामके लिये भेजा हुआ नौकर काम पूरा करके राजाके पास आकर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार चित्त किसी वाञ्छितसे सुख प्राप्त करनेके लिये वाञ्छितको प्राप्त करके आत्माके पास हाजिर हो जाता है ।

आत्मासे दूर गया चित्त जबतक आत्मासे विमुख रहता है तबतक श्रम, क्लेश, दुःख, चिन्ता, भय तथा ऐसे अनेकों प्रकारके कहे जानेवाले दुःखोंका अनुभव करता है । जिस प्रकार कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते समय अपने ही दाँतोंसे निकले हुए रक्तको हड्डीमेंसे निकला हुआ मानकर सुखी होता है, उसी प्रकार जगत्के भोग्य-पदार्थोंको प्राप्त कर शान्त होनेसे आत्मामें अनुभव होनेवाले सुखको चित्त ऐसा मान लेता है कि यह सुख भोगसे मिला है, अमुक भोगसे सुख मिलेगा । इस प्रकार पूर्वसे ही कल्पना करके जो उसके लिये यत्न करता है, उसीको उस भोगसे सुखका अनुभव होता है, दूसरेको नहीं । कामनासे चित्त आत्मासे विमुख हो जाता है । ज्ञानीका यह लक्षण है कि सुखके लिये उसका चित्त आत्माको छोड़कर दूसरे किसीका आश्रय नहीं लेता । सुखके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता । जिसे अखण्ड आनन्द कहते हैं, वह तो आत्मामें ही है । अतएव उसके लिये वह किसी औरका आश्रय नहीं लेता । इसीलिये अखण्ड आनन्दकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि सुखके लिये कामनामात्रका त्याग कर दे । जो कामनाओंका कभी सेवन नहीं करता, वह नित्य आनन्दित रह सकता है । घबराहट भी चित्तको आत्मासे

विमुख कराती है। अथवा कह सकते हैं कि आत्मासे विमुख चित्त घबड़ाता है और दुखी होता है। अतएव कभी घबड़ाना नहीं चाहिये। परंतु घबड़ाहट किससे होती है? कामनाके भङ्ग होनेसे। चित्तने यह कामना कर रक्खी है कि जगत्के प्राणी और पदार्थोंसे सुख होगा। और इस कामनाकी पूर्तिमें जब विघ्न पड़ता है तब उसे घबड़ाहट होती है। अतएव उचित तो यह है कि मनकी समस्त कामनाओंका त्याग करे। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'तो क्या कुछ भी न करे? बिना कुछ किये कैसे बैठा रहा जा सकता है?' उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। अपने शरीरकी प्रकृतिके अनुसार सारे काम—अर्थात् जो कर्तव्य-कर्म हों वे सब करने चाहिये। परंतु सुखकी आशासे नहीं। यह तो निश्चय कर ही लेना चाहिये कि सुख जगत्के किसी भी पदार्थमें नहीं है। वह तो केवल आत्मामें ही है। वह आत्मा मुझसे अभिन्न है और उसका अनुभव शान्त चित्तसे होता है।

तब चित्तको कामना छोड़कर और बिना घबड़ाहटके सुखके लिये नहीं, बल्कि कर्तव्यके लिये जो करना हो, उसे करना चाहिये। शर्त एक ही है कि जो कुछ करो बिना घबड़ाये करो। जो कुछ करो बिना सुखकी कामनाके करो। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'मोक्षके लिये यत्न किया जाय या नहीं? भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न किया जाय या नहीं?' इसका उत्तर यह है कि मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न करना तो मानव-जीवनका प्रधान कर्तव्य ही है; परंतु यह समझना चाहिये कि सबका आत्मा ही तो भगवान् है। और वह नित्य प्राप्त है। अपना सच्चा स्वरूप है। प्रयत्न इतना ही करना है कि मन शान्त रहे। चित्त समाहित रहे। क्रिया चाहे जो करे परंतु शान्त चित्तसे करे, इसका नाम योग है। इस योगके अभ्यासीका लक्ष्य सदा चित्तकी ओर रहता है। जिसका चित्त सदा शान्त है वह सदा सुखी है। कोई पूछ सकता है कि 'वह क्या भोग भोगता है—खाता-पीता है?' हाँ, वह सब कुछ करता है पर शान्त चित्तसे। अधीर होकर नहीं, लोलुपता या आसक्तिसे नहीं। सुख प्राप्त करनेकी बुद्धिसे नहीं। भोगमें सुख नहीं है। पर सुखका अनुभव तो आत्मामें शान्त समाहित चित्तसे होता है। ऐसा पक्का निश्चय होना चाहिये। कैसा भी प्रसङ्ग आवे और कुछ भी किया जाय, शर्त एक ही है कि शान्त चित्तसे किया जाय। आत्माकी छायामें रहकर किया जाय। विकारहीन चित्तके द्वारा किया जाय। मुँहपर विकार न आने पावे, इस प्रकार किया जाय। अनेक जन्मोंके द्वारा प्राप्त की जानेवाली वस्तु यही है।

(९१) चित्तको भगवान्में जोड़नेका नाम योग है। यहाँ जो कुछ है सब परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। परमात्मा सर्वत्र अव्यक्तरूपमें व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अविनाशी, अनादि आदि गुणोंवाले हैं, उनको भजकर मैं उन्हें प्राप्त करूँगा। वे मेरे सर्वस्व हैं, मुझे वे तारेंगे—इस भावनासे चित्तको भगवद्भक्तिसे भगवान्में जोड़नेका नाम योग है। चित्त जिसके लिये उत्सुक होता है उसे पाता है। इस प्रकार चित्त भगवान्के लिये उत्सुक होकर भगवान्में लीन हो जाता है। और आत्मा तो परमात्मस्वरूप यानी भगवत्स्वरूप है ही, इसलिये कह सकते हैं कि चित्त आत्मामें लीन हो जाता है। इस मार्गके साधकका जब चित्त व्याकुल होता है या उसे कोई इच्छा होती है तब उसके लिये वह अपने उपास्य भगवान्की शरण लेता है। और परमात्मा तो कल्पतरु है। उसका आश्रय लेकर जो इच्छा करता है वह पाता है। अतएव इस प्रकार भक्तियोगवाला अस्त-व्यस्त होकर काम करता हुआ भी आखिर भगवान्को प्राप्त करता है। दूसरा सांख्योंका मार्ग है। भक्तियोगमें भाव और श्रद्धा प्रधान होती है, तो सांख्यमें विचार और वैराग्यकी प्रधानता है। जिसमें भाव और श्रद्धाकी अधिकता हो, उसे भक्तिमार्ग ग्रहण करना चाहिये। जिसका वैराग्य अभी कच्चा है और भोगसे रस मिलता हो उसके लिये भक्तिमार्ग उचित है। भक्तिमार्गका फल विचार और वैराग्य है। इसलिये सांख्यमार्गवालेको भी, जब वह बीचमें कहीं आ पड़े तो, भक्तिका सेवन करते रहना चाहिये। सांख्यमार्गवालेको जान पड़ता है कि यह शरीर मैं नहीं हूँ। यदि मैं शरीर होता तो इसके मुर्दा होनेपर भी इसे व्यक्तित्व मिलता। परंतु तब तो सभी कहते हैं कि मुर्देको जला डालो, इसमें रहनेवाला चला गया। अतएव यह स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ। उसी प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धि भी मैं नहीं हूँ। भूले हुए मनको मैं उलाहना देता हूँ बुद्धिको मैं जानता हूँ, मैं जिसको जानता हूँ वह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार चित्तसे विचार करते हुए और शास्त्रके अभ्यास तथा सत्संगसे मैं कौन हूँ, इसका सूक्ष्म बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ज्ञात होता है कि मैं आत्मा हूँ, नित्य हूँ, मुक्त हूँ, परमात्मस्वरूप, शुद्ध चेतन-स्वरूप हूँ।

भक्तियोगमें भक्त भगवान्के सिवा दूसरे किसीकी भी इच्छा न करे, इससे उसका चित्त निष्काम बनता है। और

जो विघ्न या कठिनाई आती है उसको दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है, अथवा भगवान्ने इसमें भी मेरा हित समझा होगा, नहीं तो ये नहीं आते—ऐसा समझकर आनन्दसे उनका सहन करता है। इस प्रकार भक्त कामना और घबड़ाहट दोनोंका त्याग करके चित्तको भगवान्में जोड़ देता है। सांख्यवादी 'मैं आत्मा हूँ, असङ्ग हूँ, चित्त नहीं हूँ, मुझे भोग या मोक्षकी इच्छा नहीं, क्योंकि मैं नित्य मुक्त हूँ,'—इस ज्ञानके बलसे चित्तमें होनेवाली इच्छाओंका शमन करता है। वह चित्तसे कहता है, 'तू मेरे लिये कोई इच्छा न कर। मैं भोक्ता नहीं हूँ। इसी तरह नित्य मुक्त होनेके कारण मुझे मोक्षकी भी इच्छा नहीं है।' इस प्रकार कामनाका त्याग करता है। और घबड़ाहटका त्याग इस प्रकार करता है कि 'देहका दण्ड देहको भोगना चाहिये। चित्तने जो कुछ पहले किया है उसको भोगे बिना छुटकारा नहीं—हँस करके भोगे या रोकर भोगे, भोगना तो पड़ेगा ही। इसलिये शान्तिसे भोगना चाहिये।' इस प्रकार ज्ञानमार्गवाला कामना और घबड़ाहट दोनोंका त्याग करता है। भक्त और ज्ञानी दोनोंके मन्द और मध्यम प्रारब्ध नष्ट हो जाते हैं, और तीव्र प्रारब्ध रहता है। उसका भोग दोनोंको ही करना पड़ता है। इस प्रकार दोनोंके चित्त अनेकों प्रयत्न करते हुए अन्तमें परम पदमें लीन हो जाते हैं। चित्तका सदाके लिये परमात्मामें लीन होनेका नाम मुक्ति है, और चित्तका भोगके लिये एक शरीरमेंसे दूसरे शरीरमें भटकनेका नाम जन्म-मरणरूपी संसार है। अब तुम्हें जो रुचे वही मार्ग ग्रहण करो।

(९२) यह जो सारी अनन्त सृष्टि दिखलायी दे रही है, सो आत्मा-परमात्मारूपी कल्पवृक्षके नीचे रहकर चित्तके सङ्कल्पसे ही तो उत्पन्न हुई है न ? अनेकों जीवोंकी कल्पनासे यह सृष्टि खड़ी है। कोई जीव छोटे हैं, कोई बड़े हैं। कोई ब्रह्मा आदि देवता कहलाता है, तो कोई असुर कहलाता है। सब देहधारी हैं। सबके चित्त हैं। एकाग्र-चित्त जो सङ्कल्प करता है, वह प्रत्यक्ष होता है (आत्माकी छायामें रहनेके कारण)। तपके बिना कोई सङ्कल्प नहीं फलता। तप करनेपर जो इच्छा होती है, उसकी पूर्ति होती है। इच्छाके हिसाबसे तप करना पड़ता है। इसीलिये जो इच्छा सहज होती है, वह शीघ्र फलित होती है, और कोई कालक्रमसे फलती है। तपका अर्थ है इन्द्रियोंका निग्रह। चित्तको, इन्द्रियोंको जगत्की ओरसे खींचकर परमात्माकी ओर लगानेका नाम 'तप' है। और चित्त जभी परमात्मामें लीन हुआ कि सङ्कल्प फलित हुआ। जिस प्रकार बारूद-खानेमें आगका स्पर्श होते ही वह भड़क उठता है, उसी प्रकार चित्तमें रहनेवाली इच्छा, चित्तके भगवान्में लगते ही फलित हो उठती है, परंतु भोगकी इच्छा चित्तको सहज ही भगवान्में लगने नहीं देती। इसलिये भोगकी इच्छाकी अपेक्षा मोक्षकी इच्छा शीघ्र फलती है। परन्तु चिरकालके संस्कारके कारण भोगकी इच्छाको निकाल डालना कठिन लगता है। तुम दो ही काम करो—चित्तमें कामना न जागे और चित्त घबड़ाये नहीं। इस अभ्यासको कमर कसकर करो। परंतु ऐसा करते समय चित्त कभी बेकार न बैठने पाये, इसलिये उसको या तो भगवान्का नाम जपना सौंपो—बेकार होते ही भगवान्का नाम रटे—या मैं आत्मस्वरूप हूँ, इसका चिन्तन करे।

(९३) चित्तमें प्राण और वासना दोनों हैं। और वह त्रिगुणात्मक है। निष्काम भक्ति करनेपर ज्ञानके उदयके साथ वासना पतली होकर नष्ट हो जाती है। चित्तमें जो प्राण है, उसमें क्रियाशक्ति भरी है। यह क्रियाशक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकती। अतएव भक्तियोगका साधक हो या ज्ञानमार्गका अभ्यासी हो, दोनोंको ही हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। अपने प्राणकी क्रिया-शक्तिके अनुसार निष्काम भावसे कर्म करना चाहिये। यह प्राणमें रहनेवाली क्रिया-शक्ति भी त्रिगुणात्मिका होती है और सबकी एक-सी नहीं होती। अतएव जिसके प्राणमें जैसी क्रिया-शक्ति हो उसीके अनुसार ही उसे कर्म करना चाहिये। परंतु दूसरोंको देखकर उनके हिसाबसे कर्म नहीं करना चाहिये। गीतामें जो कहा है कि 'परधर्मो भयावहः' उसका यही अभिप्राय है। सूक्ष्म प्राणकी क्रिया-शक्तिके मुख्य गुणोंके आधार चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। उनके कर्म भी गीतामें कहे गये हैं, उसके अनुसार ही कर्म करना उत्तम है। ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भारतवर्षमें ही हों, ऐसी बात नहीं है। ये तो सारे जगत्में हैं। सृष्टि त्रिगुणात्मिका होनेके कारण, जिसमें सत्त्वगुण प्रधान हो उसे ब्राह्मण समझना चाहिये। और इसी प्रकार दूसरे गुणोंके अनुसार दूसरे वर्ण। कर्म किये बिना चित्त नहीं रह सकता। इसी प्रकार प्राणके भीतरकी क्रिया-शक्ति जो प्रकृति कहलाती है उसके विरुद्ध कार्य करनेसे चित्तमें अस्वस्थता रहती है। इस समय जीव प्रकृतिके अनुसार कर्म नहीं करते। इसीसे चित्त व्यग्र, अप्रसन्न और दुखी रहता है। पुस्तकें

पढ़कर और उनसे ज्ञान प्राप्तकर तुम निष्क्रिय मत बन जाना । भगवान्‌ने कहा है—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'। अर्थात् बिना कामके रहनेमें तुम प्रीति मत करो । शरीरको आग्रहपूर्वक बिना क्रियाके रखनेपर मन सङ्कल्प-विकल्प करता है और उससे अनर्थ होता है । इसलिये तुम अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करो और भगवान्‌का भजन करो ।

(९४) गीता किसी सम्प्रदायका ग्रन्थ नहीं है । जगत्‌के मनुष्यमात्रके ऊपर लागू होनेवाला ग्रन्थ है । इसमें कही हुई बातें स्वाभाविक हैं । और शरीरमात्रमें रहकर क्रिया करनेवाले चित्तका निदान ठीक-ठीक समझाकर गीताने यह बतलाया है कि चित्तको स्थायी शान्ति कैसे प्राप्त हो । गीताको सदा श्लोक और अर्थके साथ पढ़ना चाहिये, विचारना चाहिये, उसका नियमित पाठ करना चाहिये । पाठ करनेसे मुख्य श्लोक कण्ठस्थ हो जायँगे । और उन श्लोकोंका अर्थ जब चित्त फुरसतमें होगा, तब स्फुरित होगा । उसमें कहे हुए साधनके प्रति श्रद्धा होगी और उस साधनके लिये प्रयत्न करनेमें उत्साह होगा । गीतामें बतलाये हुए साधनोंके करनेसे ही सिद्धि मिल सकती है । दूसरे अध्यायमें बतलाये हुए स्थितप्रज्ञके लक्षण, तीसरे अध्यायमें बतलाया हुआ काम-क्रोधके नाश करनेका आग्रह, बारहवें अध्यायमें बतलाये हुए भक्तके लक्षण, तेरहवें अध्यायमें बतलाये हुए ज्ञानके लक्षण, चौदहवें अध्यायमें बतलाये हुए गुणातीतके लक्षण, सोलहवें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षण तथा इनके अतिरिक्त सारी गीतामें यत्र-तत्र कहे गये साधनोंको यदि साधक करें तो जरूर शान्ति प्राप्त हो । छठे अध्यायमें बतलाया हुआ चित्त-निरोधका उपाय आग्रहपूर्वक करने योग्य है । साधन किये बिना कुछ नहीं मिलता ।

(९५) जगत्‌में जो दिखलायी दे रहे हैं, उन प्राणियों या पदार्थोंसे हमें आनन्द मिलनेवाला नहीं है । इसपर विचार करके सबसे पहले इसे निश्चय कर लेना आवश्यक है । जिस प्रकार लकड़ीके बनाये हुए पक्के आमका रंग और रूप सच्चे आमके-जैसे होता है, परंतु उसमें रस नहीं होता, उसी प्रकार जगत्‌के किसी भी प्राणी-पदार्थमें आनन्द नहीं है । जिस प्रकार रसकी इच्छावालेको बनावटी आमकी जरूरत नहीं होती, उसी प्रकार आनन्द—अखण्ड आनन्दकी इच्छावालेको इस जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंके सेवनकी जरूरत नहीं है । फिर चित्त इनकी इच्छा क्यों करता है ? इसलिये करता है कि चित्तको यह भ्रम हो गया है कि इनसे आनन्द मिलेगा । परंतु इनके सेवनसे आनन्द मिलता नहीं । मन और इन्द्रियोंके अनुकूल विषयोंसे मन हर्ष प्राप्त करता है । परंतु वह हर्ष आनन्द नहीं है; क्योंकि वह हर्ष आगे चलकर ग्लानिमें परिणत हो जाता है । यदि भोगोंमें आनन्द होता तो भोग भोगते ही रहनेमें आनन्द-ही-आनन्द लगता । परंतु वैसा लगता नहीं । उल्टे जी ऊब जाता है । आनन्द तो आत्मामें है । चित्त उस आत्मा या परमात्मामें डुबकी मारता है तो आनन्दका अनुभव करता है, प्रसन्न होता है । और उससे हटनेका मन ही नहीं करता । चित्त दीर्घकालका संस्कार होनेके कारण इस बातको सहज ही समझता नहीं । पर सदाचार, सत्सङ्ग, भक्ति और विचारसे धीरे-धीरे समझता है । चित्त जबतक जगत्‌के भोगोंके लिये प्रयास करेगा, तबतक कभी उसे शान्ति मिलनेवाली नहीं ।

(९६) जैसे एक व्यसनी यद्यपि जानता है कि अमुक व्यसनसे उसकी हानि होती है । अतएव उसका त्याग करना चाहिये । तथापि वह उसका त्याग नहीं कर सकता । क्योंकि उसे बहुत दिनोंकी आदत पड़ी होती है । उसी प्रकार मनने भोगोंमें रस मान लिया है और उसकी आदत पड़ गयी है । इसीलिये, भोगोंमें आनन्द नहीं, बल्कि दुःख है—यह जानकर भी वह उनको त्याग नहीं सकता । आदतको निकाल डालनेके लिये सत्सङ्ग, विचार, भगवान्‌की अनन्य शरण और उद्यमकी विशेष आवश्यकता है । और इनका सेवन करके तथा धीरज रखनेसे धीरे-धीरे उनका त्याग हो सकता है ।

(९७) कुछ लोग प्राणायाम सीखने और करनेके लिये कहते हैं, और दूसरे सब जप, ध्यान, पूजा-पाठ आदि साधनोंको गौण बतलाते हैं । कोई कान बंद करके नाद सुनने और उसका अभ्यास करनेके लिये कहते हैं । कोई आँखें बंद करके अँधेरेमें जो कुछ दीख पड़े उसमें वृत्ति लगानेके लिये कहते हैं । इसके तथा इसी प्रकारके अनेकों उपायोंसे अनेक दृश्य दिखलायी देते हैं । अनेकों राग तथा बाजे सुन पड़ते हैं । तदनन्तर बहुत-सी दूसरी सिद्धियाँ आती हैं—ऐसा कहा जाता है और यह बात भी सच्ची है । हम ऐसे लोगोंसे पूछते हैं कि इन सबसे क्या लाभ है ?—संसारमें यश फैले, सम्पत्ति मिले । इससे विशेष लाभ क्या हुआ ? क्या मन मारा गया ? भगवान् मिले ?—उत्तर मिलता है—नहीं । ये सारे रास्ते भयङ्कर हैं । सुन लेना

सहज है, शुरू करना सहज है, परंतु ठेठ पहुँचना कठिन है । इन सब साधनोंको करने जाकर कितने ही लोग तो रोगी हो जाते हैं, कई मर जाते हैं और कितने ही पागल हो जाते हैं। इसलिये आजकलके युगमें भूलकर भी ऐसे मार्ग नहीं ग्रहण करने चाहिये । ईश्वरके नामका जप, इष्टदेवकी प्रेमसे पूजा, उनका ध्यान, पाठ, सदाचार, सत्सङ्ग और हरिकथा तथा अपना उद्यम करते रहनेपर सहज ही मन शान्त हो जायगा तथा भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी । अतएव लबार, दम्भी, ठग, धूर्तोंके वाग्-विलासके जालमें न पड़कर सर्वभावसे भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये। भगवान् तुम्हारे हैं, सबके हैं । भगवान् सर्वसमर्थ हैं । भगवान् तार देंगे । भगवान्‌में श्रद्धा रक्खो और सदाचार तथा सत्सङ्गको कभी न भूलो ।

(९८) बुढ़ापेमें कुछ नहीं होता । हो सके तो अभीसे करना शुरू कर दो । उम्रके बढ़नेके साथ शरीरकी, मनकी तथा इन्द्रियोंकी शक्ति घट जाती है । जठराग्नि मन्द हो जाती है । कानोंसे कम सुनायी देता है । आँखोंसे कम सूझता है । बहुत देरतक बैठा नहीं रहा जाता । माला फेरनेमें हाथ दुखता है । उठा-बैठा नहीं जाता । शरीरमें अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं । इसलिये अभीसे जबतक कि शरीरमें, इन्द्रियोंमें और मनमें शक्ति स्फूर्ति और उत्साह भरा है, तबतक भगवान्‌के नामका जप खूब करो, व्रत-नियम करनेका यही समय है। परोपकार, लोकसेवा तथा प्राणियोंके उपयोगी कार्य करनेका यही समय है । तीर्थयात्रा करनेका यही समय है । मन और इन्द्रियोंके संयमकी साधनाका यही समय है । भगवान्‌की भक्ति और सत्सङ्गका यही समय है । सद्गुणोके धारण करने और दृढ़ करनेका यही समय है । ज्ञान प्राप्त करनेका यही समय है । सब प्रकारके सुकृतोंके करनेका यही समय है । परलोकके पाथेय तैयार कर लेनेका यही समय है । मुक्तिके लिये साधना करनेका यही समय है । ऐसा समय आयेगा जब आँखें अन्धी हो जायँगी, कान बहरे हो जायँगे, घरमें कोई पूछेगा नहीं, कोई कहा नहीं करेगा, भूख बहुत लगेगी पर खाया हुआ पचेगा नहीं, कोई बात करना नहीं चाहेगा, कोई पास नहीं बैठेगा, तुमसे कुछ होगा नहीं और दूसरे कहा करेंगे नहीं, कोई गिनेगा नहीं, चिढ़ावेंगे, दिल्लगी उड़ायेंगे । परिवारके लोग तिरस्कार करेंगे, पैसा पास होगा नहीं । दान-पुण्य होगा नहीं, तप-तीर्थ होगा नहीं, मरनेके समय मल-मूत्रका ठिकाना रहेगा नहीं, होश रहेगा नहीं, सन्निपात हो जायगा, न बोलने योग्य बातें मुँहसे निकलेंगी, कुछ पहचानमें नहीं आयेगा, मन बेचैन हो उठेगा, कण्ठमें कफकी घरघराहट होने लगेगी । इस समय सशक्त अवस्थामें यदि भगवान्‌की आराधना की हुई होगी, सुकृत किये हुए होंगे, भगवान्‌को अपनाकर भगवान्‌की अनन्य शरण ग्रहण की हुई होगी, तो चौदहों लोकोंके नाथ भगवान् आकर सामने खड़े हो जायँगे और बेहोशीकी हालतमें भी भगवान् अपने जनकी बाँह पकड़कर अपने धाममें ले जायँगे । इसलिये भाई ! तुम अपनी सशक्त अवस्थामें ऐसी कमर बाँधो कि (१) भगवान्‌का नाम-स्मरण खूब करो, (२) जब मौका लगे तभी परोपकार करते रहो, दूसरोंका भला करते चलो, (३) कभी किसीकी बुराई मत करो और (४) सगे-सम्बन्धी तथा इस संसार एवं संसारके भोगोंमेंसे मनको हटाकर उसे भगवान्‌में जोड़ते रहो । आये अवसरमें चूक जाओगे तो पछताओगे । ऐसा समय फिर नहीं आनेका । उठो । जागते हो या सो रहे हो ? कल्याणके मार्गपर कमर कसकर डट जाओ !

मनमोहनकी छबि

कानन कुंडल भानु न द्वै सम,
आनन पै बलि कोटि ससी ।
मृदु मंजरि मंजुल-सी तुलसी-
दल-फूलन-माल हियें हुलसी ॥

कटि के तट पै कल पीत-पटी,
दु-पटी ति-पटी लपटी-सी लसी ।
पंकज-से पग पै मनि-नूपुर-
की बिलसी छबि नैन बसी ॥

—बाबा हितदास

उत्तररामचरितमें सीताजी

(लेखक—पं० श्रीजयशङ्करजी त्रिपाठी)

उत्तररामचरितमें श्रीसीताजीका लोकोत्तर चरित्र भारतीय नारीके जिस महत्तम आदर्शकी सृष्टि करता है, उसकी कामना ही देशकी मनुता और गौरवका प्रतीक है। भगवान् श्रीरामके साथ उनका वनमें जाना और लङ्काकी यातना ऐसे स्थलोंपर सीताजीका वह परम पावन चरित्र, जिसकी कल्पना भी आजकी नारीमें नहीं कर सकते, महत्तमताकी जिस पराकाष्ठापर पहुँच गया है, श्रीरामभद्रके उत्तरचरितमें वह अलौकिकसे भी अलौकिक है। उनकी उस लोकलीलाका गान वाल्मीकि और कालिदासने भी किया है किंतु उसका प्रत्यक्ष दर्शन कविकुलगुरु भवभूतिके द्वारा ही हुआ है। उनके उत्तररामचरित नाटकमें भगवान्‌की लोक-लीलाके साथ पति-पत्नीके जिन श्रेष्ठतम आदर्शोंकी सृष्टि हुई है वह मनुकी सन्तानके मनुजत्वके लिये अति आवश्यक है।

भगवान् लङ्काविजय करके अयोध्या लौटे और सभीकी अभिलाषा पूर्ण करते हुए राजसिंहासनका भार उन्होंने अपने ऊपर लिया। लोकोत्तर आनन्दके साथ प्रजाके दिन बीतने लगे; सीता गर्भवती हुईं जिसके कारण भविष्यकी आनन्दकल्पनामें राजकुल डूब गया और प्रजा भावी सनाथतासे सम्पन्न हुई। इसी समय किसी क्षुद्र नागरिककी सीताके लङ्का-निवासकी अपवाद-कल्पना महाराजा श्रीराघवेन्द्रके कानोंतक पहुँची। यद्यपि ऋषि, महर्षि, लोक सभी जानते थे कि सीताजीकी शुद्धता अग्निके द्वारा प्रमाणित है फिर भी यह लोकापवाद लोकवत्सल रामके लिये चिन्तनीय हो गया। उन्होंने सीताजीके यह कहनेपर कि 'मैं इस प्रत्युत्पन्न-दोहदावस्थामें पुनः उन पूर्व-परिचित वनोंकी सघन, गम्भीर वनराजियोंमें विहरना चाहती हूँ, पुनः शीतलतरङ्ग भगवती भागीरथीमें मज्जन करना चाहती हूँ,' जंगल भेजनेका अच्छा बहाना पाकर प्रजाकी वत्सलताके लिये बड़े खेदके साथ लक्ष्मणके द्वारा सीताको निर्वासित कर दिया।

सीताको जब वन-निवासकी वास्तविकता ज्ञात हुई, तब उन्होंने इसे रामका दोष नहीं वा रामके वात्सल्य भाजन प्रजागणका दोष नहीं, किंतु अपने दुर्विपाकोंका फल समझा। एक बार जब रामने बातों-ही-बातोंमें कहा था कि लोकके स्नेह, दया और सौख्यके लिये जानकीको त्यागते हुए भी मुझे व्यथा नहीं, तब सीताने कहा इसीलिये तो आप रघुकुलश्रेष्ठ हैं; वह दिन सीताके सामने आ गये, आसन्नप्रसवा सीताने पुनः वनवासके दिन देखे। कितना दारुण कष्ट था, उन्होंने खूब रुदन किया और अपने भाग्यको कोसा; रघुकुलवंशवर्द्धक कुश-लवको जन्म देकर माता धरतीके आश्रित हुईं। इस प्रकार वनवास लेकर राममें एकात्मता रखते हुए सीताने भगवान्‌के लोककार्योंमें उनका पूर्ण साथ दिया। पतिमें स्त्रीकी वामाङ्गताका परिचय सीताके चरित्रमें ही होता है।

इतना सब होनेपर भी भगवान् राममें सीताकी एकनिष्ठता थी, रामके प्रति उनमें अलौकिक पूज्यभाव थे। वे वनवास सेवन करती हुई पतिके विरहका कष्ट भोग रही थीं; किंतु इससे भी बढ़कर कष्ट उन्हें यह था कि भगवान् उनके विरहमें व्यथाका भार ढो रहे होंगे; क्योंकि भगवान्‌का उनके प्रति जो प्रेम था उसे वे ही जानती थीं, बिना सीताके भगवान्‌का एक क्षण भी व्यतीत होना कठिन था।

उत्तररामचरितके दूसरे, तीसरे अङ्कमें कविने राम और सीताके अनन्य अपार प्रेमका दर्शन कराया है।

शम्बूकको दण्ड देनेके लिये भगवान् श्रीरामभद्र पूर्व-परिचित दण्डकारण्यमें पहुँचते हैं और शम्बूकको दण्ड दे चुकनेपर दण्डकवनमें जीवनकी पुरानुभूत स्मृतियाँ उनके मनमें जगने लगती हैं। सीताका स्मरण करके वे मूर्च्छित हो जाते हैं; क्योंकि आज सीताका दर्शन तो दूर रहा वे इस लोकमें अब जीवित भी कहाँ हैं? भगवान् रोते हुए कहते हैं—

त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता!
(३ । २८)

'हा! भयभीत एकवर्षीय मृगशावकके समान चञ्चल आँखोंवाली, आपन्नगर्भसे अलसायी हुई सीता, जिसे मैंने लोकापवादके भयसे वनवास दे दिया उसका मुखचन्द्रसे युक्त कोमल कमलके नालके समान सुन्दर शरीर अब इस संसारमें न रह गया होगा, जंगलमें जंगली जानवरोंने खा डाला होगा!'

भगवान्‌ने तो यह निश्चय कर लिया था कि जंगलके हिंसक पशुओंद्वारा सीताकी जीवन-लीला समाप्त हो चुकी होगी; किंतु बात ऐसी नहीं थी। सीताजी अभी जीवित थीं। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि भगवान् दण्डक वनमें शम्बूकको दण्ड देने आये हैं, तब वे उनका दर्शन करने अपनी सखी तमसाके साथ गुप्त रूपमें वहाँ पहुँचती हैं। भगवान् श्रीराम वनवासके समयकी सीताकी प्रिय सखी वासन्तीके साथ वनकी अनुपम शोभा, पुराने निवासस्थान, क्रीडाभूमि आदि देखते हुए सीताकी विरहव्यथासे मूर्च्छित हो रहे थे, उधर तमसाके साथ रघुकुलश्रेष्ठ भगवान्‌को देखनेके लिये आयी हुई सीता उनकी यह दशा देखकर प्रियतमके दुःखसे कातर होकर अचेतन अवस्थाको प्राप्त होने लगीं।

भगवान् राम 'हा! प्रिये जानकि कासि?' आदि कहते हुए अपने उसी विश्वासमें निमग्न थे और उनके साथ वासन्ती भी—

किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ! कथं बत मन्यसे?

—कहकर उनके कथनके समर्थनद्वारा उन्हें और व्याकुल करती है। सीताजी भगवान्‌की इस दारुण अवस्थाको वासन्तीद्वारा बढ़ते हुए देखकर प्रियके दुःखसे दुखी

'त्वमेव सखि वासन्ति दारुणा कठोरा च या एवमार्यपुत्रं प्रदीप्तं प्रदीपयसि।'

—कहकर मन-ही-मन कोसती हैं। भगवान् श्रीराम बार-बार सीताका स्मरण करके मूर्च्छित होते हैं और सीता भी उनके इस दुःखको देखकर उनसे दूनी संज्ञाहीन होती हैं। इतना सब होनेपर भी भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन सीता नहीं करतीं; क्योंकि सीताको यह डर है कि इस प्रकार करनेपर भगवान्‌का प्रजाधर्म कहीं नष्ट न हो जाय। इधर सीताकी पतिमें एकनिष्ठा, इधर रामका उनके प्रति असीम अनुराग—दोनोंकी विरहज्वालाको दूने रूपसे प्रदीप्त कर रहा है, दोनों उस विरहव्यथामें संज्ञाहीन हो रहे हैं; किंतु प्रजावत्सल भगवान्‌का कार्य था प्रजारञ्जन और भगवान्‌की मनोवृत्तियोंका अनुसरण सीताके लिये अनिवार्य था। अहो! धन्य है वह चरित्र! उसके बलपर पत्थर पानीमें क्या हवामें भी तैर सकते हैं। गुप्तरूपसे खड़ी सीता भगवान्‌के इस दारुण कष्टमें अत्यन्त दुखी हो रही हैं; किंतु कहीं भगवान्‌का धर्मभङ्ग न हो। उनकी मनोवृत्तियोंको समझकर उस भयसे सीता कष्ट सहती हैं पर प्रकट नहीं होतीं; ऐसी दारुण अवस्थामें भी प्रियके धर्मपालनमें इतना अनुराग! अपनी स्मृतिमें प्रियको दुखी देखकर जब सीता कहती हैं—

'एवमस्मि मन्दभागिनी पुनरपि आयासकारिणी आर्यपुत्रस्य।'

उस समय दुःखदायिनी रामकी अपराधिनी सीताके अनुरागकी पराकाष्ठा होती है।

सातवें अङ्कमें जब सबका सम्मेलन होता है, वसिष्ठकी धर्मपत्नी अरुन्धती पुत्र रामको आदेश देती हैं—

जगत्पते रामभद्र !

नियोजय यथा धर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्।
हिरण्मयाः प्रतिकृतेः पुण्यप्रकृतिमध्वरे ॥

तब सीता मनमें कहती हैं—

'जानाति आर्यपुत्रः सीतादुःखं प्रमार्ष्टुम्।'

—अर्थात् कहनेकी आवश्यकता नहीं। रामके प्रति सीताकी कैसी अनन्य भावना है! रामके पूर्व-चरित्रमें लङ्कामें 'सो भुज कंठ कि तव असि घोरा' की प्रतिज्ञा करनेवाली सीताका जैसा असामान्य चरित्र प्रकट हुआ है, वैसा ही उत्तररामचरितमें असाधारण स्वरूप दिखायी पड़ता है।

ऐसी ही पुत्रीके पिता होकर जनकने अपनी जनकता-को धन्य माना है। चौथे अङ्कमें पुत्रीके निर्वासनसे दुखी होकर पुरवासियोंके मर्यादा-उल्लङ्घन तथा रामकी अविचारशीलताके अपराधमें राजर्षि जनकके क्रोधकी चाप या शापके द्वारा प्रज्वलन-वेला देखकर सभी भयभीत हो जाते हैं और उनसे प्रजाके प्रति वात्सल्यभावकी याचना करते हैं।

कञ्चुकी दुःख प्रकट करती हुई कहती है—

'रामभद्रस्यापि दैवदुर्नियोगः कोऽपि यत्पौरजान-पदा नाग्निशुद्धिम् अल्पकाः प्रपिपद्यन्ते इत्यतो दारुण-मनुष्ठितम्।'

यह सुनकर राजर्षि जनक सन्तापसे विह्वल होकर कहते हैं—

'आः कोऽयमग्निर्नाम अस्मत्प्रसूतिपरिशोधने ? कष्टम्! एवंवादिना जनेन रामपरिभूता अपि वयं पुनः परिभूयामहे।'

'मेरी प्रसूतिका परिशोधन करनेवाला अग्नि नामका कौन है? उसकी क्या सत्ता है। अहा कष्ट! ऐसे कहनेवाले व्यक्तिसे रामसे अपमानित किये गये हमलोग पुनः अपमानित हुए।' यह सुनकर अरुन्धतीने कहा—अवश्य अग्नि यह वत्सा सीताके प्रति बहुत लघुतर अक्षर हैं और एक निःश्वास लेते हुए बोलीं—हा वत्से !

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं जनयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥
(४।११)

'सीते! मेरे सम्बन्धसे तुम शिशु हो या शिष्या हो, जैसी भी हो किंतु तुम्हारे चरित्रका उत्कर्ष तुम्हें मेरेलिये वन्दनीय बना रहा है। शिशुत्व हो या स्त्रीत्व हो, तुम जगत्के लिये पूज्या हो। गुण ही पूजाके स्थान होते हैं, उसमें लिङ्ग और अवस्थाका भेद नहीं होता।'

धन्य है सीताका परम पवित्र चरित्र, जिसके गुण-गानमें माता अरुन्धती भी विह्वल हैं।

निश्चय ही भारतीय नारीके आदर्शनिरूपणमें महा-कवि भवभूतिको अनन्य सफलता मिलती है। उनके द्वारा निर्दिष्ट सीताका चरित्र भारतीय नारी-समाजके लिये सञ्चित निधि है।

करत रोष नहिं काहु सन, नहिं काहू सन प्रीति। तुलसी देखु विचारि किन, यह वर नरकी रीति ॥
खेदत काहू कहँ नहीं, नहिं बुलाइ कै लेत। माँगत काहू तें न कछु, नहिं काहू कछु देत ॥

—मनोबोध

अजामिल-उद्धार और नाम-महिमा*

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज)

दो०—बोले शुक—नृप ! चित चपल, काहूमहँ लगि जाय ।
तौ सोवत बैठत उठत, सब थल वही लखाय ॥
चित्त अजामिलको फँस्यो, नारायन सुतमाहिं ।
नाम नरायन प्रिय लगत, सुनत नयन भरि जाहिं ॥

छं०—नारायनमहँ चित्त फँस्यो, नारायन नितदिन ।
सेवै प्रान समान रहै छिनहू नहिं वा बिन ॥
वेश्यापति यों फँस्यो मोहमहँ मृत्यु बिसारी ।
परि निरवार कराल कालकी आई बारी ॥
मृत्यु समय यमकिंकरनि, पकर्‍यो पापी अजामिल ।
'नारायन' मुखतें कह्यो, खेलत सुतकूँ लखि विकल ॥
सुनि नारायन नाम विष्णु-पार्षद तहँ आये ।
यमदूतनिकूँ पकरि गदातें मारि गिराये ॥
डरिकें पूछैं 'दूत कौन तुम हमें भगाओ ।
मोल भाव बिनु किये तड़ातड़ मार लगाओ ॥
धर्मराजके दूत हम, पापीकूँ लै जात हैं ।
कर्‍यो न हम अपराध कछु, काहे आप खिस्यात हैं' ॥
विष्णु पारषद कहैं—'धरमको मरम बताओ ।
दंड जोग जिह नाहिं जाइ क्यों व्यरथ सताओ' ॥
बोले यमके दूत 'धरम जो वेद बखान्यो ।
है अधरम विपरीत वेद हरि रूपहि मान्यो ॥
हिंसक पापी सुरापी कूँ यमपुर लै जायँगे ।
नरक अगिनिमें डारिकें जाकूँ बिमल बनायँगे' ॥
हरि-पार्षद पुनि कहैं—'दूत ! तुम कछु नहिं जानों ।
व्यरथ बजाओ गाल बिज्ञ अपनेकूँ मानों ॥
नारायन यह कह्यो अन्तमहँ मुखतें जानें ।
तौ हम ताकूँ फेरि परम पावन नर मानें ॥
चोर, जार, हिंसक, कुटिल, पापी चाहें होय अति ।
नाम उचारनतें तुरत, होइ शुद्ध पावै सुगति ॥
प्रायश्चित मनु आदि पापके विविध बतावें ।
तिनतें छूटें पाप किन्तु जड़तें नहिं जावें ॥
रहै बासना बनी फेरि हू पाप करिंगे ।
पुनि पुनि करिकें पाप नरकमहँ मनुज परिंगे ॥
प्रायश्चित सब पापको, पुरुषोत्तमको नाम है ।
तुम उच्चारन भर करो, फेरि नामको काम है ॥
लेवें जाको नाम यादि गुन ताके आवें ।
पुन्य कीर्ति भगवान नाम गुन ज्ञान करावें ॥
हरि गुन मनमहँ धँसे फेरि क्यों पाप रहिंगे ।
बहुतक होवें हिरन सिंहकूँ देखि भगिंगे ॥
इत उत भटकै जीव क्यों, करे व्यर्थके काम तू ।
सब प्रपञ्चकूँ छाँड़िकें, क्यों न लेइ हरि-नाम तू ॥
कैसे हूँ हरिनाम लेत, फल निश्चय देवै ।
चाहें मनतें लेइ भले बेमनके लेवै ॥
हरिको लैकें नाम मार्गमें आवैं जावैं ।
कृष्ण कृष्ण संकेत करें सब वस्तु मँगावैं ॥
मोदक घी बूरो सन्यो, दिनमें खाओ रातिमें ।
सब थल मीठो लगेगो, घर खाओ या पाँतिमें ॥
भक्त न करें बिनोद बिषय सम्बन्ध जोरिकें ।
रहैं उदासी सदा जगत सम्बन्ध तोरिकें ॥
लै लै हरिके नाम प्रेमतें हँसें हँसावें ।
रामभक्त करि हँसी कृष्णकूँ चोर बतावें ॥
कृष्णभक्त हँसि रामकूँ, बानर-भालुपति कहत ।
बनि बैरागी राम तो, बन बनमें रोवत फिरत ॥
राग अलापन हेतु रामको नाम उचारें ।
चाहें कहि कहि रामभक्तकूँ ताने मारें ॥
राम कहत लदि जायँ राम कहि प्रेम जतावें ।
ते नर कबहूँ भूलि नरककी गैल न जावें ॥
बिनु इच्छा ऊ रुईपै, चिनगारी पावक परै ।
जरे रुई तो अवसि ही, नाम नास अघ त्यों करै ॥
गिरत परत मग चलत रपटि कीचड़ महँ जावै ।
अंग भंग ह्वै जायँ जीव हिंसकहु सतावै ॥
काटे कोई आइ देहमहँ पीड़ा होवै ।
ज्वर को होवै बेग चेतनाकूँ नर खोवै ॥
कैसेहू नर विवश ह्वै, हरि उच्चारन करिंगे ।
नाम प्रतिष्ठाके निमित, अघ तिनके हरि हरिंगे ॥

---

* श्रीब्रह्मचारीजीका 'भागवत-चरित' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ छप रहा है । लगभग ८०० पृष्ठका ग्रन्थ होगा । प्रायः सौ चित्र होंगे । मूल्य ५।) होगा । पुस्तक 'सङ्कीर्तन-भवन, झूसी'से प्रकाशित होगी । यह अंश उसी पुस्तकसे लिया गया है ।

निज शुककूँ करि प्यार नित्य गनिका पुचकारै।
मनविनोदके निमित रामको नाम उचारै॥
स्वयं कहै हरि नाम और खगतें कहवावै।
शुकमुखतें अति मधुर नाम सुनि हिय हरषावै॥
मरन समय अघ सुमिरिकें, वेश्या अति व्याकुल भई।
संत चितायो अंत हरि, नाम कह्यो हरिपुर गई॥

हरिकीर्तन वा श्रवन करें श्रद्धा बिनु प्रानी।
निश्चय तेऊ तरैं, वेद-संतनिकी बानी॥
राम विमुख लखि संत जीवपै यदि ढुरि जावें।
बिनु इच्छाऊ देहिं नाम तोऊ तरि जावें॥
कृष्ण नाम भव रोगकी, है अचूक ओषध सुगम।
चाहें ज्यों सेवन करो, निश्चय देगी पद परम॥

संत अनुग्रह करी बिमुखकूँ नाम सुनायौ।
मरयो अधम जब दूत तुरत यमपुर पहुँचायौ॥
नाम श्रवनको पुण्य सुन्यो सब सुर घबराये।
ब्रह्मलोक शिवलोक फेरि सब हरिपुर आये॥
सुनि सब हरिने अंकमहँ, प्रेम सहित वाकूँ लयो।
भवबन्धनतें मुक्त ह्वै, प्रभु पार्षद वह बनि गयो'॥

सुनिकें यमके दूत नाममहिमा हुलसाये।
पाशमुक्त सो करयौ दौरि संयमनी आये॥
इत सुनि शुभ संबाद नामकी महिमा जानी।
निज पापनिकूँ सुमिरि अजामिल मन अति ग्लानी॥
करि पापनिकूँ यादि जो, पछितावें दुख अति करैं।
तिनके अघ सन्ताप प्रभु, जानि हृदय भल सब हरैं॥

बारबार धिक्कार अजामिल देवै मनकूँ।
हाय! पापमहँ फँस्यो भुलायो निज द्विजपनकूँ॥
तजे पिता अरु मातु दुःख जिन सहि सुख दीन्हों।
तजी सती निज नारि मोह वेश्यातें कीन्हों॥
करे पाप अति भयानक, करूँ न ऐसे काम अब।
बिगरी मेरी बात तो, किन्तु बनाई नाम सब॥

यों करि पश्चाताप मोह ममता सब त्यागी।
वेश्या अरु सुत त्यागि राग तजि भयो विरागी॥
हरिद्वारमहँ जाइ योगको आश्रय लीन्हों।
विषयनितें मुँह मोरि युक्तितें मन बस कीन्हों॥
दृश्यवर्गतें पृथक करि, आत्मा ज्ञान स्वरूपमहँ।
फेरि अजामिल भक्तियुत, भये पारषद रूपमहँ॥

आयौ दिव्य बिमान निहारे पार्षद तेई।
पहिचाने ततकाल नाम दाता गुरु येई॥
पंचभूतकी देह त्यागि पार्षद बपु धारयो।
तब फिर चल्यो विमान दिव्य वैकुण्ठ सिधारयो॥
अधम अजामिल हू तरयो, नारायन कहि पुत्रहित।
ते फिर क्यौं नहिं नर तरें, लेहिं नाम जे शुद्धचित॥

संयमनी-पति निकट गये यमदूत खिस्याने।
बिना भावके मार पड़ी सब अंग पिराने॥
हाथ जोरि सब कहें—'प्रभो! तुमई जगस्वामी।
या तुमतें हू अपर ईश बड़ अन्तरयामी॥
लावत हे हम नरकमहँ, जा पापीकूँ पकरिकें।
चारि पुरुष आये तहाँ, छुड़वायो अति झिरकिकें॥

शङ्ख चक्र बनमाल गदाभृत सेवक किनिके।
काके हैं वे दूत कौन स्वामी हैं तिनिके॥
सबके शासक आप जीव प्राननिके हरता।
शासन सबको करैं शुभाशुभ निरनय करता॥
इतने पै ऊ आपकी, आज्ञा उलंघन भई।
बिना बातके बीचमें, हमरी दुरगति ह्वै गई॥

नारायन है मन्त्र जंत्र वा जादू टौंना।
काहू नरने मृत्यु समय जिह नाम कह्यो ना'॥
सुनि नारायन नाम भयो तनु पुलकित यमको।
प्रेम मगन ह्वै करयौ ध्यान भगवत-चरननिको॥
'जलद सरिस अति बिमलबर, जो हरि नित्य नबीन हैं।
शिव विरंचि इन्द्रादि हम, तिनके नित्य अधीन हैं॥

गुह्यभागवत धरम देवता सिद्ध न जानें।
फिर नर, दानव, दैत्य ताहि कैसे पहिचानें॥
अज,शिव,नारद,जनक,कपिल,मनु,बलि,शुक,ज्ञानी।
भीष्महु, सनत्कुमार, धरम, प्रह्लाद अमानी॥
जानि भागवत धरमकूँ, परम भागवत ये भये।
अन्य भक्त हू भक्तितें, नाम लिये हरिपुर गये'॥

दूत कहें—'अब, नाथ! नियम हमकूँ बतलावैं।
जाइँ न किनके पास पकरि किनकूँ हम लावैं'॥
धरमराज तब कहें 'नाम हरि जे न उचारैं।
चितमें कबहूँ चरनकमल हरिके नहिं धारैं॥
नहीं नवैं सिर कृष्णकूँ, हरिचर्यातें जे विमुख।
लाओ तिनकूँ पकरिकें, आइ उठावैं नरक दुख॥

नाम गान सम जगत माहिं साधन नहिं दूजो ।
करो यज्ञ व्रत दान भले प्रेतनिकूँ पूजो ॥
नाम उचारत तुरत मलिनता मनकी जावै ।
माया मोह नसाय प्रेम प्रभुको हिय आवै ॥
नामकीरतन जे करहिं, जाउ न तिनके ढिंग कबहुँ ।
पहिले पापी रहे वे, आवें मम गृह नहिं तबहुँ ॥

कृष्ण कीरतन गुन गौरव जे गान करहिं नर ।
वे कबहूँ नहिं भूलि निहारें नीरस मम घर ॥
सब पापनिको एक प्राइचित मुनिनि बखानों ।
होयँ नामके रसिक उनहिं मेरो गुरु मानों' ॥

यम आज्ञा दूतनि सुनी, शिरोधार्य सबने करी ।
हरिकीर्तन करिकें चले, सब मिलि बोली जय हरी ॥

सो०—ता दिनतें मम दूत, नाम सुनत भगि जात झट ।
होत नामतें पूत, वा दिनतें निश्चय भयो ॥

छ०—पुन्य अजामिल चरित महापापी हू गावैं ।
गाढ़ हियेमहँ धरें पाप पुनि चित्त न लावैं ॥
तिनके पाप पहाड़ भस्म सबरे ह्वै जावैं ।
जीवत सब सुख लहैं अन्तमहँ प्रभुपद पावैं ॥
अरथबाद याकूँ कहैं, ते नर कोरे रहिंगे ।
जीवत जग निन्दा लहैं, मरि नरकनिमहँ परिंगे ॥

सत्यमेव जयते नानृतम्

(लेखक—पं० श्रीरघुवर मिट्ठूलालजी शास्त्री, एम्० ए०, विद्याभूषण)

'सत्यमेव जयते नानृतम्' यह वाक्य स्वतन्त्र भारतका सारकसूत्र (Motto) है । इसका अर्थ यह है कि सत्यवादी पक्ष ही जीतता है, झूठा नहीं । यह वाक्य अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में आया है । इस प्रकरणके दो मन्त्र ये हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
(३ । १ । ५-६)

उपनिषदोंका विषय तो है आत्माका वर्णन । अतः अन्य प्रासङ्गिक विषय जो आत्माकी गुत्थी सुलझानेके लिये आख्यायिकादिके रूपमें समाविष्ट किये गये हैं वे अर्थवाद-वाक्य हैं जिनका तात्पर्य उस-उस विषयकी स्तुति वा निन्दाके द्वारा मुख्य विषयकी सङ्गतिमें होता है । इनमेंसे प्रथम मन्त्रमें तो आत्माकी उपलब्धि करानेवाले चार मुख्य निवृत्तिप्रधान साधनोंकी स्तुति की गयी है और द्वितीयमें उन चारोंमें भी प्रधान सत्यकी । शरीरके भीतर यह प्रकाशमय और शुद्ध आत्मा, जिसको वे संन्यासी देखा करते हैं जिनके चित्तके क्रोधादि मल क्षीण हो गये हैं, नित्य सत्यके सेवनसे (अर्थात् अनृत=मिथ्याभाषणके त्यागसे) नित्य तपसे (अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताके अभ्याससे) सतत सम्यग्-ज्ञानसे(अर्थात् अपरिपक्व ज्ञानावस्थावाले वाक्यार्थज्ञानरूप यथार्थ आत्मदर्शनसे) और अखण्ड ब्रह्मचर्यके पालनसे प्राप्त होता है । इन साधनोंका नित्य (निरन्तर) प्रयोग न करके कदाचित् उपयोग करनेवालेको आत्मप्राप्ति होना असम्भव है । सत्य ही जीतता है, झूठ नहीं । कामना (तृष्णा) से रहित हुए ऋषि (तत्त्वदर्शी) लोग जिसपरसे चलते हैं वह देवयानमार्ग सत्यसे विस्तीर्ण (सतत चालू) है । वे जहाँ पहुँचते हैं वह परमार्थ-तत्त्व (ब्रह्म) सत्यका परम निधान है । अर्थात् उसका दर्शन उन्हींको होता है जो कुहक (पर-वञ्चना), माया (जो भीतर किसी अन्य रूपमें है उसे बाहर अन्य रूपमें प्रकाशन करने), शाठ्य(विभवानुसार दान न करने),अहङ्कार (मिथ्याभिमान), दम्भ (ढोंग रचने) और अनृत (जैसा देखा-सुना हो उससे विपरीत बोलने) से सर्वथा रहित हैं ।

यद्यपि सत्य और अनृत (झूठ) की यह चर्चा परमार्थतत्त्वके साधनरूपसे की गयी है तथापि यह वही सत्य [और अनृत] है जो वाणीका विषय होनेसे परमार्थ-तत्त्वका साधन (means to the Absolute Truth) होता हुआ भी आपेक्षिक सत्य (relative truth) के रूपमें सांसारिक संस्थाओं (मानव-समाज, न्यायालय, स्व-पर-राष्ट्र इत्यादि) से भी सम्बन्ध रखता है । अतएव

उक्त वाक्यका स्वतन्त्र भारतके लिये स्मारक-सूत्र बनाया जाना चरितार्थ और उचित है।

उपनिषदोंमें 'सत्य' शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें मिलता है—एक तो साध्य (उपेय ब्रह्म)-रूप और द्वितीय साधन (उपाय)-रूप । प्रथम वाणीका विषय नहीं है और द्वितीय वाणीका विषय है । ब्रह्मके स्वरूपलक्षणके प्रसिद्ध वाक्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द-वल्ली प्रथमानुवाक) में आया हुआ 'सत्य' शब्द तो प्रथम अर्थ (परमार्थरूप सत्य Absolute Truth) का उदाहरण है और (तै० शीक्षाध्याय प्रथमवल्लीके एकादश अनुवाकके) 'सत्यं वद' 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' वाक्योंका 'सत्य' शब्द द्वितीयार्थ (आपेक्षिक सत्य relative truth) का वाचक है। प्रथमार्थके सूचक कुछ स्थल ये हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

(ईश० १५; बृहदारण्यक० ५ । १५)

सत्य (आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म) का मुख (द्वार) ज्योतिर्मय ढकनसे आच्छादित है । 'तदेतत्सत्यम्' (मुण्ड० २ । १ । १; २ । २ । २; ३ । २ । ११) परविद्याका विषय यह अक्षरपुरुष परमार्थसत्य (Absolute Truth) है । एतद्भिन्न सभी कुछ अविद्याका विषय होनेसे अनृत है । जो अपरविद्याका विषय है वह कर्मफल आपेक्षिक सत्य (relative truth) है।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्। (मुण्डक० १ । २ । १३)

जिस ज्ञान (विद्या) से [शिष्य] अविनश्वर सत्य पुरुषको जाने [गुरु] उस ब्रह्मविद्याको यथावत् बतलाता है । 'एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति' (छान्दोग्य० ८ । ३ । ४) 'तत्सत्यं स आत्मा' (छान्दोग्य० ६ । ८ । ७, ९ । ४, १० । ३, ११ । ३, १२ । ३, १३ । ३, १४ । ३, १५ । ३, १६ । ३) इस ब्रह्मका नाम 'सत्य' है। वह सत्य है, वह आत्मा है।

'सत्य' शब्दकी निरुक्ति छान्दोग्योपनिषद् (८ । ३ । ५) में इस प्रकारसे की गयी है कि ये तीन अक्षर 'स–ती–यम' हैं। 'स' अमर है, 'ती' मरणशील है और 'यम' दोनों अक्षरोंको नियमित करता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (५ । ५) में 'सत्य ब्रह्म है जिसकी देव उपासना करते हैं' यह बतलाकर 'सत्य' इसी उक्त निरुक्तिका अर्थ यों किया गया है कि 'स' और 'यम' तो सत्य हैं, मध्यका अक्षर 'ती' अनृत है, सो यह अनृत दोनों ओरसे सत्यसे जकड़ा (दबा) हुआ है, अतः अनृतकी मात्रा सत्यकी अपेक्षा हलकी पड़नेसे सत्यका ही पलड़ा भारी रहता है।

बृहदारण्यक (५ । ४) में सत्यको ब्रह्म कहा है। नारायणोपनिषद् (६८) में 'ॐ तत्सत्यम्' उस ब्रह्मको सत्य कहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् (१ । ६ । २) में ब्रह्मको सत्यात्म (सत्यस्वरूप) कहा है।

आपेक्षिक सत्यके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग उपनिषदोंमें इससे कहीं अधिक स्थलोंमें मिलता है। उनमेंसे दिग्दर्शन-मात्र कुछ यहाँ दिखलाये जाते हैं—

मुण्डकोपनिषद्के पूर्वोक्त पूर्ण मन्त्रोंके अतिरिक्त 'अन्नात्प्राणो मनः सत्यम्' (१ । १ । ८) में 'सत्य' का वाच्य ५ भूत हैं। पुनः (१ । २ । १ में) 'तदेतत्सत्यम्' वाक्यका 'सत्य' अवितथ (झूठके विपरीत) के साधारण अर्थमें आया है । तैत्तिरीयोपनिषद्के प्रारम्भमें 'ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि' के भाष्यमें भगवान् श्रीशङ्कर-स्वामीने 'ऋत' का 'यथाशास्त्र यथाकर्तव्य बुद्धिमें सुपरिनिश्चित अर्थ' और 'सत्य' का 'वही जब वाणी और शारीरिकी क्रियामें उतरता है' ऐसा अर्थ किया है। वेदोंमें 'ऋत' शब्द बहुत आता है। इसका अर्थ पाश्चात्त्य विद्वानोंने 'नियम' (law) किया है। परंतु 'अनृत' जो 'ऋत' का उलटा है जब प्रायः झूठका ही अर्थ देता है तो 'ऋत' भी 'सत्य' का ही पर्यायविशेष होना चाहिये। 'ऋत' का आचार्य श्रीशङ्कर स्वामिकृत अर्थ ही युक्तिक्षम है; क्योंकि 'ऋत' भी उसी गमनार्थक 'ऋ' धातुसे बना है जिससे 'ऋषि' बना है अर्थात् जिसके हृदयमें वेदमन्त्र जायँ (वा प्रकट हों)। सत्यका ही बुद्धिमें निश्चित (Subjective) पूर्वरूप 'ऋत' है, वही वाणी और शरीरद्वारा निष्पन्न (objective) होकर 'सत्य' कहलाता है। अतः बुद्धिमें आया हुआ और बाहर प्रकट होनेसे पूर्वकी अवस्थावाला सत्य ही 'ऋत' है।

केनोपनिषद् (४ । ८) में 'सत्य'-तप, दम और कर्मोंके साथ उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्तिका उपाय (साधन) बतलाया गया है जैसे मुण्डकोपनिषद्में 'सत्य' तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यके साथ। यहाँ आचार्यपाद श्रीशङ्कर स्वामीने पद-भाष्यमें कहा है कि 'सत्य' वाणी, मन और शरीर तीनोंका माया-कुटिलतासे रहित होना है। और इन दोनों स्थलोंके भाष्यमें प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नके अन्तका—

'.........न येषु जिह्ममनृतं न माया च'

अर्थात् जिन [ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों और भिक्षुओं (संन्यासियों)] में [तप, ब्रह्मचर्य और सत्य (अनृत-वर्जन=झूठसे परहेज) प्रतिष्ठित (स्वभाव-सिद्ध) हो गया है और अनेक विरुद्ध संव्यवहार प्रयोजनवाले गृहस्थोंकी-सी] कुटिलता, अनृत और माया (मिथ्याचार अर्थात् बाहरसे अपनेको अन्यथा प्रकाशित करके उससे अन्यथा कार्य करना) नहीं है [क्योंकि इसके लिये कोई कारण ही नहीं रह गया है] उन्हींको यह शुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है—यह वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है।

ये ही साधन ऋत, सत्य, तप, दम, शम इत्यादि नामोंसे तैत्तिरीयोपनिषद् (१ । ९) में वर्णित हुए हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१ । १५) में भी—

'एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति'

अर्थात् इस प्रकार यह आत्मा शरीरके भीतर उसे प्राप्त होता है जो सत्य और तप [आदि साधनों] से इसे ढूँढ़ता है—ऐसा कहकर सत्य-प्रधान इन्हीं साधनोंका महत्त्व प्रदर्शित हुआ है।

इन साधनोंके द्वारा समस्त दृश्यमान जगत्में समानरूपसे व्याप्त एकमात्र सत्य ब्रह्म या आत्माकी प्राप्ति जिस उपायसे होती है वह अष्टाङ्गयोग पातञ्जलयोगदर्शनमें उपवर्णित है। इस योगके—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ अङ्ग हैं। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' और शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान—ये ५ 'नियम' आधार-शिला हैं जिनके अभावमें ऊपरकी उठायी हुई योगकी दीवारें और छतें टिक ही नहीं सकती हैं।

'यमों' वाले सूत्र (२ । ३०) पर व्यास-भाष्यमें कहा गया है कि सर्वथा सर्वदा समस्त प्राणियोंसे अनभिद्रोहका नाम 'अहिंसा' है। आगेवाले यमों और नियमोंका मूल यही है। इसीकी साधना पूरी करनेके अभिप्रायसे और इसीका प्रतिपादन करनेके लिये उनका प्रतिपादन किया गया है। यदि उनका अनुष्ठान न किया जाय तो अहिंसा असत्यादिकोंसे मलिन रह जायगी। अतः उसी (अहिंसा) का रूप उज्ज्वल करनेके लिये इन सबका ग्रहण किया है। कहा भी है—'जैसे-जैसे यह ब्राह्मण (अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिका अभ्यासी) बहुतसे [सत्यादि] व्रतों (यम-नियमों) को ग्रहण करता जाता है वैसे-वैसे (उसी अनुपातसे) प्रमादवश होनेवाले हिंसाके कारणोंसे निवृत्त होता हुआ उसी अहिंसाको अपनेमें उज्ज्वलरूपा बनाता है।' यथार्थ वाणी और मनको सत्य कहते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणोंसे जैसा यथार्थ निश्चयज्ञान प्राप्त किया अर्थात् जैसा देखा, अनुमान किया और सुना हो उसीके अनुसार वाणी और मनका प्रयोग होना चाहिये। अपना अनुभव दूसरेमें पहुँचानेके लिये वाणी बोली जाती है। वह यदि वञ्चना, भ्रान्ति या बोध-निष्फलतासे रहित हो तो सब प्राणियोंके उपकारके लिये प्रवृत्त होती है, न कि उनको पीड़ा पहुँचानेके लिये। यदि इस प्रकार बोली जाती हुई भी प्राणियोंकी पीड़ा ही करे तो सत्य नहीं किंतु सत्याभास और पापरूप ही होगी। ऐसे पुण्यविरोधी पुण्याभाससे बड़े अनर्थको ही प्राप्त होगा। इसलिये परीक्षण करके सब प्राणियोंके हितरूप सत्यको बोलना चाहिये। शास्त्रके विरुद्ध अन्यके पाससे द्रव्योंका अपनाना (ले लेना) स्तेय (चोरी) है। इसका उलटा अस्पृहा-रूप अस्तेय है। उपस्थ (गुप्त) इन्द्रियके संयमको ब्रह्मचर्य कहते हैं। विषयोंके अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा-सम्बन्धी दोष-दर्शनके कारणसे उनका स्वीकार न करना (अपने मनमें स्थान न देना) अपरिग्रह कहलाता है।

योगसूत्र (२ । ३१) के अनुसार ये साधारण व्रत यदि जाति, देश, काल और समय (अवस्थाविशेष) से सीमित न हों तो 'महाव्रत' कहलाते हैं। योगसूत्र (२ । ३६) 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' के अनुसार सत्यमें स्वाभाविक स्थितिलाभ हो जानेपर साधककी वाणी निष्फल नहीं जाती है अर्थात् जो कह देता है वही हो जाता है।

मनुजी (४ । २०४ में) कहते हैं कि यमोंका निरन्तर सेवन करे, नियमोंका भले ही सदा सेवन न करे; क्योंकि केवल नियमों (शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) का पालन करता हुआ और उक्त यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) का अनुष्ठान न करता हुआ पतित हो जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रायश्चित्ताध्याय (श्लोक ३१२-३१३) में यमों और नियमोंका विशद वर्णन है। मनु (१० । ६३) [और याज्ञवल्क्य १ । १२२] के अनुसार—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

तथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह—ये पाँचों तथा दान, दम, दया और सहनशीलता—सब मिलाकर ९ धर्म मनुष्यमात्रके लिये अनुष्ठेय हैं। मनुने (११ । २२२ मे) अहिंसा, सत्य, अक्रोध और सरलभावका आचरण करनेका विधान किया है। (२ । ८३ में) मौनसे सत्यको विशिष्ट बतलाया है। (६ । ९२ में) चारों आश्रमोंके द्विजोंको दस लक्षणोंवाला धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—सेवन करनेका आदेश किया है और (६ । ९३-९४ में) कहा है कि इनका सेवन करनेवाला द्विज वेदान्तश्रवण करके संन्यास ले ले, इनकी पूर्णता [के आत्मज्ञानकी सहकारिणी होने] से मोक्ष होता है।

अन्य अनेक स्थलोंमें मनु और याज्ञवल्क्यने सत्यके महत्त्व और अनृतके दुष्फलका विशद निरूपण किया है। मनुने न्यायालयमें सत्यानृतकी परीक्षा कैसे करनी चाहिये तथा व्यवहारमें सत्यका क्या महत्त्व है यह अध्याय ८ श्लोक १४, ३५, ३६, ४५, ६१, ७४, ७६, ७८ से १०१, १०३ से १०५, १०९, ११३, ११६, ११८-११९, १६४, १६५, १६८, १७९, २१९, २५७, २७३-७४ में स्पष्ट किया है। सत्यसे रहित ब्राह्मण अपात्र (११ । ६९) हो जाता है और राजाका सत्यवादी होना मनु (७ । २६) का आदर्श ही है। मन सत्यसे शुद्ध (५ । १०९) होता है।

गीता (१७ । १५) में उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारक वचन तथा स्वाध्यायका अभ्यास—यह वाणीका तप कहा गया है। (१६ । १-२ में) अभय, सत्त्व, शुद्धि, दान, दम, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, दयादि दैवीसम्पत्के गुणोंमें गिनाये हैं। एवं (१६ । ७-८ के अनुसार) आसुरी प्रकृतिके लोगोंमें शौच, आचार, सत्य नहीं होता है। वे जगत्भरको ही सत्यरहित और स्थिति (मर्यादा) रहित मानते हैं। (१० । ४-५ के अनुसार) सत्य, दम, शम, अहिंसा, तप, दान आदि प्राणियोंके भाव भगवान्से ही अनेक रूपोंमें आते हैं।

इस प्रकारसे इस लोक और परलोकमें अन्ततः सत्य ही विजयी होता है, अनृत नहीं। इस वाक्यको जब हमने स्वतन्त्र भारतके स्मारकसूत्रका पद दे रक्खा है, तब राष्ट्रके प्रत्येक बालककी शिक्षा-दीक्षामें यह वाक्य ऐसा घुल-मिल जाना चाहिये कि इससे हमारा राष्ट्र वास्तविक और स्थायी रूपसे उन्नत हो एवं आजकी बढ़ी हुई चरित्रहीनता दूर हो।

धारक और पालक

(लेखक—श्री'चक्र')

[कहानी]

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
(गीता १५ । १३)

आधिदैवत जगत्की बात—

वनस्पतिराज सोम आसनासीन थे। दूर्वा, लघु-तृणसे लेकर छोटे वीरुध, झबरे क्षुप, ठिंगनी झाड़ियाँ, लचीली लतिकाएँ, विशाल ऊँचे पादप सभी एकत्र हुए थे। सब खिन्न थे। सब दुखी थे। सब संकटसे परित्राण चाहते थे।

'हमें विलासोद्यानोंकी शोभा बना दिया गया है। तनिक लहरानेका मन करते ही काट दिया जाता है। न यज्ञकी सुरभि प्राप्त होती और न जगदाराध्यको अर्पित होनेका सौभाग्य ही।' दूर्वाने अपना अभियोग उपस्थित किया। 'गायोंका पवित्र ग्रास बननेके स्थानपर हमें अश्वतरियों (खच्चरियों) और गर्दभोंका आहार बनाया जाता है।'

'मन्त्रोंके मङ्गलगानसे पूजाके पश्चात् वर्षमें एक दिन हमारा चयन होता था और हमारे महत्त्वसे वह अमावस्या कुशोत्पाटिनी कही जाती थी। यज्ञवेदियों-का हम श्रृङ्गार बनते, यज्ञोपवीतकी भाँति हमारी उपवीती बनायी जाती, हमारे ऊपर तपःपूत महर्षि आसीन होते। हमारे अग्रभागसे उठे विन्दु उनका अभिषेचन करते।' कुशकी व्यथा समझने योग्य थी। काँस उसका साथी हो गया था कष्टमें। 'हमें कण्टक

माना जाता है। हमारी जड़ोंको दानवाकार यन्त्रोंसे उखाड़ा जा रहा है। हम निर्मूल किये जा रहे हैं। हमारे बन्धु उशीरकी भी यही दशा है। उसका दुर्भाग्य इसलिये बढ़ गया है कि उसकी जड़ोंमें थोड़ी सुगन्ध और शीतलता है। उसका उच्छेद करके मानव कृत्रिम शीतलता पानेमें सफल होता जा रहा है।'

'हमें सदा ओषधि कहा जाता था। पवित्र गोमय-का आहार प्राप्तकर हम परिवर्धित होते थे। क्षेत्र-पूजन-के अनन्तर हमारा संग्रह किया जाता। देवराज हमारी सुरभित आहुतियोंसे तुष्ट होते और हमें वह यज्ञीय सुरभिसे पूर्ण वर्षाके जलसे पुष्ट करते। हमारा सारतत्त्व शरीरोंमें मन बनकर जब आनन्दघन प्रभुका स्मरण करता तब हम कृतार्थ हो जाते!' अन्नोंका स्वर कम करुणापूर्ण नहीं था। 'आज हमें विद्युत्के बलपर विवश किया जाता है बढ़नेके लिये। अस्थि, भस्म, क्षार, मल····छिः। हमारे लिये समस्त वीभत्स मलिन वस्तुएँ आहार बनायी जाती हैं। कटुगन्धि, तीक्ष्णजल देवराज देते हैं, अन्ततः उनके घन भी तो पाषाणी कोयलेकी गन्धसे पूरित कर दिये गये। कृत्रिम सिञ्चन-का जल भी क्या 'जीवन' कहलाने योग्य है! मनुष्य कहता है कि वह रोगी होता जाता है, उसका मन विकारपूर्ण हो गया है। हममें जो गंदगी वह भरता है, वही तो पावेगा। बेचारे जीव कितनी आशासे जलकी धारासे धरामण्डलमें आकर हममें प्रवेश करते हैं। यही मर्त्यलोक मोक्षधाम है; किंतु हमारा सारतत्त्व मन विषयोंमें—पापोंमें लगा दिया जाता है। हम अपने इस दुरुपयोगका कैसे निवारण करें?'

'हमारे पुष्प कुचले जाते हैं, उनका रक्त आज इत्र कहलाता है। हमारे काष्ठ किसी आर्तका कष्ट निवारण करनेके स्थानपर चर्म रँगनेके उपयोगमें आने लगे हैं! सबसे बड़ी बात यह कि हमें नष्ट किया जा रहा है। कहीं उत्पन्न होने और जीवित रहनेकी सुविधा नहीं!' लताओं, वीरुवों, क्षुपों—सबके एक ही कष्ट हैं।

'दन्तधावनके लिये तनिक-सी टहनी लेनेसे पूर्व कितनी नम्रतासे हमसे क्षमा माँगी जाती थी। हमसे फलोंकी भिक्षा माँगते थे वे तेजोमूर्ति जो जगत्को समस्त सिद्धि देनेमें समर्थ थे। हम शिशुकी भाँति स्नेह-सिञ्चन प्राप्त करते!' तरुओंने अपने भाग्यपर अश्रु बहाये। 'आज हमपर कुल्हाड़ी बजते देर नहीं लगती। तनिक कोई डाल शिथिल हुई या मनुष्यको अनावश्यक जान पड़ी, काट दी गयी। हमारे फलोंका उपयोग, हाय!—ऐसा मनमें आता है कि फल विषैले हो जायँ और ये सब क्रूर नष्ट हो जायँ! जिन पक्षियों, कीटोंको हम स्नेहसे शरण देते हैं, जो हमें पोषण देते और प्रसन्न रखते हैं, वे भुशुण्डी और विषसे मार दिये जाते हैं। हमारी सहज जाति भ्रष्ट करके हममें वर्णसंकरता उत्पन्न की जा रही है। मनुष्य आज स्वाद और आकार देखता है, गुण नहीं। हमारे अधिकांश बन्धु नष्ट कर दिये गये, हमें स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा नहीं।'

'भगवान् श्रीकृष्णने धरासे जैसे ही पदार्पण किया, अधर्ममूल कलिका साम्राज्य हो गया। सम्राट् जनमेजय-के शासनकालतक कुछ भीत रहा वह, पर अब तो निरंकुश हो गया है!' राजाने देखा कि अभियोग उपस्थित करनेवालोंकी संख्या अपार है। यदि एक-एक वर्गके प्रतिनिधिको भी बोलने दिया जाय तो वर्षों लगेंगे। उन्होंने उपसंहार करना चाहा। 'मैंने महाराज विक्रमके साथ ही पृथ्वी छोड़ दी। मेरे प्रतिनिधियोंसे ही यज्ञ चलता रहा अबतक। ऐसे कृतघ्न मनुष्योंको पोषित करनेकी अपेक्षा सब लोग उन्हें मरनेके लिये छोड़ दें, यही उपयुक्त होगा।'

'वेनके अत्याचारके समय धरित्रीने हमें अपने अङ्कमें शरण दी।' वनस्पतियोंने कठिनाई निवेदित की। 'आप महान् हैं। अदृश्य होना आपके लिये सरल है।

आत्महत्या तो पाप है, फिर हम स्थूल जगत्को कैसे छोड़ सकते हैं ?'

'मैं भगवती धरासे प्रार्थना करूँगा !' राजाने आश्वासन दिया ।

[२]

'मैंने मनुष्यको सदा पक्वान्न और धातुएँ दीं और इसीसे वह मुझे रत्नगर्भा कहता आया । हिमोज्ज्वल गौके नेत्र आँसुओंसे भीग गये । 'अब वह मेरी स्नायुओंका रस निकालता है, कच्ची धातुएँ खोदता है, मेरी जीवनी शक्तिका शोषण कर रहा है । उसके लिये यह कोयला, मिट्टीका तेल, धातुएँ अभिशाप बन रही हैं । मेरी शक्ति नष्ट हो रही है । मेरे शिशु दुर्बल, क्षीण हो रहे हैं । मैं उनका पालन करनेमें असमर्थ हूँ ।' श्रुति जिनको क्षमाकी प्रतिमा कहती है, उन जगद्धात्रीमें रोष नहीं, शोक ही था । अपनी ही सन्तानोंसे रुष्ट तो वे कैसे होंगी ।

'देवता उपोषित हैं, रुष्ट हैं । हमारी प्रजा विकृत हो रही है । वह नष्ट होनेके समीप है ।' वनस्पतिराज सोम बड़ी आशासे आये थे ।

'स्वयं मुझे अभिवादन एवं आहुतियोंके स्थानपर निरन्तर आघात मिल रहे हैं !' वसुन्धराने उसी खिन्न स्वरमें कहा—'मेरे चर्ममें घृणित क्षार, ज्वलनशील तत्त्व सम्मिलित करके उत्पादन बढ़ानेका यह अन्ध यत्न आप देखते ही हैं । मेरी व्यथाकी मुझे चिन्ता नहीं, पर त्वचा बंजर होती जा रही है । यह अतिरिक्त उत्पादन अपनी जड़ काट रहा है । उर्वी अब उर्वरा रहे कैसे, ये पदार्थ मेरे त्वक्की चेतनाको मृत् कर रहे हैं । मनुष्य कृमिकी भाँति क्षुधाकुल होकर मरेंगे । मैं रक्षा नहीं कर सकती । अभी ही इन विकृत उत्पादनोंसे वह रोग एवं शोक पा रहा है । उसे मेरा दुग्ध नहीं, रक्त चाहिये ।'

'आप ही समस्त प्राणियोंको धारण करती हैं ।' सोमके स्वरमें क्रोध था ।

'यह ठीक है कि जब मैं संतप्त होकर निःश्वास लेती हूँ लक्ष-लक्ष प्राणी कालकवलित हो जाते हैं ।' भूकम्पका यह दैवी कारण यन्त्र आज चाहकर भी नहीं समझ सकते । 'बड़ा कष्ट होता है मुझे; किंतु जब उत्पीड़नकी सीमा होती है, सहज अङ्ग-कम्पको कैसे रोका जा सकता है !'

'उसे रोकनेकी नहीं, भली प्रकार हिला देनेकी आवश्यकता है ।'

'बेचारे नन्हे प्राणी !' भूमिने निःश्वास लिया 'तुम सोचते हो कि मैं उनका धारण करती हूँ । अब तो मानव भी जान गया है कि मेरे प्रभावक्षेत्रसे बाहर यदि वह अपने कृत्रिम विमानोंसे निकल जाय तो वहाँ फेंकी हुई वस्तु जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहेगी । वहाँ पदार्थ-में जो गति होगी, वह बनी रहेगी, जबतक कोई ग्रह उसे प्रभावित न करे ।'

'मनुष्य वहाँ निवास नहीं बना सकता !' प्रतिवाद किया सोमने ! 'उसे रहना आपकी ही गोदमें है, चाहे वह कितना भी ऊपर उड़े । इतना शक्तिशाली वह नहीं हो सकता कि स्वयं अपना धारण कर ले और आपकी उपेक्षा कर दे ! आप ही कुछ न करें तो बात दूसरी है ।'

'वेनके शासनकालमें मैंने तुम्हारी प्रजाको शरण दी, इसीसे तुम मुझसे आशा करते हो ।' बात ठीक ही थी । 'तुम भूलते हो कि मैं प्राणियोंका धारण करती हूँ । मैं भी यही समझती थी पर भगवान् पृथुने मेरा भ्रम दूर कर दिया !' अपने पिताके स्मरणसे पृथ्वीके नेत्र श्रद्धापूर्ण हो गये ।

'वह सत्ययुगकी बात थी !' सोमका सन्तोष हुआ नहीं ।

'उन्होंने कहा था कि वे स्वतः अपने प्रभावसे लोकोंका धारण करनेमें समर्थ हैं !' धरित्रीने सोम-की बात सुनी ही नहीं । वे ध्यानमग्न बोल रही थीं—

'निराधार जलनिधिके वक्षपर शेष होकर वे मेरा धारण करते हैं, शून्य गगनमें मैं उन्हींकी गोदमें उन्हींकी शक्तिसे स्थित हूँ। उन्हींका ओज मेरे कण-कणमें आकर्षण बना है। वही अपने ओजसे समस्त प्राणियोंका धारण करते हैं। यह तो उनका अनुग्रह है कि मुझे उन्होंने निमित्त बना लिया है। आकर्षणके स्वरूप वे मेरे नाथ!' पता नहीं धराको भगवान् श्वेतवाराहकी चन्द्रधवल दन्तकोटि स्मरण आयी या द्वापरके अन्तका वह श्रीकृष्णचन्द्रका कोमल पाद-स्पर्श, उनका रोम-रोम खड़ा हो गया। आनन्दपुलक था यह। अन्तरके आह्लादमें व्यथा विस्मृत हो गयी थी।

'मैं निराश ही जाऊँ?' वनस्पतियोंके सार्वभौम सम्राट्ने कुछ देर प्रतीक्षाके पश्चात् खिन्न स्वरमें पूछा।

'मैंने दीप्त रत्नोंको अन्तर्हित कर दिया! कोई स्वतःप्रकाश रत्न मनुष्यको उपलब्ध नहीं। संजीवनी-जैसी दिव्यौषधियाँ भी मेरे अङ्कमें सो गयीं' कुछ क्षण पश्चात् धराने कहा। 'बीजोंका सर्वथा तिरोभाव मेरे लिये शक्य नहीं। वे मेरे पिताकी पावन स्मृति हैं! उन्होंने अपने अरुण कोमल हाथोंसे मुझसे इनका दोहन किया। उनकी आज्ञाका अतिवर्तन करना अपमान है उनका।'

'बीजोंको तो मनुष्य स्वयं नष्ट कर देगा।' सोमने मन्तव्य स्पष्ट किया। 'वह मूल बीजोंको मिश्रित करके शक्तिहीन कर रहा है। उसके कलमी तरुओं एवं नवीन पौधोंके बीज अपनी सन्तति स्थिर करनेमें असमर्थ हैं। इस विकृतको आप पोषित न करें—बस।'

'मूर्ख मानव सचमुच अपना सर्वनाश कर रहा है। उसने ओषधि-बीजका तथ्य ही विकृत कर डाला।' खेद था धराके स्वरमें 'पर सोम, वनस्पतियोंको पोषण तो वे भगवान् सोम करते हैं, जिनके तुम वनस्पति जगत्में प्रतिनिधि हो!' पोषणमें भला धरित्री क्या करें?

× × × ×

[३]

'महाराज, कल एक अतिथि हमारे यहाँ ठहरा था! आज बड़े सवेरे वह चला गया।' गृहपतिके स्वरमें वेदना थी—'तीन भैंसें, चार बैल, दो गायें, तीन बछड़े वह मेरे यहाँ छोड़ गया!' हाथीके बच्चे-से बैल, दूध देनेवाली भैंसें और निकट भविष्यमें बच्चा देनेवाली गायें क्या कोई यों छोड़ जाता है। अपने प्राणोंसे प्रिय पशुओंको किसान जब दो चिटकी भूसा नहीं दे सकता, अपने खूँटेपर बँधे-बँधे मरते कैसे देखे?

'भाई! ये तो पशु ही हैं, मैंने सुना है लोग बच्चोंको बेच रहे हैं!' संन्यासीके स्वरमें अपार करुणा थी।

'पापी पेट क्या नहीं कराता!' गृहपतिके नेत्रोंमें आँसू भी नहीं बचे हैं। 'उन बच्चोंको खरीदनेवाले भी हैं। आज भी कोठियाँ अन्नसे भरी हैं। उनके मूल्य बढ़ रहे हैं। भूखोंकी दुर्बलतासे वासना तृप्त की जा रही है, तिजोरियोंका भार बढ़ रहा है। मनुष्यका रक्त ही जब मनुष्यको चाहिये तब परमात्मा पानी क्यों दे!'

वृक्षोंकी छाल और पत्तेतक मनुष्योंके पेटमें पहुँच गये। मैदानोंमें तृणके स्थानपर धूलि उड़ रही है। कूड़ेके ढेरों, नालियों और गलियोंमें जब अन्नके एक-एक कण और फलोंके छिलकोंके एक-एक टुकड़ोंके लिये मनुष्य कुत्तोंकी भाँति झगड़ रहे हों; पक्षियों, कीड़ों और पशुओंका जीवन कैसे चले। क्षुधा सर्वभक्षिणी होती है। मानव आज भूखा है। मर रहा है।

यह तीसरा वर्ष है, चतुर्मासेके दो महीने बीत चुके। जलकी बूँदतक पृथ्वीपर नहीं पड़ी। नदियोंमें नाममात्रको जल है। ट्यूबेलके कुओंने साधारण कुओंको पहले ही सुखा दिया था, अब उनमें भी मकड़ियाँ जाले लगा रही हैं। पानी स्तरमें ही नहीं तो यन्त्र क्या करें। सरकारने अनेक योजनाएँ बनायीं—बादल आते तो हवाई जहाज ऊपर उड़कर उनपर

बहुत बड़ा हिमखण्ड डालते। पानी बरस जाता। बादल ही जो नहीं आ रहे हैं।

'परमाणु बमके समुद्रमें अंधाधुंध प्रयोगने पृथ्वी-पर अति वृष्टि की तीन वर्षोंतक और यह उसकी प्रतिक्रिया है। संन्यासीने कुछ गम्भीर होकर बताया 'थोड़े बहुत बादल उठते हैं तो तटके देश उन्हें बरसा लेते हैं कृत्रिम उपायोंसे। मनुष्य प्रकृतिके साथ बल-प्रयोग कर रहा है और वह बदला ले रही है।'

'मेरे गलेमें ये इतने प्राणियोंकी हत्या और अटकी।' गृहपति जानता कि अतिथि अपने पशु छोड़ जायगा तो उसे ठहरानेकी उदारता न दिखलाता। अपने ही प्राणोंके लाले पड़े हैं, इनको क्या खिलाये वह। 'आप संत हैं, प्रभु आपकी प्रार्थना सुनेंगे। हमारी वाणी स्वार्थसे इतनी कलुषित हो गयी है कि उसमें प्रार्थना प्रकट ही नहीं होती।' हृदयमें आस्था न हो तो प्रार्थना हो कैसे।

'वे दयामय सबकी सुनते हैं!' संन्यासी स्वयं भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना करने ही पधारे हैं। प्राणियोंका इतना कष्ट उनसे देखा नहीं जाता। वे आशुतोष जो उनके आराध्य हैं, वही तो इसे दूर कर सकते हैं। 'आज रात्रि विश्वनाथ मन्दिरमें मेरे रहनेकी व्यवस्था कर देनी है आपको।' पुजारियोंपर जिसका प्रभाव हो, उसीसे यह कहा जा सकता है। अकेले संन्यासीको कौन गर्भगृहमें रहने देता।

'मेरे भगवान् सोया नहीं करते!' संन्यासीका यह समझाना पण्डोंके लिये कदाचित् ही पर्याप्त होता; किंतु उनके साथ जो गृहपति आये हैं! आजकल यों ही मन्दिरकी आय कम हो गयी है। दर्शनार्थी थोड़ेसे आते हैं। जो आते भी हैं, जलकी धारा चढ़ाकर गाल बजा दिया और बस। बड़े-बड़े सेठ भी पुष्पोंतक ही रह जाना चाहते हैं। चढ़ावेके लिये बहुत सिर खपाना पड़ता है। ऐसे दिनोंमें एक अच्छे यजमानको रुष्ट कौन करे।

'आप ब्राह्ममुहूर्तकी आरतीके समय निकल जायँगे न?' एक ही आश्वासन आवश्यक था और वह मिल गया।

'वे महात्मा कहाँ गये?' दूसरे दिन प्रातः गृहपतिने भगवान्के दर्शनके अनन्तर मन्दिरमें इधर-उधर देखकर पूछा।

'वे तो सबेरे ही चले गये!' पण्डाजीको संन्यासीसे अधिक चिन्ता यजमानकी थी। उनको कुछ विशेष दक्षिणा मिलनी चाहिये, जो प्रबन्ध उन्होंने किया था उसके बदले।

'कदाचित् वे घर गये होंगे।' गृहपतिने मन्दिरके द्वारकी ओर पैर बढ़ाये। 'सन्ध्याको पुनः दर्शन करूँगा।'

'साधुको लज्जित किया हमने!' वे सोचते जा रहे थे। 'या तो वे बहाना बनायेंगे या मिलेंगे ही नहीं।' सचमुच साधु तो उन्हें नहीं मिले; किंतु रात्रिमें बाहर सोनेके लिये उन्हें ऊपरकी छतसे बिछौना नीचेकी छतपर लाना अच्छा जान पड़ा। ऊपरकी छतपर कोई छाया नहीं थी। आकाशमें बादल न होनेपर भी ईशानकोण रह-रहकर चमक रहा था।

× × ×

[४]

'मुझे थोड़ा शुद्ध घृत चाहिये।' आजकल ग्रामोंमें भी मिलावट चल पड़नेसे विश्वस्त वस्तु कठिनतासे ही मिलती है।

'लोग दाने-दानेको मर रहे हैं और आप पदार्थोंको फूँकेंगे!' आजकी विचारधाराका प्रतिनिधित्व किया गया।

'मैं तुमसे भीख नहीं माँगता।' संन्यासीने कुछ रोषसे कहा।

'आपके पास पैसा भी तो हमारे ही घरोंसे पहुँचता है।'

'डाक्टरोंकी, वैद्योंकी और स्वयं तुम्हारी फीस, जिसे मैंने चिकित्सा सिखायी, जनताका द्रव्य नहीं ! वह तो तुम्हारी निजी सम्पत्ति है । उसे तुम शराब और सिगरेट-में फूँकनेको स्वतन्त्र हो और मेरे लिये अग्निमें थोड़ा-सा हवन द्रव्य नष्ट करना हो गया । मैं अपने उपार्जन-पर स्वत्व नहीं रखता ?' घृणा हुई उन्हें अपने इस श्वेत वस्त्रधारी सुपठित चिकित्सक शिष्यसे ।

'आप संन्यासी हैं । आपको द्रव्य नहीं रखना चाहिये ।' मनुष्य जब अपनेको विश्वमें सबसे बड़ा बुद्धिमान् मान लेता है तब उसकी बेहयाई सीमातीत हो जाती है ।

'तू पहले ठीक गृहस्थ बन और तब उपदेश देना ।' वे वहाँसे उठ गये । पूर्वाश्रममें चिकित्सा करते थे । आयुर्वेदका उच्चज्ञान है । किसीको रुग्ण देखनेपर रहा नहीं जाता । ओपधियोंकी घोंट-पीस भी कर लेते हैं । एक पूरा झोला संग रहता है । कोई कुछ दे या न दे, पर जब रोगी कुछ देता हो तब न लेना उसके विश्वास-को चञ्चल करता है । इस प्रकार जो संग्रह होता है चार-पाँच महीनेपर उससे एक यज्ञ कर डालते हैं । अपना निर्वाह तो मधुकरीसे ही होता है । इसे व्यसन कहा जाय या और कुछ—पर यह है ।

'महाराज ! वर्षा कराइये ! जीवन दान दीजिये प्राणियोंको ।' गङ्गास्नानसे लौटते शास्त्रीजीकी दृष्टि पड़ गयी स्वामीजीपर । उनकी बड़ी श्रद्धा है । जो असाध्य——मरणासन्न रोगियोंको जीवन-दान करनेमें सहज समर्थ हों, वे दैवी-शक्तिसम्पन्न महापुरुष तो होंगे ही ।

'चन्द्रदेव रुष्ट हो गये हैं । रसका पृथ्वी और गगन सब कहींसे आकर्षण कर लिया उन्होंने !' भगवान् विश्वनाथ-के मन्दिरमें साधुने रात्रिमें जो तन्द्राके समय स्वप्न-सा देखा है, बड़ा अद्भुत है वह । 'आज दूध अप्राप्य है, पर भगवती भागीरथीका ब्रह्मद्रव तो उपलब्ध ही है । आप ब्राह्मणोंको एकत्र कीजिये । भगवान् शशाङ्कशेखरका सहस्राभिषेक कीजिये ।'

'महाराजका आसन ?' शास्त्रीजीके विश्वासने उल्लास दिया ।

'मेरी चिन्ता छोड़िये ! ये रुपये ले जाइये ! छोटे भाईसे कहिये कि जहाँसे मिले, घी लेकर आ जायँ और उपाध्यायजीको भेज दीजिये । वेदियाँ बनाने और पूजनादिमें समय लगेगा ।' मैं तबतक शेष सामग्री संकलित करता हूँ ।' साधुको इतनी उमंगका अनुभव कभी यज्ञमें नहीं हुआ था ।

'यज्ञ कहाँ होगा ?' ग्रामीणोंकी श्रद्धा वाक्योंका मञ्जुल प्रस्तार नहीं कर पाती ।

'आप मन्दिरमें अखण्ड धारा चढ़ाइये और मैं नन्दीश्वरके सम्मुख भगवान्‌के तैजस रूपको आहुतियाँ अर्पित करता हूँ !' गङ्गातटके समीप कगारपर एक छोटा-सा भगवान् शङ्करका मन्दिर है । संन्यासीका संकेत उधर ही था ।

'बिल्वपत्र तो यही हैं !' तीनों दल स्पष्ट भी नहीं हुए थे । कुछ हरे-हरे अङ्कुरमात्र थे । वृक्षोंमें पत्ते ही नहीं तो मिलें कहाँसे ।

'यही क्या कम हैं !' संन्यासी आज पदार्थोंकी बहुलतासे ऊपर है । उनके हृदयमें जो है, वह क्या इन उपकरणोंकी अपेक्षा करता है । अक्षत, धूप, दीप, घृत, नैवेद्य जो मिल सका, आया । इस छोटेसे ग्रामके लिये ऐसे दुर्दिनमें इतना एकत्र करना कैसे शक्य हुआ, यही जानना कठिन है ।

'नमः शिवाय च शिवतराय च । नमः शम्भवाय च मयस्कराय च ।'

मन्दिरमें ब्राह्मणोंका कण्ठ अखण्ड गूँज रहा था । बाहर नर-नारी खड़े 'हर हर महादेव' का नाद कर रहे थे । तीसरे पहरके अन्तमें सर्वतोभद्र, नवग्रह, कलश-पूजन समाप्त हुआ और अरणिमन्थन प्रारम्भ हो सका ।

× × ×

'नाथ, यह हो क्या रहा है ? आपने मुझे वचन दिया है !' वनस्पतियोंके राजा सोम चन्द्रदेवके सम्मुख खड़े थे। पूर्णिमाका चन्द्रबिम्ब सघन मेघोंसे पृथ्वीपर अदृश्य हो चुका था।

'भगवान् शङ्करकी धरा एक मूर्ति है !' चन्द्रदेवने बात ढंगसे कही 'उनके विग्रहको मानव अखण्ड अभिषिक्त कर रहा है। उनके अग्नि-विग्रहको आहुतियाँ मिल रही हैं, उनके धरा-विग्रहका गगन धाराभिषेक करने जा रहा है !'

'आपने कहा था कि कृत्रिम वनस्पतियोंको पोषण न देंगे !' सोमके स्वरमें निराशा थी।

'सोम ! मुझमें और तुममें भी जो रसरूपसे स्थित होकर सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता है, वह सन्तुष्ट है। उसकी इच्छाके विपरीत तुम कुछ कर सकते हो ?'

'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।' पृथ्वीपर श्रुति-पाठ चल रहा था। कौन है वह सोम ? यह तो श्रुति और उसके द्रष्टा ही जानते हैं।

भक्त-गाथा

[भक्तिमती कुँअररानी]

कुँअररानी संभ्रान्त राजपूत माता-पिताकी एकमात्र लड़ैती सन्तान थी। सम्पन्न घर था, माता-पिता बहुत ही साधु-स्वभावके तथा भगवद्भक्त थे। कुँअररानीके अतिरिक्त उनके कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये माता-पिताके समस्त स्नेह-सौहार्दकी पूर्ण अधिकारिणी एकमात्र कुँअररानी ही थी। वह बहुत ही प्यार-दुलारसे पाली-पोसी गयी थी। उसने जैसे माता-पिताके स्नेहको प्राप्त किया, उसी प्रकार उनकी साधुता तथा भगवद्भक्तिका भी उसके जीवनपर काफी असर हुआ। वह लड़कपनसे ही भगवान्के दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यमय स्वरूपका ध्यान किया करती और भगवान्का मधुर नामकीर्तन करते-करते प्रेमाश्रु बहाती हुई बेसुध हो जाती। माता-पिताने चौदह वर्षकी उम्रमें बड़े उमंग-उत्साहके साथ उसका विवाह कर दिया। कुँअररानी बिदा होकर ससुरार गयी। विधाताका विधान बड़ा विचित्र होता है। उसी रात्रिको उसके माता-पिताने भगवान्के पवित्र नामका कीर्तन करते हुए विषूचिका रोगसे प्राण त्याग दिये। कुँअररानीको पाँचवें दिन एक कासीदने जाकर यह दुःखप्रद समाचार सुनाया। वह उसी दिन वापस लौटनेवाली थी और माता-पिताके भेजे हुए किसी आदमीकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसके बदले माता-पिताका मरण-संवाद लेकर कासीद आ गया। अकस्मात् मा-बापके मरणका समाचार सुनकर कुँअररानी स्तब्ध रह गयी। उसको बड़ा ही दुःख हुआ परंतु लड़कपनमें प्राप्त की हुई सत्-शिक्षाने उसे धैर्यका अवलम्बन प्राप्त करनेमें बड़ी सहायता की। उसने इस दुःखको भगवान्का मङ्गलविधान मानकर सहन कर लिया और पीहर जाकर माता-पिताके श्राद्धादिको भलीभाँति सम्पन्न करवाया। माता-पिताके कल्याणार्थ अधिकांश सम्पत्ति सुयोग्य पात्रोंको दान कर दी तथा शेषकी सुव्यवस्था करके वह ससुरार लौट आयी। पति सांवतसिंह बहुत ही सुशील, धर्म-परायण तथा साधु स्वभावके थे, इससे उसके मनमें सन्तोष था परंतु विधाताका विधान कुछ दूसरा ही था। छः ही महीने बाद साँप काटनेसे उनकी भी मृत्यु हो गयी। घरमें रह गये बूढ़े सास-ससुर और विधवा कुँअररानी ! कुँअररानी अभी केवल चौदह वर्षकी थी। इस भीषण वज्रपातने एक बार तो उसके हृदयको भयानकरूपसे दहला

दिया। परंतु कुछ ही समय बाद भगवत्कृपासे उसके हृदयमें स्वतः ही ज्ञानका प्रकाश छा गया। उस प्रकाशकी प्रभामयी किरणोंने जगत्‌के यथार्थ रूप, जागतिक पदार्थों और प्राणियोंकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता तथा दुःखरूपता; मानव-जीवनके प्रधान उद्देश्य, मनुष्यके कर्तव्य, मनुष्यको प्राप्त होनेवाले समस्त सुख-दुःखोंमें मङ्गलमय भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपा, और भगवान्‌की शरणागति तथा भजनसे ही समस्त दुःखोंका नाश तथा नित्य परमानन्दस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति होती है—इन सारी चीजोंके प्रत्यक्ष दर्शन करा दिये। उसका दुःख जाता रहा। जीवनका लक्ष्य निश्चित हो गया और उसकी प्राप्तिके लिये उसे प्रकाशमय निश्चित पथकी भी प्राप्ति हो गयी।

कुँअररानीने इस बातको भलीभाँति समझ लिया कि मनुष्यजीवनका परम और चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। नारी हो या पुरुष—जीव मनुष्ययोनि प्राप्त करता है भगवान्‌को पानेके लिये ही; परंतु यहाँ विषय-भोगोंके भ्रमसे भासनेवाले आपातरमणीय सुखोंमें इस लक्ष्यको भूलकर विषयसेवनमें फँस जाता है और फलतः कामनाकी परवशतासे मानव-जीवनको पापोंके संग्रहमें लगाकर अधोगतिमें चला जाता है। विषय-सेवनसे आसक्ति और कामनादि दोष बढ़ते हैं और इसीलिये बुद्धिमान् विरागी पुरुष विषयोंका स्वेच्छापूर्वक त्याग करके संन्यास ग्रहण करते हैं। यद्यपि विवाह-विधान भी कामनाको संयमित करके भगवत्प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर होनेके लिये ही है। उसका भी चरम उद्देश्य विषयोपभोगमें अनासक्त होकर भगवान्‌की ओर लगाना ही है। इसीलिये गृहस्थीको भगवान्‌का मन्दिर और पतिको भगवान् मानने तथा गृहकार्यको भगवत्सेवाके भावसे करनेका विधान है। इतना होनेपर भी सधवा स्त्रियोंको विषयसेवनकी सुविधा होनेसे उनमें विषयासक्तिका बढ़ना सम्भव है। विधवाजीवन इस दृष्टिसे सर्वथा सुरक्षित है। यह एक प्रकारसे पवित्र साधुजीवन है, जिसमें भोगजीवनकी समाप्तिके साथ ही आत्यन्तिक सुख और परमानन्दस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले आध्यात्मिक साधनोंका संयोग स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। कामोपभोग तो नरकोंमें ले जानेवाला और दुःखोंकी प्राप्ति करानेवाला है। भोगोंसे आजतक किसीको भी परम शान्ति, शाश्वत सुख या भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई।

यह सब सोचकर कुँअररानीने मन-ही-मन कहा—मुझे यदि भोगजीवनमें ही रहना पड़ता तो पता नहीं आगे चलकर मेरी क्या दशा होती। बच्चे होते, उनमें मोह होता, मर जाते, दुःख होता, कामनाका विस्तार होता, चित्त मोहजालसे फँस जाता और दिन-रात नाना प्रकारकी चिन्ता-ज्वालाओंसे जलना पड़ता। मनको प्रपञ्चके अतिरिक्त परमात्माका चिन्तन करनेका कभी शायद ही अवकाश मिलता। भगवान्‌की मुझपर बड़ी ही कृपा है जो उन्होंने मुझको अनायास और बिना ही माँगे जीवनको सफल बनानेका सुअवसर दे दिया है। पशुकी भाँति इन्द्रिय-भोगोंमें रची-पची रहनेकी इस पवित्र जीवनसे क्या तुलना है। भगवान्‌ने मुझ डूबती हुईको उबार लिया। धन्य है उनकी कृपाको।

उसने सोचा, मनुष्य भ्रमसे ही ऐसा मान बैठता है कि भगवान्‌ने अमुक काम बहुत बुरा किया। वास्तवमें ऐसी बात है, मङ्गलमय भगवान् जो कुछ भी करते हैं, हमारे मङ्गलके लिये ही करते हैं। समस्त जीवोंपर उनकी मङ्गलमयी कृपा सदा बरसती रहती है। उनकी मङ्गलमयता और कृपालुतापर विश्वास न होनेके कारण ही मनुष्य दुखी होता, अपने भाग्यको कोसता और भगवान्‌पर दोषारोपण करता है। फोड़ा होनेपर उसे चीर देना, विषमज्वर होनेपर चिरायते तथा नीमका कड़वा क्वाथ पिलाना और कपड़ा पुराना एवं गंदा

हो जानेपर उसे उतारकर नया पहना देना जैसे परम हितके लिये ही होता है, वैसे ही हमारे अत्यन्त प्रिय सांसारिक सुखोंका छीना जाना, नाना प्रकारके दुःखोंका प्राप्त होना और शरीरसे वियोग कर देना भी मङ्गलमय भगवान्के विधानसे हमारे परम हितके लिये ही होता है । हम अपनी बेसमझीसे ही उसे भयानक दुःख मानकर रोने-कलपते हैं । इन सारे दृश्योंके रूपमें, इन सभी रोगोंको धारण करके नित्य नवसुन्दर, नित्य नवमधुर हमारे परम प्रियतम भगवान् ही अपनी मङ्गलमयी लीला कर रहे हैं, इस बातको हम नहीं समझते । रोने-कराहनेकी भयानक लीलाके अंदर भी वे नित्य मधुर हँसी हँस रहे हैं, इसे हम नहीं देख पाते । इसीसे बाहरसे दीखनेवाले दृश्यों और स्वाँगोंकी भीषणताको देखकर काँप उठते हैं ।

दुःखके रूपमें भगवान्का विधान ही तो आता है और वह विधान अपने विधाता भगवान्से अभिन्न है । सारांश कि भगवान् ही दुःखके रूपमें प्रकट हैं । और वे इस रूपमें प्रकट हुए हैं हमारे परम कल्याणके लिये ही ।

अहा ! मुझपर भगवान्की कितनी अकारण करुणा है जो उन्होंने मेरे सारे सांसारिक झंझटोंको, विषयोंमें फँसानेवाले सब साधनोंको हटाकर मुझको सहज ही अपनी ओर खींच लिया है । मुझे आज उनकी अहैतुकी कृपासे यह स्पष्ट दीखने लगा है कि समस्त सुखोंके भण्डार एकमात्र वे श्रीभगवान् ही हैं । विषयोंमें सुख देखना और विषयभोगोंसे सुखकी आशा रखना तो जीवका महामोह या भीषण भ्रम है, आज भगवान्ने कृपा करके मेरे इस महामोहको मार दिया और भीषण भ्रमको भंग कर दिया है ! यह क्या मुझपर उनकी कम कृपा है । वे कृपासागर हैं, कृपा ही उनका स्वभाव है, वे नित्य कृपाका ही वितरण करते हैं । धन्य है ! अब तो बस मैं केवल उन्हींका चिन्तन करूँगी, उन्हींके नामको सदा रटूँगी । वृद्ध सास-ससुरके रूपमें भी उन्हींके दर्शन करूँगी । भगवान्का भजन ही तो मानव-जीवनका प्रधान धर्म है । जिसके जीवनमें भजन नहीं, वह तो मनुष्य-नामधारी पशु या पिशाच है । मानवताका विकास—प्रकाश और प्रसार तो भजनसे ही होता है । दिन-रात प्रभुका मधुर स्मरण करना और दिन-रातकी प्रत्येक चेष्टाका प्रभुकी पूजा तथा प्रसन्नताके लिये ही किया जाना भजन है ।' इस प्रकार विवेक, विचार और निश्चय करके परम भाग्यवती कुँअररानी भगवान्के नित्य भजनमें लग गयी ।

जो स्त्रियाँ घर और घरके पदार्थोंमें आसक्त न होकर पतिके घरको भगवान्का मन्दिर, पतिको भगवान् तथा घरके कार्यको भगवान्की सेवा मानकर जीवन निर्वाह करती हैं, उनकी बात तो अलग है; पर जो केवल विषय-सेवन तथा कामोपभोगके लिये ही पतिका सेवन करती है और कुत्ती, गदही या सूकरीकी भाँति शरीर-संयोगमें ही सुखका अनुभव करती है वह तो वस्तुतः मन्दभागिनी ही है; क्योंकि वह दुर्लभ मानव-जीवनको व्यर्थ खो ही नहीं रही है, साथ जानेवाली पापकी भारी पोट भी बाँध रही है । भगवान् शङ्करने कहा है—

उमा सुनहु ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥

जो भगवान्को छोड़कर विषयोंमें अनुराग करते हैं, वे ही वस्तुतः अभागे हैं । कुँअररानी इस अभागेपनसे सर्वथा छूट गयी है और माता-पिता तथा पतिसे रहित होकर भी वह परम सौभाग्यको प्राप्त हो गयी है; क्योंकि उसका चित्त क्षणभङ्गुर दुःखरूप विषयोंसे विरक्त होकर नित्य सत्य सनातन परमानन्दस्वरूप प्रभुके सदा-सुखद अच्युत चरणारविन्दका चञ्चरीक बन गया । उसने जागतिक दृष्टिसे दीखनेवाले अति भयानक दुःखमें भी भगवान्को देखा, पहचाना और पकड़ लिया ! भक्त तो कहता है—

देख दुःखका वेश धरे मैं
नहीं डरूँगा तुमसे नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं
पकड़ूँगा जोरोंके साथ ।

× × × ×

तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब,
तब फिर मैं किस लिये डरूँ ।
मृत्यु-साज सज यदि आओ
तो चरण पकड़ सानंद मरूँ ॥

× × × ×

कुँअररानी वृद्ध सास-ससुरकी भगवद्भावसे सेवा करने लगी । छोटी उम्र होनेपर भी उसकी सच्ची भक्ति-भावनाका प्रताप इतना बढ़ा कि आसपासके लोग ही नहीं, गाँवभरके नर-नारी उसके परम पवित्र तथा परम तेजस्वी जीवनसे प्रभावित होकर भगवान्‌की ओर लग गये । वह उस गाँवके लोगोंके लिये मानो भवसागरसे तारनेवाली जहाज ही बन गयी ।

उसकी जीवनचर्या बड़ी ही पवित्र और आदर्श थी । उसने नमक और मीठा खाना छोड़ दिया । वह सदा सादा भोजन करती । सादे सफेद कपड़े पहनती । सिरके केश मुँडवा दिये । आभूषणोंका त्याग करके तुलसीकी माला गलेमें पहन ली । मस्तकपर गोपीचन्दन-का तिलक करती । रातको काठकी चौकीपर घासकी चटाई बिछाकर सोती । जाड़ेके दिनोंमें एक कम्बल बिछाती और एक ओढ़ती । रात्रिको केवल चार घंटे सोती । प्रातःकाल सूर्योदयसे बहुत पहले उठकर स्नानादिसे निवृत्त हो सास-ससुरकी सेवामें लगती । मुँहसे सदा भगवान्‌का नामोच्चारण होता रहता और मनमें सदा भगवान्‌की मधुर छविका दर्शन करती रहती । गीता, रामायण और भागवतका पाठ तथा मनन करती । दिनमें अधिकांश समय मौन रहती । नियत समयपर सास-ससुरको प्रतिदिन श्रीमद्भागवत, रामायण या गीता सुनाती तथा उनके अर्थको समझाती । उसी सत्सङ्गमें गाँवके लोग भी आते जो वहाँसे जीवनको सुख-शान्ति प्रदान करने-वाले अत्यन्त पवित्र मधुर अमृतकणोंको लेकर लौटते । जैसा उसका उपदेश होता, वैसा ही उसका जीवन भी था । तपस्या, विनय, प्रेम, सन्तोष, भगवद्भक्ति, विरक्ति एवं दैवीसम्पत्ति आदि सब मानो उसमें मूर्तिमान् होकर रहते थे । उसे देखते ही देखनेवालेके मनमें पवित्र मातृभाव तथा भगवद्भाव उदय होता । वह अपने घरका सारा काम अपने हाथों करती । घरमें कुआँ था, उससे स्वयं पानी भरती, स्वयं झाड़ू लगाती, बर्तन माँजती, कपड़े धोती, रसोई बनाती, भगवान्‌की सेवा करती और सास-ससुरकी सेवा करती । उसका जीवन सब प्रकार-से सात्त्विक और आदर्श था । इस प्रकार सास-ससुर जबतक जीवित रहे, तबतक वह पूर्ण संयमित जीवनसे घरमें रहकर उनकी सेवा करती रही । और उनके मरनेपर वह सब कुछ दान करके श्रीवृन्दावनधाममें चली गयी एवं वहाँ एक परम विरक्त संन्यासिनीकी भाँति कठोर तपस्या तथा भजनमय जीवन बिताकर अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त हो गयी !

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

सुन्दर नन्दकुमार

माथे मनोहर मोर लसै पहिरे हियमें गहिरे गर हारन ।
कुंडल मंडित गोल कपोल सुधासम बोल बिलोल निहारन ॥
सोहत त्यों कटि पीत-पटी मन मोहत मंद महापग धारन ।
सुंदर नंद-कुमारके ऊपर वारिये कोटि कुमार-कुमारिन ॥

कामके पत्र

(१)

दो प्रकारके पापी

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। पापी दो प्रकारके होते हैं—एक वे, जिनकी पापमें पापबुद्धि है। उनके द्वारा पापकर्म बनता है, पर वह उनके हृदयमें सदा काँटा-सा चुभता है। आदत, व्यसन, परिस्थिति और कुसङ्ग आदिके कारण समयपर वह अनियन्त्रित-सा हो जाता है और न करने योग्य कार्य कर बैठता है; परंतु पीछे उसे अपने उस दुष्कर्मके लिये बड़ी आत्मग्लानि होती है, बड़ा पश्चात्ताप होता है। ऐसी स्थितिमें वह पुनः वैसा दुष्कर्म न करनेका मन-ही-मन निश्चय करता है; परंतु अवसर आनेपर पुनः विचलित हो जाता है। अन्तमें रो-रोकर सर्वशक्तिमान् सदा सर्वत्र वर्तमान दीनैकशरण भगवान्‌को ही अपना एकमात्र त्राणकर्ता मानकर उनसे प्रार्थना करता है। ऐसे ही पापीके सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्‌ने घोषणा की है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'महान् दुष्ट आचरण करनेवाला पुरुष भी यदि मुझको अनन्यभाक् होकर (अर्थात् भगवान्‌के सिवा किसी भी साधन, कर्म, योग, ज्ञान, देवता या इष्टको शरण्य और त्राणकर्ता न मानकर—केवल भगवान्‌को ही अपना एकमात्र रक्षक और आश्रयदाता जानकर) भजता है, उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय सर्वथा यथार्थ है। वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा (सारे पापोंसे सर्वथा छूटकर धर्ममय) बन जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम निश्चय सत्य मानो कि मेरे भक्तका (इस प्रकार एकमात्र भगवान्‌को ही परम आश्रय माननेवाले पुरुषका) पतन नहीं होता।'

दूसरे प्रकारका पापी वह है, जिसकी पापमें उपेक्षाबुद्धि है, अथवा पापासक्ति अधिक होनेके कारण जो पाप करके गौरव और गर्वका अनुभव करता है। ऐसे पापीका त्राण नहीं होता। उसका पतन अवश्यम्भावी है। इस प्रकारके पापीके लिये भगवान्‌ने कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(गीता ७। १५)

'जिनकी बुद्धि सर्वथा सम्मोहित हो गयी है, जिनका ज्ञान मायाके द्वारा सर्वथा हरा जा चुका है, जो आसुर-भावका आश्रय लिये हुए हैं, वे नराधम पापी मनुष्य मेरा भजन नहीं करते।'

आपके मनमें यदि पापसे घृणा है, पापके लिये घोर पश्चात्ताप है तो आप पहले प्रकारमें ही आते हैं और पहले प्रकारके पापीके लिये निराशाकी कोई बात नहीं है। आप करुणावरुणालय अशरणशरण पतितपावन दीनबन्धु भगवान्‌की सहज करुणाका भरोसा करके उनका समाश्रयण कीजिये। उनकी कृपाशक्तिका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि जो कोई विश्वास करके एक बार उसकी ओर कातर दृष्टिसे ताक लेता है, वह तुरंत ही उसकी सब प्रकारकी सारी पाप-कालिमाओंको सदाके लिये नष्ट कर देनेका सङ्कल्प कर लेती है और जहाँ कृपाशक्ति किसी आर्त्त प्राणीके आर्त्तिनाशका निश्चय करती है, वहाँ भगवान्‌की अन्यान्य समस्त शक्तियाँ उसका सहयोग देने लगती हैं। भगवान्‌की कृपाशक्ति ऐसी अमित महिमामयी है कि समस्त शक्तियाँ सहज ही उसका अनुसरण करनेमें अपनेको धन्य मानती हैं और जब भगवान्‌की ये उदार शक्तियाँ किसीके उद्धारका मनोरथ और प्रयत्न करती हैं, तब उसके उद्धारमें कौन देर लगती है?—

जापर दीनानाथ ढरें, सोइ मुक्ती उदार सो अनुपम सोइ सुकर्म करै॥
राम कृपा करि चितवहिं जबही। सकल दोष दुख नासहिं तबही॥
जापर कृपा राम की होई। तापर कृपा करहिं सब कोई॥

भगवान् तो यह घोषणा ही कर चुके हैं कि वह पापात्मासे बदलकर 'क्षिप्रं' (तुरंत—चुटकी मारते-मारते) धर्मात्मा हो जाता है। उसका पतन तो हो ही नहीं सकता।

ऐसी अवस्थामें आपको न तो पापोंके लिये चिन्तित होना चाहिये और न पापकी प्रबल शक्तिसे डरना ही चाहिये। पापमें शक्ति ही कितनी है जो समस्त भगवच्छक्ति-चूडामणि महान् उदार कृपाशक्तिके सामने क्षणभर भी ठहर सके। जैसे सूर्योदयकी अरुणिमाका उदय होते ही अमावस्या-का घोर अन्धकार नाश होने लगता है और सूर्योदय होने-पर सूर्यके सामने तो उसका कहीं पता ही नहीं लगता—क्षणमात्रमें ही उसका क्षय हो जाता है। इसी प्रकार

भगवान्की कृपाशक्तिका प्रकाश होते ही पापान्धकारका समूल नाश हो जाता है। बस, शर्त यही है, मनुष्य अनन्य विश्वासके साथ कृपापारावार भगवान्की कृपाशक्तिका आश्रय ग्रहण कर ले।

अतएव आप श्रीभगवान्की कृपाका भरोसा करके उनकी शरण हो जाइये और मनमें यह निश्चय कीजिये कि उनकी कृपाशक्तिके सामने मनमें पापकी स्फुरणाका भी उदय नहीं हो सकता। फिर पाप तो होंगे ही कहाँसे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

दिन-रात भगवद्भजन कैसे हो?

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपको दिनभर काममें लगे रहना पड़ता है, अवकाश बहुत कम मिलता है, इसलिये तीव्र इच्छा होनेपर भी आप अलग बैठकर भजन-ध्यानके लिये समय नहीं निकाल सकते। काम करते हुए ही भजनका कोई तरीका जानना चाहते हैं—सो बहुत अच्छी बात है। मेरी समझसे ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिये कि आपको समय मिलता ही न हो। शौच, स्नान, भोजन, शयन आदिके लिये समय किसी तरह आप निकालते ही होंगे। वैसे ही आप चाहें तो भजनके लिये भी कुछ समय निकाल सकते हैं। जो कार्य अत्यन्त आवश्यक होता है, जिस कार्यके प्रति मनमें आकर्षण होता है तथा जिसके लिये तीव्र इच्छा होती है, उसके लिये समय मिल ही जाता है। आप प्रयत्न करके देखें, आपकी लगन, रुचि तथा मनमें आवश्यकताकी भावना होगी तो आसानीसे समय मिल जायगा। फिर श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने एक ऐसा तरीका बतलाया है कि जिससे यदि मनुष्य चाहे तो प्रतिक्षण भगवान्का भजन-पूजन बड़ी सुगमताके साथ कर सकता है। भगवान् कहते हैं—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
> (गीता १८। ४६)

'जिन परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिनके द्वारा यह सर्व जगत् व्याप्त है, उन परमात्माको अपने सहज कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको (मानव-जीवनकी परम और चरम सफलताको) प्राप्त हो जाता है।'

भगवान्के इस आदेशके अनुसार मनुष्य चाहे जहाँ, चाहे जब, अपने ही द्वारा किये जानेवाले उसी समयके कर्मोंके द्वारा भगवान्का भजन-पूजन कर सकता है।

इसमें किसी स्थान-विशेष, समय-विशेष, स्थिति-विशेष और उपचार-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। किसी भी वर्णाश्रमका मनुष्य, किसी भी स्थानमें, किसी भी स्थितिमें सर्वत्र-स्थित भगवान्का पूजन कर सकता है। इस पूजनमें गन्ध-पुष्प, धूप-दीप आदिकी भी आवश्यकता नहीं है। जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रीय कर्म विहित है, उसीके द्वारा वह भगवान्की पूजा कर सकता है। बस, मनका भाव यह होना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, सर्वव्यापी और सर्वाधार भगवान्की पूजा ही कर रहा हूँ। फिर सोना-जागना, खाना-पीना, जाना-आना, व्यापार-व्यवसाय करना, यहाँतक कि शरीर-शुद्धितकके सभी कर्म भगवान्की पूजाके उपकरण बन जायँगे। आप इस प्रकारसे हर समय भगवान्की पूजा कर सकते हैं। जिसको भी देखें, जिससे भी बात करें, मन-ही-मन यह निश्चय कर लें कि इस रूपमें भगवान् ही आपके सामने स्थित हैं। तदनन्तर उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करके उस समयके लिये उसके साथ जिस प्रकारका व्यवहार-बर्ताव करना शास्त्रदृष्टिसे विहित हो, उसी प्रकारके व्यवहार-बर्तावद्वारा उनकी पूजा करें। फिर, आप अलग समय निकालकर भजन-पूजन न भी कर सकेंगे तो भी कोई हानि नहीं है। इस प्रकारसे भगवान्का भजन-पूजन करने लगनेपर आपके समस्त कर्म स्वाभाविक ही भगवदर्पण हो जायँगे और आपके चित्तमें सदा सहज ही भगवान्की स्मृति भी बनी रहेगी। भगवदर्पण कर्मोंका और भगवान्की नित्य स्मृतिका फल तो भगवत्-प्राप्ति है ही। भगवान् कहते हैं—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
> शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
> संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
> (गीता ९। २७-२८)

'अर्जुन! तुम जो कुछ भी कर्म करते हो—खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो और तप करते हो, सब मेरे अर्पण कर दो। इस प्रकार, जिसमें समस्त (लौकिक, पारलौकिक, पारमार्थिक आदि) कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाले तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होओगे।'

> तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
> (गीता ८। ७)

'अतएव तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मुझमें अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर तुम निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

इस प्रकार मनुष्य भगवत्-स्मरण तथा भगवदर्पण-बुद्धिसे किये जानेवाले विहित कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करता हुआ अनायास ही भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। और इस प्रकार सभी लोग कर सकते हैं। पर इसके साथ ही, कुछ समय प्रतिदिन अलग भी भगवान्‌का भजन-पूजन किया जाय तो उससे जल्दी लाभ होता है और वह सहज भी है। यह सत्य है कि पूरा भजन तो वही है जो आठों पहर बिना विरामके और प्रत्येक कर्मके द्वारा ही होता रहता है। पर ऐसे भजनमें प्रवृत्ति हो, इसके लिये भी नित्य नियमपूर्वक कुछ समयतक अलग बैठकर भजन करनेकी आवश्यकता है। मेरी समझसे आप यदि थोड़ी भी चेष्टा करेंगे तो आपको समय मिल ही जायगा।

यह याद रखना चाहिये कि मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है और एकमात्र कर्तव्य भगवद्भजन है। चाहे जैसे भी हो, अपनी-अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुसार यह अवश्य करना ही चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(३)

श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम-तत्त्व हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। गीताके पुरुषोत्तम-तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा, सो वस्तुतः इस तत्त्वका यथार्थ ज्ञान तो भगवान् व्यासको ही है, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है। मैं तो अपने विचारकी बात लिख सकता हूँ और अपनी समझ तथा दृष्टिकोणसे मुझे इस मान्यतामें पूर्ण विश्वास है। मेरी समझसे गीताके श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। यही समग्र ब्रह्म हैं। ये क्षरसे अतीत हैं, अक्षरसे उत्तम हैं और सर्वगुह्यतम परम तत्त्व हैं। ये ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं। इनमें एक ही साथ परस्परविरोधी धर्मोंका प्रकाश है। ये निर्गुण हैं और अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगण-स्वरूप हैं; ये सर्वेन्द्रियविवर्जित हैं और सर्वेन्द्रियगुणाभास हैं। ये कर्तृत्वहीन हैं और सर्वकर्ता हैं; ये अजन्मा हैं और जन्म धारण करते हैं; ये सबसे परे हैं और सदा सबमें व्याप्त हैं; ये सर्वथा असङ्ग हैं और नित्य प्रेम-परवश हैं। यही अर्जुनके सखा हैं, सारथि हैं, गुरु हैं और भगवान् हैं। ये निर्गुण, निरञ्जन, निष्क्रिय, निष्कल, निरवद्य, अनिर्देश्य, अचल, कूटस्थ, अव्यक्त तत्त्व हैं और ये ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सार-समुद्र, नित्य नटवर, श्यामसुन्दर हैं एवं ये ही गति, भर्ता, भोक्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, सुहृद्, माता, पिता, धाता, पितामह, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, परमात्मा और महेश्वर हैं। गीतामें जहाँ-जहाँ अहं, मम, मे, माम्, मत्तः, मया पद आये हैं, सब इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके लिये ही आये हैं। यह श्रीकृष्णतत्त्व ही गीताका प्रतिपाद्य है और इसीकी शरणागतिका चरम उपदेश गीतामें दिया गया है। यही गीताकी सर्वगुह्यतम शिक्षा है।

(४)

खर्च घटनेका उपाय—सादगी

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आजकल हमलोगोंके खर्च बहुत बढ़ गये हैं—यह सत्य है। इसका कारण महँगी तो है ही। साथ ही हमारी रहन-सहनकी खर्चीली पद्धति भी है। रहन-सहनका स्टैण्डर्ड (स्तर) ऊँचा करनेकी चर्चा इधर बहुत जोरोंसे चल रही थी। इस स्तरकी उच्चताने इतना अधिक व्यर्थ खर्च बढ़ा दिया है कि जिसकी पूर्ति अब बहुत कठिन हो गयी है। अभाव जितना बढ़ाइये, उतना ही बढ़ता रहेगा। कामनाका अन्त कहाँ है। और जितनी ही कामना बढ़ेगी, उतना ही अनाचार, भ्रष्टाचार और पाप बढ़ेगा—यह प्रत्यक्ष है। भगवान्‌ने गीतामें भी इस कामनाको ही महाशन (भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला), महापापी और मनुष्यका शत्रु बतलाया है। 'महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।' (३।३७) और पापका फल दुःख होगा ही। एक युग था, जब यहाँके निवासी कहते थे—

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत्॥

'वनमें उत्पन्न होनेवाले शाक आदिके द्वारा ही जब पेट भर जाता है, तब इस पेटके लिये कोई महान् पाप क्यों करेंगे।' आज यह सपनेकी-सी बात हो गयी है।

आज तो हमारा पेट इतना बढ़ गया है कि वह किसी भी हालतमें भरता ही नहीं। कामनाकी भूखका क्या ठिकाना। इसीसे आज प्रत्येक व्यक्ति अर्थ और अधिकारके पीछे पागल है।

खान-पानमें अपनी देशप्रथाके अनुसार पहले जो कुछ होता था, उसमें एक संयम था। अब देशके बड़े-बड़े अग्रणी पुरुष भी अंगरेजी पढ़-लिखकर ब्रेक-फास्ट (प्रातःकालीन भोजन), लंच (मध्यकालीन भोजन), टिफिन (मध्याह्नोत्तर ब्यालू), डिनर (रात्रिभोजन) करते हैं। इसके सिवा, बेड् टी (बिस्तरकी चाय) से लेकर रात्रितक कई बार

बिस्कुटसहित चाय अलग ली जाती है । फल और सूखा मेवा अलग । अब बतलाइये, भोजनखर्च क्यों न बढ़े ।

गाँवोंमें पहले लोग धोती पहनते और बदनपर एक गमछा या चादर डाल लेते थे । धूप, वर्षा, सर्दी आदि सहनेका इसीसे उनको अभ्यास था और इसीसे वे प्रायः नीरोग भी रहते थे । अब ग्रामवासी लोग भी पढ़ लिखकर वेश-भूषा सजाने लगे । गरमीकी मौसिममें भी पैरोंमें मोजे, पतलून या चूड़ीदार पाजामा, बदनपर तीन-चार कपड़े, कोट, लम्बी शेरवानी आदि आ गये हैं । इन कपड़ोंकी सिलाईमें सैकड़ों रुपये खर्च हो जाते हैं । बच्चोंको यूरोपियन ढंगकी घघरी, फ्राक, कोट आदि पहनाये जाते हैं । स्त्रियोंके फैशनका तो कोई ठिकाना ही नहीं । तब बताइये, खर्च कैसे नहीं बढ़ेगा ? खर्च तो तब घटेगा, जब इतनी वस्तुओंका व्यवहार नहीं किया जायगा और इसके लिये—जिनकी साधारण लोग नकल करते हैं, उन बड़े लोगों, नेताओं, सरकारी अफसरों आदिका सादे भोजन और सादे पोशाकवाले होना आवश्यक है ।

मुसल्मानी जमानेमें पाजामा, अचकन, शेरवानी आदि हमारी पोशाकमें आये । अंग्रेजोंके सङ्गसे पतलून, कोट, हैट आदि आये; परन्तु अब स्वराज्य मिलनेपर भी हमारा यह विदेशी मोह नहीं छूटा है—यह खेदकी बात है । महात्मा गाँधी लन्दनमें बादशाहसे नंगे बदन, नंगे पैर, छोटी-सी धोती पहने, चादर ओढ़े मिले थे । यदि आज हमारी सरकार यह घोषणा कर दे कि राष्ट्रिय पोशाक धोती और चद्दर है । और यदि बड़े बड़े मिनिस्टर, न्यायाधीश, जिलाधीश, विद्यालयों-महाविद्यालयोंके अधिपति, आचार्य, नेतागण, प्रमुख व्यापारीवर्ग इसी पोशाकमें अपने-अपने कार्यालयों, कचहरियों, विद्यालयों और दूकानोंपर उपस्थित होने लगें तो इनकी देखा-देखी बहुत शीघ्र जनता उसीके अनुसार धोती, चादरका व्यवहार करने लगे । कपड़ेका खर्च अपने-आप कम हो जाय । यह सच है कि मनुष्योंकी संख्या बढ़ी है; परन्तु साथ ही उत्पादन भी तो बढ़ा है । ज्यादा अभाव तो हुआ है कल्पित अभावोंको बढ़ा लेनेसे—उच्चस्तरके जीवनके नामपर अधिकाधिक वस्तुओंके व्यवहार और संग्रहसे।

पहले धार्मिक भावनासे नर नारी व्रत-उपवासादि करते थे । उससे भी बहुत अन्न बच जाता था । साथ ही संयम तथा इन्द्रिय-निग्रहका पाठ भी सीखते थे । अब तो धर्मका नाम लेना भी अपराध सा हो चला है । खर्च घटाना चाहते हैं, पर जीवनको निरङ्कुश, उच्छृङ्खल, वासनाओंका दास, विलासी और कल्पित अभावोंसे पूर्ण बना रहे हैं । विवाह आदिमें विभिन्न प्रकारके आडम्बर बढ़ रहे हैं; तब खर्च घटेगा कैसे । और खर्च न घटनेपर चोरी, डकैती, घूसखोरी, चोरबाजारी होगी ही । इन दोषोंको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम तो आवश्यक है—ईश्वर, परलोक तथा धर्ममें विश्वास । जब एकान्तमें भी मनुष्य चोरी करना, दूसरेका पैसा लेना अधर्म समझेगा, तब आजकी तरह उसकी केवल कानूनके पंजेसे बचकर पाप करनेकी प्रवृत्ति नहीं होगी । तभी ये अनर्थ बंद होंगे । साथ ही कल्पित अभावों तथा उच्च स्तरके (खर्चीले) जीवनसे भी अपनेको दूर रखना पड़ेगा । कामोपभोगपरायण मनुष्य तो अन्यायसे अर्थसञ्चय करेगा ही । जीवनमें जितने ही अभाव कम होंगे, जितनी ही आवश्यकताएँ थोड़ी होंगी, उतना ही जीवन निष्पाप रहेगा और उतनी ही सुख-शान्ति भी रहेगी ।

समाजसे इस पापको दूर करना है तो समाजके प्रमुख पुरुषोंको, शासनाधिकारियोंको और नेताओंको अपना जीवन बदलना पड़ेगा । तभी यह पाप मिटेगा । परोपदेशसे तथा कानूनी कड़ाईसे कुछ नहीं होगा । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ (समाजमें प्रमुख माने जानेवाला) व्यक्ति जो-जो आचरण करता है, साधारण लोग उसीका अनुकरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, जैसा आदर्श उपस्थित करता है, उसीके अनुसार लोग वर्तते हैं ।

(५)

भगवान्‌का मङ्गलविधान

प्रिय महोदय । सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । सचमुच इस समय भारतवर्षकी स्थिति बहुत शोचनीय है । हमारे समाज-जीवनका जिस प्रकारका नैतिक पतन हुआ है, उसे देखकर बड़ी चिन्ता होती है । इसका परिणाम अच्छा तो कैसे होगा; पर घबड़ानेकी बात नहीं है । अमावस्याके बाद ही शुक्ल पक्षका प्रारम्भ हुआ करता है । हमारे दुःख जब बहुत अधिक बढ़ जायँगे, तब हमें चेत होगा । भगवान्‌का विधान मङ्गलमय होता है । वे जीव-जगत्‌की भलीभाँति परिशुद्धि करनेके लिये ही विपत्तिरूपी औषधका प्रयोग किया करते हैं । जो कुछ करते हैं सर्वथा निर्भ्रान्त होकर निश्चित कल्याणके लिये ही । असल्में तो इस समय जो कुछ सङ्कट हमपर या तमाम विश्वपर आये

हुए हैं, वे सभी उनके मङ्गलमय विधानके ही अङ्ग हैं—जो पहलेसे सुनिश्चित हैं। हमारा कर्तव्य है कि इन दुःखों और विपत्तियोंमें भगवान्‌का मङ्गलमय हाथ देखकर हम इनका स्वागत करें एवं अपने विश्वास, श्रद्धा, प्रभु-शरणागतिसे तथा प्रभुके हाथके यन्त्र बनकर इन्हें सुख और सम्पत्तियोंके रूपमें परिणत कर दें। ऐसा हम कर सकते हैं—यदि प्रभुकी शरण होकर उनके विधानके रूपमें इनको सिर चढ़ायें। साथ ही अपने जीवनको प्रभुके सर्वथा अनुकूल बना लेना होगा। हमारी प्रत्येक चेष्टा प्रभुके मङ्गलकार्यका एक सुन्दर अङ्ग बन जाय। प्रतिकूल वस्तु या भाव हममें रहे ही नहीं। हम अपने अलग अस्तित्वको भूलकर प्रभुके ही चरणरजके एक कण बन जायँ, जिससे कि सदा चरणतलसे चिपटे रहकर निरन्तर उनके चरण-स्पर्शका सुखानुभव करते रहें। शेष भगवत्कृपा।

(६)

भगवद्दर्शनके साधन

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि भगवान्‌की प्राप्तिके अनेकों मार्ग हैं और अधिकारी-भेदसे सभी ठीक हैं। ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग—सभी अपने-अपने स्थानमें महत्त्व रखते हैं। इनमेंसे किसी एकको मुख्य रूपमें स्वीकार करके साधक अपना मार्ग निश्चित करता है। फिर इन ज्ञान, भक्ति, योग आदिके भी विभिन्न स्वरूप तथा स्तर हैं। एक मार्गसे यदि सफलता नहीं मिलती तो यह समझना चाहिये कि या तो उस मार्गपर वह साधक भलीभाँति चल नहीं पाया अथवा वह उस मार्गका अधिकारी नहीं है। परन्तु एक मार्गपर चलना आरम्भ करके उसे सहसा छोड़ना या बदलना नहीं चाहिये। सावधानीके साथ पता लगाना चाहिये—कहाँपर त्रुटि है। जहाँ त्रुटि मिले, वहीं उसकी पूर्तिका प्रयत्न करना चाहिये। साधक यदि लौकिक पदार्थोंकी कामनावाला नहीं है, वह शुद्ध हृदयसे एकमात्र भगवत्प्राप्ति या अपने इष्टस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार चाहता है तो उसके मार्गकी कठिनाइयोंको भगवान् स्वयं दूर करेंगे, वे ही उसके मार्ग-दर्शक बनेंगे और वे ही उसके लिये पाथेय, प्रकाश और साथीकी व्यवस्था करेंगे। आप अपनेको उनपर छोड़ दीजिये, अपनी जीवन-चर्याको सर्वथा उनके अर्पण कर दीजिये। फिर वे आप ही सम्हालेंगे। भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९। २२)

'जो अनन्य (एकमात्र मेरे ही शरणापन्न होकर मुझपर ही श्रद्धा, विश्वास, आशा-भरोसा रखनेवाले) मेरे जन निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए (मेरे लिये ही) मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषोंके योग-क्षेमका मैं स्वयं वहन करता हूँ। अर्थात् उनके प्राप्त साधन-की रक्षा—क्षेम मैं स्वयं करता हूँ और जो कुछ उन्हें प्राप्त करना है, उसका योग—प्राप्ति भी मैं स्वयं करा देता हूँ।'

हमें तो बस, यही करना है कि हम उनपर निर्भर करना सीख लें। अपना सब कुछ उन्हें सौंपकर उनके हाथकी कठपुतली बन जायँ। वे जब करें, जो करें, जैसे करें,—उसीमें हमें आनन्दका अनुभव हो। ऐसा होनेपर उनके दर्शन बहुत शीघ्र होते हैं।

उनके दर्शनका दूसरा साधन है—आत्यन्तिक उत्कण्ठा। जिसे 'अनिवार्य आवश्यकता' भी कह सकते हैं, जैसी प्यासेको जलकी होती है। हमारी भगवत्-मिलनकी इच्छा जब वैसी आवश्यकतामें परिणत हो जायगी, तब उसकी पूर्ति बिना विलम्ब होगी।

आप जो साधना कर रहे हैं, वह ठीक है। उसे श्रद्धा-पूर्वक करते जाइये। मनमें कभी अविश्वासको स्थान न दीजिये। न ऊबिये ही। धैर्यके साथ लगे रहिये। जो अधीरता भगवान्‌के मिलनकी आवश्यकता पैदा करती है, वह तो बहुत श्रेष्ठ है; परंतु जो अधीरता साधनमें शिथिलता लाती है, उससे सदा बचना चाहिये। वह तो साधनका विघ्न है।

'लागी रहु रे भाइया तेरी बनत-बनत बनि जाय।'

शेष भगवत्कृपा।

(७)

भगवान् शङ्कर और श्रीकृष्ण एक ही हैं

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके गुरुदेव समर्थ विद्वान् हैं और चार-पाँच वर्ष पहले आप उनसे भगवान् शङ्करका मन्त्र ले चुके हैं, पर इधर दो महीनेसे आपको लगातार स्वप्नमें भगवान् श्रीशङ्करके बदले भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करनेकी प्रेरणा मिलती है और आप दुविधामें हैं कि किसकी पूजा करें। इसके उत्तरमें निवेदन है कि वस्तुतः तत्त्वदृष्टिसे भगवान् श्रीशङ्करजीमें और भगवान् श्रीकृष्णमें कोई भी अन्तर नहीं है। एक ही भगवान् दो स्वरूपोंमें प्रकट हैं। इनमेंसे किसी एकको छोटा-बड़ा मानना उचित नहीं है। यह दूसरी बात है कि साधक अपने इष्टस्वरूपमें दृढ़ और अनन्य श्रद्धा रखकर उसीको सर्वोपरि

और सर्वरूप मानकर भजता है एवं अन्यान्य सभी भगवत्-स्वरूपोंको उसीके विभिन्न रूप मानता है एवं ऐसा ही होना भी चाहिये। आपने इधर श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत और रामायणका अध्ययन किया है, सम्भव है, इसी कारण श्रीकृष्ण-सम्बन्धी नवीन संस्कारोंके कारण आपको वैसे स्वप्न आते हों। यह भी हो सकता है कि आपकी प्रकृति श्रीकृष्णस्वरूपकी उपासनाके अनुकूल हो और स्वयं भगवान् शङ्कर ही आपको उनकी उपासनाके लिये प्रेरित करते हों। जो कुछ भी हो, आपको भगवान् श्रीशङ्करकी उपासना छोड़नी नहीं चाहिये और मन न माने तो श्रीशङ्करजीका ही दूसरा रूप समझकर श्रीकृष्णकी उपासना भी करनी चाहिये। कुछ समय बाद अपने-आप ही ढंग ठीक बैठ जायगा। यह निश्चय मानिये कि श्रीशङ्करजीकी पूजासे श्रीकृष्णकी पूजा हो जाती है और श्रीकृष्णकी पूजासे श्रीशङ्करजीकी! श्रीशङ्करजीमें दृढ़ निष्ठा होनेके लिये आपको शिवपुराण आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(८)

पापसे छूटनेका उपाय

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लड़कपनसे लेकर अबतककी अपने जीवनकी पाप-प्रवृत्तिका हाल लिखा, उसे पढ़कर खेद हुआ। सचमुच आपकी पत्नी बड़ी साध्वी थी जो आपको इस पापसे छूटनेके लिये समझाया करती थी। जो कुछ भी हो, अब तो आपकी उम्र भी अधिक हो चुकी है। आप सच्चा पश्चात्ताप करके दीनबन्धु पतितपावन भगवान्‌की शरण ग्रहण कीजिये। उन्हींको एकमात्र शरण्य, त्राणकर्ता और आश्रयदाता मानकर उनके चरणोंपर अपनेको डाल दीजिये तथा दिन-रात अविराम भगवन्नाम-जपका अभ्यास कीजिये। भगवदाश्रय और भगवन्नामसे पापोंका समूल नाश हो जाता है, यह निश्चित है। पर यह करना तो होगा आपको ही। शेष भगवत्कृपा।

(९)

भाईसे प्रेम करें

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी लिखी हुई बात आपकी दृष्टिसे ठीक ही है; परंतु आपकी दृष्टि ही बदली हुई है। द्वेषदृष्टि होनेपर सब दोषरूप हो जाता है। वरं द्वेष्य वस्तुके गुणोंमें भी दोष दीखता है और भेद तथा परायापन तो आ ही जाता है। यही कारण है कि आपलोग सगे भाई होते हुए भी पराये हो गये हैं। प्रेमका स्वभाव है अनेकको एक करना और द्वेषका स्वभाव है एकको अनेक करना। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ त्याग होगा ही। प्रेमकी भित्ति त्याग ही है। हम जिससे प्रेम करते हैं वे हमारे ही हो जाते हैं। उनका सुख ही अपना सुख होता है। अतएव उनके सुखके लिये सहज ही त्याग होता है। वहाँ छीनाझपटीका सवाल ही नहीं है। हमारा जिससे प्रेम होगा, उसके लिये हम त्याग करेंगे ही। और जहाँ स्वार्थ है वहीं त्यागका अभाव है, वहीं चोरी है, छिपावट है और छीनाझपटी है। वहीं द्वेष है और जहाँ द्वेष है वहीं दुःख है।

कलकत्तेके समीप एक वकील रहते थे। उनके घरमें एक उनकी पत्नी थी और एक छोटा भाई। छोटे भाईपर वकील साहेबका बड़ा प्रेम था; वह पढ़ता था। भाभीका भी देवरपर स्नेह था; परंतु ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों-ही-त्यों भाभीका प्रेम घटने लगा—वह देवरके प्रति द्वेष करने लगी। द्वेष होनेपर दोष दीखते ही हैं, उसे बात-बातमें दोष दीखने लगे और वह अपने पतिसे शिकायत करने लगी। पतिने बहुत समझाया-बुझाया; परंतु उसकी समझमें बात आयी ही नहीं। अन्तमें उसने पतिसे स्पष्ट कह दिया कि 'मेरे साथ आपके भाईका निर्वाह नहीं होगा, इन्हें अलग कर दीजिये।' वकील साहेबने दूसरा उपाय न देखकर दो दस्तावेज बनाये और एक दिन पत्नीको तथा छोटे भाईको पास बैठाकर छोटे भाईसे कहा—'देखो भैया! तुम्हारी भाभीको तुम्हारे व्यवहार-बर्तावसे संतोष नहीं है। यह बँटवारा चाहती है। मैंने भी निश्चय कर लिया है कि बँटवारा कर दिया जाय; क्योंकि रोज-रोजके कलहकी अपेक्षा एक बार निपटारा हो जाना उत्तम है। मेरे पास दो चीजें हैं—एक मैं और एक मेरी जमीन-जायदाद तथा अर्थसम्पत्ति। दोनोंके दस्तावेज तैयार हैं। तुम्हारी भाभी बड़ी है, अतः उसका पहला अधिकार है। इन दोनों चीजोंमेंसे जिस एकको वह पसंद करे, निःसंकोच प्रसन्नतासे ले ले। उसके ले लेनेपर जो चीज बचेगी वह तुम्हारे हिस्सेमें आ जायगी।' वकील साहेबकी बात सुनकर उनकी पत्नी बड़े सोचमें पड़ गयी। कुछ देर चुप रही। फिर सोच-साचकर उसने कहा—'मुझे तो जमीन-जायदाद और अर्थसम्पत्ति चाहिये।' वकील साहेबने बड़ी प्रसन्नतासे दस्तावेज निकाला। पढ़कर सुनाया, स्वयं हस्ताक्षर किये, छोटे भाईसे कराये और पत्नीसे कराये। फिर उसकी एक-एक प्रति दोनोंको दे दी। तदनन्तर भाईसे

कहा—'चलो, हमलोग अन्यत्र रहेंगे।' दोनों भाई जो एक-एक धोती कुर्ता पहने थे, वैसे-के-वैसे ही उठकर वहाँसे चल दिये। वकील साहबकी पत्नी कुछ भी बोल नहीं सकी। बोलती भी कैसे। देवरने जरूर भाभीकी चरणधूलि लेनेकी चेष्टा की। पर उसने पैर हटा लिया। पति-वियोगका तो उसे दुःख हुआ, पर देवरके हट जानेसे उसने मानो सुखकी साँस ली। अब वह कुछ कर्मचारियोंको रखकर जमीन-जायदादकी सम्हाल कराने लगी। कुछ दिन तो काम चला तथा देवरको हटा देनेका सन्तोष भी मनमें रहा। पर धीरे-धीरे काम बिगड़ने लगा। कर्मचारियोंने मनमानी आरम्भ की। खर्च बढ़ गया। आय प्रायः बंद हो गयी। मामले-मुकद्दमे भी लग गये। सालभर भी नहीं बीता कि वह सर्वथा ऊब गयी और पतिके पास जाकर उसने घर लौटनेकी प्रार्थना की।

वकील साहब नामी वकील थे, उन्होंने घरसे निकलकर दूसरी जगह मकान भाड़े ले लिया। रसोइया-नौकर रख लिये। काम तो उनका चल ही रहा था। छोटा भाई सुयोग्य तो था ही। उसके हृदयपर भाईके बर्तावकी अमिट छाप पड़ गयी थी। वह भी घरकी सँभाल और काम-काजमें पूरी सहायता करने लगा था। दोनों सुखसे रहने लगे थे।

जब पत्नीने आकर प्रार्थना की और कहा कि 'मेरा अपराध क्षमा करें। देवरको मैं पुत्रकी भाँति पालूँगी। मेरी बुद्धि मारी गयी थी जिससे मैंने उस निरपराधको सताया और यहाँतक काण्ड किया। अब मैं अपनी भूल समझ गयी। आप तथा देवरजी मुझे क्षमा करें।' यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू आ गये और वह फुफकार मारकर रोने लगी। भाभीको रोते देखकर देवरने उसके चरण पकड़ लिये और भाईसे घर चलनेका अनुरोध किया। वकील साहबके मनमें द्वेष तो था ही नहीं। वे हँसने लगे और पत्नीके साथ घर लौट आये। तबसे उनका परिवार सुखी हो गया।

इस घटनाके लिखनेसे मेरा तात्पर्य इतना ही है कि आप भी अपने छोटे भाईके साथ प्रेमका बर्ताव करें। उसका दोष भी है तो उसे ठीक करनेका उपाय प्रेम तथा स्नेह ही है, न कि तिरस्कार। और यदि आप ईमान बिगाड़कर उसका हक रख लेंगे और उसे निकाल देंगे, तब तो बड़ा पाप करेंगे। भगवान् श्रीरामचन्द्र और परम भाग्यवान् भरतजीके आदर्शको सामने रखिये। यहाँकी कोई वस्तु साथ नहीं जाती, सब कुछ यहीं रह जायगा। मनुष्य जो बुरी नीयतसे कुछ बुरा काम कर बैठेगा, वही उसके साथ जायगा और उसका दुष्परिणाम भी उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। आप प्रेम कीजिये, आपका अपना ही भाई है। उसके अपराधोंको क्षमा कीजिये और उसे हृदयसे लगाइये। आपका बर्ताव निष्कपट, प्रेमपूर्ण और सुन्दर होगा तो उसका हृदय अवश्य पलटेगा, वह आपके अनुकूल हो जायगा। और यदि न भी हुआ तो भी आपकी तो इसमें कोई हानि होगी ही नहीं। भगवान्‌के दरबारमें आप आदरके पात्र होंगे, जो जीवके लिये सबसे बड़ा लाभ है। विशेष भगवत्कृपा।

(१०)

मित्र और सुहृद्‌के लक्षण

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र मिला। मित्र और सुहृद्‌का भेद पूछा। इसके उत्तरमें निवेदन है कि मित्र देने-लेनेमें संकोच न करनेवाला हितैषी होता है और सुहृद् प्रत्युपकारकी कोई भावना न रखकर हित करता है। मित्रकी बड़ी सुन्दर व्याख्या श्रीतुलसीदासजी महाराजने की है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

× × ×

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

आज ऐसे मित्र कहाँ हैं? जो केवल अपने स्वार्थ-साधनके लिये ही किसीके साथ मित्रताका नाता जोड़ना चाहते हैं, या जो सभाओंमें कहनेभरको किसीको 'मित्र' नामसे सम्बोधित करते हुए अंदर-ही-अंदर उसका अहित सोचते रहते हैं। ऐसे मित्रोंसे तो बचना ही चाहिये। सुहृद्‌के सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—

परेषामनपेक्ष्यैव कृतप्रतिकृतं हि यः।
प्रवर्तते हितायैव स सुहृत् प्रोच्यते बुधैः॥

(स्क० मा० कुमा० १० । २६)

'प्रत्युपकारकी आशा न रखकर जो दूसरेके हितके लिये प्रवृत्त होता है, बुद्धिमान् पुरुष उसको सुहृद् कहा करते हैं।' हम सभीको मित्र और सुहृद् बननेकी चेष्टा करनी चाहिये। हम किसीके मित्र या सुहृद् होंगे तो हमें भी मित्र-सुहृद् मिल जायँगे। सच्चे सुहृद् तो श्रीभगवान् ही हैं, जिन्हें सुहृद् जान लेनेपर ही शान्ति मिल जाती है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(११)
काल करै सो आज कर

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिल गया था । उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें । आपके विचार बहुत ही उत्तम हैं । आपने जो योजना सोची है, वह भी बढ़िया है; परन्तु आप समर्थ होते हुए भी बारह सालसे केवल सोच ही रहे हैं, कुछ कर नहीं रहे हैं, यह ठीक नहीं है । आप अनुकूल समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, पर कौन कह सकता है कि वैसा अनुकूल समय आयेगा या नहीं । या उसके आनेके पहले ही आप संसारसे चले नहीं जायँगे । भजन, दान और धर्मसंग्रह आदि कार्योंमें जरा भी विलम्ब नहीं करना चाहिये । पाप-प्रवृत्तिमें चिरकारिता, दीर्घसूत्रीपन होना बहुत अच्छा है; परंतु सत्कार्यमें तो यह बड़ा भारी विघ्न है । महाभारतमें कहा है—

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥

'कल करना हो उसे आज करो, दिनके पिछले पहरमें करना हो उसे पहले पहरमें कर लो; तुम्हारा काम हुआ या नहीं, मृत्यु इसकी बाट नहीं देखेगी ।'

इसीका अनुवाद कबीरजीके इस दोहेमें है—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब ।
पलमें परलै होयगी फेरि करैगा कब ॥

मेरे एक आदरणीय मित्र थे, बड़े आदमी थे, अच्छा हृदय था । उन्होंने कई योजनाएँ सोच रक्खी थीं । योजनाएँ सभी लोकोपकारिणी और सुन्दर थीं; परंतु वे उन योजनाओंको सफल नहीं बना सके, पहले ही उनका देहावसान हो गया और सारी बातें मन-की-मनमें ही रह गयीं ।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

'शरीर सदा नहीं रहते, न वैभव ही सदा रहता है और मृत्यु सदा समीप है, यह समझकर धर्मका संग्रह करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ।'

पता नहीं, कल मन बदल जाय, स्थिति बदल जाय, साधन न रहें, इसलिये आपको अपनी योजना कार्य-रूपमें परिणत करनेके लिये जल्दी करनी चाहिये । यह मेरा आपसे बलपूर्वक अनुरोध है ।

अब रही भजनकी बात, सो वह तो अत्यन्त ही आवश्यक है । मुझे पता नहीं आपकी क्या उम्र है । परंतु भजन तो लड़कपनसे ही करना आवश्यक है । कोई आज मरे या सौ वर्षके बाद, भजन सदा बनता रहे । पता नहीं, कब मौत आ जाय । भजन बिना ही यदि शरीर छूट गया तो इससे बढ़कर और कोई हानि नहीं होगी । मनुष्य-जन्म ही व्यर्थ हो जायगा । जो लोग कहते या मानते हैं कि अभी तो काम करने या भोग भोगनेका समय है, बड़ी उम्र होगी तब भजन करेंगे, वे वस्तुतः बड़े भ्रममें हैं । एक भ्रमर था । वह कमल-कोषमें जा बैठा और मधुपान करने लगा । सन्ध्या होने आयी । कमल सिकुड़ने लगा । उसने सोचा—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं वितर्कयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

'रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्यदेव उदय होंगे, तब कमलकी कलियाँ खिल जायँगी । (उस समय मैं निकल जाऊँगा, इतने रात्रिभर आनन्दसे मकरन्द रसका पान करता रहूँ) इस प्रकार कमल-कोषमें बैठा हुआ भ्रमर विचार कर ही रहा था कि हाय हाय ! हाथीने आकर कमलको उखाड़ फेंका (और दाँतों-तले दबाकर भ्रमरके सहित ही उसे पीस डाला) ।'

यही बात हमारे लिये है, पता नहीं, काल-कुंजर कब आकर हमें पीस डालेगा । इसलिये मेरा आपसे यही अनुरोध है कि आप अपनी योजनाको कार्यान्वित करनेमें जरा भी विलम्ब न करें और साथ ही मानव-जीवनके सर्वप्रथम और सर्वप्रधान कर्तव्य भगवद्भजनमें तो तत्परताके साथ लग ही जायँ । ऐसा न कर सके तो संभव है औरोंकी भाँति आपको भी पछताना ही पड़े । शेष भगवत्कृपा ।

(१२)
पुराणोंकी वास्तविकता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । हमारे पुराण-इतिहासोंके बारेमें आज-कलके पढ़े-लिखे लोगोंकी जो धारणा है, उससे मेरा मत नहीं मिलता । मैं तो इनमें लिखी एक-एक बातको सच मानता हूँ । सर्वत्यागी ऋषि-मुनियोंको कौन-सा स्वार्थ था जो वे किसी उद्देश्य-विशेषको लेकर पक्षपातपूर्ण या असत्य बातें लिखते । इसीसे हमारे पुराणेतिहासोंमें कुछ ऐसी बात भी आ गयी हैं, जो

निन्दनीय हैं; परंतु सच्चा इतिहास लिखनेवाले महापुरुष अपनी निन्दाके भयसे निन्दनीय बातको छिपायें क्यों। उन्हें किसीसे प्रशंसापत्र तो लेना ही नहीं है। यह सत्य है कि हमारे शास्त्रीय वचनोंके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों अर्थ होते हैं; परंतु उनका आध्यात्मिक अर्थ करके उन्हें कल्पना बता देना नितान्त अन्याय है। हमारे भारतीय विद्वान् भी दूसरोंका चश्मा चढ़ा लेनेके कारण पुराणवर्णित प्रसङ्गोंका कल्पित अर्थ करते हैं और उसीमें गौरव मानते हैं। इसका कारण है विचित्र रचना करनेवाली प्रकृतिको और लोकोत्तर महापुरुषोंके विविध विचित्र चरित्रोंको न समझना एवं विदेशी विद्वानोंके प्रभावमें पड़कर उन्हें कल्पना मान लेना। आपने जो कल्पना की है, वह भी ऐसी ही है। जबतक हवाईजहाज नहीं बने थे, तबतक हम पुराणोक्त विमानोंकी चर्चाको लोक-कल्पना ही मानते थे। मेरी समझसे तो पुराणेतिहासोंपर विश्वास करके श्रद्धापूर्ण दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंके द्वारा आचरित साधनोंका आश्रय लेकर पुराणेतिहासोंके तथ्योंका अनुसन्धान करना उचित है, तभी उनके वास्तविक रहस्यको हम जान सकेंगे। निरे कौतूहलसे, संदिग्ध हृदयसे या उनके मिथ्या कल्पित होनेके दृढ़ निश्चयको लेकर जो अनुसन्धान-अन्वेषण होगा, वह तो सत्यके स्थानपर मिथ्याको ही प्रतिष्ठित करेगा। यह मेरा नम्र मत है। मैं यह मानता हूँ कि पुराणोंमें विद्वानोंने कुछ घटाया-बढ़ाया है पर उससे पुराणोंकी वास्तविकतापर कोई सन्देह नहीं होता। आप विद्वान् हैं, आपको जो उचित तथा सत्य जान पड़े, उसीके अनुसार करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(१३)

कठोर व्रत है पर उसीको निभाना है

बहिन! मैं तुम्हें क्या लिखूँ। तुम्हारी स्थितिकी स्मृति ही मेरी आँखोंसे अश्रुधारा बहा देती है। यह मेरा चाहे मोह हो, पर है तो सही ही। पर असल बात यह है कि भगवान्‌ने अयाचितरूपसे तुम्हें जो कुछ दिया है, उसे सिर चढ़ाकर स्वीकार करना चाहिये और उसीमें मङ्गल समझना चाहिये। न स्वीकार करोगी, न अपनाओगी, तो भी वह हटेगा तो नहीं। तब फिर, उसे सन्तोषके साथ ग्रहण करनेमें ही बुद्धिमानी है। और उसीमें यथार्थ लाभ भी है। माना, यह महान् दुःख है, भयानक विपत्ति है; परंतु धर्मप्राण व्यक्तियोंकी कसौटी तो विपत्ति और दुःख ही हैं। सोना ही आगमें तपाया जाता है। यह आग है। पर यदि यही आग तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरके विषयानुरागको जलाकर तुम्हारे हृदयको विषय-वासना-शून्य बना दे सके तो कितने मङ्गलकी बात है। संखियेको परिशुद्ध करके उसका यथाविधि सेवन करनेमें ही बुद्धिमानी है। जो स्थिति मिल गयी है, वह तो मिल ही गयी। अब उस स्थितिको प्रतिकूल मानकर रोना, जीवनको तमसाच्छन्न बना डालना और मानवोचित कर्तव्योंसे च्युत हो जाना तो बुद्धिमानी नहीं है; बुद्धिमानी तो उस स्थितिको अनुकूल बनाकर उसे मानव-जन्मकी सफलताका साधन बनानेमें ही है।

तुम्हारे कुछ हितैषी तुम्हें जो दूसरा मार्ग दिखला रहे हैं और उससे तुम्हें बड़ी मनोवेदना हो रही है—सो तुम्हारी मनोवेदना तो उचित ही है। जिसकी वंशपरम्परामें सदा ही उस दूसरे मार्गको पाप समझा गया हो, जिसके संस्कारमें ऐसी बातका सुनना भी अपराध माना गया हो, उसको अपने ही लिये ऐसी बात सुनकर दुःख तो होगा ही। मैं तो तुम्हारे ही मतका हूँ, यह तुम जानती ही हो। जो सज्जन दूसरे मार्गका निर्देश कर रहे हैं, वे भूलमें हैं और वे सुखके भ्रमसे भारी दुःखके बीज बो रहे हैं। तथापि उनकी हितैषिताकी भावनामें तुम्हें जरा भी सन्देह नहीं करना चाहिये। वे तुम्हारे दुःखसे सचमुच दुखी हैं, वे तुम्हें सुखी देखना चाहते थे और चाहते हैं। पर उनकी दृष्टि दूसरी है। वे जहाँतक देख पाते हैं, वहाँतक उन्हें उनके मतके समर्थक कारण ही मिलते हैं। आज हमारे समाजकी जो दुर्दशा है, उसे देखकर उनका ऐसा मत हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इसलिये उनके मतका अनुसरण न करते हुए भी उनके आत्मीयभाव तथा सद्भावका तो आदर ही करना चाहिये। पर यदि तुम्हारा अपना व्रत दृढ़ है, तुम प्रत्येक परिस्थितिका सामना करनेके लिये तैयार हो तो तुम्हें कोई डिगा नहीं सकता। भगवान् तुम्हारे शुभ सङ्कल्पमें सहायक होंगे। अवश्य ही तुम्हारा व्रत है बड़ा कठोर और सर्वथा तपोमय। आजके युगमें तुम कुछ देवियाँ ही ऐसी हो जो संसारमें तप, व्रत और त्यागकी प्रभामयी ज्वाला बनकर सर्वत्र प्रकाश फैला रही हो। तुम्हें धन्य है और धन्य है तुम्हारे असिधारा व्रतको। मेरा तो मस्तक तुम सतियोंके चरणोंमें सदा ही नत है। भगवान् तुम्हारी सहायता करें। शेष भगवत्कृपा।

(१४)

ईश्वर नित्यसिद्ध है

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आप लिखते हैं कि 'ईश्वर है, यह सिद्ध कीजिये।'

इसके उत्तरमें निवेदन है कि ईश्वर नित्य सिद्ध है, वह हमारे, आपके साधन करनेसे सिद्ध होगा, ऐसी बात भी मनमें नहीं लानी चाहिये। आप हैं, मैं हूँ—क्या इस सत्यके अनुभवको भी सिद्ध करनेकी आवश्यकता है ? यदि हम और आप सत्य हैं तो हमलोग जिसके अंश हैं, वह परमात्मा असत्य या असिद्ध कैसे हो सकता है ? जबतक जलकी एक बूँद भी सामने है तबतक जलनिधिको असत्य कैसे कहा जा सकता है ? थोड़ी देरके लिये अंशविभागको कोई असत्य भी मान ले, पर अंशी तो असत्य हो ही नहीं सकता। समुद्रका जल-बिन्दु क्षणिक है, वह वायुके साथ उठकर फिर समुद्रमें ही एकीभूत हो जाता है। इसी प्रकार अनेक जीवविभाग व्यावहारिक सत्य है। इस अनेकताका लय एक परमात्म-सत्तामें ही होता है। अतः अंशी परमात्मा ही नित्य सत्य है। घट सत्य है तो घटनिर्माता कुम्भकार असत्य कैसे होगा ? जगत् जब प्रत्यक्ष है तब इसके स्रष्टाका अभाव कैसे सम्भव है ? कार्य हो और कारण न हो, यह कदापि सम्भव नहीं है। इस सम्बन्धमें आपको विशेष जानना हो तो 'कल्याण'का 'ईश्वराङ्क' कहींसे प्राप्त करके उसे ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

२. ईश्वर आनन्दमय हैं, वे लीलारस-विस्तारके लिये ही सृष्टि-रचना करते हैं। इस सृष्टिसे उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। अनादि कालसे बिलग हुए जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही उनके द्वारा सृष्टिलीलाका सूत्रपात हुआ है।

३. दुःख पूर्वकृत पापोंका फल है। भजनका फल तो सुख है, प्रभुकी प्राप्ति है। वह इस समय भजन करनेवालेको उसके भावानुसार आगे मिलेगा। एक आदमीने किसीकी हत्या कर दी और फिर वह राम-नाम जपने लगा। कुछ समय बाद उसे फाँसीकी सजा होती है। यह सजा राम-नाम-जपका फल नहीं है, यह तो हत्याका दण्ड है। भजन और नाम-जपका परिणाम तो सदा मङ्गलमय और सुखस्वरूप ही है। शेष भगवत्कृपा।

उत्कण्ठा

(श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्यालकृत बँगला पद्यके आधारपर)

क्यों न तुझको देख पाता।
वास तेरा सब कहीं, तब क्यों नयन-पथमें न आता॥
ढूँढ़ता फिरता सदासे;
जल-थलोंमें व्यग्रतासे।
पर सिवा तेरे, विविध अपदार्थ नयनोंमें समाता॥
यह भुजा तुझको जकड़ने,
है उठी रहती पकड़ने।
कान तव वचनामृतोंके पान हित नित है लुभाता॥
भूल होती क्या, न जानूँ,
क्यों पकड़ प्रियको न पाऊँ।
पंख होते तो तुरत उड़कर प्रभूके पास जाता॥
वासना इतनी लगी है;
प्यास-व्याकुलता जगी है।
पा सकूँगा हा! न दर्शन क्या कभी हे प्राणदाता॥
अब न तुझको पा सका मैं;
व्यर्थ श्रम करके थका मैं।
चाहता हूँ भूल जाऊँ, पर नहीं वह भी सुहाता॥

—भुवनेश

हरि-गुण गायें

आओ मिलकर हरि-गुण गायें।
मानव-जीवन सफल बनायें॥
नन्द-यशोदा अजिर-विहारी, श्रीमधुसूदन श्रीवनवारी।
राधावल्लभ कुञ्जविहारी, जनहितकारी भव-भयहारी॥
मदन मनोहर श्याम रिझायें।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें॥
प्रेमसुधा बरसानेवाला, परम पुनीत बनानेवाला।
मल मन-मुकुर नसानेवाला, प्रभुका रूप दिखानेवाला॥
नयन-सुधा-रस जल बरसायें।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें॥
प्रेमनगरकी रीति निराली, सूखा पड़े, उगे हरियाली।
बसता है घर होकर खाली, विरह-मिलनकी अद्भुत ताली॥
नयन मूँद लो पट खुल जायें।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें॥
रोम-रोम राधाके मोहन, मोहनकी राधा जीवन-धन।
बेकल राधा बेकल मोहन, राधा-मोहन रूप निरंजन॥
युगल-छटापर बलि-बलि जायें।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें॥

—वैद्य रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल

भरत-मिलाप

(र०—श्रीरामभरोसे गुप्तजी 'राकेश' साहित्यरत्न)

गद्य-गीत

यें।
रह गया एक दिन राघवके आनेका !
जन-जनके हृदयकी विरहानल बुझानेका !!
ऐसा सोच राम-बन्धु
स्वप्नसे जगते-से !
स्वयंको ठगते-से !!
हो गये संज्ञा-हीन
कुछ क्षण बाद झोंका आया मलयानिलका
लौट आई चेतना फिर कहने लगे भरत यों
अहह ! धन्य हैं सौमित्र-बंधु
वैभवका मोह त्याग !
नारीका प्रणय त्याग !!
चल दिये मधुप वन
राम-पदारविन्द-मकरन्द पान करने
मैं ही एकमात्र
नीच हूँ, नराधम हूँ, नारकी हूँ
कुठार हूँ रघुकुलके वृक्षका
परंतु नहीं, नहीं,
फिर भी मैं आरत हूँ !
भक्त हूँ शरणागत हूँ !!
किया था जयंतने यद्यपि अक्षम्य दोष !
आया शरणागत हुए राम गत-रोष !!
दिया था अभय-दान !
दिया था क्षमा-दान !!
होती प्रतीति दृढ़ आयेंगे अवश्य राम
और यदि
अवधि बीत जानेपर !
राम के न आनेपर !!
रहें प्राण फिर भी तो कौन अधम मुझ सम
करते यों संकल्प-विकल्प !
बीतता युग-सम काल अल्प !!
व्यथाके सागरमें रहे डूबते उतराते भरत !!!
× × × ×

इतनेमें आ गये मारुत-सुत
सुधा-सम कहने लगे वचन यों
जिसकी अहर्निशि चिन्तामें बने दीन !
करते स्मरण जिसे हो गये महान क्षीण !!
वे ही रघुकुल-पतङ्ग
विजित कर दस-सिर !
दूर कर गहन तिमिर !!
आते हैं इसी ओर
कौन कौन ?
सवरीके प्राण राम !
विभीषणके त्राण राम !!
उदारताके स्रोत राम !
भवार्णवके पोत राम !!
मेरे जीवन-मरुथलके शीतल-जलद—राम
क्या आते हैं इसी ओर ?
हुए भरत प्रमुदित-पुनीत संवाद सुन
यथा रंक पाई हो अतुल राशि वैभवकी।
शुष्कप्राय खेतीपर पड़ गया हो अम्बु ज्यों
तत्क्षण
आ गये सानुज-राम-वैदेही
गिर पड़े भरत राम-पद-पंकजमें
बहने लगे प्रेमाश्रु राघवके नयनोंसे
उस समय
कोकिला कूक उठी
सहस दल खिल गये, मधुपावलि गूँज उठी
वीणापाणि मूक हुई।
सहस्र फन स्तब्ध हुए !!
कवि कर पाया नहीं
व्यक्त उस क्षणको
जब—
मिटता था अखिल चराचरका घोर ताप !
गूँज उठा नभमें धन्य धन्य भरत-मिलाप !!
× × × ×

आनापानसतिका अभ्यास

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

'आनापानसति' के अभ्यासकी बौद्ध-धर्मग्रन्थोंमें बड़ी महत्ता दिखलायी गयी है। आनापानसति एक प्रकारसे प्राणायामके समान है, पर वास्तवमें प्राणायामके अभ्याससे भिन्न है। आनापानसति सम्यक् स्मृति, जो बुद्ध भगवान्का अष्टाङ्गी मार्ग है, का एक अङ्ग है। यह 'प्राणापानस्मृति' का पाली रूपान्तर है। प्राणायामका मुख्य उद्देश्य शारीरिक स्थितिको सुधारना है। उससे मनमें भी चैतन्यता आती है। आनापानसतिका मुख्य उद्देश्य मानसिक स्थितिको सुधारना है। यह मनको स्थिर करनेका सुगम उपाय है। आनापानसतिमें श्वासके आने और जानेपर मनको लगा दिया जाता है। इसमें किसी प्रकारका और प्रयत्न नहीं किया जाता। सहज श्वास-प्रश्वासपर मनको लगाना—यही आनापानस्मृतिका अभ्यास है।

आनापानस्मृतिसे चेतन मनमें चलनेकी क्रियाओंका निरोध हो जाता है। साधारणतः हमारे मनमें अनेक प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प उठते रहते हैं। इनके कारण हमारा मन सदा अस्थिर अवस्थामें रहता है। कभी-कभी मनमें इतने दुःखके विचार आते हैं कि उनके मारे हमें चैन ही नहीं मिलती। इन विचारोंका निवारण आनापानसतिके अभ्याससे हो जाता है। बुद्ध भगवान्ने तीन प्रकारके वितर्कोंके निवारणके लिये आनापानसतिका अभ्यास बताया है। ये वितर्क काम-वितर्क, व्यापाद-वितर्क और विहिंसा-वितर्क हैं। काम-वितर्क—अनेक प्रकारकी भोगेच्छाओंके विचारोंका मनमें आना है, व्यापाद-वितर्क दूसरोंके प्रति कृत्य और उनके प्रतिकारके विषयमें विचार आना है, और विहिंसा-वितर्क शत्रु-भावनाके विचारोंका मनमें उठना है। इन सभी प्रकारके वितर्कोंका निरोध आनापानसतिसे हो जाता है।

आनापानसतिका अभ्यास पहले-पहले बड़ा कठिन होता है; क्योंकि मनुष्यके कलुषित विचार उसके मनको किसी भी वस्तुपर स्थिर नहीं रहने देते। जिस व्यक्तिके मानसिक व्यापार जितने अधिक होते हैं, उसके लिये इस अभ्यासका करना उतना ही कठिन होता है। अभिमानकी वृद्धिकी स्थितिमें भी मन एकाग्र नहीं होता।

आनापानसति अहंभावका विनाशक है। जब चेतनाको किसी एक व्यापारपर लगा दिया जाता है तब मनुष्यको अपने आपका भी ज्ञान नहीं रहता। अहंभावके विनाशकी अवस्थामें मनमें अपूर्व शक्ति आ जाती है। वितर्कोंका निरोध भी मानसिक शक्तिको कल्पनातीत परिमाणमें बढ़ा देता है। वितर्कोंसे सदा हमारी शक्ति व्यर्थ खर्च होती रहती है। यदि इस शक्तिका अपव्यय न हो तो हमें सङ्कल्पसिद्धता प्राप्त हो जाय।

आनापानसतिके अभ्याससे मनुष्यको नींद आ जाती है। अनिद्राकी बीमारीको मारनेका भी यह एक अचूक साधन है। यदि आनापानसतिके कारण नींद न आवे तो इस अभ्याससे उसी प्रकारकी मानसिक शान्तिका अनुभव होता है जैसा कि निद्रासे होता है। वितर्क मानसिक थकावट उत्पन्न करते हैं। आनापानसतिसे वितर्कोंका निरोध होता है, अतएव मानसिक शक्तिका व्यय भी नहीं होता। निद्रा भी इनका निरोध करती है। अतएव जो लाभ निद्रासे होता है वह भी आनापानसतिके अभ्याससे हो जाता है।

आनापानसतिसे अनेक प्रकारके मानसिक रोगोंका अन्त हो जाता है। अकारण भय और चिन्ताएँ इस अभ्याससे नष्ट हो जाती हैं। आनापानसतिका अभ्यास करते हुए यदि किसी मानसिक रोगीको नींद आ जाय तो उसका मानसिक रोग ही नष्ट हो जाय। किसी भी विचारको लेकर अचेतन अवस्थामें पहुँचना स्वास्थ्यलाभके लिये उपयोगी होता है। मनुष्यके आत्मनिर्देशके फलित होनेके लिये विपरीत भावनाओंका बंद होना आवश्यक है। विपरीत भावनाएँ आनापानसतिके अभ्याससे बंद हो जाती हैं। इसलिये कूये महाशय रोगियोंके स्वास्थ्य-लाभके लिये उन्हें सम्मोहित करके निर्देश दिया करते थे। दूसरेके द्वारा निर्देश पानेके लिये जिस प्रकार सम्मोहित होनेकी आवश्यकता होती है, आत्मनिर्देशके लिये भी उसी प्रकार चेतनाके निराकरणकी आवश्यकता होती है। आनापानसतिके अभ्याससे चेतनाकी धाराका निराकरण होता है और मनुष्य एक प्रकारकी आत्मसम्मोहनकी अवस्थामें आ जाता है।

आनापानसतिके अभ्यासके द्वारा शारीरिक रोग भी नष्ट किये जा सकते हैं। बहुत-से शारीरिक रोग उनके साथ चलनेवाले विचारोंके कारण भयङ्कर हो जाते हैं। रोगके विषयमें चिन्ता करना भी शारीरिक रोगको भीषण बना देता है। यदि हम अपने रोगके विषयमें सोचना बंद कर दें और उसके प्रति उदासीन हो जायँ तो वह देरतक न ठहरे। रोगके बारेमें सोचना उसकी आयुको और बलको बढ़ाना है। आनापानसतिसे सभी प्रकारके विचार बंद हो जाते हैं। रोगके

विचारोंका भी निरोध इस प्रकार हो जाता है। इससे रोग निर्बल हो जाता है और वह देरतक नहीं ठहर पाता।

आनापानसतिके अभ्यासके पूर्व अथवा उसके साथ-साथ 'शिव' भाव अर्थात् सभी घटनाएँ कल्याणकारी हैं, इस विचारका अभ्यास करना उचित है, इससे एक ओर आनापानसतिका अभ्यास दृढ़ हो जाता है और दूसरी ओर मानसिक शान्ति उपलब्ध होती है। इससे बहुत-से शारीरिक और मानसिक रोग अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।

किसी प्रकारकी थकावटके पश्चात् थोड़ी देर आनापानसतिका अभ्यास किया जाय तो वह थकावटको दूर कर देता है। इस प्रकारके अभ्यासके साथ-साथ शिथिलीकरणका अभ्यास करना उचित है। शिथिलीकरणमें अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके विषयमें विचार करते हुए उन्हें शिथिल किया जाता है। यह एक प्रकारका आत्मनिर्देशका अभ्यास है।

किसी प्रकारके भयङ्कर सङ्कटमें पड़ जानेकी अवस्थामें आनापानसतिका अभ्यास बड़ा सहायक होता है। इससे मनुष्यमें नया आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई जटिल समस्याको सुलझानेके पूर्व आनापानसतिका अभ्यास किया जाय तो वह समस्या सरलतासे हल हो जाती है। मनकी कमजोरीकी अवस्थामें मनुष्यके मनमें अकल्याणकारी विचार और अभद्र कल्पनाएँ ही अधिक आती हैं। इनपर नियन्त्रण करना कठिन होता है। जो स्थिति रोगकी अवस्थामें मनकी हो जाती है, वही स्थिति अन्य सङ्कटकालमें भी हो जाती है, ऐसी स्थितिमें सभी प्रकारके विचारोंको स्थगित कर देनेमें ही मनुष्यका कल्याण है।

स्वस्थ अवस्था प्राप्त होनेपर जो विचार आते हैं, वे कल्याणकारी होते हैं। उनके अनुसार काम करनेसे मनुष्यको सफलता मिलती है। अतएव सङ्कटकालमें, रोगकी अवस्थामें आनापानसतिका अभ्यास बहुत ही उपयोगी होता है।*

मीरा और मोहन

(रचयिता—काव्यरत्न 'प्रेमी' विशारद भीण्डर)

(१)

मीराके मन्दिर आवते मोहन, मोहन-मन्दिर जावती मीरा।
मीराका रीझता मोहनसे मन, मोहनको सु रिझावती मीरा॥
मीराको थे उर लावते मोहन, मोहनको उर लावती मीरा।
मीराके थे मन भावते मोहन, मोहनके मन भावती मीरा॥

(२)

मोहनकी बजती मुरली पग-घूँघरू थी घमकावती मीरा।
देखने दौड़ते मोहन थे वह मंजुल नाच दिखावती मीरा॥
कान दे मोहन थे सुनते वह जो कुछ बावरी गावती मीरा।
जाते समा कभी मीरामें मोहन, मोहनमें थी समावती मीरा॥

(३)

मीराको मोहन ही थे कबूल औ मोहनको भी कबूल थी मीरा।
आते उड़े हुए तूलसे मोहन, जाती उड़ी हुई तूल थी मीरा॥
सौरभ-रंजित मोहन थे, चरणों पै चढ़ी वह फूल थी मीरा।
मीरा बिना किसे मोहते मोहन, मोहनके बिन धूल थी मीरा॥

* श्वास-प्रश्वासकी गतिको मनसे देखते रहनेके साथ ही यदि उस गतिमें होनेवाली ध्वनिके साथ इष्ट नाम या मन्त्र जोड़ दिया जाय यानी आने और जानेवाला श्वास अमुक ॐ, राम, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, नमः शिवाय आदि किसी भी नामकी ध्वनि कर रहा है ऐसा ध्वनिमें चिन्तन किया जाय तो उससे बहुत लाभ होता है। —सम्पादक

धूरिभरे नँदलाल

(१)

हारन की हलकैं हियहार सुधा छलकै किलकारिन शाला।
डारत लोक विलोकनि चेटक दै टक हेरि रहीं सुरवाला॥
ठौर ठगैं शत काम गुमान जु दौरि चलैं घुटुवान गुपाला।
मूरि सजीवनि मेलत जीवन खेलत धूरिभरे नँदलाला॥

(२)

आवैं न मातु यशोदाकी गोद विनोदनि पूरि रही अँगनाई।
ज्यों घन वीच हँसै चपला त्यों लला किलकारि भरैं वलकाई॥
चित्त चुरी निचुरी-सी परै बड़री अँखियान चितौनि निकाई।
आनन द्वै दुधरी दतियाँ तुतरी वतियान घुरी मधुराई॥

(३)

अंजन अंजित खंजन नैन जु मैनहुके मद गंजनवारे।
भौंह कमान अनोखिये वान सदा मुखपै मुसुकानि-सि धारे॥
गोरज गोरे सुभाल रमैं विरमैं वनमाल गरे सुघरारे।
वै घुघरारी घनी लटके कच हैं मन कौं अटकावन हारे॥

(४)

सीस लही कुलही उलही अति ही छवि छै सुरचाप घनेरी।
देखि जकै मनि मंडित भाल महा मतिहू विधि पंडित केरी॥
लै सिगरे जगकी सुषुमा अधरान खरी अरुना गई फेरी।
हेरी न जात जु वै मुख पै छवि खेलि रही है अँधेरी उजेरी॥

(५)

वाजि रहीं पग पैंजनियाँ कटि किंकिनी राजत श्याम सलोना।
खोवत आपनपौ धुनिमें जग जोवत जात है चित्रलिखौना॥
कानन लौं करि जात पयान वड़े दृग चंचल खंजन छौना।
वाल दिठौनन पूरित भाल जिते हँसि हेरत फेरत टोना॥

—श्रीहरीश साहित्यालङ्कार

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष २४

सं० २००६-२००७

सन् १९५०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७।।)
विदेशोंके लिये १०) (१५ शिलिङ्ग) } प्रति संख्या ।≈)

|| श्रीहरिः ||

कल्याणके चौबीसवें वर्षकी लेख-सूची

कविता

संकलित

चित्र-सूची

सुनहरे

तिरंगे

इकरंगे

भजन-संग्रह (पञ्चम भाग) सचित्र, पृष्ठ १५० ... =)
श्रीधर्मप्रश्नोत्तरी–सचित्र, पृष्ठ ५६ ... –)॥
नारीधर्म–सचित्र, पृष्ठ ४८ ... –)॥
गोपी-प्रेम–पृष्ठ ५२ ... –)॥
मनुस्मृति–द्वितीय अध्याय, सार्थ, पृष्ठ ५२ ... –)॥
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप–सचित्र, पृष्ठ ३६ ... –)॥
श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्–सटीक, पृष्ठ ९६ –)॥ सजि० =)॥
हनुमान-बाहुक ... ... –)॥
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा–सचित्र, पृष्ठ ४० ... –)।

मनको वश करनेके कुछ उपाय–सचित्र, पृष्ठ २४ ... –)।
ईश्वर–पृष्ठ ३२ ... –)।
मूलरामायण ... ... –)।
रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्यपुस्तक–पृष्ठ ३२ ... –)।
हरेरामभजन १४ माला ... ।–)
,, ६४ माला ... १)
शारीरकमीमांसादर्शन–मूल, पृष्ठ ४८ ...)॥।
बलिवैश्वदेवविधि ...)॥

Our English Publications

Philosophy of Love	...	1-0-0
Gems of Truth (Second Series)	...	0-12-0
The Bhagavadgita	...	0-4-0
" " Bound	...	0-6-0
The Divine Name and Its Practice	...	0-3-0
Wavelets of Bliss	...	0-2-0
The Immanence of God	...	0-2-0
What is God?	...	0-2-0
What is Dharma	...	0-0-9
The Divine Message	...	0-0-9

नयी सूचना

छोटी-छोटी पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं। इन पैकेटोंपर पुस्तकोंके अलग-अलग नाम तथा मूल्य छाप दिया गया है। पैकेटोंकी पुस्तकोंमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। किसी भी पुस्तककी अधिक संख्यामें अलग माँग दी जा सकती है।

पैकेटका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-सं० १३, मूल्य ॥।)

१–सामयिक चेतावनी–पृष्ठ २४ –)
२–आनन्दकी लहरें–सचित्र, पृष्ठ २४ –)
३–गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र–सचित्र, सार्थ, पृष्ठ ३२ –)
४–श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश–पृष्ठ १६ –)
५–ब्रह्मचर्य–पृष्ठ ३२ –)
६–समाजसुधार–पृष्ठ २८ –)
७–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय–पृष्ठ ३२ –)
८–भगवन्नाम–पृष्ठ ७२ –)
९–श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन–पृष्ठ ६४ –)
१०–भगवत्तत्त्व–पृष्ठ ६४ –)
११–सन्ध्योपासनविधि–सार्थ, पृष्ठ २४ –)
१२–हरेरामभजन–२ माला)॥।
१३–पातञ्जलयोगदर्शन–मूल, पृष्ठ २८)।

॥।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-सं० ५, मूल्य ।)

१–संत-महिमा–पृष्ठ ४०)॥।
२–श्रीरामगीता–सटीक, पृष्ठ ४०)॥।
३–विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्–मूल, पृष्ठ ४४)॥।
४–वैराग्य–पृष्ठ ४०)॥।
५–रामायण-सुन्दरकाण्ड –)

।)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-सं० १६, मूल्य ॥)

१–विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद–सार्थ, पृष्ठ १६)॥
२–सीतारामभजन)॥
३–भगवान् क्या हैं?–पृष्ठ ४०)॥
४–भगवान्की दया–पृष्ठ ४०)॥
५–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग–पृष्ठ ४८)॥
६–सेवाके मन्त्र–पृष्ठ ३२)॥
७–प्रश्नोत्तरी–सटीक, पृष्ठ २८)॥
८–सन्ध्या–हिन्दी-विधिसहित, पृष्ठ १६)॥
९–सत्यकी शरणसे मुक्ति–पृष्ठ ३६)॥
१०–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय–पृष्ठ ४०)॥
११–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति)॥
१२–स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग–पृष्ठ २०)॥
१३–परलोक और पुनर्जन्म–पृष्ठ ४०)॥
१४–ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन–पृष्ठ ३६)॥
१५–अवतारका सिद्धान्त–पृष्ठ २८)॥
१६–गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची–पृष्ठ ४०)॥

॥)

गीता-जयन्ती

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता १८। ६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'

विश्वकी स्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय होती जा रही है। सभी ओर पाप और पापाचारियोंकी ही प्रबलता देखनेमें आती है। मानव-समाजका नैतिक स्तर बहुत ही नीचा हो गया है। भोगलालसाकी कोई सीमा नहीं रह गयी है। धर्ममें अथवा कर्तव्यपालनमें किसीकी रुचि नहीं है। रुचि है धर्मविरहित कामाचार, अनीतियुक्त अर्थोपार्जन और अन्यायमूलक अधिकार-विस्तारमें। यही सभ्य कहानेवाले समाजोंके जीवनका परम लक्ष्य बन रहा है। सर्वत्र अति गर्हित अनाचार, भ्रष्टाचार और अत्याचारका विस्तार हो रहा है। पापके इस प्रवाहको रोकनेका सफल मार्ग किसीको नहीं सूझ रहा है। इस विकट परिस्थितिमें सच्चा मार्ग प्राप्त करनेका यदि कोई सफल साधन है तो वह श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षा ही है। किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुनको अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्यवाणी गीतासे ही चेतना, स्फूर्ति, शक्ति, ज्ञान और प्रकाश मिला था और इसीसे विजय तथा विभूतिकी प्राप्ति हुई थी। *आज भी यदि हम ऐसा चाहते हैं तो हमें परम श्रद्धाके साथ गीताकी ही शरण लेनी चाहिये और* उसीकी शिक्षाके अनुसार भक्तिसमन्वित निष्काम कर्ममें लगना चाहिये।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ता० २० दिसम्बर बुधवारको श्रीगीता-जयन्तीका पर्व है। इस पर्वपर सब लोगोंको गीता-प्रचार तथा गीता-ज्ञानके क्रियात्मक अध्ययनकी योजनाएँ बनानी चाहिये और पर्वके उपलक्ष्यपर श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य सभी जगह अवश्य करने चाहिये।

१-गीताग्रन्थका पूजन।

२-श्रीगीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीगीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।

३-गीताका यथासाध्य पारायण।

४-गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीता-प्रचारके लिये सभाएँ, गीता-तत्त्व और गीता-महत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नाम-कीर्तन आदि।

५-पाठशालाओंमें और विद्यालयोंमें गीतापाठ और गीतापर व्याख्यान तथा गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण।

६-प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और श्रीभगवान्‌की विशेष पूजा।

७-जहाँ कोई विशेष अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीता-जीकी सवारीका जुलूस।

८-लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीता-प्रचारमें सहायता करें।

पत्र लिखनेवाले भाई-बहिनोंसे निवेदन

'कामके पत्र' शीर्षकमें उत्तर पानेके लिये कई बहिनें तथा भाई अपने नाम-पता न देकर पत्र लिखते हैं। ऐसे बहुत-से पत्र इकट्ठे हो गये हैं। इनमें अधिकांश तो ऐसे हैं जिनमें केवल व्यक्तिगत तथा घरेलू कठिनाइयोंकी चर्चा है और कुछ ऐसे हैं जो केवल 'कामके पत्र' शीर्षकमें उत्तर छपनेके लिये ही लिखे गये हैं। यह जान रखना चाहिये कि सभी पत्रोंका उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जो पत्र सार्वजनिक दृष्टिसे महत्त्वके समझे जाते हैं, उन्हींमेंसे कुछका उत्तर 'कल्याण'में छपता है। स्थानके अभावसे तथा उपर्युक्त पत्रोंमेंसे अधिकांशका उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित करना सार्वजनिक लाभकी दृष्टिसे उचित नहीं है, इसलिये भी, उनका उत्तर नहीं छप रहा है। ऐसे लोगोंमें, जो अपना नाम-पता लिखकर उत्तर चाहेंगे उन्हें अवकाशानुसार उत्तर दिया जायगा और उनका पत्रव्यवहार गुप्त भी रक्खा जा सकेगा। अतः बिना नामके पत्रोंका उत्तर 'कल्याण'में न छपे तो पत्रलेखक महानुभाव क्षमा करें। शेष पत्रोंका उत्तर 'स्कन्दपुराण' समाप्त होनेपर 'कल्याण'में छप सकेगा।

सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

रजि० सं० ए०

विशेषाङ्कके लिये लेख न भेजनेके लिये कृपालु लेखकोंसे निवेदन

'कल्याण' के आगामी विशेषाङ्क 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' में स्थानसङ्कोचसे केवल पुराणसे चुने हुए प्रसङ्गोंका अनुवाद ही छापा जायगा। लेख बिल्कुल नहीं छप सकेंगे। अतः विद्वान् लेखक महानुभावोंसे करबद्ध प्रार्थना है कि वे विशेषाङ्कके लिये कृपया लेख न भेजें। जो कुछ लेख आ गये हैं, वे भी लौटाये जा रहे हैं।

कल्याणके पाठकोंसे प्रार्थना

इधर कुछ समयसे गीताप्रेसमें प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयास हो रहा है। संगृहीत ग्रन्थोंके प्रकाशनकी अभी कोई भी योजना नहीं है। केवल उन्हें सुरक्षित रखनेकी दृष्टिसे संग्रह किया जा रहा है। अतएव 'कल्याण'के प्रत्येक पाठकसे हमारी प्रार्थना है कि वे वेद-वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र और धर्मशास्त्र आदि विषयोंके संस्कृत, हिन्दी, बँगला ग्रन्थ पुराने कागजोंपर या ताड़पत्रोंपर लिखे हुए प्राचीन ग्रन्थोंका संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें। डाक-महसूल या रेलका किराया यहाँसे दिया जायगा। किसी प्राचीन संग्रहयोग्य ग्रन्थका कोई सज्जन यदि मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जायगा।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

देशके सर्वमान्य विद्वानों तथा पत्र-पत्रिकाओंद्वारा प्रशंसित भारतवर्षकी अनुपम तथा आदर्श संस्कृतिके महान् स्वरूपका दिव्य दर्शन करानेवाला 'कल्याण'का 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' जिनको लेना हो, वे शीघ्रता करें। केवल इस अङ्कका मूल्य ६।।) है। सालभरके अङ्क लेनेपर ७।।) है, पर चौथा तथा पाँचवाँ अङ्क समाप्त हो गया है। इनके बदलेमें ग्राहक चाहेंगे तो पिछले किसी वर्षके कोई-से साधारण अङ्क दिये जा सकेंगे। रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के लिये रुपये भेजे जा रहे हैं, यह स्पष्ट लिखनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित तीन नयी पुस्तकें

तत्त्व-चिन्तामणि भाग ७

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ५२०, ऋष्यमूकपर रामदर्शनका सुन्दर तिरङ्गा चित्र, मूल्य १=) डाकखर्च अलग।

श्रीजयदयालजीके समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित लेखोंका यह छठे भागके आगेका संग्रह है। परमार्थप्रेमी नर-नारी इस ग्रन्थसे अधिकाधिक लाभ उठावेंगे ऐसी आशा है।

रामायणके कुछ आदर्श पात्र

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १६८, आदर्श भरतका तिरङ्गा चित्र, मूल्य ।=) मात्र। डाकखर्च अलग।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग ७ में प्रकाशित भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न और भक्त हनुमान्के चरित्र तथा सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्कमें प्रकाशित श्रीसीताजीका आदर्श जीवन नामक लेखोंका यह पुस्तकाकार संग्रह है।

आदर्श नारी सुशीला

धार्मिक जनताके विशेष आग्रहके कारण 'कल्याण' वर्ष २४ सं० १० में प्रकाशित साध्वी सुशीलाकी शिक्षाप्रद कहानी नामक लेख ही अलग पुस्तकाकार छापा गया है। पृष्ठ-संख्या ५४, मू० =) मात्र।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)